भारत में
आर्थिक नियोजन एवं प्रगति

[Economic Planning and Growth in India]

- आर्थिक नियोजन के सिद्धान्त
- भारत में नियोजित प्रगति
- आर्थिक प्रगति की समस्याएँ

डॉ. के. सी. भण्डारी,

एम कॉम , पी-एच डी, एल-एल बी.

प्राचार्य, शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, देवास (म प्र)

एवं

डॉ. एस. पी. जौहरी,

एम कॉम , पी-एच डी

प्राध्यापक एवं अध्यक्ष, वाणिज्य विभाग,

शासकीय नर्मदा स्नातकोत्तर महाविद्यालय, होशंगाबाद

द्वितीय संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण



लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा–3

द्वितीय संस्करण, 1979

मूल्य : सत्ताइस रुपये

प्रस्तावना

'भारत मे आर्थिक नियोजन एव प्रगति' का द्वितीय सस्करण प्रस्तुत करते हुए हमें हर्ष है। भारत के नियोजित विकास मे रुचि रखने वाले छात्रो, प्राध्यापको एव अन्य लोगो के लिए प्रस्तुत पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी। पुस्तक मे देश की ज्वलन्त आर्थिक समस्याओ का विस्तृत अध्ययन किया गया है। अनवरत नियोजन-प्रक्रिया, औद्योगिक नीति, 1977, आय एव मजदूरी नीति, वैकल्पिक रोजगार नीतियाँ, 1978-83 की पचवर्षीय योजना की प्रस्तावित रूपरेखा एव पाँचवी योजना की उपलब्धियो एव असफलताओ का विस्तृत अध्ययन किया गया है। नियोजित विकास मे मौद्रिक एव राजकोषीय नीतियो, कृषि एव औद्योगिक विकास सम्बन्धी नीतियो का योगदान तथा नियोजन के वितरण पक्ष को प्रस्तुत सस्करण मे आलोचनात्मक व्याख्या की गयी है।

प्रस्तुत सस्करण की तैयारी के सम्बन्ध मे हमारे सहयोगियो द्वारा जो सुझाव समय-समय पर दिये गये हैं, हम उनके प्रति अपना आभार प्रदर्शित करते है।

—लेखकद्वय

विषय-सूची

अध्याय | पृष्ठ

भाग 1

आर्थिक नियोजन के सिद्धान्त
[PRINCIPLES OF ECONOMIC PLANNING]

अध्याय पृष्ठ

भाग 3

आर्थिक प्रगति की समस्याएँ
(PROBLEMS OF ECONOMIC GROWTH)

भाग 1

आर्थिक नियोजन के सिद्धान्त

[Principles of Economic Planning]



विषय-प्रवेश
[INTRODUCTION]

नियोजन का परिचय

आधुनिक युग, अतिशय तीव्र प्रतियोगिता का युग, यन्त्रों के प्रयोग द्वारा अत्यधिक निर्माण का युग, विज्ञान की प्रगति एवं विकास के लहराते यौवन का युग, अन्तर्महाद्वीपीय प्रक्षेपणास्त्रों का युग, कृत्रिम उपग्रह के माध्यम से प्रकृति-विजय का युग, विध्वंसकारी अणु एवं उद्जन-बमों का युग, मानव की सभ्यता की रक्षा एवं शान्ति के लिए बिलखते-तड़फते प्राणों का युग—जीवन के हर क्षेत्र में, प्रत्येक चरण में, प्रत्येक दिशा में नियोजन का युग है। विश्व का जो परिवर्तित रूप आज मानवता का विकराल आनन प्रस्तुत कर रहा है, वह नियोजन का वरदान है। विश्व की आर्थिक व्यवस्था की धमनियों में अर्थ नहीं, नियोजन प्रवाहित है। वास्तव में प्रकृति स्वयं इतनी नियोजित है कि मनीषियों एवं विद्वानों ने अकिंचन-सी अनियमितता को भूकम्प तथा यदाकदा प्रलय की भयावह संज्ञाएँ प्रदान कर दी हैं। चाहे मानव प्रकृति पर कितनी भी विजय प्राप्त करे, वह रहेगा प्रकृति का दास ही, किन्तु एक बुद्धिमान दास, प्रकृति का सच्चा सपूत जिससे योजना या नियोजित व्यवस्था को अपने जीवन का अंग ही नहीं, अपितु जीवन ही मान लिया है। आज यह प्रश्न नहीं है कि नियोजन कहाँ-कहाँ होता है, प्रत्युत प्रश्न यह है कि नियोजन कहाँ नहीं होता ?

आचार्य अपने विद्यार्थियों को किसी विषय के अध्ययन करने के तरीके बताते समय व्यवस्थित अध्ययन को अधिक महत्व देता है। इसी प्रकार एक व्यक्ति अपनी *आय को—जो सीमित है,* विभिन्न इच्छाओं को जो असीमित है—पूर्ति पर व्यय करने से पूर्व अपने मस्तिष्क में कुछ विचारों को जन्म देता है जो नियोजन का प्रारूप है। इस नियोजन में ज्ञात व अज्ञात सभी कठिनाइयों और सुविधाओं को ध्यानावस्थित कर आय को विभिन्न व्ययों पर वितरित करना होता है। आय का वितरण, आय की सीमाओं और इच्छाओं की निस्सीमता के कारण, इच्छाओं की तीव्रता अथवा प्रमुखता के आधार पर होना चाहिए अन्यथा अत्यावश्यक इच्छाओं की अपूर्ति और कम आवश्यक इच्छाओं की पूर्ति अवश्यम्भावी है जिसके परिणामस्वरूप उपभोक्ता को मानसिक उद्वेलन तथा शारीरिक कष्ट हो सकता है। साथ ही, अधिक आय को व्यवस्थित रूप तथा चतुरता से व्यय न करने से साधनों का दुरुपयोग होता है जो दीर्घ काल में कष्टदायक सिद्ध होता है। इस प्रकार नियोजन द्वारा सम्भाव्य परिस्थिति के प्रादुर्भाव के पूर्व ही उसकी निवारण व्यवस्था की जाती है। "कठिनाइयों की वृद्धि पर प्रतिबन्ध लगाने अथवा उनके भार एवं तीव्रता को कम करने के लिए की गयी पूर्व-व्यवस्था ही नियोजन है।"

जिस प्रकार एक व्यक्ति अपने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में सफलता-प्राप्ति हेतु योजनाबद्ध कार्यक्रम की शरण लेता है, ठीक उसी प्रकार एक राष्ट्र को भी अपने सर्वांगीण विकास के लिए नियोजन की सहायता लेनी पड़ती है। "नियोजक को नियोजन के उद्देश्य बताना, उन उद्देश्यों की पूर्ति हेतु नीति निर्धारित करना और विभिन्न नियन्त्रणों को, जो चुने हुए लक्ष्यों की ओर प्रगति करने के लिए वाञ्छनीय है, *निश्चित करना आवश्यक है। यह लक्ष्य ऐसे वर्गरहित समाज* की स्थापना करना हो सकता है जिसमें वस्तुओं का उचित वितरण हो, साधनों का अपव्यय न हो, युद्ध के लिए साधनों

का एकत्रीकरण अथवा विशेषाधिकृत वर्गों को सहायता प्रदान करना हो सकता है।"[1] वास्तव मे किसी देश की अर्थ-व्यवस्था का व्यवस्थित एव विस्तृत प्रबन्ध जब इस प्रकार किया जाता है कि आर्थिक प्रगति की दर मे पर्याप्त वृद्धि की जा सके तो इस प्रकार के प्रबन्ध को आर्थिक नियोजन कहते है। आर्थिक नियोजन इस प्रकार आर्थिक प्रगति का एक प्रभावशाली तन्त्र होता है। यह वृहद्-अर्थशास्त्र (Macro-economics) का एक विकसित स्वरूप है जिसके द्वारा सीमान्त अर्थशास्त्र को चुनौती दी गयी है। आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत देश के साधनों का प्रभावशाली एव पूर्णतम उपयोग इस प्रकार होता है कि प्रत्येक नागरिक को भौतिक, सामाजिक एव नैतिक दृष्टिकोण से अच्छे जीवन-स्तर का आश्वासन दिया जा सके और वह अपने श्रम का प्रतिफल पाने का अवसर प्राप्त कर सके। आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत देश की आर्थिक, सामाजिक एव सास्कृतिक सरचना मे मूलभूत परिवर्तन होते है। आर्थिक प्रबन्ध को वृहद्-अर्थशास्त्रीय स्वरूप देने के लिए राज्य को आर्थिक क्रियाओं का नियन्त्रण एव निर्देशन करना होता है जिसके परिणामस्वरूप सत्ताओं का केन्द्रीकरण राज्य के हाथो मे हो जाता है। दूसरी ओर नियोजित विकास का लाभ समाज के प्रत्येक सदस्य तक पहुँचाने के लिए राज्य द्वारा सत्ताओं का विकेन्द्रीकरण किया जाता है और ऐसी क्षेत्रीय एव स्थानीय संस्थाओं की स्थापना की जाती है जो प्रत्येक नागरिक तक योजना के लाभ पहुँचा सके।

नियोजन का प्रारम्भ

आर्थिक नियोजन के वर्तमान स्वरूप का विचार मार्क्सवादी समाजवाद मे निहित था और इस विचारधारा का व्यावहारिक उपयोग रूस मे साम्यवादी शासन स्थापित होने के पश्चात् ही किया गया। यूरोप के अर्थशास्त्रियो विचारकों एव लेखकों को 19वी शताब्दी के अन्त मे पूँजीवाद के दोषों का जब आभास होने लगा तो राजकीय हस्तक्षेप के द्वारा अर्थ-व्यवस्था का समायोजन करने की विचारधारा उदय हुई। इसके अन्तर्गत सरकार को अर्थ-व्यवस्था मे समायोजन करने हेतु कार्यवाहियाँ तभी करनी थी जब अर्थ-व्यवस्था मे कठिन एव हानिकारक परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गयी हो अथवा उनके उदय होने की सम्भावना हो गयी हो। इसके अतिरिक्त सरकारी हस्तक्षेप केवल उन्ही क्षेत्रो तक सीमित रखा जाना था जिनमें कठिन परिस्थितियाँ उदय हो रही हो और अर्थ-व्यवस्था के सभी क्षेत्र मुक्त रूप से कार्य कर सकते थे। सरकारी हस्तक्षेप की प्रमुख कार्यवाहियाँ सरक्षणात्मक शुल्क, विपणि-नियन्त्रण उत्पादन एव विक्रय कोटा निर्धारित करना, कारखाना अधिनियम, मूल्य-नियन्त्रण, कच्चे माल के वितरण पर नियन्त्रण आदि है। इस प्रकार सरकारी हस्तक्षेप द्वारा देश के आर्थिक जीवन पर सचेत (Conscious) एव समन्वित नियन्त्रण नही होता है जो आर्थिक नियोजन के प्रमुख अग होते है। आर्थिक नियोजन की विचारधारा को राजकीय हस्तक्षेप की विचारधारा से नैतिक बल तो अवश्य प्राप्त हुआ परन्तु राजकीय हस्तक्षेप अपने आप मे आर्थिक नियोजन का स्वरूप नही समझा गया।

आर्थिक नियोजन की विचारधारा का प्रारम्भ विकास एव विस्तार 20वी शताब्दी का ही उपहार है। सन् 1910 मे नॉर्वे के अर्थशास्त्री प्रोफेसर क्रिस्टियन शोन्हेयडर (Kristian Schonheyder) ने आर्थिक क्रियाओं का विश्लेषण करते समय आर्थिक नियोजन को एक महत्वपूर्ण व्यवस्था के रूप मे स्थान दिया। यह केवल एक सैद्धान्तिक विश्लेषण था।

प्रथम महायुद्ध मे जर्मनी ने सरकारी हस्तक्षेप को विस्तृत किया और युद्ध के प्रशासन के लिए नियोजन का उपयोग किया गया। यूरोप के अन्य राष्ट्रो ने भी आर्थिक नियोजन एव सरकारी

---

1 Planners necessarily have to suggest objectives, policies to achieve them, and various checks to assure that progress is being made towards the selected goal This goal may be a classless society with fair distribution of goods and non-wastage of resources, or it may be a mobilization of resources for war and for favouring the priviledge class"

—Seymour, E Harris, *Economic Planning*, p 13

हस्तक्षेप का उपयोग युद्ध के प्रशासन के लिए किया। परन्तु यह समस्त व्यवस्था अत्यन्त अस्थायी थी जिसका जीवनकाल युद्ध-समाप्ति के कुछ वर्ष बाद तक रहकर समाप्त हो गया।

यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि नियोजन का जो विस्तृत क्षेत्र आज हमारे सम्मुख उपस्थित है, उसकी आयु 50 वर्ष से अधिक नही है। आधुनिक युग मे ससार के सभी राष्ट्रो मे नियोजन किसी न किसी रूप मे प्रयोग मे लाया जाता है। रूस मे नियोजन की आश्चर्यजनक सफलताओं के पूर्व, नियोजन का उपयोग केवल सीमित उद्देश्य के लिए ही किया जाता था, विशेषकर युद्ध के समय मे, युद्धोपरान्त पुनर्निर्माण हेतु तथा प्राकृतिक सकटो के निवारणार्थ। आर्थिक तथा सामाजिक विकास के लिए नियोजन का उपयोग शान्तिकाल मे सर्वप्रथम रूस द्वारा ही किया गया। यूरोपीय देशो मे "स्वतन्त्र साहस" (Free Enterprise) का बोलबाला था। यूरोपीय तथा अमेरिकी देशो ने "स्वतन्त्र साहस की नीतियो" (*Laissez Faire* Policies) द्वारा उत्पादन मे वृद्धि भी हुई थी। स्वतन्त्र अर्थ-व्यवस्था मे उत्पादन तथा उपभोग पर शासकीय नियन्त्रण अत्यन्त सीमित होता है तथा सरकार विपणि, उत्पादन तथा उपभोग पर अदृश्य नियन्त्रण रखती है अथवा माँग तथा पूर्ति के नियमो के अनुसार अर्थ-व्यवस्था सचालित की जाती है। रूस ने आयोजित अर्थ व्यवस्था की स्थापना की और पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था की तुलना मे अधिक उत्पादन के लक्ष्यो को अत्यन्त न्यून अवधि मे प्राप्त कर ससार के अर्थशास्त्रियो का ध्यान नियोजन की ओर आकृष्ट किया।

सन् 1928 के पश्चात रूस ने लगातार तीन पचवर्षीय योजनाओ की घोषणा की और इन योजनाओ द्वारा रूस के उत्पादन मे आश्चर्यजनक वृद्धि हुई जबकि अमरीकी, ब्रिटिश तथा फ्रान्सीसी अर्थ व्यवस्था मे मूल्यो के उतार-चढाव की उपस्थिति ने उत्पादन को सीमाबद्ध कर रखा था। "जिज्ञासु मस्तिष्को ने पश्चिम के स्थान पर पूर्व की ओर देखना प्रारम्भ कर दिया। रूस के उत्पादन तथा औद्योगीकरण के क्षेत्र मे सफलताएँ महत्वपूर्ण थी। कभी भी किसी देश ने इतने कम समय मे पिछडे हुए कृषि-प्रधान राष्ट्र को एक आधुनिक औद्योगिक शक्ति मे परिवर्तित होने का अनुभव नही किया था।"[1]

पूँजीवादी राष्ट्रो मे सन् 1930 मे विश्व के आर्थिक इतिहास का सबसे बडा मन्दी का काल प्रारम्भ हुआ जिसके फलस्वरूप पूँजीवाद पर लोगो का विश्वास क्षीण होने लगा। इसी समय कीन्स के लेखो द्वारा भी इस बात की पुष्टि की गयी कि पूँजीवादी राष्ट्रो मे राज्य का आर्थिक प्रगति मे सक्रिय सहयोग आवश्यक है और उसे अर्थ व्यवस्था की घटनाओ को एक दर्शक-मात्र के रूप मे स्वीकार नही करना चाहिए। लगभग उसी समय नाजी जर्मनी तथा फासिस्ट इटली (Fascist Italy) मे आर्थिक जीवन को नियन्त्रित करने हेतु इन देशो की सरकारो ने कठोर कार्यवाहियो का प्रारम्भ किया। इन देशो का उद्देश्य अपनी सैनिक शक्ति शीघ्रातिशीघ्र इतनी बढाना था कि वे विश्व विजय प्राप्त कर सके। इस प्रकार सन् 1930 के बाद आर्थिक नियोजन को एक ओर रूस मे आर्थिक प्रगति के लिए और दूसरी ओर जर्मनी एव इटली मे युद्ध की तैयारियो के लिए प्रयोग किया जाने लगा।

सन् 1939 मे द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हुआ जिसके कुशल सचालन हेतु युद्ध मे सम्मिलित राष्ट्रो ने अपनी-अपनी अर्थ-व्यवस्थाओ को राजकीय नियोजन के अन्तर्गत पुनर्गठन किया। सन् 1944 मे युद्ध समाप्ति के पश्चात युद्ध मे क्षतिग्रस्त राष्ट्रो ने अपना पुनर्निर्माण करने हेतु आर्थिक नियोजन का उपयोग जारी रखा। सयुक्त राज्य अमेरिका ने मास्टर प्लान के अन्तर्गत उन्ही क्षतिग्रस्त राष्ट्रो

1 " inquiring minds began to look eastward rather than westward, as they had in the twenties Russian successes were striking nevertheless in the rise of output of productivity and in the rate of industrialization No country had ever experienced so rapid a transformation from a backward agricultural state to a modern industrialized power "

—S E Harris, *Economic Planning*, pp 14-15

को पुर्ननिर्माण हेतु सहायता देना स्वीकार किया जा ऐसी पुर्ननिर्माण-योजनाओ का सचालन करें जिससे अथ व्यवस्था के सभी क्षेत्रो का विकास हो सकता हो।

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात साम्राज्यवादी युग की समाप्ति का शुभारम्भ हुआ और एक के बाद एक —एशियाई एव अफ्रीकी राष्ट्र विदेशी सत्ताओ से स्वतन्त्र होने लगे। राजनीतिक स्वाधीनता की सुदृढता के लिए इन देशो मे अपने नागरिको के आर्थिक कल्याण की समस्या सबसे अधिक गम्भीर थी। इन देशो (जिन्हे अल्प विकसित राष्ट्र का नाम दिया जाता है) के लिए आव श्यक था कि शीघ्र आर्थिक विकास के लिए अपनी अर्थ व्यवस्थाओ का सचालन युद्ध स्तरीय सिद्धान्तो के आधार पर करें और इसके लिए आर्थिक नियोजन का उपयोग स्वाभाविक था।

आधुनिक युग म इस प्रकार आर्थिक नियोजन एक अत्यन्त स्वाभाविक क्रिया है जिसके उप योग पर सामान्यत कोई आपत्ति नही करता। कोई सरकार अब अथ व्यवस्था को व्यक्तियो एव निजी सस्थाओ के निर्णयो पर नही छोड देती है। आधुनिक सरकारो का सुरक्षा एव अन्य सामूहिक आयोजना (Collective Provisions) पर होने वाला व्यय इतना अधिक होता है कि अथ व्यवस्था के बड भाग पर सरकार का नियन्त्रण हो ही जाता है। इसके अतिरिक्त तान्त्रिक प्रगति का जन कल्याण से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया कि आधुनिक सरकारो को तान्त्रिकताओ के उपयोग को नियन्त्रित करना स्वाभाविक हो गया है और इस नियन्त्रण को अथ-व्यवस्था के सभी क्षेत्रो मे समन्वित करने के लिए आर्थिक नियोजन का उपयोग किसी न किसी रूप मे करना अनिवार्य हो गया है।

आर्थिक नियोजन को प्रोत्साहन प्रदान करने वाले घटक

वतमान युग मे आर्थिक नियोजन की विचारधारा इतनी सामान्य एव स्वाभाविक हो गयी है कि किसी भी राजनीतिवाद को मानने वाली सरकार द्वारा नियोजन का प्रयोग किसी न किसी रूप मे अवश्य किया जाता है। ऐसी रूढिवादी विचारधारा के लोग अब बहुत कम है जो इस व्यवस्था को अव्यावहारिक एव अन्यायपूर्ण समझकर इसका विरोध करें। वास्तव मे आर्थिक नियोजन को अब एक ऐसी विवेकपूर्ण व्यवस्था माना जाता है जिसके प्रयोग से पूर्व निर्धारित लक्ष्यो की उपलब्धि द्रुत गति से की जा सकती है। यह लक्ष्य आर्थिक प्रगति जन-कल्याण युद्ध प्रशासन सैनिक शक्ति मे वृद्धि आदि कुछ भी हो सकते है। वास्तव मे आर्थिक प्रगति आर्थिक नियोजन का मूल उद्देश्य माना जाता है और अन्य सभी लक्ष्य इस मूल उद्देश्य के पूरक अथवा सहायक होते है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि आधुनिक युग मे आर्थिक नियोजन को आर्थिक प्रगति की सवश्रेष्ठ प्रविधि (Process) समझा जाता है। यह बात अल्प विकसित राष्ट्रो के लिए शत प्रतिशत सत्य बैठती है। यही कारण है कि लगभग सभी अल्प विकसित राष्ट्रो मे आर्थिक नियोजन द्वारा आर्थिक प्रगति के माग को प्रशस्त किया जा रहा है।

इस प्रकार वतमान युग म हम यह देखते है कि पूँजीवादी विकसित राष्ट्रो जैसे—अमेरिका ब्रिटेन फ्रास आदि म आर्थिक नियोजन का सीमित उपयोग किया जाता है और इसके द्वारा पूँजीवाद से उत्पन्न होने वाले असन्तुलनो एव विषमताओ को समायोजित किया जाता है। साम्यवादी राष्ट्रो मे जैसे रूस चीन आदि म आर्थिक नियोजन का विस्तृत एवं कठोर उपयोग होता है और मानव जीवन नियोजन की जजीरो से अनुशासित रहता है। इन राष्ट्रो मे नियोजन के द्वारा सैनिक शक्ति बढाने के लक्ष्य की उपलब्धि की जाती है। तीसरे वग मे अल्प विकसित राष्ट्र है जिनमे निधनता अभाव निरक्षरता विषमता आदि का बोलबाला है और इन समस्याओ का निवारण करने हेतु आर्थिक नियोजन का उपयोग किया जाता है। यह राष्ट्र अपनी परम्परागत अथ व्यवस्थाओ मे धीरे धीरे परिवतन करके उनको नियोजन के विस्तृत उपयोग के लिए उपयुक्त बना रहे है।

पिछले 50 वर्षों के जीवन काल मे आर्थिक नियोजन की विचारधारा का जिस गति से विस्तार एव विकास हुआ है वह अद्वितीय है। किसी आर्थिक विचारधारा ने इतनी जल्दी साव भौमिक मान्यता नही प्राप्त की है। नियोजन की विचारधारा के प्रसार मे अग्रलिखित घटको न सहायता प्रदान की है

(1) विवेकपूर्ण विचारधारा—इसके प्रादुर्भाव से विवेक एवं विज्ञान की तुला पर ठीक उतरने वाले विचारों को स्वीकृति प्रदान करने की प्रवृत्ति का विस्तार हुआ है। वैज्ञानिक एवं तान्त्रिक विशेषज्ञों ने ऐसे राज्य की स्थापना को महत्व दिया, जो एक मशीन के समान निरन्तर देश के साधनों का अधिकतम सन्तोष के लिए उपभोग कर सके। देश के उत्पादक साधनों को इस प्रकार सगठित किया जा सके, जिससे समाज का अधिकतम हित हो। वास्तव में विवेकीकरण जब देश की सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था को आच्छादित कर लेता है तो इस व्यवस्था को आर्थिक नियोजन कहा जाता है। विवेकीकरण से प्रतिस्पर्द्धा के दोषों को दूर किया जाता है और उत्पादन अनुमानित माँग के अनुसार ही किया जाता है। ठीक इसी प्रकार नियोजन द्वारा आर्थिक व्यवस्था में स्थिरता लाने के लिए नियोजन के लक्ष्यों के आधार पर उत्पादन निर्धारित किया जाता है। विवेकीकरण द्वारा श्रमिकों में अधिकतम कार्यक्षमता उत्पन्न होती है। कच्चे माल मशीनों तथा श्रम के अपव्यय को रोका जा सकता है। आर्थिक नियोजन द्वारा भी प्रतिस्पर्द्धीय अर्थ-व्यवस्था के अपव्यय को रोका जाता है। विवेकीकरण के समान ही आर्थिक नियोजन में नवीनतम मशीनों के उपभोग तथा अधिकतम तान्त्रिक कार्यक्षमता को महत्व प्राप्त होता है। इस प्रकार विवेकीकरण की विचारधारा से आर्थिक नियोजन के विचार को पुष्टि प्राप्त हुई है।

(2) समाजवादी विचारधारा—इसके विस्तार ने आर्थिक नियोजन के विस्तार एवं विकास में महत्वपूर्ण सहयोग दिया है और आधुनिक युग में आर्थिक नियोजन समाजवाद का अभिन्न अंग बन गया है। समाजवाद की विचारधारा 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक केवल सिद्धान्त मात्र ही समझी जाती थी।

समाजवाद ने अब व्यावहारिक राजनीति का रूप ग्रहण किया है और इसे आधुनिक युग में सभी राष्ट्रों में मान्यता प्राप्त होने लगी है। "समाजवाद समाज के ऐसे आर्थिक सगठन को कहते हैं जिसमें उत्पादन के भौतिक साधनों पर समस्त समाज का अधिकार होता है और जिनका सचालन ऐसे सगठनों द्वारा, जो समाज के प्रतिनिधि हों और समाज के प्रति उत्तरदायी हों, एक सामान्य योजना के अनुसार किया जाता है। इसमें समाज के समस्त सदस्यों को समाजीकृत एवं नियोजित उत्पादन के लाभों में समान हित प्राप्त करने का अधिकार होता है।"[1] इस परिभाषा में समाजवाद के सामाजिक पहलू को विशेष महत्व दिया गया है जिसके द्वारा देश की राष्ट्रीय आय के समान वितरण का आयोजन किया जाता है। ऐसी व्यवस्था में उत्पादक साधनों का उपयोग केन्द्रीय अधिकारी के निश्चयों के अनुसार किया जाता है। सन् 1875 से सन् 1925 तक समाजवाद का अर्थ उत्पादन के साधनों पर सामाजिक अधिकार समझा जाता था परन्तु अब इसे नियन्त्रित उत्पादन कहा जाता है।

समाजवाद के निम्नलिखित तीन मुख्य अंग हैं

(1) उत्पादन के साधनों पर समाज का अधिकार।
(2) आर्थिक नियोजन।
(3) समानता।

समानता में तीन घटकों को सम्मिलित किया जाता है—(अ) धन के वितरण में समानता, (आ) आर्थिक अवसरों की समानता, (इ) आर्थिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि की समानता।

20वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही समाजवाद का महत्व बढने लगा और समाजवाद के साथ-साथ आर्थिक नियोजन भी विख्यात होने लगा। जर्मनी के सन् 1919 के चुनाव में समाजवादी

---

1 "Socialism is an economic organization of society in which the material means of production are owned by the whole community and operated by organs, representative of and responsible to the community, according to a general plan, all members of the community being entitled to benefits from the results of such socialized planned production on the basis of equal rights"—Dickinson *Economics of Socialism*, p. 11

पक्षों की शक्ति बढती हुई प्रतीत हुई और The National Socialist German Labour Party, जो सन् 1923 मे स्थापित की गयी थी, सन् 1933 के चुनाव मे विजयी हुई। इसी प्रकार ब्रिटेन मे सन् 1924 के चुनाव मे Labour Party को लगभग एक-तिहाई मत प्राप्त हुए। सन् 1935 मे Labour Party के मतो की सख्या और भी बढ गयी और सन् 1945 मे समाजवादियो ने बहुमत से अपनी सरकार बनायी। ब्रिटेन की लेबर सरकार ने युद्धकाल के विस्तृत सरकारी नियन्त्रणो को जारी रखना उचित समझा और इस प्रकार आर्थिक नियोजन के सिद्धान्तो को मान्यता प्राप्त हुई। सन् 1936 मे फ्रान्स मे भी लगभग $\frac{1}{2}$ डिप्युटीज (Deputies) समाजवादी थे। रूस ने भी समाजवाद एव साम्यवाद का विकसित रूप प्रस्तुत किया है। इटली, बल्गेरिया, आस्ट्रेलिया, हगरी, चेकोस्लोवेकिया, नॉर्वे, पोलैण्ड आदि अन्य देशो मे भी समाजवाद के प्रति झुकाव है। पूर्व मे भारत, चीन, सयुक्त अरब गणराज्य आदि देशो मे भी समाजवाद एव समाजवादी अर्थ-व्यवस्था की स्थापना के प्रयत्न जारी हैं। इस प्रकार समाजवाद की विचारधारा के व्यावहारिक महत्व हो जाने से आर्थिक नियोजन की विचारधारा को पुष्टि प्राप्त हुई है।

(3) राजनीतिक अथवा राष्ट्रीय विचारधारा—नियोजन द्वारा साधनो एव लक्ष्यो मे समन्वय सुविधापूर्वक स्थापित किया जा सकता है। इसमें निश्चित लक्ष्यो की प्राप्ति के लिए समन्वित प्रयास सम्भव होते है। इसके द्वारा आर्थिक सत्ता का केन्द्रीयकरण सम्भव होता है। राजनीतिज्ञ एव राष्ट्रवादी इसका उपयोग अपने राजनीतिक उद्देश्यो की पूर्ति के लिए कर सकते है। नियोजित अर्थ-व्यवस्था मे कुछ राजनीतिक उद्देश्यो की पूर्ति सदैव निहित होती है। राष्ट्र की सुरक्षा का प्रबन्ध नियोजित अर्थ-व्यवस्था मे अत्यधिक सुलभ होता है, इसलिए युद्धकाल मे आर्थिक नियन्त्रणो एव शक्तियो के केन्द्रीकरण का उपयोग होता है जो आर्थिक नियोजन के मुख्य अग है। हिटलर न जर्मनी मे नियोजित अर्थ-व्यवस्था का सचालन इस प्रकार किया कि विभिन्न राष्ट्रो पर साम्राज्य स्थापित कर सके। सकटकाल मे नियोजन को अत्यधिक महत्व प्राप्त हुआ और आर्थिक नियोजन का जो स्वरूप हम देख रहे है यह सकटकाल की ही देन है। प्रारम्भ मे आर्थिक नियन्त्रण सकटकाल की एक तान्त्रिकता थी, परन्तु अब इस तान्त्रिकता का उपयोग आर्थिक नियोजन के नाम से शान्तिकाल मे आर्थिक विकास के लिए किया जाने लगा।

इस प्रकार राष्ट्रवादियो, राजनीतिज्ञो तथा वैज्ञानिको ने आर्थिक नियोजन की कला को ऐसी तान्त्रिकता के रूप मे महत्व प्रदान किया जिसके द्वारा राष्ट्र के उपलब्ध एव सम्भावित साधनो से अधिकतम आर्थिक लाभ प्राप्त किया जा सकता है। समाजवादियो ने दूसरी ओर इस तान्त्रिकता को सामाजिक एव आर्थिक समानता स्थापित करने का मुख्य यन्त्र बताया।

सन् 1930 से 1940 तक आर्थिक नियोजन का महत्व राष्ट्रीय विचारधारा के कारण बढा जबकि सन् 1950 से 1960 तक वैज्ञानिक एव तान्त्रिक विचारधाराओ का जोर रहा। इस विचारधारा ने प्रजातान्त्रिक देशो को विशेष रूप से प्रभावित किया जिसके कारण प्रजातान्त्रिक देशो मे आर्थिक नियोजन को स्थान प्राप्त हुआ है।

(4) प्रथम एवं द्वितीय महायुद्ध—प्रथम एव द्वितीय महायुद्धो के विध्वसो के कारण अधिकाधिक राष्ट्रो को अपनी अर्थ-व्यवस्था के पुनर्निर्माण की आवश्यकता प्रतीत हुई। युद्ध मे वही देश विजयी हो सकता है जो अपनी अर्थ-व्यवस्था नियोजित ढग से सचालित करता है और राज्य की इच्छानुसार राष्ट्र के समस्त साधनो को युद्ध-विजय प्राप्त करने सम्बन्धी कार्यक्रमो मे लगाता है। युद्धकाल मे वस्तुओं और सेवाओ की पूर्ति शीघ्रातिशीघ्र करने की आवश्यकता होती है।

इस आवश्यकता की पूर्ति हेतु प्रतिस्पर्धी अर्थ-व्यवस्था मे आवश्यक समायोजन दीर्घ काल मे ही सम्भव होते हैं जबकि नियोजित अर्थ-व्यवस्था को, राज्य जिस ओर चाहे, शीघ्र प्रभावित कर सकता है। इसी प्रकार युद्ध-सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति नियोजित अर्थ-व्यवस्था मे उचित समय के अन्दर की जा सकती है। युद्ध-काल मे निजी व्यवसायी की जोखिम की मात्रा अत्यधिक होती है और वह नवीन उद्योगो एव व्यवसायो की स्थापना करने तथा पुराने व्यवसायो के विस्तार

करन की जो जोखिम होती है, उसे सुलभता से अपने ऊपर लेने को तैयार नहीं होता है। ऐसी परिस्थिति में युद्ध-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु सरकारी क्षेत्र का विस्तार करना अनिवार्य हो जाता है जिसे नियोजित अर्थ-व्यवस्था में सुलभतापूर्वक किया जा सकता है।

(5) आर्थिक कठिनाइयाँ—आर्थिक उच्चावचन, जो पूँजीवाद की विशेषता है, के द्वारा उत्पन्न हुई आर्थिक कठिनाइयों का निवारण करने हेतु राजकीय हस्तक्षेप की आवश्यकता होती है। जर्मनी में सन 1929 की मन्दी के पश्चात जर्मन अर्थ-व्यवस्था को बड़ी क्षति पहुँची। इसका निवारण करने के लिए जर्मन सरकार ने मुद्रा-संकुचन (Deflationary Policy) का अनुसरण किया। संयुक्त राज्य अमेरिका में रूजवेल्ट सरकार का सन् 1933 की मन्दी का सामना करते समय यह ज्ञात हो गया कि यह मन्दी अनियोजित अर्थ-व्यवस्था का परिणाम है और इसलिए राज्य ने अर्थ-व्यवस्था में स्थिरता लाने हेतु बहुत सी कार्यवाहियों का अनुसरण किया। मुद्रा स्फीति, मुद्रा प्रसार, मन्दी, मूल्यों की वृद्धि आदि की कठिनाइयों को दूर करने एवं उनकी उपस्थिति को रोकने के लिए आर्थिक नियोजन एक शक्तिशाली अस्त्र का रूप ग्रहण कर सकता है।

(6) एकाधिकार—सन् 1929 की विश्वव्यापी मन्दी के पश्चात संसार भर में सामूहीकरण का दौरदौरा हुआ। व्यवसायियों ने यह विचार किया कि मन्दी का सबसे बड़ा कारण उनकी पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा है और इस प्रतिस्पर्द्धा को दूर करने के लिए प्रन्यास (Trusts), पार्षद् (Cartels), एकीकरण (Amalgamation) आदि का प्रादुर्भाव हुआ। इस प्रकार अर्थ व्यवस्था में स्थिरता लाने हेतु एकाधिकार प्राप्त करने की प्रवृत्ति सामान्य हो गयी परन्तु इस निजी एकाधिकार की प्रवृत्ति का आधार केवल व्यवसायियों का हित था और ग्राहक, उपभोक्ता तथा सामान्य जनता के हितों को कोई स्थान नहीं था। ऐसी परिस्थिति में विभिन्न देशों की सरकारों ने इस एकाधिकार की प्रवृत्ति का पूर्ण लाभ उठाने हेतु इसे सामान्य जनहित का एक साधन बना लिया और विभिन्न देशों में अर्थ-व्यवस्था के अनेक क्षेत्रों में सरकारी एकाधिकार स्थापित किये जाने लगे, जिनका अन्तिम लक्ष्य केवल लाभोपार्जन न होकर सामान्य जनता का हित था। सरकारी एकाधिकार आर्थिक नियोजन का मुख्य अंग होने के कारण आर्थिक नियोजन के विस्तार में सहायक सिद्ध हुआ। जर्मनी में सरकारी हस्तक्षेप एवं नियन्त्रण की आधारशिला निजी पार्षदों (Private Cartels) ने डाली थी।

(7) तान्त्रिक प्रगति—तान्त्रिक (technological) प्रगति के फलस्वरूप अधिक उत्पादन, श्रमिकों की वास्तविक आय में वृद्धि तथा पूँजी-निर्माण की गति में वृद्धि होती है। रोजगार बचत एवं विनियोग में भी वृद्धि होना स्वाभाविक होता है। इस प्रकार प्रगतिशील अर्थ व्यवस्था के लाभों को सभी वर्गों तक पहुँचाने के लिए अर्थ-व्यवस्था पर सामाजिक नियन्त्रण आवश्यक होता है। प्रगतिशील अर्थ-व्यवस्था का दिन प्रतिदिन समायोजन करना अत्यन्त आवश्यक होता है, जिसे एक केन्द्रीय अधिकारी ही कर सकता है। उन्नतशील अर्थ-व्यवस्था पर सरकारी नियन्त्रण न होने के फलस्वरूप आवश्यकता से अधिक उत्पादन, निजी सामूहीकरणों का प्रादुर्भाव आदि का भय रहता है। अर्द्ध विकसित राष्ट्रों में नवीन व्यवसायों की स्थापना हेतु पूँजी उपलब्ध करना भी कठिन होता है क्योंकि इन देशों में पूँजी शर्मीली होती है। इस परिस्थिति में बड़ी औद्योगिक इकाइयां सरकारी क्षेत्र में ही स्थापित की जा सकती है।

आधुनिक युग में तान्त्रिक प्रगति एवं जनकल्याण में अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध नकारात्मक एवं सकारात्मक दोनों ही प्रकार का है अर्थात् तान्त्रिक प्रगति द्वारा उपलब्ध उत्पादन प्रविधियों एवं तकनीकियों के विस्तृत उपयोग से समाज में कुछ दोषों का प्रादुर्भाव होना स्वाभाविक है, जैसे—बेरोजगारी, नगरों में अधिक गहन जनसंख्या, हानिकारक प्रतिस्पर्द्धा, अति-उत्पादन, अनावश्यक एवं विलासिता की वस्तुओं का उत्पादन, धन एवं आय का केन्द्रीकरण आदि-आदि। इन दोषों को दूर करने के लिए राज्य को आर्थिक क्रियाओं को नियन्त्रित करना आवश्यक होता है और इस कार्य के लिए आर्थिक नियोजन का उपयोग किया जाता है।

तान्त्रिक प्रगति एव जन-कल्याण म सकारात्मक सम्बन्ध का अर्थ है कि आधुनिक तान्त्रिक प्रविधियो का विस्तृत उपयोग करके जनजीवन को अधिक सुखी एव कल्याणकारी बनाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। इसके लिए भी राज्य के नियन्त्रण की आवश्यकता होती है। बहुत से जन-सेवा-सम्बन्धी उद्योग एव व्यवसायो मे सरकार को एकाधिकार के रूप मे चलाना आवश्यक होता है जिससे समस्त नागरिको को आवश्यक सेवाएँ एव वस्तुएँ उचित मूल्य पर एव पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध हो सके।

आधुनिक तान्त्रिकताओ के फलस्वरूप युद्ध-सामग्री बनाने वाले उद्योगो का सचालन निजी साहसियो को नही सौंपा जा सकता है क्योकि एक ओर इन उद्योगो के लिए बहुत अधिक पूँजी एव तकनीक की आवश्यकता होती है और दूसरी ओर आधुनिक शस्त्रों का उपयोग इतना भयानक है कि उन पर कठोर सरकारी नियन्त्रण एव अधिकार अनिवार्य है। यही कारण है कि आधुनिक तान्त्रिकताओ और आर्थिक नियोजन का इतना अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है।

(8) राजकीय वित्त—प्रथम महायुद्ध-काल मे सरकारो के सुरक्षा-व्यय मे अत्यधिक वृद्धि हुई, नवीन करों को लगाया गया तथा पुराने करो की दर मे वृद्धि हुई।

युद्ध-काल मे सरकारी व्यय, कर एव सरकारी ऋण (Public Debt) मे महत्वपूर्ण वृद्धि हुई, जो युद्ध के पश्चात भी जारी रखी गयी। सरकारो के उत्तरदायित्व बढ गये और जो पहले निजी आवश्यकताएँ समझी जाती थी, उन्हे सामाजिक आवश्यकताएँ समझा जाने लगा जिनके प्रति सरकार का उत्तरदायित्व बढ गया। इस उत्तरदायित्व को निभाने के लिए यह आवश्यक हो गया कि सरकारी आय मे भी निरन्तर वृद्धि की जाय। इस विधि को द्वितीय महायुद्ध मे और अधिक प्रोत्साहन मिला जिसके फलस्वरूप राज्य राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न अगो पर नियन्त्रण एव हस्तक्षेप करने लगा। सरकारी आय-व्यय मे वृद्धि के अनुसार सरकारी कार्यवाहियो मे वृद्धि स्वाभाविक ही थी। सरकारी कार्यवाहियो मे वृद्धि होने का तात्पर्य हुआ—सरकारी क्षेत्र का विस्तार तथा निजी क्षेत्र का सकुचन—इस प्रकार सरकार का अर्थ-व्यवस्था पर नियन्त्रण एव हस्तक्षेप बढता रहा जिसका फल आर्थिक नियोजन का सचालन हुआ। राजकीय ऋण के विस्तार से देश की मुद्रा, साख एव पूँजी के क्षेत्र मे सरचनात्मक (Structural) परिवर्तन हो जाते है। जब मुद्रा एव साख का प्रसार होता है तो मुद्रा-स्फीति का दबाव बढ जाता है जिसे रोकने के लिए सरकारी हस्तक्षेप एव नियन्त्रण आवश्यक होता है। मुद्रा-प्रसार होने पर सरकार को मूल्यो, मजदूरी, उत्पादन, उपभोग, बैंक की कार्यवाहियों तथा प्रतिभूति के बाजारो पर नियन्त्रण करना अत्यन्त आवश्यक होता है। मन्दीकाल मे सरकारी आय-व्यय भी कम हो जाते हैं जिससे मूल्यो मे और कमी आ जाती है और बेरोजगारी की गम्भीरता बढती जाती है। ऐसी परिस्थिति मे सरकारी व्यय मे वृद्धि करना आवश्यक होता है क्योकि सरकारी व्यय मे वृद्धि होने पर ही मूल्यो मे स्थिरता एव रोजगार मे वृद्धि की जा सकती है। जब सरकारें काम मे वृद्धि करने का उत्तरदायित्व सरकार ले लेती है तो दीर्घकालीन बजट बनाने तथा दीर्घकालीन नियोजन की आवश्यकता होती है।

(9) जनसंख्या की वृद्धि—अर्द्ध-विकसित राष्ट्रो मे जनसख्या की वृद्धि तथा जीवन-स्तर मे कमी, यह दो लक्षण सामान्य रूप से पाये जाते है। जनसख्या की अधिक वृद्धि को रोकने हेतु परिवार-नियोजन का उपयोग किया जा सकता है परन्तु परिवार-नियोजन आर्थिक पुनर्निर्माण की अनुपस्थिति मे निरर्थक समझा जाता है। सभी अर्द्ध विकसित राष्ट्रो को अब यह मान्यता है कि अति-जनसख्या (Over-population) की समस्या का निवारण शीघ्र आर्थिक विकास द्वारा सम्भव है। आर्थिक विकास एव राष्ट्रीय योजना के अन्तर्गत ही सुगमतापूर्वक हो सकता है।

(10) पूंजी की कमी—अर्द्ध विकसित राष्ट्रो मे आर्थिक विकास हेतु पर्याप्त पूँजी उपलब्ध नही होती है। अनियोजित अर्थ-व्यवस्था मे उत्पादन एव उपभोग स्वतन्त्र होते हैं और उपभोक्ता अपने उपभोग की वस्तुएँ खरीदने के पश्चात ही बचत की बात का विचार कर सकता है। प्रति व्यक्ति आय अत्यन्त न्यून होने के कारण अर्द्ध-विकसित राष्ट्रो मे पर्याप्त उपयोग सामग्री क्रय करना

ही सम्भव नही होता है । ऐसी परिस्थिति मे आन्तरिक बचत की मात्रा अत्यन्त कम होती है । इसे बढाने के लिए अनिवार्य बचत की आवश्यता होती है जो नियोजित व्यवस्था मे ही सम्भव हो सकती है।

(11) अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाएँ—द्वितीय महायुद्ध के पश्चात बहुत से राष्ट्रो को विदेशी दासता से स्वतन्त्रता प्राप्त हुई है और इसमे अधिकतर राष्ट्र विकास के लिए अग्रसर हो गय है । अल्प-विकसित राष्ट्रो के शीघ्र आर्थिक विकास के लिए आर्थिक नियोजन की व्यवस्था सर्वश्रेष्ठ समझी जाती है क्योकि इसके अन्तर्गत साधनो के अपव्यय को रोककर उन्हे वाछित क्षेत्रो मे विनियोजित करना सम्भव होता है । आर्थिक प्रगति को गतिमान करने के लिए यह भी आवश्यक होता है कि समन्वित विकास-नीतियो का निर्धारण वर्तमान परिस्थितियो का विश्लेषण करके भविष्य की सम्भावनाओ एव समस्याओ के आधार पर किया जाय तथा इन नीतियो का विवेकपूर्ण सचालन दीर्घकाल तक होना भी आवश्यक होता है। यह कार्य तभी सफलतापूर्वक किया जा सकता है जब अर्थ-व्यवस्था पर केन्द्रीय नियन्त्रण हो । इसी कारण अल्प-विकसित राष्ट्र स्वतन्त्र अर्थ-व्यवस्था के स्थान पर आर्थिक नियोजन का प्रयोग करने लगे हैं।

(12) पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था के दोष—पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था के सचालन के फलस्वरुप विभिन्न राष्ट्रो मे आर्थिक अस्थिरता, आर्थिक विषमता तथा अकुशलता का प्रादुर्भाव हुआ । समाज मे दो वर्गो 'धनवान' एव 'निर्धन' की स्थापना हो गयी और धनी वर्ग का निर्धन-वर्ग का शोषण करने के अवसर प्राप्त होते रहे । श्रमिक-वर्ग का शोषण हुआ और इस प्रकार पूंजीवादी देशो मे आर्थिक प्रगति के साथ-साथ आर्थिक विषमता भी बढती गयी । निर्धन-वर्ग के बडे समूह मे असन्तोष उत्पन्न हुआ और पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था को स्थानापन्न करने की आवश्यकता महसूस की गयी । अब ऐसी अर्थ-व्यवस्था की स्थापना करनी थी जिसमे आर्थिक विकास के साथ आर्थिक विषमताओ मे कमी हो सके और इसके लिए नियोजित अर्थ-व्यवस्था को श्रेष्ठ माना गया ।

द्वितीय महायुद्धोपरान्त सयुक्त राष्ट्र मघ तथा उसके अन्तर्गत वित्तीय तथा अन्य विकास-सस्थाओ की स्थापना ने जनसमुदाय मे लोकतन्त्र के प्रति जागृति उत्पन्न की और अनेक देशो मे जो विदेशी सरकारो की दासता की क्रूर जजीरो मे तडप रहे थे, राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए हिंसा तथा अहिंसक क्रान्तियाँ हुई, साम्राज्यवाद की नैया भॅवर मे डोलने लगी । इस प्रकार जिन देशो ने स्वतन्त्रता प्राप्त की, वे आर्थिक, सामाजिक, बौद्धिक, नैतिक आदि सभी दृष्टियो से पिछडे हुए थे । इन राष्ट्रो के निवासियो का जीवन-स्तर दयनीय था। स्वतन्त्र राष्ट्रीय सरकारो का यह कर्तव्य हो गया कि वे इस पिछडी, अविकसित एव कठिन परिस्थितियो से राष्ट्र को मुक्ति दिलायें । इन राष्ट्रो मे साधनो तथा प्रशिक्षित व्यक्तियो की न्यूनता थी । भावी साधनो (Potential Resources) की खोज एव उपभोग करना अत्यन्त आवश्यक था । यह कार्य-सम्पादन नियोजन द्वारा ही न्यूनातिन्यून अवधि मे सम्भव था । अब एशिया के सभी राष्ट्रो मे विकास की ओर सत्वर गति से एक स्पर्धा हो रही है । भारत और चीन इस स्पर्धा मे सबसे आगे है । ये सभी राष्ट्र नियोजन द्वारा सीमित साधनो से अधिकतम लाभ उठाने मे प्रयत्नशील हैं ।

आज के युग का लोकतन्त्र केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता तक ही सीमित नही । 'आधुनिक युग के लोकतन्त्र मे समान व्यवहार के नियमो का अनुसरण करना तथा एक राष्ट्र के अधिकतम लोगो को जीवन के समस्त क्षेत्रो मे पूर्ण स्वतन्त्रता के साथ कार्य करने का अवसर, कुछ सीमित अकुशो के साथ, प्रदान करना जो जनसमुदाय के हित मे हो, सम्मिलित होता है । इसलिए लोकतन्त्र को अर्थ-व्यवस्था के ढांचे मे हेरफेर करने के लिए निरन्तर कार्यरत रहना पडता है, जिससे न केवल समान अवसर ही प्रदान किया जा सके, प्रत्युत अधिकतम जनसख्या के अधिकतम हित के दृष्टिकोण मे भी यह न्यायोचित प्रतीत हो ।"[1]

---

1 "Democracy in the modern age has come to be associated with a pursuit of equality of opportunity and full-fledged freedom of action to the majority of the people of a country in all walks of life, with due limitation imposed upon

यह निष्कर्ष निकालना अनुचित होगा कि नियोजन का महत्व लोकतन्त्र तक ही सीमित है। आज के युग में सभी राजनीतिक विचारधाराओं में आर्थिक तथा सामाजिक समानता को मान्यता प्राप्त है। साम्यवादी तथा समाजवादी तो विशेषत इन दो उद्देश्यों को प्रमुखता देते हैं। तानाशाही में भी इन उद्देश्यों को स्थान प्राप्त है, किन्तु इनके साथ अनन्य-शासक (Dictator) के सम्मान तथा शक्ति की ओर भी ध्यान केन्द्रित किया जाता है। आर्थिक तथा सामाजिक समानता नियोजन के माध्यम से ही कम से कम समय में प्राप्त की जा सकती है। पाकिस्तान भी नियोजन द्वारा आर्थिक विकास की ओर अग्रसर है जहा एक रूप में तानाशाही शासन-व्यवस्था है।

नियोजित एव अनियोजित अर्थ-व्यवस्था की तुलना

आधुनिक युग में नियोजित अर्थ-व्यवस्था अनियोजित अर्थ-व्यवस्था की तुलना में अधिक विवेकपूर्ण एव उचित समझी जाती है। नियोजित अर्थ-व्यवस्था में निश्चित लक्ष्य कम समय में उचित रीतियो द्वारा प्राप्त किये जा सकते हैं। निम्न कारणों से नियोजित अर्थ-व्यवस्था को अनियोजित अर्थ-व्यवस्था की तुलना में प्राथमिकता प्रदान की जाती है

(1) विस्तृत दृष्टिकोण—नियोजित अर्थ-व्यवस्था के कार्यक्रम विस्तृत दृष्टिकोण से निश्चित किये जाते हैं। नियोजन-अधिकारी नियोजन के लक्ष्य तथा कार्यक्रम निश्चित करते समय किसी विशेष क्षेत्र, वर्ग अथवा समुदाय की ओर ही अपना ध्यान केन्द्रित नहीं करता अपितु समस्त राष्ट्र की आवश्यकताएं लक्ष्यों के निर्धारण का केन्द्र-बिन्दु होती हैं। "अनियोजित तथा उद्योगों की प्रतियोगी व्यवस्था का मूल तत्व यह है कि उत्पत्ति तथा विनियोजन के विषय में निश्चय करने वाले व्यक्ति नेत्रहीन होते हैं। वे किसी एक वस्तु की उत्पत्ति के इतने थोड़े अंश पर प्रभुत्व रखते हैं कि औद्योगिक क्षेत्र की अल्प माँग का ही विचार में रख सकते हैं। उनको अपने निश्चय के परिणामों का ज्ञान न तो होता ही है और न ही हो सकता है। वे सामाजिक प्रतिघातों को भी ध्यान में नहीं रखते।"[1]

(2) उत्पादन एव साधनों में समन्वय—नियोजित व्यवस्था में वित्तीय साधनों तथा उत्पादन में समन्वय स्थापित करना सरल होता है। 'पूँजीवादी समाज का महत्वपूर्ण लक्षण निरन्तर मन्दी एव सम्पन्नता की अस्थिरता है तथा अर्थशास्त्रियों में वास्तविक सहमति है कि औद्योगिक व्यवहारों में साख-नीति तथा उत्पादन के अनुचित प्रबन्ध के कारण अधिक हेरफेर होते हैं।'[2] अनियोजित अर्थ-व्यवस्था में जनता की बचत अर्थात् आय का वह भाग है जो उपभोग पर व्यय नहीं किया जाता है तथा विनियोजन जो नये उद्योगों की स्थापना के लिए किया जाता है में कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता है और न कोई संस्था ही बचत को तुरन्त विनियोजित करने की व्यवस्था

---

them in their own interest Democracy constantly works to bring about the requisite changes in the structure of economy so as not only to afford equality of opportunity but also to justify from the point of view of the greatest good of the largest number of population'—V Vithal Babu, *Towards Planning* p 16

1 It is essence of an unplanned and competitive arrangement of industry that persons who take decisions about output and investment, should be blind They control such a small fraction of the output of a single commodity and therefore take into account such a small part of the industrial field that they are not and cannot be aware of the consequences of their own actions They are not aware of economic results They do not even consider social repurcussion"—E F M Durbin, *Problems of Economic Planning* p 30

2 The constant recurrence of depression and the instability of prosperity, is one of the most marked features of capitalistic society and there is a virtual unanimity among economists that the wide movements of industrial activity are traceable to the mismanagement of relation between credit-policy and production"—E F. M Durbin *Problems of Economic Planning*, p 42

पर ध्यान देती है। निजी अधिकोपण-संस्थाएँ दूसरी ओर विनियोजन की राशि में वृद्धि कर देती है, जबकि वास्तविक बचत की मात्रा मे कोई वृद्धि नही होती। इन कारणो के परिणामस्वरूप पूंजीवाद के सम्पूर्ण इतिहास मे बेरोजगारी तथा मन्दी का विशेष स्थान है। नियोजित व्यवस्था मे वित्तीय क्षेत्र के लिए एक अधिकारी नियुक्त किया जा सकता है, जो देश की समस्त बचत तथा विनियोजन का उपयोग राष्ट्र के हित मे कर सकता है। साथ ही, वह निजी हितो के प्रभाव को इन क्षेत्रो से पृथक् रख सकता है।

(3) उत्पादन के घटको को उचित स्थान—नियोजित तथा केन्द्रित व्यवस्था मे उत्पादन के विभिन्न घटको को उत्पादन-क्षेत्र मे उचित स्थान दिया जा सकता है क्योकि यहाँ व्यक्तिगत हित का कोई महत्व नही रहता और इस प्रकार उत्पादन-घटको मे समन्वय बना रहता है तथा उसकी कार्यक्षमता मे वृद्धि होती है। श्रमिको को उद्योगो के प्रबन्ध मे भाग लेने का अधिकार तथा उन्हे पारिश्रमिक के अतिरिक्त लाभांश देकर श्रमिकों मे उत्पादन के प्रति रुचि का प्रादुर्भाव किया जा सकता है।

(4) आर्थिक विकास सुलभ—नियोजित व्यवस्था द्वारा राष्ट्र का आर्थिक विकास सुलभ होता है। फर्डिनेण्ड ज्वुग (Ferdynand Zweig) के अनुसार नियोजित अर्थ-व्यवस्था के कार्यक्रमो का सचालन निश्चित सामाजिक अथवा राजनीतिक उद्देश्यो के आधार पर किया जाता है जिससे इन उद्देश्यो की पूर्ति मे सुलभता होती है। दूसरी ओर अनियोजित अर्थ-व्यवस्था मे अपने पृथक् पृथक् नियम, गुण एव मान्यताएँ होती है जिसमे इसमे निश्चित उद्देश्य निर्धारित करके राष्ट्र के समस्त साधनो को इन उद्देश्यो की पूर्ति की ओर आकर्षित करना सम्भव नही होता है। अनियोजित अर्थ-व्यवस्था एक रूप मे स्वतन्त्र अर्थ-व्यवस्था होती है, जिसमे व्यक्तिगत आर्थिक स्वतन्त्रता का विशेष महत्व प्राप्त होता है। इस व्यवस्था मे उत्पादन एव विनियोजन के लक्ष्य व्यक्तिगत मान्यताओ के आधार पर पृथकरूपेण निश्चित किये जाते है। नियोजित अर्थ-व्यवस्था मे उत्पादन एव विनियोजन-सम्बन्धी लक्ष्य नियोजन के उद्देश्यो, जैसे युद्ध, आर्थिक विकास आदि के आधार पर आधारित होते हैं और इन उद्देश्यो की पूर्ति हेतु पृथक्-पृथक् निश्चयो के स्थान पर सामूहिक निश्चय को ही मान्यता प्राप्त होती है जिससे लक्ष्यो की पूर्ति एव तदनुसार आर्थिक विकास सुलभ होता है।

(5) प्राथमिकताओं का उपयोग—नियोजित अर्थ-व्यवस्था मे प्राथमिकताओ (Priorities) का विशेष स्थान होता है। परिस्थिति के अनुसार, तीव्रतम कठिनाइयो के निवारण का आयोजन सर्वप्रथम किया जाता है। ऐसी समस्याएँ जो राष्ट्र के जीवन का प्रमुख अग हो तथा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित करती हो, उनके उन्मूलनार्थ साधनो का अधिक भाग आवटित किया जा सकता है। इस प्रकार आवश्यकताओ तथा परिस्थितियों के अनुसार प्राथमिकताओ की एक सूची का निर्माण किया जा सकता है। उसे दृष्टिगत करके अर्थ-व्यवस्था का सचालन तथा सगठन किया जा सकता है। अनियोजित अर्थ-व्यवस्था मे इस प्रकार प्राथमिकताओ की सूची बनाना सम्भव नही है और किसी राष्ट्र मे इस प्रकार न तो अर्थ-व्यवस्था मे ही सुधार किये जा सकते हैं और न उस अर्थ-व्यवस्था मे आर्थिक तथा सामाजिक बुराइयो को ही दूर किया जाना सम्भव है।

(6) साधनो का राष्ट्रीय हित के लिए उपयोग—अनियोजित अर्थ-व्यवस्था मे उत्पादन उपभोक्ताओ की माँग के अधीन रहता है। उद्योगपति तथा उत्पादक उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन करते है, जिनकी बाजार मे अधिक माँग होती है। इस प्रकार उपभोक्ता की इच्छा की छाप सदा ही उत्पादन पर लगी रहती है। साधनो का वितरण भी उद्योगपति उपभोक्ताओ की आवश्यकतानुसार करता है। उपभोक्ताओ की माँग असगठित होती है जिससे राष्ट्रीय हित के स्थान पर व्यक्तिगत हित का प्रभुत्व होता है। उपभोक्ता अपनी माँग करते समय अपनी मांगो के आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा अन्य प्रभावों से अनभिज्ञ होते है और इस प्रकार राष्ट्र की अर्थ-व्यवस्था मे परिवर्तन अथवा विकास करना कठिन होता है। नियोजित अर्थ-व्यवस्था मे उपभोक्ता की स्वतन्त्रता को सीमित कर दिया जाता है तथा राष्ट्र के साधनो का वितरण राष्ट्रीय हितों के अनुसार किया

जाता है। उत्पादन उपभोक्ता द्वारा नही प्रत्युत नियोजन के कार्यक्रम द्वारा सचालित होता है। इस प्रकार अधिकाधिक साधनो को पूंजीगत सम्पत्तियो के उत्पादन मे लगाया जा सकता है और अर्थ-व्यवस्था को शीघ्र ही विकास के पथ पर अग्रसर किया जा सकता है।

(7) व्यापारिक उच्चावचन—नियोजित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत समस्त अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकताओ तथा उपलब्ध साधनो के सन्दर्भ मे उत्पादन-कार्यक्रम निर्धारित किये जाते है और यह निर्धारण नियोजन-अधिकारी द्वारा किया जाता है। ऐसी परिस्थिति मे अति अथवा न्यून-उत्पादन की समस्या गम्भीर नही हो पाती है और कोई एकाधिकारिक उत्पादक अथवा व्यापारी विपणि पर प्रभाव डालने मे असमर्थ रहता है। केवल वाछनीय प्रतिस्पर्द्धा को ही छूट दी जाती और अर्थ व्यवस्था को स्वत समायोजित होने के लिए नही छोडा जाता है क्योकि वह स्वत समा-योजन दीर्घकाल मे ही सम्भव हो सकता है। इस दीर्घकाल मे जनसमुदाय को जो कठिनाइयाँ उठानी पडती है, उनमे बचाना नियोजन द्वारा ही सम्भव होता है। व्यापारिक चक्रों का नियोजित अर्थ-व्यवस्था मे महत्वपूर्ण स्थान नही होता है क्योकि इस पर नियोजन-अधिकारी प्रभावशाली नियन्त्रण रखता है।

(8) साधनो का उपयोगरहित न रहना—अनियोजित अर्थ-व्यवस्था के उत्पादन-सम्बन्धी निर्णय निजी व्यवसायियो तथा उनकी सस्थाओ द्वारा अपने व्यक्तिगत लाभ के आधार पर किये जाते हैं अर्थात् जिस व्यवसाय मे लाभ की सम्भावना अधिक होती है, उसमे अधिक से अधिक साहसी विनियोजन करते है, जिसका नतीजा कुछ समय पश्चात यह होता है कि कुछ व्यवसाय मे अति-विनियोजन एव अति-उत्पादन हो जाता है और कुछ व्यवसायहीन अवस्था मे रहते हैं। इस प्रकार अर्थ-व्यवस्था मे उपलब्ध उन साधनो का तो अधिकतम उपयोग होता है जिनमे लाभ अधिक उप-लब्ध होता है और शेष उद्योगो के लिए उपलब्ध साधन उपयोगरहित रहते हैं। यदि अर्थ-व्यवस्था मे व्यवसायो एव उद्योगो का विकास समन्वित रूप से उपलब्ध साधनो के सन्दर्भ मे किया जाय तो कुल उत्पादन मे तीव्र गति से वृद्धि हो सकती है और आर्थिक प्रगति भी द्रुत गति से हो सकती है। उपलब्ध साधनो का अधिकतम विवेकपूर्ण उपयोग आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत होता है क्योकि नियोजन-अधिकारी उत्पादन का समन्वित कार्यक्रम निर्धारित कर सकता है। ऐसे व्यवसायो का सचालन किया जा सकता है जो प्रारम्भ मे अधिक लाभप्रद नही होते है। नवीन साधनो की खोज भी नियोजित अर्थ-व्यवस्था मे सुलभता से की जा सकती है।

(9) साधनो का अधिकतम तान्त्रिक कुशलता के आधार पर उपयोग—नियोजित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत नवीन उत्पादक सगठनो की स्थापना, उत्पादक साधनो का पुनर्वितरण तथा आवश्यकतानुसार सामाजिक, आर्थिक एव वैधानिक व्यवस्था मे परिवर्तन करना सम्भव होता है जिसके फलस्वरूप उद्योगो एव व्यवसायो को उपयुक्त स्थानो पर स्थापित एव स्थानान्तरित करना, उनमे आधुनिक तकनीकियों एव यन्त्रो का उपयोग करना, उनको उपयुक्त आर्थिक सगठनो द्वारा सचालित करना, व्यवसायो का एकीकरण (Amalgamation) तथा इसमे पारस्परिक सहयोग स्थापित करना आदि सम्भव होते है। अनियोजित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत इस प्रकार की व्यवस्था नही होती क्योकि प्रत्येक उद्योगपति एव व्यवसायी को इन सबके सम्बन्ध मे पृथक्-पृथक निर्णय करने की स्वतन्त्रता होती है। उपर्युक्त व्यवसायो मे उत्पादन-क्षमता मे वृद्धि होती है और विशिष्टी-करण मे सहायता प्राप्त होती है।

(10) साधनो का जनहित के सन्दर्भ मे वितरण—आर्थिक नियोजन का प्रमुख उद्देश्य जनकल्याण होता है और इस उद्देश्य की उपलब्धि के लिए रोजगार के साधनों, आय एवं धन के वितरण की विषमता को कम करने का प्रयत्न किया जाता है। उत्पादक साधनो का वितरण माँग, मूल्य अथवा लाभ के आधार पर नही किया जाता वल्कि जनकल्याण के लिए जिन अनिवार्य सेवाओ एव वस्तुओ की अधिक आवश्यकता होती है, उनकी पूर्ति मे वृद्धि को आधार माना जाता है तथा उन्हे निर्धन वर्ग तक उचित मूल्य पर पहुँचाने का प्रयत्न किया जाता है। दूसरी ओर, अनियोजित

अर्थ-व्यवस्था मे साधनो का वितरण मॉग, मूल्य एव लाभ के आधार पर किया जाता है। प्रभावशाली मॉग वही प्रस्तुत कर सकता है जिसके पास अधिक क्रय-शक्ति हो और अधिक क्रय-शक्ति सम्पन्न-वर्ग के पास ही होती है। इस प्रकार अनियोजित अर्थ-व्यवस्था मे आराम एव विलासिता की वस्तुओ का उत्पादन करने के लिए साधनो का उपयोग कर लिया जाता है जबकि निर्धन-वर्ग की अनिवार्यताओ की पूर्ति की ओर कोई ध्यान नही दिया जाता है। नियोजित अर्थ-व्यवस्था मे यह सम्भव हो सकता है।

(11) अधिकतम तान्त्रिक कुशलता—नियोजित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत उत्पादक साधनो का वृहद् स्तर पर पुनर्गठन करके विभिन्न व्यवसायो एव उद्योगो को उपलब्ध किया जाता है। सगठन एव उत्पादन के स्तर मे विस्तार हो जाने से यन्त्रो एव श्रम के और अधिक विशिष्टीकरण मे सहायता प्राप्त होती है। उद्योगो एव व्यवसायो को अधिकतम उपयुक्त स्थानो मे ले जाने तथा उनका अधिकतम कुशल सचालन करने के लिए निजी साहसियो के हितो पर ध्यान देने की आवश्यकता नही होती है। परन्तु एक ओर इस प्रकार जो तान्त्रिक कुशलता प्राप्त होती है, वह सरकारी अधिकारियो की लालफीताशाही द्वारा नष्ट हो जाती है और नियोजित अर्थ-व्यवस्था इस व्यवस्था का पूर्ण लाभ प्राप्त करने मे असमर्थ रहती है।

(12) सामाजिक लागत (Social Costs)—अनियोजित अर्थ-व्यवस्था मे निजी साहसियो द्वारा सचालित उद्योगो से समाज को कुछ कठिनाइयाँ प्राप्त होती हैं, जैसे—औद्योगिक बीमारियाँ चक्रीय बेरोजगारी, औद्योगिक दुर्घटनाएँ, नगरो मे अधिक भीड-भाड। निजी उद्योगपति इन सब सामाजिक दोषो की ओर विशेष ध्यान नही देते जब तक कि उन पर राज्य द्वारा इस सम्बन्ध मे दवाव नही डाला जाता। नियोजित अर्थ-व्यवस्था मे इन दोषो को दूर करने का पर्याप्त आयोजन किया जाता है और इन पर विचार उद्योगो की स्थापना एव विस्तार के समय ही कर लिया जाता है।

निष्कर्ष यह है कि अनियोजित अर्थ-व्यवस्था एक आकस्मिक अर्थ-व्यवस्था होती है, जबकि नियोजित अर्थ-व्यवस्था एक विचारपूर्ण (Deliberate) व्यवस्था है, जिसमे अर्थ-व्यवस्था के उद्देश्य विचारपूर्ण विधि से निश्चित करके इसका सचालन किया जाता है। इस प्रकार नियोजित अर्थ-व्यवस्था अधिक सफल और विवेकपूर्ण प्रतीत होती है। अनियोजित अर्थ-व्यवस्था मे व्यक्तिगत उत्तरदायित्व व्यक्तिगत पहल (Initiative) तथा निश्चयो की शीघ्रता तथा परिवर्तनशीलता को विशेष अवसर प्रदान किया जाता है। दूसरी ओर, नियोजन मे व्यवस्थित समन्वय, वैज्ञानिक तथा तान्त्रिक ज्ञान का विवेकपूर्ण उपयोग तथा मॉग और पूर्ति मे समन्वय करना आदि उद्देश्य सम्मिलित होते है जिनमे उचित जीवन-स्तर का आयोजन किया जा सके।

आर्थिक नियोजन की विकास के लिए उपयुक्तता

आर्थिक नियोजन एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा विकास का मार्ग प्रशस्त होता है और राष्ट्रीय एव प्रति व्यक्ति आय मे निरन्तर वृद्धि करना सम्भव हो सकता है। यही कारण है कि आर्थिक नियोजन का उपयोग विकसित एव अल्प-विकसित दोनो ही प्रकार के राष्ट्रो मे किया जाने लगा है। गत तीस से चालीस वर्षों के काल मे आर्थिक नियोजन का उपयोग ससार के बहुत से राष्ट्रो मे फैलता गया है। अल्प-विकसित राष्ट्रो के विकास मे आर्थिक नियोजन का और भी अधिक महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि इन राष्ट्रो की अर्थ-व्यवस्था एव सामाजिक सरचना इतनी दोषपूर्ण है कि उसमे सचेत सुधार एव परिवर्तन अत्यन्त आवश्यक है जो आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत ही सम्भव हो सकते हैं। अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाएँ निर्धनता के दूषित चक्र से इस सीमा तक पीडित है कि इसे केन्द्रित प्रबन्ध एव व्यवस्था द्वारा ही तोडना सम्भव हो सकता है। इन अर्थ-व्यवस्थाओ के असन्तुलनो के स्वत समायोजित होने की सम्भावना नही है और यही कारण है कि इनके विकास के लिए नियोजन एक अनिवार्य तन्त्र माना जाने लगा है। आर्थिक नियोजन द्वारा सम्पूर्ण आर्थिक, सामाजिक एव सास्कृतिक सरचना को विकास के अनुरूप बनाना सम्भव होना है। विकास-नियोजन के अन्तर्गत देश के साधनो का व्यापक सर्वेक्षण किया जाता है जिससे इनकी लागत एव वैकल्पिक

उपयोगों का निर्धारण किया जा सके। इन वैकल्पिक उपयोगों में उन उपयोगों पर साधनों का आवंटन करने का निर्णय नियोजन-अधिकारी द्वारा किया जाता है जो विकास की प्रक्रिया को गतिमान करने में सर्वाधिक योगदान प्रदान कर सकता हो। साधनों के उपयोग के क्षेत्रों का निर्धारण करने के पश्चात् विकास-कार्यक्रमों का निर्माण किया जाता है और उन्हें समन्वित रूप से क्रियान्वित किया जाता है। जैसे जैसे विकास-कार्यक्रमों के क्रियान्वयन से अर्थ व्यवस्था में परिवर्तन उपस्थित होते हैं विकास-कार्यक्रमों में आवश्यक समायोजन कर दिये जाते हैं। इस प्रकार विकास नियोजन द्वारा समस्त अर्थ-व्यवस्था को एक इकाई मानकर विकास कार्यक्रमों का निर्धारण किया जाता है और इन कार्यक्रमों को इतना लचीला रखा जाता है कि परिस्थितियों में परिवर्तन हो जाने पर यह कार्यक्रम समायोजित किये जा सकते हैं। यही कारण है कि नियोजित अर्थ-व्यवस्था में उच्चावचनों का नियंत्रण करना सम्भव होता है और अर्थ-व्यवस्था विकास के मार्ग पर दीर्घकाल तक संचालित रखी जा सकती है। आर्थिक नियोजन अल्प विकसित राष्ट्रों के विकास के लिए निम्नलिखित कारणों से अधिक उपयुक्त समझा जाता है

(1) **रूढ़िवादिता**— अल्प विकसित राष्ट्रों में विकास को गतिमान करने के लिए सामाजिक एवं संस्थागत रूढ़ियों को तोड़कर नवीन व्यवस्था की स्थापना करना अत्यन्त आवश्यक होता है। इस परिवर्तन के द्वारा ही प्रलोभन (Incentive) एवं उत्साह की शक्तियाँ प्रस्फुटित होती हैं और सम्पन्न जीवन स्तर की प्राप्ति हेतु जागरूकता उत्पन्न होती है। सामाजिक रूढ़ियों को तोड़ने के लिए राजकीय हस्तक्षेप आवश्यक होता है तथा नवीन व्यवस्था की संरचना हेतु राज्य का सक्रिय योगदान एक अनिवार्यता बन जाता है। यही कारण है कि अल्प विकसित राष्ट्रों में नियोजित अर्थ व्यवस्था को अधिक महत्त्व प्रदान किया जाता है।

(2) **व्यापक निर्धनता**— अल्प विकसित राष्ट्रों में आर्थिक विकास का उद्देश्य केवल राष्ट्रीय एवं प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि करना ही नहीं होता अपितु समाज में विद्यमान आय एवं धन की विषमताओं को कम करना भी होता है क्योंकि जन-समुदाय का एक बहुत बड़ा भाग निर्धन होता है और उसे विकास के लाभ न पहुँचने से बहुत से सामाजिक दोष एवं गृह-युद्ध भड़कने का भय उत्पन्न हो सकता है। विकसित राष्ट्रों में इस विषमता को इतना गम्भीर नहीं माना जाता है क्योंकि इन राष्ट्रों का निर्धन वर्ग भी जीवन की अनिवार्यताओं एवं आराम की वस्तुओं का लाभ उठाता रहता है। आय और धन की विषमता को दूर करने के लिए नियोजित विकास का उपयोग अधिक उपयुक्त समझा जाता है।

(3) **साधनों का अपव्यय**— अल्प विकसित राष्ट्रों में विपणि अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत आने वाले उच्चावचनों के परिणामस्वरूप जो साधनों का अपव्यय होता है उसकी छूट नहीं दी जा सकती है क्योंकि इन राष्ट्रों में साधनों की कमी होती है और उपलब्ध साधनों का कुशलतम उपयोग करके अधिकतम उत्पादन प्राप्त करने के प्रयत्न किये जाते हैं। अनियोजित अर्थ-व्यवस्था में उत्पादक विनियोजन का निर्णय पृथक् पृथक् साहसियों द्वारा किया जाता है जिसके परिणामस्वरूप विनियोजन में समन्वय नहीं बनाये रखा जा सकता है और न्यून एवं अति उत्पादन के कारण साधनों का अपव्यय होता है। अनियोजित अर्थ व्यवस्था में मूल्य-स्तर विनियोजन की हेर फेर का कारण बनता है। परन्तु मूल्य परिवर्तन विनियोजन की हेर फेर का सही कारण नहीं बन सकता है क्योंकि मूल्य-स्तर पर पहले किये गये विनियोजन का प्रभाव पड़ता है। यदि पहले किया गया विनियोजन गलत रहा था तो उससे प्रभावित मूल्य-स्तर का परिवर्तन भी सही निर्देशक नहीं बन सकता है। अल्प विकसित राष्ट्रों में विनियोजन के क्षेत्र में परीक्षण एवं त्रुटि' के आधार पर निर्णय नहीं लिये जा सकते हैं। यही कारण है कि नियोजित व्यवस्था के अन्तर्गत समस्त अर्थ-व्यवस्था की जानकारी के आधार पर निर्णय लिये जाते हैं जिससे साधनों के अपव्यय को सीमित करना सम्भव होता है।

(4) **समय का आधार**— नियोजित विकास के अन्तर्गत विकास-कार्यक्रमों को समय से आबद्ध कर लिया जाता है जिसके परिणामस्वरूप विकास प्रक्रिया की सफलता एवं असफलता का

गत क वर्षो म इसी कारण नियोजन का उपयोग व्यापक रूप म अल्प विकसित राष्ट्रो म किया गया है। अन्तराष्ट्रीय संस्थाओं ने भी नियोजित विकास को आवश्यक वित्तीय एवं तान्त्रिक सहायता प्रदान करके प्रोत्साहित किया है। नियोजित विकास-कार्यक्रमों के अन्तर्गत 4% से 8% तक सकल राष्ट्रीय उत्पादन म वृद्धि हुई है जो इन देशों की भूतकाल म हुई प्रगति की दर से दुगुने से भी अधिक रही है। अल्प विकसित राष्ट्रो की योजनाओं म कुल विनियोजन म सरकारी विनियोजन का भाग बढ़ता जा रहा है और यह सरकारी विनियोजन अधिकतर अव-संरचना पर विनियोजित किया गया है। कृषि क्षेत्र के विकास के लिए अधिक प्रयत्न किये गये हैं परन्तु लगभग सभी राष्ट्रो म *कृषि की तुलना म औद्योगिक उत्पादन म अधिक वृद्धि हुई है। अल्प विकसित राष्ट्रो की विकास* योजनाओं को लक्ष्यों के अनुसार उपलब्धियाँ नहीं प्राप्त हुई हैं जिसके प्रमुख कारण कृषि क्षेत्र म वांछित प्रगति न होना तथा विदेशी विनिमय व साधनों की कमी रही है। इस सब के बावजूद अल्प विकसित राष्ट्रो को नियोजन द्वारा विकास का मार्ग प्रशस्त करने में सफलता अवश्य मिली है।

2

नियोजन की परिभाषा, व्यूह-रचना एवं उद्देश्य

[DEFINITION STRATEGY AND AIMS OF PLANNING]

नियोजन की परिभाषा

नियोजन का शाब्दिक अर्थ पहले से व्यवस्था करना है। किन्हीं परिस्थितियों के उपस्थित होने के पूर्व उनके लिए व्यवस्था करना नियोजन का मूल अर्थ है। भविष्य में उपस्थित होने वाली ज्ञात एवं अज्ञात परन्तु अनुमानित कठिनाइयों के विरुद्ध उचित प्रबन्ध करना एक बुद्धिमत्तापूर्ण एवं विवेकपूर्ण कार्य है। जिस प्रकार एक व्यक्ति भविष्य में आने वाली समस्याओं का सामना करने के लिए अपने साधनों का विश्लेषण करके उनका विभिन्न व्ययों में विवेकपूर्ण रीति से वितरण करता है तथा कठिनाइयों की तीव्रतानुसार प्राथमिकता निश्चित कर साधनों का आवंटन करता है, ठीक उसी प्रकार एक राष्ट्र को भी अपने साधनों का विवेकपूर्ण आवंटन करना चाहिए जिससे भविष्य में ज्ञात व अज्ञात परन्तु सम्भावित घटनाओं के विरुद्ध आयोजन किया जा सके। एक राष्ट्र को अपने नागरिकों के जीवन-स्तर में वृद्धि करने के लिए उत्पादन में वृद्धि करना, साधनों का इस प्रकार आवंटन करना कि उनसे अधिक से अधिक समाज का हित हो सके, उत्पादन का उचित वितरण तथा वैज्ञानिक ज्ञान का विवेकपूर्ण उपयोग करना आदि सभी आवश्यक कार्य होते हैं। इस प्रकार नियोजन आवश्यकरूपेण एक विवेकपूर्ण व्यवस्था कही जा सकती है जिसके द्वारा किसी राष्ट्र की अधिकतम जनसंख्या का अधिकतम हित रक्षित होता है।

नियोजन के साथ जब हम 'आर्थिक' शब्द जोड़ देते हैं तो अर्थ में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आता, प्रत्युत इस विवेकपूर्ण व्यवस्था में आर्थिक क्रियाओं को विशेष स्थान दिया जाता है। इस प्रकार आर्थिक नियोजन एक विवेकपूर्ण व्यवस्था होती है जिसमें अर्थ-व्यवस्था पर नियोजन-अधिकारी द्वारा उचित नियन्त्रण रखा जाता है तथा जिसके द्वारा समाज में आर्थिक व सामाजिक समानता का प्रादुर्भाव होता है।

एल. लॉर्विन के अनुसार, "आर्थिक नियोजन का अर्थ एक ऐसे आर्थिक संगठन से है जिसमें समस्त पृथक्-पृथक् औद्योगिक संस्थाओं को एक समन्वित इकाई के रूप में संचालित किया जाता है और जिसके द्वारा निश्चित अवधि में जनता का जीवन-स्तर उन्नत करने के लिए सभी उपलब्ध साधनों का नियन्त्रित उपयोग होता है।"[1] लॉर्विन की परिभाषा के अनुसार नियोजन में कुछ निश्चित लक्ष्य, उनकी पूर्ति हेतु देश के समस्त उपलब्ध साधनों की पूर्ण जानकारी एवं उनके अधिकतम प्रभावशाली उपयोग के लिए सुव्यवस्थित और नियन्त्रित कार्यक्रम होना चाहिए।

एच. डी. डिकिन्सन के अनुसार नियोजन एक ऐसी व्यवस्था का रूप है जो विशेषकर उत्पादन तथा वितरण में सम्वर्धित होता है। इनके अनुसार, "क्या और कितना उत्पादन किया जाय, कहाँ, कैसे और कब उसका उत्पादन किया जाय तथा उसका बँटवारा किसको किया जाय—के विषय में

---

1 A system of economic organization in which all individual and separate plants enterprises and industries are treated as co ordinated single whole for the purpose of utilizing all available resources to achieve the maximum satisfaction of the needs of people within a given interval of time

—L Lorwin

श्री विट्ठल बाबू के अनुसार किसी राष्ट्र की वर्तमान भौतिक मानसिक तथा प्राकृतिक शक्तियां अथवा साधनों को जनसमूह के अधिकतम लाभार्थ विवेकपूर्ण उपयोग करने की कला को नियोजन कहते हैं।[1] साधनों का विवेकपूर्ण उपयोग एक सामाजिक तथा आर्थिक विधि है जिसमें सगठित नियन्त्रण द्वारा सामाजिक तथा आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति की जाती है। इस प्रकार प्रत्येक नियोजन के समक्ष कुछ सामाजिक उद्देश्य होते हैं जिनकी पूर्ति आर्थिक साधनों के उचित उपयोग द्वारा की जाती है।

भारत में योजना-आयोग ने नियोजन को परिभाषित करते हुए स्पष्ट किया है नियोजन साधनों के संगठन की एक विधि है जिसके माध्यम से साधनों का अधिकतम लाभप्रद उपयोग निश्चित सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु किया जाता है। नियोजन की इस विचारधारा में दो तत्व निहित हैं—(अ) उद्देश्यों का क्रम जिनकी पूर्ति का प्रयास किया जाय तथा (आ) वर्तमान साधनों का ज्ञान तथा उनका सर्वोत्तम आवंटन।"

इस परिभाषा के अनुसार नियोजन में किसी भी राष्ट्र का मानवीय शक्तियां तथा भौतिक साधनों का समाज के अधिकतम हित के लिए उपयोग करना सम्मिलित है। राष्ट्र के लिए नियोजन आय व्ययपत्रक के निर्माणार्थ राष्ट्र के वर्तमान तथा सम्भाव्य आर्थिक साधनों जनसंख्या के सामान्य परिवर्तन तथा सभ्यता की सामान्य स्थिति का पूर्ण ज्ञान होना आवश्यक है। इस व्यापक ज्ञान की प्राप्ति हेतु मानवीय शक्तियों तथा भौतिक साधनों का परीक्षण तथा उनके विभिन्न उपयोगों की सूची का निर्माण आवश्यक है जिससे कथित साधनों के सर्वोत्तम सम्भव उपयोग द्वारा उत्पादन तथा लोक जीवन-स्तर में वृद्धि की जा सके। प्रत्येक नियोजन की अवधि निश्चित होना है जिसमें निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति करना होती है। राष्ट्र की सम्पूर्ण सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था को नवीन तथा विवेकपूर्ण विधियों से सगठित करना एवं निवासियों में नूतन जीवन सचार करना नियोजन का प्रमुख कार्य है। संसार की परिवर्तनशील परिस्थितियों के अनुकूल राष्ट्र की आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था में भी परिवर्तन लाना नियोजन का उद्देश्य होना चाहिए।

डा डाल्टन ने आर्थिक नियोजन की परिभाषा करते हुए कहा है आर्थिक नियोजन विस्तृत दृष्टिकोण से वह क्रिया है जिसमें वृहद साधनों पर नियन्त्रण रखने वाले व्यक्ति जानबूझ कर आर्थिक क्रियाओं को निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति हेतु सचालित करते हैं।[3] इस परिभाषा में नियोजन के तीन लक्षणों की विवेचना की गयी है—(1) नियोजन का तात्पर्य योजना अधिकारी के आदर्शों के अनुसार अर्थ व्यवस्था को सचालित करना है (2) ऐसे व्यक्ति होते हैं जिनके नियन्त्रण में राष्ट्र के अधिकतम साधन रहते हैं। डा डाल्टन का तात्पर्य यहां राज्य से है (3) निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति हेतु अर्थ व्यवस्था का सचालन किया जाता है।

श्रीमती बारबरा वटन के अनुसार आर्थिक नियोजन का मुख्य लक्षण जानबूझ कर आर्थिक प्राथमिकताओं का चयन करना है। उन्होंने कहा क्या मैं इस रुपय का रोटी पर व्यय करूं अथवा अपनी माता की जन्म तिथि के अवसर पर शुभकामनाओं का तार भेजने पर? क्या मैं मकान क्रय कर लूं अथवा किराये पर ले लूं? क्या इस भूमि को जोतकर खेती की जाय अथवा इस पर भवन

---

1 Planning stands for any technique of national utilization of the existing physical mental and material forces or resources of a country for the maximum benefit of its people' —V Vithal Babu *Towards Planning* p 3

2 Planning is essentially a way of organizing and utilizing resources to the maximum advantage in terms of defined social ends the two main constituents of the concept of planning are (a) system of ends to be pursued and (b) knowledge as to available resources and their optimum allocation *Planning Commission the First Five Year Plan Draft Outline* p 7

3 Economic planning in the widest sense is the deliberate direction of persons in charge of large resources of economic activity towards chosen ends —Dr Dalton *Practical Socialism for Great Britain*

बनाया जाय प्रत्येक वस्तु असीमित मात्रा म उत्पन्न करना असम्भव ह इसीलिए प्राथमिकता निधारित करना तथा चयन करना आवश्यक ह।[1]

चयन एव प्राथमिकता निर्धारण करने की दो विधिया हो सकती हैं—प्रथम जानबूझ कर प्राथमिकताएँ निर्धारित करना और द्वितीय प्राथमिकताओ को स्वत बाजार-तान्त्रिकताओ (Market Mechanism) द्वारा निर्धारित होने देना। जब ये प्राथमिकताएँ जानबूझ कर निधारित की जाय तो उन आर्थिक नियोजन कहना चाहिए। श्रीमती बारबरा वूटन न अपनी दूसरी पुस्तक *Plan or No Plan* म आर्थिक नियोजन को इसी आधार पर इस प्रकार पारिभाषित किया है— आर्थिक नियोजन वह विधि ह जिसमे बाजार-तान्त्रिकताओ को जानबूझ कर इस उद्देश्य न नियन्त्रित किया जाता ह कि ऐसी व्यवस्था उत्पन्न हो जो बाजार-तान्त्रिकताओ को स्वतन्त्र छोडने पर उत्पन्न हुई व्यवस्था से भिन्न हो।[2] आर्थिक नियोजन म प्राथमिकताएँ निर्धारित करने का उद्देश्य निश्चित लक्ष्यो की पूर्ति करना होता ह। एक प्रतिस्पर्धीय अर्थ व्यवस्था म किसी भी वस्तु के उत्पादन-लक्ष्य निश्चित समय म पूरा करना सम्भव इसलिए नही होता कि इस लक्ष्य की पूर्ति हेतु जानबूझ कर कोई व्यवस्था नहा की जाती है। दूसरे शब्दो म इस लक्ष्य की पूर्ति अवसर पर छोड दी जाती है परन्तु नियोजित अर्थ-व्यवस्था के अन्तगत राज्य लक्ष्य निर्धारित करके उनका निश्चित काल म पूर्ति हेतु व्यवस्था करता है। जब तक लक्ष्यो की पूर्ति का काम निश्चित न किया जाय आर्थिक नियोजन का अर्थ अस्पष्ट रहेगा। इसलिए लक्ष्यो की पूर्ति का निश्चित काल होना भी आवश्यक है।

हरमैन लवी ने आर्थिक नियोजन की परिभाषा निम्नवत् दी है— आर्थिक नियोजन का अर्थ माग और पूर्ति म उत्तम सन्तुलन प्राप्त करने से है। यह सन्तुलन स्वत सचालित अदृश्य तथा अनियन्त्रित घटको द्वारा निर्धारित होन के लिए नही छोडा जाता बल्कि उत्पादन अथवा वितरण अथवा दोनो पर विचारपूर्ण एव जानबूझ कर नियन्त्रण करके निर्धारित किया जाता ह।[3] इस परिभाषा मे नियोजन की माग और पूर्ति मे अनुकूल सन्तुलन उत्पन्न करने की कला का स्वरूप दिया गया ह वास्तव म नियोजित अर्थ-व्यवस्था के अन्तगत निश्चित लक्ष्यो की पूर्ति तभी सम्भव हो सकता है जब माग एव पूर्ति का सन्तुलन नियोजन-अधिकारी के कार्यक्रमो क अनुकूल किया जा सके।

कार्ल लान्डोर (Carl Landaur) क अनुसार आर्थिक नियोजन का अर्थ उस सामजस्य म ह जो विपणि द्वारा स्वत प्राप्त करने का बजाय समाज के किसी सगठन द्वारा जानबूझ कर किये गये प्रयास स प्राप्त किया जाता ह। इसलिए नियोजन एक सामूहिक प्रकार का क्रिया है और समस्त व्यक्तियो की क्रियाओ का समाज द्वारा नियन्त्रित किया जाता है।[4] इस परिभाषा म नियोजन

1 Shall I spend this rupee on bread or send a greeting telegram to my mother on her birthday? Shall I buy a house or rent one? Shall this field be ploughed and cultivated or built on? Since it is impossible to produce everything in indefinite quantities there must be choice and priority —Mrs Barbara Wooton *Freedom Under Planning* p 12

2 Economic Planning is a system in which the market mechanism is deliberately manipulated with the object of producing a pattern other that which would have resulted with its own spontaneous activity —Mrs Barbara Wooton *Plan or No Plan* pp 47-49

3 Economic Planning means securing a better balance between demand and supply by a conscious and thoughtful control either of production or distribution or of both rather than leave this balance to be affected by automatically working invisible and uncontrolled force —Herman Levy *New Industrial System*

4 Planning means coordination through a conscious effort instead of the automatic coordination which takes place in the market and that conscious effort is to be made by an organ of society Therefore Planning is an activity of collective character and its regulation of the activities of individuals by the community —Carl Landaur *Theory of Natural Economic Planning* p 12

को एक सामूहिक क्रिया बताया गया है क्योंकि राज्य समाज के प्रतिनिधि के रूप में इस क्रिया का संचालन करता है। जब अर्थ-व्यवस्था के समस्त अंगों में राज्य द्वारा इस प्रकार सामंजस्य स्थापित किया जाता है कि निश्चित लक्ष्यों की पूर्ति निश्चित काल में हो सके तो इस क्रिया को आर्थिक नियोजन कहना चाहिए।

ज्युग (Zweig) के मतानुसार, "आर्थिक नियोजन समस्त अर्थ-व्यवस्था पर केन्द्रीय नियन्त्रण की व्यवस्था है, चाहे वह केन्द्रीय नियन्त्रण किसी भी उद्देश्य तथा किन्हीं भी विधियों द्वारा किया जाय।" इस परिभाषा में आर्थिक नियोजन के तीन लक्षण सम्मिलित हैं

(अ) **राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था पर केन्द्रीकरण**—अर्थ व्यवस्था के केन्द्रीयकरण से तात्पर्य अधिकार के केन्द्रीकरण, उत्पादन के केन्द्रीकरण अथवा नियन्त्रण के केन्द्रीकरण से है। आर्थिक नियोजन का केन्द्रीकरण सदैव निहित रहता है। केन्द्रीय अर्थ व्यवस्था में नियोजन को अपनाने अथवा नहीं अपनाने की समस्या नहीं होती है। इस व्यवस्था में तो केवल यह निश्चय करना होता है कि विभिन्न केन्द्रित क्षेत्रों में किस प्रकार की योजना सर्वश्रेष्ठ रहेगी। केन्द्रीकरण अर्थ-व्यवस्था को नियोजन की ओर ले जाता है।

(आ) **राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था का निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति हेतु नियन्त्रण**—स्वतन्त्र बाजार व्यवस्था में किसी भी प्रकार के नियन्त्रण का स्थान नहीं होता है। इस व्यवस्था में आर्थिक निश्चय स्वत संचालित माँग और पूर्ति के घटकों पर आधारित होते हैं। नियोजित अर्थ-व्यवस्था में आर्थिक निश्चय अर्थ-साधनों में जानबूझ कर नियन्त्रण करके लिये गये हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि नियोजन अर्थ-व्यवस्था मूल्य तान्त्रिकता (Price Mechanism) को कोई स्थान नहीं देती। वास्तव में नियोजित अर्थ-व्यवस्था में मूल्यों का संचालन बाजार की माँग, पूर्ति आदि घटकों द्वारा किया जाता है। नियोजित अर्थ व्यवस्था में उत्पादन का चयन, व्यवसाय का चयन, विनिमय का चयन, बचत एवं विनियोजन का चयन तथा उपभोग का चयन, व्यवसायियों, श्रमिकों, उपभोक्ताओं तथा उत्पादकों द्वारा नहीं किया जाता है। यह चयन नियोजन-अधिकारी द्वारा नियोजन के उद्देश्यों के अनुसार किये जाते हैं। इस प्रकार नियोजित अर्थ-व्यवस्था में चयन (Choose) करने के अधिकार का नियन्त्रण किया जाता है। इस नियन्त्रण की मात्रा विभिन्न राष्ट्रों में परिस्थितियों के अनुसार भिन्न रहती है।

(इ) **आर्थिक नियोजन में राष्ट्रीय जीवन की सम्पूर्ण व्यवस्था होती है**—आर्थिक नियोजन द्वारा राष्ट्रीय जीवन के समस्त क्षेत्रों के सम्बन्ध में योजनाएँ बनायी जाती हैं। समस्त राष्ट्र को एक इकाई मानकर कार्यक्रम निर्धारित किये जाते हैं। आर्थिक नियोजन की सफलतार्थ अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में सामंजस्य होना अति आवश्यक होता है।

राष्ट्रीय योजना समिति (National Planning Committee) से जिसकी स्थापना स्वर्गीय पं. जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में सन 1937 में की गयी थी आर्थिक नियोजन की परिभाषा निम्न प्रकार दी है

"प्रजातान्त्रिक ढाँचे में नियोजन को इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है कि यह उपभोग, उत्पादन, विनियोजन, व्यापार, आय वितरण के स्वार्थरहित (Disinterested) विशेषज्ञों का तान्त्रिक समन्वय है, जो राष्ट्र की प्रतिनिधि-संस्थाओं द्वारा निर्धारित विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति हेतु प्राप्त किया जाय।"

इस परिभाषा में इस बात पर जोर दिया गया है कि लक्ष्यों का निर्धारण जनसमुदाय के प्रतिनिधियों द्वारा किया जाय और उनकी पूर्ति हेतु विभिन्न क्षेत्रों के विशेषज्ञों को समन्वित कार्यक्रम निर्धारित करने चाहिए।

नियोजन के तत्व

उपर्युक्त समस्त परिभाषाओं के विश्लेषणात्मक, सूक्ष्म अध्ययन एवं निष्कर्ष के रूप में अधोलिखित विवरण नियोजन के आवश्यक तत्वों को प्रस्तुत करता है

(1) नियोजित अर्थ-व्यवस्था आर्थिक संगठन की एक पद्धति है।

(2) आर्थिक नियोजन में राष्ट्रीय साधनों का तान्त्रिक समन्वय (Technical Co-ordination) होता है।

(3) नियोजन के साधनों का वितरण प्राथमिकताओं के अनुसार विवेकपूर्ण रीति से किया जाता है।

(4) नियोजन के सचालनार्थ एक योग्य एवं उचित अधिकारी होना चाहिए जो साधनों का परीक्षण करे लक्ष्य निर्धारित करे तथा लक्ष्यों की पूर्ति के ढंग निकाले।

(5) नियोजन में राष्ट्र की आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था में सम्बन्धित उद्देश्य निश्चित होने चाहिए।

(6) लक्ष्यों की पूर्ति हेतु एक निश्चित अवधि होनी चाहिए।

(7) राष्ट्र के वर्तमान तथा सम्भाव्य साधनों का विवेकपूर्ण उपयोग उत्पादन को अधिकतम स्तर पर लाने के लिए किया जाना चाहिए।

(8) नियोजन को जनता का समर्थन प्राप्त होना चाहिए तथा उसके सचालन में लोक-सहयोग का उचित स्थान होना चाहिए।

(9) नियोजन के अन्तर्गत अर्थ-व्यवस्था के समस्त क्षेत्रों का विकास निहित होता है और यह एक समन्वित कार्यक्रम प्रस्तुत करता है।

उपर्युक्त तत्वों की आधारशिला पर एक सूक्ष्म एवं एकीकृत परिभाषा नियोजन स्तम्भ का भाग इस प्रकार रह सकती है कि "नियोजन, अर्थ-व्यवस्था के लोक-सहयोग एवं लोक-समर्थन-प्राप्त ऐसे सगठन को कहते हैं जिसमें नियोजन-अधिकारी द्वारा पूर्व-निश्चित आर्थिक एवं सामाजिक उद्देश्यों की निश्चित अवधि में पूर्ति करने हेतु राष्ट्रीय वर्तमान एवं सम्भाव्य साधनों का प्राथमिकताओं के अनुसार तान्त्रिक विवेकपूर्ण एवं समन्वित उपयोग किया जाता है।"

राजकीय हस्तक्षेप एवं आर्थिक नियोजन

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत राज्य द्वारा विपणि-तान्त्रिक (Market Mechanism) पर नियन्त्रण किया जाता है और राज्य देश के आर्थिक जीवन का नियोजन के उद्देश्य के अनुरूप निर्देशित करता है। इस प्रकार आर्थिक नियोजन में राजकीय हस्तक्षेप सदैव निहित रहता है परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं समझना चाहिए कि राजकीय हस्तक्षेप एवं आर्थिक नियोजन एक-दूसरे के पर्यायवाची शब्द हैं। राजकीय हस्तक्षेप उस व्यवस्था को कहते हैं जिसके अन्तर्गत राज्य समय-समय पर अर्थ-व्यवस्था के उन क्षेत्रों (Sectors) को नियन्त्रित कर देता है जिनमें असन्तुलन उत्पन्न हो गया हो अथवा जो देश की आर्थिक प्रगति के अनुकूल सचालित न हो रहे हों अथवा जिन क्षेत्रों को प्रोत्साहित करके विकसित करना आवश्यक समझा जाय। इस प्रकार के हस्तक्षेप में सरक्षात्मक शुल्क कारखाना अधिनियम कोटा-निर्धारण आयात एवं विनिमय-नियन्त्रण आदि सम्मिलित हैं। इस प्रकार के हस्तक्षेप का उपयोग आजकल पूँजीवादी राष्ट्रों में, जहाँ विपणि-अर्थ-व्यवस्था को आधार समझा जाता है, उपयोग होता है।

दूसरी ओर आर्थिक नियोजन उस समन्वित राजकीय हस्तक्षेप को कहते हैं जिसके अन्तर्गत अर्थ-व्यवस्था के सभी क्षेत्रों एवं सस्थाओं पर राज्य नियन्त्रण करता है, जिससे उनको सचालन नियोजन के उद्देश्यों के अनुकूल किया जा सके। इस प्रकार आर्थिक नियोजन समन्वित राजकीय हस्तक्षेप होता है जो अर्थ-व्यवस्था के समस्त क्षेत्रों पर आच्छादित होता है। इस आधार पर अब यह कहा जा सकता है कि सभी प्रकार के आर्थिक नियोजन में सरकारी हस्तक्षेप सम्मिलित रहता है जबकि सभी राजकीय हस्तक्षेप को आर्थिक नियोजन नहीं कहा जा सकता है।

प्रथम एवं द्वितीय महायुद्ध के समय राजकीय हस्तक्षेप द्वारा विभिन्न राष्ट्रों ने अपनी अर्थ-व्यवस्थाओं को युद्ध की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु सचालित किया था। ब्रिटेन ने व्यापार, कृषि एवं उद्योग पर विभिन्न प्रकार के राजकीय नियन्त्रण एवं प्रतिबन्ध लागू किये। युद्ध-समाप्ति के पश्चात उनमें पुनर्निर्माण हेतु राजकीय हस्तक्षेप आवश्यक समझा गया और युद्ध से प्रभावित सभी राष्ट्रों में

इस जारी रखा गया। दूसरी ओर संयुक्त राज्य अमरिका में सन 1930 की बड़ी मंदी (Depression) से जो अर्थ व्यवस्था को क्षति पहुँची थी उसे सुधारने हेतु New Deal के अंतर्गत राजकीय हस्तक्षेप किया गया। इस प्रकार इन सभी राजकीय हस्तक्षेपों का उद्देश्य अल्पकालीन असन्तुलन एवं अव्यवस्थाओं को दूर करना था परन्तु इन्हें आर्थिक नियोजन नहीं कहा जा सकता है क्योंकि इन कार्यवाहियों के अंतर्गत न तो समन्वित कार्यक्रम निर्धारित किये गये और न ही ये अर्थ-व्यवस्था के समस्त क्षेत्रों को आच्छादित करते थे।

सरकारी हस्तक्षेप उपयुक्त एवं अनुपयुक्त हो सकता है। उपयुक्त हस्तक्षेप उस व्यवस्था को कहते हैं जिसमें राजकीय हस्तक्षेप का परिणाम इतना कम रहता है कि विपणि व्यवस्था के यथावत संचालन में विघ्न नहीं पड़ता है। दूसरी ओर अनुपयुक्त राजकीय हस्तक्षेप के अंतर्गत हस्तक्षेप कठोर एवं विस्तृत होता है जिससे विपणि व्यवस्था छिन्न भिन्न हो जाता है अथवा अत्यन्त सीमित हो जाती है।

प्रायः नियोजन के अंतर्गत अनुपयुक्त राजकीय हस्तक्षेप का उपयोग होता है क्योंकि इसके द्वारा समस्त आर्थिक जीवन का निर्धारण करके नियोजन के उद्देश्य के अनुरूप संचालित किया जाता है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि आर्थिक नियोजन मुक्त विपणि व्यवस्था के सर्वथा विरुद्ध व्यवस्था होती है। परन्तु आर्थिक नियोजन की आधुनिक विचारधारा के अंतर्गत नियोजित व्यवस्था और मुक्त विपणि व्यवस्था दोनों का संचालन एक साथ किया जा सकता है। भारत एवं अन्य प्रजातान्त्रिक राष्ट्रों में नियोजित अर्थ व्यवस्था का संचालन इस प्रकार किया गया है कि विपणि व्यवस्था पर केवल सीमित नियन्त्रण रखा गया है और विपणि व्यवस्था को सर्वथा छिन्न भिन्न नहीं किया गया है। इस विचार के आधार पर अब यह कहा जा सकता है कि आर्थिक नियोजन में अनुपयुक्त राजकीय हस्तक्षेप (Incompatible State Intervention) आवश्यक नहीं है।

आर्थिक नीति एवं आर्थिक नियोजन—किसी भी देश में आधुनिक राज्य देश की आर्थिक क्रियाओं के प्रति सर्वथा उदासीन नहीं रह सकता है। दूसरे शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि राज्य द्वारा आर्थिक क्रियाओं में हस्तक्षेप अनिवार्य समझा जाने लगा है और आर्थिक क्रियाओं को नियन्त्रित करने हेतु आर्थिक नीतियाँ निर्धारित करना आवश्यक होता है। विदेशों में आर्थिक सम्बन्ध भी राजकीय स्तर पर स्थापित किये जाते हैं और इन सम्बन्धों का नियमन करने हेतु आर्थिक नीति की आवश्यकता होती है। इस प्रकार आर्थिक नीति उन आधारभूत सिद्धान्तों को कहा जा सकता है जिनके आधार पर देश के आर्थिक जीवन का नियमन एवं संगठन किया जाता है। इस नियमन का परिणाम उस देश के राजनीतिक कलेवर पर निर्भर रहता है।

दूसरी ओर आर्थिक नियोजन में वे सब कार्यक्रम सम्मिलित रहते हैं जिनके द्वारा देश की आर्थिक क्रियाओं को पूर्व निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति हेतु संगठित एवं संचालित किया जाता है। नियोजन में सम्मिलित कार्यक्रमों का आधार देश की आर्थिक नीति होती है। इस प्रकार आर्थिक नीति आर्थिक नियोजन का आधार होती है परन्तु प्रत्येक आर्थिक नीति को आर्थिक नियोजन नहीं कहा जा सकता है क्योंकि आर्थिक नीति केवल आर्थिक सिद्धान्त निर्धारित करती है। ये सिद्धान्त आर्थिक नियोजन का स्वरूप ले सकते हैं और नहीं भी। ऐसे देश जिनमें आर्थिक नियोजन को नहीं अपनाया जाता है राज्य द्वारा आर्थिक नीति निर्धारित की जाती है। इन देशों की आर्थिक नीति का उद्देश्य आर्थिक क्रियाओं को सन्तुलित बनाये रखना होता है।

आर्थिक प्रगति विकास एवं नियोजन का भेद—आर्थिक प्रगति आर्थिक नियोजन एवं आर्थिक विकास में घनिष्ट सम्बन्ध है। प्रायः आर्थिक प्रगति एवं आर्थिक विकास एक दूसरे के पर्यायवाची शब्दों के रूप में उपयोग किये जाते हैं परन्तु इन दोनों में भी कुछ सूक्ष्म अन्तर है। किन्डलबर्जर के अनुसार आर्थिक प्रगति का तात्पर्य अधिक उत्पादन होता है जबकि आर्थिक विकास का अर्थ अधिक उत्पादन के साथ उन तान्त्रिक एवं संस्थागत व्यवस्थाओं के परिवर्तनों से भी होता है जिनसे उत्पादन वृद्धि होती है। विकास के अंतर्गत उत्पादन की संरचना में होने वाले परिवर्तन एवं आदायों (Inputs)

के विभिन्न क्षेत्रों में होने वाले वितरण में परिवर्तन भी आते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि विकास के अन्तर्गत कुछ नीति सम्बन्धी निर्णय लेकर उपयुक्त परिवर्तनों का प्रादुर्भाव किया जाता है। आर्थिक विकास इस प्रकार एक ऐसी प्रविधि है जिसके अन्तर्गत नीतियों का निर्धारण इस प्रकार किया जाता है कि अर्थ व्यवस्था में प्रति व्यक्ति उत्पादन में सर्वाधिक वृद्धि की जा सके। आर्थिक प्रगति आर्थिक विकास के परिणामों के रूप में अथवा स्वतः ही होने वाले आर्थिक परिवर्तनों के कारण उदय होती है। जब आर्थिक प्रगति आर्थिक विकास की प्रक्रिया के फलस्वरूप उदय होती है तो आर्थिक प्रगति एवं आर्थिक विकास एक दूसरे के पर्यायवाची कहे जा सकते हैं।

आर्थिक प्रगति एवं आर्थिक नियोजन आर्थिक अध्ययन की एक ही शाखा —आर्थिक गति विज्ञान (Economic Dynamics) के ही दो अंग हैं। आर्थिक नियोजन आर्थिक गति विज्ञान का व्यावहारिक स्वरूप समझा जाता है। आर्थिक गति विज्ञान के सैद्धान्तिक विभाग के अन्तर्गत प्रगति मॉडलों का अध्ययन किया जाता है। आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत विकास की समस्याओं का निवारण चयनात्मक ढंग से किया जाता है। इसके अन्तर्गत विकास कार्यक्रमों के निर्माण हेतु सैद्धान्तिक अध्ययनों के आधार पर स्थापित अनुकूलतम परिस्थितियों को आधार माना जाता है और इन कार्यक्रमों का अन्तिम उद्देश्य अधिकतम उत्पादन एवं उपयोगिता प्राप्त करना होता है। चयनात्मक विकास नीति सम्बन्धी निर्णय प्रत्येक देश में समान नहीं रहते हैं क्योंकि विभिन्न देशों की राजनीतिक संरचना में भेद पाया जाता है। इस प्रकार आर्थिक नियोजन आर्थिक विकास एवं प्रगति के सम्बन्ध में नीति सम्बन्धी निर्णय करने की प्रक्रिया में अन्तर होता है।

नियोजन की व्यूह-रचना

आर्थिक नियोजन एक गतिशील विचारधारा है। यह एक सतत् प्रक्रिया होती है जिसमें आर्थिक व्यवस्था के संचालन को इस प्रकार प्रभावित किया जाता है कि इच्छित लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सके। विकास एवं प्रगति के लिए नियोजन दीर्घकालीन व्यूह रचना (Strategy) प्रस्तुत करता है। आर्थिक प्रगति के सिद्धान्त यह बताते हैं कि एक अर्थ व्यवस्था विशिष्ट परिस्थितियों में किस प्रकार संचालित हो सकती है। इसके द्वारा अर्थ व्यवस्था के विभिन्न मूल चलों (Key Variables) के क्रियात्मक सम्बन्धों का विश्लेषण किया जाता है दूसरी ओर आर्थिक नियोजन उन साधनों एवं विधियों की खोज करता है जिनके द्वारा मूल चलों एवं उनकी क्रियाओं को नियन्त्रित करके विकास एवं प्रगति हेतु अनुकूलतम परिस्थितियाँ उदय की जा सकती है। इन मूल चलों के नियन्त्रण हेतु जिन विधियों एवं नीतियों का उपयोग किया जाता उन्हें नियोजन की व्यूह रचना की संज्ञा दी जाती है।

प्रगति मॉडल एवं आर्थिक नियोजन के मॉडल में विभिन्न चलों का उपयोग अलग अलग प्रकार से किया जाता है। आर्थिक नियोजन के निम्नलिखित प्रमुख चल होते हैं

(अ) लक्ष्य चल—जैसे राष्ट्रीय एवं प्रति व्यक्ति आय, रोजगार, उपभोग स्तर, भुगतान शेष आदि। इन चरों के सम्बन्ध में लक्ष्य इस प्रकार निर्धारित किये जाते हैं कि निश्चित अवधि में मूल उद्देश्यों की उपलब्धि सम्भव हो सके।

(आ) नीति सम्बन्धी चल—जैसे कर-नीति, विनियोजन आवटन नीति, उपभोग व्यय नीति, आय एवं धन वितरण सम्बन्धी नीति आदि। ये नीतियाँ योजना अधिकारी के हथियार कही जा सकती हैं क्योंकि इनकी सहायता से योजना के लक्ष्यों को उपलब्ध किया जाता है।

(इ) समक अथवा दरें— योजना के लिए कुछ आधारभूत दरें एवं अनुपात निर्धारित किये जाते हैं जैसे—पूंजी उत्पाद अनुपात, जनसंख्या वृद्धि दर, श्रम उत्पाद-अनुपात, श्रम पूँजी अनुपात आदि।

दूसरी ओर प्रगति मॉडल के अन्तर्गत दो चलों का उपयोग किया जाता है (i) मूल चल एवं (ii) मुख्य विकास मापक तत्व (Parameters)। इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों का सैद्धान्तिक विश्लेषण प्रगति मॉडल में किया जाता है। इस प्रकार प्रगति मॉडल विश्लेषणात्मक अध्ययन करता है और नियोजन मॉडल प्रगति मॉडल के क्रियाशीलन की समस्या का निवारण करता है।

प्रगति माडल की सहायता से आर्थिक नियोजन द्वारा आधारभूत नीतियों का निर्धारण करना सम्भव होता है। आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत निम्नलिखित आधारभूत नीतियों का निर्धारण किया जाता है जो नियोजन की व्यूह रचना कहलाता है

(अ) अर्थ-व्यवस्था के चालू उत्पादन में विनियोजन का आकार

(आ) निर्धारण समय के लिए निर्धारित विनियोजन का अर्थव्यवस्था के विभिन्न खण्डों में आवंटन

(इ) विभिन्न वैकल्पिक उत्पादन की तकनीकों में से चयन करना अर्थात् अर्थव्यवस्था के विभिन्न खण्डों के लिए पूंजी उत्पाद-अनुपात एवं पूंजी श्रम-अनुपात निर्धारण करना

(ई) प्रगति को समयबद्ध करना

(उ) नियोजन के इच्छित लक्ष्यों की उपलब्धि निर्धारित अवधि में करने हेतु विधियों एवं साधनों को जुटाना

(ऊ) विभिन्न विधियों एवं साधनों में समन्वय स्थापित करना

(ए) समयबद्ध प्रगति का ध्यान में रखकर आय पूंजी रोजगार उपभोग आयात निर्यात बचत आदि की प्रगति-दरों को निर्धारित करना

(ऐ) मजदूरी आय वितरण आयात निर्यात जनसंख्या मुद्रा पूर्ति मूल्य स्तर उपभोग स्तर आदि का नियोजन के उद्देश्यों के अनुरूप नियन्त्रित करने हेतु नीतियां निर्धारित करना।

नियोजन के उद्देश्य

नियोजन के तत्वों से यह स्पष्ट है कि इसमें लक्ष्यों का एवं श्रम सम्मिलित होना है। नियोजन का संचालन एवं कार्यक्रम उसके उद्देश्यों के अधीन होते हैं। कोई भी कार्यक्रम व्यवस्था अथवा निर्माण-कार्य नियोजन है अथवा नहीं इसका ज्ञान उस कार्यक्रम व्यवस्था अथवा निर्माण-कार्य के उद्देश्यों के निरीक्षण द्वारा ही सम्भव है। वास्तव में नियोजन एक उद्देश्यपूर्ण क्रिया है। इसे एक तटस्थ *(Neutral) यन्त्र अथवा व्यवस्था कहा जा सकता है जिसका उपयोग किसी भी उद्देश्य की* पूर्ति के लिए किया जा सकता है। परन्तु नियोजन का प्रकार उन उद्देश्यों पर निर्भर रहता है जिनकी पूर्ति के लिए नियोजन का संचालन किया जाता है। समाजवादी एवं प्रजातान्त्रिक राष्ट्रों में आर्थिक नियोजन के प्रमुख उद्देश्य आर्थिक सुदृढ़ता सामाजिक सुरक्षा एवं पूर्ण रोजगार होते हैं। दूसरी ओर साम्यवादी राष्ट्रों में आर्थिक उद्देश्यों के साथ-साथ राजनीतिक उद्देश्यों को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है।

आधुनिक युग में आर्थिक नियोजन शीघ्र विकास का साधन माना जाता है और वे सभी राष्ट्र जो विकास के दृष्टिकोण से पिछड़े हुए हैं आर्थिक नियोजन की व्यवस्था का उपयोग विकास की गति को तीव्रता प्रदान करने के लिए करते हैं। इस प्रकार अल्प विकसित राष्ट्रों में आर्थिक नियोजन द्वारा उन सभी घटकों को शिथिल अथवा क्रियाहीन बनाना होता है जो देश के विकास में बाधक होते हैं। आर्थिक पिछड़ेपन के कारणों में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से विदेशी पूंजी का प्रभुत्व विदेशी राष्ट्रों द्वारा आर्थिक उलटफेर द्वारा देश को दूसरे राष्ट्रों पर निर्भर बनाये रखना देश को केवल कृषि प्रधान राष्ट्र बनाये रखने की कार्यवाहियां जिसमें वह अन्य देशों के लिए उपयुक्त बाजार बना रहे असंतुलित एवं असमान व्यापारिक सम्बन्ध आदि प्रमुख हैं। यह समस्त घटक देश के औद्योगिक विकास में बाधक होते हैं और जनजीवन स्तर को ऊंचा नहीं उठने देते हैं। विकास नियोजन द्वारा इन सभी बाधक घटकों का नियन्त्रण एवं गतिहीन करना आवश्यक होता है। इस प्रकार एक ओर विकास-आयोजन द्वारा बाधक घटकों का नियन्त्रित किया जाता है और दूसरी ओर देश के शीघ्र औद्योगीकरण कृषि क्षेत्र का आधुनिकीकरण आर्थिक स्वतन्त्रता को सुदृढ़ बनाना तथा सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था करने के उद्देश्य निहित रहते हैं।

विभिन्न राष्ट्रों में आर्थिक नियोजन के व्यावहारिक संचालन का यदि हम अध्ययन करें तो हमें ज्ञात होगा कि नियोजित अर्थव्यवस्था द्वारा आर्थिक उद्देश्यों की तुलना में राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति को अधिक महत्व दिया जाता है। प्रायः आर्थिक उद्देश्य राजनीतिक उद्देश्यों

क्षेत्रो के सम्यक करना भी नियोजन का एक प्रमुख ध्येय है। दलित क्षेत्रों की उन्नति द्वारा ही सम्पूर्ण देश की आर्थिक स्थिति को सुधारा जा सकता है। अविकसित क्षेत्रों के विकास हेतु राष्ट्र के उपलब्ध तथा सम्भाव्य साधनो का उचित एव न्यायपूर्ण वितरण करना आवश्यक है। व्यक्तिगत साहसी अविकसित क्षेत्रो मे विनियोग करने से डरते हैं। अत राज्य को इस क्षेत्र मे अग्रसर होकर औद्योगीकरण का अनुसरण करना चाहिए। "नियोजन मे केवल पिछडे क्षेत्रो का ही विकास आवश्यक नहीं होता, वरन् उन्नत क्षेत्रो का भी साथ ही साथ विकास आवश्यक है जिससे राष्ट्रीय आय मे वृद्धि करके जनसमूह के जीवन-स्तर मे उन्नति की जा सके। यद्यपि नियोजन पिछडेपन से सम्बन्धित है तथापि यह विचारधारा न्यायसगत नही है कि योजना का उद्देश्य उन पिछडे क्षेत्रो मे सुधार करना ही है।"[1]

(ग) **युद्धोपरान्त पुनर्निर्माण**—युद्ध मे क्षतिग्रस्त राष्ट्रो मे नियोजित अर्थ-व्यवस्था का उपयोग पुनर्निर्माण के लिए किया जाता है। पुनर्निर्माण के अन्तर्गत युद्ध अर्थव्यवस्था को शान्तिकाल की अर्थ-व्यवस्था मे परिवर्तित करना होता है। युद्ध मे क्षतिग्रस्त क्षेत्रो विशेषकर उद्योगो एव यातायात के साधनो का पुनर्निर्माण एव सुधार का आयोजन किया जाता है। इसके अतिरिक्त युद्ध के अनुभवो के आधार पर अर्थ-व्यवस्था का इस प्रकार सगठित एव उसके विभिन्न खण्डो को विकसित किया जाता है कि भविष्य मे देश युद्ध से अपने आपको सुरक्षित रख सके। अधिकतर युद्धोपरान्त पुनर्निर्माण के अन्तर्गत औद्योगीकरण एव पिछडे हुए क्षेत्रो के विकास का आयोजन नियोजित अर्थ व्यवस्था द्वारा किया जाता है। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात रूस की पचवर्षीय योजना का मुख्य उद्देश्य पुनर्निर्माण एव पुनर्स्थापन था।

(घ) **विदेशी बाजारो एव कच्चे माल के साधनो पर प्रभुत्व प्राप्त करना**—आधुनिक युग मे बडे एव विकसित राष्ट्रो के सामने एक बडी समस्या अर्थ व्यवस्था को प्रगति की गति का निर्वाह करना होता है। विकास की ऊँची श्रेणियो पर पहुँच कर विकास के निर्वाह के लिए देश मे उपभोग बढाने तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे अधिक अशदान प्राप्त करने की आवश्यकता पडती है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए विदेशी बाजारो पर प्रभुत्व स्थापित करना होता है जिसके लिए विदेशो मे राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करने के साथ-साथ विदेशी सहायता अनुदान एव साख प्रदान करके आर्थिक प्रभुत्व उपलब्ध करना आवश्यक होता है। अर्थ-व्यवस्था का इस प्रकार सचालित करना होता है कि एक ओर विदेशी बाजारो के लिए आवश्यक निर्यात वस्तुओ का उत्पादन बढाया जा सके और दूसरी ओर विदेशी सहायता आदि के लिए आवश्यक साधन उपलब्ध हो सकें। अर्थ-व्यवस्था मे इस उद्देश्य के लिए नियमन करने की आवश्यकता होती है जो आर्थिक नियोजन द्वारा सुलभता से किया जा सकता है। इस प्रकार विकसित राष्ट्रो मे नियोजित अर्थ व्यवस्था का एक उद्देश्य विदेशी बाजारो एव कच्चे माल के साधनो पर प्रभुत्व प्राप्त करना भी होता है।

(ड) **विकास के लिए विदेशी सहायता प्राप्त करना**—अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय एव विकास सस्थाओ एव विकसित राष्ट्रो द्वारा विदेशी सहायता उन्ही राष्ट्रो को सुलभता से प्रदान की जाती है जिनमे नियोजित अर्थ व्यवस्था का सचालन किया जाता है। विकसित राष्ट्र भी ऐसी परियोजनाओ को सहायता प्रदान करते है जिनमे विकासशील राष्ट्र की सरकार की प्रतिभूति हो अथवा सरकार द्वारा सचालित होती हो। अर्द्ध विकसित राष्ट्रो मे विदेशी सहायता द्वारा ही विकास को गति प्रदान करना सम्भव होता है और विदेशी सहायता का प्रवाह बनाये रखने के लिए नियोजित अर्थ व्यवस्था का सचालन किया जाता है।

---

1 "Planning necessitates the development of not only the backward areas but also the forward areas so as to increase the aggregate national dividend of the country with a view to raise the standard of living of masses Though Planning is connected with backwardness still it can be justifiably argued that the main objective of Planning is to correct the mal-adjustment in those backward areas "—V Vithal Babu, *Towards Planning* p 24

(च) आर्थिक सुरक्षा (Economic Security)—नियोजित अर्थ-व्यवस्था द्वारा जहाँ राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि का आयोजन किया जाता, वहीं आय, अवसर एवं धन के समान वितरण का भी आयोजन करना आवश्यक समझा जाता है जिससे समाज दलित एवं निर्धन-वर्गों के लोगों के जीवन-स्तर में सुधार किया जा सके। अवसर की समानता के फलस्वरूप पूर्ण रोजगार की व्यवस्था करने की सम्भावना हो जाती है।

आय की समानता

आर्थिक समानता में जिसे आर्थिक सुरक्षा भी कहा जा सकता है, राष्ट्रीय आय तथा अवसरों का समान वितरण निहित है। यद्यपि आय की समानता का उद्देश्य पूर्णतः प्राप्त करना असम्भव है क्योंकि लोगों के कार्यों में भिन्नता होती है। एक उन्नतशील समाज में कार्यानुसार आय-वितरण आवश्यक है अन्यथा कार्य के प्रति प्रोत्साहन एवं रुचि समाप्त हो जायेगी। आय के समान वितरणार्थ राष्ट्रीय आय तथा सम्पत्ति दोनों का ही पुनर्वितरण करना आवश्यक होता है क्योंकि आय की असमानता का प्रमुख कारण व्यक्तिगत प्रयास नहीं, परन्तु सम्पत्ति का असमान वितरण है।

सरकार आय का पुनर्वितरण करों द्वारा कर सकती है। सम्पन्न समुदाय से अधिक कर-भार द्वारा प्राप्त कर-आय का निर्धन-वर्ग को सस्ती सेवाएँ, उदाहरणार्थ—चिकित्सा-सम्बन्धी सेवाएँ, शिक्षा सामाजिक बीमा, सस्ते भवन, सस्ते खाद्य-पदार्थ आदि उपलब्ध कराने पर व्यय किया जा सकता है। इसकी ओर राज्य मजदूरी के स्तर पर नियन्त्रण करके श्रमिकों को कार्यानुसार न्यूनतम पारिश्रमिक प्रदान करा कर साहसी का लाभ कम कर सकता है। किन्तु इस कृत्य के पूर्व साहसी के प्रलोभन (Inducement) को भी दृष्टिगत करना होगा जिसके कारण वह उद्योग चलाता है। यदि साहसी का लाभ अधिक पारिश्रमिक देने के कारण कम हो जायेगा, तो वह अपने साधनों को अन्य कार्यों तथा उद्योगों में लगा देगा तथा उसके समक्ष सामाजिक हित महत्वहीन हो जायेगा। आय की असमानता को दूर करने के लिए मूल्य-नियन्त्रण तथा प्रतिबन्ध (Rationing) का भी उपयोग किया जा सकता है। आवश्यक वस्तुओं के वितरण पर सरकारी नियन्त्रण होने से सम्पन्न लोग विपन्न लोगों की भाँति ही उनका समान उपयोग कर सकेंगे। परन्तु मूल्य-नियन्त्रण तथा प्रतिबन्ध की सफलता चोर-बाजार की भावनाओं के कारण सदैव सन्देहपूर्ण रहती है।

अवसर की समानता

अवसर की समानता का तात्पर्य राष्ट्र के समस्त नागरिकों का जीविकोपार्जन के समान अवसर प्रदान करने से है। अवसर की समानता प्रदान करने के लिए सम्पत्ति तथा कुशलता का समान वितरण होना आवश्यक है क्योंकि ये दो घटक ही आय के प्रधान साधन हैं। "कुशलता की न्यूनता के कारण ही कार्य के पारिश्रमिक में असमानता पायी जाती है। खनिक से अधिक डॉक्टर आय उपार्जित करता है क्योंकि डॉक्टरों की माँग की तुलना में पूर्ति न्यून है जबकि खनिकों की पूर्ति माँग की अपेक्षा अधिक है। यदि समाज का प्रत्येक शिशु बिना अधिक व्यय के डॉक्टर बन सके, तो डॉक्टरों की घरेलू सेवकों की भाँति कोई कमी नहीं रहेगी तथा ये डॉक्टर फिर इतनी आय उपार्जित नहीं कर सकेंगे। अतः फलस्वरूप में पूर्ण आय की असमानता के निवारणार्थ हमें अवसर की समानता में वृद्धि करनी चाहिए। इस लक्ष्य की प्राप्ति शिक्षा-प्रणाली में सुधार द्वारा की जा सकती है। समस्त समाजवादियों का उद्देश्य होता है कि समस्त बच्चों को उनकी योग्यतानुसार शिक्षा प्राप्त करने योग्य बनाया जाय तथा शिक्षा और बच्चों के पालकों की आय में कोई सम्बन्ध न हो। यदि ऐसी स्थिति वास्तव में प्राप्त हो सके तो विभिन्न व्यवसायों की आय की असमानता स्वतः ही कम हो जायेगी।¹

---

¹ It is the shortage of skill which explains differences in remuneration for work. Doctors earn more than miners because in relation to the demand for doctors there is much greater shortage of doctors than there is of miners. If every child in the community could become a doctor at no cost doctors

सम्पत्ति का समान वितरण करना आय में समानता लाने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। सम्पत्ति में असमानता का मुख्य कारण उत्तराधिकार का विधान है। व्यक्तिगत धनोपार्जन का अधिकार पैतृक सम्पत्ति से प्राप्त होता है। धनिक को जो आर्थिक सुविधाएँ प्राप्त होती हैं, वे उनकी व्यक्तिगत योग्यता तथा कुशलता के कारण नही अपितु उसके सम्पत्तिवान परिवार में जन्म लेने के कारण है। उनकी स्थिति उत्तरोत्तर सुदृढ होती जाती है क्योंकि धनवान अपनी पूंजी मे बचत द्वारा वृद्धि कर सकते है तथा अधिक आय वाले व्यवसायो मे सुविधापूर्वक विनियोग कर सकते है। इस प्रकार उत्तराधिकार-विधान द्वारा सम्पत्ति तथा आय की असमानता में वृद्धि होती है। सम्पत्ति का पुनर्वितरण सरकार द्वारा कर तथा क्षतिपूर्ति के माध्यम से अपहरण करके किया जा सकता है, किन्तु सम्पत्ति के राष्ट्रीयकरण से उद्देश्य की पूर्ण प्राप्ति नहीं होती क्योंकि सम्पत्ति के स्वामियो को क्षतिपूर्ति राशि दी जाती है जो सम्पत्ति के स्थान पर अधिक आय-दाता सिद्ध होती है। तानाशाही नियोजन में इस कार्य का सम्पादन शक्ति द्वारा सम्भव है, किन्तु प्रजातान्त्रिक नियोजन में इस उद्देश्य की पूर्ति मृत्यु कर, उत्तराधिकार-कर आदि द्वारा शनैः-शनैः सम्भव है।

पूर्ण रोजगार

पूर्ण रोजगार द्वारा राष्ट्र के समस्त कार्य करने योग्य नागरिको से रोजगार का प्रबन्ध करना भी आवश्यक है। पूर्ण रोजगार का आयोजन किये बिना आर्थिक समानता तथा अधिकतम उत्पादन के उद्देश्यो की पूर्ति भी सम्भव नही है। श्रम उत्पादन का प्रमुख एवं क्रियाशील घटक है और जब तक उत्पादन के समस्त साधनो का पूर्णत उपयोग नही किया जायगा, तब तक अधिकतम उत्पादन-बिन्दु या लक्ष्य प्राप्त नही हो सकता। दूसरी ओर, जब तक पूर्ण रोजगार का प्रबन्ध नही होगा बेरोजगार नागरिको को आर्थिक समानता का लाभ प्रदान नही किया जा सकता। आर्थिक समानता मे वृद्धि के साथ-साथ बेरोजगारी की समस्या का भी निवारण स्वत होता जायेगा। अत राष्ट्र की समस्त उपलब्धि शारीरिक तथा मानसिक शक्तियो का पूर्ण उपयोग एवं शोषण होना चाहिए। बेरोजगार तथा आंशिक रोजगार से समाज की आय तथा क्रय-शक्ति मे कमी आती है जो उपभोक्ता तथा निर्माण दोनो ही उद्योगो को क्षतिकारक होती है।

अर्द्ध-विकसित राष्ट्रो मे नियोजन का मुख्य उद्देश्य देश के पिछडे प्रदेशो का औद्योगीकरण करना होता है। अर्द्ध-विकसित अर्थ-व्यवस्था मे या तो पूर्ण रोजगार के आधार पर कार्यक्रम निर्धारित किये जाते है या फिर कार्यक्रमो द्वारा रोजगार मे वृद्धि होना स्वाभाविक होता है। विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ मे मन्दीकाल एवं आर्थिक स्थिरता के वातावरण मे नियोजन का मुख्य उद्देश्य पूर्ण रोजगार की व्यवस्था करना होता है। ऐसी परिस्थिति मे रोजगार की वृद्धि हेतु विशेष कार्यक्रम निर्धारित किये जाते है क्योकि अर्थ-व्यवस्था का विकास होने पर भी इन अर्थ व्यवस्थाओ मे बेरोजगार उपस्थित रहता है। पूर्णत नियोजित अर्थ-व्यवस्था मे रोजगार की व्यवस्था एक सर्वमान्य घटक होती है और इसे नियोजन के मुख्य उद्देश्यो मे सम्मिलित करना आवश्यक नही होता है। यहाँ विकास की योजना का अर्थ रोजगार की वृद्धि होता है परन्तु प्रजातान्त्रिक समाजवादी राष्ट्र में, जहाँ पूर्णत नियोजित अर्थ-व्यवस्था नही होती, नियोजन की प्रत्येक योजना मे रोजगार को स्थान होता है और नियोजन के उद्देश्यो मे एक उद्देश्यपूर्ण रोजगार की व्यवस्था करना भी होता है।

---

would not be as scarce, as domestic servants, and would not earn much more In order, therefore, to even out earnings from work before taxation, what we have to do is to increase equality of opportunity The key to this is course, the educational system All socialists aim at enabling all children to have whatever education their abilities fit them for without reference to the incomes of their parents, and if this state of affairs can really be achieved, differences between the incomes of different professions will be very greatly reduced "—W Arthur Lewis, *The Principles of Economic Planning*, p 36

पूण राजगार क लक्ष्य दीघ काल ही म उपन ध करन क प्रयत्न किय जात ह । वास्तव म पूण राजगार एक आदश लक्ष्य (Ideal Target) हाता ह जिसकी पूर्ति बन्ता हुई जनसख्या वाट राष्ट्रा म बहुत बड काल के सतत प्रयत्ना द्वारा हा सम्भव हो सकती ह । पूण रोजगार की व्यवस्था क साथ-साथ आर्थिक नियाजन क अन्तगत राजगार-कलेवर (Employment Structure) का भी सुधारने का प्रयत्न किया जाता ह । जिन व्यवसाया म आयापाजन कम हाता ह उनमे श्रम शक्ति का हटाकर अधिक आयापाजन क क्षत्रो म ल जाया जाता ह ।

(2) **सामाजिक उद्दश्य**—आर्थिक नियाजन के सामाजिक उद्देश्या का मूलाधार अधिकतर जनता का अधिकतम सन्तुष्टि प्रदान करना ह । इस उद्देश्य को एक अन्य सज्ञा सामाजिक सुरक्षा भी दी जा सकती ह सामाजिक सुरक्षा क अन्तगत समाज के समस्त वगा का उनके काय तथा स्तरानुसार यायाचित पारिश्रमिक दिया जाना ह श्रमिक वग तथा उद्योगपति दाना का ही उत्पत्ति का उचित अश मिलना चाहिए श्रमिक वग का उचित तथा वास्तविक पारिश्रमिक उतना अवश्य हाना चाहिए जिसस वह अपन परिवार का अपनी याग्यता तथा स्थिति क अनुसार भरण-पाषण कर सक इनक अतिरिक्त श्रमिक वग का सामाजिक बीमा का लाभ भी प्राप्त हाना चाहिए। बराजगारी बीमारी वद्धावस्था आदि ऐसी स्थितिया है जिनम श्रमिको का अत्यधिक कठिनाई का सामना करना पडता ह इस प्रकार की समस्त समस्याओ तथा कठिनाइया स श्रमिक स्वतन्त्र हाना चाहिए

उद्योगपति का दूसरा आर लाभ म उचित भाग उसक जाखिम तथा कायानुसार मिलना चाहिए जिसस उद्योगो क प्रति उसका प्रलोभन एव रुचि नष्ट न हो सके नियाजित अथ व्यवस्था म साहसी का लाभ कम अवश्य हो जायगा तथापि यह कमी इतना अधिक न हो कि साहसी के प्रात्साहन क लिए हानिकारक हो आर्थिक नियाजन के सामाजिक उद्दश्या म एक वगरहित समाज का स्थापना करना भी सम्मिलित ह एसे वग जातिया तथा समुदाय जिन्ह समाज म उचित स्थान प्राप्त न हो उन्ह समानता क स्तर पर लाना भी आवश्यक ह समाज के आर्थिक वग अथात धनवान तथा निधन क वग भद का आर्थिक समानता द्वारा नष्ट किया जाता ह सामाजिक वगा की समाप्ति हतु पिछडी जातिया तथा समुदाया की शिक्षा म सुविधाए देकर शासकीय सेवाओ म प्राथमिकता प्रदान कर तथा सामाजिक रूढिवादा तथा हीन नियमा का विधान द्वारा वर्जित कर अन्य सम्मान प्राप्त जातिया तथा समुदाया के समान स्तर पर लाना भी नियाजन का उद्दश्य हाता है।

वास्तव म नियोजित विकास के आर्थिक उद्दश्य सामाजिक उद्दश्यो का उपलब्धि का माध्यम मात्र हात ह क्याकि उत्पादन वद्धि पिछडे क्षत्रो का विकास आद्यागीकरण आदि सभी कायक्रमो का अन्तिम उद्दश्य जनसाधारण क जीवन स्तर म सुधार करना हाता हे यदि नियोजित कायक्रमो क परिणामस्वरूप समाज क बहुत बड निधन वग का लाभ होन क स्थान पर सम्पन्न एव मध्यम वग की ही आय म वद्धि हाती ह ता ऐस नियाजित विकास का पूजीवाद से भिन्न समझना भ्रमात्मक हा जाग । आर्थिक नियाजन म सामाजिक एव आर्थिक पक्षो का समानान्तर विकास होना चाहिए। सामाजिक पक्ष म सुधार एव विकास करन हतु नियोजन क अन्तगत निम्नलिखित व्यवस्थाए आवश्यक रूप म हानी चाहिए

(1) सामान्य जावन स्तर म सुधार अथात निधन स्तर स नीच क स्तर वाल परिवारो की स या म कमी हाना चाहिए

(2) सामाजिक सुरक्षा क अन्तगत बराजगार वद्धायु बीमारी एव मत्यु म हान वाला क्षति म सुरक्षा की व्यवस्था हाना चाहिए।

(3) स्वास्थ्य क अन्तगत जनसाधारण का पाष्टिक भाजन की व्यवस्था एव स्वास्थ्य सुधार क लिए उपयुक्त चिकित्सा-व्यवस्था का आयाजन हाना चाहिए

(4) शिक्षा क अन्तगत निरक्षरता का उन्मूलन रुचि क अनुसार शिक्षा एव व्यावसायिक प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाना चाहिए

(5) निवास-गृह एवं सफाई की व्यवस्था का लाभ कम आय वाले वर्ग को मिलना चाहिए।

अल्प-विकसित राष्ट्रों की एक गम्भीर सामाजिक समस्या बढ़ती हुई जनसंख्या होती है। नियोजित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत इस समस्या का निवारण करने का लक्ष्य रखा जाता है और समाज में जन्म दर को कम करने के लिए परिवार-नियोजन आदि कार्यवाहियों का संचालन किया जाता है। समाज में छोटे परिवार के प्रति आकर्षण उत्पन्न किया जाता है। बढ़ती हुई जनसंख्या वाले अल्प-विकसित राष्ट्रों में जनसंख्या की मूल समस्या होती है जो विकास की गति में बाधक होती है।

(3) **राजनीतिक उद्देश्य**—वर्तमान-युग में आर्थिक नियोजन का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य राष्ट्र की राजनीतिक सत्ता की रक्षा, शक्ति तथा सम्मान में वृद्धि करना भी है। रूस में नियोजन के मुख्य उद्देश्य आर्थिक तथा सामाजिक समानता होते हुए भी राष्ट्र-सुरक्षा को विशेष महत्व दिया जाता है। राष्ट्र में राजनीतिक स्थिरता की उपस्थिति में ही अर्थ व्यवस्था में स्थिरता सम्भव है तथा निश्चित नीतियों तथा कार्यक्रम को सुगमता एवं सफलतापूर्वक कार्यान्वित किया जा सकता है। अतएव राष्ट्रीय साधनों, उद्योगों तथा कृषि का संगठन इस प्रकार किया जाता है कि सम्भावी युद्ध के भय से देश की रक्षा की जा सके।

आधुनिक युग में शीत युद्ध का बोलबाला है जिसकी पृष्ठभूमि में साम्राज्यवाद का स्थान आर्थिक प्रभुत्व ने ले लिया है। संसार के सभी बड़े राष्ट्र अन्य बाजारों तथा कच्चे माल की पूर्ति करने वाले क्षेत्रों पर प्रभुत्व प्राप्त करना चाहते हैं। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु आर्थिक विकास के साथ साथ राजनीतिक उन्नति तथा सम्मान प्राप्त करना भी आवश्यक है अन्यथा उन्नत क्षेत्र सीमित एवं प्रतिबन्धित रहेगा।

नियोजन के राजनीतिक उद्देश्यों का निम्नवत् वर्गीकृत किया जा सकता है

(अ) **रक्षात्मक उद्देश्य**—आधुनिक युग में प्रत्येक राष्ट्र अपनी सुरक्षा को सर्वाधिक महत्व देता है। देश की रक्षा की समस्या विकसित एवं अल्प विकसित दोनों ही प्रकार के राष्ट्रों में विद्यमान है। विकसित राष्ट्रों में से अधिकतर संसार के दो शक्तिशाली ब्लाकों (Blocks)—अमरीकी ब्लाक तथा रूसी ब्लाक—में से किसी एक के सदस्य हैं। इन दोनों ब्लाकों को सदैव एक दूसरे से आक्रमण का भय बना रहता है और इसी कारण इन ब्लाकों में विकसित राष्ट्र अपनी सैन्य शक्ति बढ़ाने हेतु प्रयत्नशील रहता है जिससे वह दूसरे ब्लाक के देशों से अधिक शक्तिशाली बना रहे और दूसरे ब्लाक के देश उस पर आक्रमण करने का साहस न कर सकें।

दूसरी ओर अल्प विकसित राष्ट्रों को अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता को सुदृढ़ करने के लिए रक्षात्मक तैयारियाँ करना आवश्यक होता है। अतः यह देखा जाता है कि अल्प विकसित राष्ट्र अपने पड़ोसी-राष्ट्रों से अच्छे सम्बन्ध स्थापित करने में प्रायः असमर्थ रहते हैं और उन्हें अपने देश सीमाओं एवं व्यापार की सुरक्षा के लिए रक्षात्मक तैयारियाँ रखना आवश्यक होता है। इसके अतिरिक्त अल्प विकसित राष्ट्रों को हिंसात्मक साम्यवादी गतिविधियों पर नियन्त्रण रखने के लिए रक्षात्मक तैयारियाँ करनी पड़ती हैं। यही कारण है कि अल्प विकसित राष्ट्रों की नियोजित आर्थिक प्रगति की प्रक्रिया का संचालन इस प्रकार किया जाता है कि राष्ट्र की सुरक्षात्मक शक्ति में निरन्तर वृद्धि होती रहे।

रूस की प्रथम पंचवर्षीय योजना का प्रमुख उद्देश्य देश के उत्पादक साधनों का औद्योगीकरण द्वारा बढ़ाकर विकसित पूँजीवादी अर्थ व्यवस्थाओं की तुलना में देश के आर्थिक एवं तकनीकी स्तर को ऊँचा करना था जिससे समाजवादी प्रणाली की पूँजीवादी प्रणाली पर विजय हो सके। इस योजना में रूस में शीघ्र औद्योगीकरण करके समाजवाद को पूँजीवाद से सुरक्षा प्रदान करने का आयोजन किया गया था। रूस के सन 1936 के संविधान में भी यह आयोजन किया गया कि देश के आर्थिक जीवन का राजकीय योजनाओं द्वारा निर्देशन करके जनसाधारण के स्वास्थ्य, भौतिक सम्पन्नता एवं

भी, यह तो स्वीकार करना ही पड़ता है कि नियोजन एक ऐसा तटस्थ शस्त्र (Neutral Instrument) है जिसका उपयोग व्यक्तिगत प्रभुत्व के विस्तार के लिए भी किया जा सकता है।

(4) **अन्य उद्देश्य**—नियोजन द्वारा परिस्थितियों तथा रीति-रिवाजों में इस प्रकार परिवर्तन करना कि जिससे भविष्यत् पीढ़ी का स्वास्थ्य, मस्तिष्क तथा जीवन-स्तर राष्ट्र की विकसित अवस्थाओं के अनुकूल बन सके, आवश्यक होता है। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु गृह-निर्माण, शिक्षा प्रसार, रूढ़िवादी सामाजिक प्रथाओं में परिवर्तन, जनसाधारण में नूतन जीवन के प्रति सहज आकर्षण जाग्रत करना आदि के लिए उचित आयोजन होना चाहिए। नियोजन-अधिकारी का उद्योगों के केन्द्रीकरण पर नियन्त्रण होना चाहिए, जिससे घने बसे क्षेत्रों, स्वास्थ्यवर्द्धक स्थानों व प्राकृतिक दृश्य के स्थानों के वातावरण को कायम रखा जा सके। स्वास्थ्य के प्रति हानिप्रद गृहों तथा गन्दे अहातों (Slums) को हटाकर उनके स्थान पर स्वास्थ्यकर, स्वच्छ एवं उचित भवन निर्माण व्यवस्था होनी चाहिए। नियोजन-अधिकारी को समस्त शिशु-आवश्यकताओं, स्वास्थ्य, शिक्षा, भोजन, वस्त्र तथा मनोरंजन का आयोजन करना चाहिए। कला जीवन का प्रमुख अंग होने के कारण कला के क्षेत्र में भी पर्याप्त विकास अत्यावश्यक है। संगीत, चित्रकला तथा चलचित्र-उद्योग आदि सभी में राष्ट्र की विकसित अवस्था में अनुकूल उत्थान होना अपेक्षित है।

इस प्रकार नियोजन द्वारा अधिकतम जनसंख्या का अधिकतम सन्तोष, सुख एवं सुविधा तथा समृद्धि प्रदान करने के लिए जनजीवन के प्रत्येक क्षेत्र का व्यवस्थित रूप में विवेकपूर्ण विधियों द्वारा संगठित कर विकासोन्मुख प्रगति पथ पर निर्देशित करना आवश्यक है।

भारत में नियोजन के उद्देश्य

भारत सरकार ने सन् 1950 के प्रस्ताव के अनुसार भारत में नियोजन का उद्देश्य देश के साधनों का कुशल अवशोषण एवं उपयोग करके, उत्पादन में वृद्धि करके तथा समाज की सेवा करने हेतु सभी लोगों को रोजगार के अवसर प्रदान करके जनसाधारण के जीवन-स्तर में शीघ्र वृद्धि करना है। प्रथम योजना का निर्माण इन मूलाधार उद्देश्यों को ध्यान में रखकर किया गया।

जैसा हमें ज्ञात है कि प्रथम पंचवर्षीय योजना का निर्माण अर्थ-व्यवस्था के क्षतिपूर्ति क्षेत्रों के पुनर्निर्माण तथा जनसाधारण को आधारभूत अनिवार्यताएं प्रदान करने हेतु हुआ था। इस योजना के मुख्य उद्देश्य अधिक उत्पादन तथा विषमताओं में कमी करते थे। विषमताओं की कमी को हमें आर्थिक एवं सामाजिक दोनों ही प्रकार का उद्देश्य मानना चाहिए। विषमताओं की कमी हेतु प्रथम योजना में जो कार्यवाही की गयी, उनमें से मुख्य हैं—कम्पनी-विधान में सुधार करके औद्योगिक इकाइयों पर पूँजीपतियों के अधिकार एवं नियन्त्रण को सीमित करना, इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण करके जनसाधारण की बचत का जनकल्याण के लिए उपयोग करना, आधारभूत उद्योगों को सरकारी क्षेत्र के अन्तर्गत चलाना, सरकारी क्षेत्र का विकास, सामुदायिक विकास योजनाओं तथा राष्ट्रीय विस्तार सेवा का संचालन, जायदाद कर, पूँजीगत लाभों पर कर तथा अन्य करसम्बन्धी सुधार, समाज कल्याण के कार्यक्रम तथा रोजगार के अवसरों में वृद्धि आदि।

दिसम्बर सन् 1954 में लोक-सभा द्वारा प्रस्तावित किया गया कि भारत सरकार की आर्थिक नीति का उद्देश्य देश में समाजवादी प्रकार के समाज की स्थापना करना होगा और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए देश की सामान्य आर्थिक क्रियाओं और विशेषकर औद्योगिक विकास को अधिकतम गतिमान करना आवश्यक होगा। द्वितीय योजना का निर्माण इसी प्रस्ताव के आधार पर किया गया। द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं के मुख्य उद्देश्य राष्ट्रीय आय में 25% वृद्धि, शीघ्र औद्योगीकरण, रोजगार के अवसरों में वृद्धि तथा विषमताओं में कमी थी परन्तु इन सभी आर्थिक उद्देश्यों का अन्तिम लक्ष्य देश को कल्याणकारी राज्य (Welfare State) में परिवर्तित करना था जिससे जनसाधारण को आर्थिक एवं सामाजिक न्याय का आश्वासन मिल सके। इस योजना का अन्तिम लक्ष्य देश में ऐसा वातावरण उत्पन्न करना था जो समाजवादी समाज की स्थापना के अनुकूल हो। योजना में समाज-कल्याण हेतु शिक्षा प्रसार, सामुदायिक विकास योजनाओं एवं राष्ट्रीय

विस्तार-सेवा व विकास चिकित्सा की सुविधाओं मे वृद्धि आदि का आयोजन किया गया था जिससे समस्त नागरिकों के आर्थिक एव सामाजिक जीवन मे पर्याप्त सुधार हो सके। योजना मे रोजगार के अवसरों मे वृद्धि करने का विशेष महत्त्व दिया गया। यद्यपि योजना मे पूर्ण रोजगार की व्यवस्था नहीं की गयी तथापि रोजगार मे वृद्धि करना योजना का एक प्रमुख उद्देश्य माना गया।

द्वितीय योजना समाजवादी समाज की स्थापना की ओर प्रथम चरण थी। इस योजना मे इसी कारण से जनसाधारण के जीवन-स्तर मे सुधार करने के उद्देश्य के साथ अवसरो की उपलब्धि मे सभी लोगो के लिए वृद्धि, दलित-वर्गों मे व्यवसायों के परिवर्तन तथा समाज के समस्त समुदायों मे देश की विकास-क्रियाओं में भागीदारी की भावना जागृत करने के उद्देश्य भी सम्मिलित किये गये। इस योजना मे एक ओर आर्थिक प्रगति का आयोजन किया गया और दूसरी ओर, इस आर्थिक प्रगति को प्रजातान्त्रिक मान्यताओं के अन्तर्गत सगठित करने का लक्ष्य रखा गया। इसके लिए द्वितीय योजना मे सस्थानीय (Institutional) परिवर्तनों की व्यवस्था भी की गयी। इस योजना में इस सम्बन्ध मे स्पष्ट किया गया कि अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं के सम्मुख केवल वर्तमान सामाजिक एव आर्थिक सस्थाओ से अधिक से अधिक अच्छे फल प्राप्त करने की ही आवश्यकता नहीं है बल्कि इन सस्थाओ को इस प्रकार सुधारना एव रूप परिवर्तित करना है कि अधिक अच्छे फल देने के साथ साथ गहन एव वृहद सामाजिक मान्यताओं की उपलब्धि मे प्रभावशाली योगदान दे सकें। इस प्रकार द्वितीय योजना केवल एक विकास-कार्यक्रम ही नही थी बल्कि इसके द्वारा सामाजिक क्रान्ति का प्रारम्भ भी किया जाना था।

तृतीय योजना मे उन्ही लक्ष्यों को बढाया गया जो द्वितीय योजना मे प्रारम्भ किये गये। इसके अन्तर्गत आर्थिक क्रियाओ को इस प्रकार सगठित किया जाना था कि उत्पादन की वृद्धि एव प्रगति के साथ-साथ समान वितरण के लक्ष्य की भी पूर्ति होती चले। जनसाधारण और विशेषकर कम आय-प्राप्त समुदायों के जीवन स्तर मे वृद्धि करने के लिए यह अनिवार्य समझा गया कि आर्थिक प्रगति की दर दीर्घकाल तक ऊँची बनी रहे। 'एक समाजवादी अर्थ-व्यवस्था को कुशलता, विज्ञान एव तान्त्रिकता के उपयोग की ओर प्रगतिशील तथा उस स्तर तक विकसित होने के योग्य होना चाहिए, जहा समस्त जनसमूह का कल्याण उपलब्ध हो सके।'[1] नियोजित विकास द्वारा अर्थ-व्यवस्था का विस्तार होना है जिसमें सरकार एव निजी दोनों ही क्षेत्रों को और अधिक अवसर उपलब्ध होते हैं। परन्तु निजी एव सरकारी क्षेत्र का एक-दूसरे के पूरक के रूप मे कार्य करना होता है। योजना मे इस बात पर जोर दिया गया कि नियोजित विकास के अन्तर्गत जो अवसर निजी क्षेत्र को उपलब्ध होते है, उनके फलस्वरूप आर्थिक सत्ताओ का केन्द्रीकरण कुछ ही लोगों के हाथ मे न हो जाय और समाज मे आय एव धन के वितरण की विषमताए बढती न रहे। राज्य का यह कर्तव्य है कि वह अपनी आर्थिक एव अन्य नीतियो द्वारा समाज के निर्बल वर्ग के उत्थान मे सहायक हो, जिससे यह अन्य वर्गो के समान हो सके। योजना मे निजी क्षेत्र के अन्तर्गत सहकारी सस्थाओ को विशेष महत्व दिया गया। सहकारी सस्थाओ की प्रजातान्त्रिक विधियों द्वारा सामाजिक स्थिरता एव आर्थिक विकास सम्भव होता है। भूमि सुधार, कृषि-भूमि की अधिकतम मात्रा निर्धारित करना, सिंचाई-सुविधाए, पिछडी जातियों के लिए कल्याण-कार्यक्रम, 6 से 11 वर्ष के बच्चो को अनिवार्य शिक्षा, प्रारम्भिक स्वास्थ्य-केन्द्रों की स्थापना, पीने के जल का ग्रामीण क्षेत्रो मे प्रबन्ध, रोगो का उन्मूलन, स्त्री एव शिशु कल्याण हेतु समाज सेवा की सस्थाओं की स्थापना, सामुदायिक विकास-योजनाओ का विस्तार आदि समस्त ऐसी कार्यवाहिया है जिनके द्वारा आर्थिक एव सामाजिक विषमता कम करने मे सहायता मिलेगी। योजना मे समस्त क्षेत्रों के सन्तुलित विकास का भी आयोजन था।

चतुर्थ पचवर्षीय योजना मे आर्थिक क्रियाओ को उस सीमा तक गतिमान करने का प्रस्ताव है कि अर्थ-व्यवस्था मे सुदृढता (Stability) बनायी रखी जा सके और आत्म-निर्भरता के लक्ष्य की

1 *Third Five Year Plan*

ओर बढ़ते रहे। योजना में गहन सिंचित कृषि (Intensive Irrigated Agriculture) में वृद्धि करने तथा आधुनिक आधारभूत उद्योगों के विकास का आयोजन किया गया है। औद्योगिक विकास द्वारा एक ओर, भविष्य की तान्त्रिक प्रगति का आयोजन है और दूसरी ओर औद्योगिक क्रियाओं और व्यवसायों के विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था की गयी है। योजना में क्षेत्रीय एवं स्थानीय नियोजन (Regional and Local Planning) द्वारा छोटे एवं निर्बल उत्पादकों के बड़े समूह को सहायता प्रदान करने तथा तत्कालीन एवं भविष्यत् रोजगार के अवसरों में वृद्धि करने का प्रस्ताव किया गया है।

चौथी योजना में अर्थ-व्यवस्था की सुदृढ़ता को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया गया है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए बफर स्टॉक द्वारा खाद्यान्नों एवं अन्य आवश्यक सामग्रियों के मूल्यों को स्थिर रखने का आयोजन किया गया है। आर्थिक सत्ताओं के केन्द्रीकरण को कम करने के लिए एकाधिकार अधिनियम एवं राजकोषीय नीति के उपयोग का प्रस्ताव था। निर्बल उत्पादक इकाइयों को सुदृढ़ बनाने के लिए 14 बड़े अधिकोषों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। ग्रामीण क्षेत्रों में सामाजिक एवं आर्थिक प्रजातन्त्र स्थापित करने हेतु स्थानीय नियोजन में पंचायत-राज्य-संस्थाओं तथा सहकारी संस्थाओं का उपयोग किया जाना था। योजना में सरकारी क्षेत्र के व्यवसायों के प्रबन्ध को पुनर्गठित करने का प्रस्ताव था जिससे सरकारी क्षेत्र का सुदृढ़ता से विस्तार हो सके।

भारत की योजनाओं के अन्तर्गत देश का आर्थिक विकास तो गतिमान हुआ है और राष्ट्रीय एवं प्रति व्यक्ति आय में भी पर्याप्त वृद्धि हुई परन्तु इस आर्थिक प्रगति का लाभ निर्धन-वर्ग को प्राप्त नहीं हुआ और देश में लगभग 40% जनसंख्या निर्धनता के स्तर के नीचे का जीवन-स्तर व्यतीत कर रही थी। यही कारण है कि पांचवीं योजना के दिशा-निर्देश में निर्धनता को दूर करने एवं आत्मनिर्भरता के उद्देश्यों को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया गया। सितम्बर सन् 1972 के आधार पर निर्धनता का स्तर 40 रु. प्रति व्यक्ति प्रति माह व्यय पर निर्धारित किया गया है और पाँचवीं योजना में ऐसे 20 से 25 करोड़ लोगों के जीवन-स्तर में सुधार करने का लक्ष्य रखा गया जो 40 रु. प्रतिमाह से कम उपभोग-व्यय करते थे। इसी प्रकार पांचवीं योजना में सामाजिक कार्यक्रमों पर लगभग दस हज़ार करोड़ रुपया व्यय करने का आयोजन किया गया। दूसरी ओर, आत्मनिर्भरता की ओर और आगे बढ़ने के लिए खाद्यान्नों में आत्मनिर्भरता, कपास एवं तिलहन के उत्पादन में वृद्धि, इस्पात, अलोह धातुओं रासायनिक खाद, कच्चा खनिज तेल, खनिज तेल के उत्पाद, इंजीनियरिंग का सामान तथा आधारभूत रसायनों के उत्पादन को बढ़ाने के लक्ष्य रखे गये जिससे विदेशी सहायता पर निर्भरता सन् 1978-79 तक शून्य की जा सके।

भारत की पाँच योजनाओं के उद्देश्यों के अवलोकन से यह ज्ञात हो जाता है कि भारत में नियोजन का उद्देश्य केवल राष्ट्रीय एवं प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि करना ही नहीं है वरन् इस बात की व्यवस्था करना भी है कि विकास का लाभ समता के साथ वितरित हो, आय एवं जीवन-स्तर की विषमताओं में विस्तार न होकर इनमें कमी हो तथा नियोजित कार्यक्रमों एवं नीतियों के सचालन से सामाजिक तनाव उत्पन्न न हो। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए नियोजन-कार्यक्रमों के संचालन में यह देखना आवश्यक है कि समाज में निर्बलतम-वर्ग को विकास का लाभ सर्वप्रथम प्राप्त होता रहे। इसके लिए सम्बन्धित नीतियों का प्रभावशाली संचालन तथा राजकोषीय एवं अन्य नीतियों द्वारा धन के केन्द्रीकरण को रोकने, विलासपूर्ण उपभोग पर प्रतिबन्ध लगाने तथा बचत में वृद्धि करने की आवश्यकता होगी। इस प्रकार भारत में नियोजित विकास का उद्देश्य विकास के लाभों का समान वितरण, अधिकतम जनसंख्या को सम्पूर्ण जीवन की व्यवस्था तथा एक सुदृढ़ एवं समन्वित प्रजातान्त्रिक राष्ट्र की स्थापना करना है।

भारतीय योजनाओं में राजनीतिक उद्देश्य देश की सुरक्षा करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु देश के आधारभूत उद्योगों—लोहा एवं इस्पात, रासायनिक एवं इंजीनियरिंग उद्योगों की स्थापना, विकास एवं विस्तार करने का आयोजन किया गया है। भारतीय नियोजन की अर्थ-व्यवस्था

के साथ विकास, आत्म-निर्भरता तथा क्षेत्रीय सन्तुलन। योजना में अधिमग्रह (Buffer Stock) की व्यवस्था का विस्तार करके मूल्य-स्तर की बढ़ने की गति का कम करने का लक्ष्य रखा गया। आत्मनिर्भरता हेतु आयात प्रतिस्थापन सम्बन्धी उद्योगों के विस्तार को विशेष महत्व दिया गया और गैर-परम्परागत उत्पादों के निर्यात सम्वर्द्धन के लिए प्रयास किया गया। क्षेत्रीय सन्तुलन के लिए पिछड़े हुए क्षेत्रों में उपरिव्यय सुविधाओं में वृद्धि करने का आयोजन किया गया। इस योजना में गहन कृषि कार्यक्रमों के माध्यम से कृषि-क्षेत्र के विकास की व्यवस्था की गयी। आर्थिक सत्ताओं के केन्द्रीकरण पर नियन्त्रण करने हेतु एकाधिकार अधिनियम, बैंक राष्ट्रीयकरण, पंचायत राज्य, सहकारी-संस्थाओं का विस्तार एवं राजकोषीय नीतियों में परिवर्तन किये गये। परन्तु इन समस्त कार्यवाहियों का लाभ प्रायः नगरोन्मुख रहा और ग्रामीण क्षेत्रों में नियोजन गति-विधि का लाभ केवल सम्पन्न कृषकों को ही उपलब्ध हो सका।

पाँचवी योजना की व्यूह-रचना

पाँचवी योजना की व्यूह-रचना की धुरी में दो तत्व सम्मिलित किये गये—गरीबी उन्मूलन एवं आत्मनिर्भरता। गरीबी उन्मूलन हेतु उत्पादक रोजगार के अवसरों में वृद्धि, राष्ट्रीय न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम, मूल्य, मजदूरी एवं आय में न्यायसंगत सन्तुलन आदि कार्यक्रमों को योजना में सम्मिलित किया गया परन्तु इस ओर कोई विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई। दूसरी ओर आत्म-निर्भरता के क्षेत्र में हमारी उपलब्धियाँ सन्तोषजनक रहीं और हमारे निर्यात में निरन्तर तीव्र गति से वृद्धि हुई जिसके परिणामस्वरूप हमारा विदेशी व्यापार प्रायः अनुकूल हो गया और हमारे विदेशी विनिमय के संचय में तेजी से वृद्धि हुई। परन्तु योजना का सामाजिक न्याय का पक्ष दुर्बल ही रहा और विकास का लाभ निर्बल-वर्ग को उपलब्ध नहीं हो सका।

हमारी योजनाओं की व्यूह-रचना इस प्रकार उद्योग प्रधान रही है। नियोजित विकास के अन्तर्गत हमारी राष्ट्रीय आय में औसतन 3 5% प्रति वर्ष की वृद्धि हुई जबकि इसी काल में हमारे कृषि उत्पादन में 2 8% और औद्योगिक उत्पादन में 6·1% की वार्षिक वृद्धि हुई। औद्योगिक विकास की यह दर बहुत से औद्योगिक राष्ट्रों की तुलना में अधिक है। परन्तु इस औद्योगिक प्रगति को प्राप्त करने के लिए हमें साधनों, उत्पाद, रोजगार एवं आय सभी क्षेत्रों में असफलताओं का सामना करना पड़ा।

भारी उद्योग-प्रधान विकास मॉडल भारत की अर्थ-व्यवस्था का यौगिक सफलताएँ (Aggregative achievements) तो प्रदान कर सका है परन्तु वितरण-पक्ष को दुर्बल बनाये रखने में सहायक हुआ है। विकास का लाभ निर्बल-वर्ग जिसका बड़ा भाग ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करता है, को उपलब्ध नहीं हो सका है। यही कारण है पाँचवीं योजना को एक वर्ष पूर्व ही जनता सरकार ने समाप्त कर दिया और छठी योजना अनवरत योजना (Rolling Plan) के रूप में 1978-79 वर्ष में प्रारम्भ हो रही है जिसकी व्यूह-रचना कृषि एवं ग्रामीण विकास एवं रोजगार पर आधारित होगी। अनवरत योजना के अन्तर्गत क्षेत्रीय नियोजन को विशेष ध्यान दिया जायेगा जिसमें जिला-स्तर पर विकास योजनाओं का निर्माण करके स्थानीय साधनों एवं श्रम-शक्ति का गहन उपयोग किया जायेगा।

छठी योजना की व्यूह-रचना

छठी योजना की व्यूह-रचना का मूलाधार रोजगार वृद्धि एवं निर्धनता उन्मूलन है और इन दोनों ही उद्देश्यों की पूर्ति हेतु ग्रामीण विकास-प्रधान समर नीति का उपयोग छठी योजना में किया जायेगा। वर्तमान में उपलब्ध कृषि भूमि की उत्पादकता बढ़ाकर कृषि-क्षेत्र में रोजगार के अवसरों में वृद्धि करने का लक्ष्य रखा गया। वर्तमान भूमि की उत्पादकता बढ़ाने हेतु सिंचाई की सुविधाओं का व्यापक विस्तार करने का आयोजन छठी योजना में किया जायेगा। छठी योजना की व्यूह-रचना के अग्रलिखित प्रमुख अंग हैं

(1) याजना म कृषि विकास प्रधान व्यूह रचना वे अ तगत भूमि क पुनवितरण कायक्रमा आर भमि की चकव दी (Consolidation of holdings) कायक्रमा का विस्तार किया जायगा।

(2) मिचाइ सुविधाआ का विस्तार एव विकास किया जायगा और उवरका क उपभाग का विस्तार किया जायगा

(3) कृषि य त्रीकरण का इस प्रकार नियन्त्रित किया जायगा कि अधिकतम श्रम का अव शोषण करके अधिकतम उत्पादकता प्राप्त की जा सक।

(4) कृषि क्षत्र म रोजगार वद्धि के परिणामस्वरूप वितरण यातायात एव अ य सवाओं क क्षत्र म द्वितीयक रोजगार वद्धि करना सम्भव हो सकेगा।

(5) श्रम शक्ति के अवशोषण के लिए गह एव लघ उद्योग क्षत्र म जन उपभोग की वस्तुओ क निर्माण का प्राथमिकता दी जायगी आर इन उद्योगा का उत्पाद सुरक्षित रखन विभदात्मक करारोपण मू य छट अनुदान साख आदि के सम्बन्ध म सुविधाए प्रदान का जायेंगी।

(6) ग्रामीण विकास हतु समवित विकास का व्यवस्था की जायेगी जिसक अ तगत प्रत्यक समस्त क्षत्र क आधार पर यूनतम सेवाओ का आयोजन किया जायेगा। यूनतम सेवाओ म जलपूर्ति सफाई प्राथमिक शिक्षा अनौपचारिक प्रौढ शिक्षा स्वास्थ्य सवा आदि सम्मिलित की जायगी। वतमान म चल रहा समस्त सवाओ का एक विकास एजेंसी के अ तगत लाया जायगा।

(7) विनियोजन साधना क आवटन म सर्वाधिक प्राथमिकता कृषि एव सहायक कार्यों क विकास के लिए दी जायगी आद्योगिक क्षत्र म गह एव लघु उद्योगा एव ऐसे उद्योग जा कृषि एव ग्रामीण विकास को आदान प्रदान करते हो को साधनों के आवटन मे प्राथमिकता दी जायगा।

भारतीय नियाजन काल म प्रथम बार कृषि एव ग्रामीण विकास को इतना अधिक मह व विकास कायक्रमा मे दिया गया ह इन कायक्रमो का लाभ ग्रामीण क्षत्र के निधन वग का किस सीमा तक प्राप्त किया जा सकगा यह बात कायक्रमो के क्रिया वयन की प्रक्रिया पर निभर रहगी।

3

राजकीय नियन्त्रण एवं नियोजन

[STATE CONTROL AND PLANNING]

सरकारी हस्तक्षेप का तात्पर्य अर्थ-व्यवस्था के किसी एक अथवा एक से अधिक क्षेत्रों में जानबूझ कर हस्तक्षेप करने से है। स्वतन्त्र अर्थ-व्यवस्था के कुछ क्षेत्रों को आवश्यकतानुसार सरकारी नियम के अधीन किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, सरक्षण-कर (Protection Duties), मूल्य-नियन्त्रण एवं राशनिंग, कोटा निर्धारित करना, किसी विशेष वस्तु के व्यापार के लिए आज्ञा-पत्र जारी करना आदि। इस प्रकार के सरकारी हस्तक्षेप के दो मुख्य लक्षण होते हैं—प्रथम, अर्थ-व्यवस्था के अन्य क्षेत्रों में स्वतन्त्रता बनी रहती है और विपणि व्यवस्था सरकारी हस्तक्षेप से उत्पन्न हुए सुधारों से प्रभावित होती है। द्वितीय लक्षण यह है कि देश की विभिन्न स्वतन्त्र आर्थिक इकाइयों की कार्यवाहियों में समन्वय उत्पन्न नहीं होता है। इस व्यवस्था में सरकारी हस्तक्षेप द्वारा राष्ट्र के आर्थिक जीवन पर सरकारी नियन्त्रण नहीं होता है। दूसरी ओर, आर्थिक नियोजन में राज्य जानबूझ कर समन्वित प्रयास करता है कि समस्त अर्थ व्यवस्था का संचालन निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जा सके। राजकीय हस्तक्षेप नियोजन का अभिन्न अंग है। आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों पर समन्वित राजकीय हस्तक्षेप किया जाता है इसलिए यह कहना उचित है कि हर प्रकार के नियोजन में सरकारी हस्तक्षेप निहित होता है, परन्तु अर्थ-व्यवस्था के प्रत्येक सरकारी हस्तक्षेप को आर्थिक नियोजन नहीं कहा जा सकता है। जब सरकारी हस्तक्षेप समन्वित रूप से किया जाय तथा इसके द्वारा अर्थ-व्यवस्था के समस्त क्षेत्र प्रभावित होते हों तो उसे आर्थिक नियोजन कह सकते हैं। इस प्रकार अर्थ-व्यवस्था के संचालन की तीन विधियाँ हो जाती हैं—प्रथम, स्वतन्त्र व्यापार (*Laissez Faire*), द्वितीय, स्वतन्त्र बाजार-व्यवस्था में यदा-कदा सरकारी हस्तक्षेप और तृतीय, नियोजित अर्थ-व्यवस्था। जब सरकारी हस्तक्षेप का इतना विस्तार किया जाय कि वह समस्त अर्थ-व्यवस्था को प्रभावित करने लगे और इसके द्वारा पूर्व-निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति निश्चित काल में हो सके, तो इस सरकारी हस्तक्षेप को आर्थिक नियोजन कह सकते हैं। प्रारम्भ में संसार के समस्त राष्ट्र स्वतन्त्र बाजार-व्यवस्था के अनुयायी थे। प्रथम एवं द्वितीय महायुद्ध में सरकारी हस्तक्षेप अर्थ व्यवस्था के कुछ क्षेत्रों पर आच्छादित हुआ और आधुनिक काल में यह सरकारी हस्तक्षेप आर्थिक नियोजन का स्वरूप ग्रहण करता जा रहा है।

सरकारी नियन्त्रण की आवश्यकता

आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत अर्थ व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों पर नियन्त्रण सरकार द्वारा किया जाना अनिवार्य है, यद्यपि इस नियन्त्रण की मात्रा नियोजन के प्रकार, कार्यक्षेत्र एवं उद्देश्यों पर निर्भर रहती है। किसी भी राजनीतिक विचारधारा के अन्तर्गत नियोजित अर्थ-व्यवस्था का सफल संचालन सरकारी नियन्त्रण की अनुपस्थिति में सम्भव नहीं हो सकता है। नियोजित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत देश में उपलब्ध भौतिक एवं मानवीय साधनों को योजना-अधिकारी द्वारा निर्धारित प्राथमिकताओं के अनुसार उपयोग करना होता है, अर्थात् योजना-अधिकारी को ऐसे पथ-प्रदर्शक एवं नियन्त्रणकर्ता के अधिकार दिये जाते हैं जिसके द्वारा देश के आर्थिक एवं सामाजिक विकास के लिए समस्त आवश्यक कार्यवाहियाँ की जा सकती हैं। योजना-अधिकारी अपने विचारों,

उद्देश्यो की पूर्ति हेतु उपयोग करना। यदि किसी देश के जनसमुदाय मे इतनी अधिक जागरूकता उपस्थित हो कि वह अपनी इच्छा से ही त्याग करने को तैयार हो और उपलब्ध साधनो का उपयोग योजना की आवश्यकताओ के अनुसार किया जा सके तो सरकार का न्यूनतम नियन्त्रण द्वारा नियोजित अर्थ-व्यवस्था को सफलतापूर्वक सचालित करना सम्भव होगा, परन्तु जागरूकता का इस सीमा तक उपस्थित रहना किसी भी राष्ट्र मे सम्भव नही है। इसी कारण नियोजित अर्थ-व्यवस्था का संचालन नियन्त्रण की अनुपस्थिति मे सम्भव नही होता।

नियन्त्रण की मात्रा एव कठोरता जितनी अधिक होगी, उतना ही देश मे सत्ताओ का केन्द्रीकरण होता जायेगा। इसी कारण प्रजातन्त्र के अन्तर्गत नियन्त्रण के स्थान पर प्रोत्साहन को अधिक महत्व दिया जाता है। वास्तव मे प्रोत्साहन भी धीरे-धीरे एक अप्रत्यक्ष नियन्त्रण का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। उदाहरणार्थ, यदि किसी विशेष उद्योगो की स्थापना एव विकास हेतु सरकार वित्तीय एव अन्य सहायता प्रदान करती है तो स्वभावत अन्य उद्योगो की स्थापना की ओर उद्योगपति कम आकर्षित होगे।

नियन्त्रण की तान्त्रिकताओं, सीमाओ एव कठोरताओ मे हर-फेर करके विभिन्न प्रकार की नियोजित अर्थ-व्यवस्थाओ का सचालन किया जाता है। यह कदापि सम्भव नही हो सकता है कि नियन्त्रण को निर्मूल करके नियोजित अर्थ-व्यवस्था का सचालन किया जा सके। वास्तव मे प्रशासन का मुख्य अग नियन्त्रण है। आधुनिक युग मे किसी भी देश का प्रशासन नियन्त्रण के बिना नही किया जा सकता और नियोजित अर्थ-व्यवस्था भी प्रशासन अथवा राज्य द्वारा सचालित होने के कारण नियन्त्रण की शरण लेती है। यह अवश्य कहा जा सकता है कि जैसे-जैसे जनसमुदाय मे जागरूकता का विस्तार होता जाय और जनसहयोग मे वृद्धि होती जाय, वैसे-वैसे नियन्त्रण की सीमाओ एव कठोरता को कम किया जा सकता है, परन्तु ऐसी परिस्थिति मे भी समाज के अवाछनीय एव विनाशकारी तत्वो पर नियन्त्रण रखने की आवश्यकता होगी।

नियन्त्रण के प्रकार

नियन्त्रण एक ऐसी प्रक्रिया है कि जिसके द्वारा व्यक्ति की स्वतन्त्रता, जो किसी भी विशेष कार्य से सम्बद्ध हो सकती है, को प्रतिबन्धित किया जाता है। दूसरे शब्दो मे, यह भी कहा जा सकता है कि व्यक्ति की चयन करने की स्वतन्त्रता पर जब किसी प्रकार की रोक लगायी जाय तो उस रोक लगाने की क्रिया को नियन्त्रण कहा जा सकता है। समाज मे व्यक्ति का स्थान उत्पादक एव उपभोक्ता दोनों का ही होता है। प्रत्येक व्यक्ति कुछ वस्तु अथवा सेवा का उत्पादन करता है और उसी व्यक्ति के द्वारा समाज द्वारा उत्पादित वस्तुओ का उपयोग किया जाता है। नियोजित व्यवस्था के अन्तर्गत उपयोग किये जाने वाले नियन्त्रणो द्वारा उत्पादक एव उपभोक्ता दोनो की चयन करने की स्वतन्त्रताओ को प्रतिबन्धित किया जाता है। उत्पादक को उत्पादन करने के सम्बन्ध मे उत्पादन की वस्तु एव प्रकार चयन करने, विनियोग करने, विनिमय करने, मूल्य एव मजदूरी निर्धारित करने, व्यवसाय अथवा पेशे का चयन करने की स्वतन्त्रता हो सकती है। जब इनमे किसी अथवा कुछ अथवा सबको प्रतिबन्धित कर दिया जाता है तो उसे 'उत्पादन पर नियन्त्रण' की संज्ञा दी जाती है। दूसरी ओर, उपभोक्ता को अपनी इच्छानुसार वस्तुओ को क्रय एव उपभोग करने की स्वतन्त्रता, बचत एव विनियोजन करने की स्वतन्त्रता, अपनी इच्छानुसार बाजार की परिस्थिति के अनुसार मूल्य, किराया, ब्याज आदि लेने की स्वतन्त्रता होती है। जब इन स्वतन्त्रताओं को प्रतिबन्धित किया जाता है तो उसे 'उपभोग पर नियन्त्रण' कहते है। विभिन्न क्षेत्रो पर नियन्त्रणों का उपयोग किस प्रकार किया जाता है, इसकी विवेचना निम्न प्रकार की जा सकती है.

(अ) उत्पादन के चयन पर नियन्त्रण—उत्पादन के चयन का तात्पर्य यह निश्चय करने की स्वतन्त्रता से है कि क्या और किस प्रकार उत्पादन किया जाय, कौन-से उत्पादन के घटको का उपयोग किया जाय, उत्पादन के लिए किन तान्त्रिकताओ का उपयोग किया जाय तथा किस लागत पर उत्पादन किया जाय। अनियोजित अर्थ-व्यवस्था मे प्रत्येक उत्पादक को उपर्युक्त सभी बाते

के वर्तमान स्तर को लम्बे समय तक बनाये रखना सम्भव नहीं होता है। इस विधि के द्वारा राज्य को मूल्यों को नियन्त्रित करने के लिए अन्य कार्यवाहियाँ करने का समय प्राप्त हो जाता है।

मूल्य नियन्त्रण नियोजित अर्थव्यवस्था में तभी सफल होता है जब अन्य नियन्त्रण प्रभावशाली ढंग से संचालित किये जा रहे हों तथा अर्थव्यवस्था के अधिकतर क्षेत्र सुसंगठित हों। इसके अतिरिक्त मूल्य नियन्त्रण को कुशलतापूर्वक संचालन करने के लिए राज्य की व्यापारिक, मौद्रिक एवं राजकोषीय नीतियाँ भी सफलता के साथ संचालित होनी चाहिए।

(ड) मजदूरी पर नियन्त्रण—मूल्य नियन्त्रण को सफल बनाने के लिए मजदूरी पर नियन्त्रण करना अनिवार्य होता है क्योंकि मजदूरी उत्पादन-लागत का प्रमुख अंग होता है और मजदूर वर्ग की क्रय शक्ति पर वस्तुओं की माँग निर्भर रहती है। पूर्णतः समाजवादी अर्थव्यवस्था में जहाँ उत्पादन के समस्त व्यवसाय राज्य द्वारा संचालित रहते हैं, प्राकृतिक साधनों से उत्पन्न होने वाली वस्तुओं एवं सेवाओं को सामाजिक उत्पादन समझा जाता है और यह सामाजिक निधि में जमा कर लिया जाता है। इस सामाजिक उत्पादन में कुछ भाग श्रमिकों को सेवाओं के बदले में दे दिया जाता है। श्रमिकों का भाग उनके द्वारा किये गये उत्पादन एवं उनके वांछित जीवन स्तर के आधार पर निर्धारित किया जाता है। प्रजातान्त्रिक नियोजन के अन्तर्गत राज्य मालिकों एवं श्रमिकों के मध्य उचित मजदूरी निर्धारित करने के लिए सलाह एवं निर्देश देता है। कुछ क्षेत्रों में विशेषकर लघु उद्योग, कृषि तथा ठेके पर कार्य करने वाले श्रमिकों के सम्बन्ध में न्यूनतम मजदूरी का निर्धारण आवश्यक होता है।

नियोजित अर्थव्यवस्था में साख नियन्त्रण एक अत्यन्त महत्वपूर्ण क्रिया समझा जाता है और इसके लिए राज्य बैंक ब्याज की दरों को नियन्त्रित करता है। कभी-कभी भेदात्मक (Discriminating) ब्याज-दरों का भी उपयोग किया जाता है। वे व्यवसाय जिनमें अधिक विनियोजन एवं साख वांछनीय समझी जाती है, उनके लिए साख पर ब्याज की दर कम रखी जाती है। साख नियन्त्रण के लिए व्यापारिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण भी किया जाता है।

(ऊ) व्यवसाय एवं पेशे के चयन पर नियन्त्रण—व्यवसाय एवं पेशे का नियन्त्रण पूर्णतः नियन्त्रित समाज में ही सम्भव हो सकता है। इस नियन्त्रण का उपयोग प्रायः युद्ध अथवा आपातकाल में किया जाता है। परन्तु उन समाजवादी राष्ट्रों, जिनमें मानव शक्ति के बजटिंग (Man Power Labour Budgeting) का संचालन किया जाता है, व्यवसाय एवं पेशे का चयन राज्य द्वारा ही किया जाता है। इसके लिए बच्चों की शिक्षा प्रारम्भ होने से ही आवश्यक व्यवस्थाएँ करनी होती हैं। व्यवसाय एवं पेशे के चयन पर नियन्त्रण रखना उस समय भी आवश्यक होता है जब किसी व्यवसाय में आवश्यकता से अधिक श्रम लगा हो और अन्य व्यवसायों के लिए श्रम की कमी हो गयी हो। प्रायः व्यवसाय के चयन पर प्रतिबन्ध लगाकर इसे नियन्त्रित नहीं किया जाता अपितु जिन व्यवसायों में अधिक श्रम को आकर्षित करना होता है, उन्हें अधिक लाभप्रद अथवा आयोपार्जक बनाया जाता है तथा उस पेशे के सम्बन्ध में प्रशिक्षण आदि की व्यवस्था सरकार की ओर से कर दी जाती है।

(ए) उपभोग पर नियन्त्रण—उपभोग नियन्त्रण प्रतिबन्धात्मक तथा विस्तारात्मक हो सकता है। अल्प विकसित राष्ट्रों में जहाँ राष्ट्र औद्योगीकरण, द्रुत गति से आर्थिक प्रगति, जीवन स्तर में वृद्धि, निर्धनता का विनाश आदि उद्देश्यों की पूर्ति के लिए नियोजन को अपनाया जाता है, प्रतिबन्धात्मक उपभोग नियन्त्रण की आवश्यकता होती है। विकास-कार्यक्रमों के लिए उत्पादक वस्तुओं के उद्योग में विनियोजन बड़ी मात्रा में करने की आवश्यकता होती है और इसके लिए अधिक साधन प्राप्त करने हेतु उपभोक्ता वस्तुओं के उद्योगों के विनियोजन को सीमित किया जाता है। इससे उपभोक्ता वस्तुओं की कमी होती है और इन वस्तुओं का मनमाना उपभोग रोकने के लिए नियन्त्रणों का उपयोग किया जाता है। उपभोग पर नियन्त्रण रखने की सर्वश्रेष्ठ विधि राशनिंग (Rationing) समझी जाती है। इसके अतिरिक्त जनसाधारण को अधिक बचत करने के लिए

प्रोत्साहित किया जाता है जिससे इनके उपभोग-व्यय को कम करना सम्भव हो जाता है। उपभोग-नियन्त्रण के लिए उत्पादन एवं आयात-कर का भी उपयोग किया जाता है। विलासिता एवं न्यून मात्रा में उपलब्ध वस्तुओं पर अधिक उत्पादन एवं आयात-कर लगाकर उनके उपभोग को महँगा कर दिया जाता है जिससे कुछ लोग इन वस्तुओं का उपभोग नहीं करते हैं और महँगी होने पर इनका उपभोग करते हैं तो अधिक मूल्य देने के कारण अन्य वस्तुओं के उपभोग से वंचित रह जाते हैं। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से उपभोग पर नियन्त्रण लगाया जाता है।

आधुनिक युग में मुद्रा-प्रसार द्वारा भी उपभोग पर विवशतापूर्ण नियन्त्रण (Forced Controls) लगाये जाते हैं। मुद्रा-प्रसार से वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाते हैं जिससे जनसाधारण अपनी वर्तमान मौद्रिक आय से कम उपभोग की वस्तुएँ क्रय कर पाता है।

दूसरी ओर, विस्तारात्मक उपभोग-नियन्त्रण का उपयोग विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में किया जाता है, जहाँ ऐच्छिक बचत इतनी अधिक होती है कि उसका उत्पादक विनियोजन करते रहने के लिए समाज के उपभोग के स्तर को बढ़ाना आवश्यक होता है जिससे अधिक विनियोजन से उत्पादित वस्तुओं की माँग बनी रहे। विस्तारात्मक उपभोग-नियन्त्रण के लिए वस्तुओं के मूल्यों को कम रखने के लिए राज्य सहायता प्रदान करता है तथा अधिक उपभोग करने वालों को कर-सम्बन्धी छूट दी जाती है।

उपर्युक्त विवरण से यह ज्ञात होता है कि नियन्त्रण आर्थिक नियोजन का एक शक्तिशाली तन्त्र होता है जिसके सफल संचालन पर नियोजित अर्थ-व्यवस्था की सफलता निर्भर रहती है। विभिन्न क्षेत्रों पर नियन्त्रण का संचालन समन्वित रूप से करने पर वांछित उद्देश्यों की पूर्ति हो सकती है। प्रत्येक नियन्त्रण अपने आप में स्वतन्त्रतापूर्वक संचालित नहीं किया जा सकता है उसकी सफलता के लिए अन्य क्षेत्रों पर नियन्त्रण आवश्यक होता है।

4

प्रजातन्त्र के अन्तर्गत आर्थिक नियोजन एवं व्यक्तिगत स्वतन्त्रता

[PLANNING UNDER DEMOCRACY AND INDIVIDUAL FREEDOM UNDER PLANNING]

प्रजातन्त्र के गुण

प्रजातन्त्र में समाज के समस्त सदस्यों में जाति, लिंग अथवा धर्म का भेद-भाव किए बिना आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक न्याय निहित रहता है। प्रजातन्त्र के अन्तर्गत आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में सत्ताओं का आवटन (Diffusion) व्यक्तियों के छोटे समूहों एवं संगठनों का किया जाता है। प्रजातन्त्र व्यक्ति की चयन करने की स्वतन्त्रता को मान्यता देता है। यह चयन करने की स्वतन्त्रता उत्पादन, उपभोग, पेशे अथवा व्यवसाय, बचत एवं विनियोजन, विनिमय आदि किसी से सम्बद्ध हो सकती है। प्रत्येक व्यक्ति को इन समस्त आर्थिक क्रियाओं में चयन की स्वतन्त्रता का आश्वासन प्रजातन्त्र के अन्तर्गत रहता है। प्रजातन्त्र में निहित सामाजिक एवं आर्थिक गुणों का यदि हम विश्लेषण करें तो ज्ञात होगा कि प्रजातन्त्र निम्नलिखित गुणों से मिलकर बनता है:

(अ) आर्थिक एवं सामाजिक समानता।

(आ) सत्ताओं का व्यक्तियों के छोटे समूहों एवं संगठनों में आवटन।

(इ) उत्पादन के साधनों एवं सम्पत्ति को अधिकार में रखने, खरीदने व बेचने का प्रत्येक नागरिक का अधिकार।

(ई) प्रत्येक नागरिक को पेशा एवं व्यवसाय चयन करने की स्वतन्त्रता।

(उ) समस्त क्रियाओं एवं मान्यताओं का केन्द्रबिन्दु व्यक्ति होता है।

(ऊ) उत्पादन अपनी इच्छानुसार अपने द्वारा चयन किये गये तरीकों से करने का अधिकार।

(ए) उपभोग की स्वतन्त्रता।

(ऐ) राज्य की क्रियाओं की स्वतन्त्रतापूर्वक आलोचना करने का अधिकार।

(ओ) राज्य की क्रियाओं में प्रत्येक नागरिक को सक्रिय भाग लेने का अधिकार।

(औ) बचत करने तथा अपनी बचत अपने निर्णयों के आधार पर विनियोजित करने का अधिकार।

(अं) प्रत्येक समस्या एवं क्रिया में मानवीय मूल्यों को सर्वोच्च स्थान दिया जाना।

व्यक्ति को जब यह सभी स्वतन्त्रताएँ दे दी जायेंगी तो राज्य का कार्य केवल एक चौकीदार के समान अपने नागरिकों के जीवन एवं सम्पत्ति की सुरक्षा की व्यवस्था करना मात्र रह जाता है। राज्य का केवल यही कार्य प्राचीन काल में समझा जाता था। परन्तु जैसे-जैसे सभ्यता का विस्तार हुआ, राज्य का कार्यक्षेत्र भी बढ़ता गया और अब प्रजातन्त्र के अन्तर्गत राज्य जनस्वास्थ्य, सुरक्षा, चरित्र एवं कल्याण, शिक्षा, यातायात एवं संचार तथा अन्य जनोपयोगी सेवाओं की व्यवस्था करता है। यह समस्त क्रियाएँ अब प्रायः प्रत्येक राष्ट्र में राज्य के नियन्त्रण एवं अधिकार में रहती हैं जिससे इन सुविधाओं का आयोजन बिना किसी भेद-भाव के समस्त नागरिकों के लिए किया जा सके।

नियोजित अर्थ-व्यवस्था के लक्षण

दूसरी ओर आर्थिक नियोजन एक सामूहिक व्यवस्था होती है जिसके अन्तर्गत अग्रलिखित लक्षण सम्मिलित रहते हैं:

(1) आर्थिक सत्ताओं पर राज्य का नियन्त्रण एवं अधिकार।

(2) उत्पादन के घटकों पर राज्य का अधिकार।

(3) उत्पादन, उपभोग, बचत, विनियोजन एवं पेशे से सम्बन्धित व्यक्ति एवं व्यक्तियों के समूह की आर्थिक क्रियाओं का राज्य द्वारा नियन्त्रण एवं निर्देशन।

(4) सामूहिक अर्थ व्यवस्था जिसमें समस्त सम्पत्ति व उत्पादन के साधन आदि का समाज द्वारा समाज के हित के लिए उपयोग किया जाता है।

(5) व्यक्ति को मूल रूप से उत्पादन का घटक समझा जाता है और तदनुसार उसे पारिश्रमिक प्रदान किया जाता है।

इस प्रकार प्रजातन्त्र एवं आर्थिक नियोजन एक-दूसरे के बिलकुल विपरीत होते हैं और प्रजातन्त्र के अन्तर्गत नियोजन का संचालन सम्भव प्रतीत नहीं होता है। परन्तु आर्थिक नियोजन एवं प्रजातन्त्र दोनों में एक बात में सादृश्य अथवा समानता पायी जाती है और वह यह है कि ऐसे समाज की स्थापना जिसमें समस्त नागरिकों को समान अधिकार प्राप्त हों और इस एक सादृश्य के कारण ही दोनों ही व्यवस्थाएँ एक साथ संचालित हो सकती हैं। इस उद्देश्य की उपलब्धि के लिए नियोजन एवं प्रजातन्त्र में जो तरीके अपनाये जाते हैं, उनमें बहुत अन्तर होता है। प्रजातन्त्र में विषमतारहित समाज स्थापित करने के लिए ऐसे तरीकों का उचित समझा जाता है जो सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से उचित हों। इनमें मानव की भावनाओं को अधिक महत्व दिया जाता है और मानव को पहले मानव और बाद में उत्पादन का घटक समझा जाता है। दूसरी ओर, आर्थिक नियोजन में भौतिक तत्वों को अधिक महत्व प्रदान किया जाता है और मानव की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति को सर्वोच्च स्थान दिया जाता है। इस प्रकार जहाँ तक मानव का सम्बन्ध है, आर्थिक नियोजन एवं प्रजातन्त्र में बहुत अन्तर है और इन दोनों का सह-अस्तित्व तभी सम्भव हो सकता है जब दोनों के लक्षणों में कुछ सुधार किया जाय और विरोधी तत्वों को कम किया जाय। यह सुधार का कार्य भारत में सफलता के साथ किया गया है जिसके फलस्वरूप प्रजातान्त्रिक नियोजन का जन्म हुआ है।

आर्थिक नियोजन तथा प्रजातन्त्र दोनों ही व्यवस्थाओं के तत्वों में सुधार करके उनका सह-अस्तित्व सफल हो सकता है यह भारतीय अनुभवों एवं प्रयोगों से स्पष्ट हो गया है। प्रजातन्त्र को अपना सैद्धान्तिक पक्ष जिसके अन्तर्गत व्यक्ति को असीमित स्वतन्त्रता प्रदान की जाती है को थोड़ा लचीला करना होता है और आर्थिक नियोजन को पूर्ण राज्य-नियन्त्रण एवं अधिकार की कठोरता को सीमित करना होता है। इस प्रकार राज्य को यह चयन करना होता है कि किन आर्थिक क्षेत्रों को राज्य के नियन्त्रण अथवा अधिकार में रखा जाय जिसके परिणामस्वरूप मिश्रित अर्थ व्यवस्था का प्रादुर्भाव स्वाभाविक होता है। उत्पादन के साधनों को सरकारी एवं निजी क्षेत्रों में आवश्यकतानुसार विभक्त कर दिया जाता है। जहाँ तक व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का सम्बन्ध है, उसे सर्वथा प्रतिबन्धित नहीं किया जाता। ऐसी स्वतन्त्रता, जिनसे नियोजन के संचालन में बाधा नहीं पड़ती, को बनाये रखा जाता है। विपणि-तान्त्रिकता को भी बनाये रखा जाता है परन्तु उस पर नियोजन के उद्देश्यों के अनुरूप यदाकदा राज्य का नियन्त्रण लागू किया जाता है। प्रजातान्त्रिक नियोजन में यद्यपि समाज का समस्त क्रियाओं का केन्द्र-बिन्दु माना जाता है परन्तु मानव को उत्पादन का केवल महत्वपूर्ण घटक मात्र नहीं माना जाता बल्कि उसके नैतिक सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास का भी आयोजन किया जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह तो स्पष्ट ही है कि आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत व्यक्तिगत स्वतन्त्रताओं को असीमित छूट नहीं दी जाती है और उनमें कुछ को प्रतिबन्धित करना आवश्यक होता है।

आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत स्वतन्त्रता

स्वतन्त्रता का अर्थ—आर्थिक नियोजन में राजकीय नियन्त्रण एवं हस्तक्षेप सदैव निहित होता है और इसलिए स्वतन्त्रता के पक्षपाती विद्वानों ने आर्थिक नियोजन को गुलामी अथवा दासता

का माग बताया है। ऐसे पक्षपाती विद्वानों में प्रो हयक का सर्वप्रथम स्थान दिया जा सकता है। स्वतन्त्रता शब्द का अर्थ पृथक्-पृथक् समुदाय एव व्यक्ति पृथक्-पृथक् रूप से ले लेते है। केनेथ ई बाल्डिंग ने लिखा है— स्वतन्त्रता' शब्द एक झगडे वाला शब्द है। इसमे गहरी भावनाएँ एव इच्छाएँ जाग्रत होती है और कुछ ऐसा स्पष्ट आह्वान होता है, जो मानव-हृदय को अत्यधिक मूल्यवान होता है, परन्तु इसकी मूल शक्ति कुछ अशो में इसकी अस्पष्टता पर निर्भर होती है। इसका अर्थ विभिन्न लोगो के लिए भिन्न-भिन्न होता है। जब अमरिकन लोग स्वतन्त्र विश्व की बात करते हैं जब हिटलर ने स्वतन्त्रता (Freiheit) को अपना नारा बनाया, जब सेण्ट पॉल ने भगवान की सेवा को पूर्ण स्वतन्त्रता बनाया जब रूजवेल्ट और चर्चिल ने चार स्वतन्त्रताओं की घोषणा की और जब साम्यवादी यह दावा करते है कि उनका समाज ही केवल स्वतन्त्र समाज है, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि एक ही शब्द के बहुत से अर्थ हैं। अस्पष्टता एव झगडा दोनों का यही कारण है।[1] इस अस्पष्टता के कारण आधुनिक काल में स्वतन्त्रता का वास्तविक अर्थ साधारणत समझ से परे हो गया है।

स्वतन्त्रता के वास्तविक अर्थ की अस्पष्टता के कारण विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं ने इसकी विभिन्न सीमाएँ एव तत्व निर्धारित किये हैं। स्वतन्त्रता का अर्थ असीमित स्वतन्त्रता से नहीं है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के पक्ष को सर्वोच्च महत्व देने वाले अर्थशास्त्री एव राजनीतिज्ञ भी असीमित स्वतन्त्रता को मान्यता नही देते है। वास्तव मे असीमित स्वतन्त्रता का अर्थ तो विधान रहित समाज की स्थापना करना है जो केवल असभ्य समाज अथवा जगली जातियो मे ही सम्भव हो सकता है। हम जब स्वतन्त्रता की सीमाएँ निर्धारित कर देते हैं तो उसकी परिभाषा एव तत्व निर्धारित करना भी सम्भव होना चाहिए। स्वतन्त्रता' शब्द को एक स्थिर विचारधारा नही कहा जा सकता क्योकि विभिन्न समाज एव राष्ट्रो मे अलग-अलग समय मे इसके पृथक्-पृथक् अर्थ लगाये गये है। स्वतन्त्रता' इस प्रकार एक परिवर्तशील विचारधारा है जिसकी सर्वव्यापक परिभाषा नही दी जा सकती है। स्वतन्त्रता में सम्मिलित होने वाले तत्व सामाजिक दशाओं, समय, राजनीतिक विचारधाराओं भौगोलिक परिस्थितियों एव ऐतिहासिक परम्पराओ से प्रभावित होते हैं। प्रजातान्त्रिक समाज में कार्य करने एव विचार व्यक्त करने की स्वतन्त्रता को विशेष महत्व दिया जाता है परन्तु इसकी सीमाएँ सामाजिक आदर्श एव जनहित द्वारा निर्धारित होती हैं। इन दो घटकों के अतिरिक्त किसी विशेष समय पर उपस्थित परिस्थितियाँ भी स्वतन्त्रता की सीमाएँ निर्धारित करती है, जैसे प्रत्येक व्यक्ति को उत्सव के अवसर पर खुशियाँ मनाने, बाजे बजाने आदि की स्वतन्त्रता है परन्तु यदि उसके पडोस मे किसी की मृत्यु हो जाय तो उसे अपनी स्वतन्त्रता के उपयोग करने का अधिकार नही है। इस प्रकार स्वतन्त्रता पूर्ण दासता तथा पूर्ण व्यक्तिवाद के मध्य की अवस्था को कहा जा सकता है।

स्वतन्त्रताओं के प्रकार—आधुनिक युग में प्रत्येक समाज मे स्वतन्त्रताओं पर कुछ न कुछ अंकुश लगाये जाते है परन्तु इन अकुशो की मात्रा एव कठोरता प्रत्येक समाज की वर्तमान आर्थिक, सामाजिक एव राजनीतिक मान्यताओं पर निर्भर करती है। नियोजित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत कुछ स्वतन्त्रताओं का उन्मूलन कुछ को प्रतिबन्धित एव कुछ को जीवित रखा जाता है। विभिन्न प्रकार की स्वतन्त्रताओं में अन्तर अग्रवत निर्धारित किये जा सकते है

1 'Freedom' is a fighting word It arouses deep emotions and desires and clearly evokes something that is very precious to the human heart Its very power, however, depends in parts on its vagueness It means very different things to different people When Americans speak of free world, when Hitler used *Freiheit'* as one of his slogans, when St Paul wrote that in His service is perfect freedom, when Roosevelt and Churchill promulgated the 'four freedoms' and when Communists claim that their is only free society, it is obvious that the one word covers a multitude of meanings This is a source both of confusion and conflict —Kenneth E Boulding, *Principles of Economic Policy*

(1) **कुछ धनवानों की स्वतन्त्रता एवं निर्धनों के बड़े समाज को स्वतन्त्रता**—समाजवादी एवं साम्यवादी स्वतन्त्रता का अर्थ प्रत्येक व्यक्ति को इतने आर्थिक साधन उपलब्ध कराने से लेते हैं, जिससे वह जीवन निर्वाह की आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त कर सके। इस प्रकार आय, धन एवं अवसर की समानता को अधिक महत्व दिया जाता है और धनवान व्यक्तियों के छोटे से समूह की स्वतन्त्रताओं को नियन्त्रित करके साधनों का बड़े निर्धन-वर्ग को आवश्यक सुविधाएँ प्रदान करने के लिए उपयोग किया जाता है। दूसरी ओर जब किसी समाज में उत्पादन के साधनों के क्रय विक्रय, उपयोग एवं अधिकार में रखने की स्वतन्त्रता समस्त नागरिकों को दी जाती है तो यह स्वतन्त्रता उन्हीं के लिए उपयोगी होती है जिनके पास धन होता है और निर्धन-वर्ग के लिए इस स्वतन्त्रता का कोई महत्व नहीं होता है। आर्थिक नियोजन द्वारा इस प्रकार की व्यक्तिगत स्वतन्त्रताओं को नियन्त्रित करके निर्धनों को आर्थिक कठिनाइयों से मुक्त किया जाता है।

(2) **वांछनीय एवं अवांछनीय स्वतन्त्रता**—उपभोक्ता को इच्छानुसार उपभोग करने तथा उत्पादकों को इच्छानुसार उत्पादन करने की स्वतन्त्रता देने से समाज में हानिकारक कार्यवाहियों का प्रादुर्भाव हो सकता है। उपभोक्ताओं का बहुत बड़ा वर्ग या तो अज्ञानता के कारण या फिर अन्य महत्वहीन विचारधाराओं जैसे दिखावा (Display) आदि से प्रभावित होकर उपभोग के सम्बन्ध में विवेकपूर्ण चयन नहीं करता है, जिसके फलस्वरूप एक ओर तो समाज में चरित्रहीनता को प्रोत्साहन मिलता है और दूसरी ओर समाज में उत्पादक साधनों का अपव्यय अथवा अनुचित उपयोग होता है। ऐसी परिस्थिति में उपभोग की स्वतन्त्रता को नियन्त्रित करने से समाज एवं व्यक्ति-विशेष का अधिक हित सम्भव हो सकता है और स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाने से उक्त व्यक्ति को जो हानि होगी उससे कहीं अधिक उसे एवं समाज को आर्थिक नैतिक एवं सामाजिक लाभ होगा। इसी प्रकार उत्पादक भी अपनी स्वतन्त्रता का उपयोग लाभ हेतु उत्पादन करने के लिए करता है। वह उत्पादन-सम्बन्धी निश्चय करते समय अपने लाभ को सर्वाधिक महत्व देता है चाहे उसके निश्चयों द्वारा समाज की हानि क्यों न होती हो, अथवा साधनों का अधिकतम उपयुक्त उपयोग न होता हो। ऐसी परिस्थिति में उत्पादन की स्वतन्त्रताओं को नियन्त्रित करने से साधनों का समाज के अधिकतम हित के लिए उपयोग किया जा सकता है। इस प्रकार पूँजीवाद एवं स्वतन्त्र व्यापार व्यवस्था के अन्तर्गत जो उपभोग एवं उत्पादन की स्वतन्त्रताएँ व्यक्तियों को प्रदान की जाती हैं, वे वास्तव में एक छोटे से ही धनी वर्ग के लिए अधिक उपयोगी होती हैं और जनसमुदाय का बहुत बड़ा वर्ग बीमारी, निर्धनता, अज्ञानता, बेकारी तथा निरक्षरता का शिकार बना रहता है। इस वर्ग को इन पाँच भयानक राक्षसों से स्वतन्त्रता मिलना वाञ्छनीय है और इसके लिए नियोजित अर्थ-व्यवस्थाओं द्वारा पूँजीवादी उत्पादन एवं उपभोग-सम्बन्धी स्वतन्त्रताओं को नियन्त्रित करना उचित है।

(3) **इच्छित एवं अनिच्छित स्वतन्त्रता**—कुछ कार्य एवं वस्तुएँ ऐसी होती हैं जिनके सम्बन्ध में यदि स्वतन्त्रता को समाप्त कर दिया जाय तो उससे किसी प्रकार की हानि नहीं होती जैसे कार्य करने के घण्टों का नियमन, स्त्रियों एवं बच्चों का जोखिमपूर्ण कार्यों पर कार्य करने के लिए प्रतिबन्ध आदि। इस प्रकार के प्रतिबन्ध श्रमिकों की कार्य करने की स्वतन्त्रता को कुछ समय के लिए प्रतिबन्धित कर देते हैं, परन्तु स्वतन्त्रता प्रायः एक अनिच्छित स्वतन्त्रता होती है और इसके प्रतिबन्धित होने से श्रमिकों को कोई विशेष हानि नहीं होती। इस प्रकार की बहुत सी ऐसी स्वतन्त्रताएँ हैं जिनका जीवन में व्यक्तिगत रूप से अधिक महत्व नहीं होता और इनको प्रतिबन्धित करने से मूलभूत व्यक्तिगत स्वतन्त्रताओं पर कुठाराघात नहीं होता।

(4) **नकारात्मक एवं सकारात्मक स्वतन्त्रता**—चयन करने की बहुत सी स्वतन्त्रताएँ जनसमुदाय के बहुत बड़े वर्ग को केवल सैद्धान्तिक रूप में ही प्राप्त होती हैं और वह वास्तविकता से बहुत दूर रहती है, जैसे प्रत्येक व्यक्ति को अच्छा भोजन करने, अच्छे मकान में रहने, घूमने-फिरने आदि की स्वतन्त्रता है, परन्तु इस स्वतन्त्रता का वास्तविक लाभ उन्हीं व्यक्तियों को ही हो सकता है जो

पर्याप्त आर्थिक साधन भी रखते हैं। निर्धन-वर्ग के लिए यह स्वतन्त्रता नकारात्मक स्वतन्त्रता के समान है क्योंकि वह धन के अभाव में इनका कोई उपयोग नहीं कर सकता है।

स्वतन्त्रताओं के स्वरूप—विभिन्न प्रकार की स्वतन्त्रताओं के अन्तर को अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि स्वतन्त्र अथवा नियोजित अर्थ-व्यवस्था में अधिकतर स्वतन्त्रताएँ वास्तव में धनी-वर्ग के लिए ही उपलब्ध होती है और समाज का बहुत बड़ा भाग सिद्धान्त मात्र में ही उनका लाभ उठाता है। यदि समाज में वास्तविक एवं वांछनीय स्वतन्त्रताओं को जनसमुदाय के सभी वर्गों को प्रदान करना है तो आर्थिक नियोजन द्वारा समस्त नागरिकों को आर्थिक स्वतन्त्रता प्रदान की जाय, अर्थात समस्त नागरिकों की आय एवं अवसर की समानता का आयोजन किया जाय और यह आयोजन तभी सम्भव हो सकता है, जब धनी-वर्ग की स्वतन्त्रताओं पर प्रतिबन्ध लगाया जाय और समस्त समाज की अवांछनीय स्वतन्त्रताओं को प्रतिबन्धित किया जाय। आर्थिक नियोजन द्वारा इस प्रकार एक ओर, अवांछनीय स्वतन्त्रताओं का प्रतिबन्धित किया जाता है, दूसरी ओर, नकारात्मक स्वतन्त्रताओं को सकारात्मक या वास्तविक स्वतन्त्रताओं में परिवर्तित किया जाता है। आर्थिक नियोजन द्वारा चयन करने की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं। चयन करने के बहुत प्रकार हैं। इनके मुख्य रूपों को निम्न प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है

(1) सांस्कृतिक स्वतन्त्रता (Cultural Freedom),
(2) नागरिक स्वतन्त्रता (Civil Freedom),
(3) आर्थिक स्वतन्त्रता (Economic Freedom),
(4) राजनीतिक स्वतन्त्रता (Political Freedom)।

सामान्यत यह विचार किया जाता है कि नियोजित अर्थ-व्यवस्था में इन सभी प्रकार की स्वतन्त्रताओं को नियन्त्रित कर दिया गया है।

(1) **सांस्कृतिक स्वतन्त्रता**—इसके अन्तर्गत विचार व्यक्त करने तथा धर्म-सम्बन्धी स्वतन्त्रताएँ सम्मिलित होती हैं। सांस्कृतिक स्वतन्त्रता का आर्थिक नियोजन में कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। वास्तव में इस स्वतन्त्रता की उपस्थिति की मात्रा राजनीतिक गठन पर निर्भर रहती है। यह कहना भी उचित नहीं है कि सांस्कृतिक स्वतन्त्रता पर नियन्त्रण किये बिना आर्थिक नियोजन सफल नहीं हो सकता है। राज्य यदि चाहता है कि राष्ट्र में समान संस्कृति का अनुसरण हो जिससे आर्थिक नियोजन के कार्यक्रमों को सुलभतापूर्वक सचालित किया जा सके तो जनसमुदाय को एक विशेष संस्कृति का अनुसरण करने लिए बाध्य किया जा सकता है, परन्तु यह तभी सम्भव हो सकता है जब देश में प्रजातान्त्रिक सरकार न हो। प्रजातान्त्रिक राज्य में धर्म एवं विचार व्यक्त करने की स्वतन्त्रता पर सर्वथा रोक नहीं लगायी जा सकती है क्योंकि सरकार को सदैव जनसमुदाय की इच्छाओं को विचाराधीन करना होता है अन्यथा सरकारी सत्ता एक दल से दूसरे दल के हाथ में चली जाती है। तानाशाही राज्य में सांस्कृतिक स्वतन्त्रता को बड़ी मात्रा तक सीमित कर दिया जाता है। इस विवरण से यह स्पष्ट है कि सांस्कृतिक स्वतन्त्रता राजनीतिक संरचना से प्रभावित होती है न कि आर्थिक नियोजन के अनुसरण से।

(2) **नागरिक स्वतन्त्रता**—नागरिक स्वतन्त्रता के अन्तर्गत विभिन्न न्याय-सम्बन्धी एवं वैधानिक अधिकारों को सम्मिलित किया जाता है। यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से नियोजन एवं नागरिक स्वतन्त्रता में कोई विरोधाभास प्रतीत नहीं होता है परन्तु जब नियोजित विकास की सफलता के लिए अर्थ व्यवस्था में संरचनात्मक परिवर्तन किये जाते हैं और परम्परागत सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाओं तथा संगठनों के स्थान पर विकास के अनुरूप संस्थाएँ स्थापित की जाती है तो परम्परागत व्यवस्था से लाभान्वित होने वाला वर्ग इन संरचनात्मक परिवर्तनों का कठोर विरोध करता है और संविधान द्वारा प्रदत्त नागरिक स्वतन्त्रता एवं अपने न्याय-सम्बन्धी अधिकारों का उपयोग करके इन परिवर्तनों के क्रियान्वयन में अवरोध उत्पन्न करता है। इस परिस्थिति से निपटने के लिए नागरिक अधिकारों को प्रतिबन्धित करना अनिवार्य हो जाता है। इसके अतिरिक्त जनविरोधी

कार्यवाही एव आर्थिक अपराध करने वाला को नियन्त्रित करन के लिए नागरिक अधिकारो का सीमाकित किया जाता है। भारत मे आपातकाल मे काला धन अर्जित करने वालो एव तस्कर का व्यापार करने वालो के क्रिया-कलाप का नियन्त्रित करने के लिए आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम (MISA) का उपयोग किया गया जिसके अन्तर्गत नागरिको के कुछ मूलभूत अधिकारो को कुछ सीमा तक प्रतिबन्धित कर दिया गया। आपातकाल की समाप्ति के पश्चात भी यह महसूस किया गया कि आर्थिक अपराधो को रोकने के लिए सरकार के पास कुछ यथेच्छाकारी अधिकार होन चाहिए और इसीलिए सामान्य दण्ड सहिता मे MISA की कुछ व्यवस्थाओं को एकत्रित करन का विचार किया गया जिससे नागरिका की नागरिक स्वतन्त्रता पर अकुश रखने के लिए सरकार को स्थायी रूप मे अधिकार मिल जाये। परन्तु राजनीतिक विरोध के कारण सरकार ने इन अधिकारो को प्राप्त करने का इरादा छोड दिया है। वास्तव म विकास के क्रिया-कलाप के अनुरूप नागरिक अधिकारो को समायोजित करना आवश्यक होता है और जैसे-जैसे नियोजित विकास के अन्तर्गत आर्थिक एव सामाजिक परिस्थितिया बदलती हैं नागरिक की कुछ स्वतन्त्रताओ को सीमित कर दिया जाता है *जिससे सभी नागरिको को विकास का लाभ प्रदान किया जा सके।* नागरिक स्वतन्त्रता सत्ताधारी व्यक्तियो की विचारधाराओ पर निर्भर रहती है। एक निरकुश शासक (Dictator) सदैव नागरिक स्वतन्त्रता को सीमित करता है जबकि प्रजातान्त्रिक सरचना म नागरिक स्वतन्त्रता को विशेष महत्व दिया जाता है।

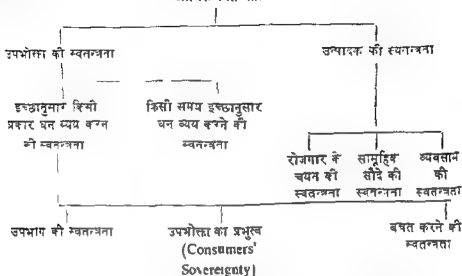
(3) **आर्थिक स्वतन्त्रता**—आर्थिक स्वतन्त्रता का अथ बडा विवादपूण रहा है। पूंजीवादी आर्थिक स्वतन्त्रता म उपभोक्ता का अपनी इच्छानुसार उपभोग की वस्तुएं क्रय करन की स्वतन्त्रता तथा उत्पादन को अपन निजी लाभ के आधार पर उत्पादन-काय करन की स्वतन्त्रता को सम्मिलित करते है। दूसरी ओर समाजवादी आर्थिक स्वतन्त्रता का अथ आर्थिक सुरक्षा बताते हैं। स्वतन्त्रता की आधुनिक विचारधारा बहुत कुछ भिन्न है। इसका अथ असुरक्षा इच्छा अस्वच्छता रोग, अज्ञान तथा शिथिलता से मुक्त है। स्वतन्त्रता की पुरानी विचारधारा सवथा भिन्न थी। इसका अथ इच्छानुसार चाहे जितने घण्टे काय करने की स्वतन्त्रता, बच्चो को कारखाने तथा खेता पर भेजने भूखे रहने योग्य ही मजदूरी देने, एकाधिकार-मूल्य लगाने लाभदायक मूल्य प्राप्त न होने पर खराब वस्तुओं को बेचने, स्वप्न से परे धन एकत्रित करना तथा इस धन का दूसरो को निर्धन एव दरिद्र बनाने के लिए उपयोग करने की स्वतन्त्रता समझा जाता था।[1]

(1) **उपभोक्ता की स्वतन्त्रता**—किसी भी देश मे वस्तुओ के वितरण के दो तरीके हो सकते है—प्रथम, वस्तुएँ खुले बाजार द्वारा माँग और पूर्ति के दबाव के आधार पर निर्धारित मूल्य पर रुपये के बदले मे उपभोक्ताओ को उपलब्ध करायी जा सकती है। दूसरा तरीका नियमित एव नियन्त्रित वितरण है, जिसे राशनिंग कहते है। इस तरीके का उपयोग अधिकतर वस्तुओ की न्यूनता होने पर ही किया जाता है। उपभोक्ताओ को वस्तुएँ निश्चित मात्रा म निश्चित मूल्य देने पर प्राप्त होती है। यद्यपि उपभोक्ता दोनो ही विधियो मे वस्तुओ को मुद्रा के बदले मे क्रय करता है परन्तु खुले बाजार की व्यवस्था मे उपभोक्ताओ को प्रत्येक वस्तु के क्रय करने की स्वतन्त्रता होती है, जबकि नियमित एव नियन्त्रित वितरण होने पर उपभोक्ता को वस्तुओ का चयन करने तथा वस्तु के सम्बन्ध म स्वतन्त्रता नही होती।

---

1 'The modern conception of freedom is very much different—it is the conception of freedom from insecurity, want, disease, squalor, ignorance and idleness. The old conception of freedom was quite different It referred to freedom to work as many hours as one chooses to send children to factories and farms, to pay starvation wages, to charge monopoly prices, to sell wretched goods when remunerative prices are not to be had, to amass undreamt wealth and to parade it shamelessly to despoil and beggar those one can' —G D. Karwal, *Economic Freedom and Economic Planning* p 152

उन्हें वे ही वस्तुएँ क्रय करनी होती हैं जो अधिकारी उपलब्ध कराते हैं तथा वे वस्तुएँ उपभोक्ताओं द्वारा सीमित मात्रा में ही क्रय की जा सकती हैं। वस्तुओं के वितरण की आर्थिक स्वतन्त्रता को निम्न प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है



वितरण की दोनों ही विधियाँ नियोजित एवं अनियोजित व्यवस्था में उपयोग की जाती हैं। नियोजित अर्थ-व्यवस्था में घरेलू बचत एवं विनियोजन बढ़ाने हेतु उपभोग को सीमित करने की आवश्यकता पड़ती है और सीमाएँ निर्धारित करने हेतु राशनिंग का उपयोग किया जाता है। प्राय राशनिंग का उपयोग न्यून पूर्ति वाली वस्तुओं को उचित मूल्य पर उपलब्ध कराने हेतु किया जाता है। इस प्रकार वस्तुओं के वितरण पर किये जाने वाले नियन्त्रण का उद्देश्य उपभोक्ता की स्वतन्त्रता को सीमित करना नहीं होता अपितु निर्धन-वर्ग को उचित मूल्य पर आवश्यक वस्तुएँ उपलब्ध कराना होता है। कुछ वस्तुओं के उपभोग को इसलिए भी सीमित किया जाता है कि वे वस्तुएँ जनस्वास्थ्य एवं राष्ट्रीय चरित्र के लिए हानिकारक होती हैं।

वास्तव में नियोजित अर्थ-व्यवस्था में वस्तुओं के उत्पादन एवं पूर्ति में वृद्धि करने का प्रयत्न किया जाता है और प्रारम्भिक काल में जो भी नियन्त्रण उपभोक्ता पर लगाये जाते हैं, उनका लक्ष्य शीघ्र ही उसे अधिक वस्तुएँ उपलब्ध कराना होता है। प्रत्यक्ष रूप में इसलिए यह कहना उचित नहीं है कि नियोजित व्यवस्था में उपभोक्ता की स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है। उपभोक्ता की स्वतन्त्रता को नियन्त्रित एवं सीमित किया जाय अथवा नहीं, इस प्रश्न का उत्तर आर्थिक नियोजन के प्रकार देश के राजनीतिक ढाँचे तथा उपभोक्ता-वस्तुओं की पूर्ति पर निर्भर रहता है।

(क) **उपभोग करने की स्वतन्त्रता**—नियोजित अर्थ-व्यवस्था में नागरिकों को उपभोग करने की असीमित स्वतन्त्रता प्रदान नहीं की जाती है। नियोजित विकास के लिए एक ओर, अधिक पूँजी निर्माण हेतु बचत को बढ़ाना आवश्यक होता है। बचत में वृद्धि करने के लिए, जहाँ नागरिकों को अधिक प्रतिफल (ब्याज) आदि का प्रलोभन दिया जाता है वहीं उन्हें उपभोग की आवश्यक वस्तुएँ सीमित मात्रा में ही प्रदान की जाती हैं। दूसरी ओर, विकास-विनियोजन द्वारा पूँजीगत एवं उत्पादक वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि की जाती है जिसके परिणामस्वरूप अर्थ-व्यवस्था में उपभोक्ता-वस्तुओं की पूर्ति में पर्याप्त वृद्धि नहीं हो पाती है जबकि नागरिकों की आय में वृद्धि होने के कारण माँग में तीव्र गति से वृद्धि होती है। इस परिस्थिति से निपटने के लिए उपभोक्ता-वस्तुओं के नियन्त्रित वितरण की व्यवस्था की जाती है जिसके परिणामस्वरूप नागरिक अपनी क्रय-शक्ति एवं इच्छानुसार वस्तुओं का क्रय नहीं कर पाते हैं। इस प्रकार यह दलील कुछ सीमा तक

सही मानी जा सकती है कि नियोजन के अन्तर्गत उपभोग-स्वतन्त्रता सीमांकित हो जाती है। परन्तु उपभोग-स्वतन्त्रता का सीमांकन केवल सम्पन्न-वर्ग पर ही लागू होता है क्योंकि उसके पास अधिक क्रय-शक्ति होते हुए भी वह इच्छानुसार वस्तुएँ क्रय नहीं कर पाता है जबकि निर्धन-वर्ग को इस सीमांकन से अधिक उपयोग करने की सुविधाएँ उपलब्ध होती हैं। वह कम क्रय-शक्ति पर अधिक वस्तुएँ (नियन्त्रित मूल्यों के कारण) उपभोग कर पाता है। नियोजित विकास के अन्तर्गत इस प्रकार निर्धन-वर्ग को उपभोग करने की इच्छा को अधिक क्रय-शक्ति उपलब्ध होती है और वह अपने उपभोग-स्तर को सुधारने में समर्थ होता है। नियोजन के द्वारा निर्धन-वर्ग की उपभोग-स्वतन्त्रता को वास्तविकता में परिणत कर दिया जाता है जो प्रतिस्पर्धी अर्थ-व्यवस्था में केवल भावनात्मक स्वतन्त्रता ही होती है।

(ख) उपभोक्ता का प्रभुत्व (Consumer's Sovereignty)—उपभोक्ता के प्रभुत्व का तात्पर्य यह है कि उत्पादन उपभोक्ता की माँग के अनुसार किया जाय। बाजार में बिक्री के लिए उपस्थित वस्तुओं में से उपभोक्ता अपने लिए वस्तुओं का चयन करता है। जिन वस्तुओं की माँग अधिक होती है, उत्पादक उनका उत्पादन अधिक मात्रा में करता है। वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाने पर मूल्य कम हो जाता है और उत्पादन कम होने पर मूल्य बढ़ जाता है। इसी प्रकार वस्तुओं की माँग बढ़ने पर मूल्य बढ़ता है और उत्पादन बढ़ाने के प्रयत्न किये जाते हैं। माँग कम होने पर उस वस्तु का मूल्य कम हो जाता है और उत्पादक का लाभ भी कम होने लगता है। ऐसी परिस्थिति में उत्पादक की उस वस्तु के उत्पादन में रुचि कम हो जाती है और उत्पादन गिरने लगता है। प्रतिस्पर्धीय अर्थ-व्यवस्था की इस अवस्था को उपभोक्ता का प्रभुत्व कहते हैं। नियोजित अर्थ-व्यवस्था में उत्पादन उपभोक्ता के चयन एवं माँग पर निर्भर नहीं होता है। नियोजन-अधिकारी प्राथमिकतानुसार यह निश्चय करता है कि किन-किन वस्तुओं का उत्पादन कितनी मात्रा में किया जाय? उपभोक्ता का प्रभुत्व तभी प्रभावशाली हो सकता है जब उसके पास पर्याप्त क्रय-शक्ति हो। किसी वस्तु की माँग करने के लिए पर्याप्त क्रय-शक्ति होना भी आवश्यक होता है। जब क्रय-शक्ति का संचय कुछ चुने हुए लोगों के हाथ में हो, तो अर्थ-व्यवस्था के एक बड़े भाग पर चुने हुए वर्ग का ही प्रभुत्व हो जायेगा। जनसाधारण, जिसके पास धन का अभाव है, न तो प्रभावशाली माँग प्रस्तुत कर सकेगा और न उनकी आवश्यकतानुसार उत्पादन ही किया जायेगा। ऐसी परिस्थिति में उपभोक्ता का प्रभुत्व तभी प्रभावशाली माना जा सकता है, जब समस्त समाज के पास क्रय-शक्ति का पर्याप्त संचय हो। जनसाधारण को क्रय-शक्ति उपलब्ध कराने हेतु ही आर्थिक नियोजन द्वारा धन, अवसर, आय आदि के समान वितरण का आयोजन किया जाता है। जनसाधारण के हाथों में अधिक क्रय-शक्ति पहुँचने से उसमें उत्पादन पर नियन्त्रण करने की क्षमता में वृद्धि होती है। फिर भी इतना कहना सर्वथा सत्य होगा कि आर्थिक नियोजन द्वारा पूँजीपति-वर्ग के प्रभुत्व को ठेस पहुँचती है और वह उत्पादन की क्रियाओं को प्रभावित करने में असमर्थ हो जाता है।

(ग) बचत करने की स्वतन्त्रता—बचत करने का मुख्य उद्देश्य भविष्य में अधिक उपभोग करने का आयोजन करना होता है। उपभोक्ता वर्तमान उपभोग को कम करके बचत करता है और उसका विनियोजन कर देता है, जिससे भविष्य में उसे ब्याज अथवा लाभांश की अतिरिक्त आय हो सके और वह अधिक उपभोग कर सके। नियोजित अर्थ-व्यवस्था में बचत को अत्यधिक प्रोत्साहन दिया जाता है और विनियोजन को उपयुक्त सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं। विनियोजन करने के पूर्व प्रत्येक व्यक्ति अपने विनियोजन की सुरक्षा चाहता है, जो दृढ़ अर्थ-व्यवस्था से ही सम्भव होती है। प्रतिस्पर्धीय अर्थ-व्यवस्था में, जहाँ उच्चावचन अत्यधिक होते हैं, विनियोजन को सुरक्षित नहीं कहा जा सकता है। नियोजित अर्थ-व्यवस्था में बचत एवं विनियोजन दोनों में सामंजस्य स्थापित किया जाता है और अर्थ-व्यवस्था को मन्दी एवं तेजी के दबाव से बचाया जाता है। ऐसी परिस्थिति में बचत करने की सुरक्षा भी उपलब्ध होती है।

(घ) धन व्यय करने की समय-सम्बन्धी स्वतन्त्रता—नियोजन के अन्तर्गत नागरिकों के

जीवन एव उपभोग स्तर का सुधारने के प्रयास किये जाते है और यह प्रयास वर्तमान त्याग की आधारशिला पर पनपते है। जो समाज वर्तमान मे जितना अधिक त्याग कर सकता है उतना ही अधिक लाभ उसे भविष्य म विकास द्वारा प्राप्त हो सकता है। यही कारण है कि नियोजन के अन्तर्गत नागरिको को अपनी आय के कुछ भाग का व्यय करने के समय को स्थगित करना होता है। यह व्यय स्थगन ही अर्थ व्यवस्था की बचत बनता है, जो विकास विनियोजन का आधार होता है। परन्तु जैसे-जैसे विकास आगे बढ़ता है, नागरिक स्थगित व्यय (अर्थात बचत) की सहायता से अधिक उपभोग करने मे समर्थ होते है। यह काम नागरिको को तभी मिल पाता है जबकि अर्थ-व्यवस्था म मूल स्तर मे लगभग स्थायित्व रहता है। इस प्रकार वन व्यय करने पर वर्तमान म जो अकुश लगाये जाते है वह नागरिको के भविष्य के उपभोग को सुधारने मे सहायक होते हैं।

(ii) **उत्पादक की स्वतन्त्रता– (अ) रोजगार के चयन की स्वतन्त्रता**—नियोजन के अन्तर्गत श्रमिको को किन्ही व्यवसायो मे कार्य करने के लिए आदेश दिया जा सकता है अथवा उनका प्रोत्साहित किया जा सकता है। आदेश द्वारा जो व्यवसायो मे रोजगार दिलाये जाते है, वे प्रभावशाली तो अवश्य होते है परन्तु रोजगार चयन करने की स्वतन्त्रता पर अकुश लग जाता है। प्रोत्साहन द्वारा किन्ही विशेष व्यवसायो मे रोजगार प्राप्त कराने से लोगो मे उस रोजगार के प्रति रुचि रहती है और रोजगार चयन करने की स्वतन्त्रता बनी रहती है। रोजगार चयन करने की स्वतन्त्रता को सीमित करने हेतु प्राय दो प्रकार के अकुश लगाये जाते है—आर्थिक एव वैधानिक। आर्थिक अकुशो के अन्तर्गत राज्य उन व्यवसायो को जिनमे रोजगार बढाना चाहता है, आर्थिक एव अन्य सहायता प्रदान करता है कच्चे माल को उपलब्ध कराता है, बिक्री आदि की सुविधाएँ प्रदान कराता है। इनके विपरीत व व्यवसाय, जिनमे रोजगार कम करने की आवश्यकता समझी जाय, उनको राज्य कोई विशेषताएं प्रदान नही करता है। वैधानिक अकुशो मे दो तत्व सम्मिलित होते है—प्रथम अपने व्यवसाय का चयन करने की स्वतन्त्रता पर वैधानिक अकुश और द्वितीय, किसी कार्य अथवा नौकरी का छोडने अथवा स्वीकार न करने पर वैधानिक अकुश। जब किसी व्यवसाय म लोगो की आवश्यकता हो और प्रोत्साहन द्वारा उस व्यवसाय मे लोग न आते हो तो वैधानिक अकुश द्वारा लोगो को उस व्यवसाय के रोजगार को स्वीकार कराया जाता है। ऐसी कठोर कार्य-वाही युद्धकाल मे ही आवश्यक होती है क्योकि प्रत्येक कार्य को शीघ्रातिशीघ्र करने की आवश्यकता होती है और प्रोत्साहन विधियो मे समय नष्ट नही किया जा सकता है।

आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत वास्तव मे रोजगार चयन करने की स्वतन्त्रता मे वृद्धि होती है परन्तु प्रत्यक्ष रूप मे इस स्वतन्त्रता को सीमाबद्ध कर दिया जाता है। नियोजित अर्थ व्यवस्था के अन्तर्गत उन व्यवसायो द्वारा नवीन श्रमिकों की भर्ती बन्द कर दी जाती है जिनमे पहले से ही श्रम का आधिक्य होता है। इस प्रकार लोगो को उस विशेष व्यवसाय अथवा कारखाने मे रोजगार प्राप्त करने की स्वतन्त्रता पर अकुश लग जाता है, परन्तु यह अकुश आर्थिक कठिनाइयो मे बचने के लिए लगाये जाते हैं। यदि ऐसे अकुश न लगाये जाये तो सम्पूर्ण रोजगार की स्थिति छिन्न भिन्न हो जायेगी। वास्तव मे नियोजित अर्थ व्यवस्था का लक्ष्य पूर्ण रोजगार की व्यवस्था करना होता है और नवीन रोजगार के अवसर बडी मात्रा मे उत्पन्न किये जाते है। इस प्रकार लोगो को रोजगार के एक बडे समूह मे से चयन करने की स्वतन्त्रता मिलती है। अर्थ-व्यवस्था के केवल एक बहुत छोटे क्षेत्र के लिए ही अकुश लगाये जाते है और शेष रोजगारो मे चयन करने के अवसरो मे अत्यधिक वृद्धि हो जाती है।

नियोजित अर्थ-व्यवस्था म रोजगार के कार्यालयों (Employment Exchanges) को विशेष स्थान दिया जाता है। समस्त रिक्त स्थानो की इन दफ्तरो को सूचना देना अनिवार्य होता है। ऐसी परिस्थिति म रिक्त स्थानो की सूचना अधिक से अधिक लोगो को मिल जाती है और वे रोजगार चयन करने के अधिकार का अधिक प्रभावशाली उपयोग कर सकते है। अनियोजित अर्थ-व्यवस्था मे प्राय भय बना रहता है कि एक रोजगार छोडने पर दूसरे रोजगार का मिलना कठिन होता है और

अल्प-विकसित राष्ट्रों के विकसित न होने का प्रमुख कारण अकुशल तान्त्रिकताओं का उपयोग है। यदि विकास-विनियोजन के अन्तर्गत तान्त्रिकताओं को यथावत् रखा जाता है तो समाज की आर्थिक एव सामाजिक सरचना सगठन, उत्पादन-विधियो, आदि मे परिवर्तन करना सम्भव नही होता और अर्थ-व्यवस्था मे उस गतिशीलता (Dynamics) का सचार नहीं होता है जो विकास का मूलाधार है। इसके अतिरिक्त श्रम-प्रधान तान्त्रिकताओं के निरन्तर उपयोग के परिणामस्वरूप समाज में ऐसे वातावरण को सुदृढता प्रदान होती है जो किसी परिवर्तन को स्वभावत स्वीकार नहीं करता है। विकास परिवर्तन का परिणाम होने के कारण उसके उपयुक्त वातावरण का विद्यमान होना आवश्यक होता है।

(आ) श्रम-प्रधान तान्त्रिकताओं का उपयोग करने पर पूँजी का अत्यधिक कम उपयोग करना सम्भव नही होता है क्योंकि इनके लिए उपरिव्यय-सुविधाओं (Overhead facilities) एव अन्य सामग्रियो की आवश्यकता पूंजी-प्रधान तान्त्रिकताओं के समान ही पडती है। उपरिव्यय-सुविधाओं मे लगने वाली पूँजी का अनुपात भी व्यवसायो मे लगने वाली पूंजी मे यदि जोड दिया जाय तो श्रम-प्रधान तान्त्रिकताओ को पूंजी की आवश्यकताएँ विशेष कम नही रहती है। इसके अतिरिक्त पूँजी-प्रधान तान्त्रिकताओं मे प्रारम्भिक अवस्था मे अधिक विनियोजन करना होता है परन्तु बाद मे इनकी सचालन-लागत एव इन पर होने वाले पूँजी-विनियोजन की मात्रा कम रहती है। श्रम-प्रधान तान्त्रिकताओ मे थोडी-थोडी पूँजी दीर्घकाल तक विनियोजित करते रहना पडता है।

(इ) श्रम-प्रधान तान्त्रिकताओ मे प्रारम्भिक अवस्था मे तो अधिक रोजगार प्रदान करने की क्षमता होती है परन्तु इनकी रोजगार प्रदान करने की क्षमता में भविष्य मे वृद्धि नही होती है। दूसरी ओर पूँजी-प्रधान तान्त्रिकताओ मे रोजगार प्रदान करने की सम्भावनाएँ अधिक होती है क्योंकि इनके द्वारा बडे पैमाने पर उत्पादन करने के लिए इनके सहायक उद्योगो एव व्यवसायो का विस्तार होता है जिनमे रोजगार के अतिरिक्त अवसर उदय होते है।

(ई) कुछ परियोजनाएँ ऐसी होती है जो आर्थिक प्रगति के लिए अनिवार्य होती है परन्तु पूँजी-प्रधान तान्त्रिकताओ के अन्तर्गत ही इनका सचालन हो सकता है। उदाहरणार्थ, प्राकृतिक साधनो, विशेषकर खनिज पदार्थो का विदोहन एव शोषण, इस्पात का निर्माण, खनिज तेल का शोधन, यातायात, सचार एव बन्दरगाहो आदि का विस्तार एव विकास पूँजी-प्रधान तान्त्रिकताओ के उपयोग द्वारा ही सम्भव हो सकते है। यह समस्त आयोजन आर्थिक प्रगति के अग होते है और इनकी व्यवस्था किये बिना प्रगति की प्रविधि को सुदृढ नही किया जा सकता।

(उ) समाज का वह वर्ग जो लाभ प्राप्त करता है, अपनी आय का अधिक पुर्नविनियोजन करने मे समर्थ एव उद्यत रहता है और जिस अर्थ-व्यवस्था की प्रगति के अन्तर्गत राष्ट्रीय आय का बडा भाग लाभ पाने वाले वर्ग को प्राप्त होता है, उसमे बचत, विनियोजन एव पूँजी-निर्माण अधिक होता है। दूसरी ओर, मजदूरी, वेतन एव लगान पाने वाला वर्ग अपनी आय-वृद्धि का अधिकाश भाग उपभोग कर लेता है और उत्पादक विनियोजन के लिए बचत करने म समर्थ नही होता है। श्रम-प्रधान तान्त्रिकताओ के उपयोग के फलस्वरूप जो राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि होती है, उसका बडा भाग श्रमिक-वर्ग को प्राप्त होता है क्योंकि व्यवसायो मे पूँजी की मात्रा कम और श्रम का परिमाण अधिक होता है। अधिक श्रम को रोजगार देने से राष्ट्रीय आय का वितरण श्रमिक-वर्ग के अनुकूल होता है। श्रमिक-वर्ग की आय बढने से बचत, विनियोजन एव पूँजी-निर्माण की दर मे पर्याप्त वृद्धि नही होती है और आर्थिक प्रगति की दर मे वृद्धि करना सम्भव नहीं होता है। इसके विपरीत पूँजी-प्रधान तान्त्रिकताओ का उपयोग करने पर लाभ का बडा भाग साहसी को मिलता है जो बचत एव विनियोजन-दर बढाकर आर्थिक प्रगति को गतिमान कर सकता है। अल्प-विकसित राष्ट्रों मे जनसख्या की वृद्धि तीव्र गति से होती है और इस परिस्थिति मे प्रति व्यक्ति आय, बचत एव विनियोजन बढाने के लिए यह आवश्यक होता है कि प्रारम्भिक विनियोजन इस प्रकार किया

जाय कि प्रति व्यक्ति उत्पादन मे शीघ्र ही अधिक वृद्धि हो सके। प्रति व्यक्ति उत्पादन मे पर्याप्त वृद्धि पूंजी प्रधान तान्त्रिकताओ द्वारा ही सम्भव हो सकती है।

(ऊ) अल्प विकसित राष्ट्रो मे तान्त्रिकताओ का चयन करने के लिए समय-घटक पर भी ध्यान देना आवश्यक होता है। परियोजनाओ की पूर्ति मे जो समय लगता है, वह भी विकास की गति पर प्रभाव डालता है। श्रम प्रधान तान्त्रिकताओ मे सरल उत्पादन विधियो एव यन्त्रो का उपयोग किया जाता है जिनकी स्थापना मे अधिक समय नही लगता और यह परियोजनाएँ अल्प काल मे ही उत्पादन प्रारम्भ कर देती है। दूसरी ओर पूंजी प्रधान तान्त्रिकताओं की स्थापना एव इसका निर्माण काल अधिक होता है और इनके द्वारा पूरी क्षमता का उत्पादन दीर्घ काल मे प्रारम्भ हो पाता है। यदि इन दोनो प्रकार की परियोजनाओ के द्वारा किये गये दीर्घकालीन उत्पादन की तुलना की जाय तो पूंजी प्रधान तान्त्रिकताओ का उत्पादन अत्यधिक होता है परन्तु अल्प काल मे जहाँ पूँजी-प्रधान तान्त्रिकताएँ राष्ट्र के उत्पादन मे लगभग शून्य के बराबर योगदान देती है, श्रम-प्रधान तान्त्रिकताओं का उत्पादन का परिमाण अधिक होता है। अल्प-विकसित राष्ट्रो को प्रारम्भिक अल्प काल मे पूंजी प्रधान तान्त्रिकताओं के उपयोग से बहुत सी वित्तीय कठिनाइयो का सामना करना पडता है क्योकि इन तान्त्रिकताओ मे देश मे उपलब्ध साधनो का बडा भाग एव विदेशो मे प्राप्त सहायता का विनियोजन हो जाता है जिससे रोजगार मे वृद्धि होती है। जनसाधारण की आय मे वृद्धि होने से उनके द्वारा उपभोग की अधिक वस्तुओं की माग की जाती है। परन्तु अल्प काल मे पूंजी प्रधान तान्त्रिकताओ द्वारा उत्पादन न किये जाने के कारण अर्थ व्यवस्था मे आय-वृद्धि के अनुरूप उत्पादन मे वृद्धि नही होती है जिसके परिणामस्वरूप मुद्रा स्फीति का प्रारम्भ होता है जो देश के विदेशी व्यापार शेष एव भुगतान शेष पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है। भारत भी इन परिस्थितियो मे गुजर रहा है। परन्तु जब दीर्घकालीन विकास का लक्ष्य सामने रखा जाय तो इन सक्रान्तिक (Transitional) कठिनाइयो को समाज का सहन करना ही होता है क्योकि पूंजी प्रधान तान्त्रिकताओ की अनुपस्थिति मे विकास को दीर्घकालीन जीवन प्रदान करना सम्भव नही हो सकता है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि योजना अधिकारी को समस्त बातों पर विचार करके तान्त्रिकताओं का चयन करना होता है। जिन क्षेत्रो मे पूंजी एव श्रम प्रधान तान्त्रिकताओ का वैकल्पिक उपयोग हो सकता हो उनमे रोजगार की स्थिति, पूंजी की उपलब्धि तथा लक्षित विकास की गति को ध्यान मे रखकर श्रम प्रधान तान्त्रिकताओ को प्राथमिकता दी जाती है परन्तु इन श्रम प्रधान तान्त्रिकताओ के सम्बन्ध मे यह भी निर्णय करना होता है कि इन्हे अर्थ-व्यवस्था मे स्थायी स्थान दिया जायगा अथवा इनका महत्व केवल उस मध्य काल तक सीमित रहेगा जब तक अर्थ व्यवस्था प्रारम्भिक विकास की अवस्था मे गुजरती है।

(ए) **उपभोग एव विनियोजन सम्बन्धी प्राथमिकताएँ**—प्रजातान्त्रिक समाज मे विनियोजन तथा उपभोग मे प्राथमिकता निर्धारित करना सबसे कठिन होता है। जनसमुदाय सदैव वर्तमान सुविधाओ को महत्व देता है जबकि नियोजन अधिकारी भविष्यगत हित को अधिक महत्व देता है। इसीलिए वह अधिक साधनो को भविष्यगत उपभोग के लिए विनियोजित करना चाहता है। भविष्यगत उपभोग का आयोजन करने के लिए देश मे आधारभूत उत्पादन एवं पूंजीगत वस्तुओं के उद्योगो, कच्चे माल के निर्माण से सम्बन्धित उद्योगो तथा उपरिव्यय सुविधाओ के विस्तार से सम्बन्धित व्यवसायो की स्थापना विकास एव विस्तार पर अधिक विनियोजन करने की आवश्यकता होती है। विकास विनियोजन का बडा भाग जब इन आधारभूत उद्योगो को चला जाता है तो उपभोक्ता-वस्तुओ के उद्योगो के उत्पादन का विस्तार करने के लिए अल्प काल मे आवश्यक साधन प्रदान करना सम्भव नहीं होता है। इस प्रकार एक ओर आधारभूत उद्योगो मे अधिक विनियोजन करने हेतु जन-साधारण को अधिक बचत करने को प्रोत्साहित एव विवश किया जाता है और दूसरी ओर, उन्हें आवश्यकतानुसार पर्याप्त उपभोक्ता वस्तुएँ प्रदान नहीं की जाती है जिसके परिणामस्वरूप विकास

की प्रारम्भिक अवस्था मे लोगो के जीवन-स्तर मे और कमी आ सकती है। वर्तमान जीवन-स्तर एव उपभोग-स्तर मे कितनी कमी करना सम्भव है, यह राजनीतिक एव सामाजिक वातावरण पर निर्भर रहता है। नियोजन-अधिकारी को योजना के लक्ष्यो के अनुरूप उपभोक्ता अथवा उत्पादक उद्योगो को प्राथमिकता प्रदान करनी होती है। प्राय अनिवार्यता की उपभोक्ता-वस्तुओ के उत्पादन मे वृद्धि करने के लिए अधिक प्राथमिकता प्रदान करनी पडती है। अनिवार्य वस्तुओ के उत्पादन मे पर्याप्त वृद्धि करने के लिए भी तान्त्रिकताओ मे सुधार करना होता है और यह सुधार पूँजीगत विनियोजन द्वारा ही सम्भव हो सकता है।

(ड) **उद्योग एव कृषि-सम्बन्धी प्राथमिकताएँ**—प्राय सभी अल्प-विकसित राष्ट्रो मे कृषि एक प्रमुख व्यवसाय है और इनकी अधिकाश जनसख्या भूमि से ही अपना जीविकोपार्जन करती है। इसका मुख्य कारण यह है कि अल्प-विकसित राष्ट्रो मे कृषि के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रो का पर्याप्त विकास नही होता है। जनसमुदाय को अपने जीवन-निर्वाह के लिए कृषि के अतिरिक्त अन्य व्यवसायो मे रोजगार के साधन उपलब्ध नही होते। ऐसी परिस्थिति मे आर्थिक विकास का समारम्भ करने के लिए औद्योगिक तथा कृषि के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रो मे रोजगार के अवसरो का उत्पन्न करना आवश्यक होता है जिसमे श्रम को अन्यत्र रोजगार दिया जा सके। इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि कृषि क्षेत्र के उत्पादन मे भी पर्याप्त वृद्धि हो। इस हेतु कृषि मे लगे श्रमिको की उत्पादन-शक्ति मे वृद्धि करना और कृषि-विधियो म आवश्यक सुधार एव कृषि-व्यवसाय का पुनर्सगठन वाछनीय होता है। कृषि-उत्पादन मे इतनी वृद्धि करना आवश्यक होगा जिससे कृषको के जीवन-स्तर मे उन्नति के साथ-साथ अन्य व्यवसायो मे लगे व्यक्तियो को पर्याप्त खाद्य एव अन्य कृषि-पदार्थ प्राप्त होते रहे तथा निर्यात-योग्य कृषि-उत्पादन का निर्यात करके पूँजीगत वस्तुओ के आयात हेतु आवश्यक विदेशी मुद्रा अर्जित की जा सके।

कृषि-क्षेत्र मे अदृश्य बेरोजगारी की समस्या भी विद्यमान रहती है। अदृश्य बेरोजगारो मे श्रम-शक्ति का वह भाग सम्मिलित होता है जो प्रत्यक्ष रूप से तो बेरोजगार नही होता परन्तु उसका सीमान्त उत्पादन शून्य के बराबर होता है। यदि ऐसी श्रम-शक्ति को कृषि-क्षेत्र से हटाकर अन्यत्र क्षेत्रो मे लगा दिया जाय तो कृषि-क्षेत्र के उत्पादन पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नही पडता है। अदृश्य बेरोजगार श्रम कृषि-क्षेत्र मे इसलिए लगा रहता है क्योकि इस अन्य क्षेत्रो मे रोजगार उपलब्ध नही होता है। यही कारण है कि अदृश्य बेरोजगारी का पता तभी चलता है जब उसके उत्पादक उपयोग का प्रयत्न किया जाता है। यह एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र मे मात्रा तथा उपयोगिता मे भिन्न होता है। लैटिन अमरीकी राष्ट्र मे मौसमी बेरोजगारी की समस्या है। यदि इन राष्ट्रो मे कृषि-क्षेत्र से स्थायी रूप से पृथक् कर कुछ श्रम को अन्य क्षेत्रो मे लगा दिया जाय तो कृषि के उत्पादन मे कमी हो जायगी। ऐसी स्थिति मे राष्ट्र का औद्योगिक विकास कृषि-क्षेत्र से श्रमिको को हटाने के पूर्व कृषि-उत्पादन मे वृद्धि द्वारा सम्भव है। इसके सर्वथा विपरीत पूर्वी यूरोप, मध्य-पूर्व तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया तथा सुदूर-पूर्व मे कृषिक्षेत्र मे श्रम का आधिक्य है और आर्थिक विकास हेतु इस अधिक श्रम को उत्पादक उपयोग मे लाना आवश्यक होगा। इन राष्ट्रो मे कृषि के क्षेत्र से श्रम का हटाने से उत्पादन पर कोई विशेष प्रभाव नही पडता है। कुछ राष्ट्रो मे श्रमाधिक्य को कृषि से पृथक् किये जाने पर कृषि-उत्पादन मे वृद्धि होने की सम्भावना की जा सकती है। इन राष्ट्रो की समस्या को निम्नरूपेण समझा जा सकता है

(अ) कृषि क्षेत्र के अतिरिक्त श्रम को लाभप्रद रोजगार मे लगाना जिससे यह श्रम विकास मे सहायक सिद्ध हो।

(आ) श्रमिको को अन्य व्यवसायो मे कार्य करने के लिए प्रोत्साहित अथवा विवश करना तथा उनको सगठित करके उनके प्रशिक्षण का प्रबन्ध करना जिसमे उनके द्वारा अन्य क्षेत्रो मे अधिकतम उत्पादन हो सके।

(इ) अतिरिक्त श्रम के कृषि से पृथक् हो जाने के कारण शेष कृषको की आय तथा जीवन-

स्तर म वृद्धि हो जाती है और वे कृषि उत्पादन का अधिक तथा अच्छा भाग स्वय उपभाग करना चाहते है। नियाजन अधिकारिया का यह आयाजन करना आवश्यक है कि कृषि के क्षेत्र से पर्याप्त मात्रा मे कृषि-उत्पादन अन्य क्षेत्रा के उपभाग क लिए उपलब्ध हा सके।

इन राष्ट्रा म कृषि से पृथक किय गय अतिरिक्त श्रम का कम पूँजी विनियोजन वाले व्यवसायों मे काय मिलना चाहिए क्योकि अल्प विकसित राष्ट्रो म पूँजी का अत्यन्त अभाव होता है और उपलब्ध साधनों से कृषि का भी पर्याप्त विकास किया जाना आवश्यक होता है। इस प्रकार ऐसे उद्योगो की स्थापना की जानी चाहिए जिनम पूजीगत सामग्री का कम तथा साधारण विधियों का अधिक उपयोग हो। रूस म भी प्रारम्भिक अवस्था म प्राचीन औजारा से ही औद्योगिक विकास का समारम्भ किया गया था और अधिक श्रम लगन वाले उद्योगा की स्थापना की गयी थी। ठीक इसी प्रकार प्रत्यक अल्प विकसित राष्ट्र शनै शनै इस मध्यम अवस्था से निकल कर पूँजी लगने वाले उद्योगों की स्थापना कर सकता है।

यदि प्रारम्भिक काल म ही वृहद उद्योगा की स्थापना को प्राथमिकता दी जानी है ता कृषि के क्षेत्र से हटाय गय अतिरिक्त श्रम का निपुण (Skilled) तथा अर्द्ध निपुण (Semi skilled) श्रम म इतन शीघ्र परिवर्तित किया जाना सम्भव नहीं होता है। साथ ही, दृढ औद्योगिक आधार की स्थापना के लिए पूजीगत वस्तुओ की आवश्यकता हाती है और इन पूँजीगत वस्तुओ के निर्माण के लिए भी अन्य पूँजीगत वस्तुओ की आवश्यकता हाती है। किसी भी अल्प-विकसित राष्ट्र मे पूँजीगत वस्तुओ के उद्योग इतने विकसित नहा हाते और न अल्प काल मे उनका इतना विकास ही किया जा सकता है कि वे राष्ट्र का औद्योगीकरण करने के लिए आवश्यक पूँजीगत सामग्री प्रदान कर सकें। ऐसी परिस्थिति म पूजीगत सामग्री का आयात करके ही औद्योगिक उत्थान सम्भव हो सकता है। पूजीगत सामग्री क आयात का शासन करने के लिए कृषि उत्पादन मे पर्याप्त वृद्धि होनी चाहिए जिसके निर्यात द्वारा आवश्यकतानुकूल वैदेशिक मुद्रा अर्जित की जा सके। इसके साथ ही निपुण तथा अर्द्ध निपुण श्रमिकों को अधिक पारिश्रमिक दिया जाता है, अत उनकी उपभोग-आवश्यकताओं म भी वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार औद्योगिक विकास के लिए कृषि का इतना विकास होना आवश्यक होगा कि उसके द्वारा विदेशी मुद्रा पर्याप्त मात्रा मे अर्जित की जा सके तथा कृषि के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रा म लगे अन्य श्रमिका को आवश्यक उपभोग सामग्री उपलब्ध हो सके। विलासिता की वस्तुओ के आयात को प्रतिबन्धित करके तथा कलात्मक वस्तुओ के निर्यात से पूँजीगत सामग्री का आयात कुछ सीमा तक सम्भव हो सकता है।

दूसरी ओर ऐसे राष्ट्र म जहाँ वर्ष म अतिरिक्त श्रम केवल कुछ ही समय के लिए बेकार रहता हो वहा लाभप्रद रोजगार का आयोजन करने के लिए स्थानीय रोजगार के अवसरों मे वृद्धि करना आवश्यक होगा। उनको भूमि म स्थायीरूपण पृथक नही किया जा सकता क्योंकि उनके कृषि म हटाये जाने पर कृषि उत्पादन म कमी होन की सम्भावना रहती है। ग्रामीण क्षेत्र के आर्थिक विकास की योजनाओ म इस अतिरिक्त श्रम को काय देना उचित होगा। छोटी छोटी सिचाई योजनाओ दलदली भूमि को कृषि याग्य बनाने सहायक मार्गों का निर्माण करने अच्छे कृषि-औजारों का निर्माण करने पथ जन का प्रबन्ध करने आदि जैसी कम पूजी की आवश्यकता वाली योजनाओं म अतिरिक्त श्रम का सुविधापूर्वक रोजगार दिया जा सकता है। इस प्रकार इन कार्यक्रमो को अधिक प्राथमिकता देना आवश्यक है। ग्रामीण तथा गृह उद्योग का विकास भी मौसमी तथा अदृश्य बेरोजगारी को लाभप्रद काय दिलाने म सहायक होता है। इन उद्योगो के विकास हेतु तान्त्रिक प्रशिक्षण इनके उत्पादन का प्रमापीकरण (Standardization) कच्चे माल की सुगम पूर्ति अल्पकालीन साख का प्रबन्ध आदि का आयोजन करना आवश्यक होता है। यदि ग्रामीण गृह तथा लघु उद्योगो के साथ वृहद उद्योगा का विकास किया जाता है तो इन दोनो म सामजस्य स्थापित किया जाना चाहिए। दोनो का इस प्रकार नियन्त्रित एव सगठित किया जाय कि वे परस्पर पूरक का काय करें प्रतिस्पर्धा का नहीं। लघु तथा ग्रामीण उद्योगो का स्थायीरूप म क्षेत्र निश्चित करके अथवा कारखानो के

उत्पादन पर कर लगा कर सरक्षण देने से अधिक लाभ नही होता है क्योकि इस प्रकार की नीतियो मे वस्तुओ की लागत मे वृद्धि होती है और स्थायी पूँजी के पूर्णतम उपयोग मे बाधाएँ आ जाती है। ऐसे गृह उद्योगो का स्थायी तथा स्वतन्त्र विकास किया जा सकता है जिनकी उत्पादन-लागत कारखानों की उसी प्रकार की वस्तुओ की उत्पादन-लागत से अत्यधिक न हो। इस प्रकार एक राष्ट्र मे लघु तथा वृहद दोनों प्रकार के उद्योगो का समानान्तर विकास किया जा सकता है।

वास्तव मे औद्योगिक तथा कृषि-विकास मे चुनाव करने का कोई प्रश्न नही होना चाहिए क्योकि दोनो के समानान्तर विकास द्वारा ही आर्थिक विकास की विधि का प्रारम्भ हो सकता है, परन्तु उन राष्ट्रों मे जहाँ श्रम की न्यूनता है, औद्योगीकरण कृषि-विकास द्वारा ही सम्भव है। दूसरी ओर, उन राष्ट्रो मे, जहाँ ग्रामीण जनसख्या अधिक हो, कृषि-विकास हेतु उद्योगों का उत्थान करना आवश्यक होगा। जहाँ कृषि-व्यवसाय मे श्रम का आधिक्य और पूँजीगत साधनो की न्यूनता हो, वहाँ अधिक श्रम का उपयोग करने वाली योजनाओ को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। इसके विपरीत जिन अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों मे श्रम की कमी होती है, उनमे ऐसी योजनाओ को प्राथमिकता प्राप्त होनी हैं, जिनमे श्रम की तुलना मे पूँजी की अधिक आवश्यकता होती है। इस प्रकार श्रम की उपलब्धि के आधार पर ही योजनाओं की प्राथमिकता निश्चित की जा सकती है (यदि अन्य सभी बातें समान रहे) परन्तु साधारणत अन्य सभी बातें कभी समान नही रहती, इसलिए प्रत्येक योजना की प्राथमिकता विकास-कार्यक्रम के उद्देश्यो के आधार पर ही निश्चित की जाती है। कुछ योजनाएँ ऐसी होती है जिनमे पूँजी की अधिक आवश्यकता होते हुए भी उनको प्राथमिकता दी जाती है, जैसे शक्ति-उत्पादन केन्द्र अथवा विशेष सुविधा प्राप्त कोई राष्ट्रीय उद्योग जैसे पाकिस्तान का जट उद्योग।

कुछ योजनाएँ ऐसी होती है जिनमे पूँजी तथा श्रम के अनुपात में कोई परिवर्तन करना नियोजक की शक्ति के परे होना है। उदाहरणार्थ, लोहा तथा इस्पात उद्योग। अन्य कतिपय योजनाएँ ऐसी हैं जिनमे पूँजी व श्रम के अनुपात मे नियोजक परिवर्तन कर सकता है, जैसे बाँध-निर्माण, सिचाई-योजनाएँ, मार्ग-निर्माण आदि। इन दोनो प्रकार की योजनाओ मे से चयन करते समय नियोजक उनकी एकमात्र श्रम उपयोग करने की शक्ति के आधार पर ही निश्चय कर सकता। यद्यपि लोहा तथा इस्पात उद्योग मे पूँजी की अधिक आवश्यकता होती है, किन्तु यह शीघ्र औद्योगीकरण का आधारस्तम्भ है। इसकी तुलना मे उपभोग की वस्तुओ के उद्योगों को विकसित करना किसी भी दृष्टि से बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं, जिनमे अल्प काल मे अधिक श्रम का उपयोग और पूँजी की कम आवश्यकता होती है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि उद्योगो तथा कृषि का समानान्तर विकास आवश्यक होता है और यह विभिन्न राष्ट्रों की परिस्थितियों पर निर्भर होता है कि कृषि-विकास से औद्योगिक विकास में सहायता मिले, अथवा इसके विपरीत अर्थात् औद्योगिक विकास से कृषि-विकास मे सहायता मिले। प्रश्न केवल क्रम का है, अर्थात् सर्वप्रथम उद्योगो का विकास किया जाय अथवा कृषि का? भारतवर्ष जैसे कृषि-प्रधान देश मे, जहाँ न्यून उत्पादन, कृषि मे अधिक श्रम, बेरोजगारी, खाद्यान्नों का अभाव आदि आधारभूत समस्याएँ है, हम उपर्युक्त विचारधाराओ के आधार पर ही प्राथमिकता निश्चित कर सकते हैं। नियोजन-अधिकारियो को एक ओर, पर्याप्त खाद्यान्नो की पूर्ति का प्रबन्ध करना होता है और दूसरी ओर, अतिरिक्त कृषि-श्रम तथा शिक्षित बेरोजगारो को लाभप्रद रोजगार का भी आयोजन करना होता है। अधिक रोजगार के अवसरो का प्रबन्ध करने के लिए उद्योगो तथा कृषि के अतिरिक्त अन्य व्यवसायो का उत्पादन करना आवश्यक होता है, परन्तु ऐसे उद्योगो को प्राथमिकता दिया जाना आवश्यक होगा जिनमे अधिकतर श्रम का उपयोग होता है। गृह, लघु तथा ग्रामीण उद्योगो के विकास को इस प्रकार प्राथमिकता दी जा सकती है परन्तु राष्ट्र के विकास मे क्या इन उद्योगों को स्थायी स्थान दिया जाना चाहिए अथवा इनके विकास को केवल तत्कालीन समस्याओ के हल के लिए अस्थायी स्थान प्राप्त होना चाहिए? इनके विकास मे कृषि-

क्षेत्र के अधिक श्रम को कार्य प्राप्त हो सकता है तथा ग्रामीण क्षेत्र मे जीवन-स्तर में वृद्धि हो सकती है। इसके साथ ही ग्रामीण क्षेत्र मे कर-दय तथा बचत-क्षमता म वृद्धि होगी और अधिक पूंजी-निर्माण मे सहायता प्राप्त हो सकती है। लघु और कुटीर उद्योगो द्वारा शीघ्रता से उपभोग के स्तर मे वृद्धि भी सम्भव हो सकती है। इनके द्वारा मुद्रा-स्फीति के दबाव को भी कम किया जा सकता है। इस प्रकार लघु तथा कुटीर-उद्योगों मे विकास द्वारा वृहद् उद्योगो की स्थापना एव उत्थान हेतु आवश्यक अर्थ-साधन प्राप्त हो सकते हैं।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो (Classical Economists) ने औद्योगिक विकास के तीन क्रम निश्चित किये हैं—(1) प्राथमिक कच्चे माल का उत्पादन, (2) उनका उपभोग की वस्तुओ मे परिवर्तन, (3) पूंजीगत सामग्री का उत्पादन। अन्तर्राष्ट्रीय विकास बैंक (I. B R D.) तथा अमरीकी सरकार ने भी श्रीलंका मिश्र, कालम्बिया तथा अन्य अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों के छोटे उद्योगों को प्राथमिकता प्रदान करने का सुझाव दिया है, परन्तु आधुनिक युग मे केवल आर्थिक विचार-धाराओ के आधार पर ही आर्थिक योजनाओं का निर्माण नही होता। योजनाओं मे प्राथमिकता निश्चित करते समय राजनीतिक तथा सामाजिक विचारधाराओं को भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता है। लघु उद्योगों के विकास को प्राथमिकता मिलना तब अधिक महत्वपूर्ण है जब राष्ट्र की अर्थ-व्यवस्था मे निजी साहस को विशेष स्थान प्राप्त होता है और राज्य केवल इनको सहायता करने, प्रशिक्षण, सरक्षण तथा आधारभूत सेवाओ के आयोजन करने तक ही अपना कार्यक्षेत्र सीमित रखता है, परन्तु निजी क्षेत्र (Private Sector) को विशेष स्थान देने से नियोजन की सफलता सन्देह-जनक हो जाती है क्योकि निजी क्षेत्र सदैव अपने व्यक्तिगत लाभ को अधिक महत्व देता है। जब राज्य औद्योगिक क्षेत्र मे सक्रिय भाग लेता है और राजकीय क्षेत्र मे विकास तथा वृद्धि को विशेष महत्व दिया जाता है, तब वृहद् उद्योगो के विकास को प्राथमिकता दी जा सकती है। वृहद् उद्योगों को प्राथमिकता देने के पूर्व यह भी देख लेना चाहिए कि राज्य की स्वय की नियोजन-सम्बन्धी शक्तियाँ तथा अर्थ-व्यवस्था मे निजी क्षेत्र को कम किये जाने पर उद्भूत विरोध को वहन करने की शक्ति कितनी है?

वृहद् उद्योगो मे कृषि-क्षेत्र के अधिक श्रम को कार्य देने हेतु कृषि का अधिकतम विकास करना आवश्यक होगा क्योकि कृषि-उत्पादन से बढती हुई जनसख्या की खाद्यान्न आवश्यकताओं की पूर्ति होना आवश्यक ही नही अनिवार्य है अन्यथा विदेशो से खाद्यान्न आयात करने की आवश्यकता होगी और विदेशो से पूँजीगत सामग्री के आयात मे बाधा पड जायेगी। इसके साथ कृषि द्वारा वृहद् उद्योगो के कच्चे माल की पूर्ति भी होनी चाहिए। जब राष्ट्र मे खाद्यान्नो की न्यूनता हो तो वृहद् उद्योगो की स्थापनार्थ पूँजीगत सामग्री विदेशी ऋण द्वारा ही आयात की जा सकती है जिसके भुग-तान का भार भी अल्पकाल मे कृषि पर ही पडना सम्भव है। भारत जैसे प्राचीन राष्ट्र मे कृषि-उत्पादन मे वृद्धि हेतु रासायनिक उर्वरक, वैज्ञानिक नवीन कृषि-विधियाँ तथा अन्य अच्छे औजारो की आवश्यकता होती है। इन सभी की पूर्ति के लिए उद्योगो की स्थापना आवश्यक है। इस प्रकार कृषि तथा उद्योगो के विकास मे इतना पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध है कि किसी भी एक का अन्य की सहायता की अनुपस्थिति मे विकास असम्भव है। पूर्णत आर्थिक विचारधाराओ के आधार पर भारत जैसे प्राचीन राष्ट्र मे कृषि-विकास को प्राथमिकता मिलनी चाहिए।

(च) सामाजिक प्राथमिकताएँ—नियोजन-अधिकारियो के योजना के कार्यक्रम निश्चित करते समय यह निर्धारण करना भी आवश्यक होगा कि साधनो का कितना भाग उत्पादक सामग्री मे तथा कितना भाग जनसमुदाय पर विनियोजित किया जाना चाहिए। उत्पादक सामग्री उसी समय हितकर हो सकती है, जब जनसमुदाय को स्वास्थ्य, शिक्षा एव गृह-सम्बन्धी सुविधाएँ भी आयोजन द्वारा प्रदान की जायें। अधिकतर यह विचार किया जाता है कि जनसमुदाय के लिए आधारभूत सुविधाओ का आयोजन करने के लिए जो विनियोजन किया जाता है, वह अनुत्पादक

होता है, परन्तु प्रोफेसर शुल्ज (Prof Schultz), जो लैटिन अमरीकी राष्ट्र के विशेषज्ञ समझे जाते है, के विचार मे जनसमुदाय को उत्पादन का एक घटक समझकर उनकी आधारभूत सुविधाओ का आयोजन करना चाहिए। जनसमुदाय का जीवन-स्तर सुधारने से जनसमुदाय की कार्यकुशलता मे वृद्धि होती है तथा इन सुविधाओ मे विनियोजित राशि से अधिक लाभ होता है, जितना पूंजी गत सामग्री मे विनियोजन द्वारा प्राप्त नही हो सकता। जब तक जनसमुदाय की उत्पादन शक्ति मे पर्याप्त वृद्धि नही होती, कोई भी आर्थिक नियोजन विकासपूर्ण तथा सफल नही कहा जा सकता। भारत जैसे राष्ट्र म पिछडी जातियो के लोगो का सामाजिक सुधार करना आवश्यक होता है। इस प्रकार सामाजिक व्यवस्था को उचित स्थान मिलना आवश्यक होता है।

7

लागत-लाभ-विश्लेषण एवं परियोजनाओं का चयन
[COST-BENEFIT ANALYSIS AND PROJECT EVALUATION]

लागत लाभ विश्लेषण-विधि परियोजनाओं की लागत एवं लाभ के विश्लेषण की एक ऐसी विधि है जिसके आधार पर विनियोजन का अधिकतम न्यायोचित एवं सर्वाधिक सामाजिक हित हेतु आवंटन करना सम्भव हो सकता है। इस विश्लेषण के अन्तर्गत परियोजनाओं की किन्हीं विश्वसनीय आधारों पर लागत एवं लाभ का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है और जिन परियोजनाओं में लाभ एवं लागत का अन्तर सर्वाधिक होता है उन पर विनियोजन करने का निर्णय किया जाता है। आधुनिक युग में लागत लाभ-विश्लेषण का व्यापक उपयोग किया जाने लगा है। संयुक्त राज्य अमेरिका में सिंचाई एवं परिवहन-परियोजनाओं, औद्योगिक सैनिक स्वास्थ्य एवं शिक्षा-सम्बन्धी परियोजनाओं पर यह प्रविधि लागू की गयी है। ब्रिटेन में भी इस प्रकार के विश्लेषण पर प्रयोग किये गये है। विकासशील राष्ट्रों में पूंजी की कमी के कारण लागत-लाभ-विश्लेषण का महत्व बढ़ता जा रहा है। परियोजनाओं का चयन करने के लिए यह विश्लेषण सामाजिक एवं आर्थिक दोनों ही आधारों पर किया जाता है। जब विकास-परियोजनाओं का संचालन सरकारी क्षेत्र में किया जाता है तो लागत-लाभ विश्लेषण और भी आवश्यक होता है क्योंकि सार्वजनिक वित्त का अव्यक्तिगत उपयोग होता है और नियोजन-अधिकारियों को जनसाधारण एवं उनके प्रतिनिधियों के अपने क्रिया-कलाप का उत्तरदायित्वपूर्ण लेखा-जोखा देना होता है। निजी विनियोजक भी अपने विनियोजन-निर्णयों को अधिकतम लाभप्रद बनाने के लिए प्रत्येक विनियोजन-परियोजना की लागत एवं लाभ का सूक्ष्म विश्लेषण करना आवश्यक समझते हैं।

एक प्रतिस्पर्धी अर्थ-व्यवस्था में लागत-लाभ-विश्लेषण मूल्य-यान्त्रिकता के आधार पर किया जाता है। लागत ज्ञात करने के लिए किसी विशिष्ट परियोजना में उपयोग किये जाने वाले श्रम पूंजी भूमि एवं साहसिक योग्यता के मौद्रिक मूल्य का उपयोग किया जाता है। दूसरी ओर लाभ ज्ञात करने के लिए उस परियोजना द्वारा उत्पादित वस्तुओं एवं सेवाओं के उन मौद्रिक मूल्य के आधार पर किया जाता है जो इनके लिए उपभोक्ता भुगतान करने के लिए तैयार रहते हैं। परियोजनाओं की लागत ज्ञात करने के लिए उन उत्पादन के साधनों की (जिनका इस परियोजना के लिए उपयोग होता है) की अवसर लागत का भी उपयोग किया जाता है। अवसर लागत से तात्पर्य उस लाभ अथवा उत्पादन से होता है जो इन उत्पादन के साधनों को अन्य किसी परियोजना के उपयोग से प्राप्त हो सकता है। लागत-लाभ-विश्लेषण की यह विधि निजी अथवा प्रतिस्पर्धी अर्थ-व्यवस्था के लिए तो उपयुक्त होती है परन्तु नियोजित अर्थ-व्यवस्था में जहां सार्वजनिक क्षेत्र में अधिकतर परियोजनाओं का संचालन किया जाता है केवल मूल्य यान्त्रिकता के आधार पर ही लागत-लाभ-विश्लेषण नहीं किया जा सकता है क्योंकि सार्वजनिक परियोजनाओं द्वारा जो वस्तुएँ एवं सेवाएँ उत्पादित की जाती हैं उनका प्रत्यक्ष रूप से मूल्य के आधार पर प्रदान नहीं किया जाता। सड़क, स्कूल, स्वास्थ्य सेवाएँ सभी जनोपयोगी सेवाओं का कोई प्रत्यक्ष मूल्य नहीं लिया जाता है। इन सुविधाओं की लागत करदाताओं द्वारा प्रदान की जाती है जबकि इनका लाभ पाने वाले बहुत बड़ा जनसमुदाय होता है। इस प्रकार की परियोजनाओं का लागत-लाभ-विश्लेषण करने हेतु आर्थिक लागतों-लाभों के साथ साथ सामाजिक लागतों लाभों का मूल्यांकन करना आवश्यक होता

दीर्घकाल तक बेरोजगार रहने का अवसर आ सकता है। ऐसी परिस्थिति में कर्मचारी अपने पुराने रोजगार को प्रतिकूल दशाओं में भी अपनाये रहते हैं और अच्छे रोजगार के अवसरों का लाभ उठाने की जोखिम नहीं लेते। नियोजित अर्थ-व्यवस्था में एक ओर तो पूर्ण रोजगार की व्यवस्था करने हेतु नवीन अवसर उत्पन्न किये जाते हैं और दूसरी ओर बेरोजगारी के विरुद्ध बीमे का प्रबन्ध भी किया जाता है। ऐसी परिस्थिति में लोगों को अच्छे रोजगार के चयन के अधिक अवसर उपलब्ध होते हैं।

(आ) सामूहिक सौदे की स्वतन्त्रता—नियोजित अर्थ-व्यवस्था में श्रम-संघों का कार्य किसी विशेष व्यवसाय के श्रमिकों के हितों की सुरक्षा करना ही नहीं होता है। उनके कार्य हैं—श्रमिकों को अधिक मजदूरी प्राप्त करने के स्थान पर योजना के निर्माण में सहायता करना, श्रम की उत्पादकता बढ़ाना, श्रमिकों व पारिश्रमिक को नियमित करना और यह देखना कि श्रमिकों की मजदूरी उनके काम के अनुसार मिलती है, उत्पादित वस्तु का गुण (Quality) सुधारना तथा उत्पादन-लागत कम करना, सामाजिक बीमा का संचालन करना, झगड़ों के फैसले में सहयोग देना आदि। उनके समस्त कार्य राष्ट्रीय हित से सम्बन्धित होते हैं। जब श्रम-संघों का यह सब कार्य करना का अवसर दिया जाता है तो यह कहना उचित नहीं होता कि उनकी स्वतन्त्रताओं को सीमित कर दिया जाता है। दूसरी ओर आधुनिक युग में नियोजित एवं अनियोजित सभी अर्थ-व्यवस्था वाले देशों में सन्धि (Conciliation) एवं अनिवार्य पंचफैसला (Compulsory Arbitration) द्वारा मजदूरी निर्धारित होती है। ऐसी परिस्थिति में सामूहिक सौदे की परम्परागत स्वतन्त्रता का कोई अर्थ नहीं रह जाता है।

(इ) साहस की स्वतन्त्रता—यह कहना किसी प्रकार उचित नहीं है कि नियोजित अर्थ-व्यवस्था में निजी क्षेत्र का सर्वथा समाप्त कर दिया जाता है। संसार के बहुत से देशों में आर्थिक नियोजन का संचालन होते हुए भी निजी क्षेत्र काम करता है। वास्तव में नियोजित अर्थ-व्यवस्था में निजी क्षेत्र को नियन्त्रित एवं नियमित कर दिया जाता है। निजी क्षेत्र का नियमित करने की प्रथा आधुनिक युग में अनियोजित अर्थ-व्यवस्था में भी है। पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था में भी हम देखते हैं कि सरकारी क्षेत्र द्वारा जनोपयोगी उद्योगों का संचालन किया जाता है। दूसरी ओर नियोजित अर्थ-व्यवस्था में भी निजी क्षेत्र को कार्य करने का अवसर दिया जाता है। नियोजित अर्थ-व्यवस्था में निजी व्यवसाय सरकारी क्षेत्र के सहायक होते हैं और जब तक सरकारी एवं निजी क्षेत्र में प्रभावशाली समन्वय नहीं होता योजना का सफल होना सम्भव नहीं होता। इस प्रकार नियोजित अर्थ-व्यवस्था एवं साहस की स्वतन्त्रता साथ-साथ रह सकती है परन्तु निजी साहस को नियमबद्ध अवश्य कर दिया जाता है।

(4) राजनीतिक स्वतन्त्रता—राजनीतिक स्वतन्त्रता के अन्तर्गत सरकार की आलोचना करने का अधिकार, विरोधी दल बनाने के अधिकार, जनसाधारण का सरकार बदलने का अधिकार आदि सम्मिलित होते हैं। वास्तव में इन अधिकारों का नियोजन से किसी प्रकार प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता और न इनकी उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति नियोजन के संचालन को प्रभावित ही करती है। प्रोफेसर हायक एवं उनके साथियों की धारणा कि नियोजन द्वारा देश में तानाशाही का प्रादुर्भाव होता है, उचित प्रतीत नहीं होती। राजनीतिक तानाशाही आर्थिक नियोजन द्वारा उत्पन्न नहीं होती है और न नियोजन के संचालन हेतु तानाशाही आवश्यक ही होती है। राजनीतिक स्वतन्त्रता को सीमाबद्ध करना सत्ताधारी लोगों पर निर्भर रहता है। यदि सरकार में तानाशाही प्रवृत्ति के लोग हों तो राजनीतिक स्वतन्त्रता पर अंकुश लगाना स्वाभाविक है। आर्थिक नियोजन का संचालन प्रजातान्त्रिक ढाँचे में भी उतना ही सफल हो सकता है, जितना तानाशाही ढाँचे में। दूसरी ओर यह कहना भी उचित नहीं कि प्रजातान्त्रिक ढाँचे में दीर्घकालीन कार्यक्रम नहीं बनाये जा सकते हैं क्योंकि सरकार के बदलने पर पहली सरकार द्वारा प्रारम्भ किये गये कार्यक्रमों को रद्द कर दिया जाता है। वास्तव में योजना में अधिकतर कार्यक्रम सामान्य हित के लिए होते हैं और विरोधी दल की सरकार बनने पर भी उन कार्यक्रमों को निरस्त करना उचित नहीं समझा जाता है। उनके संचालन की विधियाँ भले ही बदल जायें परन्तु बड़े कार्यक्रम अवश्य चालू रखे जाते हैं। कभी-कभी सैद्धान्तिक मतभेद के कारण कुछ कार्य निरस्त भी किये जा सकते हैं, परन्तु निरस्त होने के भय से नियोजन का संचालन न किया जाय अथवा विरोधी दल को नष्ट कर दिया जाय, इन दोनों में से

गुह भी कार्य उचित न होगा। आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत आर्थिक शक्तियों का केन्द्रीकरण सरकार के साथ में हो जाता है, जिनका उपयोग सामान्य हित के लिए किया जाता है। आर्थिक शक्तियों के साथ राजनीतिक शक्तियों का समन्वय करना सदैव अनिवार्य नहीं होता है। अनियोजित अर्थ-व्यवस्था में धन का सचय एक छोटे वर्ग के हाथ में होता है जो देश की राजनीति को भी प्रभावित करता है। नियोजित अर्थ-व्यवस्था में धन के केन्द्रीकरण को रोका जाता है और धनी को राजनीतिक मामलो में हस्तक्षेप करने का अवसर कम मिलता है। इस प्रकार आर्थिक नियोजन का राजनीतिक स्वतन्त्रता से प्रत्यक्ष रूप में किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं होता है।

राजकीय नियन्त्रण एवं व्यक्तिगत स्वतन्त्रताओ पर राजकीय प्रतिबन्ध आर्थिक नियोजन की सफलता के लिए आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य हैं, परन्तु इस कथन का यह अर्थ नहीं लेना चाहिए कि आर्थिक नियोजन एवं व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में पारस्परिक शत्रुता है और यह दोनों समाज में एक ही समय में विद्यमान नहीं रह सकते हैं। प्रजातन्त्र के अन्तर्गत जब आर्थिक नियोजन का सचालन किया जाता है तो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का पूर्णरूप प्रतिबन्धित नहीं किया जा सकता। प्रजातन्त्र में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को देश के संविधान द्वारा मान्यता प्राप्त हो सकती है और राज्य व्यक्तियों के चयन करने के अधिकार को सर्वथा अपने अधिकार में नहीं ले सकता है। ऐसी परिस्थिति में राज्य को विभिन्न व्यक्तिगत स्वतन्त्रताओं में से उनका चयन करना होता है जिनके नियन्त्रित किये बिना नियोजित अर्थ-व्यवस्था का सफलतापूर्वक सचालन नहीं किया जा सकता। प्रजातन्त्र के अन्तर्गत चयन करने के अधिकार को राज्य प्रत्यक्षरूप में अपने अधिकार में नहीं लेता बल्कि छोटी छोटी विकेन्द्रित संस्थाओं जैसे सरकारी संस्थाएँ, स्थानीय संस्थाएँ आदि की स्थापना की जाती है और इनको सामूहिक रूप से चयन करने की स्वतन्त्रता दी जाती है। दूसरी ओर, साम्यवादी नियोजित व्यवस्था में चयन करने की स्वतन्त्रता केवल राज्य को होती है और उनके निर्देशानुसार समस्त नागरिकों एवं उनकी संस्थाओं को कार्य करना होता है। इस प्रकार प्रजातान्त्रिक नियोजन में चयन करने की स्वतन्त्रता को व्यक्तियों से हटाकर उनके समूहों को सौंप दिया जाता है जबकि साम्यवाद में यह अधिकार राज्य में केन्द्रित हो जाता है। इसी कारण नियोजित अर्थ-व्यवस्था में अधिकारों का केन्द्रीकरण अवश्य होता है परन्तु साम्यवाद में यह केन्द्रीकरण अधिक कठोर एवं जटिल होता है। जैसे जैसे समाज में नियोजन के प्रति जागरूकता उत्पन्न होती जाय, स्वतन्त्रताओं पर लगे हुए प्रतिबन्ध धीरे-धीरे कम किये जा सकते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि नियोजित अर्थ-व्यवस्था एवं अवांछनीय स्वतन्त्रताओं में पारस्परिक विरोध है परन्तु आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत वास्तविक एवं वांछनीय स्वतन्त्रताओं की व्यापकता को बढ़ाने का आयोजन किया जाता है। बारबरा वूटन ने इसी कारण कहा है कि स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए हमें विद्वान सक्रिय एवं सूचित (Informed) होना चाहिए जिससे हम अपनी स्वतन्त्रताओं के सम्बन्ध में जानकार रहें और उनकी माँग अपने एवं समाज के अन्य सदस्यों के लिए कर सकें। वास्तव में जन समुदाय की सतर्कता एवं बुद्धिमत्ता पर ही समाज की स्वतन्त्रताएँ निर्भर रहती हैं।

वास्तव में आर्थिक नियोजन द्वारा समाज को बेकारी बीमारी निरक्षरता, विषमता एवं दरिद्रता से स्वतन्त्र कर दिया जाता है जिससे विषमतारहित समाज की स्थापना होती है जिसमें इन वास्तविक स्वतन्त्रताओं का आयोजन होता है। आर्थिक नियोजन द्वारा आर्थिक सुरक्षा का आयोजन किया जाता है जो वास्तविक स्वतन्त्रताओं का मूलाधार होती है। इस प्रकार आर्थिक नियोजन व्यक्ति की कुछ स्वतन्त्रताओं को प्रतिबन्धित करता और दूसरी ओर कुछ अन्य स्वतन्त्रताएँ प्रदान करता है। प्राय प्राप्त होने वाली स्वतन्त्रताएँ कहीं अधिक एवं वास्तविक होती हैं। परन्तु स्वतन्त्रताओं का यह लाभ कुछ मूलभूत मान्यताओं पर निर्भर रहता है। यदि आर्थिक नियोजन का सचालन पूर्णत ईमानदार एवं उचित व्यक्तियों द्वारा किया जाता है जो सामाजिक कल्याण के लक्ष्य की उपलब्धि के लिए ईमानदारी एवं उच्चता के साथ प्रयत्नशील रहें तो जनसाधारण को जिन स्वतन्त्रताओं को खोना पड़ेगा उनसे कहीं अधिक वास्तविक स्वतन्त्रताएँ प्राप्त होंगी। इसी प्रकार जनसाधारण में जितनी अधिक जागरूकता समझदारी एवं अपनी स्वतन्त्रताओं को प्रभावशाली ढंग से माँगने की योग्यता होगी उतनी ही अधिक स्वतन्त्रताएँ आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत उन्हें प्राप्त हो सकेंगी।

5

नियोजन के सिद्धान्त एवं परिसीमाएँ तथा प्रो. हेयक के विचारों की आलोचना

[PRINCIPLES AND LIMITATIONS OF PLANNING AND CRITICISM OF PROF. HAYEK'S VIEWS]

नियोजन के सिद्धान्त

नियोजित अर्थ-व्यवस्था का प्रमुख उद्देश्य अर्थ-व्यवस्था का निर्धारित गतिविधि के साथ पूर्व निश्चित मार्गों से विकास की ओर अग्रसर करना होता है। यद्यपि नियोजित अर्थ व्यवस्था की कार्य-प्रणाली देश की राजनीतिक विचारधाराओं एवं आर्थिक ढाँचे पर निर्भर रहती है, परन्तु यह कार्य प्रणाली कुछ सामान्य सिद्धान्तों पर आधारित होती है। नियोजन के उद्देश्यों के आधार पर इन सिद्धान्तों का अस्तित्व प्रत्येक प्रकार के नियोजन में पाया जाता है। आधुनिक युग में आर्थिक नियोजन का उपयोग राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि एवं आर्थिक व सामाजिक समानता उत्पन्न करने के लिए किया जाता है और प्राय नियोजित अर्थ-व्यवस्था का प्रादुर्भाव पूँजीवाद के फल-स्वरूप होता है और इसीलिए नियन्त्रित अर्थ-व्यवस्था म पूँजीवाद के दोषों का दूर करना एव सार्वभौमिक सिद्धान्त माना जाता है। अधिनायकवादी नियोजन (Fascist Planning) तथा साम्यवादी नियोजन में सैद्धान्तिक रूप से यह मान लिया जाता है कि देश के विकास के लिए देश को सैनिक दृष्टिकोण से अत्यन्त शक्तिशाली बनाना आवश्यक है। अधिनायकवादी नियोजन और आधुनिक काल में तो चीनी साम्यवाद में भी देश की सीमाओं को शक्ति द्वारा बढ़ाने का प्रयत्न किया जाता है। इसी कारण नियोजन के सिद्धान्तों म राष्ट्रीय सुरक्षा एव सैनिक सुरक्षा एव सैनिक शक्ति को अधिक महत्व दिया जाता है। नियोजित अर्थ-व्यवस्था म विकास-कार्यक्रम निम्नलिखित सिद्धान्तों के आधार पर निर्धारित होते है

(1) **राजकीय नियन्त्रण की सीमा**—नियोजन के कार्यक्रम निर्धारित करने के पूर्व राजकीय नियन्त्रण की सीमा निर्धारित कर लेना आवश्यक होता है क्योंकि इसी के आधार पर साधनों की उपलब्धि, उपयोग की मात्रा, उत्पादन के लक्ष्य, आयात एवं निर्यात आदि सभी बातों का पूर्व-निश्चय किया जा सकता है। प्रजातान्त्रिक व्यवस्था में राजकीय नियन्त्रण कठोर रूप धारण नही कर सकता है और इसी कारण यह निर्धारित करना आवश्यक होता है कि राज्य का नियन्त्रण किन-किन आर्थिक क्रियाओं पर किस सीमा तक होगा। नियन्त्रण के आधार पर ही व्यक्तिगत स्वतन्त्रताओं का निर्धारण भी सम्भव होता है।

(2) **साधनो का उचित एवं विवेकपूर्ण उपयोग**—नियोजन द्वारा ऐसी व्यवस्था का सगठन किया जाय जिससे राष्ट्र के साधनो, वर्तमान तथा सम्भावित का उचित एव विवेकपूर्ण उपयोग किया जा सके। जब तक राष्ट्र के साधनो का सुनिश्चित उद्देश्यों के आधार पर उपभोग नही किया जाता, नियोजन को सफलता प्राप्त नही हो सकती। एक ओर, सम्भावी साधनो का उपयोग किया जाय व दूसरी ओर वर्तमान उत्पादन के साधनो के उपयोग में आवश्यक समायोजन किया जाय जिससे इनका उपयोग उत्पादन के उस क्षेत्र से हटाकर, जिसका नियोजन अधिकारी ने महत्व नहीं दिया है, ऐसे क्षेत्र मे किया जाय, जिन्हे नियोजन कार्यक्रमों मे स्थान प्राप्त है। साधनो की कमी होने पर

उनका उपयोग विवेकपूर्ण होना चाहिए, अर्थात् उनके द्वारा उत्पादन के साधनों को बढ़ावा देने, पूंजी-निर्माण करने और विनियोजन बढ़ाने में सहायता मिलनी चाहिए। साथ ही साथ, उत्पादन के साधनों का उपभोग के क्षेत्र में हटाकर विनियोजन के क्षेत्र में लाना आवश्यक होता है। नियोजित अर्थ-व्यवस्था का सगठन इस प्रकार किया जाय कि उत्पादन के साधनों का अत्यन्त मितव्ययतापूर्ण उपयोग करके अधिकतम उत्पादन के लक्ष्य की पूर्ति की जा सके। देश में उपलब्ध उत्पादन के समस्त साधनों, जिनमें श्रम भी सम्मिलित है, का अधिकतम उत्पादन एवं उपयोगी उपयोग होना चाहिए। जब तक देश में विद्यमान एवं सम्भाव्य समस्त उत्पादन के साधनों का उपयोग नहीं किया जायगा, अधिकतम उत्पादन के लक्ष्य की पूर्ति नहीं हो सकती है। उत्पादन के समस्त साधनों को विभिन्न उत्पादन-क्षेत्रों में इस प्रकार सम्मिलित (Combine) करना चाहिए कि उनसे अधिकतम लाभ राष्ट्र को प्राप्त हो सके। इस प्रकार एक ओर, विद्यमान साधनों का अधिकतम लाभप्रद उपयोग तथा दूसरी ओर, सम्भावित साधनों की खोज करना नियोजन का सिद्धान्त है।

(3) **देश के संविधान द्वारा निर्धारित राज्यों के कर्तव्यों की पूर्ति**—प्रत्येक राष्ट्र में संविधान द्वारा निर्धारित राज्य का कर्तव्य होता है कि देश में किस प्रकार के समाज की स्थापना करे और कभी-कभी राज्य की आर्थिक नीति का समावेश देश के संविधान में पाया जाता है। उदाहरणार्थ भारत में राज्य का कर्तव्य है कि समस्त जनसमुदाय को पौष्टिक भोजन, रोजगार एवं सामाजिक समानता का आयोजन करे और इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भारत सरकार ने देश में प्रजातान्त्रिक समाजवाद की स्थापना का लक्ष्य अपने सम्मुख रखा है। नियोजित अर्थ-व्यवस्था को संविधान द्वारा निर्धारित राज्य के कर्तव्यों की पूर्ति के लिए उपयोग किया जाता है और अर्थ-व्यवस्था पर नियन्त्रण करके उसका इस प्रकार संचालन करना होता है कि निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति हो सके। वास्तव में, संविधान में जो समुदाय को संरक्षण प्रदान किये जाते हैं, उनके आधार पर नियोजन के कार्यक्रम निर्धारित किये जाते हैं।

(4) **अधिकतम जनसमुदाय का अधिकतम कल्याण**—नियोजित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत आर्थिक समानता, सामाजिक न्याय एवं सामाजिक सुरक्षा का आयोजन करना आवश्यक समझा जाता है। आर्थिक नियोजन एक ओर तो राष्ट्रीय उत्पादन की वृद्धि का आयोजन करता है और दूसरी ओर राष्ट्रीय आय के वितरण में समानता लाने के लिए प्रयत्न किये जाते हैं। साम्यवादी, समाजवादी एवं प्रजातान्त्रिक नियोजन में दलित वर्गों, जो अपने आप में जनसंख्या का बहुत बड़ा भाग होता है, के जीवन-स्तर में सुधार करने के आयोजन किये जाते हैं। यह कहना उचित न होगा कि आर्थिक नियोजन सैद्धान्तिक रूप में समस्त जनसमुदाय के कल्याण की क्रिया है क्योंकि पूँजीपति को आर्थिक समानता की कार्यवाहियों में हानि होती है और साम्यवादी नियोजन में तो पूँजीपति का श्रमिक में परिवर्तन कर दिया जाता है परन्तु यह सर्वथा सत्य है कि नियोजन द्वारा अधिकतम जनसमुदाय के अधिकतम कल्याण का आयोजन किया जाता है।

(5) **प्राथमिकताओं के आधार पर प्रगति**—आर्थिक नियोजन द्वारा देश की समस्त सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओं का निर्धारण करने का प्रयत्न किया जाता है। परन्तु अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों में समस्याएँ अधिक और साधन कम होते हैं, इस कारण समस्त समस्याओं का निवारण एक ही समय में सम्भव नहीं होता। ऐसी परिस्थिति में विभिन्न समस्याओं के महत्व के अनुसार प्राथमिकताएँ निर्धारित की जाती हैं और विभिन्न क्षेत्रों का विकास-कार्यक्रम ऐसी प्राथमिकताओं के आधार पर निर्धारित किया जाता है। यद्यपि आर्थिक नियोजन राष्ट्रीय जीवन के समस्त आर्थिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों पर आच्छादित होता है, परन्तु यह क्रिया साधनों को दृष्टिगत रखते हुए पूर्व-निश्चित प्राथमिकताओं के आधार पर निर्धारित होती है।

(6) **व्यक्तिगत एवं सामाजिक हित में समन्वय**—आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत आर्थिक सत्ताओं का केन्द्रीकरण राज्य के हाथों में होना स्वाभाविक होता है और राज्य, समस्त देश को दृष्टिगत रखते हुए, कार्यक्रम निर्धारित करता है। ऐसी परिस्थिति में सामाजिक हित को व्यक्तिगत

हित की तुलना मे अधिक महत्व दिया जाता है। नियोजित अर्थ-व्यवस्था मे प्राय यह सिद्धान्त स्वीकार किया जाता है कि सामाजिक हित से व्यक्तिगत हित होता है, अत इसी कारणवश प्राय व्यक्तिगत लाभ हेतु क्रियाओं को नियन्त्रित किया जाता है। साम्यवादी नियोजन मे तो व्यक्तिगत हित सामाजिक हित के सर्वथा अधीन होता है, परन्तु अन्य प्रकार की नियोजित अर्थ-व्यवस्था मे सामाजिक एव व्यक्तिगत हित मे समन्वय स्थापित करने के प्रयत्न किये जाते हैं।

(7) **राष्ट्रीय संस्कृति, सभ्यता एवं परम्पराओ को सुरक्षित रखना**—नियोजित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत देश की संस्कृति को बनाये रखने एव प्रोत्साहन देने के लिए आवश्यक आयोजन किये जाते है। इसके अन्तर्गत परम्परागत कलाओं, ऐतिहासिक एव धार्मिक भवनो, प्राचीन साहित्य आदि को सुरक्षित रखने एव उन्नतशील करने के लिए नियोजन मे व्यवस्था की जाती है। सैद्धान्तिक रूप मे यह माना जाता है कि नियोजित अर्थ-व्यवस्था देश की सभ्यता को बनाये रखने मे सहायक होनी चाहिए।

(8) **राष्ट्रीय सुरक्षा**—जब तक राष्ट्र म सुरक्षा की भावना न हो, कोई भी नियोजन कार्यक्रम सफलतापूर्वक सचालित नही किया जा सकता। योजना के दीर्घकालीन कार्यक्रमों के सचालनार्थ राजनीतिक स्थिरता की आवश्यकता होती है और राजनीतिक स्थिरता तभी सम्भव है, जब राष्ट्र को पडोसी राष्ट्र की ओर से आक्रमण आदि का भय न हो। नियोजन द्वारा राज्य को आर्थिक तथा सामाजिक दृष्टिकोण से सुदृढ बनाया जाता है, किन्तु यह स्थिरता राष्ट्रीय सुरक्षा की अनुपस्थिति मे अल्पकालीन हो सकती है। यदि राष्ट्र को अपनी सुरक्षा के लिए राष्ट्रीय साधनों का अधिक भाग व्यय करना पडे तो आर्थिक विकास के पर्याप्त साधन उपलब्ध होना असम्भव है। नियोजन की सफलता के लिए राष्ट्र का इतना शक्तिशाली बनाना अनिवार्य है कि अन्य दूसरे राष्ट्रों से किसी प्रकार का भय न हो। 19वी शताब्दी मे राष्ट्र की सुरक्षा के लिए खाद्य-सामग्री को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना जाता था क्योकि वही देश युद्ध मे सफल होता था जो अपनी सेना को पर्याप्त खाद्य-सामग्री अधिक काल तक प्रदान कर सकता था, परन्तु आधुनिक युग मे यन्त्र, उद्योग, यातायात एव सचार तथा खनिज का महत्व अधिक हो गया है। आज के युद्ध मे मनुष्य नहीं, प्रत्युत् अस्त्र शस्त्र अधिक महत्वपूर्ण है, अत आज वही देश युद्ध-विजयी है जिसके पास सगठित उद्योग लोहा एव इस्पात का पर्याप्त उत्पादन तथा शक्ति के साधनो—कोयला, पैट्रोलियम तथा विद्युत-शक्ति की पर्याप्त एव सुगम उपलब्धि है। इस प्रकार राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से नियोजन द्वारा राष्ट्र के उद्योगो को शक्तिशाली, सुसगठित एव पर्याप्त बनाना आवश्यक है।

नियोजित अर्थ-व्यवस्था के राष्ट्रीय सुरक्षा के सिद्धान्त का ज्वलन्त उदाहरण भारतीय तृतीय योजना को चीनी एव पाकिस्तानी आक्रमण के पश्चात सुरक्षा सम्बन्धी पुट देना है।

(9) **सामाजिक सुरक्षा एव समानता**—नियोजित अर्थ-व्यवस्था से देश मे आय एव धन के समान वितरण की व्यवस्था की जाती है और आर्थिक विषमताओ को कम करने के लिए प्रभावशाली कार्यवाहियाँ की जाती है। अवसरो की समानता के लिए समस्त जनसमुदाय को उनकी योग्यता एव क्षमता के अनुसार प्रशिक्षण एव शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था की जाती है।

(10) **वित्त, विनियोजन, रोजगार एवं उत्पादन मे समन्वय**—नियोजित अर्थ-व्यवस्था मे आन्तरिक अर्थ-साधनों को बढाने एव सक्रिय बनाने के लिए उचित एव समन्वित वित्तीय एव मौद्रिक नीतियों का सचालन किया जाता है और इन साधनो को वाछित क्षेत्रो मे इस प्रकार विनियोजित किया जाता है कि रोजगार मे वृद्धि होने के साथ उत्पादन मे निरन्तर वृद्धि होती रहे। ऐसी वित्तीय सस्थाओ की स्थापना की जाती है, जो विनियोजको तथा विनियोजन प्राप्त करने वाली सस्थाओ मे सम्बन्ध स्थापित कर सकें।

(11) **आर्थिक उच्चावचनो से बचाव**—नियोजित अर्थ-व्यवस्था मे सरकार देश की आर्थिक क्रियाओ मे सक्रिय भाग लेती है और नियोजन-अधिकारी अर्थ व्यवस्था को आर्थिक उच्चावचनों से बचाने के लिए निरन्तर सतर्क रहता है और आवश्यकता पडने पर सरकार द्वारा इन उच्चावचनों

व गम्भीर स्थिति ग्रहण करने के पूर्व देशव्यापी उचित कार्यवाहियाँ की जाती हैं। ये कार्यवाहियाँ इसलिए अधिक प्रभावशाली होती हैं कि समस्त देश को एक आर्थिक इकाई मानकर आर्थिक समायोजन किये जाते हैं तथा अर्थ-व्यवस्था को अपने आप समायोजित होने के लिए मुक्त नहीं छोड दिया जाता है।

(12) **समन्वित एवं सार्वभौमिक विकास**—नियोजित व्यवस्था के अन्तर्गत जनसाधारण के जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए कार्यक्रम सचालित किये जाते हैं, अर्थ-व्यवस्था के समस्त क्षेत्रों के समन्वित विकास का आयोजन किया जाता है और इस प्रकार किसी भी क्षेत्र को पिछडा नहीं छोडा जाता है। आर्थिक क्रियाओं का जान-बूझकर इस प्रकार सचालन किया जाता है कि एक आर्थिक क्रिया दूसरी आर्थिक क्रिया के लिए बाधा सिद्ध न हो और विभिन्न आर्थिक क्रियाएँ एक-दूसरे की पूरक एवं सहायक रहें।

(13) **आर्थिक एवं सामाजिक कल्याण में समन्वय**—नियोजित अर्थ-व्यवस्था का अन्तिम लक्ष्य आर्थिक प्रगति के स्थान पर सामाजिक कल्याण होता है और आर्थिक प्रगति सामाजिक कल्याण का एक साधनमात्र समझी जाती है। इसलिए आर्थिक प्रगति द्वारा जिन दोषों एवं सामाजिक कठिनाइयों का प्रादुर्भाव होता है उन्हें दूर करने का आयोजन किया जाता है। श्रम-कल्याण, श्रम-नीति, रोजगार की सुरक्षा, स्वास्थ्य की सुरक्षा, उचित निवास गृहों की व्यवस्था, औद्योगिक खतरों से बचाव आदि का आयोजन करके सामाजिक दोषों को दूर किया जाता है।

नियोजित अर्थ-व्यवस्था की परिसीमाएँ एवं प्रो हेयक के विचारों का आलोचनात्मक अध्ययन

नियोजित अर्थ-व्यवस्था की परिसीमाएँ

नियोजन परिसीमाओं पर विचार करते समय हमें प्रोफेसर हेयक की प्रसिद्ध पुस्तक **'दासता का मार्ग'** (*Road of Serfdom*) में प्रकट किये विचारों का आलोचनात्मक अध्ययन करना चाहिए। यह पुस्तक सन् 1944 में प्रकाशित की गयी, जबकि सोवियत रूस द्वारा आर्थिक नियोजन में आश्चर्यजनक प्रगति करके समस्त ससार के अर्थशास्त्रियों को नियोजित अर्थ-व्यवस्था के गुण-दोषों एवं उपयुक्तता के सम्बन्ध में विचार करने के लिए विवश किया। प्रो हेयक के विचारों का खण्डन हरमैन फाइनर (Herman Finer) ने अपनी पुस्तक *Road of Reaction'* अर्थात् **'प्रतिक्रिया का मार्ग'** द्वारा तथा प्रो डर्बिन (Durbin) ने अपने लेख *Problems of Economic Planning'* अर्थात् **आर्थिक नियोजन की समस्याएँ'** द्वारा किया। प्रो हेयक के विचार की विवेचना निम्न प्रकार की जा सकती है

(1) **विधान का शासन नहीं रहता**—प्रो हेयक के इस विचार का खण्डन, कि नियोजित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत विधान का शासन नहीं हो सकता, प्रोफेसर हरमैन फाइनर (Herman Finer) द्वारा किया गया। प्रो हेयक के अनुसार, विधान का शासन उसे समझना चाहिए जबकि समस्त निर्णय पूर्व निर्धारित नियमों के अनुसार किये जायें और सरकार को इन नियमों को परिवर्तित करने के लिए जनसाधारण की अनुमति लेनी चाहिए। नियोजित अर्थ-व्यवस्था में आर्थिक निर्णय करने के अधिकार नियोजन-अधिकारी को दिये जाते हैं जो परिवर्तनशील परिस्थितियों के अनुसार आर्थिक निर्णयों में हेर फेर करता रहता है। विशेष समय पर विद्यमान परिस्थितियों के अनुसार आर्थिक निर्णयों का निर्धारण किया जाता है। आर्थिक निर्णयों को इस प्रकार निरन्तर बदलते रहना पडता है जो प्रतिनिधि-लोकसभा द्वारा नहीं किया जाता है। यह परिवर्तन जान-बूझकर नियुक्त अधिकारी द्वारा किये जाते हैं जिसमें विधान के अनुसार शासन सचालित हो ही नहीं सकता। इस प्रकार इस अधिकारी को पूर्वनिर्धारित नियमों के उल्लघन का अधिकार मिल जाता है जिसके फलस्वरूप विधान के शासन को ठेस पहुँचती है। प्रो हेयक ने नियोजित अर्थ-व्यवस्था का सचालन केन्द्रीय अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत सम्भव समझा था, जिसमें समस्त निर्णय कुछ गिने-चुने अधिकारियों द्वारा किये जाते हैं परन्तु आर्थिक नियोजन प्रजातान्त्रिक अर्थ-व्यवस्था में भी सचालित किया जाता

है जिसमे निर्णय जनसाधारण की अनुमति द्वारा किये जाते हैं और नियमो एव अधिनियमो का बनाना एव सुधारना जनता के प्रतिनिधियो के हाथ मे होता है। आर्थिक नियोजन के सचालनार्थ यह अनिवार्य नही होता कि योजना-अधिकारी द्वारा निर्धारित बजट को अनिवार्य रूप मे दबाव द्वारा लागू किया जाय और जनसाधारण की आर्थिक स्वतन्त्रताओ को सर्वथा प्रतिबन्धित कर दिया जाय। प्रो हेयक का यह विचार कि नियोजित अर्थ-व्यवस्था द्वारा शासन एव अधिकार का अधिकतम केन्द्रीकरण किया जाता है, उचित नही। वास्तव मे, नियोजन के अन्तर्गत राष्ट्रीय प्रयासो को इस प्रकार सगठित, समन्वित एव सुशोभित किया जाता है कि जनसाधारण का अधिकतम हित हो सके। इस कार्य के लिए विभिन्न राजनीतिक विधियो का उपयोग किया जा सकता है। इस देश के सत्तारूढ राजनीतिक दल पर निर्भर रहता है कि वह तानाशाही अथवा प्रजातान्त्रिक विधियों में से किसका उपयोग करता है।

(2) **उपभोक्ता एव पेशे की स्वतन्त्रता की समाप्ति**—प्रो हेयक का विचार है कि नियोजित अर्थ व्यवस्था के अन्तर्गत उपभोक्ता को अपनी इच्छानुसार उपभोग तथा जनसाधारण को अपनी इच्छानुसार पेशे अथवा व्यवसाय चलाने की स्वतन्त्रता नही रहती है और योजना-अधिकारी केवल उन्ही वस्तुओ के उत्पादन की अनुमति देता है, जिन्हे वह उचित समझता है और उसके द्वारा निर्धारित उत्पादन के क्षेत्रों को सचालित करने हेतु जनसाधारण को अपने पेशे एव व्यवसाय चुनने पडते हैं। प्रो हेयक का यह विचार कुछ सीमा तक सत्य है, परन्तु इस सम्बन्ध में इतनी कठोरता नहीं अपनायी जाती है कि जनसाधारण को कठिनाई महसूस हो। वास्तव में नियोजित अर्थ-व्यवस्था मे विवेकपूर्ण विचारधारा एव जनसाधारण की सुविधाओं को ध्यान मे रखकर निर्णय किये जाते हैं क्योकि विकास की कोई भी योजना जनसहयोग की अनुपस्थिति मे अधिक समय तक सफलतापूर्वक सचालित नही की जा सकती है। नियोजन के अन्तर्गत केवल अवाछित क्रियाओं उपभोग एव उत्पादन को प्रतिबन्धित एव नियन्त्रित किया जाता है। अनियोजित अर्थ-व्यवस्था द्वारा प्रदान की गयी उपभोग की स्वतन्त्रता केवल उन्हीं लोगो के लिए वास्तविक है जिनके पास पर्याप्त क्रय शक्ति होती है, अर्थात् केवल धनी-वर्ग ही इस स्वतन्त्रता का वास्तविक उपयोग कर सकता है। दूसरी ओर नियोजित अर्थ व्यवस्था मे निर्धन वर्ग को सम्पन्न बनाने के लिए कार्यक्रम सचालित किये जाते हैं जिसके फलस्वरूप उनकी क्रय शक्ति एव जीवन-स्तर मे वृद्धि होती है और यह वर्ग उन वस्तुओ का उपभोग कर पाता है जो उसे अनियोजित अर्थ व्यवस्था मे निर्धनता के कारण उपलब्ध नही होती है।

प्रो हेयक का विचार है कि नियोजित अर्थ व्यवस्था मे मूल्य की तान्त्रिकताओ को स्वतन्त्र रूप से कार्य नही करने दिया जाता है जिसके फलस्वरूप उपभोक्ता एव उत्पादक दोनो की स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है। वास्तव मे नियोजित अर्थ-व्यवस्था मे मूल्य की तान्त्रिकताओ को खुली छूट नही दी जाती है। उसको इस प्रकार नियमित एव नियन्त्रित किया जाता है कि अर्थ व्यवस्था मे से शोषण के तत्व को हटाया जा सके और समस्त राष्ट्र के आर्थिक हितो के लिए उचित कार्यवाहियाँ की जा सकें। कुछ सीमा तक हमे प्रो हेयक की इस बात से सहमत होना पडेगा कि नियोजित अर्थ व्यवस्था के अन्तर्गत उपभोक्ताओं एव उत्पादको की व्यक्तिगत स्वतन्त्रताओ को सीमित कर दिया जाता है, परन्तु ये सीमाएँ राष्ट्रीय हित के लिए लगायी जाती हैं इसलिए इनको अविवेकपूर्ण एव तानाशाही कार्यवाही किसी प्रकार नही कहा जा सकता है। अर्थ-व्यवस्था के छोटे से सम्पन्न-वर्ग की स्वतन्त्रताओ को सीमित करके बहुत बडे निर्धन-वर्ग के आर्थिक कल्याण का आयोजन नियोजित अर्थ व्यवस्था मे किया जाता है।

प्रो हेयक ने यह विचार भी व्यक्त किया कि नियोजन द्वारा व्यक्तिगत चरित्र (Individual s Moral Power) मे भी कमी होती है। नियोजित अर्थ-व्यवस्था मे उत्पादन के समस्त साधन समाज के अधिकार मे होते है और इनका उपयोग एक ही योजना के अनुसार किया जाता है। इस प्रकार समस्त निर्णय एक सामाजिक एव सामूहिक विचारधारा के अनुसार किये जाते हैं

केवल उन्हीं लोगों को स्वतन्त्रता का आश्वासन प्रदान नहीं करती है जिनके अधिकार में सम्पत्ति है बल्कि उनको भी, जिसके पास सम्पत्ति नहीं है, उत्पादन के साधन बहुत से लोगों में वितरित होने के कारण ही किसी भी एक व्यक्ति का हमारे ऊपर सम्पूर्ण नियन्त्रण करने का अधिकार नहीं होता। प्रो. हेयक का यह विचार तभी मान्य हो सकता है जब हम व्यक्तिगत अधिकार को मान्यता देते हैं। जब उत्पादन के साधन एक व्यक्ति के स्थान पर समाज के अधिकार में रखे जाते हैं तो स्वतन्त्रता के विनाश का भय उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं होता है।

(5) **नियोजन के अन्तर्गत बुरे लोगों के हाथों में सत्ता पहुँचती है**—आर्थिक नियोजन द्वारा जिन लोगों के हाथों में सत्ता का केन्द्रीकरण होता है, उनमें बुरी आदतों का प्रादुर्भाव होता है। वे जनसाधारण को कैम्पों में रखकर उन पर जुल्म करने लगते हैं। यह कैम्प सरकारी संगठन के रूप में कार्य करते हैं। हेयक के विचार में नियोजन द्वारा सैनिक निर्देशन (Military Regimentation) का प्रादुर्भाव होता है क्योंकि नियोजन का एक ही सचेत (Conscious) लक्ष्य होता है। जिस प्रकार सेना में युद्ध पर विजय पाना एकमात्र लक्ष्य होता है और इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए सैनिकों को सेनापति के आदेशों का अक्षरशः पालन करना आवश्यक होता है, उसी प्रकार जब नियोजन के द्वारा अर्थ व्यवस्था को पूर्व-निर्धारित एक ही लक्ष्य की ओर संचालित किया जाता है तो जनसाधारण को नियोजन-अधिकारी के निर्देशों का अक्षरशः पालन करना आवश्यक होता है। इस प्रकार नियोजन द्वारा तानाशाही यथेच्छाकारिता का उदय अत्यन्त आवश्यक होगा। वास्तव में हेयक के इन विचारों का आधार रूस एवं जर्मनी में आर्थिक नियोजन की संचालन विधि थी। रूस में नियोजन के प्रारम्भिक काल में कठोरता के साथ सैनिक दबाव द्वारा आर्थिक नीतियों का संचालन किया गया। परन्तु नियोजन के अन्य देशों के प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि नियोजन द्वारा तानाशाही का प्रादुर्भाव होना आवश्यक नहीं है।

(6) **नियोजन दासता का मार्ग है**—प्रो. हेयक के विचारों में मुक्त व्यवसाय की व्यवस्था में यदि कोई हेर-फेर किया गया तो आर्थिक नियोजन का उदय हो जाना आवश्यक होगा अर्थात् आर्थिक क्रियाओं को विवेक एवं विज्ञान के उपयोग से यदि सुधारने का प्रयास किया जाय तो आर्थिक नियोजन का प्रादुर्भाव होगा और यह आर्थिक नियोजन दासता को जन्म देता है। हेयक के विचार में मुक्त व्यवसाय (Free Enterprise) पद्धति को सर्वोच्च महत्व दिया जाना चाहिए और उसके कितने ही दोष होते हुए भी यदि उनमें कोई नियन्त्रण अथवा नियमन किया गया तो दासता का प्रादुर्भाव होना स्वाभाविक होगा। आर्थिक नियोजन का आधार विवेक एवं विज्ञान होता है और नियोजन का उपयोग न करने का अर्थ यह है कि सामाजिक क्षेत्र में विवेक एवं विज्ञान का उपयोग न किया जाय। मुक्त व्यवसाय-पद्धति के अन्तर्गत उत्पादक एक अन्धे के समान प्रतिस्पर्धा करता है, क्योंकि उसे यह ज्ञात नहीं होता है कि उसकी क्रियाओं का क्या फल होगा। दूसरी ओर आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत समस्त उपलब्ध साधनों का सर्वेक्षण करके समस्त अर्थ व्यवस्था की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर निर्णय किया जाता है। इस प्रकार आर्थिक नियोजन में कारण और प्रभाव दोनों की जानकारी रहती है और इसीलिए नियोजित अर्थ-व्यवस्था को सचेत (Conscious) अर्थ-व्यवस्था कहा जाता है। प्रो. हेयक का यह विचार किसी प्रकार भी उचित नहीं प्रतीत होता है कि आर्थिक क्रियाओं के संगठन के लिए 'कारण एवं प्रभाव' की जानकारी का उपयोग न किया जाय।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि प्रो. हेयक द्वारा प्रकट किये गये विचार पूर्णतया सत्य नहीं हैं, परन्तु उनके द्वारा नियोजित अर्थ की आलोचनाएँ, नियोजित अर्थ व्यवस्था की परिसीमाओं की ओर अवश्य संकेत करती हैं। इन परिसीमाओं के अतिरिक्त विभिन्न राष्ट्रों में नियोजन के संचालन द्वारा प्राप्त अनुभवों के आधार पर नियोजन की निम्न परिसीमाएँ और अंकित की जा सकती हैं:

(1) **वृहद् अर्थशास्त्रीय (Macro Economics) सिद्धान्तों को अधिक मान्यता**—नियोजित अर्थ व्यवस्था में नियोजन अधिकारी द्वारा निर्णय अर्थ-व्यवस्था को एक इकाई मान कर किये

जाते हैं और व्यक्ति एवं व्यक्तिगत इकाइयों के आर्थिक हित को द्वितीयक स्थान प्राप्त होता है। यह मान लिया जाता है कि समस्त अर्थ व्यवस्था इन इकाइयों एवं व्यक्तिगत इकाइयों से बना है और जब समस्त समूह का विकास होता है तो उसके पृथक पृथक भागों का विकास स्वाभाविक ही है परन्तु अनुभवों से ज्ञात होता है कि विकास कार्यक्रमों का लाभ अर्थ व्यवस्था के समस्त भागों को समानरूप में प्राप्त नहीं होता है और समय के साथ निर्धन एवं आर्थिक दृष्टिकोण से पिछड़े हुए क्षेत्र ज्यों के त्यों बने रहते हैं। नियोजित अर्थ व्यवस्था के वृहद अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तों के फलस्वरूप इन क्षेत्रों में जिनको विकास का लाभ प्राप्त नहीं होता असन्तोष की भावना जाग्रत होती है।

(2) **वर्तमान पीढ़ी (Generation) में असन्तोष**—नियोजित अर्थ व्यवस्था के अन्तर्गत विकास के सम्बन्ध में दीर्घकालीन लक्ष्य निर्धारित होते हैं और इन उद्देश्यों की पूर्ति हेतु कार्यक्रम निर्धारित किये जाते हैं। योजना में सम्मिलित बहुत सी परियोजनाएं दीर्घकाल में पूरी होती हैं। इस प्रकार वर्तमान पीढ़ी को अपने उपभोग एवं सुविधाओं का त्याग कर अधिक बचत एवं विनियोजन के लिए प्रोत्साहन दिया जाता है जिसके द्वारा सचालित परियोजनाओं का लाभ आगे आने वाली पीढ़ियों को प्राप्त होता है। साम्यवादी राष्ट्रों में यह त्याग इतना अधिक होता है कि जीवन कठोरतम बन जाता है। यह परिस्थिति वर्तमान पीढ़ी के उत्साह को कम करती है और असन्तोष को जन्म देती है।

(3) **नवीन तान्त्रिकताओं एवं विधियों के प्रयोग में अपव्यय**—प्रायः नियोजन द्वारा असाधारण एवं आश्चर्यजनक सफलताएँ प्राप्त करने के प्रयत्न किये जाते हैं जिसके लिए अर्थ-व्यवस्था में उचित समायोजन करने के प्रयत्न किये जाते हैं। इन समायोजनाओं के लिए ऐसी तान्त्रिकताओं एवं विधियों का उपयोग किया जाता है जिनकी सफलता पर स्वयं नियोजन अधिकारियों को पूर्ण विश्वास नहीं होता है। इन विधियों के उपयोग में परीक्षण एवं त्रुटि (Trial and Error) के सिद्धान्त को अपनाया जाता है जिसके फलस्वरूप साधनों एवं प्रयासों का अपव्यय होता है और कभी कभी कुछ परियोजनाएं अधूरी ही छोड़ देनी पड़ती हैं।

(4) **नौकरशाही एवं लालफीताशाही का बोलबाला (Bureaucracy and Red Tapism)**—आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत स्वभावतः राज्य को आर्थिक क्रियाओं में सक्रिय भाग लेना पड़ता है और राज्य द्वारा की जाने वाली क्रियाएं राज्य के प्रशासनिक कर्मचारियों द्वारा सचालित की जाती हैं। यह कर्मचारी प्रशासन सम्बन्धी जटिल नियमों को अनेकों विकास कार्यक्रमों पर भी लागू करते हैं। इनमें प्रारम्भिकता एवं जोखिम उठाने की क्षमता का अभाव होता है और अधिकतर अधिकारी उत्तरदायित्वपूर्ण निर्णय शीघ्र एवं समय पर नहीं लेते हैं। सरकारी फाइल (Files) एक कार्यालय से दूसरे कार्यालय तथा एक अधिकारी से दूसरे अधिकारी के पास घूमने के पश्चात भी किसी निश्चय पर नहीं पहुंच पाती है। सरकारी अधिकारियों का व्यक्तिगत उत्तरदायित्व न होने के कारण कार्य के प्रति लगन एवं रुचि नहीं होती है।

(5) **राजनीतिक परिवर्तनों का भय**—जैसा अभी बताया गया कि नियोजित अर्थ-व्यवस्था में दीर्घकालीन कार्यक्रम एवं उद्देश्य निर्धारित किये जाते हैं जिनकी पूर्ति हेतु समन्वित एवं समान नीतियों को दीर्घकाल तक सचालित करना आवश्यक होता है। देश में राजनीतिक उथल-पुथल के फलस्वरूप आधारभूत नीतियां बदल जाती हैं और नियोजित अर्थ व्यवस्था को आघात पहुंचने के साथ बहुत सी अधूरी परियोजनाओं पर किये गये व्यय व्यर्थ जाते हैं।

(6) **अप्राकृतिक आर्थिक नियन्त्रणों में त्रुटि का भय**—नियोजित अर्थ व्यवस्था के अन्तर्गत मूल्य, माग एवं पूर्ति को अपने आप स्वतन्त्र रूप में समायोजित होने के लिए छोड़ा नहीं जाता है। नियोजन अधिकारी बाजार-तन्त्रवाओं (Market Mechanism) को इस प्रकार नियन्त्रित करने का प्रयत्न करते हैं कि विभिन्न वस्तुओं एवं सेवाओं के मूल्य, माग एवं पूर्ति में योजना के उद्देश्यों के अनुकूल अप्राकृतिक सन्तुलन स्थापित हो सके। इस अप्राकृतिक सन्तुलन को नियन्त्रित करने के लिए बहुत से आर्थिक नियन्त्रणों का प्रयोग किया जाता है जिनके द्वारा सम्भावित प्रभाव उत्पन्न नहीं होते हैं और सन्तुलन को बनाये रखना अत्यन्त कठिन हो जाता है। विभिन्न नियन्त्रणों में किसी

एक के भी ठीक प्रकार से संचालित न होने पर अर्थ-व्यवस्था के समस्त क्षेत्रों पर गलत प्रभाव पड़ता है।

(7) **प्राकृतिक परिस्थितियों की अनिश्चितता**—नियोजित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत जो लक्ष्य निर्धारित किये जाते हैं, वे वर्तमान परिस्थितियों एवं भविष्य के अनुमानों पर आधारित रहते हैं, परन्तु प्राकृतिक परिस्थितियाँ इतनी अनिश्चित होती हैं कि उनके सम्बन्ध में कोई अनुमान ठीक प्रकार नहीं लगाया जा सकता है। अर्थ-व्यवस्था के ऐसे क्षेत्र जिन पर प्राकृतिक परिस्थितियाँ प्रभाव डालती हैं, उनका विकास लक्ष्य के अनुसार होना अत्यन्त कठिन होता है। कृषि-प्रधान अल्प-विकसित राष्ट्रों में कृषि का विकास इसलिए नियोजित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत लक्ष्य के अनुसार प्राप्त नहीं हो पाता है। कृषि-क्षेत्र में लक्षित प्रगति न होने पर नियोजित अर्थ-व्यवस्था के छिन्न-भिन्न होने का भय रहता है।

(8) **कृषि-क्षेत्र का विकास असम्भावित**—कुछ अर्थशास्त्रियों का विचार है कि केन्द्रित अर्थ-व्यवस्था (Centralized Economy) में कृषि का पर्याप्त विकास नहीं किया जा सकता। कृषि-क्षेत्र में निजी प्रारम्भिकता, निर्णय एवं जोखिम की आवश्यकता प्रत्येक कार्यवाही करते समय होती है। केन्द्रीय अर्थ-व्यवस्था में प्रत्येक आर्थिक क्रिया आदेशों के अनुसार की जाती है और निजी निर्णयों को कोई स्थान नहीं दिया जाता है। इसी कारण हम देखते हैं कि साम्यवादी राष्ट्र में कृषि-क्षेत्र की प्रगति औद्योगिक क्षेत्र की तुलना में कम रही है। नियोजित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत भी कृषि-विकास के लिए की गयी केन्द्रीय कार्यवाहियाँ अधिक उपयुक्त नहीं होती है और इसके लिए विकेन्द्रित संस्थाओं एवं निजी प्रोत्साहन की आवश्यकता होती है, जिनको योजना-अधिकारी के निर्णयों के अनुसार संचालित करना अत्यन्त कठिन होता है। कुछ सीमा तक इस प्रकार यह कहना ठीक है कि नियोजित अर्थ-व्यवस्था कृषि-विकास की तुलना में औद्योगिक विकास के अधिक उपयुक्त होती है।

(9) **विदेशी सहायता का अभाव**—नियोजित अर्थ-व्यवस्था के द्वारा प्रत्येक राष्ट्र यह प्रयत्न करता है कि वह अधिक क्षेत्रों में आत्म-निर्भर हो सके और इसके लिए अपने ही देश में उत्पादक एवं पूँजीगत वस्तुओं के उद्योगों का विस्तार एवं विकास करना होता है, जो बिना विदेशी सहायता—धन, तान्त्रिक जानकारी एवं विशेषज्ञों के रूप में—सम्भव नहीं हो सकता है। विदेशी सहायता का प्रवाह दीर्घकाल तक जारी रहने पर ही नियोजन में लक्ष्यों की पूर्ति की जा सकती है। परन्तु राजनीतिक कारणों एवं अन्तर्राष्ट्रीय वैमनस्य के कारण विदेशी सहायता दीर्घकाल तक प्राप्त होना प्राय सम्भव नहीं होता है और कभी-कभी नियोजन अधिकारी विदेशी सहायता के साथ जुड़ी हुई कठोर राजनीतिक शर्तों को मानकर विदेशी सहायता प्राप्त करने को राजी हो जाते हैं, जिसके फलस्वरूप देश में राजनीतिक दासता का भय उत्पन्न होता है।

(10) **मुद्रा-स्फीति का भय**—नियोजित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत अधिक विनियोजन करने की आवश्यकता होती है, जिसके लिए पर्याप्त धन एकत्रित करने हेतु मुद्रा-प्रसार का उपयोग किया जाता है। यदि विनियोजन का उत्पादक क्रियाओं में उचित अथवा पूर्णतम एवं प्रभावशाली उपयोग नहीं किया जाता है तो मूल्य-स्तर बढ़ने लगते हैं। पर्याप्त नियन्त्रण-व्यवस्था न होने पर मूल्य-स्तर की यह वृद्धि आगे की वृद्धि का कारण बन जाती है और इस प्रकार जब यह चक्र जारी हो जाता है तो अर्थ-व्यवस्था आर्थिक विप्लव (Economic Chaos) की ओर अग्रसर हो जाती है।

नियोजित अर्थ-व्यवस्था की परिसीमाओं का अध्ययन करने से स्पष्ट है कि इनमें अधिकतर परिसीमाएँ नियोजित अर्थ-व्यवस्था को कुशलतापूर्वक न चलाने के कारण उदय होती हैं। यदि अनियोजित अर्थ-व्यवस्था को नियोजित अर्थ-व्यवस्था की परिसीमाओं से तुलना करें तो हमें ज्ञात होता है कि बाद वाली परिसीमाएँ अत्यन्त कम गम्भीर हैं। इसके अतिरिक्त नियोजित अर्थ-व्यवस्था की परिसीमाओं का ज्ञान शीघ्र हो जाता है और उनके कारणों का पता लगाना भी सम्भव होता है क्योंकि नियोजित अर्थ-व्यवस्था एक खुली दृष्टि (Open Eyes) वाली व्यवस्था होती है जिसके गुणों एवं दोषों को जान-बूझकर समय-समय पर आँका जाता है और आवश्यक समायोजन उचित समय पर कर लिये जाते हैं। दूसरी ओर, अनियोजित अर्थ-व्यवस्था दृष्टिहीन अर्थ-व्यवस्था होती है। जिसमें प्रत्येक क्रिया स्वयं समायोजित होने के लिए छोड़ दी जाती है, जिसके फलस्वरूप यह समायोजन देर से हो पाते हैं और इस मध्यकाल में साधनों का अपव्यय एवं शोषण जारी रहता है।

6

नियोजित अर्थ-व्यवस्था मे प्राथमिकताओ का निर्धारण
[DETERMINATION OF PRIORITIES IN PLANNED ECONOMY]

विकास नियोजन वास्तव म भविष्य के सम्बन्ध म अनुमाना का एक समूह होता है। भविष्य के बारे म ठीक ठीक अनुमान लगाने का कोई विश्वसनीय तरीका न होने के कारण हमे भूत काल की घटनाओ को आधार मानकर भविष्य की सम्भावनाओ का अनुमान करना होता है। नियोजन के अन्तगत इन अनिश्चित सम्भावनाओ एव अनुमाना के आधार पर प्राथमिकताए निर्धारित करने की आवश्यकता होती है। प्राथमिकताए निर्धारित करने की क्रिया के अन्तगत साधनो को विभिन्न विकास कायक्रमो पर इस प्रकार आवण्टित करना होता है कि राष्ट्रीय आय मे अधिकतम वृद्धि की जा सके। राष्ट्रीय आय की वृद्धि के सम्बन्ध म यह भी निश्चय करना होता है कि यह वृद्धि वतमान राष्ट्रीय आय म होना चाहिए अथवा भविष्य म। राष्ट्रीय आय की वृद्धि का आयोजन वतमान वृद्धि का त्याग करके किया जाता है। वास्तव मे वतमान एव भविष्य दोनो ही कालो की राष्ट्रीय आय म वृद्धि करने का लक्ष्य आर्थिक नियोजन के अन्तगत होता है। इसी कारण नियोजन के अन्तगत जितना महत्व वतमान उत्पादन वृद्धि को दिया जाता है उससे कही अधिक महत्व उत्पादन-क्षमता की वृद्धि को दिया जाता है। उत्पादन क्षमता म वृद्धि करने के लिए उत्पादक वस्तुओ के उद्योगो के विस्तार को प्राथमिकता दी जाती है जिसके फलस्वरूप उपभोक्ता-वस्तुओ के उद्योगो के उत्पादन म तुरन्त अधिक वृद्धि नही होती है। इसके फलस्वरूप रोजगार की स्थिति आय का वितरण विभिन्न क्षेत्रो का विकास आदि सभी प्रभावित होते है। इसी कारण नियोजन के अन्तगत प्राय उत्पादन क्षमता का वतमान उपभोग स विरोधाभास होता है इसके साथ ही उत्पादन एव रोजगार प्रगति एव आय वितरण तथा वतमान एव भविष्य के लाभो म विरोधाभास उत्पन्न होता है। इन विरोधाभासो पर जब राजनीतिक छाप लगती है तो इनम समन्वय एव सामजस्य स्थापित होना और भी कठिन हो जाता है अन्तत इन आर्थिक विरोधाभासो मे सामजस्य राजनीतिक विचारधाराओ के आधार पर ही स्थापित होता है

नियोजित विकास के अन्तगत अथ व्यवस्था के समस्त क्षेत्रो की प्रगति का आयोजन किया जाता है अथ व्यवस्था का कोई भी क्षेत्र नियोजित विकास म अछूता नही रहता परन्तु किस क्षेत्र का कब और कितना महत्व दिया जाय यह प्राथमिकता के आधार पर निर्धारित किया जाता है। प्राथमिकता की प्रविधि इस प्रकार एक गतिशील प्रविधि है जिसम निरन्तर परिवतन करते रहना आवश्यक होता है प्राथमिकता का कोई भी क्रम सभी राष्ट्रो एव हर समय के लिए उपयुक्त नही समझा जा सकता है। अथ व्यवस्था के एक क्षेत्र का महत्व दूसरे क्षेत्र के महत्व को बढाता है और इसी प्रकार जस जस विकास आगे बढता है प्राथमिकता का क्रम भी बदलता जाता है।

अल्प विकसित राष्ट्र को आर्थिक विकास करने के लिए अधिकतम साधनो की आवश्यकता होता है इन राष्ट्रो म अल्प-साधनो की समस्या जटिल होती है अथात इन राष्ट्रो म समस्याए अत्यधिक और साधन अल्प होते है। ऐसी परिस्थिति म सभी समस्याओ का निवारण एक ही समय म होना सम्भव नही है। आर्थिक नियोजन द्वारा इन अल्प साधनो का विवेकपूर्ण उपयोग इस

प्रकार किया जाता है जिससे अधिकतम सामाजिक हित हो सके। अधिकतम सामाजिक हित प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक होगा कि विभिन्न समस्याओं की तीव्रता एवं अनिवार्यता के आधार पर उनकी सीमाएँ निश्चित की जायें। जो समस्याएँ अत्यावश्यक एवं आधारभूत प्रतीत हों, उन्हें साधनों का अधिकतम अंश वितरित किया जाना चाहिए। वास्तव में राष्ट्रीय साधनों का आवंटन सम-सीमान्त उपयोगिता नियम (Law of Equi-Marginal Utility) अथवा प्रतिस्थापन का नियम (Law of Substitution) के आधार पर होना चाहिए। साधनों का विभिन्न मदों पर वितरण करते समय जनसमुदाय के वर्तमान सन्तोष-मात्र पर ध्यान आकर्षित करना पर्याप्त न होगा, प्रत्युत साधनों का विभिन्न क्षेत्रों पर व्यय होने से भविष्य में अर्थ व्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ेगा, यह भी दृष्टिगत रखना आवश्यक है। जब राष्ट्रीय समस्याओं को उनकी तीव्रतानुसार सूचीबद्ध कर लिया जाता है तो अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों के साधनों का वितरण सुगम एवं सुविधाजनक होता है। यह कार्य प्राय योजना-आयोग द्वारा ही सम्पादित किया जाता है। यदाकदा एक प्राथमिकता मण्डल (Priorities Board) की स्थापना भी की जाती है। यह एक गम्भीर समस्या है जिसका विवेक-पूर्ण निवारण आर्थिक नियोजन हेतु अत्यन्त आवश्यक है। यह मूल समस्या है जिसमें सम्पूर्ण नियोजन तरु का सफलतापूर्वक लहलहाना निहित है। जड़ का कोई भी अंग कीट प्रभावित होना, अर्थात् लेशमात्र अविवेक भी भयकर परिणामों का कारण हो सकता है और उसका निर्माण तो दूर रहा, नियोजन-वृक्ष के सशक्त तने की कल्पना करना भी निरर्थक हो जायगा। सीमित आय वाले एवं अगणित आवश्यकताओं वाले एक व्यक्ति के सम्मुख जो समस्याएँ उपस्थित होती हैं, वे यदि सामूहिक रूप धारण कर लें तो वही रूप राष्ट्र के समक्ष एक समस्या के समतुल्य होगा क्योंकि राष्ट्र के सम्मुख अधिकतम सामाजिक हित प्रश्नवाचक होता है, न कि व्यक्तिगत स्वार्थ। सत्वर बहुमुखी आर्थिक विकास उद्देश्य होता है न कि एकाकी उपभोग मात्र। एकमात्र वर्तमान सन्तुलन ही नहीं, भविष्य के स्वप्न भी साकार करने होते हैं। एतदर्थ, प्रत्येक समस्या का आमूल गहन अध्ययन, परिणामों की जानकारी, तीव्रता का अनुमोदन एवं विश्लेषणात्मक व्यवस्था नियोजन के आवश्यक अंग हैं।

प्राथमिकता की समस्या के दो पहलू—प्राथमिकता की समस्या का अध्ययन दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—प्रथम, अर्थ साधनों की उपलब्धि तथा द्वितीय, उपलब्ध अर्थ-साधनों का वितरण।

अर्थ-साधनों की उपलब्धि—अर्थ की उपलब्धि पर ही विकास-योजनाओं को कार्यान्वित किया जाना निर्भर रहता है, अत अर्थ को सर्वप्रथम प्राथमिकता प्रदान की जानी चाहिए। अर्थ-सम्बन्धी प्राथमिकताएँ अन्य कृषि, उपयोग आदि सम्बन्ध प्राथमिकताओं से भिन्न होती हैं क्योंकि आर्थिक प्राथमिकताओं में राष्ट्र के अर्थ-साधनों को एकत्रित करने की ओर ध्यान दिया जाता है। आर्थिक प्राथमिकताओं के दो पहलू हैं—राजकीय तथा निजी। राजकीय क्षेत्र में केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों एवं स्थानीय संस्थाओं द्वारा अधिकतम अर्थ-साधन प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है। कर-व्यवस्था को पुनर्गठित किया जाना है जिससे कर को कम से कम छिपाया जा सके तथा उसके क्षेत्र में अधिकतम जनसंख्या को लाया जा सके। अतिरिक्त करारोपण भी सम्भव है, जिससे साधनों की कमी को पूरा किया जा सके। कर-वृद्धि तथा नवीन करारोपण के समय कतिपय आधारभूत तथ्यों को दृष्टिगत करना आवश्यक है। प्रथम, कर द्वारा केवल समर्थ एवं उपयुक्त व्यक्तियों पर कर-भार पड़ना चाहिए जिससे वे अपना जीवन स्तर बनाये रख सकें। द्वितीय कर द्वारा जनता में नये व्यवसायों की स्थापना करने तथा अधिक उत्पादन एवं लाभोपार्जन के प्रति रुचि में कमी न आये। तृतीय, कर-प्राप्ति के लिए दुराचारी कार्यों को वैधानिक संरक्षण प्राप्त नहीं होना चाहिए। अन्तत कर द्वारा धन के समान वितरण को सहायता प्राप्त होनी चाहिए। कर के अतिरिक्त राज्य के अन्य आर्थिक साधनों, जैसे जनता से ऋण, मुद्रा प्रसार आदि के हेतु भी निश्चय करना आवश्यक होता है। विदेशी पूंजी प्राप्त करने के लिए भी प्रयत्न किया जाना आवश्यक होता

है। योजना के कार्यक्रमों के आधार पर यह निश्चय किया जाता है कि कितनी विदेशी पूंजी की आवश्यकता होगी और इसको किन-किन दशो में उचित शर्तों पर प्राप्त किया जा सकता है।

आधुनिक युग में सार्वजनिक क्षेत्र के व्यवसायों से भी राज्य को पर्याप्त आय प्राप्त होती है। समाजवादी राष्ट्रों में अर्थ-व्यवस्था के अधिकतर अंग सार्वजनिक क्षेत्र द्वारा संचालित होते हैं और इन राष्ट्रों की राज्य की आय का बहुत बड़ा भाग सार्वजनिक क्षेत्र के व्यवसायों से लाभ प्राप्त होता है। इन व्यवसायों की आय इनके कुशल प्रशासन एवं मूल्य-नीति पर निर्भर रहती है। सार्वजनिक क्षेत्रों के व्यवसायों की मूल्य-नीति सरकार को प्राप्त होने वाली आय के आधार पर ही निर्धारित नहीं की जाती बल्कि जनकल्याण का भी ध्यान में रखना पड़ता है। जनोपयोगी सेवाओं के मूल्य इस प्रकार निर्धारित करने होते हैं कि जनसाधारण को इनके उपयोग में कठिनाई न हो तथा इन सेवाओं का उपयोग करने वाले व्यवसायों को अधिक लागत न देनी पड़े। सार्वजनिक क्षेत्र में चलाये जाने वाले व्यवसायों में उत्पादकों का मूल्य निर्धारित करने में प्रतिस्पर्धा के घटक का कोई महत्व नहीं होता है क्योंकि इन व्यवसायों को एकाधिकार का लाभ रहता है। जब राज्य जनसाधारण द्वारा अत्यधिक त्याग कराना चाहता है तो इन व्यवसायों के मूल्यों को ऊँचा रखा जाता है जिससे विवशतापूर्ण बचत उदय होती है। दूसरी ओर पूँजीवादी एवं प्रजातान्त्रिक राष्ट्रों में प्रायः जनोपयोगी सेवाओं से सम्बन्धित व्यवसायों का संचालन सार्वजनिक क्षेत्र में किया जाता है और इनकी आय में वृद्धि करने के लिए इनकी सेवाओं एवं उत्पादों के मूल्य अधिक ऊँचे निर्धारित करना सम्भव नहीं होता है क्योंकि जनसाधारण द्वारा इसका विरोध किया जाता है और अर्थ-व्यवस्था के निजी व्यवसायों का प्रभाव इन पर पड़ता रहता है।

अर्थ-साधनों का संग्रहण करने हेतु निजी बचत के स्तर को बढ़ाने की भी आवश्यकता होती है। देश की आन्तरिक बचत में पारिवारिक बचत का बहुत बड़ा अंश होता है। पारिवारिक बचत को प्रोत्साहित करने के लिए विभिन्न राजकोषीय एवं मौद्रिक कार्यवाहियाँ की जाती हैं। निजी बचत को प्रोत्साहित करने हेतु कर-सम्बन्धी रियायतें दी जाती हैं तथा बचत की राशि पर अधिक ब्याज का प्रावधान किया जाता है। दूसरी ओर निजी क्षेत्र के व्यवसायों को लाभ का अधिक भाग पूँजीगत विनियोजन करने के लिए मौद्रिक एवं राजकोषीय रियायतों के साथ आयात एवं निर्यात की सुविधाएँ भी प्रदान की जाती हैं। निजी क्षेत्र में बचत की वृद्धि हेतु विदेशी पूँजी की सुविधा भी सरकार द्वारा आयोजित की जाती है। कर और बचत में से किसका अधिक उपयोग साधनों को एकत्रित करने के लिए किया जाय इसका निर्धारण करने की आवश्यकता होती है। निजी क्षेत्र एवं सरकारी क्षेत्र के अर्थ-साधनों के पारस्परिक हस्तान्तरण के सम्बन्ध में भी निर्णय करना होता है। मुद्रा-बाजार में से निजी एवं सरकारी क्षेत्र का अर्थ-साधन एकत्रित करने के लिए प्रतिस्पर्धा की खुली छूट नहीं दी जाती है। समाजवादी व्यवस्था में निजी क्षेत्र पर प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक समझा जाता है।

अर्थ-साधन प्राप्त करने के विभिन्न स्रोतों में से किसका कितनी सीमा तक उपयोग किया जाय, यह निर्धारण करना योजना-अधिकारी का काम होता है। देश की विकास-स्थिति, जनसाधारण का जीवन-स्तर, राज्य की राजनीतिक मान्यता, जन-साधारण के विश्वास के प्रति जागरूकता आदि के आधार पर इन स्रोतों में चयन किया जाता है। विकास-विनियोजन की आवश्यकताएँ अत्यधिक होने के कारण लगभग सभी स्रोतों का उपयोग करके अर्थ-साधन प्राप्त करने के प्रयत्न किये जाते हैं। जब इन स्रोतों से भी पर्याप्त साधन उपलब्ध नहीं हो पाते तो हीनार्थ प्रबन्धन का उपयोग किया जाता है। हीनार्थ प्रबन्धन द्वारा जनसाधारण से विवशतापूर्ण बचत करायी जाती है। परन्तु हीनार्थ प्रबन्धन से बहुत से दोषों का अर्थ-व्यवस्था में प्रविष्ट होने का भय होता है जिसके कारण इस स्रोत का उपयोग बड़ी सावधानी एवं सीमित परिमाण में करना होता है।

अर्थ-साधनों का आवंटन—प्रत्येक राष्ट्र की आर्थिक समस्याएँ यद्यपि कुछ सीमा तक समान होती हैं तथापि उनकी तीव्रता प्रत्येक राष्ट्र में भिन्न होती है। समस्या की तीव्रतानुसार ही साधनों का आवंटन किया जाता है अतएव एक राष्ट्र की निश्चित प्राथमिकताएँ दूसरे राष्ट्र के लिए

आवश्यक रूप से लाभकारी नहीं हो सकती है। प्राथमिकता का अर्थ यह कभी भी नहीं समझना चाहिए कि इसमें केवल एक क्षेत्र के विकास को ही महत्व दिया जाता है, आर्थिक नियोजन में राष्ट्र के सभी क्षेत्रों के विकास के लिए प्रयत्न किया जाता है। परन्तु उन क्षेत्रों को, जिनका विकास होना अत्यावश्यक हो, साधनों का अपेक्षाकृत अधिक भाग मिलना चाहिए और अन्य क्षेत्रों को उनकी तीव्रतानुसार साधनों का वितरण किया जाता है। साधनों के वितरण के सम्बन्ध में प्राथमिकताओं का अध्ययन निम्नलिखित समूहों में किया जा सकता है :

(क) क्षेत्रीय प्राथमिकताएँ (Regional Priorities)।
(ख) उत्पादन एवं वितरण-सम्बन्धी प्राथमिकताएँ।
(ग) तान्त्रिकताएँ-सम्बन्धी प्राथमिकताएँ।
(घ) उपभोग एवं विनियोजन-सम्बन्धी प्राथमिकताएँ।
(ङ) उद्योग एवं कृषि-सम्बन्धी प्राथमिकताएँ।
(च) सामाजिक प्राथमिकताएँ।

(क) क्षेत्रीय प्राथमिकताएँ—एक विशाल राष्ट्र, जो विभिन्न जलवायु, भूमि, भाषा, सामाजिक प्रथाओं आदि के आधार पर विभिन्न प्रदेशों एवं क्षेत्रों में विभक्त हो, में सभी क्षेत्रों के जीवन-स्तर का समान होना कदापि सम्भव नहीं होता है। ऐसे राष्ट्र में कुछ क्षेत्र आर्थिक दृष्टिकोण से अन्य क्षेत्रों की तुलना में सम्पन्न होते हैं और कुछ देश के औसत जीवन-स्तर से भी बहुत निम्न श्रेणी में रहते हैं। ऐसे समाज में विकास का प्रारम्भ करते समय सन्तुलित क्षेत्रीय विकास की समस्याएँ पनपती हैं। किस क्षेत्र का, किस समय, कितना विकास किया जाय, यह निर्णय नियोजन-अधिकारी को करने होते हैं। नियोजन-अधिकारी के सम्मुख क्षेत्रीय विकास के सम्बन्ध में तीन प्रकार के दावे प्रस्तुत किये जाते हैं प्रथम, आर्थिक उपयुक्तता के आधार पर, द्वितीय, राजनीतिक दबाव के आधार पर और तृतीय, सामाजिक न्याय के आधार पर। देश में अर्थ-साधनों की अपर्याप्तता के कारण योजना-अधिकारी के लिए यह सम्भव नहीं होता कि इन तीनों प्रकार के दावों की पूर्ति कर सके। उसे इन तीनों दावों की गम्भीरता के आधार पर क्षेत्रीय प्राथमिकताएँ निर्धारित करनी होती हैं। आर्थिक उपयुक्तता के अन्तर्गत विकास-परियोजनाओं का संचालन ऐसे क्षेत्रों में किया जाना उचित होता है, जहाँ पहले से ही विकास का स्तर ऊँचा हो क्योंकि इन क्षेत्रों में नवीन व्यवसायों की स्थापना के लिए आवश्यक सुविधाएँ—यातायात, संचार, विद्युत-शक्ति, श्रम, जल, कच्चा माल आदि उपलब्ध होती हैं। दूसरी ओर, राजनीतिक स्तर पर भी विकसित क्षेत्रों का दबाव अधिक होता है क्योंकि यह क्षेत्र राज्य की आय का बड़ा भाग प्रदान करते हैं और इस आधार पर विकास-विनियोजन में से अधिक भाग का दावा करते हैं। राजनीतिक दबाव डालने हेतु, हड़ताल, तोड़-फोड़, अनशन आदि की कार्यवाहियाँ की जाती हैं। तीसरी ओर, सामाजिक न्याय का पक्ष, जो प्राय निर्बल होता है, अपना दावा प्रस्तुत करता है। सामाजिक न्याय के दृष्टिकोण से क्षेत्रीय सन्तुलित विकास, आर्थिक न्याय एवं समानता के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है। देश के समस्त नागरिकों को समान जीवन स्तर प्रदान करने के लिए, अविकसित क्षेत्रों में अधिक विनियोजन किया जाना आवश्यक होता है। परन्तु इन क्षेत्रों को प्राथमिकता प्रदान करने पर आर्थिक एवं राजनीतिक विरोध सामने आता है तथा इन क्षेत्रों में विकास का प्रारम्भ करने के लिए सामाजिक उपरिव्यय-सुविधाओं (यातायात, संचार, स्वास्थ्य, जल, शक्ति आदि) की व्यवस्था करने के लिए बड़े पैमाने पर विनियोजन करना पड़ता है जिसका तुरन्त के उत्पादन को लाभ नहीं मिलता है। इन विरोधाभासों के मध्य योजना-अधिकारी को क्षेत्रीय प्राथमिकताएँ निर्धारित करनी पड़ती हैं। तीनों विचारधाराओं में सामंजस्य स्थापित करने हेतु कभी-कभी अनावश्यक परियोजनाओं की भी स्थापना करनी पड़ती है।

(ख) उत्पादन एवं वितरण-सम्बन्धी प्राथमिकताएँ—प्रति व्यक्ति आय कम होने के साथ-साथ राष्ट्रीय आय तथा उत्पादन भी अत्यन्त कम होना अल्प-विकसित राष्ट्र का प्रमुख लक्षण है।

योजना-आयोग को एक ओर तो राष्ट्रीय धन के समान वितरण की ओर कार्यशील होना पडता है और दूसरी ओर राष्ट्रीय उत्पादन मे वृद्धि हेतु आवश्यक योजनाओ का क्रियान्वित करना भी वाछनीय होता है। यदि समान वितरण की समस्या को प्राथमिकता दी जाय तो राज्य को आय तथा अवसर के समान वितरण करने के लिए कठोर कार्यवाहियाँ करने की आवश्यकता होगी। एतदर्थ, राष्ट्र की आर्थिक क्रियाओ के राष्ट्रीयकरण को विशेष महत्व दिया जाना चाहिए तथा साधनो का अधिकतम भाग इस ओर वितरित किया जाना चाहिए। दूसरी ओर यदि राष्ट्र मे न्यूनताओ का आधिक्य हो और उपभोग की आधारभूत वस्तुओ जैसे खाद्य पदार्थ वस्त्रादि की अत्यन्त कमी हो तो राज्य को उत्पादन मे पर्याप्त वृद्धि करने के लिए आवश्यक कार्यवाही करना अनिवार्य होगा। उत्पादन मे तुरन्त वृद्धि हेतु राष्ट्र के वर्तमान उत्पादन के आकार प्रकार मे कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नही होने चाहिए जिसमे निजी क्षेत्र का विशेष स्थान प्राप्त होता है। साथ ही राज्य को निजी साहसियो का उत्पादन बढाने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। ऐसी परिस्थिति मे राज्य का केवल आधारभूत तथा सुरक्षा सम्बन्धी उद्योगो का राष्ट्रीयकरण करना उचित होगा। निर्धन वर्ग सदैव राष्ट्रीय धन के समान वितरण के लिए आवाज उठाता है जबकि धनी-वर्ग यह प्रयत्न करता है कि उनका अस्तित्व बना रहे और निर्धन वर्ग को अधिक उत्पादन मे सन्तुष्ट कर दिया जाय। योजना-आयोग को दोनो का मध्य मार्ग खोजना होता है।

(ग) **तान्त्रिकताएँ-सम्बन्धी प्राथमिकताएँ**—तान्त्रिकताओ का चयन करना नियोजित विकास का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अग होता है जिसके आधार पर देश के विकास की गति आर्थिक गति विधि एव सामाजिक सरचना निर्भर रहती है। विकास का प्रारम्भ करते समय तथा विकास के आगे बढने पर समय समय पर नियोजन अधिकारी को यह निर्णय करना होता है कि देश की विकास योजनाओ मे पूजी-प्रधान अथवा श्रम प्रधान तान्त्रिकताओ का उपयोग किया जाय। पूंजी प्रधान (Capital Intensive) उत्पादन विधियो मे ऐसे यन्त्रो एव पूँजीगत प्रसाधनो का उपयोग किया जाता है जिनमे श्रम की बचत होती है अर्थात श्रम का तुलनात्मक कम उपयोग होता है। दूसरी ओर श्रम प्रधान तान्त्रिकताओ मे यथासम्भव श्रम का अधिकाधिक उपयोग किया जाता है और पूँजी-प्रसाधनो का प्रति श्रमिक कम उपयोग किया जाता है। अल्प-विकसित राष्ट्रो मे इन दोनो तान्त्रिकताओ मे से किसको प्राथमिकता दी जाय इस सम्बन्ध मे बहुत मतभेद है। विभिन्न विशेषज्ञो एव अर्थशास्त्रियो ने जो विचार व्यक्त किये है उनका सक्षिप्त अध्ययन यहाँ किया जायगा।

अल्प विकसित राष्ट्रो मे उत्पादन के घटको का सम्मिश्रण एव उपलब्धि इस प्रकार की होती है कि श्रम का अन्य उत्पादन के घटको की तुलना मे बाहुल्य होता है। यदि विकास के इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जाय कि देश मे उपलब्ध उत्पादन के विभिन्न घटको का अधिकतम उपयोग कर के उत्पादन मे वृद्धि की जाय तो ऐसी तान्त्रिकताओ का चयन करना चाहिए जिसमे श्रम का अधिकतम उपयोग हो सके और पूंजी की न्यून उपलब्धि के कारण पूंजी प्रसाधन प्रति श्रमिक कम मात्रा मे प्रदान करके उत्पादन किया जा सके। दूसरे शब्दो मे हम कह सकते है कि ऐसी श्रम-प्रधान तान्त्रिकताओ का उपयोग किया जाय कि जिनमे पूँजी श्रम अनुपात कम रहे तथा उत्पादन पूँजी का अनुपात अधिक हो सके। श्रम प्रधान तान्त्रिकताओ का उपयोग करने से प्रति श्रमिक उत्पादकता कम रहती है यद्यपि श्रम का अधिक उपयोग करके देश के कुल उत्पादन मे वृद्धि करना सम्भव होता है। श्रम प्रधान तान्त्रिकताओ के अन्तर्गत हल्के एव सस्ते पूंजी प्रसाधनो एव यन्त्रो का उपयोग किया जाता है और इनके उपयोग मे लचीलापन अधिक होता है। दूसरी ओर यह तान्त्रिकताएँ देश की बेरोजगारी एव अदृश्य बेरोजगारी की समस्याओ के निवारण मे भी सहायक होती है। परन्तु आर्थिक प्रगति के लिए श्रम प्रधान तान्त्रिकताएँ निम्नलिखित कारणो से अधिक उपयुक्त नही समझी जाती है

(अ) कम पूंजी उपयोग करने वाली तान्त्रिकताओ की कुशलता अन्य उपलब्ध पूंजी प्रधान तान्त्रिकताओ से कम होती है और इनमे अतिरिक्त श्रम की उत्पादकता भी कम रहती है।

है। सामाजिक लागतो से हमारा आशय किसी आर्थिक क्रिया के फलस्वरूप उदय होने वाले समस्त प्रभावो (आर्थिक एव सामाजिक) से होता है। निजी साहसी द्वारा अपनी परियोजनाओ के चयन मे केवल निजी लागतो एव निजी लाभो पर ही ध्यान दिया जाता है। निजी साहसी को इस बात से सम्बन्ध नही होता कि उसकी परियोजना का समाज के हित एव अहित पर क्या प्रभाव होता है। सामाजिक लागत एव लाभ परियोजना के बाहर के लागत एव लाभ होते है। यह बाहरी प्रभाव कई प्रकार से हो सकते है, जैसे—एक परियोजना के उत्पादन का प्रभाव दूसरी परियोजनाओ के उत्पादन पर अनुकूल या प्रतिकूल हो सकता है। इसी प्रकार, एक परियोजना का उत्पादन समाज के सामान्य उपभोग-स्तर को प्रभावित कर सकता है और उस परियोजना से उत्पादित वस्तु के उपभोग के अतिरिक्त अन्य वस्तुओ एव सेवाओ के उपभोग को प्रभावित कर सकता है, जैसे—विद्युत सप्लाई की सुविधा होने पर विद्युत उपकरणो और उन उपकरणो द्वारा उत्पादित वस्तुओ एव सेवाओ का उपयोग बढ जाता है।

इस प्रकार प्रत्येक परियोजना की आन्तरिक एव बाह्य सामाजिक एव आर्थिक, निजी एव सामाजिक आदि सभी लागतो एव लाभो की तुलना की जाती है। यदि कुल लाभ एव कुल लागत का अनुपात एक के बराबर होता है तो परियोजना का विचाराधीन किया जा सकता है। जब लाभ-लागत का अनुपात एक से अधिक हो तो परियोजना को अधिक उपयुक्त समझा जाता है। परन्तु जब लाभ और लागत का अनुपात एक से कम होता है तो उस परियोजना को विचाराधीन नही किया जाता है। विभिन्न परियोजनाओ मे सर्वाधिक उपयुक्त परियोजना का चयन करने के लिए उन परियोजनाओ के चयन-लागत अनुपात का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है और जिस परियोजना का लाभ लागत अनुपात सर्वाधिक होता है उसका चयन कर लिया जाता है।

लागत-लाभ-विश्लेषण के तत्व

लागत-लाभ-विश्लेषण की प्रक्रिया मे तीन क्रियाएँ सम्मिलित होती है—

(1) प्रस्तावित एव उनकी वैकल्पिक परियोजनाओ के लाभ एव लागत का परिमाणाकन (Quantification)।

(2) लाभो एव लागतो को बटटा लगाकर (Discounting) लाभो के लिए दूसरी एक सख्या प्राप्त करना जो इन परियोजनाओ की वर्तमान लागत एव लाभ के मूल्य का प्रतिनिधित्व करे।

(3) इन सख्याओ के आधार पर प्रत्येक परियोजना के लाभ-लागत का अनुपात निर्धारित करना तथा इन अनुपातो के आधार पर वैकल्पिक परियोजनाओ मे चयन करना।

लाभ एव लागत का परिमाणाकन

एक प्रतिस्पर्द्धी अर्थ व्यवस्था मे किसी परियोजना से उत्पन्न होने वाले लाभो का परिमाणात्मक मूल्याकन करना सरल होता है। इस परियोजना मे वस्तुओ एव सेवाओ के प्रवाह अथवा पूर्ति मे जो वृद्धि होती है उसका मूल्याकन विपणि मूल्यो पर किया जा सकता है। परन्तु यह वस्तुएँ एव सेवाएँ विपणि मे वेचने योग्य होनी चाहिए और परियोजना के सचालन के फलस्वरूप निर्धारित समय मे सापेक्षिक मूल्यो एव लागतो मे परिवर्तन नही होना चाहिए। मूल्यो मे परिवर्तन तभी नहीं होता है जबकि मूल्यो को नियन्त्रित कर दिया जाता है और ऐसी परिस्थिति मे परियोजना के लाभ का मूल्याकन उनमे उत्पादित वस्तुओ एव सेवाओ के छाया मूल्यो (Shadow Prices) पर किया जा सकता है। दूसरी ओर, जब परियोजना के जीवनकाल मे सापेक्षिक मूल्यो मे परिवर्तन होना सम्भावित होता है तो भविष्यत लाभो का मूल्याकन बट्टे के आधार पर किया जाता है। बट्टा लगाकर लाभ की गणना करने की विधि को आगे स्पष्ट किया गया है। परियोजना के जीवनकाल मे उदय होने वाले समस्त लाभो का मूल्याकन करने के लिए अर्थ-व्यवस्था के मूल्य स्तर के परिवर्तनो को भी ध्यान मे रखना पडता है। प्राय परियोजना काल मे उपस्थित वस्तु के सम्भावित मूल्यो के औसत का उपयोग करके इस समस्या का निवारण कर लिया जाता है। किसी-किसी

परियोजना की प्रवृत्ति ऐसी होनी है कि इसके द्वारा प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से बाह्य मितव्ययता उत्पन्न होती है जिसका अनुमान लगाना एव उसके अनुसार लाभ मे समायोजन करना सम्भव नही होता है।

एक नियोजित अर्थ-व्यवस्था मे सरकारी क्षेत्र की स्थिति निजी विनियोजको से भिन्न रहती है। सरकारी क्षेत्र मे बहुत सी सेवा सम्बन्धी परियोजनाएँ ऐसी होती है जिनकी सेवाओ के लिए प्रत्यक्ष रूप से कोई मूल्य नही लिया जाता है, जैसे सडकें, स्कूल, स्वास्थ्य-सेवाएँ आदि। इन सेवाओ का इसीलिए विपणि-मूल्य के आधार पर मूल्याकन करना सम्भव नही हो सकता है। सरकार द्वारा समाज की सामूहिक आवश्यकताओ की पूर्ति की जाती है। सरकारी व्यवसायो द्वारा जिन लोगो को लाभ एव सेवाएँ पहुँचायी जाती है उनका समूह उन लोगो के समूह से अलग होता है जो इन व्यवसायो की लागत को वहन करते है। ऐसी परिस्थिति मे परियोजनाओ के लाभ का मूल्याकन निम्नलिखित विचारधाराओ के आधार पर किया जाता है

परियोजनाओ के लाभ का मूल्याकन—(अ) देश की आर्थिक प्रगति की गति के दृष्टिकोण मे अर्थात परियोजना द्वारा राष्ट्रीय आय मे कितनी वृद्धि होने की सम्भावना है, यह अनुमान लगाना अत्यन्त जटिल काय होता है क्योकि प्रत्येक परियोजना का प्रभावित क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत होता है। एक परियोजना उन सभी व्यवसायों को प्रभावित करती है जिनकी उत्पादित वस्तुओ एव सेवाओ का उपयोग यह परियोजना करती है। साथ ही, प्रत्येक परियोजना द्वारा उत्पादित वस्तुओ एव सेवाओं का जो व्यवसाय उपयोग करते है, वह भी इस परियोजना के प्रभाव-क्षेत्र मे आते है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक परियोजना के सामाजिक प्रभाव का भी अध्ययन एव मूल्याकन करना चाहिए। इन सब गणनाओं के आधार पर ही किसी परियोजना द्वारा प्रदान किये गये राष्ट्रीय आय के योग-दान का अनुमान लगाया जा सकता है। यह विश्लेषण तभी सम्भव हो सकता है जबकि अर्थ-व्यवस्था सगठित हो, सास्यिकीय तथ्य विश्वसनीय एव पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध हो और इन दोनो के आधार पर आदाय प्रदाय (Input-output) का विश्लेषण किया जाय।

(ब) सरकारी आय के दृष्टिकोण से परियोजना द्वारा सरकारी आय मे कितनी वृद्धि होती है अथवा सरकारी व्यय मे कितनी कमी होती है, इसका अनुमान लगाया जाता है। एक नियोजित एव समाजवादी अर्थ व्यवस्था मे परियोजना के लाभों का इस आधार पर मूल्याकन करना अनिवार्य होता है क्योकि सरकारी आय भविष्य मे विकास की प्रक्रिया को गतिमान करती है और आर्थिक एव सामाजिक समानता के लक्ष्य की पूर्ति मे सहायक होती है।

(स) विदेशी विनिमय के अर्जन के दृष्टिकोण से यह अनुमान लगाया जाता है कि परियोजना द्वारा निर्यात मे कितनी वृद्धि और आयात मे कितनी कमी करना सम्भव हो सकता है। इसके साथ ही यह भी देखा जाता है कि परियोजना के परिणामस्वरूप आयात-प्रतिस्थापन एव निर्यात-सवर्द्धन करने वाले क्षेत्रो पर क्या प्रभाव पडता है। नियोजित विकास-प्रक्रिया के अन्तर्गत परियोजनाओ का चयन करते समय इस प्रकार का विश्लेषण अत्यन्त आवश्यक होता है क्योकि योजना के अभिलाषी कार्यक्रमों के विदेशी विनिमय-तत्व की पूर्ति करना आवश्यक होता है। जहाँ परियोजना द्वारा विदेशी विनिमय-अर्जन का अध्ययन किया जाता है, वही इन परियोजनाओं की वर्तमान एव भविष्य की विदेशी विनिमय की आवश्यकताओ का भी विश्लेषण किया जाता है।

(द) **आय वितरण के गुणमान के आधार पर परियोजनाओ के लाभ का मूल्याकन**—परियोजनाओं के लागत लाभ विश्लेषण को केवल आर्थिक दृष्टिकोण तक ही सीमित नही रखा जाता है अपितु सामाजिक दृष्टिकोण मे भी लागत-लाभ विश्लेषण करना, विशेषकर नियोजित अर्थ-व्यवस्था मे, आवश्यक समझा जाता है। नियोजन का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य आर्थिक एव सामाजिक विषमताओ को समाप्त करना होता है और विषमताओ को कम करने के लिए विकास-परियोजनाओं के लाभ का बडा भाग कम आय वाले वर्ग को पहुँचाना आवश्यक समझा जाता है। विभिन्न विकास-शील देशो के आर्थिक इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि विकास की प्रारम्भिक अवस्था

मे विकास-परियोजनाओं के लाभ का अधिक भाग उच्च आय वाले लोगों को प्राप्त होता है। विश्व-बैंक के अध्ययनों के अनुसार, ब्राजील, भारत, मैक्सिको एव अन्य 40 विकासशील देशो के अनुभवो से ज्ञात होता है कि राष्ट्रीय आय का वह भाग, जो निर्धनतम 60% जनसाधारण को मिलता है, विकास के साथ घटता जा रहा है। इस परिस्थिति को ध्यान मे रखते हुए विकास-परियोजनाओ का अध्ययन एव विश्लेषण उनसे उत्पन्न होने वाले लाभो के वितरण-पक्ष के आधार पर करना अत्यन्त आवश्यक है। आय-वितरण के दृष्टिकोण मे लागत लाभ-विश्लेषण प्रक्रिया मे निम्नलिखित तीन क्रियाएँ सम्मिलित की जाती है

लाभ-लागत-विश्लेषण एव आय-वितरण

वर्गीकरण—प्रत्येक परियोजना से लाभ पाने वाले एव हानि पाने वाले वर्गो को निर्धारित करना और फिर उन्हे आय के अनुसार उप-समूहो मे विभक्त करना।

लागत और लाभ को वितरण-गुणभान के आधार पर भार देना—भार देने के लिए सर्वप्रथम परियोजना के लाभ एव हानि को (क) के अन्तर्गत बनाय गये उप-समूहों मे आवटित किया जाता है। इस आवटन के लिए परियोजनाओं के कुल लाभ अथवा हानि मे प्रत्येक उप-समूह को निर्धारित किया जाता है। लाभ पाने वाले एव हानि पाने वाले वर्गो के अश को परियोजना के समस्त जीवनकाल के लिए बट्टा लगाकर निर्धारित किया जाता है। लाभ एव हानि मे प्रत्येक उप-समूह का अश निर्धारित करने के पश्चात प्रत्येक उप-समूह के लिए भार निर्धारित किये जाते है। यह भार प्राय प्रत्येक उप-समूह को राष्ट्रीय आय मे मिलने वाले भाग के प्रतिशत के आधार पर निर्धारित किये जाते है। जिस उप-समूह को राष्ट्रीय आय मे जितना कम भाग प्राप्त हो रहा है, उसको उतना ही अधिक भार दिया जाता है जिससे निर्धनतम वर्ग को परियोजना के लाभो का अधिकतम भाग प्रदान किया जा सके। भार निर्धारित करने के पश्चात इन भारो से सम्बन्धित उप-समूहो को आवटित लाभ एव लागत को गुणा कर दिया जाता है और फिर इस गुणनफल को परियोजनाओ के अन्य दृष्टिकोणो से निर्धारित गैरभारित लागत एव लाभ मे जोड दिया जाता है और फिर लाभ-लागत-अनुपात निर्धारित किया जाता है।

परियोजनाओ की लागत का परिमाणाकन—परियोजनाओ की लागत मे उसकी निर्माण-लागत एव उत्पादन मे उपयोग आने वाले साधनो की लागत को सम्मिलित किया जाता है। लागतो का मूल्याकन करने के लिए प्रत्येक विनियोजन की अवसर-लागत ज्ञात करना आवश्यक होता है। किसी परियोजना के निर्माण एव उत्पादन-सम्बन्धी साधनो की कुल लागत बाजार-मूल्यो के आधार पर निकाली जा सकती है और फिर इस लागत की राशि की अवसर-लागत भी ज्ञात करनी होती है। अवसर-लागत का अर्थ है कि उक्त विनियोजन को यदि अन्य वैकल्पिक व्यवसायो अथवा परियोजनाओ मे लगाया जाता तो कितना लाभ प्राप्त होता। वैकल्पिक परियोजना से प्राप्त होने वाले लाभ का त्याग करने पर ही विनियोजन को निर्धारित परियोजना मे लगाया जाता है। इस प्रकार वैकल्पिक परियोजना के सम्भावित लाभ को ही निर्धारित परियोजना की अवसर-लागत माना है। परन्तु अवसर-लागत तभी ज्ञात की जा सकती है जबकि साधन सजातीय एव गतिशील (Mobile) हो क्योकि ऐसा न होने पर इन साधनो के वैकल्पिक उपयोग की बात पर विचार नही किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, कोई विदेशी सहायता किसी विशिष्ट परियोजना के लिए ही उपलब्ध हो तो उसके वैकल्पिक उपयोग का प्रश्न ही नही उठ सकता। इस प्रकार इस विदेशी सहायता की अवसर-लागत शून्य होगी। इस प्रकार श्रम की अवसर-लागत को भी निर्धारित करना कठिन होता है। जिन देशो मे व्यापक बेरोजगारी विद्यमान होती है, उनमे श्रम की अवसर-लागत शून्य ही होती है क्योकि निर्धारित परियोजना मे यदि परिश्रम का उपयोग न किया जाय तो वह श्रम बेरोजगार ही रहेगा। इसी प्रकार विशिष्ट दक्षता वाले श्रम के सम्बन्ध मे भी अवसर-लागत ज्ञात नही हो सकती है क्योकि यह श्रम केवल विशिष्ट कार्यो के लिए ही उपयोग हो सकता है और उसका वैकल्पिक उपयोग अत्यन्त सीमित क्षेत्र मे ही हो सकता है।

नियोजित विकास के अन्तगत सावजनिक क्षत्र मे बहुत सी समाज सेवा एव कल्याण सम्ब धी परियोजनाए जनसाधारण को बिना मूल्य कुछ आवश्यक सुविधाए प्रदान करने के लिए सचालित की जाती है। इनका प्रतिफल आर्थिक दृष्टिकोण मे शून्य होता है परन्तु सामाजिक दृष्टिकोण से इन परियोजनाओ का प्रतिफल अधिक होता है । सामाजिक प्रतिफल का मूल्याकन ठीक प्रकार से करना कठिन ही नही बल्कि असम्भव होता है ।

सामाजिक लागत एव लाभ का विश्लेषण—परियोजनाओ की आर्थिक लागत एव लाभ के मूल्याकन को जब तक सामाजिक लागत लाभ से समायोजित नही कर दिया जाता हमारा लागत लाभ विश्लेषण विश्वसनीय नही समझा जा सकता है । किसी भी परियोजना मे श्रम कच्चा माल पूजी भूमि साहसी का लाभ एव अन्य उत्पादन के साधनो को दिये जाने वाले पारिश्रमिक के अतिरिक्त समाज को भी कुछ त्याग एव कठिनाई वहन करनी पडती है जिसकी ओर विनियोजनकर्ता ध्यान नही देता है । उदाहरणाथ किसी विशिष्ट स्थान पर कोई कारखाना स्थापित करने पर उस स्थान के निवासियो को अपने घरो एव खेतो को छोडकर नये स्थान पर जाने मे जो कठिनाई होती है उस कठिनाई को सामाजिक लागत समझा जाता है । यह कठिनाई मौद्रिक रूप से मूल्याकित करना सम्भव नही होता है । इसका जो भी अनुमानित मूल्य लगाया जाता है वह पक्षपातपूर्ण रहता है और उसे अधिक विश्वसनीय नही समझा जा सकता है । सामाजिक लागतो का सूचीयन करना भी कठिन होता है क्योकि प्रत्यक परियोजना का प्रभावित क्षत्र अत्यन्त व्यापक होता है। उदाहरणाथ कारखाना के धुए एव गन्दगी से वातावरण स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हो जाता है दुघटनाओ म श्रमिको को शारीरिक क्षति पहुचती है नवीन सामाजिक व्यवस्था स्थापित होने से परम्परागत श्रम एव व्यवसायो का पतन होने लगता है और बहुत से परिवारो को कठिनाई उठानी पडती है आदि एसी कठिनाइया है जिनका सूचीयन करना ही सम्भव नही होता है ।

परियोजनाओ क क्रियान्वयन के फलस्वरूप कुछ सामाजिक लाभ भी उदय होते है जो मौद्रिक अथवा आर्थिक लाभो से भिन्न होते है । परियोजना के फलस्वरूप लोगो को रोजगार उपलब्ध होने के साथ साथ उनके जीवन-स्तर म सुधार होता है जिससे लोगो को सन्तोष प्राप्त होता है यातायात सचार एव सुविधाओ म सुधार होने के कारण लोगो को पारस्परिक सम्पक स्थापित करने मे सन्तोष प्राप्त होता है और नय नये व्यवसाय स्थापित होते ह आदि-आदि ऐसे सामाजिक लाभ हैं जिनका सूचीयन एव मूल्याकन करना सम्भव नही होता है ।

लाभ एव लागत के मौद्रिक मल्य पर बट्टा लगाना

परियोजनाओ के लाभो एव लागतो का मौद्रिक मूल्य परियोजना के जीवनकाल के प्रत्येक वष के लिए निर्धारित करने के पश्चात उस पर बट्टा काट कर उनका वतमान मूल्य निकाला जाता है । परियोजना के जीवनकाल के प्रत्येक वष म लाभ एव लागत भिन्न भिन्न हो सकती है । भविष्य की लागत एव लाभ का वतमान मूल्य निकालने के लिए बट्टा लगाने की विधि का उपयोग किया जाता है । विभिन्न वकल्पिक परियोजनाओ का तुलनात्मक विश्लेषण करने के लिए बट्टा लगाने की प्रक्रिया अनिवाय होती है क्योकि इसके द्वारा परियोजना के सम्पूण जीवनकाल के लाभ एव लागत की एक सख्या प्राप्त की जा सकती है ।

जिस प्रकार वतमान म दिय गय ऋण का चक्रवृद्धि ब्याज पर भविष्य के किसी भी वष के लिए मूल्य निकाला जा सकता है उसी प्रकार इसके विपरीत भविष्य के किसी भी मूल्य का निश्चित ब्याज की दर पर वतमान मूल्य ज्ञात किया जा सकता है । उदाहरणाथ यदि 100 रु ऋण पर दिय जाय और 5% चक्रवृद्धि ब्याज दर लगायी जाय तो 2 वष बाद यह राशि 110 25 रु हो जायगी । इसके विपरीत दो वष बाद 110 25 रु मिलने वाले मूल्य का 5% की दर से बट्टा लगाया गया मूल्य 100 रु होगा । वास्तव म बट्टा चक्रवृद्धि ब्याज का व्युत्क्रम (Reciprocal)

होता है। उपर्युक्त उदाहरण मे चक्रवृद्धि ब्याज के आधार पर मिश्रधन (110 25 रु) और मूलधन का अनुपात $\frac{100}{110\ 25}$ = 90703 होता है। अब यदि 90703 का गुणा मिश्रधन 110 25 म कर दिया जाय तो हम वास्तविक राशि 100 रु पर आ जाते हैं। निम्नलिखित एक अन्य उदाहरण से यह तथ्य और स्पष्ट हो जाता है

1 रु 6% चक्रवृद्धि ब्याज की दर से 7 वर्षो म 1 50363 रु हो जाता है, अर्थात् मूलधन एव मिश्रधन का अनुपात 1 150363 होता है। दूसरी ओर, 1 50363 रु 6% बट्टा-दर पर 7 वर्षो के काल में 1 रु हो जायगा अर्थात् मूल राशि 1 50363 तथा बट्टा लगाकर प्राप्त होने वाली शुद्ध राशि 1 रु का अनुपात 1 0 66507 होगा। अब यदि चक्रवृद्धि ब्याज-अनुपात 1 50363 और बट्टे के अनुपात 0 66507 का गुणा किया जाय तो इनका गुणनफल 1 होगा। इसी आधार पर यह कहा गया है कि बट्टा और चक्रवृद्धि ब्याज एक-दूसरे के व्युत्क्रम होते है।

बट्टा लगाने की विधि के द्वारा हम यह ज्ञात करन मे सफल होते है कि किसी परियोजना से भविष्य मे जो लाभ प्राप्त होगा, उसका वर्तमान मे मूल्य कितना है तथा भविष्य मे इस पर जो लागत लगेगी, उसका वर्तमान मूल्य कितना है और इन दोनो के अन्तर से हम यह जान सकते है कि वास्तव मे कोई परियोजना कितनी लाभप्रद समझी जानी चाहिए। भविष्य मे जितनी देर मे परियोजना का लाभ तथा लागत प्राप्त होने वाला होगा, उतना ही कम उसका बट्टाकृत मूल्य होगा और वर्तमान निर्णयो मे उनता ही कम भार उस भविष्यत लाभ एव लागत का रहेगा। इसी प्रकार ब्याज की दर जितनी अधिक होगी, उतना ही अधिक ब्याज वर्तमा मे नकद राशि रखने के लिए देना होगा। यही कारण है कि ऐसी परियोजनाओ के चयन के सम्बन्ध मे, जिनमे अधिक विनियोजन करना होता है निर्णय लेते समय वही परियोजनाएँ चयन की जायेंगी, जिनका भविष्य का लाभ बहुत अधिक होगा क्योकि भविष्यत लाभ का वर्तमान बट्टाकृत मूल्य कम होता है। यदि बट्टाकृत मूल्य (लाभ एव लागत) की गणना किये बिना परियोजनाओ का चयन किया जाता है तो विनियोजन के गलत दिशाओ मे प्रवाहित होने की अत्यधिक सम्भावना होगी।

लाभ एव लागत का बट्टाकृत मूल्य किसी विशिष्ट समय के लिए अगणित किया जाता है। यह विशिष्ट समय परियोजना के प्रारम्भ के पूर्व, परियोजना का निर्माण प्रारम्भ अथवा सम्पूर्ण होने, अथवा परियोजना के जीवनकाल का कोई अन्य समय हो सकता है। यह विशिष्ट समय परियोजना की प्रकृति एव उद्देश्यो पर निर्भर रहता है। जब यह विशिष्ट समय परियोजना के सम्बन्ध मे निर्णय करने के बाद का कोई समय होता है तो इस समय के पूर्व लागत एव लाभ को चक्रवृद्धि ब्याज की दर पर उस विशिष्ट समय तक बढा लिया जाता है तथा इस विशिष्ट समय के बाद मे होने वाली लागत एव लाभो को बट्टाकृत कर लिया जाता है। इस प्रकार एक समान समय के आधार पर परियोजनाओ की लागत एव लाभ का मूल्याकन किया जाता है।

बट्टा एव ब्याज की दर—लागत एव लाभ-विश्लेषण की गणनाओ के लिए सबसे कठिन काम ब्याज अथवा बट्टे की दरो को निर्धारित करने का होता है। निजी विनियोजक अपनी पूँजी के विनियोजन अवसरो पर यह दर आधारित करता है। वह यह अनुमान लगाता है कि वह अपनी पूँजी पर कितना न्यूनतम ब्याज प्राप्त कर सकता है। यह न्यूनतम ब्याज-दर उसकी पूँजी की अवसर लागत होगी और उसे परियोजना मे जब इस न्यूनतम ब्याज दर से अधिक आय प्राप्त होने की सम्भावना (लागत लाभ-विश्लेषण द्वारा) होगी तभी उस परियोजना का चयन किया जायेगा। दूसरी ओर, सरकारी सस्थाओ द्वारा जिस ब्याज-दर पर सार्वजनिक ऋण प्राप्त होते है, उसी दर को बट्टा दर के रूप मे उपयोग किया जाता है।

लाभ-लागत-अनुपातो की गणना एव परियोजनाओ का चयन

लाभ-लागत विश्लेषण के आधार पर परियोजनाओ का चयन करने हेतु प्रत्येक परियोजना

का लाभ एव लागत का अनुपात तैयार किया जाता है। यदि एक ही परियोजना के सम्बन्ध मे यह निर्णय करना हो कि उसे स्वीकार किया जाय अथवा नही तो उसका लाभ एव लागत का अनुपात देखा जायगा। यदि यह अनुपात 1 से अधिक हो तो वह स्वीकार कर ली जायगी, और अनुपात 1 से कम होने पर यह अस्वीकृत कर दी जायगी। उदाहरणार्थ, एक कारखाने की स्थापना एव सचालन की लागत 1,000 रु अनुमानित है। यदि यह कारखाना स्थापित नही किया जाता है तो विदेशो से वस्तुएँ आयात करने पर 300 रु अधिक व्यय करने पडते। कारखाना स्थापित करने पर आयात घट जायगा और आयातित वस्तुओ के लिए केवल 70 रु ही अधिक व्यय करने पड़ेगें। कारखाने की मरम्मत एव निर्वाह पर 50 रु प्रति वर्ष उसके जीवनकाल मे 10 वर्ष तक व्यय करना होगा। बट्टे की दर 8% निर्धारित की जाती है। इस कारखाने मे प्रति वर्ष 230 रु (300—70) का लाभ आयात-प्रतिस्थापन के फलस्वरूप होगा जिसमे से 50 रु प्रति वर्ष कारखाने का निर्वाह-व्यय हो जायगा। इस प्रकार 10 वर्ष तक प्रति वर्ष 180 रु का लाभ इस कारखाने से होगा जिसका बट्टाकृत मूल्य निम्न प्रकार होगा

$$\text{बट्टाकृत मूल्य निकालने का सूत्र} = \frac{1}{\left(1+\frac{r}{100}\right)^n} \times A$$

r = बट्टे की दर

n = वर्ष की क्रमसख्या जिसका बट्टाकृत मूल्य निकालना हो।

A = लाभ की सकल राशि

उपर्युक्त उदाहरण मे प्रथम वर्ष के लाभ का बट्टाकृत मूल्य

$$= \frac{1}{\left(1+\frac{8}{100}\right)^1} \times 180 = \frac{1}{\frac{27}{25}} \times 180 = \frac{25}{27} \times 180$$

$$= \frac{500}{3} = 166\ 67 \text{ रु}$$

दूसरे वर्ष के लाभ का बट्टाकृत मूल्य

$$= \frac{1}{\left(1+\frac{8}{100}\right)^2} \times 180 = \frac{1}{\frac{27}{25} \times \frac{27}{25}} \times 180$$

$$= \frac{625}{729} \times 180 = \frac{12500}{81} = 154\ 26$$

तीसरे वर्ष के लाभ का बट्टाकृत मूल्य

$$= \frac{1}{\left(1+\frac{8}{100}\right)^3} \times 180 = \frac{1}{\frac{27}{25} \times \frac{27}{25} \times \frac{27}{25}} \times 180$$

$$= \frac{15625}{19683} \times 180 = \frac{312500}{2187} = 142\ 92$$

इसी प्रकार, शेष 7 वर्षों के लाभ का भी बट्टाकृत मूल्य निकाल लिया जायगा और फिर 10 वर्षों के बट्टाकृत मूल्य को जोड लिया जायगा जो इस कारखाने का वर्तमान समय का लाभ समझा जायगा। इस गणना के परिणामस्वरूप 10 वर्ष के लाभ का बट्टाकृत मूल्य 1,210 रु आयगा। दूसरी ओर, परियोजना की लागत वर्तमान मूल्य पर 1,000 रु अनुमानित है और इस प्रकार लाभ-लागत का अनुपात 1 21 आता है जो 1 से अधिक है और इसलिए परियोजना स्वीकार की जा सकती है।

जब कई वैकल्पिक परियोजनाओ मे से चयन करना होता है तो पहले प्रत्येक परियोजना का पृथक्-पृथक् लाभ-लागत-अनुपात निकाला जाता है। तत्पश्चात् उन परियोजनाओ को छोडकर जिनका लाभ-लागत-अनुपात 1 से कम होता है, शेष का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। तुलनात्मक अध्ययन करते समय केवल लाभ-लागत-अनुपात की अधिकता के आधार पर ही निर्णय नही लिया जायगा अपितु वृद्धिगत लाभ-लागत (Incremental Benefit-cost Ratio) पर भी ध्यान दिया जाता है। वृद्धिगत लाभ-लागत-अनुपात का अर्थ यह है कि एक परियोजना की तुलना मे दूसरी परियोजना मे जितनी अधिक लागत लगती है, उस आधिक्य के फलस्वरूप कितना अतिरिक्त लाभ प्राप्त होने की सम्भावना है। यह तथ्य निम्न उदाहरण से स्पष्ट है

तालिका 1—वृद्धिगत लाभ-लागत-अनुपात का विश्लेषण

वैकल्पिक परियोजना	परियोजना का लाभ	परियोजना की लागत	परियोजना का लाभ-लागत अनुपात	पूर्व की परियोजना की तुलना मे लाभ मे वृद्धि	पूर्व की परियोजना की तुलना मे लागत मे वृद्धि	वृद्धिगत लाभ-लागत अनुपात
क	3,000	1,500	2 00	—	—	—
ख	3,800	2,100	1 81	800	600	1 33
ग	4,800	2,700	1 78	1,000	600	1 67
घ	6,000	3,400	1 76	1,200	700	1 71
ङ	6,300	3,640	1 73	300	240	1 25
च	6,700	4,100	1 63	400	460	0 87

उपर्युक्त तालिका के अध्ययन से ज्ञात होता है कि केवल लाभ-लागत-अनुपात के आधार पर क्रम से क, ख, ग, घ, ङ एव च परियोजनाओ का चयन होना चाहिए परन्तु वृद्धिगत लाभ-लागत-अनुपात इकाई से अधिक है, इसलिए क की तुलना मे ख का चयन करना चाहिए। अब ग परियोजना की ख परियोजना से तुलना करनी चाहिए। ख का ग पर वृद्धिगत लाभ-लागत-अनुपात इकाई से अधिक है, अत ख की तुलना मे ग का चयन होना चाहिए। इसी प्रकार, घ का ग पर वृद्धिगत लाभ-लागत-अनुपात इकाई से अधिक है जिसके परिणामस्वरूप ग की तुलना मे घ का चयन होना चाहिए। घ परियोजना की तुलना मे इसी प्रकार ङ परियोजना का चयन होना चाहिए। च परियोजना पर अब ङ पर वृद्धिगत अनुपात देखना चाहिए और क्योंकि यह इकाई से कम है इसलिए च की तुलना मे ङ का चयन किया जाना चाहिए। इस प्रकार वृद्धिगत लाभ-लागत-अनुपात के आधार पर परियोजनाओं के चयन का क्रम ङ, घ, ग, ख, क होना चाहिए जो साधारण लाभ-लागत-अनुपात के आधार से सर्वथा भिन्न है।

लाभ-लागत-विश्लेषण की कठिनाइयाँ

लाभ-लागत-विश्लेषण का विभिन्न विकासशील देशो मे उपयोग किया गया है परन्तु ये उपयोग निम्नलिखित कठिनाइयो के कारण अधिक सम्पन्न नही रहे है

(1) विकासशील देशो मे सांख्यिकीय तथ्य अपूर्ण एव अविश्वसनीय होते है, जिसके परिणामस्वरूप अवसर-लागत ज्ञात नही की जा सकती है। अवसर-लागत की अनुपस्थिति मे लाभ-लागत-विश्लेषण प्रभावशाली नही हो सकता।

(2) विकासशील देशो की सरकारें विकास के अति-अभिलाषी कार्यक्रम बनाती है जिनके अन्तर्गत बहुत सी परियोजनाएं सचालित कर दी जाती है। इन परियोजनाओ को पूरा करने मे बहुत सी वित्तीय एव तकनीकी बाधाएँ उत्पन्न होती है। इन बाधाओ के फलस्वरूप लाभ-लागत सम्बन्धी अनुमान सही नही उतरते है।

(3) विकासशील राष्ट्रों मे बजट की प्रवृत्तियाँ अनिश्चित रहती है। परियोजना के सम्पूर्ण जीवनकाल मे पर्याप्त वित्त की व्यवस्था नहीं हो पाती है जिसके परिणामस्वरूप परियोजनाएँ निर्धारित समय मे पूरी नही हो पाती है।

(4) बहुत-सी सरकारी परियोजनाओ के सम्बन्ध मे निर्णय राजनीतिक आधार पर किये जाते है और लाभ लागत-विश्लेषण पर ध्यान नही दिया जाता है।

(5) कुछ परियोजनाओ के विदेशी विनिमय तत्व की पूर्ति आवश्यकतानुसार समय पर नहीं हो पाती है। विदेशी विनिमय की पूर्ति विदेशी सहायता से की जाती है जिसका प्रवाह अत्यन्त अनिश्चित रहता है।

(6) सार्वजनिक क्षेत्र मे बहुत-सा विनियोजन राज्य के सामाजिक उद्देश्यो के आधार पर किया जाता है और लाभ-लागत-विश्लेषण पर कोई ध्यान नही दिया जाता है। भारत मे सार्वजनिक क्षेत्र मे इस प्रकार का बहुत अधिक विनियोजन किया गया है।

(7) अभौतिक लाभ एव लागत का निर्धारण करना लगभग असम्भव होता है जिसकी अनुपस्थिति मे लाभ-लागत विश्लेषण अपूर्ण रहता है।

(8) विकासशील राष्ट्रों मे नियोजित विकास प्राय मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत सचालित होता है जिसमे दोहरी मूल्य-व्यवस्था विद्यमान रहती है। दोहरी मूल्य-व्यवस्था—नियन्त्रित एव बाजार मूल्य—मे परियोजनाओं के लाभ एव लागत का मूल्याकन विश्वसनीय ढग से नही किया जा सकता है। प्राय इन देशो मे परियोजनाओ की लागत सरकारी मूल्य पर लगायी जाती है जबकि बाजार-मूल्य अपेक्षाकृत ऊँचे ही होते हैं।

(9) लाभ-लागत विश्लेषण मे बहुत सी प्रशासनिक कठिनाइयाँ भी आती है। विकास-परियोजनाओ को जब सम्बन्धित विभागो द्वारा सचालित किया जाता है तो यह प्रशासनिक विभाग केवल अपने प्रभाव-क्षेत्र से सम्बन्धित लाभ एव लागत पर ध्यान देते है जबकि परियोजना की लाभ एव लागत का प्रभाव-क्षेत्र विस्तृत होता है।

भारत में लाभ-लागत पद्धति का उपयोग

लाभ-लागत पद्धति का भारतवर्ष मे पूर्णरूपेण उपयोग करना सम्भव नही है क्योकि यहाँ पर साख्यिकीय तथ्य पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध नही है तथा ये तथ्य शुद्ध एव विश्वसनीय भी नहीं होते है। वर्तमान एव भूतकालीन विस्तृत सांख्यिकीय तथ्यों की अनुपस्थिति मे परियोजनाओं के आर्थिक तथा सामाजिक लाभ-लागत का अनुमान लगाना सम्भव नही हो सकता। यह भी पता लगाना सम्भव नहीं होता है कि परियोजना का सचालन न होने पर लोगो की आर्थिक एव सामाजिक स्थिति क्या होती। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष मे बहुत-सी परियोजनाओ का सचालन एक साथ प्रारम्भ किया गया है जिससे पृथक-पृथक् परियोजनाओ की लाभ-लागत ज्ञात करना सम्भव नही है। परियोजनाओ का प्रारम्भ होते समय कुछ साधन उपलब्ध हो जाते है परन्तु बाद मे उनकी पूर्ति एव कुशल पर्याप्त साधन, विशेषकर विदेशी विनिमय उपलब्ध नही होता है जिसके फलस्वरूप परियोजनाओ की लागत एव लाभ का ठीक अनुमान लगाना सम्भव नही हो सकता है।

भारत मे बेरोजगार, अशत-बेरोजगार एव अदृश्य बेरोजगार श्रम का बाहुल्य है जबकि उत्पादन के अन्य घटको, विशेषकर पूँजी एव यान्त्रिक ज्ञान की बहुत कमी है। परियोजनाओ की श्रम-लागत का अनुमान लगाना इसी कारण सम्भव नही होता। भारतवर्ष की परियोजनाओ की सामाजिक लागत की गणना भी अत्यन्त कठिन है और इस ओर नियोजको द्वारा कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया है, क्योकि इसकी पूर्ति निर्माण-सस्था को नही करनी पडती है। सरकारी क्षेत्र मे होने वाले विनियोजन के ब्याज को उचित दर पर नही लगाये जाने के कारण परियोजनाओ की लागत की गणना शुद्ध नही होती है।

दूसरी ओर, लाभो का अनुमान भी ठीक से लगाना सम्भव नही होता है क्योकि भारत मे

मूल्य स्तर मे बडी अनिश्चितता रहती है। मूल्य-स्तर कृषि-क्षेत्र की सफलता पर निर्भर रहता है और की यह सफलता अनिश्चित मानसून पर निर्भर रहती है। इस प्रकार भविष्य के लाभो की गणना वर्तमान मूल्यो पर करने से शुद्धता का अभाव रहता है। परन्तु अब बफर स्टॉक की पद्धति मे मूल्य-स्तर को स्थिर बनाने के प्रयत्न किये जा रहे है और यदि ये प्रयत्न सफल रहे तो परियोजनाओं की लागत शुद्धता के साथ अनुमानित हो सकेगी।

परियोजनाओ के लागत-लाभ-विश्लेषण मे एक सबसे बडी कठिनाई होती है राजनीतिक विचारधाराओ एव दबाव की। प्रजातान्त्रिक राष्ट्रो मे परियोजनाओं का चयन केवल आर्थिक दृष्टिकोण से ही नही किया जाता है बल्कि राजनीतिक दबाव का बोलबाला रहता है। इस बात का प्रमाण हमे कई परियोजनाओ के सम्बन्ध मे मिलता है जैसे विशाखापट्टनम मे भारी इस्पात का कारखाना खोलने के लिए कुछ समय पूर्व आन्दोलन किया गया था। इस प्रकार राजनीतिक दबाव के कारण भी लागत लाभ का उपयोग भारत मे पूर्णरूपेण नही किया जा सका है।

भारत मे कई परियोजनाओ के सम्बन्ध मे लाभ-लागत-विश्लेषण का उपयोग किया गया है। प्रो गाडगिल द्वारा महाराष्ट्र मे गोदावरी नहर-व्यवस्था के आर्थिक प्रभावों का अध्ययन इसी आधार पर किया गया। हीराकुड बाँध परियोजना के सम्बन्ध मे डा बलजीत सिंह द्वारा लाभ-लागत-विश्लेषण किया गया। उडीसा, पश्चिम बगाल आदि राज्यों मे भी कई परियोजनाओं का अध्ययन लाभ लागत-विश्लेषण के आधार पर किया गया है।

8

आर्थिक नियोजन की यान्त्रिकता एवं प्रविधि

[MECHANISM AND TECHNIQUE OF ECONOMIC PLANNING]

नियोजन की यान्त्रिकता

आर्थिक नियोजन मूल रूप में एक संगठन-व्यवस्था है जिसका उद्देश्य पूर्व-निर्धारित लक्ष्यों की निश्चित काल में प्राप्ति करना होता है। इस व्यवस्था में अर्थ व्यवस्था को इस प्रकार संगठित एवं संचालित किया जाता है कि देश में उपलब्ध भौतिक एवं मानवीय साधनों का कुशल एवं पूर्णतम उपयोग पूर्व निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जा सके। नियोजित अर्थ-व्यवस्था के संचालनार्थ उपयोग की जाने वाली प्रविधि एवं यान्त्रिकता विभिन्न राष्ट्रों के राजनीतिक एवं आर्थिक कलेवर पर निर्भर रहती है। नियोजित अर्थ-व्यवस्था के सफल संचालन हेतु केवल वित्तीय, मौद्रिक एवं विदेशी विनिमय सम्बन्धी प्रविधियों का ही उपयोग नहीं करना पड़ता, अपितु अर्थ-व्यवस्था में कुछ संस्थागत परिवर्तन भी करने पड़ते हैं। परम्परागत आर्थिक संस्थाओं के विस्तार पर रोक लगायी जाती है और उनके स्थान पर उपयुक्त नवीन संस्थाओं की स्थापना की जाती है। इस प्रकार आर्थिक नियोजन द्वारा देश की आर्थिक एवं सामाजिक संरचना में मूलभूत परिवर्तन करने होते हैं जिसके लिए नियोजन की व्यापक एवं जटिल यान्त्रिकता का उपयोग किया जाता है जिसमें केन्द्रित नियोजन सत्ता एवं विकेन्द्रित संस्थाएँ दोनों ही सम्मिलित होती हैं। नियोजन-यान्त्रिकता के अन्तर्गत निम्नलिखित तत्व सम्मिलित रहते हैं

(1) केन्द्रीय नियोजन-सत्ता—नियोजित अर्थ-व्यवस्था के निर्माण एवं संचालन के लिए एक ऐसी केन्द्रीय नियोजन सत्ता की आवश्यकता होती है जिसे आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था के सम्बन्ध में विस्तृत अधिकार दिये जाते हैं जो उसे लोकसभा एवं मन्त्रिमण्डल से प्राप्त होते हैं। राजनीतिक सत्ता के सक्रिय सहयोग द्वारा ही केन्द्रीय नियोजन सत्ता प्रभावशाली ढंग से अपना कार्य सम्पादन कर सकती है। इस सत्ता में देश के तकनीकी विशेषज्ञ, वैज्ञानिक, अर्थशास्त्री, राजनीतिज्ञ एवं समाजशास्त्री सम्मिलित किये जाते हैं। केन्द्रीय नियोजन-सत्ता के कार्य निम्न प्रकार होते हैं

(अ) केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों तथा स्वतन्त्र उत्पादन-संस्थाओं के परामर्श के आधार पर अर्थ व्यवस्था के विकास हेतु नियन्त्रण-आँकड़े तैयार करना।

(आ) विभिन्न आर्थिक सामाजिक, तान्त्रिक एवं वैज्ञानिक संस्थाओं द्वारा विभिन्न सम्बन्धित क्षेत्रों एवं समस्याओं का अध्ययन करना।

(इ) दीर्घकालीन योजना के लक्ष्यों का निर्धारण करना तथा उसको अल्पकालीन योजनाओं (पाँचवर्षीय एवं एकवर्षीय) में विभक्त करना।

(ई) अल्पकालीन योजना का विस्तृत विवरण तैयार करना। योजना की आन्तरिक संगति (Internal Consistency) की जाँच करके यह ज्ञात करना कि योजना में सम्मिलित विभिन्न कार्यक्रमों में पारस्परिक असंगति एवं विरोधाभास तो नहीं है। इस जाँच के लिए आर्थिक अनुपातों की सहायता ली जाती है। आन्तरिक संगति के साथ-साथ नियोजन-सत्ता के कार्यक्रमों की अनुकूलतमता की भी जाँच करनी होती है अर्थात् वैकल्पिक कार्यक्रमों में से ऐसे कार्यक्रमों का चयन किया जाता है जो विद्यमान परिस्थितियों में अधिकतम विकास दर प्रदान कर सकें। इसके साथ ही नियो-

जन-सत्ता को बदलती हुई परिस्थितियों एवं कठिनाइयों में विकास-कार्यक्रमों में समायोजन करने की सम्भावनाओं की भी जाँच करनी होती है। आन्तरिक संगति, अनुकूलतमता एवं कार्यक्रमों के समायोजन—इन तीनों बातों की जाँच के बाद योजना को अन्तिम रूप दिया जाता है।

(ज) केन्द्रीय नियोजन-सत्ता को विनियोजन के साधनों के विभिन्न क्षेत्रों एवं अर्थ-व्यवस्था की शाखाओं में इस प्रकार आवंटित करना होता है कि आयोजित परियोजनाओं का निर्माण एवं संचालन सुचारु रूप से किया जा सके।

(ऊ) आधारभूत औद्योगिक एवं कृषि-उत्पादों के थोक मूल्य, आधारभूत सेवाओं—भाड़ा, शक्ति, जल आदि की दरें तथा अनिवार्य उपभोक्ता-वस्तुओं के फुटकर मूल्य भी नियोजन-सत्ता द्वारा निर्धारित किये जाते हैं।

(ए) अधिक उत्पादन को प्रोत्साहित करने के लिए कार्यवाहियाँ करनी होती हैं।

(ऐ) आर्थिक नियोजन की प्रविधि एवं प्रक्रिया में सुधार करने हेतु सिफारिशें करनी होती हैं।

(ओ) सन्तुलित विकास हेतु सुझाव तैयार करने होते हैं।

(2) नियोजन के अन्तर्गत दो परस्पर विरोधी व्यवस्थाओं—केन्द्रीकरण एवं विकेन्द्रीकरण—का सम्मिश्रण होता है। राष्ट्रीय स्तर पर विकास-कार्यक्रमों के निर्धारण एवं निर्देशन के लिए केन्द्रीय सत्ता द्वारा निर्देशन की आवश्यकता होती है। दूसरी ओर, इन निर्देशों के प्रभावशाली क्रियान्वयन हेतु विकेन्द्रित संस्थाओं, जो राज्य, जिला, नगर, ग्राम आदि स्तर पर बनायी जाती हैं, की आवश्यकता होती है।

(3) नियोजन के समस्त कार्यक्रम समय से सम्बद्ध होते हैं। योजना के कार्यक्रमों के लक्ष्यों को छोटे-छोटे समयों—वर्ष, छमाही, तिमाही, मासिक आदि—में विभक्त कर लिया जाता है और वास्तविक उपलब्धियों की लक्ष्यों से तुलना की जाती है जिससे व्यवस्था एवं क्रियान्वयन की प्रक्रिया में आवश्यकतानुसार परिवर्तन एवं सुधार किये जा सकें।

(4) नियोजन के अन्तर्गत आर्थिक अनुपातों (जैसे—पूँजी-उत्पाद-अनुपात, पूँजी-श्रम-अनुपात, आदाय-प्रदाय (Input-output)-विश्लेषण आदि) का व्यापक उपयोग किया जाता है जिससे अर्थ-व्यवस्था की विभिन्न शाखाओं में सन्तुलन बनाये रखा जा सके।

(5) नियोजित अर्थ-व्यवस्था में पूँजी-विनियोजन का अधिक कुशलता से उपयोग किया जाता है जिसके लिए नियोजन-सत्ता को अर्थ-व्यवस्था के समस्त क्षेत्रों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके विभिन्न क्षेत्रों एवं शाखाओं में होने वाले नियोजन में सन्तुलन बनाये रखना होता है।

(6) नियोजन के अन्तर्गत विकास-कार्यक्रम एवं पूँजी-विनियोजन के निर्णय केवल आर्थिक सिद्धान्तों के आधार पर ही नहीं लिये जाते हैं क्योंकि नियोजन का नेतृत्व करने वालों में राजनीतिज्ञ, समाजसेवी, साहसी, तकनीकी विशेषज्ञ सभी सम्मिलित होते हैं और इन सभी के दबाव के आधार पर आर्थिक निर्णय किये जाते हैं।

(7) नियोजित विकास के अन्तर्गत वित्तीय नियोजन को अधिक महत्व मिलता है क्योंकि समस्त भौतिक तथ्य भी वित्तीय माध्यम में व्यक्त किये जाते हैं। यही कारण है कि नियोजन के अन्तर्गत भौतिक एवं वित्तीय पक्षों का आर्थिक सामंजस्य सम्भव हो सकता है।

(8) नियोजित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत औद्योगिक विकास की गति तो तेज रहती है परन्तु कृषि-विकास लक्ष्यों के अनुरूप नहीं हो पाता है। यही कारण है कि नियोजित विकास-प्रक्रिया पूर्णरूपेण सफल नहीं हो पाती है।

(9) नियोजित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत अनियोजित अर्थ-व्यवस्था के समान सीमान्त परिवर्तनों (Marginal Changes) पर निर्भर नहीं रहा जाता है। अनियोजित व्यवस्था में समस्त सन्तुलन सीमान्त परिवर्तनों एवं सीमान्त समायोजनों (Marginal Changes and Marginal Adjustments) के द्वारा संचालित होते हैं जबकि नियोजित अर्थ-व्यवस्था में सामाजिक एवं

आर्थिक कलेवर म आधारभूत परिवतन करके आश्चयजनक सफलता प्राप्त करने के प्रयत्न किये जाते है। इसी कारण नियोजित अथ व्यवस्था की प्रविधि एव प्रक्रियाए अनियोजित अथ-व्यवस्था से भिन्न होती ह। विभिन्न राष्ट्रो म नियोजन के कुशल सचालन हेतु परिस्थिति के अनुसार विभिन्न प्रविधियो एव प्रक्रियाओ का उपयोग किया जाता है जिनम से कुछ महत्वपूण का विवेचन आगे दिया गया है।

(10) नियोजित अथ व्यवस्था के अतगत साधनो का आवटन प्राथमिकताओ के आधार पर किया जाता है। प्राथमिकताए निर्धारित करने हेतु विनियोजन गुणमान लागत लाभ विश्लेषण आदाय प्रदाय विश्लेषण आदि यान्त्रिकताओ का उपयोग किया जाता है।

नियोजन की विभिन्न प्रविधिया

(1) परियोजना नियोजन (Project Planning)—इस प्रविधि के अतगत अद्ध विकसित राष्ट्र म कुछ विशेष परियोजनाओ जो उपस्थित परिस्थितियों म अधिक महत्वपूण समझी जाय को ही सचालित किया जाता है। इसके लिए उचित सगठन विनियोजन आदि की व्यवस्था कर दी जाती हे। अथ व्यवस्था क अन्य क्षेत्रों का ज्यो का त्यो जारी रखा जाता है। इस प्रकार देश के लिए व्यापक एव समन्वित योजना नही बनायी जाती हे, बल्कि कुछ प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रो के लिए ही परियोजनाए निर्धारित की जाती ह, परन्तु इस प्रकार की विकास परियोजनाओं को अथ व्यवस्था क अन्य क्षेत्रो से समन्वित करने म कठिनाई होती है क्योकि नियोजित कायक्रमो के लिए केवल व्यय एव विनियोजन ही पर्याप्त नही होते—अपितु सस्थागत (Institutional) परिवतन करना आवश्यक होता हे।

(2) खण्डित नियोजन (Sectorial Planning)—खण्डित नियोजन की विचारधारा का अथ कई प्रकार से समझा जाता ह कुछ अथशास्त्रियों के अनुसार इसके अतगत सम्पूण अथ व्यवस्था की प्रगति की लक्षित दर की प्राप्ति हेतु पूजी विनियोजन एव उत्पत्ति का विश्लेषण करके पूव अनुमान लगाये जाते है दूसरे शब्दो म यह कहा जा सकता है कि सम्पूण अथ व्यवस्था की लक्षित प्रगति के आधार पर जब कायक्रम निर्धारित किये जाते है तो उसे खण्डित नियोजन कहते है।

कुछ अन्य अथशास्त्रियो के अनुसार खण्डित नियोजन उस व्यवस्था को कहते है जिसमे अथ व्यवस्था म विभिन्न खण्डो (Sectors) की तुलनात्मक प्रगति की दरों को निर्धारित किया जाता है और इस प्रगति को प्राप्त करने हेतु कायक्रम भी निधारित किये जाते ह। कुछ अन्य अथशास्त्रियों का विचार है कि खण्डित योजना उपयक्त दोनो विचारधाराओ का सम्मिश्रण होता है। इसके अतगत विभिन्न विकास खण्डो (Development Sectors) क लिए सस्थानीय एव सगठनात्मक परिवतन भी आयोजित किये जाते है।

(3) लक्ष्य नियोजन (Target Planning)—लक्ष्य नियोजन सबसे अधिक प्रभावशाली एव उपयोगी समझा जाता है। इसके अतगत केवल सरकारी विनियोजन परियोजनाओ (Public Investment Projects) नवीन नियमो नवीन एव परिवर्तित सस्थाओं तथा सम्पूण अथ व्यवस्था की आर्थिक प्रगति की दर ही निर्धारित नही की जाती अपितु उत्पादन को मात्रा के लक्ष्य भी विभिन्न क्षेत्रो क लिए पृथक पृथक निर्धारित किये जाते है। इतना ही नही उत्पादन की मात्रा के लक्ष्य प्रत्यक इकाई एव सस्था के लिए भी निर्धारित कर दिये जाते है। लक्ष्य नियोजन की सफलताओ को आकना सुलभ होता है परन्तु विभिन्न क्षेत्रों के लक्ष्य निर्धारित करने क पूव इस बात पर गम्भीरता पूवक विचार करना चाहिए कि विभिन्न क्षेत्रो के लक्ष्यो म समन्वय बना रहे। लक्ष्यों के समन्वय क सम्बन्ध म सतक न रहने पर समस्त अथ व्यवस्था की लक्षित प्रगति होने पर भी अथ व्यवस्था क विभिन्न खण्डो की प्रगति म विषमता हो सकती है जो भविष्य के विकास के लिए बाधाओ को जन्म द सकता है। विभिन्न खण्डो (Sectors) के विकास को समन्वित रखने हेतु विभिन्न परिणाम

सम्बन्धी अतिरिक्त उप लक्ष्य भी निर्धारित करने चाहिए, जैसे बजट का सन्तुलित करने का लक्ष्य, विदेशी भुगतानों के सन्तुलन का लक्ष्य, पूंजी-निर्माण का लक्ष्य, कृषि-क्षेत्र से औद्योगिक क्षेत्र में जनसंख्या के हस्तान्तरण का लक्ष्य, जनसंख्या के पुनर्वास का लक्ष्य, श्रमिकों के प्रशिक्षण का लक्ष्य आदि।

(4) क्षेत्रीय नियोजन एवं विकास (Area Planning and Development)—बड़े क्षेत्र वाले राष्ट्रों में सन्तुलित प्रदेशीय विकास द्वारा सामाजिक एवं आर्थिक न्याय का उचित आयोजन नहीं किया जा सकता है। भारतीय नियोजित अर्थ व्यवस्था की प्रथम तीन योजनाओं में प्रदेशीय योजनाओं के आधार पर विकास-कार्यक्रम सचालित किये गये जिसके फलस्वरूप यह अनुभव किया गया है कि विभिन्न प्रदेशों में लक्ष्य के अनुसार प्रगति होते हुए भी उस प्रदेश में बहुत से ऐसे क्षेत्र रहते हैं जिनको नियोजित अर्थ व्यवस्था का पर्याप्त लाभ प्राप्त नहीं होता है। क्षेत्रीय नियोजन का उद्देश्य क्षेत्रीय स्तर पर नियोजन को सुदृढ़ बनाकर उस क्षेत्र की प्रगति की सम्भावनाओं को बढ़ाना होता है। इसके अन्तर्गत उस विशिष्ट क्षेत्र में कार्यक्रमों का कुशल सचालन करना, क्षेत्रीय प्रारम्भिकता (Initiative) एवं सहयोग (Participation) प्राप्त करना तथा उस क्षेत्र के समुदाय की क्रियाओं में नियोजन के उद्देश्यों को उचित स्थान प्राप्त कराना होता है। क्षेत्रीय नियोजन की आवश्यकता निम्नलिखित कारणों से पड़ती है :

(अ) राष्ट्रीय योजना को जनसमुदाय के जीवन का एक मुख्य अंग बनाने हेतु उसे क्षेत्रीय परियोजनाओं (*Local Projects*) में विभक्त करना आवश्यक होता है। क्षेत्रीय योजनाओं की अनुपस्थिति में जनसाधारण में नियोजन के प्रति जागरूकता नहीं रहती और वह इसे सरकार द्वारा सचालित की जाने वाली एक क्रिया मात्र समझता है।

(ब) विभिन्न अविकसित क्षेत्रों में विकास की गति को तीव्र करने हेतु विशेष प्रयास किये जाने चाहिए और इसके लिए विशेष परियोजनाओं का सचालन किया जाना चाहिए। दूसरी ओर ऐसे क्षेत्र भी होते हैं जिनमें विकास तीव्र गति से किया जाना सम्भावित होता है और इन्हें शीघ्र विकसित करके अन्य क्षेत्रों को आदर्श प्रस्तुत किया जाता है।

(स) विकास सम्बन्धी विभिन्न परियोजनाओं को क्षेत्रीय स्तर पर समन्वित करके प्रत्येक क्षेत्र का सन्तुलित विकास किया जा सकता है।

(द) स्थानीय साधनों का (जिनका अन्यथा उपयोग नहीं होता अथवा पूर्ण उपयोग नहीं होता) जिनमें जनशक्ति भी सम्मिलित है, का उत्पादक एवं कल्याणकारी उपयोग किया जा सकता है। स्थानीय सहयोग भी प्राप्त करना सम्भव हो सकता है।

क्षेत्रीय विकास-योजना का निर्माण करने के लिए स्थानीय अथवा क्षेत्रीय साधनों की जांच की जानी चाहिए। प्रत्येक क्षेत्र की भूमि का उपजाऊपन, फसलों, पशुओं, वनों, स्थानीय कला कौशल, जनशक्ति, व्यवसायों, यातायात के साधनों की पूर्ण जांच (Survey) की जानी चाहिए और इस जांच से प्राप्त सूचनाओं एवं साक्ष्य के आधार पर विकास सम्बन्धी सम्भावनाओं का अनुमान लगाना चाहिए। *तत्पश्चात समन्वित विकास-कार्यक्रम निर्धारित किये जाते हैं।*

क्षेत्रीय विकास योजनाओं को राष्ट्रीय योजनाओं में दिये स्थान को स्पष्ट रूप से परिभाषित किया जाना चाहिए, अन्यथा विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न विकास परियोजनाओं के *आवटन (Allotment)* के लिए प्रतिस्पर्द्धा उत्पन्न हो सकती है और प्रत्येक क्षेत्र अपने विकास हेतु राजनीतिक दबाव का उपयोग करने लगेगा, जिसके फलस्वरूप राष्ट्रीय योजना प्रभावशाली नहीं हो सकेगी। क्षेत्रीय परियोजनाएँ राष्ट्रीय नियोजन की सहायक एवं पूरक होनी चाहिए।

(5) गतिशील बनाम स्थिर नियोजन (Dynamic *vs* Static Planning)—नियोजन का तात्पर्य केवल प्राथमिकताओं के आधार पर लक्ष्य एवं विनियोजन करना ही नहीं होना चाहिए। वास्तव में नियोजन एक सतत विधि (Continuous Process) है जिसके द्वारा निश्चित लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु प्रयत्न किये जाते हैं, परन्तु इन लक्ष्यों को यदि इतना कठोर (Rigid) बना दिया जाय कि परिस्थितियों में परिवर्तन होते हुए भी इनमें कोई परिवर्तन सम्भव न हो तो इस प्रकार के

नियोजन को हम स्थिर नियोजन कह सकते है। वास्तव मे, ऐसे कार्यक्रम, जिनके लक्ष्य एव आयोजन अपरिवर्तनशील हो उन्हे आर्थिक नियोजन कहना न्यायसगत न होगा, क्योंकि आर्थिक परिस्थितियो एव वातावरण मे परिवर्तनशीलता स्वाभाविक एव अनिवार्य है और किसी आर्थिक कार्यक्रम को स्थिरता दिया जाना सर्वथा असम्भव प्रतीत होता है। गतिशील नियोजन इसके विपरीत परिस्थितियो के अनुसार परिवर्तनीय होते है जिनका ठीक-ठीक अनुमान योजना-निर्माण के समय योग्य से योग्य नियोजन-अधिकारी भी नही लगा सकते। इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण का भी प्रभाव आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था पर पडता है जिस पर नियोजन-अधिकारियो का कोई नियन्त्रण नही होता केवल कठोर नियन्त्रण एव नियमन द्वारा ही स्थिर कार्यक्रम का सचालन सम्भव हो सकता है। कठोर नियमन और नियन्त्रण तानाशाही नियोजन मे ही सम्भव एव उचित है। स्थिर नियोजन म नियोजन अधिकारी एव राज्य को प्रगति का अध्ययन करने के स्थान पर योजना के कार्यक्रमो के सचालन को विशेष महत्व देना पडता है। इस प्रकार के नियोजन को जन-सहयोग भी प्राप्त नही होगा।

(6) निकट-भविष्य बनाम सुदूर-भविष्य के लिए नियोजन (Prospective vs Perspective Planning)—दूसरे शब्दो मे इस प्रकार के नियोजन को दीर्घकालीन एव अल्पकालीन नियोजन भी कहा जा सकता है। दीर्घकालीन नियोजन मे सुदूर-भविष्य के लिए अनुमानित आवश्यकताओं के अनुसार विकास का एक ढाँचा निर्मित कर लिया जाता है। इस निर्धारित ढाँचे की प्रगति हेतु निरन्तर प्रयास की आवश्यकता होती है। निर्धारित विकास को दीर्घकाल मे ही प्राप्त किया जा सकता है। इसलिए कार्यक्रमो को अल्पकाल मे विभाजित करके निश्चित दीर्घकालीन लक्ष्य की प्राप्ति की जाती है। अल्पकालीन योजना मे कार्यक्रमो के समस्त विवरण रखे जाते है और उनको इस प्रकार निर्धारित किया जाता है कि एक के पश्चात दूसरी अल्पकालीन योजना दीर्घकालीन लक्ष्यो की प्राप्ति मे सहायक हो। अल्पकालीन योजनाओं मे प्राथमिकताओं के अनुसार तत्कालीन समस्याओं का निवारण करने के साथ-साथ दीर्घकालीन लक्ष्यो की ओर अग्रसर होने के लिए पृष्ठभूमि तैयार की जाती है। सुदूर-भविष्य की योजनाओ मे केवल महत्वपूर्ण एव आधारभूत उद्देश्य एव नीतियाँ होती है और उनका विवरण तैयार नही किया जा सकता क्योकि परिस्थितियो की परिवर्तनशीलता के कारण दीर्घकालीन अनुमान लगाना सम्भव नही होता है।

दीर्घकालीन योजना के अन्तर्गत सुदूर-भविष्य जो लगभग 20 से 25 वर्ष का होता है, के बाद का अर्थ व्यवस्था का स्वरूप निर्धारित किया जाता है। भविष्य का यह स्वरूप कुछ आधारभूत आँकडो एव नीतियो मे व्यक्त किया जाता है। यह आँकडे एव नीतियाँ निम्न प्रकार होती है

(1) 20 या 25 वर्ष के बाद की राष्ट्रीय आय एव प्रति व्यक्ति आय का अनुमान।
(2) प्रति व्यक्ति उपभोग-व्यय एव उपभोग के विभिन्न तत्व निर्धारित करना।
(3) राष्ट्रीय आय मे से बचत एव विनियोजन की दर अनुमानित करना।
(4) देश के निर्यात एव आयात का अनुमान एव भुगतान-शेष का अनुमान।
(5) शिक्षा स्वास्थ्य विद्युत समाज-कल्याण आदि के दीर्घकालीन लक्ष्य।
(6) विभिन्न उत्पादन के क्षेत्रो के दीर्घकालीन लक्ष्य।
(7) अर्थ-व्यवस्था की अव-सरचना का स्वरूप।
(8) आर्थिक एव सामाजिक सरचना का परिवर्तित स्वरूप।
(9) देश का शेष ससार से सम्बन्ध।

उपर्युक्त तथ्यो के सम्बन्ध म दीर्घकालीन अनुमान लगाकर 20 अथवा 25 वर्ष के भी आर्थिक एव सामाजिक सरचना का स्वरूप सुदूर भविष्य के नियोजन मे सम्मिलित किया जाता है।

निकट-भविष्य के नियोजन के अन्तर्गत दीर्घकालीन लक्ष्यो को अल्पकालीन चरणो मे इस प्रकार विभक्त कर लिया जाता है कि प्रत्येक चरण दूसरे चरण का प्रतिगामी होता है। उदाहरणार्थ,

20 वर्षीय लक्ष्यो को चार-पाँच वर्षीय योजनाओ मे विभक्त किया जाता है और फिर प्रत्येक पचवर्षीय योजना को पांच वार्षिक योजनाओ मे विभक्त किया जाता है। यह अल्पकालीन योजनाएँ विकास-कार्यक्रम का विस्तृत विवरण सम्मिलित करती है और इनको अधिक लचीला रखा जाता है। प्रत्येक अल्पकालीन योजना को दो दिशाओ से आधार प्राप्त होते है। प्रथम, गत काल की अल्पकालीन योजना की सफलताएँ एव उपलब्धियां और द्वितीय आधार दीर्घकालीन योजना के लक्ष्य एव नीतियाँ होती है। वास्तव मे दीर्घकालीन योजना द्वारा निश्चित अवधि के बाद के सर्वोच्च विकास-चरण का निर्धारण और उस चरण तक पहुँचने के लिए विभिन्न अल्पकालीन योजनाओं रूपी क्रमिक चरणो से होकर गुजरना होता है। सुदूर-भविष्य एक सापेक्ष स्थिति व्यक्त करता है। जहाँ 20 वर्षीय दीर्घकालीन योजना के लिए पाँच-वर्षीय योजनाएँ निकट-भविष्य की योजनाएँ होती हैं वही पाँच-वर्षीय योजना के लिए वार्षिक योजनाएँ निकट भविष्य की योजनाएँ होती है। यदि वार्षिक योजना के कार्यक्रमो को मासिक योजनाओ मे विभक्त कर लिया जाय तो वार्षिक योजनाओ के लिए मासिक योजनाएँ निकट-भविष्य की योजना होती हैं।

निकट-भविष्य की योजनाएँ लचीली होती है और एक योजना के अनुभवो एव उपलब्धियो का उपयोग दूसरी योजना मे करना सम्भव होता है। इसके अतिरिक्त निकट-भविष्य की योजना मे लक्ष्यो एव उपलब्धियो की तुलना करना भी सरल होता है। योजनाओ का उचित मूल्यांकन करने के लिए निकट-भविष्य की योजनाएँ आवश्यक समझी जाती है।

(7) क्रियात्मक बनाम सरचनात्मक नियोजन (Functional *vs* Structural Planning)—क्रियात्मक नियोजन उस कार्यक्रम को कहते है जिसमे वर्तमान आर्थिक एव सामाजिक प्रारूप के अन्तर्गत ही नियोजन के कार्यक्रमो का सचालन करके आर्थिक कठिनाइयो का निवारण किया जाता है। इस प्रकार के कार्यक्रमो मे सस्थागत परिवर्तन नही किये जाते। एक नवीन सस्थागत सरचना का प्रादुर्भाव नही होता है। इस प्रकार के कार्यक्रमो को कम साधनो पर तान्त्रिक विशेषज्ञो द्वारा सचालित किया जा सकता है, परन्तु यह नियोजन चतुर्मुखी विकास एव जनसमुदाय मे नवीन जीवन-सचरण हेतु अनुपयुक्त है। इसमे तो केवल विशेष समस्याओ का निवारण होता है एव अर्थ-व्यवस्था की विशिष्ट दुर्बलताओ को कम किया जाता है।

दूसरी ओर, सरचनात्मक नियोजन मे सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था मे सस्थागत परिवर्तन द्वारा एक नवीन व्यवस्था का निर्माण किया जाता है। इसके द्वारा समाज मे सर्वतोन्मुखी विकास और नवीन जीवन-का सचार होता है। सरचनात्मक नियोजन मे उत्पादन की नवीनतम विधियो का प्रयोग किया जाता है। भारत की प्रथम पचवर्षीय योजना को क्रियात्मक नियोजन कहा जा सकता है क्योकि इस योजना के कार्यक्रम को इस प्रकार निर्धारित किया गया था कि तत्कालीन उत्पादन-व्यवस्था मे न्यूनातिन्यून हेर-फेर द्वारा उत्पादन मे वृद्धि की जा सके। इस नियोजन मे आर्थिक एव सामाजिक व्यवस्था मे समायोजन करने को विशेष महत्व दिया गया था, क्योंकि द्वितीय महायुद्ध एव देश के विभाजन से पहुँची क्षति की पूर्ति आवश्यक थी। फिर भी, इस योजना मे कुछ क्षेत्रो मे सस्थागत परिवर्तन हुए हैं। इन क्षेत्रो मे भूमि-प्रबन्ध सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। द्वितीय योजना मे एक नवीन अर्थ-व्यवस्था के निर्माण का लक्ष्य रखा गया और सार्वजनिक क्षेत्र (Public Sector) का विकास एव विस्तृण करके उत्पादन के क्षेत्र मे सस्थागत परिवर्तन किये गये है। तृतीय योजना मे सहकारी कृषि तथा उद्योगो मे सार्वजनिक क्षेत्र को समाज-सेवाओ के कार्यक्रमो एव सामुदायिक विकास आदि द्वारा सस्थागत परिवर्तन को और भी अधिक महत्व दिया गया है, इसलिए इन दोनो योजनाओ को निर्माण-प्रधान योजना कहा जा सकता है।

चौथी एव पाँचवी योजनाओ मे आर्थिक एव सामाजिक व्यवस्था मे मूलभूत परिवर्तन करने, रोजगार की सरचना मे परिवर्तन करके कृषि के अतिरिक्त अन्य व्यवसायो मे अधिक रोजगार प्रदान करने, विषमताओ को कम करने के लिए सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार करने, ग्रामीण एव नगरीय सम्पत्ति का सीमाकन करने तथा गरीबी का उन्मूलन करने के लक्ष्य निर्धारित किये गये। इस

प्रकार भारतवर्ष की अभी तक की सभी योजनाएँ सरचनात्मक योजनाएँ कही जा सकती है। भारतीय योजनाओं का अन्तिम लक्ष्य पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था को समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में परिवर्तित करना है। प्रारम्भ की योजनाओ मे कुछ सरचनात्मक परिवर्तनो द्वारा अर्थ-व्यवस्था को मिश्रित अर्थ व्यवस्था का स्वरूप दिया गया। पाँचवे योजनाकाल मे कुछ गहन सरचनात्मक परिवर्तन, जैसे ग्रामीण एव नगरीय सम्पत्ति का सीमाकन, कृषि-भूमि का सीमाकन, प्रीवी पर्स की समाप्ति, विभिन्न व्यवसायो के व्यापार का राष्ट्रीयकरण, विशेषकर खाद्यान्न, आदि किये जा रहे है जिनमे अर्थ-व्यवस्था को समाजवाद की ओर अग्रसित किया जाना है।

अर्द्ध-विकसित राष्ट्रो मे सरचनात्मक योजनाओ को अधिक महत्व दिया जाता है। इसके द्वारा एक नवीन व्यवस्था का निर्माण होता है और पुरानी व्यवस्था मे, जिसकी प्रभावशीलता समाप्त हो चुकी है, बडे-बडे सुधार कर दिये जाते है। रूस एव चीन मे नियोजन का स्वरूप सरचनात्मक है। चीनी नियोजन द्वारा चीन की मिश्रित अर्थ-व्यवस्था को समाजवादी अर्थ-व्यवस्था मे परिवर्तित किया गया है। इसी प्रकार रूसी नियोजन के प्रारम्भिक काल मे नियोजन का स्वरूप सरचनात्मक था और इसके द्वारा समाज के ढाँचे मे परिवर्तन किये गये।

वास्तव मे सरचनात्मक नियोजन को अधिक प्रभावशाली माना जा सकता है। इसके द्वारा ही धन एव आय का समान वितरण तथा अवसर एव धन मे वृद्धि की जा सकती है। किसी राष्ट्र की निर्धनता को समाप्त करने हेतु धन एव आय का समान वितरण तथा अधिकतम उत्पादन दोनों ही आवश्यक है और इन दोनों का आयोजन अर्थ-व्यवस्था मे सस्थागत परिवर्तन द्वारा ही किया जा सकता है। वास्तव मे क्रियात्मक एव सरचनात्मक नियोजन मे कोई विशेष अन्तर नही है। निर्माण-प्रधान नियोजन भी कुछ समय पश्चात कार्य-प्रधान नियोजन का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। सरचनात्मक योजना के सचालन के कुछ वर्षो पश्चात अर्थ-व्यवस्था एव सामाजिक व्यवस्था मे आवश्यक सस्थागत परिवर्तन हो जाते है और फिर बडे पैमाने पर व्यवस्था मे सस्थागत परिवर्तन करने की आवश्यकता नही होती है। ऐसी परिस्थितियो मे सरचनात्मक योजना कार्य-प्रधान योजना बन जाती है। रूसी नियोजन ने अब क्रियात्मक नियोजन का स्वरूप ग्रहण कर लिया है। इसी प्रकार कुछ वर्षों पश्चात चीनी एव भारतीय नियोजन भी कार्य-प्रधान नियोजन बन जायेंगे।

(8) **भौतिक बनाम वित्तीय नियोजन** (Physical *vs* Financial Planning)—जब नियोजन का कार्यक्रम निर्धारित करते समय उपलब्ध वास्तविक साधनो को दृष्टिगत किया जाता है तो इसे भौतिक नियोजन कहते है। योजना के कार्यक्रम पूर्ण होने पर उत्पन्न हुई पूर्ति एव माँग के सम्बन्ध मे अनुमान लगाने का कार्य भी भौतिक नियोजन का अग होता है। इतना ही नहीं, योजना बनाते समय पृथक्-पृथक् परियोजनाओं के लिए केवल साधनो की आवश्यकता को ही दृष्टिगत करना पर्याप्त नही होना है, प्रत्युत समस्त विकास-कार्यक्रमो के लिए आवश्यक वास्तविक साधनो का निर्धारण भी जरूरी होता है। योजना के द्वारा अर्थ-व्यवस्था के वर्तमान सन्तुलन को छिन्न-भिन्न करके नवीन सन्तुलन का निर्माण किया जाता है। नवीन सन्तुलन स्थापित करने से पूर्व आवश्यक सामग्री, यन्त्र, श्रम आदि की उपलब्धि को दृष्टिगत करना आवश्यक होगा। यदि कुछ सामग्री विदेशो से आयात करनी हो तो यह भी आँकना पडेगा कि कथित सामग्री प्राप्त की जा सकती है अथवा नही और साथ ही क्या इस सामग्री के आयात के शोधनार्थ देश मे निर्यात-योग्य अतिरिक्त वस्तुएँ उपलब्ध है या नही। इस प्रकार योजना के कार्यक्रमो की भौतिक साधनो सम्बन्धी आवश्यकताओ एव उपलब्धि के अध्ययन तथा निश्चयो को भौतिक नियोजन कहते है।

दूसरी ओर, वित्तीय नियोजन मे योजना के कार्यक्रमो की वित्तीय आवश्यकताओ को आँका जाता है एव उनका प्रबन्ध किया जाता है। विनियोजन का प्रकार निश्चित करके विभिन्न मदो पर व्यय होने वाली राशियाँ निश्चित की जाती हैं। विकास-व्यय द्वारा मूल्यों एव मौद्रिक आय पर पडने वाले प्रभाव का अनुमान लगाकर माँग एव पूर्ति के अनुमान लगाये जाते है। बजट सम्बन्धी

नीतियो द्वारा मूल्य, आय एव उपभोग पर नियन्त्रण किया जाता है। इन सभी कार्यो को वित्तीय नियोजन मे सम्मिलित किया जाता है। किसी योजना को सफल बनाने के लिए भौतिक एव वित्तीय दोनो ही विचारधाराएँ एव अनुमान आवश्यक है। योजना मे इन दोनो विचारधाराओ को पृथक्-पृथक् नही किया जा सकता है। यह अवश्य है कि किसी योजना म वित्तीय विचारधाराओं को और किसी मे भौतिक विचारधाराओ को महत्व प्रदान किया जाता है। वित्तीय साधनो मे राज्य वृद्धि कर सकता है, किन्तु इनकी वृद्धि कुछ लाभदायक नही होगी, जब तक कि वास्तविक भौतिक साधनो मे वृद्धि न हो। दूसरी ओर, यदि भौतिक साधनो को ही महत्व दिया जाय तो वित्तीय व्यवस्था के प्रभावो का लाभ प्राप्त नही हो सकेगा। इस प्रकार वित्तीय नियोजन एव भौतिक नियोजन एक दूसरे के पूरक है और इन दोनो का समन्वित उपयोग आवश्यक होता है।

योजना बनाने के पूर्व योजना-आयोग के भौतिक लक्ष्य निर्धारित करना आवश्यक होता है। इन भौतिक लक्ष्यो मे पारस्परिक समन्वय होना भी अत्यन्त आवश्यक होता है। एक उद्योग का निर्मित माल दूसरे उद्योग के लिए कच्चा माल होता है। ऐसी परिस्थिति म दोनों उद्योगो क लक्ष्यो मे समन्वय होना आवश्यक है, अन्यथा विकास छिन्न-भिन्न हो जायगा। प्रत्यक उद्योग के लिए आवश्यक सामग्री एव कच्चे माल की मात्रा तथा उसके द्वारा निर्मित माल की माँग निर्धारित करना योजना अधिकारी का मुख्य कर्तव्य होता है। इस प्रकार विभिन्न उद्योगो की कच्चे माल श्रम एव सामग्री सम्बन्धी आवश्यकताओ तथा उनके द्वारा उत्पादित वस्तु की मात्रा को निर्धारित करने को नियोजन का भौतिक स्वरूप कहते है। जब इन भौतिक लक्ष्यो एव निश्चयो को वित्तीय स्वरूप दिया जाता है तो उसे नियोजन का वित्तीय स्वरूप कहते है।

इस बात मे अर्थशास्त्रियो म मतभेद है कि अल्प-विकसित राष्ट्रो म भौतिक अथवा वित्तीय—किस पक्ष को योजना का आधार माना जाय। वास्तव मे प्रत्येक योजना के लिए दोनो ही पक्षो की आवश्यकता होती है। केवल निश्चय यह करना होता है कि किस पक्ष को आधार समझा जाय। अल्प-विकसित राष्ट्रो मे राष्ट्रीय बचत इतनी कम होती है कि यदि उसको आधार मानकर विकास-योजनाओ का निर्माण किया जाय तो विकास की गति अत्यन्त धीमी रहेगी। दूसरी ओर, अर्थ-व्यवस्था की भौतिक आवश्यकताओ की जाँच करके उनकी पूर्ति हेतु अर्थ-साधनो की खोज की जाय तो विकास की गति तीव्र हो सकती है, परन्तु यह अर्थ-साधन कहाँ से उपलब्ध हो सकेंगे क्योकि देश मे बचत एव विनियोजन का स्तर अत्यन्त न्यून होता है, जिसको शीघ्रता मे बढाया जाना सम्भव नही होता है। इन साधनो को इस प्रकार विदेशी सहायता एव मुद्रा प्रसार से जुटाया जाता है। विदेशी सहायता पर्याप्त मात्रा मे मिलते रहना प्राय सम्भव नही होता है और यदि पर्याप्त विदेशी सहायता उपलब्ध भी हो जाय तो इस सहायता का वह भाग, जिसका उपयोग विदेशो से आयात करने पर व्यय नही किया जाता, मुद्रा-प्रसार को उग्र बनाने मे सहायक होता है। दूसरी ओर, मुद्रा-पूर्ति मे वृद्धि द्वारा भी मुद्रा-प्रसार के दबाव को प्रोत्साहन मिलता है। इस प्रकार मुद्रा-प्रसार की वृद्धि मे विकास की गति को अधिक समय तक तीव्र रखना सम्भव नही होता है, परन्तु मुद्रा-प्रसार पर राज्य विभिन्न मौद्रिक एव वित्तीय क्रियाओ द्वारा नियन्त्रण रख सकता है और विकास की वाछित गति बनाये रखी जाती है। इन्ही कारणो से आधुनिक युग मे भौतिक नियोजन को अधिक महत्व प्रदान किया जाता है, परन्तु भौतिक कार्यक्रमो का आधार मानते हुए भी उनकी अधिकतम सीमा उपलब्ध हो सकने वाले सम्भावित साधनो पर निर्भर रहती है।

(9) **प्रोत्साहन द्वारा नियोजन बनाम निर्देशन द्वारा नियोजन** (Planning by Inducement *vs* Planning by Direction)—नियोजित व्यवस्था के अन्तर्गत आर्थिक क्रियाओ पर राजकीय नियन्त्रण करना आवश्यक होता है, परन्तु इस नियन्त्रण की कठोरता नियोजन के प्रकार पर निर्भर रहती है। जब सरकार द्वारा नियुक्त केन्द्रीय नियोजन-अधिकारी राष्ट्र की अर्थ-व्यवस्था का सचालन करता है तथा सरकार के हाथ मे आर्थिक एव राजनीतिक दोनो ही सत्ताओ का सम्पूर्ण केन्द्रीकरण हो जाता है तो ऐसी नियोजन व्यवस्था को निर्देशन द्वारा नियोजन समझा जाता है। निर्देशन द्वारा

नियोजन में केन्द्रीय अधिकारी के आदेशों के अनुसार उत्पादन, उपभोग, वितरण, व्यापार, मूल्य आदि समस्त आर्थिक तत्वों का निर्धारण किया जाता है और जनसमुदाय को उन आदेशों के अनुसार ही समस्त आर्थिक एवं सामाजिक क्रियाओं को करना होता है। इस प्रकार व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को कुठाराघात पहुँचता है और जनसाधारण को दबाव द्वारा त्याग करने के लिए विवश किया जाता है। एक मैन्यीकरण व्यवस्था नागरिक जीवन को आच्छादित कर लेती है और राज्य के निर्देशों का उल्लंघन करने पर कठोर दण्ड का आयोजन किया जाता है। इस प्रकार के नियोजन में कुछ सीमा तक लक्ष्यों की पूर्ति आश्चर्यजनक रहती है, परन्तु जैसे-जैसे जनसमुदाय में असन्तोष की भावना बढ़ती जाती है, योजना की सफलता सन्देहजनक होती जाती है। निर्देशन द्वारा नियोजन का उपयोग अधिनायकवादी अथवा तानाशाही तथा साम्यवादी नियोजन में किया जाता है।

दूसरी ओर, प्रोत्साहन द्वारा नियोजन के अन्तर्गत आर्थिक क्रियाओं में राजकीय नियन्त्रण यदा-कदा रहता है, अर्थात् राज्य उन्हीं आर्थिक क्रियाओं का संचालन अपने हाथ में लेता है, जिनका आर्थिक विकास के कार्यक्रमों की सफलता पर गहरा प्रभाव पड़ सकता हो तथा जो योजना के आधारभूत उद्देश्यों की पूर्ति हेतु प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्ध रखती हो। इस प्रकार विपणि-यान्त्रिकताओं को जीवित रख कर राज्य प्रलोभन, प्रोत्साहन, लोकप्रसिद्धि (Publicity) द्वारा जनसमुदाय को योजना के कार्यक्रमों में सहयोग देने, साधनों को योजना की प्राथमिकताओं के अनुसार विनियोजित करने तथा योजना की सफलता के लिए त्याग करने के लिए आकर्षित करता है। इस प्रकार प्रोत्साहन-विधि के अन्तर्गत विकास की गति धीमी और लक्ष्यों की पूर्ति आश्चर्यजनक नहीं होती है, परन्तु दीर्घकाल में इस प्रकार के नियोजन के अन्तर्गत प्रगति की गति तीव्र की जा सकती है। प्रोत्साहन द्वारा नियोजन में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता बनी रहती है और व्यक्तिगत एवं सामाजिक हितों को समन्वित किया जाता है।

(10) निम्न स्तर से नियोजन बनाम उच्च स्तर से नियोजन (Planning from Below vs Planning from Above)—नीचे के स्तर से बनायी जाने वाली योजनाओं का निर्माण स्थानीय, क्षेत्रीय तथा व्यक्तिगत संस्थाओं द्वारा बनायी गयी योजनाओं को समन्वित करके किया जाता है। नीचे के स्तर से नियोजन का अर्थ यह है कि राष्ट्र के सबसे पिछड़े हुए वर्ग को सर्वप्रथम उसमें ऊँचे वर्ग के स्तर पर लाया जाय और फिर दूसरे वर्ग को उससे ऊँचे वर्ग के स्तर पर लाया जाय। इस प्रकार की नियोजित व्यवस्था का सबसे अधिक लाभ नीचे के वर्गों को मिलता है। उच्च स्तर से बनायी जाने वाली योजनाओं में योजना की निर्माण-विधि बिल्कुल विपरीत होती है। नियोजन के आधारभूत लक्ष्य, कार्यक्रम एवं नीतियाँ केन्द्रीय संस्था द्वारा निर्धारित किये जाते हैं और इन आधारभूत तथ्यों के आधार पर नीचे के अधिकारी एवं संस्थाओं द्वारा अपने-अपने क्षेत्र के लिए विस्तृत योजनाएँ बनायी जाती हैं। सर्वोदयी नियोजन नीचे के स्तर से नियोजन का आदर्श स्वरूप होता है जबकि अधिनायकवादी नियोजन ऊपर के स्तर से नियोजन का उचित उदाहरण है। ऊपर के स्तर के नियोजन-कार्यक्रमों में समन्वय अधिक होता है, परन्तु योजना के लाभ का वितरण समान नहीं होता।

(11) प्रदेशीय बनाम राष्ट्रीय नियोजन (Regional vs National Planning)—बड़े-बड़े राष्ट्रों में, जहाँ विभिन्न क्षेत्रों में आर्थिक साधनों एवं लक्षणों, सामाजिक वातावरण एवं रीति-रिवाजों तथा इन क्षेत्रों के पृथक्-पृथक् हितों में समानता नहीं होती है, वहाँ प्रदेशीय विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता होती है और प्रत्येक प्रदेश के लिए राष्ट्रीय नियोजित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत पृथक्-पृथक् योजनाएँ बनायी एवं संचालित की जाती हैं। वास्तव में विकेन्द्रित योजनाओं का ही दूसरा नाम प्रदेशीय नियोजन है। भारत की विभिन्न राज्यों को पृथक्-पृथक् योजनाओं को प्रदेशीय नियोजन कहा जा सकता है। इसके अन्तर्गत प्रदेशीय अधिकारियों को नियोजन के निर्माण संचालन एवं निरीक्षण सम्बन्धी अधिकार दे दिये जाते हैं। इस प्रकार की योजनाएँ राष्ट्रीय नीतियों एवं कार्यक्रमों के अन्तर्गत बनायी जाती हैं और उन पर अन्तिम नियन्त्रण योजना-अधिकारी का ही होता है। संयुक्त अरब गणराज्य में भी राष्ट्रीय विकास-योजना के अन्तर्गत मिस्र एवं सीरिया प्रदेश

के विकास के लिए पृथक् योजना बनायी गयी थी। इन दोनो प्रदेशो के आर्थिक साधनो एव विकास की स्थिति मे बहुत अन्तर है। प्रत्येक बडे राष्ट्र मे, जो बडे क्षेत्र मे फैला हो, प्रदेशीय नियोजन की आवश्यकता होती है। इस नियोजन का उद्देश्य प्रदेश के साधनो का उचित उपयोग करके इसे अन्य प्रदेशो के स्तर पर लाना होता है, परन्तु इस प्रकार के नियोजन का यह तात्पर्य कदापि नही है कि विभिन्न प्रदेश अपने आप मे आत्म-निर्भर बनने का प्रयत्न करें तथा अन्य प्रदेशो के साथ सामजस्य स्थापित करने के स्थान पर अपने ही विकास के लिए प्रयत्नशील रहे। प्रदेशीय नियोजन का वास्तविक उद्देश्य उपलब्ध साधनो का अधिकतम कार्यशील उपभोग करना तथा समस्त प्रदेशो मे आर्थिक सन्तुलन उत्पन्न करना होता है।

राष्ट्रीय नियोजन के अन्तर्गत राष्ट्र की राजनीतिक सीमाओ मे सम्मिलित सम्पूर्ण प्रदेशो को एक इकाई मानकर विकास के आयोजन किये जाते है। जब सम्पूर्ण राष्ट्र के साधनो एव आवश्यकताओ को एक साथ दृष्टिगत करके योजना बनायी जाती है तो उसे राष्ट्रीय नियोजन कहा जाता है। वास्तव मे आर्थिक नियोजन का वास्तविक अर्थ राष्ट्रीय नियोजन समझना चाहिए। आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत भी सम्पूर्ण राष्ट्र के विकास के लिए योजनाएं बनायी जाती है। राष्ट्रीय नियोजन को अधिक प्रभावशाली बनाने हेतु इसे प्रदेशीय योजनाओ मे विभाजित किया जा सकता है। भारत की योजनाओ को राष्ट्रीय योजना कहना उचित होगा। इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण राष्ट्र के साधनो एव आवश्यकताओ को दृष्टिगत किया जाता है, परन्तु इनकी प्रभावशीलता बढाने एव सन्तुलित प्रदेशीय विकास करने हेतु हमारी योजनाओ को राज्यो की योजनाओ मे विभाजित कर दिया जाता है। कम क्षेत्र वाले राष्ट्रो मे राष्ट्रीय योजना को प्रदेशीय योजना मे विभाजित करना आवश्यक नही होता है। ऐसी परिस्थिति मे योजना का उद्देश्य राष्ट्र के उत्पादन मे वृद्धि करना होता है और देश के समस्त प्रदेशो का सन्तुलित विकास करने के लिए विशेष प्रयास सम्भव नही होते है।

(12) अन्तर्राष्ट्रीय नियोजन—अन्तर्राष्ट्रीय नियोजन उस व्यवस्था को कह सकते है जिसमे एक से अधिक देशो के साधनो का उपयोग सामूहिक रूप से समस्त सदस्य-राष्ट्रो द्वारा किया जाता है। वास्तव मे इसके अन्तर्गत विभिन्न राष्ट्रो के साधनो का एकीकरण (Pooling) होता है। इस प्रकार के नियोजन का सचालन किसी बडे साम्राज्य मे ही सम्भव हो सकता है, जहाँ कई राष्ट्र किसी एक राष्ट्र के अधीन हो। विभिन्न राष्ट्रो की पृथक्-पृथक् आर्थिक समस्याएँ एव साधन होते है और अधिकतर स्वतन्त्र राष्ट्र कभी भी अपने समस्त साधनो का एकीकरण करके विकास की ओर अग्रसर होना स्वीकार नही कर सकते, क्योकि यह विकास व्यावहारिक दृष्टिकोण से भी सम्भव नही हो सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय नियोजन का ढीला स्वरूप ही व्यावहारिक हो सकता है जिसमे एक से अधिक राष्ट्र जो स्वतन्त्र हो और जिनका राजनीतिक अस्तित्व एक-दूसरे से पृथक् हो, अपनी अर्थ-व्यवस्था के कुछ अगो को एक अन्तर्राष्ट्रीय सस्था के नियन्त्रण मे रखना स्वीकार कर लेते है।

वास्तव मे आर्थिक मामलो से सम्बन्धित अन्तर्राष्ट्रीय समझौते को भी अन्तर्राष्ट्रीय नियोजन का स्वरूप मानना चाहिए। General Agreement of Trade and Tariffs (GATT) के अन्तर्गत यह आयोजन किया गया कि किसी भी सदस्य-देश द्वारा किसी अन्य देश मे उत्पादित किसी वस्तु को जब कोई लाभ व सर्वाधिकार (Privilege) आदि दिया जाय तो अन्य सदस्य-देशो के उत्पादन को भी वही लाभ एव सर्वाधिकार प्राप्त होगा जो सर्वाधिक अनुगृहीत (Favoured) राष्ट्र को दिया गया है। इस प्रकार के समझौते से राष्ट्रीय नियोजन को इनके अनुसार बनाना आवश्यक होता है और कभी-कभी राष्ट्रीय नियोजन मे बडी कठिनाइयाँ पड जाती है। भारत इस समझौते का सदस्य है। फरवरी, 1954 मे विदेशी मुद्रा की कठिनाई उपस्थित होने पर भारत को यह आवश्यक हो गया कि वह विदेशो को दी गयी रियायतो को बन्द कर दे और भारत सरकार को इस कार्यवाही के लिए समझौते के अधिकारियो से विशेष आज्ञा प्राप्त करनी पडी।

अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के अन्तर्गत यूरोपियन कॉमन मार्केट का उल्लेख करना आवश्यक है। 25 मार्च, 1957 की रोम की सन्धि के अन्तर्गत यूरोपीय आर्थिक समुदाय (European

Economic Community) की स्थापना का आयोजन किया गया। इस समुदाय में छः यूरोपीय देश—बेल्जियम, फ्रान्स, फेडरल रिपब्लिक ऑफ जर्मनी, ब्रिटेन, इटली, लक्जमबर्ग तथा नीदरलैण्ड्स —सम्मिलित हुए। इसकी स्थापना 1 जनवरी 1958 को हुई और इसके अन्तर्गत सदस्य-देशों की आर्थिक क्रियाओं के समन्वित विकास, अधिक आर्थिक स्थिरता तथा जीवन-स्तर में वृद्धि का उद्देश्य रखा गया। इन उद्देश्यों की पूर्ति हेतु सदस्य देशों को निम्नलिखित कार्यवाहियाँ करनी थीं :

(1) सदस्य-देशों के पारस्परिक आयात एवं निर्यात पर से कर एवं उनकी यात्रा पर लगाये प्रतिबन्धों को हटाना तथा व्यक्तियों, सेवाओं एवं पूँजी के आने-जाने की रोकों को भी लागू न करना।

(2) सामान्य कृषि एवं यातायात की नीतियों का संचालन।

(3) सामान्य बाजार (Common Market) में प्रतिस्पर्धा जीवित रखने के लिए व्यवस्था करना।

(4) सामान्य विदेशी वाणिज्य-नीति अपनाना, जो सामान्य बाजार (Common Market) के बाहर के देशों से व्यापार करने पर लागू की जानी थी। इन कार्यवाहियों के अतिरिक्त एक यूरोपीय विनियोजन बैंक की स्थापना की जानी थी, जिसे समुदाय के आर्थिक विस्तार का कार्य करना था। रोजगार एवं जीवन-स्तर में वृद्धि करने हेतु एक यूरोपीय विशेष फण्ड का आयोजन भी किया जाना था। इस समझौते के अनुसार सदस्य-देशों के पारस्परिक आयात एवं निर्यात पर से प्रतिबन्ध एवं कर हटाने तथा अन्य देशों से व्यापार करने की सामान्य नीति अपनाने का कार्य 12 वर्षों में किया जाना है। अब ब्रिटेन भी इस Common Market में सम्मिलित हो गया है।

इन अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों के अतिरिक्त मार्शल प्लान, कोलम्बो प्लान, कोमेकोन (COMECON—Council for Mutual Economic Assistance), ओश्ड (OSSHD—Organization of Socialist Railroads) आदि अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ भी विकास के लिए सदस्य-देशों को सहायता प्रदान करती हैं। मार्शल प्लान के अन्तर्गत यूरोप के कई राष्ट्रों ने मिलकर यूरोपीय सहयोग संगठन (OOEC—Organization of European Cooperation) की स्थापना सन् 1947 में की। मार्शल संयुक्त राज्य अमेरिका का सेक्रेटरी ऑफ स्टेट था और उसने यह सुझाव दिया कि यूरोपीय राष्ट्रों को खाद्यान्नों आदि के लिए अमेरिका से सहायता माँगने के पूर्व अपने आपको संगठित करना चाहिए और पहले अपनी आवश्यकताओं को स्वयं पूरा करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस संगठन के कार्यक्रम में (अ) सदस्य-देशों में खाद्यान्नों के उत्पादन को युद्ध के स्तर तक बढ़ाना, कोयले का उत्पादन युद्ध के पूर्व के स्तर से ⅓ अधिक करना, बिजली और इस्पात का उत्पादन युद्ध के पूर्व के स्तर से ⅓ अधिक करना, (आ) आन्तरिक वित्तीय स्थिरता उत्पन्न करना तथा उसका निर्वाह करना, (इ) सदस्य देशों में अधिकतम पारस्परिक सहयोग स्थापित करना, (ई) यूरोपीय व्यापार-असन्तुलन की समस्या को अमरीकी देशों के साथ हल करना सम्मिलित किये गये। इस संगठन की नीतियों को सफलतापूर्वक संचालित किया गया।

कोलम्बो-योजना के अन्तर्गत दक्षिणी एवं दक्षिणी-पूर्वी एशियाई राष्ट्रों के जीवन-स्तर को पारस्परिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा ऊपर उठाने का उद्देश्य था।

कोमेकोन (COMECON) की स्थापना सन् 1948 में मार्शल प्लान के नमूने पर साम्यवादी राष्ट्रों ने की। इसमें पूर्वी यूरोप के राष्ट्र सम्मिलित थे। यह एक अन्तर्राष्ट्रीय तान्त्रिक एवं वित्तीय सहयोग की संस्था है जिसमें वे देश ही सदस्य हो सकते हैं जो नियोजित विकास में आस्था रखते हैं। इसलिए इसमें केवल समाजवादी राष्ट्र—रूस, बलगारिया, चेकोस्लोवेकिया, पूर्वी जर्मनी, हंगरी, पोलैण्ड, रूमानिया तथा बाहरी मंगोलिया सम्मिलित हैं।

इसी प्रकार चीन, अल्बानिया, उत्तरी वियतनाम तथा उत्तरी कोरिया ओश्ड (OSSHD) के सदस्य हैं। यह संस्था रेलमार्ग स्थापित करने के सम्बन्ध में तान्त्रिक सहयोग प्रदान करती है।

इस प्रकार उपर्युक्त अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ विभिन्न क्षेत्रों में पारस्परिक सहयोग प्रदान करती हैं। विभिन्न सदस्य-देश अपने साधनों एवं ज्ञान का लाभ अन्य सदस्य-देशों को प्रदान करते हैं।

9

आर्थिक विधियाँ एवं नियोजन के प्रकार
[ECONOMIC SYSTEMS AND TYPES OF PLANNING]

नियोजित अर्थ-व्यवस्था का जन्म व्यापक दृष्टिकोण मे राज्य के जन्म के साथ ही हो गया था क्योंकि प्रारम्भ से ही राज्य का आर्थिक क्षेत्र मे कुछ कार्यवाहियाँ करना प्रमुख कर्तव्य रहा है। जैसे-जैसे राज्य के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत आर्थिक क्रियाओ मे वृद्धि होती गयी और इन समस्त आर्थिक क्रियाओ को एक समन्वित रूप दिया जाने लगा, नियोजित अर्थ-व्यवस्था के आधुनिक स्वरूप का प्रादुर्भाव हुआ। नियोजित अर्थ-व्यवस्था के स्वरूप को देश मे मान्य एव प्रचलित आर्थिक एव राजनीतिक विचारधाराओं ने प्रभावित किया और उसका प्रकार भी इन्ही विचारधाराओं के आधार पर निर्धारित किया जाने लगा। इगलैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति (सन् 1760) के पूर्व यूरोप मे प्रचलित राजनीतिक विचारधाराएँ—भौतिक सुखवाद, विरक्तवाद, पाण्डित्यवाद (Scholasticism), राज्य का ईश्वरवाद, अनुबन्धवाद, उपयोगितावाद, आदर्शवाद आदि—धर्म, विवेक, आदर्श, व्यक्तिगत इच्छाओं आदि पर आधारित थी। इन विचारधाराओ मे आर्थिक तत्वो की छाप का अभाव था। इगलैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति ने राजनीतिक विचारधाराओ पर पर्याप्त प्रभाव डाला।

औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप बडे-बडे कारखानो, नगरो, पूँजीवाद, श्रमिक-वर्ग आदि का जन्म हुआ। मशीनो द्वारा बडे पैमाने पर उत्पादन के फलस्वरूप कुछ व्यक्तियो ने धन का सचय किया और इस धन-सग्रह की क्रिया मे राज्य द्वारा कम से कम हस्तक्षेप रखने हेतु इनके द्वारा यह माँग की गयी कि प्रत्येक व्यक्ति को उत्पादन, उपभोग, व्यापार, रोजगार आदि के सम्बन्ध मे स्वतन्त्रता होनी चाहिए जिसके परिणामस्वरूप व्यक्तिगत विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ। व्यक्तिगत विचारधारा ने धीरे-धीरे बहुत से रूप धारण किये और इनके आधार पर पूँजीवाद, जनतन्त्रवाद एव राष्ट्रीयवाद का प्रादुर्भाव हुआ।

पूँजीवाद

व्यक्तिवाद के अन्तर्गत राज्य को व्यक्ति की सुख-सुविधा का साधन मात्र माना गया और राज्य के कर्तव्यों के क्षेत्र को अत्यन्त सीमित रखा गया। व्यक्तिवादियो के मतानुसार राज्य को मुख्य रूप से दो कार्य करने चाहिए—शान्ति-रक्षा तथा न्याय-व्यवस्था। एडम स्मिथ, माल्थस, रिकार्डो तथा जॉन स्टुअर्ट आदि अर्थशास्त्रियों ने व्यक्तिवाद का समर्थन किया। व्यक्तिवादी अर्थशास्त्र का जन्म फ्रान्स मे भौतिक अर्थशास्त्रीय विचारको द्वारा हुआ जिनको "फिजियोक्रेट्स" कहते थे। इनके विचारो को अंग्रेजी अर्थशास्त्रियो—एडम स्मिथ (सन् 1723-90), माल्थस (सन् 1766-1834), रिकार्डो (सन् 1772-1823), जॉन स्टुअर्ट मिल ने उत्तरोत्तर विकसित किया। व्यक्तिवादी अर्थशास्त्रियो ने अर्थशास्त्र के नियमो को प्राकृतिक नियमो के अनुसार अपरिवर्तनीय नियम बताया। इनके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने हानि-लाभ को अन्य किसी व्यक्ति, सस्था या समूह की तुलना मे अधिक अच्छी तरह समझता है और यदि राज्य प्रत्येक व्यक्ति को आर्थिक क्षेत्र मे स्वतन्त्र छोड दे तो व्यक्ति, समाज एव राज्य का अधिक हित हो सकता है। व्यक्तिवादियो के अनुसार माँग एव पूर्ति के घटक आर्थिक क्रियाओ मे सन्तुलन बनाये रखने मे अत्यन्त प्रभावशाली होते हैं और राज्य को बाजार-तान्त्रिकताओ (Market Mechanisms) मे हस्तक्षेप नही करना

चाहिए तथा हस्तक्षेपरहित अर्थ-व्यवस्था (*Laissez Faire*) को मान्यता दी जानी चाहिए। व्यक्तिवादी अर्थ-व्यवस्था में स्वतन्त्र प्रतियोगिता को मान्यता दी गयी और इसका सुचारु रूप से सचालन करने हेतु उन्मुक्त व्यापार-नीति (Free Trade) को आवश्यक बताया गया। इस प्रकार व्यक्तिवादी अर्थ व्यवस्था की तीन आधारशिलाएँ थी— व्यक्तिगत लाभ हेतु आर्थिक क्रियाएँ, बाजार तान्त्रिकताएँ एव स्वतन्त्र प्रतिस्पर्धा तथा उन्मुक्त व्यापार। इन तीन आधारभूत नियमो से पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था को सुदृढता प्राप्त हुई।

पूँजीवाद के अन्तर्गत निजी लाभ हेतु उत्पादन किया जाता है और उत्पादन के साधन निजी अधिकार मे रहते है। उत्पादन कार्य मजदूरी पर रखे गये श्रम द्वारा किया जाता है और उत्पादित वस्तु पर पूँजीपति का अधिकार होता है। इस व्यवस्था मे आर्थिक निश्चय किसी केन्द्रीय अधिकारी द्वारा नही किये जाते अपितु व्यापारी व्यक्तिगत रूप मे आर्थिक निश्चय करता है। जीवन स्तर एव भौतिक सम्पन्नता का अनुमान व्यक्तिगत दृष्टिकोण से लगाया जाता है। समस्त आर्थिक नियाओ का आधार व्यक्तिगत लाभ अथवा हित होता है। पूँजीवाद मे उत्पादन के समस्त घटको की तुलना म पूँजी को सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त होता है।

श्रम को एक वस्तु के समान ही समझा जाता है। कार्ल मार्क्स के अनुसार इसे बाजार म क्रय विक्रय किया जाता है। कार्ल मार्क्स के अनुसार पूँजीवाद एक ऐसी व्यवस्था है जिसमे उत्पादन के साधन समस्त जनसमुदायों के हाथो मे निकलकर एक छोटे से वर्ग के अधिकार मे चले जाते है। तेजी एव मन्दी की निरन्तर उपस्थिति पूँजीवादी व्यवस्था की मुख्य देन है, जिसमे बेरोजगारी एव अल्प विकसित बेरोजगारी सदैव गम्भीर समस्या बनी रहती है। ससार के आर्थिक इतिहास मे पूँजीवाद का महत्वपूर्ण योगदान है। एडम स्मिथ ने यह सिद्ध किया कि अधिक कार्यक्षमता पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। उन्होने राजकीय हस्तक्षेप को सर्वथा व्यर्थ बताया। पूँजीवादी व्यवस्था मे बाजारो की भी प्रगति हुई, माँग मे वृद्धि हुई औद्योगिक उत्पादन के क्षेत्र मे क्रान्ति हुई और यातायात एव सचार का विकास हुआ। इगलैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति भी पूँजीवाद की ही देन थी। वैब्स ने पूँजीवाद की परिभाषा इस प्रकार की है— पूँजीवाद अथवा पूँजीवादी व्यवस्था अथवा पूँजीवादी सभ्यता का अर्थ उद्योग के विकास एव वैधानिक सगठन की उस अवस्था से है जिसमे श्रमिको का समुदाय उत्पादन के साधनो के स्वामित्व से वचित कर दिया जाता है तथा ऐसे पारिश्रमिक अर्जित करने वालो मे परिणत कर दिया जाता है जिससे इनका जीवन-निर्वाह तथा व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य राष्ट्र के उन कतिपय व्यक्तियो की इच्छा पर निर्भर होता है जो भूमि, यन्त्र एव श्रम-शक्ति के स्वामी है तथा जो अपने वैधानिक स्वामित्व के द्वारा उनके प्रबन्ध का नियन्त्रण करते है तथा वे ये सब कार्य अपने निजी एव व्यक्तिगत लाभ के लिए करते है।"[1]

पूँजीवाद के लक्षण

उपर्युक्त परिभाषा का विश्लेषणात्मक अध्ययन पूँजीवाद के आठ मुख्य लक्षणो की ओर इगित करता है, जो निम्न प्रकार है

(1) पूँजीवाद म उत्पादन के साधन (मनुष्य को छोडकर) तथा सम्पत्ति निजी होती है।

---

1 "By the term Capitalism' or the 'Capitalistic System' or as we prefer the 'Capitalist Civilization,' we mean the particular stage in the development of industry and legal institution in which bulk of the workers find themselves divorced from the ownership of the instruments of production in such a way as to pass into the position of wage-earners whose subsistence, security and personal freedom seem dependent on the will of a relatively small proportion of the nation, namely those who own and through their legal ownership control the organisation of the land the machinery and the labour force of the community and do so with the object of making for themselves individual and private gains "

—*Webbs*

प्रत्येक व्यक्ति को अपने प्रयत्नों द्वारा उन्हें प्राप्त करने, उपयोग करने तथा अपने उत्तराधिकारी को मृत्योपरान्त देने की स्वतन्त्रता एवं अधिकार होता है।

(2) प्रत्येक उपभोक्ता अपने उपभोगार्थ किसी भी वस्तु को चुनने, अपनी आय को स्वेच्छानुसार व्यय करने तथा विनियोजित करने को पूर्ण स्वतन्त्र होता है।

(3) पूंजीवाद मे प्रत्येक व्यक्ति को आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त होती है, अर्थात् वह साहस, प्रसंविदा तथा निजी सम्पत्ति के मनोवांछित उपयोग मे पूर्ण स्वतन्त्र होता है।

(4) पूंजीवादी व्यवस्था आर्थिक समानता को कोई महत्व नही देती। परिणामस्वरूप, समाज तीन विभिन्न वर्गों—सम्पन्न, मध्यमवर्गीय तथा निर्धन मे विभक्त हो जाता है। इन वर्गों मे सदा पारस्परिक संघर्ष होना स्वाभाविक है।

(5) पूंजीवादी व्यवस्था मे स्वतन्त्र साहस एवं प्रतियोगिता को महत्व दिया जाता है। उत्पादन उपभोक्ताओं की इच्छानुसार व्यक्तिगत लाभ के दृष्टिकोण से किया जाता है तथा सरकार आर्थिक क्रियाओं मे न्यूनातिन्यून हस्तक्षेप करती है। उत्पादकों की उत्पादकों से, विक्रेताओं की विक्रेताओं से, उपभोक्ताओं की उपभोक्ताओं मे तथा श्रमजीवियों की श्रमजीवियों से सदैव पारस्परिक प्रतिस्पर्धा बनी रहती है। इस प्रकार प्रतियोगिता सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था का आधार स्तम्भ होती है।

(6) पूंजीवादी व्यवस्था का मुख्य लक्षण व्यक्तिगत लाभ की भावना है। साहसी अपने लाभ को सर्वोच्च महत्व देता है तथा किसी व्यवसाय की स्थापना एवं विस्तार करने से पूर्व यह विचार करता है कि उसे कम से कम त्याग करने से किस व्यवसाय मे अधिक लाभ प्राप्त हो सकता है। राष्ट्रीय एवं सामाजिक हित का उसके समक्ष कोई मूल्य नही है।

(7) पूंजीवादी व्यवस्था मे उत्पादन के साधनो मे सर्वोपरि स्थान पूंजी को प्राप्त है। जो व्यक्ति व्यवसाय मे धन एवं पूंजी लगाता है, वही उसका नियन्त्रक भी होता है, अर्थात् श्रम, भूमि, साहस आदि सभी अन्य घटक पूंजी के अधीन हो जाते हैं।

(8) पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था स्वयं ही अपने विनाश का कारण बन जाती है। जैसे-जैसे किसी राष्ट्र मे पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था का विकास होता है, बड़े पूंजीपतियो का प्रादुर्भाव होता जाता है, जो संख्या मे गिने-चुने होते हैं, परन्तु दूसरी ओर, भृति पर कार्य करने वाले श्रमिकों की संख्या बढती जाती है जिसके फलस्वरूप वर्ग-संघर्ष बढ जाता है जिसमे श्रमिकों की अन्त मे विजय होती है और पूंजीवाद धीरे-धीरे समाजवाद मे बदलने लगता है।

पूंजीवाद के दोष

पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था मे बहुत से आर्थिक एवं सामाजिक दुर्गुणो का सामंजस्य होता है। इसका कारण है उत्पादन तथा वितरण पर प्रभावशाली शासकीय नियन्त्रण की शिथिलता। पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था के दुर्गुणों ने नियोजन के महत्व मे वृद्धि की है। पूंजीवाद के मुख्य दोष तीन प्रकार के है—

(1) आर्थिक अस्थिरता—उच्चावचान, तेजी, मन्दी आदि पूंजीवाद की मुख्य देन है। अनियोजित पूंजीवाद के उच्चावचान की उपस्थिति के तीन मुख्य कारण है—

(अ) कच्चे माल की पूर्ति पर प्रभाव डालने वाले अनिश्चित कारण (Unforeseen Causes),

(आ) माँग और पूर्ति मे अपूर्ण समायोजन, और

(इ) मूल्यो मे आर्थिक कारणो से परिवर्तन।

जब उत्पादन सम्बन्धी निश्चयो को व्यापारी व्यक्तिगत रूप से करते है तो इन निश्चयों मे त्रुटि रहना स्वाभाविक ही होता है।

व्यापारी व्यक्तिगत रूप से केवल एक अत्यन्त सकुचित क्षेत्र को विचाराधीन करके निर्णय कर सकता है। उसे अपने अन्य साथी-व्यापारियो के निर्णयों का भी पता नही होता। ऐसी परिस्थिति मे उत्पादन सम्बन्धी अनुमान सदैव माँग की तुलना मे कम अथवा अधिक रहते हैं। माँग

एवं पूर्ति सदैव पारस्परिक समायोजन करने का प्रयत्न तो करते हैं, परन्तु यह समायोजन कभी हो नहीं पाता है। इसी कारण पूँजीवाद में अधिक उत्पादन तथा कम उत्पादन की समस्या सदैव उपस्थित रहती है। माँग एवं पूर्ति में समायोजन न होने के कारण ही मन्दी एवं तेजी आती है। इसके अतिरिक्त वित्तीय व्यवस्था का प्रभाव मूल्यों पर पड़ता रहता है जिससे मूल्यों में सामान्यतः स्थिरता नहीं आ पाती है। मूल्यों में स्थिरता न होने पर समस्त आर्थिक क्रियाएँ अस्थिर हो जाती हैं।

(2) *आर्थिक विषमता*—अनियोजित पूँजीवाद में धन आय एवं अवसर का असमान वितरण होता है। राष्ट्रीय धन एवं आय का बड़ा भाग जनसमुदाय के छोटे से वर्ग के हाथ में होता है और जनसमुदाय का बड़ा भाग निर्धन रहता है। धन अथवा पूँजी को अर्थ-व्यवस्था में सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया जाता है। पूँजीपति-वर्ग उत्पादन के घटकों आय के साधनों एवं रोजगार के अवसरों पर अधिकार प्राप्त कर लेता है जिसके फलस्वरूप धनवान के धन में निरन्तर वृद्धि होती है और निर्धनता सदैव बढ़ती रहती है। व्यापारी-वर्ग एकाधिकार प्राप्त करने हेतु पारस्परिक समझौते कर लेते हैं और उत्पादन को सीमित इसलिए रखते हैं कि मूल्यों में वृद्धि करके अधिक लाभोपार्जन किया जा सके। इस प्रकार उत्पादन के घटकों का आधिक्य होते हुए भी अधिक उत्पादन नहीं किया जाता है और अधिकता के वातावरण में लोग भूखे रहते हैं। पूँजीपति सदैव ऐसे व्यवसायों का विस्तार एवं विकास करता है जिनमें अधिक लाभ उपार्जन करके व्यक्तिगत हित हो सके। सामाजिक हित को व्यापारी-वर्ग व्यक्तिगत हित के पश्चात स्थान देता है। आय की विषमता का मुख्य कारण उत्तराधिकार का विधान तथा दोषपूर्ण शिक्षा-प्रणाली होते हैं। उत्तराधिकार के विधान के अनुसार पिता से पुत्र को निजी सम्पत्ति उसके बिना किसी परिश्रम के ही, प्राप्त होती है और पुत्र के हाथों में उत्पादन के घटकों का संचय हो जाता है जिससे वह अधिक धनोपार्जन कर सकता है। दूसरी ओर, शिक्षा के क्षेत्र में भी केवल धनी-वर्ग ही अपने बच्चों को उच्च शिक्षा दिला सकता है क्योंकि उच्च शिक्षा की लागत इतनी अधिक रहती है जो धनी-वर्ग ही सहन कर सकता है। ऐसी परिस्थिति में धनोपार्जन की योग्यता भी केवल धनी वर्ग को ही प्राप्त होती है और रोजगार के अवसर इसी धनी-वर्ग को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार धन एवं अवसर की विषमता के कारण आय की विषमता सदैव बनी रहती है।

(3) **अकुशलता**—पूँजीवाद में व्यवसायी सदैव अपने लाभ के लिए उत्पादन करता है। *यह विलासिता की वस्तुओं के उत्पादन को अधिक महत्व देता है क्योंकि इनमें अधिक लाभोपार्जन* किया जा सकता है। समाज-कल्याण हेतु उत्पादन निजी व्यवसायियों द्वारा नहीं किया जाता है। उत्पादन का प्रकार सदैव मूल्यों पर आधारित रहता है। किसी वस्तु का मूल्य बढ़ने पर उसका उत्पादन बढ़ाया जाता है और मूल्य कम होने पर उत्पादन कम करने का प्रयत्न किया जाता है। बारबरा वूटन (Barbara Wooton) के मतानुसार पूँजीवादी व्यवस्था को एक विवेकपूर्ण व्यवस्था भी कहना उचित नहीं है क्योंकि इस व्यवस्था में बहुतायत के वातावरण में भी लाखों लोग भूखे रहते हैं लाखों को बेरोजगार तथा निर्धनता का भय सदैव बना रहता है और जिसमें लाखों के *जीवन की आवश्यक सामग्री उपलब्ध नहीं होती है।* किसी अर्थ-व्यवस्था की कुशलता को इस बात से जाँचना कि उसमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की कितनी मात्रा है, मूल्यों का अर्थ-व्यवस्था में क्या स्थान है तथा बाजार में प्रतिस्पर्द्धी वातावरण में व्यवहार किये जाते हैं अथवा नहीं उचित नहीं है।

पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में भले ही स्वतः संचालन तथा स्वतः नियमन उपस्थित हो, परन्तु इसमें आन्तरिक एवं बाह्य अव्यवस्था उत्पन्न होती है तथा आधुनिक आर्थिक समस्याओं का निवारण नहीं हो सकता है। उच्चावचान (Ups and Downs) के वातावरण में देश के साधनों का न तो पूर्णतया उपयोग ही हो सकता है और न उनके उपयोग द्वारा अधिक जनसमुदाय का अधिकतम कल्याण ही सम्भव है। इस व्यवस्था में समाज के समस्त वर्गों की आवश्यकताओं एवं इच्छाओं का दृष्टिगत नहीं किया जाता है। उत्पादन माँग पर आधारित है और माँग केवल वही समुदाय प्रस्तुत कर सकता है जिसके पास क्रय-शक्ति हो। इस प्रकार पूँजीवाद में केवल क्रय शक्ति

रखने वाले समुदाय की आवश्यकता के अनुसार उत्पादन किया जा सकता है। लाखो व्यक्तियों की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए न तो उन्हे क्रय-शक्ति ही प्रदान की जाती है और न आवश्यक सामग्री ही उत्पादित की जाती है।

समाजवाद

समाजवाद के सस्थापको—मार्क्स एव ऐजिल—द्वारा समाजवादी अर्थ-व्यवस्था की केवल सामान्य व्यवस्थाओ का ही उल्लेख किया गया है। इनके द्वारा पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था का नये दृष्टिकोण से विश्लेपण किया गया जिससे समाजवाद का उदय हुआ। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात मध्य यूरोप, जर्मनी एव आस्ट्रिया मे समाजवादी क्रान्तियो की सफलता के बाद पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था को समाजवादी अर्थ-व्यवस्था मे बदलने की व्यावहारिक समस्या का उदय हुआ। समाजवादी अर्थ-व्यवस्था की समस्याओ पर बहुत से अर्थशास्त्रियो, जैसे रूस मे लेनिन, बुखारिन, स्ट्रैमलिन आदि यूरोप मे ऑटो बयोर, अब्बा लर्नर, एच डी डिकिन्सन, मॉरिस डॉव, ऑस्कर लँग आदि ने अपने विचार प्रकाशित किये। इसी बीच मे रूस मे समाजवाद एक व्यावहारिक व्यवस्था बन गया और स्टालिन के द्वारा रूस के अनुभव को सैद्धान्तिक स्वरूप अपनी पुस्तक *'Economic Problems of Socialism in the U S S R'* मे दिया गया।

समाजवाद की विशेषताएँ

(1) **उत्पादक शक्तियों एव उत्पादन-सम्बन्धो मे सामजस्य स्थापित करना**—समाजवाद के अन्तर्गत उत्पादन-सम्बन्धो मे इस प्रकार परिवर्तन कर दिये जाते है जो उत्पादन-वृद्धि मे अवरोध उत्पन्न न कर सकें। उत्पादन के साधनो पर स्वामित्व एव नियन्त्रण रखने का अधिकार जब व्यक्ति को प्राप्त होता है तो समाज मे वर्ग-सघर्ष का उदय होता है और उत्पादन करने वाले वर्ग तथा श्रम एव उत्पादन-साधनो को नियन्त्रित करने वाले वर्ग 'पूँजीपति' मे सघर्ष हो जाता है। समाजवाद के अन्तर्गत उत्पादन-सम्बन्धो मे परिवर्तन करने के दृष्टिकोण से उत्पादन के साधन पर समाज का अधिकार कर दिया जाता है और उत्पादन-क्रिया किसी व्यक्ति एव व्यक्तियो के समूहो के हित के लिए सचालित नही होती है बल्कि उसे सम्पूर्ण समाज के हित के लिए सचालित किया जाता है।

(2) **आर्थिक नियोजन**—देश की समस्त आर्थिक क्रियाओ को सामाजिक हित हेतु सचालित करने के लिए नियोजित अर्थ-व्यवस्था समाजवाद का अनिवार्य अग बन जाती है जिसके अन्तर्गत आर्थिक क्रियाओ का सचेत निर्देशन सगठित समाज द्वारा किया जाता है। उत्पादन के साधनो पर समाज का अधिकार हो जाने पर उनका समाज के अधिकतम लाभ हेतु उपयोग तभी सम्भव हो सकता है जबकि इनके उपयोग का प्रभावशाली निर्देशन किया जाय जो नियोजन के माध्यम से किया जाता है।

(3) **समाजवादी अर्थ-व्यवस्था मे आर्थिक एव सामाजिक समानता**—समाजवादी अर्थ व्यवस्था का सचालन इस प्रकार किया जाता है कि समाज मे आर्थिक एव सामाजिक विषमताओ को समाप्त कर दिया जाता है और आय एव अवसरो के वितरण मे व्यक्ति के परिवार, जाति, लिंग एव सम्पत्ति के अधिकारो को कोई महत्व प्रदान नही किया जाता है।

(4) **वस्तु-उत्पादन एवं अर्घ का नियम लागू करना**—समाजवादी व्यवस्था मे वस्तु-उत्पादन एव अर्घ का नियम (Law of Value) तो लागू होता है परन्तु इस नियम को लागू होने के लिए माँग एव पूर्ति के घटको को स्वतन्त्र रूप से विचरण नही करने दिया जाता है। पूर्ति एव माँग समाज द्वारा इस प्रकार नियन्त्रित कर दी जाती है कि इनमें असन्तुलन उत्पन्न नही होता। इस प्रकार विपणि-यान्त्रिकता सचेत एव नियन्त्रित यान्त्रिकता मे परिवर्तित हो जाती है।

(5) **समाजवादी उपक्रम एवं कार्य-प्रेरणा**—समाजवाद के अन्तर्गत विभिन्न उपक्रमो का सचालन इस प्रकार किया जाता है कि श्रमिक इन उपक्रमो के सरक्षक (Trustees) भी होते है और कार्यकर्ता भी। श्रमिको को उपक्रमो मे निर्णय केन्द्रीय निर्देशन के अन्तर्गत ही लेने पडते हैं।

श्रमिकों में कार्य-प्रेरणा बनाये रखने के लिए एक ओर उन्हे उपक्रमों के प्रशासन में प्रभावशाली प्रजातान्त्रिक सहभागिता प्रदान की जाती है और दूसरी ओर उनके पारिश्रमिक में लक्ष्य से अधिक उपलब्धि होने पर वृद्धि कर दी जाती है। इस प्रकार समाजवादी उपक्रमों में समाजवादी एवं आर्थिक दोनों ही प्रेरणाओं को बनाये रखा जाता है।

(6) **राज्य का स्थान**—समाजवाद के अन्तर्गत राज्य का क्रियाकलाप अत्यन्त व्यापक हो जाता है। राज्य द्वारा पूंजीवादी सम्बन्धों को तोडकर समाजवादी सम्बन्धों की स्थापना की जाती है। राज्य जन-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर आच्छादित रहता है और राज्य एवं जन-समाज में एकरूपता उत्पन्न की जाती है।

(7) **सामूहिक क्रियाओं को महत्व**—समाजवाद के अन्तर्गत सामूहिक क्रियाओं को अधिक महत्व दिया जाता है और समस्त आर्थिक एवं सामाजिक क्रियाकलाप का संचालन इस प्रकार किया जाता है कि सम्पूर्ण समाज का हित हो। समाज के हित के साथ व्यक्ति का हित हो जाता है। इस सिद्धान्त को समाजवाद में मान्यता प्राप्त होती है।

(8) **सेवा हेतु आर्थिक क्रियाओं का संचालन**—समाजवाद के अन्तर्गत आर्थिक क्रियाओं का उद्देश्य लाभोपार्जन के स्थान पर सेवा प्रदान करना होता है। उत्पादन विनिमय हेतु न होकर कल्याण हेतु किया जाता है। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि समाजवाद के अन्तर्गत उत्पादन-पक्ष के साथ वितरण-पक्ष भी महत्वपूर्ण स्थान रखता है। वितरण पक्ष को ध्यान में रखकर उत्पादन की संगठन एवं प्रबन्ध-व्यवस्था निर्धारित की जाती है।

समाजवाद का स्वरूप विभिन्न राष्ट्रों में समान नहीं है। विभिन्न राष्ट्रों की आर्थिक, सामाजिक एवं परम्परागत परिस्थितियों के अनुसार समाजवाद का स्वरूप निर्धारित किया जाता है।

साम्यवाद

साम्यवाद के मूल सिद्धान्त है—सम्पत्ति एवं उत्पादन के साधनों पर व्यक्ति के स्थान पर सम्पूर्ण समाज का अधिकार तथा धनी एवं निर्धन के अन्तर का उन्मूलन करना। साम्यवाद वास्तव में उतना ही प्राचीन है जितना मानव की सभ्यता है क्योंकि आदिम समुदायों में भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार के बजाय अधिकतर पूरे ग्राम का अधिकार होता था। भारत और रूस के प्राचीन ग्राम समुदायों में भी इस व्यवस्था का प्रचलन था। भारत में प्राचीन बौद्ध संघों की आर्थिक व्यवस्था साम्यवाद से मिलती-जुलती थी। जेरूसलम के ईसाई समुदायों में व्यक्तिगत सम्पत्ति को मान्यता नहीं दी जाती थी। अफलातून ने अपने ग्रन्थों में सिद्धान्त रूप से साम्यवाद के सिद्धान्तों को ही श्रेष्ठ बताया था, परन्तु आधुनिक साम्यवाद कार्ल मार्क्स के विचारों से प्रभावित हुआ है। आधुनिक साम्यवाद तथा प्राचीन एवं मध्यकालीन साम्यवाद में मूलभूत अन्तर है। प्राचीन तथा मध्यकालीन साम्यवाद के उद्देश्य राजनीतिक अथवा धार्मिक थे जबकि आधुनिक मार्क्सवादी साम्यवाद के प्रमुख उद्देश्य आर्थिक है। औद्योगिक क्रान्ति के कारण विभिन्न देशों की अर्थ-व्यवस्था में जो परिवर्तन हुए और धनी एवं निर्धन वर्गों का प्रादुर्भाव हुआ, उनके दुष्परिणामों का आभास कार्ल मार्क्स ने किया। वास्तव में साम्यवाद व्यक्तिवाद की एक प्रतिक्रिया थी। व्यक्तिवाद को हटाकर समाजवाद की स्थापना करने के लिए साम्यवाद का जन्म हुआ।

मार्क्सवादी अर्थ-व्यवस्था में किसी भी वस्तु का मूल्य उसमें उपयोग होने वाले श्रम-काल पर निर्भर करता है, परन्तु अकेला श्रम कोई उत्पादन नहीं कर सकता। उत्पादन करने के लिए पूंजी (कच्चा माल, औजार, मशीनें आदि) की आवश्यकता होती है। मार्क्स के अनुसार, पूंजी एकत्रित श्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। परिश्रम द्वारा उपार्जित वह द्रव्य जो उपयोग में न लाया गया हो और बचाकर उत्पादन में लगा दिया जाय, पूंजी का रूप धारण करता है। इस प्रकार यह पूंजी भी श्रमजीवियों द्वारा उत्पादित धन है, जिसे धोखे व अन्याय से पूंजीपतियों ने अपने अधिकार में कर रखा है। पूंजीपति मूल्य के सिद्धान्त की सहायता से श्रमिकों से उनका न्यायोचित परिश्रम-फल छीनता है और स्वयं धनी बन जाता है। पूंजीपति मजदूरों को केवल जीवन निर्वाह-योग्य मजदूरी

देता है, जो वस्तु की लागत मे शामिल कर ली जाती है। यदि मजदूरी की दर बढा दी जाय तो वस्तु की लागत बढने से पूँजीपति का लाभ कम हो जाता है और इसलिए वह सदैव कम से कम मजदूरी देने के लिए प्रयत्नशील रहता है जिसके फलस्वरूप पूंजीपतियो और श्रमिको मे सदैव वर्ग-सघर्ष चलता रहता है। पूँजीवाद के अन्तर्गत उत्पादन और वितरण मे सन्तुलन नही रहता क्योकि एक ओर नये-नये आविष्कारो द्वारा उत्पादन-क्षमता बढती जाती है और दूसरी ओर धन का सचय पूँजीपति के हाथ मे होता जाता है। जनसाधारण की क्रय-शक्ति कम होती जाती है जिसके कारण आर्थिक मन्दी, बेरोजगारी आदि कठिनाइयाँ उपस्थित होती है और श्रमजीवियो को इतना कष्ट उठाना पडता है कि वह पूँजीवादी व्यवस्था को हिंसात्मक क्रान्ति द्वारा उखाड फेंकता है और इस प्रकार साम्यवादी व्यवस्था का निर्माण होता है।

साम्यवादी आन्दोलन एक क्रान्तिकारी आन्दोलन होता है। इसके अन्तर्गत श्रमजीवी-वर्ग सक्रमण-काल मे क्रान्ति के शत्रुओ को पूर्णत नष्ट करके अपनी सत्ता को सुदृढ और स्थायी बनाने का प्रयत्न किया करता है। श्रमजीवी-वर्ग पूँजीपतियो को सदैव के लिए परास्त करने हेतु अपना एकाधिपत्य स्थापित करने का प्रयत्न करता है। इस भाँति एकाधिपत्य द्वारा जो सरकार की स्थापना की जाती है, इसमे श्रमजीवियो के अतिरिक्त किसी और वर्ग को कोई भाग या अधिकार नही दिया जाता। इसे प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था नही कहा जा सकता है। इसकी कार्य-प्रणाली कठोर, हिंसात्मक तथा उत्पीडक होती है क्योकि इसका मुख्य उद्देश्य क्रान्ति को स्थायी बनाना होता है।

साम्यवादी अर्थ-व्यवस्था के लक्षण

अर्थ-व्यवस्था मे निजी सम्पत्ति का उन्मूलन करना मुख्य लक्ष्य होता है। उत्पादन के प्रत्येक साधन पर राज्य का पूर्ण स्वामित्व होता है, जिससे लाभोपार्जन हेतु होने वाले सामाजिक शोषण को रोकने का प्रयत्न किया जा सकता है। भविष्य मे धन-सम्पत्ति एकत्रित करने को रोकने के लिए बहुत से उपाय किये जाते है। उत्तराधिकार के नवीन नियमो द्वारा धन-सम्पत्ति के हस्तान्तरण को कम से कम कर दिया जाता है। उद्योग, व्यापार तथा कृषि मे निजी सम्पत्ति का उपार्जन प्राय समाप्त हो जाता है। नवीन आर्थिक नीति के फलस्वरूप ब्याज, लाभ तथा किराया पाना असम्भव तथा अवैधानिक बन जाता है। उत्पादन के साधनो पर राज्य-स्वामित्व या सामुदायिक स्वामित्व होता है जिसका अर्थ यह नही है कि उत्पादन का सभी कार्य केन्द्रीय अथवा प्रान्तीय सरकार चलाये अपितु कुछ प्रमुख उद्योगो को छोडकर अन्य उद्योगो को राज्य प्रत्यक्ष रूप से नही चलता। वे सरकारी तथा व्यक्तिगत क्षेत्र के लिए छोड दिये जाते है, परन्तु इन पर राज्य का पूरा और प्रत्यक्ष निर्देशन रहता है। निजी सम्पत्ति के उन्मूलन का अर्थ यह है कि प्रत्येक नागरिक व्यक्तिगत सम्पत्ति केवल उपभोग के लिए रख सकता है न कि उत्पादन के लिए। कृषि-क्षेत्र मे सामुदायिक किसानो को थोडी-सी व्यक्तिगत भूमि रखने का भी अधिकार दिया जा सकता है जिसकी उपज उनकी निजी हो सकती है।

सामुदायिक निर्णय एव साधनों का बँटवारा—पूँजीवाद मे आर्थिक साधनो का बँटवारा उपभोक्ताओ की रुचि के अनुसार असख्य व्यापारियो के निर्णय द्वारा होता है। व्यक्तिगत उपभोक्ता, उत्पादक, पूँजीपति, व्यापारी तथा कितने ही मध्यस्थो मे स्वार्थ-सघर्ष (Clash of Interests) होना पूँजीवाद का मुख्य लक्षण है। इस स्वार्थ-सघर्ष से बचने के लिए साम्यवादी व्यवस्था मे कठोर केन्द्रीय सचालन तथा निर्णय का मार्ग अपनाया जाता है। समस्त आर्थिक निर्णय तथा लक्ष्य-निर्धारण व्यक्तिगत प्रभाव से हटा कर एक केन्द्रीय सस्था को सौंप दिये जाते हैं। इस केन्द्रीकरण के फलस्वरूप व्यक्तिगत एव वर्गो के स्वार्थपूर्ण हितो का स्थान देश और समाज का हित ले लेता है, अर्थात् समस्त आर्थिक निर्णय एव लक्ष्य सम्पूर्ण देश एव समाज के हित को दृष्टिगत कर केन्द्रीय अधिकारी द्वारा किये जाते हैं। इस व्यवस्था मे उपभोक्ता की रुचि, उसकी मात्रा, गुण एव प्रकार को उचित सीमाओ मे बाँधना पडता है। राशनिंग, उपभोग के साधनो की बनावटी कमी तथा प्रमापीकरण (Standardization) इसके लिए मुख्य साधन हैं, अत योजनाओ मे जनता की आवश्यकताएँ एव रुचि व्यक्तिगत रूप से निर्धारित नही होती है, अपितु सामूहिक रूप से

निर्धारित की जाती है। योजनाओ मे निर्धारित प्राथमिकताओ के अनुसार अर्थ-साधनो को अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रो मे बाँटा जाता है। साधनो के बँटवारे के पूर्व यह भी निश्चय करना आवश्यक होता है कि देश की योजना मे उत्पादक एव उपभोक्ता-उद्योगो मे क्या अनुपात रखा जाय।

साम्यवादी अर्थ-व्यवस्था मे औद्योगीकरण को अधिक महत्व दिया जाता है क्योकि औद्योगीकरण द्वारा जनता को श्रम के प्रति जागरूक बनाना सम्भव होता है, जिसके द्वारा साम्यवाद की बुनियादो को दृढ बनाया जा सकता है। औद्योगीकरण देश मे विद्यमान पूँजीवादी प्रवृत्तियो का उन्मूलन करने का एक उचित एव महत्वपूर्ण साधन समझा जाता है।

समाजवादी उत्पादन—साम्यवादी अर्थ व्यवस्था मे पूँजीवाद के मुख्य लक्षण एव आधार प्रतिस्पर्द्धा को कोई स्थान नहीं दिया जाता है। समाजवादी उत्पादन एक विशाल सहकारी सगठन के रूप मे *काय करता है जिसमे अधिकतम सन्तुलन द्वारा राष्ट्रीय साधनों के अनावश्यक प्रयोग एव* अपव्यय को दूर करने का प्रयत्न किया जाता है। समाजवादी प्रतिस्पर्द्धा पूँजीवादी प्रतिस्पर्द्धा से सर्वथा भिन्न है। साम्यवाद ने यह सिद्ध कर दिया है कि अकेला आर्थिक स्वार्थ ही उत्पादन के प्रति उत्साह, बल एव धैर्य का कारण नही है। इसमे आर्थिक प्रेरक के स्थान पर सामाजिक प्रेरक को अधिक महत्व दिया जाता हे। लाभ की आशा तो की जाती है परन्तु यह उत्पादन का मुख्य ध्येय नहीं है। सफल प्रबन्ध का माप लाभ की मात्रा के अतिरिक्त कम समय मे अधिक उत्पादन, श्रमिको की दशा मे सुधार और उत्पादन की लागत मे कमी भी समझे जाते हैं। पूँजीवाद मे कुशल उत्पादन के बदले धन एव उससे उत्पन्न होने वाली सामाजिक प्रतिष्ठा का ध्येय होता है। समाजवाद मे इसके स्थान पर व्यक्तिगत प्रभाव एव शक्ति को स्थान दिया गया है। साम्यवादी अर्थ-व्यवस्था मे सफलता का पारितोषक महान् है और असफलता का दण्ड कठोर। सफल प्रबन्धक कम्युनिस्ट पार्टी मे प्रभावशाली बन जाता है और उसकी शक्ति का परिचायक पार्टी मे प्रभावशील होना है। सफल प्रेरणा हेतु आर्थिक वेतन के अतिरिक्त दूसरी सुविधाएँ अधिक प्रभावशाली समझी जाती है। श्रमिक की आवश्यकतानुसार उसके वेतन को निर्धारित किया जाता है और उसी के आधार पर वस्तुओ और सेवाओ का वितरण किया जाता है।

साम्यवाद मे लाभ का अथ केवल मौद्रिक लाभ से नही लिया जाता। इसमे उत्पादन के प्रयोग का लाभ भी सम्मिलित रहता है। प्रत्येक कारखाने को उत्पादन की लागत घटाकर लाभ मे विस्तार करने को कहा जाता है, परन्तु अधिक लाभ हेतु दूसरी आवश्यकताओ पर उचित ध्यान न देना अपराध समझा जाता है। उत्पादन के लक्ष्य को पूरा करना, सामान की किस्म को गिरने न देना और मजदूरो की दशा तथा वेतन मे लगातार सुधार के साथ-साथ लागत कम करके यदि कोई कारखाना लाभ दिखाता है, तभी इसको प्रशसनीय माना जाता है।

व्यापार---साम्यवादी व्यवस्था मे व्यापार का उद्देश्य केवल लाभ प्राप्त करना या उपभोक्ताओ की पूर्ति का ही पता लगाना नही है। पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के समान विक्रेताओ को न तो बाजार मे नवीन मॉडल व डिजाइन की वस्तुएँ ही मिलती है और न क्रेताओ के पास अधिक क्रय-शक्ति ही होती है। क्रान्ति के पश्चात ही देशी एव विदेशी व्यापार का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाता है। देश का थोक व्यापार राजकीय सस्थाओ के हाथ मे रहता है। विभिन्न उत्पादन को आयोजित मूल्य पर खरीद कर सहकारी समितियो तथा कारखाना स्टोर्स द्वारा निर्धारित मूल्य पर उपभोक्ताओ तक पहुँचाया जाता है। फुटकर मूल्य जो बदलते रहते है, उनके द्वारा लोगो की आय एव बाजार मे उपलब्ध वस्तुओ का विक्रय-मूल्य सन्तुलित रखने का प्रयत्न किया जाता है।

साम्यवाद एव समाजवाद के उद्देश्य लगभग समान ही होते है, परन्तु इनकी कार्यप्रणाली एक-दूसरे से भिन्न होती है। समाजवाद के अनुसार वैधानिक, शान्तिमय और प्रजातन्त्रीय कार्य-प्रणाली द्वारा पूँजीवादी व्यवस्था को बदला जाता है जबकि साम्यवाद के अनुसार हिंसात्मक क्रान्ति को ही पूंजीवाद के अन्त करने का एकमात्र साधन समझा जाता है। सोवियत रूस के विचारको के अनुसार समाजवादी एव साम्यवादी व्यवस्थाओ मे वितरण-प्रणाली म ही अन्तर होता है। समाजवादी

व्यवस्था मे वितरण श्रमिको के कार्य एव योग्यता के अनुसार किया जाता है, परन्तु साम्यवाद मे वस्तुओ और सेवाओ का वितरण उनकी आवश्यकतानुसार किया जाता है।

अधिनायकवाद अथवा तानाशाही

अधिनायकवाद (Fascism) सामान्यत किसी देश मे तब ही विद्यमान होता है, जब वहां का शासन शिथिल एव अक्षम हो जाता है और जनसमुदाय राष्ट्रीय अपमान की भावना का आभास करने लगता है। इटली के फासिस्टवाद (Fascism) तथा जर्मनी के नाजीवाद (Nazism) का इसी प्रकार जन्म हुआ। इटली की महत्वाकाक्षाओ के प्रथम युद्ध मे पूरा न होने तथा जर्मनी की पराजय होने के कारण इन देशो मे अधिनायकवाद ने जोर पकडा। अधिनायकवाद के अन्तर्गत जो व्यक्ति अपने आपको अधिनायक होने योग्य समझता है, वह आगे आता है और समस्त असन्तुष्ट जनसमुदाय को अपने मे सम्मिलित करने का प्रयत्न करता है। अधिनायक का चुनाव अथवा नियुक्ति नही की जाती है। वह असन्तुष्ट जनसमुदाय की पीडा को दूर करने, राष्ट्रीयता एव देशभक्ति के नाम पर प्राय नवयुवको एव विद्यार्थियो को अपने दल मे सम्मिलित होने के लिए आकर्षित करता है। इस प्रकार अधिनायक एक दलीय नेता के रूप मे कार्य प्रारम्भ करता है और धीरे-धीरे एक अनन्य शासक का रूप ग्रहण कर लेता है। वह एक कुशल वक्ता एव प्रचार-कार्य मे कुशल होता है। अधिनायकवादी राज्य को सर्वोच्च नैतिकता व देश की समस्त क्रियाओ का आधार मानते हैं। राज्य को शक्तिशाली करने के लिए समस्त व्यक्तियो व समुदायो को राज्य के पूर्णतया अधीन करके एकता की स्थापना की जाती है। लोकतन्त्र तथा सरकार-विरोधी दलो को अधिनायकवाद मे कोई स्थान नही दिया जाता है। स्वतन्त्र मजदूर-सभाओ, मजदूर-आन्दोलनो और हडतालो का बलपूर्वक अन्त कर दिया जाता है और राज्य द्वारा स्वीकृत व निर्मित श्रम-सगठनो की स्थापना की जाती है जिनके सचालक अधिनायक के विश्वासपात्र व्यक्ति नियुक्त किये जाते हैं।

उद्योग एव व्यवसाय को यद्यपि व्यक्तिगत अधिकार मे ही रहने दिया जाता है परन्तु उनके सचालन पर राज्य का कठोर नियन्त्रण होता है। राज्य समस्त जनसमुदाय को रोजगार देने तथा निर्वाह-योग्य वेतन की व्यवस्था करने का प्रयत्न करता है। अधिनायकवाद का झुकाव पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था की ओर अधिक होता है। राज्य व्यक्तिगत जीवन के सभी क्षेत्रो मे हस्तक्षेप एव नियन्त्रण करता है और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का सम्पूर्णत अन्त हो जाता है। इस प्रकार अधिनायकवाद के मुख्य लक्षण निम्नलिखित है

(1) अधिनायकवाद मे भौतिक सुखवाद जीवन का उद्देश्य नही माना जाता है और इसी कारण अधिनायक जनसमुदाय की भौतिक आवश्यकताओ पर कठोर नियन्त्रण लगाकर साधनो को अन्य उद्देश्यो की पूर्ति हेतु एकत्रित करता है, जैसे जर्मनी मे हिटलर ने द्वितीय महायुद्ध मे धन का उपयोग किया था।

(2) अधिनायकवाद मे समानता के सिद्धान्त को कोई स्थान नही होता है।

(3) अधिनायकवाद बहुमत की निर्णय-पद्धति को मान्यता नही देता। अधिनायक द्वारा किये गये निर्णय ही सर्वमान्य होते हैं।

(4) अधिनायकवाद के अन्तर्गत राज्य का प्रमुख उद्देश्य अधिनायक को शक्तिशाली बनाकर देश को शक्तिशाली बनाना होता है। व्यक्तियो के विकास का उत्तरदायित्व राज्य स्वीकार नही करता।

(5) अधिनायकवाद मे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का कोई स्थान नही होता और समस्त राजनीतिक, आर्थिक एव अन्य क्रियाओं पर राज्य का कठोर नियन्त्रण होता है।

(6) अधिनायकवाद मे मनुष्य की क्रियाओ का उद्देश्य धन एव आयोपार्जन के स्थान पर एक स्वस्थ सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करना होता है।

अधिनायकवाद एव साम्यवाद की कार्य-प्रणालियो मे बहुत कुछ समानता है। दोनो ही वादो मे सक्रिय नागरिकता को अधिक महत्व दिया जाता है जिसके अन्तर्गत प्रत्येक नागरिक से यह आशा

की जाती है कि वह निर्दिष्ट लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए सक्रिय सहयोग दे। दोनों ही वादो मे राज्य व्यक्ति के जीवन के समस्त क्षेत्रो पर आच्छादित होना चाहता है तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का सर्वथा अन्त करने का प्रयत्न किया जाता है। लोकतन्त्रवादी मान्यताओ को दोनों ही वादो मे कोई स्थान नही है। भाषण, मुद्रण, सभा-सगठन आदि की स्वतन्त्रताओ का दोनो में ही अभाव होता है। दोनो ही वादो मे सत्तारूढ दल राज्य के समस्त सूत्रो को अपने हाथ मे रखता है। दोनो वादो में उपर्युक्त समानता होते हुए भी उनके उद्देश्यो मे भिन्नता है। साम्यवाद के अन्तर्गत श्रमजीवी-वर्ग को एकाधिपत्य प्रदान किया जाता है जबकि अधिनायकवाद में पूँजीपति-वर्ग का सरक्षण एव हित-साधन होता है। साम्यवाद के अन्तर्गत आर्थिक साधन एव क्रियाओ का नियन्त्रण सचालन एव अधिकार राज्य के हाथ मे होता है जबकि अधिनायकवाद मे आर्थिक क्रियाएँ एव साधन पूँजीपतियो के हाथ मे रहते है केवल उनका सचालन राज्य के कठोर नियन्त्रण के अन्तर्गत किया जाता है।

उपर्युक्त विभिन्न राजनीतिक एव आर्थिक विचारधाराओ तथा व्यवस्थाओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि आधुनिक युग मे आर्थिक व्यवस्थाओ और राजनीतिक विचारधाराओं ने आर्थिक व्यवस्थाओं को प्रभावित किया है। विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओ के अन्तर्गत विभिन्न अर्थ-व्यवस्थाओ का प्रादुर्भाव हुआ और आर्थिक नियोजन का सचालन इन विभिन्न व्यवस्थाओ के अन्तर्गत विभिन्न देशो में किया गया है। प्रत्येक देश की राजनीतिक स्थिति के अनुसार उसके आर्थिक नियोजन के प्रकार का निर्धारण होता है। आर्थिक नियोजन एक राजकीय क्रिया होने के कारण राज्य की राजनीतिक मान्यताओं से प्रभावित होता है। लगभग समस्त प्रकार के नियोजनो के मूल उद्देश्य समान होते है, परन्तु इन उद्देश्यो की पूर्ति एव प्राप्ति हेतु जो विधियाँ अपनायी जाती हैं, उनका निर्धारण देश मे मान्य राजनीतिक विचारधाराओ पर आधारित होता है। वास्तव में नियोजन के प्रकार का निर्णय उसके अन्तर्गत उपयोग मे आने वाली विधियो के आधार पर किया जाता है। सभी प्रकार के नियोजनो मे सामाजिक तथा आर्थिक सुरक्षा प्रमुख उद्देश्य समझे जाते है और राष्ट्र के समस्त साधनो का उपयोग इन दिनो मूलभूत उद्देश्यो की पूर्ति के लिए किया जाता है। अधिनायकवादी या तानाशाही नियोजन मे आर्थिक अथवा सामाजिक सुरक्षा के स्थान पर अधिनायक को शक्तिशाली बनाना होता है जिसके द्वारा देश को भी शक्तिशाली बनाया जा सके।

नियोजन के प्रकार

(1) समाजवादी नियोजन (Socialistic Planning),
(2) साम्यवादी नियोजन (Communistic Planning),
(3) पूँजीवादी नियोजन (Capitalistic Planning),
(4) प्रजातान्त्रिक नियोजन (Democratic Planning),
(5) अधिनायकवादी या तानाशाही नियोजन (Fascist Planning),
(6) सर्वोदयी अथवा गाँधीवादी नियोजन (Sarvodaya or Gandhian Planning)।

समाजवादी नियोजन

आर्थिक नियोजन वास्तव मे समाजवाद का एक अभिन्न अग है। सैद्धान्तिक रूप से हम भले ही यह विचार कर सकते है कि समाजवाद एव आर्थिक नियोजन मे कुछ अन्तर है, परन्तु व्यावहारिक रूप से इन दोनो का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि आर्थिक नियोजन की अनुपस्थिति मे समाजवाद की विचारधारा को व्यावहारिक रूप नहीं दिया जा सकता है। समाजवाद के अन्तर्गत राज्य को ऐसी विधियो का उपयोग करना होता है कि अर्थ-व्यवस्था को समाजवादी लक्ष्यों की ओर अग्रसर किया जा सके। सरकार द्वारा जब इन विधियो का उपयोग किया जाता है तो इसका रूप सरकारी नियोजन बन जाता है। सामाजिक एव आर्थिक समानता का आयोजन करने हेतु सरकार को निजी व्यवसाय, सम्पत्ति एव प्रतिस्पर्द्धा पर नियन्त्रण करके देश के आर्थिक साधनो का इस प्रकार उपयोग करना होता है कि आर्थिक विकास के लाभ सम्पूर्ण समाज को प्राप्त हो सके। राज्य

द्वारा इस कार्यवाही को किये जाने से अर्थ-व्यवस्था का संचालन स्वतन्त्र बाजार-पद्धति से बदलकर केन्द्रीय व्यवस्था हो जाता है जो आर्थिक नियोजन का स्वरूप होता है।

समाजवादी नियोजन के अन्तर्गत समाज के समस्त आर्थिक साधनों एवं श्रम-शक्ति का प्रयोग सम्पूर्ण समाज के लिए किया जाता है। उत्पादन का लक्ष्य सम्पूर्ण समाज को आवश्यकताओं की पूर्ति करना होता है न कि व्यक्तिगत लाभ प्राप्त करना। समाजवाद के अन्तर्गत मानवीय श्रम का उपयोग पूँजी-संग्रह के लिए नहीं किया जाता है। केन्द्रीय नियन्त्रण होने पर अर्थ-व्यवस्था से निरर्थक प्रतिस्पर्द्धा का उन्मूलन हो जाता है और अपव्यय को कम किया जा सकता है। समाजवादी नियोजन में भारी उत्पादक उद्योगों का आधार उपभोक्ता-उद्योग नहीं होते हैं। भारी उद्योगों के विकास को केन्द्रीय अधिकारी सर्वश्रेष्ठ स्थान देते हैं।

समाजवाद का वास्तविक स्वरूप आधुनिक युग में केवल एक सिद्धान्त मात्र है क्योंकि इसके मूल उद्देश्यों—आर्थिक एवं सामाजिक समानता की पूर्ति—के लिए बहुत से तरीके अपनाये जाने लगे हैं। समाजवादी नियोजन में केन्द्रीय नियन्त्रण का विशेष महत्व होता है। सरकारी क्षेत्र को विकसित तथा निजी क्षेत्र को संकुचित किया जाता है। राष्ट्रीय उत्पादन तथा वितरण-कार्य पर सरकार द्वारा धीरे-धीरे नियन्त्रण प्राप्त किया जाता है। मूल तथा आधारभूत उद्योगों, जैसे यातायात, शक्ति, युद्धसामग्री-निर्माण, लोहा तथा इस्पात, रसायन तथा इंजीनियरिंग आदि का राष्ट्रीयकरण किया जाता है। भूमि को भी शासन अपने अधिकार में कर लेता है। इस प्रकार राज्य प्रत्यक्ष रूप से उत्पादन-क्षेत्र का संचालन करता है। राष्ट्र के अधिक से अधिक साधनों को पूँजीगत वस्तुओं के उद्योगों में विनियोजित किया जाता है। उद्योगों का प्रबन्ध निगमों द्वारा होता है जिनमें मजदूर-वर्ग के प्रतिनिधियों को भी स्थान दिया जाता है। वित्तीय मामलों पर नियन्त्रण प्राप्त करने के लिए केन्द्रीय तथा अन्य अधिकोषों का राष्ट्रीयकरण किया जाता है। दीर्घकालीन विनियोजन-नीति को बीमा का राष्ट्रीयकरण, वित्तीय निगमों की स्थापना तथा अन्य बचत-योजनाओं द्वारा नियन्त्रित किया जाता है। निजी सम्पत्ति का अपहरण मृत्यु तथा उत्तराधिकार-कर द्वारा किया जाता है।

इस प्रकार पूर्णतः समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में उत्पादक तथा उपभोक्ता की स्वतन्त्रता को विशेष स्थान प्राप्त नहीं होता। सरकार नियोजन के लक्ष्य अधिक ऊँचे निश्चित करती है और उनकी पूर्ति के लिए उपलब्ध साधनों का अधिकांश भाग पूँजीगत वस्तुओं के उद्योगों में विनियोजित करती है। उपभोक्ता-वस्तुओं (Consumer Goods) का उत्पादन देश की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की तुलना में कम रहता है। ऐसी अवस्था में उपभोक्ता को राशनिंग तथा मूल्य-नियन्त्रण द्वारा वस्तुएँ सीमित मात्रा में उपलब्ध होती हैं। साथ ही उत्पादन भी सरकार की नीति के अनुसार ही किया जाता है। साधनों का आवटन पूर्व-निश्चित उत्पादन-लक्ष्यों के अनुसार किया जाता है। इस प्रकार उपभोक्ता को अपनी इच्छानुसार वस्तुएँ क्रय करने तथा उत्पादकों को उपभोक्ता की माँग के अनुसार उत्पादन करने की स्वतन्त्रता नहीं होती है।

समाजवादी नियोजन में मानव की मनोवैज्ञानिक स्वतन्त्रता को विशेष महत्व नहीं देते हैं। उनके लिए स्वतन्त्रता का अर्थ जनसमूह की इच्छाओं, बीमारी, अज्ञानता, बेकारी तथा असुरक्षा से स्वतन्त्रता प्रदान करना है। इन सभी कठिनाइयों से स्वतन्त्रता समाजवादी नियोजन द्वारा शीघ्र तथा अधिक मात्रा में प्राप्त की जा सकती है। समाजवादी व्यवस्था में व्यक्तिगत राजनीतिक स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखना कठिन होता है क्योंकि नियोजन में दीर्घकालीन कार्यक्रम को सफलतापूर्वक संचालित करने के लिए राजनीतिक स्थिरता की आवश्यकता होती है। एक पक्ष की सरकार, जो दीर्घकालीन नियोजन का कार्यक्रम बनाती है, उसकी पूर्ति के लिए उसी पक्ष की सरकार का बना रहना आवश्यक होता है, अन्यथा नवीन सरकार आने पर पहले के कार्यक्रमों को रद्द कर दिया जाना स्वाभाविक है। यदि विपक्षी-दल नियोजन के मूल उद्देश्यों से सहमत हो और अपनी आलोचना इन उद्देश्यों की सीमा तक ही सीमित रखता हो तब राजनीतिक स्वतन्त्रता बनाये रखने में कोई खतरा नहीं होता क्योंकि विपक्षी-सरकार बनने पर नियोजन कार्यक्रम रद्द किये जाने की

सम्भावना नही होती है । जब विपक्षी दल नियोजन के मूल उद्देश्यो से सहमत न हो तब उसकी स्वतन्त्रता पर नियन्त्रण रखना आवश्यक होता है, परन्तु समाजवादी नियोजन का सचालन विभिन्न सस्थाओ तथा निगमो द्वारा किया जाता है और ये निगम लोकसभा के विधानो द्वारा सगठित किये जाते हैं । विपक्षी-सरकार बनने पर भी इन सस्थाओं का विघटन करना सम्भव नही होता । इस प्रकार राजनीतिक स्वतन्त्रता पर कोई विशेष अकुश रखने की आवश्यकता नही होती है ।

समाजवादी नियोजन के अभिलाषी लक्ष्यो की पूर्ति के लिए जनसमूह को प्रारम्भिक अवस्था मे अधिक त्याग और कठिनाई उठानी पडती है क्योकि उपभोक्ता की स्वतन्त्रता तथा निजी स्वामित्व को सीमित कर दिया जाता है । विदेशी व्यापार भी सरकारी निगमो द्वारा सचालित तथा नियन्त्रित होता है और समय समय पर सरकार की विदेशी व्यापार नीति घोषित की जाती है जिसमे पूँजीगत वस्तुओ के आयात तथा उपभोग की वस्तुओ के निर्यात पर जोर दिया जाता है । नियोजन का वित्तीय सहायता केवल अन्य राष्ट्रो की सरकारो तथा अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय सस्थाओ से प्राप्त हो पाती है क्योकि विदेशी पूँजीपति राष्ट्रीयकरण तथा अपहरण के भय से समाजवादी देशो में नियोजन करना अच्छा एव हितकर नही समझते है ।

समाजवादी नियोजन के केन्द्रीय नियन्त्रण म समस्त नीतियाँ तथा आदेश सरकारी अधिकारियो द्वारा निर्मित तथा सचालित किये जाते है । ये कमचारी शासकीय सिद्धान्तो की जटिलता की ओर विशेष ध्यान देते है । सरकारी नियम दृढ होते हैं जिनमे परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन करना सम्भव नही होता है । सरकारी कर्मचारियो मे प्रेरणा (Initiative) तथा नये कार्य प्रारम्भ करने के लिए रुचि का अभाव होता है इसलिए जोखिम के कार्यो मे ये उचित एव सफल नीति-निर्धारण मे सफल नही होते । सरकारी नीतियो मे इस प्रकार नौकरशाही (Beaurocratic Feelings) की छाप लगी रहती है जिससे जनता का सहयोग प्राप्त नही होता उत्पादन कार्य मे शिथिलता आती है तथा साधनो का अपव्यय होता है ।

समाजवादी नियोजन के लक्षण—समाजवादी नियोजन के प्रमुख लक्षणों को निम्न प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है

(1) **नियोजन समाजवाद का अभिन्न अग**—समाजवादी राज्य की स्थापना के साथ-साथ नियोजित अर्थ-व्यवस्था का सचालन एक अनिवार्य घटक होता है क्योकि समाजवाद के अन्तर्गत जब राज्य आर्थिक साधनो एव क्रियाओ को अपने अधिकार एव नियन्त्रण मे ले लेता है तो उनका एक समन्वित कार्यक्रम के अन्तर्गत पूव निश्चित उद्देश्यो की पूर्ति के लिए उपयोग करना आवश्यक होता है । समाजवादी राजनीतिक एव आर्थिक व्यवस्था की स्थापना आर्थिक नियोजन की अनुपस्थिति मे नही की जा सकती जो तथ्य अन्य राजनीतिक व्यवस्थाओ के लिए सत्य नही होता है ।

(2) सामाजिक एव आर्थिक समानता—समाजवादी नियोजन का अन्तिम लक्ष्य सामाजिक एव आर्थिक समानता उत्पन्न करना होता है और इसके अन्तर्गत सचालित समस्त कार्यक्रम इस उद्देश्य को दृष्टिगत करते हुए सचालित किये जाते है ।

(3) **उत्पादन के साधन राज्य के अधिकार एव नियन्त्रण मे**—समाजवादी नियोजन के अन्तर्गत उत्पादन के समस्त या मूलभूत साधन राज्य के नियन्त्रण एव अधिकार मे होते है । राज्य धीरे धीरे समस्त आर्थिक क्रियाओ का प्रजातान्त्रिक एव शान्तिमय विधियों से राष्ट्रीयकरण करता है और सरकारी क्षेत्र का विस्तार किया जाता है । राज्य का यह कर्तव्य होता है कि वह प्रत्येक नागरिक को आय, अवसर और रोजगार उचित मात्रा मे प्रदान करे ।

(4) **सामाजिक हित**—समाजवादी नियोजन मे व्यक्तिगत हित एव लाभ के स्थान पर समस्त जनसमुदाय के हित का अधिक महत्व दिया जाता है और इसी कारण देश मे उपलब्ध समस्त उत्पादन के साधनो पर व्यक्तिगत अधिकार को कोई मान्यता प्रदान नही की जाती । समाज के हित के लिए व्यक्ति को त्याग करने के लिए विवश किया जा सकता है ।

(5) **प्रोत्साहन द्वारा नियोजन**—यद्यपि समाजवादी नियोजन मे राज्य उत्पादन के साधनो

पर नियन्त्रण करके आर्थिक क्रियाओ का सचालन करता है, परन्तु प्रजातान्त्रिक कार्य-प्रणाली होने के कारण राज्य के अधिकार मे रहने वाले साधनो का उपयोग करने हेतु व्यक्तियो के समूहो, स्थानीय सस्थाओ, क्षेत्रीय सस्थाओ आदि की स्थापना की जाती है। इस प्रकार सत्ताओं का विकेन्द्रीकरण करने का प्रयत्न किया जाता है। इस प्रकार के नियोजन मे व्यक्तिगत निर्णयों का प्रतिस्थापन करके सामूहिक निर्णयो को मान्यता दी जाती है, परन्तु व्यक्तियो पर दबाव डालकर त्याग करने को अधिक महत्व नही दिया जाता। उन्हे विभिन्न प्रकार के प्रलोभन देकर योजना के लिए सहयोग प्रदान करने हेतु प्रोत्साहित किया जाता है। इस प्रकार केन्द्रीय नियन्त्रण होने हुए भी योजना का सचालन निर्देशो द्वारा (By Direction) नही किया जाता।

(6) **नीचे के स्तर से नियोजन (Planning from Below)**—समाजवादी राष्ट्रो मे समाजवाद की स्थापना प्रजातान्त्रिक विधियो से की जाती है जिसके अन्तर्गत नागरिक को राज्य के निर्माण मे अपना मत देने का अधिकार होता है। प्रत्येक व्यक्ति को योजना के कार्यक्रमो के सम्बन्ध मे विचार प्रकट करने का अधिकार होना है। योजना के कार्यक्रम भी जनसाधारण की विभिन्न सस्थाओ एव व्यक्तिगत विचारो के आधार पर बनाये जाते है। इस प्रकार नियोजित कार्यक्रमो को जनसमुदायो पर उच्च अधिकारी द्वारा लादा नही जाता है।

(7) **उपभोक्ता के प्रभुत्व पर नियन्त्रण**—समाजवादी नियोजन के अन्तर्गत उत्पादन उपभोक्ताओ की इच्छाओ के अनुसार नही किया जाता है क्योकि राज्य आर्थिक क्रियाओं का सचालन पूर्व-निश्चित प्राथमिकताओ के अनुसार करता है, यद्यपि उपभोक्ताओ के दीर्घकालीन कल्याण को सदैव ध्यान मे रखा जाता है। ऐसी परिस्थिति मे उपभोक्ता-वस्तुओ के वितरण पर नियन्त्रण करके उपभोक्ता की स्वतन्त्रता को सीमित कर दिया जाता है। दूसरी ओर, निजी उत्पादक के महत्व का उन्मूलन कर दिया जाता है और इस प्रकार उपभोग, उत्पादन एव रोजगार की स्वतन्त्रताओ पर अकुश लगाये जाते है।

(8) **विपणि-यान्त्रिकता पर नियन्त्रण**—समाजवादी अर्थ-व्यवस्था मे माँग और पूर्ति के घटको को मूल्यो पर प्रभाव डालने की खुली छूट नही दी जाती, क्योंकि उत्पादन एव वितरण को योजना द्वारा निर्धारित कार्यक्रमो एव लक्ष्यो के अनुसार किया जाता है। राज्य विदेशी एव आन्तरिक व्यापार पर भी नियन्त्रण रखता है।

(9) **केन्द्रित अर्थ-व्यवस्था**—समाजवादी नियोजन के अन्तर्गत केन्द्रित अर्थ-व्यवस्था की स्थापना की जाती है जिसमे समस्त आर्थिक क्रियाएँ राज्य के नियन्त्रण के अन्तर्गत राज्य द्वारा स्वय अथवा प्रजातान्त्रिक सस्थाओ द्वारा सचालित की जाती है। व्यक्तिगत साहस एव अधिकार को या तो समाप्त कर दिया जाता है अथवा राज्य द्वारा नियन्त्रित कर दिया जाता है। व्यक्ति के स्थान रूपी समाज को समस्त आर्थिक एव सामाजिक क्रियाओ का केन्द्रबिन्दु समझा जाता है।

(10) **औद्योगिक क्षेत्र को अधिक महत्व**—समाजवादी नियोजन के अन्तर्गत पूँजीगत एव आधारभूत उद्योगो के विकास को अधिक महत्व दिया जाता है। औद्योगिक विकास द्वारा अर्थ-व्यवस्था को सगठित स्वरूप देने मे सुविधा होती है और समाजवादी नियन्त्रण सगठित अर्थ-व्यवस्थाओं मे अधिक प्रभावशील होते है।

साम्यवादी नियोजन

साम्यवाद के अन्तर्गत राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था का नियोजित निर्देशन (Planned Direction) राज्य द्वारा किया जाता है। साम्यवादी सरकार राष्ट्रीय आर्थिक विकास के उद्देश्य, उत्पादन की मात्रा, आवश्यक निर्देश, आर्थिक विकास की गति एव अनुपात, कच्चे माल, अर्थ-साधनो तथा श्रम का वितरण, आन्तरिक एव विदेशी व्यापार की मात्रा, मूल्य, भृति आदि सभी का निर्धारण करती है। राज्य सरकारी सस्थाओ एव सामूहिक फार्मो (Collective Farms) का पथ प्रदर्शन उनकी चुनी हुई सस्थाओ द्वारा करता है। राज्य शिक्षा व्यवस्था तथा नियोगी-वर्ग के प्रशिक्षण का सगठन करता है। इस प्रकार एक साम्यवादी सरकार अपनी आर्थिक, सास्कृतिक एव शैक्षणिक कार्यवाहियो

द्वारा सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर आच्छादित होती है। लेनिन के विचार मे राजनीति अर्थ व्यवस्था का केन्द्रित उच्चारण (Expression) होती है। इस सिद्धान्त के आधार पर साम्यवादी व्यवस्था में राजनीतिक एवं आर्थिक नेतृत्व में कोई अन्तर नहीं समझा जाता जिसके परिणामस्वरूप राज्य समाज का केवल राजनीतिक नेतृत्व ही नहीं करता, बल्कि उसके हाथ में आर्थिक सत्ताओं का केन्द्रीकरण भी होता है। ऐसी राजनीतिक एवं आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत आर्थिक नियोजन का स्वरूप केन्द्रित नियोजन (Centralised Planning) हो जाता है। रूस में केन्द्रित अर्थ-व्यवस्था के फलस्वरूप 70% फुटकर व्यवस्था सरकार द्वारा संचालित होती है तथा 90% उत्पादन के साधन राज्य के अधिकार में है। सरकारी क्षेत्र द्वारा देश का 94% औद्योगिक उत्पादन किया जाता है।

साम्यवादी नियोजन के अन्तर्गत समन्वित दीर्घकालीन योजनाओं का निर्माण केन्द्रीय निर्देशों के अनुसार किया जाता है। साम्यवादी नियोजन की प्रशासन-व्यवस्था लेनिन द्वारा प्रतिपादित प्रजातान्त्रिक केन्द्रीकरण (Democratic Centralisation) के सिद्धान्तो के आधार पर की जाती है। प्रजातान्त्रिक केन्द्रीकरण के अन्तर्गत राज्य योजना में सम्मिलित किये जाने वाले प्रमुख कार्यक्रम निर्धारित करके विकास सम्बन्धी आवश्यक निर्देश गति तथा अनुपात का निर्धारण करता है। इन आधारभूत निर्देशों के आधार पर विभिन्न संगठन तथा क्षेत्रीय अधिकारी विस्तृत योजनाएँ अपने अपने कार्य क्षेत्र के सम्बन्ध में तैयार करते हैं। स्थानीय परिस्थितियों तथा सम्भावनाओं का योजनाएँ बनाते समय विशेष ध्यान रखा जाता है। इस प्रकार साम्यवादी नियोजन मे प्रजातन्त्र का प्रदान विस्तृत योजनाओं को बनाते समय होता है क्योंकि यह विस्तृत योजनाएँ औद्योगिक इकाइयों निर्माण संस्थाओं सामूहिक तथा राजकीय कृषि-फार्मों द्वारा बनायी जाती है और जनसमुदाय को अपने स्थानीय अनुभवों का योजना के निर्माण मे उपयोग करने के अवसर मिलते हैं। साम्यवाद के प्रजातन्त्र का अर्थ जन-समुदाय की उपयुक्त सरकार से है। इसके अन्तर्गत जनसमुदाय की क्रियाओं एवं प्रारम्भिकता को अधिकतम कार्य-क्षेत्र प्रदान किया जाता है। वह जनसमुदाय के लिए स्वयं की सरकार होती है।[1] जब एक बार योजना मे सम्मिलित किये जाने वाले कार्यक्रम क्षेत्रीय एवं स्थानीय संस्थाओं के सहयोग से तैयार कर लिये जाते है और उनको केन्द्रीय अधिकारियों द्वारा स्वीकृति प्रदान कर दी जाती है तब नीचे के स्तर के योजना एवं प्रबन्ध अधिकारियों एवं संस्थाओं का कर्तव्य होता है कि योजना के लक्ष्यों का पूर्ण करें। साम्यवादी नियोजन में उत्पादन के क्षेत्र में एक व्यक्ति प्रबन्ध (One-man Management) के सिद्धान्तो को मान्यता दी जाती है। इसका तात्पर्य यह होता है कि प्रबन्धक को आवश्यक अधिकार दिये जाते हैं कि वह अपने अधीनस्थ कर्मचारियों को आवश्यक निर्देश देकर निर्दिष्ट लक्ष्यों की पूर्ति के कर्तव्य का पालन करें। लेनिन के अनुसार एक व्यक्ति प्रबन्ध में मानवीय क्षमताओं का उत्तम उपयोग होता है तथा कार्य पर वास्तविक नियन्त्रण रहता है। इस प्रकार साम्यवादी प्रजातान्त्रिक केन्द्रीकरण के अन्तर्गत नेता के अधिकारों तथा उसके नेतृत्व मे रहने वाले व्यक्तियों की प्रारम्भिकता का सम्मिश्रण होता है।

साम्यवादी नियोजन में श्रमिकों को अर्थ-व्यवस्था के संचालन-कार्य में भाग लेने का अधिकार होता है। श्रमिक-वर्ग में योजना के लक्ष्यों की पूर्ति नवीन मशीनों तथा तान्त्रिक विधियों का आविष्कार करने श्रम के यन्त्रीकरण कच्चे माल की बचत करने, श्रमिकों की योग्यताओं को बढ़ाने आदि के लिए समाजवादी प्रतिस्पर्द्धा होती है। इस प्रकार जो श्रमिक इस समाजवादी प्रति-

---

1 'To us democracy means genuine government by the people, it implies maximum scope for the activity and initiative of the masses, it is a self-government for the people" —N S Khrushchev, *Control Figures for Economic Development of the U S S R for 1959-1965*, p 26

स्पर्द्धा मे विशेष सफलता का परिचय देता है उसे अर्थ व्यवस्था में प्रबन्ध एव राजनीतिक संस्थाओ मे उच्च स्थान प्रदान किया जाता है। श्रम सघ द्वारा श्रमिक-वर्ग प्रबन्ध के कार्यो पर नियन्त्रण रखता है। श्रम-सघ उत्पादन-कार्यो म भाग लेते है और योजनाओ के निर्माण सचालन तथा समाजवादी प्रतियोगिता मे प्रत्यक्ष भाग लेते हैं।

नियोजित अर्थ-व्यवस्था का सर्वप्रथम सचालन रूस म ही हुआ जहाँ अर्थ व्यवस्था का समाजीकरण करने का भरसक प्रयत्न किया गया है और विपणि तान्त्रिकता (Market Mechanism) तथा स्वतन्त्र साहस का नियमित रूप से पूणत दबा दिया गया है। सोवियत नियोजन शीघ्र तथा आश्चर्यजनक विकास मे विश्वास रखते हैं इसलिए राष्ट्र म अधिक से अधिक साधनो को पूंजीगत वस्तुएँ बनाने वाले उद्योगो मे विनियोजित किया जाता है। उपभोक्ता उद्योगो को विशेष सुविधाएँ प्रदान नही की जाती हैं जिससे उपभोक्ता वस्तुओ की न्यूनता के कारण जनसमूह को अधिक कठिनाई का सामना करना पडता है। नियोजन की दिन प्रतिदिन की प्रगति की ओर ध्यान दिया जाता है और नियोजन को सफल बनाने के लिए अधिक से अधिक त्याग कठिनाइयो का सामना तथा कठोर नियन्त्रण की आवश्यकता होती है। इस प्रकार इस व्यवस्था मे मानव जीवन कठोरतापूण तथा सैन्यीकरण की व्यवस्था मे ढल जाता है।

सोवियत सघ मे आर्थिक नियोजन उच्चतम कोटि की विकसित स्थिति पर पहुँच गया है। इससे स्पष्टत पूँजीवादी व्यवस्था का प्रतिस्थापन होता है। पूँजीवादी व्यवस्था म आर्थिक साधनो का आवटन मूल्य तथा आय से निश्चित होता है तथा यह उपभोक्ता की स्वतन्त्रता से सम्बन्धित होता है और इसमे निश्चय बहुत से व्यापारियो द्वारा किय जाते है। (रूस में) राज्य अपने गौस प्लान (Gosplan) द्वारा उत्पादन की रूपरेखा निश्चित करता है जिसके मुख्य निश्चयो को समाज के महत्वपूर्ण उद्देश्यो अथवा पोलिटब्यूरो (Politburo) पर आधारित किया जाता है। वास्तव मे दुलभ साधनो का आवटन निर्मित वस्तुओ से प्राप्त होने वाले मूल्य के आधार पर न करके नियोजन की प्राथमिकताओ के अनुसार किया जाता है। प्रबन्धको तथा श्रमिको को पारिश्रमिक मुद्रा मे मिलता है। यह पारिश्रमिक प्राप्त परिणामो तथा श्रमिको की आवश्यक पूर्ति को बनाये रखने के लिए न्यूनतम मजदूरी पर आधारित होता है। मुद्रा मे भुगतान होते हुए श्रमिको का उपभोक्ता चुनाव का अधिकार सीमित होता है। दूसरी ओर नियोजक उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन मे समायोजन चयन के अनुसार करता है। स्पष्टत योजना बनाने वाले एकमात्र उपभोक्ता की माँगो पर विश्वास नही करते है। वे राष्ट्रीय दुलभ साधनो का आवश्यक वस्तुओ के उत्पादन से अनावश्यक वस्तुओ के उत्पादन म केवल इसलिए नही लगाते कि उपभोक्ता उन वस्तुओ को प्राथमिकता प्रदान करता है और न ही नियोजक प्रतिबन्धित आयात को उपभोक्ता की इच्छानुसार परिवर्तित करते है।'[1]

---

1 In the U S S R, the economic plan has reached its highest state of development It is obviously a substitute for the allocation of economic resources which in a capitalist system is determined by prices and incomes and related in turn to consumer's sovereignty and decisions made by innumerable businessmen The State through its Gosplan determines the outlines of production, bearing its principal decision upon the broad objectives of the society of the Politburo Obviously, they will allocate scarce resources in accordance with the priorities of the plan, not primarily according to the prices bid for the finished products Managers and workers will receive compensation in currency, the compensation will vary with results attained and wages required to elicit the necessary supply of labour Payments in money will enable the workers to exercise a limited consumers' choice, the planners in turn readjust output of consumer goods in accordance with the selections made Obviously, architects of the plan will not rely exclusively

(Contd)

इस प्रकार नियोजन द्वारा पूर्णत समाजवादी समाज की स्थापना की जाती है, जिसमे निजी क्षेत्र का कोई स्थान नही होता । अर्थ व्यवस्था पर पूर्ण रूप से राज्य का नियन्त्रण रहता है और शक्तियो का केन्द्रीकरण उत्कृष्ट होता है । निजी सम्पत्ति का अपहरण बल तथा करो द्वारा किया जाता है । राष्ट्र के समस्त उद्योग राज्य के अधीन होते है । देशी तथा विदेशी व्यापार भी राज्य अथवा राज्य द्वारा नियन्त्रित सस्थाओ द्वारा किया जाता है । "निजी क्षेत्र को, जिसे आवश्यक रूप मे समाज विरुद्ध समझा जाता है, कठोर विधियो द्वारा अन्तत समाप्त कर दिया जाता है। केवल सीमित, प्रतिबन्धित तथा अस्थायी रूप मे इसे आर्थिक विकास मे स्थान दिया जाता है । यह स्थान समाजवाद मे परिवर्तित होने तक केवल इसलिए दिया जाता है क्योंकि समाजवाद अनायास क्रियान्वित नही किया जा सकता और क्योकि निजी साहस अर्थ-व्यवस्था के कुछ क्षेत्रो को समाजवाद के योग्य बनाने मे व्यावहारिक विधियाँ उपस्थित करता है ।"[1]

साम्यवादी नियोजन के लक्षण—साम्यवादी नियोजन के प्रमुख लक्षणो का विश्लेपण निम्न प्रकार किया जा सकता है

(1) साम्यवादी नियोजन का लक्षण आर्थिक एव सामाजिक समानता उत्पन्न करना होता है । इन दोनो ही दृष्टिकोणो से एक वर्गरहित समाज की स्थापना की जाती है ।

(2) देश के समस्त साधनो को समाज की सम्पत्ति माना जाता है जिसके फलस्वरूप राज्य उत्पादन के समस्त साधनो पर नियन्त्रण एव अधिकार रखता है और निजी व्यवसाय का कठोरता द्वारा दबा दिया जाता है ।

(3) साम्यवादी नियोजन मे आर्थिक साधनो का बँटवारा उपभोक्ताओं की रुचि के अनुसार असख्य व्यापारियो के निर्णय द्वारा नही होता है और समस्त आर्थिक निर्णय तथा लक्ष्य-निर्धारण केन्द्रीय सस्था के द्वारा किया जाता है । यह केन्द्रीय सस्था सम्पूर्ण समाज के हित को दृष्टिगत करके उसका आर्थिक निर्णय करती है ।

(4) साम्यवादी नियोजन मे उपभोक्ता की रुचि को उपभोग की मात्रा, गुण एव प्रकार की सीमाओं मे बाँध दिया जाता है । जनता की आवश्यकता एव रुचि व्यक्तिगत आधार पर निर्धारित नही की जाती है बल्कि इनका निर्धारण सम्पूण समाज की आवश्यकताओ के आधार पर किया जाता है, अर्थात योजना अधिकारी जिन कायक्रमो द्वारा समाज के हित होने का अनुमान लगाता है उन्ही कार्यक्रमो को प्राथमिकता दी जाती है।

(5) साम्यवादी नियोजन मे लाभ हेतु प्रतिस्पर्द्धा को कोई स्थान नही दिया जाता है। समाजवादी उत्पादन इसका एक मुख्य लक्षण है । समाजवादी उत्पादन एक विशाल सहकारी सगठन के रूप मे कार्य करता है जिसमे अधिकतम सन्तुलन द्वारा राष्ट्रीय साधनो का अनावश्यक उपयोग एव अपव्यय दूर करने का प्रयत्न किया जाता है । इसके अन्तर्गत आर्थिक प्रोत्साहन के स्थान पर सामाजिक प्रोत्साहन को अधिक महत्व दिया जाता है अर्थात् कुशल उत्पादन का बदला अधिक अर्थ के स्थान पर सामाजिक प्रतिष्ठा के रूप मे दिया जाता है ।

---

on the dictates of the consumers They will not divert scarce domestic resource from essentials to non-essentials merely because consumers express a preference for the latter , nor will they divert restricted imports " —S E Harris, *Economic Times*, pp 17-19

1 'Private enterprise, being regarded as fundamentally anti-social and eventually doomed to extinction by exorable processes of history is given only limited and strictly temporary role in economic development During the 'Transition to Socialism' it has its part to play, but only because Socialism cannot be introduced over-night, and because private enterprise may offer the most practical method of raising certain sectors of economy to a level where they become ripe for socialisation "—A H Hanson, *Public Enterprise and Economic Development*, p. 14

(6) साम्यवादी नियोजन के अन्तर्गत स्वतन्त्र बाजार-व्यवस्था को लगभग समाप्त कर दिया जाता है और मूल्य पर माँग और पूर्ति के घटको का प्रभाव लगभग सीमित कर दिया जाता है। राज्य माँग और पूर्ति दोनो घटको पर पूर्ण नियन्त्रण रखता है। जनसाधारण के हाथ मे उतनी ही क्रय-शक्ति दी जाती है, जिससे उतनी ही वस्तुओ की पूर्ति की जा सके। राशनिंग और मूल्य-नियन्त्रण का बडे पैमाने पर उपयोग किया जाता है।

(7) साम्यवादी नियोजन मे शक्तियो का केन्द्रीकरण राज्य के हाथ मे हो जाता है और राज्य राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टिकोण से सर्वशक्तिमान हो जाता है, जिसके फलस्वरूप लोकतन्त्रीय स्वतन्त्रताएँ समाप्त हो जाती हैं और व्यक्ति एक साधन मात्र बन जाता है, जिसे समाज के हित के लिए कार्य करना होता है।

(8) साम्यवादी नियोजन के अन्तर्गत जनसाधारण को अत्यधिक त्याग करना होता है। यह त्याग आज्ञाओ द्वारा कराया जाता है और इसीलिए साम्यवादी नियोजन को निर्देशन द्वारा नियन्त्रण (Planning by Direction) कहते है। इसमे व्यक्तिगत हितो को कोई स्थान प्राप्त नही होता। सामाजिक हित के फलस्वरूप ही व्यक्तिगत हित हो सकता है इस बात पर विशेष जोर दिया जाता है।

साम्यवादी नियोजन मे सत्ताओ का केन्द्रीकरण राज्य के हाथो मे होने के फलस्वरूप राज्य अपनी योजनाओ की पूर्ति के लिए दबाव और कठोरता के साथ जनसाधारण को त्याग करने के लिए विवश कर सकता है और राष्ट्र के साधनो का शीघ्रातिशीघ्र पूर्णतम उपयोग प्राथमिकताओ के अनुसार विभिन्न उद्देश्यो की पूर्ति हेतु किया जा सकता है। जनसाधारण मे भय की स्थिति उत्पन्न हो जाती है और वह राजकीय कार्यवाहियो मे योगदान देने के लिए विवश हो जाता है। इन्ही कारणो से साम्यवादी नियोजन के अन्तर्गत उत्पादन मे आश्चर्यजनक वृद्धि होती है।

पूँजीवादी नियोजन

वास्तव मे यह कहना उचित ही है कि शुद्ध पूँजीवाद, जो मूल्य एव निजी लाभ पर आधारित होता है, मे आर्थिक नियोजन का सचालन असम्भव है। नियोजन के अन्तर्गत देश की उत्पादन-क्रियाओ का जानबूझकर निश्चित लक्ष्यो की प्राप्ति हेतु राज्य द्वारा सचालन किया जाता है, जबकि पूँजीवाद उत्पादक की पूर्ण स्वतन्त्रता को मान्यता देता है। ऐसी परिस्थिति मे इन दोनो का समन्वय तभी हो सकता है, जब पूँजीवाद के शुद्ध स्वरूप मे कुछ परिवर्तन कर दिये जायें। वास्तव म नियोजित पूँजीवाद होने पर पूँजीवाद का स्वरूप नष्ट हो जाता है। जैसे ही अर्थ-व्यवस्था के कुछ क्षेत्रो पर राजकीय नियन्त्रण होता है, पूँजीवाद अपना वास्तविक स्वरूप खोने लगता है। *नियोजन एक सामूहिक क्रिया है, जो अर्थ-व्यवस्था के समस्त अगो को आच्छादित करती है और जिसे राज्य द्वारा* किया गया सगठित एव समन्वित प्रयास कहा जा सकता है। पूँजीवाद मे अर्थ व्यवस्था के कुछ अगो पर राजकीय नियन्त्रण प्राप्त करके नियोजन का प्रारम्भ होता है और धीरे-धीरे इस नियन्त्रण का प्रभाव अन्य क्षेत्रो पर पडने लगता है जिससे पूँजीवाद का स्वरूप धीरे धीरे परिवर्तित होता है।

आधुनिक युग मे पूँजीवादी राष्ट्रो मे भी नियोजन ने महत्व प्राप्त कर लिया है। इसमे केन्द्रीय व्यवस्था को सीमित तथा अस्थायी स्थान प्राप्त होता है। प्रारम्भिक अवस्था मे पिछडे हुए राष्ट्रो मे राज्यो को उद्योगो की स्थापना तथा विकास मे प्रत्यक्षरूपेण भाग लेना पडता है क्योकि निजी साहस दुर्बल होने के कारण उस समय जोखिम ले सकने के अयोग्य होता है। जैसे-जैसे निजी साहस का विकास होता जाता है, राज्य उद्योगो को निजी साहस के हाथो मे सौपता जाता है। जापान मे राज्य ने आधारभूत सेवाओ के उद्योगो के अतिरिक्त शेष समस्त उद्योगो के प्रवर्तक का कार्य सम्पादन किया है। जब वे उद्योग दृढतापूर्वक स्थापित हो गये एव लाभोपार्जन करने लगे, तब उन्हे निजी साहसियो के हाथो बेच दिया गया। दूसरी ओर मैक्सिको मे राज्य की दृष्टि मे निजी साहस को प्रारम्भ से ही सुदृढ समझा जाता है और केवल आर्थिक तथा अन्य सहायता देने की आवश्यकता समझी गयी है। इन परिस्थितियो मे राज्य साहसी का कार्य स्वय करने के

स्थान पर निजी साहस को आवश्यक सहायता प्रदान करके विकास हेतु प्रोत्साहित करता है। इस प्रकार पूंजीवादी देशों मे निजी साहस के सुदृढ होने तक ही राजकीय क्षेत्र का उपयोग किया जाता है।

पूंजीवादी नियोजन मे विपणि की स्थिति मे हेर-फेर करके नियोजन के उद्देश्यो की पूर्ति की जाती है। उपभोक्ता की स्वतन्त्रता पर कोई अकुश नही लगाया जाता है। परिणामस्वरूप, उत्पादन आवश्यक रूप से उपभोक्ता की इच्छाओं द्वारा नियन्त्रित होता है। आर्थिक स्वतन्त्रता के साथ-साथ राजनीतिक तथा सास्कृतिक स्वतन्त्रता पर्याप्त मात्रा मे उपस्थित रहती है।

पूंजीवादी देशो मे नियोजन का उपयोग प्राय आकस्मिक सकटो, जैसे मन्दी, युद्ध, प्राकृतिक सकट आदि से बचने के लिए किया जाता है। सयुक्त राज्य अमेरिका मे सन् 1930 की मन्दी को दूर करने के लिए नियोजन का प्रयोग किया गया था। इसमे राज्य आर्थिक साधनो को पुन व्यवस्थित करके निजी साहस तथा स्वतन्त्र स्पर्द्धा की व्यवस्था कर देता है।

पूंजीवाद के अन्तर्गत नियोजन को दो भागो मे विभाजित कर सकते है—प्रथम, सुधार-सम्बन्धी नियोजन (Corrective Planning), और द्वितीय, विकास-सम्बन्धी नियोजन। सुधार-सम्बन्धी नियोजन का अर्थ ऐसे कार्यक्रमो से है जो राज्य द्वारा अर्थ-व्यवस्था की प्रतिकूल प्रवृत्तियो मे सुधार करने के लिए सचालित किये जायें। इस प्रकार के नियोजन का उदाहरण सयुक्त राज्य अमेरिका के सन् 1946 के रोजगार-विधान मे मिलता है। यह विधान राज्य ने अर्थ-व्यवस्था की अवनति की प्रवृत्ति (Recessionary Trends) को रोकने के लिए बनाया था। इस विधान का मुख्य उद्देश्य मन्दी एव तेजी के मध्य के मार्ग का आयोजन करना था। इस कार्यवाही के लिए अमरीकी सरकार एक विभाग रखती है जो अर्थ-व्यवस्था की वर्तमान स्थितियों पर कडी निगाह रखती है और जैसे ही उच्चावचान हानिप्रद रूप ग्रहण करने लगते है, यह विभाग उचित कार्यवाही करके, अर्थात् मन्दी होने पर राजकीय निर्माण-कार्य एव सस्ती मुद्रा-नीति द्वारा और तेजी होने पर प्रतिबन्धो का उपयोग करके अर्थ-व्यवस्था मे स्थिरता बनाये रखने का प्रयत्न करता है। मन्दी की प्रवृत्ति होने पर उपभोग करने की प्रवृत्ति मे वृद्धि, आर्थिक विनियोजन करने हेतु प्रोत्साहन तथा सरकारी व्यय मे वृद्धि की जाती है और तेजी होने पर उसमे बिलकुल विपरीत कार्यवाहियाँ की जाती हैं। इन कार्यवाहियों द्वारा उपभोक्ता एव उत्पादक की आधारभूत स्वतन्त्रता पर कोई प्रत्यक्ष प्रतिबन्ध नही लगाया जाता है। वास्तव मे इस प्रकार सुधार-सम्बन्धी कार्यवाहियो को आर्थिक नियोजन कहना उचित नही है क्योकि इनके द्वारा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर प्रभाव नही पडता है और न इनके द्वारा देश के साधनो का विवेकपूर्ण एव अधिकतम उपयोग ही सम्भव होता है।

पूंजीवादी राष्ट्रो का विकास-सम्बन्धी नियोजन किसी विशेष क्षेत्र के विकास अथवा राष्ट्र के सम्पूर्ण विकास के लिए हो सकता है। अर्थ व्यवस्था के किसी विशेष क्षेत्र अथवा क्षेत्रो के विकास का कार्यक्रम सरकार इसलिए सचालित करती है जिससे अर्थ-व्यवस्था सुचारु रूप से चलती रहे। फ्रान्स की मोनेट योजना (Monnet Plan) का सम्बन्ध मुख्य रूप से औद्योगिक सयन्त्रादि के नवीनीकरण से था। इसी प्रकार अर्जेन्टाइना की सरकार ने महायुद्ध के पश्चात जनसख्या-वृद्धि की योजना सचालित की थी, परन्तु आधुनिक युग मे अर्थ-व्यवस्थाएँ इतनी जटिल एव परस्पर-निर्भरता पर आधारित है कि अर्थ-व्यवस्था के एक क्षेत्र के विकास से अन्य क्षेत्रों का प्रभावित होना अवश्यम्भावी है। ऐसी परिस्थिति मे किसी विशेष क्षेत्र के विकास से सम्बन्ध रखने वाली योजनाओं का सफल होना कठिन होता है।

दूसरी ओर, सम्पूर्ण नियोजन का अर्थ एक ऐसी समन्वित योजना से होता है, जिसके द्वारा राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था के समस्त क्षेत्रो का विकास होता हो। यह पहले बताया गया है कि पूंजीवादी नियोजन के अन्तर्गत देश के आर्थिक एव सामाजिक ढाँचे मे परिवर्तन नही किये जाते हैं। पूंजीवाद मे विकास-सम्बन्धी योजना राज्य द्वारा बनायी जाती है और इस योजना को कार्यान्वित करने का कार्य अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न पक्षो को दे दिया जाता है। राज्य द्वारा योजना को

क्रियान्वित करने हेतु कोई दबाव उपयोग मे नही लाया जाता है। राज्य अप्रत्यक्ष विधियो से निजी साहसियो को योजना को कार्यान्वित करने हेतु प्रोत्साहित करता है। राज्य केवल अत्यन्त कठिन परिस्थितियो मे ही निजी उत्पादकों को आज्ञाएँ देता है। ब्रिटेन की श्रमिक सरकार द्वारा सन् 1945-51 के काल मे जो नियोजन सचालित किया गया, उसे सम्पूर्ण विकास की योजना कह सकते है। इस योजना के अन्तर्गत ब्रिटेन की अधिकतर आर्थिक कार्यवाहियाँ राज्य के नियन्त्रण के बाहर थीं। राज्य ने आज्ञाएँ केवल कुछ ही वस्तुओं के उत्पादकों को दी।

भारत की प्रथम पचवर्षीय योजना को पूँजीवाद के अन्तर्गत सम्पूर्ण नियोजन कहा जा सकता है क्योंकि इस योजना द्वारा राष्ट्र के आर्थिक एवं सामाजिक ढाँचे मे कोई परिवर्तन करने का आयोजन नही किया गया।

प्रजातान्त्रिक नियोजन

प्रजातान्त्रिक नियोजन (Democratic Planning) एक ऐसी व्यवस्था को कहा जा सकता है जिसमे पूँजीवाद और समाजवाद का सम्मिश्रण होता है। जब समाजवादी उद्देश्यो की पूर्ति के लिए लोकतान्त्रिक विधियो का उपयोग किया जाता है, तब उस व्यवस्था को प्रजातान्त्रिक नियोजन कह सकते हैं। भारत मे इस प्रकार की व्यवस्था का सम्भवत प्रथम प्रयोग किया जा रहा है। ब्रिटेन मे द्वितीय महायुद्ध के पश्चात पुनर्निर्माण-कार्य के लिए वहाँ की श्रमिक सरकार ने वहाँ की लोकतन्त्रीय व्यवस्था के कुछ क्षेत्रो को नियोजित किया था, परन्तु श्रमिक सरकार इस दिशा मे कोई विशेष सफलता प्राप्त नही कर सकी थी। आधुनिक युग मे अनेक पिछडे हुए राष्ट्रो को राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त हुई है और नियोजित आर्थिक विकास करना आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण हो गया है। भारत ने इस ओर अग्रसर होकर नियोजन के इतिहास मे एक नवीन किन्तु स्वर्णिम अध्याय जोड दिया है। भारत मे नियोजन की सफलता मे नियोजन के दोषों का सफल निवारण निहित है।

प्रजातान्त्रिक नियोजन मे निजी तथा सरकारी दोनो क्षेत्रो को स्थान प्राप्त होता है। निजी क्षेत्र को समाप्त करने की अपेक्षा उसके कार्यक्षेत्र को सीमित एवं नियन्त्रित करके सरकारी क्षेत्र के साथ कार्य करने का अवसर प्रदान किया जाता है। निजी क्षेत्र सरकारी क्षेत्र का सहायक, सहकारी एवं पूरक होता है, उसे प्रतिस्पर्द्धी होने से रोका जाता है। कुछ आधारभूत उद्योगो को राज्य पूर्णत अपने हाथ मे ले लेता है, कुछ दूसरे प्रकार की आर्थिक सस्थाएँ निजी साहसी का ही कार्यक्षेत्र बना दी जाती हैं, शेष तृतीय प्रकार के उद्योग निजी तथा सरकारी दोनो क्षेत्रो मे समन्वित किये जाते है। "सरकारी क्षेत्र द्वारा निजी क्षेत्र मे अथवा इसके विपरीत हस्तक्षेप को अवसर पर छोड नही दिया जाता है, प्रत्युत नियोजन-अधिकारियो द्वारा राष्ट्र के आर्थिक हितों को दृष्टिगत करते हुए इसे निश्चित किया जाता है।"[1]

प्रजातान्त्रिक नियोजन मे जन-हित और जन-कल्याण का अधिक महत्त्व होने के कारण उपभोग को न्यूनतम स्तर तक नही लाया जा सकता है। विकास और कल्याण मे समन्वय स्थापित किया जाता है। भारतीय नियोजन मे मानवीय स्वतन्त्रता तथा सम्मान का विशेष ध्यान रखा जाता है। इसी कारण यहाँ की विकास योजनाएँ केन्द्रित तथा समन्वित होते हुए भी कल्याणकारी है। स्वतन्त्र विपणि-व्यवस्था को भारतीय अर्थ-व्यवस्था मे उचित स्थान प्राप्त है। इस प्रकार भारत मे एक मिश्रित अर्थ-व्यवस्था का विकास हुआ है, जिसमे राजकीय तथा निजी साहस दोनो साथ-साथ कार्य करते है।

प्रजातान्त्रिक नियोजन मे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का विशेष महत्व है। भूतपूर्व प्रधानमन्त्री, स्व जवाहरलाल नेहरू ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा भारतीय समाजवाद पर अपने विचार प्रकट

---

1 "Encroachment of the public on the private sector or vice versa are not to be left to chance but to be decided or at least guided by the planning authorities in the light of what is hoped to be the national interest"—A H. Hanson, *Public Enterprise and Economic Development* p 15

करते हुए लिखा है—"समाजवाद का मतलब यह है कि राज्य मे हर आदमी को तरक्की करने के लिए बराबर मौका मिलना चाहिए। मै हरगिज इस बात को पसन्द नही करता कि राज्य हर चीज पर नियन्त्रण रखे, क्योंकि मै इन्सान की व्यक्तिगत आजादी को अहमियत देता हूँ। मै उस उग्र किस्म के राज्य-समाजवाद को पसन्द नही करता जिसमे सारी ताकत राज्य के हाथो मे होती है और देश के करीब-करीब सभी कामो पर उसी की हुकूमत हो। राजनीतिक दृष्टि से राज्य बहुत ताकतवर है। अगर आप आर्थिक दृष्टि से भी उसे बहुत ताकतवर बना देंगे तो वह सत्ता एव अधिकार का केन्द्र बन जायेगा जिसमे इन्सान की आजादी राज्य के मनमानेपन की गुलाम बन जायेगी।"[1] इस प्रकार सत्ता के विकेन्द्रीकरण की ओर अग्रसर होना भी आवश्यक है। पूर्णत समाजवादी तथा साम्यवादी व्यवस्था मे सत्ता के केन्द्रीकरण की वृद्धि की जाती है, परन्तु लोकतान्त्रिक नियोजन के अन्तर्गत आर्थिक सत्ता के केन्द्रीकरण को रोका जाता है। दूसरी ओर, आर्थिक आयोजन के मूल तत्व—राष्ट्र के भौतिक मानवीय तथा वित्तीय साधनो का पूर्णतम तथा विवेकपूर्ण उपयोग करने के लिए यथेच्छाकारिता तथा प्रतियोगिता-प्रधान अर्थ-व्यवस्था को खुली छूट नही दी जा सकती क्योकि इसमे शोषण का तत्व प्रधान होता है और मानवीय सम्पदा की बहुत अधिक बर्बादी होती है। 'जिसे आमतौर पर स्वतन्त्र बाजार और स्वतन्त्र अर्थ व्यवस्था कहते है, वह आखिर मे चलकर योग्यतम के ही अस्तित्व' के सिद्धान्त के मुताबिक तीव्रतम और गलाघोटू प्रतियोगिता को जन्म देती है इसलिए अब पूँजीवादी देशो मे भी यह मान लिया गया है कि स्वतन्त्र उद्यम और यथेच्छाकारिता की प्रणाली बेकार और पुरानी हो चुकी है और उस पर राज्य का नियन्त्रण और नियम लागू होना चाहिए। अगर हम यह सोचते है कि आयोजन और लोकतन्त्र का मेल नही बैठता तो इसका यह मतलब नही होगा कि लोकतन्त्रीय सविधान के भीतर राष्ट्रीय साधनो का उपयोग नही हो सकता। असल बात यह है कि असली आयोजन, जो व्यक्ति और समाज दोनो के हितो के बीच सामजस्य स्थापित करता है, केवल लोकतन्त्रीय प्रणाली के भीतर ही सम्भव है।"[2]

प्रजातान्त्रिक नियोजन मे केवल चुने हुए व्यवसायो तथा उद्योगो का राष्ट्रीयकरण किया जाता है। जिन व्यवसायो तथा उद्योगो को राज्य सफलतापूर्वक कल्याणकारी रीतियो के अनुसार चलाने के योग्य होता है उनका राष्ट्रीयकरण उचित मुआवजा देने के पश्चात किया जाता है। नियोजन के लक्ष्य साधारणतया उपभोक्ता की सुविधाओं को ध्यान मे रखकर निर्धारित किये जाते है। विदेशी सहायता का इस प्रकार के नियोजन मे विशेष महत्व होता है। विदेशी सरकारो तथा पूँजीपतियो से पूँजी प्राप्त होती है क्योकि बल द्वारा उद्योगो के अपहरण का कोई भय नही होता।

प्रजातान्त्रिक नियोजन के लक्षण निम्न प्रकार है

(1) प्रजातान्त्रिक नियोजन मे निजी तथा सरकारी दोनो ही क्षेत्रो को स्थान प्राप्त होता है। निजी क्षेत्र को सरकारी नीतियो के अनुकूल चलाने के लिए नियन्त्रित अवश्य कर दिया जाता है और निजी क्षेत्र सरकारी क्षेत्र का सहायक सहकारी एव पूरक होता है।

(2) प्रजातान्त्रिक नियोजन मे व्यक्तिगत हित एव जनकल्याण मे समन्वय स्थापित किया जाता है अर्थात् सामूहिक कल्याण के लिए व्यक्तिगत हितो को सर्वथा छोड नही दिया जाता है।

(3) इसमे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को विशेष महत्व दिया जाता है। व्यक्ति को आर्थिक, सामाजिक एव राजनीतिक स्वतन्त्रताएँ उपलब्ध रहती है।

(4) प्रजातान्त्रिक नियोजन के अन्तर्गत देश मे विकेन्द्रित समाज की स्थापना की जाती है। आर्थिक क्रियाओ मे समस्त जनसमुदाय को योगदान देने का अवसर दिया जाता है। सहकारी संस्थाओ तथा अन्य लोकतन्त्रीय सस्थाओ की स्थापना द्वारा सत्ताओ का विकेन्द्रीकरण किया जाता है।

1 जवाहरलाल नेहरू 'हमारा समाजवाद' (आर्थिक समीक्षा, 19 मार्च, 1957, पृष्ठ 9)।
2 श्रीमन्नारायण 'आयोजन और लोकतन्त्र' (आर्थिक समीक्षा 5 अक्टूबर, 1958, पृष्ठ 9)।

(5) प्रजातान्त्रिक नियोजन मे राष्ट्रीयकरण की नीति को बडे पैमाने पर उपयोग करने की आवश्यकता नही होती है, केवल आधारभूत, जनसेवा सम्बन्धी तथा ऐसे व्यवसायो का राष्ट्रीयकरण किया जाता है जिनमे निजी क्षेत्र पूंजी लगाने को तैयार नही होता है। राष्ट्रीयकरण करने पर उचित मुआवजा दिया जाता है।

(6) प्रजातान्त्रिक नियोजन के अन्तर्गत स्वतन्त्र बाजार-व्यवस्था को बनाये रखा जाता है, परन्तु उस पर पर्याप्त नियन्त्रण अवश्य रहता है जिससे गलाघोट प्रतिस्पर्द्धा को रोका जा सके।

(7) प्रजातान्त्रिक नियोजन के कार्यक्रम का सचालन आज्ञाओ द्वारा नही किया जाता है। जनसाधारण को योजना के उद्देश्यो को समझाकर व उनके कर्तव्यो को बताकर योजना के लिए त्याग करने को प्रोत्साहित किया जाता है।

(8) इसके अन्तर्गत अवसरो की समानता उत्पन्न की जाती है तथा सामाजिक एव आर्थिक पिछडेपन के कारण उत्पन्न होने वाली जनसाधारण की कठिनाइयो को समाप्त करने का आयोजन किया जाता है।

(9) आय एव धन के वितरण की विषमताओ को दूर करने के लिए एकाधिकारो तथा उद्योग एव भूमि-सम्बन्धी स्वामित्व एव अधिकार की विषमताओ को समाप्त किया जाता है।

(10) प्रजातान्त्रिक नियोजन के अन्तर्गत सामाजिक सुरक्षा के विस्तृत कार्यक्रमो का सचालन किया जाता है तथा आर्थिक जीवन का सगठन इस प्रकार किया जाता है कि समस्त नागरिको को न्यायपूर्ण एव उचित जीवन-स्तर प्रदान किया जा सके।

लोकतन्त्र मे राजनीतिक तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का दुरुपयोग किया जाता है जिसका प्रभाव नियोजन के कार्यक्रम पर भी पडता है। विपक्षी राजनीतिक दलो द्वारा कभी-कभी विनाशकारी कार्यक्रम भी सचालित होते रहते है जो समस्त कल्याणकारी कार्यक्रमो के सुगम सचालन मे बाधा पहुँचाते है तथा नियोजन-अधिकारियो के अनुमानो की सिद्धि कठिन प्रतीत होने लगती है। इस प्रकार विकास की गति कुछ मन्द हो जाती है और राष्ट्र के साधनो का अपव्यय भी होता है। सत्ता का विकेन्द्रीकरण करने के लिए पचायतो, सहकारी सस्थाओ तथा अन्य क्षेत्रीय प्रबन्धक सस्थाओ की स्थापना की जाती है। प्रारम्भिक अवस्था मे सत्ता हाथ मे आने पर उसका दुरुपयोग भी अवश्यम्भावी है। सरकारी क्षेत्र मे कर्मचारियो का इस नवीन स्थिति मे अपनी सत्ता क्षतिग्रस्त होती प्रतीत होती है, अत वे सरकारी नियमो के जाल को और कठोर बनाने का यत्न करते है। इस प्रकार राष्ट्रीय साधनो का अपव्यय होता है।

अधिनायकवादी अथवा तानाशाही नियोजन

प्रो हेयक ने अपनी पुस्तक *'The Road to Serfdom'* (दासता का मार्ग) मे नियोजन की आलोचना से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि आर्थिक नियोजन से राजनीतिक तानाशाही का प्रादुर्भाव होता है। इसके विचार मे राजनीतिक स्वतन्त्रता का आधार साहस की आर्थिक स्वतन्त्रता रहा है और जब साहस की स्वतन्त्रता पर अकुश लगाये जाते है तो राजनीतिक तानाशाही का प्रादुर्भाव होना स्वाभाविक हो जाता है। "हमारे नियोजको की माँग है कि एक योजना के अनुसार समस्त आर्थिक क्रियाओ का केन्द्रीय सचालन किया जाय और इस योजना मे विशेष उद्देश्यो की विशेष प्रकार से पूर्ति करने हेतु समाज के साधनो को जानबूझकर उपयोग करने के तरीके निर्धारित किये जायें।"[1] प्रो हेयक के विचार मे यूरोप के कुछ देशो मे तानाशाही का मुख्य कारण आर्थिक नियोजन के सिद्धान्तो का अनुसरण था। उनके विचारो मे आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत किसी भी देश के विधान का शासन (Rule of Law) सम्भव नही हो सकता।

1 "What our planners demand is a central direction to all economic activity according to single plan laying down how the resources of society should be consciously directed to serve particular ends in a particular way"—Prof Hayek, *The Road to Serfdom*, p. 62.

आर्थिक नियोजन के सम्बन्ध में प्रकट किये गये उपर्युक्त सभी विचारों का आधुनिक काल में खण्डन हो गया है। आर्थिक नियोजन अब विकास का एक औजार मात्र है, जिसका उपयोग समाजवादी, साम्यवादी, प्रजातान्त्रिक एवं तानाशाही सभी प्रकार की सरकारें कर सकती हैं। इन सभी राज्यों की मान्यताएँ एक-दूसरे से भिन्न होने के कारण इस औजार का उपयोग भी भिन्न भिन्न विधियों एवं पृथक्-पृथक् फल की प्राप्ति हेतु किया जाता है। यह कहना किसी प्रकार उचित नहीं होगा कि आर्थिक नियोजन तानाशाही को बढ़ावा देता है। वास्तव में प्रो. हेयक ने आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत ऐसे समाज का विचार किया था जिसमें राज्य द्वारा समाज की समस्त आर्थिक क्रियाओं पर कठोर नियन्त्रण कर लिया जाता है, जहाँ साधनों के उपयोग का निश्चय राज्य द्वारा निर्धारित कठोर सिद्धान्तों के आधार पर किया जाता है, जहाँ उपभोक्ता के लिए उपभोग की वस्तुएँ राज्य द्वारा निर्धारित होती हैं, जहाँ श्रमिकों को विशेष स्थान तथा विशेष प्रकार के गृहों में रहने की आज्ञा दी जाती है, जहाँ श्रमिकों को राज्य की इच्छानुसार अपरिवर्तनीय मजदूरी पर काम करना होता है, जहाँ श्रमिक-संघों को समाप्त कर दिया जाता है, आदि। प्रो. डार्बिन ने इन विचारों का खण्डन करते हुए बताया कि आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत आर्थिक निश्चय निजी साहसियों के स्थान पर जनसमुदाय के प्रतिनिधियों अथवा जनाधिकारियों द्वारा किये जाते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि ये जनाधिकारी उपभोग एवं उत्पादन के कठोर कार्यक्रम को अपरिवर्तनीय सिद्धान्तों पर आधारित करना पसन्द करें। दूसरी ओर नियोजित अर्थ-व्यवस्था में मनमाना शासन नहीं किया जाता है। प्रत्येक नियोजित अर्थ-व्यवस्था में विधान के अनुसार शासन होता है। विधान इतना परिवर्तनीय अवश्य होता है कि उसमें परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन किये जा सकें। नियोजित अर्थ-व्यवस्था एक गतिशील समाज का निर्माण करती है और गतिशील समाज में परिवर्तनों के अनुकूल विधान में परिवर्तन करना भी आवश्यक होता है। विधानों के परिवर्तनों को मनमानापन कहना उचित नहीं है।

उपर्युक्त विवाद से यह स्पष्ट है कि नियोजन का अन्तिम स्वरूप तानाशाही नहीं होता है, परन्तु ऐसे राष्ट्रों में जहाँ तानाशाही शासन हो, नियोजित अर्थ-व्यवस्था का संचालन किया जा सकता है।

राष्ट्र में तानाशाही सरकार होने पर ही तानाशाही नियोजन (Fascist Planning) का प्रश्न उठता है। तानाशाही नियोजन में सत्ता का केन्द्रीकरण जनता की प्रतिनिधि सरकार में न होकर अनन्य शासक (Dictator) में होता है। राष्ट्र के समस्त साधनों का डिक्टेटर की इच्छानुसार उपयोग में लाया जाता है। सरकार की समस्त क्रियाओं का उद्देश्य डिक्टेटर की सत्ता, शक्ति और सम्मान में वृद्धि करना होता है। आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक स्वतन्त्रता भी डिक्टेटर की इच्छानुसार नियन्त्रित होती है। इस प्रकार राष्ट्र में सैन्यीकरण की स्थिति की स्थापना हो जाती है। तानाशाही नियोजन में निजी क्षेत्र का ही विकास सरकारी नियमन तथा नियन्त्रण द्वारा किया जाता है। जनसमुदाय के जीवन-स्तर को सुधारने के लिए सरकारी नीतियों को शक्ति द्वारा क्रियान्वित किया जाता है। राष्ट्र भर में भय की छाप लगी रहती है, फलतः कठोर कार्यवाही करना सुगम एवं सुविधाजनक होता है। आवश्यक सेवाओं तथा आधारभूत उद्योगों का अपहरण भी किया जाता है। सरकारी कार्यक्रमों का संचालित करने हेतु निजी सम्पत्ति का शक्ति द्वारा अपहरण कर लिया जाता है। इस प्रकार तानाशाही नियोजन में राष्ट्रीय आय तथा उत्पादन में वृद्धि अवश्य हो जाती है किन्तु उसका समान वितरण नहीं किया जाता या यों कहें कि प्रायः ऐसा नहीं होता। धनिक-वर्ग उसी स्थिति पर आरूढ़ रहते हैं, निर्धन यद्यपि निर्धन रहते हैं तथापि कतिपय सुविधाएँ उन्हें उपलब्ध की जाती हैं। साम्यवादी नियोजन की भाँति इसकी सफलता कभी-कभी आश्चर्यजनक होती है परन्तु मानवीय तत्त्वों को कोई महत्व नहीं दिया जाता, जिससे मानवीय व्यक्तिगत स्वतन्त्रता बिल्कुल लुप्त हो जाती है। सरकार में आर्थिक तथा राजनीतिक दोनों सत्ताएँ निहित होती हैं और व्यक्ति सरकार का दास-मात्र बनकर रह जाता है। इस प्रकार का नियोजन

आकस्मिक सकटो, जैसे युद्ध, प्राकृतिक सकट, मन्दी आदि का मुकाबला करने के लिए उपयोग मे लाया जाता है। द्वितीय महायुद्धकाल मे जर्मनी मे तानाशाही अर्थ-व्यवस्था का आयोजन किया गया था। वर्तमान समय मे पाकिस्तान की तानाशाही सरकार भी निर्धारित आयोजन द्वारा आर्थिक विकास कर रही है।

सर्वोदयी नियोजन अथवा गाँधीवादी नियोजन

सर्वोदयी नियोजन की विचारधारा भारत मे उदय हुई है और इसके सिद्धान्त भारत की परिस्थितियो के अनुकूल ही निर्धारित किये गये हैं। गाँधीवादी अर्थशास्त्र के सिद्धान्तो के आधार पर सर्वोदयी नियोजन का निर्माण किया गया है। सर्वोदय उस व्यवस्था को कहा जाता है जिसमे समस्त समाज का अधिकतम कल्याण आर्थिक एव राजनीतिक शक्तियो के विकेन्द्रीकरण द्वारा किया जाता है। गाँधीजी सदैव यह विचार प्रकट करते थे कि स्वराज्य के द्वारा भारत के प्रत्येक ग्राम एव झोपडी मे स्वतन्त्रता की लहर दौडनी चाहिए। भारतीय सस्कृति के अनुकूल नियोजन का सचालन करने हेतु हमे पश्चिमवादी तथा साम्यवादी देशो की नकल करना उचित नही है। हमे अपनी प्राचीन सस्कृति तथा अन्य देशो के अनुभवो का अध्ययन करके ऐसी आर्थिक एव राजनीतिक व्यवस्था की खोज निकालना चाहिए जो हमारे समाज के लिए सर्वाधिक उपयुक्त हो।

सर्वोदय एक नये अहिंसक समाज का निर्माण करना चाहता है और इस समाज के निर्माण हेतु जिन योजनाबद्ध कार्यक्रमो का सचालन करना आवश्यक हो, उन्हे सर्वोदयी नियोजन कह सकते है। 30 जनवरी, 1950 को सर्वोदयी योजना के सिद्धान्त सर्वप्रथम प्रकाशित किये गये। इन सिद्धान्तो की विशेष बातें निम्नवत् थी

(1) कृषि-भूमि पर वास्तविक अधिकार जोत करने वाले का होगा, भूमि का पुन वितरण भूमि के समान वितरण के लिए किया जायेगा, भूमि की आर्थिक इकाइयो को सहकारी फार्मो मे समूहीकृत किया जायेगा तथा जोत करने वाले का कोई भी शोषण नही कर सकेगा।

(2) आय एव धन का न्यायोचित एव समान वितरण किया जायेगा तथा न्यूनतम और अधिकतम आय भी निर्धारित कर दी जायेगी।

(3) भारत मे स्थित विदेशी व्यवसायो को देश से हटने को कहा जाय, अथवा उनसे उसके सगठन, प्रबन्ध एव उद्देश्य-परिवर्तन करने को कहा जाय, अथवा उन्हे राजकीय अधिकार के अन्तर्गत चलाया जाय।

(4) केन्द्रीय उद्योगो पर समाज का अधिकार होगा, जिनका सचालन स्वतन्त्र निगमो अथवा सरकारी सस्थाओ द्वारा किया जाय तथा विकेन्द्रित उद्योगो मे उत्पादन के यन्त्रो पर व्यक्तिगत अथवा सहकारी सस्थाओ के अन्तर्गत सामूहिक अधिकार होगा।

(5) ऐसी वित्त व्यवस्था की स्थापना करना हमारा उद्देश्य होना चाहिए, जिसमे सगृहीत राजकीय वित्त (Public Revenue) का 50% ग्रामीण पचायतो द्वारा व्यय किया जाय तथा शेष 50% अन्य उच्च सस्थाओ के प्रशासन पर व्यय किया जाय।

सर्वोदयी नियोजन का लक्ष्य सर्वोदयी समाज-व्यवस्था की स्थापना करना है। सर्वोदय का अर्थ है—सर्वांगीण उन्नति। 'सर्वोदय' की मान्यता है कि समाज के अन्दर व्यक्तियो और सस्थाओ के सम्बन्धो का आधार सत्य और अहिंसा होना चाहिए। उसका यह भी विश्वास है कि समाज मे सब व्यक्ति समान और स्वतन्त्र है और उनके बीच यदि कोई चिरस्थायी सम्बन्ध हो सकता है जो इनको एक साथ रख सकता है तो वह प्रेम और सहयोग है, न कि बल और जोर-जबरदस्ती। मनुष्य के भीतर होड़ प्रतियोगिता और लडाई की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देकर समाज मे प्रेम और सहयोग न तो उत्पन्न किया जा सकता है और न ही उनका सवर्द्धन किया जा सकता है। सर्वोदयी समाज ऐसे वातावरण मे पैदा नही हो सकता, जहाँ जुल्म के यन्त्र पूर्णता को पहुँचा दिये गये हो और व्यक्तिगत स्वार्थ या मुनाफा कमाने का लाभ इतना बलवान बन गया हो कि उसने प्रेम और भ्रातृ-भाव को दबा दिया हो और समानता की भावना को नष्ट कर दिया हो। सर्वोदय को ऐसी समाज-

रचना कायम करनी है जिनके अन्दर संस्थाओं द्वारा सत्ता का प्रयोग अनावश्यक बना दिया जायेगा क्योंकि यह भी तो बल प्रयोग का एक प्रतीक ही है, अथवा सत्ता के प्रयोग को इतना घटा दिया जायेगा कि वो हमारी अहिंसा की मात्रा में एकदम अनिवार्य हो।[1]

सर्वोदय-व्यवस्था में बल के प्रयोग का स्थान नहीं है। यह माना गया है कि इस व्यवस्था के अन्तर्गत आवश्यक शिक्षा प्राप्त करने पर मनुष्य अपने आप इतना संयम कर लेगा कि वह बिना किसी बाहरी दबाव के भी समाज के हित का करेगा। ज्यों-ज्यों मनुष्य इन संयमों की सीढ़ियों को चढ़ता जायगा, राज्य-सत्ता का उपयोग घटता जायेगा और वह सत्ता समाज-सेवा सम्बन्धी संस्थाओं के हाथों में पहुँच जायगी जिनको उसका उपयोग करने की आवश्यकता नहीं होगी, क्योंकि इनकी क्रियाविधि का आधार बल-प्रयोग के स्थान पर प्रेम, सहयोग, समझाना बुझाना और प्रत्यक्ष समाज-हित होगा। सर्वोदयी समाज की स्थापना करने के लिए द्विमुखीय उपाय करने होंगे। एक ओर तो वर्तमान राजनीतिक एवं आर्थिक संस्थाओं के हाथों में केन्द्रित सत्ता का विकेन्द्रीकरण करना होगा और दूसरी ओर जनता को सत्याग्रह और करुणा की शिक्षा दी जायगी।

सन 1955 में सर्वोदय योजना समिति ने सर्वोदयी योजना के दोहराये गये लक्ष्य निम्न प्रकार स्पष्ट किए हैं

(1) समाज के प्रत्येक सदस्य को पूरे समय तथा पेट भरने लायक काम देना—इस लक्ष्य की पूर्ति हेतु समाज के समस्त आर्थिक ढाँचे में परिवर्तन करने होंगे। तभी ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न की जा सकेंगी कि प्रत्येक स्त्री पुरुष अपनी रुचि के अनुसार कार्य का चुनाव करके खुशी-खुशी कार्य कर सके। यह कार्य एक ओर समाज की भौतिक एवं सांस्कृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करे तथा दूसरी ओर उस कार्य में ज्ञान अथवा अनजान में शरीर के स्वास्थ्य, बौद्धिक एवं मानसिक विकास की प्रशिक्षा मिलती रहे। ऐसे कार्य अथवा धंधे में आवश्यक कुशलता प्राप्त करने के लिए प्रशिक्षण की सुविधाएँ भी समाज व्यक्ति को दे तथा काम करने के औजार तथा साधन प्राप्त करने में समाज उसकी सहायता करे। समाज का कर्तव्य होगा कि वह ऐसी अनुकूलताएँ उत्पन्न करे कि व्यक्ति अपनी रुचि के अनुसार कार्य अथवा धंधे का चयन कर सके, वह कार्य उसे पूरे समय मिलता रहे, वह भरपेट रोटी दे सके, उसे अपनी बुद्धि के विकास तथा अपनी शक्तियों का पूरा-पूरा उपयोग करने का अवसर मिल सके। सर्वोदयी योजना में पूरा काम और रोटी के लक्ष्य के आधार पर उद्योग-प्रणाली में परिवर्तन करने होंगे जिससे उद्योगों की कार्य-क्षमता बढ़ायी जा सके, जो अधिक से अधिक लोगों को काम दे सकने की क्षमता रखते हों। बेकारी को मिटाने हेतु यन्त्रों की अपेक्षा अधिक से अधिक श्रमिकों को काम देना होगा। उद्योगों का पुनर्गठन करना होगा तथा अधिक से अधिक मनुष्यों को काम देने की शक्ति रखने वाले उद्योगों के यन्त्रों में आवश्यक सुधार करने होंगे जिनमें वह कम से कम समय में अधिक और अच्छा उत्पादन दे सकें। सर्वोदयी समाज विकेन्द्रीकरण पर आधारित है और उसमें उत्पादन के साधन कुछ ही लोगों के हाथों में केन्द्रित नहीं होंगे। कोई किसी को रोटी नहीं देगा। सब अपनी रोजी कमायेंगे। जिन उत्पादन के साधनों पर व्यक्तियों का स्वामित्व नहीं हो सकता है, उन पर सहकारी संस्थाओं, ग्राम-संस्थाओं तथा राज्य का स्वामित्व होगा।

(2) यह निश्चित कर लेना है कि समाज के प्रत्येक सदस्य की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाय जिससे वह अपने व्यक्तित्व का पूरा-पूरा विकास कर सके और समाज की उन्नति में भी उचित योगदान दे सके।

(3) जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं के विषय में यह प्रयत्न हो सके कि प्रत्येक प्रदेश स्वावलम्बी हो। जिन क्षेत्रों में प्राकृतिक साधनों की बहुतायत होगी, वहाँ प्राथमिक आवश्यकताओं—अन्न, वस्त्र, मकान, प्राथमिक शिक्षा तथा साधारण रोगों की चिकित्सा के सम्बन्ध में सर्व-

1 सर्वोदय संयोजन, अखिल भारतीय सर्वसेवा संघ प्रकाशन, पृष्ठ 46-47।

प्रथम स्वावलम्बन निर्माण किया जायेगा। जिन प्रदेशो मे प्राकृतिक अनुकूलताओ की न्यूनता होगी, वहाँ कमी वाले गाँवो के ऐसे ग्राम-मण्डल बना दिये जायेंगे जो सहयोग, विनिमय और सब की उपज को एकत्रित करके अपनी न्यूनता की पूर्ति कर लेंगे। जहाँ यह भी सम्भव न हो, वहाँ वे गाँव या क्षेत्र विशेष मे अपने साधनो का अधिक से अधिक उपयोग करके तथा अन्य ग्राम-उद्योगों की व्यवस्था करके शेष कमी की पूर्ति उस प्रदेश की योजना मे से कर सकेंगे।

स्वावलम्बन के लक्ष्य की पूर्ति हेतु कोई कडी भौगोलिक सीमाएँ नही खीच दी जायेगी। स्वावलम्बी इकाइयाँ ऐसी अनेक वस्तुओ के बारे मे एक-दूसरे की पूर्ति कर दिया करेंगी जो जीवन की प्राथमिक आवश्यकताएँ न हो। प्राथमिक आवश्यकताओ की पूर्ति हेतु अन्य प्रदेशो पर निर्भर रहने से परावलम्बी प्रदेशो की जनता के स्वाभिमान को भी हानि पहुँचती है और आवश्यकता पूर्ति करने वाले प्रदेश उसके साथ भेद-भाव का वर्ताव एव शोषण करने लगते है।

(4) यह भी निश्चित करना होगा कि उत्पादन के साधन और क्रियाएँ ऐसी न हो जो प्रकृति का शोषण निर्मम बनकर कर डालें। उत्पादन की विभिन्न क्रियाओ, साधनो एव पद्धतियो का उपयोग करते समय केवल तत्कालीन हित एव लाभ को ही दृष्टिगत करना उचित न होगा। प्राकृतिक सम्पत्तियो का शोषण करते समय आने वाली पीढियो की कठिनाइयो पर विचार करना उचित होगा। किसी ऐसी प्राकृतिक सम्पत्ति का, जिसकी पूर्ति होने की सम्भावना न हो, शोषण तभी किया जाना चाहिए, जब इसके द्वारा सम्पूर्ण मानव-समाज का सदैव के लिए हित-साधन सम्भव होता हो।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सर्वोदयी योजना, जो बेकारी को पूर्णरूपेण मिटाना चाहती है और उद्योगो का सगठन विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्तो के आधार पर करना चाहती है, धन-प्रधान नही, श्रम-प्रधान होगी। वह प्रत्यक्ष इकाई, ग्राम-परिवार तथा औद्योगिक-परिवार के रूप मे सर्वोदय नगरो की व्यवस्था होगी। सर्वोदयी समाज के विचार के जन्मदाता महात्मा गांधी ने 28 जुलाई, 1946 को 'हरिजन' मे इस समाज की रूपरेखा इस प्रकार स्पष्ट की :

"यह समाज अनगिनत गाँवो का बना होगा। उसका ढाँचा एक के ऊपर एक के ढग का नही बल्कि लहरो की तरह एक के बाद एक घेरे की (वर्तुल की) शक्ल मे होगा। जीवन मीनार की शक्ल मे नहीं होगा, जहां ऊपर की सकुचित चोटी नीचे के चौडे पाये पर भार डाल कर खडी रहे, वहाँ तो जीवन समुद्र की लहरो की तरह एक के बाद एक घेरे की शक्ल मे होगा, जिसका केन्द्र व्यक्ति होगा। व्यक्ति गाँव के लिए और गाँव समूह के लिए मर-मिटने को हमेशा तैयार रहेगा। इस तरह अन्त मे सारा समाज ऐसे व्यक्तियो का बन जायेगा जो अहकार पाकर भी कभी किसी पर हावी नही होगे, बल्कि सदा विनीत रहेंगे और उस समुद्र के गौरव के हिस्सेदार बनेंगे जिसके वे अविभाज्य अग है।"

'इसलिए सब के बाहर का घेरा अपनी शक्ति का उपयोग भीतर वालो को कुचलने मे नही करेगा, बल्कि भीतर वाला सब को ताकत पहुँचायेगा और स्वय उनसे बल ग्रहण करेगा। युक्लिड की परिभाषा का बिन्दु भले ही मनुष्य को खीच न सके तो भी उसका शाश्वत मूल्य तो है ही। इसी तरह मेरे इस चित्र का भी मानव-जाति के जीवित रहने के लिए अपना मूल्य है। इस तस्वीर के आदर्श तक पूरी तरह पहुँचना सम्भव नही है, फिर भी भारत की जिन्दगी का वैसा मकसद होना चाहिए। हमें क्या चाहिए, इसका सही चित्र तो हमारे पास होना ही चाहिए तभी तो हम उसके करीब पहुँचेंगे। यदि भारत के प्रत्येक गाँव मे एक-एक गणतन्त्र स्थापित हुआ तो मेरा दावा है कि मैं इस चरित्र की सचाई सिद्ध कर सकूँगा, जिसमे सबसे आखिरी और सबसे पहला दोनो बराबर होंगे या दूसरे शब्दो मे कहे तो न कोई पहला होगा, न आखिरी।"

10

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था एवं आर्थिक नियोजन तथा भारत मे मिश्रित अर्थ-व्यवस्था

[MIXED ECONOMY AND ECONOMIC PLANNING AND MIXED ECONOMY IN INDIA]

नियोजन के अन्तर्गत नियन्त्रण एवं संगठन की समस्या अधिकार की समस्या मे अधिक महत्त्वपूर्ण होती है। नियोजित अर्थ-व्यवस्था का सफलतापूर्वक संचालन निजी एवं सरकारी दोनों ही क्षेत्रों के अन्तर्गत किया जा सकता है। पूँजीवादी नियोजन में निजी क्षेत्र को अर्थ-व्यवस्था के लगभग समस्त क्षेत्रों में कार्य करने दिया जाता है परन्तु इस निजी क्षेत्र पर सरकार का नियन्त्रण होता है। दूसरी ओर साम्यवादी नियोजन के अन्तर्गत नियोजन का संचालन सरकारी क्षेत्र द्वारा किया जाता है। मिश्रित अर्थ-व्यवस्था में सरकारी क्षेत्र एवं नियन्त्रित निजी क्षेत्रों के द्वारा नियोजन का संचालन किया जाता है। अर्द्ध विकसित राष्ट्रों में नियोजन का संचालन करने से पूर्व क्षेत्र का चयन करना भी एक समस्या होती है। नियोजन के वृहद् विकास-कार्यक्रमों के लिए अधिक विनियोजन की आवश्यकता होती है और इनमें अधिक जोखिम निहित होती है। निजी साहसी नवीन जोखिमपूर्ण कार्यों में अपनी पूँजी लगाना अधिक पसन्द नहीं करता है। नियोजन के कार्यक्रमों को सफल बनाने हेतु एक या अधिक उत्पादक परियोजनाओं को संचालित करने की समस्या ही नहीं होती वरन् समस्त जनसमुदाय को नवीन वातावरण के लिए तैयार करना होता है। इन क्षेत्रों के विभिन्न प्रयासों में समन्वय स्थापित करने का कार्य विपणि-तान्त्रिकताओं द्वारा नहीं किया जा सकता और सरकारी क्षेत्र का विस्तार आवश्यक होता है। दूसरी ओर सरकार का निजी क्षेत्र पर प्रभावशाली नियन्त्रण रखना सम्भव नहीं होता। निजी क्षेत्र सदैव नियन्त्रणों का विरोध करता है और इस नियन्त्रण की प्रभावशीलता को विफल करने के लिए प्रयत्नशील रहता है परन्तु निजी क्षेत्र को अर्थ-व्यवस्था में बनाए रखने की आवश्यकता प्रजातान्त्रिक कलेवर के अन्तर्गत पड़ती है। साहस की स्वतन्त्रता प्रजातान्त्रिक ढाँचे का एक अंग होती है। ऐसी परिस्थिति मे योजना-अधिकारी को निजी एवं सरकारी क्षेत्र के कार्यक्षेत्र को निर्धारित करने की समस्या का निवारण करना होता है, यद्यपि नियोजन के लिए सरकारी क्षेत्र का होना आवश्यक नहीं होता परन्तु नियोजित अर्थ-व्यवस्था के केन्द्रीय नियन्त्रण में सरकारी क्षेत्र की उपस्थिति एवं विस्तार स्वाभाविक हो जाता है। अर्द्ध विकसित राष्ट्रों की नियोजित अर्थ-व्यवस्था में प्राय शक्ति का आयोजन, यातायात, कृषि-उत्पादन में सुधार हेतु सिंचाई-योजनाएँ, खाद के कारखाने, साख-संस्थाओं, मार्केटिंग-परिषदों, भारी एवं आधारभूत उद्योगों आदि का संचालन सरकारी क्षेत्र द्वारा किया जाता है। हेन्सन ने आर्थिक नियोजन एवं सरकारी क्षेत्र से सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए कहा है—"सरकारी क्षेत्र योजना की अनुपस्थिति में कुछ सफलता प्राप्त कर सकता है परन्तु किसी योजना का सरकारी क्षेत्र की अनुपस्थिति में एक कागजी योजना रहना सम्भव है।"[1]

1 'Public Sector without a plan can achieve something a plan without public enterprise is likely to remain on paper "—Hanson *Public Enterprise and Economic Development*

ऐतिहासिक अवलोकन

प्राचीन काल मे सामान्यतया इस विचार को मान्यता प्राप्त थी कि राज्य को देश की आर्थिक क्रियाओ मे हस्तक्षेप नही करना चाहिए और व्यक्तियो एव आर्थिक सस्थाओ को पूर्ण आर्थिक स्वतन्त्रता होनी चाहिए। इस काल मे लगभग सभी राष्ट्रो मे व्यक्तिगत स्वतन्त्रताओ को समाज का एक मुख्य अग माना जाता था। इसके साथ इस विचार को भी विशेष मान्यता थी कि राज्य आर्थिक क्रियाओ का सचालन सुचारु रूप से तथा मितव्ययता के साथ नही कर सकता है। राज्य एव व्यापारी दोनो के स्वभाव मे अत्यधिक असमानता होती है। निजी साहसी कुशलता एव मितव्ययता से अपने व्यवसायो को चलाता है। उसमे उद्योगो की उन्नति के लिए पहल करने की आकाक्षा तथा उत्साह होता है। वह अपनी पूँजी लगा कर व्यवसाय चलाता है और व्यवसाय के लाभ अथवा हानि के लिए स्वय जिम्मेदार होता है, जिस कारण वह अपव्यय कदापि नही करता है। इसके विपरीत राज्य जटिल नियमो मे बँधा होता है। उसमे व्यक्तिगत उत्साह एव रुचि का अभाव होता है। वह जनता का धन लगाकर व्यवसाय चलाता है। राज्य द्वारा चलाये गये व्यवसायो मे जिम्मेदारी का विकेन्द्रीकरण हो जाता है। इन कारणो से राज्य द्वारा सचालित व्यवसायो मे अपव्यय होता है। प्राचीन अर्थशास्त्रियो के ये विचार इतनी दृढता पूर्वक प्रारम्भ मे स्वीकार किये गये कि उत्पादक एव उपभोक्ता की स्वतन्त्रता आर्थिक क्रियाओ मे प्रत्येक क्षेत्र पर आच्छादित हो गयी और स्वतन्त्र व्यापार (*Laissez Faire*) को आर्थिक सम्पन्नता का मुख्य अग माना जाने लगा। स्वतन्त्र साहस एव व्यापार की व्यवस्था के कट्टर पक्षपातियो ने एडम स्मिथ, जे बी से, डेविड रिकार्डो, मिल आदि अर्थशास्त्री थे।

20वी शताब्दी के प्रारम्भ से स्वतन्त्र व्यापार एव अर्थ-व्यवस्था के दोष अर्थशास्त्रियो को ज्ञात होने लगे। स्वतन्त्र व्यापार के फलस्वरूप गलाकाट प्रतिस्पर्द्धा, पारस्परिक शोषण, व्यापार-चक्र, आर्थिक उतार चढाव, आर्थिक सकट आदि का प्रादुर्भाव हुआ। इन दोषो ने लोगो का स्वतन्त्र व्यापार की उपयुक्तता पर से विश्वास उठा दिया। प्रथम महायुद्ध के समय स्वतन्त्र व्यापार का काफी पतन हो गया था। इसी समय कीन्स (Keynes) की पुस्तक *'End of Laissez Faire'* (1926) प्रकाशित हुई जिसमे स्वतन्त्र व्यापार के दोषो का उल्लेख किया गया। उसी समय मन्दी एव आर्थिक सकट उत्पन्न हुए जिनसे कीन्स के विचारो को और पुष्टि प्राप्त हुई। इस प्रकार स्वतन्त्र व्यापार की नीति का पतन होता चला गया और यह विश्वास किया जाने लगा कि राज्य आर्थिक क्रियाओ मे हस्तक्षेप करके स्वतन्त्र व्यापार एव साहस से उत्पन्न कठिनाइयो को रोक सकता है। इस विचारधारा को पुष्टि मिलने लगी कि स्वतन्त्र व्यापार के दोषो का निवारण समाजवाद द्वारा किया जा सकता है। इसी समय पीगु (Pigou) ने अपनी पुस्तक 'समाजवाद बनाम पूँजीवाद' (Socialism *Versus* Capitalism) मे बताया कि उत्पादन को समाजीकृत करके आर्थिक शान्ति स्थापित की जा सकती है। उन्होंने विचार प्रकट किया कि केन्द्रीय नियोजन प्रणाली पूँजीवादी व्यवस्था की तुलना मे कही अच्छी है। प्रो कीन्स ने पूर्ण समाजीकरण का विरोध किया। उनका विचार था कि राज्य स्वय साहसी के रूप मे कुशलता से कार्य नही कर सकता है। उनके विचार मे देश की सर्वोत्तम अर्थ-व्यवस्था वह होगी जिसमे स्वतन्त्र साहस राज्य के निगमन मे सचालित किया जाता हो।

सन् 1928 के पश्चात रूस मे केन्द्रीय नियोजित अर्थ व्यवस्था के फलस्वरूप आश्चर्यजनक विकास हुआ जिसने पूँजीवाद की नीवो को हिला दिया और पूँजीवाद पर से लोगो का विश्वास हटने लगा। बहुत से राष्ट्रो ने पूँजीवादी व्यवस्था को त्याग दिया और समाजवाद का अनुसरण करने लगे। कुछ अन्य राष्ट्रो ने पूँजीवाद के स्वरूप मे परिवर्तन कर दिये और पूँजीवाद मे भी राजकीय नियन्त्रण को स्थान दिया जाने लगा। चीन की समाजवादी व्यवस्था ने पूँजीवाद के प्राचीन स्वरूप को और भी ठेस पहुँचायी। चीन की योजनाओ की सफलता से अब यह विश्वास दृढ होता जा रहा है कि शीघ्र आर्थिक विकास के लिए नियोजित अर्थ-व्यवस्था अनिवार्य है।

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था का महत्व

पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत आर्थिक नियोजन का सचालन किया जाना सम्भव न होने के कारण पिछले 10 से 20 वर्षों से राष्ट्रों ने मिश्रित अर्थ-व्यवस्था को अपना लिया है। वास्तव मे मिश्रित अर्थ-व्यवस्था भारत के लिए कोई नवीन व्यवस्था नही है। स्वतन्त्र व्यापार एव स्वतन्त्र साहस के पतन के पश्चात लगभग समस्त पूँजीवादी राष्ट्रो मे राज्य आर्थिक क्रियाओ मे हस्तक्षेप करने लगा है जिसके कारण मिश्रित अर्थ-व्यवस्था का प्रादुर्भाव हुआ है। लगभग सभी राष्ट्रो मे रेले, डाक व तार तथा सचार आदि व्यवसायो तथा जनोपयोगी सेवाओ को राजकीय क्षेत्र द्वारा सचालित किया जाता है। जब किसी राष्ट्र मे राजकीय क्षेत्र का अधिक विस्तार हो जाता है तो अर्थ-व्यवस्था की प्रवृत्ति को समाजवादी कहा जाता है। दूसरी ओर, जब किसी राष्ट्र मे राजकीय क्षेत्र की तुलना मे निजी क्षेत्र का महत्व अर्थ-व्यवस्था मे अधिक होता है तो ऐसी अर्थ-व्यवस्था की प्रवृत्तियो को पूँजीवादी कहा जाता है। वास्तव मे प्रत्येक राष्ट्र मे जब पूँजीवाद से समाजवाद की ओर कदम बढाये जाते हैं तो समाजवादी अर्थ-व्यवस्था की स्थापना के पूर्व मिश्रित अर्थ-व्यवस्था का प्रादुर्भाव होना स्वाभाविक होता है क्योंकि समाजवाद की स्थापना करने के लिए कुछ समय की आवश्यकता होती है।

ग्रेट ब्रिटेन मे मिश्रित अर्थ-व्यवस्था—मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत नियोजन का सचालन सर्वप्रथम ग्रेट ब्रिटेन मे किया गया था। ब्रिटेन की श्रमिक सरकार ने कुछ उद्योगो एव जनोपयोगी सेवाओ का राष्ट्रीयकरण करके सामूहिक नियन्त्रण एव नियोजित अर्थ-व्यवस्था की स्थापना की। बैंक ऑफ इगलैंड, केबिल एव वायरलैस, हवाई यातायात, कोयले की खाने, अन्तर्देशीय यातायात, बिजली तथा गैस आदि का राष्ट्रीयकरण किया गया। इन सब व्यवसायो को सरकारी क्षेत्र मे ले लिया गया और शेष उद्योगो एव व्यवसायो को निजी क्षेत्र के लिए छोड दिया गया, परन्तु इन पर राज्य ने कुछ नियन्त्रण एव प्रतिबन्ध रखे। कच्चे माल को विभिन्न उद्योगो के लिए आवटित करने पर सरकार का नियन्त्रण था। औद्योगिक वस्तुओ, जैसे मशीने एव मशीनो के औजारो का वितरण लाइसेन्स द्वारा किया जाता था। आवश्यक उद्योगो के लिए जनशक्ति के वितरण पर भी राज्य का नियन्त्रण था। कुछ वस्तुओ के उत्पादन पर रोक लगायी गयी तथा कुछ वस्तुओ के उत्पादन की मात्रा निर्धारित कर दी गयी। इसके अतिरिक्त बजट, ट्रेजरी तथा राष्ट्रीय केन्द्रीय बैंक द्वारा बहुत से वित्तीय नियन्त्रण भी लगाये गये। सन् 1945 मे उद्योगो के वितरण का विधान (*The Distribution of Industries Act, 1945*) पारित किया गया जिसके द्वारा राज्य को नवीन उद्योगो के स्थानीयकरण पर नियन्त्रण प्राप्त हो गया था।

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था की विशेषताएँ

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत विकास-कार्यक्रमो को विभिन्न क्षेत्रो मे विभक्त करना आवश्यक है क्योंकि इस अर्थ व्यवस्था मे सभी क्षेत्रो को विकसित होने के अवसर प्रदान किये जाते है। प्राय मिश्रित अर्थ-व्यवस्था मे चार क्षेत्रो के अन्तर्गत विकास कार्यक्रमो को सचालित किया जाता है—सरकारी क्षेत्र, निजी क्षेत्र, सरकार एव निजी क्षेत्र का सम्मिश्रण, तथा सहकारी क्षेत्र। इसमे किस क्षेत्र को सर्वाधिक महत्व दिया जाय, यह विकास-कार्यक्रमो के अन्तिम उद्देश्यो पर निर्भर रहता है। यदि नियोजित अर्थ-व्यवस्था का अन्तिम लक्ष्य देश मे समाजवादी अर्थ-व्यवस्था की स्थापना करना होता है तो सरकारी क्षेत्र को सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है और अन्य क्षेत्रो का अर्थ व्यवस्था मे केवल अस्थायी महत्व रहता है। दूसरी ओर, प्रजातान्त्रिक समाजवाद की स्थापना हेतु सरकारी क्षेत्र के विस्तार एव विकास के साथ निजी क्षेत्र को सहकारी क्षेत्र मे परिवर्तित करने के प्रयत्न जारी रहते है। कुछ राष्ट्रो मे विकास को प्रारम्भ करने के लिए सरकारी व्यवसायो की स्थापना की जाती है, जो कुछ समय के सफल सचालन के पश्चात निजी क्षेत्र को हस्तान्तरित कर दिये जाते है। ऐसी मिश्रित अर्थ-व्यवस्था मे निजी क्षेत्र को सर्वाधिक महत्व प्राप्त होता है और सरकारी क्षेत्र को केवल अस्थायी स्थान प्राप्त होता है। मिश्रित

अर्थ-व्यवस्थाओं के अन्तर्गत सम्मिलित होने वाले क्षेत्र को विकास-कार्यक्रमों के संचालन हेतु निम्नलिखित कारणों से महत्व दिया जाता है :

1. सरकारी क्षेत्र का महत्व—नियोजित अर्थ-व्यवस्था में निम्नलिखित कारणों के फलस्वरूप सरकारी क्षेत्र के व्यवसायों का विस्तार होता है :

(1) यदि नियोजन-अधिकारी समाजवाद का प्रतिपादन करता हो अथवा यह कहना अधिक उचित होगा कि राज्य जब समाजवाद का अनुसरण करता हो तो व्यवसायों के राष्ट्रीयकरण को अधिक महत्व दिया जाता है। जनसाधारण भी समाजवादी सिद्धान्तों के अनुकूल अधिक से अधिक व्यवसायों के राष्ट्रीयकरण की माँग करता है। समाजवादी उद्देश्यों, आर्थिक एवं सामाजिक समानता की पूर्ति हेतु सरकारी क्षेत्रों का विस्तार आवश्यक होता है।

(2) ऐसे उद्योगों को सरकारी अधिकार में लिया जा सकता है जिनके विकास हेतु निजी व्यवसायी पूँजी-विनियोजन करने को तैयार न हों।

(3) ऐसे व्यवसायों को, जिनमें केन्द्रीय नियन्त्रण आवश्यक एवं अधिक कार्यशील समझा जाता हो, सरकारी क्षेत्र द्वारा संचालित किया जाता है।

(4) राजनीतिक अथवा राष्ट्रीय कारणों से किन्हीं उद्योगों को निजी क्षेत्र के हाथ में छोड़ना उचित न समझा जाय तो इन उद्योगों को सरकारी क्षेत्र में चलाया जाता है, उदाहरणार्थ—रक्षा-सम्बन्धी उद्योग।

(5) कुछ कारखानों का राष्ट्रीयकरण इसलिए भी किया जा सकता है कि उन उद्योगों में श्रमिक निजी पूँजीपति के अधीन रहकर कार्य नहीं करना चाहते। सन् 1917 के पश्चात् रूस में बहुत से कारखानों का राष्ट्रीयकरण इसी आधार पर किया गया।

(6) निजी एकाधिकार सरकारी एकाधिकार की तुलना में अच्छा नहीं समझा जाता है, इसलिए ऐसे व्यवसायों को जिनमें एकाधिकार प्राप्त करना आवश्यक होता है, सरकारी क्षेत्रों में ले लिया जाता है। इस प्रकार के व्यवसाय अधिकतर जनोपयोगी सेवाओं में सम्मिलित होते हैं, जैसे—बिजली-सप्लाई एवं जल-सप्लाई कम्पनियाँ आदि।

(7) अच्छे प्रशासन के लिए भी सरकारी क्षेत्र की स्थापना एवं विस्तार की आवश्यकता होती है। सरकारी क्षेत्र के व्यवसायों से कर-वसूली, मूल्य-नियमन, उपभोक्ता-वस्तुओं के वितरण आदि में सुविधा होती है। सरकारी उत्पादन एवं वितरण-सम्बन्धी नीतियों को अधिक प्रभावशील बनाने के लिए भी सरकारी क्षेत्र के विस्तार की आवश्यकता होती है।

2. निजी क्षेत्र का महत्व—निजी क्षेत्र निम्नलिखित कारणों से महत्वपूर्ण है :

(1) प्रजातान्त्रिक राष्ट्रों में प्रत्येक नागरिक को सम्पत्ति एवं उत्पादन के साधनों को क्रय करने, उनके सम्बन्ध में अनुबन्ध करने तथा उन्हें बेचने का अधिकार प्राप्त होता है, अर्थात् निजी सम्पत्ति को मान्यता दी जाती है और राज्य एवं नागरिकों का वैधानिक दृष्टिकोण से पृथक्-पृथक् अस्तित्व समझा जाता है। ऐसी परिस्थिति में वह व्यवसाय, जो पहले से ही निजी क्षेत्र में संचालित है, सरकार के अधिकार में लेने हेतु उचित क्षतिपूर्ति प्रदान करना अनिवार्य होता है। यदि नियोजित अर्थ-व्यवस्था के संचालन हेतु समस्त आर्थिक साधनों को सरकारी क्षेत्र के अधिकार में लिया जाय तो राज्य के उपलब्ध साधनों का बहुत बड़ा भाग दीर्घकाल तक क्षतिपूर्ति के रूप में प्रदान करना होगा और प्रगति के साधनों में वृद्धि करना सम्भव नहीं हो सकेगा। दूसरी ओर, जब निजी सम्पत्तिधारियों को क्षतिपूर्ति प्रदान की जाती है तो उनके पास उत्पादन के अन्य साधनों को क्रय करने के लिए अर्थ पहुँच जाता है जिसके फलस्वरूप निजी क्षेत्र का अस्तित्व फिर भी बना रहता है। इस प्रकार अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों में निजी क्षेत्र के व्यवसायों को संचालित रहने दिया जाता है और राज्य सरकार इन क्षेत्रों में ऐसे नवीन व्यवसायों में विनियोजन करता है जिनकी देश को अधिक आवश्यकता होती है। इस प्रकार उत्पादन की शीघ्र वृद्धि एवं आर्थिक प्रगति की तीव्र गति के लिए निजी क्षेत्र को बनाये रखना आवश्यक होता है।

(2) देश के आर्थिक विकास हेतु अधिक बचत, विनियोजन एवं पूँजी-निर्माण की आवश्यकता होती है। जनसाधारण बचत एवं विनियोजन उसी हालत में करने को तैयार होता है जब उसके द्वारा उसे उचित प्रतिफल प्राप्त होने की सम्भावना हो। निजी क्षेत्र का स्वामित्व जनसाधारण में सरकार के प्रति विश्वास की भावना जाग्रत करता है और निजी अर्थ साधन विकास के लिए उपलब्ध होते रहते हैं और अर्थ साधनों की प्राप्ति हेतु कठोर क्रियाओं की आवश्यकता नहीं होती है।

(3) विदेशों से पूँजी एवं आर्थिक सहायता प्राप्त करने हेतु भी निजी क्षेत्र को अर्थ-व्यवस्था में उचित स्थान प्रदान किया जाना है। विदेशी पूँजीपति एवं उद्योगपति उन अर्द्ध विकसित राष्ट्रों में विनियोजन करने के लिए आकर्षित होते हैं जिनमें व्यवसायों के राष्ट्रीयकरण का भय न हो जिनमें निजी व्यवसायों के सचालनार्थ उचित सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं तथा जिनमें सरकारी क्षेत्र निजी क्षेत्र के साथ कठोर प्रतिस्पर्द्धा नहीं करता है। दूसरी ओर, अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ भी आर्थिक सहायता देते समय इस बात पर ध्यान देती है कि सहायता द्वारा स्थापित व्यवसायों का लाभ केवल उसी देश के निवासियों को ही न मिले बल्कि संसार के अन्य राष्ट्र भी उससे लाभ उठा सकें और इसके लिए निजी क्षेत्र के व्यवसायों के सचालन की स्वतन्त्रता आवश्यक होती है। ऐसी परिस्थिति में विदेशी पूँजी एवं सहायता प्राप्त करने हेतु निजी क्षेत्र का अर्थ व्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान होता है।

(4) कुछ विशेष प्रकार के व्यवसायों के कुशल सचालन के लिए व्यक्तिगत प्रारम्भिकता तथा साहस अनिवार्य होता है। इस प्रकार के व्यवसायों का सर्वोत्तम उदाहरण कृषि व्यवसाय है। इस प्रकार के व्यवसायों के कुशल सचालन हेतु निजी क्षेत्र को मान्यता दी जाती है।

(5) कुछ लोगों का विचार है कि निजी क्षेत्र में शोषण के महत्व का प्रभुत्व होता है और देश में सामाजिक एवं आर्थिक समानता की स्थापना में यह घातक एवं अवरोधक होता है। निजी क्षेत्र के सम्बन्ध में यह दोषारोपण उसी परिस्थिति में सत्य होता है जब उसे खुली छूट दे दी जाती है और राज्य द्वारा उस पर उचित नियन्त्रण एवं नियमन नहीं किया जाता है। नियोजित अर्थ व्यवस्था के अन्तर्गत राज्य उचित नियमन एवं नियन्त्रण द्वारा निजी क्षेत्र को देश की समाज कल्याण की नीतियों के अनुकूल चलने के लिए विवश कर सकता है। इस प्रकार निजी क्षेत्र के शोषण तत्व का विनाश करके उसको आर्थिक प्रगति पर एक महत्वपूर्ण क्षेत्र बनाया जा सकता है।

3. मिश्रित क्षेत्र (Mixed Sector)—इस क्षेत्र के दो प्रारूप है

(अ) कुछ निर्धारित व्यवसायों की स्थापना करने का अधिकार जब सरकारी एवं निजी दोनों ही क्षेत्रों को होता है तो इन व्यवसायों के क्षेत्र को मिश्रित क्षेत्र कहते हैं।

(आ) ऐसी व्यावसायिक एवं औद्योगिक संस्थाएँ जिसमें सहकारी एवं निजी क्षेत्र दोनों ही पूँजी विनियोजन करते हैं और दोनों अपने प्रतिनिधियों द्वारा सम्मिलित रूप से प्रबन्ध करते हैं तो ऐसी इकाइयों को मिश्रित क्षेत्र के अन्तर्गत समझा जाता है। इस प्रकार के व्यवसायों के लिए सीमित दायित्व वाली कम्पनियों की स्थापना की जाती है जिनकी पूँजी सरकारी एवं निजी दोनों ही क्षेत्र जुटाते हैं। इनमें प्राय सरकार द्वारा 50% से अधिक पूँजी लगायी जाती है जिससे सरकार इन पर उचित नियन्त्रण कर सके।

मिश्रित क्षेत्र का अर्थ व्यवस्था में निम्न कारणों से महत्व होता है

(1) मिश्रित क्षेत्र में सचालित व्यवसायों को सरकारी सरक्षण, निजी विनियोजन तथा कुशल प्रबन्ध का लाभ प्राप्त होता है। एक ओर यह क्षेत्र सरकारी बुर्जुआपन या लालफीताशाही से मुक्त रहता है और दूसरी ओर इसके द्वारा शोषण का भय भी नहीं रहता है।

(2) मिश्रित क्षेत्र में व्यवसायों को विदेशी पूँजी एवं सहायता सुलभता से प्राप्त हो जाती है क्योंकि सरकार का सरक्षण इन्हें मिलते रहने की सम्भावना होती है और कभी-कभी सरकार विनियोजकों को पूँजी की वापसी एवं उचित ब्याज की दर की प्रतिभूति भी प्रदान करती है।

(3) जब मिश्रित क्षेत्र में निजी साहसियों एवं राज्य दोनों के ही द्वारा इकाइयों की

स्थापना की जाती है तो यह क्षेत्र ऐसे व्यवसायो के अधिक उपयुक्त होता है जिनमे पूर्ति की तुलना मे मांग अधिक हो क्योकि इसकी विपरीत परिस्थिति मे सरकारी एव निजी इकाइयों मे विनाशकारी प्रतिस्पर्द्धा उत्पन्न हो सकती है। इस क्षेत्र के व्यवसायो का मुख्य उद्देश्य पूरक का कार्य करना होता है, अर्थात जब किसी विशेष व्यवसाय एव उद्योग मे निजी क्षेत्र पर्याप्त उत्पादन नही कर रहा हो तो सरकारी क्षेत्र कमी की पूर्ति करने हेतु अपनी इकाइयाँ खोल देता है। इसके विपरीत परिस्थिति होने से निजी क्षेत्र नवीन इकाइयो की स्थापना कर सकता है। इस प्रकार निजी क्षेत्र सरकारी क्षेत्र का और सरकारी क्षेत्र निजी क्षेत्र का पूरक-कार्य करते है।

(4) मिश्रित क्षेत्र के कुशल सचालन हेतु सरकारी एव निजी क्षेत्र मे पर्याप्त समन्वय एव सहयोग अत्यावश्यक होता है। यह घटक मिश्रित अर्थ व्यवस्था की सफलता की कसौटी होता है। इसकी अनुपस्थिति मे अर्थ-व्यवस्था मे असन्तुलन स्थापित हो जाता है और विकास की गति मन्द हो जाती है।

4. सहकारी क्षेत्र (Cooperative Sector)—आर्थिक विकास को सचालित करने वाले क्षेत्रो मे सहकारी क्षेत्र ही एक ऐसा क्षेत्र है जो सरकारी एव निजी क्षेत्र मे सन्तुलन स्थापित करता है और जो लगभग सभी प्रकार की अर्थ-व्यवस्थाओं मे उपयोगी सिद्ध होता है। मिश्रित अर्थ व्यवस्था मे सहकारी क्षेत्र को अत्यधिक महत्व प्रदान किया जाता है। इसके निम्नलिखित कारण है

(1) इस क्षेत्र मे सहकारी एव निजी दोनो ही क्षेत्रों का सम्मिलन हो जाता है। सहकारी सस्थाओ द्वारा आर्थिक क्रियाओ का सचालन करने से एक ओर जन-सहयोग एवं साधन उपलब्ध होते है तो दूसरी ओर सहकारी निर्देशन मे आर्थिक क्रियाओ का सचालन इस प्रकार किया जाता है कि आर्थिक समानता के लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है। सहकारी सस्थाओ मे पूंजी के स्थान पर व्यक्ति को अधिक महत्व दिया जाता है और इसी कारण इनके निर्णयों के लिए सदस्यों को पूंजी के अनुपात से मत देने का अधिकार नही दिया जाता है। प्रत्येक सदस्य का एक ही मत देने का अधिकार होता है, चाहे उसने कितनी ही पूंजी सहकारी सस्था मे क्यों न जुटायी हो। इस प्रकार इन सस्थाओं मे लाभाश का वितरण भी पूंजी के अनुपात मे नही किया जाता है। सदस्यों को लाभाश उनके द्वारा सस्था की सेवाओ के उपयोग के अनुपात मे वितरित किया जाता है। इस प्रकार ये सस्थाएँ आय के पुनर्वितरण मे सहायक होती है।

(2) नियोजित अर्थ-व्यवस्था मे नियन्त्रण को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया जाता है। नियन्त्रण का उद्देश्य समस्त आर्थिक क्रियाओ को इस प्रकार सचालित करना होता है कि एक क्रिया दूसरी क्रिया से समन्वित रहे और वाछित उद्देश्यो की पूर्ति हो सके। राज्य सगठित एव बडी आर्थिक सस्थाओ पर सुलभता से नियन्त्रण कर सकता है परन्तु बिखरी हुई छोटी छोटी इकाइयों को राष्ट्रीय नीतियो के अनुरूप सचालित करने मे अत्यधिक कठिनाई होती है। राज्य को इन बिखरी हुई इकाइयो तक पहुँचना ही कठिन होता है। इस कठिनाई को सहकारिता द्वारा दूर किया जा सकता है। अर्द्ध-विकसित राष्ट्रो के विभिन्न आर्थिक क्षेत्रो मे लघु इकाइयो की बाहुल्यता होती है। यह लघु इकाइयाँ ग्रामीण क्षेत्रो की अर्थ-व्यवस्था मे महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। ग्रामीण क्षेत्रो के नियोजित विकास हेतु इन बिखरी हुई लघु इकाइयो को सगठित करने के लिए सहकारिता सबसे अधिक प्रभावशाली व्यवस्था समझी जाती है क्योकि इसके द्वारा आर्थिक सत्ताओं का केन्द्रीकरण नही होता है तथा यह व्यवस्था सहकारी एव निजी क्षेत्र मे सुलभता के साथ समन्वय प्राप्त कर सकती है।

(3) निजी क्षेत्र के शोषण-तत्व (Exploitative Element) को समाप्त करने के लिए राज्य विभिन्न वित्तीय एव मौद्रिक नियन्त्रणो का उपयोग करता है, परन्तु यह नियन्त्रण प्रशासनिक कुशलता की कमी एव नैतिक चरित्र के निम्न स्तर के फलस्वरूप पूरी तरह सफल नही हो पाता है और अन्तत. निजी क्षेत्र आर्थिक विषमता को सुदृढ बनाता है। इस दोष को दूर करने हेतु निजी क्षेत्र मे सस्थानीय परिवर्तन करना आवश्यक होता है। सहकारिता मे निजी क्षेत्र के वाछनीय गुण—व्यक्तिगत प्रारम्भिकता, साहस एव अधिकार—भी बने रहते है।

महकारिता क उपयक्त गुणो के कारण ही मिश्रित अथ व्यवस्था क अ तगत नव नियोजन का सचालन किया जाता है ता निजी क्षत्र का धीरे धीरे सहकारी क्षत्र म परिवर्तित करन के प्रयत्न किय जाते ह ।

मिश्रित अथ व्यवस्था के अन्तगत आर्थिक नियोजन

प्रजाता त्रिक व्यवस्था म व्यवसायो के सगठन एव प्रब ध म विके द्रीकरण का आयोजन करना आवश्यक हाता है। कभी कभी राज्य के हाथो म स्वामित्व (Ownership) का के द्रीकरण हाने म राजनीतिक सत्ताओ का भी के द्रीकरण हो जाता है और नियाजन की समस्त व्यवस्था पर राजनीतिज्ञो का पूण निय त्रण हो जाता है। उत्पादन क साधनो पर अधिकारियों का कठोर के द्रीकरण हाने पर एक लगभग सामन्ती (Feudal) समाज का निर्माण होता है जिसके अ तगत एक अधिकारपूर्ण पूजीवाद को शक्तिशाली बनाया जाता है जिसमे कुछ ही राजनीतिज्ञ देश के समस्त साधनो का शोषण अपने निजी हितो के लिए करने लगते है। एम पूणत के द्रित अधिकार वाले समाज मे सगठित रूप म शोषण होन लगता है। इस शोषण को प्रापेगण्डा करन की सत्ता तथा जनसाधारण की अज्ञानता स सुरक्षा प्राप्त होती रहती है। इन कारणो क फलस्वरूप अब यह विचार किया जान लगा है कि नियोजित अथ व्यवस्था को अधिक उपयोगी एव सफल बनाने के लिए न केवल निजी साहस और सरकारी साहस उपयुक्त है अपितु दोनो का ही अथ व्यवस्था म स्थान दिया जाना उचित है।

आर्थिक नियाजन क द्वारा देश की सामाजिक एव आर्थिक सरचना म परिवतन करके अथ व्यवस्था म आर्थिक प्रगति को गतिमान किया जाता है। आधुनिक युग म आर्थिक नियोजन का लक्ष्य केवल आर्थिक प्रगति ही नहा हाना बल्कि सामाजिक याय भी हाना है जिसके अ तगत समाज के प्रत्यक सदस्य क जीवन स्तर म सुधार किया जाता है और सभी नागरिको का सामाजिक एव आर्थिक क्षत्र म समान अधिकार प्रदान किय जाते है। इस उद्देश्य की पूर्ति हतु आर्थिक नियाजन की यान्त्रिकता द्विमार्गीय हो जाती है—के न्द्रित एव विके द्रित। के द्रीय नियोजन अधिकारी अथ व्यवस्था को एक इकाई मानकर मूलभूत नीतिया लक्ष्य एव कायक्रम निर्धारित करता है। इनका क्रिया वयन विकेन्द्रित सस्थाओ क द्वारा किया जाता है जो पचायत ग्राम नगरपालिका एव जिला स्तर पर स्थापित की जाती ह। एक बड राष्ट्र म य स्थानीय सस्थाएँ स्थानीय परिस्थितियो के आधार पर विकास कायक्रमो का क्रियान्वयन करती है तथा के द्रीय नियोजन अधिकारी को जन सहयाग का सम्बल प्रदान करती है। इस प्रकार नियोजन का केन्द्रित एव विकेन्द्रित स्वरूप विकास का गतिमान करने के साथ साथ प्रजातान्त्रिक मा यताओ को जीवित रखता है। नियोजन के इस स्वरूप का मिश्रित अथ व्यवस्था क अ तगत अधिक सफलता प्राप्त हो सकती है। पर तु मिश्रित अथ व्यवस्था के अ तगत सामाजिक याय का निजी क्षत्र एव सम्पन्न वग द्वारा दुरुपयोग किया जाता है और निजी क्षत्र आर्थिक अधिकारो द्वारा निधन वग का शोषण करने का प्रयास करता है और प्रशासनिक अधिकारी एव राजनीतिक नेता निजी क्षत्र के इन प्रयासो का अप्रत्यक्ष सहायता दते रहत ह जिसके परिणामस्वरूप सरकारी निय त्रण ढीले पड जाते ह और आर्थिक विकास की गति मन्द पड जाती है। इसके साथ साथ आर्थिक विकास का लाभ निधन वग को नहा मिल पाता है। एसी परिस्थिति म मिश्रित अथ व्यवस्था के स्वरूप को बदलन की आवश्यकता हाती है। वास्तव म मिश्रित अथ व्यवस्था इस प्रकार पूजावाद एव समाजवाद क बीच के काल की व्यवस्था बनकर रह जाती है। प्रजातन्त्र के अ तगत पूजीवादी का कठोरता से दबाकर समाजवाद म परिवर्तित करना सम्भव नहा हाता है। इसीलिए मिश्रित अथ व्यवस्था क मा यम म यह परिवतन धीरे धीरे लाया जाता है।

आर्थिक नियोजन हेतु मिश्रित अथ-व्यवस्था की उपयुक्तता

यद्यपि आधुनिक काल मे आर्थिक नियाजन का सचालन विभिन्न अथ व्यवस्थाओं के अ तगत किया जाता है तथापि मिश्रित अथ व्यवस्था का नियाजन के सफल सचालन हतु सर्वाधिक उपयुक्त

माना जाने लगा है। मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत राज्य विभिन्न आर्थिक क्रियाओ का आवटन विभिन्न क्षेत्रो मे उनके महत्व, प्रभाव-क्षेत्र, शोषण-तत्व, कल्याण-तत्व एव अर्थ-व्यवस्था मे उनकी स्थिति के आधार पर करता है जिससे साधनो का अधिकतम उपयोग मानव के कल्याण के लिए करना सम्भव होता है। वास्तव मे मिश्रित अर्थ-व्यवस्था इसी उदार अर्थ-व्यवस्था का एक रूप ग्रहण करती है जिसमे मानवीय मूल्यो, आर्थिक विकास एव समाज-कल्याण को समन्वित किया जाता है। मिश्रित अर्थ-व्यवस्था अपनी निम्नलिखित विशेषताओ के कारण नियोजन के लिए अधिक उपयुक्त मानी जाती है

(1) पूँजीवाद एव समाजवाद के गुणो के सम्मिश्रण के कारण मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत इन दोनो वादो के दोषो पर स्वाभाविक नियन्त्रण बना रहता है। जिन व्यवसायो के लिए व्यक्तिवादी प्रबन्ध आवश्यक होता है—जैसे कृषि, लघु उद्योग आदि—उन्हे नियन्त्रित निजी क्षेत्र मे चलाना सम्भव होता है।

(2) मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत कल्याणकारी राज्य की स्थापना केवल आर्थिक दृष्टिकोण से ही नही की जाती अपितु मानव की व्यक्तिगत स्वतन्त्रताओं एव अधिकारो को भी बनाये रखा जाता है।

(3) आर्थिक विषमताओं को दूर करने के लिए राजकोषीय एव मौद्रिक कार्यवाहियाँ की जाती है और राष्ट्रीयकरण की कार्यवाही का व्यापक उपयोग नही करना पडता है। इस प्रकार राष्ट्रीयकरण से उदय होने वाले असन्तोष एव असहयोग से बचा जा सकता है और योजनाओ का सचालन जनता के सक्रिय सहयोग के माध्यम से किया जा सकता है।

(4) मिश्रित अर्थ-व्यवस्था मे विभिन्न क्षेत्र एक-दूसरे के सहायक एव पूरक के रूप मे कार्य करते है। विभिन्न क्षेत्रो का कार्य-क्षेत्र सरकार द्वारा निर्धारित रहता है जिससे हानिकारक प्रतिस्पर्द्धा उदय नही होती है और निजी एव सरकारी क्षेत्र के शोषण-तत्वो पर प्रभावकारी नियन्त्रण बनाये रखा जा सकता है।

(5) मिश्रित अर्थ-व्यवस्था मे विदेशी पूंजी एव सहायता सुलभता से पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध हो जाती है। विदेशी पूँजीपति ऐसी अर्थ-व्यवस्था मे पूंजी-विनियोजन को प्राथमिकता देते है जहाँ समाजवाद एव राष्ट्रीयकरण का भय निकट भविष्य म न हो। अल्प-विकसित राष्ट्रो मे विकास-विनियोजन के लिए विदेशी पूँजी एव साधनो की अनिवार्यता होने के कारण बहुत से देशो ने मिश्रित अर्थ-व्यवस्था को अपनाया है।

(6) पूँजीवाद के अन्तर्गत सचालित निजी क्षेत्र मे दो बडे दोष विद्यमान रहते है—एकाधिकार एव हानिकारक प्रतिस्पर्द्धा। मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के अन्तगत निजी क्षेत्र के दोनो दोषो को समाप्त कर दिया जाता है। एकाधिकारी व्यवसायो एव जनकल्याण तथा अनिवार्य सेवाओ के व्यवसायो को सरकारी क्षेत्र के लिए आरक्षित कर दिया जाता है। निजी क्षेत्र के लिए जो व्यवसाय निर्धारित किये जाते है, उन पर भी ऐसा सरकारी नियमन रखा जाता है कि सरकारी एव निजी क्षेत्र मे हानिकारक प्रतिस्पर्द्धा उदय न हो।

(7) मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत आर्थिक नियोजन के सचालन से एक ओर समाजवादी व्यवस्था के लाभ, जैसे आर्थिक सुदृढता, साधनो के अपव्यय पर रोक आय का समान वितरण और दूसरी ओर स्वतन्त्र अर्थ-व्यवस्था के लाभ, निजी साहस, उत्तराधिकार की व्यवस्था, व्यक्तिगत प्रबन्ध, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता आदि उपलब्ध होते है।

(8) मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत आर्थिक नियोजन का सचालन समाजवादी व्यवस्था का मार्ग प्रशस्त करता है। आर्थिक एव सामाजिक व्यवस्था मे परिवर्तन धीरे-धीरे किये जाते है जिससे जन-विरोध से बचकर जन-सहयोग प्राप्त करना सम्भव होता है। जन-सहयोग आर्थिक नियोजन की सफलता के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण घटक होता है।

(9) प्रजातान्त्रिक मान्यताओ के अन्तर्गत आर्थिक नियोजन का सचालन मिश्रित अर्थ-

व्यवस्था के रूप म ही किया जा सकता है। इस व्यवस्था मे सरकार इतनी शक्तिशाली नही होती है कि तानाशाही उदय हो सके। सरकारी एव निजी क्षेत्र एक-दूसरे पर अप्रत्यक्ष नियन्त्रण का कार्य भी करते रहते है।

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था—नियोजक हेतु अनुपयुक्त

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था म उपर्युक्त अनुकूल गुण होते हुए भी इसे नियोजन-सचालन का कुशल यन्त्र नही माना जाता है क्योकि मिश्रित अर्थ व्यवस्था मे नियन्त्रण प्रभावशाली न होने के कारण नियोजन के अन्तर्गत कृत्रिम सन्तुलन स्थापित नही हो पाता है और मुद्रा-स्फीति, बेरोजगारी, आर्थिक एव सामाजिक विषमता आदि दोष निरन्तर बढते रहते है। मिश्रित अर्थ-व्यवस्था नियोजन हेतु निम्नलिखित कारणो से अनुपयुक्त मानी जाती है

(1) **नियन्त्रण का प्रभावशाली न होना**—आर्थिक क्रियाओं का सचालन विभिन्न क्षेत्रो म होने के कारण कोई भी नियन्त्रण पूर्णरूपेण प्रभावशाली नहीं रहता है और विभिन्न नियन्त्रणो मे सामजस्य स्थापित नही हो पाता है।

(2) **विभिन्न क्षेत्रो मे अप्रत्यक्ष प्रतिस्पर्द्धा**—यद्यपि मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न क्षेत्रो का कार्य क्षेत्र निर्धारित कर दिया जाता है फिर भी विभिन्न आदायो (Inputs) की उपलब्धि के लिए इन क्षेत्रो म अप्रत्यक्ष प्रतिस्पर्द्धा बनी रहती है। एक क्षेत्र के उत्पादक दूसरे क्षेत्रो म आदाय (Inputs) का स्थान ग्रहण करते है जिससे अप्रत्यक्ष प्रतिस्पर्द्धा का और बल मिलता है। निजी क्षेत्र सदैव प्रयत्नशील रहता है कि सरकारी क्षेत्र का अकुशल एव अपव्ययी सिद्ध किया जाय।

(3) **आर्थिक अपराधो मे वृद्धि**—मिश्रित अर्थ व्यवस्था के अन्तर्गत नियन्त्रणो की शिथिलता के कारण नियन्त्रणो की अवहेलना करके आर्थिक अपराधो के माध्यम से आय एव धनोपार्जन के प्रयास किय जाते है।

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था म विपणि अर्थ-व्यवस्था के अदृश्य नियन्त्रण एव कठोर नियोजित अर्थ व्यवस्था के सचेत नियन्त्रण दोनो ही पूरी तरह से क्रियाशील नही होते है और आर्थिक अपराधो का अर्थ-व्यवस्था म बोलबाला रहता है जिससे साधनो का अपव्यय होता है।

(4) **दोहरी मूल्य-नीति**—दोहरी मूल्य-नीति के कारण मिश्रित अर्थ व्यवस्था मे विकास परियोजनाओ की लागत एव लाभ का ठीक स मूल्याकन नही हो पाता है जिससे एक ओर प्राथमिकताओ के निर्धारण म कठिनाई होती है और दूसरी ओर अर्थ-व्यवस्था म भौतिक एव वित्तीय असन्तुलन बना रहता है।

(5) **निजी क्षेत्र मे प्रोत्साहन की कमी**—मिश्रित अर्थ-व्यवस्था म निजी क्षेत्र अपने अस्तित्व के सम्बन्ध म आश्वस्त नहीं रहता है क्योकि उसे सदैव इस बात का भय बना रहता है कि उसके क्षेत्र का सकुचित कर दिया जायेगा अथवा निजी क्षेत्र के उपक्रमो का राष्ट्रीयकरण कर दिया जायेगा। इस भय के कारण निजी क्षेत्र अपने साधनो का पूर्णरूपेण विनियोजन नहीं करता और दीर्घकालीन परियोजनाओ म रुचि नहीं रखता है। इसके परिणामस्वरूप साधनो का अनुत्पादक एव कम उत्पादक परियोजनाओ म प्रवाह होता है।

आधुनिक युग मे अधिकतर अर्थ-व्यवस्थाएँ मिश्रित अर्थ-व्यवस्थाएँ समझी जा सकती है क्योकि पूँजीवाद का कठोर स्वतन्त्र स्वरूप तथा समाजवाद का कठोर राजकीय स्वरूप सम्भवत किसी भी देश मे विद्यमान नहीं है। पूँजीवादी राष्ट्रो मे इस तथ्य को स्वीकार किया जाने लगा है कि पूँजीवादी प्रणाली मे अपने आप को नष्ट करने के तत्व निहित रहते हैं और जब इसे सरकारी नियन्त्रण का सहारा प्रदान नहीं किया जाता है तो पूँजीवाद जीवित नही रह सकता है। दूसरी ओर, राजकीय समाजवाद के द्वारा तानाशाही उदय होने के भय के कारण समाजवाद का उदार स्वरूप अपनाया जाने लगा है। नियन्त्रित पूँजीवाद एव उदार समाजवाद के सम्मिश्रण के कारण मिश्रित अर्थ-व्यवस्था का जन्म हुआ है।

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था का कुशल सचालन अत्यन्त कठिन होता है। इसके अन्तर्गत अर्थ-

व्यवस्था मे कृत्रिम सन्तुलन स्थापित करने की आवश्यकता होनी है क्योकि इसे न तो स्वतन्त्र अर्थ-व्यवस्था की अदृश्य शक्तियो—माँग, पूर्ति, मूल्य आदि—का सहारा उपलब्ध होता है और न ही कठोर सरकारी नियन्त्रण की शक्ति ही सचालित होती है। ऐसी परिस्थिति से कृत्रिम सन्तुलन स्थापित करने हेतु निरन्तर प्रयोग होते रहते है जिसका लाभ प्राय पूँजीपति-वर्ग प्राप्त करता रहता है। सरकारी नियन्त्रण मे कठोरता न रहने के कारण सरकारी एव निजी क्षेत्र मे अप्रत्यक्ष प्रतिस्पर्द्धा बनी रहती है और आर्थिक निर्णय स्वतन्त्रतापूर्वक नही लिये जा सकते है। इसीलिए कुछ अर्थ-शास्त्रियो का यह विचार है कि मिश्रित अर्थ-व्यवस्था पूँजीवादी व्यवस्था को समाजवादी व्यवस्था मे बदलने का मध्यकालीन अस्त्र होता है। मिश्रित अर्थ-व्यवस्था मे आर्थिक सरचना मे मूलभूत परि-वर्तन शीघ्र करना सम्भव नही होता है जिससे विकास की गति मन्द रहती है। विकास एव कल्याण के आगे के चरणो मे मिश्रित अर्थ-व्यवस्था का त्याग करना आवश्यक हो जाता है और इसके स्थान पर समाजवादी व्यवस्था की स्थापना करना विकास की गति बनाये रखने के लिए अनिवार्य हो जाता है।

भारत में मिश्रित अर्थ-व्यवस्था

भारतीय सविधान के Preamble तथा वाक्य 38 और 39 मे राज्य द्वारा देश मे सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करने के कर्तव्य का स्पष्टीकरण किया गया है। इनके अध्ययन से ज्ञात होता है कि सविधान के निर्माताओ ने ससार मे प्रचलित विभिन्न वादो (Isms) मे से किसी को भी मान्यता नही दी है और विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाओ के गुणो का न्यायपूर्ण सम्मिश्रण करके एक नयी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना का आयोजन किया है। यह नयी सामाजिक व्यवस्था भारतीय परिस्थितियो के अनुकूल होनी चाहिए।

सविधान के नीति-निर्धारक तत्व

भारतीय सविधान मे राज्य की सामाजिक एव आर्थिक नीति निर्धारण हेतु निम्नलिखित नीति तत्व (Directive Principles of State Policy) अकित किये गये है। राज्य को अपने अधिनियमो द्वारा निम्नलिखित उद्देश्यो की पूर्ति करनी है

(अ) समस्त नागरिको—पुरुष एव स्त्री—को पर्याप्त जीविकोपार्जन के साधन समान रूप से प्राप्त करने का अधिकार है।

(आ) समाज के भौतिक साधनो पर अधिकार एव नियन्त्रण का वितरण किया जायेगा जिससे सर्वाधिक समान हित (Common Good) सम्भव हो सके।

(इ) आर्थिक व्यवस्था के सचालन के फलस्वरूप धन एव उत्पादन के साधनो का समान अहित (Common Detriment) के लिए केन्द्रीकरण नही होना चाहिए।

(ई) पुरुष व स्त्री दोनो को ही समान कार्य व समान पारिश्रमिक का आयोजन होना चाहिए।

(उ) स्त्री व पुरुष श्रमिको की शक्ति एव स्वास्थ्य तथा बच्चो की कोमल आयु (Tender Age) का दुरुपयोग नही होना चाहिए। नागरिको को आर्थिक आवश्यकताओ के कारण ऐसे कार्य अथवा पेशे करने की विवशता नही होनी चाहिए जो उनकी आयु एव शक्ति के लिए अनुपयुक्त हो।

(ऊ) बच्चो तथा युवको को शोषण तथा भौतिक एव चरित्र-सम्बन्धी परित्याग से सरक्षण प्रदान किया जाय।

नीति-निर्देशक तत्वो का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि भारतीय सविधान मे भौतिक साधनो को इस प्रकार वितरित करना है कि धन एव उत्पादन के साधनो का केन्द्रीकरण शोषण करने के लिए न हो सके।

सविधान मे उत्पादक साधनो पर केवल राज्य के अधिकार की बात नही कही गयी है। ये साधन किसी के भी अधिकार एव नियन्त्रण मे क्यो न हो, इनके द्वारा शोषण नही होना चाहिए। सविधान मे भौतिक साधनो को राजकीय अथवा निजी, किसी भी एक क्षेत्र के अधिकार

में रखने की बात नहीं की गयी है। दूसरे शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि भारतीय संविधान में साधनों के उपयोग से उपलब्ध होने वाले उद्देश्यों को अधिक महत्व दिया गया है। यह निर्णय करना अब राज्य का अधिकार है कि अर्थ-व्यवस्था के किस क्षेत्र का संचालन राज्य करे और किनका निजी क्षेत्र।

इसके अतिरिक्त संविधान के वाक्य 19 तथा 31 में निजी सम्पत्ति को भी मान्यता दी गयी है अर्थात् व्यक्ति को सम्पत्ति पर अधिकार रखने तथा उसे क्रय एवं विक्रय करने का अधिकार है। साथ ही सम्पत्ति पर उत्तराधिकार के रूप में निरन्तर हस्तान्तरित होने को भी संविधान में मान्यता दी गयी है। परन्तु सामाजिक हित के लिए राज्य किसी भी निजी सम्पत्ति को अपने अधिकार में उचित क्षतिपूर्ति करके ले सकता है।

उपर्युक्त विवरण से यह ज्ञात होता है कि भारतीय संविधान में एक ओर पूँजीवाद के लक्षण—निजी सम्पत्ति और सम्पत्ति का उत्तराधिकार में हस्तान्तरण—को मान्यता दी गयी है और दूसरी ओर समाजवाद के लक्षण—समानता, सभी प्रकार के शोषण पर प्रतिबन्ध, समान अवसर धन के केन्द्रीकरण पर रोक आदि—को मान्य समझा गया है। इस प्रकार संविधान-निर्माताओं ने भारत में एक ऐसे समाज का विचार किया जिसमें पूँजीवाद एवं समाजवाद दोनों के ही लक्षण हों परन्तु यह समाज न ही पूर्णरूपेण पूँजीवादी हो और न समाजवादी। दूसरे शब्दों में, भारतीय संविधान द्वारा नयी सामाजिक व्यवस्था में मुक्त व्यवस्था निजी प्रारम्भिकता एवं व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के लाभों को बनाये रखने का आयोजन है और दूसरी ओर उन क्षेत्रों पर सामाजिक नियन्त्रण का लाभ उठाने का आयोजन है जिन पर सामाजिक नियन्त्रण द्वारा सामान्य हित सम्भव हो सकता हो।

संविधान द्वारा निर्धारित व्यवस्था में निजी एवं सरकारी दोनों ही क्षेत्रों को स्थान दिया गया है और इन दोनों का एक दूसरे के पूरक एवं सहायक के रूप में कार्य करने का आयोजन किया जाता है। इस प्रकार संविधान द्वारा भारत में मिश्रित व्यवस्था की स्थापना का आयोजन किया गया है। देश की आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था का संचालन इस प्रकार किया जाना है कि अन्तत अधिकतम उत्पादन एवं समान वितरण-लक्ष्यों की पूर्ति हो सके। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों का निजी एवं सरकारी क्षेत्र में वितरित करना आवश्यक है जिससे इन दोनों क्षेत्रों में कलह एवं घातक प्रतिस्पर्द्धा उत्पन्न न हो। राज्य को उन सभी क्षेत्रों को राजकीय अधिकार एवं नियन्त्रण में रखना चाहिए जिनका वह अधिक कुशल संचालन कर सकता हो, जिनको निजी क्षेत्र संचालित न कर सकता हो जिनके संचालन से जन-जीवन पर बड़े परिमाण में प्रभाव पड़ता हो। दूसरी ओर सभी क्षेत्र जिनमें निजी क्षेत्र अधिकतम उत्पादन कर सकता हो, निजी क्षेत्र से अधिकार के लिए छोड़े जा सकते हैं। "यदि निजी क्षेत्र पर आर्थिक नियोजन के सफल संचालन हेतु राज्य का नियन्त्रण आवश्यक समझा जाय तो यह नियन्त्रण अत्यन्त सीमित होना चाहिए जो केवल महत्वपूर्ण बिन्दुओं को आधारित करता हो और जिससे निजी क्षेत्र के कार्य-संचालन प्रारम्भिकता एवं साहस में अनावश्यक प्रशासकीय हस्तक्षेप को रोका जा सके।"[1] इसके साथ ही राजकीय क्षेत्र के व्यवसायों का संचालन सरकारी विभागों की तरह न करके सुदृढ़ व्यापारिक सिद्धान्तों के आधार पर होना चाहिए।

सन् 1948 की औद्योगिक नीति को आधार मानकर सरकारी (Public) तथा निजी साहस के क्षेत्रों का निश्चित किया गया। इसके अन्तर्गत राज्य का कर्तव्य था कि वह राजकीय क्षेत्र का जन्म दे तथा वृद्धि करे और उसके सफल संचालन हेतु प्रयास करे। इसके साथ ही निजी क्षेत्र को भी राज्य द्वारा संरक्षण प्रदान किया जाना आवश्यक था क्योंकि संविधान में व्यक्ति के मूल

---

1 C N Vakil, 'Respective Roles of the Public and Private Sectors in a Mixed Economy'—*Commerce*, 12-8-1967

अधिकारों मे उसे उत्पादन के साधनो पर अधिकार रखने तथा उनका क्रय-विक्रय करने का अधिकार दिया गया था। राज्य को किसी भी निजी सम्पत्ति पर अधिकार करने प्राप्ति हेतु क्षतिपूर्ति करना आवश्यक है। इस प्रकार निजी क्षेत्र का पूर्णरूपेण राष्ट्रीयकरण करना असम्भव था क्योंकि राज्य के पास पर्याप्त अर्थ-साधन नही थे तथा निजी क्षेत्र के राष्ट्रीयकरण द्वारा निजी क्षेत्र के अधिकार मे क्षतिपूर्ति के रूप मे प्राप्त धन फिर भी रह जाता और वह उत्पादन के साधनों पर किसी अन्य रूप मे अधिकार प्राप्त कर सकता था। इसके अतिरिक्त योजना मे उत्पादन-वृद्धि को सर्वोच्च प्राथमिकता प्रदान की गयी थी तथा इस वृद्धि को शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त करने हेतु वर्तमान उत्पादन-व्यवस्था को सर्वथा छिन्न-भिन्न करना अनुचित था। इन्ही कारणों से सामान्य राष्ट्रीयकरण की नीति को योजना मे नही अपनाया गया, परन्तु राज्य को आधारभूत क्षेत्रों पर पूर्ण नियन्त्रण उपलब्ध कराने के लिए उनका राष्ट्रीयकरण किया जा सकता है।

सन् 1956 के औद्योगिक नीति प्रस्ताव द्वारा निजी एवं सरकारी क्षेत्र के कार्य-क्षेत्र को और स्पष्ट कर दिया गया और भारी उद्योग, जैसे— लोहा एवं इस्पात, अस्त्र-शस्त्र, भारी ढलाई आदि, भारी मशीन एवं यन्त्र-निर्माण, भारी विद्युत यन्त्र-निर्माण, अणु-शक्ति तथा रेल उद्योग सरकारी क्षेत्र के लिए रक्षित कर दिये गये। दूसरी ओर, समस्त उपभोक्ता-उद्योग, जैसे— वस्त्र, सीमेण्ट, कागज, शक्कर, जूट, मशीनो के औजार, औद्योगिक यन्त्र, हल्के इंजीनियरिंग एवं रसायन उद्योगों को निजी क्षेत्र मे रखा गया। परन्तु इस नीति-प्रस्ताव में यह भी आयोजन किया गया कि राज्य उपभोक्ता उद्योगो मे भी भागीदार हो सकता है। निजी क्षेत्र का सचालन बहुत से सरकारी नियन्त्रणों के अन्तर्गत होता है। कम्पनी अधिनियम को अधिक प्रभावशाली बनाने के साथ-साथ औद्योगिक लाइसेन्सिग, पूंजी निर्गमन नियन्त्रण, आयात लाइसेन्सिग तथा कुछ वस्तुओ के वितरण एवं मूल्य पर नियन्त्रण आदि का सचालन किया गया।

भारतीय मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के मुख्य लक्षण

(1) अर्थ-व्यवस्था मे निर्धारित चार क्षेत्रो की उपस्थिति—(अ) सरकारी क्षेत्र, (आ) सरकारी एवं निजी क्षेत्र का सम्मिलित क्षेत्र, (इ) निजी क्षेत्र, (ई) सहकारी क्षेत्र।

(2) निजी क्षेत्र तथा सरकारी क्षेत्र की पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा पर राज्य नियन्त्रण रखता है, अर्थात् ये दोनो क्षेत्र एक दूसरे के सहायक एवं पूरक के रूप मे कार्य करते है।

(3) भारत की योजनाओं के अन्तर्गत सरकारी एवं निजी क्षेत्र का ही विस्तार किया जाता है, परन्तु सरकारी क्षेत्र का विकास एवं विनियोजन निजी क्षेत्र की अपेक्षा बढता जा रहा है।

(4) भारतीय अर्थ-व्यवस्था मे निजी क्षेत्र के विचार एवं कार्य-सचालन पर कोई कठोर अकुश नही लगाये गये है, परन्तु निजी क्षेत्र को सरकारी नियमन मे रखना आवश्यक है जिससे निजी क्षेत्र सरकारी नीतियों के अनुकूल ही कार्य करे।

(5) निजी क्षेत्र मे लघु एवं ग्रामीण उद्योगों तथा उपभोक्ता-उद्योगो को विशेष रूप से सम्मिलित किया गया है। दूसरे शब्दो मे, हम यह कह सकते है कि विकेन्द्रित समाज की स्थापना हेतु छोटी-छोटी इकाइयाँ निजी क्षेत्र द्वारा विकसित की जायेंगी और बड़े-बड़े आधारभूत उद्योग सरकारी क्षेत्र मे रहेंगे।

(6) निजी क्षेत्र के अन्तर्गत सहकारिता को विशेष स्थान दिया गया है अर्थात् सहकारी संस्थाओ को साख, कच्चे माल, बाजार व्यवस्था, औजार तथा प्रशिक्षण की सुविधाएँ प्रदान करके राज्य एक विकेन्द्रित समाज की स्थापना करना चाहता है।

(7) भारत की मिश्रित अर्थ-व्यवस्था मे विपणि-व्यवस्था विद्यमान है जिसमे राज्य एक बड़े क्रेता एवं विक्रेता के रूप मे मांग पूर्ति एवं मूल्य पर प्रभाव डालता रहता है।

(8) अनिवार्य उपभोक्ता-वस्तुओ एवं कच्चे मालो के मूल्य एवं वितरण पर सरकार का नियन्त्रण रखा जाता है जिसकी व्यापकता एवं कठोरता मे आवश्यकतानुसार परिवर्तन किये जाते है।

(9) हमारी मिश्रित अर्थ-व्यवस्था में दोहरी मूल्य-नीति का उपयोग अनिवार्य उपभोक्ता-

वस्तुओ एव कुछ कच्चे मालो के सम्बन्ध मे किया जाता है । इस प्रकार एक ही वस्तु के दो मूल्य—नियन्त्रित एव अनियन्त्रित—विद्यमान रहते हैं ।

भारत की मिश्रित अर्थ-व्यवस्था का स्वरूप इस प्रकार का है जिसमे पूँजीवाद और समाजवाद दोनों के ही लक्षणो का समन्वय हो गया है । भारत के प्रजातान्त्रिक ढाँचे मे इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था को ही सर्वश्रेष्ठ कहा जा सकता है ।

चतुर्थ पचवर्षीय योजना मे सरकारी क्षेत्र के विस्तार के साथ-साथ निजी क्षेत्र के विस्तार पर विशेष ध्यान दिया गया । नियोजकों द्वारा यह महसूस किया गया कि निजी क्षेत्र पर से यदि आवश्यक प्रतिबन्ध हटा लिए जायें, तो यह क्षेत्र बहुत जल्दी अधिकतम उत्पादन दे सकता है । यद्यपि चतुर्थ योजना मे सन् 1956 के औद्योगिक नीति के प्रस्ताव के आधार पर ही औद्योगिक विकास के कार्यक्रम निर्धारित किये गये परन्तु सरकारी क्षेत्र मे वे ही कार्यक्रम रखे गये है जो ऊँची प्राथमिकता-क्षेत्र मे थे और जिनके द्वारा औद्योगिक कलेवर की कमियो की पूर्ति की जा सके । जिन उद्योगो का विस्तार निजी एव सरकारी क्षेत्र में हो सकता हो, उनको सरकारी क्षेत्र मे सम्मिलित नही किया गया ।

इसके अतिरिक्त देश मे पूँजीगत सामग्रियों एव कच्चे माल की अधिक उपलब्धि होने के कारण उन उद्योगो के विस्तार पर नियन्त्रण रखने की आवश्यकता नही है जो प्राय. देश मे उपलब्ध साधनो का प्रयोग करते है । इसी कारण ऐसे उद्योग जिनमे पूँजीगत सामग्री एव कच्चे माल को विदेशो से आयात करने की आवश्यकता नहीं होगी, उनकी स्थापना एव विस्तार के लिए औद्योगिक लाइसेन्स प्राप्त करने की आवश्यकता नही होगी । इसी प्रकार जिन उद्योगो मे कुल पूँजीगत सामग्री का यदि 10% कम भाग विदेशो से आयात करना हो उन्हे भी औद्योगिक लाइसेन्स से मुक्त कर दिया गया । इस प्रकार चतुर्थ योजना मे निजी क्षेत्र को औद्योगिक विस्तार की छूट दी गयी । पाँचवी योजना म भारत सरकार ने औद्योगिक नीति में कुछ परिवर्तन कर दिये है । इन परिवर्तनों का मुख्य उद्देश्य सरकारी क्षेत्र के उद्योगो का विस्तार करना है । आधारभूत, सामरिक महत्व एव जनोपयोगी उद्योगो को सरकारी क्षेत्र मे सम्मिलित कर लिया गया है । इसके अतिरिक्त ऐसे आवश्यक उद्योग जिनमे अत्यधिक विनियोग की आवश्यकता हो, को भी सरकारी क्षेत्र मे विकसित करने का आयोजन किया गया है । दूसरी ओर सरकार (राज्य अथवा केन्द्र) एव निजी साहसियो की साझेदारी मे औद्योगिक इकाइयाँ स्थापित करने का भी आयोजन किया गया है परन्तु इस प्रकार की सयुक्त इकाइयो मे सरकार द्वारा नीति-निर्धारण, प्रबन्ध एव सचालन मे प्रभावशाली नियन्त्रण रखा जायेगा । पाँचवी योजना मे उपभोक्ता उद्योगो के क्षेत्र मे ऐसी औद्योगिक इकाइयो का राष्ट्रीयकरण किया जा रहा है जो किन्हीं भी कारणो से बन्द पडे है अथवा ठीक से सचालित नहीं है ।

उपर्युक्त समस्त विवरण के आधार पर यह कहना अनुचित न होगा कि मिश्रित अर्थ-व्यवस्था की सफलता हेतु देश की आर्थिक नीतियो को असाधारण कुशलता एव सतर्कता से सचालित करने की आवश्यकता होती है । निजी क्षेत्र को बनाये रखने हेतु बाजार-तान्त्रिकताओ (Market Machanisms) को जारी रखना आवश्यक होता है जिसके अन्तर्गत मूल्य, माँग एव पूर्ति के घटक आर्थिक क्रियाओ को प्रभावित करते है । बाजार-तान्त्रिकता जारी रहने पर सरकारी एव निजी दोनो क्षेत्रों को ही साधनो की प्राप्ति के लिए मुद्रा-बाजार की शरण लेनी होती है और स्वभावत यह प्रतिस्पर्द्धा को जन्म देती है । राज्य के हाथो मे राजनीतिक एव आर्थिक सत्ताएँ होने के कारण वह साधन प्राप्त करने मे अधिक सफल हो सकता है, परन्तु वह कठोर कार्यवाहियो की शरण नही ले सकता है । इस प्रकार मिश्रित अर्थ-व्यवस्था मे प्रतिस्पर्द्धा उत्पन्न होना अत्यधिक स्वाभाविक होता है जिसके फलस्वरूप आर्थिक प्रगति नियोजित कार्यक्रमो के अनुकूल नहीं हो पाती है और कभी-कभी उलझी हुई अर्थ-व्यवस्था (Muddled Economy) का रूप ग्रहण कर सकती है । निजी क्षेत्र माँग एव पूर्ति के घटकों को इस प्रकार सचालित करने का प्रयत्न करता है कि धनी

वर्ग को अधिक से अधिक लाभ प्राप्त हो सके। सरकारी नियमों एव नियन्त्रणो से बचने के लिए अवाछनीय (और कभी-कभी अवैधानिक) उपायो का उपयोग किया जाता है। वस्तुओ का सग्रह, सट्टा, तस्कर व्यापार आदि अर्थ-व्यवस्था के सुचारु सचालन मे विघ्न डालते है। इस प्रकार मिश्रित अर्थ व्यवस्था की सफलता निजी एव सरकारी क्षेत्र के सहयोग एव समन्वय पर निर्भर रहती है। सिद्धान्त रूप से मिश्रित अर्थ-व्यवस्था पूँजीवादी एव साम्यवादी दोनो ही अर्थ-व्यवस्थाओ से श्रेष्ठ समझी जा सकती है क्योंकि इसके अन्तर्गत साम्यवाद की तरह व्यक्तिगत स्वतन्त्रताएँ एव साहस लुप्त नही होते और न ही पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था के शोषण-सम्बन्धी तत्व को पनपने दिया जाता है।

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था एवं मुद्रा-स्फीति

कुछ अर्थशास्त्रियो का विचार है कि मिश्रित अर्थ व्यवस्था ने ससार के बहुत से राष्ट्रो मे मुद्रा-स्फीति को बढावा दिया है। मिश्रित अर्थ व्यवस्था के अन्तर्गत जो सरचनात्मक परिवर्तन आते है, उनका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव मूल्यो की गति विधि पर पडता है। मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत एक पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था का भाग, पूर्ति एव आय प्रवाह का प्राकृतिक अथवा स्वचालित नियन्त्रण ढीला हो जाता है, क्योंकि विपणि-यान्त्रिकता पर अंकुश लगा दिये जाते हैं और समाजवादी व्यवस्था मे कठोर नियन्त्रण आर्थिक क्षेत्र मे सचालित नही किये जाते है। इस प्रकार आर्थिक नियन्त्रण न तो स्वचालित रूप से और न राजकीय नियन्त्रण के रूप मे प्रभावशाली रहते है जिसके परिणामस्वरूप पूँजीपति अपनी शक्ति का नियमित अथवा अनियमित रूप से उपयोग करने मे समर्थ होता है और आर्थिक अपराध—वस्तुओं का अनियमित सचय, सट्टा, तस्कर-व्यापार आदि—तेजी से बढने लगते हैं जो सब मिलकर मूल्य-स्तर को ऊँचा रखने मे योगदान प्रदान करते हैं।

इसके अतिरिक्त मिश्रित अर्थ व्यवस्था के अन्तर्गत प्रजातान्त्रिक मान्यताओं को क्रियाशील रखने के लिए अथवा निर्वाचको (Voters) को प्रसन्न रखने के लिए रोजगार एव मजदूरी मे तेजी से वृद्धि की जाती है। रोजगार-वृद्धि के लिए अभिलाषी-कार्यक्रम बनाये जाते हैं जिनके लिए हीनार्थ प्रबन्धन से साधन प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है जिससे मूल्य-स्तर की वृद्धि को गति प्राप्त होती है।

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत दो समान्तर बाजार विद्यमान रहते है—नियन्त्रित एव खुला बाजार। इन दोनों बाजारों में एक ही वस्तु के दो मूल्य विद्यमान रहते हैं। दो मूल्यो मे सामजस्य स्थापित करना असम्भव होता है और नियन्त्रित बाजार से खुले बाजार मे वस्तुओ का प्रवाह काला-बाजार के माध्यम से होता है जो मुद्रा-स्फीति की गहनता को बढाने मे सहायक होता है।

उपर्युक्त कारणो को देखते हुए अब मिश्रित अर्थ व्यवस्था के प्रति लोगो का विश्वास घटता जा रहा है।

11

नियोजित अर्थ-व्यवस्था के सफल संचालन हेतु आवश्यक प्रारम्भिक अपेक्षाएँ

[PRE-REQUISITES OF ECONOMIC PLANNING]

आधुनिक युग की भीषण जटिलताओं की दुर्भेद्य शृंखलाओं में किसी कार्य का सुगम व सुलभ सम्पादन अत्यन्त कठिन है। नियोजन तो एक विधि है और वह कार्य है जो अनेक तत्वों के सहयोग, सम्मिश्रण एवं सम्मिलन के उपरान्त एकीकृत रूप में सम्मुख आ सकने में समर्थ होता है। अधिकांशतः यह देखने में आता है कि यदा-कदा निश्चित लक्ष्यों की पूर्ण प्राप्ति तो दूर रही, मुख्य आयोजन-कार्यक्रम का कार्यान्वित करना भी असम्भव हो जाता है। कारण यह है कि अनेक एवं विभिन्न लक्षणों वाले तत्व पूर्णतया नियोजन की कार्य-विधि एवं क्रियाकलापों को प्रभावित करते हैं। *नियोजन की सफलता अल्प-विकसित राष्ट्रों में तो और भी अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है,* उतनी ही कठिन भी। प्रभावी तत्वों का अध्ययन, जो निम्न प्रकारेण किया जा सकता है, नियोजन के मार्ग में आने वाली बाधाओं में सहायक होगा।

अल्प-विकसित राष्ट्रों में आर्थिक विकास के कार्यक्रमों के अन्तर्गत शीघ्र औद्योगीकरण को अत्यधिक महत्व दिया जाता है तथा कृषि को विकासोन्मुख करने हेतु पूँजीगत सिंचाई एवं शक्ति की योजनाओं को प्राथमिकता दी जाती है। इन दोनों ही कार्यक्रमों की सफलता पर ही नियोजित अर्थ-व्यवस्था की सफलता निर्भर रहती है और इन कार्यक्रमों के लिए आन्तरिक घटकों से विदेशी घटक भी अत्यन्त आवश्यक होते हैं। इस प्रकार नियोजित अर्थ-व्यवस्था के सफलतार्थ जिन घटकों की आवश्यकता होती है, उन्हें हम दो भागों में बाँट सकते हैं—विदेशी घटक तथा आन्तरिक घटक।

विदेशी घटक

(1) **विश्व-शान्ति**—आज का आर्थिक संगठन राजनीतिक व्यवस्था एवं सामाजिक प्रारूप शताब्दियों पूर्व जैसा नहीं रहा, जब मानव की आवश्यकताएँ स्वयं द्वारा पूर्तियोग्य-मात्र थीं। आज के प्रभावशाली तत्व मात्र गृह, जाति, समाज अथवा देश तक ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण मानवता को समेटे रखते हैं। किसी भी देश के लिए बीसवीं सदी के आधुनिक विज्ञान-युग में पूर्ण आत्म-निर्भर रहना नितान्त असम्भव है। किसी न किसी रूप में उसे किसी न किसी विदेश का मुँह ताकना पड़ता है और यह विश्वव्यापी अकाट्य सत्य है। रूस हो या अमेरिका, फ्रान्स हो या ब्रिटेन, भारत हो या जापान सभी किसी न किसी आवश्यकता की पूर्ति हेतु पारस्परिक सम्बद्ध हैं। आधुनिक काल में राज्य की प्रत्येक कार्यवाही अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिक्रिया के अधीनस्थ होती है, चाहे वह किसी भी सीमा तक हो। फिर नियोजन—वह भी अल्प-विकसित राष्ट्रों में—विदेशी सहायता की अनुपस्थिति में सफल होना सर्वथा असम्भव है, इसलिए पारस्परिक सम्बन्ध न बिगड़ने पायें, इसका पूर्ण प्रयत्न किया जाना चाहिए। पूर्ण शान्ति की अवस्था में ही नियोजन का विचार आ सकता है क्योंकि युद्ध की विभीषिका आर्थिक व्यवस्थाओं को छिन्न-भिन्न कर देती है। युद्ध या अशान्ति की दशा में एक देश अन्य देश को अपना विनियोजन या सहयोग न देना चाहेगा और आर्थिक विकास का चक्र रुक जायेगा। पूँजी की न्यूनता, तान्त्रिक ज्ञान का अभाव आदि अनेक समस्याएँ अल्प-

विकसित राष्ट्रों को बाध्य करती है कि वे अन्य देशों से सहायता लें। अन्य देश विश्व शान्ति की अवस्था में ही अन्य देशों को सहायता या विनियोजन करने को तत्पर होंगे।

(2) **विदेशी सहायता**—योजना के औद्योगिक कार्यक्रमों एवं सिंचाई तथा शक्ति-सम्बन्धी बड़ी योजनाओं के संचालनार्थ विदेशी पूँजीगत सामान तथा तान्त्रिक विशेषज्ञों की आवश्यकता होती है। पिछड़े हुए राष्ट्रों में कृषि-प्रधानता होते हुए भी प्रायः खाद्यान्न आदि विदेशों से मँगाने की आवश्यकता होती है। विदेशों से आवश्यक यन्त्र तथा विशेषज्ञ प्राप्त करने के लिए विदेशी विनिमय की आवश्यकता होती है जो अधिक निर्यात अथवा विदेशी सहायता से ही प्राप्त हो सकता है। विकसित राष्ट्रों को निर्यात करने के लिए अल्प-विकसित राष्ट्रों के पास कुछ भी नहीं होता है और वह केवल कच्चा माल ही निर्यात कर सकते हैं। कच्चे माल का निर्यात इसलिए सम्भव नहीं होता है कि देश में विकसित होने वाले उद्योगों को ही कच्चे माल की अधिक आवश्यकता होती है। इस प्रकार आर्थिक नियोजन के सफल संचालन के लिए विदेशी सहायता अनिवार्य होती है। यह विदेशी सहायता विभिन्न राष्ट्रों तथा अन्तर्राष्ट्रीय वित्त-संस्थाओं से प्राप्त हो सकती है। नियोजित कार्यक्रम संचालित करने से पूर्व देश को अपने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों एवं विदेशी वित्त-संस्थाओं की सदस्यता पर ध्यान देना चाहिए।

(3) **विदेशी व्यापार**—योजना के कार्यक्रमों के लिए पूँजीगत आयात बड़ी मात्रा में किया जाता है जिससे देश का विदेशी भुगतान-शेष प्रतिकूल हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में विदेशी व्यापार का विकास होना चाहिए और देश को अपना निर्यात बढ़ाने की सुविधा होनी चाहिए जिससे बढ़ते हुए पूँजीगत आयात का भुगतान किया जा सके। इन अतिरिक्त नियोजित कार्यक्रमों के फल-स्वरूप उद्योगों एवं क्षेत्रों में जो अधिक उत्पादन हो, उसके निर्यात के लिए नवीन बाजार उपलब्ध होने चाहिए, तभी विकास की गति रखी जा सकती है तथा विदेशी ऋणों का भुगतान हो सकता है।

आन्तरिक घटक

(1) **राजनीतिक स्थिरता**—अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के अनुकूल रहने पर राष्ट्रीय परिस्थितियों का अनुकूल रहना अधिक आवश्यक है क्योंकि प्रतिकूल राष्ट्रीय परिस्थितियाँ अजेय एवं अत्यन्त हानिकारक होती हैं। किसी जीवन में जन्मदाता-रक्त ही कीटयुक्त हो तो सुखी जीवन की कल्पना ही निरर्थक है। नियोजक नियोजन के कार्यक्रम निश्चित कर रहे हैं, उनके मस्तकों पर उनकी मृत्युसूचक दुधारी तलवार लटक रही है। क्या इस अवस्था में कितना भी दृढ़ देशभक्त एवं राजनीतिक नियोजक उन कार्यक्रमों के निर्माण में कतिपय भी रुचि लेगा अथवा वह विचारों को एकाग्र करने में समर्थ होगा और भविष्य की सोच सकेगा? निस्सन्देह उत्तर होगा—नहीं। कथन का तात्पर्य मात्र इतना है कि यदि नियोजक को प्रति क्षण अपने पदच्युत होने का भय रहे तो वह विवेकपूर्ण पर्याप्त एवं आवश्यक लक्ष्य एवं प्राथमिकताओं का निर्धारण नहीं कर पायेगा और न ही कोई आकर्षण होगा। प्रलोभन एवं प्रारम्भण भावनाएँ भस्मसात् हो जायेंगी दूसरी ओर, राजनीतिक स्थिरता नियोजन के विचार में स्थिरता की जन्मदाता होगी। नियोजन एक सतत् विधि है जो दीर्घ काल में लाभदायक होती है। उस मध्यावधि में किंचित आवश्यक समायोजन, सम्मिलन वृद्धियाँ आदि करना आवश्यक हो जाता है। वह राजनीतिक स्थिरता की अवस्था में ही सम्भव है क्योंकि अस्थिरता का तात्पर्य ही उद्देश्यों की विभिन्नता होगी और नियोजन का कार्यक्रम नये लक्ष्य, नये क्रम से स्थिर प्राथमिकताएँ लिये सम्मुख आयेगा वह भी क्रियान्वित किये जाने के समय तक पुनर्परिवर्तन के भय को लिये हुए। यह उपहास होगा, ठोस निर्माण नहीं।

(2) **पर्याप्त वित्तीय साधन**—यदि वित्तीय साधन को नियोजन के जीवन का रक्त एवं रीढ़-अस्थियाँ कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी। सुनिश्चित लक्ष्य सुनिर्धारित प्राथमिकताओं का क्रम सर्वथा निरर्थक है यदि अर्थ-साधन नहीं हो। अल्प-विकसित राष्ट्रों में आन्तरिक बचत, विनियोजन एवं वित्तीय क्रियाशीलता सभी का अत्यन्त अभाव होता है। पूँजी-निर्माण नहीं के समतुल्य होता है। अर्थ साधनों की उपलब्धि अनिवार्य है। उद्योगों का शीघ्र विकास पूँजी के अभाव एवं

कृषि-प्रधान अर्थ-व्यवस्था के कारण सम्भव नही होता। कृषि भी अत्यन्त अलाभकारी उद्यम होता है। खाद्यान्नो का इतना अभाव होता है कि निर्यात का विचार भी मुश्किल है, फिर भी वित्तीय साधनो की व्यवस्था होनी चाहिए। विदेशो मे सहायता की याचना की जाती हैं। सहायता का उपलब्ध होना ऋणी राष्ट्र की सम्भाव्य नीति-साधनो के अनुमान, नियोजन के प्रकार, निवासियो की प्रवृत्ति, राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप आदि पर निर्भर करता है, अत अनुकूल वातावरण का *निर्माण आवश्यक है क्योंकि वित्तीय साधनो के अभाव मे सत्वर, सुगम, सुलभ एव सफल नियोजन* एव आर्थिक विकास असम्भव है। आर्थिक विकास की गति अर्थ-साधनों की उपलब्धि पर निर्भर है।

(3) **सांख्यिकी-ज्ञान**—यद्यपि सांख्य पर निर्भर रहना या विश्वास करना मूर्खों का कार्य कहा जाता है, किन्तु शायद ऐसा कहने वालो के युग मे आज की परिस्थितियो का अन्दाज नहीं था। आज के युग मे यदि सांख्य उपलब्ध न हो अथवा उसका ज्ञान न हो तो क्या कोई किसी भी तथ्य का अनुमान अथवा भविष्यत् परिणामो का गुणाकन कर सकने मे समर्थ होगा? कदापि नही। लक्ष्यो को निश्चित करने मे प्राथमिकताओ के निर्धारण मे, उपलब्ध वित्तीय साधनो के अनुमानो मे सम्भाव्य अवस्थाओ के पूर्व-ज्ञान विदेशो से प्राप्य सहायता आदि कैसे भी क्षेत्र मे साख्य की उत्कट आवश्यकता क्यो न होगी? यह अनिवार्य है कि नियोजक को देश मे उपलब्ध मानवीय एव प्राकृतिक शक्ति कृषि-उत्पादन की माँग एव प्रदाय, औद्योगिक उत्पादन आदि का पूर्ण ज्ञान हो अन्यथा उसके सभी निर्णय आधारहीन होगे जो निरर्थक होगे। समय-समय पर योजना द्वारा प्राप्त परिणामो का अनुमान उच्चावचान की तीव्रता कमीवेशी की मात्रा तथा उसकी आवश्यकता समायोजन की सीमा आदि के लिए भी साख्य आवश्यक है। यही नही, सांख्य-एकत्रीकरण कार्यकुशल प्रवीण एव प्रभावशील होना चाहिए जिससे थोडी-सी भूल से भयकर परिणामों का सामना न करना पडे। सांख्यिकी का ज्ञान नियोजन की रक्तप्रवाहिनी नलियाँ है।

(4) **प्राथमिकता एव लक्ष्य-निर्धारण**—अल्प विकसित एव अविकसित राष्ट्रो मे, जैसा सज्ञा से ही ज्ञात होता है अगणित समस्याएँ कमियाँ एव आवश्यकताएँ होती है। सभी का, एक ही अनुपात मे एक साथ वित्तीय साधनो के आवटन द्वारा एक ही समय पर निवारण एव सन्तुष्टि करना सर्वथा असम्भव है। नवीन स्वतन्त्रता की वायु मे नूतन राजनीतिक चेतना, सामाजिक जागरण प्राथमिकताओ के निर्धारण के समय नियोजन के सम्मुख समस्या बन जाती है। जातीय भेद-भाव न्यून आय, न्यून जीवन-स्तर अतिशय बेरोजगारी, कृषि की प्रधानता स्वभाव मे रूढिवादिता एव दासता अशिक्षा अज्ञानता, भोजन, वस्त्र एव गृहादि जीवन की अनिवार्यताओ का भी अभाव एव शोषित मानवता आदि सभी एक साथ आयोजन के सम्मुख आते है। ऐसी परिस्थिति मे यह आवश्यक है कि लक्ष्यो का निर्धारण ऐसा हो जो अर्थ-व्यवस्था का सर्वतोमुखी विकास कर सकने मे समर्थ हो। *इसके साथ ही, वित्तीय साधनों की कठिनाई के कारण समस्या* की उत्कृष्टता एव तीव्रता के आधार पर इसके निवारण का क्रम—जिसे प्राथमिकता-निवारण कहा जाता है—निश्चित किया जाना चाहिए। औद्योगिक युग की विकास-दौड मे भाग लेने का राष्ट्र तभी साहस कर सकता है, जब उसका आर्थिक विकास अत्यन्त सत्वर गति से सुनिश्चित लक्ष्य एव प्राथमिकताओ को लेकर होता है। प्राथमिकताओं के क्रम के अभाव मे कोई विकास-कार्यक्रम कार्यान्वित होना कठिन है तो लक्ष्यों की अनुपस्थिति मे विकास की गति एव उपलब्धियो का अनुमान असम्भव है।

(5) **जलवायु का निरन्तर अनुकूल होना**—अल्प-विकसित राष्ट्रो की कृषि-प्रधानता उनका एक प्रमुख लक्षण है। उनकी अधिकाश जनसख्या कृषि से आय पैदा करती है। निर्यात-योग्य वस्तुएँ कृषि द्वारा ही उपलब्ध होती है जिससे पूंजीगत वस्तुओं का आयात सम्भव हो सके। फिर औद्योगीकरण की अवस्था मे कच्चे माल की पूर्ति भी कृषि पर निर्भर है, अन्यथा पुन आयात का प्रश्न उठेगा और देश का उत्तरदायित्व बढता जायेगा। कृषि को प्राथमिकता दी जानी चाहिए, दी जाती है, लक्ष्य भी निर्धारित किये जा सकते है, किन्तु प्रकृति की अनुकम्पा अनिवार्य है, अन्यथा सभी

आशाओ पर तुषारापात होते विलम्ब न लगेगा। वर्षा पर कृषि का निर्भर रहना स्वाभाविक है। लक्ष्यो की प्राप्ति मे प्रकृति का अनुकूल योगदान भी आवश्यक है।

(6) **राष्ट्रीय चरित्र**—*योजना हेतु प्रारम्भिक अनुसन्धान-कार्य करने और उसके कार्यक्रमो* को सफलतापूर्वक कार्यान्वित करने हेतु देश मे एक ऐसे समुदाय की आवश्यकता है जिसका नैतिक चरित्र दृढ एव उच्च हो, जो अपने कर्तव्य की पराकाष्ठा का ज्ञान रखता हो, देश की परिवर्तित परिस्थितियो के अनुकूल अदभुत आवश्यकताओ की सन्तुष्टि हेतु उसने अपने जीवन को ढाल लिया हो, नयी चेतना एव नवीन जागरण का साथ दे सके तथा मनसा वाचा कर्मणा आर्थिक विकास मे अपना सहयोग दे सके क्योकि नियोजन विद्युत-शक्ति नही जो बटन दबाते ही सब कुछ कर सके। नैतिकता का स्थान जीवन के किस क्षेत्र मे नही ? नियोजन जीवन से पृथक् होकर कुछ भी नही है। वह जीवन का प्रमुख अग है। अल्प-विकसित राष्ट्रो मे प्राकृतिक अनुकम्पा के उपरान्त मानवीय भावनाओ की अनुकूलता ही अत्यन्त अनिवार्य है। नियोजन का क्रियान्वीकरण उन्ही पर होना है, उनके स्वभाव की अनुकूलता वाछनीय है।

(7) **जनता का सहयोग**—आज का नियोजन यदि असफल होगा तो केवल इसी कारण कि उसे जनता का पूर्ण समर्थन प्राप्त न हो सका। अल्प-विकसित राष्ट्रो मे विशेषत जहाँ प्रजातान्त्रिक समाज हो, जनसमुदाय का पूर्णतम सहयोग अत्यावश्यक है। जनता मे नियोजन के कार्यक्रमो के प्रति अक्षय जागरूकता एव विशेष प्रकार की श्रद्धा-भावना की आवश्यकता है। इसके लिए जनता को अपनी विचारधारा विस्तृत करनी होगी क्योकि नियोजन का उद्देश्य अधिकतम सामाजिक हित होता है। समान भावना की दशा से ही सतैक्यता आ सकती है और तभी सहयोग एव समर्थन सम्भव है। प्रजातन्त्र मे जनता सर्वोच्च सत्ता है। यदि उसका समर्थन एव सहयोग न होगा तो राज्य का प्रत्येक प्रयत्न विफल होगा। नियोजनकाल सकटकाल (Transitional Period) होता है। जनता को अतिशय कष्टो एव कठिनाइयो का सामना करना पडता है। रूढिवादी व अशिक्षित जनता यह करने को सहर्ष तत्पर नही होती। नियोजन को यह प्रयत्न करना चाहिए तथा इस प्रकार की योजनाओ का निर्माण भी होना चाहिए जिससे उन्हे उसी जनता का अधिकतम सम्भव समर्थन एव सहयोग प्राप्त हो सके। जनता के हृदय मे परिणामो के प्रति एक विश्वास की भावना जाग्रत की जानी चाहिए।

(8) **शासन-सम्बन्धी कार्यक्षमता**—यदि वास्तव मे देखा जाय तो यही तत्व नियोजन की सफलता का सर्वाधिक महत्वपूर्ण आवश्यक लक्षण है। प्रबन्ध-सम्बन्धी अक्षमता समस्त ऊपर वर्णित तत्वो की प्राप्ति *को निरर्थक सिद्ध कर सकती है। योजना के प्रारम्भिक निर्माण से लेकर अन्त तक* यदि योजना का कभी विरोध होगा तो उसका कारण होगा—प्रबन्ध की अकुशलता। प्रबन्ध द्वारा ही उपर्युक्त तत्वों को एकत्र किया जा सकता है। फिर, समस्त तत्व जो गौण है, प्रमुख तो यही है कि किस प्रकार योजना को कार्यान्वित किया जाय। यह क्षमता है प्रबन्ध मे। लक्ष्यो की प्राप्ति क्षमतानुसार ही होगी, यह निश्चित है क्योंकि समस्त जनता योजना का कार्य सम्पादन नही करेगी, प्रत्युत उनके प्रतिनिधि-अधिकारी ही इस कार्य-भार को वहन करेंगे। अध्ययन, ज्ञान, कुशलता एव प्रवीणता के साथ ही विवेक आता है। विवेक ही सफल नियोजन है, यह कहना अनुचित न होगा। समस्त उपलब्ध साधनों को एकत्रित करना, उनको विभिन्न मदो पर विवेकपूर्ण रीति से आवटित करना, प्रगति का निरीक्षण करना, कार्य-विधि पर नियमन एव नियन्त्रण रखना आदि सभी कार्य प्रबन्धन की कार्यकुशलता पर आधारित है। ससार मे व्यक्तिगत स्वार्थ से बढकर कुछ नही। ऐसा पूर्ण सम्भव है कि प्रबन्ध-सम्बन्धी अकिंचन शिथिलता अधिकतम सामाजिक हित के स्थान पर *अधिकतम व्यक्तिगत लाभ का स्थान ले ले और नियोजन अनियोजन हो जाय। प्रबन्ध-सम्बन्धी* कार्यक्षमता ही अन्य आवश्यक तत्वो को सम्मिलित कर सफलता की ओर अग्रसर हो सकती है।

(9) **प्रगति की दर**—*नियोजित अर्थ-व्यवस्था के कार्यक्रम निर्धारित करते समय प्रगति की*

दर निर्धारित करना भी आवश्यक होता है। विकास की गति, जनसख्या की वृद्धि की दर, देश मे उपलब्ध साधन तथा जनसमुदाय की बचत विनियोजन करने की क्षमता पर निर्भर रहती है। यदि पूँजी तथा उत्पादन का अनुपात अधिक रखना आवश्यक हो तो पूँजी-प्रधान उत्पादन-तान्त्रिकताओ के उपयोग को प्राथमिकता दी जानी चाहिए, परन्तु जनसख्या की वृद्धि-दर अधिक होने पर पूँजी प्रधान विधियो के उपयोग से बेरोजगारी की समस्या गम्भीर रूप ग्रहण कर सकती है क्योंकि पूँजी-प्रधान विधियों मे श्रमिक का प्रतिस्थापन मशीनो द्वारा हो जाता है और इस प्रकार आर्थिक प्रगति एव अधिक विनियोजन होते हुए भी रोजगार के अवसरो मे पर्याप्त वृद्धि नही होती है। ऐसी परिस्थिति मे अर्थ-व्यवस्था के कुछ क्षेत्रो मे पूँजी प्रधान और कुछ क्षेत्रो में श्रम-प्रधान विधियों का उपयोग करना आवश्यक होता है। श्रम-प्रधान विधियो का उपयोग प्राय उपभोक्ता-वस्तुओ के उद्योगो मे किया जाता है और लघु एव ग्रामीण उद्योगो को विकसित किया जाता है, परन्तु इन विधियों *द्वारा पूँजी एव उत्पादन की दर ऊँची रखना सम्भव नही होता है और विकास की गति मन्द रहती है।* इसके अतिरिक्त पूँजी-प्रधान एव श्रम-प्रधान विधियो मे समन्वय स्थापित करने की आवश्यकता होती है। इस प्रकार प्रगति की दर मे धीरे-धीरे ही वृद्धि की जा सकती है।

(10) **क्षेत्र का चुनाव**—नियोजित अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न कार्यक्रमो के लिए क्षेत्र का चुनाव करना भी आवश्यक होता है। साम्यवादी नियोजन मे समस्त कार्यक्रम सरकारी क्षेत्र मे सचालित किये जाते हैं, परन्तु समाजवादी तथा प्रजातान्त्रिक नियोजन मे विभिन्न आर्थिक क्रियाओ के क्षेत्र का चुनाव करने की आवश्यकता होती है। योजना का सचालन करने से पूर्व योजना-अधिकारी को यह निर्धारित करना होता है कि विकास-कार्यक्रमो मे सरकारी क्षेत्र, निजी क्षेत्र, मिश्रित क्षेत्र तथा सहकारी क्षेत्र को क्या योगदान देना होगा ?

(11) **नियोजन-सगठन का कलेवर**—सफल नियोजित अर्थ-व्यवस्था हेतु नियोजन की उचित सगठन व्यवस्था की जानी चाहिए। यह सगठन इस प्रकार बनाया जाय कि योजना के प्रत्येक अग के लिए पृथक्-पृथक् विभागो एव अधिकारियो को उत्तरदायी रखा जा सके। इस सगठन मे अर्थशास्त्रीय एव सांख्यिकीय विश्लेषण के विशेषज्ञ, तान्त्रिक विशेषज्ञ एव प्रशासनिक कार्यों के विशेषज्ञ सम्मिलित होने चाहिए। इसके अतिरिक्त विकास सम्बन्धी नीतियो (वित्तीय, मौद्रिक, विदेशी भुगतान-शेष आदि) का विशिष्ट ज्ञान रखने वाले विशेषज्ञ एव अर्थ व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रो (कृषि, उद्योग, यातायात, सचार, श्रम, लघु उद्योग, सिंचाई, शक्ति आदि) का व्यावहारिक ज्ञान रखने वाले व्यक्तियो को या तो नियोजन-सगठन मे स्थान दिया जाना चाहिए अथवा इनकी विशिष्ट सलाह एव योगदान नियोजन-सगठन को प्राप्त होना चाहिए। इसके लिए नियोजन सगठन एव राजकीय सस्थाओ के पारस्परिक सम्बन्धो को स्पष्ट रूप मे पारिभाषित किया जाना चाहिए।

नियोजन सगठन को राष्ट्रव्यापी अधिकार एव सहयोग प्राप्त होने चाहिए। उसे अर्थ-व्यवस्था की विभिन्न आर्थिक एव सामाजिक सस्थाओ को निर्देश देने का अधिकार होना चाहिए तथा साधनों के उपयोग का आवटन एव निरीक्षण करने का अधिकार मिलना चाहिए। नियोजन की सफलतार्थ नियोजन सम्बन्धी तीन प्रमुख क्रियाओं का स्पष्ट पृथक्कीकरण होना आवश्यक होता है। ये क्रियाएँ हैं—योजना का निर्माण, योजना का क्रियान्वयन तथा योजना का पर्यवेक्षण एव मूल्यांकन। *योजना के निर्माण का कार्य योजना आयोग—जो कि विशेषज्ञों की सस्था होती है—द्वारा* किया जाता है और इसे लोक सभा द्वारा स्वीकृति प्रदान की जाती है। योजनाओं के क्रियान्वयन का कार्य विभिन्न शासकीय विभागो स्थानीय सस्थाओ तथा समाभेलित सगठनो को दिया जाता है। योजनाओं के मूल्याकन एव पर्यवेक्षण का कार्य एक पृथक् स्वतन्त्र सस्था द्वारा किया जाना चाहिए। भारत में मूल्याकन का कार्य भी योजना आयोग द्वारा किया जाता है। हमारे देश मे नियोजन क्रियाओ के पृथक्करण सिद्धान्त को पूरी तरह नही अपनाया गया है।

(12) **विकास एव आर्थिक स्थिरता में समन्वय**—सामान्यत यह मान लिया जाता है कि विकास एव अस्थिरता (Destabilisation) एक-दूसरे के घनिष्ट साथी होते हैं, परन्तु नियोजित

अर्थ-व्यवस्था की सफलता हेतु प्रारम्भ से ही आर्थिक स्थिरता (Economic Stabilisation) के विशेष प्रयत्न किये जाने चाहिए। योजना-अधिकारी को योजना के प्रत्यय से मौद्रिक एव वित्तीय नीतियो का इस प्रकार सचालन करना चाहिए कि अधिक विनियोजन एव आय के फलस्वरूप मूल्य-स्तर मे अनुचित वृद्धि न हो। 68122

(13) **प्रत्येक योजना को दीर्घकालीन योजना-चरण मानना**—नियोजित अर्थ-व्यवस्था के सफल सचालन का उद्देश्य अर्थ-व्यवस्था मे दीर्घकालीन वाछित प्रगति करना होता है। परन्तु योजनाएँ 5 से 7 वर्ष के काल के लिए निर्धारित होनी चाहिए क्योकि इतने काल के लिए उचित-रूप से अनुमान लगाये जा सकते है। इन 5 से 7 वर्षीय योजनाओ को दीर्घकालीन योजना का अग मानकर इनके कार्यक्रम निर्धारित किये जाने चाहिए अर्थात् जो कोई भी योजनाएँ निकट भविष्य के के लिए जायँ, वह सुदूर-भविष्य की योजनाओ के उद्देश्यो की ओर एक बढ़ता हुआ कदम होना चाहिए। नियोजित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत सस्थनीय परिवर्तन करना आवश्यक होता है और यह सस्थनीय परिवर्तन दीर्घकाल मे ही पूरे हो जाते है। प्रत्येक अल्पकालीन योजना मे इन सस्थनीय परिवर्तनो का आयोजन इस प्रकार किया चाहिए कि निश्चित दीर्घकाल मे वाछित सस्थनीय परिवर्तन किये जा सके।

(14) **निजी क्षेत्र के विकास-कार्यक्रमो का आयोजन**—नियोजन-सस्था सरकारी क्षेत्र के लिए विनियोजन कार्यक्रम निर्धारित कर सकती है, परन्तु निजी क्षेत्र के विनियोजन-कार्यक्रमो को निर्धारित करना असम्भव होता है क्योकि क्षेत्र उपस्थित परिस्थितियो के अनुकूल विनियोजन-सम्बन्धी निर्णय करता है और ये परिस्थितियाँ सदैव तीव्र गति से बदलती रहती है। ऐसी नियोजन सस्था द्वारा निर्धारित किये गये निजी क्षेत्र का विकास-कार्यक्रम कोई अर्थ नही रखता है। इस प्रकार नियोजन-सस्था निजी क्षेत्र के लिए विनियोजन एव उत्पादन के सम्बन्ध मे केवल अनुमान लगा सकती है, परन्तु ऐसी अर्थ-व्यवस्था मे, जहाँ निजी क्षेत्र मे अर्थ-व्यवस्था के अधिकतर भाग आच्छादित हो, कोई भी उचित योजना बिना निजी क्षेत्र के विकास एव विनियोजित कार्यक्रमो के लिए नही बनायी जा सकती है। ऐसी परिस्थिति मे निजी क्षेत्र का विनियोजन का प्रकार निर्धारित करके मौद्रिक, वित्तीय, भूमि-प्रबन्धन, लाइसेन्स देने आदि की नीतियो द्वारा निजी विनियोजन को वाछित क्षेत्रो मे प्रवाहित करने के लिए राज्य प्रोत्साहित एव विवश कर सकता है। निजी क्षेत्र के विकास-कार्यक्रमो को लचीला बनाना चाहिए जिससे परिस्थितियो के परिवर्तित होने के कार्यक्रमो मे भी परिवर्तन किये जा सकें।

(15) **आय की वृद्धि एव रोजगार के लिए पृथक्-पृथक् आयोजन**—अल्प-विकसित राष्ट्रो मे विकास-कार्यक्रमो के सचालन के फलस्वरूप आय मे तो वृद्धि होती है परन्तु उसके अनुरूप रोजगार मे वृद्धि नही होती है। इस कारण योजनाओ की सफलता के लिए नियोजित कार्यक्रमो मे आय की वृद्धि के आयोजन एव रोजगार की वृद्धि के विशेष आयोजन किये जाने चाहिए।

(16) **नियोजन के कार्यक्रमो मे संगतिता**—नियोजन के कार्यक्रमो मे पारस्परिक सामजस्य एव समन्वय की अत्यधिक आवश्यकता होती है। प्रत्येक कार्यक्रम अन्य कार्यक्रमो का पूरक एव सहायक होना चाहिए अन्यथा नियोजन के क्रियान्वयन अवरोध उत्पन्न हो जायेंगे। नियोजन के कार्यक्रमो का नियोजन के उद्देश्यो के साथ तो सामजस्य होना ही चाहिए साथ ही साथ उनमे पारस्परिक विरोधाभास नही होना चाहिए। प्राय विकास एव कल्याण इन दोनो उद्देश्यो की पूर्ति करने हेतु जो कार्यक्रम निर्धारित किये जाते है उनमे असावधानी के कारण विरोधाभास उत्पन्न हो जाता है और विकास के उद्देश्य की तो पूर्ति हो जाती है परन्तु कल्याण पक्ष कमजोर रह जाता है। योजना के उद्देश्यो, व्यूह रचना, नीतियो एव कार्यक्रमो से भी सामजस्य स्थापित करके नियोजन को सफल बनाया जा सकता है।

(17) **प्रभावशाली आर्थिक नियन्त्रण एवं प्रोत्साहन**—नियोजन की सफलतार्थ आर्थिक नियन्त्रणो का कुशल क्रियान्वयन अत्यन्त आवश्यक होता है। आर्थिक नियन्त्रणो की कुशल व्यवस्था पर

साधनों का आवटन आय का वितरण, प्राथमिकताओं के अनुसार विनियोजन आदि समस्त प्रक्रियाएं निर्भर रहती है। आर्थिक नियन्त्रण नियोजित अर्थ-व्यवस्था के सन्तुलन का आधार होते हैं। आर्थिक नियन्त्रणों के साथ-साथ आर्थिक प्रोत्साहनों की व्यवस्था भी सफलता हेतु आवश्यक होती है। नियोजित अर्थ व्यवस्था के अन्तर्गत जब आर्थिक विषमताओं को कम किया जाता है तो आर्थिक एव सामाजिक प्रोत्साहनों द्वारा कार्यकुशलता एव साहस की गतिशीलता स्थापित की जाती है। आर्थिक प्रोत्साहनों के अन्तर्गत लाभ के स्थान पर कार्यानुसार मजदूरी एव बोनस की व्यवस्था की जाती है। आर्थिक प्रोत्साहनों के साथ-साथ समाजवादी प्रतिस्पर्द्धा का आयोजन किया जाता है और कुशल श्रमिकों को सामाजिक प्रतिष्ठा एव पद प्रदान किये जाते हैं।

(18) **मूल्य नीति एव मूल्य यान्त्रिकता**—नियोजन की सफलता हेतु उचित मूल्य-नीति का सचालन आवश्यक होता है क्योंकि उचित मूल्य नीति द्वारा ही अर्थ-व्यवस्था में माँग एव पूर्ति, बचत एव विनियोजन उपभोग एव उत्पादन और विदेशी विनिमय के क्षेत्र में सन्तुलन स्थापित किया जा सकता है। नियोजन के लक्ष्यों एव कार्यक्रमों का मौद्रिक मूल्याकन तभी किया जा सकता है जबकि मूल्य यान्त्रिकता विद्यमान हो। यही कारण है कि साम्यवादी राष्ट्रों में छाया मूल्यों का उपयोग इस हेतु किया जाता है। योजना सम्बन्धी सभी आर्थिक गणनाएँ तभी उपयोगी हो सकती है जबकि उचित मूल्य-यान्त्रिकता का सचालन किया जाय।

(19) **नियोजन के कार्यक्रमों में लचीलापन**—नियोजन के कार्यक्रमों में पर्याप्त लचीलापन रखा जाना चाहिए क्योंकि आर्थिक पूर्वानुमान बहुत कम पूरी तरह सही बैठते हैं। आर्थिक परिस्थितियों में इतनी तीव्रगति से परिवर्तन होते रहते हैं कि विकास कार्यक्रमों में निरन्तर फेर-बदल करना आवश्यक होता है। योजना के सचालन के अन्तर्गत यदि पूर्वानुमान की तुलना में अधिक अनुकूल परिस्थितियाँ उदय हो जायें तो इन अनुकूल परिस्थितियों के अनुरूप योजना के कार्यक्रमों एव लक्ष्यों में परिवर्तन किया जाना चाहिए। इसी प्रकार प्रतिकूल परिस्थितियाँ उदय होने पर भी कार्यक्रमों में परिवर्तन किया जाना चाहिए।

(20) **क्षेत्रीयता**—नियोजन की सफलता के लिए विकास कार्यक्रमों का निर्धारण क्षेत्रीय आवश्यकताओं के आधार पर किया जाना चाहिए। भारत जैसे बड़े राष्ट्र में विभिन्न क्षेत्रों की आर्थिक एव सामाजिक परिस्थितियों में बहुत अधिक भिन्नता होती है। स्थानीय साधनों का उपयोग करने तथा विकास प्रक्रिया के छितराव को व्यावहारिक बनाने के लिए क्षेत्रों के आधार पर विकास कार्यक्रम निर्धारित एव सचालित किये जाने चाहिए। आर्थिक एव सामाजिक विषमताओं को कम करने के लिए भी क्षेत्रीय नियोजन आवश्यक होता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि योजना की सफलता इन सभी तत्वों के एकीकृत एव सम्मिलित गतिमान होने का परिणाम होता है। एक भी तत्व का अभाव समस्त योजना को शिथिल बना देता है।

12

नियोजन के अन्तर्गत साधनों का आवंटन तथा प्रोत्साहनों की समस्या

[ALLOCATION OF RESOURCES AND PROBLEM OF INCENTIVES OF PLANNING]

पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था विपणि-तान्त्रिकता के अन्तर्गत मूल्य, माँग एवं पूर्ति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण निर्धारक-तत्व होता है। ऐसी अर्थ-व्यवस्था में किसी वस्तु अथवा सेवा का उपभोग एवं उत्पादन दोनों ही उस वस्तु के मूल्य पर निर्भर रहते हैं। एक पूर्णत: प्रतिस्पर्द्धी अर्थ-व्यवस्था में मूल्य-यान्त्रिकता के अन्तर्गत उत्पादन के साधनों का उपयोग अधिकतम सीमान्त उत्पादन-क्षमता के आधार पर किया जाता है और उत्पादन के प्रत्येक साधन को भुगतान उस साधन की सीमान्त उत्पादकता के आधार पर किया जाता है। मूल्य-यान्त्रिकता के अन्तर्गत इस प्रकार उत्पादन के प्रत्येक साधन का अनुकूलतम उपयोग किया जाता है और मूल्य उत्पादन के साधनों के आवंटन का निर्धारक तत्व बनता है। जिस व्यवसाय में साधनों का सम्मिश्रण अनुकूलतम होता है, वह व्यवसाय सर्वाधिक लाभोपार्जन करता है। परन्तु इस प्रक्रिया के साथ एक बहुत बड़ी शर्त जुड़ी रहती है और वह है पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा के अन्तर्गत सन्तुलन स्थापित होना। जब पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा विद्यमान नहीं होती है तो मूल्य-यान्त्रिकता की प्रक्रिया भी साधनों का अनुकूलतम आवंटन करने में असमर्थ रहती है। जैसा सर्वविदित है कि पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा केवल एक सैद्धान्तिक मान्यता है क्योंकि इसका विद्यमान रहना अव्यावहारिक है। ऐसी परिस्थिति में मूल्य-यान्त्रिकता को साधनों के अनुकूलतम आवंटन के लिए मुक्त नहीं छोड़ा जा सकता है क्योंकि इसके मुक्त रहने पर साधनों का अपव्यय होने लगता है। एक नियोजित अर्थ व्यवस्था में इसी कारण मूल्य एवं विपणि-यान्त्रिकता के द्वारा साधनों के आवंटन को खुली छूट नहीं दी जाती है। नियोजन के अन्तर्गत साधनों का आवंटन निम्नलिखित विश्लेषण के आधार पर किया जाता है

साधनों के आवंटन के आधार

(1) उत्पादन-घटकों की व्यवस्था की स्थिति का विश्लेषण।
(2) आर्थिक प्रगति की गतिशीलता का विश्लेषण।
(3) विशिष्ट समस्याओं के निवारण का विश्लेषण।
(4) समय घटक विश्लेषण।
(5) विनियोजन संगति विश्लेषण।
(6) सीमान्त सामाजिक उत्पादकता विश्लेषण।
(7) प्रति व्यक्ति पुनर्विनियोजन हेतु सीमान्त साधनों की उपलब्धि का विश्लेषण।
(8) डॉब-सेन का समय विश्लेषण।
(9) पूँजी उत्पाद-अनुपात विश्लेषण।
(10) श्रम-पूँजी अनुपात विश्लेषण।
(11) भुगतान सन्तुलन विश्लेषण।

(12) आय सन्तुलन विश्लेषण।

(13) क्षेत्रीय सन्तुलन विश्लेषण।

(14) आर्थिक एवं सामाजिक सरचना का विश्लेषण।

साधनों के आवंटन सम्बन्धी इन सभी विश्लेषणों का अध्ययन 'पूँजी-निर्माण एवं आर्थिक प्रगति' के अध्याय मे विनियोजन गुणमान (Investment Criteria) के अन्तर्गत किया गया है।

साधनों का आवंटन एवं मूल्य-यान्त्रिकता

साधनों के उचित आवटन हेतु उत्पादन, उपभोग, विनियोजन, आयात एवं निर्यात सभी पर इस प्रकार समन्वित नियन्त्रण करने की आवश्यकता होती है कि आर्थिक प्रगति के साथ सामाजिक न्याय की व्यवस्था की जा सके। मुक्त मूल्य-व्यवस्था योजना के लक्ष्यों की प्राप्ति मे बाधाएँ उपस्थित करती है और इसी कारण नियन्त्रित मूल्य यान्त्रिकता का उपयोग नियोजन के अन्तर्गत किया जाता है। अपूर्ण विपणि-सरचना में साधनों के वास्तविक मूल्यों एवं उनकी सीमान्त उत्पादकता मे बहुत अन्तर रहता है जिसके परिणामस्वरूप उत्पादन के साधनों का त्रुटिपूर्ण आवटन होता है और रोजगार एवं उत्पादन का स्तर अनुकूलतम नहीं हो पाता है। ऐसी परिस्थिति मे साधनों के अनुकूलतम आवटन हेतु छाया-मूल्यों (Shadow Prices) की सहायता ली जाती है।

नियोजन-प्रविधि मे छाया-मूल्यों के आधार पर आवंटन

जब वास्तविक मूल्य, अर्थ-व्यवस्था में साधनों का योजना के लक्ष्यों के अनुरूप, आवटन करने मे असमर्थ रहते है तो छाया-मूल्यों के आधार पर साधनों के आवटन सम्बन्धी निर्णय नियोजकों द्वारा लिये जाते है। *छाया-मूल्य वास्तव मे माने हुए नाममात्र के मूल्य होते है जिनके आधार* पर अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न खण्डो के विनियोजन का मूल्याकन किया जाता है। उत्पादन के किसी साधन (आदाय—Input), जैसे पूँजी, श्रम, विदेशी विनिमय, साहस आदि का छाया-मूल्य उसकी 'अवसर-लागत' (Opportunity Cost) के बराबर होता है। दूसरे शब्दों मे, यह कह सकते है कि किसी आदाय का छाया-मूल्य उस हानि के बराबर समझा जाता है जो उस आदाय की एक इकाई के कम होने से अर्थ-व्यवस्था को पहुँच सकती है। जिस साधन की अर्थ-व्यवस्था मे पूर्ति कम होती है, उसका छाया-मूल्य उसके वास्तविक मूल्य से अधिक होता है और जिस साधन का अतिरेक होता है, उसका छाया-मूल्य वास्तविक मूल्य से कम होता है। छाया-मूल्यों के आधार पर इस प्रकार नियोजक विभिन्न परियोजनाओं का लागत-लाभ-अनुपात ज्ञात कर सकता है और जिस परियोजना मे लागत-लाभ-अनुपात सबसे कम होता है, उसमे साधनो का उपयोग किया जा सकता है। परन्तु छाया-मूल्यों का निर्धारण आसानी से करना सम्भव नही होता है। विपणि मे मूल्यों के समूह का *समूह विद्यमान होता है और इनमे किसी एक मे छाया-मूल्य को जोड़ने मे कठिनाई होती है।* इसके अतिरिक्त निजी साहसी एवं सरकारी अधिकारी छाया-मूल्यों पर आधारित परियोजनाओं को स्वेच्छा से स्वीकार नहीं करते हैं। पूँजी का छाया-मूल्य ब्याज की दरों पर आधारित किया जाता है। छाया-ब्याज दर ज्ञात करने के लिए पूँजी की माँग एवं पूर्ति को प्रभावित करने वाले घटकों पर विचार किया जाता है। विकासशील राष्ट्रों मे पूँजी की पूर्ति एवं ब्याज-दर मे घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं होता है। ऐसी परिस्थिति मे पूँजी का छाया-मूल्य उसकी सीमान्त उत्पादकता पर आधारित करना होता है। परन्तु सार्वजनिक क्षेत्र के व्यवसायों मे सीमान्त उत्पादकता का ही आधार नही माना जा सकता है क्योंकि इनमें बहुत से व्यवसाय लाभ हेतु सचालित नहीं किये जाते है। इस परिस्थिति मे पूँजी का छाया-मूल्य लाभ हेतु एवं गैर-लाभ हेतु सार्वजनिक व्यवसायों के लिए पृथक्-पृथक् निर्धारित करने की आवश्यकता होती है।

श्रम का छाया-मूल्य निर्धारित करने मे और अधिक कठिनाइयाँ आती है। श्रम के प्रकार अत्यधिक होते है और उनमें से किसी को जीवन-निर्वाह-स्तर से कम मजदूरी नही दी जा सकती है, चाहे श्रम की पूर्ति कितनी भी अधिक क्यों न हो जाय। अदृश्य बेरोजगारों की सीमान्त उत्पादकता

लगभग शून्य के बराबर होती है। ऐसे श्रम का छाया-मूल्य, श्रम की कृषि से औद्योगिक क्षेत्र मे लाने की लागत (जिसमे प्रशिक्षण, निवास-गृह एव अन्य सुविधाएँ सम्मिलित होती हैं) के बराबर समझा जा सकता है। अल्प-विकसित राष्ट्रो मे छाया-मूल्यो के आधार पर यह निर्धारित करना सम्भव हो सकता है कि कितने श्रम का प्रतिस्थापन, कितनी पूँजी से किया जा सकता है और इस आधार पर पूँजी प्रधान एव श्रम-प्रधान तान्त्रिकताओ के मतभेद को आसानी से सुलझाया जा सकता है। यदि पूँजी का ऐसे क्षेत्रो मे उपयोग किया जाय, जहाँ श्रम के द्वारा भी वही उत्पादन किया जा सकता है, जैसे दस्तकारी, तो उत्पादन की लागत तो कम हो सकती है जिससे विनियोजकों को अधिक लाभ प्राप्त होगा परन्तु सामाजिक दृष्टिकोण से पूँजी की सीमान्त उपयोगिता शून्य के बराबर होगी। ऐसी परिस्थिति मे पूँजी का उपयोग अन्य वैकल्पिक क्षेत्रो में किया जा सकता है, जहाँ सामाजिक एव आर्थिक दोनो ही दृष्टिकोणो से अधिकतम लाभ प्राप्त हो सकता हो।

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था में छाया-मूल्य

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत जब विकास-योजना का सचालन किया जाता है तो छाया-मूल्य-यान्त्रिकता का उपयोग करना कठिन होता है। सरकारी क्षेत्र के व्यवसायो के लिए छाया-मूल्यो के आधार पर साधनो के आवटन का निर्णय किया जा सकता है परन्तु निजी क्षेत्र को छाया-मूल्यो के आधार पर निर्णय करने के लिए विवश नही किया जा सकता है और जब सरकारी एव निजी क्षेत्र मे पृथक्-पृथक् मूल्यो के आधार पर निर्णय किये जाते हैं तो अर्थ-व्यवस्था मे असन्तुलन का उदय होना स्वाभाविक होता है। ऐसी परिस्थिति मे राजकोषीय एव मौद्रिक नीतियो तथा प्रत्यक्ष मूल्य-नियन्त्रण द्वारा बाजार-मूल्य को छाया-मूल्य के लगभग बराबर रखने का प्रयत्न किया जाता है। कर, शुल्क एव अनुदान-नीति से सरकार द्वारा इस प्रकार समायोजन किये जाते हैं कि उत्पादन के घटको एव वस्तुओं के मूल्य ऐसे स्तर पर बने रहे कि साधनो का आवटन अधिकतम अथवा अनुकूलतम उत्पादन प्रदान कर सके। भारत मे आर्थिक नियोजन के सचालन के बीस वर्षो के अवलोकन से ज्ञात होता है कि सरकार के मूल्यो को नियन्त्रित करने के प्रयास प्राय: सफल नही रहते हैं और इस सम्बन्ध मे जो भी नीतियाँ अपनायी जाती हैं, वे अधिक प्रभावशाली नही रहती हैं। भारत मे यद्यपि छाया-मूल्यों की यान्त्रिकता का उपयोग नियोजित विकास के कार्यक्रमो के निर्धारण हेतु नही किया गया है परन्तु मूल्यो को नियन्त्रित करने के भरसक प्रयत्न किये गये हैं। सरकार की मूल्य-नियन्त्रण की प्रक्रिया की प्रतिक्रियास्वरूप देश मे दो समान्तर—मूल्य-नियन्त्रित मूल्य एव काला बाजार-मूल्य—विद्यमान है जिसके परिणामस्वरूप उत्पादन के साधनो का आवटन अनुकूलतम नही हो पा रहा है। काला बाजार-मूल्य के आधार पर निजी क्षेत्र मे बड़े पैमाने पर विनियोजन-सम्बन्धी निर्णय लिये गये हैं जिनके अन्तर्गत साधनो का सामाजिक एव आर्थिक दृष्टिकोण से अनुकूलतम उपयोग नही हो पाता है। काले धन का विनियोजन प्राथमिकता-प्राप्त उद्योगो, व्यवसायों एव परियोजनाओ मे निजी साहसी इसलिए नही करता है कि वह वित्तीय अपराध का शिकार बन सकता है। यही कारण है कि हमारे देश मे बचत एव विनियोजन की दर मे निरन्तर उच्चावचान होते रहते है और विकास कार्यक्रमों हेतु साधनो की कमी रहती है। दूसरी ओर काले-बाजार के अन्तर्गत साधनो का अपव्यय निरन्तर बढता जा रहा है। साधनो के अपव्यय से हमारा तात्पर्य यह है कि साधनो का अधिकतम उपयोग सामाजिक एव आर्थिक हित हेतु नही होता है, जबकि व्यक्तिगत साहसी अथवा विनियोजक को अधिक आय उपार्जित होती रहती है। काले-बाजार के अन्तर्गत लाभ की दर अधिक होने के कारण साधनो का वस्तुओ के सग्रहण करने, आर्थिक अपराध करने, तस्करी-व्यापार करने एव समाज के लिए हानिकारक कार्यवाहियाँ करने पर उपयोग हो जाता है। साधनों का इस प्रकार अपव्यय ही मिश्रित अर्थ-व्यवस्था की सबसे बडी दुर्बलता बनती जा रही है और इससे नियोजित विकास में गतिरोध उत्पन्न होते है।

नियोजन के अन्तर्गत प्रोत्साहनों की समस्या

पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था मे प्रोत्साहनो की समस्या का निवारण व्यक्तिगत लाभ, सुविधाओ

एव स्वतन्त्रताओ के द्वारा स्वत- ही होता रहता है। पूंजीपति अपने लाभ मे व्यक्तिगत रुचि रखता है और अपनी पूंजी के अधिकतम लाभ हेतु उपयोग करने के लिए प्रयत्नशील रहता है। पूंजीपति अपने लाभ को बढ़ाने के लिए श्रमिको को भी आर्थिक एव अन्य प्रलोभन अधिक एव अच्छा उत्पादन करने हेतु देता रहता है। साथ ही पूंजीपति श्रमिको से व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित करके उनको सन्तुष्ट रखता है और उनकी सद्भावना का लाभ उठाता है। उत्पादन की प्रक्रिया मे उन समस्त तत्वो, जिनमे मानवीय प्रयास भी निहित रहता है, प्रोत्साहन की आवश्यकता होती है क्योकि मानव को मौद्रिक आय के अतिरिक्त मानवीय सम्बन्धो एव मनोवैज्ञानिक सन्तोष की भी आवश्यकता होती है। मानव एक मशीन के समान उत्पादन-क्रिया को दूसरो की इच्छानुसार निष्पादित नही कर सकता है क्योकि उसमे स्वय विचार करने, महसूस करने एव सहयोग करने की क्षमता होती है और जब तक उसे मनोवैज्ञानिक सन्तोष नही प्राप्त होता है, वह अपनी उत्पादन-योग्यता का सम्पूर्ण लाभ प्रदान नही कर सकता है। आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत आर्थिक क्रियाओ का सचालन राज्य के निर्देशानुसार किया जाता है। उत्पादन के साधनो पर समाज का अधिकार होता है और उनके अनुकूलतम उपयोग को योजना-अधिकारी निर्देशित करता है। नियोजन-व्यवस्था मे इस प्रकार उत्पादन-प्रक्रिया मे सचालन का दायित्व ऐसे कर्मचारियो पर होता है जिन्हे निश्चित वेतन एव भत्ते मिलते है और जिन्हे व्यक्तिगत रूप से उत्पादन-क्रियाओ की सफलता से कोई विशेष लाभ प्राप्त होने की सम्भावना नही होती है। नियोजित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत इस प्रकार *उत्पादन-क्रिया का सचालन व्यक्तिवादी नही होता है जिसके परिणामस्वरूप प्रोत्साहन की समस्या* उदय होती है।

प्रोत्साहनो के प्रकार

प्रोत्साहन दो प्रकार के होते है—मौद्रिक एव अमौद्रिक। मौद्रिक प्रोत्साहनो के अन्तर्गत कर्मचारियो के कार्य-निष्पादन के गुण, समय एव परिणाम के आधार पर उन्हे मौद्रिक लाभ प्रदान किये जाते है। जो कर्मचारी प्रमापित कार्य मे कम, कम गुण वाला अथवा अधिक समय मे कार्य निष्पादित करते है, उन्हे मौद्रिक दण्ड भी दिये जाते हैं। मशीन एव औजारो का लापरवाही से उपयोग करने के कारण जो टूट-फूट होती है, उसके लिए भी कर्मचारी को दण्डित किया जाता है। जब कर्मचारी को दण्ड के स्वरूप मौद्रिक हानि पहुँचायी जाती है तो उसे नकारात्मक मौद्रिक प्रोत्साहन कहते है। दूसरी ओर मौद्रिक लाभ जब कर्मचारी को कार्य के पुरस्कारस्वरूप दिया जाता है तो उसे सकारात्मक प्रोत्साहन कहते है।

अमौद्रिक प्रोत्साहनो के अन्तर्गत उच्चतम प्रबन्ध-कला का उपयोग करके कर्मचारियो मे सन्तोष एव सुरक्षा की भावना उत्पन्न की जाती है जिससे वे अपने कार्य को अपने सम्पूर्ण परिश्रम एव योग्यता से निष्पादित करने के लिए उत्प्रेरित रहते हैं। अमौद्रिक प्रोत्साहनो के अन्तर्गत कर्मचारियो मे उत्तरदायित्व की भावना जागृत की जाती है, व्यवसाय के मामलो मे उनसे सलाह ली जाती है, उत्पीडन के निवारण की उचित व्यवस्था की जाती है, उनके व्यक्तिगत मामलो मे सलाह प्रदान करने की व्यवस्था की जाती है, उन्हे व्यवसाय की कार्य-व्यवस्था एव नीतियो की समय-समय पर जानकारी दी जाती है उनमे सुरक्षा-भावना जागृत करने के लिए पेन्शन, बेरोजगारी एव बीमारी के विरुद्ध बीमा, जीवन-बीमा, दुर्घटना होने पर क्षति-पूर्ति एव सहायता की व्यवस्था की जाती है। इसके अतिरिक्त कर्मचारियो को समाज-प्रतिष्ठा प्रदान करने का भी प्रयास किया जाता है।

आर्थिक नियोजन एवं प्रोत्साहन

आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत प्रोत्साहनो के स्तर मे कमी होना आवश्यक नही होता है क्योकि पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था मे भी व्यक्तिवादी आर्थिक सरचना उस रूप मे विद्यमान नही है जो अठारहवी एव उन्नीसवी शताब्दी मे थी। उस समय पूंजीपति स्वय पूंजी जुटाकर श्रमिक के साथ कन्धा से कन्धा मिलाकर कार्य करता था और वह पूंजीपति प्रबन्धक, पर्यवेक्षक एव श्रमिक

सभी का कार्य करता था। सयुक्त पूँजी वाली कम्पनियो एव वृहद् स्तरीय उत्पादन के प्रादुर्भाव से पूँजीपति (अशधारी) प्रबन्ध एव श्रमिक, सभी एक-दूसरे से अलग-अलग हो गये है। कारखानो मे कार्य करने वाले श्रमिक, को जो वास्तविक उत्पादन करता है, कुशल कार्य करने का सम्पूर्ण लाभ प्राप्त नही होता है क्योकि अशधारी इनके द्वारा उपार्जित उत्पादन के लाभ का बहुत बडा भाग लाभाश के रूप मे ले जाता है। नियोजित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत जब सरकार द्वारा कारखानो का सचालन किया जाता है तो श्रमिको के प्रोत्साहन को और अधिक बढाया जा सकता है क्योकि सरकार अशधारियो के समान अधिक लाभाश प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील नही होती है और सरकारी व्यवसायो से मिलने वाले लाभ को भी जनहित के लिए ही उपयोग किया जाता है। नियोजन के अन्तर्गत सरकार पूँजीपति का स्थान ग्रहण करती है और शेष प्रबन्ध-व्यवस्था जैसी की तैसी बनी रहती है। सरकार का दृष्टिकोण पूँजीपति की तुलना मे कल्याणकारी एव जन-हितकारी होता है। प्रोत्साहन की समस्त उन व्यवस्थाओ को, जो पूँजीवाद मे प्रचलित रहती है, नियोजन के अन्तर्गत भी जारी रखा जाता है। इसके अतिरिक्त गैर-मौद्रिक प्रोत्साहनो का व्यापक विस्तार किया जाता है। श्रमिक एव प्रबन्धक मे अधिकार की भावना जागृत हो जाती है क्योकि उन्हे व्यवसाय के प्रबन्ध मे अपने विचार व्यक्त करने तथा नीतियाँ निर्धारित करने हेतु अपनी सलाह देने का अधिकार दिया जाता है। इसके साथ ही श्रमिको मे यह भावना समाप्त हो जाती है कि उनके प्रयत्न का लाभ पूँजीपति को प्राप्त होता है। इस प्रकार अर्थ-व्यवस्था मे शोषण-तत्व का प्रतिस्थापन करके सामाजिक हित का प्रादुर्भाव होता है।

नियोजित अर्थ व्यवस्था के अन्तर्गत आय, अवसर एव धन के समान-वितरण को भी महत्व दिया जाता है। यही कारण है कि किसी भी श्रमिक को उसके जीवन निर्वाह-स्तर से कम परिश्रम नही दिया जाता है। इस न्यूनतम स्तर से अधिक पारिश्रमिक उसकी योग्यता, कार्य का प्रकार, कार्य निष्पादन, सहयोग एव अनुशासन की प्रवृत्ति आदि के आधार पर निर्भर रहता है। परन्तु इन सब गुणो के आधार पर अधिक पारिश्रमिक उसी सीमा तक प्रदान किया जाता है कि जिससे आर्थिक एव सामाजिक विषमता उदय न हो। ऐसी परिस्थिति मे मौद्रिक प्रोत्साहनो का उपयोग सीमित हो जाता है और अमौद्रिक प्रोत्साहनो को व्यापक बनाया जाता है। विभिन्न अध्ययनो से यह ज्ञात हुआ है कि मानव केवल धन के लिए अपने कार्य के प्रति उत्प्रेरित नही होता है बल्कि उसे समाज, प्रशासन एव राजनीति मे सम्मान से सन्तुष्टि उपलब्ध होती है। सम्मान से प्राप्त होने वाली सन्तुष्टि एव प्रेरणा मौद्रिक लाभो से प्राप्त होने वाली सन्तुष्टि से कही अधिक गहन होती है और अधिक समय तक श्रमिक मे विद्यमान रहती है। नियोजन के अन्तर्गत इसी कारण निम्न प्रकार के प्रोत्साहनो को विशेष महत्व दिया जाता है।

नियोजित अर्थ-व्यवस्था मे राज्य पूँजीपति का स्थान ग्रहण करता है परन्तु राज्य मे शोषण करने वाले तत्वो का कम समन्वय होता है जिसके परिणामस्वरूप कल्याणकारी उद्देश्यो से व्यवसायो का सचालन किया जाता है। सामाजिक स्वामित्व के अन्तर्गत साधनो का विवेकपूर्ण उपयोग होता है। अर्थ-व्यवस्था का सगठन एव प्रबन्ध की विधियाँ स्वत ही प्रोत्साहन को बनाये रखती है। समाजवादी अर्थ-व्यवस्था मे प्रोत्साहनो को दो प्रमुख घटक नियन्त्रित करते है, जो निम्न प्रकार है

(1) **समाजवादी उत्पादन सम्बन्ध**—समाजवादी अर्थ-व्यवस्था मे व्यवसायों को अधिकतम सार्वजनिक हित के लिए सचालित किया जाता है। इस सार्वजनिक हित मे उन कर्मचारियो एव श्रमिको का जो उस व्यवसाय मे कार्यरत होते है, हित भी सम्मिलित रहता है। इन व्यवसायो का प्रबन्ध एव सचालन मे श्रमिको को प्रजातान्त्रिक भागीदारी का अधिकार दिया जाता है। इस प्रकार पूँजीपति, प्रबन्ध एव श्रमिक के अन्तर को समाप्त करके व्यवसायो मे कार्यरत कर्मचारियो एव श्रमिको को इनके सफल सचालन मे आर्थिक एव चारित्रिक रूप से उत्तरदायी बना दिया जाता है। व्यवसायो को समाज का प्रन्यास माना जाता है और कार्यरत कर्मचारी एव श्रमिक इस प्रन्यास के प्रन्यासी (Trustees) समझे जाते है। व्यवसायो की सफलता मे कर्मचारियो एव श्रमिको

का आर्थिक हित तो निहित रहता ही है साथ ही साथ उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा भी निहित रहती है। इस प्रकार समाजवादी उत्पादन सम्बन्धो और पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्धो मे मूलभूत अन्तर होता है। पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्धो मे स्वामी और कर्मचारी का सम्बन्ध होता है जिसके परिणामस्वरूप मौद्रिक प्रोत्साहनो का सर्वाधिक महत्व रहता है। दूसरी ओर, समाजवादी उत्पादन सम्बन्धो मे कर्मचारी होने के साथ-साथ व्यवसाय का प्रबन्धक एव सरक्षक भी होते है जिससे उनमे व्यवसाय की सफलता हेतु प्रोत्साहन स्वत ही बना रहता है।

(2) **अर्थ-व्यवस्था की प्रबन्ध एव संगठन सम्बन्धी सरचना**—समाजवादी व्यवस्था मे उत्पादन की प्रक्रिया समाज की आवश्यकताओ के अनुसार उत्पादन एव विपणि व्यवस्था मे समायोजन किया जाता है। समाजवादी सगठन मे मजदूरी के भुगतान की ऐसी विधियों को अपनाया जाता है कि कर्मचारियो एव श्रमिको को व्यवसायो के लाभ मे से भाग पाने का अधिकार रहता है। जब कर्मचारियो एव श्रमिको को व्यवसायो के प्रबन्ध एव लाभ मे भाग पाने का अधिकार रहता है और व्यवसायो का सचालन लाभ हेतु उद्देश्य के लिए नही अपितु सार्वजनिक हित के लिए किया जाता है तो प्रोत्साहन की समस्या उदय नही होती है।

नियोजन के अन्तर्गत निम्न प्रकार के प्रोत्साहनो को विशेष महत्व दिया जाता है

(1) **समाजवादी प्रतिस्पर्द्धा**—समाजवादी प्रतिस्पर्द्धा का प्रादुर्भाव साम्यवादी राष्ट्रो मे हुआ है। इसके अन्तर्गत उत्पादन-कार्य मे लगी श्रमिको की विभिन्न टोलियो मे प्रतिस्पर्द्धा की व्यवस्था की जाती है। टोली अथवा कारखाना जो सबसे अधिक उत्पादन, सबके कम लागत पर उत्पादन अथवा सबसे कम समय मे निर्धारित उत्पादन करता है उसे सामूहिक रूप से पुरस्कृत एव सार्वजनिकतया सम्मानित किया जाता है।

(2) **सार्वजनिक सम्मान एव सार्वजनिक अपमान**—इस विधि के अन्तर्गत अधिक कुशल एव प्रशसनीय कार्य करने वाले कर्मचारियो को सार्वजनिक रूप मे सम्मानित किया जाता है और उन्हे कारखाना, व्यवसाय स्थानीय सत्ता, राजनीतिक दल आदि मे स्थान प्रदान करके सम्मानित किया जाता है। जो कर्मचारी लापरवाही मे कार्य करता है मशीन की टूट-फूट करता है, वह दुर्घटनाओं के लिए उत्तरदायी होता है उसे सार्वजनिक रूप से अपमानित किया जाता है, समाचार-पत्रो एव इश्तहारो मे उसकी अवहेलना की जाती है और उसे प्रशासनिक एव सामाजिक सस्थानो से पदमुक्त कर दिया जाता है।

(3) **सरक्षण की भावना**—जो कारखाना अथवा टोली समाजवादी प्रतिस्पर्द्धा के अन्तर्गत विजयी होती है उन्हे अपराजित हुए कारखानो एव टोलियो को प्रशिक्षित करने का कार्य सौप दिया जाता है जिससे वे भी अपनी उत्पादकता एव कार्य से सुधार कर सकें। इस प्रकार सभी कर्मचारियो को आगे बढने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है।

(4) ***सुझाव एव आविष्कारो को प्रोत्साहन***—श्रमिको एव कर्मचारियो के उत्पादन मे सुधार करने एव उत्पादन-विधि-सम्बन्धी आविष्कारो को व्यावहारिक रूप देने को प्राथमिकता दी जाती है और जो सुझाव अथवा आविष्कार सफल सिद्ध होते है, उनसे सम्बन्धित श्रमिको को सम्मानित किया जाता है। वह आविष्कार उसी श्रमिक के नाम से प्रसारित किया जाता है और अन्य श्रमिको को उसका अनुसरण करने को कहा जाता है। इस प्रकार श्रमिको मे सरचनात्मक एव आविष्कार-प्रवृत्तियों का विस्तार होता है और वे अपनी उत्पादकता एव कुशलता बढाने के लिए प्रयत्नशील रहते है।

नियोजित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत इस प्रकार पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था के प्रोत्साहनो के अतिरिक्त समाजवादी प्रोत्साहनो की और व्यवस्था कर दी जाती है जिसके परिणामस्वरूप प्रोत्साहनो मे पर्याप्त वृद्धि हो जाती है। परन्तु समाजवादी प्रोत्साहन तभी कुशलता से सचालित हो सकते है, जब देश मे समाजवादी अर्थ व्यवस्था की वास्तविक सरचना कर दी गयी हो। समाजवादी अर्थ-व्यवस्था मे किराया, ब्याज एव लाभ के अन्तर्गत व्यक्तियो को जो अनुपार्जित आय उदय

होती है, उसे समाप्त करने की आवश्यकता होती है। अनुपार्जित आय समाप्त होने पर ही समानता का वातावरण उदय हो सकता है और प्रत्येक नागरिक को उसकी योग्यता, कार्यक्षमता एवं कर्तव्य-परायणता के आधार पर आधारित आय प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार की समानता नागरिको मे सुरक्षा की भावना जागृत करती है जिसके अन्तर्गत वह यह मानता है कि वह जितनी अधिक कुशलता से कार्य करेगा, उतना ही अधिक लाभ उसे प्राप्त होगा और बिना पारिश्रमिक के अन्य कोई नागरिक आर्थिक एव सामाजिक लाभ प्राप्त नही कर सकेगा। इसके साथ श्रमिको की कार्य-कुशलता का माप करने की उचित विधि भी होनी चाहिए और इस माप करने की प्रक्रिया मे किसी *प्रकार का भेद-भाव नही होना चाहिए*। इसका *अर्थ यह है कि नियोजित अर्थ-व्यवस्था मे प्रोत्साहनो* का पर्याप्त मात्रा मे विद्यमान रहना कुशल प्रशासन पर निर्भर रहता है जो राजनीतिक परम्पराओ पर निर्भर होता है।

13

नियोजन की प्रक्रिया एवं तन्त्र तथा भारत का योजना-आयोग

[PLANNING PROCEDURE AND MACHINERY AND INDIAN PLANNING COMMISSION]

विकास योजना एक अत्यन्त विस्तृत प्रलेख होता है जिसको तैयार करने के लिए अत्यधिक परिश्रम करने की आवश्यकता होती है। यह प्रलेख राष्ट्र की वर्तमान आर्थिक स्थिति का ब्यौरा देते हुए विभिन्न विकास कार्यक्रमों का गुणात्मक एवं परिमाणात्मक विवरण होता है और यह भी उल्लेखित करता है कि इन कार्यक्रमों का सचालन निरीक्षण एवं क्रियान्वयन किस प्रकार किया जाता है। इन सब विवरणों के साथ योजना में समाज की उस स्थिति का चित्रण भी किया जाता है जो योजना के क्रियान्वयन के पश्चात उदय होगी। इस प्रकार एक विकास-योजना मे अर्थ-व्यवस्था की वर्तमान स्थिति के साथ भविष्य की सम्भावनाओं का चित्रण किया जाता है जिसके लिए सर्वेक्षण अन्वेषण दूरदर्शिता एव प्रविधिकरण (Processing) की आवश्यकता होती है। वास्तव मे विकास-योजना अर्थ व्यवस्था का स्थिति विवरण (Balance Sheet) होता है जिसमे देश मे उपलब्ध समस्त साधनो का परिमाणात्मक विवरण दिया जाता है और उनके विवेकपूर्ण वितरण एव उपयोग की प्रविधि अकित की जाती है। समाजवादी राष्ट्रो, जैसे सोवियत रूस मे राष्ट्रीय *आर्थिक योजना एक राजकीय प्रलेख होता है जिसमे निर्धारित योजनाकाल मे राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था* के उद्देश्यो के अनुरूप प्रत्येक आर्थिक क्षेत्र (Economic Sectors) के कार्यक्रमों की सूची दी जाती है। इस राजकीय प्रलेख का ढाँचा (Structure) आर्थिक विकास के स्तर तथा भौतिक उत्पादन के सामाजिक एव क्षेत्रीय (Sectoral) ढाँचे और योजना के लक्ष्यो एव समस्याओ पर निर्भर रहता है।[1]

विकास-योजना इस प्रकार अर्थ-व्यवस्था के सम्पूर्ण क्षेत्रो से सम्बद्ध होती है। ऐसी योजना के चार मुख्य पहलू होते है—प्रथम उत्पादन लक्ष्य, जिसके अन्तर्गत इच्छित वस्तुओ की उत्पादन-वृद्धि के आँकड़े दिये जाते है, द्वितीय, मानव विनियोजन बजट, जिसमे उस सरकारी व्यय का विवरण दिया जाता है जो मानव के विकास एव कल्याण पर व्यय करने का लक्ष्य होता है अर्थात् शिक्षा, प्रशिक्षण, स्वास्थ्य एव सामाजिक सेवाओं का आयोजित सरकारी व्यय तथा चतुर्थ, नियमन-कार्यवाहियाँ इनके अन्तर्गत उन प्रतिबन्धो एव नियन्त्रणो का विवरण दिया जाता है, जिनके द्वारा निजी व्यक्तियो, सस्थाओ एव व्यवसायो की क्रियाओ का प्रकार निर्देशित किया जाता है जिससे इनके द्वारा योजना उद्देश्यो की पूर्ति मे योगदान उपलब्ध हो। इस प्रकार आर्थिक योजना के लक्ष्यो का एक परिमाणात्मक विवरण होता है जिनमे लक्ष्यो की उपलब्धि के लिए पूँजी एव मानव के उपयोग को निर्देशित करने की प्रविधि का उल्लेख भी किया जाता है। एक विकास योजना का निर्माण कई अवस्थाओं से होकर गुजरता है। इन अवस्थाओं का अध्ययन निम्न प्रकार किया जा सकता है

विकास योजना का निर्माण

(1) भौतिक, वित्तीय एव जनसख्या सम्बन्धी आँकडो को एकत्रित करना—यह योजना की

1 Anatoli Yefimov & Alexander Anchiskin, *Economic Management and Planning*, p 124

सर्वप्रथम अवस्था है। साख्य-एकीकरण योजना-आयोग द्वारा किया जा सकता है। कोई भी योजना विश्वसनीय साख्य तथा तत्वों के आधार पर ही बनायी जा सकती है। अल्प-विकसित देशों में साख्य एकत्रित करने तथा उनका विश्लेषण करने का कोई सन्तोषजनक प्रबन्ध नहीं होता। अधिकाश साख्य पक्षपात के दृष्टिकोण से एकत्र किये जाते है, जिनको किसी भी रूप में विश्वसनीय कहना अतिशयोक्ति होगी। योजना के उद्देश्य, प्राथमिकताएँ, लक्ष्य, अथ प्रवन्धन आदि सभी को निश्चित करने के लिए साख्य की आवश्यकता होती है।

योजना-आयोग द्वारा ये सूचनाएँ प्रबन्ध-सम्बन्धी अधिकारियो (Administrative Officers) की सहायता से एकत्रित की जाती हैं क्योंकि विशेष साख्यिक सस्थाएँ स्थापित करने तथा उनके द्वारा आवश्यक सूचना एकत्रित करने मे अत्यधिक समय व्यतीत होता है। योजना-आयोग अपने विशेषज्ञों द्वारा भी साख्य-एकत्रीकरण एव विश्लेषण का कार्य सम्पादन करा सकता है। प्रत्येक विशेष क्षेत्र के विशेष उद्योग के लिए पृथक्-पृथक् समितियाँ नियुक्त की जा सकती हैं। उन्हे नियोजन के लिए सम्बन्धित उद्योगों से आवश्यक सूचनाएँ एकत्रित करने तथा योजना-विधि मे इन उद्योगों के नियोजित कार्यक्रम की व्यवस्था पर नियन्त्रण रखने का कार्य सौंपा जा सकता है।

इस प्रकार समस्त सरकारी विभागों, निजी औद्योगिक सस्थानो तथा समितियो, व्यापार-सस्थाओ (Trade Agencies) एव सेवा-सस्थाओ (Service Agencies) से सूचना एकत्र करके योजना आयोग को इस सूचना का विश्लेषण, व्याख्या तथा आलोचनात्मक अध्ययन अपने प्राविधिक विशेषज्ञो द्वारा कराना चाहिए। ये विशेषज्ञ इस सूचना के आधार पर भविष्य के उत्पादन तथा उपभोग की प्रवृत्तियो का भी अनुमान लगाये और इस प्रकार समस्त अनुभवो के आधार पर योजनाकाल मे उपार्जित होने वाली राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाया जा सकता है।

(2) **राष्ट्रीय आय का अनुमान**—वित्तीय एव भौतिक साधनो के अनुमानो को जनसख्या वृद्धि के अनुमानो से सम्बद्ध करके राष्ट्रीय आय की इच्छित वृद्धि का अनुमान लगाया जाता है। इस सम्बन्ध मे एक ओर, वित्तीय साधनो की उपलब्धि के आधार पर राष्ट्रीय आय की योजना-अवधि मे वृद्धि का अनुमान लगाया जाता है और दूसरी ओर सम्भावित जनसख्या को प्रति व्यक्ति वाछित न्यूनतम आय का आयोजन करने हेतु राष्ट्रीय आय की वाछित वृद्धि का अनुमान लगाया जाता है। यदि भौतिक अथवा वित्तीय अथवा दोनो साधनो की उपलब्धि के आधार पर वाछित राष्ट्रीय आय में वृद्धि नहीं हो सकती हो तो साधनों की खोजने की आवश्यकता अकित की जाती है।

(3) **राष्ट्रीय आय का विनियोजन उपभोग तथा समाज-कल्याण हेतु वितरण**—अनुमानित राष्ट्रीय आय की राशि निश्चित करने के उपरान्त योजना-आयोग द्वारा नीति-सम्बन्धी प्रस्ताव तैयार करना आवश्यक है। राष्ट्र की राजनीतिक आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था के अनुसार योजना के लक्ष्यो एव उद्देश्यों को निश्चित किया जाता है। राष्ट्रीय आय का तीन तालिकाओं—विनियोग, उपभोग तथा समाज-कल्याण मे विभाजित किया जाता है। विनियोग की राशि निश्चित करते समय राष्ट्र की आर्थिक नीतियों के आधार पर यह निश्चित किया जाना भी आवश्यक है कि इस राशि का कितना भाग निजी तथा सरकारी क्षेत्र के लिए निर्धारित किया जाय। यद्यपि उपभोग की राशि निर्धारित करते समय जनसमुदाय के वर्तमान जीवन स्तर को आधार मानना चाहिए तथापि आर्थिक विकास की प्रगति हेतु साधनो का उपभोग के क्षेत्र से पूजीगत विनियोजन के क्षेत्र मे लाना आवश्यक होता है किन्तु यदि जनसमुदाय का जीवन स्तर अत्यन्त निम्न हो तो उनके उपभोग को अधिक कम नही किया जा सकता अत विनियोजन के लिए अथ आन्तरिक साधनो से पर्याप्त मात्रा मे प्राप्त नही होगा। दूसरी ओर यह जानना भी आवश्यक होगा कि देश के सविधानानुसार जनसाधारण से कितना त्याग अपेक्षित है तथा उनकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को उन्ही के उत्पादन के लिए किस सीमा तक नियन्त्रित किया जा सकता है। तदुपरान्त समाज कल्याण हेतु कितनी राशि व्यय की जा सकती है इसका निर्धारण राष्ट्र की सामाजिक व्यवस्था पर निर्भर रहता है। इस सम्बन्ध मे राष्ट्र के पिछडे वर्गो, अविकसित क्षेत्रों, शिक्षा तथा स्वास्थ्य-व्यवस्था गृह-स्थिति तथा श्रम कल्याण आदि की आवश्यकताओ को आधार माना जाता है।

विनियोजन, उपभोग तथा समाज-कल्याण तीनों एक-दूसरे पर अवलम्बित हैं। विनियोजन तथा उपभोग तो इतनी घनिष्ठता से सम्बद्ध हैं कि इन पर व्यय होने वाली राशि निश्चित करने के लिए दोनों का एक साथ अध्ययन करना पड़ेगा। उपभोग की तालिका बनाने के लिए योजनावधि में जीवन-स्तर में कितनी वृद्धि की जायेगी, इसका निश्चय करना आवश्यक है। जीवन-स्तर में सम्मिलित किये जाने वाले अंगों के आधार पर ही यह भी निर्धारित करना आवश्यक है कि विभिन्न वस्तुओं तथा सेवाओं की कितने परिमाण में आवश्यकता होगी। इसके साथ ही, आवश्यक एकत्रित सूचना के आधार पर यह भी ज्ञात किया जा सकेगा कि इन वस्तुओं तथा सेवाओं की पूर्ति किस सीमा तक राष्ट्रीय उत्पादन एवं आयात तथा संचय में से की जा सकती है।

(4) **उत्पादन-परियोजनाओं का निर्माण**—उपभोग, विनियोजन एवं समाज-कल्याण की तालिकाओं में वस्तुओं तथा सेवाओं की न्यूनता अथवा अधिकता ज्ञात करने में सहायता होगी। न्यूनाधिक्य का ज्ञान दो तत्वों को जन्म देगा

(अ) आयात तथा निर्यात-नीति, तथा

(ब) उन उद्योगों में विकास की आवश्यकता की तीव्रता को जो आन्तरिक उत्पादन द्वारा उपभोग की आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक होंगे।

उत्पादन के साधनों को बढ़ाने के लिए उद्योगों को अध्ययनार्थ दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम, ऐसे उद्योग जिनके विकास करने के लिए अल्पकालीन योजनाओं की आवश्यकता हो। साथ ही अर्थ-प्रबन्धन हेतु आन्तरिक साधनों पर निर्भर रहा जा सके। द्वितीय, ऐसे उद्योग जिनके विकास के लिए दीर्घकालीन योजनाओं तथा पूँजीगत वस्तुओं की आवश्यकता हो। आवश्यक सामग्री का देश में उत्पादन कहाँ तक हो सकता है, इसका अध्ययन भी आवश्यक होगा। इस प्रकार दीर्घकालीन योजना में पूँजीगत वस्तुओं के उद्योग तथा बड़ी-बड़ी योजनाएँ सम्मिलित की जायेंगी। पूँजीगत वस्तुओं के साथ-साथ उद्योगों की कच्चे माल तथा श्रम सम्बन्धी आवश्यकताओं का अध्ययन भी आवश्यक होगा और इन क्षेत्रों में भी यह निश्चित करना होगा कि श्रम तथा कच्चा माल आन्तरिक साधनों द्वारा पूर्ति बढ़ाकर अथवा आयात से कहाँ तक प्राप्त किये जा सकते हैं। इस प्रकार प्रत्येक उद्योग के प्रत्येक कच्चे माल के लिए तथा प्रत्येक प्रकार के श्रम की आवश्यकताओं के लिए बजट भी बनाया जा सकेगा। अल्प-विकसित तथा अविकसित राष्ट्रों में कृषि का स्थान भी महत्वपूर्ण होता है। भारत जैसे राष्ट्रों में कृषि ही सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था की नियन्त्रक है। उत्पादन के अन्य क्षेत्रों का विकास भी कृषि के पर्याप्त विकास पर अवलम्बित है। कृषि के उत्पादन के लिए योजना में सिंचाई के साधनों में वृद्धि कृषि के तरीकों का वैज्ञानिकीकरण, उत्तम खाद तथा बीज का आयोजन आदि को प्राथमिकता प्रदान की जानी चाहिए। कृषि से सम्बन्धित सूचना शासकीय कृषि-विभागों तथा कृषि-मन्त्रालयों आदि द्वारा एकत्रित की जा सकती है। योजना-आयोग के अन्तर्गत कृषि विकास परिषद् (Development Council for Agriculture) का निर्माण किया जा सकता है। इस परिषद् में विभिन्न राज्यों के कृषि विभागों, जनता, विशेषज्ञों, अर्थशास्त्रियों तथा लोकसभा के प्रतिनिधि होने चाहिए जिससे व्यापक योजनाओं के निर्माण में सुविधा हो तथा इन योजनाओं के लिए जन-सहयोग उपलब्ध हो सके।

इस प्रकार उत्पादन के क्षेत्र में विकास के लिए वृहद् सूचनाओं, तथ्यों तथा साख्य के आधार पर तैयार किये गये सुझाव प्राप्त करने के लिए प्रत्येक क्षेत्र में विकास परिषद् (Development Council) की स्थापना अपेक्षित है। प्रत्येक उद्योग के लिए पृथक्-पृथक् विकास-परिषद् का निर्माण किया जा सकता है। इन विकास-परिषदों में सम्बन्धित उद्योग में लगे हुए उद्योगपतियों, केन्द्रीय सरकार तथा प्रान्तीय सरकारों, विशेषकर उन प्रान्तीय सरकारों का जिनमें वह उद्योग स्थापित हो अथवा उस उद्योग की स्थापना सम्भावित हो, का प्रतिनिधित्व होना चाहिए। इनमें तान्त्रिक विशेषज्ञ, लोकसभा के प्रतिनिधि तथा योजना-आयोग के प्रतिनिधि सम्मिलित किये जा सकते हैं। ये विकास-परिषदें अपने-अपने क्षेत्र की वर्तमान स्थिति अथवा जितनी भी इकाइयाँ इस

उद्योग मे हो, प्रत्येक का उत्पादन, उत्पादन-शक्ति, लागत, विभिन्न उपयोगो के लिए अनुकूलता, उत्पादन मे वृद्धि तथा कमी होने पर उन पर प्रभाव, श्रम की उपलब्धि, उसके स्थायी सयन्त्र की स्थिति तथा उसके प्रतिस्थापन एव वृद्धि की आवश्यकता, वर्तमान बाजारो की स्थिति आदि का अध्ययन करेगी। विकास-परिषद् मे इस समस्त सूचना के आधार पर अपने क्षेत्र से सम्बन्धित प्रथम प्रस्ताविक योजना का प्रारूप निश्चित करने के लिए उचित अधिकारी होना चाहिए। विकास-परिषद् यह भी अनुमान लगा सकती है कि योजनाकाल मे उसके क्षेत्र की उत्पादित वस्तुओ की कितनी माँग होगी और इसके आधार पर यह निश्चित किया जा सकेगा कि उत्पादन मे कितनी वृद्धि की जाय तथा इस वृद्धि के लिए क्या-क्या कार्यवाही की जाय।

विकास-परिषदो द्वारा निर्मित प्रथम प्रस्तावित योजनाएँ राष्ट्रीय योजना आयोग के पास भेजी जानी चाहिए। योजना-आयोग को इन योजनाओ का मिलान उसके विशेषज्ञो द्वारा तैयार आँकडो से करना चाहिए। तत्पश्चात् समस्त योजनाएँ योजना-आयोग अपनी टिप्पणी सहित अपने उच्च अधिकारियो के पास भेजेगा।

योजना-आयोग द्वारा योजना के अर्थ-प्रबन्धन का भी अध्ययन किया जाता है। कभी-कभी तो विकास-योजनाओ के निर्माण के पूर्व ही उपलब्ध अर्थ-साधनों का अध्ययन करना होता है। अर्थ-साधनो की उपलब्धि की सुगमता एव परिणाम के अनुसार ही योजना के कार्यक्रम निर्धारित किये जाते है। ऐसी परिस्थिति मे योजना को वित्तीय नियोजन (Financial Planning) का नाम दिया जाता है, परन्तु विकास-योजना के लक्ष्य बहुधा पहले निश्चित किये जाते है, तत्पश्चात् अर्थ-साधनो की उपलब्धि का अध्ययन करके उन्हे बढाने का प्रयत्न किया जाता है। योजना-आयोग विभिन्न विकास-परिषदो से तत्सम्बन्धी उत्पादन के क्षेत्रो की आर्थिक आवश्यकताओ का विवरण प्राप्त करता है तथा केन्द्रीय एव प्रान्तीय वित्त-मन्त्रालयो द्वारा उपलब्ध साधनो का अनुमान लगाया जाता है। इस प्रकार अनुमानित अर्थ-साधनो को भी योजना-आयोग उच्चाधिकारी के पास भेज देता है।

समाज-कल्याण की योजना बनाने के लिए एक केन्द्रीय समाज-कल्याण परिषद् (Central Social Welfare Board) का निर्माण किया जा सकता है। यह बोर्ड विभिन्न कार्यो के लिए आवश्यकतानुसार समितियाँ स्थापित कर सकता है। श्रम-हितकारी-निर्माण हेतु एक श्रम तथा हितकारी परिषद् (Labour & Labour Welfare Board) की स्थापना की जा सकती है, जो श्रम के पारिश्रमिक, कार्य करने की परिस्थितियो, श्रमिकों के लिए गृह-निर्माण, सामाजिक बीमा आदि विषयक आवश्यक सुझाव तैयार करे। इस परिषद् मे सरकार, उद्योगपति, श्रमिक-सस्थाओ आदि के प्रतिनिधि होने चाहिए। इस प्रकार समाज-कल्याण की प्रारूप-योजनाएँ (Draft Plans) योजना-आयोग के पास पहुँचनी चाहिए जो टिप्पणी सहित उच्च अधिकारी के पास भेज दे।

(5) **योजना मे सन्तुलन**—योजना मे सम्मिलित कार्यक्रमो का निर्धारण करते समय सन्तुलनो (Balances) का विशेष रूप से अध्ययन किया जाता है। वास्तव मे, ये सन्तुलन ही योजना के अन्तर्गत समन्वित विकास का आधार होते है। ये सन्तुलन योजना के लक्ष्यों तथा उपलब्ध उत्पादन-साधनों से सम्बद्ध होते है। दूसरे शब्दो मे यह कह सकते हैं कि उत्पादन-घटको मे आवटन तथा उनसे उपलब्ध उत्पादन अथवा प्रतिफल मे पूर्ण समायोजन स्थापित करना नियोजन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कर्तव्य होता है। योजना मे सम्मिलित कार्यक्रमो की सख्या, आकार एव प्रारूप ऐसा होना चाहिए कि उपलब्ध समस्त साधनो का उत्पादक उपयोग हो सके और इनकी पूर्ति के लिए उपलब्ध साधनों मे अधिक आवश्यकता न पडे। यदि उपलब्ध साधनों से अधिक की माँग योजना के कार्यक्रमों की पूर्ति के लिए की जायेगी तो मुद्रा-स्फीति उदय होगी और विकास-कार्यक्रमों मे बहुत सी रुकावटें उत्पन्न होगी। दूसरी ओर जब साधनो का न्यून उपयोग होगा तो प्रगति की दर कम रहेगी।

योजना के लक्ष्यों एव उपलब्ध श्रम-शक्ति मे सन्तुलन रखना भी आवश्यक होता है। यदि यह साधन उपलब्ध श्रम-शक्ति का पूर्णतया उपयोग नही कर सकेंगे तो बेरोजगारी फैल जायेगी। अल्प-विकसित राष्ट्रो मे श्रम-शक्ति की बहुतायत होती है और उसकी वृद्धि की दर भी अधिक होती

हे जिसके फलस्वरूप नियोजित अर्थ-व्यवस्था के प्रारम्भिक काल मे उत्पादन-कार्यक्रम इतने विस्तृत हो सकते है कि इस समस्त श्रम-शक्ति का उपयोग हो सके। यही कारण है कि आर्थिक प्रगति और बेरोजगारी दोनो मे ही एक साथ वृद्धि होती है। बेरोजगारी की समस्या गम्भीर न होने देने के लिए ही तो योजना मे उत्पादक रोजगार के साथ कुछ सहायता-सम्बन्धी कार्यक्रम (Relief Programmes) भी योजना में सम्मिलित किये जाते है। दूसरी ओर यदि उत्पादन-लक्ष्य इतने ऊँचे रखे जायें कि उपलब्ध श्रम-शक्ति पर्याप्त न हो तो उत्पादन मे बाधाएँ उत्पन्न हो सकती है। नाजी जर्मनी मे हिटलर को द्वितीय महायुद्ध के पूर्व उस समय का सामना करना पडा था क्योकि युद्ध-सामग्री का सग्रह बडी मात्रा मे इस समय जर्मनी मे किया जा रहा था।

व्यावसायिक सुविधा-सन्तुलन—उत्पादन-लक्ष्यों को उत्पादन की सहायक सुविधाओ के साथ सन्तुलित भी करना होता है। सिंचाई, शक्ति-सचार, यातायात, अधिकोषण आदि सुविधाओ के साथ उत्पादन-लक्ष्यो को सन्तुलित करना अत्यन्त आवश्यक होता है। इस सन्तुलन की अनुपस्थिति मे उत्पादन-कार्यक्रमो को निर्विघ्न सचालित करना सम्भव नही होता है।

स्थानीयकरण-सन्तुलन—उत्पादन के लक्ष्यों को निर्धारित करने के पूर्व नियोजको को यह भी निश्चय कर लेना चाहिए कि विभिन्न उत्पादन-कार्यक्रमो को किस-किस क्षेत्र मे सचालित किया जाना है। उत्पादन-कार्यक्रमो की स्थापना ऐसे स्थानो पर होनी चाहिए, जहाँ यातायात की लागत कम पडे और आधारभूत सामग्री शक्ति एव श्रम-शक्ति आसानी से उपलब्ध हो सकती हो। स्थानीयकरण-सन्तुलन (Locational Balance) मे केवल उत्पादन-घटको एव उत्पादन-लागत को ही ध्यान मे नही रखा जाता बल्कि विभिन्न क्षेत्रो के विकास के स्तर पर विचार किया जाता है क्योंकि एक बडे राष्ट्र के लिए विकास-कार्यक्रमों द्वारा क्षेत्रीय सन्तुलन के उद्देश्य की पूर्ति करनी होती है। भारत की प्रथम एव द्वितीय योजनाओ मे स्थानीयकरण-सन्तुलन के आधार पर सरकारी क्षेत्र के व्यवसायो का चयन नही किया गया है और तृतीय एव चतुर्थ योजनाओ मे राजनीतिक विचारधाराओ ने बहुत सी परियोजनाओ के स्थान चयन करने को प्रभावित किया है।

वित्तीय एव भौतिक साधनो मे सन्तुलन—अर्थ व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रो को जो वित्तीय एव भौतिक साधन आवटित किय जाये, उनमें सन्तुलन होना चाहिए। यदि भौतिक लक्ष्यो की तुलना मे वित्तीय साधन कम किये गये तो उपयोग न हुए भौतिक साधनों का सचय हो जायेगा और निर्माण-सम्बन्धी भौतिक साधनो का किसी क्षेत्र मे सचय होने से अर्थ-व्यवस्था मे इनके प्रवाह की व्यवस्था गडबड हो जायेगी। दूसरी ओर यदि भौतिक साधनो की तुलना मे यदि वित्तीय साधन अधिक आवटित किये गये तो साधनो की न्यूनता का वातावरण हो जायेगा जिमके फलस्वरूप मुद्रा-स्फीति का भय उत्पन्न हो जायेगा। इस प्रकार एक पूर्ण योजना मे वित्तीय एव भौतिक साधनो मे सन्तुलन होना चाहिए जिससे व्यक्तियों को दिये गये मौद्रिक भुगतान उत्पादित वस्तुओ के मूल्यों के साथ समायोजित होते रहे।

भारतीय योजना मे भौतिक एव वित्तीय साधनो मे प्राय सन्तुलन नही रहा है जिसके फलस्वरूप प्राय यह देखने मे आता है कि बहुत सी परियोजनाओ की मौद्रिक लागत अनुमान से बहुत अधिक रहती है।

पृष्ठभूमि से सन्तुलन—जब विकास-योजनाओ का निर्माण निम्न स्तर से किया जाता है तो निम्न स्तर की विकास-योजनाओ को उच्च स्तर मे निर्धारित किये गये लक्ष्यो से सन्तुलित करना आवश्यक होता है। उदाहरण के लिए, जब विकास के लिए योजनाएँ स्थानीय स्तर पर बनायी जायें और उन्हे फिर जिला स्तर एव राज्य-स्तर पर समन्वित किया जाय और फिर राष्ट्रीय योजना मे सम्मिलित किया जाय तो यह अत्यन्त आवश्यक है कि समस्त योजनाएँ राष्ट्रीय योजना द्वारा निर्धारित उद्देश्यो एव लक्ष्यो से सन्तुलित हो। किसी भी जिले अथवा राज्य की योजना मे ऐसे कार्यक्रम नही होने चाहिए जो किसी दूसरे जिले अथवा राज्य की आर्थिक स्थिति पर बुरा प्रभाव डाल सकते हो। इसी प्रकार प्रत्येक उद्योग एव व्यवसायो के विकास एव विस्तार का कार्यक्रम ऐसा

होना चाहिए जो उस उद्योग मे सामूहिक रूप से समन्वित होता हो अथवा विकास द्वारा उपलब्ध वस्तुओं एव सेवाओ का उपभोग करने के लिए जिन परिस्थितियो की आवश्यकता हो, उनका भी आयोजन कर दिया गया हो। उदाहरण के लिए, यदि अधिक उपज देने वाले बीजो की पूर्ति मे वृद्धि करने की व्यवस्था की जाय तो इन बीजो के उपयोग के लिए रासायनिक खाद एव सिंचाई के साधनो की भी व्यवस्था होनी चाहिए। भारतीय योजनाओ मे इस प्रकार के सन्तुलन की बहुत कमी है। श्रम-शक्ति के प्रशिक्षण एव उपयोग मे भी इस प्रकार के सन्तुलन की आवश्यकता होती है और इसकी अनुपस्थिति के कारण ही हम इतने इजीनियर्स एव पढे-लिखे लोगो को बेकार देख रहे है।

(6) **योजना का वित्तीय पक्ष**—योजना की वित्तीय आवश्यकताओं का अनुमान उत्पादन एव समाजसेवा-कार्यक्रमो के आधार पर लगाया जा सकता है। अर्थ-साधनों के विभिन्न स्रोतो का अध्ययन करके यह निर्धारित किया जाता है कि किस स्रोत से कितने साधन किस प्रकार प्राप्त किये जायेंगे। विदेशी सहायता की सम्भावनाओ एव आवश्यकताओं को भी निर्धारित किया जाता है। योजना के वित्तीय पक्ष को उसके भौतिक पक्ष मे सम्बद्ध किया जाता है और इसके भौतिक एव वित्तीय साधनो मे सन्तुलन स्थापित किया जाता है।

(7) **योजना की अवधि**—योजना के लक्ष्यो को समय से सम्बद्ध करना आवश्यक होता है। इसके लिए पहले दीर्घकालीन उद्देश्यो एव लक्ष्यो को निर्धारित कर लिया जाता है और फिर यह निश्चिन करना होता है कि इन दीर्घकालीन लक्ष्यो को सामान्य अवधि की कितनी योजनाओ मे उपलब्ध किया जाय। योजनाओ की सामान्य अवधि प्रशासनिक सुविधाओ एव परिस्थितियो मे परिवर्तन होने वाले चक्र (Cycle) पर निर्भर रहता है। दीर्घकालीन योजना को विभिन्न वर्गों, शाखाओ और छोटी छोटी अवधियो मे विभक्त कर दिया जाता है और फिर विभिन्न भौतिक एव वित्तीय योजनाओ को इन विभिन्न वर्गो, शाखाओ अथवा क्षेत्रो मे सम्बद्ध करके समायोजित एव सन्तुलित किया जाता है। इस प्रकार सामान्य योजना को विभिन्न क्षेत्रो मे विभक्त किया जाता है, जैसे—उद्योग, कृषि, यातायात, सचार आदि। फिर प्रत्येक क्षेत्र की योजना को प्रत्येक शाखा एव वग की योजना मे विभक्त कर दिया जाता है, जैसे उद्योग-क्षेत्र की योजना को विभिन्न उद्योगो की योजनाएँ, जैसे लोहा, कोयला, कपडा आदि मे विभक्त कर दिया जाता है। इसके पश्चात प्रत्येक उप-योजना इकाइयो को योजना मे विभक्त कर देते है। ये सभी योजनाएँ एव उप-योजनाएँ दीघ एव अल्प दोनो कालो के लिए निर्धारित की जाती है।

(8) **योजना का आकार**—योजना का आकार तीन बातो पर निर्भर होता है—(अ) पिछले *अनुभवो के आधार पर एकत्रित किये गये तथ्य, (आ) योजना के उद्देश्यो के आधार पर निर्धारित* किये गये विभिन्न लक्ष्य, तथा (इ) भविष्य मे उदय होने वाली परिस्थितियां।

योजना के उद्देश्यो को निर्धारित वर्तमान परिस्थिति के अध्ययन के आधार पर आधारित किया जाता है और इन उद्देश्यों की उपलब्धि के लिए किन किन भौतिक सुविधाओ एव सामग्रियो की आवश्यकता होगी, उसके आधार पर भौतिक लक्ष्य निर्धारित होते हैं। भौतिक लक्ष्यो को निर्धारित करते समय भविष्य मे उदय होने वाली परिस्थितियो, जैसे जनसख्या की वृद्धि को भी ध्यान मे रखना होता है। भौतिक लक्ष्यो के आधार पर योजना के कार्यक्रमो का आकार एव प्रकार निर्धारित होता है।

(9) **योजना के कार्यक्रमो का निश्चय करना**—राष्ट्रीय योजना के कार्यक्रम को अन्तिम रूप देने के लिए केवल विशेषज्ञो के विचारो पर ही निर्भर नही रहा जा सकता। हमे एक ऐसे राष्ट्रीय अधिकारी की व्यवस्था करनी होगी, जिसके पास वर्गीय अधिकारियो (Sectional Autho rities) द्वारा अपनी-अपनी प्रस्तावित योजनाएँ स्वीकृति अथवा सुधार के लिए भेजी जा सकें। इस स्थिति मे तीन कार्यो मे भेद करना आवश्यक है। उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रो मे राष्ट्रीय आवश्यकता का अनुमान लगाना जिससे वर्गीय अधिकारियो द्वारा लगाये गये अनुमानो पर नियन्त्रण रखा जा

सके तथा विभिन्न उद्योगों के लिए प्रस्तावित राष्ट्रीय योजना की रूपरेखा तैयार करना जिससे वर्गीय अधिकारियों द्वारा निर्मित विभिन्न योजनाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सके। दूसरा कार्य राष्ट्रीय प्रस्तावित योजना तथा वर्गीय योजनाओं के आधार पर वास्तविक रूप निश्चय करना है तत्पश्चात् उत्पादन की राष्ट्रीय योजना तैयार की जानी चाहिए। तीसरा कार्य योजना के संचालन के निरीक्षण करने का है जिससे वर्गीय अधिकारियों के कार्य तथा उनके एक-दूसरे के सम्बन्ध में अधिकतम कार्यक्षमता का निश्चय हो सके। उपर्युक्त कार्यों के सम्पादन हेतु निम्नलिखित अधिकारियों की नियुक्ति होना आवश्यक है। सर्वप्रथम एक केन्द्रीय योजना विभाग का निर्माण आवश्यक है जिसको योजना-आयोग की संज्ञा दी जा सकती है। योजना-आयोग को विभिन्न संस्थाओं से जो योजना के कार्यक्रम का संचालन करें सूचना प्राप्त करने का अधिकार होना चाहिए। योजना आयोग के पास अपने विशेषज्ञ हों जो विभिन्न विकास-परिषदों द्वारा प्रेषित योजनाओं का आलोचनात्मक अध्ययन कर सकें तथा एक राष्ट्रीय योजना की रूपरेखा तैयार कर सकें। योजना आयोग वास्तव में एक विशेषज्ञों की संस्था होती है जिसे अपनी योजनाओं को कार्यान्वित करने का अधिकार नहीं होता प्रत्युत विकास-परिषदों द्वारा प्रेषित योजनाओं पर अपने विचार व्यक्त करने तथा सुझावों के साथ अपनी योजनाओं को अन्तिम निश्चय के लिए अन्य उच्च अधिकारियों के पास भेजना होता है।

योजना-कार्यक्रमों को अन्तिम रूप प्रदान करने के लिए केवल विशेषज्ञों के विचारों को ही आधार नहीं बनाया जा सकता। आर्थिक नियोजन का तात्पर्य केवल इतना ही नहीं है कि पृथक्-पृथक् क्षेत्रों के लिए विशेषज्ञों द्वारा पृथक्-पृथक् योजनाएँ बना ली जायें प्रत्युत् राष्ट्र की आर्थिक क्रियाओं को योजना के अन्तिम उद्देश्यों के अनुसार परिवर्तित करना भी आवश्यक है। प्रजातान्त्रिक समाज में विशेषज्ञों के हाथ में राष्ट्र की सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था को निहित नहीं किया जा सकता। किसी भी निश्चय के पूर्व जनसाधारण के विचारों से अवगत होना भी आवश्यक है क्योंकि योजना-आयोग को केवल एक विशेषज्ञों की संस्था का स्थान प्राप्त होता है। यह संस्था जनता के विचारों का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती है।

योजना का अन्तिम रूप निश्चित करने का कार्य लोकसभा द्वारा सम्पादित किया जाना चाहिए लेकिन लोकसभा के सम्मुख किसी भी कार्यक्रम को स्वीकृति हेतु प्रस्तुतीकरण मन्त्रिमण्डल द्वारा होना चाहिए। योजना-विभाग के मन्त्री को योजना-आयोग द्वारा प्रेषित योजनाओं के अध्ययन के उपरान्त राष्ट्र की राजनीतिक सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति के आधार पर योजना को अन्तिम रूप देना होता है। इस सब कार्य लिए योजना मन्त्री के सहयोग हेतु एक राष्ट्रीय नियोजन अधिकारी अथवा राष्ट्रीय नियोजन सभा (National Planning Authority or National Planning Assembly) की व्यवस्था की जा सकती है। इस सभा में विभिन्न उद्योगों से सम्बन्धित विकास परिषदों के क्षेत्रीय प्रतिनिधि लोकसभा के कतिपय सदस्य जिनमें सरकारी तथा विरोधी दोनों पक्षों के सदस्य हों मन्त्रिमण्डल के सदस्य तथा योजना-आयोग के कुछ विशेषज्ञ तथा सदस्य सम्मिलित किये जा सकते हैं। यह सभा योजना को अन्तिम रूप देगी तथा अन्तिम प्रारूप ही योजना-मन्त्री द्वारा लोकसभा की स्वीकृति हेतु प्रस्तुत किया जाना चाहिए। "लोकसभा को सर्वोच्च स्वतन्त्र संस्था होने के कारण सर्वोच्च अधिकार रहेगा, यद्यपि व्यवहार में (नियोजन) सभा द्वारा किये गये अनुमोदनों को लोकसभा निःसन्देह रद्द नहीं करेगी।"[1] (लिप्सन)

इस अवस्था में योजना के विषय में अन्तिम निश्चय करने का कार्य अर्थात् लक्ष्य निर्धारित

---

1 "Parliament as the sovereign body would retain an over-riding authority though in practice it would doubtless not ignore the recommendations submitted by the assembly."—E. Lipson *A Planning Economy or Free Enterprise*, p. 298

करने का कार्य राष्ट्रीय नियोजन सभा द्वारा किया जाना चाहिए। लक्ष्य निर्धारित करने का कार्य बहुत कुछ देश की आधारभूत नीतियों पर आधारित होता है क्योंकि लक्ष्यों के अनुसार ही अर्थ-साधनों का बँटवारा विभिन्न क्षेत्रों में किया जाता है। लक्ष्य निर्धारित करने से पूर्व प्राथमिकताओं को भी निश्चित करना आवश्यक होगा। योजना के आधारभूत उद्देश्यों के अनुसार योजना के विभिन्न कार्यक्रमों में प्राथमिकताएँ निश्चित करना आवश्यक होता है। अल्प-विकसित राष्ट्रों में कृषि-विकास, औद्योगिक विकास, रोजगार-व्यवस्था, जीवन-स्तर में वृद्धि आदि मुख्य समस्याएँ होती हैं। इन समस्याओं की तीव्रता तथा अर्थ-साधनों की उपलब्धि के अनुसार प्राथमिकताएँ निश्चित की जाती हैं। इसके पश्चात प्रत्येक उत्पादन तथा समाज कल्याण के क्षेत्र में लक्ष्य निर्धारित किये जाते हैं। उत्पादन के लक्ष्य निश्चित करने के साथ-साथ प्रत्येक का बजट भी तैयार कर लिया जाता है। विभिन्न औद्योगिक तथा कृषि के क्षेत्र की अपूर्णताओं तथा विदेशी व्यापार की स्थिति के अनुसार लक्ष्यों को निर्धारित किया जाता है, तत्पश्चात् अर्थ साधनों की सम्भावित उपलब्धि के अनुसार लक्ष्यों को अन्तिम रूप देने के पूर्व आवश्यक समायोजन कर लिये जाते हैं। कृषि-प्रधान अल्प-विकसित देशों में जलवायु की अनिश्चितता को दृष्टिगत करना भी आवश्यक होता है, इसलिए लक्ष्यों को न तो इतना अभिलाषी रखना चाहिए कि जिनकी प्राप्ति सम्भव ही न हो सके तथा सम्पूर्ण योजना ऐसी परिस्थिति में एक अभिलाषी-कार्यक्रम-मात्र प्रतीत हो जो जनता का विश्वास प्राप्त न कर सके और न ही योजना के लक्ष्य इतने कम होने चाहिए कि वास्तविक विकास इन लक्ष्यों की तुलना में बहुत अधिक हो सकता हो। इस दशा में नियोजन की व्यवस्था की संज्ञा देना भी अनुचित होगा। लक्ष्यों की तुलना में अत्यधिक अथवा अत्यन्त न्यून सफलता दोनों ही दोषपूर्ण नियोजन के लक्षण हैं परन्तु शत-प्रतिशत उचित लक्ष्य भी निश्चित करना सम्भव नहीं होता क्योंकि बहुत से घटकों, जैसे कृषि-उत्पादन, आयात तथा निर्यात की दशाओं आदि पर नियोजन-अधिकारियों का कोई नियन्त्रण नहीं होता है। साथ ही, जिस सूचना तथा सख्या के आधार पर लक्ष्य निर्धारित किये जाते हैं, वह भी शत-प्रतिशत सही नहीं हो सकती है। यदि हम आर्थिक नीति को सूक्ष्म तथा प्रभावशील बनाना चाहते हैं तो साक्ष्य की सत्यता तथा मात्रा में वृद्धि करने की आवश्यकता होगी।

योजना के लक्ष्य और कार्यक्रम इस प्रकार निर्धारित किये जायें कि उसमें आवश्यकतानुसार समय समय पर परिवर्तन किये जा सकें। प्रतिकूल परिस्थितियों की उपस्थिति में इस प्रकार परिवर्तन किये जा सकें कि योजना के कार्यक्रम की पूर्ति पर इन उपस्थितियों का कोई विशेष प्रभाव न पड़े तथा लक्ष्यों की प्राप्ति हो सके। सम्भावना से अधिक अनुकूल परिस्थितियों की उपस्थिति में परिवर्तन इसलिए किये जाते हैं कि इन परिवर्तित परिस्थितियों का अधिकतम हित के लिए उपयोग किया जा सके। योजना के विभिन्न बजट एक दूसरे से इस प्रकार सम्बन्धित होते हैं कि एक बजट में परिवर्तन करने पर अन्य समस्त बजटों में समायोजन करना आवश्यक होता है। अतएव योजना के कार्यक्रमों में परिवर्तन करते समय बड़ी सावधानी की आवश्यकता होती है।

(10) **योजना की विज्ञप्ति**—राष्ट्रीय योजना सभा द्वारा अन्तिम प्रस्ताव प्राप्त कर लेने के उपरान्त प्रस्तावित योजना लोकसभा के समक्ष स्वीकृति हेतु प्रस्तुत की जाती है। इसके साथ ही, योजना के प्रारूप का जनता के तत्सम्बन्धी विचारों के जानने के लिए विज्ञापन भी आवश्यक होता है जिससे ऐसे विशेषज्ञ, उद्योगपति, अर्थशास्त्री सामान्य जनता तथा सामाजिक, व्यापारिक एवं अन्य संस्थाएँ, जो प्रत्यक्ष-रूपेण योजना से सम्बद्ध न हों, उस पर अपने विचार प्रकट कर सकें। प्रजातन्त्र में जनसाधारण के विचारों को विशेष महत्व दिया जाता है और योजना की सफलता जनता के सहयोग पर ही अवलम्बित है, अतः यदि आवश्यक हो तो जनवाणी के अनुसार लोक-सभा प्रारूप में आवश्यक समायोजन कर सकती है। इस प्रकार योजना का विज्ञापन करने का कार्य योजना आयोग द्वारा किया जा सकता है जो जनता से प्राप्त आलोचनाओं को अपनी टिप्पणी-सहित इन्हें राष्ट्रीय योजना सभा के पास भेज सकता है।

(11) **योजना को क्रियान्वित करना**—योजना को लोकसभा द्वारा स्वीकृति होने के पश्चात उस क्रियान्वित करने की अवस्था आती है। इस अवस्था में यदि कोई शिथिलता रह जाती है तब अच्छी से अच्छी योजना का सफल होना स्वप्न मात्र रह जाता है। वास्तव में, यह अवस्था सम्पूर्ण योजना के जीवन में सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथा मूल अवस्था होती है अतएव शासन को इस क्षेत्र में अग्रसर होकर कार्यवाही करनी चाहिए। सचालन-कार्य विभिन्न सरकारी विभागों, शासकीय तथा अर्द्धशासकीय निगमों निजी व्यापारियों तथा उद्योगपतियों, सामाजिक संस्थाओं आदि द्वारा किया जाता है। प्रजातान्त्रिक नियोजन में कार्य-क्षेत्र दो भागों में विभक्त होता है—एक निजी क्षेत्र (Private Sector) तथा दूसरा सरकारी क्षेत्र (Public Sector)। सरकारी क्षेत्र का कार्यक्रम सरकारी विभागों तथा निगमों द्वारा सचालित होता है जबकि निजी क्षेत्र के कार्यक्रमों को सरकार आवश्यक सहायता प्रदान करती है एवं सरकारी नियमों के अनुसार निजी क्षेत्र को कार्य करने का अवसर प्रदान किया जाता है। विभिन्न उद्योगों से सम्बन्धित विकास परिषदें अपने उद्योगों के कार्यक्रमों का सचालन करती है तथा आवश्यक नियन्त्रण भी रखती हैं। योजना के आयोग विशेषज्ञ योजना की प्रगति का अध्ययन करके समय-समय पर राष्ट्रीय योजना सभा को रिपोर्ट भेजते हैं तथा साथ साथ योजना की प्रगति का प्रकाशन भी आयोग द्वारा किया जाता है। योजना आयोग निरन्तर परिस्थितियों का अध्ययन करता रहता है तथा योजना में सम्भाव्य समायोजन सम्बन्धी सिफारिशें राष्ट्रीय योजना सभा के पास भेजता रहता है। योजना-मन्त्री को भी समय समय पर लोकसभा के समक्ष योजना की प्रगति के विषय में जानकारी प्रस्तुत करना आवश्यक होता है।

(12) **योजना के सचालन तथा प्रगति का मूल्यांकन**—योजना की अन्तिम किन्तु महत्वपूर्ण अवस्था योजना के सचालन का निरीक्षण तथा जाच पडताल होती है। इस हेतु एक विशेष विभाग की स्थापना की जा सकती है जिसे आर्थिक निरीक्षण आयोग (Economic Inspection Commission) की सज्ञा दी जा सकती है। यह सस्था राष्ट्रीय योजना सभा के अधीन नहीं होनी चाहिए। इसे योजना के सचालन की आलोचना करने की स्वतन्त्रता रहे तथा समय समय पर यह योजना में समायोजन करने के सुझाव भी दे सके। 'राष्ट्रीय योजना आयोग की भांति इस आर्थिक निरीक्षण आयोग को योजना में सम्मिलित विभिन्न उद्योगों तथा सेवाओं से सम्बन्धित तत्वों तथा आँकडों की पूर्ण जानकारी से अवगत होने की आवश्यकता होगी तथा प्रत्येक वर्गीय सस्था को यह अनिवार्य होना आवश्यक होगा कि वह समस्त सम्बन्धित प्रलेख इसके पास भेजे तथा इस विभाग द्वारा नियुक्त निरीक्षकों को अपनी पुस्तकों का अवलोकन कराये। इस विभाग का यह कार्य होगा कि वह निरन्तर प्रत्येक उत्पादन की शाखा की कार्यक्षमता की आलोचना आर्थिक एव तान्त्रिक दोनों विचारधाराओं से करे। आर्थिक निरीक्षण विभाग का कार्य योजना का कार्य प्रारम्भ होने के साथ प्रारम्भ होगा और इस बात का भी निरीक्षण करेगा कि योजना का सचालन कहाँ तक प्रभावशील है तथा यह योजना में सुधार करने के लिए अपने सुझाव योजना-आयोग तथा राष्ट्रीय योजना सभा के पास भेजेगा।'[1]

---

1 'Like the National Planning Commission this department of Economic Inspection would need the fullest access to the facts and figures relating to the conduct of the various industries and services included within the plan and each sectional body would need to be under obligation to show all relevant documents to it and to give access to its books to inspectors acting under the auspices of the department It would be the function of the department to the constantly criticising the efficiency of each branch of production both from the financial and from the technical point of view The task of the department of Economic Inspection would be taking the National Plan as its starting point to discover how effectively the plan was being carried out and to make suggestion for its amendment which would trespass for consideration the National Planning Commission and to the National Planning Authority itself"—G D H Cole, *Principles of Economic Planning*, pp 309-310

योजना की प्रविधि तथा सचालन के विषय मे कोई भी सर्वमान्य नियम निर्धारित नही किये जा सकते। योजना के उद्देश्य, राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थिति, राष्ट्र का आकार एवं जनसमुदाय के सामान्य चरित्र के अनुसार योजना की व्यवस्था की जानी चाहिए। भारत जैसे बड़े राष्ट्र मे केन्द्रीय व्यवस्था की तुलना मे क्षेत्रीय विकेन्द्रीकरण (Regional Decentralisation) अधिक सफल हो सकेगा। क्षेत्रीय संस्थाओ मे पारस्परिक समन्वय होना ऐसी व्यवस्था मे अत्यन्त आवश्यक होगा जिसके लिए योजना-आयोग का निरन्तर कार्यरत रहना भी आवश्यकता होगी। क्षेत्रीय संस्थाओ द्वारा योजना के सचालन मे अधिक नियन्त्रण तथा कार्यक्षमता लायी जा सकेगी। राष्ट्र के राजनीतिक सगठन पर क्षेत्रीय व्यवस्था की सफलता निर्भर रहेगी। क्षेत्रीय संस्थाओ को यथोचित स्वतन्त्रता दी जा सकती है और उन्हे केन्द्रीय संस्थाओं द्वारा दिये गये निर्देशो के अनुसार कार्य करना अनिवार्य किया जा सकता है।

भारत में नियोजन-प्रक्रिया

भारतीय नियोजन-प्रक्रिया देश के प्रजातान्त्रिक कलेवर के अनुरूप रखी गयी है। इस प्रक्रिया मे प्रत्येक योजना मे कुछ सुधार एवं परिवर्तन कर दिये जाते है जो पिछली योजनाओं के अनुभवो पर आधारित होते हैं। भारतीय नियोजन रूस के नियोजन की तरह विस्तृत नही है क्योंकि हमारे देश मे राज्य देश की समस्त आर्थिक क्रियाओ को नियन्त्रित नही करता है। मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत योजना का निर्माण कभी भी दोषरहित नही हो सकता है क्योंकि योजना मे सम्मिलित किये गये कार्यक्रम सरकारी एवं निजी दोनो ही क्षेत्रो मे सचालित किये जाते हैं। निजी क्षेत्र का बहुत बडा भाग सगठित नही होता है और इस भाग के निश्चित कार्यक्रम एवं लक्ष्य निर्धारित करना सम्भव नही होता है। भारतीय योजनाओ को अन्तिम अवस्था तक पहुँचने के लिए निम्नलिखित व्यवस्थाओ से होकर गुजरना पड़ता है

(1) **योजना का विचार**—योजना प्रारम्भ होने के लगभग दो या तीन वर्ष पूर्व योजना के लक्ष्यो, उद्देश्यो एवं कार्यक्रमो पर सामान्य विचार किया जाता है। इस कार्य के लिए योजना-आयोग अर्थ व्यवस्था की वर्तमान स्थिति का अध्ययन करता है और यह अनुमान भी लगाया जाता है कि चालू योजना से अन्त तक भौतिक लक्ष्यों की उपलब्धि किस सीमा तक होगी। इन सूचनाओ के आधार पर योजना-आयोग का दीर्घकालीन नियोजन-कक्ष यह निर्धारित करने के लिए सुझाव तैयार करता है कि राष्ट्रीय आय का कितना भाग उपभोग किया जायेगा और कितना बचत करके विनियोजन के लिए उपलब्ध होगा। इस कार्य के लिए योजनाकाल में उपभोग का औसत सामान्य स्तर निर्धारित करना होता है। यह स्तर इस बात पर निर्भर रहता है कि वांछित उपभोग-स्तर कितने समय मे उपलब्ध करने का लक्ष्य रखा जाता है। उपभोग एवं विनियोजन के स्तर पर आधारभूत आँकडे तैयार किये जाते हैं जिन्हे नियन्त्रण-आँकडे भी कहते है। इन नियन्त्रण आँकडो मे योजना-काल की प्रगति, बचत एवं विनियोजन-दर सम्मिलित होती है। प्रगति, बचत एवं विनियोजन की दरो को आधार मानते हुए विभिन्न वस्तुओ एवं सेवाओ के लक्ष्यो का निर्धारण करके अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रो के विनियोजन को निर्धारित किया जाता है। दीर्घकालीन योजना-कक्ष विभिन्न माइक्रो (Micro) एवं मैक्रो (Macro) योजनाओ का निर्माण करता है और फिर विभिन्न सन्तुलनो के आधार पर इनमे आवश्यक परिवर्तन करता है। इन सब अध्ययनो के आधार पर जो तथ्य, सूचनाएँ, लक्ष्य एवं उद्देश्य उपलब्ध होते हैं, उन्हे राष्ट्रीय विकास परिषद् के पास विचार करने के लिए भेज दिया जाता है।

(2) **राष्ट्रीय विकास परिषद् द्वारा नियन्त्रण-आँकडो पर विचार**—राष्ट्रीय विकास परिषद् विशेषज्ञो द्वारा तैयार किये गये प्रारम्भिक तथ्यो एवं सुझावो पर विचार करती है और इनमे आवश्यकतानुसार परिवर्तन एवं सुधार करने का निर्णय देती है।

(3) **केन्द्रीय एवं राज्य-सरकारो एवं विभिन्न वर्किंग ग्रूप्स टास्क फोर्सेज (Task Forces) द्वारा विस्तृत कार्यक्रमो एवं परियोजनाओ की तैयारी**—राष्ट्रीय विकास परिषद् द्वारा स्वीकृत

नियन्त्रण आँकडो के आधार पर केन्द्रीय एव राज्य-मन्त्रालयों को विकास-परियोजनाओ के निर्माण का कार्य करने को कहा जाता है। इस कार्य के लिए विभिन्न क्षेत्रो के लिए पृथक्-पृथक् वर्किंग ग्रुप्स स्थापित किये गये है जो अपने क्षेत्र मे सम्बन्धित वर्तमान स्थिति का अध्ययन और विकास के सम्बन्ध मे अपने सुझाव प्रस्तुत करते है।

(4) **विशेषज्ञो की सलाह**—योजना आयोग विभिन्न क्षेत्रो से सम्बन्धित विशेषज्ञो के पैनल (Panels) स्थापित करती है। इनम सरकार से बाहर के विशेषज्ञो को सम्मिलित किया जाता है। यह पैनल अपने-अपने क्षेत्र से सम्बन्धित नीति-सम्बन्धी सुझाव योजना आयोग को देते है।

(5) **प्रारूप-स्मृतिपत्र**—योजना-आयोग के विशेषज्ञो द्वारा अब विभिन्न केन्द्रीय मन्त्रालयों के साथ उनके द्वारा तैयार की गयी परियोजनाओ एव कार्यक्रमों पर विचार-विमर्श किया जाता है। योजना आयोग द्वारा राज्य-सरकारों से योजनाओ का उपागम (Approach) प्रलेख तैयार करने को कहती है और राज्य-सरकार के इन उपागम प्रलेखो को ध्यान मे रखकर योजना-आयोग एव केन्द्रीय मन्त्रालय अपनी नीतियाँ निर्धारित करते है। यह विधि प्रथम बार पाँचवी योजना के निर्माण के सम्बन्ध मे अपनायी गयी। इस प्रकार अब योजना के निर्माण के लिए द्विमार्गीय परामर्श-व्यवस्था कर दी गयी। एक ओर योजना आयोग एव केन्द्रीय मन्त्रालय योजना की राष्ट्रीय नीति पर विचार करके राज्यो को सलाह देते है और दूसरी ओर राज्य-सरकारें अपने विचारो से केन्द्र को अवगत करती है। इसके अतिरिक्त विभिन्न खण्डो (Sectors) की योजनाओ की व्यूह-रचना निर्धारित करने हेतु जा Task Force एव Steering Committees बनायी जाती है उनमे भी राज्य-सरकारो के प्रतिनिधियो को सम्मिलित किया जाता है। राज्य-सरकारो को अब अपने राज्य की योजना को जिला स्तर पर विभाजित करना होता है और प्रत्येक जिले के योजना-व्यय, विभिन्न खण्डो (Sectors) के लिए व्यय का आवटन तथा जिले की योजना के भौतिक लक्ष्य निधारित करने होते है। योजना-आयोग राज्य सरकारो द्वारा बनायी गयी योजनाओं का अवलोकन करता है और राज्य-सरकारो से इस सम्बन्ध मे विचार-विमर्श करता है। इस प्रकार किये गये विचार-विमर्श तथा विभिन्न पैनलों की सलाह के आधार पर योजना-आयोग एक प्रारूप-स्मृतिपत्र तैयार करता है। यह पत्र योजना के आकार को निर्धारित करता है। इसमे उन सब बातो को भी प्रस्तुत किया जाता है जिनके सम्बन्ध मे वृहद् नीति-निर्धारण करने की आवश्यकता होती है। यह भी स्पष्ट कर दिया जाता है कि अर्थ व्यवस्था के किन क्षेत्रो मे आवश्यकतानुसार वाछित विकास सम्भव नही हो सकेगा। यह स्मृति-पत्र केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल के पास भेज दिया जाता है।

(6) **योजना का प्रारूप**—केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल प्रारूप-स्मृतिपत्र पर विचार करके आधार-भूत नीतियो की दिशा निर्धारित करता है और फिर इस पत्र को राष्ट्रीय विकास परिपद के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया जाता है। राष्ट्रीय विकास परिपद् इस पर टीका-टिप्पणी करके अपने सुझाव एव निर्देश प्रस्तुत करती है। योजना आयोग इन टीका-टिप्पणियो, निर्देशो एव सुझावों के आधार पर योजना का प्रारूप तैयार करता है। योजना के प्रारूप मे योजना का दिशा-निर्देश, प्रमुख नीतियाँ, उद्देश्य, विभिन्न क्षेत्रो मे सम्बन्धित कार्यक्रम एव लक्ष्य आदि का विस्तृत विवरण प्रस्तुत रहता है।

(7) **योजना प्रारूप की विज्ञप्ति**—योजना-प्रारूप विभिन्न केन्द्रीय मन्त्रालयो एव राज्य-सरकारो के पास भेज दिया जाता है। इस प्रारूप पर केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल विचार करता है और स्वीकृति हेतु राष्ट्रीय विकास परिपद् के सम्मुख प्रस्तुत कर देता है। राष्ट्रीय विकास परिपद की स्वीकृति हो जाने पर योजना-प्रारूप प्रकाशित कर दिया जाता है जिससे इस पर सभी वर्गो के लोग विचार-विमर्श करके अपनी आलोचना एव सुझाव प्रस्तुत कर सकें। राज्यो की विधान-सभाओ, लोकसभा, विभिन्न सगठनों विश्वविद्यालयों एव शैक्षणिक सस्थाओ आदि सभी मे इस प्रारूप पर विचार-विमर्श होता है।

(8) **योजना-आयोग द्वारा आलोचनाओ एव सुझावो का अध्ययन**—योजना-आयोग योजना-प्रारूप पर केन्द्रीय मन्त्रालयों एव राज्य-सरकारो से विचार-विमर्श जारी रखता है और सरकार के

बाहर से लोगों एवं गैर-सरकारी संस्थाओं से, जो सुझाव प्राप्त होते हैं, उनके आधार पर एक स्मृति-पत्र तैयार करता है जिसमें योजना-प्रारूप में आवश्यक परिवर्तन एवं सुधार करने के सुझाव सम्मिलित किये जाते हैं। यह स्मृति-पत्र केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल एवं राष्ट्रीय विकास परिषद के पास भेज दिया जाता है।

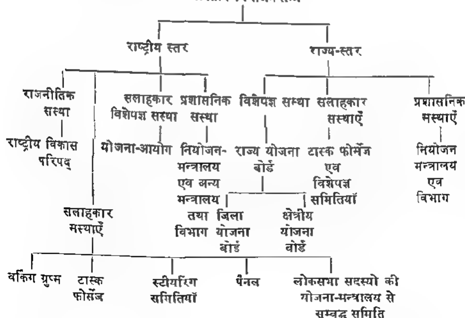
(9) **योजना का अन्तिम प्रतिवेदन**—स्मृति-पत्र पर राष्ट्रीय विकास परिषद् जो निर्देश देती है, उसके आधार पर योजना-आयोग योजना का अन्तिम प्रतिवेदन तैयार करता है जिसे केन्द्रीय मन्त्रालय एवं राष्ट्रीय विकास परिषद् के सम्मुख अन्तिम स्वीकृति हेतु प्रस्तुत कर दिया जाता है। स्वीकृति हो जाने के पश्चात अन्तिम प्रतिवेदन को प्रकाशित कर दिया जाता है और लोकसभा में प्रधानमन्त्री द्वारा प्रस्तुत कर दिया जाता है। लोकसभा की स्वीकृति हो जाने के बाद योजना का क्रियान्वयन होता है।

(10) **वार्षिक योजनाओं की तैयारी**—चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के सम्बन्ध में यह भी निश्चय किया गया है कि इस योजना को वार्षिक योजनाओं में विभक्त किया जायेगा। वार्षिक योजनाओं में कार्यक्रमों का विस्तृत ब्यौरा दिया जायेगा। भारत की परिवर्तनशील आर्थिक परिस्थितियों (विशेषकर कृषि-क्षेत्र में) वार्षिक योजनाओं का महत्व अत्यधिक है। बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल वार्षिक योजनाओं का निर्माण किया जाना है जिससे योजना के कार्यक्रमों एवं संचालन में अधिक लचीलापन बनाये रखा जा सकता है। पंचवर्षीय योजनाएं अब आधार, सामान्य संरचना, प्राथमिकता, मूल उद्देश्य एवं लक्ष्य आदि का निर्धारण करती है और कार्यक्रमों का विस्तृत विवरण वार्षिक योजनाओं में दिया जायेगा। प्रत्येक आने वाले वर्ष की योजना का निर्माण गत वर्षों की योजनाओं की प्रगति का आलोचनात्मक मूल्यांकन करके किया जाता है। गत वर्षों की प्रगति के आधार पर आगामी वर्ष की योजना के विभिन्न खण्डों के लिए लक्ष्य निर्धारित किये जाते हैं।

भारतीय नियोजन-प्रक्रिया के सम्बन्ध में यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि ऊपर दी गयी विभिन्न अवस्थाओं का अनुगमन प्रत्येक योजना में परिस्थिति के अनुसार इसी क्रम एवं इसी प्रकार से नहीं किया गया है। उपर्युक्त विवरण तो केवल सामान्य व्यवस्था दर्शाता है।

भारतीय नियोजन-तन्त्र

भारतीय नियोजन-तन्त्र के निम्नलिखित प्रमुख अंग है



योजना-आयोग

भारतीय योजना-आयोग की स्थापना भारत सरकार के 15 मार्च, 1950 के प्रस्ताव के द्वारा की गयी। इस प्रस्ताव में बताया गया कि भारतवासी अब इस बात के प्रति जागरूक हैं कि उनके जीवन-स्तर के सुधार करने के लिए नियोजित विकास अत्यन्त आवश्यक है। अर्थ-व्यवस्था पर द्वितीय महायुद्ध देश के विभाजन एवं लाखों शरणार्थियों के पुनर्वास की व्यवस्था करने में जो आघात हुए हैं उनका निवारण नियोजित विकास द्वारा ही सम्भव हो सकता है। इस बात की आवश्यकता महसूस की गयी कि समस्त आर्थिक घटकों का उद्देश्यात्मक विश्लेषण तथा साधनों का सतर्कता के साथ मूल्यांकन करके विस्तृत नियोजन की व्यवस्था की जाय। इस कार्य के लिए एक ऐसी स्वतन्त्र संस्था को संगठित करने की आवश्यकता हुई जो दिन-प्रतिदिन के प्रशासनिक कार्यों में सम्बद्ध न हो परन्तु सरकार से निरन्तर सम्पर्क बनाये रखे। इस उद्देश्य के लिए योजना-आयोग का गठन किया गया।

योजना आयोग के कार्य

योजना-आयोग को सरकार की नीतियों एवं उद्देश्यों के अन्तर्गत देश के साधनों का कुशल शोषण करके जनसाधारण के जीवन-स्तर में द्रुत गति से वृद्धि करने का कार्य सौंपा गया है। प्रस्ताव में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि आयोग अपनी सिफारिशें केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल को देगा और निर्णय लेने एवं उन्हें कार्यान्वित करने का कार्य केन्द्र एवं राज्य-सरकारें करेंगी। इस प्रकार योजना-आयोग एक सलाहकार संस्था के रूप में स्थापित की गयी है। उसके कार्य निम्नवत् हैं

(1) देश के भौतिक साधनों पूँजी एवं मानवीय साधनों, जिनमें तान्त्रिक नियोगी वर्ग (Technical Personnel) भी सम्मिलित हैं का अनुमान लगाना तथा यह जाँच करना कि इन साधनों की कमी होने पर इनकी पूर्ति कहाँ तक सम्भव है।

(2) देश के साधनों का सर्वाधिक प्रभावशील उपयोग करने हेतु योजना बनाना।

(3) प्राथमिकताओं के निर्धारित होने पर योजनाओं की संचालन-अवस्थाओं को निश्चय करना तथा साधनों का प्रत्येक अवस्था की पूर्ति हेतु बँटवारा करना।

(4) उन घटकों को बताना जिनके द्वारा आर्थिक विकास में रुकावट आती हो। वर्तमान सामाजिक एवं राजनीतिक दशाओं को दृष्टिगत करते हुए योजना की सफलता हेतु आवश्यक परि-स्थितियों का निर्धारण करना।

(5) योजना की प्रत्येक अवस्था (Stage) के समस्त पहलुओं को सफलतापूर्वक कार्यान्वित करने हेतु व्यवस्था (Machinery) के प्रकार को निर्धारित करना।

(6) समय समय पर योजना की विभिन्न अवस्थाओं के संचालन में प्राप्त सफलता को आँकना और इस सफलता के आधार पर नीति एवं कार्यवाहियों में समायोजन करने के लिए सिफारिश करना।

(7) ऐसी आन्तरिक एवं उपयोगी सिफारिश करना, जिनसे इनको सौंपे गये कर्तव्यों की पूर्ति में सुविधा होती हो अथवा वर्तमान आर्थिक परिस्थितियों, नीतियों, कार्यवाहियों एवं विकास-कार्यक्रमों पर विचार करके उपयोगी सिफारिशें करना अथवा केन्द्रीय या राज्य-सरकार द्वारा सौंपी गयी विशेष समस्याओं का अध्ययन करके सिफारिश करना।

योजना-आयोग के उपर्युक्त समस्त कार्यों का इस प्रकार परामर्शदात्री (Advisory) है, परन्तु जिन मामलों में योजना-आयोग को सलाह देने के लिए कहा जाता है अथवा उसे सलाह देना आवश्यक होता है वे इतने महत्वपूर्ण हैं कि उसकी सलाह को निरस्त करना सम्भव नहीं होता, इसलिए योजना आयोग की अधिकतर सलाह को सरकार द्वारा स्वीकार कर लिया जाता है, परन्तु इन सबका यह तात्पर्य कभी नहीं है कि योजना आयोग को सरकार के केन्द्रीय मन्त्रालय के ऊपर का स्थान प्राप्त है। भारत में योजना के कार्यक्रम की प्रगति को आँकना भी योजना-आयोग का कर्तव्य है। वास्तव में प्रगति का आँकने का कार्य एक पृथक् संस्था द्वारा किया जाना चाहिए जो

योजना आयोग के किसी प्रकार अधीन न हो। "प्रगति आँकने का कार्य महत्वपूर्ण है। वास्तव मे यह कार्य राज्य एव केन्द्रीय सरकारो द्वारा किया जाना चाहिए। कुछ सीमा तक यह कार्य इनके द्वारा किया जाता है परन्तु योजना-आयोग अखिल भारतीय दृष्टिकोण के साथ इस कार्य को करने के लिए अधिक उपयोगी है। वह सलाह एव रिपोर्ट कर सकता है कि क्या किया जा रहा है।"[1]

प्रस्ताव मे योजना-आयोग के सामाजिक एव आर्थिक विकास से सम्बन्धित कर्तव्यो का सामान्य विवरण दिया गया था। इन कर्तव्यो की पूर्ति के लिए आयोग को विभिन्न अध्ययन निरन्तर करने होंगे। आयोग के इन अध्ययनो का विश्लेषण निम्न प्रकार किया जा सकता है

(1) **सामग्री, पूंजी एवं मानवीय साधनों का मूल्याकन, सरक्षण एव उनमे वृद्धि**—नियोजन का मूलभूत उद्देश्य है कि पुरुष एव स्त्रियो के जीवन-स्तर का अधिक गुणात्मक होना चाहिए। इसके लिए शिक्षा एव प्रशिक्षण की विस्तृत व्यवस्था होनी चाहिए। योजना के विभिन्न कार्यक्रमो की श्रम-शक्ति की आवश्यकताओ का अनुमान समय-समय पर लगाया जायेगा और इनकी पूर्ति के लिए आवश्यक व्यवस्था की जायेगी। प्राकृतिक साधनो का गुणात्मक एव परिमाणात्मक अध्ययन किया जायेगा और उनको सर्वश्रेष्ठ विधियो मे रक्षित रखने एव उपयोग करने के सम्बन्ध मे व्यवस्था की जायेगी। वित्तीय साधनो का भी निरन्तर अध्ययन किया जायेगा। मूल्य एव उपयोग-स्तर का समय-समय पर अध्ययन भी योजना-आयोग करेगा।

(2) **साधनो का सन्तुलित उपयोग**—योजना-आयोग को योजनाओ द्वारा यह परामर्श देना होगा कि साधनो का उपयोग अधिकतम प्रगति-दर एव अधिकतम सामाजिक न्याय के साथ प्राप्त करने के लिए किस प्रकार सन्तुलित उपयोग किया जायेगा।

(3) **सामाजिक परिवर्तन**—योजनाओ की सफलता के लिए जो सामाजिक व्यवस्था मे परिवर्तन आवश्यक हो, उनका अध्ययन किया जायेगा। इन सामाजिक परिवर्तनो को लाने के लिए जिन वैधानिक एव अन्य कार्यवाहियो की आवश्यकता होगी, उनके सम्बन्ध मे योजना-आयोग द्वारा अध्ययन किया जायेगा। *विचारधाराओ मे जिन परिवर्तनो को लाने की आवश्यकता होगी,* उनका भी अध्ययन किया जायेगा।

(4) **नीतियों पर पुनर्विचार**—योजना-आयोग अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्र के विकास के लिए जो परामर्श देगा, उसमे सम्बन्धित नीतियाँ, जो विकास के लिए आवश्यक हो, के सम्बन्ध मे सुझाव प्रस्तुत करेगा। यह सुझाव वर्तमान नीतियो का अध्ययन करके तैयार किये जायेंगे।

(5) **नियोजन-यान्त्रिकता**—योजना-आयोग उपयोग आने वाली नियोजन यान्त्रिकताओ (Planning Technique) का निरन्तर अध्ययन करता रहेगा और इनमे आवश्यकतानुसार परिवर्तन करता रहेगा।

(6) **प्राथमिकताओं का निर्धारण**—प्राथमिकताओ के निर्धारण के लिए योजना-आयोग गुण (Criteria) निर्धारित करेगा। विभिन्न परियोजनाओं एव कार्यक्रमो का आर्थिक एव वित्तीय विचारधाराओ के आधार पर आलोचनात्मक अध्ययन किया जायेगा जिससे उपलब्ध साधनो पर विभिन्न परियोजनाओ के प्रतिस्पर्धी दावों मे सामजस्य स्थापित किया जा सके।

(7) **जनसहयोग**—आयोग द्वारा निरन्तर अध्ययन किया जायेगा कि लोगो को योजनाओ के प्रति उनके अधिकार एव कर्तव्य का आभास किन कार्यवाहियो द्वारा कराया जा सकता है।

(8) **प्रगति का मूल्याकन**—आयोग समय-समय पर उपलब्ध प्रगति का अध्ययन करेगा

---

1 "This business of appraisal is therefore of the utmost importance, naturally it is a business which the State Government and the Central Government should take up and to some extent they do it, but the Planning Commission with its All India outlook, is best placed to look into it and to advice report as to what is being done"—Prime Minister, Late Jawahar Lal Nehru, *Problems in the Third Plan*

और उन घटकों का विश्लेषण करेगा जो विकास में बाधक हों। आयोग इस विश्लेषण के आधार पर नीतियों में समायोजन करने तथा प्रशासनिक सुधार करने के सुझाव प्रस्तुत करेगा।

(9) **मूल्यांकन एवं अनुसन्धान**—उपलब्ध परिणामों का मूल्यांकन (Evaluation) आयोग द्वारा किया जायगा। विभिन्न वैधानिक कार्य एवं अन्य कार्यवाहियों के आर्थिक एवं सामाजिक परिणामों का अध्ययन करने के लिए अनुसन्धान संगठित किया जायेगा।

योजना-आयोग का संगठन

भारतीय संविधान में योजना-आयोग जैसी संस्था का कोई उल्लेख नहीं है। भारत सरकार के मार्च 1950 के प्रस्ताव द्वारा इसकी स्थापना स्थायी रूप में की गयी और इसके सदस्यों की संख्या योग्यताओं आदि के बारे में कोई उल्लेख नहीं किया गया है। इसकी सदस्यता का आकार एवं प्रकार इसीलिए समय-समय पर बदलता रहा है। प्रधानमन्त्री प्रारम्भ से ही योजना-आयोग का अध्यक्ष रहा है। इसके अतिरिक्त प्रारम्भ में पूर्णकालीन (Full Time) सदस्य थे जिसमें श्री गुलजारीलाल नन्दा उपाध्यक्ष तथा श्री वी टी कृष्णामाचारी, श्री सी डी देशमुख, श्री जी एल मेहता तथा श्री आर के पाटिल सम्मिलित थे। बाद में श्री सी डी देशमुख वित्तमन्त्री हो गये और गुलजारीलाल नन्दा योजना मन्त्री और दोनों केन्द्रीय मन्त्री होने के साथ साथ आयोग के सदस्य बने रहे। वित्त मन्त्री को आयोग का पदेन सदस्य (ex-officio) बना दिया गया। इसके पश्चात समय-समय पर अन्य मन्त्रियों को उनके व्यक्तित्व एवं विभाग के महत्व के आधार पर आयोग का सदस्य बनाया गया। अधिकतर परिस्थिति इस प्रकार रही कि आयोग के पूर्णकालीन सदस्यों को केन्द्रीय मन्त्री नियुक्त किया गया और केन्द्रीय मन्त्री बनने के बाद वे आयोग के सदस्य बने रहे। आयोग में इस प्रकार 3 से 5 तक केन्द्रीय मन्त्री सदस्य बने रहे। सितम्बर, 1967 में प्रशासनिक सुधार आयोग के सुझावों के आधार पर योजना-आयोग का पुनर्गठन किया गया और मन्त्री सदस्यों को हटा दिया गया। इस सम्बन्ध में देश भर में कड़ी आलोचना हुई कि केन्द्रीय मन्त्रियों के आयोग के सदस्य होने के कारण आयोग केवल सलाहकार-संस्था नहीं रह गयी है प्रत्युत वह निर्णय एवं निर्देश देने वाली संस्था बनती जा रही है। योजना आयोग का पुनर्गठन करके प्रो डी आर गाडगिल को उपाध्यक्ष नियुक्त किया गया। प्रशासनिक सुधार आयोग ने योजना-आयोग के सम्बन्ध में जो अन्य सिफारिशें की, वे निम्न प्रकार थीं

(1) योजना आयोग के उपाध्यक्ष तथा सदस्य केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में नहीं लिये जाने चाहिए परन्तु अध्यक्ष-पद पर प्रधानमन्त्री का रहना उचित है। वह अपनी सहायता के लिए एक राज्य मन्त्री (Minister of State) को रख सकता है।

(2) योजना-आयोग के सदस्यों को विभिन्न क्षेत्रों का ज्ञान एवं अनुभव होना चाहिए। वे केवल विषय का ही संकीर्ण ज्ञान न रखते हों। इस प्रकार योजना-आयोग केवल विशेषज्ञों की ही संस्था नहीं होनी चाहिए।

(3) राष्ट्रीय योजना परिषद् नियोजन-सम्बन्धी सर्वोच्च संस्था के रूप में योजनाओं के निर्माण में मूलभूत निर्देश देती रहे। उसकी तथा उसके द्वारा नियुक्त विभिन्न उपसमितियों की और अधिक नियमित बैठकें होनी चाहिए।

(4) योजना-आयोग द्वारा नियुक्त बहुत-सी सलाहकार-समितियाँ एवं समूह द्वारा कोई विशेष उपयोगी कार्य नहीं किया जाता है। इसलिए सलाहकार-समितियों की स्थापना सोच विचार कर की जानी चाहिए और उनका कार्य एवं कार्य-संचालन-विधि उचित रूप से पूर्व-निर्धारित की जानी चाहिए। जिन केन्द्रीय मन्त्रालयों में सलाहकार-समितियाँ कार्य कर रही हों, उनका यथासम्भव उपयोग योजना आयोग को करना चाहिए।

(5) एक लोक सभा सदस्यीय समिति की स्थापना राजकीय व्यवसाय समिति (Committee for Public Undertaking) के समान की जानी चाहिए जो वार्षिक प्रगति-प्रतिवेदन एवं योजनाओं की सफलताओं के मूल्यांकन से सम्बन्धित प्रतिवेदनों का अध्ययन करे।

(6) योजना आयोग के कार्य-सचालन के लिए तीन स्तरीय अधिकारी होना चाहिए—सलाहकार, विषय-विशेषज्ञ तथा विश्लेषणकर्ता। आयोग को बहुत से जाँच-अधिकारियो (Investigators) की आवश्यकता नही है।

(7) दिल्ली मे एक प्रशिक्षण सस्थान की स्थापना की जानी चाहिए जिसम विकास-सम्बन्धी विभिन्न पक्षो मे दक्षता देने के लिए प्रशिक्षण प्रदान किया जाना चाहिए।

(8) विभिन्न विकास-परिषदो (जो प्रत्येक महत्वपूर्ण उद्योग के लिए स्थापित की हुई है) के साथ एक योजना-समूह (Planning Group) लगा रहना चाहिए। ये समूह निजी क्षेत्र के उद्योगो से योजनाओ के निर्माण मे सक्रिय सलाहकार एव सहयोग प्राप्त कर सकते है।

(9) केन्द्रीय सरकार के विभिन्न आर्थिक सलाहकार कक्षो मे अधिक समन्वय एव सचार (Communication) के लिए एक स्टैंण्डिग समिति की स्थापना की जानी चाहिए जिसमे विभिन्न मन्त्रालयो एव योजना-आयोग के आर्थिक एव सांख्यिकीय कक्षो के अध्यक्ष सदस्य होने चाहिए।

(10) राज्यो मे त्रि-स्तरीय योजनातन्त्र (Planning Machinery) की स्थापना की जानी चाहिए—राज्य योजना परिषद् (State Planning Board), विभागीय नियोजन सस्थाएँ तथा क्षेत्रीय एव जिला-स्तरीय नियोजन-सस्थाएँ। योजना-परिषद् गैर-राजनीतिक विशेषज्ञो की सस्था होनी चाहिए जिसका अध्यक्ष मुख्यमन्त्री होना चाहिए। यह परिषद् राज्य की योजना के सम्बन्ध मे योजना-आयोग के समान कार्य करे। विभागीय योजना-सस्थाएँ उस विभाग की विभिन्न विकास-परियोजनाओ मे समन्वय स्थापित करें तथा उनके उचित क्रियान्वयन की देखभाल करे। प्रत्येक जिले मे पूर्ण समय के लिए (Whole Time) एक पृथक् योजना एव विकास-अधिकारी होना चाहिए तथा एक जिला योजना समिति होनी चाहिए जिसमे पचायतो नगरपालिकाओ के प्रतिनिधि तथा कुछ व्यावसायिक विशेषज्ञ होने चाहिए।

केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रशासनिक सुधार आयोग की सिफारिशो म से कुछ को कार्यान्वित कर दिया गया और योजना-आयोग का पुनर्गठन करके ऐसे सदस्यो की नियुक्ति की गयी जो केन्द्रीय मन्त्री नही है।

सन् 1971 में नियोजन-तन्त्र का पुनर्गठन—3 मई, 1971 ई को केन्द्र सरकार ने नियोजन-मन्त्रालय की पुन स्थापना की गयी और एक केन्द्रीय नियोजन-मन्त्री की नियुक्ति की गयी। इस प्रकार नियोजन-तन्त्र को वही रूप देने के लिए कार्यवाही की गयी जो प्रशासनिक सुधार आयोग की सिफारिशो को क्रियान्वित करने के पूर्व था। नियोजन-मन्त्री योजना-आयोग का उपाध्यक्ष और प्रधानमन्त्री अध्यक्ष रहे। नियोजन-मन्त्रालय की स्थापना के परिणामस्वरूप भारत में नियोजन-तन्त्र को पुन *राजनीतिक प्रधानता प्रदान कर दी गयी।*

17 जून, 1971 को राष्ट्रपति द्वारा जारी की गयी विज्ञप्ति द्वारा राष्ट्रीय नियोजन के लिए ससद के प्रति उत्तरदायित्व नियोजन-मन्त्रालय को दिया गया और योजना-आयोग के कार्यों का निम्न प्रकार निर्धारित कर दिया गया

योजना-आयोग के कार्य

(1) देश के भौतिक साधनो, पूँजी एव मानवीय साधनो का, जिनमे तान्त्रिक सेवा-वर्ग भी सम्मिलित है, अनुमान लगाना तथा यह जाँच करना कि साधनो की कमी होने पर भी इनकी पूर्ति मे वृद्धि करने हेतु अपने सुझाव तैयार करना।

(2) देश के साधनो को सर्वाधिक प्रभावशाली एव सन्तुलित उपयोग करने हेतु योजनाएँ तैयार करना।

(3) प्राथमिकताओ के निर्धारित होने पर उन अवस्थाओ (Stages) को परिभाषित करना, जिनमे योजनाओ का सचालन होता है तथा प्रत्येक अवस्था की सम्पूर्ति के लिए साधनो का आवटन करना।

(4) योजना के समस्त पहलुओ के क्रियान्वित करने हेतु आवश्यक तन्त्र (Machinery) के प्रकार को निर्धारित करना।

(5) समय-समय पर योजना की प्रत्येक अवस्था के क्रियान्वयन मे प्राप्त प्रगति का मूल्याकन करना।

(6) राष्ट्रीय विकास मे जन-सहयोग प्राप्त करना।

(7) दीर्घकालीन नियोजन।

योजना-आयोग के उपर्युक्त कार्यो का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि आयोग की स्थापना के समय जो कार्य निर्धारित किये गये थे, उनमे कुछ मूलभूत परिवर्तन कर दिये गये हैं। अब योजना-आयोग को देश के साधनो का प्रभावशाली उपयोग करने हेतु ही योजनाएँ नही बनानी होती हैं बल्कि साधनो के सन्तुलित उपयोग को भी ध्यान मे रखना होता है। आयोग समय-समय पर योजना की प्रत्येक अवस्था का मूल्याकन करता है परन्तु मूल्याकन से प्राप्त सूचनाओ के आधार पर भविष्य के लिए नीतिया निर्धारित करने के सम्बन्ध मे आयोग को अधिकार नही दिया गया है। योजना आयोग के कार्यों मे जनसहयोग प्राप्त करने के कार्य को स्पष्ट स्थान दे दिया गया और दीघकालीन नियोजन का भी इसके कार्यो मे सम्मिलित कर लिया गया।

मार्च 1977 मे जनता सरकार का अभ्युदय होने पर योजना की प्रक्रिया, सगठन, लक्ष्य एव क्रियान्वयन सभी के सम्बन्ध मे पुनर्विचार किया गया और योजना का पुनर्गठन कर दिया गया है। भारत मे नियोजन के इतिहास मे दूसरी बार योजना-आयोग मे विशेषज्ञो को विशेष स्थान दिया गया है। बम्बई विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र के प्रोफेसर डॉ डी टी लकडावाला को योजना आयोग का उपाध्यक्ष नियुक्त किया गया है। दिल्ली स्कूल ऑफ इकनोमिक्स के डॉ रामकृष्ण को योजना आयोग का सदस्य नियुक्त किया गया। श्री ह्री जी राजाध्यक्ष एव श्री वी सिवारमन आयोग के अन्य दो सदस्य है। इस प्रकार योजना-आयोग मे राजनीतिज्ञो के स्थान पर अर्थशास्त्र के विशेषज्ञो को सम्मिलित करके आयोग की निष्पक्षता एव कार्यकुशलता बढाने का प्रयत्न किया गया है। दूसरी ओर आयोग की सिफारिशो को प्रभावशाली बनाने के लिए प्रधानमन्त्री के अतिरिक्त वित्त-मन्त्री, गृह-मन्त्री एव सुरक्षा मन्त्री को भी आयोग का पदेन सदस्य बनाया गया है। इन मन्त्रियो को इनके विभागो के स्थान पर इनकी शासन मे व्यक्तिगत महत्ता, राजनीतिक ज्येष्ठता एव आर्थिक नीतियो के सम्बन्ध मे इनकी निश्चित धारणाओ के आधार पर इन्हे आयोग मे स्थान दिया गया है।

योजना आयोग मे अभी तक 20 कक्ष थे जिनमे से छह साधारण कक्ष, दस विषय-कक्ष, दो समन्वय-कक्ष (Coordination Division) तथा दो विशिष्ट परियोजाओं के कक्ष है। आयोग की इस आन्तरिक सरचना मे भी परिवर्तन किये जा रहे है और इसको एक छोटी समन्वित सस्था का रूप दिया जाना है।

योजना-आयोग की अभी तक की आन्तरिक सरचना निम्न प्रकार है

(अ) साधारण कक्ष—इसके अन्तर्गत सम्मिलित होने वाले छह कक्ष योजना बनाने हेतु पृष्ठ-भूमि तैयार करते है। इनके द्वारा जो कार्य सम्पन्न किये जाते है उनका सम्बन्ध योजना के समस्त कार्यक्रमो मे होता है। इस प्रकार ये आधारभूत सांख्य जाँच एव सूचनाएँ एकत्रित करते है और दीर्घकालीन नीतियो के सम्बन्ध मे सुझाव तैयार करते है। इन कक्षो म निम्नलिखित सम्मिलित हैं

(1) **आर्थिक कक्ष (Economic Division)**—इस कक्ष मे वित्तीय साधन, आर्थिक नीति एव प्रगति, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एव विकास, मूल्य-नीति तथा अन्तर-उद्योग-अध्ययन सम्बन्धी पृथक् खण्ड हैं।

(2) **दीर्घकालीन नियोजन कक्ष (Perspective Planning Division),**

(3) **श्रम एव रोजगार कक्ष (Labour and Employment Division),**

(4) **साख्यिकी एव सर्वेक्षण कक्ष (Statistics and Survey Division),**

(5) **साधन एव वैज्ञानिक अनुसन्धान कक्ष (Resources and Scientific Research Division)।** इसमे प्राकृतिक साधन एव वैज्ञानिक शोध के पृथक्-पृथक् खण्ड है।

(6) **प्रबन्ध एवं प्रशासन कक्ष**—प्रत्येक कक्ष का सर्वोच्च अधिकारी एक संचालक होता है जिसकी सहायता के लिए सहायक संचालक भी नियुक्त किये जाते हैं। प्रत्येक कक्ष में अनुसन्धान-सर्वेक्षण की व्यवस्था भी है और इसके लिए अनुसन्धान-कर्मचारियों की नियुक्ति की गयी है।

(आ) विषय कक्ष (Subject Division)—योजना में सम्मिलित होने वाले विभिन्न कार्यक्रमों की प्रमुख मदों के आधार पर कक्ष स्थापित किये गये हैं। प्रत्येक कक्ष उससे सम्बन्धित विशिष्ट शीर्षक के अन्तर्गत आने वाले समस्त कार्यक्रमों का विवरण एकत्रित करता है और उस सम्बन्ध में योजना तैयार करता है। इनमें निम्नलिखित कक्ष सम्मिलित हैं :

(1) कृषि कक्ष—सहकारिता एवं सामुदायिक विकास सहित,
(2) सिंचाई एवं शक्ति कक्ष,
(3) भूमिसुधार कक्ष,
(4) उद्योग एवं खनिज कक्ष, जिसमें उद्योगों खनिज एवं सहकारी क्षेत्र के व्यवसायों के प्रथम खण्ड हैं।
(5) ग्रामीण एवं लघु उद्योग कक्ष,
(6) यातायात एवं संचार कक्ष,
(7) शिक्षा कक्ष,
(8) स्वास्थ्य कक्ष,
(9) निवास-गृहनिर्माण कक्ष, जिसमें नगरों के विकास-कार्य सम्मिलित हैं,
(10) समाज-कल्याण कक्ष, जो पिछड़े वर्गों के कल्याण से सम्बद्ध है।

विषय-कक्ष अपने विषय से सम्बन्धित केन्द्रीय एवं राज्य-मन्त्रालयों से निरन्तर सम्पर्क बनाये रखते हैं और उनसे आवश्यक तथ्य एकत्रित करके अपने विषय के सम्बन्ध में प्रगति का मूल्यांकन करते हैं। यह कक्ष अपने विषय के सम्बन्ध में आवश्यकतानुसार अनुसन्धान का अध्ययन भी करते हैं।

(इ) **समन्वय कक्ष** (Coordination Division)—इससे सम्बन्धित विभागों का प्रमुख कार्य विभिन्न कक्षों द्वारा निर्धारित कार्यक्रमों में प्रशासन-सम्बन्धी आवश्यकताओं को निर्धारित करना तथा विभिन्न कार्यक्रमों में समन्वय स्थापित करना है। इसमें दो विभाग हैं—कार्यक्रम प्रशासन विभाग (Programme Administration Division) तथा योजना समन्वय विभाग (Plan Coordination Division)। प्रथम विभाग विभिन्न राज्यों एवं केन्द्र-प्रशासित क्षेत्रों की पंचवर्षीय योजनाओं में समन्वय स्थापित करता है और योजना-आयोग एवं राज्यों के अधिकारियों में विचार-विमर्श का आयोजन करता है।

(ई) **विशिष्ट विकास-परियोजनाओं के कक्ष**—इसके अन्तर्गत वे विभाग आते हैं जो समस्त योजना के सफल संचालन के लिए अधिक महत्वपूर्ण समझे जाते हैं और जिन पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता होती है। इसमें दो विभाग सम्मिलित हैं—ग्रामीण कार्यशाला विभाग (Rural Works Division) तथा जनसहयोग विभाग (Public Cooperation Division)।

उपर्युक्त विभागों के अतिरिक्त योजना-आयोग योजनाओं के निर्माण हेतु निम्नलिखित अस्थायी संस्थाओं का भी उपयोग करता है :

वर्किंग ग्रुप्स एवं टास्क फोर्सेज (Working Groups and Task Forces)—योजना-आयोग के इन विभिन्न कक्षों एवं संस्थाओं के अतिरिक्त नवीन योजना बनाने के लिए बहुत से वर्किंग ग्रुप्स (Working Groups) एवं टास्क फोर्सेज (Task Forces) की स्थापना की जाती है। लगभग प्रत्येक केन्द्रीय मन्त्रालय अपने अन्तर्गत आने वाले विभिन्न क्षेत्रों के सम्बन्ध में कार्यक्रम निर्धारित करने हेतु इनकी स्थापना करता है। इन ग्रुप्स में मन्त्रालय के अधिकारियों के अतिरिक्त आयोग से सम्बन्धित कक्षों के अधिकारी, अर्थशास्त्री, तान्त्रिक विशेषज्ञ एवं उद्योगों के प्रतिनिधि अथवा विशेषज्ञ सम्मिलित किये जाते हैं। ये आयोग द्वारा नियुक्त किये जाते हैं परन्तु इनका अध्यक्ष प्रायः

सम्बन्धित केन्द्रीय मन्त्रालय का सचिव होना है जिससे आयोग एव सरकार म पूर्णरूपेण सहयोग बनाये रखना सम्भव हो। इनकी स्थापना प्रत्येक योजना के निर्माण के पूर्व अस्थायी रूप से की जाती है और ये ग्रुप्स योजना के निर्माण के सम्बन्ध मे परामर्श देते है। भारतीय योजनाओ के निर्माण मे वकिंग ग्रुप्स का अत्यधिक योगदान रहा है। इनके द्वारा योजना के निर्माण मे उन लोगो का परामश भी प्राप्त हो जाता हे जो बाद मे योजना के कार्यक्रमो को क्रियान्वित करते हैं। इस व्यवस्था मे योजना के क्रियान्वयन करने वालो मे भागीदारी की भावना उत्पन्न होती है। इसके अतिरिक्त जो निणय योजना के निर्माण मे लिये जाते है, वे अधिक व्यावहारिक होते है। राज्य-सरकारे भी विभिन्न विषयो के सम्बन्ध मे वकिंग ग्रुप्स स्थापित करती है जो राज्यो की योजनाओं के निर्माण मे परामश देते हैं।

सलाहकार-समितियाँ—वकिंग ग्रुप्स के अतिरिक्त विभिन्न सलाहकार-सस्थाओं की स्थापना भी की जाती है जिसको पैनल सलाहकर-समिति (Advisory Committee) अथवा परामर्श-समिति (Consultative Committee) का नाम दिया जाता है। यह सस्थाएँ प्राय स्थायी होती है। यह समितियाँ वर्ष में दो या तीन बार अपनी सभाएँ करती है और योजना की नीतियो एव कार्यक्रमो के सम्बन्ध म परामर्श देती है। इसमें मुख्य अर्थशास्त्रियो का पैनल, वैज्ञानिको का पैनल, कृषि भूमि सुधार आयुर्वेद स्वास्थ्य शिक्षा तथा निवास-गृह एव क्षेत्रीय विकास के सम्बन्ध मे पृथक् पृथक पैनल है। इनके अतिरिक्त बहुत सी सलाहकार-समितियाँ है—सिचाई बाढ नियन्त्रण एव शक्ति परियोजनाओ मे सम्बन्धित समिति जनसहयोग हेतु समन्वय-समिति तथा जनसहयोग-सम्बन्धी राष्ट्रीय परामश समिति।

लोकसभा के सदस्यो से परामश करने हेतु योजना-आयोग के लिए लोकसभा के सदस्यो की एक सलाहकार समिति है। यह समिति लोकसभा के सदस्यो एव योजना आयोग मे सदस्यो के विचार विमश के लिए व्यवस्था करती है। योजना-आयोग के कार्य मे योगदान देने का कार्य अन्य सहायक सस्थाओं द्वारा किया जाता है। इन सस्थाओ में केन्द्रीय मन्त्रालय, रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया तथा केन्द्रीय साख्यिकीय सगठन (Central Statistical Organisation) प्रमुख हैं। रिजर्व बैंक का आर्थिक विभाग अधिकोषण एव वित्त के सम्बन्ध मे योजना-आयोग के लिए बहुत से अध्ययन करता है। इस प्रकार केन्द्रीय साख्यिकीय सगठन नियोजन के लिए आवश्यक साख्य एकत्रित करता है।

आयोग का सरकार के साथ सम्पर्क

योजना आयोग और केन्द्र एव राज्य सरकारो मे सम्पर्क सहयोग एव समन्वय होना योजनाओं का सफलता के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है। प्रधानमन्त्री के आयोग के अध्यक्ष एव विभिन्न मन्त्रियो के आयोग का सदस्य होने के कारण यह सहयोग एव समन्वय इतना अधिक रहा है कि *आयोग को दूसरी सरकार की उपमा दी जाने लगी थी। अब केवल वित्त-मन्त्री ही आयोग* के पदेन सदस्य है और प्रधानमन्त्री के माध्यम से समस्त मन्त्रालयो एव आयोग मे सहयोग बना रहता है। इसके अतिरिक्त जब भी आयोग किसी विशिष्ट विषय पर विचार करता है तो प्राय इस विषय से सम्बन्धित केन्द्रीय मन्त्री को विशेष रूप से आमन्त्रित कर दिया जाता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न मन्त्रालयों के आर्थिक सुझावो पर योजना आयोग का परामर्श भी माँग लिया जाता है।

अधिकारियों के स्तर पर आयोग और सरकार में सम्पर्क बनाये रखने के लिए दिसम्बर 1964 ई तक केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल का सचिव आयोग का पदेन सचिव रहता था। मन्त्रिमण्डल के सचिव द्वारा इस प्रकार मन्त्रियो के विचारो और आयोग के विचारो मे समन्वय बनाये रखना सम्भव होता था परन्तु इस व्यवस्था मे सबसे बडा दोष यह था कि आयोग स्वतन्त्र परामर्श देने मे असमर्थ रहता था और आयोग का परामर्श ही सरकार का निर्णय हो जाता था। इसलिए आयोग का एक पूर्णकालिक (Full Time) सचिव होना है।

इसके अतिरिक्त योजना-आयोग के अधिकारी सरकार द्वारा नियुक्त समितियो एव परिपदो के सदस्य नियुक्त किये जाते हैं और केन्द्रीय मन्त्रालयो के अधिकारियो को आयोग द्वारा नियुक्त समितियो आदि मे सदस्य नियुक्त किया जाता है। इस प्रकार आयोग और सरकार मे घनिष्ठ सम्पर्क बना रहता है।

सरकार से सम्पर्क बनाये रखने के अतिरिक्त आयोग जनता की सगठित सस्थाओ से भी सम्पर्क बनाये रखता है। भारतीय चैम्बर आँफ कॉमर्स के सघ, अखिल भारतीय बोर्डो आदि के साथ आयोग विचार-विमर्श करके आवश्यक सहयोग एव जानकारी प्राप्त करता है।

योजना-आयोग अन्य देशो के विशेपज्ञो एव अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ के विशेपज्ञो के साथ भी सलाह करता रहता है। आयोग का सम्पर्क विश्वविद्यालयो एव शोध सस्थाओ से भी बना हुआ है। इसके लिए प्लानिंग फोरम के माध्यम का उपयोग किया जाता है।

योजना-कार्यक्रमों के सम्बन्ध मे चेतावनी देना एव उनका मूल्याकन

हमारी योजनाओ के क्रियान्वयन मे अवरोध उत्पन्न होने का सबसे बडा कारण उनका यथा-समय उपयुक्त मूल्याकन न किया जाना तथा इस मूल्याकन के आधार पर क्रियान्वयन एजेन्सी को चेतावनी एव परामर्श न देना रहा है। इस त्रुटि को दूर करने के लिए पाँचवी योजना मे प्रभाव-कारी सगठन स्थापित एव सचालित किये गये है जिनको तीन भागो मे बाँट सकते हैं -

(1) कायक्रम मूल्याकन सगठन (Programme Evaluation Organisation),
(2) केन्द्रीय चेतावनीदायक एव मूल्याकन सगठन (Central Monitoring and Evaluation Organisation),
(3) विभिन्न स्तरो की क्रियान्वयन-एजेन्सियो मे चेतावनीदायक एव मूल्याकन-सैल (Monitoring and Evaluation Cells in Implementing Agencies at various levels)।

कार्यक्रम मूल्याकन सगठन—कार्यक्रम मूल्याकन सगठन (Programme Evaluation Organisation—P E O) की स्थापना अक्टूबर, 1952 मे की गयी थी और उसे सामुदायिक परियोजनाओ एव ग्रामीण विकास की अन्य परियोजनाओ के मूल्याकन का कार्य दिया गया। धीरे-धीरे यह एक बडी सस्था बन गयी और मई, 1962 मे यह मूल्याकन सलाहकार परिपद (Evaluation Advisory Board) के निर्देशन मे कर दी गयी। इस परिपद मे Institute of Economic Growth के सचालक, खाद्य एव कृषि-मन्त्रालय का एक भूतपूर्व अधिकारी, कृषि-अर्थशास्त्र का एक प्रोफेसर, समाजशास्त्र का एक प्रोफेसर तथा P E O के सचालक-सदस्य है। सन 1954-55 तक P E O केवल सगठन एव प्रबन्ध सम्बन्धी प्रश्नो पर ही अपने विचार देता था परन्तु 1954 55 से यह सामुदायिक विकास परियोजनाओ की उपलब्धियो एव प्रभाव का अध्ययन भी करने लगा। सन् 1960-61 मे इस सस्था ने सामुदायिक विकास की कडी आलोचना और उसके बाद सामुदायिक विकास परियोजना का मूल्याकन करके उसे प्रकाशित करना बन्द कर दिया। अब यह सस्था ग्रामीण क्षेत्र के विकास से सम्बन्धित योजना-कार्यक्रमो मे से कुछ को चुनकर उनका अध्ययन एव मूल्याकन करती है। इस सस्था द्वारा समस्यामूलक अध्ययन, जैसे अच्छे बीज, लघु एव वृहद् सिचाई, भूमि-सरक्षण, हाथकरघा विकास, पौध सरक्षण, प्राथमिक शिक्षा यातायात एव विद्युतीकरण आदि किये जाते है। मूल्याकन के आधार पर यह निर्धारित किया जाता है कि कौन से कार्यक्रम यथावत् अथवा कुछ सुधार के साथ अगली वार्षिक अथवा पचवर्षीय योजना मे जारी रखे जायें तथा क्रियाशीलन के अनुभव के आधार पर अधिक प्रभावशाली योजनाएँ बनाने की प्रविधि भी निर्धारित की जाती है। मूल्याकन के अन्तर्गत यह भी अध्ययन किया जाता है कि कार्यक्रमो का जन-अनुक्रिया (Popular Response) तथा सामाजिक-आर्थिक वातावरण पर क्या प्रभाव पडता है तथा इन कार्यक्रमो की बदलती हुई परिस्थितियो मे क्या उपयुक्तता है। तीसरे योजनाकाल मे योजना

मूल्यांकन संगठनों की स्थापना राज्यों में भी की गयी। परन्तु राज्यों के मूल्यांकन संगठन केवल सूचना सकलन संस्था के रूप में कार्य करते हैं क्योंकि इनके पास विशेषज्ञों एवं फील्डस्टाफ की बहुत कमी है।

परियोजना मूल्यांकन संगठन के इस समय 7 क्षेत्रीय कार्यालय एवं 27 फील्ड इकाइयाँ हैं जो देश के विभिन्न भागों में फैली हुई हैं। फील्ड इकाइयों द्वारा जो परिमाणात्मक एवं गुणात्मक सूचनाएँ एकत्रित की जाती है, उनका प्रविधिकरण एवं विश्लेषण मुख्य कार्यालय में किया जाता है।

केन्द्रीय चेतावनीदायक एवं मूल्यांकन संगठन—योजना-आयोग के अन्तर्गत केन्द्रीय चेतावनीदायक एवं मूल्यांकन संगठन (Central Monitoring and Evaluation Organisation–M E O) की स्थापना पाँचवी योजना के प्रारम्भ में की गयी है। इसकी स्थापना के तीन मुख्य उद्देश्य हैं। प्रथम, समय समय पर योजना के लक्ष्यों की उपलब्धि की प्रगति का विश्लेषण करके योजना-आयोग को यह बताना कि असफलताओं (यदि कोई हो) के क्या कारण हैं तथा साधनों का अधिकतम उपयोग करने हेतु सुझाव प्रस्तुत करना। द्वितीय, क्रियान्वयन करने वाली एजेन्सियों का योजना-कार्यक्रमों के नियान्वयन मे यथासम्भव सहायता देना। तृतीय, उच्चस्तरीय समन्वय-समितियों एवं संस्थाओं की जो योजना की प्रगति से सम्बद्ध हैं, सहायता करना। M E O प्रारम्भ में अपना क्रियाकलाप अर्थ व्यवस्था के कुछ आधारभूत खण्डों, जैसे इस्पात, अलौह-धातुएँ कोयला, भारी इन्जीनियरिंग, शक्ति, खनिज तेल, उर्वरक कागज सीमेण्ट, यातायात आदि तक सीमित रखेगा क्योंकि यही क्षेत्र अर्थ-व्यवस्था की प्रगति-दर साधनों के अर्जन एवं भुगतान शेष को सर्वाधिक प्रभावित करते हैं।

M E O के कार्य—M E O विभिन्न विभागों की चेतावनीदायक एवं मूल्यांकन-इकाइयों से घनिष्ठ सम्पर्क रखेगा। M E O के कार्य निम्न प्रकार वर्गीकृत किये जा सकते हैं

(1) ऐसे क्षेत्रों के सम्बन्ध में, जहाँ असफलताएँ हो सकती हैं, सम्बन्धित विभाग तथा उस विभाग की चेतावनीदायक एवं मूल्यांकन इकाई के परामर्श से सुधारात्मक कार्यवाहियाँ निर्धारित करना और आवश्यक सहायता प्रदान करना।

(2) परस्पर सम्बन्ध रखने वाली परियोजनाओं को समन्वित आधार पर विचार करके ऐसी सिफारिशें करना जिससे साधनों का अधिकतम उपयोग सम्भव हो सके और परियोजना की अवस्थाओं का पुनर्निर्धारण किया जा सके।

(3) दुर्लभ साधनों के लिए जब विभिन्न क्षेत्र अपना दावा प्रस्तुत करते हैं तो इन दुर्लभ साधनों (जैसे शक्ति, कच्चे माल, रेल-यातायात आदि) के आवंटन के आधार के सम्बन्ध में सिफारिश करना।

(4) दुर्लभ साधनों के संग्रह के सम्बन्ध में भी M E O यह परामर्श दे सकता है कि किस भौगोलिक क्षेत्र, केन्द्रित उद्योगों आदि के लिए दुर्लभ साधनों का कितना संग्रह बनाया जाय।

(5) विभिन्न परियोजनाओं के क्रियान्वयन के सम्बन्ध में विभिन्न सरकारी एजेन्सियों से स्वीकृति लेनी होती है। इस स्वीकृति में कार्यविधि-सम्बन्धी विलम्ब होता है। M E O इन कार्यविधि-सम्बन्धी विलम्बों के औद्योगिक अर्थ व्यवस्था पर पड़ने वाले प्रभावों का मूल्यांकन करेगा और इन विलम्बों को न्यूनतम करने के लिए सहायता प्रदान करेगा।

क्रियान्वयन-एजेन्सियों में चेतावनीदायक एवं मूल्यांकन-सेल (Monitoring and Evaluation Cells in Implementing Agencies)—विभिन्न क्रियान्वयन-एजेन्सियों में चेतावनीदायक एवं मूल्यांकन विधि का विस्तार पाँचवी योजना में किया गया है। इस विधि के अन्तर्गत क्रियान्वयन-एजेन्सियों का निर्मित साधनों एवं सुविधाओं के अधिकतम उपयोग तथा नवीन परियोजनाओं के समयबद्ध एवं निर्धारित लागत के अन्तर्गत क्रियान्वयन के लिए आवश्यक सहायता एवं परामर्श दिया जाता है। क्रियान्वयन एजेन्सी का परियोजनाओं की प्रगति की जानकारी के साथ-साथ परियोजनाओं के सफल संचालन में आने वाले अवरोधों एवं असफलताओं की समय से पूर्व चेतावनी भी दी जाती है। चेतावनीदायक एवं मूल्यांकन विधि को लागू करने के लिए क्रियान्वयन एजेन्सियों के अन्तर्गत चेतावनीदायक एवं मूल्यांकन-इकाइयों की स्थापना की गयी है।

राष्ट्रीय विकास परिषद्—प्रधानमन्त्री एवं राज्यों के मुख्यमन्त्रियों में योजना-सम्बन्धी विचार-विमर्श के लिए 6 अगस्त, 1952 को राष्ट्रीय विकास परिषद् (National Development Council) की स्थापना की गयी। इसके कार्य निम्न प्रकार है

(1) राष्ट्रीय योजना के संचालन की समय-समय पर समालोचना (Review) करना।

(2) राष्ट्रीय विकास को प्रभावित करने वाले सामाजिक एवं आर्थिक नीति सम्बन्धी महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार करना।

(3) राष्ट्रीय योजना के उद्देश्यों व लक्ष्यों की उपलब्धि के लिए कार्यवाहियों की सिफारिश करना तथा जनता का सक्रिय सहयोग एवं भागीदारी प्राप्त करने, प्रशासनिक सेवाओं की कार्य कुशलता में सुधार करने, अल्प-विकसित क्षेत्रों एवं समाज के वर्गों के पूर्ण विकास का समस्त नागरिकों के समान त्याग द्वारा आयोजन करने तथा राष्ट्रीय विकास के साधन एकत्रित करने के लिए आवश्यक कार्यवाहियों की सिफारिश करना।

राष्ट्रीय विकास परिषद् अपनी सिफारिशें केन्द्र एवं राज्य-सरकारों को देती है। इस परिषद में प्रधानमन्त्री, राज्यों के मुख्यमन्त्री तथा योजना-आयोग के सदस्य सम्मिलित रहते हैं। इनके अतिरिक्त जिन विषयों पर विचार-विमर्श किया जाना होता है, उनमें सम्बन्धित केन्द्रीय मन्त्री भी सभाओं में आमन्त्रित किये जाते हैं। योजना-आयोग विभिन्न मन्त्रालयों के परामर्श से विचार-विमर्श किये जाने वाले विषयों के आवश्यक प्रलेख एवं सूचनाएँ तैयार करके परिषद् के सम्मुख रखता है। योजना के निर्माण में इस परिषद् को अन्तिम निर्णय लेने का अधिकार है। यह नियोजन सम्बन्धी मामलों में देश की सर्वोच्च संस्था है। इसका अध्यक्ष प्रधानमन्त्री और सदस्य मुख्यमन्त्री होने के कारण इसके निर्णयों को अन्तिम ही समझा जाता है और केन्द्रीय मन्त्रालय इन निर्णयों में प्राय हेरफेर नहीं करते हैं। नियोजन-सम्बन्धी समस्त आधारभूत नीतियों का अन्तिम निर्धारण इसी परिषद् द्वारा किया जाता है।

योजना-आयोग की कार्य-विधि के दोष

भारतीय योजना-आयोग यद्यपि वैधानिक रूप से एक परामर्शदात्री संस्था है, परन्तु इसके द्वारा अपनायी गयी कार्य-विधि एवं इसमें सम्मिलित सदस्यों की केन्द्रीय एवं राज्य-सरकारों के मन्त्रालयों के समान कार्य करने की विधि ने इस संस्था को वास्तव में कुछ प्रशासन-सम्बन्धी अधिकार प्रदान कर दिये हैं। योजना-आयोग में कुछ केन्द्रीय मन्त्रालयों के मन्त्रियों को सदस्यता प्राप्त होने पर ये मन्त्रालय वास्तव में योजना-आयोग की कार्यवाहियों को प्रभावित करते थे और योजना-आयोग समस्त मन्त्रालयों के साथ एक विशेषज्ञों की संस्था के रूप में समान व्यवहार नहीं कर पाता था। योजना आयोग का सन् 1967 में पुनर्गठन होने के पश्चात यह दोष बड़ी सीमा तक दूर कर दिया गया था और केवल प्रधानमन्त्री एवं वित्त-मन्त्री (केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में से) ही आयोग के क्रमश अध्यक्ष एवं पदेन सदस्य कर दिये गये परन्तु अब फिर से योजना मन्त्री को आयोग का पदेन उपाध्यक्ष बना दिया गया है। आयोग द्वारा केन्द्रीय मन्त्रालय एवं राष्ट्रीय विकास परिषद् के पास जो सिफारिशें भेजी जाती हैं, उनको प्रधानमन्त्री, वित्त-मन्त्री एवं योजना-मन्त्री का समर्थन होने के कारण इन सिफारिशों की स्वीकृति निश्चित ही होती है। इस प्रकार योजना-आयोग केवल एक परामर्शदात्री संस्था न होकर प्रशासनिक अधिकार-प्राप्त संस्था बन गयी है। इस परिस्थिति के फलस्वरूप योजना आयोग तान्त्रिक विशेषज्ञ संस्था का कार्य करने से अधिक एक राजनीतिक एवं प्रशासनिक संस्था का रूप ग्रहण कर लेती है। इस सम्बन्ध में यह दलील बहुत तर्कसंगत प्रतीत होती है कि यदि आयोग को केवल विशेषज्ञों की एक परामर्शदात्री संस्था मात्र बना दिया जाय और उसे राजनीतिक प्रभुत्व से वंचित कर दिया जाय तो इसके द्वारा दी गयी सिफारिशों एवं सुझावों पर राजनीतिज्ञ कोई ध्यान नहीं देंगे और उनके क्रियान्वयन का प्रश्न ही नहीं उठेगा। फिलीपाइन्स तथा ग्रीस में योजना-आयोग को राजनीतिक प्रभावों से वंचित रहने के कारण उसकी सिफारिशों आदि

को महत्वहीन समझा जाता है। पाकिस्तान एव सयुक्त अरब गणराज्य मे भी इसी प्रकार की स्थिति थी जिसे दूर करने का प्रयत्न किया गया है।

इस प्रकार 'भारतीय नियोजन व्यवस्था का प्रमुख गुण यह है कि इसमे नियोजन को राजनीतिक दाँत प्रदान कर दिये गये है।"[1]

योजना-आयोग के अधिकारियो मे केन्द्रीय सरकार के बहुत से ऐसे अधिकारी है जो किन्ही मन्त्रालयो मे पद-ग्रहण करने के साथ योजना-आयोग मे विशेषज्ञ का कार्य भी करते हैं। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार के अधिकारियों एव योजना-आयोग के विशेषज्ञो को प्राय एक वर्ग मे रखा जाता है जिसके फलस्वरूप विशेषज्ञो एव प्रशासनिक अधिकारियो मे पारस्परिक स्थानान्तरण होते रहते हैं। योजना-आयोग के सगठन के दोष के कारण प्राय ऐसी परिस्थितियों का सामना करना पडता है कि योजना आयोग बजाय सलाह प्रदान करने के मन्त्रालयो की सलाह को रद्द करने के अवसर प्राप्त कर लेता है।

इसके अतिरिक्त योजना-आयोग की सलाहकार-सस्थाओ के सम्बन्ध मे कोई निश्चित नीति नही है। इनकी स्थापना द्रुत गति से योजना का निर्माण करने के साथ-साथ की जाती है परन्तु योजना बनने के पश्चात इनका उचित उपयोग नही किया जाता है। इन सलाहकार-सस्थाओ को अपने-अपने निश्चित क्षेत्र मे निरन्तर कार्य करते रहना चाहिए और योजना आयोग की योजनाओ के कार्यान्वित करने के सम्बन्ध मे सलाह देते रहना चाहिए ताकि ये सस्थाएँ नियोजन की समस्याओ का निरन्तर अध्ययन करे और भविष्य की योजनाओ पर सामूहिक विचार-विमर्श करने की गतिशीलता प्रदान करें।

योजना के इतने अधिक विभाग एव सस्थाएँ स्थापित कर दी गयी है (जिनकी सख्या बढती जा रही है) कि विभिन्न विभागो एव सस्थाओ के कार्यो को स्पष्ट रूप से अलग-अलग नही किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त इन विभिन्न विभागो एव सस्थाओ के कार्यो मे समन्वय स्थापित करने का कार्य सुचारु रूप से नही किया जाता है।

योजना-आयोग विभिन्न कार्यक्रमों एव परियोजनाओ का निर्माण करने के लिए बडी सतर्कता से कार्य करता है और इस सम्बन्ध मे विस्तृत सूचनाएँ एकत्रित की जाती है तथा विशेषज्ञो एव अनुभवी व्यक्तियो की सलाह ली जाती है परन्तु इन योजनाओ के कुशल सचालन हेतु वह उचित सगठन-व्यवस्था एव सिद्धान्तो के सम्बन्ध मे सलाह प्रदान नही करता है जिसके फलस्वरूप अच्छी परियोजनाओ को क्रियान्वयन के दोषो के कारण पर्याप्त सफलता प्राप्त नही होती है।

भारतीय नियोजन-व्यवस्था के दोष

भारत मे स्वतन्त्रता के पश्चात नियोजित अर्थ-व्यवस्था का सचालन एक ऐसी व्यवस्था अथवा तन्त्र के रूप मे किया गया, जिसके द्वारा समस्त आर्थिक, सामाजिक एव उच्च समस्याओ का निवारण अवश्य ही सम्भव हो सके। नियोजन के द्वारा इस प्रकार आर्थिक विकास के उद्देश्य की पूर्ति ही नियोजन द्वारा नही की जाती थी, अपितु सर्वांगीण विकास, नियोजन के फलस्वरूप, प्राप्त करने का अभिलाषी-लक्ष्य जनसाधारण के सम्मुख प्रस्तुत किया गया। इस भावना को लेकर नियोजित व्यवस्था मे उदय होने वाली कठिनाइयो एव रुकावटो पर कोई विशेष ध्यान नही दिया गया। यह समझ लिया गया कि जो भी समस्याएँ नियोजित अर्थ-व्यवस्था के फलस्वरूप उदय होगी, वे नियोजित कार्यक्रमो द्वारा स्वय ही दूर हो सकेंगी। नियोजित अर्थ-व्यवस्था मे प्रारम्भ से ही देश के विभिन्न क्षेत्रो मे विद्यमान परिसीमाओं का उचित अध्ययन नही किया गया और नियोजन को लक्ष्यो की सम्भावित प्राप्ति की कला (Art of the Possible Achievements) न मानकर इसे

1 "The cardinal virtue of the Indian System is that is has put political teeth into planning"—A H Hanson, *The Process of Planning*, p 73

लक्ष्यो की निश्चित प्राप्ति का चमत्कारिक यन्त्र समझा गया। इन मान्यताओ के आधार पर भारतीय नियोजन-कला मे निम्नलिखित अपूर्णताओ को अंकित किया जा सकता है

(1) **प्राथमिकताएँ**—भारतीय नियोजन मे प्राथमिकताओ को निर्धारित करने की विधि दोषपूर्ण है। प्राथमिकताओ के अन्तर्गत यह निर्धारित किया जाता है कि विभिन्न कार्यक्रमो का एक-दूसरे की तुलना मे क्या महत्व है। योजना की प्राथमिकताएँ एक प्याज की गाँठ के समान निर्धारित होती है, जैसे प्याज के छिलके उतारते चले जाये तो अन्त मे उसका सबसे महत्वपूर्ण अंग निकल आता है उसी प्रकार भारतीय योजनाओ के केन्द्रित कार्यक्रम (Hard Core) बहुत से अन्य कार्यक्रमो से घिरे रहते है। वास्तव मे, विकास-कार्यक्रमो की प्राथमिकताएं निर्धारित करने के साथ प्रत्येक महत्वपूर्ण कार्यक्रम का वैकल्पिक (Alternative) कार्यक्रम निर्धारित किया जाना चाहिए जो अनिश्चित, कम सम्भावित एवं आकस्मिक परिस्थितियो के उदय होने पर कार्यान्वित किया जा सके। इस प्रकार हमारी योजना अधिक लचीली एवं व्यावहारिक बन सकती है।

(2) **सामाजिक व्यवस्था एवं परम्पराएँ**—भारतीय समाज परिवर्तनो को शीघ्रता के साथ स्वीकार नही कर पाता और परम्पराओं के अनुसरण को अधिक महत्व देता है। इस परिस्थिति का प्रमुख कारण भारत की वह श्रेष्ठ सभ्यता है जिसमे जीवन की प्रत्येक क्रिया को इस प्रकार सन्तुलित किया गया था कि समस्त समाज मे साम्य स्थापित रह। इस प्रकार की व्यवस्था मे कोई परिवर्तन करने के लिए बहुत से परिवर्तन करना आवश्यक होता है जिन्हे समाज स्वीकार करने को तैयार नहीं होता है। इस परिस्थिति मे समाज के सक्रिय क्षेत्रो (जो विकास की ओर कुछ सीमा तक जागरूक हो) की तान्त्रिकताओ, विधियो एवं परम्पराओ का विस्तार करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। इस प्रकार विभिन्न क्षेत्रो मे उपस्थित परिस्थितियो के अनुकूल विकास-कार्यक्रम निर्धारित किये जा सकते है और उन्हे अधिक कुशलता के साथ तथा कम समय मे क्रियान्वित किया जा सकता है।

(3) **बुर्जुआपन**—लालफीताशाही एवं बुर्जुआपन (Bureaucracy) के फलस्वरूप भारत की योजनाओं का स्वरूप केन्द्रीय (Centralized) हो गया है, जिसमे कार्यक्रमो को उच्च अधिकारियो से प्राप्त आदेशो के अनुसार क्रियान्वित किया जाता है। इस नौकरशाही वातावरण मे समान विधियो एवं प्रविधियो को अधिक महत्व दिया जाता है और सरकारी अधिकारी विभिन्न कार्यक्रमो की सफलता को आंकने मे सरल तरीको का उपयोग करना चाहते है। भारत के विभिन्न नियोजित कार्यक्रमो की सफलता का मापदण्ड उन पर किया जाने वाला मौद्रिक व्यय समझा जाता है। भारत जैसे बड़े राष्ट्र मे सभी क्षेत्रो मे समान परिस्थितियां विद्यमान नहीं हैं और जब नियोजको द्वारा इन सभी क्षेत्रो की समस्याओ का निवारण समान विधियो के कार्यक्रमो द्वारा करने का प्रयत्न किया जाता है तो इसके फलस्वरूप क्षेत्रीय नेतृत्व, अन्वेषण, प्रयोग, प्रारम्भिकता एवं नवीन विचारधाराओं को आघात पहुँचता है।

(4) **योजनाओं के मौद्रिक पक्ष को अधिक महत्व**—भारतीय नियोजित अर्थ-व्यवस्था मे विभिन्न योजनाओ के साधनो का बजट बनाने का कार्य योजना आयोग द्वारा किया जाता है और वित्तीय नियोजन (Financial Planning) वित्त-मन्त्रालय का उत्तरदायित्व है, परन्तु वार्षिक बजट योजना की वित्तीय व्यवस्था का मुख्य सलेख समझा जाता है। योजना-आयोग विकास-व्यय एवं साधनो के सम्बन्ध मे राज्य एवं केन्द्र-सरकार के मध्यस्थ के रूप मे कार्य करता है और इस प्रकार वित्तीय आयोग के कार्य-योजना-आयोग द्वारा किये जाने लगे है। इस अव्यवस्था का प्रमुख कारण योजनाओ के मौद्रिक व्यय को अधिक महत्व देना है। योजनाओ म मौद्रिक पक्ष को अधिक महत्व देने के कारण ही हम देखते है कि प्रत्येक नवीन योजना के कुल व्यय को निर्धारित करने के सम्बन्ध मे अत्यधिक वाद-विवाद होता है और भारतीय नियोजक प्रत्येक योजना के व्यय को पिछली योजना से दुगुना करके ही अपने आपको विवेकशील समझने लगा है। इनका सम्भवत ऐसा विचार प्रतीत होता है कि मुद्रा के प्रवाह के साधन भी प्रवाहित होने लगते है।

वास्तव में नियोजकों को मौद्रिक साधनों के साथ-साथ भौतिक साधनों की उपलब्धि का भी अनुमान लगाना चाहिए। योजनाकाल में भौतिक साधनों के सन्तुलन का अध्ययन योजना के प्रारम्भ में ही किया जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि योजना के विभिन्न कार्यक्रमों के लिए जो भौतिक साधन आवश्यक हों, उनकी उपलब्धि तथा इन कार्यक्रमों के उत्पादित साधनों के उचित उपयोग का ब्यौरा प्रत्येक योजना के प्रारम्भ में होना चाहिए। भारत में कृषिक्षेत्र, लघु एवं ग्रामीण-उद्योग-क्षेत्र आदि इतने असंगठित हैं कि इन क्षेत्रों की भौतिक साधनों सम्बन्धी सूचना उपलब्ध नहीं हो सकती है। दीर्घकालीन नियोजन कक्ष (Perspective Planning Division) द्वारा जो दीर्घकालीन लक्ष्य निर्धारित किए जाते हैं, उनके आधार पर ही विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं के लक्ष्य एवं कार्यक्रम निर्धारित होते हैं। यदि किसी योजना में निर्धारित प्रगति का लक्ष्य पूरा नहीं होता तो उससे अगली योजना में प्रगति का लक्ष्य इतना बढ़ा दिया जाता है कि पिछली योजना की प्रगति की कमी पूरी हो सके जिससे दीर्घकालीन नियोजन के निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति निश्चित काल में सम्भव हो सके। वास्तव में, दीर्घकालीन नियोजन के अन्तर्गत केवल भविष्य के लिए लक्ष्य निर्धारित नहीं किए जाने चाहिए, अपितु भूतकालीन योजनाओं की वास्तविक प्रगति का अध्ययन करके अगली योजना के लक्ष्यों का निर्धारण किया जाना चाहिए। भूतकालीन योजनाओं की प्रगति हमें हमारी क्षमताओं एवं साधनों का ज्ञान कराती है और इनकी बात अनदेखी कर देना किसी प्रकार भी उचित नहीं समझी जा सकती है।

(5) **व्यक्तिगत सन्तुलन** (Micro balances)—अर्थ-व्यवस्था में विभिन्न उत्पादकों की क्रियाओं में समन्वय स्थापित करके विभिन्न वस्तुओं की पूर्ति एवं माँग को सन्तुलित किया जा सकता है। स्वतन्त्र अर्थ-व्यवस्था में यह सन्तुलन विपणि-तान्त्रिकताओं (Market Mechanisms) द्वारा, यथेच्छाचारी (Totalitarian) अर्थ-व्यवस्था में निर्देशों द्वारा तथा परम्परागत अर्थ-व्यवस्था में शक्तिशाली परम्पराओं द्वारा स्थापित किया जाता है। भारतीय अर्थ व्यवस्था उपर्युक्त तीनों अर्थ-व्यवस्थाओं का सम्मिश्रण है। ऐसी अर्थ व्यवस्था में व्यक्तिगत सन्तुलन स्थापित करना अत्यन्त कठिन होता है। भारतीय नियोजकों द्वारा इस व्यक्तिगत सन्तुलन की समस्या की ओर गम्भीर ध्यान नहीं दिया गया है। योजनाओं का आधार मौद्रिक कार्यवाहियों को बनाया गया है जिसके फलस्वरूप मुद्रा-स्फीति के दबाव में वृद्धि होती जा रही है और परम्परागत प्रतिबन्ध भिन्न-भिन्न होते चले जा रहे हैं। दूसरी ओर, आर्थिक नियन्त्रणों का उपयोग भी समन्वित रूप से नहीं किया गया जिसके फलस्वरूप मूल्य-तान्त्रिकता भी उचित प्रकार से क्रियाशील नहीं हो पायी है। भारतीय नियोजन में वृहद् अर्थशास्त्रीय सन्तुलन को इतना अधिक महत्त्व दिया गया है जिससे व्यक्तिगत सन्तुलन में विघ्न पड़ गया है। यही कारण है कि हम देखते हैं कि किसी न किसी वस्तु की पूर्ति में कमी तथा मूल्यों की अनुचित वृद्धि विद्यमान रहती है।

(6) **लक्ष्यों एवं उपलब्धियों में अत्यधिक अन्तर**—हमारी योजनाओं में बचत, विनियोजन एवं प्रगति की दरों या वांछनीय उद्देश्यों की विचारधारा की तुलना में ऊँचे स्तर पर अनुमान लगाये जाते रहे जिसके परिणामस्वरूप योजना के लक्ष्यों एवं उपलब्धियों में लगभग सभी क्षेत्रों में अन्तर बना रहा है जिससे जनसाधारण का नियोजन के प्रति विश्वास कम हो गया है।

(7) **असम्भावित बाह्य घटनाओं के अनुसार योजनाओं में समायोजन करने की व्यवस्था न करना**—हमारी नियोजन प्रक्रिया में असम्भावित घटनाओं के घटित होने पर योजना के कार्यक्रमों में समायोजन करने के लिए कोई तन्त्र स्थापित नहीं किया गया है। विकास-व्यय में समय-समय पर वित्तीय एवं राजनीतिक कारणों से कटौती की जाती रही जिससे योजनाओं की प्राथमिकताएँ छिन्न-भिन्न होती रहीं।

(8) **मध्यकालीन मूल्यांकन**—अभी तक की योजनाओं में प्रत्येक योजना में केवल एक बार मूल्यांकन करने की व्यवस्था की गयी है जिसके परिणाम भी योजना काल की लगभग समाप्ति तक

ही उपलब्ध हो पाते थे । इस व्यवस्था के कारण मूल्याकन के अनुसार योजना के कार्यक्रमो मे समायोजन करना सम्भव नही हो सका ।

(9) **स्थिर नियोजन प्रणाली मे विनियोजन निर्णय के लिए उपयुक्त समय उपलब्ध नहीं होता है**—पॉच वर्षीय योजनाओ के अन्तिम वर्षो मे विनियोजन सम्बन्धी निर्णय करने के लिए बहुत थोडा समय रहता है और बहुत से कार्यक्रमो की एक योजना से दूसरी योजना मे ले जाने की समस्या उदय होती है ।

(10) **पंचवर्षीय योजनाओ के अन्तिम वर्ष की सगतिता को अधिक महत्व दिया गया है**—अभी तक की हमारी पचवर्षीय योजनाओ मे अर्थ-व्यवस्था की अन्तार्खण्डीय (intersectoral) सगतिता (Consistency) को योजना के अन्तिम वर्ष तक समायोजित करने को महत्व दिया जाता रहा है चाहे योजना के मध्य के वर्षों मे अर्थ-व्यवस्था मे कितने ही असन्तुलन क्यों न बने रहे हो । अन्तिम वर्ष की उपलब्धियो एव सन्तुलनो के आधार पर योजना की सफलता का आकलन उचित नही कहा जा सकता है ।

नियोजन प्रक्रिया के इन दोषो को दूर करने हेतु अनवरत नियोजन-प्रक्रिया का प्रारम्भ 1978-79 से किया गया है ।

14

अनवरत योजना अथवा चक्रीय योजना

[ROLLING PLAN]

सन 1977 में आपातकाल की समाप्ति तथा जनता पार्टी के सत्तारूढ़ होने से देश की राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक गतिविधियों में आमूल-चूल परिवर्तन होने और शासकीय नीतियों के जनसाधारण और विशेषकर समाज के निर्धन वर्गों के अनुकूल समायोजित एवं क्रियान्वित होने की सम्भावना सुदृढ़ हुई। देश में निर्धनता एवं बेरोजगारी में निरन्तर वृद्धि होने के प्रमुख कारण अपर्याप्त विकास एवं विकास के लाभों का असन्तुलित वितरण रहे हैं। 1950 से 1960 के दशक में देश में वास्तविक प्रति व्यक्ति आय की चक्रवर्ती वार्षिक दर 1 9% रही जो संसार के विभिन्न विकासशील राष्ट्रों की तुलना में बहुत कम थी। 1961-62 से 1976-77 के काल में प्रति व्यक्ति आय की चक्रवर्ती दर घट कर 1 1% प्रति वर्ष रह गयी। ग्रामीण जनसंख्या के सन्दर्भ में प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि की गति और भी मन्द रही। ग्रामीण जनसंख्या की प्रति व्यक्ति वास्तविक आय 1976-77 में 195 50 रुपये की थी जो 1950-51 की तुलना में (197 80) 2 3 रुपये कम थी। दूसरी ओर नगरीय क्षेत्रों में जहाँ देश की जनसंख्या का केवल 28% भाग निवास करता है। प्रति व्यक्ति वास्तविक आय 1950-51 में 399 40 रुपये से बढ़कर 1976-77 में 813 20 रुपये हो गयी। इन तथ्यों से यह स्पष्ट है कि देश में नियोजित विकास का लाभ नगरीय जनसंख्या को ही उपलब्ध हुआ है और निर्धनता की व्यापकता ग्रामीण क्षेत्रों में निरन्तर बढ़ती जा रही है। ऐसी परिस्थिति में जनता सरकार ने नियोजन की प्राथमिकताओं, नियोजन के संगठन एवं संचालन तथा आधारभूत आर्थिक नीतियों में परिवर्तन करने पर विशेष ध्यान दिया है। कृषि क्षेत्र के विकास की गति को तीव्र करने, स्व-रोजगार के अवसरों में तीव्र गति से वृद्धि करने को नियोजन के अन्तर्गत विशेष महत्व प्रदान किया जाना आवश्यक समझा गया है। इसके साथ ही नियोजन की प्रक्रिया में भी मूलभूत परिवर्तन किये जा रहे हैं। योजनाओं का निर्माण क्षेत्रीय स्तर पर करके और स्थानीय संसाधनों का गहन उपयोग करके विकास का गतिमय करने का लक्ष्य इंगित किया गया है। समस्त नियोजन प्रक्रिया को नवीन दिशा-निर्देश दिया गया है।

उपर्युक्त लक्ष्यों को ध्यान में रखकर योजना-आयोग का पुनर्गठन किया गया है। डॉ डी टी लकड़ावाला को, जो देश के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री हैं और सरकारी नीतियों की निर्भीक आलोचना करते रहे हैं, योजना-आयोग का उपाध्यक्ष नियुक्त किया गया है। दिल्ली स्कूल ऑफ इकानामिक्स के डॉ राजकृष्ण को योजना आयोग का सदस्य नियुक्त किया गया है। श्री ह्वी जी राजाध्यक्ष को मुख्य सलाहकार के पद से पदोन्नत करके योजना-आयोग का सदस्य बना दिया गया है और पुराने सदस्यों में श्री वी मिवारमन को आयोग का सदस्य बने रहने दिया गया है। इस प्रकार योजना आयोग में राजनीतिज्ञों के स्थान पर अर्थशास्त्र के विशेषज्ञों को सम्मिलित करके आयोग की निष्पक्षता एवं कार्यकुशलता बढ़ाने का प्रयत्न किया गया है। दूसरी ओर आयोग की सिफारिशों को प्रभावशाली बनाने के लिए प्रधान मन्त्री के अतिरिक्त वित्त मन्त्री, गृह मन्त्री तथा सुरक्षा मन्त्री को भी आयोग का पदेन सदस्य बनाया गया है। इन मन्त्रियों को इनके विभागों के स्थान पर इनकी शासन में व्यक्तिगत, राजनीतिक ज्येष्ठता एवं महत्ता के आधार पर आयोग में स्थान दिया

गया है। इस प्रकार वर्तमान योजना-आयोग एक ओर विशेषज्ञो की सिफारिशो को तैयार करेगा और दूसरी ओर इन सिफारिशो के आधार पर ठीक निर्णय करने मे सक्षम हो सकेगा, यह सम्भावना की जा सकती है।

योजना-आयोग ने गत 25 वर्षो की नियोजन-प्रक्रिया का गहन अध्ययन किया है और इस प्रक्रिया की दुर्बलताओ एव सुदृढताओ का विस्तृत मूल्याकन किया है। गत 25 वर्षो की योजना का क्रियान्वयन दोष रहित नही रहा है और नियोजन की समर-नीति एव उद्देश्यो को पुन परिभाषित करने की आवश्यकता समझी गयी है। कृषि एव ग्रामीण विकास तथा रोजगार-प्रधान विकास की समर-नीति द्वारा ही व्यापक निर्धनता का निवारण किया जा सकता है। इस मूल उद्देश्य के साथ योजना मे आत्म-निर्भरता तथा निर्यात-सवर्द्धन के उद्देश्यो का भी समावेश रहेगा। इन आधारभूत उद्देश्यो की उपलब्धि के लिए नियोजन प्रक्रिया मे कुछ मूलभूत परिवर्तन करना आवश्यक समझा गया और इसलिए पाँचवी योजना को चार वर्षो मे ही अर्थात् 31 मार्च, 1978 को समाप्त समझा गया है तथा 1 अप्रैल, 1978 से अगली योजना का प्रारम्भ हो गया है। नियोजन-प्रक्रिया को ऐसा स्वरूप देने का प्रयत्न किया गया है कि अवास्तविक लक्ष्य-निर्धारण की समाप्ति, ऐसी घटनाओ (जिनका पूर्वानुभव नही लगाया जा सकता है) के घटित होने पर आवश्यक समायोजन की व्यवस्था तथा ऐसी परियोजनाओ (जिनकी ससेचन (gestation) अवधि लम्बी होती है) मे विनियोजन के उचित निर्णय लेने के लिए नियोजन-प्रक्रिया को स्थिर योजना-प्रक्रिया से बदलकर अनवरत योजना-प्रक्रिया (Rolling Plan Process) करने का निश्चय किया गया।

स्थिर योजना-प्रक्रिया के दोष

अभी तक पाँच वर्ष के कार्यक्रम एव नीतियो के आधार पर बनायी योजनाओ के निर्माण एव क्रियान्वयन मे निम्नलिखित दोष उदय हुए है

(अ) योजनाओ मे वास्तविक बचत एव विनियोग-दरो का ऊँचा अनुमान लगाकर विकास की सम्भावित दर को ऊँचा रखा गया जिससे अर्थ-व्यवस्था के सभी खण्डो मे योजना के लक्ष्यो एव वास्तविक उपलब्धियो मे अन्तर बढता गया। इस परिस्थिति ने योजना की प्रक्रिया की विश्वसनीयता को कम किया है।

(ब) कृषि-उत्पादन मे वर्ष प्रति वर्ष होने वाले उच्चावचनो का योजनाओ मे कोई आयोजन नही किया गया और गैर-अनुमानित बाहरी घटनाओं के घटित होने पर योजनाओ मे समायोजन करने के लिए किसी तन्त्र की व्यवस्था नही की गयी। योजनाओ के विकास व्यय मे अनियोजित कटौतियाँ करने से योजनाओ की प्राथमिकताएँ विकृत होती रही है।

(स) अभी तक की नियोजन-प्रक्रिया मे योजनाकाल मे केवल एक बार मध्यकालीन मूल्याकन (Mid-term Appraisal) करने की व्यवस्था की जाती रही है और इसके आधार पर अनुपयुक्त समायोजन एव सुधार किये जाते रहे है। अर्थ-व्यवस्था के किसी एक खण्ड मे माँग अथवा पूर्ति मे अनुमानानुसार परिवर्तन न होने पर दूसरे सम्बद्ध खण्डो मे पर्याप्त एव यथासमय परिवर्तन नहीं किये जा सके।

(द) स्थिर पाँचवर्षीय योजना के अन्तिम वर्षों मे बहुत से खण्डो (Sectors) मे विनियोजन सम्बन्धी निर्णय करने के लिए समयावधि बहुत कम होती है।

(य) योजनाओ को ऐसे विकास-मॉडलो पर आधारित किया गया है जिनमे योजना के अन्त मे अन्तर्खण्डीय सगतिता (Inter-sectoral Consistency) की सैद्धान्तिक व्यवस्था रहती है और वर्ष प्रति वर्ष उदय होने वाले असन्तुलनो का अध्ययन करने का आयोजन नही किया गया है।

योजना-आयोग ने उपर्युक्त दोषो को दूर करके भविष्य की योजनाओ को वास्तविक बचत-क्षमता के आधार पर मध्यावधि विनियोजन-योजना के रूप मे सचालित करने का निश्चय किया है। यह मध्यावधि विनियोजन-योजना अनवरत योजना के रूप मे सचालित की जायेगी।

अनवरत योजना की विशेषताएँ

(1) प्रत्येक वर्ष के हेतु समस्त विनियोजन एवं बचत का निर्धारण प्रति वर्ष किया जायेगा।

(2) प्रत्येक वर्ष पाँच वर्ष की अवधि के लिए अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न बड़े खण्डों के लिए व्यय एवं उत्पादन निर्धारित किया जायेगा।

(3) प्रत्येक वर्ष के अन्त में अगले पाँच वर्षों के लिए लक्ष्य निर्धारित किये जायेंगे। प्रत्येक वर्ष की समाप्ति पर पंचवर्षीय योजना के बचे हुए चार वर्षों एवं एक अतिरिक्त वर्ष के लिए गुजरे हुए वर्ष की उपलब्धियों एवं निकट भविष्य की सम्भावनाओं के आधार पर लक्ष्य एवं कार्यक्रम निर्धारित किये जायेंगे। इस प्रकार प्रत्येक वर्ष के अन्त में पाँच वर्ष की योजना तैयार की जा सकेगी और जो वर्ष गुजर जायगा उसके स्थान पर आगे का एक वर्ष योजना में जोड़ दिया जायेगा। नियोजन की इस प्रक्रिया को अनवरत अथवा चक्रीय योजना का नाम दिया गया है।

(4) योजना-आयोग 10 से 15 वर्ष के लिए दीर्घकालीन योजना तैयार करेगा जिसमें सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था के दीर्घकालीन विकास-मार्ग का चार्ट प्रस्तुत किया जायेगा। यह दीर्घकालीन योजना जनसंख्या सम्बन्धी परिवर्तनों, परियोजनाओं की दीर्घकालीन संसेचन-अवधि के आधार पर विनियोजन निर्णय करने की नीति भूमि उपयोग, जल-साधनों, तेल एवं खनिज-विकास तथा जन-शक्ति के नियोजन को ध्यान में रखकर निर्धारित की जायेगी।

(5) अनवरत योजना-पद्धति में आयोजन उस आधार-स्तर पर किये जाते हैं जिसमें प्रत्येक वर्ष समायोजन होते रहते हैं। इस पद्धति में त्रुटियों का निरन्तर सुधार होता रहता है और विनियोजन निर्णय के लिए स्थिर समय-सीमा उपलब्ध होती रहती है।

(6) यद्यपि योजना के पाँच वर्षों के लिए वार्षिक लक्ष्य निर्धारित किये जायेंगे तथापि इन वार्षिक लक्ष्यों की उपलब्धि का मूल्यांकन प्रत्येक वर्ष के अन्त में किया जायेगा और वास्तविक उपलब्धियों के आधार पर अगले पाँच वर्ष की योजना के वार्षिक लक्ष्यों में कुछ फेर-बदल कर दी जायेगी।

(7) अनवरत योजना विधि के अन्तर्गत खण्डीय नीतियों (Sectorial Policies) का वर्तमान पद्धति के समान सामयिक (पाँच वर्षों में) मूल्यांकन भी किया जायेगा। इस सामयिक मूल्यांकन के साथ योजना की नीतियों एवं उपलब्धियों का मूल्यांकन किसी भी समय किया जा सकता है। केन्द्र एवं राज्य सरकार के बीच साधनों का पुन आवटन यथावत् पाँच वर्ष की अवधि के अन्तराल से होता रहेगा।

भारत में अनवरत योजना का प्रारम्भ

अनवरत योजना विधि के अन्तर्गत योजनाओं के निर्माण एवं संचालन में लचीलापन रहेगा और योजनाओं के निर्माण में लगने वाले समय को कम किया जा सकेगा, क्योंकि प्रत्येक वर्ष की प्रगति एवं मूल्यांकन के अन्तर्गत आवश्यक आँकड़े एवं सूचनाएँ सदैव तैयार रहेंगे जिनके आधार पर अगले वर्ष की योजना का निर्माण आसानी से किया जा सकता है और हर समय पंचवर्षीय योजना तैयार रखी जा सकती है। वर्तमान स्थिर पंचवर्षीय योजना विधि के अन्तर्गत आधार-वर्ष का अनुमानित उत्पादन लेकर लक्ष्य निर्धारित किये जाते हैं क्योंकि एक योजना की समाप्ति के पूर्व ही दूसरी योजना का निर्माण प्रारम्भ हो जाता है। आधार वर्ष की समाप्ति से लगभग दो वर्ष पूर्व अगली योजना का निर्माण प्रारम्भ कर दिया जाता है। इस प्रकार आधार-वर्ष की अनुमानित उपलब्धियों के आधार पर नवीन योजना के लक्ष्यों एवं कार्यक्रमों का निर्धारण किया जाता है। समस्त मौद्रिक अनुमान भी आधार-वर्ष के अनुमानित मूल्य-स्तर पर लगाये जाते हैं। परन्तु जब आधार-वर्ष की वास्तविक उपलब्धियाँ एवं मूल्य-स्तर अनुमानित उपलब्धियों एवं मूल्य-स्तर से भिन्न रहते हैं तो अनुमानित उपलब्धियों एवं मूल्य-स्तर के आधार पर बनायी गयी योजना के लक्ष्य कार्यक्रम एवं नीतियाँ सही एवं उपयुक्त सिद्ध नहीं होती हैं और सम्पूर्ण योजना को अन्तिम

रूप देने मे योजना-अवधि का आधा समय समाप्त हो जाता है। उदाहरणार्थ, पाँचवी योजना के उपागम प्रलेखो (Approach papers) का प्रकाशन जनवरी 1973 में किया गया और योजना की प्रस्तावित रूपरेखा को दिसम्बर 1973 मे तैयार करते समय समस्त मूल आँकडो मे फेर-बदल करना पड़ा। पाँचवी योजना की अन्तिम रूपरेखा अक्टूबर 1976 मे प्रकाशित की गयी। जबकि योजना के प्रथम ढाई वर्ष समाप्त हो चुके थे। अनवरत योजना-विधि के अन्तर्गत इस कठिनाई को दूर करना सम्भव हो सकेगा, क्योंकि नियोजन-प्रक्रिया सतत चलती रहेगी और सूचनाओ का सवहन निरन्तर होता रहेगा।

अनवरत योजना का विचार उन अर्थ-व्यवस्थाओ के लिए उपयुक्त समझा जाता है जिनमे आर्थिक अथवा प्राकृतिक परिस्थितियाँ अत्यधिक अनिश्चित होती हैं जिसके परिणामस्वरूप भविष्य के लिए विकास का मार्ग निर्धारित करने हेतु दीर्घ अथवा मध्यकालीन अनुमान लगाना कठिन होता है। अनवरत योजना-विधि मे त्रुटियों में यथासमय सुधार करने की क्षमता विद्यमान रहती है। स्थिर एव अनवरत योजना-विधि मे मुख्य अन्तर सूचनाओं के प्रवाह एव उनके अनुसार सुधार एव समायोजन करने से सम्बन्धित होता है। अनवरत योजना-विधि मे वतमान एव भविष्य दोनो के लिए सूचनाओ का समुचित प्रवाह होता रहता है और इन सूचनाओ के आधार पर अगल वर्ष एव योजना-अवधि के अन्तिम वर्ष की योजना मे समायोजन कर दिये जाते है। जैसे 1978-79 में अनवरत योजना का हमारे देश मे प्रारम्भ हो रहा है। 1978-79 वर्ष की वार्षिक योजना के साथ-साथ पचवर्षीय योजना (1978-79 से 1983-84 तक) का भी निर्माण किया जायगा। 1978 79 के अन्त मे 1979-80 की योजना तैयार की जायेगी जो 1978-79 की उपलब्धियो एव परिवर्तनो पर आधारित होगी। 1979-80 की वार्षिक योजना के साथ 1979-80 के 1984-85 तक की पचवर्षीय भी तैयार की जायेगी अर्थात् 1978-79 से 1983-84 की पाचवर्षीय योजना मे 1978-79 वर्ष हट जायेगा और 1984-85 की योजना जोड़ दी जायेगी। इस प्रकार अनवरत योजना की प्रक्रिया प्रत्येक वर्ष चलती रहती है और प्रत्येक वर्ष के अन्त मे अगले वर्ष के लिए योजना का निर्माण करने हेतु तुरन्त की सूचनाओ का उपयोग किया जायेगा और पाँचवें वर्ष की योजना बनाने के लिए भविष्य से सम्बन्धित सूचनाओ का उपयोग करना होगा।

अनवरत योजना की सफलता की शर्तें

अनवरत योजना की प्रक्रिया स्थिर पाँचवर्षीय योजना-प्रक्रिया की तुलना मे अत्यधिक जटिल है। स्थिर योजना-विधि मे विभिन्न खण्डो (Sectors) मे सामयिक सम्बन्ध पाँच वर्ष की अवधि के लिए स्थापित किया जाता है। इस विधि मे खण्डो की सख्या एव सामयिक अवधि के काल कम होते हैं, जबकि अनवरत योजना के अन्तर्गत खण्डो की सख्या अत्यधिक होगी, क्योकि प्रत्येक खण्ड की उपलब्धि एव परिवर्तनो के आधार पर योजना मे समायोजन करना होता है। दूसरी ओर, सामयिक अवधि के कालो की सख्या स्थिर योजना-विधि की तुलना मे अनवरत योजना-विधि मे अत्यधिक होती है क्योकि अनवरत योजना मे विभिन्न खण्डो में प्रत्येक वर्ष के लिए एव प्रत्येक वर्ष के बाद के पाँच वर्षों के लिए सम्बन्ध स्थापित करने की आवश्यकता होगी। इस प्रकार अनवरत योजना अवधि का विकास-मॉडल अत्यन्त जटिल होगा जिसके लिए उपयुक्त तकनीकी एव प्रशासनिक तन्त्र एव सस्थागत सरचना की आवश्यकता होगी। अनवरत योजना-विधि की सफलता के लिए निम्नलिखित शर्तों की पूर्ति करना आवश्यक होगा

(1) **प्रगति की कुशल चेतावनी (Monitoring) व्यवस्था**—विभिन्न परियोजनाओ की वार्षिक प्रगति का कुशलता से मूल्याकन एव रिपोर्टिंग होना अनवरत योजना की सफलता के लिए आवश्यक होता है, क्योकि विभिन्न लक्ष्यो की अति अथवा न्यून पूर्ति के आधार पर सुधारात्मक कार्यवाहियाँ निर्धारित की जाती है और भविष्य की योजनाओ के लक्ष्य निर्धारित किये जाते हैं।

(2) **अल्पकालीन पूर्वानुमान विधि**—अनिश्चित कारको की नवीनतम जानकारी एव उन

कारकों को नियन्त्रित करने हेतु सम्भावित नीतियों के आधार पर विभिन्न आधारभूत चरों की गतिविधि का पूर्वानुमान प्रतिवर्ष लगाना आवश्यक होगा, क्योकि इस पूर्वानुमान के आधार पर ही अगले वर्ष की योजना के कार्यक्रम एव लक्ष्य निर्धारित किये जा सकते हैं। इस प्रकार अल्पकालीन पूर्वानुमानों का अनवरत योजना की सफलता मे महत्वपूर्ण स्थान होता है।

(3) **नियोजन-एजेन्सियो मे निर्णय करने की क्षमता एव अधिकार होना**—परियोजनाओं के मूल्याकन एव अल्पकालीन पूर्वानुमानो के आधार पर उपलब्धियो का सापेक्ष अध्ययन दीर्घकालीन नियोजन के लक्ष्यो एव उद्देश्यो से किया जाता है और इस अध्ययन के आधार पर कुछ सुधारात्मक एव समायोजन कार्यवाहियाँ करना आवश्यक होता है। इन कार्यवाहियो को उचित समय पर सचालित करने के लिए विभिन्न स्तरों पर स्थापित नियोजन-एजेन्सियो का निर्णय करने का अधिकार होना चाहिए। साथ ही इन एजेन्सियो मे इतनी तकनीकी विशेषता होनी चाहिए कि यह उचित निर्णय ले सके। यदि नियोजन-एजेन्सियो की निर्णय-क्षमता एव निर्णय-अधिकार मे कोई कमी रहेगी तो सुधारात्मक कार्यवाहियाँ यथासमय नही की जा सकेंगी और अनवरत योजना सफल नहीं हो सकेगी।

(4) **कुशल प्रशासन-तन्त्र**—नियोजन-एजेन्सियो द्वारा जिन सुधारात्मक एव समायोजन सम्बन्धी कार्यवाहियों को निर्धारित किया जाता है उनका प्रभावशाली क्रियान्वयन करने के लिए कुशल प्रशासन-तन्त्र आवश्यक होता है जो इन सुधारात्मक कार्यवाहियों का उपयुक्त सवहन करे और उनका कुशल क्रियान्वयन कराय। सुधारात्मक कार्यवाहियों के कुशल क्रियान्वयन हेतु इन कार्यवाहियो के लिए राजनीतिक स्वीकृति भी आवश्यक होती है।

(5) **आधारभूत अनुशासन**—दीर्घकालीन एव अल्प-कालीन आधारभूत लक्ष्यो एव उद्देश्यो (जो समाज द्वारा स्वीकृत किय गये हैं) मे हेर-फेर नही किया जाना चाहिए अपितु इनकी उपलब्धि के लिए सुधारात्मक कार्यवाहियो एव नीतियो मे ही परिवर्तन किया जाना चाहिए जिससे बदलती हुई परिस्थितियो मे भी आधारभूत उद्देश्यो की पूर्ति की जा सके। आधारभूत उद्देश्यो मे केवल इसलिए फेर-बदल नहीं किया जाना चाहिए कि उनकी उपलब्धि प्रशासन एव क्रियान्वयन-तन्त्र की दुर्बलता के कारण सम्भव नही हो सकती है। दूसरे शब्दो मे, अनवरत योजना विधि का उपयोग नियोजन-प्रक्रिया की विफलताओ को छिपाने के रूप मे नही किया जाना चाहिए।

(6) **केन्द्र एव राज्य के आश्वस्त सम्बन्ध**—अनवरत योजना की सफलता के लिए केन्द्र एव राज्यो के सम्बन्धो म अल्प-काल मे कोई मूलभूत परिवर्तन नही होने चाहिए क्योकि केन्द्र से निरन्तर सहायता मिलने का आश्वासन न होने पर राज्य अपनी योजनाओ म लम्बी ससेचन अवधि के कार्यक्रम सम्मिलित नही कर सकेंगे और योजना कार्यक्रमो मे अनिश्चितता का वातावरण बना रहेगा।

अनवरत योजना-विधि इस प्रकार एक अत्यन्त जटिल प्रविधि है जिसके माध्यम से नियोजन-प्रक्रिया को लचीला रखा जा सकता है और लक्ष्यो की प्राप्ति सम्भव हो सकती है परन्तु अनवरत योजना-विधि के सफल सचालन के लिए कुशल तकनीकी एव प्रशासनिक विशेषज्ञता तथा राजनीतिक अनुशासन की आवश्यकता होगी। भारत मे सन् 1960 तक नियोजन-एजेन्सी को राजनीतिक सरक्षण मिलता रहा और नियोजन का मुख्य लक्ष्य आर्थिक प्रगति रहा। आर्थिक प्रगति की तीव्र गति के लिए उत्पादन-प्रक्रिया म विशेष सस्थागत परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं पडी और राजनीतिक नेताओ एव आर्थिक दृष्टिकोण से प्रभुसत्ता-सम्पन्न समूह हित तथा नियोजन एजेन्सी द्वारा निर्धारित उद्देश्यों एव लक्ष्यो मे कोई विरोधाभास नहीं था। परन्तु सन् 1960 के पश्चात नियोजन पर से विश्वसनीयता घटने लगी क्योकि नियोजित विकास का लाभ निर्धन-वर्ग को उपलब्ध नहीं हो सका। इस परिस्थिति मे राजनीतिक-क्षेत्र अल्पकालीन लाभ प्राप्त करने के लिए योजना मे ऐसी अल्पकालीन नीतियों का समावेश करने लगा जिनके द्वारा ऐसा प्रतीत हो कि नियोजन का लाभ निर्धन वर्ग को प्रदान कराने का प्रयत्न किया जा रहा है। इसीलिए

तीसरी योजना से योजना के लक्ष्यो मे बेरोजगारी एव गरीबी के उन्मूलन का सैद्धान्तिक महत्व बढता गया। इन उद्देश्यो की पूर्ति के लिए उत्पादन-प्रक्रिया मे सरचनात्मक परिवर्तन करना आवश्यक था जिससे निर्धनतम वर्ग की क्रय-शक्ति मे वृद्धि की जा सके। परन्तु सैद्धान्तिक रूप से विकास-प्रक्रिया का अन्तिम लक्ष्य—विषमताओ को कम करना—स्वीकार करने के पश्चात इस सम्बन्ध मे ठोस कार्यवाहियाँ नही की गयी और योजनाओ के लक्ष्यो एव उपलब्धियो मे विशेषकर वितरण के क्षेत्र मे अन्तर बढता गया।

अनवरत योजना-विधि के अन्तर्गत यदि राजनीतिक दबाव का उपयोग योजना के सामाजिक उद्देश्यो मे निरन्तर परिवर्तन करने के लिए किया गया तो इस विधि की सफलता असम्भव होगी। नियोजन-एजेन्सियो का व्यापक विकेन्द्रीकरण करने की व्यवस्था अनवरत योजना की सफलता के लिए आवश्यक होगी। नियोजन-एजेन्सियो को ग्रामीण स्तर तक पहुँचाना होगा तथा इनमे उपर्युक्त तकनीकी विशेषज्ञता का समावेश किया जायेगा जिससे यह यथासमय सुधारात्मक कार्यवाहियो का निर्धारण कर सके। हमारे देश मे इस प्रकार की नियोजन-एजेन्सियो की अत्यन्त कमी है। हमारे देश का प्रशासन-तन्त्र भी इतना कुशल नही है कि वह सूचनाओं के प्रवाह एव सुधारात्मक कार्यवाहियो का क्रियान्वयन कुशलतापूर्वक कर सके। ऐसी परिस्थिति मे अनवरत योजना-विधि की सफलता के लिए सस्थागत, प्रशासनिक एव कार्य-विधि सम्बन्धी तैयारियाँ व्यापक रूप से की जानी चाहिए। राजनीतिक क्षेत्र मे भी यह सिद्धान्त स्वीकार किया जाना चाहिए कि "उस लाभ का आश्वासन नही दिया जाना चाहिए जिसकी उपलब्धि के सम्बन्ध मे आश्वासनदाता स्वय भी सन्देह की स्थिति मे हो।"

भाग 2

भारत में नियोजित प्रगति

[Planned Development in India]

15

भारत में नियोजन का इतिहास

[HISTORY OF PLANNING IN INDIA]

राष्ट्रीय योजना समिति

भारत मे नियोजन की आवश्यकता की ओर सर्वप्रथम सन् 1934 मे प्रसिद्ध इजीनियर तथा राजनीतिज्ञ सर विश्वेश्वरैया द्वारा सकेत किया गया। उन्होंने अपनी पुस्तक *'Planned Economy for India'* मे यह बताया कि भारत का पुनर्निर्माण योजनाबद्ध कार्यक्रम द्वारा किया जाना आवश्यक है। इस पुस्तक मे बताया गया है कि राष्ट्र के सर्वोपरि आर्थिक विकास हेतु आर्थिक नियोजन आवश्यक है। भारतीय आर्थिक सभा (Indian Economic Conference) ने सन् 1934 35 की अपनी वार्षिक सभा मे इस पुस्तक मे दिये गये सुझावो पर विचार किया। इस पुस्तक मे एक दसवर्षीय योजना का कार्यक्रम बनाया गया था जिसके द्वारा राष्ट्रीय आय तथा समस्त उद्योगो के उत्पादन को अल्प-समय मे दुगुना करने का आयोजन किया गया था। यद्यपि यह योजना समुचित समय पर प्रस्तुत की गयी, परन्तु आर्थिक कठिनाई, सांख्यिकी की अपर्याप्तता, विदेशी सरकार के प्रति जन-असहयोग आदि कारणों से इसे कार्यान्वित नही किया गया। इसके लगभग चार वर्ष पश्चात 2 या 3 अक्टूबर, 1938 को अखिल भारतीय कांग्रेस के अध्यक्ष स्व सुभाषचन्द्र बोस ने दिल्ली मे प्रान्तीय उद्योग-मन्त्रियो का एक सम्मेलन बुलाया। सम्मेलन ने निश्चय किया कि निर्धनता, बेरोजगारी, राष्ट्रीय सुरक्षा तथा आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए औद्योगीकरण अत्यन्त आवश्यक है। इस सम्मेलन मे ऐसी राष्ट्रीय योजना पर जोर दिया गया जिसमे बृहद् आधारभूत लघु तथा कुटीर उद्योगो का समन्वित विकास आवश्यक समझा जाय। इस सम्मेलन के सुझावो को कार्यान्वित करने के लिए अखिल भारतीय कांग्रेस द्वारा राष्ट्रीय योजना समिति (National Planning Committee) की स्थापना स्वर्गीय जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता मे की गयी। यह देश मे सर्वप्रथम कार्यवाही थी जिसके द्वारा राष्ट्र की महत्वपूर्ण आर्थिक समस्याओं का अध्ययन तथा उनके हल के लिए समन्वित योजनाओ का निर्माण करने का प्रयत्न किया गया। इस समिति का मुख्य उद्देश्य राष्ट्र के विभिन्न आर्थिक पहलुओं का अध्ययन कर एक ऐसी व्यवस्था अथवा योजना निश्चित करना था जिसके द्वारा ऐसे समाज का निर्माण किया जाय कि जनसमुदाय को विचार व्यक्त करने तथा अपनी इच्छाओ की पूर्ति करने के समान अवसर प्राप्त हो तथा उचित समय पर पर्याप्त न्यूनतम जीवन-स्तर का आयोजन किया जा सके।

इस समिति ने देश के विभिन्न आर्थिक पहलुओ का अध्ययन करने तथा विकास-योजनाएँ प्रस्तुत करने के लिए 29 उप-समितियां नियुक्त की जिनका प्रतिवेदन (Report) समय-समय पर प्रकाशित किया गया। समिति के विचार मे नियोजन का सचालन उचित राष्ट्रीय अधिकारी की अनुपस्थिति मे नही किया जा सकता था। इस अधिकारी को प्रभावशाली योजना बनाने तथा सचालित करने के लिए राष्ट्र के समस्त साधनो पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त होना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु एक राष्ट्रीय सरकार का निर्माण करना आवश्यक समझा गया, जिसमे विदेशी सत्ता को हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नही हो। मई, 1940 मे समिति के अध्यक्ष ने घोषणा की कि समिति एक स्वतन्त्र सरकार स्थापित करना चाहती है जिसमे व्यक्ति तथा समुदाय के

मूलभूत अधिकारा—राजनीतिक आर्थिक सामाजिक तथा सांस्कृतिक—का सुरक्षित रखा जायगा और नागरिका क तदनुसार कतव्य भी निश्चित किय जायेंग।

४ राष्ट्रीय याजना समिति की स्थापना के कुछ समयापरान्त ही काग्रस मन्त्रिमण्डल न त्यागपत्र द दिया। इसी समय द्वितीय महायुद्ध छिड गया। परिणामस्वरूप इस समिति का काय केवल सुझावो तक सीमित रह गया। महासमरापरान्त राष्ट्र की आर्थिक समस्याओ म भी परिवतन हो गय और नवीन समस्याओ का प्रादुर्भाव हुआ। इसी बीच सरकार उद्योगपतियो तथा राजनीतिक पक्षो ने अपनी-अपनी योजना का निर्माण कर उनका प्रकाशन प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार राष्ट्रीय याजना समिति क सुझावो को कार्यान्वित करन का अवसर प्राप्त नही हुआ।

A बम्बई योजना

सन 1944 म भारत के आठ प्रमुख उद्योगपतियो न एक सूत्रबद्ध योजना प्रकाशित की। यह भारत क आर्थिक इतिहास की महत्वपूण घटना थी। इसस पूव योजना के सम्बन्ध म विचार तो बहुत हुए थ परन्तु कोई योजनाबद्ध कायक्रम प्रस्तुत नही किया गया था। इन आठ उद्योग पतियो म सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास श्री ज आर डी टाटा श्री जी डी बिड़ला, सर आर्देशर दलाल सर श्रीराम सेठ कस्तूरभाई लालभाई श्री ए डी श्राफ तथा डा जान मथाई सम्मिलित थ। यह एक 15 वर्षीय योजना थी और नियोजको ने इसका A Plan of Economic Development for India' नाम दिया परन्तु यह बम्बई-योजना क नाम स प्रसिद्ध है। योजना का कायक्रम तीन पचवर्षीय अवस्थाओ म पूण करना था तथा इनका समस्त अनुमानित व्यय 10 000 करोड रुपय था।

उद्देश्य—योजना का उद्देश्य तत्कालीन प्रति व्यक्ति आय को 15 वर्षो मे दुगुना करना था। यह भी अनुमान लगाया गया कि जनसख्या की वृद्धि को दृष्टि म रखते हुए प्रति व्यक्ति आय को दुगुना करन के लिए राष्ट्रीय आय को तिगुना करना आवश्यक होगा। योजना म न्यूनतम जीवन स्तर क अन्तगत निम्नलिखित सुविधाओ का आयोजन किया गया

(अ) 2600 कैलारी प्रति व्यक्ति प्रतिदिन भोजन प्रदान करने का आयोजन किया गया जिसक लिए प्रति व्यक्ति 65 रुपय प्रति वष व्यय का अनुमान लगाया गया और समस्त जनसख्या को यह सन्तुलित भोजन प्रदान करने का व्यय 2,100 करोड रुपय अनुमानित किया गया।

(आ) प्रति व्यक्ति 30 गज कपड की न्यूनतम पूर्ति हेतु सन 1941 की जनगणना क आधार पर 1 18 700 लाख गज कपड का अनुमान लगाया गया जिसकी अनुमानित लागत लगभग 255 करोड रुपय थी।

(इ) प्रति व्यक्ति 100 वग फीट क गृहो क निमाण का लक्ष्य रखा गया। यह अनुमान लगाया गया कि इस प्रकार के गृह पाँच व्यक्तियो के निवास हेतु पर्याप्त होग तथा ग्रामीण क्षत्रो मे प्रति भवन की लागत लगभग 400 रुपय होगी।

(ई) योजना म स्वास्थ्य तथा चिकित्सा की पर्याप्त सुविधाओ के लिए कायक्रम को दो भागो म विभाजित किया गया। अवरोध कायक्रमो (Preventive Measures) मे सफाई जल की उपलब्धि टीका लगाना छूत क रागो को रोकन क लिए प्रयत्न प्रसूति तथा शिशु कल्याण आदि कायक्रम सम्मिलित किय गय। आरोग्यकर (Curative) कायक्रमो म चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाओ म पर्याप्त वद्धि करन का आयोजन किया गया। योजना म प्रत्येक ग्राम म एक चिकित्सालय तथा नगरो म अस्पताल तथा प्रसूति-गृहो और क्षय रोग कैंसर तथा कुष्ठ रोग आदि की चिकित्सा क लिए विशष सस्थाओ का सुझाव रखा गया।

(उ) बम्बई योजना म प्राथमिक शिक्षा को विशष महत्व दिया गया। प्राथमिक शिक्षा पर 88 करोड रुपय आवतक (Recurring) तथा 86 करोड रुपय अनावतक व्यय का अनुमान लगाया गया।

इस प्रकार न्यूनतम जीवन-स्तर मे उपर्युक्त पाँच आधारभूत सुविधाओ को सम्मिलित किया गया और इस न्यूनतम स्तर की लागत 2,900 करोड रुपये अनुमानित की गयी।

योजना मे राष्ट्रीय आय को 15 वर्षो मे तीन गुना करने का लक्ष्य रखा गया। यह वृद्धि निम्न प्रकार होने का अनुमान लगाया गया

तालिका 1—राष्ट्रीय आय में वृद्धि (बम्बई-योजनाकाल मे) (करोड रुपयो मे)

	शुद्ध आय (1931-32)	शुद्ध आय 15 वर्ष पश्चात (अनुमानित)	वृद्धि का प्रतिशत
उद्योग	374	2,240	500
कृषि	1,166	2,670	130
सेवाएँ	484	1,450	200
अवर्गीकृत मदें	176	240	36
योग	2,200	6,600	लगभग 216 5

अर्थ-प्रबन्धन—योजना का सम्पूर्ण व्यय 10,000 करोड रुपये अनुमानित किया गया था जिसका आवटन निम्नवत् किया गया था

योजना मे अर्थ-साधनो की उपलब्धि के आधार पर अधिक विकास की योजनाओ का निर्माण नही किया गया था, प्रत्युत राष्ट्र की आर्थिक आवश्यकताओ के अनुसार कार्यक्रम निश्चित कर, उनकी पूर्ति हेतु आवश्यक अर्थ-साधनो की खोज की गयी थी। इसी कारण मुद्रा-प्रसार को अर्थ-प्रबन्धन मे महत्वपूर्ण स्थान दिया गया था। नियोजको को विश्वास था कि मुद्रा-प्रसार के परिणाम-स्वरूप राष्ट्र की उत्पादन-शक्ति मे वृद्धि होगी तथा अन्तत मुद्रा-प्रसार स्वयमेव अपना शोधन कर सकेगा। नियोजन-अधिकारी का अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रो पर पूर्ण नियन्त्रण होगा और मूल्यो पर नियन्त्रण के कारण अर्थ-व्यवस्था के योजनाबद्ध विकास से किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नही होगी।

तालिका 2—बम्बई योजना का व्यय (करोड रुपयो मे)

मद	व्यय की जाने वाली राशि
उद्योग	4,480
कृषि	1,240
यातायात	940
शिक्षा	490
स्वास्थ्य	450
गृह-व्यवस्था	2,200
विविध	200
	10,000

तालिका 3—बम्बई-योजना के अर्थ-साधन (करोड रुपयो मे)

बाह्य साधन	
भूमिगत (Hoarded) धन	300
पौण्ड-पावना (Sterling Securities)	1,000
व्यापार-शेष (Balance of Trade)	600
विदेशी ऋण (Foreign Loan)	700
	योग 2,600
आन्तरिक साधन	
बचत	4,000
मुद्रा-प्रसार	3,400
	योग 7,4000
	महायोग 10,000

सामाजिक व्यवस्था—बम्बई-योजना के निर्माणकर्ताओ ने अपनी द्वितीय पुस्तिका (Brochure) मे इस सम्बन्ध मे विचार प्रकट किये। बम्बई-योजना के लेखकों के विचार मे आधुनिक युग में पूँजीवाद मे राजकीय हस्तक्षेप के कारण उसके स्वरूप मे परिवर्तन हो गया है। दूसरी ओर, समाजवाद मे भी पूँजीवाद की कुछ विचारधाराओ को मान्यता मिलने लगी है। इस कारण भारत मे पंजीवादी तथा समाजवादी अर्थ-व्यवस्था के न्यायपूर्ण सम्मिश्रण का सुझाव रखा गया था। योजना मे इसीलिए व्यक्तिगत साहस को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया तथा सार्वजनिक हित तथा राज्य को राष्ट्र की अर्थ-व्यवस्था पर नियन्त्रण रखने का आयोजन किया गया। इस प्रकार समाजवादी नियोजन तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता मे समन्वय स्थापित करने का प्रबन्ध किया गया। नियोजकों के विचार मे नियोजन तथा लोकतन्त्रीय समाज दोनो एक साथ सचालित किये जा सकते है।

योजना के दोष

(1) **पूँजीवादी प्रकार**—योजना मे निजी तथा सरकारी क्षेत्र के सामजस्य का आयोजन किया गया था, परन्तु निजी क्षेत्र को आवश्यकता से अधिक महत्व दिया गया था।

(2) **कृषि को कम महत्व**—योजना मे औद्योगिक उत्पादन को विशेष महत्व दिया गया है। औद्योगिक उत्पादन मे 500% वृद्धि की तुलना में कृषि-उत्पादन मे 130% की वृद्धि के तथ्य अत्यन्त कम प्रतीत होते है।

(3) **अर्थ साधनो का भ्रमपूर्ण अनुमान**—योजना के अर्थ-साधनो मे पौण्ड-पावना से 1,000 करोड रुपये प्राप्त होने का अनुमान लगाया गया था। यद्यपि पौण्ड-पावना इस राशि से भी अधिक अर्जित हो गया था, परन्तु इसका योजना की आवश्यकतानुसार ब्रिटेन द्वारा शोधन हेतु कोई आश्वासन नही था। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् सभी देशो के पुनर्निर्माण कार्य मे व्यस्त होने की सम्भावना थी और इन देशो के द्वारा 700 करोड रुपये की विदेशी सहायता प्रदान किया जाना असम्भव नही तो कठिन अवश्य था। व्यापारिक शेष द्वारा 600 करोड रुपये की राशि प्राप्त होना भी निश्चित प्रतीत नही होता क्योंकि आर्थिक विकास की मध्यावधि मे अधिक निर्यात-वृद्धि की सम्भावना प्रतीत नही होती।

(4) **गृह-उद्योगो का विकास**—योजना मे वृहद् उद्योगों के विकास को विशेष महत्व दिया गया तथा गृह-उद्योगों के विकास को केवल दो उद्देश्यो के कारण ही सम्मिलित किया गया था—प्रथम, पूंजी की आवश्यकताओ को कम रखना, तथा द्वितीय, रोजगार के अवसर प्रदान करना।

(5) **यातायात**—योजना मे भारतीय जहाजी यातायात तथा जहाजरानी निर्माण उद्योग के विकास हेतु पर्याप्त आयोजन नही किये गये। वायु यातायात को भी योजना में कोई महत्वपूर्ण स्थान नही दिया गया था।

(6) **अन्य**—इस योजना के समस्त अनुमान तथा गणनाएँ महायुद्ध के पूर्व के मूल्यों पर किये गये थे जबकि यह स्पष्ट था कि योजना का कार्यान्वित किया जाना युद्धोपरान्त ही सम्भव था।

B - जनयोजना

भारतीय श्रम सघ (Indian Federation of Labour) के Indian Renaissance Institute द्वारा जनयोजना (The People's Plan) निर्मित की गयी थी। इस समिति के प्रमुख श्री एम एन राय थे, अतः इस योजना को रायवादी योजना भी कहते है। इस योजना मे साम्यवादी सिद्धान्तों के लक्षणों का समन्वय किया गया था और नियोजकों ने योजना के कार्यक्रमो को श्रमिको के दृष्टिकोण से बनाने का प्रयत्न किया था। इस योजना के तीन प्रमुख सिद्धान्त है

(1) लाभ हेतु व्यवस्था (Profit Motive) पर आधारित अर्थ-व्यवस्था समाज के हितों के विरुद्ध होती है,

(2) लाभ हेतु व्यवस्था पर राज्य को कठोर नियन्त्रण रखना चाहिए तथा

(3) उत्पादन उपभोग के लिए होना चाहिए, न कि विनिमय के लिए।

जनयोजना सन् 1944 में निर्मित तथा प्रकाशित की गयी और इसके कार्यक्रमों का रैडिकल डैमोक्रेटिक पार्टी की सहमति प्राप्त हुई। इस योजना में निर्माणकर्ताओं के विचार में भारत की मूलभूत समस्या निर्धनता थी जिसे अधिक उत्पादन तथा समान वितरण द्वारा ही दूर किया जा सकता था। राष्ट्र की समस्त आर्थिक कठिनाइयों का कारण पूंजीवाद बताया गया।

उद्देश्य—योजना का मूल उद्देश्य दस वर्ष की अवधि में जनता की तत्कालीन आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उत्पादन में वृद्धि तथा उत्पादित वस्तुओं का समान वितरण किया जाना था। योजना में इसीलिए उत्पादन के सभी क्षेत्रों का विकास करने का आयोजन किया गया था। नियोजकों के विचार में जनसमुदाय की क्रय-शक्ति में वृद्धि करने के लिए कृषि का विकास अधिक महत्वपूर्ण था क्योंकि भारत की 70% जनसंख्या कृषि-व्यवसाय से जीविकोपार्जन करती थी। कृषि को लाभप्रद व्यवसाय बनाने को नियोजकों ने सर्वोच्च प्राथमिकता दी। इनके विचार में कृषि के विकास द्वारा ही श्रमिकों की अर्द्ध-रोजगारी तथा बेरोजगारी को दूर किया जा सकता था। भारतीय जनसंख्या की निर्धनता का निवारण करने के लिए कृषि विकास को ही योजना का आधार बताया गया। दूसरी ओर, औद्योगिक विकास हेतु इस प्रकार आयोजन किये गये कि उसके द्वारा जनसमुदाय की उपभोग-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सके। निजी क्षेत्र में सचालित उद्योगों पर राज्य के नियन्त्रण को आवश्यक बनाया गया।

कृषि—योजना में कृषि को सर्वाधिक अधिक महत्व दिया गया है और कृषि-उत्पादन में वृद्धि करने के लिए प्राचीन भूमि-प्रबन्ध (Land Tenure) में आवश्यक परिवर्तन, जमींदारी-अधिकारों की समाप्ति तथा भूमि के राष्ट्रीयकरण को आवश्यक बताया गया। राज्य तथा कृषक में प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करना तथा मध्यस्थों को समाप्त करना कृषि विकास का मुख्य कार्यक्रम था। योजना में भूमिधरों (Landlords), जमींदारों तथा अन्य लगान प्राप्त करने वालों को 1,735 करोड़ रुपये मुआवजा देने का आयोजन किया गया था। यह क्षतिपूर्ति 3% स्वत शोधन होने वाले 40 वर्षीय बॉण्डों का निर्गमन करके किया जाना था। योजना में ग्रामीण ऋण को अनिवार्यतः घटाने की सिफारिश की गयी। इन ऋणों को राज्य को ले लेना था और इसके लिए राज्य को लगभग 250 करोड़ रुपये का उत्तरदायित्व लेना था।

इसके अतिरिक्त योजना में कृषि के उपयोग में आने वाली भूमि में दस वर्षों में 10 करोड़ एकड़ की वृद्धि करने का आयोजन भी किया गया था। गहरी (Intensive) कृषि के लिए सिंचाई के साधनों में 400% की वृद्धि करने तथा अच्छे बीज और खाद का भी आयोजन किया गया था। इसमें सामूहिक तथा राजकीय कृषि को स्थान दिया गया। प्रत्येक 8 या 10 हजार एकड़ कृषि-योग्य भूमि के मध्य में एक राजकीय आधुनिक फार्म स्थापित करने की सिफारिश की गयी।

औद्योगिक विकास—योजना में उपभोक्ता-उद्योगों को विशेष महत्व प्रदान किया गया। नियोजकों के विचार में जनसमुदाय की आवश्यक वस्तुओं की माँग की पूर्ति करना अत्यन्त आवश्यक था तथा नियोजन व्यवस्था में इसकी पूर्ति सर्वप्रथम होनी चाहिए थी। वस्त्र, चर्म, शक्कर, कागज, रसायन, तम्बाकू, फर्नीचर आदि उपभोक्ता-वस्तुओं के उद्योगों के विकास के लिए 3,000 करोड़ रुपये का आयोजन किया गया। आधारभूत उद्योगों में विद्युत-शक्ति, खनिज तथा धातुशोधन, लोहा तथा इस्पात, भारी रसायन, मशीन तथा मशीनों के औजार, सीमेंट, रेल के इंजिन तथा डिब्बे आदि उद्योग सम्मिलित किये गये। इन उद्योगों के विकास पर 2,600 करोड़ रुपये व्यय का अनुमान था। योजनाकाल में स्थापित किये जाने वाले नवीन उद्योगों में राज्य को अर्थ लगाना था तथा इन पर राज्य का नियन्त्रण तथा अधिकार होना था। निजी क्षेत्र के उद्योगों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाना था, परन्तु इनके कार्य-क्षेत्र पर राज्य द्वारा नियन्त्रण करना आवश्यक बताया गया है। राज्य को वस्तुओं का मूल्य-निर्धारण करना था तथा लाभ की दर अधिक से अधिक 3% रखनी थी। योजना में गृह तथा लघु उद्योगों के विकास को विशेष महत्व नहीं दिया गया। श्रमिक की उत्पादन शक्ति में वृद्धि करने के लिए मशीनों के उपयोग को अधिक महत्व दिया गया था।

यातायात—योजना मे रेलवे, सडक तथा जल-यातायात के विकास को विशेष महत्व दिया गया। यातायात के साधनो मे तीव्रता से वृद्धि करने का आयोजन किया गया, जिससे वस्तुओ का यातायात ग्रामो तथा नगरो के मध्य सुविधापूर्वक किया जा सके। दस वर्षो मे रेल-यातायात मे 24,000 मील तथा सडक-यातायात मे 4,50,000 मील की वृद्धि करने का आयोजन किया गया। जहाजी यातायात के विकास के लिए 155 करोड रुपये निर्धारित किये गये।

अर्थ-प्रबन्धन—इस योजना मे दस वर्षो मे कुल 15,000 करोड़ रुपये व्यय होने का अनुमान था, जिसका वितरण तालिका 4 के अनुसार किये गये था।

तालिका 4—जनयोजना का व्यय

(करोड रुपयो मे)

मद	व्यय
कृषि	2,950
उद्योग	5,600
गृह-निर्माण	3,150
यातायात	1,500
शिक्षा	1,040
स्वास्थ्य	760
	योग 15,000

उपर्युक्त 15,000 करोड रुपये की राशि का प्रबन्ध तालिका 5 के अनुसार किया जाना था।

नियोजकों के विचार में अर्थ-प्रबन्धन मे कोई विशेष कठिनाई उपस्थित होने का कोई कारण नही था क्योंकि राष्ट्रीय नियोजन अधिकारी को जनता के संचित अतिरिक्त धन को विनियोजन के लिए प्राप्त करने का अधिकार होगा। इनके विचार मे योजना के कार्यक्रमो के फलस्वरूप भारत का जनसमुदाय वर्तमान जीवन-स्तर की तुलना मे चार गुने अच्छे जीवन-स्तर का लाभ प्राप्त कर सकेगा।

तालिका 5—जनयोजना का अर्थ-प्रबन्धन

(करोड रुपयो मे)

आय का माध्यम	आय
पौण्ड-पावना	450
कृषि-आय	10,816
औद्योगिक आय	2,834
प्रारम्भिक अर्थ-व्यवस्था (सम्पत्ति-कर, उत्तराधिकार-कर, मृत्यु-कर आदि)	810
भूमि का राष्ट्रीयकरण	90
	योग 15,000

आलोचना—योजना मे कृषि-विकास को विशेष महत्व दिया गया है, परन्तु आर्थिक विकास हेतु औद्योगीकरण भी आवश्यक होता है क्योंकि कृषि मे आधुनिक मशीन तथा यन्त्रो के उपयोग से उत्पन्न अतिरिक्त श्रम को रोजगार देना भी आवश्यक है। किसी भी राष्ट्र के आर्थिक विकास का आधार आधुनिक युग मे उत्पादक तथा पूँजीगत वस्तुओ के उद्योग होते है और इन्हे ही सर्वोच्च प्राथमिकता मिलनी चाहिए।

C विश्वेश्वरैया-योजना

विश्वेश्वरैया-योजना (Vishveswaraya's Plan) सन् 1946 मे अखिल भारतीय निर्माणक संगठन (All India Manufacturers' Association) द्वारा भारत का युद्धोपरान्त पुनर्निर्माण

करने के लिए प्रकाशित की गयी। इसके मुख्य उद्देश्य जनसमुदाय के जीवन-स्तर मे वृद्धि करना तथा देश की आर्थिक कुशलता का उस सीमा तक विकास करना था कि सामान्य नागरिक को अपने जीविकोपार्जन योग्य रोजगार प्राप्त हो सके। इस प्रकार योजना मे प्रत्येक नागरिक का राजनीतिक कर्तव्य—जनप्रतिनिधि सरकार की स्थापना करना, आर्थिक कर्तव्य—आय तथा उत्पादन मे पर्याप्त वृद्धि करने के लिए कार्यक्षमता मे वृद्धि करना, तथा सामाजिक कर्तव्य—राष्ट्र के प्रत्येक क्षेत्र मे यथोचित जीवन-स्तर, आराम, मनोरजन आदि का प्रबन्ध करना बताये गये थे।

उद्देश्य—इस योजना मे सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए बढती हुई जनसख्या पर अप्राकृतिक तरीको से रोक लगाना, जनसमुदाय के हितार्थ अधिक शिक्षा का आयोजन करना, कृषि के क्षेत्र से अतिरिक्त जनसख्या को घटाकर उनके लिए अन्य व्यवसायो मे रोजगार का आयोजन करना, ग्रामीण क्षेत्र मे प्रतिनिधि सरकार (Village Self-government) की स्थापना करना आदि का आयोजन किया गया था।

इस योजना मे एक राष्ट्रीय पुनर्निर्माण मण्डल (National Reconstructive Board) की स्थापना की सिफारिश की गयी थी। इस मण्डल मे जनता के 6 प्रतिनिधि तथा 3 शासकीय अधिकारी रखने की सिफारिश की गयी थी। इस मण्डल को विभिन्न क्षेत्रों का अध्ययन तथा उसका विश्लेषण करना था। इसका मुख्य उद्देश्य लोगो को विशेषकर जननताओं को इस प्रकार प्रशिक्षित करना था कि वे उत्तरदायी स्थानो पर कार्य कर सकें।

योजना मे एक राष्ट्रीय आर्थिक सस्था की स्थापना की भी सिफारिश की गयी जो पचवर्षीय योजना का सचालन करे। प्रथम पाँच वर्षों मे 1,000 करोड रुपये से कम राशि का विनियोजन नही होना था। इस सस्था को उद्योगपतियो की पिछड़े हुए उद्योगो के विकास के लिए सहायता करना था। कृषि तथा उद्योग के उत्पादन मे 100% वृद्धि 7 से 10 वर्षो मे करने का लक्ष्य रखा गया जिससे राष्ट्रीय आय 2 500 करोड रुपये से बढकर 5,000 करोड रुपये हो जाय। औद्योगिक क्षेत्र के उत्पादन को 400 करोड रुपये से बढाकर 2,000 करोड रुपये करने का लक्ष्य था। योजना मे यन्त्र निर्माण, नवीन उद्योगो की स्थापना, शक्ति-उत्पादन के यन्त्रो का निर्माण तथा युद्ध-सामग्री के उद्योगों को भी विकसित करने की सिफारिश की गयी थी। उद्योगो के पश्चात् योजना मे कृषि को प्राथमिकता दी गयी थी। योजना मे एक पृथक कृषि-विभाग, जो एक मन्त्री के अधीन हो, की स्थापना करने की सिफारिश थी।

इसका समस्त व्यय निम्न प्रकार विभाजित किया गया

तालिका 6—विश्वेश्वरैया-योजना का व्यय

(करोड रुपयों मे)

मद	व्यय
उद्योग	790
कृषि	200
यातायात	110
शिक्षा	40
स्वास्थ्य	40
गृह निर्माण	190
अन्य	30
	योग 1,400

d. गाँधीवादी योजना

मूल सिद्धान्त—गाँधीवादी योजना गाँधीजी की आर्थिक विचारधाराओं पर आधारित श्री श्रीमन्नारायण द्वारा सन् 1944 मे निर्मित तथा प्रकाशित की गयी। गाँधीजी ने भारत की आर्थिक

समस्याओं तथा उनकी अवस्था के सम्बन्ध में जो भाषण तथा लेख समय समय पर दिये तथा लिखे उनको समन्वित करके एक योजना का रूप दिया गया और इस योजना को ही गाँधीवादी योजना कहा जाता है। वास्तव में गांधीजी द्वारा स्वयं किसी योजना का निर्माण नहीं किया गया। गाँधीवादी अर्थ-व्यवस्था के सिद्धान्त अन्य सभी मान्य अर्थशास्त्रियों की विचारधाराओं तथा सिद्धान्तों से भिन्न हैं। गांधीवादी अर्थ-व्यवस्था के चार मुख्य अंग हैं

(1) सादगी (Simplicity)
(2) अहिंसा (Non violence)
(3) श्रम का महत्त्व (Sanctity of Labour)
(4) मानवीय मूल्य (Human Value)।

सादगी द्वारा जीवन की कभी तृप्त न होने वाली इच्छाओं पर आत्म प्रतिरोध (Self-Restraint) लगाया जा सकता है और मनुष्य की निरन्तर बढ़ने वाली भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए योजना के समस्त साधनों का व्यय करने की आवश्यकता नहीं होती एवं आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था को इस प्रकार संगठित किया जा सकता है कि जनसमुदाय के सामाजिक तथा नैतिक आदर्शों की पूर्ति हो सके। भारत का रहन-सहन भौतिक सम्पन्नता पर ही आधारित नहीं है इससे आत्मा के उत्थान तथा चरित्र निर्माण को भौतिक सम्पन्नता से अधिक महत्त्व दिया जाता है। गांधीवादी योजना में इस प्रकार की व्यवस्था के निर्माण का लक्ष्य था जिसमें आर्थिक सम्पन्नता के साथ नैतिक उन्नति भी हो सके।

गाँधीजी के विचार में पूँजीवाद मानव जीवन का विभिन्न प्रकार से शोषण करता है। पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था में मशीन से उत्पादन होता है श्रमिक वर्ग का शोषण होता है तथा पूँजीपति श्रमिक वर्ग के शोषण द्वारा ही पूँजी का संचय करता है। इस प्रकार पूँजीपतियों द्वारा पूँजी एकत्रित करने के लिए गाँधीजी के विचार में हिंसक साधनों का उपयोग होता है। इसके साथ ही पूँजीपति अपनी संचित पूँजी की सुरक्षा के लिए भी हिंसक साधनों को अपनाता है। अर्थ व्यवस्था में इस हिंसा को दूर करने के लिए पूँजीवाद की समाप्ति आवश्यक है। उत्पादन तथा वितरण का विकेन्द्रीकरण तथा इसके द्वारा प्रजातान्त्रिक समाज का निर्माण किया जाना चाहिए।

श्रम को अर्थ व्यवस्था में उचित महत्त्व देने के लिए समस्त मानव-समाज को लाभप्रद कार्य में लगाना गांधीवादी योजना का मुख्य उद्देश्य है। समाज के साधनों तथा अवसरों का समान वितरण होना भी आवश्यक बताया गया है। गाँधीजी आर्थिक क्रियाओं को सदाचार तथा मानवीय सम्मान से पृथक् नहीं समझते थे। उनका विचार था कि आर्थिक क्रियाओं को हम केवल साधन समझना चाहिए जिनके द्वारा मानव कल्याण के उद्देश्यों की पूर्ति होती है। समाज की आर्थिक क्रियाओं को इस प्रकार संगठित किया जाय कि मानव में मानवता का अंश न्यून अथवा समाप्त न हो जाय।

गांधीजी के विचार में औद्योगीकरण भौतिक सम्पत्ति को प्राप्त करने के लिए निरन्तर प्रयत्न मात्र है जिसमें मानवीय सम्मान तथा चरित्र का शोषण होता है इसलिए उन्होंने सदैव ग्राम इकाइयों के विकास एवं उत्थान को अधिक महत्त्वपूर्ण बताया। गांधीवादी अर्थ व्यवस्था में यन्त्र को विशेष स्थान नहीं दिया जाता। चरखा एवं कुटीर उद्योगों के विकास को विशेष महत्त्व दिया गया है।

उद्देश्य—गांधीवादी योजना एक दसवर्षीय योजना थी जिसका अनुमानित व्यय 3,500 करोड़ रुपए था। यह योजना नैतिक एवं सांस्कृतिक उत्थान के लक्ष्य की पूर्ति के लिए बनायी गयी थी। इसका मुख्य उद्देश्य 11 वर्षों में जनसमुदाय के भौतिक तथा सांस्कृतिक जीवन में उन्नति करना था। योजना में मुख्यतः देश के 7 लाख ग्रामों में नवीन जीवन संचार करना था और इसलिए वैज्ञानिक कृषि तथा गृह उद्योगों के विकास को विशेष महत्त्व दिया गया। योजना का मुख्य लक्ष्य जनसमुदाय के जीवन-स्तर को निर्धारित न्यूनतम सीमा तक लाना था। न्यूनतम जीवन-स्तर में अग्रलिखित सुविधाएं सम्मिलित की गयी थीं

(1) नियमित भोजन जिससे 2600 कैलारी प्रतिदिन प्रति व्यक्ति का प्रबन्ध हो तथा जिसकी लागत 50 रुपये प्रति मास (युद्ध के पूर्व-मूल्यों के आधार पर) ग्रामीण क्षेत्रों में हो।

(2) प्रत्येक व्यक्ति को 20 गज वस्त्र वार्षिक प्राप्त हो जिसकी लागत 3 आना प्रति गज में 4 रुपये वार्षिक हो।

(3) घरेलू औषधि एवं अन्य सामान्य व्ययों पर 8 रुपये प्रति वर्ष प्रति व्यक्ति का प्रबन्ध हो।

इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति का न्यूनतम वार्षिक व्यय 72 रुपये रखा गया और योजना के अनुमानों के आधार पर उस समय की प्रति व्यक्ति आय को, जो 18 रुपये थी, 4 गुना बढ़ाने की आवश्यकता बतायी गयी। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए योजना में कृषि तथा गृह उद्योगों का वैज्ञानिक स्तर पर विकास करने का आयोजन किया गया।

कृषि—खाद्यान्नों में राष्ट्रीय आत्म-निर्भरता तथा अधिकतम क्षेत्रीय आत्म-निर्भरता के उद्देश्यों की पूर्ति के आधार पर कृषि-विकास की योजना निर्मित की गयी थी। इसके लिए जमींदारी तथा रैय्यतवारी को हटाकर ग्रामवादी बन्दोबस्त (Village Settlement) का आयोजन किया गया। ग्रामवादी भूमि-प्रबन्धन में सम्पूर्ण ग्राम समाज सामूहिकरूपेण ग्राम की भूमि का लगान राज्य को देने का उत्तरदायी हो। ग्राम-पंचायत ग्रामीणों में भूमि का वितरण करे तथा उनसे लगान वसूल करे। उत्पादित अन्न के रूप में लगान लिया जाय, जिसकी मात्रा उत्पादित फसल की $\frac{1}{6}$ अथवा $\frac{1}{8}$ भाग हो। सरकार धीरे-धीरे भूमि का मुआवजा देकर उस पर अधिकार प्राप्त कर ले। यह भी सुझाव दिया गया था कि उत्तराधिकार में प्राप्त हुई भूमि की 50% पूंजीगत लागत उत्तराधिकार-कर के रूप में ली जा सकती है। योजना में भूमि के ऐच्छिक एकीकरण, सहकारी कृषि आदि को भी स्थान दिया गया।

ग्रामीण ऋण की समाप्ति के लिए विशेष न्यायालयों की स्थापना का सुझाव था। ये न्यायालय ग्रामीण ऋणों की छानबीन करें तथा अनुचित ऋणों की राशि को कम कर दें और दस वर्ष से पुराने ऋणों को रद्द कर दें। ऋणदाताओं को सरकार 20 वर्षीय बॉण्ड प्रदान करे तथा इन बॉण्डो का भुगतान कृषक से किश्तों में प्राप्त किया जाय। कृषकों को साख-सम्बन्धी अन्य सुविधाएँ भी प्रदान की जायें। निजी रूप से रुपया उधार देने के व्यवसाय को प्रतिबन्धित कर दिया जाय। योजना में सिंचाई की सुविधाओं को दुगुना करने के लिए 175 करोड़ रुपये अनावर्तक तथा 5 करोड़ रुपये आवर्तक व्यय का आयोजन किया गया। योजना में 450 करोड़ रुपये भूमि-सुधार, भूमि को कृषि-योग्य बनाने, भूमि कटाव को रोकने आदि पर व्यय किये जाने का आयोजन किया गया था। कृषि-विकास के विभिन्न कार्यक्रमों पर 1,215 करोड़ रुपये का व्यय किये जाने का प्रबन्ध किया गया था।

ग्रामीण उद्योग—ग्रामीण समाज को आत्म-निर्भरता के स्थान पर लाने के लिए गृह उद्योगों के पुनर्स्थापन तथा विकास का आयोजन किया गया था। कातना तथा बुनना कृषि के सहायक उद्यम समझे गये एवं प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं की आवश्यकतानुसार वस्त्रोत्पादन करना आवश्यक बताया गया। अन्य गृह उद्योगों, जैसे कागज बनाना, तेल निकालना, धान कूटना, साबुन बनाना, दियासलाई बनाना, गुड़ बनाना तथा अन्य उपभोक्ता वस्तुओं के उद्योगों के विकास का भी आयोजन किया गया। गृह उद्योगों के विकास हेतु राज्य को शिल्पी की निम्न प्रकारेण सहायता करना आवश्यक था

(1) सहकारी समितियों को कम ब्याज पर साख प्रदान करना,
(2) कुटीर उद्योगों को आर्थिक सहायता प्रदान करना,
(3) गृह उद्योगों को वृहद् उद्योगों के संरक्षण प्रदान करना,
(4) कच्चे माल के क्रय तथा निर्मित माल के विक्रयार्थ सरकारी समितियों की स्थापना करना,
(5) तान्त्रिक प्रशिक्षण की सुविधा प्रदान करना।

आधारभूत उद्योग (Basic Industries)—योजना मे निम्नलिखित वृहद् उद्योगो के विकास का आयोजन किया गया

(1) रक्षा-सम्बन्धी उद्योग,
(2) जलविद्युत शक्ति उद्योग,
(3) खानें खोदना, धातुशोधन तथा वन उद्योग,
(4) मशीन तथा मशीनो के औजार बनाने के उद्योग,
(5) वृहद् इजीनियरिंग उद्योग, तथा
(6) बडे रसायन उद्योग ।

वृहद् उद्योगो को इस प्रकार नियमित रूप से सचालित किया जाय कि ये गृह उद्योगो से प्रतिस्पर्द्धा करने के स्थान पर गृह उद्योगो के विकास मे सहायक हो। इन आधारभूत उद्योगो को राज्य द्वारा सचालित किया जाय । सरकार द्वारा अधिकार तथा नियन्त्रण प्राप्त करने के समय तक ये उद्योग अलोक साहसियो (Private Enterpreneurs) द्वारा सचालित रहे, परन्तु राज्य इनके द्वारा निर्मित वस्तुओं के मूल्य साहसी का लाभ तथा श्रम-व्यवस्था पर नियन्त्रण रखे । वृहद् उद्योगो का विकेन्द्रीकरण आर्थिक सामाजिक तथा सैनिक आवश्यकताओ के आधार पर किया जाय।

अर्थ-व्यवस्था—इस योजना का समस्त आवर्तक व्यय 200 करोड रुपये तथा अनावर्तक व्यय 3,500 करोड रुपये निश्चित किया गया । उसका विभिन्न मदों पर विवरण इस प्रकार था

तालिका 7—गाँधीवादी योजना का व्यय (करोड रुपयो मे)

मद	अनावर्तक	आवर्तक
कृषि	1,175	40
ग्रामीण उद्योग	350	—
आधारभूत तथा वृहद् उद्योग	1,000	—
यातायात	400	15
जन-स्वास्थ्य	260	45
शिक्षा	295	100
अन्वेषण	20	—
योग	3,500	200

कृषि पर व्यय होने वाली निर्धारित राशि द्वारा कृषि का विकास इतना होने की सम्भावना थी कि कृषि-आय दस वर्षों मे दुगुनी हो जाय । यह भी अनुमान लगाया गया कि ग्रामीण उद्योगो के विकास के लिए प्रति ग्राम 5,000 रुपये की आवश्यकता होगी और यह राशि राज्य द्वारा ग्राम-पचायतो अथवा सहकारी समितियों को दीर्घकालीन ऋण के रूप मे प्रदान की जानी थी, जो 20 वर्ष मे देय होनी थी । यह भी अनुमान था कि लगभग 500 करोड रुपये राज्य द्वारा निजी साहसियो तथा विदेशियो द्वारा सचालित आधारभूत उद्योगो को क्रय करने पर व्यय होगा तथा शेष 500 करोड रुपये आधारभूत तथा रक्षा-सम्बन्धी उद्योगो के विकास पर व्यय किया जायेगा । रेल-यातायात मे 25% की वृद्धि तथा ग्रामीण क्षेत्रो मे 2,00,000 मील लम्बी अतिरिक्त सडकें बनाने का लक्ष्य रखा गया । भारतीय तथा विदेशीय जहाजी कम्पनियो को भी क्रय करने का आयोजन किया गया । ग्रामीण चिकित्सालयो तथा नगरो मे प्रत्येक 10,000 व्यक्तियो पर एक अस्पताल स्थापित करने का लक्ष्य रखा गया था । शिक्षा के व्यय को पाँच भागो मे विभाजित किया गया—बेसिक शिक्षा माध्यमिक शिक्षा, प्रौढ शिक्षा, विश्वविद्यालयीन शिक्षा तथा प्रशिक्षण ।

योजना की निर्धारित अनावर्तक राशि को तीन साधनो—आन्तरिक ऋण व बचत, मुद्रा-प्रसार तथा अतिरिक्त कर—द्वारा प्राप्त करने का लक्ष्य था । आवर्तक व्यय की राशि को राजकीय उद्योगों तथा जनसेवाओं की आय द्वारा प्राप्त किया जाना था । विभिन्न साधनो से अग्रवत् अर्थ होने का अनुमान था

तालिका 8—गाँधीवादी योजना के अर्थ-साधन

(करोड रुपयो मे)

साधन	आय
आन्तरिक ऋण	2,000
मुद्रा-प्रसार	1,000
कर	500
	योग 3,5000

इस योजना के दो पक्ष हैं—ग्रामीण तथा नागरिक। इन दोनो ही क्षेत्रो का विकास विभिन्न आधारो पर करने का आयोजन किया गया। ग्रामीण क्षेत्र मे परम्परागत जीवन को बनाये रखने का सुझाव था, परन्तु कुछ आधुनिक सुविधाओ मे वृद्धि करने का भी आयोजन किया गया। दूसरी ओर, नागरिक क्षेत्र मे राज्य द्वारा सचालित वृहद् तथा आधारभूत उद्योगो के विकास का आयोजन था। नगर-निवासियो के जीवन का तदनुसार आधुनिक विकास होना भी अनिवार्य था। इस प्रकार आधुनिक नागरिक जीवन तथा परम्परागत ग्रामीण जीवन मे सामजस्य स्थापित करना एक कठिन समस्या का रूप ग्रहण कर सकती थी जिसके हल के लिए योजना मे प्रकाश नही डाला गया।

E जनयोजना द्वितीय

श्री एम. एन. राय द्वारा स्थापित Indian Renaissance Institute ने जनयोजना द्वितीय (The Peoples' Plan—II) की रूप रेखा तैयार करके प्रकाशित की है। इसी सस्था द्वारा 1944 मे प्रथम जनयोजना का निर्माण किया गया था। इस योजना मे दसवर्षीय विकास कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया जो 20-वर्षीय दीर्घकालीन लक्ष्यो पर आधारित है। द्वितीय जनयोजना मे प्राथमिकताओ को हमारी पचवर्षीय योजना से अलग रखा गया है। इस योजना मे निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति हेतु कार्यक्रम सम्मिलित किये गये हैं

(1) भारत की बढ़ती हुई जनसख्या की उपभोग की न्यूनतम आवश्यकताओ की पूर्ति की जाय।

(2) अर्थ-व्यवस्था के विकास-कार्यक्रमो मे जनसाधारण की उत्पादक-सहभागिता के लिए पर्याप्त रोजगार के अवसर उत्पन्न किये जायें।

(3) उपर्युक्त दोनो उद्देश्यो की पूर्ति हेतु जो आर्थिक प्रगति की जाय उसमे वितरण सम्बन्धी न्याय (distributive justice) का आश्वासन होना चाहिए।

(4) भारतीय जनसख्या के 40% भाग मे जो निर्धनता व्याप्त है उसे समाप्त किया जाना चाहिए।

योजना के इन उद्देश्यो की पूर्ति हेतु कृषि-उत्पादन मे पर्याप्त वृद्धि एव इसमे होने वाले उच्चावचनो को कम करने का आयोजन किया गया है। भूमि के वितरण, भूमि-सीमाकन एव चकबन्दी के कार्यक्रमो को अधिक प्रभावशाली बनाकर भूमि का अधिक गहन एव उत्पादक उपयोग करने की व्यवस्था योजना मे करने का लक्ष्य रखा गया है। साक्षरता के विस्तार के लिए ग्रामीण निर्धनो के क्षेत्रीय सगठनो का विकास किया जाय जिससे ग्रामीण क्षेत्रो मे नेतृत्व का विकास किया जा सके। आवश्यक उपभोग वस्तुओ के व्यापार को इस प्रकार नियमित किया जाय कि निर्धन परिवारो को ये वस्तुएँ अनुचित मूल्यो पर उपलब्ध हो सकें। इसके साथ ही देश मे सुदृढ लघु एव घरेलू उद्योग क्षेत्र के विकास की आवश्यकता है। शिक्षित बेरोजगारो के उत्पन्न होने पर जो सामाजिक अपव्यय होता है उसे रोकने के लिए शिक्षित बेरोजगारो के उत्पादन मे कमी के साथ इन्हे सामाजिक विकास की क्रियाओ मे सहभागी बनाया जाय। जनसख्या-वृद्धि को कम करने के लिए समाज के कमजोर वर्गों मे परिवार नियोजन कार्यक्रम को अधिक प्रभावशाली बनाया जाय।

विकास-दर एवं पूंजी-उत्पाद अनुपात

द्वितीय जनयोजना म 20 वर्षीय विकास-लक्ष्य 1978-79 से 1998-99 तक के लिए प्रस्तुत किया गया है तथा 10-वर्षीय विकास-योजना 1978-79 से 1988-89 तक की सम्मिलित की गयी है। जनयोजना के प्रथम पाँच वर्षों मे वृद्धिगत पूंजी-उत्पाद अनुपात 3 31 : 1 और विकास-दर 6% निर्धारित की गयी है। उसके बाद की तीन पचवर्षीय अवधियों के लिए वृद्धिगत पूंजी-उत्पाद अनुपात क्रमश 3 41 1, 3 6 1 तथा 3 8 1 और विकास दर क्रमश 6·16%, 6 24% और 6 38% निर्धारित की गयी है। इस प्रकार इस योजना मे विकास की दर को साधनों की स्थिति म सुधार होने पर धीरे धीरे सुदृढता के साथ बढ़ाने का आयोजन किया गया है।

योजना का व्यय एवं विनियोजन

द्वितीय जनयोजना मे 1,63,090 करोड़ रुपये के व्यय की व्यवस्था की गयी है जिसमें से 1,09 090 करोड़ रुपय विनियोजन और शेष 54 000 करोड़ रुपय चालू व्यय के लिए आयोजित किय गये है। विभिन्न क्षेत्रों के लिए आयोजित व्यय एव विनियोजन निम्न प्रकार रखा गया

तालिका 9—जनयोजना द्वितीय का व्यय एवं विनियोजन

(1978-79 से 1988-89 तक) (करोड़ रुपयों मे)

1975-76 के मूल्यों

	क्षेत्र	विनियोजन	गैर-विनियोजन	योग	पर प्रतिशत अश
1	कृषि एव सहायक क्षेत्र	22,020 2	2,905 0	24,925 2	15 28
2	सिंचाई एव बाढ नियन्त्रण	19 125 6	2,494 0	21,619 6	13 26
3	शक्ति एव ऊर्जा	10,080 0	2,650 0	13,450 0	18·26
4	उद्योग एव खनिज	21,627 9	3,169 0	14,796 9	15 20
5	लघु उद्योग	6 212 9	810 0	7,022 9	4 31
6	वृहद् उद्योग	15 415 0	2,359 0	1,774 0	10 89
7	यातायात एव सचार	7 875 3	2 254 7	1,013 0	6 21
8	निवासगृह एव सामुदायिक सुविधा आदि	12 032·5	13,659 5	25 692 0	15 75
9	शिक्षा	4 608 5	7,590 0	12,198 5	7 47
10	स्वास्थ्य, पौष्टिक आहार, परिवार-नियोजन	1 020 0	18 076 8	28,278 6	17 33
11	शेष योजना	800 0	1,200 0	2,000 0	7 23
	योग	1,09 090 0	54 000 0	16,3 090 0	100 00

योजना के अर्थ-साधनों के लिए यह अनुमान लगाया है कि 1978-79 से 1988-89 के दशक म औसतन वार्षिक सकल राष्ट्रीय उत्पादन 1,03,519 8 करोड़ रुपये होगा जिसका 3 42% (अर्थात् 4,040 2 करोड़ रुपये) प्रत्यक्ष करों से और 13 22% (अर्थात् 15,735 82 करोड़ रुपये) अप्रत्यक्ष करों से प्रति वर्ष प्राप्त होने का अनुमान लगाया गया है। सार्वजनिक व्यवसायों की बचत योजनावधि में राष्ट्रीय उत्पादन की 5 11% (अर्थात् 6,039 2 करोड़ रुपये) प्रति वर्ष होने का अनुमान लगाया गया है। विदेशी सहायता के रूप मे योजनाकाल में औसतन 1,254 7 करोड़ रुपय प्रति वर्ष प्राप्त हो सकेगा। इस प्रकार योजनाकाल मे 2,16 347 24 करोड़ रुपये आन्तरिक साधनों से उपलब्ध हो सकेगा तथा इसके 30% भाग के बराबर जन-ऋण से भी प्राप्त हो सकेगा। इस प्रकार बिना हीनार्थ प्रबन्धन के उपयोग के 2 81 251 4 करोड़ रुपये प्राप्त किया जा सकेगा।

जनयोजना द्वितीय के दस वर्ष के काल मे सकल आन्तरिक उत्पादन मे 80 04% की वृद्धि करने का लक्ष्य रखा गया। इस दशक मे जनसंख्या मे 15 85% की वृद्धि का अनुमान लगाया गया

है जिसके परिणामस्वरूप प्रति व्यक्ति आय मे 55 41% की वृद्धि का लक्ष्य निर्धारित किया गया। प्रति व्यक्ति आय 1,387·13 रुपये से बढकर 2,198 86 रुपये (1975-76 के मूल्यो पर) होने का अनुमान लगाया गया है। निम्नतम आय वाली 40% जनसख्या को प्रति व्यक्ति आय 520 रुपये से बढाकर 963 रुपये करने का लक्ष्य योजना मे निर्धारित किया गया है। अगले बीस वर्षों मे श्रम-शक्ति 19 92 करोड (1978-79 मे) से बढकर 28·83 करोड (1998-99 तक) होने का अनुमान लगाया गया है। बढी हुई श्रम-शक्ति मे पिछले बेरोजगारो (1 4 करोड) को जोडने पर रोजगार तलाश करने वालो की सख्या 10 31 (8 91+1·4) करोड हो जाती है। अगले बीस वर्षों मे जनयोजना के अनुसार 16 53 करोड नवीन रोजगार के अवसर उत्पन्न किये जा सकेग जिसमे 6 22 करोड लोगो की आशिक बेरोजगारी भी दूर की जा सकेगी।

जनयोजना द्वितीय मे जन-उपभोग की आवश्यक वस्तुओ की पूर्ति मे पर्याप्त वृद्धि का आयोजन किया गया। खाद्यान्नो के उत्पादन मे अगले दशक मे 33 6% शक्कर के उत्पादन मे 94 44%, वनस्पति मे 181·97%, चाय मे 111 91%, कॉफी मे 98 08%, तम्बाकू मे 67 49% और मिल के बने कपडे मे 137·16% की वृद्धि करने का लक्ष्य रखा गया। योजना मे निवास-गृहो के निर्माण निर्धनतम जनसख्या के लिए शिक्षा की व्यवस्था तथा स्वास्थ्य सुविधाओं के विस्तार की भी व्यवस्था की गयी है।

16

प्रथम पंचवर्षीय योजना

[FIRST FIVE YEAR PLAN]

प्रथम योजना के प्रारम्भ में अर्थ-व्यवस्था का स्वरूप

यह स्पष्ट है कि अल्प-विकसित राष्ट्रों में नियोजन की आवश्यकता अत्यधिक होती है। उत्पादन के साधनों का विवेकपूर्ण उपयोग करने तथा उनमें वृद्धि करने के लिए योजनाबद्ध एवं समन्वित प्रयासों की आवश्यकता होती है। विभिन्न कार्यवाहियों में पारस्परिक सामजस्य के अभाव में राष्ट्र का चतुर्मुखी आर्थिक विकास सम्भव नहीं होता। केवल नियोजित अर्थ-व्यवस्था द्वारा ही राष्ट्र के समस्त साधनों तथा आवश्यकताओं को दृष्टिगत करके विकास की ओर अग्रसर होना सम्भव है। राष्ट्र की दीर्घ तथा अल्पकालीन समस्याओं के आधार पर प्रयासों को निश्चित करके पूर्व-निश्चित लक्ष्यों की प्राप्ति हो सकती है। सन् 1947 में भारत में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के उपरान्त देश की आर्थिक समस्याओं का निवारण करने की दिशा में विचार किया गया।

सन 1947 तक भारत की समस्त मानवीय शक्तियाँ स्वतन्त्रता-प्राप्ति में लगी हुई थी। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात जनसमुदाय में नवीन सुखमय जीवन की आशा ने तीव्रता ग्रहण कर ली। इस समय नवीन राष्ट्रीय भावना उत्पन्न हुई जिसने प्रत्येक नागरिक को राष्ट्र के पुनर्निर्माण तथा सुखमय जीवन बनाने के कार्यक्रमों में सहयोग देने के लिए प्रेरित किया। जनसाधारण को राष्ट्रीय सरकार से आशा थी कि वह देश का पुनर्गठन इस प्रकार करेगी कि उनकी आर्थिक तथा सामाजिक सम्पन्नता का स्वप्न पूर्ण हो जायेगा। इन विचारधाराओं की पृष्ठभूमि में भारतीय संविधान में नीति-निर्देशक सिद्धान्तों (Directive Principles of State Policy) द्वारा देश की भावी आर्थिक तथा सामाजिक जीवन की व्यवस्था निश्चित की गयी। इन आधारभूत सिद्धान्तों द्वारा निम्न सुविधाओं का आयोजन किया गया

(अ) जीवन-स्तर तथा भोजन में वृद्धि,

(आ) जनसाधारण के कार्य करने, शिक्षा प्राप्त करने तथा सामाजिक बीमा (Social Insurance) के अधिकार की मान्यता,

(इ) महत्वपूर्ण भौतिक साधनों के अधिकार तथा नियन्त्रण में परिवर्तन जिससे सामान्य हित हो,

(ई) समस्त श्रमिकों को परिपूर्ण जीवन (Fuller Life) का सम्पूर्ण अधिकार (Universal Right),

(उ) कृषि तथा पशु अर्थ-व्यवस्था का नवीनीकरण तथा गृह उद्योगों की उन्नति।

राष्ट्रीय सरकार का इन आयोजनों की पूर्ति हेतु योजनाबद्ध कार्यक्रम की व्यवस्था करना आवश्यक था, इसलिए मार्च, सन् 1950 में योजना-आयोग की स्थापना की गयी जिसने अपने कार्यक्रमों को तीन मुख्य भागों में विभाजित किया

(अ) द्वितीय महायुद्ध तथा विभाजनापरान्त की समस्याओं का निवारण तथा अनियमित व्यवस्था का निरस्तीकरण,

(आ) दीर्घकालीन आर्थिक असन्तुलन का निवारण,

(इ) राजकीय नीतियों के आधारभूत सिद्धान्तों द्वारा निश्चित आयोजन की पूर्ति हेतु आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था का पुनर्निर्माण।

भारत में नियोजन का प्रकार

भारत में नियोजन को एक नवीन रूप प्रदान किया गया है। नियोजन का कार्यक्रम तथा उनको क्रियान्वित करने की विधि प्रत्येक राष्ट्र की मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा प्रबन्ध-सम्बन्धी परिस्थितियों के आधार पर ही निश्चित की जाती है। जिस प्रकार भयानक परिस्थितियों, जैसे युद्धादि में राष्ट्र के समस्त साधनों—मानवीय तथा भौतिक—को एक-मात्र उद्देश्य की प्राप्ति में ही लगा दिया जाता है तथा राष्ट्रीय नीति के प्रति सम्पूर्ण राष्ट्र में एकता का भाव उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार शान्ति के वातावरण में एकता की भावना द्वारा नियोजन को सफल बनाने में सहायता मिलती है। साधारण जनता में नियोजन के रचनात्मक उद्देश्यों के प्रति तत्परता उत्पन्न करना अत्यन्त आवश्यक होता है क्योंकि इसके द्वारा ही साधनों का उपयोग अधिकतम हित के लिए किया जाता है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना, सम्पूर्ण भारत को एक इकाई मानकर भारतीय अर्थ-व्यवस्था का योजनाबद्ध विकास करने का प्रथम प्रयास था। योजना-आयोग को सरकारी नीतियों के आधारभूत सिद्धान्तों तथा तत्कालीन आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियों के आधार पर योजना का प्रकार निश्चित करना था। भारतीय नियोजन द्वारा राष्ट्र के भौतिक साधनों का विकास करने का ही प्रयास नहीं किया गया है, प्रत्युत मानवीय जीवन का बहुमुखी विकास करना इसका मुख्य उद्देश्य है। नियोजन द्वारा ऐसे समाज की स्थापना करने का प्रयास किया गया जिसमें योजना में आधारभूत उद्देश्यों की पूर्ति सफलतापूर्वक हो सके। नियोजन की सफलता के लिए समन्वित तथा प्रभावशाली प्रयासों की आवश्यकता होती है। भारतीय संविधान द्वारा राज्य का उत्तरदायित्व है कि विकास सम्बन्धी क्रियाओं का संचालन करे और इसलिए इन प्रयासों में राज्य को महत्वपूर्ण भाग लेना आवश्यक था। राज्य को इस प्रकार राष्ट्र के समस्त साधनों को संविधान द्वारा निर्धारित प्रजातान्त्रिक विधियों से योजना को क्रियान्वित करने हेतु उपयोग में लाना था।

प्रजातान्त्रिक राष्ट्र में सरकार की योजना-निर्माण, योजनाकूल नीतियाँ निर्धारित करने तथा उनके प्रभावशील संचालन तथा क्रियान्वित करने की योग्यता जनता की सहायता तथा सहयोग पर निर्भर रहती है। साम्यवादी राष्ट्रों में नियोजन एक अनन्य अधिकार-प्राप्त केन्द्रीय अधिकारी के हाथ में होता है। ऐसी परिस्थिति में नियोजन के कार्यक्रम का संचालन तथा लक्ष्यों की प्रगति शीघ्रता एवं सुगमता से हो जाती है परन्तु इस प्रकार अन्य अधिकारपूर्ण व्यवस्था में कतिपय आधारभूत तत्वों को, जो मानव-जीवन के महत्वपूर्ण अंग होते हैं, क्षति पहुँचती है तथा जनसाधारण को कठिनाइयों तथा आपत्तियों का सामना करना पड़ता है। यद्यपि अनन्य अधिकारपूर्ण (Totalitarian) व्यवस्था तथा प्रजातान्त्रिक नियोजन दोनों में जन-समुदाय को समानरूपेण त्याग करना पड़ता है, परन्तु प्रजातान्त्रिक विधि में यह त्याग नियोजन के उद्देश्यों को विवेकपूर्ण रीति से स्वीकृत करके अथवा ऐच्छिक होता है। इस प्रकार प्रजातान्त्रिक विधियाँ अधिक जटिल हैं तथा इनमें राज्य और जनता का उत्तरदायित्व अत्यधिक होता है, परन्तु प्रजातान्त्रिक विधियों द्वारा विकास-पथ पर अग्रसर होने की प्रवृत्ति जाग्रत हो जाती है तथा इस हेतु किसी प्रकार के दबाव का उपयोग नहीं किया जाता।

भारतीय संविधान में व्यक्तिगत आधारभूत स्वतन्त्रता तथा उत्पादन के साधनों को अधिकार में रखने तथा उन्हें बेचने आदि की स्वतन्त्रता, सामाजिक सुरक्षा तथा जनसाधारण के शोषण को रोकने आदि के आयोजन हैं। इन मूलभूत तत्वों के आधार पर भारत में प्रजातान्त्रिक नियोजन को ही स्थान दिया गया है। मानवीय इतिहास में प्रजातान्त्रिक नियोजन इतने वृहद् आकार में किसी अन्य देश में कार्यान्वित नहीं किया गया है। यह एक नवीन प्रयोग है जिसकी सफलता अथवा

असफलता विश्व के अन्य राष्ट्रों का मार्गदर्शन करेगी। भारत में नियोजन की सफलता इस पुराने विचार को कि नियोजन तथा प्रजातन्त्र का सामंजस्य असम्भव है, को निरस्त कर देगी तथा समस्त विश्व को यह मानना पड़ेगा कि नियोजन को बिना किसी हिंसक शक्ति तथा दबाव के एवं जन साधारण की आधारभूत स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध किये बिना ही सफल बनाया जा सकता है।

प्रजातान्त्रिक नियोजन की सफलता

प्रजातान्त्रिक नियोजन की सफलता के लिए उच्चाधिकारियों का योग्य होना ही पर्याप्त नहीं, अपितु उचित व्यवस्था की भी आवश्यकता होती है। केन्द्रीय नियोजन तन्त्र की स्थापना से ही सफल सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। इसकी सफलता हेतु प्रत्येक स्तर पर तथा अर्थ व्यवस्था के प्रत्येक भाग के प्रत्येक स्तर पर नियोजन अधिकारियों की आवश्यकता होती है इसका अर्थ यह है कि स्थानीय, क्षेत्रीय एवं राष्ट्रीय संगठन होने चाहिए तथा प्रत्येक उद्योग में पृथक नियोजन अधिकारी होना चाहिए।

'इस प्रजातान्त्रिक नियोजन को पूर्णरूपेण क्रियान्वित करने में समय लगना अनिवार्य है इसका कठिन होना अनिवार्य है, इसमें अनेक त्रुटियाँ होना तथा सहयोग की असफलताओं का सामना भी करना पड़ता है।

प्रजातान्त्रिक प्रकार के नियोजन का संचालन तब तक सम्भव नहीं होता जब तक बुद्धि मानों की संख्या अधिक तथा पारस्परिक सहयोग की शक्ति अत्यधिक विकसित न हो। रूसियों को अपनी प्रारम्भिक योजनाओं में तान्त्रिक तथा शासन दोनों ही क्षेत्रों में योग्य तथा प्रशिक्षित कर्मचारियों की न्यूनता की कठिनाई का सामना करना पड़ा।'[1]

प्रो. डी. आर. गाडगिल(?) ने प्रथम पंचवर्षीय योजना के प्रारूप पर आलोचना करते हुए लिखा है कि "प्रजातान्त्रिक नियोजन में यह मान लिया जाता है कि बुद्धिमत्तापूर्ण (Enlightened) शासन व्यवस्था है जिसमें जनसाधारण को केवल इतना ही ज्ञान नहीं कि प्रतिदिन के जीवन में नियोजन का क्या महत्त्व है प्रत्युत यह भी ज्ञात होता है कि समस्त जनसमुदाय के जीवन स्तर में वृद्धि करने के लिए नियोजित व्यवस्था की आवश्यकता होती है जो अत्यन्त जटिल तथा सन्तुलित हो, तथा जो प्रत्येक खेत तथा कारखाने पर छायी हुई हो और जिसके द्वारा प्रत्येक नागरिक में सहयोग भावना जाग्रत की जाती हो। जनसाधारण में नियोजित अर्थ व्यवस्था के प्रति जागरूकता होने पर ही प्रजातान्त्रिक नियोजन सफल हो सकता है।"[2]

---

1 'The achievement of this kind of Planning requires not only the right set of men at the top but also the right machinery It cannot be achieved merely by establishing a Central Planning Organisation It necessarily involves the existence of machinery for Planning at every level and in every compartment of the economy at each level It means that there must be regional and local as well as national organisations for Planning that each industry must have its own Planning Machinery

'Inevitably this Democratic Planning will take time to bring into full operation and is bound to be difficult and to involves many mistakes and failures in co operation

Planning of the democratic type is not possible except where the supply of intelligence is large and capacity for association highly developed The Russian greatest difficulty in their earliest plans was the shortage of trained and competent people on both the technical and administrative side Prof Cole *Economics* pp 284 286 287

2 Democratic Planning assumes the existence of an enlightened democracy where people are not only alive to the importance of Planning for their everyday life but also the creation of a highly complicated and delicately balanced planning machinery which will pervade farm and factory infusing the spirit of co operation on the part of each citizen in the difficult

इस प्रकार प्रजातान्त्रिक नियोजन की सफलता के लिए जनसाधारण में योजना के प्रति जागरूकता उत्पन्न करना अत्यन्त आवश्यक होता है। योजना-आयोग ने उपर्युक्त समस्त कठिनाइयों को दृष्टिगत करते हुए भी प्रजातान्त्रिक नियोजन को ही महत्व दिया क्योंकि भारत के परम्परागत जीवन में यही एकमात्र सफल विधि थी जिसके द्वारा आर्थिक विकास सम्भव था।

उपर्युक्त विचारों के आधार पर प्रजातान्त्रिक नियोजन के आवश्यक तत्वों का सफलतापूर्वक वर्गीकरण निम्न प्रकार किया जा सकता है

(1) कुशल केन्द्रीय नियोजन संगठन की स्थापना करना प्रजातान्त्रिक नियोजन की सफलता के लिए आवश्यक है। इस नियोजन-संगठन को एक ओर राज्य से सत्ता प्राप्त हो और दूसरी ओर जनसहयोग प्राप्त होना चाहिए। राष्ट्रीय राजनीतिक ढाँचा इस प्रकार का हो कि सत्तारूढ़ दल राष्ट्रीय नियोजन-संगठन को आवश्यकतानुसार अधिकार दे सके और विरोधी दल इतने शक्तिशाली न हो कि नियोजन के कार्यक्रमों में बाधाएँ खड़ी कर सकें।

(2) कुशल केन्द्रीय नियोजन-संगठन के साथ-साथ प्रजातान्त्रिक नियोजन में कुशल क्षेत्रीय एवं स्थानीय अधिकारियों की भी आवश्यकता होती है, जिनमें प्रारम्भिकता (Initiative) का भाव हो और जो जनसहयोग प्राप्त कर सकें।

(3) प्रजातन्त्र में जनसाधारण को राजनीतिक, आर्थिक, नैतिक एवं न्याय सम्बन्धी स्वतन्त्रताएँ दी जाती हैं। जनसमुदाय में बुद्धिमान लोगों का अभाव नहीं होना चाहिए। वह योजना-सम्बन्धी नीतियों को समझ सकें, योजना के कार्यक्रमों के प्रति अपने कर्तव्यों को निभा सकें, योजना की विनाशकारी आलोचना न करें तथा अपनी स्वतन्त्रताओं का दुरुपयोग न करें। इसके अतिरिक्त प्रजातान्त्रिक नियोजन में सत्ताओं के विकेन्द्रीकरण का आयोजन किया जाता है। जनसाधारण में इतनी योग्यता होना आवश्यक है कि वे इन सत्ताओं का दुरुपयोग न कर सकें।

(4) राष्ट्रीय चरित्र के स्तर के ऊँचा होने की आवश्यकता प्रजातान्त्रिक नियोजन की सफलता के लिए होती है। सरकारी कर्मचारियों एवं क्षेत्रीय तथा स्थानीय नेताओं के हाथ में नियोजन का संचालन करना होता है। इन लोगों की ईमानदारी, कार्यक्षमता, सेवा भावना, कर्त्तव्यपरायणता आदि पर ही योजना के विभिन्न कार्यक्रमों की सफलता होती है।

प्रथम योजना का उद्देश्य

"भारत में नियोजन का मुख्य उद्देश्य जनसमुदाय के जीवन स्तर में वृद्धि करना तथा अधिक परिवर्तनशील एवं सम्पन्न जीवन के अवसर प्रदान करना है इसलिए नियोजन का ध्येय राष्ट्र के भौतिक एवं मानवीय साधनों का प्रभावशील उपयोग करना, वस्तुओं तथा सेवाओं के उत्पादन में वृद्धि करना तथा आय धन एवं अवसर की असमानता को कम करना है अतः हमारा कार्यक्रम द्विमुखी होना चाहिए जिससे उत्पादन में तुरन्त वृद्धि हो तथा असमानता में कमी हो • यद्यपि प्रारम्भिक अवस्था में हमारे प्रयासों का सुझाव अधिक उत्पादन की ओर होना चाहिए क्योंकि इसकी अनुपस्थिति में कोई उन्नति सम्भव नहीं होती है फिर भी हमारे नियोजन द्वारा प्रारम्भिक अवस्था में वर्तमान सामाजिक तथा आर्थिक ढाँचे के अन्तर्गत ही आर्थिक क्रियाओं को प्रोत्साहित नहीं किया जाना चाहिए। इसलिए समाज के समस्त सदस्यों को पूर्ण रोजगार शिक्षा, रोग तथा अन्य अयोग्यताओं से सुरक्षा तथा पर्याप्त आय का आयोजन करने के लिए इस प्रारूप को पुनर्गठित करना होगा।"[1]

उपर्युक्त विवरण के आधार पर योजना के उद्देश्यों को दो समूहों में वर्गीकृत किया जा सकता है

---

and strenuous crusade for higher standards of life for the entire community It is only the existence of spirit of Planning among the bulk of people that can render a Democratic Planning successful" —T N Ramaswamy, *Economic Analysis of the Draft Plan*, p 10

1 *First Five Year Plan*, p 1.

(1) मानवीय तथा भौतिक साधनो का अधिकतम कार्यशील उपयोग जिससे वस्तुओ तथा सेवाओं के उत्पादन मे अधिकतम वृद्धि सम्भव हो सके, तथा

(2) *आय, धन तथा अवसर की असमानता को कम करना।*

योजना का व्यय

योजना की प्रजातान्त्रिक प्रवृत्ति के अनुसार तथा सरकार के बाहर के अर्थशास्त्रियो, व्यापारियो तथा जनसाधारण के विचार एव आलोचना प्राप्त करने हेतु प्रथम पचवर्षीय योजना सर्वप्रथम जुलाई, 1951 मे ड्राफ्ट के रूप मे प्रकाशित की गयी। यह ड्राफ्ट-योजना दो भागो मे विभक्त थी। प्रथम भाग मे अनिवार्य कार्यक्रमो को सम्मिलित किया गया था और इस भाग पर 1,493 करोड रुपये व्यय होने का अनुमान था। द्वितीय भाग में वे कार्यक्रम सम्मिलित किये गये थे जिनका क्रियान्वीकरण विदेशी सहायता के मिलने पर किया जाना था। इस भाग पर 300 करोड रुपये व्यय होना था, परन्तु योजना को अन्तिम रूप देते समय दोनो भागो को निरस्त करके एकत्रित रूप मे समस्त कार्यक्रम प्रस्तुत किये गये। इस प्रकार योजना का समस्त व्यय 2,069 करोड रुपये निर्धारित किया गया। कालान्तर मे योजना के कुछ कार्यक्रमो मे वृद्धि की गयी तथा कुछ मे समायोजन किये गये। इसके साथ रोजगारो के अवसरो की वृद्धि हेतु भी आयोजन किये। इन समायोजनो के कारण योजना के व्यय की राशि 2,356 करोड रुपये कर दी गयी।[1] विभिन्न मदो पर इस राशि का वितरण निम्न प्रकार किया गया था

तालिका 10—प्रथम पचवर्षीय योजना का सशोधित व्यय

(करोड रुपयो मे)

मद	आयोजित व्यय	वास्तविक व्यय	वास्तविक व्यय का योग से प्रतिशत
कृषि एव सामुदायिक विकास	357	291	14 8
सिंचाई एव शक्ति	661	570	29 1
उद्योग एव खनिज	179	117	6 0
यातायात एव सचार	557	523	23 7
समाज सेवाएँ एव अन्य	602	459	26 4
योग	2,356	1 960	100 00

अर्थ-प्रबन्धन

अर्थ-साधनो की समस्या के निवारण पर ही योजना का सचालन तथा उसकी सफलता निर्भर रहती है। योजना मे राजकीय क्षेत्र के कार्यक्रमो मे केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो तथा उनके अधिकार की औद्योगिक इकाइयो के विकास कार्यक्रम सम्मिलित किये गये थे। निजी क्षेत्र के अन्तर्गत अर्थ-व्यवस्था का शेष समस्त क्षेत्र रखा गया था। नगरपालिका निगम स्थानीय सस्थाओ सहकारी सस्थाओ तथा लघु व्यवसायो को निजी क्षेत्र मे सम्मिलित किया गया था यद्यपि समस्त अर्थ व्यवस्था को विकास की ओर अग्रसर करने तथा विकास-कार्यक्रमो मे समन्वय स्थापित करने का उत्तरदायित्व राज्य का ही था परन्तु निजी प्रयासो एव साहस को भी विकास-कार्यक्रमो मे महत्वपूर्ण योगदान देना था। राज्य को सरकारी क्षेत्र के लिए आवश्यक अर्थ प्रबन्धन करना तथा उसे सरकारी क्षेत्र मे विनियोजन करना दोनो ही कार्य करने थे।

विभिन्न साधनो से प्रथम योजना मे अर्थ साधनो की व्यवस्था अग्रवत् हुई

तालिका 11—प्रथम योजना के अर्थ-साधन

(करोड रुपयों में)

मद	प्राप्ति का अनुमान	वास्तविक प्राप्ति
(अ) बजट के साधन		
(1) सरकारी चालू आय से बचत	738	752
(2) जनता से ऋण		205
(3) लघु बचत एव अन्य ऋण	385	304
(4) अन्य पूँजीगत प्राप्तियाँ	135	91
बजट के साधनों का योग	1,258	1,352
(आ) विदेशी सहायता	156	188
(इ) हीनार्थ-प्रबन्धन	290	420
(ई) न्यूनता	652	—
योग	2,356	1,960

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि योजना की समस्त अनुमानित निर्धारित राशि 2,356 करोड़ रुपये का 83 2% भाग ही व्यय हुआ। इसके अतिरिक्त यह भी स्पष्ट है कि सरकारी चालू आय से बचत तथा रेलो से अनुदान से प्राप्त राशि में अनुमान से अधिक अर्थ प्राप्त हुआ। इन दोनो साधनो से 738 करोड रुपये प्राप्त होने का अनुमान था, जबकि वास्तविक प्राप्ति 752 करोड रुपये थी। इसी प्रकार जनता से ऋण तथा अन्य बचत से भी अनुमान से अधिक अर्थ प्राप्त हुआ। अन्य पूँजीगत प्राप्तियो, जैसे निधि, जमा आदि के अन्तर्गत 135 करोड रुपये प्राप्त होने का अनुमान था, जबकि केवल 91 करोड रुपये ही प्राप्त हो सका। हीनार्थ-प्रबन्धन की राशि 290 करोड रुपये निश्चित की गयी थी, परन्तु अन्य साधनो की प्राप्ति अधिक नही बढ़ायी जा सकी। परिणाम-स्वरूप, न्यूनता की पूर्ति के लिए हीनार्थ प्रबन्धन की राशि 420 करोड रुपये हुई। इस प्रकार यह कहना अनुचित न होगा कि अर्थ साधन सम्बन्धी योजना-आयोग के अनुमान बड़ी मात्रा में ठीक ही थे, परन्तु योजना को नियान्वित करते समय योजना के समस्त व्यय की राशि में कमी रही। कृषि एव सामुदायिक विकास-योजनाओ तथा उद्योग और खनिज के अन्तर्गत कुछ कार्यक्रमो को पूर्ण नही किया जा सका तथा इनमे निर्धारित राशि से कम व्यय हुआ।

योजना के लक्ष्य एवं प्रगति

प्रथम पचवर्षीय योजना मे कृषि को सर्वप्रथम स्थान प्रदान किया गया था। इसी कारण योजना को मुख्यरूपेण एक ग्रामीण विकास का कार्यक्रम कहा जा सकता है। राजकीय क्षेत्र मे व्यय होने वाली राशि का अधिकतम भाग कृषि एव कृषक की उन्नति हेतु विशेष महत्व रखता है। समाज सेवाओ के अन्तर्गत निर्धारित राशि भी ग्रामीण समाज के हित को विशेष स्थान देती थी और इस व्यय का उद्देश्य भी कृषको की कार्यक्षमता मे वृद्धि करना तथा उनका उत्पादन करना था। राजकीय क्षेत्र मे समस्त व्यय का लगभग एक-तिहाई भाग (32 2%) अर्थात् 758 करोड रुपये कृषि, सामुदायिक विकास, सिंचाई एवं बाढ़-नियन्त्रण पर व्यय होना था। सिंचाई की बहुमुखी योजनाओ के कार्यक्रम दीर्घकालीन थे और इन पर योजनाकाल मे 266 करोड रुपये व्यय होने का अनुमान था।

प्रथम योजना के औद्योगिक विकास के कार्यक्रम मिश्रित अर्थ-व्यवस्था पर आधारित थे। योजना मे 792 करोड रुपये औद्योगिक विकास हेतु निर्धारित किया गया जिसमे 179 करोड रुपये सरकारी क्षेत्र मे और शेष 613 करोड रुपये निजी क्षेत्र मे व्यय करने का लक्ष्य रखा गया। योजना मे 42 उद्योगो के विस्तार करने का विस्तृत कार्यक्रम बनाया गया। इनमे इंजीनियरिंग,

वैद्युतिक इंजीनियरिंग, धातु उद्योग, रासायनिक पदार्थ उद्योग, तरल ईंधन खाद्य-पदार्थ उद्योग आदि सम्मिलित थे।

तालिका 12—प्रथम योजना के लक्ष्य एवं उनकी प्राप्ति

मद	उत्पादन (1950-51)	लक्ष्य (1955-56)	वास्तविक उत्पादन (1955-56)	उत्पादन की वृद्धि का प्रतिशत
खाद्यान्न (लाख टन)	508	626	669	32 0
कपास (लाख गाँठ)	28 8	42 3	39 4	37 0
जूट (लाख गाँठ)	33 1	53 9	42 3	27 3
गन्ना (लाख टन)	571	632	605	6 0
तिलहन (लाख टन)	51 6	55·7	57·3	11 4
तम्बाकू (लाख टन)	2 61	—	3 03	16 0
चाय (लाख टन)	2 75	—	2 85	4 0
आलू (हजार टन)	1,660	—	1,859	12 0
सिंचित भूमि (लाख एकड़)	510	707	650	27 6
विद्युतशक्ति-उत्पादन (लाख किलोवाट)	23	36	34	48 0
इस्पात के ढेले (लाख टन)	14 7	16 7	17 4	18 0
लौह पिण्ड (Pig Iron) (लाख टन)	16 0	28 7	18 0	13 7
सीमेन्ट (लाख टन)	27 0	48 0	47 0	70 8
अमोनियम सल्फेट (हजार टन)	47 0	456 0	400 0	756 5
रेलवे इंजिन (इकाई)	3 0	173 0	179 0	5 867 0
जूट-निर्मित वस्तुएँ (हजार टन)	837 0	1,216 0	1,071 0	28 [illegible]
मिल-निर्मित वस्त्र (10 लाख गज)	3,720 0	4,700 0	5,102 0	37 2
साइकिल (हजार)	99 0	530 0	513 0	418 0

सरकारी क्षेत्र के अन्तर्गत औद्योगिक क्षेत्र मे 60 करोड़ रुपये का विनियोजन हुआ जबकि वास्तविक लक्ष्य 94 करोड़ रुपये था। सिन्दरी का रासायनिक खाद का कारखाना पूर्ण हो गया जिसकी वार्षिक उत्पादन क्षमता 6,50,000 टन अमोनियम सल्फेट है। चितरंजन के रेलवे-इंजिन निर्माण, बंगलौर का भारतीय टेलीफोन-निर्माण, पैराम्बूर का यात्री गाड़ी के डिब्बे-निर्माण पेनिसिलिन तथा डी डी टी जलयान तथा वायुयान-निर्माण आदि के कारखानो का पर्याप्त विकास हुआ। राज्य सरकार की योजनाओं मे सबसे महत्वपूर्ण मैसूर के लोहा एवं इस्पात के कारखाने के विस्तार का कार्यक्रम था। मध्य-प्रदेश मे अखबारी कागज तथा उत्तर प्रदेश का प्रिसिजन इन्स्ट्रूमेंट्स कारखाना भी उल्लेखनीय है।

राष्ट्रीय आय—प्रथम योजना का लक्ष्य योजनाकाल के अन्त तक राष्ट्रीय आय मे 13% वृद्धि करना था अर्थात् सन् 1950-51 की राष्ट्रीय आय 8,850 करोड़ रुपये (सन् 1948-49 के मूल्यों पर) को बढ़ाकर 10,000 करोड़ रुपये करने का लक्ष्य था। योजनाकाल मे राष्ट्रीय आय मे 20% की वृद्धि अर्थात् लक्ष्य की तुलना मे राष्ट्रीय आय मे $1\frac{1}{2}$ गुनी वृद्धि हुई। दूसरी ओर, प्रति व्यक्ति आय मे इस काल मे 9 7% की वृद्धि हुई। योजनाकाल मे राष्ट्रीय आय की वृद्धि मे उच्चावचान होते रहे।

योजना मे राष्ट्रीय आय के 5% विनियोजन को बढ़ाकर 7% का लक्ष्य था। पाँच वर्षों मे 3,500 से 3,600 करोड़ रुपये तक विनियोजन करने का लक्ष्य निश्चित किया गया था। सरकारी क्षेत्र मे योजनकाल मे लगभग 1,560 करोड़ रुपये तथा निजी क्षेत्र मे 1,800 करोड़ रुपये

का विनियोजन हुआ। इस प्रकार योजना के समस्त विनियोजन की राशि 3,360 करोड रुपये थी। समस्त विनियोजन मे शासकीय एव निजी क्षेत्र का अनुपात 8 9 था।

योजना की असफलताएँ

प्रथम पचवर्षीय योजना द्वारा कृषि एव औद्योगिक उत्पादन के स्तर मे महत्वपूर्ण वृद्धि हुई। इसके साथ ही राष्ट्र की आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था मे भी परिवर्तन हुए। जनसाधारण मे भी राष्ट्र के विकास के प्रति रुचि उत्पन्न हो गयी तथा योजना के प्रति जागरूकता मे भी पर्याप्त वृद्धि हुई। योजना द्वारा विभिन्न क्षेत्रो की न्यूनता मे भी पर्याप्त सुधार हो गया और अर्थ-साधनो मे गतिशीलता भी उत्पन्न हो गयी। सामान्यत योजना को एक सफल कार्यक्रम कहने मे कोई त्रुटि नही होगी, परन्तु कुछ अर्थशास्त्रियो के विचार मे योजना को निम्नलिखित दृष्टि-बिन्दुओं से असफल कहा जा सकता है

(1) प्रथम पचवर्षीय योजना ऐसे वातावरण मे बनायी गयी थी जिसमें उपभोक्ता-वस्तुओ और विशेषकर खाद्यान्नो की अत्यन्त कमी थी तथा अर्थ-व्यवस्था पर युद्ध एव विभाजन के पश्चात की कठिनाइयो का दबाव अत्यधिक था। इन कठिनाइयो का समाधान करना राष्ट्र के विकास के लिए अनिवार्य था। इन्ही कारणो से प्रथम पचवर्षीय योजना मुख्यत पुनर्निर्माण एव पुनर्वास (Rehabilitation) का कार्यक्रम थी, जिसमे तत्कालीन न्यूनता की पूर्ति का पर्याप्त विनियोजन एव सगठन-सम्बन्धी प्रयासों द्वारा आयोजन किया गया था। योजना के लक्ष्य इसी कारण कम रखे गये थे। राष्ट्रीय आय मे योजनाकाल मे 13% वृद्धि होने का अनुमान था, जबकि वास्तविक वृद्धि लगभग 20% हुई। खाद्यान्न, तिलहन, रेलवे इजन, मिल का बना कपडा आदि मे लक्ष्य से अधिक उत्पादन हुआ। अन्य क्षेत्रो मे भी उत्पादन मे पर्याप्त वृद्धि हुई, जो लक्ष्य के लगभग बराबर ही थी। उत्पादन तथा आय मे सम्भावना से अधिक वृद्धि का एकमात्र कारण योजना का विनियोजन-कार्यक्रम एव सगठन-सम्बन्धी परिवर्तन ही नही थे। इस वृद्धि का कुछ भाग सार्य के क्षेत्र से बढ जाने तथा योजनाकाल मे अनुकूल मानसून की उपस्थिति के कारण हुआ था। इन दोनो तत्वो को दृष्टिपात करते हुए राष्ट्रीय आय की वृद्धि (योजना के कार्यक्रमो के परिणामस्वरूप) 10% या 12% ही समझनी चाहिए। दूसरी ओर, अर्थ-व्यवस्था मे जो विकास योजनाकाल मे हुआ, वह दीर्घकालीन नही कहा जा सकता है क्योकि इस उन्नति का काफी भाग आकस्मिक घटनाओ के घटित होने अथवा घटित न होने पर निर्भर है।

(2) योजना बनाते समय प्रत्येक क्षेत्र मे अपूर्णता का वातावरण था और इसी वातावरण को प्रधान लक्षण मानकर योजना के कार्यक्रम एव लक्ष्य निर्धारित किये गये। योजना मे ऐसे आयोजन नही किये गये जिनके द्वारा आकस्मिक अनुकूल आर्थिक परिस्थितियो का पूर्णतम उपयोग किया जा सके। उत्पादन की अतिरिक्त वृद्धि को आर्थिक विकास के कार्यक्रमों के लिए उपयोग मे लाना आवश्यक होता है, अन्यथा उत्पादन की वृद्धि का उपयोग उपभोग मे अथवा अपव्यय म हो जाता है। इस प्रकार अनुमान से अधिक उत्पादन वृद्धि का उपयोग नियोजित विनियोजन (Planned Investment) तथा व्यवस्था द्वारा आर्थिक विकास के कार्यक्रमो मे पूर्णतम नही हुआ। आकस्मिक उद्भूत घटकों ने जो विकास के अवसर प्रदान किये, उनका पूर्णतम उपयोग नही किया गया। अर्थ-व्यवस्था का ढाँचा इस प्रकार होना चाहिए था जिसमे अनुकूल परिस्थितियो का स्वत विकास मे उपयोग हो जाता, अर्थात् अतिरिक्त उत्पादन का अधिकतर भाग पूँजी निर्माण की ओर आकर्षित हो जाता।

(3) योजना बनाते समय योजना-आयोग ने प्रत्यक्ष बेरोजगारी की समस्या पर कोई विशेष ध्यान नही दिया, यद्यपि अदृश्य बेरोजगारी एव अल्प-बेरोजगारी के दबाव को कम करने के लिए आयोजन किया गया था, परन्तु बाद मे बेरोजगारी का निवारण करने के लिए 300 करोड रुपये का आयोजन किया गया। योजनाकाल की सबसे बडी विशेषता यह थी कि राष्ट्रीय आय मे वृद्धि के साथ-साथ बेरोजगारी मे भी वृद्धि हुई। विनियोजन की वृद्धि के साथ-साथ रोजगार के अवसरो मे

पर्याप्त वृद्धि नही हुई। योजना आयोग के अनुमानानुसार द्वितीय पचवर्षीय योजना के प्रारम्भ मे 56 लाख व्यक्ति बेरोजगार थे। यह अनुमान है कि योजनाकाल मे भी जनसख्या मे 1 1% प्रति वर्ष वृद्धि हुई और लगभग इतनी ही वृद्धि श्रम-शक्ति मे भी होने का अनुमान लगाया जा सकता है। इस प्रकार योजनाकाल मे लगभग 90 लाख श्रमिको की वृद्धि हुई होगी जबकि योजना के अन्त मे 56 लाख व्यक्ति बेरोजगार होने का अनुमान है। यदि यह मान लिया जाय कि प्रथम योजना के प्रारम्भ मे प्रत्यक्ष बेरोजगारी की समस्या नही के समतुल्य थी तो योजनाकाल मे रोजगार के अवसरो मे 34 लाख की वृद्धि हुई होगी। इन अनुमानो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि श्रम मे वृद्धि की मात्रा के लगभग आधे के समतुल्य ही प्रथम पचवर्षीय योजना मे रोजगार के अवसरो मे वृद्धि हुई। इस प्रकार बेरोजगारी की समस्या का निवारण प्रथम पचवर्षीय योजना द्वारा न हो सका।

(4) उद्योगो के विकास हेतु योजनाओं मे अत्यन्त अल्प-राशि निर्धारित की गयी थी। उद्योगो की अर्थ-सम्बन्धी आवश्यकता को ही अधिक महत्व दिया गया था। औद्योगिक क्षेत्र की अन्य समस्याओ, जैसे सन्तुलित औद्योगिक विकास, उत्पादन-क्षमता का पूर्णतम उपयोग, उत्पत्ति की विपणि की सुविधाओ आदि पर विशेष ध्यान नही दिया गया। योजनाकाल मे भी बहुत से उद्योग अपनी उत्पादन-क्षमता के केवल 60% भाग का ही उपयोग करते रहे।

(5) शासकीय क्षेत्र को अर्थ-साधन सचय करने के साथ-साथ प्राप्त साधनो को व्यय करने मे भी कठिनाई हुई, इसलिए हम देखते हैं कि लोक-क्षेत्र की सम्पूर्ण निर्धारित राशि 2,356 करोड रुपये मे से केवल 1,960 करोड रुपया ही वास्तविक व्यय हुआ। योजना के सचालन का भार ऐसे शासकीय सगठन को सौपा गया जो ब्रिटिश-काल मे शासन हेतु उपयुक्त था। विकास के कार्यक्रमो का सचालन ऐसे ढाँचे द्वारा किये जाने मे पर्याप्त सफलता प्राप्त नही हो सकती थी। व्यवस्था मे आवश्यक परिवर्तन नही हो सके, जिससे इस व्यवस्था द्वारा प्रबन्धन एव साहस सम्बन्धी कार्यों को भी सफलतापूर्वक सचालित किया जा सके।

उपर्युक्त असफलताओ को कोई गम्भीर महत्व नही दिया जा सकता है क्योकि इन असफलताओ की तुलना मे योजना की सफलता अत्यधिक सराहनीय है। योजना की सर्वप्रमुख सफलता यह है कि योजना द्वारा विकास का प्रारम्भ हो गया था तथा भविष्य मे आने वाली योजनाओ के लिए एक मार्ग निर्मित हो गया था।

17

द्वितीय पंचवर्षीय योजना

[SECOND FIVE YEAR PLAN]

द्वितीय पचवर्षीय योजना (1956-1961) के कार्यक्रम निर्धारित करने के पूर्व यह निश्चय करना अत्यन्त आवश्यक समझा गया कि देश मे किस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था का निर्माण किया जाय। इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया गया और राष्ट्र की सांस्कृतिक एव परम्परागत प्रवृत्तियो को दृष्टिगत करते हुए यह निश्चय किया गया कि समाजवाद का कठोर स्वरूप भारत के लिए उपयुक्त नही होगा। इसी पृष्ठभूमि मे 'समाजवाद प्रकार के समाज' (Socialistic Pattern of Society) की विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ।

योजना के उद्देश्य

प्रथम पचवर्षीय योजना की सफलताओं की पृष्ठभूमि पर द्वितीय पचवर्षीय योजना बनायी गयी। इस योजना का कार्यक्रम 1 अप्रैल, 1956 को प्रारम्भ हुआ। प्रथम पचवर्षीय योजना द्वारा जो विकास हुआ, उसे दृढ बनाने एव उसकी गति म तीव्रता लाने के लिए द्वितीय योजना के कार्यक्रम निश्चित किये गये। द्वितीय योजना के प्रारम्भ होने पर योजना-आयोग ने बताया कि प्रथम योजना द्वारा जो प्रगति की नीव सफलतापूर्वक डाली गयी है, उसी आधारशिला पर अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रो का विकास तीव्रता के साथ द्वितीय योजना द्वारा किया जायेगा। प्रथम योजना ने जिस विकास की विधि का प्रारम्भ किया है, उस विधि की अगली व्यवस्थाओ की प्राप्ति द्वितीय योजना द्वारा हो सकेगी। द्वितीय योजना के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित थे

(1) देश मे जीवन-स्तर को उन्नत करने के लिए राष्ट्रीय आय मे पर्याप्त वृद्धि,

(2) द्रुत गति से औद्योगीकरण करना, जिसमे आधारभूत एव मूल उद्योगो पर विशेष जोर दिया गया,

(3) रोजगार के अवसरो मे वृद्धि करना, तथा

(4) आय एव सम्पत्ति की असमानता को कम करना तथा आर्थिक क्षमता का अधिक समान वितरण करना।

व्यय एवं विनियोजन

द्वितीय योजना का कुल व्यय प्रारम्भ मे 7,200 करोड रुपये निर्धारित किया गया जिसमे से 4,800 करोड रुपये सरकारी क्षेत्र मे और 2,400 करोड रुपये निजी क्षेत्र मे व्यय होना था। परन्तु योजनाकाल के मध्य मे (सन् 1958) आन्तरिक एव विदेशी साधनो की कठिनाई के कारण योजना के सरकारी क्षेत्र के व्यय को दो भागो मे बाँट दिया गया—भाग 'अ' तथा भाग 'ब'। भाग 'अ' मे कृषि-उत्पादन से प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध कार्यक्रम, केन्द्रित कार्यक्रम (Core Projects) तथा ऐसे कार्यक्रम जो पूर्ण होने के समीप थे, सम्मिलित किये गये और इनकी लागत 4,500 करोड रुपये अनुमानित की गयी। शेष सभी कार्यक्रम भाग 'ब' मे रखे गये [illegible] साधनो की उपलब्धि पर निर्भर रखा गया।

द्वितीय योजना का व्यय-वितरण अग्राकित तालिका 13 के [illegible]

तालिका 13

द्वितीय योजना का व्यय एव विनियोजन (आयोजित एव वास्तविक)[1]

(करोड रुपयो मे)

मद	व्यय				विनियोजन				
	मौलिक आयोजन	दोहराया गया आयोजन	वास्तविक व्यय	वास्तविक व्यय का दोहराया गया व्यय से प्रतिशत	सरकारी क्षेत्र मे आयोजित	निजी क्षेत्र मे आयोजित	सरकारी क्षेत्र मे वास्तविक	निजी क्षेत्र मे वास्तविक	समूह-विनियोजन
1 कृषि एव सामुदायिक विकास	568	510	549	108	338	300	210	665	835
2 सिचाई एव शक्ति	913	820	882	108	863	मद 1 मे	865	मद 1 मे	905
3 ग्रामीण एव लघु उद्योग	200	160	187	117	120		90	175	265
4 वृहद उद्योग एव खनिज	690	790	938	119	670	575	870	675	1 542
5 यातायात एव सचार	1 385	1 340	1 261	94	1 335	125	1 275	135	1,410
6 समाज सेवाएँ एव अन्य	1 044	880	855	97	474	1 400	421	1 450	1 871
योग	4 800	4 500	4 672	106	3 800	2,400	3,731	3 100	6,831

1 वास्तविक व्यय एव विनियोजन सम्बन्धी आंकडे *Reserve Bank of India Bulletin* —July 1970 से लिये गये हैं।

वास्तविक व्यय एव विनियोजन के आँकडो से यह स्पष्ट है कि द्वितीय पचवर्षीय योजनाओ मे उद्योग एव खनिज-विकास पर सबसे अधिक विनियोजन किया गया। निजी क्षेत्र ने लक्ष्य से अधिक योजनाकाल मे विनियोजन किया, परन्तु सार्वजनिक क्षेत्र मे 3,800 करोड रुपये के विनियोजन के लक्ष्य के स्थान पर 3,751 करोड रुपये का ही विनियोजन किया गया। वास्तविक व्यय की राशि की तुलना लक्षित व्यय से करने पर ज्ञात होता है किसमाज-सेवाओ पर होने वाला वास्तविक व्यय लक्षित राशि का लगभग 97% था। इसी प्रकार यातायात एव सचार पर भी वास्तविक व्यय लक्षित व्यय से कम रहा, परन्तु खनिज एव वृहद् उद्योगो का वास्तविक व्यय लक्षित व्यय से अधिक रहा। आयोजित विनियोजन की तुलना मे द्वितीय योजना मे वास्तविक विनियोजन लगभग 10% अधिक हुआ। विनियोजन की यह वृद्धि निजी क्षेत्र मे ही हुई। सरकारी क्षेत्र के विनियोजन मे कुछ कमी रही। वृहद् उद्योग एव खनिज क्षेत्रो मे निजी एव सरकारी दोनो ही क्षेत्रों मे विनियोजन लक्षित राशि से कही अधिक रहा। यह तथ्य इस बात के द्योतक है कि इस योजना मे औद्योगिक विकास को अधिक प्राथमिकता प्रदान की गयी।

अर्थ-प्रबन्धन

द्वितीय योजना मे योजना-आयोग ने भौतिक लक्ष्यो को अधिक महत्व दिया था और वित्तीय साधनो का विस्तार करने के प्रयास पर जोर दिया था। द्वितीय पचवर्षीय योजना के प्रथम वर्ष मे राष्ट्रीय आय का 7 3% भाग आन्तरिक बचत था जिसे द्वितीय पचवर्षीय योजनाकाल मे बढा कर 10 7% करने का लक्ष्य था। इस हेतु दो बातो पर विचार किया गया था—प्रथम, बचत को बढाने के लिए उपभोग को किस सीमा तक कम करना उचित होगा, तथा दूसरे, वर्तमान आर्थिक एव सामाजिक व्यवस्था मे कौन-कौनसी बचत-वृद्धि की विधियाँ अपनायी जाये। आन्तरिक साधनो के अतिरिक्त औद्योगीकरण के कार्यक्रम को क्रियान्वित करने के लिए विदेशी मुद्रा की भी अधिक आवश्यकता थी। विदेशी साधनो की उपलब्धि के लिए एक ओर आयात मे मितव्ययता और दूसरी ओर निर्यात मे वृद्धि करने की आवश्यकता थी।

द्वितीय योजना मे सरकारी क्षेत्र मे अर्थ-साधनो का आयोजन एव प्राप्ति निम्नांकित तालिका 14 के अनुसार थी।

तालिका 14—द्वितीय योजना के अर्थ-साधन (आयोजित एव वास्तविक)

(करोड रुपयो मे)

	मद	आयोजित राशि	वास्तविक राशि
1	चालू आय का आधिक्य वर्तमान कर की दरो के आधार पर	350	11
2	अतिरिक्त कर एव सार्वजनिक क्षेत्र के व्यवसायो से	450	1 052
3	जनता से ऋण	700	756
4	लघु बचत	500	422
5	विकास कार्यक्रमो के लिए रेलो का अनुदान	150	167
6	प्रावधिक निधि एव अन्य पूँजीगत प्राप्तियाँ	250	261
7	विदेशी सहायता	800	1,049
8	हीनार्थ-प्रबन्धन	1,200	954
9	न्यूनता (Gap)	400	—
	योग	4,800	4,672

योजना के अर्थ-साधनों के वास्तविक आँकडों से यह स्पष्ट है कि योजनाकाल मे सरकार का चालू व्यय अनुमान से अधिक बढ गया जिसके फलस्वरूप इस मद से 350 करोड़ रुपये का

आधिक्य प्राप्त होने के स्थान पर 11 करोड रुपये ही प्राप्त हुआ। अतिरिक्त करो और सरकारी क्षेत्र के व्यवसायो से प्राप्त होने वाली आय अनुमान से कहीं अधिक रही। जनता से प्राप्त होने वाला ऋण भी अनुमान से अधिक रहा, परन्तु लघु बचत की राशि 500 करोड रुपये की अनुमानित राशि के स्थान पर 422 करोड रुपये ही रही। हीनार्थ-प्रबन्धन की राशि अनुमान से कम रही। इस प्रकार योजना के अर्थ-प्रबन्धन मे 2,669 करोड रुपये अर्थात् कुल व्यय का 57% बजट के साधनो से, 1,049 करोड रुपये अर्थात् 22% विदेशी सहायता से, और शेष 954 करोड रुपये अर्थात् 21% हीनार्थ-प्रबन्धन से प्राप्त किये गये।

द्वितीय योजना मे कृषि-कार्यक्रमो के लक्ष्य बहुमुखी थे। प्रथम, बढती हुई जनसख्या को खाद्यान्न उपलब्ध कराना, द्वितीय, विकास की ओर अग्रसर औद्योगिक व्यवस्था की कच्चे माल की आवश्यकताओ की पूर्ति करना, तथा तृतीय, कृषि-उत्पत्ति के निर्यात मे वृद्धि करना। इस प्रकार द्वितीय योजना मे औद्योगिक एव कृषि-विकास मे घनिष्ठ पारस्परिक निर्भरता होना स्वाभाविक था। ग्राम-निवासियो के सम्मुख द्वितीय योजना द्वारा कृषि-उत्पादन को 10 वर्ष मे दुगुना करने का उद्देश्य रखा गया था।

योजना-आयोग ने कृषि-नियोजन के चार आवश्यक तत्व निर्धारित किये हैं जिनके आधार पर कृषि-कार्यक्रमो को निश्चित किया गया था। य निम्न प्रकार हैं

(1) भूमि के उपयोग की योजना,

(2) दीर्घकालीन एव अल्पकालीन लक्ष्यो को निर्धारित करना

(3) विकास कार्यक्रमो एव सरकारी सहायता का उत्पादन के लक्ष्यो से तथा भूमि के उपयोग से सम्बन्ध स्थापित करना, तथा

(4) उचित मूल्य-नीति।

द्वितीय योजना मे तीन इस्पात के कारखानो के निर्माण का आयोजन किया गया जिनमे प्रत्येक की उत्पादन-क्षमता 10 लाख टन इस्पात डले (Ingots) थी। रूरकेला मे स्थापित होने वाले कारखानो पर द्वितीय योजनाकाल मे 128 करोड रुपये, भिलाई (मध्य प्रदेश) के कारखाने पर 115 करोड रुपये तथा दुर्गापुर (पश्चिमी बगाल) के कारखाने पर 115 करोड रुपये के विनियोजन का लक्ष्य रखा गया।

आधारभूत उद्योगो की प्रगति औद्योगिक विकास का मुख्य सूचक होती है। द्वितीय योजना मे इस ओर ठोस कदम उठाये गये तथा लोहा एव इस्पात, मशीन-निर्माण तथा अन्य आधारभूत उद्योगो के विकास से देश की अर्थ-व्यवस्था मे सुदृढता शीघ्र प्राप्त हो सकती थी। वास्तव मे, योजनाकाल मे पूंजीगत एव उत्पादक वस्तुओ के उद्योग मे विनियोजित होने वाली राशि अभी तक के इस क्षेत्र के विनियोजन से कहीं अधिक थी। सन् 1956 से 1961 तक बडे उद्योगों के विकास के लिए 1,094 करोड रुपये के विनियोजन का आयोजन किया गया था जिसमे से 915 करोड रुपये अर्थात् 84% उत्पादक एव पूंजीगत वस्तुएं उत्पन्न करने वाले उद्योगो के लिए निर्धारित किया गया, परन्तु वास्तविक विनियोजन लक्ष्य से कहीं अधिक औद्योगिक क्षेत्र मे किया गया। *योजनाकाल मे बडे उद्योगो और खनिज-विकास मे 1,545 करोड रुपया विनियोजित किया गया।* समस्त विनियोजन इस राशि का लगभग 80% भाग पूंजीगत एव उत्पादक वस्तुओ के उद्योगो पर विनियोजित किया गया। यद्यपि विनियोजन-राशि लक्ष्य से अधिक रही, परन्तु द्वितीय योजना के औद्योगिक उत्पादन के लक्ष्यों की पूर्ति नही की जा सकी। द्वितीय योजना की प्रगति उत्पादन के लक्ष्य एव पूर्ति की तालिका 15 से प्रदर्शित होती है।

तालिका 15—द्वितीय योजना में उत्पादन के लक्ष्य एवं पूर्ति

मद	द्वितीय योजना के लक्ष्य	1960-61 मे वास्तविक उत्पादन	द्वितीय योजना मे वृद्धि का प्रतिशत (1955-56 के उत्पादन पर)	योजना के लक्ष्य एवं वास्तविक उत्पादन का प्रतिशत
खाद्यान्न (लाख टन)	818	810	23	98 5
कपास (लाख गाँठ)	65	53	35	83 0
जूट (लाख गाँठ)	55	41	—5	72 7
गन्ना (लाख टन)	780	104	73	134 [illegible]
तिलहन (लाख टन)	76	70	16	85 5
समस्त कृषि-उत्पादन (1955-56 मे निर्देशाक =116 81)	—	142	22 0	—
तैयार इस्पात (लाख टन)	44	24	85	56
एल्यूमिनियम (हजार टन)	25 4	18 3	138	76
नाइट्रोजन खाद (नाइट्रोजन के हजार टन)	294 5	99	24	34
फास्फेटिक खाद (हजार टन)	122 0	54	480	45
सीमेण्ट (लाख टन)	132 0	79	70	61
मिल का सूती कपडा (लाख गज)	85,000	73,690	2	87
शक्कर (लाख टन)	25 4	30 3	58	120
कागज आदि (हजार टन)	356	350	54	100
अखबारी कागज (टन)	60,960	23,250	445	38
औद्योगिक उत्पादन का निर्देशाक (1950-51=100)	194	195	40	100
सिंचित भूमि (लाख एकड)	210	173	—	82
शक्ति (लाख किलोवाट)	35	22	—	63

तालिका के आँकडो से यह स्पष्ट है कि द्वितीय योजना मे औद्योगिक उत्पादन के लक्ष्यो की पूर्ति प्रमुख उद्योगो मे नही हो सकी, यद्यपि औद्योगिक उत्पादन के सामान्य निर्देशाक मे लक्ष्य के अनुसार ही वृद्धि हुई। लक्ष्य के अनुसार औद्योगिक उत्पादन मे वृद्धि न होने के तीन प्रमुख कारण थे—(1) योजनाकाल मे विदेशी विनिमय की कठिनाई के फलस्वरूप कुछ औद्योगिक परियोजनाओ को अगली योजना के लिए स्थगित कर दिया गया और कुछ मे पर्याप्त प्रगति नही हो सकी। (2) योजनाकाल मे मूल्यो मे वृद्धि होने के कारण औद्योगिक परियोजनाओ की लागत बढ गयी जिसके फलस्वरूप उनमे विनियोजित होने वाली राशि अनुमान से अधिक रही, परन्तु उत्पादन पर्याप्त मात्रा मे प्राप्त करने के लिए समुचित प्रगति नही हो सकी। (3) द्वितीय योजना मे पूँजीगत एव उत्पादक वस्तुओ के उद्योगो के विस्तार को अधिक महत्व दिया गया था और इन उद्योगो के निर्माण मे समय और पूँजी अधिक लगती है, जबकि उत्पादन पूर्ण क्षमता पर शीघ्र नही प्रारम्भ किया जा सकता है।

द्वितीय योजना मे ग्रामीण एव लघु उद्योगो के विकास के लिए कार्यशील पूँजी के अतिरिक्त 200 करोड रुपये का आयोजन किया गया, जो बाद मे कम कर 160 करोड रुपये कर दिया गया। इन उद्योगो मे सरकारी क्षेत्र मे वास्तव मे 175 करोड रुपया व्यय हुआ। इस व्यय मे से 9[illegible] करोड रुपये की राशि का विनियोजन किया गया। दूसरी ओर, निजी क्षेत्र मे ग्रामीण एव लघु उद्योगो के विकास के लिए 175 करोड रुपये का विनियोजन किया गया। इस प्रकार द्वितीय योजनाकाल मे लघु एव ग्रामीण उद्योगो पर 265 करोड रुपये का विनियोजन हुआ।

राष्टीय एव प्रति व्यक्ति आय

द्वितीय योजनाकाल मे राष्ट्रीय एव प्रति व्यक्ति आय म निम्न प्रकार वृद्धि हुई

तालिका 16—द्वितीय योजना मे राष्टीय एव प्रति व्यक्ति आय मे वृद्धि

वष	राष्टीय आय प्रचलित मूल्यो पर (करोड रुपया म)	राष्ट्रीय आय (1948 49 के मूल्यो पर) (करोड रुपया म)	प्रति व्यक्ति आय प्रचलित मूल्यो पर (रुपयो म)	प्रति व्यक्ति आय (1948 49 के मूल्यो पर) (रुपयो म)
1955 56	9 980	10 480	255 0	267 0
1956 57	11 310	11 100	283 3	275 6
1957 58	11 390	10 890	279 6	267 3
1958 59	12 600	11 650	303 0	280 1
1959 60	12 950	11 860	304 8	279 2
1960 61	13 284	12 730	307 3	293 2

उपयुक्त आंकडो से ज्ञात होता है कि द्वितीय योजनाकाल म लक्ष्य के अनुसार राष्टीय आय म वृद्धि नही हुई और यह वृद्धि 25% की वृद्धि के विपरीत केवल 21% की ही वद्धि हुई । योजना मे सन 1956 57 सन 1958 59 तथा सन 1960 61 मे राष्टीय आय मे वृद्धि के लक्ष्य से अधिक हुई जबकि अन्य वर्षो म विशेषकर सन 1957 58 मे लक्ष्य के अनुसार वृद्धि नही हो सकी।

योजनाकाल मे प्रति व्यक्ति आय म (सन 1948 49 के मूल्यो क आधार पर) लगभग 11% की वृद्धि हुई ।

द्वितीय योजना की असफलताएँ

द्वितीय योजनाकाल देश के विकास की दृष्टि स अधिक अनुकूल नही था तथा प्रकृति न अथ व्यवस्था के पर्याप्त विकास म बहुत सी कठिनाइया उपस्थित की । योजना क क्षत्रो की असफलताओ का निम्न प्रकार से अकित किया जा सकता है

(1) **विदेशी विनिमय की कठिनाई**—योजना क प्रारम्भ से ही विदेशी विनिमय की कठिनाई प्रतीत होने लगी थी । द्वितीय योजना के लक्ष्य निर्धारित करते हुए यह अनुमान लगाया गया था कि *5 वर्षो मे कुल आयात 4 340 करोड रुपय होगा और निर्यात 2 965 करोड रुपये होगा* परन्तु वास्तव मे निर्यात 3 059 करोड रुपय और आयात 5 390 करोड रुपये हुआ जिसके फलस्वरूप 2 331 करोड रुपय का प्रतिकूल व्यापारिक शेष रहा एव जिसकी पूर्ति हेतु 895 1 करोड रुपय विदेशी सरकारी कोषो स 55 करोड रुपये अन्तर्राष्टीय मुद्रा कोष से 599 करोड रुपये रिजव बैंक स विदेशी विनिमय निकाल कर 219 करोड रुपये अन्य पूर्जीगत प्राप्तियो आदि द्वारा जुटाया गया। योजनाकाल म पजीगत वस्तुओ मशीनो आदि का आयात बडी मात्रा मे किया गया जिसके कारण आयात अनुमान से अधिक रहा । विदशी विनिमय की कठिनाइयो के कारण ही केन्द्रीय योजनाओ (Core Projects) की पूर्ति का प्राथमिकता दी गयी और योजना क कायक्रमो को दो भागो—अ तथा ब म बाँटा गया ब भाग की अधिकतर योजनाओ को तृतीय योजना के लिए ले जाया गया । इस प्रकार द्वितीय योजना म निर्धारित सभी कायक्रमो की पूर्ति नहीं की जा सकी ।

(2) **उद्योगो को अधिक महत्त्व**—द्वितीय योजना म औद्योगीकरण का अधिक प्राथमिकता प्रदान की गयी थी परन्तु योजना के द्वितीय व तृतीय वर्षो मे देश मे खाद्यान्नो की अत्यन्त कमी रही । इन वर्षो म मानसून प्रतिकूल रहने क कारण कृषि उत्पादन अनुमानो क अनुसार नही हुआ जिसके फलस्वरूप खाद्यान्नो के मूल्यो तथा आयात म वृद्धि हुई ।

(3) **मूल्यो मे वृद्धि**—द्वितीय योजनाकाल म लगभग सभी वस्तुओ क मूल्यो मे वृद्धि हुई और यह वृद्धि 30% से 35% के बीच मे रही। मूल्यो की इतनी वृद्धि ने विकास की गति को मन्द कर दिया

और जनसाधारण को विशेष कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। रहन-सहन की लागत बढ़ने के साथ साथ योजना के कार्यक्रमों की लागत भी बढ़ गयी और योजना का व्यय आर्थिक दृष्टिकोण से लगभग लक्ष्य के अनुसार होते हुए भी कार्यक्रमों की पूर्ति लक्ष्यों के अनुकूल नहीं रही।

(4) राष्ट्रीय आय—द्वितीय योजनाकाल में राष्ट्रीय आय में लक्ष्य के अनुसार वृद्धि नहीं हुई और 25% की वृद्धि के लक्ष्य के विपरीत केवल 21% की ही वृद्धि हुई। राष्ट्रीय आय में विभिन्न साधनों के अंश में भी कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। यद्यपि योजना में औद्योगिक क्षेत्र में पर्याप्त विनियोजन किया गया, परन्तु औद्योगिक एवं खनिज क्षेत्र ने राष्ट्रीय आय का सन् 1955-56 में 18.5% जुटाया था जो सन् 1960-61 में घटकर 18.4% हो गया। दूसरी ओर कृषि क्षेत्र से प्राप्त होने वाला अंश सन् 1955-56 के 45.3% से बढ़कर सन् 1960-61 में 4[illegible] 7% हो गया। इन आँकड़ों से यह सिद्ध होता है कि द्वितीय योजना में अर्थ-व्यवस्था के औद्योगिक आधार में अन्य क्षेत्रों की तुलना में अधिक परिवर्तन नहीं हुआ।

(5) निजी क्षेत्र का महत्व—द्वितीय योजनाकाल में सरकारी क्षेत्र में विनियोजन लक्ष्य 3,800 करोड़ रुपये से कम रहा जबकि निजी क्षेत्र का विनियोजन 2,400 करोड़ रुपये के लक्ष्य के विपरीत 3,100 करोड़ रुपए का हुआ, अर्थात् निजी क्षेत्र का महत्व अर्थ-व्यवस्था में कुछ सीमा तक बढ़ गया। द्वितीय योजना में 6,750 करोड़ रुपये के विनियोजन पर 4,160 करोड़ रुपए (चालू मूल्य पर) की राष्ट्रीय आय में वृद्धि हुई, अर्थात् नवीन विनियोजन का पूंजी एवं उत्पादन का अनुपात 1 : 06 रहा जबकि प्रथम योजना में यह अनुपात 1 : 1.3 था। इस प्रकार द्वितीय योजना में उत्पादन में विनियोजन के अनुकूल वृद्धि नहीं हुई।

(6) रोजगार—द्वितीय योजना में रोजगार की स्थिति और भी अधिक गम्भीर हो गयी जिससे एक ओर श्रम-शक्ति में अनुमान से अधिक वृद्धि हुई और दूसरी ओर रोजगार के अवसर लक्ष्य के अनुसार उत्पन्न नहीं किये जा सके। इसके फलस्वरूप यह अनुमान लगाया गया कि योजना के अन्त में लगभग 71 लाख व्यक्ति बेरोजगार थे।

(7) नगरीय क्षेत्र के विकास को अधिक महत्व—आर्थिक विषमताओं से सम्बन्धित अध्याय में दी गयी तालिका के आँकड़ों से यह स्पष्ट है कि द्वितीय योजना में नगरीय क्षेत्र के विकास को और भी अधिक महत्व दिया गया और ग्रामीण क्षेत्र में प्रति व्यक्ति विकास-व्यय नागरिक क्षेत्र की तुलना में लगभग एक तिहाई था। ग्रामीण क्षेत्र में निर्धनता की व्यापकता नियोजित अर्थ-व्यवस्था के प्रारम्भ में ही अधिक थी और योजना के व्यय के प्रकार ने ग्रामीण एवं नगरीय क्षेत्रों के जीवन-स्तर के अन्तर को बढ़ाने में सहायता प्रदान की है।

द्वितीय योजना की प्रगति के विभिन्न तत्वों से स्पष्ट है कि देश की अर्थ व्यवस्था में विकास की प्रवृत्ति को सुदृढ़ता प्राप्त हुई क्योंकि बहुत-सी ऐसी परियोजनाएँ विशेषतः औद्योगिक एवं खनिज क्षेत्र में प्रारम्भ की गयी, जिनके द्वारा देश की अर्थ-व्यवस्था के ढाँचे में दीर्घकाल में मूलभूत परिवर्तन करना असम्भव होगा, परन्तु योजना में लक्ष्यों के अनुसार मालभूत की प्रतिकूलता, विदेशी विनिमय की कठिनाई तथा प्रशासनिक शिथिलता के कारण उत्पादन में वृद्धि न हो सकी। जनसाधारण को उपभोक्ता वस्तुओं की पर्याप्त उपलब्धि नहीं हुई और निर्धनता की व्यापकता में भी कमी नहीं हुई।

18

तृतीय पंचवर्षीय योजना

[THIRD FIVE YEAR PLAN]

तृतीय पचवर्षीय योजना (1961-1966) का मुख्य उद्देश्य राष्ट्र की अर्थ व्यवस्था को स्वय स्फूर्त अवस्था तक पहुँचाना था। सत्य तो यह है कि स्वय-स्फूर्त अवस्था की प्राप्ति हेतु बचत एव विनियोजन मे इतनी वृद्धि करना आवश्यक होता है कि राष्ट्रीय आय मे निरन्तर तीव्र गति से वृद्धि होती रहे। इस अवस्था की प्राप्ति हेतु राष्ट्र मे विनियोजन विशाल स्तर पर होना चाहिए तथा विशाल स्तर क विनियोजन-कार्यक्रमो के सचालनार्थ पूँजीगत वस्तुओ एव सामग्री की उत्पादन क्षमता मे पर्याप्त वृद्धि होनी चाहिए। तृतीय योजना मे विनियोजन के कार्यक्रम एव प्रकार निश्चित करते समय इस बात को दृष्टिगत किया गया था।

स्वय स्फूर्त अवस्था तभी प्राप्त हो सकती है जब उद्योगो एव कृषि का सन्तुलित विकास किया जाय। आय एव रोजगार की वृद्धि हेतु औद्योगीकरण के कार्यक्रमो को प्राथमिकता प्रदान की जाय। दूसरी ओर औद्योगिक विकास तभी सम्भव हो सकता है जबकि कृषि का विकास करके कृषि उत्पादन क्षमता म प्रशमनीय वृद्धि की जाय। तृतीय पचवर्षीय योजना म इसीलिए देश की पूँजीगत सामग्री एव खाद्य तथा कच्चे माल के उत्पादन मे वृद्धि करने पर जोर दिया गया था। भारत जैसे राष्ट्र मे, जहाँ जनशक्ति का पूर्ण उपयोग न होता हो, रोजगार अवसरो की पर्याप्त वृद्धि द्वारा ही विकास को सफल बनाया जा सकता है। तृतीय योजना मे इसीलिए रोजगार के अवसरो मे वृद्धि करने पर विशेष जोर दिया गया था।

तृतीय योजना के उद्देश्य

तृतीय योजना के कायक्रम निम्नलिखित मुख्य उद्देश्यो पर आधारित थे

(1) तृतीय पचवर्षीय योजनाकाल मे राष्ट्रीय आय मे 5% से अधिक वार्षिक वृद्धि करना तथा इस प्रकार विनियोजन करना कि राष्ट्रीय आय की वृद्धि की दर का क्रम आगामी योजना मे भी चालू रहे।

(2) अनाज के उत्पादन मे आत्म निर्भरता प्राप्त करना तथा कृषि उत्पादन मे इतनी वृद्धि करना कि देश के उद्योगो की आवश्यकताओ की पूर्ति के साथ साथ इनका आवश्यकतानुसार निर्यात भी किया जा सके।

(3) इस्पात रसायन उद्योग शक्ति इधन आदि आधारभत उद्योगो का विस्तार एव मशीन निर्माण करने वाले कारखाना की स्थापना जिससे दस वर्ष के अन्दर देश के औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक यन्त्र आदि की आवश्यकता देश के ही साधनो से की जा सके।

(4) देश की श्रम शक्ति का यथासम्भव पूर्णतम उपयोग करना तथा रोजगार के अवसरो मे पर्याप्त वृद्धि करना।

(5) अवसर की अधिक समानता की स्थापना करना और धन एव आय की विषमताओं मे कमी करना तथा आर्थिक शक्ति का अधिक न्यायोचित वितरण करना।

तृतीय योजना का व्यय, विनियोजन एव प्राथमिकताएँ

भारत की जनसख्या की वृद्धि जनसाधारण की सुविधाओ के उपलब्धि के सम्बन्ध मे होने

की सम्भावनाओं तथा अगली दो या तीन योजनाओं में देश को स्वयं-स्फूर्त विकास-अवस्था तक पहुँचाने की आवश्यकता के आधार पर तृतीय योजना में भौतिक कार्यक्रम निर्धारित किये गये। योजना में सम्मिलित सरकारी क्षेत्र के कार्यक्रमों की कुल लागत 8,000 करोड़ रुपये से भी अधिक अनुमानित थी। निजी क्षेत्र के कार्यक्रमों का समस्त व्यय 4,100 करोड़ रुपये अनुमानित था। तत्कालीन अनुमानों के अनुसार तृतीय योजनाकाल में 7,500 करोड़ रुपये के साधन उपलब्ध होने थे। योजनाकाल में उपलब्ध अवसरों का उचित उपयोग करने के लिए योजना के कार्यक्रम साधनों के तत्कालीन अनुमानों पर पूर्णत आधारित नहीं रखे गये। यह अनुमान लगाया गया कि जैसे-जैसे योजना की उत्पादक परियोजनाएँ संचालित होने लगेंगी, अर्थ-साधनों की उपलब्धि की सम्भावनाएँ भी बढ़ जायेंगी। इसी कारण 7,500 करोड़ रुपये के अर्थ-साधनों के लिए 8,000 करोड़ रुपये के कार्यक्रम निर्धारित किये गये। शेष 500 करोड़ रुपये योजना के संचालन में परिस्थिति के अनुसार विभिन्न क्षेत्रों से प्राप्त करने का अनुमान था। तृतीय योजना का प्रस्तावित व्यय एवं वास्तविक व्यय निम्नांकित तालिका में दिया गया है :

तालिका 17—तृतीय योजना का सरकारी क्षेत्र का आयोजित एवं वास्तविक व्यय-वितरण (करोड़ रुपयों में)

	प्रस्तावित व्यय	समस्त व्यय से प्रतिशत	वास्तविक व्यय	समस्त वास्तविक व्यय से प्रतिशत	वास्तविक व्यय का प्रस्तावित व्यय से प्रतिशत
कृषि एवं अन्य सहायक क्षेत्र	1,068	14 2	1,088 9	12 6	102
सिंचाई एवं बाढ़-नियन्त्रण	650	8 7	664 7	7 7	102
शक्ति	1,012	13 5	1,252 3	14 6	124
उद्योग एवं खनिज	1,520	20·3	1,726 3	20 1	114
ग्रामीण एवं लघु उद्योग	264	3 5	236 0	2 8	122
यातायात एवं संचार	1,486	19·8	2,111 7	24 6	142
समाज-सेवाएँ एवं विविध	1,500	20 0	1,493 1	17 6	99 5
योग	7,500	100 0	8,573 0	100 0	114

उपर्युक्त तालिका के अवलोकन से ज्ञात होता है कि तृतीय योजना में सरकारी क्षेत्र के व्यय का अधिक भाग संगठित उद्योग एवं खनिज विकास के लिए निर्धारित किया गया। वास्तव में योजना का 23% व्यय छोटे बड़े उद्योगों एवं खनिज के लिए निर्धारित किया गया। इसके अतिरिक्त शक्ति की निर्धारित राशि से भी औद्योगिक विकास को ही अधिक सहायता मिलती थी। इस प्रकार लगभग 37% व्यय औद्योगिक विकास के लिए निर्धारित किया गया। दूसरी ओर, तृतीय योजना में कृषि-विकास एवं सिंचाई पर योजना के व्यय का 23% भाग व्यय किया जाना था। यदि हम यह मान लें कि शक्ति के साधनों के बढ़ने से ग्रामीण क्षेत्रों में बिजली पहुँच जायेगी और ऐसे उद्योगों का विकास होगा जिनसे कृषि-विकास में सहायता मिलेगी, तो भी यह बात सर्वथा न्यायोचित होगी कि अतिरिक्त शक्ति के साधनों का अधिक भाग औद्योगिक क्षेत्र को प्राप्त होगा। इस आधार पर यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि तृतीय योजना भी उद्योग-प्रधान थी।

तृतीय योजना का सरकारी क्षेत्र का वास्तविक व्यय आयोजित व्यय से 14% अधिक रहा। यदि तृतीय योजनाकाल के मूल्य-स्तर की वृद्धि को ध्यान में रखा जाय तो आयोजित व्यय से वास्तविक व्यय अधिक होते हुए भी योजना की भौतिक उपलब्धियाँ लक्ष्यों से कम रहने का अनुमान लगाया जा सकता है। थोक मूल्य निर्देशांक के सन्दर्भ में यदि योजना के वास्तविक व्यय का

अध्ययन करे तो हमे ज्ञात होगा कि भौतिक आधार पर योजना का वास्तविक व्यय अयोजित व्यय से काफी कम रहा है।

योजना के आयोजित व्यय की तुलना मे वास्तविक मौद्रिक व्यय 1,077 करोड रुपये अधिक हुआ। इस आधिक्य का अधिकतर भाग यातायात एव सचार को प्राप्त हुआ। शक्ति एव उद्योग मे आयोजित व्यय से कही अधिक राशि व्यय की गयी। दूसरी ओर, वास्तविक व्यय के बढने का कोई विशेष लाभ कृषि एव सिचाई को उपलब्ध नही हुआ।

विनियोजन

तृतीय योजना के सरकारी क्षेत्र के समस्त व्यय 7,500 करोड रुपये मे से 6,300 करोड रुपये विनियोजन तथा शेष 1,200 करोड रुपये चालू व्यय होने का अनुमान था। निजी क्षेत्र मे 4,100 करोड रुपये का विनियोजन होने का अनुमान था।

10,400 करोड रुपये के विनियोजन मे 2,030 करोड रुपये की विदेशी मुद्रा की आवश्यकता होने का अनुमान था। द्वितीय योजना के अन्तिम वर्ष का विनियोजन-स्तर 1,600 करोड रुपये तृतीय योजना के अन्त तक बढकर 2,600 करोड रुपये हो जाने का अनुमान था। तृतीय योजना मे द्वितीय योजना की तुलना के विनियोजन-स्तर मे लगभग 54% की वृद्धि होनी थी। सरकारी क्षेत्र के विनियोजन मे 70% तथा निजी क्षेत्र के विनियोजन मे 32% की वृद्धि होने का अनुमान था।

सरकारी एव निजी क्षेत्र के विनियोजन के अनुपात का यदि हम अध्ययन करें तो हमे ज्ञात होगा कि प्रथम योजना मे सरकारी एव निजी क्षेत्र के विनियोजन का अनुपात लगभग 46 . 54 (1,560 करोड रुपये सरकारी क्षेत्र मे और 1,800 करोड रुपये निजी क्षेत्र मे), द्वितीय योजना मे यह अनुपात 54 46 (3,731 करोड रुपये सरकारी क्षेत्र मे और 3,100 करोड रुपये निजी क्षेत्र मे) तथा तृतीय पचवर्षीय योजना मे यह अनुपात 63 37 (7,129 करोड रुपये सरकारी क्षेत्र मे और 4,190 करोड रुपये निजी क्षेत्र मे) है। यदि सरकारी क्षेत्र से सहायतार्थ निजी क्षेत्र मे हस्तान्तरित होने वाली राशि 200 करोड रुपये को निजी क्षेत्र मे सम्मिलित कर लिया जाय तो यह अनुपात 60 40 आता है। इन आँकडो से यह स्पष्ट है कि योजनाकाल मे नवीन विनियोजन मे सरकारी क्षेत्र का महत्व निरन्तर बढता गया और निजी क्षेत्र को सरकारी क्षेत्र की तुलना मे कुछ कम विस्तार के अवसर उपलब्ध हुए।

तृतीय योजनाकाल मे वास्तविक विनियोजन 11,319 करोड रुपये होने का अनुमान है जो आयोजित विनियोजन-राशि से 9 3% अधिक है। सरकारी क्षेत्र का वास्तविक विनियोजन 7,129 करोड रुपये और निजी क्षेत्र मे 4,190 करोड रुपये हुआ। इस प्रकार सरकारी क्षेत्र के विनियोजन की राशि आयोजित विनियोजन-राशि से 17% अधिक रही परन्तु तृतीय योजना मे विनियोजन-लागत-निर्देशाक 115 (1960=100) था अर्थात् सन् 1960 के विनियोजन-लागत-स्तर के आधार पर वास्तविक विनियोजन केवल 9,892 करोड रुपये आता है जो आयोजित विनियोजन 10,400 करोड रुपये का केवल 95% है।

अर्थ साधन

तृतीय योजना मे समस्त साधनो से प्राप्त होने वाली कुल राशि को अधिक महत्व दिया गया और पृथक्-पृथक् साधनो से अनुमानित राशियाँ प्राप्त करने पर अधिक जोर नही दिया गया। चालू आय की राशि अर्थ-व्यवस्था की विकास की गतिविधि पर निर्भर रहती है। योजना-कार्यक्रमो के सचालित होने पर जैसे-जैसे नवीन आय लोगो के हाथो मे जाती है, चालू आय मे भी वृद्धि हो जाती है। चालू आय के सम्बन्ध मे इसी प्रकार ठीक-ठीक अनुमान लगाना सम्भव नही होता है। इसी प्रकार विकास सम्बन्धी एव अन्य चालू व्ययो मे भी अर्थ-व्यवस्था के विकास के साथ-साथ परिवर्तन होते रहते हैं और इनका ठीक-ठीक अनुमान लगाना सम्भव नही होता है। राजकीय व्यवसायो एव नवीन प्रारम्भ हुई परियोजनाओ मे होने वाली बचत के अनुमान भी ठीक-ठीक लगाना

कठिन होता है। वास्तव मे, अर्थ-साधनो की विभिन्न मदें एक-दूसरे पर निर्भर रहती है। यदि पर्याप्त मात्रा मे और ठीक समय पर विदेशी सहायता प्राप्त हो जाय तो घरेलू साधनों से भी अधिक अर्थ प्राप्त होता है।

तृतीय योजनाकाल मे आयोजित व्यय 7,500 करोड रुपये से 1,077 करोड रुपये अधिक करना केन्द्र एव राज्य सरकारो के सामूहिक प्रयासो द्वारा सम्भव हो सका। विभिन्न मदो से अर्थ-साधन तालिका 18 के अनुसार प्राप्त हुए।

तालिका 18—तृतीय योजना के अर्थ-साधन

(करोड रुपयो मे)

मद	मौलिक आयोजन	कुल आयोजित राशि से प्रतिशत	उपलब्ध वास्तविक राशि	कुल वास्तविक राशि से प्रतिशत	वास्तविक राशि से आयोजित राशि का प्रतिशत
(अ) आन्तरिक बजट के साधन	4,750	63 3	5,021	58·5	94
(1) चालू आय का अतिरेक	550	7 3	—419	—4 9	—
(2) सरकारी व्यवसायो का अतिरेक	550	7 3	435	5 7	79
(क) रेलो का अनुदान	100	—	62	—	—
(ख) अन्य सरकारी व्यवसायों का अनुदान	450	—	373	—	—
(3) अतिरिक्त कर एव सरकारी व्यवसायो की अतिरिक्त आय	1,710	22 8	2,892	33 6	169
(4) जनता से ऋण (शुद्ध)	800	10 7	823	9 6	103
(5) लघु बचत	600	8 0	565	6 6	94
(6) वार्षिकी जमा, अनिवार्य बचत, इनामी बॉण्ड, स्वर्ण बॉण्ड	—	—	117	1 4	—
(7) स्टेट प्राविधिक निधि	265	3 5	336	3 9	127
(8) इस्पात समानीकरण फण्ड	105	1 4	34	0 4	34
(9) विविध पूँजीगत प्राप्तियाँ (शुद्ध)	170	2 3	238	2 3	140
(ब) विदेशी सहायता	2,200	29·4	2,423	28 3	110
(क) PL-480 के अतिरिक्त	—	—	1,339	—	—
(ख) PL-480 के अन्तर्गत	2,200	—	1,084	—	—
(स) हीनार्थ-प्रबन्धन	550	7 3	1,133	13 2	206
(द) अ+ब+स योग	7,500	100	8,577	100	114

तृतीय योजना के अर्थ-साधनो की वास्तविक उपलब्धि के आकडो से ज्ञात होता है कि योजना के समस्त उपलब्ध साधनो का 58% भाग आन्तरिक साधनो से प्राप्त हुआ जबकि मौलिक योजना मे इन साधनो से योजना के मौलिक व्यय 7,500 करोड रुपये का 63% भाग प्राप्त होने का अनुमान लगाया गया था। मौलिक अनुमानो के अनुसार बजट के साधनों से 4,750 करोड रुपये प्राप्त करने का अनुमान था, जबकि इन साधनो की प्राप्ति 5,021 करोड रुपये है। दुर्भाग्यपूर्ण बात यह है कि योजनाकाल मे गैर-योजना व्यय मे अत्यधिक वृद्धि हुई और चालू राजस्व के आधिक्य (जो 550 करोड रुपये अनुमानित था) के विपरीत इस साधन मे 419 करोड रुपये की हीनता रही, जिसका तात्पर्य यह हुआ कि गैर-योजना व्यय मे सम्भावना से 969 करोड रुपये की अधिक वृद्धि हुई।

तृतीय योजना मे हीनार्थ-प्रबन्धन की राशि भी अनुमानित राशि की दुगुनी से भी अधिक रही है। योजना के प्रथम वर्ष मे हीनार्थ-प्रबन्धन की राशि 184 करोड रुपये थी, जो सन् 1965-66 में बढकर 367 करोड रुपये हो गयी। घाटे के अर्थ-प्रबन्धन की राशि अनुमानित राशि से इतना अधिक रहने के प्रमुख कारण विदेशी सहायता का समय पर प्राप्त न होना, पाकिस्तानी आक्रमण के फलस्वरूप सुरक्षा मे वृद्धि होना, योजना का समस्त व्यय आयोजित व्यय से अधिक होना, सन् 1965-66 वर्ष मे मानसून का प्रतिकूल होना आदि थे। हीनार्थ-प्रबन्धन की राशि अनुमान से अधिक होने के कारण योजनाकाल में मूल्य-वृद्धि लगभग 32% हुई जो अनुमानित वृद्धि से कहीं अधिक थी।

योजना की परियोजनाओं की 2,030 करोड रुपये की विदेशी विनिमय की आवश्यकता के अतिरिक्त अर्थ-व्यवस्था के कच्चे माल, प्रतिस्थापन मशीनें तथा अन्य पूरक औजारों की सामान्य आवश्यकता की पूर्ति के लिए 3,650 करोड रुपये की आवश्यकता का अनुमान था।

योजनाकाल की विदेशी विनिमय की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए निर्यात को बढाने का भरसक प्रयत्न करना अत्यन्त आवश्यक था। सन् 1960-61 मे निर्यात की मात्रा 642 करोड रुपये थी जबकि तृतीय योजना में निर्यात का वार्षिक औसत 740 करोड रुपये बनाये रखना आवश्यक था। योजनाकाल में आयात अनुमान से अधिक रहा जिसके फलस्वरूप योजना के पूर्ण काल मे विदेशी विनिमय की कठिनाई महसूस की गयी। चीन एव पाकिस्तान के आक्रमण के फलस्वरूप देश की विदेशी विनिमय की आवश्यकता मे अत्यधिक वृद्धि हुई और विकास-कार्यक्रमो को पर्याप्त विदेशी विनिमय उपलब्ध न हो सका।

तृतीय योजना के पांच वर्षो मे कुल निर्यात 3,761 करोड रुपये का हुआ अर्थात वार्षिक औसत 752 करोड रुपये रहा जो अनुमानित राशि से अधिक था। सन् 1965-66 मे निर्यात 806 करोड रुपये का हुआ जो सन् 1960-61 के निर्यात की तुलना मे 26% अधिक था। दूसरी ओर, तृतीय योजनाकाल मे कुल आयात 6 204 करोड रुपये का हुआ जो अनुमानित आयात की राशि से 9% अधिक था। सन् 1960-61 मे देश का आयात 1,122 करोड रुपये था जो सन् 1965-66 मे बढकर 1,409 करोड रुपये हो गया अर्थात् योजनाकाल मे लगभग 26% की वृद्धि हुई।

तृतीय योजना के कार्यक्रम, लक्ष्य एवं प्रगति

कृषि एवं सामुदायिक विकास

तृतीय योजना मे सम्मिलित कृषि, सिंचाई एव सामुदायिक विकास के कार्यक्रमों के लिए 1,718 करोड रुपये का व्यय निर्धारित किया गया। इन कार्यक्रमो द्वारा कृषि-उत्पादन की वृद्धि की दर को अगले पाँच वर्षो में दुगुना करने का लक्ष्य रखा गया। योजनाकाल में खाद्यान्नों मे 30% और अन्य फसलो मे 31% वृद्धि करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया। इस मद की निर्धारित समस्त राशि मे से 1,281 करोड रुपये कृषि-उत्पादन के कार्यक्रमो पर व्यय होना था। इस राशि के अतिरिक्त यह भी सम्भावना की जाती थी कि कृषि-कार्यक्रमो के लिए सहकारी संस्थाओ मे उपलब्ध होने वाली साख में भी पर्याप्त वृद्धि हो जायेगी।

कृषि-क्षेत्र के उत्पादन-लक्ष्य—तृतीय योजना मे कृषि-क्षेत्र के उत्पादन-लक्ष्य एव प्रगति आगे दी गयी तालिका 19 के अनुसार रहे।

इस तालिका से ज्ञात होता है कि तृतीय योजना मे कृषि-उत्पादन मे लक्ष्य के अनुसार वृद्धि नही हुई। योजना के प्रथम चार वर्षो में कृषि-कार्यक्रमो के समन्वय एव प्रशासनिक कठिनाइयो के निवारण का समुचित प्रबन्ध किया गया परन्तु जलवायु के अनुकूल न रहने के कारण उत्पादन मे पर्याप्त वृद्धि नही हो सकी। सन् 1964-65 मे भारतीय अर्थ-व्यवस्था में सबसे अधिक कृषि-उत्पादन किया गया, परन्तु सन 1965-66 मे मानसून की प्रतिकूलता के कारण कृषि-उत्पादन मे कमी हो गयी। कृषि-उत्पादन के निर्देशाक म योजनाकाल मे सन् 1961-62 में लगभग 2% की वृद्धि हुई, परन्तु 1962-63 एव सन् 1963-64 मे यह निर्देशाक मानसून की प्रतिकूलता के कारण कम हो गया। इन वर्षों के कृषि उत्पादन-निर्देशाको में सन् 1960-61 की तुलना मे क्रमश 2% एव 1%

तालिका 19—तृतीय योजना के उत्पादन-लक्ष्यो की उपलब्धि

मद	1964-65 मे उत्पादन	1965-56 मे उत्पादन	1965-66 का लक्ष्य	1956-66 के लक्ष्य एवं उपलब्धि का प्रतिशत
खाद्यान्न (लाख टन)	889 9	720 3	1,016 0	70 9
गन्ना (गुड लाख टन)	123 2	118 [illegible]	102 0	115 7
कपास (लाख गाँठ)	57 0	48 0	70 7	68 3
जूट (लाख गाँठ)	60 2	45 0	62 0	67 6
खाद्यान्नो का उत्पादन निर्देशाक (100= 1949 50)	150 2	120 9	171	70 7
कृषि उत्पादन का निर्देशाक (100= 1949 50)	158 5	132 7	176	75 4
नाइट्रोजियस खाद (N के हजार टन)	237 0	232 0	812	26 2
सिचाई सुविधाओ का उपयोग (लाख एकड सचयी)	121	135	228	60 0
शक्ति (क्षमता लाख KW)	85 6	102	126 9	80 4
औद्योगिक उत्पादन का निर्देशाक (कलैण्डर वर्ष 1956=100)	180 8	187 7	242	77 5
विक्रय के लिए लौह-पिण्ड (लाख टन)	10 0	12 0	15 0	80 0
इस्पात के ढेले (लाख टन)	61	65 0	93 0	70 0
मशीनो के औजार (करोड रुपये)	25 8	22 6	30 0	75 3
मोटर-गाडियाँ (हजार मे)	79 1	75 6	100 0	72 6
शक्ति से चलने वाले पम्प (हजार मे)	191 0	244	150 0	162 6
सीमेन्ट (लाख टन)	96 9	105 8	132	80 2
विकेन्द्रित क्षेत्र म वस्त्र-उत्पादन (लाख मीटर)	30,690	31,240	31,850	98 1
मिल का बना कपडा (लाख मीटर)	46,750	44 010	53,000	83 0
शक्कर (लाख टन)	32 6	35 1	35 6	98 3
रेलो द्वारा माल की ढुलाई (लाख टन)	1,940	2,030	2,489	81 6
सडक पर व्यापारिक गाडियाँ (हजार मे)	312	332	365	91 0
जहाज (लाख GRT)	14 0	15 4	10 4	67 5
स्कूलो मे अतिरिक्त छात्र तान्त्रिक शिक्षा [लाख (7 से 17 वर्ष के)]	630	677	639 4	106
डिग्री कोर्स मे प्रवेश की क्षमता (हजार सख्या)	23 8	24 7	19 1	129 0
डिप्लोमा कोर्स मे प्रवेश की क्षमता (हजार सख्या)	46 2	48 0	37 4	128 3
अस्पतालो मे शय्याएँ (हजार मे)	229	240	240	100 2
कोयला (लाख टन)	644	677	900	75 2
कच्चा लोहा (लाख टन)	152	245 0	305	80 3

की कमी हुई। सन् 1964-65 वर्ष में कृषि-उत्पादन में आश्चर्यजनक वृद्धि वर्षों के अनुकूल रहने के कारण हुई परन्तु यह वृद्धि सन् 1965-66 में बनी नहीं रह सकी और इस वर्ष में कृषि-उत्पादन-निर्देशांक में सन् 1960-61 की तुलना में लगभग 7% की कमी हुई। इन परिस्थितियों के परिणामस्वरूप तृतीय योजना के कृषि-उत्पादन के लक्ष्यों की पूर्ति सन 1965-66 को आधार मानते हुए केवल 75% तक हो सकी। परन्तु सन् 1965-66 वर्ष को असामान्य वर्ष माना गया और इसी कारण योजना की उपलब्धियों का मूल्यांकन सन् 1964-65 के उत्पादन के आधार पर किया गया।

उद्योग

ग्रामीण एवं लघु उद्योग—तृतीय योजना में ग्रामीण एवं लघु उद्योगों के विकास के लिए 264 करोड़ रुपये का आयोजन किया गया, जबकि द्वितीय योजना में इस मद पर 180 करोड़ रुपये व्यय हुआ। इस राशि में से 141 करोड़ रुपये राज्यों की परियोजनाओं पर और 123 करोड़ रुपये केन्द्र सरकार द्वारा संचालित परियोजनाओं एवं कार्यक्रमों पर व्यय किया जाना था।

इन राशियों के अतिरिक्त इन उद्योगों के विकास हेतु सामाजिक विकास-कार्यक्रम में 20 करोड़ रुपये का आयोजन किया गया। पुनर्वास (Rehabilitation), समाज-कल्याण एवं पिछड़ी जातियों के कल्याण के कार्यक्रमों में भी इन उद्योगों के विकास के लिए आयोजन किया गया। निजी क्षेत्र में इन उद्योगों पर 275 करोड़ रुपये विनियोजित होने का अनुमान था। इस प्रकार लगभग 600 करोड़ रुपये इन उद्योगों के विकास के लिए आयोजित किया गया था।

तृतीय योजना में ग्रामीण एवं लघु उद्योगों के विकास-कार्यक्रमों के द्वारा 80 लाख व्यक्तियों को आंशिक अथवा अधिक समय तक रोजगार प्राप्त होना था और 90 लाख व्यक्तियों को पूरे समय के लिए रोजगार मिलना था।

तृतीय योजनाकाल में ग्रामीण एवं लघु उद्योगों के विकास पर 241 करोड़ रुपये वास्तविक व्यय हुआ जो आयोजित व्यय की तुलना में 16% कम रहा परन्तु ग्रामीण उद्योगों के उत्पादन में वृद्धि हुई।

वृहद् उद्योग—तृतीय योजना में औद्योगिक कार्यक्रमों पर विनियोजित होने वाली समस्त राशि 2,963 करोड़ रुपये थी (इस राशि में पोत उद्योगों को दी जाने वाली सहायता, हिन्दुस्तान शिपयार्ड को दिया जाने वाला निर्माण-अनुदान आदि सम्मिलित नहीं थे) जिसमें से 1,808 करोड़ रुपये सरकारी क्षेत्र में तथा 1,185 करोड़ रुपये निजी क्षेत्र में विनियोजन किया जाना था। सरकारी क्षेत्र के कार्यक्रमों के लिए 860 करोड़ रुपये तथा निजी क्षेत्र के कार्यक्रमों के लिए 478 करोड़ रुपये की विदेशी मुद्रा की आवश्यकता का अनुमान था।

तृतीय योजनाकाल में औद्योगिक उत्पादन में स्थिरता के साथ वृद्धि हुई परन्तु योजना के अन्तिम वर्ष सन् 1965-66 में आयात प्रतिबन्ध के फलस्वरूप कच्चा माल आदि पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध न होने के कारण उत्पादन वृद्धि की दर कम हो गयी। तृतीय योजनाकाल में औद्योगिक उत्पादन में 50.6% की वृद्धि हुई। सन 1960 में औद्योगिक उत्पादन में निर्देशांक 100 था जो सन् 1965 में बढ़कर 150.6% हो गया।

राष्ट्रीय एवं प्रति व्यक्ति आय[1]

अग्रांकित तालिका 20 के अध्ययन से ज्ञात होगा कि तृतीय योजनाकाल में राष्ट्रीय एवं प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि की गति में वर्ष प्रति वर्ष परिवर्तन होते रहे है। सन् 1964 65 में योजनाकाल की सबसे अधिक राष्ट्रीय आय एवं प्रति व्यक्ति आय (सन् 1960-61 के मूल्यों पर) रहने के पश्चात योजना के अन्तिम वर्ष में यह वृद्धि जारी नहीं रखी जा सकी। सन् 1964-65 में आकस्मिक अनुकूल परिस्थितियों के कारण अधिक उत्पादन हुआ और सन् 1965-66 को आकस्मिक प्रतिकूल परिस्थितियों (पाकिस्तानी आक्रमण एवं प्रतिकूल मानसून) के कारण राष्ट्रीय उत्पादन में गिरावट हुई।

1 *Economic Survey*, 1972 73

तालिका 20—तृतीय योजना में राष्ट्रीय एवं प्रति व्यक्ति आय

	राष्ट्रीय आय			प्रति व्यक्ति आय		
वर्ष	वर्तमान मूल्यों के आधार पर (करोड़ रु०)	1960-61 मे मूल्यों के आधार पर (करोड़ रु०)	निर्देशांक 1960-61=100 (1960-61 के मूल्यों पर)	वर्तमान मूल्यों के आधार पर (रु०)	1960 61 मे मूल्यों के आधार पर (रु०)	निर्देशांक 1960-61 =100 (1960-61 के मूल्यों पर)
1960-61	13,284	13,284	100 0	306 1	306 1	100 0
1961-62	14,030	13,740	103 4	316 0	309 5	100 1
1962-63	14,854	14 008	105 5	327 2	308 5	100 8
1963-64	17,036	14,771	111 2	367 2	378 3	104 0
1964-95	20,040	15 896	119 7	422 8	335 4	109 6
1965-66	20,621	15,025	131 1	425 0	309 8	101 2

तृतीय योजनाकाल मे राष्ट्रीय एव प्रति व्यक्ति आय मे क्रमश 13 1% एव 1 2% की वृद्धि हुई यदि 1965-66 की आय को आधार माना जाय। सन् 1964-65 वर्ष (जिसे अनुकूल वर्ष माना गया) को यदि आधार मान लिया जाय तो भी योजनाकाल मे राष्ट्रीय एव प्रति व्यक्ति आय (सन् 1960-61) के मूल्यों मे क्रमश 19 7% और 9 6% की वृद्धि हुई।

तृतीय योजना के रोजगार-कार्यक्रम एव नीति तथा मूल्य-नियमन नीति का अध्ययन सम्बन्धित अध्यायों मे अलग-अलग किया गया है।

तृतीय योजना की असफलताएँ

(1) **विकास की गति**—यद्यपि योजना का सरकारी क्षेत्र का व्यय आयोजित व्यय से 14% अधिक रहा परन्तु अधिकतर क्षेत्रो मे लक्ष्यों की पूर्ति नही हो सकी। योजनाकाल म निजी क्षेत्र के विकास के व्यय का ठीक-ठीक अनुमान अभी तक उपलब्ध नही है। योजनाकाल मे राष्ट्रीय एव प्रति व्यक्ति आय मे अनुमान से बहुत कम वृद्धि हो सकी है। योजना मे कुल विनियोजन 11,370 करोड़ रुपये होने का अनुमान है। यदि सन् 1964-65 वर्ष को भी आधार मान ले क्योकि इस वर्ष मे असामान्य परिस्थितियाँ नही थी तो योजनाकाल मे अतिरिक्त राष्ट्रीय उत्पादन 7,327 करोड़ रुपये (सन् 1961-62 मे 756 करोड़ रुपये, सन् 1962-63 मे 833 करोड़ रुपये सन् 1963-64 मे 2,221 करोड़ रुपये, सन् 1964-65 मे 2,967 करोड़ रुपये तथा सन् 1965-66 मे 560 करोड़ रुपये वर्तमान मूल्यो के आधार पर) उत्पादित हुई। इस प्रकार योजनाकाल मे पूँजी-उत्पाद अनुपात 1 63 रहा, जबकि प्रथम एव द्वितीय योजनाओं मे यह अनुपात 1 1 3 तथा 1 1 6 था। इन आँकड़ो से यह ज्ञात होता है कि विकास-विनियोजन की उत्पादकता मे तृतीय योजना में कोई वृद्धि नही हुई।

(2) **कृषि उत्पादन मे अनुमानानुसार वृद्धि न होना**—योजनाकाल मे कृषि-उत्पादन मे सन् 1964-65 मे सन् 1960-61 की तुलना मे 11 5% अधिक वृद्धि थी परन्तु सन् 1965-66 का कृषि-उत्पादन सन् 1960-61 के उत्पादन से 7% कम था। योजना मे कृषि-उत्पादन मे 24% की वृद्धि का लक्ष्य था जिसकी पूर्ति सम्भव नहीं हो सकी। खाद्यान्नों के उत्पादन की स्थिति भी इसी प्रकार रही और सन् 1965 का खाद्यान्नो का उत्पादन सन् 1960-61 की तुलना मे 14% कम रहा। सन् 1960-61 मे कृषि-क्षेत्र द्वारा 6,570 करोड़ रुपये की आय उपार्जित की गयी थी जो राष्ट्रीय उत्पादन का 49 4% था। सन् 1964-65 एव सन् 1965-66 मे कृषि-क्षेत्र की आय क्रमश 7,224 करोड़ रुपये एव 6,094 करोड़ रुपये थी जो राष्ट्रीय आय की क्रमश 45 4%

तथा 40 7% थी। इस प्रकार कृषि क्षेत्र का राष्ट्रीय आय में अंश कम होता जा रहा है जिससे यह परिणाम निकाल सकते है कि कृषि-क्षेत्र का विकास अन्य क्षेत्रो के समान नही हो पाया।

(3) **औद्योगिक उत्पादन मे लक्ष्य के अनुसार वृद्धि नहीं होना**—तृतीय योजनाकाल म औद्योगिक उत्पादन म 70% की वृद्धि करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है जबकि औद्योगिक उत्पादन के निर्देशाक म लगभग 50% की ही वृद्धि हुई। औद्योगिक उत्पादन मे अनुमानानुसार वृद्धि न होने के कारण राष्ट्रीय आय की वृद्धि के लक्ष्यो की पूर्ति नही की जा सकी।

(4) **वित्तीय साधनो का अनुमानानुसार प्राप्त न होना**—योजनाकाल मे विकास से सम्बन्ध न रखने वाले सरकारी चालू व्ययो म अत्यधिक वृद्धि होने के कारण योजना के लिए चालू आय म कुछ आधिक्य मिलने के स्थान पर चालू व्यय चालू आय से अधिक रहा और योजना को प्राप्त अन्य साधनो का कुछ भाग विकास से सम्बन्ध न रखने वाले व्यय की पूर्ति के लिए उपयोग किया गया। इसके साथ योजना के अन्त तक हीनार्थ प्रबन्धन की राशि 1 133 करोड रुपये हुई जबकि योजना के अन्त तक का लक्ष्य केवल 550 करोड रुपये निर्धारित किया गया था।

(5) **मूल्यो मे वृद्धि**—यद्यपि तृतीय योजना मे मूल्यो की वृद्धि को नियन्त्रित रखने के लिए मूल्य नीति निर्धारित की गयी और इस सम्बन्ध मे विशेष कार्यवाहियां की गयी थी परन्तु योजना के सामान्य थोक मूल्यो मे 32 2% की और खाद्यान्नो के मूल्यो म 46 7% की वृद्धि हुई। उपभोक्ता-श्रमिक मूल्य निर्देशाक मे इस काल म लगभग 36 3% की वृद्धि हुई है। दिसम्बर 1962 के बाद से मूल्यो मे अधिक वृद्धि हुई और केन्द्रीय एव राज्य सरकारो को मूल्यो म वृद्धि के कारण कर्मचारियो के महँगाई भत्ते मे वृद्धि करने के लिए विवश होना पडा। इस प्रकार योजनाकाल मे मूल्यो की वृद्धि पर प्रभावशाली नियन्त्रण रखना सम्भव नही हो सका।

तालिका 21—प्रति व्यक्ति औसत उपभोग व्यय

(राष्ट्रीय सैम्पिल सर्वे के 18वें चक्र के अनुसार जुलाई 1964 से जून 1965 तक)

मद	प्रति व्यक्ति उपभोग व्यय 30 दिन मे (रुपये में)		
	ग्रामीण क्षेत्र	नागरिक क्षेत्र	बडे नगरो (बम्बई कलकत्ता दिल्ली एव मद्रास) मे
1 खाद्य पदार्थ	19 29	22 68	32 35
2 वस्त्र	1 91	2 08	2 83
3 ईंधन एव प्रकाश	1 60	2 12	2 74
4 अन्य गैर खाद्य-पदार्थ मद	3 64	9 15	20 42
कुल उपभोग व्यय	26 44	36 03	58 34

(6) **निधनता की व्यापकता**—राष्ट्रीय सैम्पिल सर्वे जुलाई 1964 और जून 1965 के अनुसार ग्रामीण एव नागरिक क्षेत्रो म प्रति व्यक्ति उपभोग व्यय उपर्युक्त तालिका 21 के अनुसार था।

इस तालिका से ज्ञात होता है कि ग्रामीण क्षेत्रो मे रहने वाली जनसख्या जो देश की जनसख्या की 70% है केवल 88 पैसे प्रतिदिन प्रति व्यक्ति उपभोग करती है। नागरिक क्षेत्र म भी प्रतिदिन प्रति व्यक्ति उपभोग एक रुपये बीस पैसे से कुछ अधिक है। यद्यपि प्रति व्यक्ति उपभोग व्यय म तृतीय योजना मे मौद्रिक मान के आधार पर कुछ सुधार हुआ है परन्तु अब भी उपभोग व्यय उचित निर्वाह के लिए पर्याप्त नही है। राष्ट्रीय सैम्पिल सर्वे के 17वें चक्र के अनुसार ग्रामीण

क्षेत्र मे प्रति व्यक्ति प्रतिदिन उपभोग-व्यय 50 पैसे था जो अब बढकर 88 पैसे हो गया है परन्तु इस काल मे (सन् 1961-62 से सन् 1964-65 के मध्य) थोक मूल्यो मे लगभग 30% की वृद्धि हुई है। इस प्रकार वास्तविक उपभोग-व्यय केवल 68 पैसे प्रतिदिन ही आता है। इन तथ्यो से स्पष्ट है कि निर्धनता की व्यापकता मे तृतीय योजना मे भी कोई विशेष परिवर्तन नही हुआ।

(7) **रोजगार के अवसरो मे वृद्धि**—तृतीय योजना मे 170 लाख लोगो की श्रमिक-शक्ति मे वृद्धि हुई जबकि द्वितीय योजना से 71 लाख बेरोजगार व्यक्ति तृतीय योजना को आये थे। तृतीय योजना मे 145 लाख अतिरिक्त रोजगार के अवसर उत्पन्न होने का अनुमान है। इस प्रकार तृतीय योजना के इतने बडे विकास-विनियोजन-कार्यक्रम के होते हुए बेरोजगारी की समस्या और भी गम्भीर हो गयी।

19

तीन वार्षिक योजनाएँ

[THREE ANNUAL PLANS, 1966-69]

चतुर्थ योजना के निर्माण के प्रारम्भ से ही कुछ अर्थशास्त्रियों एवं राजनीतिज्ञों ने योजना के स्थगन का सुझाव प्रस्तुत किया। इनका विचार था कि दो-तीन वर्ष का योजना-अवकाश कर दिया जाय जिससे तीन योजनाओं में जो विकास एवं विस्तार हुआ है, उसको सुदृढ़ एवं स्थायी बनाया जा सके तथा चतुर्थ योजना को अनिश्चित एवं अस्थिर पृष्ठभूमि से बचाया जा सके। केन्द्रीय सरकार एवं योजना-आयोग द्वारा योजना-अवकाश के सुझाव पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया और विस्तृत चतुर्थ योजना के निर्माण को कुछ स्थगित कर सन् 1966-67 वर्ष की योजना का प्रकाशन एवं संचालन किया गया। विस्तृत चतुर्थ योजना के निर्माण के लिए साधनों की गम्भीर कठिनाई महसूस की गयी और 6 जून 1966 को रुपये का अवमूल्यन कर दिया गया जिससे चतुर्थ योजना को अधिक निर्यात एवं विदेशी सहायता द्वारा विदेशी विनिमय पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो सके। सन 1966-67 वर्ष की योजना को चतुर्थ योजना के प्रथम वर्ष के कार्यक्रम के रूप में संचालित किया गया।

चतुर्थ योजना के विस्तृत कार्यक्रम एवं लक्ष्य प्रस्तावित प्रारूप के रूप में प्रकाशित किये गये परन्तु इन प्रस्तावित कार्यक्रमों को अन्तिम रूप नहीं दिया जा सका क्योंकि अर्थ-व्यवस्था में अनिश्चित स्थिति एवं अस्थिर कठिनाइयाँ बराबर बनी रहीं। इन अनिश्चित परिस्थितियों के अन्तर्गत सन 1967-68 वर्ष की योजना को अन्तिम रूप दिया गया और इसका निर्माण एवं संचालन भी प्रस्तावित चतुर्थ योजना के सन्दर्भ में ही किया गया।

देश के आम चुनाव समाप्त होने के पश्चात देश की राजनीतिक परिस्थितियाँ बदल गयीं और अधिकतर प्रदेशों में राजनीतिक अस्थिरता का वातावरण उत्पन्न हो गया। इसी बीच योजना आयोग का पुनर्गठन किया गया तथा नवीन सदस्य नियुक्त किये गये। प्रो डी आर गाडगिल योजना-आयोग के उस समय नये उपाध्यक्ष नियुक्त किये गये। पुनर्गठित योजना-आयोग ने विद्यमान आर्थिक परिस्थितियों का अध्ययन कर यह सुझाव दिया कि चतुर्थ योजना का प्रारम्भ 1 अप्रैल, 1969 से किया जाय और सन 1966 67 सन् 1967-68 तथा सन् 1968-69 की योजनाएँ केवल वार्षिक योजनाएँ ही समझी जायें जो तृतीय योजना और चतुर्थ योजना की कड़ी को जोड़ेंगी।

10 नवम्बर, 1967 को प्रो डी आर गाडगिल ने चतुर्थ योजना के स्थगन की घोषणा करते हुए कहा कि 'पंचवर्षीय योजना की निर्माण सम्बन्धी कठिनाइयों में से एक कठिनाई हमारी आर्थिक स्थिति की कुछ अनिश्चितता है। इस अनिश्चित आर्थिक स्थिति का प्रभाव सन 1968 वर्ष में भी कुछ समय तक जारी रह सकता है। सन् 1968 वर्ष में हमें ज्ञात हो सकेगा कि हम किस सीमा तक आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ (Stabilise) करते हैं तथा अर्थ व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में हम किस सीमा तक विकास कर सके हैं। हमने विचार किया कि सन् 1968-69 में हमें चतुर्थ योजना के लिए सुदृढ़ आधार मिल सकेगा जिससे हम भविष्य के पाँच वर्षों के लिए अर्थ-व्यवस्था की प्रगति एवं वास्तविक विकास सम्बन्धी प्रयासों का ठीक पूर्व-अनुमान लगा सकेंगे।'

व्यय

सन् 1966-69 की तीन वार्षिक योजनाओं का सरकारी क्षेत्र का व्यय—आयोजित एव वास्तविक—निम्न प्रकार था .

तालिका 22—सन् 1966-69 की वार्षिक योजनाओं का व्यय

(करोड रुपयो मे)

	मद	आयोजित व्यय	वास्तविक व्यय	वास्तविक व्यय का आयोजित व्यय से प्रतिशत
1	कृषि एव सहायक कार्यक्रम	1,037	1,167	112
2	सिंचाई (बाढ-नियन्त्रण सहित)	426	457	107
3	शक्ति	1,064	1,182	110
4	उद्योग एव खनिज	1,538	1,575	102
5	लघु एव ग्रामीण उद्योग	132	144	104
6	यातायात एव सचार	1,273	1,239	97
7	समाज-सेवाएँ	967	870	90
8	विविध	228	122	54
	योग	6,665	6,756	99 7

सन् 1966-67 एव सन् 1967-68 की वार्षिक योजनाओ का सचालन प्रस्तावित चौथी योजना के उद्देश्यो, नियोजित अर्थ व्यवस्था के दीर्घकालीन लक्ष्यो एव समस्याओ के आधार पर किया गया था। 6,756 करोड रुपये के व्यय मे 3 052 करोड रुपये राज्य-सरकारो की योजनाओ पर व्यय किया गया। सन 1966-69 की तीन वार्षिक योजनाओ के व्यय वितरण के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इस काल मे भी औद्योगिक विकास को अधिक महत्व दिया गया और कुल व्यय का लगभग एक-चौथाई भाग औद्योगिक विकास के लिए आयोजित किया गया। सन् 1968-69 की योजना मे 140 करोड रुपये का आयोजन कृषि-पदार्थो का अधिसग्रह (Buffer Stock) करने हेतु किया गया। इन तीन वार्षिक योजनाओ के अन्तर्गत कृषि-विकास पर विशेष ध्यान दिया गया और यह अनुमान लगाया गया कि कृषि-क्षेत्र को योजना के अन्तर्गत आयोजित विकास-व्यय के अतिरिक्त सहकारी सस्थाओ तथा भूमि-बन्धक बैंकों से भी साधन उपलब्ध हो सकेंगे।

अर्थ-साधन

सन् 1966-69 काल की तीन वार्षिक योजनाओ मे अर्थ साधनो की प्राप्ति निम्नांकित तालिकानुसार हुई

तालिका 23—सन् 1966-69 की वार्षिक योजनाओ के अर्थ-साधन

(करोड रुपयो मे)

	मद	आयोजित अनुमान	वास्तविक अनुमान
1	सन् 1965-66 की कर की दरो पर चालू आय का अतिरेक	866	303
2	सन् 1965-66 के किराया, शुल्क की दरो पर सार्वजनिक क्षेत्र के व्यवसायो का अतिरेक	587	409
3	अतिरिक्त कर एव सार्वजनिक व्यवसायो के अतिरेक मे वृद्धि	1,060	910
4	जनता से ऋण	571	719
5	लघु बचत	391	355
6	अन्य पूंजी-प्राप्तियाँ—प्रावधिक निधि आदि	420	952
7	विदेशी सहायता	2,435	2,426
8	हीनार्थ-प्रबन्धन	335	682
	योग	6,665	6,756

इस अर्थ-साधन सम्बन्धी तालिका से ज्ञात होता है कि सन् 1966-69 की वार्षिक योजनाओ के लिए 53% साधन बजट के साधनो से उपलब्ध हुए परन्तु बजट के साधनो मे उपलब्ध होने वाली राशि आयोजित राशि से कम रही। इस कमी का विशेष कारण चालू आय के अतिरेक की कमी थी। विदेशी सहायता से लगभग अनुमान के अनुसार ही साधन प्राप्त हुए परन्तु हीनार्थ-प्रबन्धन की राशि आयोजित राशि के दुगुने से भी अधिक रही। बजट के साधनों की कम उपलब्धि के कारण हीनार्थ-प्रबन्धन की राशि बढाना आवश्यक हो गया। 6,656 करोड रुपये के सरकारी क्षेत्र के व्यय मे से 5,817 करोड रुपये विनियोजन किया गया। सन् 1966-69 काल मे निजी क्षेत्र मे 3,640 करोड रुपये का विनियोजन हुआ। इस प्रकार इन तीन वार्षिक योजनाओ के अन्तर्गत अर्थ-व्यवस्था मे 9,457 करोड रुपये का विनियोजन किया गया जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि अर्थ-व्यवस्था मे विकास-विनियोजन-गति बनाये रखी गयी।

लक्ष्य एवं उपलब्धियाँ

स्थगित चतुर्थ योजना के प्रारूप मे कृषि-उत्पादन की वृद्धि को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया गया था और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए 'नवीन कौशलता' (New Strategy) की सरचना की गयी। इस कौशलता के अन्तर्गत निम्नलिखित चार प्रकार के कार्यक्रम समन्वित किये गये

(1) जिन क्षेत्रो मे सिंचाई-सुविधाएँ उपलब्ध है, उनमे सघन (Intensive) खेती एव अधिक उपज देने वाले सुधरे हुए बीज तथा रासायनिक खाद का उपयोग किया जायेगा। सघन कृषि जिला कार्यक्रम एव सघन कृषि-क्षेत्र कार्यक्रम के अन्तर्गत चुने हुए क्षेत्र मे कृषि सम्बन्धी समस्त सुविधाओ को केन्द्रित कर कृषि-उत्पादन मे वृद्धि की जाय।

(2) कृषि मे उपयोग आने वाले उत्पादन-घटको (Inputs)—बीज खाद, विद्युत-शक्ति, सिंचाई, कीटाणुनाशक रसायन, साख एव तान्त्रिक ज्ञान की पूर्ति—मे वृद्धि की जाय जिससे कृपक को यह घटक पर्याप्त मात्रा मे उचित समय पर प्राप्त हो सके।

(3) भूमि-सुधार एव अधिक व्यावहारिक एव उपयोगी कृषि-नीति द्वारा कृपक को अधिक उत्पादन करने हेतु प्रोत्साहित किया जाय।

(4) अल्प-काल मे उपजने वाली फसलो को उगाया जाय जिससे उपलब्ध भूमि से अधिक उपज प्राप्त की जा सके।

इस नवीन नीति का सचालन सन् 1966 वर्ष से प्रारम्भ कर दिया गया और इसका लाभ सन् 1967-68 से प्राप्त होना आरम्भ हो गया। नवीन नीति के परिणामस्वरूप सन् 1966-69 के काल मे कृषि-उत्पादन मे पर्याप्त वृद्धि हुई।

तालिका 24—कृषि-क्षेत्र के लक्ष्य एव उपलब्धियाँ

मद	इकाई	लक्ष्य (1968-69)	वास्तविक उत्पादन (1968-69)	वास्तविक उत्पादन का लक्ष्य से प्रतिशत
खाद्यान्न	लाख टन	1,020	940	92
गन्ना (गुड)	लाख टन	125	120	96
तिलहन	लाख टन	100	88	88
कपास	लाख गाँठ (प्रति गाँठ 180 किलो)	67	53	80
जूट	,, ,,	69	31	45
रासायनिक खाद का उपयोग				
नाइट्रोजियस (N)	हजार टन	1,700	1,210	67
फास्फेटिक (P_2O_5)	हजार टन	650	380	60
पोटैसिक (K_2O)	हजार टन	450	170	35
सिंचित भूमि (सकल)	लाख एकड	193	187	97
शक्ति के पम्पिग सैट	हजार	954	1,088	114

यद्यपि कृषि-उत्पादन के लक्ष्यों की पूर्ति नहीं हो सकी परन्तु कृषि-उत्पादन में इन तीन वर्षों में पर्याप्त वृद्धि हुई। कृषि-उत्पादन का निर्देशांक जो सन् 1965-66 में 92 9 था (सन् 1960-61=100), सन् 1966-67 में 92 5, सन् 1967-68 में 113 2 तथा सन् 1968-69 में 111 6 हो गया। सन् 1967-68 वर्ष में कृषि-उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि होने के पश्चात सन् 1968-69 में मानसून की प्रतिकूलता के कारण कृषि-उत्पादन में कमी हो गयी।

औद्योगिक विकास के कार्यक्रमों के अन्तर्गत कृषि-क्षेत्र में उपयोग में आने वाले औद्योगिक उत्पादों के उत्पादन में वृद्धि करने को विशेष महत्व दिया गया। धातु एवं मशीन-निर्माण उद्योग, औद्योगिक रसायन, खनिज तेल, कोयला, लोहा एवं इस्पात का ढालना, सीमेण्ट आदि पूंजीगत उद्योगों की उत्पादन-क्षमता बढ़ाने एवं उपलब्ध उत्पादन-क्षमता का पूर्णतम उपयोग करने हेतु औद्योगिक कार्यक्रम सम्मिलित किये गये। शक्कर, कपड़ा एवं मिट्टी के तेल के उत्पादन में वृद्धि करने का भी आयोजन किया गया।

तालिका 25—औद्योगिक उत्पादन के लक्ष्य एवं उपलब्धियाँ

मद	इकाई	1968-69 का लक्ष्य	1968-69 का वास्तविक उत्पादन
निर्मित विद्युत क्षमता	लाख किलोवाट	152 2	142 9
इस्पात के ढेले	लाख टन	75	65
एल्यूमीनियम	हजार टन	110	125 2
मशीनों के औजार	करोड़ रुपया	25	20
शक्कर	लाख टन	29	23
सीमेण्ट	लाख टन	125	119
कपड़ा (मिल का बना)	लाख मीटर	43,000	45,970
नाइट्रोजियस खाद (N)	हजार टन	600	541
फास्फेटिक खाद (P_2O_5)	,,	300	210

औद्योगिक उत्पादन की तालिका से ज्ञात होता है कि औद्योगिक उत्पादनों के लक्ष्यों की पूर्णतम पूर्ति नहीं हो सकी। औद्योगिक उत्पादन का निर्देशांक सन् 1695-66 में 139 7 (सन् 1960-61=100) था जो सन् 1966-67 में 138 6, सन् 1967-68 में 147 4 और सन 1968-69 में 157 9 हो गया। इस प्रकार सन् 1966-69 काल में औद्योगिक उत्पादन में 13% की वृद्धि हुई। सन् 1966-67 वर्ष तक औद्योगिक क्षेत्र माँग की कमी से पीड़ित रहा परन्तु सन् 1967-68 वर्ष से औद्योगिक क्षेत्र में पुनःप्राप्ति (Recovery) का शुभारम्भ हो गया और औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि जारी हो गयी।

यातायात एवं संचार के क्षेत्र में सन 1966-69 के काल में रेलों द्वारा ढोये जाने वाले सामान को 2,040 लाख टन तक बढ़ाने का लक्ष्य रखा गया। इस लक्ष्य की पूर्ति नहीं की जा सकी। सन् 1966-69 काल में पक्की सड़कों की लम्बाई में 38,000 किलोमीटर की वृद्धि हुई। ढोने वाले समुद्री जहाजों के G R T में इस काल में 600 G R T की वृद्धि हुई। स्कूलों में छात्रों की संख्या में 80 लाख की वृद्धि और अस्पतालों में उपलब्ध शैय्याओं में 15,600 की वृद्धि हुई। इन तीन वार्षिक योजनाओं के अन्तर्गत परिवार नियोजन कार्यक्रम का विस्तार किया गया और ग्रामीण परिवार नियोजन केन्द्रों में 650 की वृद्धि हुई।

वास्तव में इन तीनों वार्षिक योजनाओं का लक्ष्य विकास को सुदृढ़ करना था जिससे अर्थ-व्यवस्था आगे के विकास के लिए तैयार हो सके। कृषि-क्षेत्र में पर्याप्त विकास होने के कारण अर्थ-व्यवस्था को सुदृढ़ आधार प्राप्त हुआ जिस पर चौथी योजना का सफल संचालन सम्भव हो सकता

था। औद्योगिक क्षेत्र भी पुन प्राप्ति की ओर अग्रसर हो गया जिसके परिणामस्वरूप विदेशी व्यापार म सुधार करना सम्भव हो सकता था। सन् 1965-66 मे आयात के परिमाण का निर्देशाक 154 (सन 1958=100) था, जो सन् 1968-69 मे घटकर 151 रह गया। दूसरी ओर, निर्यात के परिमाण का निर्देशाक सन् 1965 66 मे 124 से बढकर सन् 1968-69 मे 142 हो गया। इस प्रकार अर्थ-व्यवस्था ऐसे आधार पर पहुंच गयी, जहाँ विदेशी सहायता की कम उपलब्धि पर विकास को जारी रखा जा सकता था।

राष्ट्रीय एवं प्रति व्यक्ति आय

सन् 1966-69 वर्षो मे राष्ट्रीय आय 15,021 करोड रुपये (सन् 1965 66 मे सन् 1960-61 के मूल्यो पर) स बढकर सन् 1968-69 मे 17,057 करोड रुपये हो गयी अर्थात् तीन वर्षो की अवधि मे राष्ट्रीय आय मे केवल 13 6° की वृद्धि हुई जो स्थगित प्रस्तावित योजना की प्रगति-दर म कम है। दूसरी ओर इन तीनो वर्षो मे प्रति व्यक्ति आय 309 8 (सन् 1965-66) से बढकर सन् 1968-69 मे 324 6 हो गयी अर्थात् इस काल मे प्रति व्यक्ति आय मे 4 8% की वृद्धि हुई। सन् 1965-66 वर्ष मे राष्ट्रीय बचत राष्ट्रीय आय की 10 9% थी, जो घटकर सन् 1966 67 म 9 0°, एव सन् 1967-68 मे 7 9% रह गयी। चालू मूल्यो के आधार पर सन् 1966-67 मे शुद्ध आन्तरिक पूंजी-निर्माण राष्ट्रीय आय का 12·3% था जो सन् 1967-68 मे घटकर 10 7° रह गया।

20

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना

[FOURTH FIVE YEAR PLAN]

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (1969-74) के प्रस्तावित प्रारूप को राष्ट्रीय विकास परिषद् की 19-20 अप्रैल, 1969 की बैठकों में अन्तिम रूप दिया गया और 21 अप्रैल, 1969 को यह प्रारूप लोकसभा में प्रस्तुत किया गया। राष्ट्रीय विकास परिषद् की 21 मार्च, 1970 की सभा में चतुर्थ योजना के प्रारूप पर अन्तिम रूप से विचार किया गया और इस सभा द्वारा अनुमोदित परिवर्तनों एवं संशोधनों के आधार पर योजना-आयोग ने योजना का अन्तिम स्वरूप तैयार किया जिसको प्रधानमन्त्री द्वारा 18 मई, 1970 को लोकसभा में प्रस्तुत किया गया। मार्च, 1971 के लोकसभा के मध्यावधि चुनाव के पश्चात् राजनीतिक वातावरण में अभूतपूर्व परिवर्तन हो गये। योजना-आयोग का पुनर्गठन कर दिया गया और योजना के कार्यक्रमों में समाजवादी लक्ष्यों की पूर्ति के लिए कुछ हेरफेर भी की गयी।

उद्देश्य

चतुर्थ योजना के प्रारूप को प्रकाशित करने से पूर्व योजना-आयोग ने इस योजना की नीतियों एवं कार्यक्रमों का दिशानिर्देश-पत्र मई, 1968 में प्रकाशित किया था। इस दिशानिर्देश-पत्र में यह अंकित किया गया था कि चतुर्थ योजना की नीतियों एवं कार्यक्रमों को तीन मुख्य उद्देश्यों के आधार पर निर्धारित किया जायेगा और ये उद्देश्य थे—(1) सुदृढ़ता के साथ आर्थिक प्रगति (2) आत्मनिर्भरता की ओर यथासम्भव तीव्र गति से अग्रसर होना तथा (3) क्षेत्रीय सन्तुलन।

(1) सुदृढ़ता के साथ आर्थिक प्रगति (Growth With Stability)—सुदृढ़ता के साथ आर्थिक प्रगति का तात्पर्य यह है कि प्रगति की सार्थक (Feasible) दर प्राप्त करने के लिए ऐसे कार्यक्रम संचालित किये जायें जिनमें अर्थ-व्यवस्था में मुद्रा प्रसार और अधिक न हो और मूल्य-स्तर में असामान्य वृद्धि न हो। योजना-आयोग के अनुमानानुसार कृषि की सन् 1967-68 की प्रगति को देखते हुए कृषि-क्षेत्र के उत्पादन में 5% वार्षिक वृद्धि होना सार्थक समझा गया। दूसरी ओर औद्योगिक क्षेत्र में 8% से 10% वार्षिक प्रगति होने का अनुमान लगाया गया। इन अनुमानों के आधार पर यह सम्भावना की गयी कि चतुर्थ योजनाकाल में अर्थ-व्यवस्था में 5% से 6% वार्षिक (चक्र-वृद्धि) आर्थिक प्रगति करना सम्भव होगा।

अर्थ-व्यवस्था में अस्थिरता कृषि-उत्पादों के मूल्यों में अत्यधिक उच्चावचन होने के कारण उत्पन्न होती है क्योंकि कृषि-उत्पादों का मूल्य-स्तर अन्य क्षेत्रों के उत्पादों एवं सेवाओं के मूल्य-स्तर को नियन्त्रित करता है। इस अस्थिर परिस्थिति के निवारण के लिए अधिसंग्रह (Buffer Stock) की स्थापना लगभग सभी महत्वपूर्ण कृषि-उत्पादों के लिए आवश्यक समझी गयी। इस संग्रह का उपयोग कृषि-उत्पादों के मूल्यों को स्थिर रखने में सहायक होता परन्तु यह संग्रह कृषि उत्पादन में तीव्र गति से वृद्धि करके ही निर्मित किये जा सकते थे। अधिसंग्रह के निर्माण के लिए विकास-विनियोजन के अतिरिक्त अर्थ-साधनों की आवश्यकता थी और ये साधन केन्द्र एवं राज्य सरकारों को एकत्रित करने थे।

उपर्युक्त प्रगति के लक्ष्य तथा विदेशी सहायता को कम करने के उद्देश्य की पूर्ति के लिए चतुर्थ योजना में आन्तरिक बचत को राष्ट्रीय आय के 8% से बढ़ाकर 12% करना आवश्यक

समझा गया। इन अतिरिक्त साधनों की प्राप्ति सार्वजनिक क्षेत्र के व्यवसायों के अधिक कुशल कार्य-सचालन तथा मूल्य समायोजन से प्राप्त होने वाले लाभ, लघु बचत को प्रभावशाली बनाकर, विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में तथा अतिरिक्त करारोपण द्वारा की जानी थी।

(2) **आत्म-निर्भरता की ओर यथासम्भव तीव्र गति से अग्रसर होना** (Move towards Self-Reliance as Speedily as Possible)—आत्म-निर्भरता प्राप्त करने हेतु वर्तमान शुद्ध विदेशी सहायता (अर्थात् ऋणों पर शोध्य ब्याज तथा पुराने ऋणों के भुगतान की राशि को घटाने के बाद) चतुर्थ योजना के अन्तिम वर्ष तक वर्तमान स्तर का आधा करने का प्रयत्न करना आवश्यक समझा गया। इस लक्ष्य की पूर्ति हेतु आयात को कम करने तथा निर्यात को बढ़ाने के लिए अथक प्रयत्न करना आवश्यक समझा गया।

चतुर्थ योजना के प्रतिकूल वर्षों में अधिसंग्रह (Buffer Stock) की सहायता से परम्परागत निर्यातों को सामान्य स्तर पर बनाये रखने की व्यवस्था की गयी। निर्यात की वृद्धि में गैर-परम्परागत वस्तुओं का भाग अधिक करने हेतु उन चुनी हुई गैर-परम्परागत वस्तुओं की निर्यात-वृद्धि के लिए विशेष प्रयत्न किये जाने थे जिनका अधिक निर्यात दीर्घकाल तक बनाये रखा जा सके। दीर्घकालीन माँग वाली वस्तुओं में कच्चा लोहा, लोहा व इस्पात, इजीनियरिंग-उत्पाद तथा रसायन आदि सम्मिलित किये गये।

अर्थ व्यवस्था के विकास के साथ-साथ अलौह धातुओं, खनिज तेलों तथा रासायनिक खाद-सामग्रियों के आयात में वृद्धि होने की सम्भवना थी क्योंकि इन पदार्थों का उत्पादन प्राकृतिक साधनों की कमी के कारण देश में बढ़ाया नहीं जा सकता था। इसलिए अन्य वस्तुओं के आयात को न्यूनतम मात्रा तक कम करना आवश्यक था। कृषि-उत्पादन से पर्याप्त वृद्धि होने के कारण पी एल-480 के अन्तर्गत कृषि-उत्पादों के आयात को तीन वर्षों में बिलकुल बन्द करने का प्रयत्न किया जाना था। रेशेदार कृषि-उत्पादों, कुछ अन्य प्रकार के इस्पात तथा यन्त्रों आदि के आयात में धीरे-धीरे कमी की जानी थी। योजना-आयोग के मोटे अनुमानानुसार हमें अपनी तत्कालीन शुद्ध विदेशी सहायता (अर्थात् प्रत्येक वर्ष में प्राप्त विदेशी सहायता में से देय ब्याज तथा पुराने ऋणों की शोध्य किश्तें घटाने के बाद राशि) को चतुर्थ योजना के अन्त तक आधा करने लिए निर्यात में लगभग 7% प्रति वर्ष की वृद्धि करना तथा आयात को न्यूनतम करना आवश्यक था।

विदेशी सहयोग तथा विदेशी तान्त्रिक ज्ञान के आयात को भी चतुर्थ योजना में कम करने का प्रयत्न किया जाना था। केवल उन्हीं क्षेत्रों में विदेशी सहयोग एवं तान्त्रिक ज्ञान का आयात स्वीकृत किया जाना था जिनमें आन्तरिक साधन उपलब्ध न हो। विदेशी सहयोग से उपभोक्ता-वस्तु-उद्योगों की स्थापना नहीं की जानी थी। केवल निर्यात के लिए उत्पन्न की जाने वाली उपभोक्ता वस्तुओं के उद्योगों को विदेशी सहयोग से स्थापित करने की अनुमति दी जानी थी।

(3) **क्षेत्रीय सन्तुलन** (Regional Balance)—क्षेत्रीय असन्तुलन का प्रमुख कारण विकास हेतु आवश्यक सुविधाओं एवं सेवाओं का विषम वितरण होता है। इसी के फलस्वरूप विभिन्न राज्यों में ही असन्तुलित विकास नहीं हुआ है, प्रत्युत एक ही राज्य के विभिन्न क्षेत्रों में विकास में विषमता विद्यमान है। इस असन्तुलन को दूर करने के लिए सभी क्षेत्रों में विकास-सम्बन्धी सेवाओं एवं सुविधाओं का आयोजन किया जाना आवश्यक समझा गया। चतुर्थ योजना में प्रत्येक क्षेत्र में विद्यमान परिस्थितियों तथा उपलब्ध प्राकृतिक साधनों को ध्यान में रखकर पृथक्-पृथक् विकास-कार्यक्रम सचालित किये जाने थे।

चौथी योजना में सुदृढ़ता के साथ विकास (Growth with Stability) के साथ सामान्य नागरिक को आर्थिक एवं सामाजिक न्याय की व्यवस्था करना योजना का उल्लेखनीय लक्ष्य था। योजना में सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्र में ऐसे सस्थागत परिवर्तनों का आयोजन किया गया जिससे विकास की गति को सुदृढ़ता एवं न्यूनतम अनिश्चितताओं के अन्तर्गत तीव्र किया जा सके।

व्यय एवं विनियोजन

योजना का कुल व्यय 24,882 करोड रुपये निर्धारित किया गया जो तृतीय योजना का कुल व्यय (10,400 करोड रुपये) से दुगुने से भी अधिक था। योजना के कुल व्यय में से 15,902 करोड रुपये सरकारी क्षेत्र के विकास-कार्यक्रमो के लिए और शेष 8,980 करोड रुपये निजी क्षेत्र के कार्यक्रमो के लिए निर्धारित किया गया। सरकारी क्षेत्र के निर्धारित व्यय में से 13,655 करोड रुपये विनियोजन हेतु और 2,247 करोड रुपये चालू व्यय के लिए आयोजित था। सरकारी क्षेत्र के आयोजित व्यय की राशि में से 8,090 करोड रुपये केन्द्रीय परियोजनाओ पर, 781 करोड रुपये केन्द्र द्वारा प्रतिपादित परियोजनाओ पर, 6,606 करोड रुपय राज्यो की परियोजनाओ पर और 425 करोड रुपये केन्द्र-प्रशासित क्षेत्रो की विकास-परियोजनाओ पर व्यय किया जाना था। केन्द्र द्वारा प्रतिपादित परियोजनाओ मे मुख्य रूप से कृषि, स्वास्थ्य, परिवार-नियोजन एव पिछडी जातियो के कल्याण से सम्बन्धित कार्यक्रम सम्मिलित किये जाने थे जो राज्यो की योजनाओ के पूरक के रूप मे सचालित किये जाने थे। सरकारी एव निजी क्षेत्र मे विनियोजन की राशि योजना-काल मे 22,635 करोड रुपये होने का अनुमान था जो तृतीय योजना के कुल विनियोजन के दुगुने से भी अधिक थी। तृतीय योजना मे कुल विनियोजन का 63% भाग सरकारी क्षेत्र मे विनियोजित होने का अनुमान था जबकि चौथी योजना के कुल विनियोजन का 60 3% भाग सरकारी क्षेत्र की विकास-परियोजनाओं के लिए आयोजित किया गया। इस प्रकार चौथी योजना में सरकारी क्षेत्र के महत्व को अधिक नही बढाया गया है और इस योजना मे विनियोजन का प्रकार लगभग तृतीय योजना के समान ही रखा गया।

योजना के व्यय एव विनियोजन के आयोजन का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि तृतीय योजना के समान इस योजना मे भी कृषि एव औद्योगिक क्षेत्र को लगभग समान महत्व दिया गया। कृषि-क्षेत्र विकास के लिए योजना के कुल व्यय का 21 8% भाग (17 4% कृषि + 4 4% सिंचाई) प्रत्यक्ष रूप से आयोजित किया गया। दूसरी ओर, औद्योगिक क्षेत्र के विकास-कार्यक्रमो के लिए 21 4% भाग का प्रत्यक्ष आयोजन किया गया। जहाँ तक ग्रामीण एव लघु उद्योगो के विकास का सम्बन्ध है, इसका लाभ कृषि एव औद्योगिक दोनो क्षेत्रो को ही प्राप्त होता है। ग्रामीण उद्योगो के विकास से कृषि-क्षेत्र को लाभ मिलता है और लघु उद्योगो के विकास का अधिकतर लाभ सगठित औद्योगिक क्षेत्र को प्राप्त होता है।

योजना-आयोग द्वारा चौथी योजना का मध्यावधि-मूल्याकन किया गया जिसमे योजना के प्रथम तीन वर्षों की उपलब्धियो एव असफलताओ के आधार पर योजना के लक्ष्यों मे कुछ हेरफेर कर दी गयी जिससे मूलभूत मौलिक लक्ष्य उपलब्ध हो सके। योजना आयोग द्वारा गिरती हुई प्रगति-दर को रोकने एव अर्थ-व्यवस्था को गतिशील करने के उद्देश्य से एक पाँच-सूत्री कार्यक्रम निर्धारित किया गया जिसके अन्तर्गत मूल्यो मे स्थिरता लाना, आत्म-निर्भरता, अधिक उत्पादन, ऐसी वस्तुओं के उपभोग पर नियन्त्रण जो अनिवार्य न हो, बचत के सग्रहण को गतिशील करना तथा राज्यो द्वारा अधिक वित्तीय अनुशासन का पालन करना सम्मिलित थे। पाकिस्तान से युद्ध होने के कारण भी अर्थ-व्यवस्था को क्षति हुई और उसकी पूर्ति हेतु अतिरिक्त अर्थ-साधनो के सग्रह करने को विशेष महत्व दिया गया। योजना के विनियोजन के लक्ष्यानुसार होने की सम्भावना व्यक्त की गयी।

योजना के पाँच वर्षो का कुल वास्तविक व्यय 15,778 8 करोड रुपये हुआ जबकि पहले अनुमानो के अनुसार यह राशि 16,160 करोड रुपये सम्भावित थी। इस प्रकार योजना मे सार्वजनिक क्षेत्र का कुल व्यय आयोजित राशि 15,902 करोड रुपये से 381 8 करोड रुपये कम रही। योजना का आयोजित व्यय सन् 1968-69 के मूल्यो पर आधारित था जबकि वास्तविक व्यय प्रत्येक वर्ष के मूल्यो पर निकाले गये है। सन् 1969-70 मे वास्तविक व्यय 2,209 9 करोड रुपये, सन् 1970-71 मे 25,230 5 करोड रुपये, सन् 1971-72 मे 3,130 3 करोड रुपये, सन् 1972-73 मे 3,727 3

तालिका 26—चतुर्थ योजना का व्यय एवं विनियोजन

(करोड रुपयो मे)

मद	सरकारी क्षेत्र चालू व्यय (आयोजित)	सरकारी क्षेत्र विनियोजन (आयोजित)	निजी क्षेत्र विनियोजन (आयोजित)	सरकारी एव निजी क्षेत्र कुल विनियोजन (आयोजित)	सरकारी एव निजी क्षेत्र कुल व्यय (आयोजित)	सरकारी एव निजी क्षेत्र कुल व्यय से प्रतिशत (आयोजित)	सरकारी क्षेत्र का वास्तविक व्यय	सरकारी क्षेत्र का आयोजित व्यय
1 कृषि एव महायक क्षेत्र	610	2 118	1 600	3,718	4,328	17 4	2,320 4	2,728 2
2 सिचाई एव बाढ-नियन्त्रण	14	1 073	—	1,073	1 087	4 4	1,354 1	1,086 6
3 शक्ति	—	2 448	75	2 523	2,523	10 1	2,931 7	2,447 6
4 ग्रामीण एव लघु उद्योग	107	186	560	746	853	3 4	242 6	293 1
5 उद्योग एव खनिज	40	3 198	2,000	5,298	5,338	21 4	2,864 4	3,337 7
6 यातायात एव सचार	40	3 297	920	4,117	4 157	16 7	3,080 4	3,237 3
7 शिक्षा	545	278	50	328	873	3 5	774 3	822 6
8 वैज्ञानिक शोध	45	95	—	95	140	0 6	130 8	140 3
9 स्वास्थ्य	303	132	—	132	435	1 7	335 5	433 5
10 परिवार-नियोजन	262	53	—	53	315	1 3	278 0	315 0
11 जलपूर्ति एव स्वच्छता	2	404	—	404	406	1 6	458 9	407 3
12 नगरो मे गृह-निर्माण एव क्षेत्रीय विकास	2	235	2,175	2,410	2,412	9 7	270 2	237 0
13 पिछडी जातियो का कल्याण	142	—	—	—	142	0 6	164 6	142·4
14 समाज कल्याण	41	—	—	—	41	0 2	64 4	41 4
15 श्रम-कल्याण एव दस्तकारो को प्रशिक्षण	20	20	—	20	40	0 2	31 1	39 9
16 अन्य कार्यक्रम	74	118	—	118	192	0 8	—	—
17 अर्द्धनिर्मित सामग्री (Inventions)	—	—	1,600	1 600	1 600	6 4	477 4	192 3
योग	2 247	13,655	8,980	22,635	24,882	100 0	15778 8	15902 2

करोड रुपये और सन् 1973-74 मे 3,727 3 करोड रुपये हुआ । यदि इन सभी वर्षो के व्यय को सन् 1968 69 के मूल्यो (थोक मूल्य निर्देशाक सन् 1961-62=100) पर आगणित किया जाय तो व्यय की राशि क्रमश 2,130 2 करोड रुपये, 2,280 करोड रुपये, 2748 1 करोड़ रुपये, 2,976 8 करोड रुपये एव 2,724 2 करोड रुपये आती है। इस प्रकार सन् 1968-69 के मूल्यों पर योजना का सार्वजनिक क्षेत्र का व्यय 12,850 करोड रुपये आता है जो आयोजित व्यय का 80 8% है। कुल व्यय के आधार पर यह नतीजा निकाला जा सकता है कि योजना के भौतिक कार्यक्रमो को लक्ष्य के अनुसार सचालित नही किया जा सका। पाँचो वर्षो के व्यय का तुलनात्मक अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि अन्य योजनाओ के समान चौथी योजना मे भी योजना के प्रारम्भ के वर्षों का व्यय कम रहा जो अन्तिम वर्ष तक निरन्तर बढता गया। सन् 1969-70 के व्यय की तुलना मे सन् 1973-74 का व्यय लगभग 60% अधिक था। व्यय मे इतना अधिक मौद्रिक अन्तर होने का प्रमुख कारण मूल्य-वृद्धि था परन्तु मूल्य-वृद्धि के प्रभाव के साथ साथ योजना के कार्यक्रमो पर पाँचो वर्षों मे समान रूप से व्यय नही किया जा सका।

विभिन्न मदो की आयोजित एव वास्तविक व्ययो की राशियो की तुलना करने पर ज्ञात होता है कि कृषि, सिंचाई, शक्ति, उद्योग एव खनिज, यातायात एव सचार आदि सभी बडी-बडी मदो पर आयोजित व्यय से कम राशि व्यय की गयी। यदि मूल्य-वृद्धि को ध्यान मे रखे तो आयोजित एव वास्तविक व्यय का अन्तर और भी अधिक हो जायेगा। इन सभी मदो मे आयोजित कार्यक्रमों का व्यय लक्ष्य के अनुसार नही किया जा सका जिसके परिणामस्वरूप विकास की गति लक्ष्य से कही कम रही।

अर्थ-साधन

चतुर्थ योजना के अर्थ-साधनो का अनुमान लगाते समय पाँचवें वित्त आयोग के निर्णयो, 14 बडे व्यापारिक बैंको के राष्ट्रीयकरण के फलस्वरूप उनकी शाखाओ से होने वाली वृद्धि (विशेषकर ग्रामीण क्षेत्र मे) द्वारा बचत सग्रहण की गतिशीलता, जीवन बीमा निगम एव कर्मचारी प्रॉवीडेण्ट फण्ड की विनियोजन-नीति के परिवर्तनों तथा सार्वजनिक सत्ताओ (Public Authorities) की प्राप्तियों एव व्ययो की तत्कालीन प्रवृत्ति को ध्यान मे रखा गया। योजना के समस्त अर्थ-साधन 24,882 करोड रुपये अनुमानित थे, जिसमे से 15,902 करोड रुपये सरकारी क्षेत्र के कार्यक्रमो के लिए उपलब्ध होने का अनुमान लगाया गया। योजना मे आन्तरिक साधनो पर अधिक निर्भर रहने को महत्वपूर्ण माना गया और सरकारी क्षेत्र के समस्त व्यय का 78% भाग अर्थात् 12,408 करोड रुपये बजट के साधनो मे उपलब्ध होने का अनुमान था, जबकि तृतीय योजना में यह प्रतिशत 59% और तीन वार्षिक योजनाओ मे 54% था। दूसरी ओर, योजना के साधनो का केवल 17% भाग विदेशी सहायता द्वारा उपलब्ध किया जाना था जबकि तृतीय योजना मे 28% और तीन वार्षिक योजनाओ मे 36% भाग विदेशी सहायता से प्राप्त किया गया। चौथी योजना मे घाटे के अर्थ-प्रबन्धन पर निर्भरता को भी कम कर दिया गया। इस योजना मे सरकारी क्षेत्र के व्यय का केवल 5% भाग घाटे के अर्थ-प्रबन्धन (Deficit Financing) द्वारा प्राप्त करने का अनुमान लगाया गया, जबकि तृतीय योजना के सरकारी क्षेत्र के व्यय का 13% भाग और तीन वार्षिक योजनाओ के व्यय का 10 6% भाग घाटे के अर्थ-प्रबन्धन से प्राप्त किया गया।

चौथी योजना के अर्थ साधनो का अनुमान लगाते समय दो लक्ष्यो को विशेष रूप से ध्यान मे रखा गया—प्रथम, सुदृढ़ता के साथ प्रगति (Growth with Stability) और द्वितीय, प्रगति द्वारा आत्म निर्भरता की ओर अग्रसर होना। इन्ही कारणो से घाटे के अर्थ-प्रबन्धन एव विदेशी सहायता द्वारा अधिक अर्थ साधन प्राप्त करने का प्रयत्न नही किया गया।

यद्यपि मौद्रिक दृष्टिकोण से योजना के अर्थ साधनों की प्राप्ति सन्तोषजनक समझी जा सकती है परन्तु मूल्य-वृद्धि को देखते हुए वास्तविक साधनो की उपलब्धि योजनाकाल मे लक्ष्य से कही कम रही।

तालिका 27—चौथी योजना के अर्थ-साधन (करोड़ रुपये में)

मद	आयोजित राशि	वर्तमान अनुमान[1]
(क) बजट के साधन—		
1 चालू आय के अतिरेक	1,673	—236
2 सार्वजनिक व्यवसायों का अनुदान	2,029	1,135
3 रिजर्व बैंक के रोके गये लाभ	202	296
4 राज्य एवं केन्द्र सरकारों को प्राप्त विपणि ऋण	1,415	2,135
5 वित्तीय संस्थाओं एवं खाद्य निगम को प्राप्त ऋण (FCI आदि)	405	177
6 लघु बचत	769	1,162
7 वार्षिकी जमा, अनिवार्य बचत आदि	—104	—98
8. राज्य प्राविधिक निधि	660	874
9. विविध पूंजीगत प्राप्तियां	1,685	1,455
10 अतिरिक्त साधन	3,198	4,280
11 जीवन बीमा निगम से ऋण एवं सार्वजनिक व्यवसायों को प्राप्त विपणि ऋण	506	833
बजट के साधनों का योग	12 438	12,013
(ख) विदेशी सहायता	2,614	2,087
(ग) हीनार्थ-प्रबन्धन	850	2,060
योग	15 902	16 160

चालू आय का आधिक्य—इस साधन से सन् 1968-69 की कर की दरों के आधार पर 1 673 करोड़ रुपये प्राप्त होने का अनुमान लगाया गया था परन्तु वास्तविक प्राप्ति ऋणात्मक होगी क्योंकि योजनाकाल में गैर-योजना व्यय में तीव्र गति से वृद्धि हुई है। इस प्रकार इस शीर्षक में 1,902 करोड़ रुपये की हानि होने का अनुमान है।

सार्वजनिक क्षेत्र के व्यावसायिक अतिरेक—इनसे सन् 1968-69 की किराये-भाड़े की दरों के आधार पर 2,029 करोड़ रुपये प्राप्त करने का आयोजन किया गया। परन्तु वास्तविक प्राप्ति 1,135 करोड़ रुपये ही अनुमानित है। रेलों से 265 करोड़ रुपये का अनुदान प्राप्त होने का अनुमान लगाया गया था जबकि वर्तमान अनुमानानुसार रेलों का योगदान 165 करोड़ रुपये ऋणात्मक होगा अर्थात् 430 करोड़ रुपये की कमी इस स्रोत के साधनों में रही। इस कमी का प्रमुख कारण भाड़े के यातायात में कमी, संचालन-व्यय में वृद्धि कर्मचारियों के पारिश्रमिक में वृद्धि तथा कोयला, विद्युत डीजल एवं अन्य सामग्रियों के मूल्यों में वृद्धि होना है। दूसरी ओर डाक एवं तार विभाग से 225 करोड़ रुपये के स्थान पर 318 करोड़ रुपये प्राप्त होने का अनुमान है। अन्य सार्वजनिक व्यवसायों से 1,280 करोड़ रुपये प्राप्त होने थे जबकि वास्तविक प्राप्ति 801 करोड़ रुपये ही होगी क्योंकि इन व्यवसायों विशेषकर इस्पात एवं उर्वरक उद्योगों में उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि नहीं हो सकी है और संचालन-व्यय एवं मजदूरी में तेजी से वृद्धि हुई है।

जनऋण—14 बड़े बैंकों के राष्ट्रीयकरण के फलस्वरूप बैंक-जमा में 7% प्रति वर्ष के स्थान पर 11% प्रति वर्ष की वृद्धि योजनाकाल में होने का अनुमान लगाया गया। योजनाकाल

1 पांचवीं योजना की रूपरेखा में दिए गये अनुमानों के आधार पर।

मे लगभग 3,000 करोड रुपये की बैक-जमा मे वृद्धि होने का अनुमान था। यह वृद्धि नयी शाखाओ को खोलने एव जमा आकर्षित करने की नीतियो के फलस्वरूप सम्भव हो सकती थी। राज्य एव केन्द्र सरकारो को 1,415 करोड रुपये का शुद्ध ऋण विकास-कार्यक्रमो के लिए उपलब्ध होने का अनुमान लगाया गया। इसके अतिरिक्त वित्तीय सस्थाओ को जनता से 405 करोड रुपये और सार्वजनिक व्यवसायो को 258 करोड रुपये का जनऋण प्राप्त होने का अनुमान था। इस प्रकार जनऋण की वास्तविक राशि 2,078 करोड रुपये प्राप्त होने का अनुमान लगाया गया। योजना के लिए 769 करोड रुपये की लघु बचत भी प्राप्त होने का अनुमान लगाया गया। जीवन बीमा निगम द्वारा सार्वजनिक व्यवसायो को 148 करोड रुपये ऋण और राज्य सरकारों को 100 करोड रुपये के ऋण प्रदान किये जाते थे। इस प्रकार योजनाकाल मे ऋण एव जमा से कुल प्राप्त होने वाली राशि 3,095 करोड रुपये प्राप्त होने का अनुमान था जो योजना के कुल व्यय का लगभग $\frac{1}{5}$ भाग था। इसके साथ ही 1,685 करोड रुपये की अन्य पूँजीगत प्राप्तियो का अनुमान भी लगाया गया। कर एव सार्वजनिक व्यवसायों की आय के अतिरिक्त इस प्रकार 4,780 करोड रुपये प्राप्त करने का अनुमान लगाया गया। इतनी बडी राशि इस प्रकार जनता की ऐच्छिक बचत से प्राप्त करना जनसाधारण की आय, बचत करने की इच्छा एव बचत एकत्रित करने वाली सस्थाओ के कुशल सचालन पर निर्भर थी।

जनऋण के अन्तर्गत 1,415 करोड रुपये के स्थान पर 2,135 करोड रुपये प्राप्त होने का अनुमान है जिसमे से 1,567 करोड रुपये केन्द्र सरकार को और 568 करोड रुपये राज्य सरकार को प्राप्त होगा। इस शीर्षक मे इस प्रकार आयोजित राशि की तुलना मे $1\frac{1}{2}$ गुनी राशि प्राप्त होने का अनुमान है। वित्तीय सस्थाओ आदि द्वारा योजनाकाल मे 405 करोड रुपये जनता से ऋण के रूप मे प्राप्त करने का लक्ष्य रखा गया परन्तु वास्तव मे 177 करोड रुपये ही प्राप्त हो सकेगा क्योकि खाद्य निगम द्वारा कोई ऋण योजनाकाल मे प्राप्त नही करने का अनुमान लगाया गया है। लघु बचत से 769 करोड रुपये के स्थान पर 1,162 करोड रुपये प्राप्त होने का अनुमान है। राज्य प्रॉवीडेन्ट फण्ड मे भी आयोजित राशि से अधिक राशि जमा होने का अनुमान है क्योकि कई राज्यों मे अनिवार्य प्रॉवीडेण्ट फण्ड मे जमा करने के लिए आयोजन किये गये हैं। दूसरी ओर, पूंजीगत प्राप्तियो के अन्तर्गत 1,685 करोड रुपये के स्थान पर 1,455 करोड रुपये ही वास्तव मे प्राप्त होने का अनुमान है। इस प्रकार कर एव सार्वजनिक व्यवसायो के आय के अतिरिक्त अन्य ऐच्छिक बचत के साधनो से 5,803 करोड रुपये प्राप्त होगा जिसमे से 98 करोड रुपये अनिवार्य जमा आदि के शोधन मे उपयोग होगा और शेष 5,705 करोड रुपये जो कुल बजट के साधनो का लगभग 47% है, ऐच्छिक बचत से प्राप्त होने का अनुमान है।

अतिरिक्त अर्थ-साधन—चौथी योजना म 3,189 करोड रुपये अतिरिक्त अर्थ-साधनो से प्राप्त करने का आयोजन किया गया परन्तु वास्तविक प्राप्ति 4,280 करोड रुपये अनुमानित है। इस राशि मे से 3,222 करोड रुपये केन्द्र सरकार द्वारा तथा 1,058 करोड रुपये राज्य सरकार द्वारा विकास के लिए एकत्रित किया गया। केन्द्र सरकार द्वारा कुल अतिरिक्त साधन 3,900 करोड रुपये के एकत्रित किये गये, जिसमे से 678 करोड रुपये राज्यों का अश था। अतिरिक्त साधनो के स्रोतो मे आय-कर, उत्पादन-शुल्क, सीमा शुल्क आदि थे। रेलो एव डाक-तार विभाग ने अपनी दरो आदि मे वृद्धि करके योजनाकाल मे 415 करोड रुपये की अतिरिक्त राशि एकत्रित की। राज्य सरकारो के अतिरिक्त साधनों के स्रोतो मे राज्य उत्पादन-कर, बिक्री-कर तथा राज्य विद्युत-मण्डल की आय प्रमुख थे।

इस प्रकार बजट के साधनो से कुल मिलाकर 12,013 करोड रुपये प्राप्त होने का अनुमान लगाया गया है जो आयोजित राशि 12,438 करोड रुपये से कम है। बजट के साधनों से योजना के कुल अनुमानित व्यय का लगभग 77% भाग उपलब्ध हुआ।

विदेशी सहायता—चौथे योजनाकाल में 9,730 करोड रुपये का आयात अनुमानित था, जिसमे 7,840 करोड रुपये का निर्वाह-सम्बन्धी आयात का लक्ष्य रखा गया था। 1,300 करोड रुपया सयन्त्र आदि के आयात के लिए आवश्यक था जिससे चुने हुए औद्योगिक क्षेत्रों की उत्पादन-क्षमता मे वृद्धि की जा सके। शेष 590 करोड रुपये का आयात खाद्यान्नो के लिए निर्धारित किया गया। आयात के अतिरिक्त 140 करोड रुपये के विदेशी विनिमय की आवश्यकता योजनाकाल मे अदृश्य व्यवहारो के सम्बन्ध मे अनुमानित थी। चतुर्थ योजनाकाल मे विदेशी ऋण के भुगतान एव ब्याज के सम्बन्ध मे 2,280 करोड रुपये की आवश्यकता का अनुमान था और 280 करोड रुपये अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष को भुगतान हेतु विदेशी विनिमय की आवश्यकता होने का अनुमान था।

विदेशी ऋण एव उसके ब्याज के भुगतान की राशि को छोडकर योजनाकाल मे 10,150 करोड रुपये के विदेशी विनिमय की आवश्यकता होने का अनुमान लगाया गया। यह राशि निर्यात एव विदेशी सहायता द्वारा प्राप्त की जानी थी। योजनाकाल मे 4,130 करोड रुपये की सकल विदेशी सहायता की आवश्यकता का अनुमान था और शेष विदेशी विनिमय की आवश्यकता (8,300 करोड रुपये) की पूर्ति निर्यात द्वारा की जानी थी। इस पूर्ति के लिए निर्यात को 1,360 करोड रुपये (सन् 1968-69 वर्ष मे) मे बढाकर सन् 1973-74 तक 1,900 करोड रुपये तक करना था अर्थात् निर्यात मे 7% चक्रवृद्धि वार्षिक वृद्धि करने की आवश्यकता थी। निर्यात सवर्द्धन हेतु सस्थानीय व्यवस्था एव नीतियो मे सुधार करना आवश्यक था। चौथे योजनाकाल मे निर्यात सन् 1968-69 मे 1,358 करोड रुपये से बढकर सन् 1973-74 मे 2 523 करोड रुपये हो गये। योजनाकाल का निर्यात का लक्ष्य 8,300 करोड रुपये था जबकि वास्तविक निर्यात 9,050 करोड रुपये हुआ। योजनाकाल की निर्यात-वृद्धि की दर 13% प्रति वर्ष रही जो लक्ष्य (7%) से कही अधिक है। परन्तु दूसरी ओर खनिज तेल, उर्वरक एव खाद्यान्नो के मूल्यो मे वृद्धि होने के कारण आयात मे भी तेजी से वृद्धि हुईऔर आयात योजना की अनुमानित राशि 9,730 करोड रुपये के स्थान पर 9,863 करोड रुपये का हुआ। इस प्रकार योजनाकाल मे विदेशी व्यापार मे 813 करोड रुपये का प्रतिकूल शेष रहा जो अनुमान 1,230 करोड रुपये से काफी कम है। योजनाकाल मे 4,147 करोड रुपये की सकल विदेशी सहायता प्राप्त हुई। 2,445 करोड रुपये ऋणसेवा-व्यय योजनाकाल मे हुआ। इस प्रकार विदेशी सहायता से प्रस्तावित राशि की तुलना मे बहुत कम राशि विकास-कार्यक्रमो के लिए उपलब्ध हुई।

घाटे का अर्थ-प्रबन्धन—योजना मे घाटे के अर्थ-प्रबन्धन की राशि 850 करोड रुपये निर्धारित की गयी जो योजना के सरकारी क्षेत्र के व्यय की केवल 5% थी। परन्तु योजनाकाल मे बजट के साधनो मे पर्याप्त राशि एकत्रित न होने के कारण घाटे के अर्थ प्रबन्धन की राशि वर्ष प्रति वर्ष बढती गयी। सन् 1969-70 मे घाटे का अर्थ-प्रबन्धन 43 करोड रुपये था जो सन् 1970-71 मे 842 करोड रुपये, सन् 1971-72 मे 738 करोड रुपये, सन् 1972-73 मे 852 करोड रुपये और सन 1973-74 मे 543 करोड रुपये रहा। घाटे के अर्थ-प्रबन्धन की राशि आयोजित राशि के दुगुने से भी अधिक रही। योजनाकाल मे बगला देश के शरणार्थियो को सहायता देने, सुरक्षा-व्यय मे वृद्धि होने, प्राकृतिक कठिनाइयों के उदय होने खाद्य-अनुदान देने, बगला देश को सहायता देने तथा तृतीय वेतन आयोग की सिफारिशो को लागू करने के कारण ही घाटे के अर्थ-प्रबन्धन की राशि इतनी अधिक रही है। योजनाकाल मे घाटे का अर्थ-प्रबन्धन 2 600 करोड रुपये रहा जो सरकारी क्षेत्र मे कुल व्यय का लगभग 16% रहा।

निजी क्षेत्र के अर्थ-साधन—निजी क्षेत्र के सम्बन्ध मे अर्थ-साधनो के ठीक-ठीक अनुमान उपलब्ध नही थे। सामान्य अनुमानानुसार निजी क्षेत्र मे 14,160 करोड रुपये की बचत उदय होने का अनुमान था जिसमे मे 12 210 करोड रुपये परिवारो एव सहकारी क्षेत्र द्वारा और शेष 1,950 करोड रुपये समामेलित क्षेत्र द्वारा एकत्रित किया जाना था। निजी क्षेत्र की इस बचत मे से केन्द्र एव राज्य सरकारें 5,210 करोड रुपये सरकारी क्षेत्र के लिए प्राप्त कर लेगी, ऐसा अनुमान था और 8,950 करोड रुपये निजी क्षेत्र के विकास-कार्यक्रमो के लिए उपलब्ध होना था। इसके

अतिरिक्त लगभग 30 करोड रुपये विदेशी सहायता से निजी क्षेत्र को उपलब्ध होना था। इस प्रकार निजी क्षेत्र मे 8,980 करोड रुपये के साधन विकास के लिए उपलब्ध होने थे।

लक्ष्य, कार्यक्रम एवं उपलब्धियाँ

राष्ट्रीय एव प्रति व्यक्ति आय

चतुर्थ योजनाकाल की प्रगति की दर 5 5% प्रति वर्ष निर्धारित की गयी। कृषि के उत्पादन मे 5% प्रति वर्ष तथा औद्योगिक उत्पादन मे 8 से 10% प्रति वर्ष की वृद्धि का लक्ष्य रखा गया। निर्यात मे 7%, गैर-खाद्यान्न आयात मे 5 5% तथा जन-उपभोग-व्यय मे 5 3% वार्षिक वृद्धि का अनुमान लगाया गया। राष्ट्रीय आय (सन् 1968-69 के मूल्यो पर) 28,478 करोड रुपये सन् 1968-69 मे होने का अनुमान था जो सन 1973-74 तक 38,300 करोड रुपये होने का अनुमान लगाया गया था। इसी प्रकार प्रति व्यक्ति आय 554 रुपये (सन् 1968-69 मे) से बढकर सन् 1973-74 मे 613 रुपये होने का अनुमान लगाया गया था। योजना-आयोग के अनुमानानुसार, अर्थ-व्यवस्था मे बचत की औसत दर सन 1968-69 मे 8 8% से बढकर सन् 1973-74 मे 13 2% हो जानी थी और यह दर सन् 1980 81 तक 18% तक करने का लक्ष्य रखा गया।

चौथे योजनाकाल मे राष्ट्रीय एव प्रति व्यक्ति आय की प्रगति निम्न प्रकार हुई

तालिका 28—चौथी योजना मे राष्ट्रीय एव प्रति व्यक्ति आय

वर्ष	राष्ट्रीय आय (करोड रु)		प्रति व्यक्ति आय (रु)		निर्देशांक (1960-61=100)	
	चालू मूल्यो पर	1960-61 के मूल्यो पर	चालू मूल्यो पर	1960-61 के मूल्यो पर	राष्ट्रीय आय	प्रति व्यक्ति आय
1968-69	28 247	17,057	548 8	324 6	128 3	106 0
1969-70	31,607	17,955	597 4	341 1	135 1	111 4
1970-71	34 217	18,885	633 1	349 0	143 5	115 1
1971-72	36,017	19,201	589 0	350 8	145 5	114 0
1972-73	39,187	19 130	683	337	144 2	110 4
1973-74	49,290	19,724	850	340	148 7	111 3

चौथी योजना मे राष्ट्रीय आय मे 15 6% और प्रति व्यक्ति आय मे 4 7% की वृद्धि हुई जबकि सन् 1960 61 के मूल्यो को आधार माना जाय। यदि सन् 1968-69[1] के मूल्यो के आधार पर देखे तो योजनाकाल मे राष्ट्रीय आय मे 14 6% और प्रति व्यक्ति आय मे 1 2% की वृद्धि हुई। इस आधार पर हम यह कह सकते है कि योजना के लक्ष्यो की पूर्ति नही हो सकी और राष्ट्रीय आय वृद्धि का लक्ष्य 5 5% प्रति वर्ष के स्थान पर योजनाकाल मे केवल 3% प्रति वर्ष की वृद्धि हुई। योजनाकाल मे पर्याप्त प्रगति न होने के प्रमुख कारण सन् 1971-72 एव सन् 1972 73 मे जलवायु का प्रतिकूल होना, शक्ति की पर्याप्त उपलब्धि न होना, यातायात मे कठिनाई होना, पाकिस्तान से युद्ध एव बगला देश को सहायता देना था।

कृषि

कृषि-क्षेत्र के विकास-कार्यक्रमो के दो प्रमुख उद्देश्य थे—प्रथम, कृषि-उत्पादन मे अगले दशक मे निरन्तर 5% वार्षिक वृद्धि के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ उत्पन्न करना, और द्वितीय, ग्रामीण

1 सन् 1968-69 की तुलना मे सन् 1973-74 मे थोक मूल्य निर्देशांक 53 6% अधिक था। इसको आधार मानकर सन् 1973-74 की राष्ट्रीय आय 49,290 करोड रुपये को सन् 1968-69 के मूल्यो पर बदला गया तो 32,090 करोड रुपये की राशि आती है। इस प्रकार प्रति व्यक्ति आय की राशि सन् 1968-69 के मूल्यो पर 555 रुपये आती है।

जनसंख्या का अधिकाधिक भाग जिसमें छोटे कृषक, शुष्क क्षेत्रों के कृषक तथा कृषि-श्रमिक सम्मिलित थे विकास-कार्यक्रमों में सक्रिय भाग लेकर उनका लाभ प्राप्त कर सकें। इन दो उद्देश्यों की पूर्ति हेतु कृषि के विकास-कार्यक्रमों को दो वर्गों में विभक्त किया गया—उत्पादन को अधिकतम करने वाले कार्यक्रम एवं कृषि-क्षेत्र की विषमताओं एवं असन्तुलनों को सुधारने वाले कार्यक्रम। कृषि-उत्पादन के लक्ष्य निम्न प्रकार थे

तालिका 29—चतुर्थ योजना में कृषि के लक्ष्य एवं उपलब्धियाँ

मद	इकाई	1968-69 का उत्पादन	चतुर्थ योजना का लक्ष्य (1973-74)	1973-74 में उपलब्धि
खाद्यान्न	लाख टन	940	1,290	1,047
जूट	लाख गाँठ	31	74	56
कपास	लाख गाँठ	53	80	63 1
तिलहन	लाख टन	88	105	94
गन्ना (गुड़)	लाख टन	120	150	144
अधिक उपज वाले बीजों का क्षेत्र	लाख हैक्टेयर	92	250	258
रासायनिक खाद का उपभोग				
नाइट्रोजियस खाद (N)	हजार टन	1,145	3,200	2,800
फास्फेटिक खाद (P_2O_5)	हजार टन	391	1,400	650
पोटैशिक खाद (K_2O)	हजार टन	160	900	370
पौध-सुरक्षा (क्षेत्र)	लाख हैक्टेयर	400	800	640
बड़ी एवं मध्यम श्रेणी की परि-योजनाओं द्वारा सिंचित भूमि	लाख हैक्टेयर	170	208	196
छोटी परियोजनाओं द्वारा सिंचित भूमि	लाख हैक्टेयर	190	222	231

चौथी योजना में कृषि-उत्पादन में वृद्धि करने हेतु गहन खेती को ही अधिक महत्व दिया गया क्योंकि भूमि के परिमाण में विशेष वृद्धि करना सम्भव नहीं था। गहन कृषि के सम्बन्ध में निम्नलिखित व्यवस्थाएँ सम्मिलित की गयी

(1) सिंचाई की सुविधाओं का विस्तृत उपयोग तथा भूमि पर एवं भूमि के अन्दर की जल-पूर्ति का अधिकतम उपयोग। सिंचाई की वर्तमान सुविधाओं का विशेष कार्यक्रमों के अन्तर्गत गहन फसल प्राप्त करने हेतु उपयोग।

(2) रासायनिक खादों, पौध-सुरक्षा सम्बन्धी सामग्री कृषि-यन्त्रों एवं साख की उपलब्धि में विस्तार।

(3) अनाजों के अधिक उपज देने वाले बीजों का उपयोग कर उत्पादन बढ़ाने की सम्भावनाओं का पूर्णतम पोषण।

(4) चुने हुए उपयुक्त क्षेत्रों में व्यापारिक फसलों के उत्पादन-स्तर को बढ़ाने के लिए गहन प्रयास।

(5) कृषि-विपणन-पद्धति में सुधार करके उत्पादकों के हितों की सुरक्षा करना तथा मुख्य कृषि-फसलों के न्यूनतम मूल्य का आश्वासन।

गहन कृषि के सम्बन्ध में चतुर्थ योजना के लक्ष्य आगे दी गयी तालिकानुसार थे।

कृषि उत्पादन में वृद्धि करने हेतु कृषि के लिए उपयोग की जाने वाली भूमि में योजनाकाल में केवल 10 लाख हेक्टेयर की वृद्धि होने का अनुमान था क्योंकि देश में कुल उपलब्ध कृषि-योग्य भूमि 1,750 लाख हेक्टेयर का लगभग 85% मात्र कृषि के लिए उपयोग हो रहा था। ऐसी परिस्थिति में कृषि-उत्पादन में वृद्धि गहन कृषि पर निर्भर थी। गहन कृषि के विभिन्न कार्यक्रम निम्नांकित तालिका 30 के अनुसार विस्तृत करने का लक्ष्य रखा गया।

तालिका 30—गहन कृषि का कार्यक्रम

कार्यक्रम	अतिरिक्त लक्ष्य (लाख हेक्टेयर)
1 अधिक उपज वाले बीज	158
2 बहुफसल-कार्यक्रम	90
3 भूमि-संरक्षण (Soil Conservation)	56
4 भूमि को कृषि-योग्य बनाना	10
5 बड़ी एवं मध्यम सिंचाई-परियोजनाओं की सुविधाओं का उपयोग	42
6 लघु सिंचाई-परियोजनाओं की सुविधा का उपयोग	72

योजना में कृषि-विकास कार्यक्रमों के लिए 2,728 करोड़ रुपये का आयोजन किया गया जिसमें से 1,426 करोड़ रुपये की लागत के कार्यक्रम राज्य सरकारों द्वारा संचालित किये जाने थे। इसके अतिरिक्त कृषि-क्षेत्र में अन्य स्रोतों से 950 करोड़ रुपये का वित्त प्रवाहित होने का अनुमान था।

ग्रामीण क्षेत्रों के कुल परिवारों में 42% लघु कृषक (जिनके पास दो हेक्टेयर से कम भूमि थी) और 24% कृषि-श्रमिक (जो अपनी आधी से अधिक आय के लिए मजदूरी पर निर्भर रहते थे) थे। इन लघु-कृषकों एवं कृषि मजदूरों की स्थिति में सुधार करने हेतु लघु सिंचाई-परियोजनाओं पर अधिक विनियोजन की व्यवस्था की गयी। सरकारी संस्थाओं को ऋण प्रदान करने की नीतियों में इस प्रकार परिवर्तन किये गये कि लघु कृषक को इसका लाभ प्राप्त हो सके। 45 चुने हुए जिलों में लघु कृषक विकास एजेन्सी की स्थापना की गयी जिसमें लघु कृषकों को विशिष्ट परियोजनाओं हेतु आवश्यक सहायता प्रदान की गयी। देश के 40 जिलों में विभिन्न परियोजनाओं द्वारा लघु-कृषकों एवं कृषि-श्रमिकों को सहायक एवं पूरक रोजगार के अवसर प्रदान करने की व्यवस्था की गयी। योजना में लघु-कृषकों एवं कृषि-श्रमिकों की सहायतार्थ 115 करोड़ रुपये की व्यवस्था की गयी।

कृषि-क्षेत्र की उपलब्धियाँ—चौथी योजना में कृषि-क्षेत्र का विकास लक्ष्यों के अनुरूप नहीं हो सका। कृषि-क्षेत्र के उत्पादन की तालिका से ज्ञात होता है कि कृषि के लगभग प्रत्येक क्षेत्र में उत्पादन लक्ष्य से कम ही रहा। योजना में कृषि-क्षेत्र की प्रगति की दर 5% प्रति वर्ष निर्धारित की गयी थी परन्तु सन् 1969-70 एवं सन् 1970-71 में इस लक्ष्य से भी अधिक कृषि-उत्पादन में वृद्धि हुई। इन दो वर्षों में कृषि-उत्पादन में क्रमश 6 7% और 7 3% की वृद्धि हुई। परन्तु सन् 1971-72 में उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश, राजस्थान एवं उड़ीसा में सूखा पड़ने के कारण कृषि उत्पादन में 0 4% की कमी हुई। सन् 1972-73 में भी बिहार, राजस्थान एवं महाराष्ट्र में सूखा पड़ने के कारण कृषि-उत्पादन सन् 1971-72 की तुलना में 8 0% कम रहा। सन् 1973-74 वर्ष में मानसून अधिक अनुकूल रहा और कृषि-उत्पादन में कुछ सुधार हुआ और इस वर्ष में कृषि-उत्पादन गत वर्ष की तुलना में 10 7% अधिक रहा। इस प्रकार चौथी योजना में कृषि-उत्पादन की प्रगति की दर 3% प्रति वर्ष रही। कृषि-उत्पादन का निर्देशांक सन् 1968-69

मे 114 8 था (आधार सन् 1961-62 मे समाप्त होने वाले तीन वर्ष=100) जो सन् 1969-70 मे बढकर 122 5 सन 1970-71 मे 131 4, सन् 1971-72 मे 130 4, सन् 1972-73 मे 118 5 और सन 1973-74 मे 132 हो गया। चतुर्थ योजनाकाल मे खाद्यान्नो के उत्पादन मे पर्याप्त वृद्धि नही हुई। योजना मे सन् 1973-74 वर्ष के लिए 1,290 लाख टन के खाद्यान्न का लक्ष्य रखा गया था परन्तु सन् 1973-74 का खाद्यान्नो का वास्तविक उत्पादन 1,047 लाख टन हुआ जो सन 1972-73 के खाद्यान्नो के उत्पादन से 7 9% अधिक था परन्तु चौथी योजना के लक्ष्य से 243 लाख टन कम रहा। इस प्रकार सन् 1973-74 वर्ष का उत्पादन सन् 1970-71 एव सन् 1971-72 वर्ष के स्तर तक नही हो पाया। चौथी योजना मे खाद्यान्नो के उत्पादन मे 310 लाख टन की वृद्धि करने का लक्ष्य रखा गया था जिसमे से 210 लाख टन की वृद्धि विपुल उत्पादन वाले बीजो के क्षेत्र को 92 लाख हेक्टेयर (सन् 1968-69) से बढाकर 250 लाख हेक्टेयर करके तथा 100 लाख टन की वृद्धि बहुफसल-कार्यक्रम, सिचाई-सुविधाओ मे वृद्धि, भूमि-सरक्षण आदि के द्वारा करने का लक्ष्य रखा गया था। विपुल उपज वाले बीजो का उपयोग लक्ष्य के अनुसार सन 1973-74 मे 258 लाख हेक्टेयर भूमि मे हुआ परन्तु उत्पादन मे पर्याप्त वृद्धि न होने के निम्नलिखित कारण रहे

(1) विपुल उपज वाले बीज चावल, मक्का और ज्वार के उत्पादन हेतु अधिकतर क्षेत्रो मे सफल नही रहे।

(2) कृपको द्वारा विपुल उपज की समस्त प्रविधि का पूर्णरूपेण उपयोग नही किया गया, विशेषकर उर्वरको का पर्याप्त एव वैज्ञानिक उपयोग नही किया गया।

(3) सिचाई की उपलब्ध सुविधाओ का पूर्णतम उपयोग नही किया गया।

(4) विपुल उपज के बीजो का लाभ गेहूँ की फसल के लिए पजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश म जितना मिला उतना अन्य क्षेत्रो मे सफल नही रहा।

(5) जलमग्न एव निचली भूमियो के लिए खरीफ की फसल हेतु विपुल उपज के बीज उपलब्ध नही थे।

(6) कृपि आदायो विशेपकर उर्वरक, शक्ति एव खनिज तेल के उत्पादो की पूर्ति पर्याप्त न रहने के कारण खाद्यान्नो के उत्पादन म पर्याप्त वृद्धि सम्भव नही हो सकी।

(7) खाद्यान्नो के सम्बन्ध मे सरकार की अनिवार्य लैवी की नीति ने कृपको को हतोत्साहित किया और वे अन्य गैर-खाद्यान्न फसलो की ओर आकर्पित हुए।

(8) कृपि-भूमि-सीमाकन के भय से बडे कृपको द्वारा भूमि-सुधार के कार्यक्रमो को स्थगित कर दिया गया जिसका प्रतिकूल प्रभाव कृपि-उत्पादन पर पडा।

सिचाई एव शक्ति

देश की 1,750 लाख हेक्टेयर कृपि-योग्य भूमि मे से चौथी योजना के अन्त तक 1,420 लाख हेक्टेयर भूमि मे खेती की जाने लगी। भूमि के ऊपर एव अन्दर के जल के साधनो से 1,070 लाख हेक्टेयर भूमि मे सिंचाई की जा सकती है। चौथी योजना मे सिंचाई के साधनो का विस्तार 375 लाख हेक्टेयर भूमि से बढाकर 455 लाख हेक्टेयर भूमि पर करने का लक्ष्य रखा गया था अर्थात योजनाकाल म 80 लाख हेक्टेयर भूमि की सिंचाई की अतिरिक्त क्षमता उत्पन्न की जानी थी परन्तु वास्तव मे 78 लाख हेक्टेयर भूमि के लिए अतिरिक्त सिंचाई-सुविधाओ का विस्तार किया गया और योजना के अन्त मे 449 लाख हेक्टेयर भूमि के लिए सिंचाई-सुविधाएँ उपलब्ध हो गयी। बडी एव मध्यम श्रेणी की सिंचाई-परियोजनाओ से 48 लाख हेक्टयर भूमि और लघु परियोजनाओ से 32 लाख हेक्टेयर भूमि के लिए सिंचाई सुविधाएँ उत्पन्न करने का लक्ष्य था जबकि वास्तव मे क्रमश 33 एव 45 लाख हेक्टेयर भूमि के लिए सिंचाई-सुविधाएँ योजनाकाल मे उत्पन्न की गयी।

चतुर्थ योजना मे विद्युत-उत्पादन-क्षमता को 143 0 लाख किलोवाट (सन् 1968-69) से

बढ़ाकर 223 0 लाख किलोवाट करने का लक्ष्य रखा गया। योजनाकाल मे बडी जलविद्युत-परियोजनाओं मे व्यास, यमुना, रामगगा, उकाई, शरावती, इड्डीकी वालीमेला द्वारा शक्ति का उत्पादन योजनाकाल मे प्रारम्भ हुआ। सन्तालदीह, कोठागुन्डम, नासिक, कोराडी तथा धुवारन के थर्मल स्टेशनो द्वारा भी शक्ति-उत्पादन प्रारम्भ किया गया। योजनाकाल में क्षेत्रीय शक्ति-परियोजनाओं को इस प्रकार जोडने का प्रस्ताव था कि सम्पूर्ण भारत को एक ग्रिड (Grid) मे सम्बद्ध किया जा सके। योजनाकाल मे 93 लाख किलोवाट अतिरिक्त क्षमता के लक्ष्य के विरुद्ध 46 लाख किलोवाट क्षमता का ही निर्माण किया जा सका और इस प्रकार योजना के अन्त मे देश की कुल क्षमता 189 लाख किलोवाट हो गयी।

ग्रामीण एव लघु उद्योग

चतुर्थ योजना के लघु एव ग्रामीण उद्योगो से सम्बन्धित विकास-कार्यक्रमो का प्रमुख उद्देश्य यह रखा गया कि लघु उद्योगो मे उत्पादन-तान्त्रिकताओं मे निरन्तर सुधार किया जा सके और ये उद्योग अपने पैरों पर खडे होने के योग्य हो जायें। इसके अतिरिक्त लघु एव ग्रामीण उद्योगो के विकास द्वारा औद्योगिक कार्यक्रमो का विकेन्द्रीकरण एव उद्योगों के छितराव (Dispersal) की व्यवस्था की जाती थी। औद्योगिक लाइसेंसिंग व्यवस्था द्वारा लघु उद्योगों को बडे उद्योगों के साथ होने वाली प्रतिस्पर्द्धा से सुरक्षा प्रदान नही की जा सकी थी और न ही बडे नगरो मे उद्योगों की स्थापना को ही रोका जा सका था। इसी कारण चौथी योजना मे बहुत से उद्योगो को लाइसेन्स से मुक्त (Delicensing) किया जाना था। ऐसी परिस्थितियो मे उद्योगो के छितराव के लिए कुछ प्रत्यक्ष (Positive) कार्यवाहियाँ, जैसे साख सुविधाओं की ढीली शर्तें, न्यून पूर्ति वाले कच्चे मालो की पर्याप्त उपलब्धि, तान्त्रिक सहायता का आयोजन, अच्छे औजारो की व्यवस्था, करो मे छूट, भेदात्मक उत्पादन-कर आदि से की जानी थी। इसके अतिरिक्त लघु एव परम्परागत उद्योगो को अनुचित प्रतिस्पर्द्धा से सुरक्षा प्रदान करने के लिए वर्तमान उत्पादन-सम्बन्धी प्रतिबन्धी (Reservations) को जारी रखा जाना था तथा उनमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन एव सुधार किया जाना था। लघु एव ग्रामीण उद्योगो का सगठन सहकारी सस्थाओ के अन्तर्गत, जहाँ तक उपयुक्त हो, किया जाना था। चौथी योजना म ग्रामीण एव लघु उद्योगो मे सरकारी क्षेत्र मे 290 करोड रुपये व्यय किया जाना था जबकि वास्तविक व्यय 250 करोड रुपये अनुमानित है। इसके अतिरिक्त लगभग 560 करोड रुपये निजी क्षेत्र द्वारा ग्रामीण एव लघु उद्योगो मे योजनाकाल मे विनियोजित किये जाने का अनुमान है। योजनाकाल मे सूती कपडे (हाथकरघा, शक्तिकरघा एव खादी) का उत्पादन 35,840 लाख मीटर से बढकर सन् 1973-74 म 36,500 लाख मीटर हो गया जो चौथी योजना के लक्ष्य 42,500 लाख मीटर का 86% था।

उद्योग एव खनिज

चतुर्थ योजना मे सम्मिलित औद्योगिक विकास-विनियोजन के निम्नलिखित तीन मुख्य उद्देश्य थे

(1) उन परियोजनाओ के विनियोजन को पूर्ण करना जिनके लिए स्वीकृति दी जा चुकी थी।

(2) वर्तमान उत्पादन क्षमताओ को इस स्तर तक उन उद्योगो मे बढाना जिनके द्वारा अनिवार्यताओं की वस्तुओ की बढी हुई माग की पूर्ति हो सके, आयात प्रतिस्थापन सम्बन्धी वस्तुओ का उत्पादन पर्याप्त मात्रा मे हो सके तथा निर्यात सवर्द्धन के लिए पर्याप्त वस्तुएँ उपलब्ध हो सकें।

(3) आन्तरिक विकास एव सुविधाओ का लाभ उठाकर नवीन उद्योगो अथवा उद्योगो के विस्तार के लिए नवीन आधार की स्थापना करना।

औद्योगिक विकास के कार्यक्रमो द्वारा औद्योगिक सरचना के असन्तुलनो को दूर करने तथा वर्तमान उत्पादन-क्षमता का अधिकतम उपयोग करने का प्रयत्न किया जाना था।

चतुर्थ योजना मे केन्द्रीय सरकार के औद्योगिक विनियोजन के अन्तर्गत पिछली योजना से चालू कार्यक्रमो को पूर्ण करने का व्यय, स्वीकृत परियोजनाओ का व्यय, रासायनिक खाद एव कृषि-सम्बन्धी सामग्रियों एव कच्चे माल की पूर्ति से सम्बन्धित उद्योगो का व्यय तथा पाँचवी योजना की अग्रिम कार्यवाहियों का व्यय सम्मिलित किया गया। वर्तमान सरकारी क्षेत्र के बडे व्यवसायो की उत्पादन-क्षमता का पूर्ण उपयोग करने तथा इन व्यवसायो को अधिक लाभप्रद बनाने के लिए इनकी वस्तुओ के लिए विदेशी बाजारो की खोज की जानी थी। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए विपणि-सवर्द्धन एव विपणि-शोध आवश्यक था और स्थगित भुगतान पर निर्यात की व्यवस्था के लिए आवश्यक वित्तीय साधनो का आयोजन करना आवश्यक था।

केवल उन उद्योगो को छोडकर, जिनमे तान्त्रिक दृष्टिकोण से बडे आकार की इकाइयाँ स्थापित करना मितव्ययतापूर्ण होता है, अन्य समस्त उद्योगो मे अधिकार एव क्षेत्र सम्बन्धी विकेन्द्रीकरण किया जाना था। विभिन्न उपभोक्ता एव कृषि सम्बन्धी उद्योगो की स्थापना विकेन्द्रीकरण के आधार पर की जानी थी। राजकोषीय एव साख-सुविधाएँ प्रदान कर इन उद्योगो के विकास हेतु नवीन साहसियों एव सहकारी सस्थाओ को प्रोत्साहित किया जाना था। इस प्रकार के उद्योगो की स्थापना की अनुमति बडे उद्योगपतियो को नही दी जानी थी।

चतुर्थ योजना के औद्योगिक उत्पादन के लक्ष्य एव उपलब्धिया निम्नाकित तालिका के अनुसार है

तालिका 31—चतुर्थ योजना मे औद्योगिक उत्पादन के लक्ष्य एव उपलब्धियां

मद	इकाई	1968-69 का उत्पादन	1973-74 का लक्ष्य	1973-74 का उत्पादन
1 इस्पात के ढेले	लाख टन	65	108	63 2
2 तैयार इस्पात	,,	47	81	48
3 विक्रय हेतु लौह-पिण्ड	,,	13	38	15 9
4 मिश्रित धातु एव विशेष इस्पात	हजार टन	43	220	339
5 एल्यूमिनियम	,	125 3	220	147
6 मशीनो के औजार	करोड रुपये	24 7	65	67 3
7 नाइट्रोजन खाद (N)	हजार टन	541	2,500	1,058
8 फास्फेटिक खाद P_2O_5	,,	210	900	319
9 सीमेण्ट	लाख टन	122	180	146 7
10 मिल का बना कपडा	लाख मीटर	42 970	51 000	40,830
11 कच्चा लोहा	लाख टन	281	514	357
12 कोयला (कोकिंग कोयला सहित)	,	714·1	935	790
13 *खनिज तेल (अशोधित)*	,	60 6	85	72
14 शक्कर		36	47	39 5
15 जूट-निर्मित वस्तुएँ	हजार टन	1,088 5	1,400	1,074
16 व्यापारिक वाहन	हजार सख्या	35 6	85	42 9
17 अखबारी कागज	हजार टन	31	150	48 7

तालिका 31 के अध्ययन से ज्ञात होता है कि चौथी योजना मे औद्योगिक क्षेत्र के लक्ष्यो की उपलब्धि नही हो सकी और प्रत्येक क्षेत्र मे लक्ष्य से कम उत्पादन रहा। औद्योगिक क्षेत्र के लिए विकास की वार्षिक दर 9 3% आयोजित थी परन्तु सन् 1969-70 मे यह दर 7 4% सन् 1970-71 मे 3 0% सन् 1971-72 मे 3 3% रही। सन् 1972-73 मे यह 4 0% रही

जबकि सन् 1973-74 मे औद्योगिक उत्पादन मे 2 2% की वृद्धि हुई। चौथे योजनाकाल मे औद्योगिक उत्पादन की प्रगति-दर 4 2% रही जो लक्ष्य के आधे से भी कम थी। इस प्रकार औद्योगिक क्षेत्र का विकास लक्ष्य से कम रहा। सन् 1972-73 व 1973-74 वर्षो मे शक्ति की पूर्ति मे विघ्न पड़ने एव कृषि पदार्थो मे पर्याप्त उत्पादन-वृद्धि न होने के कारण औद्योगिक उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पडा।

योजना मे उद्योगो एव खनिज के उत्पादन मे 9% प्रति वर्ष वृद्धि करने का लक्ष्य रखा गया जो राष्ट्रीय आय एव कृषि-उत्पादन की वृद्धि के लक्ष्यो के अनुरूप था। योजना मे ऐसे उद्योगो को विशेष महत्व दिया गया जिनसे आधारभूत उत्पादन मे वृद्धि होनी थी। इन उद्योगो मे रासायनिक खाद, रासायनिक खाद का कच्चा माल, धातु उद्योग, खनिज तेल-उत्पादन एव मशीन-निर्माण उद्योग सम्मिलित किये गये।

औद्योगिक उत्पादन का निर्देशाक सन् 1968-69 मे 165 3 (सन् 1960=100) था जो सन् 1969-70 मे बढकर 177 5 सन् 1970-71 मे 180 8, सन् 1971-72 मे 196 1 और सन् 1972-73 मे 199 4 हो गया। सन् 1973-74 मे औद्योगिक उत्पादन का निर्देशाक घटकर 199 रहा गया। इस प्रकार योजनाकाल मे औद्योगिक उत्पादन मे लगभग 21% की वृद्धि हुई।

योजना के औद्योगिक क्षेत्र मे लक्ष्य से कम विकास होने के कारण निम्नवत् हैं .

(1) औद्योगिक उत्पादन को बढाने मे साहसियो द्वारा विशेष रुचि नही दिखायी गयी जिसके परिणामस्वरूप नवीन इकाइयो की स्थापना एव पुरानी इकाइयो के विस्तार की गति मन्द रही।

(2) साहसियो मे विकास के प्रति उत्साह कम करने का प्रमुख कारण असन्तुलित औद्योगिक लाइसेंसिंग नीति रही। ऐसे लाइसेन्सो का अनुपात बहुत बडा रहा जिनको कार्यान्वित नही किया गया। नवीन एव प्रतिष्ठित साहसियो, लघु एव बड़े साहसियो, नवीन इकाइयो की स्थापना एव विस्तार के प्रस्तावो तथा निजी एव सार्वजनिक क्षेत्र मे लाइसेन्स जारी करते समय कोई सन्तुलन स्थापित नही किया गया।

(3) औद्योगिक उत्पादन मे कमी या तो उत्पादन-क्षमता का न्यून उपयोग करने अथवा उत्पादन-क्षमता का पर्याप्त निर्माण न होने के कारण रही। क्षमता का न्यून उपयोग माँग की कमी, कच्चे माल की कमी, यातायात की कठिनाइयो, शक्ति की अनियमित पूर्ति, बिगडे हुए औद्योगिक सम्बन्ध अथवा प्रबन्ध-समस्याओ के कारण हुआ।

(4) योजनाकाल मे नयी पूँजी एकत्रित करना अत्यन्त कठिन हो गया, क्योकि आन्तरिक बचत की दर मे पर्याप्त वृद्धि नही हो पायी। जब तक बचत की दर मे वृद्धि नही होती, साख सरल शर्तो पर उपलब्ध होना सम्भव नही था। औद्योगिक सस्थाओ को कार्यशील पूँजी के लिए अल्प-कालीन ऋण प्राप्त करने मे कठिनाई हुई क्योकि यह ऋण गत वर्ष के ऋणो के आधार पर दिये जाते थे जबकि प्रति वर्ष कच्चे माल के मूल्यो मे वृद्धि होने के कारण कार्यशील पूँजी की आवश्यकता वर्ष प्रति वर्ष बढती गयी। इसके अतिरिक्त एक करोड रुपये से अधिक की पेशगी के लिए व्यापारिक बैंको को रिजर्व बैंक से अनुमति लेनी होती थी।

(5) विद्युत-शक्ति की पर्याप्त उपलब्धि न होने के कारण कई राज्यो, विशेषकर पजाब, हरियाणा, उत्तर प्रदेश आदि मे कारखाने अपनी पूरी क्षमता का उपयोग नही कर पाये।

(6) कृषि-क्षेत्र से उपलब्ध होने वाले कच्चे मालो मे पर्याप्त वृद्धि न होने के कारण औद्योगिक क्षेत्र को पर्याप्त मात्रा मे कच्चे माल उपलब्ध नही हो पाये जिससे औद्योगिक उत्पादन-वृद्धि की दर नीची रही।

(7) योजना के अन्तिम वर्षो मे उद्योगो को कोयला, विद्युत-शक्ति एव रेलवे वैगन पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध न होने के कारण औद्योगिक उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पडा। इसके अतिरिक्त खनिज तेल एव उसके उत्पादो की पर्याप्त उपलब्धि न होने तथा इनके मूल्यो मे चार गुनी वृद्धि हो जाने से औद्योगिक उत्पादन की लागत-सरचना पर प्रतिकूल प्रभाव पडा।

(8) खनिज तेल के मूल्यो मे वृद्धि होने के कारण हमारे विदेशी विनिमय के साधनो पर प्रतिकूल प्रभाव पडा जिसके परिणामस्वरूप औद्योगिक कच्चे माल का पर्याप्त आयात नही किया जा सका।

औद्योगिक उत्पादन से सम्बन्धित तालिका (तालिका 31) के अध्ययन से ज्ञात होता है कि चौथी योजना मे औद्योगिक उत्पादन के लक्ष्यो की पूर्ति सम्भव नही हो सकी। लगभग सभी क्षेत्रो मे वास्तविक उत्पादन लक्ष्य से कम रहा।

यातायात एवं सचार

पिछली तीन योजनाओ मे कुल विनियोग का $\frac{1}{5}$ भाग परिवहन के विकास पर व्यय किया गया जिससे आर्थिक प्रगति मे परिवहन के साधनो की न्यूनता बाधक न बन सके। परिवहन की परियोजनाएँ दीर्घकाल मे पूरी होती हैं और इन पर विनियोजन भी बडी मात्रा मे करना होता है। इसलिए इस क्षेत्र के विनियोजन-कार्यक्रम निर्धारित करते समय अर्थ-व्यवस्था की दीर्घकालीन आवश्यकताओ को ध्यान मे रखा गया। अर्थ-व्यवस्था मे परिवहन की आवश्यकताओ की पूर्ति को न्यूनतम लागत पर करने के लिए रेलवे, सडक-परिवहन, समुद्री यातायात, अन्तर्देशीय जल-परिवहन तथा हवाई जहाज आदि सभी प्रकार के सचालन मे समन्वय स्थापित करना आवश्यक समझा गया।

चतुर्थ योजना मे ग्रामीण क्षेत्रो मे सडक-यातायात का विस्तार करने पर विशेष महत्व दिया गया और राज्य सरकारो को अपने सडक-विकास-व्यय का 25% भाग ग्रामीण सडको के विकास पर व्यय करना था। योजना मे हल्दिया डॉक, मगलौर एव तूतीकोरिन (Tuticorin) बन्दरगाह-योजनाएँ पूरी हो जाने का अनुमान था तथा मारमागाओ (Mormugao) एव मद्रास बन्दरगाहो पर कच्चा लोहा ढोने आदि के लिए आधुनिक सुविधाओ का आयोजन किया जाना था। विशाखा-पटनम के बाहरी हारबर (Harbour) का निर्माण किया जाना था। योजना के अन्त तक जहाजरानी की सुविधाएँ इतनी हो जानी थी कि भारतीय विदेशी यातायात का 40% भाग भारतीय जहाज सचालित कर सकें। बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली और मद्रास के हवाई अड्डो पर सुविधाओ मे वृद्धि की जानी थी।

चौथे योजनाकाल मे रेलो द्वारा ढोये जाने वाला माल 2,040 लाख टन (सन् 1968-69) को बढाकर सन् 1973-74 मे 2,650 लाख टन करने का लक्ष्य रखा गया जबकि वास्तव मे सन् 1973-74 मे रेलो द्वारा 2,150 लाख टन माल ढोया गया। पक्की सडको की लम्बाई 3,89,000 किलोमीटर से बढाकर 4,50,000 किलोमीटर करने का लक्ष्य रखा गया था जबकि सन् 1973-74 मे पक्की सडको की लम्बाई 4,74,000 किलोमीटर हो गयी। सडको पर व्यापारिक गाडियों की सख्या 3,86 000 मे बढाकर 5,85,000 करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया था, जबकि इसकी वास्तविक सख्या सन् 1973-74 मे 5,20,000 रही। समुद्री यातायात के क्षेत्र मे सकल पजीकृत टनेज (Gross Registered Tonnage) 21,40,000 से बढाकर 35,00 000 करने का लक्ष्य रखा गया। परन्तु सन् 1973-74 मे वास्तविक GRT 30,90,000 था। योजनाकाल मे 7,60,000 नये टेलीफोन एव 31,000 नये डाकघर खोलने का आयोजन किया गया था, परन्तु योजनावधि मे 4,92,000 नये टेलीफोन तथा 23,000 नये डाकघर खोले जा सकें।

समाज-सेवाएँ

शिक्षा—शिक्षा सम्बन्धी कार्यक्रमो मे निम्नलिखित महत्वपूर्ण परियोजनाओ को सम्मिलित किया गया

(अ) पिछडे क्षेत्रो एव वर्गो तथा छात्राओ के लिए प्राथमिक शिक्षा-व्यवस्था।

(आ) माध्यमिक एव उच्च शिक्षा मे और अधिक अवसर सभी वर्गो को प्रदान करने की व्यवस्था।

(इ) तान्त्रिक एवं व्यावसायिक शिक्षा के क्षेत्र में प्रशिक्षित श्रम-शक्ति की भविष्य की माँग के अनुमान के आधार पर शिक्षा प्रदान करना जिससे आवश्यकता से अधिक लोगों को तान्त्रिक एवं व्यावसायिक शिक्षा प्रदान करने में राष्ट्रीय साधनों का अपव्यय न हो।

(ई) शोध-कार्य का विस्तार करना आवश्यक समझा गया। इस कार्य के लिए विश्वविद्यालयों एवं अन्य संस्थाओं के कार्य में समन्वय स्थापित करने की व्यवस्था।

(उ) ऐसे व्यक्तियों की सुविधाओं के लिए, जो शिक्षा-संस्थाओं को प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण शीघ्र छोड़ देते हैं, आंशिक समय (Part Time) की शिक्षा तथा डाक-पाठ्यक्रमों की सुविधाओं का विस्तार।

(ऊ) शिक्षा के गुणों में सुधार करने के लिए शिक्षकों की योग्यताओं एवं स्तर में सुधार, भारतीय मौलिक पुस्तकों का प्रकाशन तथा विद्यार्थी-कल्याण कार्यक्रम संचालित करने की व्यवस्था।

स्वास्थ्य

ग्रामीण क्षेत्रों में प्राथमिक स्वास्थ्य-केन्द्रों की स्थापना एवं उन्हें सुदृढ़ बनाने के लिए अधिक प्राथमिकता दी गयी। हैजा और फाइलेरिया के प्रकोप से पीड़ित क्षेत्रों में जलप्रवाह (Drainage) तथा जलपूर्ति (Water-supply) पर विशेष ध्यान दिया गया। स्वास्थ्य-केन्द्रों का विस्तार स्थानीय संस्थाओं द्वारा ही किया गया जिससे स्थानीय साधनों से ही यह सुधार किया जा सके। स्वास्थ्य-केन्द्रों में चिकित्सा कराने वालों से कुछ मामूली राशि भी वसूल करने की व्यवस्था की गयी। सरकारी स्वास्थ्य बीमा योजना के अतिरिक्त उद्योगों एवं सहकारी संस्थाओं में विशेष समूहों के लिए स्वास्थ्य बीमा योजना संचालित करने का आयोजन किया गया।

परिवार-नियोजन—परिवार-नियोजन कार्यक्रम को सर्वाधिक प्राथमिकता दी गयी और इसे 10 वर्ष के लिए केन्द्रीय सरकार द्वारा संचालित कार्यक्रम समझा गया।

रोजगार

चतुर्थ योजना में सन्तुलित क्षेत्रीय विकास तथा आर्थिक गतिविधियों के छितराव (Dispersal) को समन्वित करने को विशेष महत्त्व प्रदान किया गया। इस कार्यवाही के लिए विभिन्न अविकसित क्षेत्रों में अव संरचना (Infra-structure) में पर्याप्त वृद्धि करने की व्यवस्था की गयी जिससे प्राकृतिक साधनों के विकास एवं संरक्षण के लिए उचित रूप से कार्यक्रम संचालित किये जा सकें। योजना में ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार के अवसरों में तीव्र गति से वृद्धि करने की व्यवस्था की गयी। लघु सिंचाई, भूमि-संरक्षण, अयाकूत (Ayacut) तथा विशेष क्षेत्रीय विकास एवं निजी गृह-निर्माण जैसे श्रम-साधन कार्यक्रमों द्वारा रोजगार के अवसरों में वृद्धि होने का अनुमान था। सिंचाई एवं बहुफसल-परियोजनाओं के विस्तार से कुछ ग्रामीण क्षेत्रों में श्रम की माँग में वृद्धि होना स्वाभाविक समझा गया। औद्योगिक प्रसाधन एवं यन्त्रों के उत्पादन में आत्म-निर्भरता प्राप्त करने तथा औद्योगिक क्षेत्र में अधिक विनियोजन के फलस्वरूप देश भर में रोजगार के अवसरों में वृद्धि होने का अनुमान लगाया गया। योजनाकाल में कृषि एवं औद्योगिक क्षेत्रों में प्रगति की गति तीव्र होने से यातायात, संचार, अधिकोषण आदि अन्य सहायक क्षेत्रों में भी रोजगार के अवसरों में वृद्धि हुई।

राष्ट्रीय आय, मूल्य आदि

चतुर्थ योजना में राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि अनुमानानुसार नहीं रही। सन् 1969-70 में राष्ट्रीय आय में (सन 1960-61 के मूल्यों पर) 6 5% की वृद्धि हुई, सन् 1970-71 में 5 2%, सन् 1971-72 में 1 8% और सन् 1972-73 में भी 1 5% की वृद्धि हुई। राष्ट्रीय आय का निर्देशांक सन् 1960-61 के मूल्यों पर (सन् 1960-61=100) सन् 1968-69 में 128 3 था जो सन् 1973-74 में बढ़कर 148 7 हो गया। इस प्रकार योजनाकाल में राष्ट्रीय आय में केवल 15 6% की ही वृद्धि हुई है जो लक्ष्य की तुलना में अत्यन्त कम है। इसी प्रकार प्रति व्यक्ति आय का निर्देशांक सन् 1968-69 में सन् 1960-61 के मूल्यों पर (सन् 1960-61 =100) 106 0 था जो सन् 1971-72 में बढ़कर 111 3 हो गया अर्थात् चतुर्थ योजना के प्रथम

तीन वर्षो मे प्रति व्यक्ति आय मे 6 2% की ही वृद्धि हुई है। चतुर्थ योजना मे मूल्य स्तर मे तीव्र गति से वृद्धि हुई है। मूल्य स्तर की वृद्धि के साथ साथ मुद्रा की पूर्ति मे भी निरन्तर वृद्धि होती रही है। चतुर्थ योजना मे निर्यात मे 7% प्रति वर्ष की वृद्धि का लक्ष्य निर्धारित किया गया था परन्तु निर्यात-वृद्धि की गति सन् 1969 70 एव सन 1971-72 मे लक्ष्य से कम रही परन्तु सन् 1970-71, सन् 972 73 एव सन् 1973-74 वर्ष मे निर्यात मे वृद्धि लक्ष्य से अधिक रही है। सन् 1972-73 एव 1973-74 वर्ष मे निर्यात-वृद्धि की दर क्रमश 22 5% तथा 28% रही। दूसरी ओर यातायात मे सन् 1969-70 मे 71 1% की कमी हुई। सन् 1972-73 वर्ष मे भी आयात मे 2 4% की वृद्धि हुई। दूसरी ओर सन् 1973-74 वर्ष मे आयात मे 58% की वृद्धि हुई है।

तालिका 32—चतुर्थ योजना की प्रगति के द्योतक
(सन् 1968-69 से 1973-74 तक)

(गत वर्ष पर प्रतिशत परिवर्तन)

	1968-69	1969-70	1970-71	1971-72	1972-73	1973-74
1 राष्ट्रीय आय (1960 61 के मूल्यो पर)	2 4	6 5	5 2	1 8	1 5	5 0
2 विद्युत-उत्पादन	14 1	14 4	8 4	8 8	4 8	1 6
3 थोक मूल्य (1961-62 = 100)	—1 1	3 7	5 5	4 0	9 9	22 7
4 मुद्रा पूर्ति	8 1	10 8	11 2	13 1	15·9	15 4
5 आयात	—4 9	—17 1	3 3	11 6	2 4	58 3
6 निर्यात	13 3	4 1	8 6	4 8	22 5	28·0
7 औद्योगिक उत्पादन	6 9	7 4	3 0	3 3	4 4	—0 2
8 कृषि-उत्पादन	—1 5	6 7	7 3	—0 4	—8 0	10 8
9 खाद्यान्नो का उत्पादन	—1 1	5 8	9 0	—3 0	—7 7	7 9

इस तालिका के अध्ययन से ज्ञात होता है कि सन् 1973-74 वर्ष मे कृषि एव खाद्यान्नो के उत्पादन एव निर्यात के क्षेत्र मे अनुकूल परिस्थिति रही है। परन्तु विद्युत-उत्पादन, औद्योगिक उत्पादन मूल्य स्तर, मुद्रा-पूर्ति एव आयात के क्षेत्र मे परिस्थिति अनुकूल नही रही है। सन् 1973-74 वर्ष के आँकडे अन्तिम नही है। आयात-वृद्धि का प्रमुख कारण खनिज-तेल, रासायनिक उवरक एव खाद्यान्नो के मूल्यो मे अत्यधिक वृद्धि होना है। निर्यात के क्षेत्र मे सन् 1972-73 एव सन 1973 74 मे स्थिति हर्षवर्द्धक रही।

चतुर्थ योजना की असफलताएँ

(1) **प्रगति की दर**—योजना मे प्रगति की दर 5% से 6% प्रति वर्ष निर्धारित की गयी थी परन्तु वास्तव म प्रगति की दर 3% ही रहने का अनुमान है। कृषि एव उद्योग दोनो हो क्षेत्रो में लक्ष्य के अनुसार उत्पादन-वृद्धि नही हो सकी है। कृषि-उत्पादन मे योजनाकाल मे लगभग 21% वृद्धि होने का अनुमान है अर्थात् 4% प्रति वर्ष की वृद्धि हुई, जबकि लक्ष्य 5% प्रति वर्ष वृद्धि का रखा गया था। खाद्यान्नो की उत्पादन वृद्धि का लक्ष्य योजना मे पूरा नहीं हो सका है।

(2) **विदेशी व्यापार**—यद्यपि योजनाकाल म निर्यात मे पर्याप्त वृद्धि हुई है। योजनाकाल म निर्यात मे 80% की वृद्धि हुई है जबकि लक्ष्य 35% से 40% वृद्धि करने का था। परन्तु आयात म सन् 1973-74 वर्ष मे लगभग 58% वृद्धि हुई। खनिज-तेल, खाद्यान्न एव रासायनिक उर्वरक क अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य बढने के कारण हमारे आयात की लागत मे तेजी से वृद्धि होती जा रही है और हमे व्यापार सन्तुलन बनाये रखना कठिन हो सकता है।

(3) **मुद्रा-प्रसार**—योजनाकाल मे मुद्रा-पूर्ति, हीनार्थ अर्थ-प्रबन्धन एव मूल्य-स्तर मे वृद्धि की गति अत्यन्त तीव्र रही है। मुद्रा-पूर्ति मे 86% एव मूल्य-स्तर मे 53 6% वृद्धि योजनाकाल मे हुई। योजनाकाल मे 800 करोड़ रुपये के हीनार्थ-प्रबन्धन की व्यवस्था की गयी, जबकि वास्तविक हीनार्थ-प्रबन्धन की राशि 2,600 करोड़ रुपये हुई जो आयोजित राशि की लगभग तीन गुनी है। मूल्य-स्तर मे असम्भावित एव असाधारण वृद्धि होने के कारण कम आय वाले वर्गों को अत्यन्त कठिन परिस्थितियो मे जीवन व्यतीत करना पडा।

(4) **कृषि-आदायो की पर्याप्त उपलब्धि नही**—योजनाकाल मे कृषि-आदायो की पूर्ति एव उत्पादन मे पर्याप्त वृद्धि नही हो पायी। उर्वरक, विद्युत एव सिंचाई-सुविधाओ मे लक्ष्य के अनुसार वृद्धि नही हो पायी जिससे कृषि-उत्पादन मे पर्याप्त वृद्धि नही हो पायी।

(5) **औद्योगिक आदायो की कमी**—औद्योगिक क्षेत्र के लिए कोयला, विद्युत-शक्ति, खनिज तेल-उत्पादो तथा इस्पात के उत्पादन एव पूर्ति मे पर्याप्त वृद्धि न होने के कारण लक्ष्य के अनुसार औद्योगिक उत्पादन नही हो सका।

(6) **विदेशी सहायता पर निर्भरता**—योजना मे शुद्ध विदेशी सहायता को आधा करने का लक्ष्य रखा गया था परन्तु इस लक्ष्य की पूर्णरूपेण प्राप्ति सम्भव नहीं हो सकी, क्योकि खनिज तेल के मूल्यो मे सन 1973-74 वर्ष मे चार गुनी वृद्धि हो गयी। पी एल-480 के जमा-ऋण के शोधन के सम्बन्ध मे जो समझौता किया गया, उसके फलस्वरूप ऋण सेवा-व्यय मे कमी अवश्य हुई परन्तु अनिवार्य आयातो के मूल्यो मे वृद्धि होने के कारण हमारी विदेशी सहायता पर निर्भरता मे कोई विशेष अन्तर नही हुआ।

(7) **उपभोक्ता वस्तुओ की प्रति व्यक्ति उपलब्धि मे कमी**—योजनाकाल मे महत्वपूर्ण उपभोक्ता-वस्तुओ की प्रति व्यक्ति औसत उपलब्धि मे कमी हुई है। खाद्यान्नो की प्रति व्यक्ति प्रतिदिन उपलब्धि सन् 1968-69 मे 445 2 ग्राम से घटकर 417 8 ग्राम, खाद्य तेलो की उपलब्धि 2 4 किलोग्राम प्रति वर्ष मे घटकर 2 किलोग्राम, सूती वस्त्र की उपलब्धि 14 4 मीटर से घटकर 13 2 मीटर प्रति व्यक्ति रह गयी। सन् 1968-69 मे शक्कर की प्रति व्यक्ति उपलब्धि 5 किलोग्राम थी जो सन 1972-73 मे बढ़कर 6 किलोग्राम हो गयी। आधारभूत उपभोक्ता-वस्तुओ की प्रति व्यक्ति उपलब्धि कम होने के कारण जनसाधारण के उपभोक्ता-स्तर मे कमी आना स्वाभाविक था।

(8) **रोजगार के अवसरो मे पर्याप्त वृद्धि नही**—यद्यपि बेरोजगारो के सम्बन्ध मे उपयुक्त आँकड़े उपलब्ध नही है फिर भी वर्तमान अनुमानो के अनुसार चतुर्थ योजना के प्रारम्भ म बेरोजगारो की सख्या 126 लाख थी जो सन 1972 मे बढ़कर 187 लाख हो गयी। योजना के अन्त मे बेरोजगारो की सख्या मे और वृद्धि होने का अनुमान है। इस प्रकार योजना के कार्यक्रमो द्वारा बेरोजगारी की समस्या का निवारण सम्भव नही हो सका।

21

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना (1974-75 से 1977-78)

[FIFTH FIVE YEAR PLAN]

पाँचवीं योजना का निर्माण करते समय उन असफलताओं पर विशेष ध्यान दिया गया जो अभी तक योजनाओं में उदय हुई थीं। अभी तक की योजनाओं द्वारा निर्धनता की व्यापकता, बेरोजगारी, आर्थिक विषमताओं में वृद्धि एवं आर्थिक प्रगति की मन्द गति आदि समस्याओं का उपयुक्त निवारण नहीं किया जा सका था। यही कारण है कि पाँचवीं योजना में निर्धनता-उन्मूलन एवं आर्थिक आत्मनिर्भरता को मुख्य लक्ष्य बनाया गया। निर्धनता-उन्मूलन के लिए आर्थिक सत्ता के केन्द्रीकरण को रोकने, धन एवं आय के विषम वितरण को कम करने, सन्तुलित क्षेत्रीय विकास करने तथा स्वतन्त्र एवं न्यायपूर्ण समाज के अनुरूप संस्थाओं, मान्यताओं एवं अभिवृत्तियों के विस्तार को अधिक महत्व प्रदान किया गया। व्यापक निर्धनता को दूर करने के लिए—विकास की तीव्र गति एवं जनसंख्या-वृद्धि की दर में कमी—इन दो तत्वों को आधार माना गया। इनके अतिरिक्त विषमताओं को कम करने हेतु (1) भूमि-व्यवस्था में आवश्यक सुधार, (2) राजकोषीय एवं मौद्रिक नीतियों का पुनर्निरीक्षण, (3) पिछड़े एवं अल्प-विकसित क्षेत्रों के विकास हेतु सन्तुलित क्षेत्रीय विकास, तथा (4) रोजगार के अवसरों में वृद्धि करने का आयोजन योजना में करने का निश्चय किया गया।

गरीबी-उन्मूलन की परियोजनाएँ

गरीबी-उन्मूलन हेतु योजना में निम्नलिखित कार्यक्रम सम्मिलित किये गये हैं

(1) **रोजगार के अवसरों में वृद्धि**—नगरीय क्षेत्र में रोजगार के अवसरों में पर्याप्त वृद्धि करने हेतु औद्योगिक विकास की प्रगति-दर 6.1% आयोजित की गयी जबकि चतुर्थ योजना में औद्योगिक विकास की प्रगति-दर केवल 4% रहने का अनुमान था। योजना में उद्योगों के छितराव की भी व्यवस्था की गयी जिससे पिछड़े हुए क्षेत्र के नागरिकों के जीवन-स्तर में सुधार किया जा सके।

(2) **सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार**—योजना में सार्वजनिक क्षेत्र को निजी क्षेत्र की तुलना में अधिक महत्व दिया गया। इसी कारण सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र के विनियोजन का अनुपात 58 . 42 था।

(3) **न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम**—निर्धनता-उन्मूलन के लिए योजना में राष्ट्रीय न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम (National Programme of Minimum Needs) सम्मिलित किया गया, जिसके अन्तर्गत देश के समस्त क्षेत्र के नागरिकों को न्यूनतम सामाजिक उपभोग हेतु साधन प्रदान किये जा सकें। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत निम्नलिखित सुविधाओं की व्यवस्था की जानी थी

(अ) 14 वर्ष की आयु तक के बच्चों के लिए प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था हेतु योजना में 701.03 करोड़ रुपए का आयोजन किया गया।

(आ) न्यूनतम स्वास्थ्य-सम्बन्धी सुविधाओं (जिसमें रोग-निरोधक, परिवार-नियोजन, पौष्टिक आहार एवं चिकित्सा-कार्यक्रम सम्मिलित थे) के लिए 821.87 करोड़ रुपए का आयोजन किया गया।

(इ) उन ग्रामों में, जहाँ पीने के पानी की उचित व्यवस्था नहीं थी, पेयजल की व्यवस्था के लिए 554 करोड़ रुपये का आयोजन किया गया।

(ई) 1,500 या इससे अधिक जनसख्या वाले ग्रामो के लिए सभी मौसमो में खुली रहने वाली सडको की व्यवस्था हेतु 498 करोड रुपये का आयोजन किया गया।

(उ) ग्रामीण क्षेत्रो में भूमिहीन श्रमिको के लिए निवास-गृह निर्माण करने के लिए भूमि को विकसित करने हेतु 107 95 करोड रुपये का आयोजन किया गया।

(ऊ) गन्दी बस्तियो के वातावरण मे सुधार करने हेतु 94·63 करोड रुपये की व्यवस्था की गयी।

(ए) ग्रामीण जनसख्या के 40% भाग को विद्युतीकरण की सुविधा प्रदान करने हेतु 276 03 करोड रुपये का आयोजन किया गया।

पाँचवी योजना मे इस प्रकार सामाजिक उपभोग के स्तर में समानता लाने एव निर्धन-वर्ग को सामाजिक उपभोग की समान सुविधाएँ प्रदान करने हेतु 3 053 51 करोड रुपये की व्यवस्था की गयी।

(4) **ग्रामीण क्षेत्र मे रोजगार-परियोजनाओ का संचालन**—पाँचवी योजना मे चतुर्थ योजना के अन्तिम वर्षों में प्रारम्भ की गयी रोजगार-परियोजनाओं को चालू रखने की व्यवस्था की गयी। इनमें प्रमुख लघु कृषक विकास एजेन्सी (SFDA) सीमान्त कृषक एव कृषि-श्रमिक एजेन्सी, ग्रामीण रोजगार हेतु क्रैश योजना (CSRE) तथा सूखा-पीड़ित क्षेत्र कार्यक्रम (DPAP) थे। इन कार्यक्रमो द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार के अवसरो में वृद्धि करना सम्भव हो सकता था।

(5) **लघु एव ग्रामीण उद्योगो का विकास**—पाँचवी योजना मे 1,660 करोड रुपये का आयोजन लघु एव ग्रामीण उद्योगो के विकास के लिए रखा गया जिसके द्वारा लगभग 60 लाख लोगो को अतिरिक्त रोजगार के अवसर उपलब्ध होने का अनुमान था। योजना मे 62 ग्रामीण उद्योगों की परियोजनाएँ चुने हुए पिछड़े क्षेत्रो मे सचालित की जानी थी।

(6) **पिछड़े-वर्ग के कल्याण-कार्यक्रम**—अनुसूचित जातियो एव अनुसूचित आदिवासियो (जो देश की जनसख्या के लगभग 20% है और गरीबी की रेखा से नीचे के जीवन-स्तर मे रहते हैं) के कल्याण के लिए योजना मे 255 करोड रुपये की व्यवस्था की गयी जिसके अन्तर्गत आदिवासी-उपयोजनाओ (Sub tribal Plans) का सचालन किया जाना था जिससे इस वर्ग के रहन-सहन मे सुधार किया जा सके और इनके जीवन स्तर एव सामान्य जनता के जीवन-स्तर के अन्तर को कम किया जा सके।

(7) **भूमि-सुधार एव भूमि प्रबन्धन कार्यक्रम**—योजना मे भूमि-सुधार कार्यक्रमो के द्वारा लघु एव सीमान्त कृषको की आय में वृद्धि हो सकती थी। भूमि-प्रबन्धन द्वारा लघु कृषको एव बँटाई वाले कृषको (Share Croppers) की आय मे भी सुधार होने की सम्भावना थी। इसके अतिरिक्त कृषि के सहायक व्यवसायो, जैसे दुग्ध व्यवसाय, मुर्गीपालन आदि का विकास करके आय के वितरण की विषमता को कम करना सम्भव हो सकता था।

(8) **उपभोक्ता-वस्तुओ की पूर्ति एव उपलब्धि मे वृद्धि**—योजना मे आवश्यक उपभोक्ता-वस्तुओ का वितरण कम आय वाले वर्गों के लिए व्यापक रूप से करने की व्यवस्था की गयी। योजना मे कम आय वाले वर्गों द्वारा उपभोग की जाने वाली वस्तुओ (Wage Goods) के उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि करने की व्यवस्था भी की गयी।

(9) **उपयुक्त आय-नीति**—योजना मे समाजवादी लक्ष्यो के अनुरूप आय-नीति का निर्माण एव सचालन किया जाना था। योजना मे नगरीय एव ग्रामीण सम्पत्ति के मीमाकन हेतु आवश्यक नीति निर्धारित की जानी थी जिससे आय के साधनो का समाज मे पुनर्वितरण सम्भव हो सके।

आत्म-निर्भरता

पाँचवी योजना का दूसरा प्रमुख उद्देश्य अर्थ-व्यवस्था को आत्म-निर्भर बनाना था। योजना के अन्त तक अर्थ-व्यवस्था की विदेशी सहायता की शुद्ध आवश्यकता शून्य करने का लक्ष्य रखा गया। सन् 1978-79 तक अर्थ-व्यवस्था को इस स्थिति तक विकसित करने का आयोजन किया गया कि विदेशी ऋणो के ऋणसेवा-व्यय के लिए ही विदेशी सहायता की आवश्यकता हो। योजना के अन्त तक अर्थ-व्यवस्था अपने निर्वाह-सम्बन्धी एव आवश्यक आयात का शोधन अपने निर्यात से करने को समर्थ करने की व्यवस्था का लक्ष्य रखा गया। आत्म-निर्भरता के लक्ष्य की उपलब्धि हेतु निर्यात-वृद्धि करने के लिए कठोर प्रयास करने की आवश्यकता थी। योजना के प्रारूप मे निर्यात मे प्रति वर्ष 7 6% की वार्षिक वृद्धि का लक्ष्य रखा गया था परन्तु सन् 1973-74 वर्ष मे खनिज तेल-उत्पादो के मूल्यों में चार गुनी वृद्धि एव रासायनिक उर्वरक तथा खाद्यान्नों के मूल्यो मे तीव्र वृद्धि होने

के कारण निर्यात वृद्धि की दर का अधिक बढ़ाना आवश्यक था। योजना की अंतिम रूपरेखा बनाते समय यह ज्ञात हुआ कि हमारे निर्यात में 1973 74 1974 75 एवं 1975 76 में क्रमश 28 31 9% एवं 21 4% की वृद्धि हुई। दूसरी ओर हमारे आयात में इन तीन वर्षों में क्रमश 58 3% 52 9% एवं 16 5% की वृद्धि हुई। इन तथ्यों के आधार पर अन्तिम रूपरेखा में यह अनुमान लगाया गया कि योजनाकाल के पाँच वर्षों में हमारा कुल निर्यात 21 722 करोड रुपये और आयात 28 524 करोड रुपये होगा। इस प्रकार योजनाकाल में 6 802 करोड रुपये का व्यापार प्रतिकूल शेष रहने का अनुमान था। योजनाकाल में 9 052 करोड रुपये की सकल विदेशी सहायता प्राप्त होने का अनुमान लगाया गया जिसमें से 5 834 करोड रुपये योजना के विकास कार्यक्रमों के लिए उपलब्ध होने का अनुमान लगाया गया। योजना के अन्तिम दो वर्षों में 3 000 करोड रुपये की शुद्ध विदेशी सहायता प्राप्त होने का अनुमान लगाया गया। इस प्रकार योजना का मौलिक लक्ष्य—विदेशी सहायता को ऋणसेवा व्यय तक कम करना—की पूर्ति नहीं की जा सकी। आत्म निर्भरता के लक्ष्य की पूर्ति निर्यात में पर्याप्त वृद्धि होने पर भी सम्भव नहीं हो सकी।

पाँचवीं योजना की व्यूह रचना

पाँचवीं योजना के दोनों उद्देश्यों—निर्धनता का उन्मूलन एवं आत्म निर्भरता—की पूर्ति के लिए जिस व्यूह रचना (Strategy) का निर्माण किया गया उसके मुख्य तत्व निम्न प्रकार थे

(1) सकल राष्ट्रीय उत्पादन में 5 5 प्रति वर्ष की वृद्धि।

(2) उत्पादक रोजगार के अवसरों में वृद्धि।

(3) न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु एक राष्ट्रीय कार्यक्रम का संचालन।

(4) समाज कल्याण का विस्तृत कार्यक्रम।

(5) कृषि आधारभूत उद्योग तथा जनउपयोग से सम्बन्धित उपभोक्ता उद्योगों के विकास को अधिक महत्व।

(6) आवश्यक उपभोक्ता वस्तुओं का सरकारी संग्रहण (Procurement) जिससे कम से कम निर्धन वर्ग को ये वस्तुएँ उचित मूल्यों पर वितरित की जा सकें।

(7) निर्यात संवर्द्धन एवं आयात प्रतिस्थापन की तीव्र गति।

(8) अनावश्यक उपभोग पर कठोर प्रतिबन्ध।

(9) मूल्य मजदूरी एवं आय में न्यायपूर्ण सन्तुलन।

(10) संस्थनीय राजकोषीय एवं अन्य कार्यवाहियों द्वारा आर्थिक एवं सामाजिक विषमताओं को कम करना।

आर्थिक नीतियाँ

पाँचवीं योजना के उद्देश्यों की उपलब्धि हेतु निम्नलिखित आधारभूत आर्थिक नीतियों का अनुसरण किया जाना था

(1) अर्थव्यवस्था के विभिन्न खण्डों में सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र के विनियोजन का उपयुक्त आवंटन एवं उपयोग।

(2) निजी क्षेत्र के विनियोजन को सामाजिक प्राथमिकता प्राप्त उपयोगों में प्रवाहित करने हेतु प्रोत्साहनों के समूहों का उपयोग तथा समाज के लिए कम लाभप्रद खण्डों से निजी विनियोजन को हटाने हेतु हतोत्साहन सम्बन्धी कार्यवाहियाँ संचालित करना।

(3) ऐसे संस्थागत सुधार करना जिससे अधिक उत्पादन हेतु उत्पादन शक्तियों का उपयोग हो सके और अतिरिक्त उत्पादन के लाभ का अधिक समान वितरण हो सके।

(4) राजकोषीय एवं मौद्रिक कार्यवाहियों द्वारा विकास प्रक्रिया को मुद्रा प्रसारहीन विधि से संचालित करना।

पाँचवीं योजना का अन्तिम स्वरूप

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना की प्रस्तावित रूपरेखा 1972 73 के मूल्यों के आधार पर निर्धारित की गयी थी। 1972 73 के पश्चात भारत की अर्थव्यवस्था पर मुद्रा स्फीति का दबाव निरन्तर बढ़ता गया। सितम्बर 1974 में यह दबाव सर्वाधिक था और अन्तर्राष्ट्रीय तेल मूल्यों में अत्यधिक वृद्धि होने के कारण देश की भुगतान शेष की स्थिति भी अत्यन्त शोचनीय हो गयी थी। दूसरी ओर तीन वर्ष तक देश में राजनीतिक एवं आर्थिक गतिविधियों में इतनी द्रुतगति से परिवर्तन होते रहे कि पाँचवीं योजना को अन्तिम रूप देने पर कोई विचार नहीं किया गया। 24 और 25 सितम्बर 1976 को राष्ट्रीय विकास परिषद (National Development Council) की

बैठक लगभग तीन वर्ष बाद हुई और इसमे पाँचवी योजना को अन्तिम स्वरूप दिया गया। योजना के अन्तिम स्वरूप मे प्रस्तावित रूपरेखा के उद्देश्यो को पुष्ट किया गया। योजना के उद्देश्य आत्म-निर्भरता एव गरीबी उन्मूलन निर्धारित कर दिये गये और कृषि सिचाई एव शक्ति को अर्थ-व्यवस्था का केन्द्रित (Core) क्षेत्र माना गया। नवीन आर्थिक कार्यक्रम का प्रभावशाली क्रियान्वयन करने हेतु वृहदाकार विनियोजन से अधिकतम एव निरन्तर प्रतिफल प्राप्त करने को विशेष महत्व दिया गया। देश मे राजनीतिक परिवर्तनो एव जनता पार्टी के सत्तारूढ होने के पश्चात देश की नियोजन-प्रक्रिया मे मूलभूत परिवर्तन किये गये हैं। नियोजन की प्रक्रिया, उद्देश्य, व्यूह-रचना तथा प्राथमिकताओ सभी मे मूलभूत परिवर्तन हुए हैं। इन परिवर्तनो को लागू करने के लिए पाँचवी योजना की अवधि को एक वर्ष कम कर दिया गया और यह योजना समाप्त कर दी गयी है। 1 अप्रैल, 1978 से अगली पचवर्षीय योजना का प्रारम्भ अनवरत योजना के रूप मे किया गया है।

योजना के लक्ष्य

पाँचवें योजनाकाल मे सकल आन्तरिक उत्पाद की वार्षिक वृद्धि दर 4 37% को आधार मानकर 21 अन्य मदो की प्रगति की वार्षिक दर भी निर्धारित की गयी है। कृषि-उत्पादन मे 3 34% और औद्योगिक खनिज उत्पादन मे 11 44% की वार्षिक वृद्धि का लक्ष्य निर्धारित किया गया। चतुर्थ योजना मे विद्युत-शक्ति की पर्याप्त पूर्ति न होने के कारण कृषि एव औद्योगिक दोनो ही क्षेत्रों को क्षति पहुँची है। इसी कारण पाँचवी योजना मे विद्युत के उत्पादन मे 18 15% प्रति वर्ष की वृद्धि करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। विभिन्न क्षेत्रो के उत्पादन की वार्षिक वृद्धि-दर निम्नांकित तालिका 33 के अनुसार आयोजित की गयी

तालिका 33—पाँचवीं योजना के अन्तर्गत विभिन्न क्षेत्रों मे प्रगति की वार्षिक दर

क्षेत्र	प्रस्तावित पाँचवीं योजना मे वार्षिक प्रगति-दर	अन्तिम रूपरेखा मे वार्षिक प्रगति-दर
कृषि	4 67	3 34
खनिज	10 47	11 44
निर्माणी (Manufacturing)	8 21	6 17
(अ) खाद्य-पदार्थ	5 12	3 73
(आ) वस्त्र	5 12	3 21
(इ) लकडी एव कागज का उत्पाद	6 9	4 90
(ई) चमडा एव रबर के उत्पाद	7 65	2 47
(उ) रसायन-उत्पाद	12 43	10 46
(ऊ) कोयला एव खनिज उत्पाद	10 61	7 90
(ए) गैर-धातु खनिज उत्पाद	8 70	7 33
(ऐ) आधारभूत धातु	12 58	13 40
(ओ) धातु-उत्पाद	8 86	4 64
(औ) गैर-विद्युत इजीनियरिंग-उत्पाद	13 58	7 99
(अ) विद्युत इजीनियरिंग-उत्पाद	9 49	6 92
(अ) यातायात प्रसाधन	7 24	3 12
(क) औजार	9 28	4 95
(ख) विविध उद्योग	8 60	4 42
विद्युत	10 84	8 15
निर्माण (Construction)	8 77	5 18
यातायात	6 13	4 70
सेवाएँ	6 27	4 80
सकल आन्तरिक उत्पाद (घटक-लागत पर)	5 50	4 37

विभिन्न क्षेत्रो की प्रगति-दर का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि प्रस्तावित रूपरेखा मे निर्धारित वार्षिक प्रगति-दरो को अन्तिम रूपरेखा मे लगभग समस्त क्षेत्रो मे घटा दिया गया। अन्तिम रूपरेखा मे निर्धारित दरें अधिक वास्तविक समझी गयी, क्योंकि इनका निर्धारण योजना के प्रथम दो वर्षों की उपलब्धियो के आधार पर किया गया।

पाँचवीं योजना में उत्पादन के लक्ष्य लगभग उसी प्रकार निर्धारित किये गये हैं जैसे पिछली चार योजनाओं में किये गये। विभिन्न क्षेत्रों की प्रगति-दर एवं उत्पादन-लक्ष्य पारस्परिक रूप से सम्बद्ध थे और यह लक्ष्य निर्धारित करते समय आदाय-प्रदाय-विश्लेषण का व्यापक उपयोग किया गया। पाँचवीं योजना के भौतिक लक्ष्य निम्नांकित तालिका 34 के अनुसार रखे गये :

तालिका 34—पाँचवीं योजना के भौतिक लक्ष्य

मद	इकाई	1973-74 में सम्भावित उत्पादन	1978-79 का प्रस्तावित योजना में लक्ष्य	1978-79 का अन्तिम रूप-रेखा में लक्ष्य
चाय	लाख किलो	4,600	5,500	20
कोयला	लाख टन	790	1,350	1,240
कच्चा लोहा	लाख टन	357	580	560
अशोधित खनिज तेल	लाख टन	72	120	141.8
शक्कर	लाख टन	39.5	57	54
सूती कपड़ा	लाख मीटर	79,460	1,00,000	95,000
जूट की निर्मित वस्तुएं	हजार टन	1,074	1,500	1,280
कागज आदि	हजार टन	776	1,200	1,050
अखबारी कागज	हजार टन	48.7	151	80.0
नाइट्रोजियस खाद (N)	हजार टन	1,058	4,000	2,900
फास्फेटिक खाद (P_2O_5)	हजार टन	319	1,250	770
सलफ्यूरिक एसिड	हजार टन	1,343	3,200	2,700
खनिज तेल-उत्पाद	हजार टन	197	346	270
सीमेण्ट	लाख टन	146.7	250	208
हल्का इस्पात (तैयार) (Mild Steel)	लाख टन	48.9	94	88
बिक्री हेतु लौह-पिण्ड	लाख टन	15.9	25	25
अल्यूमिनियम	हजार टन	147·9	370	310
विद्युत मोटर	लाख अश्व-शक्ति	32.4	58	45
विद्युत (क्षमता)	करोड़ किलोवाट	720	1,200	1,160 से 1,170
तिलहन	लाख टन	93.9	125	120
गन्ना	लाख टन	1,408	1,700	1,650
कपास	लाख गाँठ	63.1	80	80
जूट एवं मेस्टा	लाख गाँठ	76.8	—	77.0
खाद्यान्न	लाख टन	1,047	1,400	1,250
मशीनी औजार	करोड़ रुपया	67.3	137	130

पाँचवीं योजना के भौतिक लक्ष्यों की उक्त तालिका के अध्ययन से ज्ञात होता है कि प्रस्तावित रूपरेखा की तुलना में अन्तिम रूपरेखा में कृषि एवं औद्योगिक उत्पादों के लगभग सभी लक्ष्यों में कमी कर दी गयी। अन्तिम रूपरेखा बनाते समय 1973-74 (आधार वर्ष) के वास्तविक उत्पादन के आँकड़े उपलब्ध हो चुके थे और योजना के प्रथम दो वर्षों 1974-75 एवं 1975-76 की उत्पादन की प्रवृत्ति भी ज्ञात हो चुकी थी। इन दोनों तथ्यों के आधार पर योजना के भौतिक लक्ष्यों को संशोधित करके कम कर दिया गया। प्रस्तावित योजना बनाते समय सन 1973-74 (आधार वर्ष) के लिए जो भौतिक उपलब्धियाँ अनुमानित की गयी थीं वास्तव में ये उपलब्धियाँ अनुमान से कम रहीं।

पाँचवीं योजना का व्यय-वितरण

प्रस्तावित पांचवी योजना की रूपरेखा में सरकारी क्षेत्र का व्यय 37,463 करोड़ रुपये आयोजित किया गया था जिसे अन्तिम रूपरेखा में बढ़ाकर 39,303 करोड़ रुपये कर दिया गया। विभिन्न मदों पर व्यय का वितरण निम्नांकित तालिका 35 के अनुसार आयोजित किया गया

तालिका 35—पांचवीं योजना का व्यय-वितरण (1974-79)

(करोड़ रुपयों में)

मद	प्रस्तावित रूपरेखा में आयोजित व्यय	अन्तिम रूपरेखा में आयोजित व्यय	अन्तिम रूपरेखा में कुल व्यय में प्रतिशत
कृषि एवं सहायक क्षेत्र	4,944 08	4 643 6	11 8
सिंचाई एवं बाढ़-नियन्त्रण	2,804 86	3,434 0	8 7
शक्ति	6,076 65	7,015 9	17 1
उद्योग एवं खनिज	9,031 11	10,200 6	26 1
यातायात एवं सचार	7 110 62	6 881 4	17 5
शिक्षा	1 708 85	1,284 29	3 3
वैज्ञानिक अनुसन्धान	5,786 80 (वैज्ञानिक अनुसन्धान से अन्य कार्यक्रम तक सम्मिलित)	445 3	1 1
स्वास्थ्य		681 7	1 7
परिवार-नियोजन		497 4	1 3
जल-पूर्ति एवं सफाई		930 2	2 4
निवासगृह नगरीय एवं क्षेत्रीय विकास		1,106 9	2 8
पिछड़े वर्गों का कल्याण		687 0	1 7
समाज-कल्याण		86 2	0 2
श्रम कल्याण एवं दस्तकारों का प्रशिक्षण		50 1	0 1
अन्य कार्यक्रम		1,358 6	4 2
योग	37,462 97	39,303 2	100 0

उपर्युक्त तालिका के अध्ययन से ज्ञात होता है कि पांचवी योजना में सरकारी क्षेत्र के व्यय में सर्वाधिक राशि औद्योगिक विकास के लिए आयोजित की गयी। प्रस्तावित रूपरेखा की तुलना में अन्तिम रूपरेखा में योजना का कुल व्यय 1,840 करोड़ बढ़ा दिया गया। यद्यपि प्रस्तावित रूपरेखा की तुलना में सार्वजनिक क्षेत्र के व्यय में तो वृद्धि कर दी गयी परन्तु भौतिक लक्ष्य सभी क्षेत्रों में कम कर दिये गये। इन तथ्यों से यह नतीजा निकाला जा सकता है कि योजना में व्यय की तुलना में भौतिक उपलब्धि उत्साहजनक नहीं रही। प्रस्तावित रूपरेखा की तुलना में सिंचाई एवं बाढ़-नियन्त्रण शक्ति एवं उद्योग तथा खनिज क्षेत्रों के लिए आयोजित व्यय में वृद्धि की गयी जबकि सभी अन्य क्षेत्रों का आयोजित व्यय घटा दिया गया। यदि योजनाकाल की मूल्य-वृद्धि को आयोजित व्यय का कारण मान लिया जाय तो कृषि-क्षेत्र एवं यातायात तथा सचार के लिए आयोजित व्यय को कम करने से इन क्षेत्रों के विकास की गति शिथिल होना स्वाभाविक था। विभिन्न क्षेत्रों के विकास की गति शिथिल होना भी स्वाभाविक था। विभिन्न क्षेत्रों के व्यय में कटौती करके एवं बढ़ी हुई आयोजित व्यय की राशि में से 5,339 73 करोड़ रुपया 1977-79 के दो वर्षों के लिए 20-सूत्री कार्यक्रम के लिए आयोजित किया गया।

विनियोजन एवं बचत

पाँचवीं योजना की प्रस्तावित रूपरेखा में 31,400 करोड़ रुपये सरकारी क्षेत्र में और 16,161 करोड़ रुपये निजी क्षेत्र में विनियोजन करने का आयोजन किया गया था। विनियोजन

सम्बन्धी आयोजनो मे अन्तिम रूपरेखा मे मूल्य-स्तर मे निरन्तर वृद्धि होने के कारण पर्याप्त वृद्धि की गयी। व्यय एव विनियोजन के अनुमान 1974-75 वर्ष के लिए इसी वर्ष के मूल्य-स्तर के आधार और शेष चार वर्षों के लिए 1975-76 वर्ष के मूल्य-स्तर के आधार पर लगाये गये। योजना की अन्तिम रूपरेखा मे 63,751 करोड रुपये का विनियोजन करने का लक्ष्य रखा गया जिसमे से 36 703 करोड रुपया सरकारी क्षेत्र मे और 27,048 करोड रुपया निजी क्षेत्र मे विनियोजन करने का आयोजन किया गया। प्रस्तावित रूपरेखा मे सरकारी एव निजी क्षेत्र के विनियोजन का अनुपात 66 34 था जो अन्तिम रूपरेखा मे निजी क्षेत्र के पक्ष मे समायोजित कर दिया गया और अब यह अनुपात 58 42 हो गया।

63,751 करोड रुपये की विनियोजन की राशि मे 58,320 करोड रुपये आन्तरिक बचत और शेष 5,431 करोड रुपये विदेशी साधनो से उपलब्ध होने का अनुमान लगाया गया। आन्तरिक बचत का लगभग 27% भाग अर्थात् 15,994 करोड रुपये सार्वजनिक उपक्रमो एव वित्तीय सस्थाओ से उपलब्ध होने का अनुमान लगाया गया और शेष 73% भाग निजी क्षेत्र की समामेलित सस्थाओ गैर साख सहकारी सस्थाओ और पारिवारिक बचत मे प्राप्त होने का अनुमान लगाया गया। यह अनुमान लगाया गया कि आन्तरिक बचत का सकल राष्ट्रीय उत्पादन से प्रतिशत 1973-74 मे 14 4% (1973-74 के मूल्यो पर) से बढकर 1978-79 मे 15 9% (1975-76 के मूल्यो पर) हो जायेगा।

अर्थ-साधन

पाँचवी पचवर्षीय योजनाकाल मे विभिन्न उपक्रमो मे अर्द्ध-निर्मित वस्तुओ के सग्रह (Inventories) मे लगभग 3 000 करोड रुपये की वृद्धि का अनुमान लगाया गया और इस प्रकार योजना का कुल व्यय 42 300 करोड रुपये अनुमानित किया गया। अन्तिम रूपरेखा निर्धारित करते समय यह तथ्य स्वीकार किया गया कि मुद्रा-प्रसारण विधियो के उपयोग के बिना ही योजना के अर्थ-साधनो की व्यवस्था की जानी चाहिए और इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु कठोर राजकोषीय नीति, समन्वित मौद्रिक नीति, सार्वजनिक उपक्रमो की कार्यकुशलता मे वृद्धि, अतिरिक्त बचत का सग्रहण तथा समाज के सम्पन्न वर्ग के उपभोग व्यय को सीमांकित करने को योजना मे स्थान दिया गया। *योजना के कुल व्यय का लगभग 81 7% भाग आन्तरिक बजट के साधनो और लगभग* 14 9% विदेशी सहायता से उपलब्ध होने का अनुमान लगाया गया। विभिन्न स्रोतो से अर्थ-साधन निम्नवत उपलब्ध होने का अनुमान लगाया गया

तालिका 36—पाँचवीं योजना के अर्थ-साधन (करोड रुपयो मे)

	मद	प्रस्तावित योजना मे	अन्तिम रूप-रेखा मे
1	आन्तरिक बजट के साधन	33,807	32,115
	(क) 1973-74 की दरो पर चालू आय का अतिरेक	7,348	4 901
	(ख) सार्वजनिक उपक्रमों से 1973-74 की किराये-भाड़े की दरो के आधार पर सकल अतिरेक	5,988	849
	(ग) सरकार सार्वजनिक उपक्रमो, स्वस्थानीय सस्थाओ द्वारा प्राप्त निर्माण ऋण	7 232	5,879
	(ङ) लघु बचत	1,850	2,022
	(च) राज्य प्रॉवीडेंट फण्ड	1,280	1,987
	(छ) वित्तीय सस्थाओ से सार्वजनिक ऋण	895	628
	(ज) बैंको से वाणिज्यिक साख	1,185	—
	(झ) सार्वजनिक वित्तीय सस्थाओ द्वारा अपने साधनो का स्थायी सम्पत्तियो मे विनियोजन	90	—
	(ञ) विविध पूंजीगत प्राप्तियाँ (शुद्ध)	1,089	556
	(ट) अतिरिक्त अर्थ-साधनो का सग्रह	4,300	8,494
	(ठ) विदेशी विनिमय के सचिति के विरुद्ध ऋण	—	600
2	विदेशी सहायता (शुद्ध)	2,443	5,834
3	हीनार्थ अर्थ प्रबन्धन	1,000	1,354
	योग	37,250	39,303

उपर्युक्त तालिका 36 के अध्ययन से ज्ञात होता है कि चालू आय का अतिरेक, सार्वजनिक उपक्रमो का अतिरेक, विपणि ऋण तथा विविध पूंजीगत प्राप्तियो के अन्तर्गत प्राप्त होने वाली राशियो के अनुमान अन्तिम रूपरेखा मे प्रस्तावित रूपरेखा की तुलना मे बहुत कम कर दिये गये। इसका प्रमुख कारण सरकारी गैर-विकास व्यय मे तीव्र गति से वृद्धि होना रहा है। दूसरी ओर, लघु बचत तथा प्रॉवीडेण्ट फण्ड के अन्तर्गत एकत्रित होने वाली राशियो के अनुमान बढा दिये गये। बैंक साख तथा वित्तीय सस्थाओ द्वारा स्थायी कम्पनियो मे किये गये विनियोजनों को अन्तिम रूपरेखा मे सम्मिलित नही किया गया। सार्वजनिक उपक्रमों के अतिरेक मे कमी योजना के प्रथम तीन वर्षों मे रेलवे मे साधनो की हीनता को ध्यान मे रखकर कर दी गयी। रेलवे से योजना के प्रथम तीन वर्षो मे 1,005 करोड रुपये की साधनो की कमी रही और शेप दो वर्षो मे 813 करोड रुपये के साधनो की कमी का अनुमान लगाया गया। इस प्रकार योजनाकाल मे रेलवे मे कुल मिलाकर 1,818 करोड रुपये के साधनो की कमी रहने का अनुमान लगाया गया, जबकि प्रस्तावित रूपरेखा मे रेलवे से 649 करोड रुपये का अतिरेक प्राप्त होने का अनुमान था। इस कमी का प्रमुख कारण बढता हुआ मूल्य-स्तर, प्रशासनिक व्यय मे वृद्धि तथा नयी रेलवे लाइनो के विस्तार पर किया जाने वाला व्यय था। बजट के आन्तरिक साधनों की इस कमी को पूरा करने हेतु अतिरिक्त साधनो के सग्रहण को विशेप महत्व दिया गया और जहाँ प्रस्तावित योजना मे अतिरिक्त साधन-सग्रहण की राशि 4,300 करोड रुपये थी, अन्तिम रूपरेखा मे यह राशि बढाकर दुगुनी अर्थात् 8,494 करोड रुपये कर दी गयी। अतिरिक्त साधन-सग्रहण के लिए करो की दरो मे वृद्धि, सार्वजनिक उपक्रमो के उत्पादो एव सेवाओ के मूल्यो मे वृद्धि, सिंचाई एव बिजली की दरो मे वृद्धि आदि व्यवस्थाएँ की गयी। इन व्यवस्थाओ के फलस्वरूप योजना के प्रथम तीन वर्षो मे 3,773 करोड रुपये प्राप्त होने का अनुमान था और शेप 4,721 करोड रुपयो की राशि योजना के अन्तिम दो वर्षो मे प्राप्त होने का अनुमान था अर्थात् योजना के अन्तिम दो वर्षों मे कर, शुल्क एव सार्वजनिक सेवाओ के मूल्यो मे और अधिक वृद्धि करने की व्यवस्था की गयी।

योजना की अन्तिम रूपरेखा मे देश के विदेशी विनिमय की अनुकूल स्थिति को देखते हुए यह आयोजन किया गया कि योजना के अन्तिम दो वर्षों मे 600 करोड रुपये विदेशी विनिमय के सचय के विरुद्ध रिजर्व बैंक से ऋण लिया जा सकेगा जिसे विकास कार्यक्रम मे उपभोग करना सम्भव होगा।

योजनाकाल मे हीनार्थ-प्रबन्धन की राशि को निरन्तर कम करने का प्रयत्न किया गया। 1971-72 1972-73 एव 1973-74 (योजना के पूर्व के तीन वर्षो मे) हीनार्थ-प्रबन्धन की राशि क्रमश 710 करोड रुपये, 848 करोड रुपये और 775 करोड रुपये थी। पाँचवी योजना के प्रथम तीन वर्षो मे हीनार्थ-प्रबन्धन की राशि 754 करोड रुपये होने का अनुमान था और शेप दो वर्षो मे यह राशि लगभग 300 करोड रुपये प्रति वर्ष होने का अनुमान लगाया गया। इस प्रकार हीनार्थ-प्रबन्धन की राशि को योजना के प्रारम्भ की तुलना मे अन्त के वर्षो मे लगभग आधा करने का लक्ष्य रखा गया।

योजनाकाल मे 9,052 करोड रुपये की विदेशी सहायता (सकल) प्राप्त होने का अनुमान लगाया गया, जबकि प्रस्तावित रूपरेखा मे विदेशी सहायता की सकल राशि 4,008 करोड रुपये ही थी। इसके अतिरिक्त 115 करोड रुपये अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष और 45 करोड रुपये बैंको की पूँजी के रूप मे प्राप्त होने का अनुमान था। इसके अतिरिक्त 431 करोड रुपये सेवाओ से और 2,377 करोड रुपये चालू हस्तान्तरणो से प्राप्त होने का अनुमान लगाया गया। इन राशियों के साथ ही 21,722 करोड रुपये का विदेशी विनिमय निर्यात से प्राप्त होने का अनुमान है। इस प्रकार पाँचवी योजनाकाल मे 33,742 करोड रुपये के विदेशी विनिमय का अर्थ-व्यवस्था मे आगमन होने का अनुमान था। दूसरी ओर, 28,524 करोड रुपये आयात, 1,180 करोड रुपये विदेशी ऋण पर ब्याज, 2,465 करोड रुपये विदेशी ऋणो की वापसी, 257 करोड रुपये विनि-

योजनो पर अन्य व्यय 210 करोड रुपया निजी पूंजी, 174 करोड रुपया सरकारी पूंजी, 494 करोड रुपया विदेशो की सहायता, 134 करोड रुपया मार्गस्थ भुगतान के कारण विदेशी विनिमय का प्रवाह अर्थव्यवस्था से बाहर होने का अनुमान था। इस प्रकार पाँचवी योजनाकाल मे विदेशी विनिमय सग्रह म 304 करोड रुपय की वृद्धि होने का अनुमान लगाया गया।

योजना के अर्थ साधनो के अनुमान निम्नलिखित मान्यताओ पर आधारित है

(1) पाँचवी योजना म प्रगति की 4 37% दर प्रति वर्ष प्राप्त की जा सकेगी और निर्माणी एव खनिज के क्षेत्र मे 8 से 9% प्रति वर्ष की प्रगति दर प्राप्त हो सकेगी। चौथी योजना के अन्तिम वर्ष मे प्रगति की दर 5 2% थी।

(2) घाटे के अर्थ प्रबन्धन को सीमित रखा जायगा जिससे जनता के पास मुद्रा की पूर्ति उतनी ही हो सके जितनी अर्थ-व्यवस्था की वास्तविक प्रगति होने के कारण आवश्यक हो। योजना की वित्त व्यवस्था मुद्रा स्फीति को इस प्रकार प्रेरित न कर सकेगी।

(3) योजनाकाल के अन्त तक विदेशी सहायता को उस सीमा तक कम किया जा सकेगा कि विदेशी सहायता केवल ब्याज एव ऋण शोधन के लिए ही उपयोगी हो।

(4) योजनाकाल मे अतिरिक्त अर्थ साधनो को एकत्रित करने के लिए पर्याप्त प्रयास किये जायेंगे।

(5) योजना-व्यय म समस्त अर्थ-व्यवस्था मे होने वाले पूँजी-निर्माण एव सरकारी क्षेत्र के चालू विकास व्यय का ही सम्मिलित समझा जायेगा।

पाँचवी योजना के अर्थ साधनो का अनुमान लगाने के लिए अर्थ-व्यवस्था को चार खण्डो मे विभक्त किया गया है—(1) सरकारी क्षेत्र, (2) निजी क्षेत्र, (3) वित्तीय सस्थाएँ, तथा (4) शेष सम्पूर्ण ससार। (1) सरकारी क्षेत्र मे केन्द्रीय सरकारे, राज्य सरकारें, केन्द्र एव राज्य सरकारो के गैर-वित्तीय विभागीय एव स्वायत्त (Autonomous) व्यवसाय सम्मिलित किये गये है। (2) निजी क्षेत्र मे (अ) निजी गैर-वित्तीय समामेलित क्षेत्र, (आ) पारिवारिक क्षेत्र (जिसमे गैर समामेलित व्यवसाय भी है) तथा (इ) गैर सरकारी क्षेत्र सम्मिलित है। (3) वित्तीय सस्थाओं में (अ) रिजर्व बैंक (आ) व्यापारिक बैंक, (इ) जीवन बीमा निगम (ई) सर्वाधिक वित्त प्रदान करने वाली सस्थाएँ (क) सहकारी साख सस्थाएँ (ख) निजी समामेलित वित्तीय सस्थाएँ (ग) लघु बचत योजनाएँ, (घ) राज्य प्रावीडेण्ट फण्ड तथा (ङ) कर्मचारी एव अन्य प्रोवीडेण्ट फण्ड सम्मिलित हैं। (4) शेष सम्पूर्ण ससार मे विदेशी सहायता से उपलब्ध होने वाले साधनो को सम्मिलित किया गया है। सरकारी चालू विकास व्यय के लिए अर्थ-साधन केन्द्र एव राज्य सरकारो के बजट के साधनो से ही उपलब्ध किये जायेंगे।

चालू आय का अतिरेक—चतुर्थ योजनाकाल मे इस स्रोत से 236 करोड रुपया का ऋणात्मक योगदान विकास-कार्यों को उपलब्ध हुआ। चतुर्थ योजना मे जो अतिरिक्त साधन एकत्रित करने के लिए करो एव दरो मे वृद्धि की गयी थी उससे चतुर्थ योजनाकाल मे 5 038 करोड रुपया प्राप्त होने का अनुमान लगाया गया था। चतुर्थ योजना की इन करो की दरो को अब चालू आय मे सम्मिलित कर लिया गया है और पाँचवी योजना मे इस साधन से 4 901 करोड रुपये प्राप्त होने का अनुमान लगाया गया है।

सार्वजनिक उपक्रमों का अतिरेक—सार्वजनिक व्यवसायो के अतिरेक मे ह्रास के लिए आयोजन एव रोके गये लाभ की राशियाँ सम्मिलित है। इस स्रोत की अनुमानित राशि 849 करोड रुपये प्राप्त होने का अनुमान था। सार्वजनिक उपक्रमो के अतिरेक की गणना करते समय चालू प्रतिस्थापन लागत, ऋणो के शोधन तथा अद्धनिर्मित सग्रह के लिए सकल अतिरेक मे से कोई कटौती नही की गयी है।

अतिरिक्त साधनों का सग्रह—पाँचवी योजना के लिए 8,494 करोड रुपया अतिरिक्त साधनों से सग्रहीत किया जाना था। अतिरिक्त साधन जुटाने हेतु कृषि क्षेत्र मे राज्य-समिति की सिफारिशो को लागू किया जाना था जिसके अन्तर्गत कृषि-भूमि धारणकर, अगले लगान मे दी गयी रियायतो को कम करना लगान पर सरचार्ज लगाना आदि कार्यवाहियाँ सम्मिलित थी। दूसरी

ओर, सिचाई की दरो तथा विद्युत-पूर्ति के शुल्क को बढाने की भी व्यवस्था की गयी थी। सार्वजनिक उपक्रमो की मूल्य नीतियो मे हेर-फेर करके उनमे लगी पूंजी पर सन्तोषजनक दर से प्रतिफल प्राप्त किया जाना था। योजनाकाल मे अप्रत्यक्ष करो को अतिरिक्त साधन प्राप्त करने का मुख्य स्रोत माना गया। विभिन्न वस्तुओ पर इस प्रकार करारोपण किया जाना था कि आयातित वस्तुओ की माँग कम की जा सके, निर्यात हेतु वस्तुओ का अधिक अतिरेक उपलब्ध हो सके, उत्पादक साधनो का उचित आवटन किया जा सके, कम पूर्ति वाली वस्तुओ की माँग पूर्ति मे सन्तुलन स्थापित किया जा सके तथा अत्यधिक लाभ पर अधिक करारोपण किया जा सके। पाँचवी योजनाकाल मे खाद्य-अनुदानो मे कमी तथा जायदाद-करो मे वृद्धि की जानी थी। स्थानीय सस्थाओ द्वारा भी स्थानीय करो से अधिक वसूली की जानी थी।

विपणि ऋण एव लघु बचत—सरकारी एव अर्द्ध सरकारी प्रतिभूतियो मे जमा करने वालो मे व्यापारिक बैंक, जीवन बीमा निगम, निजी क्षेत्र के कर्मचारी प्रॉवीडेण्ट फण्ड तथा अन्य प्रॉवीडेण्ट फण्ड हैं। योजना मे व्यापारिक बैंको में निक्षेप एव जीवन बीमा निगम के व्यवसाय मे तेजी से वृद्धि होने का अनुमान था। इसी प्रकार प्रावीडेंण्ट फण्ड मे अनिवार्य जमा की व्यवस्था के कारण इनमे भी अधिक धन उपलब्ध होना था। इन सभी के द्वारा सरकारी प्रतिभूतियो मे अधिक धन जमा किया जा सकेगा। कर्मचारी प्रॉवीडेण्ट फण्ड मे अनिवार्य रूप मे जमा की जाने वाली राशि का बहुत बडा भाग लघु बचत के रूप मे भी उपलब्ध होना था। विपणि राज्य एव लघु बचत से 5,879 करोड रुपया प्राप्त होना था।

वित्तीय सस्थाओ एव बैंको से ऋण—राज्य सरकारो, स्थानीय सस्थाओ एव राजकीय उपक्रमो को जीवन बीमा निगम आदि से विभिन्न कल्याण-कार्यक्रमो—जलपूर्ति, निवासगृह निर्माण आदि—के लिए 628 करोड रुपये का ऋण योजनाकाल मे प्राप्त होने का अनुमान था। सरकार को विभिन्न सस्थाओ एव परिवारो से ऋणो की वापसी आदि के रूप म 556 करोड रुपये प्राप्त होने का अनुमान लगाया गया है।

घाटे का अर्थ प्रबन्धन—योजना के प्रथम तीन वर्षों मे 754 करोड रुपये का घाटे का अर्थ प्रबन्धन किया गया। शेष दो वर्षों म 60 करोड रुपये के हीनार्थ-प्रबन्धन की व्यवस्था की गयी। इस प्रकार योजना से 1 354 करोड रुपये के घाटे के अर्थ प्रबन्धन का आयोजन किया गया।

विकास की दर

पाँचवी योजना मे विभिन्न आर्थिक क्षेत्रो की विकास की दरो मे प्रास्तावित योजना की तुलना मे कुछ कमी का अनुमान लगाया गया है क्योकि 1973-74 और 1974-75 के वर्षो मे इस क्षेत्र

तालिका 37—विभिन्न आर्थिक क्षेत्रो मे सकल उत्पादन एव सकल आय-वृद्धि की प्रगति-दर (1973 74 से 1978-79)

	क्षेत्र	सकल उत्पादन मे प्रगति की दर का प्रतिशत	सकल आय मे वृद्धि की दर का प्रतिशत	सकल आय-वृद्धि की सरचना (1974-75 के मूल्यो पर प्रतिशत)	
				1973-74	1978 79
1	कृषि	3 94	3 34	50 78	48 15
2	खनिज एव निर्माण	7 10	6 54	15 78	17 49
3	विद्युत	10 12	8 15	0 79	0 94
4	निर्माण	5 90	5 18	4 06	4 21
5	यातायात	4 79	4 70	3 43	3 48
6	सेवाएँ	4 88	4 80	25 18	25 74
	योग		4 37	100 00	100 00

पाँचवीं योजना के विकास-कार्यक्रम

कृषि एवं सिंचाई

पाँचवी योजना मे विभिन्न फसलो के उत्पादन के लक्ष्यो की प्राप्ति हेतु बहुकोणीय प्रयासो का आयोजन किया गया

(1) समस्या-प्रधान अनुसन्धान का विस्तार करना,

(2) कृषि-सेवा एव प्रशासन को सुदृढ बनाना,

(3) प्रमाणित बीजो के उपयोग एव वितरण के कार्यक्रम का विस्तार करना,

(4) रासायनिक उर्वरकों का अधिक एव अच्छा उपयोग,

(5) जल-प्रबन्धन,

(6) सस्थागत साख का विस्तार,

(7) फसल आने के पश्चात (Post-Harvest) सुविधाओं एव फसलो के विपणन की सुविधाओ का विकास, तथा

(8) विपणन की अव-सरचना (Infra structure) सुदृढ बनाने हेतु गोदामो का पर्याप्त विस्तार।

पाँचवी योजना मे 110 लाख हेक्टेयर भूमि की वृद्धि फसल के सकल क्षेत्रफल मे करने का लक्ष्य रखा गया। सन् 1978-79 तक इस प्रकार की फसलों का सकल क्षेत्रफल 1,800 लाख हेक्टेयर हो जाने का अनुमान लगाया गया। योजना में लघु एव सीमान्त कृषको को लाभान्वित करने के लिए शुष्क कृषि-तकनीक का बडे स्तर पर उपयोग किया जाना था। 40 बडी सिंचाई-परियोजनाओं द्वारा 140 लाख हेक्टेयर भूमि मे सिंचाई सुविधाएँ उपलब्ध करायी जानी थी।

1973-74 मे विपुल उपज मे बीजो का उपयोग 258 लाख हेक्टेयर भूमि मे किया जाना था। पाँचवी योजना के अन्त मे 400 लाख हेक्टेयर भूमि पर विपुल बीजो का उपयोग किया जा सकेगा। इसी प्रकार योजनाकाल मे रासायनिक उर्वरकों का उपयोग 28 लाख टन से बढाकर 50 लाख टन होने का अनुमान लगाया गया। योजनाकाल में 3,094 93 करोड रुपया बडी एव मध्यम श्रेणी की सिंचाई परियोजनाओ के लिए आयोजित किया गया जिसमे 58 लाख हेक्टेयर भूमि के लिए सिंचाई सुविधाओ की क्षमता बढायी जाने का अनुमान लगाया गया। दूसरी ओर, योजनाकाल मे लघु सिंचाई सुविधाएँ 85 लाख हेक्टेयर भूमि के लिए अतिरिक्त रूप से उपलब्ध होने का अनुमान था।

शक्ति

पाँचवी योजना मे शक्ति की माँग मे तेजी से वृद्धि का अनुमान है। इस माँग की पूर्ति हेतु शक्ति के सम्बन्ध मे जो व्यूह-रचना बनायी गयी है, उसके प्रमुख अग निम्नवत् है

(1) शक्ति की पूर्ति के स्थायित्व एव सुधार करने हेतु वर्तमान शक्ति के सचालन एव निर्वाह को सुधारने, राज्य के अन्दर विभिन्न लाइनो को जोडने, अन्तरराज्यीय लाइनो को जोडने, वर्तमान ट्रान्समिशन एव वितरण-व्यवस्था को सुदृढ बनाने तथा सूखे का शक्ति-उत्पादन पर प्रभाव न पडने के लिए कार्य-क्षमता मे वृद्धि करने का आयोजन किया जाना है।

(2) शक्ति-सम्बन्धी कार्यक्रमो को अधिक तीव्र गति से कार्यान्वित करना।

(3) प्राथमिकता प्राप्त उद्योगो, जैसे इस्पात, उर्वरक, कोयला आदि शक्ति की पूर्ति का आश्वासन।

(4) सामाजिक उद्देश्यो के अनुरूप शक्ति के कार्यक्रमो का निर्धारण।

(5) विज्ञान एव यान्त्रिकता मे होने वाले सुधारो को ध्यान मे रखते हुए छठी योजना की अग्रिम कार्यवाहियाँ करना।

चतुर्थ योजना के अन्त मे 184 5 लाख किलोवाट शक्ति की क्षमता निर्मित हुई। पाँचवी योजना मे 125 लाख किलोवाट शक्ति की क्षमता निर्मित करने का लक्ष्य रखा गया। चतुर्थ योजना

में 93 लाख किलोवाट शक्ति की क्षमता निर्मित करने का लक्ष्य था परन्तु वास्तविक उपलब्धि 42 8 लाख किलोवाट हुई। पाँचवीं योजना में विद्युतीकरण की विशेष व्यवस्था की गयी। योजनाकाल में 81,000 ग्रामीण वस्तियाँ और 5,000 हरिजन-वस्तियों का विद्युतीकरण किया जायेगा।

उद्योग एवं खनिज

पाँचवीं योजना में उद्योग एवं खनिज-विकास के कार्यक्रम इस प्रकार निर्धारित किये गये कि योजना के दोनों प्रमुख उद्देश्यों—आत्म-निर्भरता तथा सामाजिक न्याय—के साथ प्रगति की उपलब्धि की जा सके। औद्योगिक क्षेत्र के विनियोजन एवं उत्पादन के कार्यक्रमों द्वारा निम्नलिखित लक्ष्यों की पूर्ति की जानी थी

(1) **केन्द्रित क्षेत्र के उद्योगों की तीव्र गति से प्रगति**—केन्द्रित उद्योगों में इस्पात, अलौह धातुएँ उर्वरक खनिज तेल, कोयला एवं मशीन-निर्माण उद्योग सम्मिलित किये गये। इन उद्योगों के विकास से आयात में बचत होती है जिसमें अर्थ-व्यवस्था सुदृढ़ होती है।

(2) **निर्मित उत्पादन**—निर्मित वस्तुओं के उत्पादन में विविधता का विस्तार करके निर्यात में लक्ष्यानुसार वृद्धि करना सम्भव हो सकता है। योजना के औद्योगिक कार्यक्रमों में चयनात्मक आधार पर निर्यात हेतु अतिरिक्त उत्पादन क्षमता बढ़ाने का आयोजन किया गया।

(3) **जन-उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि**—कपड़ा, खाद्य-तेलों एवं वनस्पति, शक्कर, औषधियाँ एवं टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि करने का आयोजन योजना में किया गया।

(4) **अनावश्यक वस्तुओं के उत्पादन पर रोक**—निर्यात के अतिरिक्त घरेलू उपभोग हेतु अनावश्यक वस्तुओं के उत्पादन के लिए साधनों के उपयोग को प्रतिबन्धित किया जाना था।

पाँचवें योजनाकाल में उद्योग एवं खनिज-विकास पर 16,660 करोड़ रुपये व्यय करने का लक्ष्य है जिसमें 9 660 करोड़ रुपया सार्वजनिक क्षेत्र में और 7,000 करोड़ रुपया निजी एवं सहकारी क्षेत्र में विनियोजित होना था। सार्वजनिक क्षेत्र का अधिकतर विनियोजन उच्च प्राथमिकता-प्राप्त उद्योगों, जैसे इस्पात अलौह धातु, उर्वरक, कोयला, खनिज तेल एवं औद्योगिक सयन्त्र में किया जाना था। भिलाई एवं बुकारो के इस्पात-कारखानों का विस्तार किया जाना था। विशेष इस्पात हेतु सलेम दुर्गापुर मैसूर परियोजनाओं को प्रारम्भ किया जाना था।

योजना में औद्योगिक उत्पादन-वृद्धि की दर 7% प्रति वर्ष निर्धारित की गयी। औद्योगिक बड़े घरानों एवं विदेशी संस्थानों को केन्द्रित उद्योग की स्थापना करने की अनुमति दी जायेगी, यदि ये उद्योग सार्वजनिक क्षेत्र अथवा लघु उद्योग क्षेत्र को सुरक्षित न कर दिया गया हो। निर्यात उद्योगों की स्थापना औद्योगिक बड़े घरानों एवं विदेशी संस्थानों द्वारा की जा सकेगी। तान्त्रिकताओं के आयात की अनुमति तभी दी जानी थी जबकि भारतीय प्रसाधन, डिजाइन-इंजीनियरिंग एवं परामर्श-सेवा का पूर्णतम उपयोग सम्भव हो। विदेशी पूँजी की भागीदारी 40% से अधिक नहीं हो सकती थी और इसे तभी स्वीकार किया जाना था जबकि यान्त्रिक कमियों के लिए यह आवश्यक हो।

ईंधन नीति समिति (Fuel Policy Committee) के सुझावों के आधार पर यह निर्णय किया गया कि योजनाकाल में रेलों का और अधिक विद्युतीकरण, जल-शक्ति का अधिक उपयोग, उर्वरक-उत्पादन हेतु कोयले का अधिक उपयोग तथा न्यूक्लियर ऊर्जा का विस्तार किया जाना था। खनिज तेल उत्पादों की माँग सन 1978-79 तक 360 लाख टन होने की सम्भावना है। अभी तक जो परियोजनाएँ सचालित है, उनमें 236 लाख टन तेल-शोधनक्षमता का निर्माण हो जाना था। पाँचवीं योजना में 100 लाख टन क्षमता की वृद्धि करने का लक्ष्य रखा गया। देश में कच्चे तेल का भण्डार सीमित है और अधिकतर कच्चे तेल के लिए आयात पर निर्भर रहना पड़ेगा। कच्चे तेल की खोज के लिए एक दसवर्षीय योजना बनायी गयी जिसके अन्तर्गत 700 लाख टन कच्चे तेल की खोज की जायगी और सन 1978-79 में अशोधित तेल का लक्ष्य 141 8 लाख टन निर्धारित किया गया।

लघु एवं ग्रामीण उद्योग—पाँचवी योजना मे लघु एवं ग्रामीण उद्योगो के सम्बन्ध मे निम्नलिखित नीति निर्धारित की गयी :

(i) साहसिक क्रियाओं का विकास एवं प्रवर्तन तथा एकीकृत परामर्श-सेवाओं की व्यवस्था जिसमे स्वतः रोजगार करने वालो को अधिकतम रोजगार के अवसर उपलब्ध हो सकें।

(ii) वर्तमान कुशलताओ एवं प्रसाधनों का अधिकतम उपयोग।

(iii) उत्पादन-तान्त्रिकताओ मे सुधार तथा उनको उपयोगी बनाना।

(iv) अर्द्ध-नगरीय एवं ग्रामीण क्षेत्रो (जिनमे पिछड़े क्षेत्र सम्मिलित है) के प्रगति-केन्द्रों मे लघु उद्योगो का विकास।

(v) औद्योगिक सहकारिताओं को अंश-पूँजी के लिए ऋण, ब्याज एवं प्रबन्ध-व्यय हेतु अनुदान, परामर्श-सेवा की व्यवस्था, प्रशिक्षण एवं विपणि आदि के लिए सहायता प्रदान करना।

(vi) ग्रामीण उद्योगो के विकास हेतु सचालित विभिन्न कार्यक्रमो मे समन्वय स्थापित करना। विभिन्न एजेन्सियाँ, जो इन उद्योगो को सहायता प्रदान करती है, उनके क्रियाकलाप मे समन्वय स्थापित करना।

(vii) लघु उद्योगो की सांख्यकी के सग्रहण से सम्बन्धित जो स्कीमें चल रही है, उनको जारी रखा जायेगा और नयी स्कीमो को लागू करके सम्बन्धित समको को नवीनतम बनाया जायेगा।

ग्रामीण एवं लघु उद्योगो के विकास द्वारा योजनाकाल मे 60 लाख लोगों को अतिरिक्त रोजगार के अवसर प्रदान करने का आयोजन था। इस क्षेत्र के लिए योजना मे 535 03 करोड रुपये की व्यवस्था की गयी।

यातायात एवं सचार

पाँचवें योजनाकाल मे रेल-यातायात के विस्तार एवं विकास की व्यवस्था की गयी। सन् 1978-79 तक रेलो द्वारा 2,600 लाख टन माल ढोया जाना था और 3,300 लाख यात्रियो को यात्रा-सुविधाएँ प्रदान की जानी थी। 1,800 किलोमीटर मार्ग का विद्युतीकरण किया जायेगा। 100 करोड रुपये का आयोजन नयी रेल-लाइनों के डालने के लिए किया गया। सडक-यातायात के क्षेत्र मे चौथी योजना मे प्रारम्भ किये गये कार्यक्रमों को पूरा किया जाना था। 1,500 एवं इससे अधिक जनसख्या वाले ग्रामो को सब ऋतुओ मे उपयोगी सडकों से जोड़ा जाना था। योजनाकाल मे बडे बन्दरगाहो मे 770 लाख टन माल ढोये जाने का आयोजन किया गया।

रोजगार

पाँचवी योजना मे रोजगार के अवसरो मे वृद्धि करने को विशेष महत्व प्रदान किया गया क्योंकि रोजगार-व्यवस्था एवं नीति 'गरीबी हटाओ' लक्ष्य से घनिष्ठ रूप मे सम्बद्ध था। योजना मे मजदूरी वाले रोजगार-अवसरो एवं स्वतः रोजगार वाले अवसरो मे तीव्र गति से वृद्धि करने की व्यवस्था की गयी। योजना मे गैर कृषि क्षेत्र मे मजदूरी वाले रोजगार के अवसरो मे पर्याप्त वृद्धि की जानी थी। रोजगार के अवसरों को निर्माण, खनिज एवं निर्माणी, विद्युत-उत्पादन, वितरण आदि, यातायात एवं सचार, व्यापार, सग्रहण, अधिकोषण एवं बीमा तथा समाज-सेवा के क्षेत्रों मे तेजी से बढाया जाना था। पाँचवी योजना मे मजदूरी वाले रोजगार-अवसरो मे होने वाली वृद्धि श्रम-शक्ति की वृद्धि की तुलना मे फिर भी कम थी। इस कमी की पूर्ति के लिए स्वतः रोजगार प्राप्त होने वाले अवसरो मे वृद्धि करने की आवश्यकता थी। अतिरिक्त श्रम-शक्ति का लगभग दो-तिहाई भाग कृषि-क्षेत्र मे उदय होना था जिसे कृषि-क्षेत्र मे पूर्णकालीन रोजगार प्रदान करने की व्यवस्था की जानी थी। योजना मे कृषि-क्षेत्र से गैर-कृषि-क्षेत्र मे श्रम-शक्ति के हस्तान्तरण को मान्यता नही दी गयी। कृषि-क्षेत्र मे रोजगारो के अवसरो मे वृद्धि भूमि के पुनर्वितरण के कारण उदय होने का अनुमान लगाया गया।

शिक्षित बेरोजगारी की समस्या के निवारण के लिए विश्वविद्यालयीन शिक्षा को इस प्रकार नियमित किया जाना था कि यह रोजगार की सरचना के अनुरूप हो। उच्चतर माध्यमिक स्तर

पर व्यावसायिक शिक्षा का विस्तार करके विश्वविद्यालयीन क्षेत्र मे छात्रो की सख्या को आवश्यकता से अधिक बढने को भी रोकने के प्रयत्न किये जाने थे।

पाँचवीं योजना की प्रगति एवं उपलब्धियाँ

पाँचवी योजना को प्रारम्भ से ही बडे कठिन दौर से गुजरना पडा। राजनीतिक, आर्थिक, प्रशासनिक एव मौद्रिक सभी क्षेत्रो मे कठिन परिस्थितियो का प्रादुर्भाव योजना के प्रारम्भ मे हो गया जिसके परिणामस्वरूप एक ओर योजना के कार्यक्रमो का कुशलता से सचालन नही किया जा सका और दूसरी ओर नियोजन सम्बन्धी आर्थिक एव प्रशासनिक निर्णय भी समय पर नही लिये जा सके। योजना के प्रथम तीन वर्षों तक योजना की प्रस्तावित रूपरेखा के आधार पर ही वार्षिक योजनाओ का सचालन किया गया और योजना को अन्तिम रूप सितम्बर, 1976 मे दिया जा सका। 1 अप्रैल, 1974 से योजना सम्बन्धी निर्णय तात्कालिक राजनीतिक एव आर्थिक आवश्यकताओ एव विचार-धाराओ के आधार पर लिये जाते रहे। योजना के विकास-कार्यक्रमों के व्यय मे अभियोजित ढग से सशोधन किये गये जिससे योजना की प्राथमिकताएँ भिन्न-भिन्न हो गयी और अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रो मे असन्तुलन उदय होते रहे। योजना की अन्तिम रूपरेखा मे सभी भौतिक लक्ष्यो को घटा दिया गया, जबकि योजना के व्यय मे वृद्धि की गयी। जून, 1974 मे देश मे आपात-स्थिति लागू की गयी और अर्थ-व्यवस्था के असन्तुलनो को दूर करने का प्रयत्न किया गया। परन्तु विकास की गति मे कोई सुधार नही हुआ। 1975-76 मे 20-सूत्री कार्यक्रम प्रारम्भ किया गया। आर्थिक दृष्टिकोण मे आपातकाल मे उदय हुए अनुशासन का लाभ केवल 1975-76 वर्ष मे ही उपलब्ध हो सका। इस वर्ष हमारे सकल राष्ट्रीय उत्पादन, कृषि एव औद्योगिक उत्पादन मे क्रमश 8 5%, 15 6% और 6 1% की वृद्धि हुई परन्तु 1976-77 मे विकास की यह गति नही रही और इस वर्ष कृषि-उत्पादन मे 6 7% की कमी हुई, जबकि औद्योगिक उत्पादन की वृद्धि-दर 10 4% हो गयी। इस वर्ष आर्थिक विकास की दर 1 6% ही रही। इस प्रकार आपात-काल के अनुशासन का कुछ लाभ औद्योगिक क्षेत्र को तो उपलब्ध हुआ परन्तु कृषि-क्षेत्र की प्रगति मे उच्चावचान निरन्तर बने रहे।

मार्च, 1977 मे देश मे राजनीतिक परिवर्तनो के परिणामस्वरूप आर्थिक नीतियो, नियोजन-प्रक्रिया एव नियोजन के लक्ष्यो तथा समर-नीति मे मूलभूत परिवर्तन करने का विचार किया गया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए योजना-आयोग का पुनर्गठन किया गया जिसने देश की नियोजन-प्रक्रिया को स्थिर पाँच-वर्षीय योजना से बदलकर चक्रीय योजना (Rolling Plan) करने का निश्चय किया। इसने अभी तक के नियोजन के विकास मॉडल, जिसमे औद्योगिक एव नगरीय विकास को अधिक प्राथमिकता दी जाती रही थी, को बदलकर कृषि, ग्रामीण विकास-प्रधान एव रोजगार प्रधान बनाने का निश्चय किया। इन निश्चयो को लागू करने के लिए 1 अप्रैल, 1978 से छठी योजना का प्रारम्भ कर दिया गया और पाँचवी योजना को चार वर्षो (1974-75 से 1977-78) मे ही समाप्त मान लिया गया।

पाँचवीं योजना मे व्यय की प्रगति

गत योजनाओ के समान पाँचवी योजना का सार्वजनिक क्षेत्र का व्यय योजना के प्रारम्भ के वर्षो मे बहुत कम रहा। योजना के प्रथम तीन वर्षों मे 19,605 करोड रुपया व्यय हुआ जो योजना के आयोजित व्यय का लगभग आधा था। योजना के अन्तिम दो वर्षो मे इस प्रकार आयोजित व्यय की राशि का आधा भाग व्यय किया जाना था। योजना के प्रथम एव अन्तिम वर्ष के व्यय मे लग-भग 2 1 का अनुपात रहा। योजना के सार्वजनिक व्यय की प्रगति तालिका 38 के अनुसार रही।

पाँचवी योजना के वास्तविक व्यय की तालिका के अध्ययन से ज्ञात होता है कि योजना के चार वर्षो मे कुल आयोजित व्यय का 75 2% भाग व्यय हुआ। सिचाई, शक्ति, उद्योग एव खनिज, यातायात, स्वास्थ्य, परिवार-नियोजन एव जलपूर्ति की मदो मे योजना के चार वर्षों मे व्यय की प्रगति कुल व्यय की प्रगति से अधिक रही, जबकि कृषि, ग्रामीण उद्योग, शिक्षा, निवासगृह-निर्माण

तालिका 38—पांचवीं योजना का वास्तविक व्यय-वितरण (1974 78)

(करोड रुपयो मे)

	मद	पांचवीं योजना का आयोजित व्यय (1974 से 1979)	1974-75 का वास्तविक व्यय	1975-76 का वास्तविक व्यय	1976-77 का अनुमानित व्यय	1977-78 का आयोजित व्यय	1974-75 से 1977-78 के व्यय का योग	व्यय के योग का योजना के आयोजित व्यय से प्रतिशत
1	कृषि एव सहायक क्षेत्र	4,643 6	542 8	680 7	912 4	1,264 1	3 400 0	73 0
2	सिचाई एव बाढ नियन्त्रण	3,434 0	429 6	551 6	765 4	1,058 0	2 804 6	81 7
3	शक्ति	7,015 9	941 0	1,195 7	1,434 3	1,890 3	5,461 3	77 8
4	ग्रामीण एव लघु उद्योग	535 0	54 5	74 0	101 3	145 1	374 9	70 0
5	उद्योग एव खनिज	9,665 6	1 191 1	1,724 6	2,164 4	2,364 5	7 444 6	77 0
6	यातायात एव सचार	6,881 4	1 078 8	1,238 1	1,273 3	1,597 6	5,187 8	75 4
7	शिक्षा	1,284 3	139 3	188 5	262 8	310 1	900 7	70 1
8	वैज्ञानिक अनुसन्धान	445 3	49 2	69 9	83 2	109 5	311 8	70 0
9	स्वास्थ्य	681 7	85 2	118 1	140 2	184 9	528 4	77 5
10	परिवार नियोजन	497 4	62 1	80 6	148 3	98 6	389 6	78 4
11	जलपूर्ति एव सफाई	930 2	137 2	157 7	188 1	269 8	752 8	80 8
12	निवासगृह नगरीय एव क्षेत्रीय विकास	1,106 9	134 6	164 1	205 9	262 0	766 6	69 2
13	पिछडे वर्गों का कल्याण	687 0	71 1	100 5	134 8	165 2	471 6	68 6
14	समाज कल्याण	86 7	14 2	12 1	14 1	19 4	59 8	69 5
15	श्रम कल्याण एव दस्तकारो का प्रशिक्षण	50 1	4 2	5 2	9 5	15 2	34 1	68 0
16	अन्य कार्यक्रम	1,358 6	103 7	134 7	182 5	211 1	632 0	46 1
	योग	39,303 2	5,038 6	6,496 1	8,070 5	99,65 4	29,570 6	75 2

एव कल्याण-कार्यक्रमो मे इन चार वर्षो मे व्यय कम किया गया। वास्तविक व्यय के इन आँकडो से इस बात का सकेत मिलता है कि ग्रामीण विकास एव कल्याण सम्बन्धी कार्यक्रम का विकास लक्ष्य के अनुसार नही हो सका जिसके परिणामस्वरूप योजना मे आय के विषम वितरण मे कमी नही हो सकी होगी। लगभग सभी क्षेत्रो (सिचाई, शक्ति, उद्योग और स्वास्थ्य को छोडकर) मे योजना के आयोजित व्यय का 25 से 30% भाग योजना के अन्तिम वर्ष मे व्यय किया जाना था। योजना के आयोजित व्यय का वितरण इस प्रकार योजनावधि मे समान रूप से नही किया गया। योजना के चार वर्षो के कुल व्यय मे विभिन्न मदो के वास्तविक व्यय का प्रतिशत अश लगभग उतना ही रहा जितना योजना के आयोजित व्यय मे निर्धारित किया गया था।

भौतिक लक्ष्यो की उपलब्धिया

पाँचवी योजना मे विभिन्न क्षेत्रो के सशोधित भौतिक लक्ष्यो की उपलब्धियाँ निम्नलिखित प्रकार रही

तालिका 39—पाचवीं योजना के भौतिक लक्ष्यो की उपलब्धि

	मद	इकाई	1973-74 मे उत्पादन	1978-79 का लक्ष्य	1977 78 मे सम्भावित उत्पादन	1977-78 की का उपलब्धि 1978-79 के लक्ष्य से प्रतिशत
1	खाद्यान्न	लाख टन	1 047	1,250	1,210	96 8
2	गन्ना	,	1,408	1,650	1 569	95 1
3	कपास	लाख गाँठ	63 1	80 0	64 3	80 4
4	तिलहन	लाख टन	93 9	120 0	92 0	76 7
5	कोयला	लाख टन	790	1,240	1,032	83 2
6	अशोधित खनिज तेल	लाख टन	7 2	141 8	107 7	76 0
7	कपडा (मिल मे बना)	लाख मीटर	40,830	48,000	42,000	87 5
8	कपडा (विकेन्द्रित क्षेत्र)	,	38,630	47,000	54,000	115 0
9	नाइट्रोजियम खाद (N)	हजार टन	1,058	2,900	2,060	71 0
10	फास्फेटिक खाद (P_2O_5)	हजार टन	339	770	660	85 7
11	कागज एव कागज बोर्ड	लाख टन	776	1,050	900	85 7
12	सीमेण्ट	लाख टन	146 7	208	192 0	92 3
13	हल्का इस्पात	लाख टन	48 9	88	77 3	87 8
14	अल्यूमिनियम	हजार टन	147 9	310 0	180 0	58 1
15	व्यापारिक वाहन	हजार सख्या	42 9	60 0	40 0	66 7
16	विद्युत-उत्पादन	GWH	72	116–117	100 0	86 7

यद्यपि पाँचवी योजना को एक वर्ष पूर्व ही समाप्त कर दिया गया और योजना के आयोजित व्यय का 75% भाग ही चार वर्षो मे व्यय किया जा सका, फिर भी अधिकतर क्षेत्रो मे भौतिक

लक्ष्यो की उपलब्धि सशोधित लक्ष्यो की 75 से 95% तक रही। नाइट्रोजियस खाद, अल्यूमिनियम एव व्यापारिक वाहनो के उत्पादन मे योजना के चार वर्षो के लक्ष्यो की तुलना मे कम वृद्धि हुई। योजनाकाल मे प्रगति की दर मे उच्चावचान बने रहे। औद्योगिक उत्पादन मे वर्ष प्रति वर्ष प्रगति-दर मे वृद्धि होती रही परन्तु कृषि-उत्पादन मे प्रगति मे उच्चावचान अधिक हुए। विभिन्न क्षेत्रो मे योजनाकाल मे प्रगति निम्न प्रकार हुई

तालिका 40—पांचवीं योजना की प्रगति के सूचक (1973-74 से 1977-78)

(गत वर्ष की तुलना मे प्रतिशत परिवर्तन)

	1973-74	1974-75	1975-76	1976-77	1977-78 (सम्भावित)
1 सकल राष्ट्रीय उत्पादन (1970-71 के मूल्यो पर)	5 2	0 5	8 5	1 6	5 0
2 कृषि-उत्पादन	10 7	—3 5	15 6	—6 7	7 0
3 खाद्यान्नो का उत्पादन	7 9	—4 6	21 0	—7 8	10 0
4 औद्योगिक उत्पादन	2 2	2 6	6 1	10 4	5 2
5 विद्युत-उत्पादन	2 8	5 2	13 5	11 8	2 5
6 मुद्रा-पूर्ति	15 5	6 9	11 3	20 3	8 7
7 थोक मूल्य	20 2	25 2	—1 1	2 1	6 6
8. आयात (चालू मूल्य)	58 3	52 9	16 5	—3 6	3 8
9 निर्यात (चालू मूल्य)	28 0	31 9	11 4	27 2	9 3

प्रगति की सूचक उक्त तालिका से ज्ञात होता है कि पाँचवी योजना के चार वर्षो मे से 1975-76 वर्ष सबसे अधिक सम्पन्न वर्ष रहा। इस वर्ष की प्रगति शेष तीन वर्षों की प्रगति-दर के योग से भी अधिक रही। 1975-76 वर्ष मे सभी क्षेत्रो मे स्थिति अत्यन्त उत्साहवर्द्धक रही। आपातकाल की अनुशासनात्मक कार्यवाहियो का लाभ इस वर्ष मे आर्थिक क्षेत्र को पूरी तरह उपलब्ध रहा। साथ ही इस वर्ष प्रकृति ने अनुकूल परिस्थितियाँ प्रदान की जिससे कृषि उत्पादन मे भी पिछले कई वर्षो की तुलना मे अत्यधिक वृद्धि हुई। इस वर्ष मे मूल्य-स्तर मे भी इस कारण 1·1% की कमी हुई। 1976-77 वर्ष मे आर्थिक क्षेत्र मे परिस्थितियाँ अनुकूल नही रहीं। विशेषकर प्राकृतिक परिस्थितियो की प्रतिकूलता के कारण कृषि-क्षेत्र मे उत्पादन मे कमी आयी यद्यपि औद्योगिक उत्पादन मे इस वर्ष मे प्रगति-दर अन्य वर्षो की तुलना मे लगभग दुगुनी रही। इस वर्ष मे मुद्रा-पूर्ति मे यद्यपि 20 3% की वृद्धि हुई फिर भी मूल्य-स्तर मे 2 1% की ही वृद्धि हुई। 1977-78 वर्ष के प्रगति के आँकडे अप्रैल, 1977 से अक्टूबर अथवा नवम्बर, 1977 तक उत्पादन पर आधारित है। इस वर्ष मे नियोजन का सचालन परिवर्तित राजनीतिक परिस्थितियो मे किया गया। इस वर्ष मे कृषि-उत्पादन मे सुधार हुआ है। परन्तु आपातकाल के अकुशो मे ढील हो जाने के कारण औद्योगिक क्षेत्र के वातावरण मे शान्ति नही रह सकी जिसके परिणामस्वरूप औद्योगिक प्रगति की दर को आघात पहुँचा है। इस वर्ष मे घाटे के अर्थ-प्रबन्धन की राशि मे वृद्धि होने एव प्रगति-दर सामान्य रहने के कारण मूल्य-स्तर मे 6 6% की वृद्धि होने का अनुमान है। योजनाकाल मे आयात एव निर्यात मे वृद्धि की गति तीव्र रही। योजना के प्रथम दो वर्षो मे आयात मे तेजी से वृद्धि हुई, जबकि बाद के दो वर्षो मे आयात मे कमी रही। दूसरी ओर, निर्यात मे योजनाकाल मे निरन्तर वृद्धि होती रही।

पाँचवीं योजना के अर्थ-साधन

योजना के प्रथम तीन वर्षो मे सार्वजनिक क्षेत्र का व्यय 1 950 2 करोड रुपया हुआ, जबकि इन तीन वर्षो के व्यय की सम्भावित राशि 19,396 करोड रुपये थी। योजना के शेष दो वर्षों के लिए 19,907 करोड रुपये के व्यय का आयोजन किया गया। योजना के प्रथम तीन वर्षो

के व्यय का 78.5 भाग बजट के आन्तरिक साधनो से, 17.7% अश विदेशी सहायता से और शेष 3.8% भाग हीनार्थ प्रबन्धन द्वारा उपलब्ध किया गया। विभिन्न साधनो से जो राशियाँ प्राप्त हुईं वे निम्नांकित तालिका मे दी गयी है :

तालिका 41—पाँचवी योजना के अर्थ-साधन (करोडो रुपयो मे)

मद	प्रथम तीन वर्षों (1974-77) मे साधनो की प्राप्ति	1977-79 के लिए आयोजित राशि
(अ) बजट के आन्तरिक साधन	15,208	16,907
(1) 1973 74 की कर-दरो पर आय का आधिक्य	3 338	1,563
(2) 1973 74 की किराये भाडे की दरो पर सार्वजनिक क्षेत्र के व्यवसायो का सकल अतिरेक	624	225
(3) सरकार सार्वजनिक उपक्रमो एवं स्थानीय संस्थाओं द्वारा प्राप्त जन ऋण	3 030	2,849
(4) लघु बचत	1 092	930
(5) राज्य प्रॉवीडेंण्ट फण्ड	1,050	937
(6) वित्तीय सस्थाओ से सर्वाधिक ऋण	340	288
(7) विविध पूजीगत प्राप्तियाँ	—556	1,112
(8) साधनो का अतिरिक्त सग्रहण	6 290	8,403
(9) विदेशी विनिमय के सचय का उपयोग	—	600
(10) विदेशी सहायता	3,434	2,400
(11) हीनार्थ प्रबन्धन	754	600
योग	19,396	19,907

योजना के प्रथम तीन वर्षों मे बजट के कुल साधनो म से 6 890 करोड रुपया अर्थात 45% भाग करो किराये एव भाडे की दरो मे वृद्धि करके प्राप्त किया गया। यह राशि प्रस्तावित पचवर्षीय योजना मे निर्धारित बजट के अतिरिक्त साधनो की राशि के बराबर है। योजना के अन्तिम दो वर्षों मे 8 403 करोड रुपया अतिरिक्त साधनो के सग्रहण से प्राप्त करने का लक्ष्य रखा गया। इस प्रकार पाँचवी योजना मे 14 693 करोड रुपया अतिरिक्त साधनो से सग्रहीत करने का लक्ष्य रखा गया। यह राशि योजना के कुल व्यय की 38% थी। अब तक की किसी भी योजना मे इतनी बडी राशि एव योजना-व्यय का इतना बडा अश अतिरिक्त साधन सग्रहण से प्राप्त नही किया गया। पाँचवी योजना मे प्रथम बार विदेशी विनिमय के सचय की अनुकूल परिस्थिति का उपयोग करने का आयोजन किया गया। देश के विदेशी विनिमय सचय मे वृद्धि होने के कारण योजना के अन्तिम दो वर्षों मे 600 करोड रुपये के विदेशी विनिमय का आहरण करके उपयोग करने का आयोजन किया गया।

पाँचवी योजना मे राष्ट्रीय उत्पादन, उपभोग, बचत एव पूजी निर्माण

केन्द्रीय सांख्यिकीय सगठन के त्वरित अनुमानो (Quick Estimates) के अनुसार पाँचवी योजना (1974 75 से 1977-78) मे राष्ट्रीय आय की वार्षिक वृद्धि दर 4 रही जबकि लक्ष्य 4.4% निर्धारित किया गया था। इसी प्रकार हमारी प्रति व्यक्ति आय म इस काल मे 1.9% प्रति वर्ष की वृद्धि हुई जबकि लक्ष्य 2.4% निर्धारित किया गया था। इस प्रकार हमारी प्रगति की दर लक्ष्य से कम रहने का ही अनुमान है। प्रगति की इतनी कम दर पर निर्धन वर्ग के जीवन स्तर मे कोई सुधार करना सम्भव नही हो सकता था। योजना के प्रथम तीन वर्षों मे राष्ट्रीय उत्पादन, उपभोग बचत एव पूजी निर्माण म प्रगति अग्रवत हुई

तालिका 42—भारत मे राष्ट्रीय उत्पादन, उपभोग, बचत एवं पूंजी-निर्माण (1974-75 से 1976-77 तक)

मद	चालू मूल्यो पर			1970-71 के मूल्यो पर		
	1976-77	1975-76	1974 75	1976-77	1975-76	1974-75
1 शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन (करोड रुपया)	64,279	60,596	59,417	40,164	39,626	36,455
2 प्रति व्यक्ति शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन (रुपया)	1 049	1,008	1 007	655	659	618
3 निजी उपभोग व्यय (अन्तिम) (करोड रुपया)	55,111	53,472	53,349	34,291	34,451	32,052
4 प्रति व्यक्ति उपभोग व्यय (अन्तिम) (रुपया)	899	899	904	559	573	543
5 आन्तरिक पूंजी निर्माण						
सकल (करोड रुपये)	14,858	14 287	13,300	8,158	8,025	8,084
शुद्ध (करोड रुपये)	10,090	9,887	9,514	5,435	5,451	5,650
6 पूंजी-निर्माण की दर						
सकल	19 2	19 6	19 0	17 4	17 4	19 0
शुद्ध	13 9	14 4	14 4	12 3	12 5	14 1
7 बचत की दर						
सकल	21 1	19 7	18 1	—	—	—
शुद्ध	15 9	14 6	13 4	—	—	—

शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन मे 1974-75 मे 1% से कम वृद्धि हुई, जबकि 1975-76 मे यह दर बढ़कर 8 7% हो गयी, परन्तु 1976-77 मे यह वृद्धि-दर बनी नही रही और गिरकर 1 4% हो गयी। 1977-78 मे शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन मे 5 8% की वृद्धि होने की सम्भावना है। दूसरी ओर, प्रति व्यक्ति उत्पादन मे जहाँ 1975-76 मे 6 7% की वृद्धि हुई, वही 1976-77 मे 0 6% की कमी हुई। 1977-78 वर्ष मे प्रति व्यक्ति उत्पादन मे 3 8% की वृद्धि होने की सम्भावना है। 1976-77 मे प्रति व्यक्ति उपभोग-व्यय 1974-75 की तुलना मे (चालू मूल्यो पर) घट गया। योजनाकाल मे शुद्ध पूँजी निर्माण की दर मे विशेष वृद्धि नही हो सकी है। यह दर 13 से 15% के मध्य बनी रही। इसी प्रकार बचत की दर भी 15% के आसपास बनी रही। विकास की गति को तेज करने के लिए पूँजी निर्माण एव बचत दर को 20% तक बढाना आवश्यक होगा।

पाँचवीं योजना मे आन्तरिक उत्पादन की सरचना

पाँचवी योजना मे आन्तरिक उत्पादन की सरचना मे निम्नवत् परिवर्तन हुए है

तालिका 43—आन्तरिक राष्ट्रीय उत्पादन की सरचना (1973-74 से 1977-78)

क्षेत्र	1973-74 मे क्षेत्र का प्रतिशत अश	1974-75 मे क्षेत्र का प्रतिशत अश	1975-76 मे क्षेत्र का प्रतिशत अश	1976-77 मे क्षेत्र का प्रतिशत अश	1977 78[1] मे क्षेत्र का प्रतिशत अश
1 कृषि	50 78	48 5	44 4	42 6	42 5
2 खनिज एव निर्माणी	15 78	15 2	15 7	16 3	18 47
3 विद्युत	0 79	0 8	1 0	1 1	1 71
4 निर्माण	4 06	4 7	5 6	6 2	5 74
5 यातायात	3 43	4 3	4 8	5 2	4 37
6 सेवाएँ	25 13	26 5	28 5	28 6	26 61
	100 0	100 0	100 0	100 0	100 0

1 1977-78 के आंकडे सम्भावित है और छठी योजना की रूपरेखा मे लिये गये है।

पाँचवी योजना मे राष्ट्रीय उत्पादन मे निर्माणी क्षत्र के अश मे निरन्तर वृद्धि हुई जबकि कृषि क्षत्र का अश निरन्तर घटता रहा है। विद्युत उत्पादन एव निर्माण क्षेत्र का अश भी बढता रहा है। इस प्रकार यह नतीजा निकाला जा सकता है कि योजना का विनियोजन उद्योगो एव नगरीय विकास के पक्ष मे रहा है जिससे ग्रामीण क्षत्र की निधनता जीवन स्तर एव रोजगार की स्थिति मे विशेष सुधार नही हुआ है।

पाँचवी योजना को निर्धारित अवधि से एक वष पूव समाप्त किये जाने के कारण यह कहना उचित नही होगा कि योजना मे लक्ष्यो की उपलब्धि नही हो सकी है। वास्तव मे पाँचवी योजना के व्यय एव लक्ष्य योजना के मध्य मे इस प्रकार सशोधित कर दिये गये कि व्यय की राशि बढ जाने पर घटे हुए लक्ष्यो की पूर्ति करना सम्भव हो सके। योजना के मौलिक लक्ष्यो (जो प्रस्तावित योजना मे निर्धारित किये गये थे) से वास्तविक उपलब्धियो की तुलना करने पर ज्ञात होता है कि हम मूल लक्ष्यो की 50 से 60% तक ही उपलब्धि कर सके हैं। दूसरी ओर योजना मे नगरीय जनसख्या के जीवन स्तर आय एव रोजगार के अवसरो मे सुधार करने को अधिक महत्व दिया गया जिसके परिणामस्वरूप ग्रामीण क्षत्र मे निधनता की व्यापकता एव बेरोजगारी मे कमी के स्थान पर वृद्धि हुई। योजना की अन्तिम रूपरेखा योजना-अवधि के तीन वष पूरे होने पर तैयार की जा सकी जिससे दीघकालीन विनियोजन के निणय को आघात पहुँचा और प्राथमिकताओ का निर्वाह नही किया जा सका। योजनाकाल मे पिछड एव निधन वर्गो के कल्याणाथ 20 सूत्री काय क्रम का सचालन किया गया परन्तु इस कायक्रम का जितना विज्ञापन हुआ उसकी तुलना मे वास्त विक कल्याण काय सचालित नही किया जा सका। योजना की प्रगति दर का मौलिक लक्ष्य 5.5% से बहुत कम अर्थात् 4% प्रति वष रहा जो निधन वर्गो के कल्याण के लिए पर्याप्त नही था। यद्यपि योजनाकाल मे आपातकाल के अनुशासन का लाभ उपलब्ध था परन्तु इस अनुशासन का उपयोग आर्थिक विकास के कायक्रमो का कुशलता से सचालन करने के लिए पूणरूपेण नही किया जा सका।

22

प्रस्तावित योजना (1978–83)

[DRAFT PLAN (1978-83)]

भारत मे राजनीतिक परिवर्तनो के साथ-साथ आर्थिक नीतियों एव नियोजन प्रक्रिया म भी क्रान्तिकारी परिवर्तन किये गये है । अभी तक की योजनाओ मे आर्थिक प्रगति की दर 4% प्रतिवर्ष से कम ही रही है । प्रथम चार योजनाओं में प्रगति की दर क्रमश 3 8 3 7, 3 2 एव 3 5% रही, जबकि पाँचवी योजना की प्रगति-दर 3 9% अनुमानित है । प्रगति की दर कम रहने के कारण जन-जीवन मे भी वांछित सुधार करना सम्भव नही हो सका है । इसके साथ ही हमारी योजनाओ का वितरण-पक्ष नगरो, उद्योगो एव सम्पन्न वर्गों के अधिक अनुकूल रहा है जिससे आर्थिक विषमताओ मे निरन्तर वृद्धि हुई है और 40 से 60% जनसख्या अब भी गरीबी की रेखा से नीचे का जीवन-स्तर व्यतीत करती है । हमारी योजनाएँ भारी विनियोजन-कार्यक्रमो के बावजूद रोजगार के अवसरो मे पर्याप्त वृद्धि करने मे समर्थ नही रही है और ग्रामीण क्षेत्रो मे बेरोजगारी एव गरीबी की गहनता मे वृद्धि होती रही है । 1978-83 की योजना में नियोजन के इन समस्त दोषों एव असफलताओं को ध्यान मे रखा गया है और इसमें नियोजन-प्रक्रिया की पाँच-वर्षीय नियोजन-प्रक्रिया के स्थान पर चक्रीय अथवा अनवरत नियोजन-प्रक्रिया का उपयोग किया जायेगा । अनवरत नियोजन-प्रक्रिया के अन्तर्गत प्रत्येक वर्ष पाँच-वर्षीय नियोजन-कार्यक्रम तैयार करके पूरा कर लिया जाया करेगा अर्थात् जब एक वर्ष का नियोजन कार्यक्रम पूरा हो जायेगा तो एक और वर्ष के कार्यक्रम को जोडकर पाँच-वर्षीय कार्यक्रम तैयार कर लिया जायेगा । उदाहरणार्थ, *1978-79 से 1982-83* तक की पाँच-वर्षीय योजना अभी तैयार की गयी है । 1978-79 वर्ष के अन्त मे 1983-84 वर्ष के योजना-कार्यक्रम बनाकर पहले की योजना में जोड दिये जायेगे और इस प्रकार *1979-80 से 1983-84 की योजना 1979-80* वर्ष मे तैयार हो जायेगी । यह प्रक्रिया निरन्तर जारी रहेगी जिससे नियोजन प्रक्रिया मे लचीलापन बना रहेगा । योजनाओ मे उपलब्धियो एव असफलताओ के आधार पर कार्यक्रमो के समायोजन किये जा सकेगे और दीर्घकालीन विनियोजन-निर्णय करना सम्भव हो सकेगा ।

योजना की समर-नीति

मार्च 18-19, 1978 को राष्ट्रीय विकास परिषद् की सभा मे योजना-आयोग द्वारा इस योजना की प्रस्तावित रूपरेखा प्रस्तुत की गयी । इसके अन्तर्गत इस पाँच-वर्षीय योजना का कुल व्यय 1,16,240 करोड रुपये प्रस्तावित किया गया है जिसमें से 69,390 करोड रुपये सार्वजनिक क्षेत्र के कार्यक्रमो के लिए और शेष 46,860 करोड रुपये निजी क्षेत्र के लिए आयोजित किये गये है । योजना मे औसत वार्षिक विकास-दर 4 7% आयोजित की गयी है जिसे योजना के अन्तिम वर्ष अर्थात् 1982-83 तक 5·5% तक बढाने की सम्भावना व्यक्त की गयी है । योजना का मुख्य लक्ष्य पूर्ण रोजगार, गरीबी का उन्मूलन तथा समाज मे समानता की स्थापना करना है । योजना मे इन लक्ष्यो को दस वर्ष मे पूरा करने की व्यवस्था की गयी है । उद्देश्यों की पूर्ति हेतु निम्नलिखित समर-नीति (Strategy) निर्धारित की गयी है

(1) बेरोजगारी एव आर्थिक बेरोजगारी का उन्मूलन,

(2) जनसख्या के निर्धनतम वर्ग के जीवन-स्तर मे पर्याप्त सुधार,

(3) निम्नतम वग क लिए राज्य द्वारा कुछ आधारभूत आवश्यकताओ की पूर्ति का आयोजन जैसे—शुद्ध पेयजल प्रौढ शिक्षा प्राथमिक शिक्षा स्वास्थ्य-सुविधा ग्रामीण सडको की व्यवस्था भूमिहीन लोगो क लिए निवास गह तथा नगरीय क्षेत्रो की चालो (Slums) म न्यूनतम सुविधाओ का आयोजन

(4) उपयक्त मूलभूत उद्देश्यो की पूर्ति हेतु भूतकाल की तुलना म अधिक प्रगति-दर प्राप्त करना

(5) आय एव धन की वतमान विषमताओ म महत्वपूण कमी करना

(6) देश की आत्मनिभरता की ओर निरन्तर अग्रसर करना।

उपयक्त समर-नीति क सफल सचालन क लिए ग्रामीण क्षेत्र के विकास को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया गया है। ग्रामीण जनसख्या के जीवन स्तर म सुधार करने हेतु कृषि तथा कुटीर एव लघु उद्योगो के तीव्र विकास का योजना म आयोजन किया गया है। योजना म पिछडे हुए क्षेत्रो की विकास के लाभ पहुचाने हेतु क्षत्रीय नियोजन का व्यापक उपयोग किया जायेगा जिसके अन्तगत क्षेत्र क आधार पर समन्वित विकास-कायक्रमो का सचालन किया जा सकेगा और पिछड हुए क्षत्रो म न्यूनतम आवश्यकताओ की पूर्ति की जा सकेगी।

योजना का व्यय वितरण

योजना की प्रस्तावित रूपरेखा म कुल व्यय 1 16 240 करोड रुपय आयोजित किया गया है जिसम स 69 380 क रोड रुपय अथात 59 7° सावजनिक क्षेत्र के लिए आयोजित है। यह योजना ग्रामीण विकास प्रधान बनायी गयी है और कुल व्यय का 43 1°₀ भाग ग्रामीण एव कृषि विकास क लिए आयोजित है। योजना म कृषि एव ग्रामीण विकास क लिए आयोजित राशि पाचवी योजना म इस मद पर व्यय की गयी राशि स दुगुने क बराबर है।

तालिका 44—योजना का व्यय वितरण

(करोड रुपयो मे)

क्षत्र	पाचवीं योजना का व्यय (1974 79)	कुल व्यय का प्रतिशत	योजना (1978 83) मे आयोजित व्यय	कुल आयोजित व्यय मे प्रतिशत	पाचवीं योजना के व्यय पर इस योजना मे व्यय वद्धि का प्रतिशत
1 कृषि एव सहायक काय	4 302	11 0	8 600	12 4	99 5
2 सिचाइ एव बाढ नियत्रण	4 226	10 7	9 650	13 9	128 3
3 उद्योग एव खनिज (ऊर्जा छोडकर)	7 362	18 7	10 350	14 9	40 6
4 ऊर्जा विज्ञान एव तकनीकी	10 291	26 2	20 800	30 0	102 1
5 यातायात एव सचार	6 917	17 6	10 625	15 3	53 6
6 समाज सवा	6 224	15 8	9 355	13 5	50 1
योग	39 322	100 0	69 380	100 0	76 4

इस योजना का व्यय पाचवी योजना की तुलना म 76 4% अधिक है परन्तु कृषि क्षेत्र के लिए आयोजित राशि लगभग दुगुना कर दी गयी है। सिचाई एव बाढ नियन्त्रण को इस योजना मे सर्वाधिक महत्व प्रदान किया गया है। इस क्षेत्र के व्यय का लाभ भी अधिकतर ग्रामीण विकास को ही उपलब्ध होगा। इसके साथ ही 1 410 करोड रुपय का आयोजन ग्रामीण एव लघु उद्योगो के विकास क लिए किया गया है। इस आयोजन के बहुत बड अश का लाभ ग्रामीण क्षेत्र को उपलब्ध होने की सम्भावना है। इस प्रकार इस योजना के सावजनिक क्षेत्र क व्यय का लगभग एक तिहाई भाग ग्रामीण क्षेत्र के प्रत्यक्ष विकास क लिए आयोजित किया गया है। दूसरी ओर इस योजना म

औद्योगिक विकास के लिए आयोजित राशि पाँचवी योजना की इस मद की राशि से केवल 40 6% ही अधिक है। उद्योग एव खनिज क्षेत्र के व्यय का कुल व्यय मे अश इस योजना मे घटकर (पाँचवी योजना मे 18 7%) 14 9% ही रह गया है। व्यय वितरण के इस विवरण से यह स्पष्ट है कि योजना मे कृषि एव ग्रामीण विकास को सर्वाधिक प्राथमिकता प्रदान की गयी है।

योजना के अर्थ-साधन

योजना मे अर्थ साधनो के सग्रहण हेतु अप्रत्यक्ष करो से अधिक राशि प्राप्त करने का प्रयास किया जाना है। प्रत्यक्ष करो को आर्थिक सामाजिक उद्देश्यो को ध्यान मे रखते हुए अधिक प्रगामी (Progressive) रखने की व्यवस्था की गयी है। साधनो के अधिक सग्रहण हेतु निम्नलिखित कार्यवाहियो का उपयोग किया जाना है

(अ) अनुदानो मे कमी,

(ब) सार्वजनिक व्यवसायो की वर्तमान मूल्य-नीति मे परिवर्तन,

(स) प्रॉवीडेण्ट फण्ड मे सरकारी कर्मचारियो के अशदान का उनके वेतन के 6% से बढाकर 8 3% करना,

(द) अनिवार्य जमा योजना को अगले पाँच वर्ष तक जारी रखना,

(य) समस्त सगठित क्षेत्र मे अनिवार्य समूह बीमा लागू करना,

(र) कृषि क्षेत्र पर करारोपण अथवा भूमि के लगान के अधिकार मे वृद्धि विपणि कर (cesses) मे वृद्धि,

(ल) सिचाई एव विद्युत-प्रशुल्को की दरो मे वृद्धि

(व) ग्रामीण ऋणपत्रो के निर्गमन का विस्तार, तथा

(ह) भूमि एव जायदादो के पूँजी लाभ के कुछ भाग को विकास हेतु प्राप्त करना।

इस योजना के व्यय के लिए अर्थ साधन विभिन्न स्रोतो से निम्नवत् सग्रहीत करने का अनुमान लगाया गया है

तालिका 45—पाँच वर्षीय योजना के अर्थ-साधन

(1977 78 के मूल्यो पर)

(करोड रुपयो मे)

1 सार्वजनिक क्षेत्र की बचत	27,444
2 वित्तीय सस्थाओ की बचत	1,973
3 *निजी समामेलित क्षेत्र की बचत*	*9,074*
4 पारिवारिक बचत	62 364
5 आन्तरिक बचत का योग	1,00,855
6 विदेशी साधनो का प्रवाह	
(अ) विदेशी सहायता	3 955
(ब) विदेशी विनिमय-सचरण के विरुद्ध आहरण	1,180
7 चालू विकास-व्यय का बजट मे आयोजन	10,250
कुल अर्थ साधन	1 26 240

उपर्युक्त तालिका के अध्ययन से ज्ञात होता है कि योजना व्यय का 82 5% भाग आन्तरिक बचत से उपलब्ध होने का अनुमान है। आन्तरिक बचत मे सबसे बडा अश अर्थात 61 8% पारिवारिक बचत मे उपलब्ध होन का अनुमान लगाया गया है। योजना के कुल व्यय का केवल 3 4% भाग विदेशी सहायता से प्राप्त होने का अनुमान लगाया गया है। सार्वजनिक क्षेत्र की बचत एव बजट के साधनो से कुल 37,694 करोड रुपये अर्थात् कुल व्यय का 32 4% भाग सग्रहीत किया

जायेगा। इस प्रकार योजना के अर्थ-साधनो मे सार्वजनिक क्षेत्र के बाहर से साधनो के सग्रहण पर अधिक निर्भरता रखी गयी।

योजना मे सार्वजनिक क्षेत्र के कार्यक्रमो हेतु 69,380 करोड रुपया आयोजित किया गया है जिसका लगभग 88% भाग बजट के साधनो द्वारा सग्रहीत किया जायेगा। योजनाकाल मे 13 000 करोड रुपया अर्थात् योजना-व्यय का 18 7% भाग अतिरिक्त करारोपण, किरायें, भाडे एव दरो मे वृद्धि करके प्राप्त किया जाना है। सार्वजनिक क्षेत्र के लिए विभिन्न स्रोतो से साधन निम्नांकित तालिका के अनुसार एकत्र करने का अनुमान लगाया गया है

तालिका 46—योजना के सार्वजनिक क्षेत्र के अर्थ-साधनो के स्रोत

(1977-78 के मूल्यो पर)

(करोड रुपयो मे)

1	1977 78 की कर की दरो के आधार पर केन्द्र एव राज्य सरकारो के चालू खाते के साधन	12,889
2	सार्वजनिक व्यवसायो का 1977-78 की भाडे, किराया, प्रशुल्क एव दरो के आधार पर अशदान	10,296
3	आन्तरिक साधनो का सग्रहण	13,000
4	सरकारी एव सार्वजनिक उपक्रमो एव स्थानीय सस्थाओ द्वारा प्राप्त विपणि-ऋण (शुद्ध)	15,986
5	लघु बचत	3,150
6	राज्य प्रॉवीडेन्ट फण्ड	2,953
7	वित्तीय सस्थाओ से सावधिक ऋण (शुद्ध)	1,296
8	विविध पूँजीगत प्राप्तियाँ (शुद्ध)	450
9	विदेशी सहायता (शुद्ध)	5,954
10	विदेशी विनिमय सचय का उपयोग	1,180
	योग	67,154
	कमी (Gap)	2,226
	कुल योग	69,380

योजना मे 2,226 करोड रुपये के अर्थ-साधनो की कमी का अनुमान लगाया गया है तथा 1,180 करोड रुपये के विदेशी विनिमय के सचय का उपयोग विकास-व्यय के लिए किया जाना है। ये दोनो राशियाँ योजनाकाल मे हीनार्थ प्रबन्धन का स्वरूप ग्रहण कर सकेगी और औसतन 680 करोड रुपये प्रति वर्ष हीनार्थ-प्रबन्धन का उपयोग किया जायेगा जिससे मूल्य-स्तर पर प्रतिकूल प्रभाव पड सकता है। मूल्य-स्तर को वृहदाकार विनियोजन-कार्यक्रम के अन्तर्गत स्थिर रखने के लिए विभिन्न वस्तुओ और सेवाओ की माँग एव पूर्ति मे मौद्रिक एव राजकोषीय कार्यवाहियों की सहायता से सन्तुलन बनाये रखा जायेगा, आवश्यक जन-उपयोग की वस्तुओ की पूर्ति मे पर्याप्त वृद्धि की जायेगी तथा कृषि-पदार्थो, निर्मित वस्तुओ एव विभिन्न सेवाओ के मूल्यो को अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यो के अनुरूप रखने की नीति अपनायी जायेगी। योजनाकाल मे मौद्रिक नीति की सहायता से मूल्यो के उच्चावचनो को न्यूनतम करना होगा और मुद्रा-पूर्ति की वृद्धि शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद की वृद्धि मे सम्बद्ध कर दी जायेगी।

भुगतान-शेष

योजना की प्रस्तावित रूपरेखा मे 1976-77 के 5,146 करोड रुपयो के निर्यात को 1982 83 मे बढाकर 7,750 करोड रुपये और आयात को 5,076 करोड रुपये से बढाकर

10,500 करोड़ रुपये करने का लक्ष्य रखा गया है। इस प्रकार योजनाकाल मे 920 करोड़ रुपये का प्रतिकूल व्यापार-शेष होगा। योजनाकाल मे विदेशी सहायता की सकल राशि 8,020 करोड़ रुपये होगी। शेष 1,180 करोड़ रुपये की राशि विदेशी विनिमय के सचय के उपयोग से प्राप्त होगी। योजनाकाल मे भुगतान-शेष की स्थिति निम्नवत् रहने का अनुमान है

(करोड़ रुपये)

व्यापार	निर्यात	34,000	
	आयात	42,825	
	व्यापार-शेष		—8,825
अदृश्य मदे	सेवाएँ (शुद्ध)	3,460	
	भुगतान प्राप्त	2,015	+5,475
ऋण-सेवा व्यय	ब्याज	—1,510	
	शोधन	—2,920	—4,430
अन्य देशो को सहायता		— 350	
अन्य व्यवहार		— 1,070	—9,200
सकल विदेशी सहायता		8,020	
विदेशी विनिमय के सचय का उपयोग		1,180	+9,200

1978-83 की योजना के अर्थ-साधनों में विदेशी सहायता के अश को 5% तक कम कर दिया गया है। सार्वजनिक क्षेत्र के व्यय के केवल 5% अश के बराबर ही शुद्ध विदेशी सहायता का उपयोग किया जायेगा।

विकास कार्यक्रम एव लक्ष्य

1978 83 की पाँच-वर्षीय योजना मे प्रति व्यक्ति उपभोग स्तर को 2 21% प्रति वर्ष की दर से बढ़ाने का लक्ष्य रखा गया है। बचत सकल आन्तरिक उत्पादन की 1977-78 मे 19 8% से बढ़कर 1982-83 मे 23 4% होने का अनुमान लगाया जाता है। विभिन्न क्षेत्रों के लिए प्रगति की दर निम्नवत् अनुमानित की गयी है

तालिका 47—विभिन्न आर्थिक क्षेत्रो मे प्रगति-दर (1977 78 से 1982-83)

क्षेत्र	उत्पादन-वृद्धि के मूल्य मे आय का प्रतिशत		प्रगति की वार्षिक प्रतिशत दर	
	1977-78	*1962-83*	उत्पादन-मूल्य मे वृद्धि	उत्पादन मे वृद्धि
1 कृषि	42 50	38 71	2 76	3 98
2 खनिज एव निर्माणी	18 47	18 76	5 03	6 92
3 विद्युत	1 71	2 14	9 55	10 80
4 निर्माण	5 74	7 64	10 09	10 55
5 यातायात	4 37	4 96	4 63	6 24
6 सेवाएँ	26 61	27 79	5 61	6 01

योजना मे राष्ट्रीय उत्पादन मे कृषि के अश मे कमी और विद्युत एव निर्माण के क्षेत्रो के अश मे वृद्धि होने का अनुमान लगाया गया है। औद्योगिक क्षेत्र का उत्पादन-वृद्धि मे अश 1982-83 मे लगभग उतना ही रहेगा जितना 1977-78 मे था। कृषि क्षेत्र की प्रगति-दर 2 76% प्रति वर्ष आयोजित की गयी है, जबकि विद्युत एव निर्माण के क्षेत्र मे प्रगति-दर लगभग 10% प्रति वर्ष आयोजित की गयी है। औद्योगिक एव खनिज क्षेत्र की प्रगति-दर 5 03% आयोजित की गयी है।

1978-83 की योजना के भौतिक लक्ष्य निम्नवत् निर्धारित किये गये है

तालिका 48—प्रमुख वस्तुओ के 1982-83 के लिए उत्पादन-लक्ष्य

मद	इकाई	1977-78 का उत्पादन	1982-83 का लक्ष्य	1977-78 की तुलना मे 1982-83 मे प्रतिशत-वृद्धि
1 खाद्यान्न	लाख टन	1 210	1,404 8 से 1,444 8	16 से 19 4
2 गन्ना	,,	1,569	1,889	20
3 कपास	लाख गाठ	64 30	81 5 से 92 5	27 से 44
4 तिलहन	लाख टन	92 0	112 से 115	22 से 25
5 कोयला	,	1,032	1,490	44
6 अशोधित खनिज-तेल	,,	107 7	180	67
7 कपडा मिल क्षेत्र	लाख मीटर	42,000	46,000	66
विकेन्द्रित क्षेत्र	,,	54 000	76,000	40
8 विद्युत-उत्पादन	GWH	100	167	167
9 नाइट्रोजन (खाद (N)	हजार टन	2,060	4,100	100
10 फास्फेटिक खाद (P_2O_5)	,,	660	1,125	70
11 कागज और कागज बाड	,	900	1,250	39
12 सीमेण्ट	लाख टन	192	290 से 300	52 से 56
13 हल्का इस्पात	,,	77 3	118	53
14 अल्यूमीनियम	हजार टन	180	300	67
15 व्यापारिक वाहन	हजार सख्या	40	65	61

भौतिक लक्ष्यो की उपयक्त तालिका के अध्ययन से ज्ञात होता है कि कृषि-क्षेत्र मे सम्बन्धित आदायो के उत्पादन-लक्ष्यो को काफी ऊँचा रखा गया है, जबकि कृषि-उत्पादन मे योजनाकाल मे वृद्धि 20% तक ही रखी गयी है। रोजगार वृद्धि के दृष्टिकोण से कपडे की उत्पादन-वृद्धि का बडा अश विकेन्द्रित क्षेत्र मे आयोजित किया गया है। विकेन्द्रित क्षेत्र म कपडे के उत्पादन मे 40% की वृद्धि करने का लक्ष्य है जबकि मिल क्षेत्र मे कपडे के उत्पादन म 6 6% की वृद्धि करने का ही लक्ष्य है। आधारभूत धातुओ सीमेण्ट, खनिज तेल एव कोयला के उत्पादन मे भी पर्याप्त वृद्धि करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है।

कृषि एव ग्रामीण विकास

योजना मे कृषि एव ग्रामीण विकास को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया गया है। कृषि-विकास के सम्बन्ध मे समर नीति (Strategy) के मुख्य अग निम्नवत् हैं

(अ) सिचाई के क्षेत्र मे वृद्धि,
(ब) फसल वाले सकल क्षेत्रफल मे वृद्धि,
(स) गहन फसल के क्षेत्रफल म वृद्धि
(द) कृषि आदायो का विस्तृत उपयोग,
(य) अच्छे बीजो का विकास एव प्रचार,
(र) सुदृढ कृषि-विस्तार-सेवा की व्यवस्था,
(ल) साख की उपलब्धि का आश्वासन
(व) विपणि, सग्रहण एव प्रविधिकरण की सुविधाओ मे सुधार,

(ह) भूमि के अधिकतम उपयोग की नीति का अनुसरण। इसके अन्तर्गत बाढ़-नियन्त्रण, पानी की निकासी, भूमि को कृषि-योग्य बनाने, सीमान्त भूमि पर मिश्रित खेती करने, और कम वर्षा वाले खेतो मे जगलो व चरागाहो का विकास किया जायेगा।

योजना मे सिंचित क्षेत्र की क्षमता मे 170 लाख हेक्टेयर की वृद्धि करने का लक्ष्य रखा गया है, जबकि पाँचवी योजना के चार वर्षो मे सिंचाई-क्षमता मे 86 लाख हेक्टेयर की वृद्धि हुई। बडी एव मध्यम श्रेणी की सिंचाई परियोजनाओ द्वारा 80 लाख हेक्टेयर भूमि के लिए सिंचाई-क्षमता मे वृद्धि की जायेगी और शेष 90 लाख हेक्टेयर भूमि के लिए सिंचाई परियोजनाओ द्वारा सिंचाई सुविधा उपलब्ध करायी जायेगी।

ऊर्जा (Energy)

योजना मे मद्रास के एटॉमिक ऊर्जा स्टेशन को पूरा किया जायेगा, नरौरा की पहली इकाई का सचालन प्रारम्भ किया जायेगा और साथ ही एक और न्युक्लियर ऊर्जा स्टेशन की स्थापना का आयोजन किया गया है। योजना के पाँच वर्षो मे 18,500 वाट विद्युत-उत्पादन-क्षमता मे वृद्धि की जायेगी जिससे देश की कुल विद्युत-उत्पादन-क्षमता बढकर 44 500 मिलियन वाट हो जायेगी। योजना मे तीन सुपर थर्मल ऊर्जा स्टशनो के निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया जायेगा। 1978-83 के पांच वर्ष के काल मे 20 लाख पम्प-सैटो और 1 लाख ग्रामो को शक्ति उपलब्ध करायी जायेगी, जबकि पाँचवी योजना के चार वर्षो मे 9 लाख पम्प सैटो और 80,000 ग्रामो को शक्ति प्रदान की गयी। योजना मे बम्बई हाई और बेसीन निर्माण (Bassein Structures) को पूरा कर लिया जायेगा और इनकी उत्पादन-क्षमता 125 लाख टन प्रति वर्ष तक पहुँच जायेगी। 1980-81 तक देश म खनिज तेल की शोधन-क्षमता को बढाकर 374 5 लाख टन प्रति वर्ष करने का लक्ष्य रखा गया है।

औद्योगिक नीति

1978-83 की योजना मे औद्योगिक विकास के सम्बन्ध मे अनुसरण की जाने वाली समर-नीति (Strategy) निम्नवत् होगी

(अ) औद्योगिक क्षेत्र के समस्त अगो मे निर्मित उत्पादन-क्षमता का पूर्णतम उपयोग किया जायेगा।

(ब) औद्योगिक क्षेत्र मे ऐसी तकनीकी से उपयोग को प्राथमिकता दी जायेगी जिसमे पूँजी का उत्पादन मे अनुपात कम हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए लघु एव कुटीर उद्योग क्षेत्र मे सुरक्षित उत्पादो की सूची को विस्तृत किया जायेगा और इस क्षेत्र मे विनियोजन मे पर्याप्त वृद्धि की जायेगी।

(स) ऐसे साधन जिनका अपने देश मे कम भण्डार है और जिनका पुनरोत्पादन नही किया जा सकता है—जैसे, कोकिंग कोयला तथा अन्य खनिज—उन्हे सुरक्षित रखा जायेगा।

(द) माग एव पूर्ति के विनियोजित अन्तर की पूर्ति के लिए आयातो को बढाया जायेगा जिससे इसके विदेशी विनिमय के सचय का उपयोग किया जा सकेगा परन्तु आयातो का निर्धारण उनकी उत्पादन-लागत एव आर्थिक लागत की तुलना करके किया जायेगा। किसी भी वस्तु का आयात इतना अधिक नही किया जायेगा कि उसका देश के कुल विदेशी व्यापार मे अनुपात यथोचित से अधिक हो जाय। इसके लिए श्रम-सघन तकनीक से उत्पादित वस्तुओ के निर्यात मे वृद्धि करने के प्रयास किये जायेगे।

(य) समामेलित क्षेत्र मे आर्थिक सत्ताओं के केन्द्रीकरण को कम करने के लिए मिश्रित नीति तथा नियमन एव सगठनात्मक कार्यवाहियो का उपयोग किया जायेगा।

(र) निजी कम्पनियों की अव्यवस्था को कम करने के लिए समय पर वित्त की व्यवस्था, प्रबन्धकीय सुधार तथा सरकारी नीतियो मे सशोधन किया जायेगा।

(ल) उत्पादन-लागतो को कम करने के लिए देश मे उद्योगों को आयात की प्रतिस्पर्द्धा का सीमित मात्रा तक सामना करने दिया जायेगा और जहाँ औद्योगिक इकाइयो के आकार का लाभ उत्पादन-लागत को मिल सकता हो वहाँ आर्थिक आकार की औद्योगिक इकाइयाँ स्थापित की जायेंगी।

ग्रामीण एव लघु उद्योग

योजना मे रोजगार मे नियोजित वृद्धि करने के लिए ग्रामीण एव लघु उद्योग क्षेत्र को प्राथमिकता प्रदान की गयी है। इस क्षेत्र के लिए अधिक उत्पादो को सुरक्षित किया गया है तथा उत्पाद-शुल्क मे इस क्षेत्र को विशेष छूटे प्रदान की गयी है। प्रत्येक जिले में एक जिला उद्योग केन्द्र की स्थापना की जाती है जो ग्रामीण एव लघु उद्योगो को समन्वित रूप मे सुविधाएँ प्रदान करेंगे। साख के लिए मार्जिन कोष स्कीम (Margin Money Scheme) का विस्तार करने का विचार किया जा रहा है। इस क्षेत्र के उत्पादो का विपणन सरकारी सस्थाओं के माध्यम से किया जायेगा जिससे मध्यस्थो के लाभ को बचाया जा सके। योजना मे इस क्षेत्र के विकास के लिए 1,410 करोड रुपये की व्यवस्था की गयी है जबकि पाँचवी योजना मे यह राशि 387 4 करोड रुपये थी।

वृहद एव मध्यम आकार के उद्योग

योजनाकाल मे इस्पात के एक नये कारखाने की स्थापना की जायेगी। सीमेण्ट की माँग *1982-83 तक 310 लाख टन होने का अनुमान है, जबकि देश मे सीमेण्ट का उत्पादन 300 लाख टन होगा। सीमेण्ट के लाभप्रद मूल्य, तकनीकी सुधार एव सीमेण्ट-निर्माण मे धातु के मल के उपयोग से सीमेण्ट उद्योग का तेजी से विकास हो सकेगा। योजनाकाल मे 9 नाइट्रोजियस उर्वरक के कारखानो की स्थापना का लक्ष्य रखा गया है जिसमे से 6 सार्वजनिक क्षेत्र मे स्थापित किये* जायेंगे। खनिज तेल-शोधन की चालू परियोजनाओं को पूरा करने के साथ-साथ एक बडा तेलशोधक कारखाना, एक ऐरोमेटिक रिकवरी (Aromatic Recovery) का सयन्त्र तथा एक पोलिस्टर सयत्र स्थापित किया जायेगा। कपडे की अतिरिक्त आवश्यकता की पूर्ति हाथकरघा क्षेत्र से की जायगी और मिलो अथवा शक्तिचालित करघो के क्षेत्र मे करघो मे वृद्धि नही करने दी जायेगी। शक्कर उद्योग मे वर्तमान मे निर्मित एव निर्माणाधीन क्षमता पर्याप्त मानी गयी है और शक्कर का भविष्य मे विकास खण्डसारी क्षेत्र मे किया जायेगा क्योकि खण्डसारी क्षेत्र रोजगार के अधिक अवसर प्रदान करने मे सक्षम होता है।

समाज-सेवाएँ

योजना मे अशिक्षा का उन्मूलन, प्राथमिक शिक्षा की सार्वभौमिक *व्यवस्था तथा शिक्षा को* अधिक रोजगारमूलक *बनाने को प्राथमिकता दी जायेगी। व्यावसायिक शिक्षा को अधिक प्राथमिकता प्रदान की जायेगी तथा स्वास्थ्य-सुविधाओ को ग्रामीण क्षेत्र एव निर्धन वर्गो तक पहुँचाने का प्रयत्न किया जायेगा। अस्पतालो की स्थापना एव विस्तार* इस प्रकार किया जायेगा कि स्वास्थ्य सुविधाओ का सन्तुलित क्षेत्रीय विकास किया जा सके। मलेरिया-उन्मूलन पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। परिवार-कल्याण कार्यक्रम को ऊँची प्राथमिकता दी जाती रहेगी और स्वास्थ्य परिवार कल्याण, प्रसूति एव शिशु स्वास्थ्य तथा पौष्टिक आहार सेवाओ मे अधिक से अधिक समन्वय स्थापित किया जायेगा।

सशोधित न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम

1978-83 की योजना मे न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम के लिए बहुत बडी राशि आयोजित की गयी है। यह राशि 4,180 करोड रुपये है, जबकि पाँचवी योजना मे इस कार्यक्रम के लिए केवल *800 करोड रुपये का आयोजन था। इस कार्यक्रम के मुख्य तत्व निम्नवत् हैं*

(1) *प्राथमिक एव प्रौढ शिक्षा—योजनाकाल* मे 6 से 12 वर्ष तक की आयु के लगभग

3 2 करोड बच्चो के लिए प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था करने का आयोजन किया गया है। योजना के अन्त तक 6 से 14 वर्ष के आयु-वर्ग के बच्चो मे से 90% के लिए प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था की जा सकेगी, जबकि योजना के प्रारम्भ मे इस वर्ग के 69% बच्चो के लिए ही प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था है। देश के लगभग 10 करोड लोग 15 से 55 वर्ष के आयु-वर्ग मे प्रौढ अशिक्षित है। इनमे से 6 6 करोड को योजना के अन्त तक शिक्षित किया जा सकेगा।

(2) **ग्रामीण स्वास्थ्य**—योजना मे प्रत्येक 1,000 जनसख्या पर एक सामुदायिक स्वास्थ्य कार्यकर्ता एव एक दाई की व्यवस्था की जानी है। प्रत्येक ब्लॉक मे एक प्राथमिक स्वास्थ्य-केन्द्र तथा 38,000 उप-स्वास्थ्य केन्द्रो की स्थापना की जायेगी। इसके अतिरिक्त 400 स्वास्थ्य-केन्द्रो को 80 पलगो वाले चिकित्सालयो मे बदला जायेगा।

(3) **ग्रामीण सडकें**—योजनाकाल म 1,500 एव इससे अधिक जनसख्या वाले समस्त ग्रामो तथा 1,000 से 1,500 तक की जनसख्या वाले आधे ग्रामो को सडको से जोडा जायेगा। शेष आधे ऐसे ग्रामो को अगले पाँच वर्षो मे अर्थात् 1983-88 मे सडको से जोडा जायेगा।

(4) **पेयजल**—यह अनुमान है कि लगभग एक लाख ग्रामो मे पेयजल की पर्याप्त सुविधाएँ नही है। इन एक लाख ग्रामो मे पेयजल की व्यवस्था योजना के अन्त तक की जा सकेगी।

(5) **ग्रामीण विद्युतीकरण**—1982-83 तक लगभग 40 हजार ग्रामो का विद्युतीकरण किया जायेगा जिससे योजना के अन्त तक लगभग 50% ग्राम प्रत्येक राज्य एव केन्द्र-शासित प्रदेश मे विद्युतीकृत किये जा सकें।

(6) **निवासगृह एव नगरीय विकास**—पाँचवी योजना म लगभग 70 लाख भूमिहीन श्रमिको को मकान बनाने हेतु भूमि प्रदान की गयी परन्तु इन्ह मकान क निर्माण हेतु इस भूमि को विकसित करने के लिए कोई सुविधाएँ प्रदान नही की गयी। 1978-83 की योजना मे मकानो के लिए विकसित भूमि की योजना के अन्तर्गत 80 लाख भूमिहीन श्रमिको को लाभ प्राप्त होगा। इसके साथ ही प्रत्येक 30 घरो पर पेयजल की व्यवस्था, सफाई व्यवस्था आदि का आयोजन भी किया जायेगा। नगरीय क्षेत्रो मे चालो (Slums) मे सुधार करके लगभग 130 लाख चाल-निवासियो को लाभ पहुँचाया जायेगा तथा शेष 180 लाख चाल-निवासियो के लिए अगली योजना मे आयोजन किया जायेगा। आर्थिक दृष्टिकोण से कमजोर वर्गो को छोटे नगरो मे मकान बनाने के लिए विशेष सुविधाएँ प्रदान की जायेंगी।

(7) **पौष्टिक आहार**—न्यून पौष्टिक आहार पाने वाले बच्चो को दोपहर का भोजन और माताओ एव शिशुओ को सहायक पौष्टिक आहार परियोजना को ग्रामो एव ब्लॉको मे लागू किया जायेगा जहाँ अनुसूचित एव जनजाति की जनसख्या का अनुपात अधिक है। इस योजना का लाभ लगभग 26 लाख बच्चो तथा लगभग 40 लाख माताओ को दोपहर के भोजन का लाभ प्राप्त होगा।

समाजिक न्याय

योजना मे गरीबी की रेखा से नीचे का जीवन-स्तर व्यतीत करने वाली जनसख्या को विकास का काम प्रदान करने के लिए राजकोषीय कार्यवाहियो के अतिरिक्त उत्पादन की समस्त सगठनात्मक एव स्वामित्व की सरचना मे पुनर्वितरण के उद्देश्य के आधार पर परिवर्तन एव सुधार किये जाने है। पुनर्वितरण के उद्देश्य की पूर्ति के लिए भूमि सुधार का तेजी से लागू किया जायेगा तथा नगरीय सम्पत्ति एव समामेलित सस्थाओ की सम्पत्ति का विकेन्द्रीकरण, कमजोर वर्गो के पक्ष मे वस्तुओ एव सेवाओ का प्रभावशाली वितरण, दोहरी मूल्य-नीति, सुदृढ सार्वजनिक वितरण-व्यवस्था एव लघु उत्पादको एव कृषको की साख एव आदायो के वितरण का आयोजन योजना मे किया जायेगा। पिछडे हुए क्षेत्रो को क्षेत्रीय नियोजन कार्यक्रम एव न्यूनतम आवश्यक कार्यक्रम मे प्राथमिकता दी जायेगी और पिछडे वर्गो, पहाडी क्षेत्रो, जनजाति क्षेत्रो के विकास के लिए विशेष कार्यक्रम सचालित किये जायेंगे। योजना मे निर्धन जनसख्या के लाभ के लिए अग्रलिखित कार्यवाहियो को अधिक महत्व दिया जायेगा

(1) सम्पत्तियों विशेषकर कृषि-भूमि, नगरीय जायदाद तथा समामेलित सम्पत्ति के वर्तमान वितरण को प्रभावित करके उसके पुनर्वितरण की व्यवस्था की जाय।

(2) सार्वजनिक क्षेत्र का सचालन इस प्रकार किया जाय कि आवश्यक वस्तुओ, अव सरचना सुविधाओ एव समाज-सेवाओ का अधिक लाभ कम आय वाले उपभोक्ताओ को उपलब्ध हो सके।

(3) सस्थागत साख एव आदायो मे लघु कृषको एव लघु उद्योगपतियो के अश को बढाया जाय तथा इन्हे तकनीकी एव विपणन सुविधाओ का लाभ प्रदान किया जाय।

(4) बेरोजगारी के निवारण से सम्बन्धित नीतियो एव कार्यक्रमो के सचालन के फलस्वरूप विषमताओ को कम करना सम्भव हो सके।

(5) ग्रामीण एव नगरीय निर्धन वर्ग को सगठित किया जाय।

(6) योजना मे विषमताओ की कमी के लिए उपयुक्त आय-नीति को महत्व दिया जाय।

योजना के कार्यक्रमो को ग्रामोन्मुख करके पुनर्वितरण की व्यवस्था का आश्वासन दिया गया है। प्रत्येक विकास-कार्यक्रम की सरचना एव सचालन इस प्रकार किया जाता है कि पुनर्वितरण की प्रक्रिया गतिमान की जा सके। भारत के नियोजित विकास के इतिहास मे ग्रामीण एव कृषि विकास को सर्वाधिक प्राथमिकता प्रथम बार प्रदान की गयी है। यद्यपि प्रथम योजना मे भी कृषि-विकास को प्राथमिकता प्रदान की गयी थी परन्तु यह योजना एक छोटी योजना थी जिसमे अर्थ-व्यवस्था को विकास के लिए तैयार किया गया था और अर्थ-व्यवस्था मे कोई सरचनात्मक परिवर्तन करने की व्यवस्था नही की गयी थी। वर्तमान योजना (1978-83) एक बहुत बडी योजना है जिसमे ग्रामीण एव कृषि-विकास को एक कार्यक्रम के रूप मे ही नही लिया गया है वरन् इसे बेरोजगारी एव गरीबी-उन्मूलन तथा विषमताओ को कम करने का साधन भी माना गया है। यद्यपि अभी तक की योजनाओ की समर-नीति मे आर्थिक विषमताओ को कम करने और निर्धनता-उन्मूलन के उद्देश्यो को सम्मिलित किया जाता रहा है परन्तु ग्रामीण विकास को आर्थिक प्रगति एव सामाजिक न्याय का आवश्यक अग नही माना गया। वर्तमान योजना को ग्रामीण-विकास मॉडल पर आधारित किया गया है। दूसरी ओर, नगरीय क्षेत्र मे जहाँ अभी तक बडे नगरो एव बडे उद्योगो के विकास एव विस्तार को महत्व मिलता रहा है वहाँ वर्तमान योजना मे छोटे नगरो एव छोटे उद्योगो के विस्तार एव विकास के लिए ठोस कार्यक्रम सम्मिलित किये गये है। इस व्यवस्था से नगरीय क्षेत्र की निर्धन जनसख्या एव बेरोजगारो को लाभ प्राप्त होगा। इस प्रकार इस योजना मे यौगिक विकास (Aggregative Development) के साथ वितरण-पक्ष को भी पर्याप्त महत्व दिया गया है और इसके लिए आवश्यक आयोजन भी किये गये हैं।

अभी तक की हमारी योजनाओ का अनुभव यह रहा है कि लक्ष्यो एव उद्देश्यो तथा क्रियान्वयन एव उपलब्धियो मे बहुत अन्तर बना रहा है। वर्तमान योजना के क्रियान्वयन एव सचालन मे उसे पिछली योजनाओ के दोषो से मुक्त रखना कहाँ तक सम्भव हो सकेगा, यह अभी अनुमान लगाना सम्भव नही है क्योकि योजना के क्रियान्वयन एव सचालन के तन्त्र मे कोई मूलभूत परिवर्तन नही किया गया है।

यद्यपि योजना मे ग्रामीण क्षेत्रों मे रोजगार के अवसरो मे वृद्धि करने का आयोजन किया गया है परन्तु ग्रामीण क्षेत्रो मे रोजगार का स्तर आय के दृष्टिकोण से इतना नीचा है कि पूर्णकालीन रोजगार प्राप्त लोग भी अपनी न्यूनतम आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए पर्याप्त अर्जन नही कर पाते हैं। कृषि विकास कार्यक्रमो का लाभ भूमिधारी कृषको को उपलब्ध होता है और भूमिहीन श्रमिक को रोजगार प्राप्त होने पर भी उसकी आय मे पर्याप्त वृद्धि नही होती है। इस प्रकार ग्रामीण एव नगरीय जीवन-स्तर मे निरन्तर अन्तर बना रहता है। यद्यपि योजना मे ग्रामीण एव लघु उद्योगो के विकास एव विस्तार की व्यवस्था की गयी है परन्तु लघु उद्योगो को प्रदान किये जाने

वाले लाभों एवं सुविधाओं को बड़े उद्योगपति एवं पूंजीपति बड़े आकार के उपक्रमों की प्रविधियों को अलग-अलग करके लाभ उठाने का प्रयत्न कर सकते हैं।

योजना में हीनार्थ-प्रबन्धन को अर्थ साधनों में स्थान प्रदान किया गया है। हीनार्थ-प्रबन्धन का उपयोग योजना के क्रियान्वयन में बाधाएँ प्रस्तुत करता है और विकास कार्यक्रम के वितरण-पक्ष को कमजोर करने में सहायक होता है। योजना के आकार को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि नियोजकों ने 'बड़े धक्के' (Big Push) के सिद्धान्त को मान्यता दी है और वृहदाकार विनियोजन से अर्थ-व्यवस्था को गतिशील करने का प्रयत्न किया है। वृहदाकार विनियोजन होते हुए भी योजना में प्रगति-दर 5% से कम ही रखी गयी है। इतनी कम प्रगति-दर पर निर्धनता-उन्मूलन एवं कमजोर वर्ग के पक्ष में आय का प्रवाह होना सन्देहजनक है। कठोर नियन्त्रण की अनुपस्थिति में विकास के लाभों को निर्धन वर्ग तक पहुँचाना तभी सम्भव हो सकता है जबकि विकास की दर 7% के लगभग रखी जाय। परन्तु योजना के लक्ष्यों एवं कार्यक्रमों में उपलब्धियों एवं उपस्थित परिस्थितियों के आधार पर संशोधन किया जा सकेगा। यह व्यवस्था योजना की सफलता में सिद्ध हो सकती है।

भाग 3

आर्थिक प्रगति की समस्याएँ

[Problems of Economic Growth]

23

अल्प-विकसित राष्ट्रों का परिचय

[INTRODUCTION TO UNDER-DEVELOPED COUNTRIES]

अल्प-विकास का सन्दर्भ उत्पादन के किसी एक या अनेक घटकों की न्यूनता से है। यह घटक जनसंख्या-सम्बन्धी परिस्थितियाँ राजनीतिक एव सामाजिक घटक, जैसे विदेशी शासन, तानाशाही शासन अथवा सामन्तवादी शासन आर्थिक घटक, जैसे पूंजी, तान्त्रिक ज्ञान, साहस आदि मे से एक अथवा अनेक की हीनता हो सकते है। इन घटको की न्यूनता अथवा दोषपूर्ण होने के कारण अर्थ-व्यवस्था का विकास नही हो पाता है और उस राष्ट्र को अल्प-विकसित राष्ट्रो के वर्ग मे स्थान प्राप्त होता है। अल्प-विकास की परिभाषा मूलत विकास की परिभाषा पर निर्भर रहती है। विकास मे सम्मिलित होने वाले तत्वो मे से जब कोई एक अथवा अनेक तत्व किसी अर्थ-व्यवस्था मे उपस्थित नही रहते तो उस अर्थ-व्यवस्था को अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था कहते है। परन्तु *विकास मे सम्मिलित होने वाले तत्व स्थिर नही होते है। वे समय और परिस्थितियो के अनुसार* बदलते रहते है। विज्ञान एव तान्त्रिकताओ की तीव्र गति से प्रगति होने के कारण अच्छे रहन-सहन की आवश्यक सामग्रियाँ एव सुविधाएँ निरन्तर बदलती जा रही है जिसके परिणामस्वरूप विकास के तत्वो मे भी परिवर्तन होता जा रहा है। वह देश जो अपने नागरिको को उच्चतम जीवन-स्तर प्रदान कर सकता है, विकसित देश कहलाता है। उच्चतम जीवन-स्तर एक तुलनात्मक विचार है अर्थात् अन्य देशो के नागरिको के जीवन-स्तर की तुलना मे जिस देश के नागरिको का जीवन-स्तर सर्वोच्च एव सुखद हो, उसी देश को विकसित देश कहा जाता है। जिस प्रकार विकास का निर्धारण विभिन्न देशो के जीवन-स्तर का तुलनात्मक अध्ययन करके किया जा सकता है, उसी प्रकार *अल्प-विकसित अवस्था का निर्धारण भी विभिन्न विकसित एव अल्प-विकसित राष्ट्रो के जीवन-स्तर की* तुलना करके किया जा सकता है।

अल्प-विकसित राष्ट्र की परिभाषा

अल्प-विकसित अवस्था वास्तव मे एक तुलनात्मक अवस्था है और इसके कोई विशेष लक्षण निश्चित करना सम्भव नही है। आर्थिक एव सामाजिक मान्यताओ, विकास की सीमाओ तथा *अन्य राष्ट्रो मे किये गये विकास की मात्रा तथा गति मे परिवर्तन के प्रभाव अल्प-विकसित अवस्था* के लक्षणो पर पूर्णरूपेण पडते है। जीवन-स्तर की न्यूनता, अज्ञानता, आधारभूत अनिवार्यताओ (उदाहरणार्थ, भोजन, वस्त्र, गृह आदि) की अपर्याप्तता आदि अल्प विकास के मुख्य लक्षण हैं। भविष्य मे इन लक्षणो मे परिवर्तन होना अवश्यम्भावी है।

प्रा पालविया (Prof Palvia) के अनुसार "प्रति व्यक्ति आय का न्यून-स्तर, अज्ञानता की अधिकता तथा परिणामस्वरूप लैटिन अमेरिका एशिया मध्य-पूर्व, अफ्रीका तथा पूर्व के समीप के देशो मे आदिवासियो के न्यून जीवन-स्तर ने ससार की सभ्यताओ तथा मानव-समाज के विचारशील-वर्ग की विचारधाराओ को आकर्षित किया है। ऐसी सोचनीय दशाओ के साथ-साथ उत्तरी अमेरिका तथा पश्चिमी यूरोप के उन्नत जीवन-स्तर तथा अनन्य सुविधाओ की उपस्थिति ने अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को एक बडा खतरा उपस्थित कर दिया है। विकसित क्षेत्रो मे भूख की समस्या नही है, उत्पादन वृद्धि के मार्ग पर है तथा जनसाधारण शिक्षित ही नही अपितु उनके ज्ञानवर्द्धन हेतु पुस्तके

उपलब्ध है अच्छे पुस्तकालय भी हैं और पशुओं के खाने तथा चिकित्सा का प्रबन्ध अल्प विकसित क्षेत्रों में जनसाधारण को उपलब्ध सुविधाओं की तुलना में श्रेष्ठ है। अल्प विकसित राष्ट्रों में अशिक्षा अपवाद नहीं वरन् सामान्य लक्षण है, प्रतिदिन दो समय भोजन प्राप्त होना समस्या है तथा तान्त्रिक सामग्री की अनुपस्थिति के कारण उत्पादन स्थिर तथा अनियमित है।"[1]

प्रोफेसर सेम्युलसन (Prof Samuelson) के अनुसार, "साधारणतः एक अल्प-विकसित राष्ट्र वह है जिसमें प्रति व्यक्ति आय ऐसे राष्ट्रों, जैसे कनाडा, संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, *फ्रान्स तथा पश्चिमी यूरोप की प्रति व्यक्ति आय की तुलना में कम हो।* प्राय अल्प विकसित राष्ट्र उसे कहा जाता है जिसमें आय के स्तर में पर्याप्त सुधार करने की क्षमता हो।"[2]

इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि विकास एक तुलनात्मक अवस्था का नाम है। प्रत्येक राष्ट्र वास्तव में अल्प विकसित समझा जा सकता है क्योंकि कोई भी राष्ट्र विकास की पूर्ण अवस्था को प्राप्त नहीं हो सकता है। आज जो राष्ट्र विकसित हैं और जिनकी अर्थ व्यवस्था से तुलना करके अन्य राष्ट्र अपनी आर्थिक श्रेणी निर्धारित करते हैं ये राष्ट्र भी अल्प विकसित अवस्था से होकर गुजर चुके हैं। संसार के अधिकतर राष्ट्र इस परिभाषा के अनुसार अल्प-विकसित समझे जा सकते है। जैकब वाइनर ने अल्प-विकसित राष्ट्र उस राष्ट्र को समझा है 'जिसमें अधिक पूँजी अथवा अधिक श्रम अथवा अधिक उपलब्ध प्राकृतिक साधनों अथवा इन सभी का अधिक उपयोग करने के अच्छे सम्भावित अवसर हो जिसमें वह राष्ट्र अपनी वर्तमान जनसंख्या को एक ऊँचे जीवन स्तर अथवा यदि उस राष्ट्र में पहले से ही प्रति व्यक्ति आय का स्तर ऊँचा हो तो अधिक बड़ी जनसंख्या का कम से कम पहले के समान जीवन-स्तर का पोषण कर सकें।"[3]

वाइनर (Jacob Viner) ने इस परिभाषा में वर्तमान में उपलब्ध उत्पादन के साधनों के उपयोग की सम्भावना को ही महत्व दिया है, जबकि अल्प-विकसित राष्ट्रों में नये साधनों की खोज करके उनका आर्थिक विघटन एवं शोषण किया जाना आवश्यक होता है। इसके अतिरिक्त

---

1 '*Low level of income per capita the appalling ignorance* and *the resultant* low standard of life of the people in Latin America, Asia and Middle East, Africa and Near East have attracted the attention of world assemblies as well as thinking section of mankind in general Co existence in these countries side by side *with standard of life and comfort in North America and Western* European countries is being now regarded as a threat to international peace

"In developed areas problem of starvation is alien, productivity is on a high road of increase and people not only have literacy but have a volume of books and series of well-equipped libraries to enrich their knowledge and animals have better food and medical care than human beings in under-developed countries where illiteracy is the rule rather than exception, two square meals a day is a problem and productivity is static or hampered by the absence of technical equipment "—Palvia, *Economic Model for Development Planning*, p 2

2 "*An under-developed nation is simply one with real per capita income* that is low relative to the present day per capita incomes of such nations as Canada, the United States Great Britain, France and Western Europe generally Usually an under-developed nation is one regarded as being *capable of substantial improvement in its income level* "—*Paul A Samuelson, Economics An Introductory Analysis*, p 776

3 An under-developed country is one which has good potential prospects for using more capital or more labour or more available natural resources or all of these, to support its present population on a higher level of living or if its per capita income level is already fairly high to support a larger population on a not lower level of living "—Jacob Viner, *The Economics of Development*

इस परिभाषा मे केवल आर्थिक घटको को ही स्थान दिया गया है, जबकि अल्प-विकसित राष्ट्रो मे सामाजिक घटको का प्रभाव भी विकास पर पडता है।

सयुक्त राष्ट्र द्वारा नियुक्त अल्प-विकसित राष्ट्रो के आर्थिक विकास की कार्यवाहियो से सम्बद्ध एक समिति ने अपने प्रतिवेदन मे अल्प-विकसित राष्ट्रो को परिभाषित करते हुए कहा है कि "हम इससे (अल्प-विकसित राष्ट्र से) उन देशो को समझते है जिनमे प्रति व्यक्ति आय सयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया तथा पश्चिमी यूरोप के देशो की वास्तविक प्रति व्यक्ति आय की तुलना मे कम हो। इस अर्थ मे 'अल्प-विकसित देश' वाक्य 'निर्धन देश' वाक्य का उचित पर्यायवाची है।

अल्प-विकसित देश (Under-developed Country) को निर्धन देश का पर्यायवाची कहना उचित नही है क्योकि ये दोनो शब्द अलग-अलग आभास प्रस्तुत करते है। 'निर्धन देश' शब्द से ऐसे देश का आभास होता है जिसमे विकास की सम्भावना के लिए जिस गतिशीलता की आवश्यकता होती है, वह विद्यमान न हो। 'निर्धन' शब्द केवल यह व्यक्त करता है कि देश के विकास के लिए साधनो का और अधिक उपलब्ध होना सम्भव नही है और यह देश उपलब्ध साधनो का सीमान्त उपयोग कर रहा है। 'निर्धन' शब्द यह भी व्यक्त नही करता कि देश के अल्प-विकसित होने के क्या कारण हैं? द्वितीय महायुद्ध के पूर्व अल्प-विकसित' शब्द के स्थान पर आर्थिक पिछडापन (Economic Backwardness) उपयोग किया जाता था परन्तु यह शब्द ऐसा आभास देता था कि उस राष्ट्र मे विकास सर्वथा अनुपस्थित है और वहाँ की अर्थ-व्यवस्था स्थिर हो गयी है जिसमे विकास की सम्भावनाएँ नही है। इन दोषो के कारण ही 'निर्धन' एव 'आर्थिक पिछडेपन' शब्दो का उपयोग अब अल्प-विकसित राष्ट्र के लिए नहीं किया जाता है।

कुछ लोग 'अल्प-विकसित देश' शब्द को अधिक रुचिकर न होने के कारण 'विकासशील देश' (Developing Countries) शब्द के उपयोग को अधिक उचित समझते है परन्तु 'विकासशील' अथवा 'विकासोन्मुख' शब्द उन्ही देशो के लिए उपयोग करना उचित होगा जो विकास की ओर अग्रसर हों। अफीका एव एशिया मे अब भी कुछ राष्ट्र ऐसे है जिनमे विकास के लिए प्रयत्न नही किये जा रहे हैं। ऐसे राष्ट्रो को विकासोन्मुख कहना उचित न होगा। इन सब विचारो के आधार पर यह कहना उचित है कि 'अल्प-विकसित' शब्द ही अल्प-विकसित राष्ट्रो के लिए उपयुक्त सज्ञा है।

यूजीन स्टेनले ने अल्प-विकसित राष्ट्र उस राष्ट्र को कहा है "जिसके मुख्य लक्षण, व्यापक दरिद्रता, जो दीर्घकालीन हो और किसी अस्थायी प्रतिकूल परिस्थिति के फलस्वरूप उदय नही हुई हो, तथा उत्पादन एव सामाजिक सगठनो की अप्रचलित विधियाँ हो। इसका तात्पर्य यह है कि दरिद्रता पूर्णरूपेण प्राकृतिक साधनों की न्यूनता के कारण नही होती है और इसलिए इस दरिद्रता को उन विधियो का उपयोग करके, जो अन्य राष्ट्रो मे प्रमाणित हो चुकी है, कम करना सम्भव हो सकता है।"[1]

इस परिभाषा मे दीर्घकालीन निर्धनता को आधार माना गया है और साथ मे यह भी कहा गया है कि इस निर्धनता को कम करना सम्भावित होना चाहिए। दूसरे शब्दो मे यह कह सकते है कि वे राष्ट्र ही अल्प-विकसित कहे जाने चाहिए जो वर्तमान मे निर्धन हो और जिनकी भविष्य मे आर्थिक प्रगति होने की सम्भावना हो। यूजीन स्टेनले ने अपनी पुस्तक *"The Future of Under-*

---

1 "A country is characterised by mass poverty which is chronic and not the result of some temporary misfortune and by obsolete methods of production and social organisation which means that the poverty is not entirely due to poor natural resources and hence could be presumably lessened by methods already proved in other countries."—Eugene Stanley, *Future of Under-developed Countries*

Developed Countries" में सन् 1954 में संसार के विभिन्न राष्ट्रों को उनके आर्थिक विकास की श्रेणी के आधार पर निम्नवत् विभक्त किया था

(अ) अत्यधिक विकसित राष्ट्र—आस्ट्रेलिया, बेल्जियम, कनाडा, डेनमार्क, फ्रांस, जर्मनी, नीदरलैण्ड न्यूजीलैण्ड नार्वे, स्वीडन, स्विटजरलैण्ड, ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका।

(आ) मध्यम श्रेणी के राष्ट्र—अर्जेण्टाइना, आस्ट्रिया, चिली, क्यूबा, चेकोस्लोवाकिया, फिनलैण्ड हंगरी, आयरलैण्ड, इजराइल, इटली, जापान, पोलैण्ड, पुर्तगाल, प्यूरटोरिका, स्पेन, दक्षिणी अफ्रीका, रूस, यूरग्वे, वेनेजुएला।

(इ) अल्प-विकसित राष्ट्र—अफ्रीका के सभी राष्ट्र (दक्षिणी अफ्रीका संघ को छोड़कर), एशिया के सभी राष्ट्र (जापान और इजराइल को छोड़कर) तथा अलबानिया, बलगारिया, ग्रीस, रूमानिया, यूगोस्लाविया (यूरोप में) तथा बोलीविया, ब्राजील, पश्चिमी द्वीपसमूह, कोलम्बिया, कोस्टारिका, डोमीनिकन गणतन्त्र, इक्वेडोर एल सालवेडोर, ग्वाटेमाला, हैटी, हॉण्डूरस, मैक्सिको, निकाराग्वे पैराग्वे, पीरू (दक्षिणी अमेरिका में)।

उपर्युक्त वर्गीकरण के अनुसार संसार की 70% जनसंख्या अल्प-विकसित राष्ट्रों की नागरिक थी, जिसे संसार की कुल आय का 20% भाग प्राप्त होता था, जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका में संसार की कुल जनसंख्या के 6% भाग को संसार की कुल आय का 38% भाग प्राप्त था तथा यूरोप में संसार की कुल जनसंख्या के 22% भाग का संसार की कुल आय का 36% भाग उपलब्ध था।

जे आर हिक्स (J R Hicks) ने अल्प-विकसित राष्ट्र की परिभाषा में तकनीकी एव मौद्रिक परिश्रमों का अधिक महत्त्व दिया है। हिक्स के अनुसार, "एक अल्प-विकसित राष्ट्र उस राष्ट्र को कहते हैं जिसमें तकनीकी एव मौद्रिक स्तर उत्पादन एव बचत की वास्तविक न्यून सीमा के अनुरूप होता है जिसके परिणामस्वरूप प्रति श्रमिक इकाई औसत पारिश्रमिक उस पारिश्रमिक-स्तर से कम रहता है जो ज्ञात तकनीकी का ज्ञात साधनों पर उपयोग करने से उपलब्ध हो सकता है।"[1] हिक्स ने इस परिभाषा में अल्प-विकसित राष्ट्रों में व्यापक गरीबी का कारण तकनीकी पिछड़ेपन को माना है।

प्रथम पचवर्षीय योजना के प्रतिवेदन में अल्प-विकसित राष्ट्र को इस प्रकार परिभाषित किया गया *"एक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था की विशेषता यह है कि इसमें उपयोग की गयी* अथवा अशत उपयोग का गयी जनशक्ति तथा अशोषित प्राकृतिक साधनों का सह-अस्तित्व कम या अधिक मात्रा में होता है। इस अवस्था का कारण तान्त्रिकताओं की जड़ता अथवा कुछ सामाजिक एव आर्थिक घटकों का बाधक होना हो सकता है जो अर्थ व्यवस्था की अधिक गतिशील शक्तियों को सक्रिय होने से रोकते है।"[2] इसी परिभाषा में अल्प विकसित राष्ट्र के तीन प्रमुख लक्षण बताए गये हैं—(i) जनशक्ति एव प्राकृतिक साधनों का पूर्णतम उपयोग न किया जाना, (ii) अकुशल तान्त्रिकताओं का उपयोग, तथा (iii) विकास में बाधक सामाजिक एव आर्थिक तत्वों का प्रभुत्व।

---

1 'An under developed country is one in which the technological and monetary ceiling are as low as practically to coincide with actual level of output and saving with the result that the average remuneration per unit of labour (or per working person) is lower than what it could be, if known technology were applied to known resources "—J R Hicks *Contribution to the Theory of Trade Cycles*

2 'An under-developed economy is characterised by the co-existence in greater or less degree of unutilised or under-utilised manpower on the one hand and of unexploited natural resources on the other This state of affairs may be due to stagnancy of techniques or to certain inhibiting socio-economic factors which prevent the more dynamic forces in the economy from asserting themselves " —*First Five Year Plan*

यह परिभाषा अल्प-विकास के कारणो का स्पष्टीकरण करती है परन्तु उनके प्रभावो पर प्रकाश नही डालती अर्थात् *परिभाषा मे दिये गये अल्प विकास के कारणो के प्रभाव—निर्धनता, दरिद्रता* एव निम्न जीवन-स्तर—की ओर सकेत नही देती है ।

उपर्युक्त परिभाषाओ से ज्ञात होता है कि अल्प विकसित राष्ट्र उस राष्ट्र को कहते हैं जिसमे निम्नलिखित तत्व हो

(1) राष्ट्रीय एव प्रति व्यक्ति आय का विकसित राष्ट्रो की तुलना मे कम होना,
(2) व्यापक निर्धनता का होना,
(3) जनशक्ति एव प्राकृतिक साधनो का पूणतम उपयोग न होना,
(4) उत्पादन की तान्त्रिकताओ का रूढिवादी, अकुशल एव परम्परागत होना,
(5) आर्थिक विकास मे बाधक सामाजिक एव आर्थिक घटको का प्रभुत्व होना,
(6) जनसाधारण का जीवन-स्तर निम्न होना,
(7) विकास की सम्भावनाओ का होना ।

अल्प-विकसित राष्ट्रो के लक्षण

विकास एक ऐसी सतत् विधि है जो न तो किसी क्षेत्र मे पूर्ण कही जा सकती है और न ही यह किसी क्षेत्र मे सर्वथा अनुपस्थित होती है । यह विशेप सज्ञा किसी विशेप ढग, वस्तु अथवा विधि को प्रदत्त नही है । विभिन्न क्षेत्रो की उन्नतशील दशाओ के सामूहिक रूप को विकास कहा जाता है । इसमे विशेपतया उत्पादन-वृद्धि, वस्त्र गृह, शिक्षा, चिकित्सा तथा जीवन की अन्य सुविधाओ एव आवश्यकताओ की कम लागत, कम कठिनाई तथा कम परिश्रम द्वारा उपलब्धि सम्मिलित है । इसके द्वारा जनसमुदाय के भोजन, स्वास्थ्य तथा शिक्षा के स्तर मे वृद्धि की जा सकती है । इसकी पृष्ठभूमि मे अधिक अवकाश (Leisure) तथा ज्ञान मे वृद्धि निहित है । ऐसे ही राष्ट्रो को अल्प-विकसित कहा जाता है जिनमे विकास की सम्भावनाएँ विद्यमान हो । ससार मे कोई भी राष्ट्र ऐसा नही है जिसमे विकास की सम्भावनाएँ विद्यमान न हो । कुछ राष्ट्र अल्प-विकसित इसलिए है कि इनमे उपलब्ध एव सम्भावित साधनो का उपयुक्त तान्त्रिकताओ के माध्यम से जनसाधारण के हित के लिए उपयोग नही किया गया है । आधुनिक युग मे विज्ञान एव तकनीक मे निरन्तर सुधार होने के कारण साधनो के गहनतम उपयोग की सम्भावनाएं सदैव बनी रहती हैं । इस प्रकार *कोई भी राष्ट्र विकास की अन्तिम श्रेणी पर पहुँचा हुआ नही माना जाता है और न ही कोई राष्ट्र* अविकसित अथवा निर्धन कहा जाता है । प्रत्येक अल्प विकसित राष्ट्र मे विकास की सम्भावनाओ के विद्यमान रहने के कारण अब 'अल्प विकसित' वाक्य का भी उपयोग नही किया जाता है । उन सभी राष्ट्रो को जिनमे प्रति व्यक्ति आय विकसित राष्ट्रो से कम है और जिनमे विकास की सम्भावनाएँ हैं अब **विकासोन्मुख राष्ट्र (Developing Countries)** का नाम दिया जाता है ।

विकासोन्मुख राष्ट्र की परिस्थितियो मे इतनी अधिक विभिन्नता है कि उनके समान लक्षण निर्धारित करना बहुत कठिन होता है । इन विभिन्न परिस्थितियो मे कुछ समानताएँ हैं जिनके आधार पर अल्प विकसित राष्ट्रो की विशेपताओं को निम्नवत् वर्गीकृत कर सकते है

(1) सामान्य आर्थिक परिस्थितियाँ
(अ) प्रति व्यक्ति आय का कम होना,
(आ) सम्पूर्ण निर्धनता की व्यापकता,
(इ) निर्धनता का दुश्चक्र,
(ई) आय का विपम वितरण एव व्यापक निर्धनता,
(उ) अधिक जनसख्या का कृपि मे लगे होना,
(ऊ) रोजगार की सोचनीय स्थिति,
(ए) पौष्टिक आहार की कमी,
(ऐ) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे न्यून भाग,

(ओ) विदेशी व्यापार में प्रतिकूल शर्तें,
(औ) तान्त्रिक ज्ञान की कमी,
(अ) आधारभूत सुविधाओं की कमी।

(2) कृषि की प्रधानता एवं कृषि की दयनीय स्थिति,
(3) जनसंख्या-सम्बन्धी परिस्थितियाँ,
(4) प्राकृतिक साधनों की न्यूनता एवं उनका आंशिक उपयोग,
(5) मानवीय शक्ति का अकुशल एवं पिछड़ा हुआ होना,
(6) पूँजी की न्यूनता
(7) विदेशी व्यापार की प्रधानता।

1 सामान्य आर्थिक परिस्थितियाँ

सामान्य आर्थिक परिस्थितियों के अन्तर्गत वे सब परिस्थितियाँ सम्मिलित रहती हैं जो *सामान्य रूप से सभी अल्प-विकसित राष्ट्रों में विद्यमान होती हैं और जिनके द्वारा आर्थिक विकास* में बाधाएँ उपस्थित होती हैं। इस वर्ग में निम्नलिखित लक्षण निहित रहते हैं

(अ) प्रति व्यक्ति आय का कम होना—अल्प-विकसित राष्ट्रों में निर्धनता व्यापक रूप से फैली रहती है जिसका प्रमुख कारण कम राष्ट्रीय उत्पादन एवं आय का विषम वितरण होते हैं। इन राष्ट्रों की अधिकतर जनसंख्या इतनी निर्धन होती है कि वह अपनी अनिवार्यताओं की पूर्ति नहीं कर पाती है जिसके परिणामस्वरूप बचत एवं विनियोजन की दर भी न्यून रहती है। जो वर्ग अधिक आय का भाग पाता है उसमें भूमिधारी (Landholders) होते हैं जो अपनी बचत का विनियोजन उद्योग एवं वाणिज्य में नहीं करते हैं। विश्व बैंक द्वारा 187 राष्ट्रों की प्रति व्यक्ति *आय, राष्ट्रीय उत्पादन एवं जनसंख्या का ब्यौरा प्रकाशित किया गया है।* इस प्रकाशन के आधार पर प्रति व्यक्ति आय के अनुसार विभिन्न राष्ट्रों को पाँच वर्गों में विभक्त कर सकते हैं। प्रति व्यक्ति सकल उत्पादन के आँकड़े सन् 1974 के केलेण्डर वर्ष के हैं।

तालिका 1—1974 वर्ष में संसार के धनी एवं निर्धन राष्ट्र

विवरण	200 डॉलर से कम प्रति-व्यक्ति सकल उत्पादन वाले राष्ट्र	200 से 499 डॉलर तक की प्रति-व्यक्ति सकल उत्पादन वाले राष्ट्र	500 से 1199 डॉलर तक की प्रति व्यक्ति उत्पादन वाले राष्ट्र	200 से 4999 डॉलर तक के प्रति-व्यक्ति सकल उत्पादन वाले राष्ट्र	500 डॉलर से अधिक प्रति व्यक्ति सकल उत्पादन वाले राष्ट्र	संसार का योग
राष्ट्रों की संख्या	33	42	64	29	19	187
जनसंख्या कुल (करोड़ में)	113	118	53 9	63 1	41 2	389 7
संसार की जनसंख्या में अंश (प्रतिशत)	29 0	30 3	13 9	16 2	10 6	100 0
सकल राष्ट्रीय उत्पादन कुल योग (करोड़ डालर)	15,100	36,700	54,100	1,86,300	2 61 200	5,53,400
संसार में राष्ट्रीय उत्पादन में अंश (प्रतिशत)	2 7	6 6	9 8	33 7	47 2	100 0
प्रति व्यक्ति औसत सकल उत्पादन (डॉलर)	134	311	1,004	2,952	6,340	1,422

उक्त तालिका के अध्ययन से ज्ञात होता है कि प्रति व्यक्ति 200 डॉलर से कम आय वाले

राष्ट्रो की सख्या 33 है। इनमे प्राय एशिया और अफ्रीका के राष्ट्र सम्मिलित है। इन राष्ट्रो मे निर्धनता व्यापक रूप से विद्यमान है। इनमे ससार की जनसख्या का 29% भाग निवास करता है, जबकि इन्हे ससार के कुल राष्ट्रीय उत्पादन का केवल 27% भाग ही प्राप्त है। इन राष्ट्रो की औसत प्रति व्यक्ति आय केवल 134 डॉलर है जो विकसित राष्ट्रो की तुलना मे $\frac{1}{60}$ है। इन राष्ट्रो मे अफगानिस्तान बगला देश, वेनिन, भूटान, बर्मा, बरुण्डी, कम्पोडिया, चाड, इथोपिया, जाम्बिया, गिनी, हेटी, भारत, इण्डोनेशिया, लाओस, मैडागास्कर, मालावी, मालदीव, माली, नेपाल, नाइजर, पाकिस्तान, पुर्तगाली टिमोर, रुआण्डा, सीयरा-लियोने, सोमालिया, श्रीलका, तजानिया, ऊपरी वोल्टा, वियतनाम, यमन और जैरे सम्मिलित है। दूसरी ओर धनी राष्ट्र है जिनकी प्रति व्यक्ति आय 5,000 डॉलर से अधिक है और सख्या 19 है। इनमे आस्ट्रेलिया, बेल्जियम, बर्मूडा, वरुनी, कनाडा, डेनमार्क, फ्रास, जर्मनी (गणतन्त्र), आइसलैण्ड, कुवैत, लग्जमबर्ग, नीदरलैण्ड्स, नार्वे, कातार, स्वीडन, स्विटजरलैण्ड, यूनाइटेड अरब अमीरात्स (Emirates), सयुक्त राज्य अमेरिका और वर्जीनिया द्वीप सम्मिलित है। इन देशो मे ससार की जनसख्या का केवल 10 6% भाग निवास करता है, जबकि ससार के कुल राष्ट्रीय उत्पादन का लगभग आधा भाग इनको प्राप्त है। 1,200 डॉलर प्रति व्यक्ति आय से कम आय वाले राष्ट्रो को विकासशील राष्ट्रो के वर्ग मे सम्मिलित किया जा सकता है। ऐसे राष्ट्रो की कुल सख्या 139 है। इनका ससार की जनसख्या मे अश 73 2% है, जबकि ससार के कुल राष्ट्रीय उत्पादन मे इनका अश केवल 19 1% है। ये तथ्य स्पष्ट करते है कि ससार की लगभग 27% जनसख्या ससार के 81% उत्पादन का लाभ लेती है और इस विषमता के कारण ही ससार मे अशान्ति का वातावरण बना रहता है। इसके अतिरिक्त यह भी तथ्य सामने आता है कि धनी राष्ट्र निर्धन राष्ट्रो के जीवन-स्तर मे सुधार करने हेतु पर्याप्त सहायता प्रदान करने के लिए तत्पर नही है। सत्तर के दशक मे धनी देशो की सम्पन्नता मे अधिक तीव्र गति से वृद्धि हो रही है और यह अनुमान लगाया जाता है कि सम्पन्न राष्ट्रो की प्रति व्यक्ति आय 1970 मे 3,100 डॉलर से बढकर 1980 मे 4,000 डालर हो जायेगी, जबकि निर्धन राष्ट्रो के लगभग 100 करोड लोगो की औसत प्रति व्यक्ति आय सन् 1970 मे 105 डॉलर से बढकर सन् 1980 मे 108 डॉलर हो जायेगी। इस प्रकार धनी और निर्धन राष्ट्रो के जीवन-स्तर के अन्तर मे निरन्तर वृद्धि होने का अनुमान है।

निर्धन जनसख्या का केन्द्रीकरण अफ्रीका एव एशिया मे है। अफ्रीका मे ससार की जनसख्या का 10 4% भाग निवास करता है, जबकि इस महाद्वीप को ससार के राष्ट्रीय उत्पादन का केवल 2 7% भाग उपलब्ध है। इसी प्रकार एशिया मे (जापान को छोडकर) ससार की जनसख्या का 50 7% भाग निवास करता है, जबकि राष्ट्रीय उत्पादन का केवल 8 3% भाग एशिया को उपलब्ध है। एशिया मे जापान एक धनी राष्ट्र है। जापान मे ससार की जनसख्या के 2 8% भाग को ससार के राष्ट्रीय उत्पादन का 8 1% भाग उपलब्ध है। एशिया के समस्त अन्य राष्ट्रो को ससार के उत्पादन का जितना भाग उपलब्ध है वह जापान के उत्पादन अश के लगभग बराबर है। दूसरी ओर, उत्तरी अमेरिका और यूरोप महाद्वीपो मे सम्पन्नता का केन्द्रीकरण है। उत्तरी अमेरिका मे ससार की जनसख्या के 6% अश को ससार के राष्ट्रीय उत्पादन का 28% भाग मिलता है जबकि यूरोप (रूस को छोडकर) को ससार की जनसख्या के 13 1% भाग का निर्वाह करने के लिए ससार के राष्ट्रीय उत्पादन का 33% भाग उपलब्ध है। रूस मे जनसख्या एव राष्ट्रीय उत्पादन के प्रतिशत क्रमश 6 5 और 10 8 है।

(आ) सम्पूर्ण निर्धनता की व्यापकता—विकास के लिए राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रयास व्यापक रूप से किये जाने पर भी सम्पूर्ण निर्धनता की व्यापकता मे कोई कमी नही हुई है। आज भी ससार की बहुत बडी जनसख्या विकासशील राष्ट्रो मे केवल भौतिक अस्तित्व बनाये रखने का न्यूनतम जीवन व्यतीत कर रही है। विकसित एव विकासशील राष्ट्रो मे सम्पूर्ण निर्धन जनसख्या की तुलना से ज्ञात होता है कि विकासशील देशो मे निर्धनता की व्यापकता अत्यन्त सोचनीय स्थिति

में है और भविष्य में इस स्थिति में कोई विशेष सुधार होने की सम्भावना नहीं है। विश्व बैंक द्वारा प्रकाशित तथ्यों से ज्ञात होता है कि निर्धन राष्ट्रों में जन-जीवन अत्यन्त कठोर एवं निम्न-स्तरीय परिस्थितियों में घिरा हुआ है।

तालिका 2—निर्धनता एवं विकसित राष्ट्रों में जीवन की परिस्थितियों की तुलना

राष्ट्र	जनसंख्या (करोड़ में) कुल	जनसंख्या (करोड़ में) सम्पूर्णतम निर्धन	शिशु मृत्यु-दर (प्रति हजार)	सम्भावित जीवन (वर्षों में)	पौष्टिक आहार की कमी (करोड़ व्यक्तियों में)	वयस्क निरक्षरता
निर्धनतम राष्ट्र	120	75	128	50	60	62%
विकसित राष्ट्र	70	2 से कम	16	72	2 से कम	1%

निर्धन राष्ट्रों में विकसित राष्ट्रों की तुलना में शिशु मृत्यु-दर आठ गुनी अधिक है, सम्भावित जीवन एक-तिहाई कम है और वयस्क साक्षरता 60% कम है। निर्धन राष्ट्रों में प्रत्येक दो में से एक व्यक्ति को न्यूनतम पौष्टिक आहार उपलब्ध नहीं है। इन निर्धन देशों में औसत प्रति व्यक्ति आय 100 डॉलर से कम है और अगले दशक में इस आय में 2 डॉलर प्रति वर्ष से अधिक वृद्धि होने की सम्भावना नहीं है। इस प्रकार यह सम्पूर्णतम निर्धनता में फँसी हुई जनसंख्या अपने आप को अन्धकारमय जीवन से निकाल पाने में असमर्थ नहीं है। इनकी निर्धनता का मूल कारण विकसित राष्ट्रों की इन राष्ट्रों के प्रति उदासीनता है।

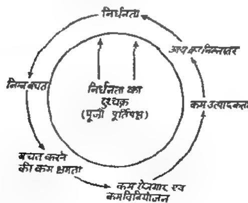
गत 25 वर्षों में यद्यपि विकासशील राष्ट्रों में विकास को गतिमान करने के लिए व्यापक प्रयत्न किये गये हैं परन्तु मृत्यु-दर में तेजी से कमी होने के कारण इन राष्ट्रों में जनसंख्या में तीव्र गति से वृद्धि हुई है। सन् 1950 में विकासशील राष्ट्रों (चीन को छोड़कर) की जनसंख्या 110 करोड़ थी जो सन् 1975 में बढ़कर 200 करोड़ हो गयी। इस प्रकार इन राष्ट्रों की जनसंख्या में 2·4% की वार्षिक वृद्धि हुई जो दर विकसित राष्ट्रों की तुलना में दुगुनी है। इसके साथ ही विकासशील राष्ट्रों की विकास-दर में दशक प्रति दशक कमी होती जा रही है। संसार के निर्धन राष्ट्रों में प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि-दर 1950-60 के दशक में 2.6% थी, जो 1960-70 के दशक में घटकर 1.8% रह गयी और 1970-75 के पाँच वर्षों में घटकर 1.1% ही रह गयी।

तालिका 3—प्रति व्यक्ति आय की विकास-दर

	1950–60	1960–70	1970–75
निर्धनतम राष्ट्र	2.6%	1.8%	1.1%
मध्यम आय वाले राष्ट्र	3.2	3.5	4.2
समस्त विकासशील राष्ट्र	2.9	3.2	3.7
विकसित राष्ट्र	3.0	3.7	1.9

विकास की दर में कमी और जनसंख्या की वृद्धि की दर में वृद्धि होने के कारण विकासशील राष्ट्रों एवं विकसित राष्ट्रों के जीवन-स्तर के अन्तर में वृद्धि होती जा रही है। वर्तमान काल में संसार में न्यूनतम एवं अधिकतम प्रति व्यक्ति आय का अन्तर 8,000 डॉलर तक पहुँच गया है। विकासशील राष्ट्रों की कुल जनसंख्या में से 120 करोड़ लोगों को शुद्ध पीने का पानी एवं जन-स्वास्थ्य सुविधाएँ उपलब्ध नहीं हैं। 70 करोड़ लोगों का भोजन अत्यन्त गैर-पौष्टिक होता है, 55 करोड़ अशिक्षित हैं 25 करोड़ (जो नगरों में रहते हैं) के पास निवासगृह नहीं हैं और करोड़ों लोग बेरोजगार हैं। विकासशील राष्ट्रों की 200 करोड़ जनसंख्या में से 86 करोड़ लोग 15 वर्ष से कम आयु के हैं जिन पर इन राष्ट्रों की भविष्य की आशाएँ निर्भर हैं। परन्तु इनमें एक-तिहाई को पौष्टिक आहार नहीं मिलता और 29 करोड़ स्कूल नहीं जाते हैं।

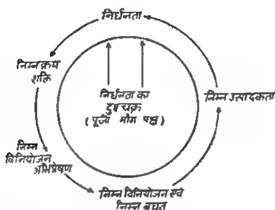
(इ) निर्धनता का दुश्चक्र—प्रो नर्क्से ने अल्प-विकसित राष्ट्रों की एक गम्भीर समस्या निर्धनता के दुश्चक्र को बताया है। यह दुश्चक्र इन राष्ट्रों मे इस प्रकार गतिशील होता है कि एक निर्धन राष्ट्र निर्धन ही बना रहता है। इस दुश्चक्र के परिणामस्वरूप विकास के विभिन्न तत्व या तो उदय नहीं हो पाते है या फिर वे सुदृढ नही होते है। "निर्धनता के दुश्चक्र का अर्थ विभिन्न शक्तियों के तारामण्डल के समान गोलाकार रूप मे घूमने से है जिससे वे एक-दूसरे पर इस प्रकार क्रिया एव प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है कि एक निर्धन देश निर्धनता की अवस्था मे बना रहता है। ससार निर्धनता-प्रधान क्षेत्रो मे यह गोलाकार सम्बन्ध पूँजी-निर्माण की समस्या के दोनों ओर विद्यमान रहता है।"[1] अल्प-विकसित राष्ट्रो के पास अपनी जनसख्या एव प्राकृतिक साधनो के सन्दर्भ मे पूंजी के साधन विकसित राष्ट्रो की तुलना मे कम होते है। यद्यपि पूँजी की कमी अल्प-विकसित राष्ट्रो का मुख्य लक्षण एव समस्या होती है तथापि अन्य घटक, जैसे मानवीय कुशलताएँ, सामाजिक मान्यताएँ, राजनीतिक परिस्थितिया, ऐतिहासिक घटनाएँ आदि भी विकास के लिए प्रतिकूल होते है। इन राष्ट्रों की स्थिति एक निर्धन व्यक्ति के समान होती है जो पर्याप्त भोजन न होने के कारण कमजोर रहता है। अपनी शारीरिक कमजोरी के परिणामस्वरूप उसकी कार्य करने की क्षमता कम रहती है जिससे उसे कम आयोपार्जन होता है। कम आयोपार्जन करने के कारण वह पर्याप्त भोजन उपलब्ध नही कर पाता है। इस प्रकार इस व्यक्ति की निर्धनता को प्रभावित करने वाले विभिन्न तत्व एक-दूसरे के कारण एव प्रभाव होते है। एक निर्धन राष्ट्र की निर्धनता को प्रभावित करने वाले तत्व भी एक दूसरे के कारण एव प्रभाव होते है। निर्धनता का कारण पूँजी सचय की कमी होनी है और पूँजी सचय पूँजी की पूर्ति एव पूँजी की माँग से बनता है। पूँजी की पूर्ति बचत करने की इच्छा एव बचत करने की क्षमता से प्रभावित होती है। दूसरी ओर पूँजी की माग विनियोजन सम्बन्धी अभिप्रेरण पर निर्भर रहती है। अल्प-विकसित राष्ट्रो मे पूजी की पूर्ति एव पूँजी की माग दोनो पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाले घटक विद्यमान रहते है। पूँजी के पूर्ति-पक्ष मे अल्प-विकसित राष्ट्रों म आय का निम्न-स्तर व्यापक निर्धनता के कारण पाया जाता है जिससे लागों मे बचत करने की क्षमता कम रहती है। कुशल साख-समस्याओ की अनुपस्थिति एव विपणि-अपूर्णताओ के कारण बचत का पर्याप्त लाभ बचतकर्ता को उपलब्ध नही हो पाता है जिससे लागों मे बचत करने की इच्छा भी कम पायी जाती है। इसके अतिरिक्त बचत को उत्पादक क्रियाओ मे विनियोजन करने की प्रक्रिया भी राष्ट्रो मे अत्यन्त शिथिल रहती है और लोग अपनी बचत को तरल साधनो, बहुमूल्य धातुओ एव भूमि तथा भवन-सम्बन्धी जायदादो मे रखना पसन्द करते है। इन सब कारणो मे अर्थ-व्यवस्था मे निम्न रोजगार एव निम्न पूँजी-निर्माण होता है। निम्न पूँजी-निर्माण के कारण आय का स्तर निम्न रहता है। इस प्रकार एक ओर निम्न पूंजी-निर्माण से कम आय का प्रभाव और दूसरी ओर कम आय का परिणाम होता है, जैसा निम्नाकित चित्र मे दर्शाया गया है



---

1 "It implies a circular constellation of forces tending to act and react upon one another in such a way as to keep a poor country in a state of poverty. A circular relationship exists on both sides of the problem of capital formation in the poverty-ridden areas of the world"—Nurkse, R, *Problem of Capital Formation in Under-developed Countries*, p 4 and 5

दूसरी ओर, निर्धनता का दुश्चक्र पूँजी के माँग-पक्ष की ओर भी गतिशील रहता है। निर्धनता के फलस्वरूप लोगो की क्रय शक्ति कम होती है जिससे अर्थ-व्यवस्था मे वस्तुओ और सेवाओ की माँग कम रहती है। कम माँग के कारण पूँजी-विनियोजन के लिएअभिप्रेरण कम रहता है जिससे विनियोजन कम किया जाता है और उत्पादकता निम्न स्तर पर रहती है। उत्पाकदता का निम्न स्तर निम्न आय का कारण होती है। इस प्रकार निर्धनता का दुश्चक्र पूँजी के माँग पक्ष को दुर्बल बनाता है।



उपर्युक्त विवरण मे यह स्पष्ट है कि अल्प विकसित राष्ट्रो मे निर्धनता पूँजी की कमी का कारण और प्रभाव दोनो ही होती है जिसके परिणामस्वरूप यह राष्ट्र विकास को गतिशील करने म असमर्थ होते हैं। देश के मानवीय एव प्राकृतिक साधनो का अवशोषण करने के लिए राज्य को पूँजी निर्माण की प्रक्रिया को गतिशील करना चाहिए। विदेशी पूँजी का उपयोग भी इस दुश्चक्र को दूर करने के लिए किया जा सकता है। इस दुश्चक्र मे सम्मिलित किसी एक घटक पर गम्भीर रूप से प्रभाव डाला जा सके तो विकास गतिशील हो सकता है। यह प्रभाव आन्तरिक घटनाओ अथवा बाहरी परिस्थितियो दोनो ओर से उत्पन्न हो सकता है। आन्तरिक परिस्थितियो मे राजनीतिक क्रान्ति सार्वजनिक व्यय की सरचना मे परिवर्तन, कठोर राजकोषीय कार्यवाहियाँ, मुद्रा स्फीति से प्रेरित विनियोजन आदि सम्मिलित है। दूसरी ओर, बाहरी परिस्थितियो मे युद्ध, आयात एव निर्यात की सरचना मे परिवर्तन, विदेशी सहायता, निर्यात के मूल्यो मे परिवर्तन आदि घटनाऐं सम्मिलित रहती हैं। य परिस्थितियाँ निर्धनता के दूषित चक्र को तोडने मे सहायक सिद्ध होती है। निर्धनता के दुश्चक्र को तोडने मे आर्थिक नियोजन का बहुत बडा योगदान होता है क्योकि आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत राज्य द्वारा समस्त अर्थ व्यवस्था को एक इकाई मानकर मौद्रिक एव राजकोषीय नीतियों को इस प्रकार निधारित किया जाता है कि विकास-विनियोजन की दर निरन्तर बढती रहे।

(ई) आय का विषम वितरण एव व्यापक निर्धनता—विश्व बैंक के अनुमानानुसार लगभग प्रत्यक विकासोन्मुख राष्ट्र की 40% जनसख्या अपने देश की आर्थिक प्रगति मे महत्वपूर्ण योगदान नही देती है और न ही इन देशो के आर्थिक प्रगति के लाभ मे समान भाग प्राप्त करती है। 100 विकासोन्मुख राष्ट्रो म लगभग 200 करोड लोग रहते है जिनम से 40% अर्थात् लगभग 80 करोड सीमान्त लोग (marginal men) है। इनम से 65 करोड लोग ऐसे है जिनकी प्रति व्यक्ति वार्षिक आय 50 डॉलर से भी कम है। निधनता की गहनता ग्रामीण क्षेत्र मे अत्यधिक है। यह अनुमान लगाया गया है कि लगभग 60 करोड निर्धन लोग ग्रामीण क्षेत्रों मे निवास करते है। निर्धन लोगो म प्राय निम्नलिखित तीन प्रकार के लोग सम्मिलित है

(1) ऐसे लघु-कृषक जो आर्थिक जोत के स्वामी होते हुए भी उसका पूर्णतम उपयोग नही कर पाते हैं।

(2) ऐसे लघु-कृषक जिनके पास गैर-आर्थिक जोत है और जो अपनी आय की पूर्ति करने हेतु गैरकृषि-कार्यवाहियाँ करते है।

(3) भूमिहीन कृषक जिनमे से कुछ कृषि-मौसम के पश्चात नगरो मे रोजगार पाने के लिए चले जाते है।

ससार मे निर्धन लोगो की सख्या मे प्रति वर्ष 2% की वृद्धि होने का अनुमान है।

अल्प-विकसित राष्ट्रो मे इस व्यापक निर्धनता का एक मुख्य कारण आय का विषम वितरण है। केनिया, इराक, फिलीपाइन्स, रोडेशिया, ट्यूनीशिया, टर्की, मलयेशिया, कोलम्बिया, ब्राजील, मैक्सिको, पेरू, दक्षिणी अफ्रीका, वेनेज्यूला आदि ऐसे विकासोन्मुख राष्ट्र हैं जिनमे निम्नतम आय वाली 40% जनसख्या को देश की राष्ट्रीय आय का 12% से भी कम भाग, मध्यम आय-स्तर की 40% जनसख्या को 35% से कम और शेष 20% अधिक आय वाली जनसख्या को राष्ट्रीय आय का 50% से 60% भाग उपलब्ध होता है। दूसरी ओर, बर्मा, तजानिया, भारत, जाम्बिया, ईरान, गिनी, लेबनान, यूरुग्वे, चिली, अर्जेण्टाइना आदि ऐसे राष्ट्र है जिनमे निम्नतम आय-स्तर वाली 40% जनसख्या को राष्ट्रीय आय 12% से 17%, मध्यम आय-स्तर वाली 40% जनसख्या को 25% से 40% और शेष 20% उच्च आय वाली जनसख्या को 45% से 60% राष्ट्रीय आय का भाग प्राप्त होता है। आय वितरण के सम्बन्ध मे विकसित राष्ट्रो मे अल्प-विकसित राष्ट्रो की तुलना मे कम विषमता विद्यमान है। जापान, ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया, कनाडा एव सयुक्त राज्य अमेरिका मे निम्नतम आय स्तर वाली 40% जनसख्या को लगभग 20% राष्ट्रीय आय, मध्यम आय-स्तर वाली 40% जनसख्या को 40% से 42% राष्ट्रीय आय और शेष 20% उच्च आय वाली जनसख्या को 30% से 40% राष्ट्रीय आय का अश प्राप्त होता है। इन तथ्यो से यह स्पष्ट है कि विकासोन्मुख एव विकसित राष्ट्रो मे मध्यम स्तर की आय वाली जनसख्या को देश की राष्ट्रीय आय का लगभग समान अश प्राप्त होता है। परन्तु 300 डॉलर से कम प्रति व्यक्ति आय वाले राष्ट्रो मे निम्न आय-स्तर की जनसख्या को देश की राष्ट्रीय आय का 12% से भी कम भाग प्राप्त होता है। इन तथ्यों से यह सिद्ध होता है कि अल्प-विकसित अथवा विकासोन्मुख राष्ट्रो मे निर्धनता व्यापक रूप से विद्यमान है और इन देशो के विकास कार्यक्रमो का आवश्यक अग आय-वृद्धि को निम्न आय-स्तर वाले वर्ग के पक्ष मे वितरित करना होना चाहिए।

(उ) अधिक जनसख्या का कृषि मे लगे होना—अल्प-विकसित राष्ट्र प्राय कृषि-प्रधान है और इनकी 70% से 90% जनसख्या कृषि-कार्य मे लगी हुई है। उदाहरणार्थ, सन् 1961 मे भारत मे 72%, इण्डोनेशिया मे सन् 1961 मे 68%, मिस्र मे सन् 1960 मे 56 7%, फिलीपाइन्स मे सन् 1962 मे 57 4% जनसख्या कृषि व्यवसाय मे लगी हुई थी जबकि विकसित राष्ट्रो अर्थात सयुक्त राज्य अमेरिका मे सन् 1964 मे 66%, कनाडा मे सन् 1961 मे 12%, ब्रिटेन मे 5%, फ्रान्स मे सन् 1962 मे 18 8% तथा न्यूजीलैण्ड मे सन् 1961 मे 14 4% ही जनसख्या कृषि-क्षेत्र मे लगी हुई थी। अल्प विकसित राष्ट्रो मे श्रम-शक्ति का अतिरेक कृषि मे इतना अधिक है कि उसमे से कुछ को यदि कृषि क्षेत्र मे हटा लिया जाय तो भी इस क्षेत्र के उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव नही पड़ेगा।

(ऊ) रोजगार की सोचनीय स्थिति—इन राष्ट्रो मे अदृश्य बेरोजगारी (Disguised Unemployment) व्यापक रूप से विद्यमान है। गैर-कृषिक्षेत्रो मे रोजगार के साधन बहुत कम होते है और कृषि, वन एव मत्स्य के क्षेत्रो मे बची हुई श्रम-शक्ति को विवश होकर लगे रहना पडता है। दूसरे शब्दो मे यह कह सकते है कि अल्प-विकसित राष्ट्रो मे निर्माण, यातायात एव वाणिज्य की क्रियाओ मे कम जनसख्या को रोजगार प्राप्त होता है। बर्मा मे सन् 1931 मे निर्माण-क्षेत्र मे 13 0%, मिस्र मे सन् 1947 मे 13 7%, ब्राजील मे सन 1950 मे 13 7%, श्रीलका मे सन् 1946 मे 12 7% और भारत मे सन् 1951 मे 10 7% (निर्माण एव यातायात मे) जनसख्या निर्माण-व्यवसायो मे रोजगार प्राप्त किये हुए थी जबकि विकसित राष्ट्रो, जैसे सयुक्त राज्य अमेरिका

मे सन् 1950 मे 35 7%, ब्रिटेन मे सन् 1951 मे 45·8%, आस्ट्रेलिया मे सन् 1947 मे 35 8%, कनाडा मे सन् 1951 मे 34%, फ्रान्स मे 41 4% (यातायात सहित) तथा स्विट्जरलैण्ड मे सन् 1941 मे 44 5% जनसख्या निर्माण-क्षेत्र मे लगी हुई थी।

(ए) पौष्टिक आहार की कमी—व्यापक निर्धनता के कारण अल्प-विकसित राष्ट्रो के नागरिको को अपनी आय का अधिक भाग खाद्य-पदार्थो एव अन्य अनिवार्यताओ पर व्यय करना पडता है। स्वीडन, इजराइल एव नार्वे मे पारिवारिक व्यय का लगभग 40% खाद्यान्नो पर व्यय करना पडता है जबकि यह प्रतिशत भारत, चीन एव पाकिस्तान मे 60% से भी अधिक है। अल्प-विकसित राष्ट्रो मे पौष्टिक भोजन भी जनसाधारण को उपलब्ध नही होता है। विकसित राष्ट्रो मे प्रतिदिन प्रति व्यक्ति 3,000 से अधिक कैलरी-उपभोग होता है जबकि अल्प-विकसित राष्ट्रो मे 2,000 से भी कम कैलरी-उपभोग प्रति व्यक्ति प्रति दिन किया जाता है। ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया, कनाडा, सयुक्त राज्य अमेरिका स्विट्जरलैण्ड तथा फ्रान्स मे सन् 1956-60 मे प्रति दिन प्रति व्यक्ति क्रमश 3290, 3260, 3150, 3120, 2928 तथा 2940 कैलरी का उपभोग था जबकि भारत मे सन् 1958-59 मे प्रति दिन प्रति व्यक्ति 1980 कैलरी, पाकिस्तान मे सन् 1957-59 मे 1970, फिलीपाइन्स मे सन् 1958 मे 2100 तथा श्रीलका मे 1150 कैलरी का उपभोग किया गया। कैलरी-उपभोग के आधार पर सन् 1970 वर्ष मे दक्षिण एशिया, पूर्व एशिया, दक्षिण अमेरिका, मध्य अमेरिका, मध्य एशिया के राष्ट्रो के नागरिको की स्थिति न्यूनतम उपभोग-स्तर से भी नीची थी।

(ऐ) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे न्यून भाग—अल्प-विकसित राष्ट्र औद्योगिक दृष्टिकोण से पिछडे होने के कारण निर्यात-योग्य वस्तुओ का कम उत्पादन कर पाते है। इनके निर्यात मे प्राय खाद्यान्नो एव कच्चे माल का भाग अधिक रहता है। सन् 1970 वर्ष मे औद्योगिक दृष्टिकोण से विकसित राष्ट्रो का ससार के कुल निर्यात मे औसत से 72% भाग था। इन राष्ट्रो मे सयुक्त राज्य अमेरिका, पश्चिमी यूरोप तथा जापान का ससार के कुल निर्यात मे भाग क्रमश 16·80%, 44 42% तथा 5 39% था। दूसरी ओर, विकासोन्मुख राष्ट्रो का ससार के निर्यात मे भाग 17% था। सन् 1970 वर्ष मे भारत का ससार के कुल निर्यात मे केवल 0 6% भाग था। निर्यात-व्यापार के सम्बन्ध मे एक और प्रतिकूल परिस्थिति विकासशील राष्ट्रो मे विद्यमान है अर्थात् इन राष्ट्रो का ससार के निर्यात मे भाग निरन्तर कम होता जा रहा है। सन् 1950 मे विकासशील राष्ट्रो का ससार के कुल निर्यात मे 35% भाग था जो सन् 1971 मे घटकर 17% रह गया। सन् 1970 वर्ष मे विकसित राष्ट्रो द्वारा निर्मित एव गैर-निर्मित वस्तुओ का क्रमश निर्यात 167 0 तथा 50 5 बिलियन डॉलर था जबकि अल्प-विकसित राष्ट्रो का निर्मित एव गैर-निर्मित वस्तुओ का निर्यात क्रमश 12 6 एव 40 4 बिलियन डॉलर था। अल्प-विकसित राष्ट्रो का कुल निर्यात मे इस प्रकार गैर-निर्मित वस्तुओ का भाग 76% था जबकि विकसित राष्ट्रो का गैर-निर्मित वस्तुओ के निर्यात मे भाग केवल 23% था।

ऐसे अल्प-विकसित राष्ट्र, जो विकास की ओर अग्रसर है के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की एक विशेषता यह भी है कि इनके निर्यात और आयात मे वृद्धि वर्ष प्रति वर्ष होती जाती है, परन्तु निर्यात मे होने वाली वृद्धि आयात की वृद्धि से कम है जिसके कारण इन राष्ट्रो का प्रतिकूल व्यापार-शेष बढता जा रहा है।

(ओ) विदेशी व्यापार मे प्रतिकूल शर्तें—अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था प्राय विदेशी व्यापार पर निर्भर होती है। देश मे उत्पादित होने वाली किसी एक वस्तु अथवा कच्चे माल का निर्यात करके देश के लिए विदेशी विनिमय अर्जित किया जाता है। विदेशी विनिमय कमाने के लिए किसी एक वस्तु के निर्यात पर निर्भर रहने से अर्थ-व्यवस्था मे अन्य क्षेत्रो के उत्पादन के प्रति कम प्रोत्साहन रहता है। अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यो म परिवर्तन होने के कारण विदेशी मुद्रा के अर्जन मे उच्चावचान

होते रहते है और अर्थ-व्यवस्था मे स्थिरता नही रहती है तथा निर्यात पर अधिक निर्भरता के कारण आयात करने की सीमान्त प्रवृत्ति मे वृद्धि हो जाती है जिससे अर्थ-व्यवस्था मे स्थिरता लाना सम्भव नही होता है। इन देशो मे निर्यात प्राय. कच्चे माल का और आयात उपभोक्ता-वस्तुओ एव यन्त्रो का होता है। छोटे-छोटे अल्प-विकसित राष्ट्रो, जैसे मलयेशिया, बर्मा, श्रीलका आदि मे राष्ट्रीय उत्पादन का महत्वपूर्ण भाग निर्यात कर दिया जाता है। ससार की वर्तमान विदेशी व्यापार की प्रवृत्तियो के अनुसार खनिज तेल के अतिरिक्त वस्तुएँ निर्यात करने वाले देशो के निर्यात मे कमी होती जा रही है और विकसित राष्ट्रो से अल्प-विकसित राष्ट्रो को ऋण प्राप्त करने की अधिक आवश्यकता पड़ने लगी है क्योकि ये राष्ट्र खनिज तेल एव विकास-सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति पर्याप्त आयात किये बिना नही कर सकते है।

सन् 1973 मे खनिज तेल के मूल्यो मे अन्य निर्मित वस्तुओ की तुलना मे 400% की वृद्धि होने के कारण खनिज तेल-उत्पादक देशो की निर्यात-आय मे तेजी से वृद्धि हुई है जिसके कारण सन् 1973 से विकासशील देशो का व्यापार-शेष अनुकूल हो गया। वास्तव में खनिज तेल के निर्यातक देशो के निर्यात को अलग करके यदि देखा जाय तो ज्ञात होता है कि अन्य विकासशील राष्ट्रो के आयात-मूल्य मे (खनिज तेल, खाद्यान्न, रासायनिक उर्वरक के मूल्य बढने के कारण) तो तेजी से वृद्धि हो गयी है जबकि उनके निर्यात-मूल्य मे पर्याप्त वृद्धि नही हुई है। इस प्रकार तेल निर्यातक देशो को छोडकर अन्य विकासशील देशो का व्यापार-शेष सन् 1973 से और अधिक प्रतिकूल होता जा रहा है। व्यापार की शर्तें इन देशो के निरन्तर प्रतिकूल बनी हुई है और यह अनुमान लगाया जा रहा है कि इस दशक के अन्त तक यह प्रतिकूल व्यापारिक शर्तें विकासशील राष्ट्रो मे जारी रहेगी। विश्व बैंक के अनुमानानुसार[1] 200 डॉलर से कम प्रति व्यक्ति आय वाले विकासशील राष्ट्रो मे सन् 1980 तक व्यापार की शर्तें सन् 1969 70 की तुलना मे लगभग 23% प्रतिकूल होगी। दूसरी ओर, तेल निर्यातक देशो के लिए सन् 1980 तक व्यापार की शर्तें लगभग 250% अनुकूल होगी। खनिज तेल के मूल्यो मे तेजी से वृद्धि के कारण विकसित देशो के आयात-बिल मे खनिज तेल का अश बढता जा रहा है और अन्य आयातो मे यह देश कटौती करते जा रहे हैं। विकसित राष्ट्रो के अन्य आयातो मे कमी हो जाने के परिणामस्वरूप विकासशील राष्ट्रो (तेल-निर्यातक देशो को छोडकर) के निर्यात मे कमी होना स्वाभाविक है। इसके साथ ही खनिज तेल की मूल्य-वृद्धि ने विकसित राष्ट्रो की वार्षिक प्रगति-दर पर भी प्रतिकूल प्रभाव डाला है। इनकी प्रगति-दर सन् 1972 मे 5 8%, सन् 1973 मे 6 7% और सन् 1974 मे केवल 1 3% रही है। विकास की दर कम हो जाने के कारण विकासशील राष्ट्रो को विकसित राष्ट्रो द्वारा सहायता देने की क्षमता मे कमी आ गयी है। तेल आयात करने वाले विकासशील देशो को ऐसी परिस्थिति मे अपनी वर्तमान विकास की दर बनाये रखना कठिन होगा। इन देशो को अपनी वर्तमान आर्थिक प्रगति की दर को जारी रखने के लिए और भी अधिक प्रतिकूल व्यापार-शेष का सामना इस दशक के शेष वर्षों मे करना होगा। इस प्रकार विकासशील देशो की विदेशी व्यापार पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से निर्भरता बनी हुई है और व्यापार की शर्तें इसके प्रतिकूल बनी रहती है।

(ओ) तान्त्रिक ज्ञान की कमी—अल्प-विकसित राष्ट्रो का यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण लक्षण है। मध्य-पूर्व मे कृषि की उन्ही विधियो का प्रयोग किया जाता है जो आज से एक सहस्र वर्ष पूर्व प्रयोग की जाती थी। तान्त्रिक ज्ञान (Technical Knowledge) की कमी की समस्या इन राष्ट्रो के विकास-पथ पर एक गम्भीर बाधा है। अशिक्षा भी इन राष्ट्रो की पैतृक सम्पत्ति है। इन राष्ट्रो का शिक्षा स्तर आर्थिक विकास मे किसी प्रकार भी सहायक सिद्ध नही होता। तान्त्रिक प्रशिक्षण, कृषि की आधुनिक सामान्य विधियो मे प्रशिक्षण तथा स्वास्थ्य-सम्बन्धी नियमो के ज्ञान की अत्यन्त कमी होती है।

---

1 IMF · International Financial Statistics, June 1968.

(अ) आधारभूत सुविधाओं की कमी—अल्प विकसित राष्ट्रों में आधारभूत सुविधाओं की उपलब्धि विकसित राष्ट्रों की तुलना में कम होती है जिससे मानव कुशल उत्पादक नहीं बन सकता और प्राकृतिक साधनों का भी पूर्णतम उपयोग नहीं किया जा सकता। निम्नांकित तालिका (4) में आधारभूत सुविधाओं की उपलब्धि की तुलना की गयी है

तालिका 4—आधारभूत सुविधाओं की उपलब्धि[1]

		विकसित अर्थ-व्यवस्थाएँ	अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाएँ
1	शक्ति का उपयोग प्रति व्यक्ति प्रति दिन (अश्व-शक्ति घण्टों में)	26 0	1 2
2	वार्षिक माल ढोने की मात्रा (टन मील प्रति व्यक्ति)	1 517 0	58 0
3	सड़क एवं रेलों की लम्बाई (प्रति 1000 वर्ग मील)	40 0	13 0
4	मोटर-गाड़ियों का रजिस्ट्रेशन (प्रति 1000 व्यक्तियों पर)	111 0	1 0
5	टेलीफोन का उपयोग (प्रति 1000 व्यक्तियों पर)	90 0	2 0
6	चिकित्सक (प्रति 1000 व्यक्तियों पर)	1 06	0 17
7	प्राथमिक स्कूलों के अध्यापक (प्रति 1000 व्यक्तियों पर)	3 98	1 76
8	निरक्षरता का प्रतिशत (10 वर्ष की आयु के ऊपर)	5% से नीचे	78 0%

(2) कृषि की प्रधानता एवं कृषि की दयनीय स्थिति

अल्प विकसित राष्ट्रों में कृषि एक प्रधान व्यवसाय है जिसमें देश की 70% से 90% जनसंख्या लगी रहती है जो राष्ट्रीय उत्पादन का 40% से 50% भाग उत्पादन करता है। अग्रांकित तालिका (5) इस बात की पुष्टि करती है।

कृषि क्षेत्र का राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में इतना अधिक महत्त्व होते हुए भी यह क्षेत्र अत्यन्त सोचनीय स्थिति में रहता है। कृषि-क्षेत्र में निम्नलिखित लक्षण उपस्थित रहते हैं

(अ) कृषि-क्षेत्र में पूंजी की हीनता रहती है और जो कुछ पूंजी इस क्षेत्र में विनियोजित रहती है उसका भी कुशल उपयोग नहीं हो पाता क्योंकि अल्प विकसित राष्ट्रों में कृषि-योग्य भूमि अत्यन्त छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त है। संसार में कुल भूमि 35 5 बिलियन एकड़ है जिसमें से 2 8 बिलियन एकड़ अर्थात 7% भूमि कृषि-योग्य है। अल्प आय वाले राष्ट्रों में जनसंख्या अधिक और प्रति व्यक्ति उपलब्ध कृषि-योग्य भूमि बहुत कम है। एशिया में प्रति व्यक्ति कृषि-योग्य भूमि 0 52 एकड़ अनुमानित है जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रति व्यक्ति कृषि-योग्य भूमि इसकी छह गुनी अर्थात 3 10 एकड़ है।

1 Department of State Washington D C, Point Four, July (1964) pp 93-102 (Requoted from Employment and Capital Formation by V V Bhatt)

तालिका 5—विभिन्न राष्ट्रों में सकल राष्ट्रीय उत्पादन के साधन[1]

देश	वर्ष	कृषि, वन एवं मत्स्य-व्यवसायों से उपलब्ध उत्पादन का सकल राष्ट्रीय उत्पादन से प्रतिशत	निर्माण-व्यवसाय से उपलब्ध उत्पादन का सकल राष्ट्रीय उत्पादन से प्रतिशत
संयुक्त राज्य अमेरिका	1955	4 3	28 6
कनाडा	1955	9 9	28 6
न्यूजीलैण्ड	1952	23 9	21 2
इटली	1955	23 9	32 9
ब्रिटेन	1955	4 6	38 8
ब्राजील	1955	31 5	19 4
भारत	1954	48 7	16 8
इण्डोनेशिया	1952	56 4	8 2
जापान	1955	21 8	20 3
मिस्र	1954	35 8	10 7
फिलीपाइन्स	1955	42 0	14 6

(आ) कृषि क्षेत्र में उपयोग की जाने वाली उत्पादन-तान्त्रिकताएँ अत्यन्त अकुशल, परम्परागत एव सरल होती है और औजारो एव यन्त्रो का उपयोग सीमित मात्रा मे किया जाता है। अधिकतर कृषि-कार्य हाथ से अथवा परम्परागत औजारो से किया जाता है।

(इ) यद्यपि कृषि-क्षेत्र मे कुछ बडे जमीदार भी होते है परन्तु आधुनिक कृषि तान्त्रिकताओं का उपयोग यातायात की कठिनाई तथा स्थानीय बाजारो मे विस्तृत माँग की अनुपस्थिति के कारण सम्भव नही होता है। कुछ अल्प-विकसित राष्ट्रो मे आधुनिक कृषि-विधियो का उपयोग केवल निर्यात के लिए कृषि-पदार्थ उत्पादित करने हेतु किया जाता है। यह आधुनिक कृषि-क्षेत्र भी प्राय विदेशियों के नियन्त्रण एव अधिकार मे है।

(ई) कृषको की सम्पत्तियो एव आय की तुलना मे उन पर ऋण अत्यधिक होता है जिसके ब्याज आदि के शोधन मे कृषकों को अपनी आय का बडा भाग व्यय कर देना पडता है। कृषि क्षेत्र मे ऋणग्रस्तता अल्प-विकसित राष्ट्रो मे स्थायी रूप ग्रहण कर लेती है जो एक पीढी से दूसरी पीढी को हस्तान्तरित होती है और जिसके कारण कृषक के पास उत्पादक पूंजी की सदैव कमी रहती है।

(उ) परम्परागत एव अकुशल उत्पादन की तान्त्रिकताओ के उपयोग के परिणामस्वरूप कृषक का उत्पादन इतना अपर्याप्त होता है कि उनके पास बाजार मे बेचने के लिए अतिरेक बहुत कम बचता है जिसके फलस्वरूप खाद्यान्नों की कमी रहती है जिसकी पूर्ति आयात द्वारा करनी पडती है।

(ऊ) भूमि के छोटे-छोटे बिखरे हुए टुकडे होने के कारण कृषि-जनसंख्या मे भूमि की माग अत्यधिक होती है। भूमि निरन्तर छोटे-छोटे टुकडो मे विभक्त होती जाती है क्योंकि उत्तराधिकार अधिनियम के द्वारा पिता की मृत्यु पर सभी पुत्रो को भूमि मे भाग पाने का अधिकार हो जाता है और अन्य व्यवसायो मे रोजगार की सुविधा न होने के कारण भूमि का भाग अधिकार मे रखने मे सभी को रुचि रहती है।

(ए) अल्प-विकसित राष्ट्रों मे भूमि प्रबन्धन प्रणाली (Land Tenure System) मे बहुत अधिक विभिन्नता होती है। इनमें से अधिकतर प्रणालिया कृषि क्षेत्र की उत्पादन-कुशलता को दो

1 United Nations, Statistical Year Book on Income and Employment, 1957

प्रकार से कम करती है—प्रथम, इनके द्वारा भूमि के विभाजन एव उप-विभाजन को प्रोत्साहन मिलता है जिससे जोत की बहुत-सी अनार्थिक इकाइयो की स्थापना होती है, और द्वितीय, भूमि-प्रबन्धन प्रणाली के अन्तर्गत कृषक को भूमि पर स्थायी अधिकार एव मिलकियत प्राप्त न होने के कारण भूमि मे उत्पादक सुधार करने के लिए प्रोत्साहन नही रहता है।

(ऐ) सम्पन्न राष्ट्रो की तुलना मे अल्प-विकसित राष्ट्रो मे प्रति एकड उत्पादन बहुत कम होता है। अल्प-विकसित राष्ट्रो में प्रति व्यक्ति उत्पादन भी कृषि-क्षेत्र मे बहुत कम होता है। सामान्यत उत्तरी अमेरिका तथा उत्तरी-पश्चिमी यूरोप मे, सुदूर-पूर्व एव समीपस्थ-पूर्व तथा लैटिन-अमेरिकी राष्ट्रो की तुलना मे 10 से 20 गुना अधिक प्रति व्यक्ति कृषि-उत्पादन होता है। उत्तरी अमेरिका मे कृषि-क्षेत्र मे प्रति व्यक्ति औसत उत्पादन लगभग $2\frac{1}{2}$ टन प्रति वर्ष होता है, जबकि एशिया मे यह औसत $\frac{1}{6}$ टन, अफ्रीका मे $\frac{1}{7}$ टन प्रति व्यक्ति है। इस प्रकार कृषि-जनसख्या का जीवन-स्तर सम्पन्न राष्ट्रो मे बहुत ऊँचा है। अल्प-विकसित राष्ट्रो मे कृषि-क्षेत्र मे न्यून उत्पादकता के मुख्य कारण भूमि का श्रमिको से कम अनुपात, कम उपजाऊ भूमि, भूमि-उपयोग के अकुशल तरीके, अकुशल श्रमिक, कम पूँजी का उपयोग, अकुशल उत्पादन-तान्त्रिकताएँ, उत्पादन की तान्त्रिकताओ का अपर्याप्त ज्ञान, कृषि-उत्पादन का अकुशल सगठन आदि है। अल्प-विकसित राष्ट्रो मे प्रति व्यक्ति कृषि-उत्पादन मे वृद्धि भी औद्योगिक राष्ट्रो की तुलना मे कम गति से होती है। सन् 1957 से 1967 के काल मे प्रति व्यक्ति कृषि-उत्पादन का निर्देशाक औद्योगिक राष्ट्रो मे सन् 1957 मे 97 (सन् 1957-1959=100) से बढकर सन् 1967 मे 113 हो गया अर्थात् 16 5% की वृद्धि हुई। दूसरी ओर, *विकासशील राष्ट्रो मे प्रति व्यक्ति कृषि-उत्पादन निर्देशाक सन् 1957 मे 97* से बढकर 104 हो गया अर्थात् केवल 7 2% की वृद्धि हुई। भारत मे यह निर्देशाक सन् 1957 मे 97 था जो सन् 1967 मे बढकर 104 अर्थात् 7 2% की वृद्धि इस काल मे प्रति व्यक्ति कृषि-उत्पादन मे हुई। इस प्रकार विकासशील राष्ट्र कृषि-प्रधान होते हुए भी अपनी कृषि मे, विकसित औद्योगिक राष्ट्र की तुलना मे, जनसख्या की वृद्धि के अनुरूप वृद्धि नही कर पा रहे है।

3 जनसंख्या-सम्बन्धी परिस्थितियाँ

अल्प-विकसित राष्ट्रो मे जनसख्या-सम्बन्धी विशेषताएँ निम्नवत् है

(अ) जनसख्या का अधिक घनत्व—अल्प-विकसित राष्ट्रो मे जनसख्या का घनत्व सामान्यत सम्पन्न राष्ट्रो की तुलना मे अधिक होता है। एशिया तथा दक्षिण-पूर्व के राष्ट्रो मे जनसख्या का घनत्व सर्वाधिक है। *एशिया की जनसख्या का घनत्व अमेरिका तथा रूस की तुलना मे पाँच गुना,* दक्षिणी अमेरिका की तुलना मे आठ गुना तथा प्रशान्त महासागर के टापुओ की तुलना मे चौबीस गुना है। एशिया में ससार की लगभग 53% जनसख्या रहती है। कुछ ऐसे भी अल्प-विकसित राष्ट्र है जो जनसख्या का घनत्व सम्पन्न राष्ट्रो की तुलना मे कम होते हुए भी जनसख्या की समस्या से पीडित है क्योकि इनके अपनी जनसख्या के निर्वाह करने के लिए पर्याप्त प्राकृतिक साधन नही है। इस प्रकार यह कहना अधिक उचित होगा कि अल्प विकसित राष्ट्रो मे जनसख्या का घनत्व प्राकृतिक साधनो की उपलब्धि के सन्दर्भ मे प्राय अधिक है, जिसके फलस्वरूप निम्न जीवन-स्तर एव दरिद्रता व्यापक है।

(आ) जनसख्या की वृद्धि दर—अल्प विकसित राष्ट्रो मे जनसख्या की वृद्धि-दर मे भी अत्यधिक विभिन्नता है जिसके फलस्वरूप यह कहना उचित नही है कि इन राष्ट्रो मे जनसख्या की वृद्धि अधिक सम्पन्न राष्ट्रो की तुलना मे अधिक है परन्तु अधिकतर निर्धन राष्ट्रो मे जनसख्या की वृद्धि की दर अधिक है। *जनसख्या की वृद्धि-दर ऊँची होने के कारण ऊँची जन्म दर एव ऊँची मृत्यु दर, बढती हुई* जन्म-दर एव गिरती हुई मृत्यु-दर एव जन्म-दर मे कभी कम परन्तु मृत्यु-दर मे कभी अधिक है। विकासोन्मुख राष्ट्रो मे चिकित्सा एव स्वास्थ्य की सुविधाओ मे वृद्धि होने के कारण मृत्यु-दर घटने लगती है जबकि जन्म दर परिवार-नियोजन आदि कार्यक्रमो के फलस्वरूप बहुत समय के बाद कम होती है। विभिन्न राष्ट्रो की जनसख्या की औसत वार्षिक वृद्धि की दर विश्व बैंक के अनुमानो के

अनुसार सन् 1960 से 1970 के काल मे जनसख्या एव आर्थिक प्रगति के अध्याय मे दी गयी है।

इन आँकडो से ज्ञात होता है कि अल्प-विकसित अथवा विकासशील राष्ट्रो मे जनसख्या की वृद्धि की औसत दर विकसित राष्ट्रो की तुलना मे दुगुने के बराबर है। जनसख्या की तीव्र गति से वृद्धि विकास के प्रयासो मे बाधक होती है क्योकि बढती हुई जनसख्या मे वर्तमान जीवन-स्तर बनाये रखना ही कठिन हो जाता है।

(इ) जनसख्या का गुणात्मक भेद—अल्प-विकसित राष्ट्रो और विकसित राष्ट्रो की जनसख्या मे गुणात्मक भेद भी होता है। अल्प-विकसित राष्ट्रो की जनसख्या का अधिक भाग अल्पायु-समूह (Younger Age Group) मे होता है और सम्भावित जीवनकाल भी सम्पन्न राष्ट्रो की तुलना मे कम होता है। एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन-अमेरिका मे 15 वर्ष से कम आयु के लोग कुल जनसख्या के 40% थे जबकि सयुक्त राज्य अमेरिका एव ब्रिटेन मे यह प्रतिशत क्रमश 25 एव 23 था। भारत मे सन् 1961 की जनगणना के अनुसार 15 वर्ष से कम आयु के वर्ग मे कुल जनसख्या के 41% लोग सम्मिलित थे। इसी प्रकार सम्भावित जीवनकाल सयुक्त राज्य अमेरिका मे 70 5 वर्ष (सन् 1955), कनाडा मे 68 5 वर्ष (सन् 1950-52), ब्रिटेन मे 70 3 वर्ष (सन् 1955), आस्ट्रेलिया मे 68 4 वर्ष (सन् 1946-48), स्वीडन मे 72 2 वर्ष (सन् 1951-55) था, जबकि एशिया, मध्य-पूर्व एव लैटिन-अमेरिका मे सम्भावित जीवनकाल केवल 40 वर्ष है। भारत मे सम्भावित जीवनकाल सन् 1961-71 मे 41 वर्ष था। अल्प विकसित राष्ट्रो मे अल्पायु-मृत्युदर (Younger Age Group Mortality Rate) भी ऊँचा रहता है जिसके फलस्वरूप श्रम-शक्ति का उत्पादन-काल सम्पन्न राष्ट्रो की तुलना मे कम रहता है और जनसख्या का बहुत बडा भाग अल्पायु मे मृत्यु का शिकार होने के कारण राष्ट्र के उत्पादन मे पूर्ण योगदान नही दे पाता है। अल्पायु मे मृत्यु-दर अधिक होने के कारण अल्प-विकसित राष्ट्रो के परिवारो मे आश्रितो (Dependents) की सख्या भी अधिक होती है क्योकि अधिकतर बालक उत्पादन करने योग्य आयु तक नही पहुँच पाते है। परिवारो पर आश्रितो की सख्या अधिक होने के कारण वयस्क जन-शक्ति की कार्यक्षमता कम रहती है और स्वत रोजगार-प्राप्त (Self-employed) को अपने व्यवसायो के लिए पर्याप्त पूँजी उपलब्ध नही होती है। जनसख्या मे बच्चो का अधिक अनुपात होने का परिणाम होता है उत्पादक श्रम-शक्ति का कम होना और उत्पादन करने वाली जन-शक्ति का अधिक होना। उत्पादन न करने वाली जन-शक्ति को उपयोग की समस्त सामग्रियाँ आवश्यक होती हैं जिसके फलस्वरूप समाज मे उत्पादन कम होता है और उपभोग की अधिक माँग होती है जो निर्धनता एव दरिद्रता को जन्म देता है।

श्रम-शक्ति का कुशल उत्पादक-कार्यकाल 14 वर्ष से 60 वर्ष तक समझा जाता है परन्तु अल्प-विकसित राष्ट्रो मे इस आयु-वर्ग मे जनसख्या कम रहती है क्योकि अल्पायु-मृत्युदर अधिक एव सम्भावित जीवनकाल कम होता है। इस प्रकार अल्प-विकसित राष्ट्रो मे कार्यकुशल श्रमिक-शक्ति कम रहती है।

विकसित राष्ट्रो मे एक ओर जनसख्या की वृद्धि कम दर पर होती है और दूसरी ओर इनका राष्ट्रीय उत्पादन अधिक है जिसके परिणामस्वरूप इन राष्ट्रो मे राष्ट्रीय उत्पादन का 5% से भी कम भाग विनियोजित करने पर प्रति व्यक्ति आय का वर्तमान स्तर बनाये रखा जा सकता है जबकि अल्प-विकसित राष्ट्रो मे जनसख्या की वृद्धि की अधिक दर और राष्ट्रीय उत्पादन कम होने के कारण 1% से भी अधिक राष्ट्रीय उत्पादन का भाग प्रति व्यक्ति आय को वर्तमान स्तर पर रखने हेतु विनियोजन करना आवश्यक है। अल्प-विकसित राष्ट्रो मे जनसख्या की वृद्धि की तीव्र गति के कारण व्यापक निर्धनता को कम करना सम्भव नही हो पाता है। श्री जार्ज जईदन के अनुमानानुसार विभिन्न देशो मे प्रति व्यक्ति आय को वर्तमान स्तर पर बनाये रखने के लिए सकल राष्ट्रीय उत्पादन का अग्रांकित तालिकानुसार प्रतिशत विनियोजन करना आवश्यक है। सन 1964

के मूल्यों पर भारत मे प्रति व्यक्ति आय तत्कालीन स्तर पर बनाये रखने के लिए प्रति वर्ष 5,070 मिलियन डॉलर विनियोजन होना चाहिए।

तालिका 6—विभिन्न देशो मे प्रति व्यक्ति आय को वर्तमान स्तर पर बनाये रखने हेतु सकल राष्ट्रीय उत्पादन के विनियोजन का आवश्यक भाग[1]

विनियोजन का राष्ट्रीय उत्पादन से प्रतिशत	देश
10% से अधिक	कोलम्बिया, भारत, मोरक्को, ब्राजील, घाना, ट्यूनीशिया,
7 5 से 10%	मलयेशिया, पेरू, सयुक्त अरब गणराज्य, थाईलैण्ड, मैक्सिको, फिलीपाइन्स, टर्की।
5 से 7 5%	सूडान, पाकिस्तान, नाइजीरिया, इण्डोनेशिया, दक्षिण कोरिया, चिली, इथोपिया।
5% से कम	सयुक्त राज्य अमेरिका, नार्वे, फ्रान्स, स्वीडन, डेनमार्क, फिनलैण्ड, पश्चिम जर्मनी, इटली, ब्रिटेन, बेल्जियम, आस्ट्रिया, ग्रीस, पुर्तगाल।

4 प्राकृतिक साधनों की न्यूनता

यह कहना उचित नहीं है कि अल्प-विकसित राष्ट्रो मे प्राकृतिक साधनो की न्यूनता होती है, क्योंकि प्राकृतिक साधनो की उपलब्धि एव उपयोग देश के तान्त्रिक ज्ञान के स्तर, माँग की परिस्थितियों तथा नवीन खोजो पर निर्भर रहता है। पुन उत्पादित न होने वाले प्राकृतिक साधनो (Irreproducible Natural Sources) की हीनता की पूर्ति तान्त्रिकताओं मे परिवर्तन करके (जैसे, कोयले की कमी की पूर्ति विद्युत एव एटॉमिक शक्ति से की जा सकती है) तथा नवीन साधनों की खोज करके की जा सकती है। इस प्रकार अल्प विकसित राष्ट्र इसलिए निर्धन नहीं है कि उनके पास प्राकृतिक साधनो की कमी है बल्कि वह उपयोग न हुए एव अशत उपयोग किये जाने वाले साधनो का तान्त्रिकताओ तथा सामाजिक एव आर्थिक सगठन मे सुधार करके पूर्णतम उपयोग करने मे असमर्थ रहे हैं। प्रकृति ने वास्तव मे किसी भी राष्ट्र को निर्धन नहीं बनाया है। जिन देशो मे प्रकृतिदत्त साधनो का शोषण करने का कार्य द्रुत गति से हुआ है वे देश आजकल सम्पन्न हो गये हैं। इसके अतिरिक्त अल्प विकसित राष्ट्रो मे विद्यमान साधनो का उचित उपयोग भी नहीं किया जाता है जिसके फलस्वरूप यह साधन उत्पादन मे अपना पूर्ण योगदान नहीं दे पाते हैं। इन राष्ट्रो मे वे सब आर्थिक एव सामाजिक सुविधाएँ पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध नहीं है जो प्राकृतिक साधनों का उचित एव पूर्णतम उपयोग करने के लिए अनुकूल वातावरण एव परिस्थितियाँ उत्पन्न करते हैं। प्राकृतिक साधनो के पूर्णतम उपयोग के लिए तान्त्रिकताओ मे सुधार, यातायात एव सचार के साधनो मे सुधार एव विस्तार, पूंजी निर्माण मे वृद्धि तथा विपणि के विस्तार की आवश्यकता होती है। यह अनुमान लगाया गया है कि उपलब्ध जल के साधनो का यूरोपीय राष्ट्रो मे 60%, एशिया मे 13%, मध्य अमेरिका म 5% अफ्रीका मे केवल 0 1% तथा दक्षिण अमेरिका म 3% उपयोग किया जाता है। यदि अन्य साधनों का उपयोग अल्प-विकसित राष्ट्रो मे पर्याप्त मात्रा मे किया जा सके तो इनकी बहुत सी समस्याओ का निवारण हो सकता है।

जहाँ तक आधारभूत खनिज पदार्थो—खनिज तेल, कोयला एव कच्चा लोहा—का सम्बन्ध है सम्पन्न राष्ट्रो को ससार मे उपलब्ध इन खनिजो का बडा भाग प्राप्त है। सयुक्त राज्य अमेरिका मे ससार के कुल उत्पादन का कोयला 30 2%, खनिज तेल 42 1% तथा कच्चा लोहा 27 3% उपलब्ध है। इसी प्रकार रूस को इन खनिजो के कुल उत्पादन का क्रमश 19·2%, 9 9% तथा

1 IMF Finance & Development, March 1970

24 1% प्राप्त है । दूसरी ओर, भारत को ससार के उत्पादन का 2·5% कोयला, 0·3% खनिज तेल तथा 1 5% कच्चा लोहा उपलब्ध है ।[1]

5. मानवीय शक्ति का पिछड़ापन

अल्प-विकसित राष्ट्रो मे आर्थिक दृष्टिकोण से पिछडी हुई जनसख्या रहती है क्योंकि जन शक्ति मे उत्पादन के घटक के रूप मे गुण कम होते है । यह जन-शक्ति अपने भौतिक वातावरण पर प्राकृतिक साधनो का पूर्णतम उपयोग करके अधिकतम नियन्त्रण प्राप्त करने की बजाय प्रकृतिदत्त सुविधाओ के साथ अपने आपको समायोजित कर लेती है । इस समायोजन के फलस्वरूप ही जन-समाज मे अपनी कठिनाइयों को दूर करने के लिए प्रयत्न, परिश्रम एव खोज करने की तत्परता लगभग समाप्त हो जाती है । इसी कारण अल्प-विकसित राष्ट्रो मे श्रम-शक्ति मे कम कार्य-कुशलता, उत्पादन के घटको मे गतिहीनता (Immobility), व्यवसायो एव व्यापार मे सीमित विशिष्टीकरण, साहस की हीनता, आर्थिक अज्ञान तथा ऐसी मान्यताओ एव सामाजिक रीति-रिवाजो का प्रभुत्व रहता है जो आर्थिक परिवर्तन के प्रोत्साहन को कम करते है। इन राष्ट्रो मे मानवीय आर्थिक पिछडेपन के निम्नलिखित कारण हैं

(अ) कम श्रम-उत्पादकता—*इन राष्ट्रो में निर्माणी-व्यवसायों मे श्रम की उत्पादकता सयुक्त राज्य अमेरिका की श्रम-उत्पादकता की लगभग 20% है अर्थात एक निर्धन राष्ट्र मे जिस कार्य को 5 से 10 श्रमिक करते हैं, उसी कार्य को अमेरिका मे एक श्रमिक कर सकता है ।*

श्रम की कम कार्य-कुशलता के प्रमुख कारण पौष्टिक भोजन की अनुपलब्धि, स्वास्थ्य का निम्न-स्तर, अशिक्षा, प्रशिक्षण की कमी, व्यावसायिक गतिशीलता मे बाधाएँ तथा शारीरिक कार्य को हीन समझना आदि है । अल्प विकसित राष्ट्रो मे चिकित्सा एव अस्पताल की सुविधाओ की पर्याप्त व्यवस्था न होने के कारण श्रमिको के स्वास्थ्य मे कार्य-कुशलता बनाये रखने मे सहायता नही मिलती है । जाति-प्रथा के फलस्वरूप व्यावसायिक गतिशीलता मे बाधाएँ पडती हैं जिससे एक प्रकार के व्यवसाय को छोडकर दूसरे प्रकार के व्यवसाय मे जाना सम्भव नही होता । इस परिस्थिति के परिणामस्वरूप श्रम की व्यवसाय-चयन की स्वतन्त्रता अत्यन्त सीमित रहती है । श्रमिको पर आय-प्रोत्साहन का भी प्रभाव नही पडता है क्योंकि श्रमिक परम्परागत पुरस्कार एवं उपभोग को ही अधिक पसन्द करता है । श्रमिकों द्वारा सास्कृतिक एव मनोवैज्ञानिक घटको को अपने आर्थिक लाभो से अधिक महत्व प्रदान किया जाता है जिससे श्रमिको की उपलब्धि एव अधिक कार्य करने की इच्छा प्रभावित होती है ।

(आ) आर्थिक अज्ञान—*अल्प विकसित राष्ट्रो मे जन-समाज को यह भी ज्ञान नही होता है* कि उनके देश मे कौन कौन से प्राकृतिक साधन उपलब्ध हैं और उनको किन-किन वैकल्पिक उपयोगो मे लाया जा सकता है । उनको आधुनिक तान्त्रिकताओ एव विपणि की परिस्थितियो का भी ज्ञान नही होता है । इन राष्ट्रो के नागरिको को मानवीय सम्बन्धो का भी अत्यन्त सीमित ज्ञान होता है । आर्थिक विकास के लिए जितना महत्व तान्त्रिक ज्ञान एव पूँजी निर्माण का है, उतना ही महत्व बडे व्यावसायिक सगठनो के प्रशासन, इन व्यवसायो मे कार्य करने वाले श्रमिको के मानवीय सम्बन्धो तथा आर्थिक प्रगति एव विवेक के अनुरूप आर्थिक एव सामाजिक सस्थाओ की स्थापना का भी होता है । इस प्रकार समाज के विभिन्न वर्गो के सामाजिक सम्बन्धो का आर्थिक प्रगति पर प्रत्यक्ष प्रभाव पडता है और इससे सम्बन्धित अज्ञान विकास के लिए बाधक होता है ।

(इ) सामाजिक संरचना (Social Structure)—अल्प-विकसित राष्ट्रो मे सामाजिक सम्बन्धो की सरचना पैतृक एव परम्परागत होती है और सामाजिक प्रतिबन्धो का प्रभुत्व रहता है । *व्यक्ति के स्थान पर परिवार, वर्ग, जाति आदि को समाज की विशेष इकाई का दर्जा दिया जाता* है अर्थात् सामाजिक नियम एव प्रतिबन्ध इस प्रकार के होते है कि इन सामूहिक इकाइयो की सत्ता

---

1 U N. Statistical Year Book, 1957

बनी रहे चाहे व्यक्ति को प्रारम्भिकता, स्वतन्त्रता एव आत्म-विश्वास का भले ही त्याग करना पडे। सामाजिक सगठनो मे जातीयता रहती है जो समाज को विभिन्न वर्गों मे इस प्रकार विभक्त कर देती है कि एक वर्ग से दूसरे वर्ग मे व्यक्ति को जाना असम्भव हो जाता है। व्यक्ति का समाज मे स्थान उसकी योग्यता, कार्य-कुशलता एव प्रारम्भिकता के आधार पर निर्धारित नही होता है बल्कि उसके पूर्वजो की सामाजिक स्थिति पर आधारित रहता है। व्यक्ति का मूल्याकन उसकी कार्य करने की योग्यता पर नही किया जाता है बल्कि उसकी आयु, लिंग, वर्ग, जाति एव सम्बन्धियो के आधार पर किया जाता है। स्त्रियो को समाज मे पुरुष के समान अधिकार प्राप्त नही होते है। स्त्री को पुरुष के अधीन समझा जाता है और उसका अपना कोई व्यक्तित्व नही होता। उसे उत्पादन के घटक के रूप मे पूर्ण योगदान देने के अवसर प्रदान नहीं किये जाते है। कुछ राष्ट्रो मे तो स्त्री को पुरुष के मनोरजन का प्रसाधन-मात्र माना जाता है और उसका क्रय-विक्रय अन्य विलासिता की वस्तुओ के समान किया जाता है। ये समस्त सामाजिक परिस्थितियाँ व्यापक अशिक्षा के सन्दर्भ मे निरन्तर गम्भीर होती जाती हैं। उच्च शिक्षा समाज के केवल एक छोटे वर्ग का ही अधिकार समझा जाता है। शिक्षित-वर्ग कार्यालयो की नौकरी को अधिक महत्व देता है और सरकारी सत्ता का दुरुपयोग करके अशिक्षित एव पिछडे जनसमाज का शोषण करता है। ये समस्त सामाजिक दोष आर्थिक शिथिलता एव अज्ञान को बढाने मे योगदान देते रहते है।

बहुत से अल्प-विकसित राष्ट्रो मे विनिमय एव विपणि-अर्थ-व्यवस्था के सम्बन्ध मे जन-समाज अनभिज्ञ होता है और आर्थिक व्यक्तिवाद को (जिसके अन्तर्गत व्यक्ति अपनी आर्थिक सम्पन्नता के लिए प्रयत्नशील रहता है), जो पश्चिमी राष्ट्रो के विकास का मूलभूत कारण था, अल्प-विकसित राष्ट्रो मे हीन दृष्टि से देखा जाता है। यहाँ के समाज परम्परागत रीति-रिवाजो मे बँधे रहते है और उनका सगठन गैर व्यक्तिवाद होता है। धर्म व्यक्तिगत विश्वास न होकर एक सम्प्रदाय के रूप मे समझा जाता है। धर्म के द्वारा भौतिक कल्याण को क्षुद्र समझा जाता है और त्याग एव शारीरिक कष्ट को अधिक कल्याणकारी समझा जाता है। इस प्रकार धर्म भी व्यक्ति के आर्थिक विकास मे बाधक होता है क्योकि वह जन-जीवन के रहन-सहन के तरीके भी निर्धारित करता है।

(ई) साहसियो की कमी—आर्थिक अज्ञान की व्यापकता के परिणामस्वरूप अल्प विकसित राष्ट्रो मे साहसियो की कमी रहती है। ऐसे साहसी-वर्ग की जो उत्पादन के अन्य घटको को एकत्रित करके आर्थिक वस्तुओ (अर्थात् वे वस्तुएँ जिनका विक्रय किया जाता है) का उत्पादन कर सके और जो आर्थिक लाभ प्राप्त करने हेतु सक्रिय बना रहे, अत्यन्त कमी होती है। इन राष्ट्रो मे सामाजिक प्रतिष्ठा अन्य अनार्थिक तरीको से कम परिश्रम द्वारा प्राप्त करना सम्भव होता है जिसके परिणामस्वरूप जन समाज मे अधिक धनोपार्जन के प्रति अरुचि रहती है।

ऐसा समाज जो रगभेद एव जातियो मे विभक्त हो तथा ऐसी परम्पराएँ एव अधिनियम जिनके द्वारा जनसख्या के बडे भाग की क्रियाओ को प्रतिबन्धित किया जाता हो और सामाजिक एव आर्थिक परिवर्तनो को प्रारम्भ करना कठिन होता हो, साहसी-वर्ग की उन्नति मे बाधक होते है। इसके अतिरिक्त निजी सम्पत्ति का अधिकार, प्रसविदा करने की स्वतन्त्रता तथा सरकारी प्रशासन की उचित व्यवस्था न होने पर भी साहसियो के उत्थान के लिए उपयुक्त वातावरण उत्पन्न नही होता है। सकुचित बाजार एव आर्थिक अज्ञान इस प्रकार साहसियो की उन्नति मे बाधक होते है। यही कारण है कि अल्प विकसित राष्ट्रो मे शासन को साहसी का कार्य उस समय तक अपने हाथ मे रखना पडता है जब तक साहसियो की उन्नति के लिए अनुकूल वातावरण उत्पन्न नहीं हो जाता है।

(उ) सरकारी प्रशासन मे स्वार्थी-वर्ग का प्रभुत्व—अधिकतर अल्प विकसित राष्ट्रो मे सरकारी प्रशासन पर धनी जमीदारो एव पूँजीपतियो का प्रभुत्व एव नियन्त्रण होता है जो कृषि-क्षेत्र के सुधारो एव निर्माण-क्षेत्र के विस्तार का इसलिए विरोध करते है कि उनके राजनीतिक एव आर्थिक हितो एव अधिकारो पर कुठाराघात होने का भय रहता है। यह वर्ग सदैव यथास्थिति बनाये रखने

मे रुचि रखता है क्योंकि कोई भी विवेकपूर्ण परिवर्तन होने पर उन्हे अपनी स्थिति बनाये रखना कठिन हो सकता है। इस प्रकार यह वर्ग सदैव विकास मे बाधाएँ प्रस्तुत करता रहता है।

6 पूंजी की न्यूनता

अल्प-विकसित राष्ट्रो मे वर्तमान उत्पादक पूंजी तो कम होती ही है परन्तु इसके साथ पूंजी-निर्माण मे वृद्धि भी अत्यन्त मन्द गति से होती है। निर्धनता की व्यापकता के कारण एक ओर तो आन्तरिक बचत इन राष्ट्रो मे कम होती है और दूसरी ओर जो भी बचत उपलब्ध होती है, उसका विनियोजन भी विकास मे सहायक क्रियाओ मे नही किया जाता है। निम्नाकित तालिका मे *विकासशील एव विकसित राष्ट्रो की आन्तरिक बचत विनियोजन एव राष्ट्रीय सकल उत्पादन की* वृद्धि का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है।

तालिका 7—चुने हुए विकासशील एव विकसित राष्ट्रो मे विनियोजन एव बचत[1]

क्षेत्र	सकल राष्ट्रीय उत्पादन की वृद्धि की औसत वार्षिक दर (%) 1975	कुल सकल विनियोजन की वृद्धि दर (%) 1975	सकल राष्ट्रीय विनियोजन का सकल राष्ट्रीय उत्पादन से प्रतिशत	सकल बचत का सकल राष्ट्रीय उत्पादन से प्रतिशत
1 विकासशील राष्ट्र	5 5	8 8	23 8	22 3
2 सहारा एव दक्षिणी अफ्रीका	3 3	13 2	22 4	17 9
3 पूर्वी एशिया एव प्रशान्त	4 1	—1 8	25 2	18 3
4 लैटिन अमेरिका एव कैरीबियन देश	3 0	6 7	23 5	19 4
5 उत्तरी अमेरिका एव मध्य-पूर्व	14 3	43 5	25 9	41 3
6 दक्षिणी एशिया	8 0	4 0	19 3	15 8
7 भूमध्यसागरीय अधिक विकसित देश	2 4	0 9	24 5	18 6
8 औद्योगिक राष्ट्र	—1 4	—13 5	21 0	21 0

उक्त तालिका से ज्ञात होता है कि अफ्रीकी, एशियाई एव लैटिन-अमेरिकी राष्ट्रो मे राष्ट्रीय उत्पादन से *विनियोजन एव बचत का प्रतिशत विकसित राष्ट्रो की तुलना मे कम है। मध्य-पूर्वी* एव उत्तरी अफ्रीका के राष्ट्रो की एक और विशेषता भी स्पष्ट होती है कि इनमे समस्त आन्तरिक बचत विनियोजित नही हो पाती है जबकि विकासशील राष्ट्रो मे आन्तरिक बचत के अन्य साधनो को मिलाकर विनियोजन की गति को बनाये रखना पडता है। इन तथ्यो से यह सिद्ध होता है कि अल्प विकसित राष्ट्रो मे पूंजी विनियोजन की वृद्धि की दर कम है और आन्तरिक बचत निर्धनता *की व्यापकता के कारण बढ़ायी नही जा सकती है।*

अल्प विकसित राष्ट्रो मे प्रति व्यक्ति वास्तविक आय कम होने के कारण निर्मित वस्तुओ (Manufactured Goods) एव जनोपयोगी सेवाओं की माँग भी कम रहती है। निर्माण उद्योग एव जनोपयोगी सेवाओ मे अधिक पूंजी-विनियोजन की आवश्यकता होती है और उनकी अनुपस्थिति एव हीनता के कारण अल्प विकसित राष्ट्रो मे पूँजी की न्यूनता रहती है। इन राष्ट्रो मे श्रम-प्रधान उपभोक्ता-वस्तुओं के उद्योगो को प्राथमिकता दी जाती है, जिनमे भारी पूँजीगत वस्तुओ की तुलना मे कम पूंजी की आवश्यकता पडती है। आधारभूत उत्पादक वस्तुओं के उद्योग अल्प-विकसित राष्ट्रो मे अनुपस्थित ही रहते हैं। इसके अतिरिक्त इन राष्ट्रो मे शिक्षा, प्रशिक्षण, स्वास्थ्य-सुधार एव शोधकार्य पर पूँजी का बहुत कम विनियोजन किया जाता है जिसके फलस्वरूप भौतिक वातावरण को विकास के उपयुक्त बनाने के लिए बहुत कम पूंजी विनियोजन किया जाता है।

1 *World Bank Annual Report*, 1975.

अल्प-विकसित राष्ट्रो मे कुल पूंजी-विनियोजन कम होने के साथ-साथ प्रति व्यक्ति पूंजी भी विकसित राष्ट्रो की तुलना में कम होती है। प्रति व्यक्ति शक्ति एव इस्पात-उपभोग की मात्रा से भी अल्प-विकसित राष्ट्रो एव विकसित राष्ट्रो के पूंजी-विनियोजन की तुलना की जा सकती है। निम्नांकित तालिका मे अल्प-विकसित एव विकसित राष्ट्रो की प्रति व्यक्ति शक्ति एव इस्पात-उपभोग की तुलना प्रदर्शित की गयी है।

तालिका 8—विभिन्न राष्ट्रो मे प्रति व्यक्ति शक्ति एव इस्पात का उपभोग (1965)

देश	प्रति व्यक्ति शक्ति का उपभोग (कोयले के वजन मे किलोग्राम)	प्रति व्यक्ति इस्पात का उपभोग (किलोग्राम)
अल्जीरिया	300	23
ब्राजील	347	39
फ्रास	2,951	331
भारत	172	16
इटली	1,787	235
जापान	1 783	294
मैक्सिको	977	64
मोरक्को	153	13
पाकिस्तान	90	8
रूमानिया	2,035	206
स्वीडन	4,506	682
सयुक्त अरब गणराज्य	301	26
ब्रिटेन	5,151	424
सयुक्त राज्य अमेरिका	9,201	656
रूस	3,611	376
यूगोस्लाविया	1,192	125

जिन देशो मे प्रति व्यक्ति शक्ति एव इस्पात का उपभोग अधिक है, उनमे अधिक पूंजी-विनियोजन होना स्वाभाविक है क्योकि शक्ति एव इस्पात का उपभोग करने के लिए मूल्यवान भवन, यन्त्रो एव सामग्रियो की आवश्यकता होती है। एशिया एव अफ्रीका में प्रति व्यक्ति शक्ति का उपभोग सयुक्त राज्य अमेरिका के प्रति व्यक्ति उपभोग का केवल लगभग $\frac{1}{37}$ है।

अल्प विकसित राष्ट्रो मे आय के वितरण मे विषमता व्यापक होती है अर्थात कुछ लोगो की आय अत्यधिक होती है जबकि बहुत बडा समुदाय अत्यन्त दरिद्र होता है। आय का यह विषम वितरण पूंजी-निर्माण मे अधिक सहायक नही होता क्योकि अल्प विकसित राष्ट्रो में प्रति व्यक्ति आय सम्पन्न राष्ट्रो की तुलना मे अत्यन्त कम होती है जिसके फलस्वरूप केवल अत्यधिक आय वाला वर्ग जो जनसख्या का लगभग 3 से 5% होता है बचत करने योग्य होता है। मध्यम आय वाले लोगो की वास्तविक औसत आय सम्पन्न राष्ट्रों के निम्न आय वाले वर्ग की वास्तविक आय से भी कम होती है जिसमे बचत की मात्रा अधिक होना सम्भव नही होता है। दूसरी ओर, अत्यधिक आय वाले वर्ग मे जमीदार एव व्यापारी आते है जो अपनी बचत का विनियोजन भूमि, जायदाद, सट्टा अथवा सामग्री एव कच्चे माल के सग्रहण के लिए करते है। उनमे दीर्घकालीन औद्योगिक विनियोजन एव जनोपयोगी सेवाओ म विनियोजन करने के प्रति रुचि नही रहती है क्योकि वे अधिक दर से शीघ्र लाभ, छोटे-छोटे कृपको को ऋण देकर प्राप्त करने मे समर्थ होते है। इसके अतिरिक्त प्रशिक्षित श्रमिको की कमी यन्त्रो एव कारखाना-सामान की अनुपलब्धि विनियोजको मे मुद्रा-स्फीति एव अवमूल्यन को जोखिम से बचाने के लिए तरल सम्पत्तियो को अधिकार मे रखने की रुचि, सरकारी प्रशासन की अस्थिर आर्थिक नीतियाँ जिनसे आन्तरिक बाजार सकुचित हो जाता है अथवा विदेशी प्रतिस्पर्द्धा प्रारम्भ हो जाती है भूपतियो को समाज एव देश की राजनीति मे शक्तिशाली स्थान प्राप्त होना सामाजिक, वैधानिक एव राजनीतिक सस्थाओ द्वारा प्रारम्भिकता एव साहस पर प्रतिबन्ध लगाना आदि विभिन्न कारण है जिनके परिणामस्वरूप अल्प-विकसित राष्ट्रो मे बचत एव

पूंजी-विनियोजन के लिए प्रोत्साहन नही प्राप्त होता है। सयुक्त राज्य अमेरिका एव ब्रिटेन मे पूजी-निर्माण का बहुत बडा भाग व्यवसायो के लाभो के पुनर्विनियोजन से प्राप्त होता है परन्तु अल्प-विकसित राष्ट्रो मे लाभ पाने वाला वर्ग अत्यन्त छोटा एव महत्वहीन रहता है जिसमे पूंजी-निर्माण की दर निम्न स्तर पर बनी रहती है। इसके साथ ही, अल्प-विकसित राष्ट्रो मे सास्कृतिक भवनो एव स्मारको के निर्माण को अधिक महत्व दिया जाता है जिनमे बचत का कुछ भाग विनियोजित हो जाता है और जिससे अधिक उत्पादन मे कोई योगदान प्राप्त नही होता।

7 विदेशी व्यापार की प्रधानता

अल्प-विकसित राष्ट्रो की अर्थ-व्यवस्था मे विदेशी व्यापार को प्रधान स्थान प्राप्त होता है जिसके निम्नलिखित कारण है

(1) अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था को प्राय कुछ ही प्राथमिक वस्तुओं (Primary Products) के उत्पादन पर निर्भर रहना पडता है और इन वस्तुओं को अधिकतर निर्यात कर दिया जाता है। यह निर्यात-उत्पादन देश के कुल उत्पादन का बहुत बडा अनुपात होता है और इस निर्यात द्वारा जो आय उपार्जित होती है, वह अन्य निजी एव सरकारी विनियोजन द्वारा उपार्जित आय से भी अधिक होती है। यह निर्यात आय देश की राष्ट्रीय आय का 20% से कम नही होती है। कुछ राष्ट्रो मे तो एक अथवा दो वस्तुओ के निर्यात से देश को विदेशी विनिमय प्राप्तियो का बहुत बडा भाग मिलता है, जैसे वेनेजुएला मे सन् 1950 मे खनिज तल के निर्यात से देश की विदेशी विनिमय-प्राप्ति का 97% भाग प्राप्त हुआ। इस प्रकार एक या दो वस्तुओ के निर्यात पर अर्थ-व्यवस्था की निर्भरता की सबसे बडी जोखिम यह है कि उन वस्तुओं के विदेशी बाजारो मे मूल्यो के उच्चावचनो का निर्यातक देश की अर्थ-व्यवस्था पर प्रभाव पडता है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-चक्र निर्यातक देशो को हस्तान्तरित हो जाते है।

(2) अल्प विकसित राष्ट्रो के निर्यात-क्षेत्र मे विदेशी विनियोजन का प्रभुत्व है। यह विदेशी विनियोजन प्राय प्राथमिक उत्पादो के प्रविधिकरण (Processing) पर ही केन्द्रित है जिनके उत्पादो को निर्यात किया जाता है। विदेशी पूंजी का सार्वजनिक सेवाओ मे भी विनियोजन किया गया है परन्तु यह भी निर्यात-क्षेत्र से ही सम्बद्ध है। यह विदेशी विनियोजन प्राय विदेशी फर्मों द्वारा नियन्त्रित एव सचालित है। अल्प-विकसित राष्ट्रो के खनिज एव पौध वाले व्यवसायो (जैसे चाय) मे प्राय विदेशी फर्मों का नियन्त्रण एव अधिकार है। ये विदेशी व्यवसाय प्राय एकाधिकारिक शक्तियाँ ग्रहण कर लेते हैं और उनके हाथ मे आर्थिक शक्तियो का केन्द्रीकरण हो जाता है। विदेशी फर्मों के शक्तिशाली होने से वे देश की आर्थिक एव राजनीतिक नीतियों को अपने हित के लिए प्रभावित करते रहते है और राष्ट्रीय उत्पादन का सम्पूर्ण लाभ जन-समाज को उपलब्ध नही होता है। इसके अतिरिक्त विदेशी पूंजी के प्रवाह मे परिवर्तन होने के साथ-साथ देश की अर्थ-व्यवस्था मे उच्चावचन होते रहते हैं जो आर्थिक विकास मे बाधक होते है।

(3) कुछ राष्ट्रो मे सरकारी आय का बहुत बडा भाग निर्यात-व्यापार पर लगे तट-कर शुल्क से प्राप्त होता है, जैसे मलाया मे तट-कर शुल्क की आय सरकारी आय का बहुत बडा भाग होती है। विदेशी व्यापार की उन्नति पर ही इस प्रकार सरकारी आय एव विनियोजन निर्भर रहता है।

(4) अल्प विकसित राष्ट्र को अपनी बहुत-सी आवश्यकताओं के लिए आयात पर निर्भर रहना पडता है। इन राष्ट्रो के आयात मे प्राय निर्मित वस्तुएँ, वस्त्र, हल्की उपभोक्ता-वस्तुएँ तथा खाद्यान्न एव खाद्य-पदार्थ सम्मिलित रहते है। इन देशो मे आयात करने की इच्छा बहुत अधिक होती है क्योकि अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शन का प्रभाव अपना कार्य करता है। देश के सम्पन्न लोग विदेशियो के समान आराम एव विलासिताओ की वस्तुएँ उपभोग करने के लिए आयात के लिए तत्पर रहते है। इस प्रकार देश के निर्यात से उपलब्ध होने वाले विदेशी विनिमय का

अधिकतर भाग विलासिता की वस्तुओं एव खाद्य-पदार्थों पर व्यय कर दिया जाता है और उत्पादक वस्तुओं का आयात म अत्यन्त सीमित स्थान प्राप्त होता है।

जो देश विकासोन्मुख हो गये हैं उनकी आयात करने की इच्छा बहुत तीव्र इसलिए है क्योंकि विकास के लिए उत्पादक वस्तुओं यन्त्रों एव तान्त्रिक ज्ञान को बडी मात्रा म आयात करने की आवश्यकता रहती है। विकासोन्मुख राष्ट्रो म धीरे धीरे प्राथमिक वस्तुओं का निर्यात कम होने लगता है और उत्पादक वस्तुओं का आयात बढ जाता है। इस परिस्थिति के फलस्वरूप देश का व्यापार शेष प्रतिकूल हो जाता है और इस प्रतिकूल शेष की पूर्ति विदेशी सहायता द्वारा करनी पडती है।

उपयुक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि अल्प विकसित राष्ट्रो मे विकास द्वारा श्रमिक एव दलित वर्ग के जीवन स्तर म सुधार लाना सम्भव हो सकता है बशर्ते देश के आर्थिक एव सामाजिक ढाचे म परिवर्तन किये जायें और सर्वव्यापक शोषण की भावना का आमूल उखाड कर फेंक दिया जाय। इस शोषण भावना के कारण ही आधुनिक युग म राजनीतिक उत्तेजना (Political Agitation) आन्तरिक असुरक्षा तथा परस्पर दोषारोपण का बोलबाला है। जब तक जनसमुदाय के आर्थिक तथा सामाजिक जीवन-स्तर को नहीं उठाया जायगा आधुनिक उत्पादन की विधियो का लाभ उठाया जाना असम्भव है। अल्प विकसित राष्ट्रो म विभिन्न आर्थिक एव सामाजिक समस्याओं का निवारण करने के लिए नियोजित अर्थ व्यवस्था द्वारा एक ओर देश म राष्ट्रीय उत्पादन म वृद्धि करने तथा दूसरी ओर आर्थिक एव सामाजिक विषमताओं को कम करने के लक्ष्यो की पूर्ति की जाती है। नियोजित अर्थ-व्यवस्था का सचालित करने के लिए कुछ मूल आधारो पर निर्णय करने की आवश्यकता होती है जैसे प्राथमिकताओं का निर्धारण विकास के क्षेत्र का निर्णय आदि। इन निर्णयो के सम्बन्ध म अगले अध्यायो म विस्तृत विवरण दिये गये हैं।

24

सामाजिक, सांस्कृतिक एवं प्रशासनिक घटकों का आर्थिक प्रगति पर प्रभाव

[SOCIAL, CULTURAL AND ADMINISTRATIVE FACTORS AND ECONOMIC GROWTH]

आर्थिक प्रगति वह विधि है जिसके द्वारा मनुष्य को अपने चारों ओर के वातावरण पर अधिक नियन्त्रण प्राप्त होता है, जिसके फलस्वरूप उसकी स्वतन्त्रता बढ़ती है। ऐसी अर्थ-व्यवस्थाएँ जो अविकसित है, जिनमें मनुष्य को प्रकृतिदत्त सुविधाओं तथा कठिनाइयों के अन्तर्गत जीवन व्यतीत करना पड़ता है, परन्तु जैसे-जैसे देश आर्थिक प्रगति करता है, उपलब्ध प्राकृतिक सुविधाओं का शोषण किया जाता है तथा प्राकृतिक कठिनाइयों पर मानवीय नियन्त्रण का व्यापक बनाया जाता है। इस विधि के अन्तर्गत मनुष्य के उपभोग के लिए वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा में वृद्धि की जाती है। इस प्रकार एक ओर तो मनुष्य को अपने वातावरण पर नियन्त्रण प्राप्त होता है तथा दूसरी ओर वस्तुओं और सेवाओं के बड़े भण्डार में से उसे अपनी इच्छानुकूल चयन करने का अवसर प्राप्त होता है।

किसी देश की आर्थिक प्रगति का मूल्यांकन उसकी राष्ट्रीय आय की वृद्धि से किया जाता है। प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय उत्पादन में जो वृद्धि होती है, उसे आर्थिक प्रगति का सूचक समझा जाता है। आर्थिक प्रगति के अन्तर्गत प्रायः उपभोग तथा वितरण को मूल्यांकन करते समय अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता है, अर्थात् किसी भी देश में किसी विशेष वर्ग में पिछले वर्ष की तुलना में राष्ट्रीय एवं प्रति व्यक्ति आय में जो वृद्धि होती है, वह उस देश की आर्थिक प्रगति का सूचक होता है। ऐसा हो सकता है कि किसी देश में राष्ट्रीय आय में तो वृद्धि होती जाय, परन्तु जनसमुदाय का बहुत बड़ा भाग निर्धन रहे। यह परिस्थिति तभी आती है जब राष्ट्रीय आय के वितरण में विषमता हो। यह भी सम्भव है कि राष्ट्रीय उत्पादन में तो वृद्धि हो, परन्तु प्रति व्यक्ति उपभोग कम होता जाय। यह तभी हो सकता है जबकि राष्ट्रीय उत्पादन का बड़ा भाग बचत के लिए उपभोग किया जाय। उपर्युक्त दोनों परिस्थितियों में यह कहना ठीक न होगा कि वह देश आर्थिक प्रगति की ओर अग्रसर है।

आर्थिक प्रगति को प्रभावित करने वाले घटक

आर्थिक प्रगति एक ऐसी विधि है जिस पर विभिन्न घटकों का प्रभाव प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से पड़ता है। इन घटकों का प्रभाव सदैव आर्थिक ही नहीं होता। वास्तव में सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक तथा नैतिक घटक आर्थिक घटकों को प्रभावित करते हैं और ये आर्थिक घटक आर्थिक प्रगति पर प्रभाव डालते हैं। आर्थिक प्रगति पर विभिन्न घटक किस प्रकार प्रभाव डालते हैं, यह स्पष्ट करते समय यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि आर्थिक प्रगति के सम्बन्ध में कोई ऐसे सामान्य सिद्धान्त निर्धारित नहीं किये जा सकते जो प्रत्येक राष्ट्र पर समान रूप से लागू हो सकें। एक ही घटक किसी विशेष राष्ट्र में कुछ और प्रभाव डाल सकता है और किसी अन्य राष्ट्र में उसका प्रभाव भिन्न हो सकता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि प्रत्येक घटक आर्थिक प्रगति को अलग-

अलग इतना प्रभावित नहीं करता, जितना विद्यमान समस्त घटक मिलकर प्रभावित करते है। आर्थिक प्रगति को प्रभावित करने वाले घटको को हम निम्नवत् वर्गीकृत कर सकते हैं

(1) सांस्कृतिक एव परम्परागत घटक,
(2) सामाजिक घटक;
(3) नैतिक घटक,
(4) भूमि-प्रबन्ध म सुधार सम्बन्धी घटक,
(5) राजनीतिक घटक,
(6) सरकारी प्रबन्ध एव नीति,
(7) प्रबन्ध के विकास का घटक,
(8) प्राविधिक प्रगति एव आर्थिक विकास,
(9) सन्तुलित विकास,
(10) पूंजी निर्माण—मौद्रिक एव राजकोषीय नीति,
(11) व्यापारिक घटक,
(12) जनसंख्या का घटक,
(13) अव-संरचना घटक (Infra-structure)।

उपर्युक्त घटकों में से पूंजी-निर्माण, व्यापारिक घटक, जनसंख्या घटक एव सन्तुलित विकास का विस्तृत अध्ययन पुस्तक म अन्यत्र किया जा चुका है। शेष घटकों का अध्ययन निम्नवत् प्रस्तुत है

1 सांस्कृतिक एव परम्परागत घटक

इस वर्ग के अन्तर्गत हम उन घटको का अध्ययन करते है, जो मानव की मनोवैज्ञानिक विचारधाराओ से सम्बन्ध रखते है और जिनका प्रभाव आर्थिक प्रगति के प्रयासो पर पडता है। जीवन के प्रति जो दार्शनिक विचारधारा किसी देश के समाज मे विद्यमान हो, वह उस देश की आर्थिक क्रियाओ को प्रभावित करती है। कुछ धर्मो एव जातियो मे यह मान्यता प्रचलित पायी जाती है कि कम से कम उपयोग करना मानव का कर्तव्य है तथा मानव को सदैव अपनी वर्तमान परिस्थितियो से सन्तुष्ट रहकर और नवीन आर्थिक एव सामाजिक क्रियाओ के प्रति प्रारम्भिकता को त्याग कर मोक्ष के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। इस प्रकार की मान्यताएँ जनसमुदाय की आर्थिक क्रियाओ को प्रभावित करती हैं और उनकी वस्तुओ और सेवाओ को प्राप्त करने की इच्छाएँ अत्यन्त कम रहती हैं। तिब्बत की अर्थ-व्यवस्था अविकसित रहने का एक प्रमुख कारण यह भी समझा जाता है कि वहां धार्मिक महन्तो की अधिकता और उनका प्रभाव जनसमुदाय पर अत्यधिक है एव बौद्धों के मतानुसार त्याग को समाज मे सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। इसके विपरीत, पश्चिमी राष्ट्रो में अधिक उपभोग की प्रवृत्ति पायी जाती है। इसके फलस्वरूप वहाँ आर्थिक क्रियाओ को प्रोत्साहन मिला।

मानवीय आवश्यकताएँ विद्यमान भौतिक एव भौगोलिक परिस्थितियो तथा जनसमुदाय के स्वभाव एव परम्परागत रीति-रिवाजो से भी प्रभावित होती है, जैसे जिस देश मे समुद्र का किनारा न हो, उसे जहाजो एव नावो की आवश्यकता नही होती। अधिकतर लोग जीवन की अनिवार्यताओ मे से कटौती करके परम्परागत उत्सवो आदि पर धन का व्यय करते है और इस प्रकार वह अपनी उत्पादन क्षमता को सदैव कम करते रहते है। पिछडे हुए राष्ट्रो मे अज्ञानता के कारण जनसमुदाय नये पौष्टिक भोजन, वस्त्र आदि का उपयोग नही करना चाहते और इन सबसे उनकी आर्थिक क्रियाएँ प्रभावित होती है।

श्रमिकों की कार्य के प्रति जो प्रवृत्ति होती है, वह भी आर्थिक प्रगति को प्रभावित करती है। यह प्रवृत्ति श्रमिकों की शारीरिक शक्ति, कार्य करने की दशाएँ, धार्मिक मान्यताएँ तथा

सामाजिक प्रतिष्ठा पर निर्भर रहती है। जो जनसमुदाय अधिक घण्टो तक परिश्रम के साथ कार्य कर सकता हो जिसमे कार्यकुशल श्रमिको को सामाजिक प्रतिष्ठा दी जाती हो, जहाँ श्रमिक अपने कार्य के प्रति तत्पर एव जागरूक रहते हो और श्रमिको मे अपनी कार्यक्षमता बढाने की प्रवृत्ति पायी जाती हो तो ऐसा जनसमुदाय अपने श्रम से अधिक उत्पादन करेगा और उसे अधिक आय उपार्जित होगी। यह श्रमिक-वर्ग आर्थिक प्रगति मे तभी सहायक हो सकेगा जब वह अपनी आय के कुछ भाग को उत्पादक विनियोजन मे लगाये। जब तक पूँजी-निर्माण मे वृद्धि नही होती, श्रमिक की कार्य-कुशलता आर्थिक प्रगति मे सहायक नही हो सकती। सामाजिक एव धार्मिक कारणो के फलस्वरूप भी कभी-कभी देश मे उपलब्ध उत्पादक साधनो का उपयोग नही किया जाता तथा समयानुकूल जोखिम लेने के लिए तत्परता की कमी रहती है। अल्प-विकसित राष्ट्रो मे प्राय शारीरिक श्रम मे सम्बन्ध रखने वाले व्यवसाय को हीन माना जाता है और इसलिए जैसे-जैसे शिक्षा का विस्तार होता है, कार्यालयो मे कार्य करने वालो की सख्या म वृद्धि होती जाती है। भारतवर्ष मे कुछ जातियाँ कृषि क्षेत्र मे हड्डी तथा गन्दगी की खाद का उपयोग करना पसन्द नही करती और इस प्रकार ये उत्पादक साधन उपयोग मे नही लाये जाते। ये समस्त घटक देश के व्यावसायिक ढाँचो को प्रभावित करते हैं और इस प्रकार उत्पादक क्रियाएँ भी इन्ही मान्यताओ पर निर्धारित होती है, जो आर्थिक प्रगति की मूल आधार होती हैं।

2 सामाजिक घटक

सामाजिक घटको के अन्तर्गत उन तत्वो को सम्मिलित किया जाता है, जो समाज मे प्रचलित विभिन्न मान्यताओ से सम्बन्ध रखते हैं। समाज मे धन और प्रतिष्ठा का क्या सम्बन्ध है, यह तत्व आर्थिक क्रियाओ को प्रभावित करता है। यदि धन के द्वारा ऐसी सामग्री को एकत्रित करना सम्भव हो जिसकी सहायता से कोई भी नागरिक अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा को प्रदर्शित कर सकता हो तो वह उस सामग्री का आर्थिक उपयोग न होते हुए भी क्रय करना पसन्द करेगा, जिसके फलस्वरूप देश मे विलासिता की वस्तुओ एव प्रदर्शन की सामग्री से उद्योगो का विस्तार होगा। यदि समाज मे धन के द्वारा राजनीतिक सत्ता, कर्मचारियो पर सत्ता, रिश्वत लेने की सत्ता, अपने सम्बन्धियो को लाभ पहुँचाने की सत्ता प्राप्त हो सकती हो तो धनोपार्जन करने के लिए अधिक प्रोत्साहन रहता है और लोग धनोपार्जन के लिए अधिक से अधिक प्रयास एव उत्पादक विनियोजन करते है, जिससे आर्थिक प्रगति को बढावा मिलता है, परन्तु यह मान्यता साम्यवादी समाज के लिए पूर्णत सत्य नही है, क्योकि साम्यवादी समाज मे प्रत्येक व्यक्ति को उसकी उत्पादन क्षमता, लागत कम करने की योग्यता तथा नये आविष्कार करने की योग्यता के आधार पर प्रतिष्ठा एव सत्ता प्रदान की जाती है।

प्रत्येक नागरिक अपने प्रयासो का उत्पादन के क्षेत्र मे पूर्णतम उपयोग करे, इस व्यवस्था के लिए उसे यह आश्वासन होना चाहिए कि वह जो भी कार्य करेगा, उसके बदले मे उसे उचित पारिश्रमिक प्राप्त होगा। उचित पारिश्रमिक उसके जीवन-स्तर से इतना सम्बद्ध नही होगा, जितना उसके द्वारा किये गये कार्य से। सोवियत रूस मे साम्यवादी सरकार की स्थापना होने के पश्चात समस्त नागरिको को समान आय प्रदान करने का प्रयास किया गया और कार्यकुशल एव अच्छे श्रमिको को वेतन के अतिरिक्त तमगे (Decorations) प्रशसा-प्रमाणपत्र आदि दिये गये, परन्तु यह प्रयोग असफल रहा और श्रमिको की कुशलता एव प्रोत्साहन को बनाये रखने के लिए कार्य के अनुसार पारिश्रमिक दिये जाने के सिद्धान्त को ही फिर से अपनाया गया। पिछड़े हुए राष्ट्रो मे जनसमुदाय मे सामूहिक कल्याण की क्रियाओ को विना मौद्रिक पारिश्रमिक के सम्पन्न करने की इच्छा पायी जाती है, परन्तु जैसे-जैसे आर्थिक प्रगति की व्यापकता बढती जाती है, अमौद्रिक प्रोत्साहन कार्य करने के लिए पर्याप्त नहीं समझे जाते।

अल्प-विकसित राष्ट्रो मे जनसाधारण की सामाजिक विचारधाराएँ एव स्वभाव भौतिक प्रगति मे सहायक नही होते हैं। इन राष्ट्रो मे व्यक्ति की आर्थिक क्रियाओ पर सामाजिक घटको का गहन प्रभुत्व रहता है और विभिन्न आर्थिक क्रियाओ का नागरिको मे आवटन उनकी योग्यताओ

एवं उपलब्धियों के आधार पर नहीं किया जाता है बल्कि व्यक्ति के सामाजिक स्तर, पारिवारिक सम्बन्ध एवं धर्म आदि को उनकी आर्थिक क्रियाओं का आधार माना जाता है। देश में उपलब्ध आर्थिक सम्पत्तियों का वितरण एवं शिक्षा तथा प्रशिक्षण की सुविधाओं की उपलब्धि भी व्यक्ति के सामाजिक स्तर पर होती है। दूसरी ओर, विकसित राष्ट्रों में आर्थिक क्रियाओं, सम्पत्तियों एवं अवसरों की उपलब्धि नागरिकों को उनकी व्यक्तिगत योग्यताओं एवं उपलब्धियों के आधार पर होती है। दूसरे शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि अल्प-विकसित समाजों में व्यक्ति की आर्थिक क्रियाओं का निर्धारण जहाँ सामाजिक स्तर के आधार पर होता है, वहीं विकसित राष्ट्रों में अनुबन्ध के द्वारा व्यक्ति की आर्थिक क्रियाएँ निर्धारित होती हैं। अल्प-विकसित राष्ट्रों में व्यक्ति आर्थिक क्रियाओं का चयन करने के लिए सामाजिक परिस्थितियों का दास होता है जबकि विकसित राष्ट्र में व्यक्ति को आर्थिक क्रियाओं का चयन अपनी योग्यतानुसार करने का अधिकार होता है।

अल्प-विकसित समाजों में सामाजिक संस्थाओं का निर्माण जनसाधारण के स्वभाव एवं विचारधाराओं के आधार पर होता है। परन्तु धीरे धीरे ये सामाजिक संस्थाएँ इतनी शक्तिशाली हो जाती हैं कि ये जनसाधारण के विचारों एवं स्वभाव को प्रभावित करती हैं। इस प्रकार जन-साधारण के विचार एवं स्वभाव तथा सामाजिक संस्थाएँ एक-दूसरे पर निरन्तर प्रभाव डालती रहती हैं और इसके परिणामस्वरूप सामाजिक संस्थाओं की रचना इतनी कठोर एवं स्थिर हो जाती है कि व्यक्ति को इन संस्थाओं का दास बनाना पड़ता है। यदि ये संस्थाएँ भौतिक विकास का विरोध करती हैं तो व्यक्ति विकास-सम्बन्धी आर्थिक क्रियाओं में सक्रिय भाग नहीं ले सकता है और आर्थिक प्रगति में बाधाएँ उपस्थित होती हैं।

सामाजिक घटक आर्थिक क्रियाओं को विभिन्न क्षेत्रों में प्रभावित करते हैं। सामाजिक घटकों से प्रभावित होने वाले विभिन्न आर्थिक क्षेत्र निम्नवत् हैं

(अ) **सामाजिक घटकों का श्रमिकों की उत्पादकता पर प्रभाव**—देश की श्रम-शक्ति का राष्ट्रीय आय को दिया जाने वाला अनुदान श्रम शक्ति के परिमाण एवं गुण पर निर्भर रहता है। श्रम-शक्ति का परिमाण देश की जनसंख्या पर निर्भर रहता है। देश की जनसंख्या जब तीव्र गति से बढ़ती है तो श्रम शक्ति में भी वृद्धि होती है यद्यपि जनसंख्या की आयु-संरचना (Age Structure) एवं सम्भावित औसत आयु भी उत्पादक श्रम की पूर्ति को प्रभावित करते हैं। जनसंख्या की वृद्धि समाज में प्रचलित धार्मिक विचारधाराओं एवं सामाजिक रीति-रिवाजों से प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध होती है। सामाजिक एवं धार्मिक परम्पराओं में से अल्पायु में विवाह संयुक्त परिवार-पद्धति बड़े परिवार की प्रतिष्ठा, धार्मिक कार्यों के लिए पुत्रों तथा पुत्रियों का होना आवश्यक, बहुविवाह पद्धति आदि प्रत्यक्ष रूप से जनसंख्या की वृद्धि को प्रभावित करते हैं। इन परम्पराओं से परिपूर्ण समाज में जब आर्थिक विकास के प्रारम्भ के साथ जन-स्वास्थ्य एवं कल्याण की कार्यवाहियों का संचालन होता है तो जनसाधारण के स्वास्थ्य में सुधार होता है और मृत्यु-दर भी कम हो जाती है। इस प्रकार अल्प विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में सामाजिक घटक श्रम-शक्ति के परिमाण में वृद्धि करने में सहायक होते हैं और इन अर्थ-व्यवस्थाओं में श्रम शक्ति का परिमाण आवश्यकता से प्रायः अधिक ही होता है।

दूसरी ओर सामाजिक घटक श्रम-शक्ति के उत्पादक गुणों को भी प्रभावित करते हैं। अल्प-विकसित राष्ट्रों में श्रमिकों की उत्पादकता कम होती है क्योंकि जनसाधारण आर्थिक प्रोत्सा-हनों की तुलना में सामाजिक सुविधाओं और परम्परागत रीतियों को अधिक महत्व देता है। स्वास्थ्य एवं शिक्षा का निम्न स्तर पर श्रम-शक्ति को अधिक परिश्रमी नहीं बनने देता है। अल्प-विकसित राष्ट्रों में कुल औद्योगिक श्रम की न्यूनतम होती है क्योंकि इसके लिए श्रमिकों में अधिक परिश्रम करने की योग्यता अनुशासनप्रियता समय का पालन करने का स्वभाव तथा अन्य लोगों के साथ सहयोग करके कार्य करने की योग्यता की आवश्यकता होती है। इन राष्ट्रों में औद्योगिक श्रमिक कृषि-क्षेत्र से आता है और उनमें उपर्युक्त गुणों की न्यूनता तो होती है साथ ही वह अपने आपको औद्योगिक क्षेत्र के अनुशासित वातावरण में एकत्र करने में असमर्थ रहता है। औद्योगिक

क्षेत्र में कृषि क्षेत्र के विपरीत अपनी व्यक्तिगत इच्छानुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता भी नहीं होती है और पारिवारिक वातावरण की भी हीनता पायी जाती है। यही कारण है कि अल्प विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं का विकास करने के लिए सबसे कठिन समस्या श्रमिकों को औद्योगिक क्षेत्र के अरुचिकर वातावरण मे कार्य करने का प्रशिक्षण प्रदान करना होता है। वास्तव मे, ग्रामीण क्षेत्र से औद्योगिक क्षेत्र मे आने वाला श्रमिक ग्रामो की दयनीय आर्थिक स्थिति के दबाव के कारण नगरो मे आता है परन्तु वह नगरो के व्यक्तिवादी वातावरण में अपने आपको समायोजित नही कर पाता है और जैसे ही वह कुछ धन कमा लेता है, ग्रामीण क्षेत्र मे वापस जाने को उद्यत रहता है। यही कारण है कि अल्प-विकसित अर्थ व्यवस्थाओ मे औद्योगिक श्रमिको मे श्रमिक-गमनागमन (Labour Turnover) अत्यधिक होता है जिससे श्रमिको की उत्पादन क्षमता कम होती है।

(आ) **सामाजिक घटकों का बचत पर प्रभाव**—सामाजिक विचारधाराएँ उपभोग के प्रकार तथा इसके परिणामस्वरूप बचत एव पूँजी-निर्माण की मात्रा को प्रभावित करती है। अठारहवी एव उन्नीसवीं शताब्दियों मे पश्चिमी यूरोप के राष्ट्रों मे उस समय की सामाजिक विचारधाराओ, जैसे भविष्य के लिए सुख-सुविधा की व्यवस्था, अपने बच्चो को योग्य बनाना, नवीन क्रियाओ के लिए अपने आपको तैयार करना, अपने अनुभवो को विस्तृत करना, आविष्कार करना, परम्परागत एव प्राचीन रीति-रिवाजो का त्यागना आदि ने पूँजी-निर्माण एव आर्थिक प्रगति मे जितना योगदान दिया, वह तान्त्रिक क्रान्ति के योगदान से कहीं अधिक था। अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं मे प्रति व्यक्ति आय अत्यधिक कम होती है और निर्धनता व्यापक होती है जिसके परिणामस्वरूप जनसाधारण मे बचत करने की क्षमता नही के बराबर होती है परन्तु इस निर्धनता का कारण इन समाजो के रीति-रिवाज होते है। धार्मिक कार्यों, विवाह एव जन्म-सम्बन्धी उत्सवो, धार्मिक त्यौहारों आदि पर निर्धन-वर्ग भी अपनी क्षमता से अधिक व्यय करता है जिससे निर्धनता को निरन्तरता प्राप्त हो जाती है। दूसरी ओर, इन अर्थ-व्यवस्थाओ मे बहुत छोटा वर्ग अत्यन्त धनी होता है परन्तु यह वर्ग भी अपने उपभोग को इस प्रकार बना लेता है जिससे उत्पादक क्रियाओ मे योगदान नहीं मिलता है। यह वर्ग बड़ी मात्रा मे बचत कर सकता है परन्तु यह अपनी बचत का उपयोग भूमिगत जायदादों, बड़े-बड़े भवनो मूल्यवान धातुओ एव आभूषणो, प्रदर्शन एव शान-शौकत के प्रसाधनो आदि के लिए करता है क्योकि इनके द्वारा इन्हें समाज मे प्रतिष्ठा एव आदर प्राप्त होता है। इस प्रकार सामाजिक परम्पराओं के फलस्वरूप एक ओर बचत कम रहती है और दूसरी ओर बचत का उत्पादक उपभोग भी नहीं होता है।

विकासशील राष्ट्रो मे धनी-वर्ग मे विकसित राष्ट्रों की विलासिताओ एव आराम की नकल करने की प्रवृत्ति भी पायी जाती है जबकि विकसित राष्ट्रों के समान यह वर्ग परिश्रम, त्याग एव उत्पादन-कार्य करने के लिए उद्यत नही रहता है।

(इ) **सामाजिक घटकों का साहसिक कार्यों पर प्रभाव**—पश्चिमी राष्ट्रो के आर्थिक प्रगति के इतिहास के अवलोकन से यह ज्ञात होता है कि इन राष्ट्रों के विकास मे एक छोटे से उत्साही एव परिश्रमी व्यापारी वर्ग के नेतृत्व का अत्यधिक योगदान रहा है। वह व्यक्ति अथवा संस्था साहसी होती है जो उत्पादक व्यवसायो के लिए सभी आवश्यक उत्पादनों के घटको का सम्मिश्रण करती है और इस प्रकार वह देश के आर्थिक विकास का केन्द्रबिन्दु होता है। किसी भी देश मे साहसी-वर्ग के विस्तार के लिए साहसिक कार्यो (Entrepreneural Activities) को समाज मे प्रतिष्ठित स्थान मिलना आवश्यक होता है क्योकि योग्य, परिश्रमी एव अनुभवी लोग साहसी का कार्य तभी अपने ऊपर लेने को तैयार होते है जबकि उन्हें समाज मे ऊँचा स्थान दिया जाता है। इसके साथ ही योग्य व्यक्तियो को साहसिक क्रियाएँ करने के लिए आवश्यक छूट एव सुविधाएँ प्राप्त होना भी आवश्यक होता है। इनकी क्रियाओ मे यदि शासकीय लाइसेंसिंग एव अन्य प्रतिबन्धात्मक कार्यवाहियो द्वारा बाधाएँ डाली जाती है तो साहसी-वर्ग का पर्याप्त विस्तार सम्भव नही होता है। किसी भी व्यक्ति को साहसी बनाने के लिए उसमे अधिक जोखिम लेकर अधिक धनो-

पार्जन करने की तीव्र भावना का होना अनिवार्य होता है। यह भावना ही उसे साहसिक क्रियाओ की ओर प्रेरित करती है। यह भावना समाज की सामाजिक व्यवस्था एव सामाजिक सस्थाओ की कार्य विधि पर निर्भर रहती है। साथ ही, शिक्षा की पद्धति एव प्रकार का भी प्रभाव इस भावना पर पडता है। विज्ञान, इजीनियरिग एव तान्त्रिक शिक्षा द्वारा मनुष्य मे भौतिक प्रगति की भावना उदय होती है और इसके लिए उसे आवश्यक ज्ञान भी प्राप्त होता है। साहसी-वर्ग के उत्थान के लिए देश के अधिनियमो तथा प्रशासनिक व्यवस्थात्मक एव राजनीतिक सरचना द्वारा निजी व्यवस्था का पर्याप्त स्वतन्त्र होना भी आवश्यक होता है।

अल्प विकसित राष्ट्रो मे साहसी-वर्ग के विस्तार के लिए आवश्यक तत्व पर्याप्त मात्रा मे विद्यमान नही होते है। परिवार, जाति धर्म एव अन्य सामाजिक सस्थाएँ योग्य व्यक्तियो को साहसिक क्रियाओ के करन मे बाधाए प्रस्तुत करती है। सयुक्त परिवार-पद्धति से व्यक्तिगत प्रारम्भिकता पर विपरीत प्रभाव पडता है। जाति-प्रथा के फलस्वरूप लोगो के विचारो मे सकीर्णता घर कर लेती है और वे अपनी जाति एव वर्ग के प्रति वफादारी को सर्वाधिक महत्व देने लगते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि व्यवसायो मे उत्तरदायी पदो पर परिवार एव जाति के आधार पर नियुक्तियाँ की जाती हैं और योग्यता एव अनुभव को उचित महत्व नहीं दिया जाता है। ऐसी परिस्थिति मे योग्य नवयुवको को नेतृत्व करने का अवसर ही नही प्राप्त होता है और समाज की उत्पादक क्रियाओ मे क्रान्तिकारी परिवर्तन सम्भव नही होते है।

अल्प-विकसित राष्ट्रो मे साहसिक कार्यो का पर्याप्त विस्तार रूढिवादी विचारधाराओ के कारण भी नही होता है। सामाजिक रूढिवादिता, शिक्षा-पद्धति का रूढिवादी होना, नगरो के प्रति कम आकर्षण तथा व्यावसायिक उपलब्धियो को अधिक सामाजिक प्रतिष्ठा न मिलने के कारण ऐसा नवयुवक, जो समाज मे परिवर्तन लाना चाहता है, नेतृत्व करने का अवसर नही प्राप्त कर पाता है। नगर ऐसे केन्द्र होते है जो परिवर्तनो को शीघ्रातिशीघ्र स्वीकार करते है और नवीन तान्त्रिकताओ उपभोग, उत्पादन एव सामाजिक सस्थाओ एव विचारधाराओ को जन्म देते हैं तथा उनका विस्तार करते है। यही कारण है कि पश्चिमी राष्ट्रो मे आर्थिक प्रगति की प्रविधि के अन्तगत औद्योगीकरण एव नगरो की स्थापना ने एक दूसरे को निरन्तर सहायता प्रदान की और विकास की गति को बढा दिया। अल्प-विकसित राष्ट्रो मे ग्रामो का प्रभुत्व होता है और जनसख्या का अधिकतर भाग ग्रामीण क्षेत्रो मे रहता है। ग्रामीण नागरिको का प्रमुख व्यवसाय कृषि होता है जिसमें प्रतिस्पर्द्धा की भावना का अभाव रहता है। इन सब कारणो से ग्रामीण क्षेत्रो मे रूढिवादी अथवा परिवर्तन विरोधी विचारधाराओ का प्रभुत्व होता है। जब ग्रामीण क्षेत्रो का यह नागरिक उद्योगो मे पहुँचता है तो अपने साथ ग्रामीण क्षेत्र की रूढिवादी प्रबन्ध व्यवस्था एव रिवाजो को अपने साथ ले जाता है। यही कारण है कि उद्योगो के प्रबन्धको मे यथेच्छाकारी भूपतियो एव जमीदारो के समान व्यवहार करने की प्रवृत्ति पायी जाती है जो प्रबन्ध एव श्रम के कलह का कारण बन जाती है। औद्योगिक क्षेत्र पर कृषि-प्रबन्ध व्यवस्था का प्रभाव होने के कारण ही औद्योगिक क्षेत्रो मे नवीन तान्त्रिकताओ को स्वभावत स्वीकार नहीं किया जाता है। व्यापारिक क्रियाओ को जब समाज मे हीन दृष्टि से देखा जाता है तो योग्य नवयुवक उन व्यवसायो की ओर आकर्षित हो जाता है जिनका समाज मे प्रतिष्ठित स्थान होता है। इस प्रकार साहसी-वर्ग का विस्तार सम्भव नही होता है।

अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ मे आर्थिक वातावरण इस प्रकार का होता है कि विनियोजन मे उपार्जित होने वाली आय का अनुमान लगाना भी सम्भव नही होता है। लागत मे सम्मिलित होने वाले घटको की उचित लागत का अनुमान, विपणि एव माँग के परिमाण का उचित अनुमान, प्रतिस्पर्द्धा की मात्रा का अनुमान तथा उपरिव्यय-सुविधाओ की पर्याप्त उपलब्धि न होने के कारण साहसिक क्रियाओ के विस्तार मे रुकावटें उपस्थित होती है। विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ मे बडे-बडे व्यापार-गृहो द्वारा जो विपणि-अन्वेषण किये जाते है, वे नवीन साहसी-वर्ग की सहायतार्थ

उपलब्ध होते है। इसके अतिरिक्त सरकार, व्यापारिक सगठनो एव अधिकोषण तथा वित्तीय सस्थाओ द्वारा विभिन्न सूचनाएँ नियमित रूप से प्रकाशित की जाती है जो साहसिक क्रियाओ मे सहायक होती हैं। अल्प-विकसित अर्थ व्यवस्थाओ मे इस प्रकार की सहायक सूचनाएँ उपलब्ध न होने के कारण साहसिक क्रियाओ मे जोखिम अधिक रहती है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि अल्प-विकसित राष्ट्रो मे साहसिक क्रिया एक न्यून घटक मे रहती है और आर्थिक प्रगति हेतु इस घटक के विस्तार के लिए राज्य का ऐसी सामाजिक एव आर्थिक परिस्थितियाँ उत्पन्न करना आवश्यक होता है जिनमें साहसी-वर्ग विकसित हो सके। बहुत सी अर्थ-व्यवस्थाओ मे राज्य स्वय साहसी का कार्य करके लोगो का मार्गदर्शन करता है।

(ई) सामाजिक घटकों का तान्त्रिकताओ पर प्रभाव—आर्थिक प्रगति हेतु उत्पादन के क्षेत्र मे नवीन तान्त्रिकताओ का उपयोग अत्यन्त आवश्यक होता है। सुधरी हुई उत्पादन-तान्त्रिकताओ का उपयोग करने के लिए अनुकूल सामाजिक वातावरण की आवश्यकता होती है जो अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ मे विद्यमान नही होता है। तान्त्रिक परिवर्तनो को सफल बनाने के लिए समाज मे नवीन तान्त्रिकताओ से उदय होने वाले परिवर्तनो को स्वीकार करने की स्वाभाविक इच्छा होनी चाहिए। इसके लिए रूढिवादी सामाजिक विचारधाराओ को त्यागना होता है और नवीन सरचना का आयोजन आवश्यक होता है। नवीन तान्त्रिकताओं के उपयोग के लिए देश मे बडे पैमाने पर शोधकार्य होना चाहिए, आविष्कार किये जाने चाहिए और फिर इन आविष्कारो का व्यापारिक उपयोग होना चाहिए। इस प्रकार नवीन तान्त्रिकताओ के विस्तार हेतु वैज्ञानिक वर्ग एव साहसी वर्ग दोनो के ही विस्तार की आवश्यकता होती है। दूसरी ओर, नवीन उत्पादन तान्त्रिकताओ का उपयोग करने हेतु अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है तथा नवीन उत्पादो का उपयोग करने की इच्छा का समाज मे विद्यमान रहना भी आवश्यक होता है। इन सभी व्यवस्थाओ के लिए सामाजिक वातावरण का अनुकूल होना आवश्यक होता है। नवीन तान्त्रिकताओ द्वारा समस्त आर्थिक एव सामाजिक वातावरण मे मूलभूत परिवर्तन करके नवीन सस्थाओ एव सगठनो का निर्माण होना चाहिए। अल्प-विकसित समाजो में इन परिवर्तनो को समाज स्वभावतः स्वीकार नही करता है जिससे तान्त्रिक प्रगति की गति मन्द रहती है और आर्थिक विकास मे बाधाएँ उपस्थित होती हैं।

3 नैतिक घटक

जनसाधारण का नैतिक स्तर देश की आर्थिक प्रगति को प्रभावित करता है। वास्तव में नैतिक स्तर से तात्पर्य यह है कि उद्योग, सरकार, विज्ञान, व्यापार-प्रशासन शोधकार्य का नेतृत्व करने वाले लोगो मे अपने कार्य के प्रति तत्परता, ईमानदारी तथा सेवा भाव होना चाहिए। इन गुणो के साथ साथ नेतृत्व करने वाले वर्ग को नेतृत्व-कार्य पर अपना अपने परिवार तथा जाति का एकाधिकार नही समझना चाहिए। प्राय विकास की ओर अग्रसर राष्ट्रो मे इस प्रकार के एकाधिकार की स्थापना कुछ उच्च वर्ग के व्यक्तियो द्वारा कर ली जाती है और उनका यह प्रयत्न होता है कि नेतृत्व का कार्य उनके परिवार के सदस्यों के हाथो मे बना रहे। निजी क्षेत्र के बडे-बडे व्यवसायो मे नेतृत्व का कार्य पैतृक सम्पत्ति के रूप मे पिता से पुत्र को प्राप्त होता है। सरकारी क्षेत्र मे भी यह विधि इसलिए जारी रहती है कि उच्च-वर्ग के लोग अपने परिवार के सदस्यो को प्रारम्भ से ही इस प्रकार का प्रशिक्षण देते हैं कि वे उचित अथवा अनुचित तरीको से उच्च पदो पर चुने जा सकें। उच्च पदो पर आसीन पिताओ के सभी पुत्र उनके समान योग्य हो, यह सम्भव नही है और इस प्रकार प्राय अयोग्य व्यक्तियो के हाथो म नेतृत्व आ जाने से आर्थिक प्रगति की गति धीमी पड जाती है।

प्रगति एक गतिशील विधि है और नेताओ के एक समूह द्वारा प्रगति की जिस विधि का प्रारम्भ किया जाता है, उस विधि मे कुछ समयोपरान्त परिवर्तन आवश्यक होता है, अन्यथा प्रगति की गति मन्द अथवा स्थिर हो जाती है, परन्तु नेताओ का वर्तमान समूह इन परिवर्तनो से एकमत नही होता है क्योकि इनके द्वारा उनकी आर्थिक स्थिति एव प्रशासनिक सत्ताओ पर कुठाराघात हो

सकता है। ऐसी परिस्थितियों में नेताओं के नवीन समूह का प्रादुर्भाव होना स्वाभाविक है और फिर नवीन एवं पुराने समूहों में कलह उत्पन्न होती है। इस प्रकार कलह से आर्थिक प्रगति में बाधाएँ उपस्थित होती हैं।

आर्थिक प्रगति के साथ-साथ विभिन्न कार्यों के विशिष्टीकरण को प्रोत्साहन मिलता है, जिसके फलस्वरूप समाज के मध्यम-वर्ग के समुदाय में वृद्धि होती है। इस समुदाय में वैज्ञानिक, इंजीनियर, डाक्टर, शिक्षक आदि सभी सम्मिलित होते हैं। आर्थिक प्रगति की तीव्र गति के लिए पंजीपतियों, विशेषज्ञों तथा श्रमिकों में समन्वय स्थापित करने की आवश्यकता होती है। इन सभी वर्गों में एक-दूसरे के व्यवसाय को अपनाने के लिए गतिशीलता होनी चाहिए, अर्थात् एक इंजीनियर का पुत्र डाक्टर अथवा उद्योगपति बन सके और उसमें इस प्रकार पैतृक व्यवसाय में परिवर्तन करने पर जाति, दासता, सामाजिक प्रतिबन्ध, धार्मिक मान्यताएँ आदि बाधक नहीं होनी चाहिए। आर्थिक प्रगति की गति को तीव्र रखने के लिए इस प्रकार सम्बन्धी गतिशीलता (Vertical Mobility) अत्यन्त आवश्यक होती है।

कुछ राष्ट्रों में आर्थिक प्रगति में व्यक्तिगत आर्थिक स्वतन्त्रता ने अत्यधिक सहायता प्रदान की है। आर्थिक स्वतन्त्रता का तात्पर्य प्रत्येक व्यक्ति को अपना व्यवसाय करने, उत्पादन के साधनों को क्रय अथवा किराए पर लेने, अन्य व्यापारियों के साथ प्रतिस्पर्धा करने, उत्पादन के साधनों को इस प्रकार सम्मिश्रित करने कि कम लागत पर अधिक उत्पादन हो सके, आदि से है परन्तु इस प्रकार की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता आर्थिक प्रगति में तभी सहायक हो सकती है, जब देश औद्योगिक दृष्टिकोण से विकसित हो तथा देश का कोई भी नागरिक, संस्था अथवा अधिकारी यह अनुमान न लगा सकता हो कि भविष्य में अर्थ-व्यवस्था का क्या स्वरूप होगा। विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में प्रत्येक उद्योगपति नवीन उत्पादन करने के लिए प्रयोग करता है और इस प्रकार उद्योगपतियों के एक बड़े समुदाय द्वारा जो निश्चय किए जाते हैं, वे आर्थिक प्रगति में अधिक सहायक हो सकते हैं। दूसरी ओर अविकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में प्रगति का मार्ग प्रायः अनुसरण-मात्र होता है क्योंकि इनको विकसित राष्ट्रों के अनुभवों का अनुसरण करने के अवसर प्राप्त होते हैं। ऐसी परिस्थिति में विकसित राष्ट्रों के अनुभवों के आधार पर अर्थ व्यवस्था के भविष्य के स्वरूप का अनुमान लगाया जा सकता है। ऐसी अर्थ-व्यवस्थाओं में व्यक्तिगत आर्थिक स्वतन्त्रता तीव्र आर्थिक प्रगति में बाधक हो सकती है। अल्प-विकसित राष्ट्रों में सामूहिक निश्चय एवं समूहों में कार्य करने की विधि अधिक उपयोगी होती है, इसीलिए सरकार एवं उसके द्वारा निर्मित विभिन्न संस्थाओं को नियोजित अर्थ-व्यवस्था के कार्यक्रम संचालित करने तथा आर्थिक निश्चय करने के अधिकार प्राप्त होने से प्रगति की गति तीव्र हो सकती है परन्तु सामूहिक कार्य करने के लिए जनसमुदाय का नैतिक स्तर ऊँचा होना चाहिए और उन्हें उत्तम नेताओं के नेतृत्व को स्वीकार करके उनके निर्देशों के अनुसार कार्य करने को तत्पर होना चाहिए। नैतिकता के आधार पर वे मिलकर कार्य करने के लिए तत्पर हों तथा उनमें पारस्परिक कलह उत्पन्न न हो।

आर्थिक प्रगति की दौड़ में वर्तमान प्रवृत्तियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि विकसित राष्ट्र अल्प विकसित राष्ट्रों से दीर्घकाल तक बहुत आगे बढ़े रहेंगे जब तक कि अल्प विकसित राष्ट्रों में मूलभूत आविष्कार न किए जायें और ये राष्ट्र अपनी परिस्थितियों के अनुकूल नवीन तान्त्रिकता का स्वतः विकास एवं विस्तार न करें।

4 भूमि प्रबन्ध में सुधार-सम्बन्धी घटक

अल्प विकसित राष्ट्रों के आर्थिक विकास हेतु कृषि-उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि करना आवश्यक होता है क्योंकि इसी के द्वारा पूँजी का आवश्यकतानुसार संचय हो सकता है। जब तक कृषि का उत्पादन इतना नहीं होता कि औद्योगिक श्रम को पर्याप्त मात्रा में खाद्यान्न आदि प्राप्त हो सकें, औद्योगिक विकास में निरन्तर बाधाएँ आती रहती हैं। कृषि के विकास की अन्य सुविधाओं के लिए भूमि प्रबन्ध में आवश्यक परिवर्तन करना वांछनीय होता है। रासायनिक खाद, अच्छे बीज,

सिंचाई की सुविधाएँ, विपणि की सुविधाएँ, आदि के लाभ तभी प्राप्त हो सकते है जब भूमि-प्रबन्ध मे भी सुधार किये जायें।

अल्प-विकसित राष्ट्रो मे प्राय. अनुपस्थित जमीदार (Absentee Landlords), अधिक लगान (Rack Renting), कृषको की असुरक्षा आदि की समस्याएँ अत्यन्त गम्भीर होती है। यह आवश्यक होता है कि कृषि करने वाले कृषक को भूमि की उपयोग-सम्बन्धी सुरक्षा तथा लगान-सम्बन्धी सुविधाएँ प्राप्त हो ताकि उसे अधिक उत्पत्ति हेतु प्रोत्साहन मिले। जो वास्तव मे कृषि करते है, उन्हे अपने उत्पादन का बहुत कम भाग मिलता है और शेष सभी भूमि पर अधिकार रखने वाले जमीदार को चला जाता है और वह भी उस जमीदार को, जो भूमि पर कुछ भी कार्य नही करता है। कृषि-मजदूर भूमि-प्रबन्ध मे सुधार करने की माँग करता है और चाहता है कि भूमि उसी की होनी चाहिए जो उस पर कृषि करता है। इस माँग की पूर्ति के बिना कृषि-उत्पादन मे वृद्धि होना अत्यन्त कठिन होता है। इसके अतिरिक्त जमीदारो के प्रति एक विरोध की भावना जनसमुदाय मे जागृत रहती है क्योंकि ये अपने धन द्वारा राजनीतिक क्षेत्र मे अपनी सत्ता बनाये रखने का सदैव प्रयत्न करते रहते है। समाजवादी दृष्टिकोण से भी जमीदारो का अस्तित्व अनुचित ही समझा जाता है। भारत जैसे राष्ट्र मे, जहाँ भूमि-प्रबन्ध की बहुत-सी विधियाँ हैं, भूमि-प्रबन्ध मे समानता लाकर सुधार करना अत्यन्त कठिन होता है। जमीदार-वर्ग सदैव भूमि-प्रबन्ध के परिवर्तनो का विरोध करता है और ऐसी बाधाएँ उत्पन्न करता है जिससे तत्कालीन स्थिति से न्यूनातिन्यून परिवर्तन हो। राज्य और कृषक के बीच से मध्यस्थो को हटाने के लिए राष्ट्रो को अपने अर्थ साधनो को भी देखना पड़ता है क्योंकि क्षतिपूर्ति करने मे राज्य के अत्यधिक साधन उपयोग मे आ जाते हैं।

5 राजनीतिक घटक

आर्थिक विकास एक निरन्तर गतिशील विधि है जिसके फल दीर्घकाल मे ही प्राप्त हो सकते है, इसलिए आर्थिक नियोजन की सफलता के लिए एक स्थायी सरकार की आवश्यकता होती है, जिसकी नीतियाँ समान एव अपरिवर्तित रहे। स्थायी सरकार का तात्पर्य यह है कि सरकार की सत्ता एक ही राजनीतिक दल अथवा उसी के समान विचार वाले राजनीतिक दलो के हाथ मे दीर्घ-काल तक रहनी चाहिए। अल्प-विकसित राष्ट्रो मे योग्य तथा स्थायी सरकार का बना रहना अत्यन्त कठिन होता है। आर्थिक विकास गतिशील होने से तत्कालीन व्यवस्थाओ मे भारी परिवर्तन होते हैं, जिसके कारण बहुत से वर्गो को हानि होती है। राष्ट्र के आर्थिक प्रतिफलो का वितरण नयी विधियो से होता है और परम्परागत रीति-रिवाजो को शनै -शनै समाप्त करने का प्रयत्न किया जाता है। इन सब कारणो से सरकार की विकास की योजनाएँ ही उसके विरोध का कारण बन जाती हैं और विरोध प्राय इतना दृढ हो जाता है कि सरकार मे परिवर्तन होना अनिवार्य हो जाता है। इसके अतिरिक्त अल्प-विकसित राष्ट्रो की राजनीति मे विदेशी सत्ताएँ भी सक्रिय भाग लेती हैं, विशेषत उन देशो की जो विदेशी सत्ताओ के अखाड़े बन जाते हैं। उनकी पारस्परिक मुठभेड़ के कारण अल्प-विकसित राष्ट्रो की सरकारें परिवर्तित होती रहती है। मध्य-पूर्व, सुदूर-पूर्व और लैटिन-अमेरिकी राष्ट्रो मे इस प्रकार के बहुत से उदाहरण मिल सकते है।

6 सरकारी प्रबन्ध एवं नीति

अल्प-विकसित राष्ट्रो और विशेषकर उन राज्यो मे, जहाँ दीर्घकाल तक विदेशियो ने राज्य किया, जनसाधारण का चरित्र उच्चकोटि का नही होता है। समस्त सरकारी प्रबन्ध इस प्रकार का होता है जो कृषि-प्रधान समाज के लिए उपयुक्त होता है। इस व्यवस्था मे प्रबन्धन तथा सत्ता के केन्द्रीकरण को विशेष महत्व प्राप्त होता है। शासकीय कार्य की गति अत्यन्त धीमी होती है और यह व्यवस्था किसी प्रकार विकास-पथ, विशेषत औद्योगिक पथ पर अग्रसर राष्ट्र के हित मे उपयोगी नही होती। इन राष्ट्रो की सरकार को विकास-योजनाओ को क्रियान्वित करने के लिए तथा प्रारम्भिक प्रोत्साहन देने के लिए राष्ट्र की प्रत्येक आर्थिक क्रिया पर नियन्त्रण रखना होता है

तथा उद्योग, कृषि तथा वाणिज्य, सभी क्षेत्रों में हस्तक्षेप करना होता है। साथ ही, निजी तथा राजकीय साहस में उचित समन्वय भी स्थापित करना होता है। इन सब कार्यों के लिए अनेक ईमानदार, शिक्षित तथा योग्य कर्मचारियों की आवश्यकता होती है। उच्च अधिकारियों में योजना बनाने उसको क्रियान्वित करने, सामंजस्य स्थापित करने तथा आवश्यक समायोजन करने की भी योग्यता होना आवश्यक होता है। आधुनिक सरकारी शासन में प्रबन्ध (Management) का विशेष स्थान होता है। शासन का उद्देश्य केवल जीवन को नियन्त्रित करना ही नहीं होता है प्रत्युत जनसमुदाय के हित का आयोजन करना भी शासन की कार्य-प्रणाली का प्रमुख अंग होता है। इन परिस्थितियों में शासन का पुराना ढांचा, जो विदेशी सत्ता ने स्थापित किया है, परिवर्तित करना अनिवार्य होता है। इस परिस्थिति में परिवर्तन करना अत्यन्त कठिन होता है क्योंकि नयी व्यवस्था के लिए शासकीय कर्मचारियों के आवश्यक प्रशिक्षण का प्रबन्ध किया जाना चाहिए। पुराने कर्मचारियों के मस्तिष्क तथा दृष्टिकोण इतने कठोर एवं संकुचित हो जाते हैं कि उनमें परिवर्तन लाना असम्भव होता है। वे अपनी रूढ़िवादी विचारधाराओं को सर्वोत्तम समझते हैं। पुराने कर्मचारियों के प्रशिक्षण के अतिरिक्त नये कर्मचारियों की नियुक्ति तथा पदोन्नति की विधियों में भी परिवर्तन करना आवश्यक होता है जिसमें भेद भाव तथा सिफारिश आदि त्रुटियों के प्रभाव को दूर किया जा सके।

यह कहना किसी प्रकार भी उचित न होगा कि अल्प-विकसित राष्ट्रों में जनसमुदाय का चरित्र उच्चकोटि का नहीं होता और उनमें ईमानदारी की कमी होती है अथवा उनमें बेईमानी हेतु अधिक तत्परता होती है। कृषि-प्रधान समाज तथा परम्परागत जीवन में जब आधुनिक विचारधाराओं का सम्मिश्रण होता है, तो इस मध्यकाल में राष्ट्रीय चरित्र को क्षति पहुँचती है और नवीन व्यवस्था की स्थापना होने तक सरकारी अधिकारियों में अपनी सत्ता का दुरुपयोग करने की प्रवृत्ति जाग्रत होती है। शासन तथा शासित में एक विशेष व्यक्तिगत भावना का प्रादुर्भाव होता है और ये दोनों ही पक्ष अपने व्यक्तिगत हितों को राष्ट्रीय हितों से भी अधिक महत्व देने लगते हैं। ऐसी परिस्थिति में राज्य को सतर्कता से कार्य करने की आवश्यकता होती है जिससे इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ दीर्घकाल तक चलती रहने के कारण स्थायित्व ग्रहण न कर लें। मध्यकाल में अवश्य ही इन प्रवृत्तियों से राष्ट्र के अमूल्य साधनों का क्षय होता है, जिसकी मात्रा में समुचित राजकीय नियन्त्रण द्वारा कमी की जा सकती है।

आधुनिक युग में राज्य आर्थिक क्रियाओं में या तो सक्रिय भाग लेता है या फिर आर्थिक क्रियाओं को अपनी नीतियों द्वारा प्रभावित करता है। नियोजित अर्थ-व्यवस्था में आर्थिक क्रियाओं पर अधिकाधिक नियन्त्रण राज्य के हाथ में होता है। राज्य सम्पत्ति को अधिकार में रखने, उत्पादनों के साधनों का क्रय व विक्रय करने, बचत करने, विनियोजन करने, वस्तुओं का वितरण करने, आय एवं अवसर की विषमताओं को कम करने आदि की समस्त क्रियाओं पर प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप में नियन्त्रण करता है। आयात एवं निर्यात-सम्बन्धी नीतियाँ राज्य द्वारा निर्धारित की जाती हैं, जो उत्पादक क्रियाओं के सम्बन्ध में किये जाने वाले निश्चयों को प्रभावित करती हैं। राज्य मूल्य एवं विपणि-यान्त्रिकता को भी खुली छूट नहीं देता। इन सब क्रियाओं के अतिरिक्त राज्य स्वयं उत्पादन-कार्यों का संचालन करता है और आवश्यकता पड़ने पर व्यापार का संचालन भी करता है। राज्य की मौद्रिक एवं वित्तीय नीतियाँ उत्पादन, उपभोग एवं विनियोजन को प्रभावित करती हैं। इस प्रकार राज्य द्वारा संचालित क्रियाओं का प्रभाव आर्थिक प्रगति के पग-पग पर पड़ता है। समाजवादी, साम्यवादी एवं अधिनायकवादी अर्थ व्यवस्थाओं में राज्य द्वारा निर्धारित कार्यक्रमों का संचालन आर्थिक प्रगति हेतु किया जाता है। राजकीय नीतियाँ एवं कार्यक्रम आधुनिक युग में आर्थिक प्रगति के मूलाधार समझे जाते हैं।

7 प्रबन्ध के विकास का घटक

विकासोन्मुख राष्ट्रों में राज्य का प्रमुख कर्तव्य होता है—देश की स्वतन्त्रता एवं आर्थिक

स्थिरता के साथ तीव्र आर्थिक प्रगति करना। अधिकतर अल्प-विकसित राष्ट्रो मे जनसमुदाय का मुख्य जीविकोपार्जन का साधन कृषि होता है और आर्थिक प्रगति की तीव्र गति के लिए औद्योगिक विकास को अधिक महत्व दिया जाता है। औद्योगिक विकास के उचित निर्देशन हेतु देश मे प्रबन्धको के एक बडे समूह की आवश्यकता होती है जो बडे-बडे व्यवसायो का कुशल सचालन कर सकें। नियोजित विकास के अन्तर्गत देश मे बहुत-सी बडी-बडी औद्योगिक इकाइयाँ एव कृषि-फार्म स्थापित एव सचालित किये जाते है। इनके कुशल सचालन हेतु सुशिक्षित एव अनुभवी प्रबन्धको की आवश्यकता होती है, परन्तु इस प्रबन्धक-वर्ग का विकास शीघ्रता से नही हो पाता है जब तक कि इस सम्बन्ध मे विशेष प्रयत्न न किये जायें। प्रबन्ध के विकास (Management Development) के सम्बन्ध मे अल्प-विकसित राष्ट्रो मे निम्नलिखित समस्याएँ अनुभव की जाती हैं.

(1) विकासोन्मुख राष्ट्र जब विकास की ओर अग्रसर होते हैं तो इन राष्ट्रो मे दो प्रकार के समाज बन जाते है। एक ओर परम्परागत समाज रहता है जो जनसमुदाय मे व्यवसाय-सम्बन्धी लम्बरूपी गतिशीलता (Vertical Mobility) को नही अपनाता है और परम्परागत व्यवसायो एव जायदाद आदि के अधिकार को अधिक महत्व देता है। दूसरी ओर ऐसे समाज का विकास होता है जो औद्योगिक सस्कृति (Industrial Culture) के गुणो को अपना लेता है और अपने जीवन-स्तर एव राष्ट्रीय विकास के सम्बन्ध मे विवेकपूर्ण विचार रखता है। परम्परागत समाज का अनुयायी स्वय के विकास को विवेकपूर्ण दृष्टि से नही देखता है और प्रबन्ध-विकास की गति को धीमी करता है। दूसरी ओर, औद्योगिक सस्कृति मे विश्वास रखने वाला समुदाय मानवीय विकास पर महत्व देता है और उचित प्रशिक्षण एव शिक्षा प्राप्त करता है। धीरे-धीरे जब इस दूसरे समुदाय के सदस्यो को अर्थ-व्यवस्था मे सम्मान एव प्रतिष्ठा मिलने लगती है तब प्रबन्ध-विकास की ओर अन्य लोग आकर्षित होने लगते हैं। परन्तु प्रारम्भिक अवस्था मे प्रबन्ध-प्रशिक्षण को समाज मे बहुत कम महत्व दिया जाता है और प्रबन्ध की कला को पैतृक सम्पत्ति समझा जाता है और प्राय यह कहा जाता है कि प्रबन्धक पैदायशी होते है (Managers are born)। परन्तु इस सम्बन्ध मे यह बात ध्यान देने योग्य है कि पूर्वजो ने बडे-बडे व्यवसायो का प्रबन्ध तो नही किया है परन्तु इन पूर्वजो ने अपने उत्तराधिकारियो को इस प्रकार का अनुभव एव प्रशिक्षण प्रदान किया है कि वे परम्परागत व्यवसायो का कुशल सचालन कर सकें।

(2) विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था मे राज्य द्वारा बहुत से बडे-बडे व्यवसाय स्थापित किये जाते है और निजी विनियोजको को भी औद्योगिक क्षेत्र मे बडी नवीन इकाइयो मे विनियोजन करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। इन व्यवसायो मे नवीन तान्त्रिकताओ का उपयोग किया जाता है। दूसरी ओर, उपभोक्ता-वस्तुओं के उत्पादन मे पर्याप्त वृद्धि करने हेतु लघु उद्योगो का भी विस्तार किया जाता है। इस प्रकार लघु एव वृहद् उद्योगो की इकाइयो मे शीघ्रता से वृद्धि होती है जिसके अनुरूप प्रबन्धको की सख्या मे पर्याप्त वृद्धि नही हो पाती है। ऐसी परिस्थिति मे राज्य अपने प्रशासनिक अधिकारियों को प्रबन्ध का कार्य सौंप देता है। सत्तारूढ राजनीतिक नेताओ एव प्रशासनिक अधिकारियो का एक प्रकार का व्यावहारिक समझौता हो जाता है जिसके फलस्वरूप आधुनिक प्रबन्ध-कला को पर्याप्त महत्व नही दिया जाता है और प्रबन्ध-विकास हेतु उचित व्यवस्था नही की जाती।

(3) विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था मे उद्योगपतियो को अपने उत्पादन बेचने मे कोई कठिनाई नही होती है क्योंकि जनसमुदाय के पास क्रय-शक्ति अधिक होने के कारण पूर्ति से अधिक माँग रहती है। मूल्यों का स्तर प्रायः बढता रहता है और इस प्रकार उद्योगपति अधिक लागत पर उत्पादन करने पर पर्याप्त लाभोपार्जन कर लेता है। ऐसी परिस्थिति मे उद्योगपति को अपनी लागत कम करने की आवश्यकता महसूस नही होती है और प्रबन्ध-विकास के लिए इसीलिए कोई ठोस प्रयास नही किये जाते हैं। वह उन्हे यह कहकर कि उनका उद्देश्य लाभोपार्जन न होकर सेवा का आयोजन

करना है, सरकारी क्षेत्र के व्यवसायो पर प्रायः एकाधिकार प्राप्त कर लेता है और प्रबन्ध को कुशल बनाने के लिए रचनात्मक प्रयत्न नही किये जाते है।

(4) विकासोन्मुख राष्ट्रो मे स्वय-स्फूर्त विकास की अवस्था मे सक्रिय एव झगडो मे प्रवृत्त (Militant) श्रम-सघो का प्रादुर्भाव होता है। यह श्रम-सघ लोक-सभा एव राज्य-सभा मे अपने प्रभाव को सुदृढ बनाने मे सफल होते है और राज्य श्रम एव प्रबन्ध के सम्बन्धो को अधिनियम द्वारा नियमित करता है। इस नियमन मे भी राजनीतिक हितो का प्रभुत्व रहता है। इस प्रकार के नियमन से प्रबन्ध-विकास को आघात पहुँचता है और प्रबन्ध-विकास एक जटिल समस्या बनकर रह जाता है।

प्रबन्ध-विकास मे उपर्युक्त समस्याओ का बडी सावधानी से निवारण करना चाहिए। प्रशासनिक अधिकारियो को प्रबन्ध सम्बन्धी उत्तरदायित्व सौपने के पूर्व उन्हे प्रबन्ध-कला का उचित प्रशिक्षण देना चाहिए। आर्थिक प्रगति की प्रारम्भिक अवस्था से ही विदेशी विशेषज्ञो के सहयोग के साथ-साथ प्रबन्ध-प्रशिक्षण की स्थापना की जानी चाहिए।

25

प्राविधिक विकास एवं आर्थिक प्रगति

[TECHNOLOGICAL PROGRESS AND ECONOMIC GROWTH]

आर्थिक विकास एव प्राविधिक प्रगति का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्राविधिक प्रगति को आर्थिक प्रगति का एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व समझा जा सकता है। वास्तव मे अल्प-विकसित एव विकसित राष्ट्रो मे मूल भेद उनकी उत्पादन-प्रविधियो का है। इन दोनो प्रकार के राष्ट्रो के अल्प आर्थिक एव सामाजिक भेद उनके प्राविधिक-स्तर के कारण ही उदय होते है। जो देश अपने विद्यमान एव सम्भावित साधनो का प्राविधिक अभिनवीकरण द्वारा उत्पादन एव आय बढाने हेतु उपयोग कर सका है, वही देश विकास की दौड मे आगे है। विकसित राष्ट्रों मे भी प्राविधिक प्रगति के आधार पर कठोर प्रतिस्पर्द्धा है और वे विकसित राष्ट्र ही अपनी प्रगति का निर्वाह करने मे समर्थ है जिनमे प्राविधिक प्रगति निरन्तर जारी है। प्राविधिक प्रगति विकास के अन्य सभी विकास-तत्वो को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है। प्राविधिक परिवर्तनो के परिणामस्वरूप किसी भी राष्ट्र की समस्त आर्थिक एव सामाजिक सरचना को बदला जा सकता है जो विकास को गतिशील करने के लिए आवश्यक होती है। प्राविधिक प्रगति पूँजी-सचय से भी अधिक आवश्यक तत्व मानी जाती है क्योकि पूँजी-सचय द्वारा विकास की एक सीमा निर्धारित हो जाती है और प्राविधिक परिवर्तनो के अभाव मे विकास एक स्थिर अवस्था मे पहुँच जाता है। पूँजी-सचय द्वारा वर्तमान प्राविधिक ज्ञान का उपयोग उपभोक्ताओ को उनकी आवश्यकता एव रुचि के अनुसार पर्याप्त मात्रा मे वस्तुएँ एव सेवाएँ प्रदान करने के लिए होता है। उपभोक्ताओ की वस्तुओ एव सेवाओ की माँग प्राविधिक परिवर्तनो पर निर्भर रहती है क्योंकि प्राविधिक परिवर्तन नयी-नयी वस्तुओ एव सेवाओ का ज्ञान उन्हे प्रदान करते है। प्राविधिक परिवर्तन निरन्तर जारी रहने पर पूँजी-सचय की प्रक्रिया गतिशील रहती है और विकास को प्रभावित करने वाले तत्वो का प्रादुर्भाव होता रहता है। आधुनिक युग के सभी विकसित राष्ट्रो का आर्थिक विकास का इतिहास इस तथ्य की पुष्टि करता है कि प्राविधिक परिवर्तनो द्वारा इन देशो ने एक ओर विद्यमान साधनो का अधिक उत्पादक उपयोग किया एव दूसरी ओर नवीन उत्पादन के साधनो का आविष्कार एव खोज करके उनका अवशोषण किया। इन दोनों तत्वो के सम्मिश्रण से इन देशो की प्रगति गतिशील होती रही है।

प्राविधिक प्रगति का आर्थिक विकास मे योगदान

(1) *विद्यमान साधनों का गहन उपयोग*—प्राविधिक परिवर्तनो के द्वारा विद्यमान उत्पादन के साधनों का अधिक गहन एव व्यापक उपयोग होता है। इन साधनो के उपयोग मे विविधता आती है जिसके परिणामस्वरूप देश के उत्पादन मे विविधता एव वृद्धि दोनो का प्रादुर्भाव होता है। उत्पादन-वृद्धि एव उत्पादन की विविधता से राष्ट्रीय उत्पादन की वृद्धि के साथ-साथ उत्पादन-क्षमता और देश की उत्पादक सम्पत्तियां मे भी वृद्धि होती है।

(2) **उत्पादन के सम्भावित साधनों का विदोहन एव नवीन साधनों का प्रादुर्भाव**—प्राविधिक प्रगति द्वारा देश के सम्भावित साधनो (Potential Resources) का विदोहन करके उत्पादन एव उत्पादक साधनों मे वृद्धि की जाती है। नवीन प्राविधिक ज्ञान उत्पादन के नये साधनो की खोज

करने एवं दुर्लभ साधनों के लिए वैकल्पिक साधन खोजने में सहायक होता है जिससे देश के उत्पादन एवं आय में वृद्धि होती है।

(3) **आयात-प्रतिस्थापन एवं पूँजीगत सम्पत्तियों में वृद्धि**—प्राविधिक प्रगति द्वारा विकास की प्रारम्भिक अवस्था में ऐसी उत्पादक एवं पूँजीगत वस्तुओं के निर्माण को प्राथमिकता दी जाती है जो अभी तक आयात की जाती हैं और इससे जो विदेशी विनिमय बचता है, उसे पूँजीगत वस्तुओं एवं प्राविधिक ज्ञान तथा प्राविधिज्ञों के आयात पर लगाया जाता है। इस प्रकार देश में प्राविधिक प्रगति की प्रक्रिया सतत् चलती रहती है और देश की पूँजीगत सम्पत्तियों में निरन्तर वृद्धि होती रहती है।

(4) **निर्यात-संवर्द्धन में योगदान**—अधिकतर अल्प-विकसित राष्ट्रों की निर्यात-सूची में कच्चे माल एवं कृषि-उत्पादों का अंश 60% से भी अधिक रहता है। इनके निर्यातों में विविधता का अभाव रहता है और इन्हें अपने निर्यात का उचित मूल्य प्राप्त नहीं होता है क्योंकि विकसित राष्ट्रों के निर्यातों पर इन देशों की निर्भरता अत्यधिक होती है। प्राविधिक प्रगति द्वारा देश के उत्पादन में विविधता आ जाने के कारण निर्यात में भी विविधता आती है और इसके निर्यातों में गैर-परम्परागत निर्यातों का अंश बढ़ जाता है। प्राविधिक प्रगति से तीव्र गति से उत्पादन-वृद्धि होती है जिससे निर्यात-बाजार हेतु अधिक अतिरेक (Surplus) उपलब्ध होता है। देश के उत्पादन में विविधता आने के कारण विकसित राष्ट्रों के निर्यातों पर अल्प-विकसित राष्ट्रों की निर्भरता भी कम हो जाती है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की शर्तें अल्प-विकसित राष्ट्रों के अधिक प्रतिकूल नहीं रहती हैं और इन्हें अपने निर्यातों का उचित मूल्य प्राप्त हो सकता है।

(5) **बचत, विनियोजन एवं पूंजी-निर्माण में वृद्धि**—प्राविधिक प्रगति उत्पादन, उत्पादकता एवं उत्पादन-क्षमता में वृद्धि करती है जिससे देश की राष्ट्रीय एवं प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि की प्रक्रिया गतिशील होती है। इसके द्वारा जनसाधारण में अधिक उपभोग करने एवं साहसियों में अधिक बचत एवं विनियोजन करने की प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव होता है। प्राविधिक प्रगति साहसियों को आकस्मिक लाभ प्रदान करती है जिससे उनको अधिक विनियोजन करने का प्रोत्साहन मिलता है। वस्तुओं एवं सेवाओं की मांग-वृद्धि आर्थिक गतिशीलता का कारण बनती है और उत्पादन-प्रक्रिया की गति को तीव्रता प्रदान करती है। इस प्रकार जैसे-जैसे प्राविधिक प्रगति एक अवस्था से दूसरी अवस्था की ओर अग्रसर होती है, पूंजी-निर्माण में वृद्धि होती जाती है और विकास की दर में वृद्धि होती है।

(6) **विदेशी सहायता की उपलब्धि**—विदेशी पूंजीपति एवं राष्ट्र अधिकतर इस शर्त पर ही पूंजी एवं ऋण प्रदान करते हैं कि उत्पादन की नवीन तान्त्रिकताओं का उपयोग किया जाय और उन देशों के विशेषज्ञों की देखरेख में उत्पादक सम्पत्तियों की स्थापना एवं संचालन किया जाय। ऐसी परिस्थिति में प्राविधिक परिवर्तन एवं विदेशी सहायता एक-दूसरे के कारण एवं प्रभाव होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ भी प्राविधिक परिवर्तनों हेतु आर्थिक सहायता प्रदान करने के लिए तत्पर रहती हैं। विदेशी पूंजीपतियों के सहयोग (Collaboration) से जो औद्योगिक संस्थान स्थापित होते हैं उनमें भी नवीन तान्त्रिकताओं का उपयोग अनिवार्य रूप से होता है।

(7) **अव-संरचना का विस्तार**—प्राविधिक प्रगति देश की अव-संरचना को सुदृढ़ बनाने में सहायक होती है। विकास को गतिशील करने में उपरिव्यय-सुविधाओं का बहुत बड़ा योगदान होता है। यातायात, संचार, शक्ति, सिंचाई, शिक्षा, प्रशिक्षण आदि ऐसी उपरिव्यय-सुविधाएँ हैं जिनके व्यापक विस्तार के बिना विकास का निर्वाह नहीं किया जा सकता है। प्राविधिक परिवर्तन इन उपरिव्यय-सुविधाओं के विस्तार एवं व्यापकता में वृद्धि करते हैं और विकास का सुदृढ़ आधार उत्पन्न करते हैं।

(8) **मानवीय साधनों की कुशलता में वृद्धि**—प्राविधिक प्रगति देश की श्रम-शक्ति की क्षमता तथा मानवीय पूंजी की वृद्धि का कारण बनती है। उत्पादन की नवीन प्रविधियों के

उपयोग हेतु श्रमिकों को प्रशिक्षण दिया जाता है जिससे उनकी उत्पादन-क्षमता में वृद्धि होती है। विदेशों से आयातित प्रविधियों के साथ विदेशी विशेषज्ञ भी बुलाये जाते हैं जिनके सम्पर्क एवं निर्देशन से श्रम-शक्ति के कौशल एवं ज्ञान में वृद्धि होती है। विकास एवं विनियोजन के समान तान्त्रिक ज्ञान एवं कुशलता पर गुणक-प्रभाव (Multiplier Effect) पड़ता है और जैसे-जैसे प्राविधिक परिवर्तन एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र को आच्छादित करते जाते हैं, श्रम-शक्ति की कुशलता एवं उत्पादकता बढ़ती जाती है। इसके साथ ही श्रम-शक्ति की मनोभावना में भी परिवर्तन होता है। उसमें गतिशीलता बढ़ती है और परिवर्तनों को स्वाभाविक रूप से स्वीकार करने की प्रवृत्ति उदय होती है। इस प्रकार प्राविधिक प्रगति मानवीय साधनों को उत्पादन का अधिक कुशल घटक बनाती है।

(9) **औद्योगीकरण की तीव्र गति**—संसार का आर्थिक इतिहास इस बात का द्योतक है कि कृषि की तुलना में उद्योग में आर्थिक प्रगति की दर कहीं अधिक होती है। कृषि-क्षेत्र की अधिकतम प्रगति-दर 6% के लगभग होती है जबकि औद्योगिक क्षेत्र में प्रगति-दर शत-प्रतिशत भी हो सकती है। यही कारण है कि विकास की प्रक्रिया में औद्योगीकरण को अधिक महत्व दिया जाता है। उद्योगों में प्राविधिक परिवर्तनों के निरन्तर उपयोग करने की क्षमता भी सर्वाधिक होती है।

उद्योगों एवं औद्योगिक समाज में परिवर्तन स्वभावतः स्वीकार किये जाते हैं। इसी कारण प्राविधिक प्रगति औद्योगीकरण की प्रक्रिया पर अत्यन्त अनुकूल प्रभाव डालती है और उन समस्त घटकों का प्रादुर्भाव एवं विकास करने में सहायक होती है जो औद्योगीकरण के आवश्यक अंग समझे जाते हैं।

(10) **सामाजिक व्यवस्था एवं आर्थिक संरचना में परिवर्तन**—प्राविधिक परिवर्तन समाज में प्रगतिशील विचारधाराओं को सुदृढ़ता प्रदान करते हैं। जीवन के प्रति हर परिस्थिति में सन्तुष्ट रहने की भावना के स्थान पर जीवन को अधिक आरामदायक बनाने की भावना उदित होती है। समाज में वातावरण के अनुकूल बनने की परम्परागत विचारधारा के स्थान पर वातावरण को अपनी सुख-सुविधा के अनुकूल बनाने की विचारधारा जागृत होती है। मानव को अपने चारों ओर के वातावरण का ज्ञान होता है और इस वातावरण का जीवन की सुख-सुविधा के लिए किस प्रकार विदोहन किया जा सकता है, इसकी प्रविधियों की जानकारी प्राप्त होती है। मनुष्य में अधिक आयोपार्जन करने की प्रविधियों को ग्रहण करने एवं खोजने की प्रवृत्ति जागृत होती है। जब विदेशों से नवीन प्रविधियों का आयात किया जाता है तो ये प्रविधियाँ अपने साथ विदेशों का वातावरण भी कुछ मात्रा में लाती हैं। प्रविधियों के साथ विदेशी विशेषज्ञ भी आते हैं। इन विदेशियों के साथ देश के नागरिकों का सम्पर्क होने से प्रदर्शन प्रभाव एवं सम्पर्क-प्रभाव उदय होता है और देश के नागरिकों में अपने जीवन-स्तर में सुधार करने की इच्छा जागृत होती है। इन सब परिवर्तनों के परिणामस्वरूप पुरानी सामाजिक मान्यताएँ एवं संस्थाएँ, जो विकास में अवरोध उत्पन्न करती हैं, शिथिल होने लगती हैं और नयी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना होती है।

नवीन प्राविधिक ज्ञान का उपयोग करने के लिए अधिक पूंजी, कुशल श्रम एवं सुदृढ़ अव-संरचना की आवश्यकता होती है। इन सब की व्यवस्था करने हेतु नयी आर्थिक संस्थाओं की स्थापना करने की आवश्यकता पड़ती है जिससे देश की आर्थिक संरचना में परिवर्तन होता है और वह विकास के लिए अधिक अनुकूल बनती जाती है।

प्राविधिक का चयन

अल्प-विकसित राष्ट्रों को तकनीकी क्षेत्र में सर्वाधिक सुविधा यह है कि उन्हें नवीन तकनीकों की नये सिरे से खोज करने की आवश्यकता नहीं है। उत्पादन के लगभग प्रत्येक क्षेत्र में विभिन्न विकसित राष्ट्रों द्वारा विभिन्न प्रकार की तकनीकों का विकास किया गया है। इन तकनीकों में से अल्प-विकसित राष्ट्रों को चयन करने का अवसर उपलब्ध है। अल्प-विकसित राष्ट्रों में उत्पादन के साधनों के सम्मिश्रण (Resource Mix), आर्थिक संरचना, श्रम-शक्ति की कुशलता, सामाजिक वातावरण एवं विपणि-व्यवस्था में इतनी अधिक विभिन्नता है कि समान तकनीकों का उपयोग

समस्त राष्ट्रों के लिए उपयुक्त नहीं हो सकता। इन राष्ट्रों की विकास की अवस्था में भी अन्तर है जिससे विकास-स्तर के अनुरूप ही तकनीकी स्तर को भी चयन करने की आवश्यकता होती है। अल्प-विकसित राष्ट्रों में प्राविधिक का चयन निम्नलिखित तत्त्वों के आधार पर किया जाता है :

(क) प्राविधिक स्तर के आधार पर—देश के वर्तमान प्राविधिक स्तर पर नवीन तकनीक का चयन किया जाना चाहिए। कोई भी देश कृषि प्रधान समाज को कुछ ही दशकों में पूर्ण-विकसित औद्योगिक समाज में परिवर्तित नहीं कर सकता है। प्रत्येक देश को प्राविधिक प्रगति की विभिन्न अवस्थाओं से होकर गुजरना पड़ता है, क्योंकि अल्प-विकसित राष्ट्रों में प्राविधिक परिवर्तनों को अवशोषित करने की क्षमता धीरे-धीरे बढ़ती है। अवशोषण करने की क्षमता प्रबन्ध-व्यवस्था, श्रम-शक्ति की कुशलता, तान्त्रिक प्रशिक्षण की सुविधा, पूँजी-निर्माण का स्तर, बाह्य मितव्ययिताओं की उपलब्धि आदि पर निर्भर रहती है। इसीलिए अल्प-विकसित राष्ट्रों को अपने विकास के प्रारम्भिक काल में ऐसी तकनीक का चयन करना होता है जिसमें बाह्य सुविधाओं, कुशल एवं अनुशासित श्रम-शक्ति, आयातित वस्तुओं, अधिक पूँजी, विदेशी विनिमय, विस्तृत बाजारों की आवश्यकता कम हो। विकास की प्रारम्भिक अवस्था में ऐसे व्यवसायों का विस्तार किया जाता है जिनमें विद्यमान साधनों का (जो इस क्षेत्र में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हों) अधिकतम उपयोग कर सकें तथा जिनके उत्पादों को स्थानीय बाजार उपलब्ध हो सकें। जैसे-जैसे श्रम की कुशलता में वृद्धि, उपरिव्यय-सुविधाओं में विस्तार, पूँजी निर्माण की दर में वृद्धि, विदेशी विनिमय एवं पूँजी की उपलब्धि में वृद्धि, बाजारों का विस्तार होता जाता है, अधिक जटिल तकनीकों का उपयोग होने लगता है। तकनीक का चयन करते समय यह ध्यान में रखना होता है कि प्राविधिक परिवर्तन इतनी अधिक गति से न हों कि समाज इनका स्वभावतः स्वीकार न कर सके, अन्यथा प्राविधिक परिवर्तनों को कठोर सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक विरोध का सामना करना पड़ता है जो कभी-कभी इन परिवर्तनों की गति को शिथिल कर देता है।

(ख) पूँजी की उपलब्धि के आधार पर—नवीन तकनीक का चयन करते समय विभिन्न तकनीकों के पूँजी-तत्त्व का अध्ययन करना आवश्यक होता है। अल्प-विकसित राष्ट्रों में श्रम का बाहुल्य है और पूँजी की कमी है। ऐसी परिस्थिति में श्रम का अधिकतम उत्पादक उपयोग करके विकास को गतिशील किया जाना सम्भव हो सकता है। परन्तु विकसित राष्ट्रों द्वारा अपनाई जाने वाली अधिकतर तकनीकें पूँजी प्रधान हैं जिनमें पूँजी की अधिक आवश्यकता होती है और श्रम-शक्ति की बचत की जाती है क्योंकि इन देशों में श्रम-शक्ति की कमी रहती है। अल्प-विकसित राष्ट्रों को तकनीक का चयन करते समय उन्हीं तकनीकों को प्रारम्भिक चरण में लेना उचित होता है जिनमें वर्तमान में कम पूँजी की आवश्यकता होती है और श्रम-शक्ति का अधिक उपयोग करके उत्पादन-वृद्धि करना सम्भव हो सकता हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए तकनीकों में आवश्यक हेर-फेर करके भी उपयोग किया जा सकता है।

आधुनिक युग में अधिकतर अल्प-विकसित राष्ट्र प्राविधिक परिवर्तनों के लिए विदेशी सहायता का उपयोग करते हैं। विदेशी सहायता एवं विदेशी पूँजी के माध्यम से जब नवीन तकनीक का चयन करने की आवश्यकता पड़ती है तो देश की परिस्थितियों के अनुरूप तकनीक का चयन करना सम्भव नहीं होता है। सहायता प्रदान करने वाला देश जो भी तकनीक प्रदान करता है उसे ही ऋणी देश को स्वीकार करना पड़ता है जिसके परिणामस्वरूप प्रायः ऋणी देशों में तकनीकी क्षेत्र एवं उत्पादन प्रक्रिया में असन्तुलन का उदय होता है। विदेशी सहायता एवं सहयोग के अन्तर्गत उपलब्ध होने वाली तकनीकों का चयन देश में विद्यमान परिस्थितियों के अनुसार करना चाहिए। जैसे-जैसे पूँजी के साधनों में वृद्धि होती जाय, जटिल तकनीक जिसके लिए पूँजी की अधिक आवश्यकता होती है, का उपयोग किया जा सकता है।

(ग) उपरिव्यय-सुविधाओं की उपलब्धि के आधार पर—नवीन प्राविधिक का चयन करते समय देश में उपलब्ध उपरिव्यय-सुविधाओं को ध्यान में रखना आवश्यक होता है। ऐसी तकनीकों

को प्राथमिकता दी जाती है जिनका उपयोग उपलब्ध उपरिव्यय-सुविधाओ के आधार पर किया जा सकता हो तथा जो उपरिव्यय-सुविधाओ के विस्तार मे सहायक हो। उपरिव्यय-सुविधाओं का व्यापक विस्तार जल्दी नहीं किया जा सकता है। इसीलिए विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे सरल तकनीक का उपयोग किया जाता है और जैसे-जैसे उपरिव्यय-सुविधाओ का विस्तार होता जाता है, जटिल तकनीक का उपयोग होने लगता है।

(घ) **प्राकृतिक साधनों की उपलब्धि एव शोषण के आधार पर**—प्राकृतिक साधनों की उपलब्धि एव उनके अवशोषण के आधार पर तकनीक का चयन किया जाना चाहिए। यदि कोई साधन किसी देश मे बाहुल्य मे विद्यमान हो तो उसका उत्पादक उपयोग करने हेतु विदेशी तकनीक का उपयोग किया जा सकता है जबकि स्वदेशी तकनीक एव प्रबन्ध कुशलता इसके उपयुक्त न हो। मध्य-पूर्व के देशो मे खनिज-तेल व्यवसाय का विकास इसी प्रकार किया गया है। मिस्र मे आस्वान बाँध बनाने के लिए भी विदेशी तकनीक का उपयोग किया गया जिससे उपलब्ध जल का सिंचाई, शक्ति एव यातायात के लिए उपयोग किया जा सका। प्राकृतिक साधनो की खोज के लिए उपयुक्त तकनीक का चयन करके देश को विकास-पथ पर अग्रसर किया जा सकता है। दूसरी ओर, अल्प-विकसित राष्ट्रो मे स्थानीय स्तर पर बहुत से ऐसे प्राकृतिक साधन उपलब्ध होते है जिनका उत्पादक उपयोग करने हेतु सरल तकनीको का लघु स्तर पर उपयोग किया जाता है। भारत मे मौसमी फलो एव सब्जियो का लघु स्तर पर शीत-गृहो (Cold Storages) को स्थापित करके सरक्षण किया जा सकता है। इस प्रकार सरल तकनीको के माध्यम से स्थानीय साधनो का अधिक गहन एव व्यापक उपयोग हो सकता है।

(च) **विपणि की व्यापकता के आधार पर**—प्राविधिक के चयन मे विपणि की व्यापकता का महत्वपूर्ण स्थान होता है। विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे ऐसी तकनीको का चयन किया जाता है जिनके द्वारा स्थानीय साधनो का उपयोग करके स्थानीय विपणि मे उत्पादो को बेचा जा सके। यातायात एव सचार के साधनो के विस्तार के साथ-साथ विपणि का विस्तार होता है और उत्पादो को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाना सम्भव होने लगता है। ऐसी परिस्थिति मे वृहदाकार उत्पादक तकनीको का उपयोग होने लगता है। इसके साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय बाजारो के लिए वस्तुओ का उत्पादन करने हेतु अधिक जटिल तकनीक का उपयोग भी प्रारम्भ किया जाता है। जैसे-जैसे विपणि का विस्तार होता जाता है, तकनीकी जटिलताओ का व्यापक उपयोग होने लगता है।

(छ) **तुरन्त उत्पादन के आधार पर**—व्यापक निर्धनता से पीडित राष्ट्रो मे उत्पादन मे शीघ्रातिशीघ्र वृद्धि करने की आवश्यकता होती है जिसके लिए ऐसी तकनीक का उपयोग किया जाता है जिसका निर्माण-काल कम होता है और जिसमे पूँजी तथा कार्यशील पूँजी का अनुपात भी कम होता है। सरल तकनीक मे उपर्युक्त दोनो गुण विद्यमान रहते हैं परन्तु इनकी उत्पादन-क्षमता कम होती है और इनके द्वारा देश के पूँजी-स्कन्ध मे तीव्र गति से वृद्धि करना सम्भव नहीं हो सकता है। जैसे-जैसे कोई देश अपनी तुरन्त की समस्याओ का निवारण कर लेता है, वह जटिल तान्त्रिकताओं का उपयोग करके पूँजीगत एव उत्पादक साधनों का निर्माण करने लगता है जिससे विकास को सुदृढ आधार प्रदान किया जा सके।

(ज) **रोजगार-वृद्धि के आधार पर**—अल्प-विकसित राष्ट्रो की एक गम्भीर समस्या बेरोजगारी होती है। बेरोजगार श्रम मे पूर्णत बेरोजगार, अशत बेरोजगार मौसमी बेरोजगार तथा अदृश्य बेरोजगार सम्मिलित रहते है। बेरोजगार के अवसरो मे वृद्धि करने के लिए सरल तकनीको का उपयोग करना अधिक उपयुक्त समझा जाता है क्योकि इनमे श्रम का अधिक उपयोग होता है परन्तु इनके द्वारा प्रति श्रम इकाई उत्पादन मे तीव्र गति से वृद्धि करना सम्भव नहीं होता है। इसीलिए जैसे-जैसे श्रम शक्ति की कुशलता मे वृद्धि एव पूँजीगत प्रसाधन की उपलब्धि बढती जाती है, जटिल तकनीको का उपयोग होने लगता है।

(झ) **आय वितरण के आधार पर**—अल्प-विकसित राष्ट्रो मे आय एव सम्पत्ति का वितरण अत्यन्त विषम होता है। जटिल तकनीकें आय एव धन के केन्द्रीकरण मे योगदान देती है क्योकि

इनके सचालन के लिए वृहदाकार सस्थानो की स्थापना करने की आवश्यकता होती है और आयोजन करने वाले स्रोतो का छितराव (Dispersal) सम्भव नही होता है। ऐसी परिस्थिति मे स्थानीय स्तर पर सरल तकनीक का उपयोग करके विकास के लाभ का व्यापक वितरण करने की आवश्यकता होती है। परन्तु सरल तकनीक द्वारा देश के आर्थिक आधार को सुदृढता प्रदान नही की जा सकती है। इसीलिए राज्य द्वारा जटिल तकनीको का उपयोग सार्वजनिक क्षेत्र मे किया जाता है और राजकोषीय एव मौद्रिक नियन्त्रण के माध्यम से विकास के लाभो का वितरण निधन जनसख्या के पक्ष मे किया जाता है।

सिद्धान्त रूप मे उपयुक्त बातो के आधार पर तकनीक का चयन किया जाना चाहिए परन्तु व्यवहार मे नवीनतम तकनीक के उपयोग मे बहुत सी कठिनाइयाँ आती है। अधिकतर नवीनतम तकनीको का विकास विकसित राष्ट्रो मे हुआ है और इन्ही राष्ट्रो से इनके प्रसाधन उपलब्ध हो सकते हैं। इसी कारण प्राविधिक प्रगति एव विदेशी सहायता की उपलब्धि मे घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। विकासोन्मुख राष्ट्रो को तकनीको के चयन की पूर्ण स्वतन्त्रता नही होती है और उन्हे शर्तयुक्त विदेशी सहायता के अधीन कम उपयुक्त तकनीक को भी स्वीकार करना पडता है। इसके साथ ही आयातित तकनीक के सन्दर्भ मे बहुत सी अन्य कठिनाइयाँ भी उदय होती है।

प्राविधिक का आयात

विदेशो से तकनीक का आयात किये बिना कोई भी राष्ट्र विकास को गतिशील नही कर सकता है क्योकि तकनीक के ज्ञान के साथ उस तकनीक से सम्बन्धित प्रसाधनो—मयन्त्र, कच्चे माल, सचालन-विधि, प्रतिस्थापन हेतु औजार एव पुर्जे विशेषज्ञ आदि की आवश्यकता पडती है। ऐसी परिस्थितियो मे उसी विकसित देश से तकनीक का आयात करना होता है जो उपर्युक्त समस्त प्रसाधन प्रदान करने को तैयार हो और ये प्रसाधन भी विदेशी सहायता अथवा सहयोग के रूप मे प्रदान किये जायें। इस प्रकार आयात करने वाले देश की तकनीक का चयन करने की स्वतन्त्रता विदेशी सहायता की वर्तमान मे उपलब्धि एव भविष्य मे इस सहायता के जारी रहने से सीमांकित हो जाती है।

दूसरी ओर विकसित राष्ट्र अल्प विकसित राष्ट्रो को वही तकनीक प्रदान करते है जो विकसित देशो म अनुपयुक्त एव अकुशल समझी जाने लगती ह जिसके परिणामस्वरूप विकसित एव विकासोन्मुख राष्ट्रो मे निरन्तर तकनीकी का अन्तर बना रहता है। परन्तु विकसित राष्ट्र इस सम्बन्ध म यह दलील प्रस्तुत करते है कि नवीनतम तकनीक अल्प विकसित राष्ट्रो के तकनीकी स्तर, उपरिव्यय सुविधाओ की उपलब्धि तथा श्रम शक्ति की कुशलता के स्तर को देखते हुए इन देशो मे कुशलता के साथ सचालित नही की जा सकती है और विकासोन्मुख राष्ट्रो को प्राविधिक प्रगति के इस मध्य काल मे मध्यम श्रेणी की ही तकनीक का उपयोग करना चाहिए। यह दलील तथ्यपूर्ण प्रतीत होती है परन्तु प्राविधिक प्रगति की प्रक्रिया की गति को तेज करने हेतु नवीनतम तकनीक के अनुकूल वातावरण तो तभी स्थापित किया जा सकता है जबकि विकसित राष्ट्र तकनीकी सहायता को निरन्तर बनाये रखें और एक के बाद दूसरी नवीन स्तर की तकनीकें प्रदान करते रहे। प्राय यह सुविधा राजनीतिक एव अन्य कारणो से धीरे धीरे बन्द कर दी जाती है अथवा इसकी शर्तें कठोर कर दी जाती है।

विकसित राष्ट्र प्राय अपनी तकनीक किसी देश को इस प्रकार देते है कि उससे सम्बन्धित समस्त अन्य प्रसाधन—प्रतिस्थापन के लिए पुर्जे सचालन हेतु विशेषज्ञ, कच्चे माल आदि—के लिए आयात करने वाले देश को दीर्घकाल तक उस विकसित देश पर निर्भर रहना पडता है। इसके साथ ही तकनीक के सम्बन्ध म विकसित राष्ट्र यह भी शर्त रखते है कि उस तकनीक से उत्पादित वस्तुओ का निर्यात नही किया जा सकता है। ये दोनो परिस्थितियाँ विकासोन्मुख राष्ट्र के व्यापार शेष पर निरन्तर प्रतिकूल प्रभाव डालती रहती है क्योकि एक ओर आयातित तकनीक के प्रसाधन प्राप्त करने के लिए निरन्तर आयात जारी रहता है और दूसरी ओर इनसे उत्पादित वस्तुओ का निर्यात करके विदेशी विनिमय अर्जित नही किया जा सकता है।

तकनीक के आयात के सम्बन्ध में एक और कठिनाई भी सामने आती है। जो विकसित राष्ट्र विदेशी सहायता प्रदान करता है, वह यह शर्त लगा देता है कि तकनीकी प्रसाधन खुले बाजार मे क्रय न करके उसी देश से क्रय करने होंगे और वह देश तकनीकी प्रसाधन को बाजार-मूल्यों की तुलना में कहीं अधिक मूल्य पर प्रदान करता है जिससे विकासोन्मुख राष्ट्रों को तकनीक का आयात बहुत महँगा पड़ता है जो उनकी व्यापार की शर्तों पर प्रतिकूल प्रभाव डालता रहता है।

आयातित तकनीक को तब तक पूर्णरूपेण न अपनाया जाय जब तक उनकी सफलता सन्देहजनक रहती है। किसी तकनीक के केवल भौतिक प्रसाधन आयात करने से ही उसका सफल संचालन सम्भव नहीं हो सकता है। भौतिक प्रसाधनों के साथ जब तक उस तकनीक के समस्त वातावरण को, जिसमें उत्पादन की संगठनात्मक विधि, संस्थागत व्यवस्था, वित्तीय व्यवस्था, सामाजिक विचारधाराएँ, परिवर्तन स्वीकार करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति आदि सम्मिलित है, नहीं अपनाया जाता है तब तक आयातित तकनीक का कुशल संचालन नहीं किया जा सकता है। प्रायः आयातित तकनीक विकासोन्मुख राष्ट्रों में उतनी सफल नहीं होती है जितनी सफलता उन्हें विकसित राष्ट्रों में मिलती है। इस सफलता का मुख्य कारण उस वातावरण की कमी है जो इनकी सफलता के लिए आवश्यक होता है और जो आयातकर्ता देश में पूर्णरूपेण विद्यमान नहीं होता है। जहाँ नवीन तकनीक द्वारा समाज को सुख एवं सुविधा की व्यवस्था की जा सकती है, वहाँ कुछ कठिनाइयाँ एवं अनुशासन भी समाज को वहन करना पड़ता है। दूसरी ओर, नवीन तकनीक के अन्तर्गत स्थापित संस्थानों में कार्य करने के लिए श्रमिकों को गहन प्रशिक्षण लेना पड़ता है और इन प्रशिक्षित श्रमिकों की आय एवं जीवन-स्तर में तेजी से सुधार होता है। समाज में इस प्रकार नवीन तकनीक का प्रशिक्षण प्राप्त करने की प्रवृत्ति जाग्रत होती है जिसके परिणामस्वरूप शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थाओं की स्थापना एवं विकास की आवश्यकता होती है। नवीन तकनीक के अन्तर्गत कार्य करने वाले श्रमिकों की आय एवं जीवन-स्तर में सुधार होने से उपभोक्ता-वस्तुओं की माँग पर प्रभाव पड़ता है और व्यावसायिक संरचना में भी परिवर्तन होने लगते हैं। समाज में जब इन समस्त परिवर्तनों को स्वभावतः स्वीकार कर लिया जाता है तो प्राविधिक परिवर्तनों में बाधाएँ उपस्थित नहीं होती है।

आयातित तकनीक को अल्प-विकसित राष्ट्रों में उसी रूप में उपयोग करना कठिन होता है जिस रूप में इनका उपयोग विकसित राष्ट्रों में होता है। अल्प-विकसित राष्ट्रों की तकनीक प्रायः पूँजी-प्रधान है जिनमें श्रम को बचाकर उनका कार्य मशीन द्वारा किया जाता है। इन तकनीकों का उपयोग संगठित आर्थिक संरचना के अन्तर्गत किया जाता है। दूसरी ओर, अल्प-विकसित राष्ट्रों में श्रम का बाहुल्य होता है और अर्थ-व्यवस्था का बहुत बड़ा भाग असंगठित होता है। ऐसी परिस्थिति में आयातित तकनीक को अनुसन्धान द्वारा परिस्थितियों के अनुकूल संशोधित कर विकासोन्मुख राष्ट्रों में उपयोग करना अधिक हितकर हो सकता है। तकनीक के आयात के साथ-साथ अनुसन्धान की व्यापक एवं सुदृढ़ व्यवस्था करना आवश्यक होता है।

नवीन तकनीक के आयात करने का कार्यक्रम योजनाबद्ध होना चाहिए जिससे तकनीकी परिवर्तनों द्वारा स्थानीय साधनों का उपयोग करके अधिकतम उत्पादन प्राप्त किया जा सके और अर्थ-व्यवस्था में असन्तुलन उदय न हो सके। तकनीक का आयात करने से पूर्व आयातकर्ता देश को उस तकनीक का अवशोषण करने की अपनी क्षमता का गहन अध्ययन कर लेना चाहिए।

मध्य-स्तरीय प्राविधिक

अल्प-विकसित राष्ट्रों में विकास के प्रारम्भिक काल में आधुनिकतम, सूक्ष्म एवं जटिल प्राविधिक उपयुक्त नहीं समझी जाती है, क्योंकि इन प्राविधिकियों के अनुकूल आर्थिक एवं सामाजिक वातावरण विद्यमान नहीं रहता है। परम्परावादी अर्थ-व्यवस्थाओं को विकास-प्रक्रिया पर अग्रसर करने के लिए इन अर्थ-व्यवस्थाओं में उत्पादन घटकों की उपलब्धि के आधार पर तकनीक का चयन किया जाना चाहिए। इन राष्ट्रों में श्रम-शक्ति का बाहुल्य और पूँजी की कमी होती है जिससे

श्रम सघन प्राविधिक ही अधिक उपयुक्त समझी जाती है। परम्परागत उत्पादन तकनीको का प्रतिस्थापन विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे मध्य स्तरीय तकनीको द्वारा किया जा सकता है। परन्तु मध्य स्तरीय तकनीक वतमान विकसित राष्ट्रो से उपलब्ध नही हो सकती है क्योकि विकसित राष्ट्रो के घटक मिश्रण के अनुरूप पूंजी सघन तकनीको का ही उपयोग किया जाता है। ऐसी परिस्थिति मे अल्प विकसित राष्ट्रो मे अनुसन्धान के माध्यम से उपयुक्त मध्य स्तरीय तकनीक का विकास करना चाहिए जो निम्नलिखित उद्देश्यो की पूर्ति करने म सक्षम है

(1) प्रारम्भिक अवस्था मे पूंजी विनियोजन की अधिक आवश्यकता न हो।

(2) श्रम शक्ति का पूंजी की तुलना मे वर्तमान एव भविष्य मे अधिक उपयोग किया जा सकता है।

(3) इन तकनीको को सीखने एव सिखाने के लिए समय कम लगता हो और सामान्य लोग भी इन्हे आसानी से सीख सके।

(4) प्रति श्रमिक उत्पादन इतना अवश्य उपलब्ध हो कि श्रमिक को आवश्यकता आधारित मजदूरी प्रदान करने के पश्चात समाज का भी उत्पादन का लाभ प्राप्त हो सके।

(5) विनियोजित पूजी का गहन उपयोग करके प्रति पूजी इकाई पर्याप्त उत्पादन प्राप्त किया जा सके।

(6) इनके आधार पर स्थापित की जाने वाली परियोजनाओ को पूरा करने मे अधिक समय न लगे और उत्पादन शीघ्र प्रारम्भ किया जा सके।

(7) इनमे जटिल तकनीकी सुधारो का समावेश आसानी से किया जा सके।

(8) इनकी सहायता से उत्पादन की क्रियाओ का छितराव विभिन्न क्षेत्रो मे किया जा सके।

मध्य स्तरीय तकनीक का उपयोग प्राय उपभोक्ता उद्योगो के क्षेत्र मे व्यापक रूप से किया जा सकता है परन्तु अर्थ व्यवस्था को सुदृढ आधार प्रदान करने हेतु आधारभूत उद्योगो की स्थापना एव विस्तार के लिए पूंजी सघन तकनीक का उपयोग आवश्यक होता है। आधारभूत उद्योग मध्य स्तरीय तकनीक के विकास एव विस्तार मे सहायक होते है क्योकि आधारभूत उद्योगो द्वारा सयन्त्र, कच्चे माल विद्युत, खनिज आदि सभी आवश्यक आदाय उपलब्ध कराये जाते है। इस प्रकार अल्प-विकसित राष्ट्रो के सन्तुलित एव समन्वित विकास हेतु मध्य स्तरीय एव उच्च स्तरीय तकनीको का समन्वित उपयोग करना होता है।

प्राविधिक प्रगति एव पूंजी-निर्माण

आर्थिक विकास की प्रक्रिया मे प्राविधिक प्रगति एव पूंजी निर्माण का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। स्मिथ माल्थस एव मिल द्वारा अपने आर्थिक प्रगति के सिद्धान्तो मे यह बात स्पष्ट की गयी है कि प्राविधिक प्रगति उसी समय सम्भव होती है जब उसके लिए पर्याप्त पूंजी उपलब्ध होती रहती है। दूसरे शब्दो मे प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो का यह मत रहा है कि प्राविधिक प्रगति पूंजी निर्माण पर आश्रित होती है। इन अर्थशास्त्रियो ने प्रगति की चक्रीय स्थिति को स्पष्ट करते हुए बताया है कि प्राविधिक प्रगति पूंजी विनियोजन पर निभर होती है और पूंजी विनियोजन साहसियो के लाभ पर निर्भर होता है और साहसियो का लाभ तकनीकी स्तर पर निभर रहता है। इस प्रकार पूंजी निर्माण एव प्राविधिक प्रगति एक दूसरे के कारण एव प्रभाव होते है। शुम्पीटर ने प्राविधिक प्रगति एव पूंजी निमाण म सम्बन्ध साहसियो के माध्यम से स्थापित किया है। शुम्पीटर के विकास माडल मे साहसी को विकास का केन्द्रबिन्दु माना गया जो पूंजी निर्माण एव प्राविधिक प्रगति दोनो का व्यापारिक उपयोग करता है।

आधुनिक अथशास्त्रियो ने भी पूंजी सचय एव प्राविधिक प्रगति को विकास प्रक्रिया का सर्वाधिक महत्वपूण अग माना है। हैरोड एव डोमर ने पूंजी निर्माण की मार्गीय क्रिया को मान्यता दी है अर्थात पूंजी निर्माण एक ओर प्राविधिक प्रगति के द्वि माध्यम से अथ व्यवस्था की उत्पादन क्षमता म वृद्धि करता है और दूसरी ओर पूंजी निर्माण से प्रभावशाली मांग म वृद्धि होती है। हैरोड

के अनुसार जनसंख्या-वृद्धि एवं तकनीकी प्रगति आर्थिक प्रगति के प्रमुख कारक होते हैं। पूँजी-निर्माण का स्तर अर्थ-व्यवस्था में ब्याज की दर का निर्धारण करता है।

जब ब्याज की दर कम होती है तो तकनीकी प्रगति के माध्यम से उत्पादन में वृद्धि की जाती है। दूसरी ओर, जनसंख्या-वृद्धि के परिणामस्वरूप जब श्रम-शक्ति बढ़ती है तो भी तकनीकी प्रगति के माध्यम से उत्पादन-वृद्धि होती है अर्थात् जनसंख्या-वृद्धि, पूँजी-निर्माण एवं तकनीकी प्रगति पर आर्थिक प्रगति निर्भर रहती है परन्तु तकनीकी प्रगति के शिथिल होने पर पूँजी-निर्माण एवं जनसंख्या-वृद्धि प्रगति को गतिशील करने में अधिक समर्थ नहीं हो सकती है।

वास्तव में पूँजी संचय प्राविधिक प्रगति का कारण अधिक एवं प्रभाव कम होता है क्योंकि प्राविधिक प्रगति का पूर्णरूपेण अवशोषण करने हेतु केवल पूँजी-संचय ही पर्याप्त नहीं होता है अपितु अन्य आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों की उपस्थिति भी आवश्यक होती है। पूँजी-संचय वर्तमान तकनीकी स्तर का पूर्णतम उपयोग करने में सहायक होता है और जब तक प्राविधिक प्रगति आगे के चरणों पर बढ़ती रहती है तब तक पूँजी-निर्माण की प्रक्रिया भी गतिशील रहती है तथा विकास की गति बनी रहती है। प्राविधिक प्रगति के फलस्वरूप उपभोक्ताओं को नयी वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त होता रहता है और वह उनकी माँग प्रस्तुत करते हैं जिससे अधिक बचत, विनियोजन एवं पूँजी-निर्माण की प्रक्रिया गतिशील रहती है।

जब प्राविधिक विधि में परिवर्तन होने बन्द हो जायेंगे तो सम्पूर्ण श्रम-शक्ति को ज्ञात तकनीक के अनुसार पूँजीगत प्रसाधन उपलब्ध हो जायेंगे और पूँजी-श्रम-अनुपात वर्तमान तकनीकी स्तर में सर्वोत्तम एवं स्थिर हो जायेगा। यह परिस्थिति विकास को स्थिर अवस्था में पहुँचा देगी और नये विनियोजन के लिए प्रोत्साहन नहीं रहेगा। जब फिर प्राविधिक प्रगति होने लगेगी तो नवीन तकनीक का उपयोग करने हेतु नवीन विनियोजन किया जायेगा जिससे प्रति श्रमिक उत्पादकता बढ़ जायेगी और विनियोजन अधिक लाभप्रद हो जायेगा। प्राविधिक प्रगति के निरन्तर जारी रहने पर विनियोजन की लाभप्रदता जारी रहेगी और अधिक विनियोजन करने हेतु प्रोत्साहन बना रहेगा।

विकसित देशों में पूँजी-संचय की दर जनसंख्या वृद्धि की दर से कहीं अधिक रहती है जिसके परिणामस्वरूप प्रति व्यक्ति पूँजी-स्कन्ध बढ़ता जाता है और प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि होती रहती है। ऐसी परिस्थिति में तकनीकी प्रगति न होने पर पूँजी पर क्रमागत ह्रास प्रतिफल (Diminishing Returns) नियम लागू होने लगता है और पूँजी संचय की दर पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने लगता है। क्रमागत ह्रास प्रतिफल के नियम को लागू होने से रोकने के लिए प्राविधिक प्रगति तीव्र गति से निरन्तर जारी रहनी चाहिए परन्तु प्राविधिक परिवर्तन न तो अधिक श्रम की बचत करने वाले और न ही अधिक पूँजी की बचत करने वाले होने चाहिए। यदि प्राविधिक परिवर्तनों के फलस्वरूप श्रम की अधिक बचत होने लगेगी तो पूँजी की सीमान्त उत्पादकता में अत्यधिक वृद्धि होगी और समस्त श्रम-शक्ति को रोजगार देने के लिए पर्याप्त पूँजी स्कन्ध उपलब्ध न हो सकेगा जिससे बेरोजगार की समस्या उदय होगी जो विकास के अनुरूप नहीं समझी जाती है। दूसरी ओर, पूँजी की बचत करने वाली तकनीक का विस्तार होने पर श्रम एवं प्राकृतिक साधनों की माँग में पूँजी की माँग की तुलना में अधिक वृद्धि होगी और समस्त पूँजी स्कन्ध का उपयोग पर्याप्त श्रम एवं प्राकृतिक साधन उपलब्ध न होने के कारण नहीं हो पायेगा जिससे पूँजी पर मिलने वाले प्रतिफल में गिरावट आ जायेगी जिसके परिणामस्वरूप पूँजी-संचय की दर में कमी होगी। ऐसी परिस्थिति में प्राविधिक परिवर्तन श्रम-शक्ति की वृद्धि, प्राकृतिक साधनों की उपलब्धि तथा अर्थ-व्यवस्था में बचत करने की प्रवृत्ति के आधार पर होने चाहिए। प्राविधिक प्रगति का उपयोग करने हेतु बचत करने की उच्च-स्तरीय क्षमता अर्थ-व्यवस्था में विद्यमान होनी चाहिए। बचत करने की क्षमता विनियोजन के अवसरों एवं उसकी लाभार्जन-क्षमता से प्रभावित होती है। विनियोजन के अवसर एवं उसकी लाभार्जन-क्षमता तकनीकी परिवर्तनों पर निर्भर रहती है। बचत-आय-अनुपात में निरन्तर परिवर्तन होते

रहना स्वाभाविक है। सरकार द्वारा आय की विषमता को कम करने के लिए जो कार्यवाहियाँ की जाती हैं, उनसे भी बचत-आय-अनुपात गिर जाता है। बचत-आय-अनुपात गिरने से तकनीकी परिवर्तनों का अधिकतम लाभ उठाना सम्भव नहीं हो सकता है और तकनीकी परिवर्तनों के होते हुए भी पूँजी-सचय की दर घट सकती है।

प्राविधिक परिवर्तन एवं जनसंख्या

जनसंख्या विकास प्रक्रिया को प्रभावित करने का एक महत्वपूर्ण घटक होती है। जनसंख्या-तत्व एक ओर प्रभावशाली माँग को प्रभावित करता है और दूसरी ओर बचत, विनियोजन एवं पूँजी-निर्माण पर प्रभाव डालता है। जनसंख्या-वृद्धि माँग को बढ़ाती और उपभोग-संरचना में परिवर्तन लाती है जिससे विपणियों का विस्तार होता है। यदि जनसंख्या वृद्धि के साथ-साथ प्राविधिक प्रगति भी जारी रहती है तो अधिक श्रम का कुशल उपयोग करके उत्पादन-वृद्धि करना सम्भव होता है। जनसंख्या वृद्धि के साथ ऐसी उपभोक्ता-सम्पत्तियों एवं सेवाओं (जैसे—निवास-गृह, जल, विद्युत सफाई आदि) की माँग में भी वृद्धि होती है जिनकी पूर्ति के लिए अधिक विनियोजन की आवश्यकता होती है जिससे अर्थ-व्यवस्था में विनियोजन-वृद्धि-प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। विकासोन्मुख राष्ट्रों में जहाँ जनसंख्या का प्रमुख व्यवसाय कृषि होता है, जनसंख्या-वृद्धि के फलस्वरूप उदय होने वाली श्रम शक्ति का उपयोग कृषि-क्षेत्र में विद्यमान भूमि एवं पूँजी-स्कन्ध का गहन उपयोग करने के लिए होने लगता है जिससे उत्पादन में कुछ सीमा तक वृद्धि होती है परन्तु प्रति व्यक्ति औसत उत्पादन पहले से कम हो जाता है। प्रति व्यक्ति औसत उत्पादन की गिरावट की प्रवृत्ति बचत की प्रक्रिया एवं प्राविधिक प्रगति की दर पर निर्भर रहती है। अधिक जनसंख्या का विद्यमान भूमि से भरण-पोषण करने के लिए अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है जिससे ब्याज की दरों में वृद्धि हो जाती है। यदि बचत की अनुक्रिया ब्याज-दर के परिवर्तनों के अनुरूप होती है तो ब्याज-दर बढ़ने पर बचत में भी वृद्धि होती है जिससे पूँजी सचय की दर बढ़ती है और प्राविधिक प्रगति को प्रोत्साहन मिलता है। परन्तु जब प्रति व्यक्ति आय बहुत कम तथा तकनीकी स्तर बहुत नीचा होता है तो जनसंख्या-वृद्धि से प्रति व्यक्ति आय और कम हो जाती है। जनसंख्या-वृद्धि के साथ-साथ जब तकनीकी प्रगति की तीव्र गति, बचत की अधिक दर, योग्य साहसियों का प्रादुर्भाव आदि भी विद्यमान होते हैं तो विकास की गति तीव्र रहती है और प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार जनसंख्या-वृद्धि का प्राविधिक प्रगति पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है। जनसंख्या-वृद्धि प्राविधिक प्रगति को अनिवार्यता प्रदान करती है।

दूसरी ओर, जनसंख्या-वृद्धि की दर में कमी आने पर प्राविधिक प्रगति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है क्योंकि साहसियों को माँग की कमी का भय बना रहता है और उन्हें अधिक विनियोजन करने के लिए प्रोत्साहन नहीं मिलता है। जनसंख्या-वृद्धि की दर कम होने पर प्रति श्रमिक पूँजी-स्कन्ध की उपलब्धि बढ़ जाती है और पूँजी-स्कन्ध के कुछ भाग का पूर्णतम उपयोग नहीं हो पाता है। ऐसी परिस्थिति में पूँजी-सचय की प्रक्रिया शिथिल होने लगती है। इन तथ्यों से यह स्पष्ट है कि जनसंख्या-वृद्धि एवं प्राविधिक प्रगति का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।

26

पूंजी-निर्माण एवं आर्थिक प्रगति
(विनियोजन निकष एवं पूंजी-उत्पाद-अनुपात सहित)
[CAPITAL FORMATION AND ECONOMIC GROWTH]
(WITH INVESTMENT CRITERIA AND CAPITAL OUTPUT RATIO)

आर्थिक प्रगति मे पूंजी-तत्व का सर्वाधिक महत्व होता है। आर्थिक प्रगति को परिभाषित करते समय हमने देखा था कि आर्थिक प्रगति ऐसी प्रक्रिया है जिसके गतिशील होने के परिणाम-स्वरूप राष्ट्रीय एव प्रति व्यक्ति आय मे वृद्धि होती है। राष्ट्रीय आय मे वृद्धि करने के लिए अधिक विनियोजन करने तथा विनियोजन के अतिरिक्त साधन प्राप्त करने के लिए बचत मे वृद्धि एव बचत को गतिशील करने की आवश्यकता होती है जिससे बचत करने वाले के हाथो से विनियोजको के हाथो तक बचत पहुँच सके। दूसरी ओर, प्रति व्यक्ति आय मे वृद्धि करने के लिए विनियोजन का प्रकार ऐसा रखने की आवश्यकता होती है कि वर्तमान उत्पादन एव उत्पादन क्षमता मे जन-सख्या-वृद्धि की दर से अधिक तीव्र गति से वृद्धि की जा सके। इस प्रकार आर्थिक प्रगति के लिए *पूंजी के विनियोजन एव पूंजी-उत्पाद-अनुपात दोनो पर ध्यान रखना आवश्यक होता है।*

पूंजी-निर्माण से आशय उस समस्त प्रक्रिया से है जो बचत करने से लेकर उत्पादक विनि-योजन होने तक घटित होती है। इस प्रक्रिया मे तीन परस्पर निर्भर रहने वाली क्रियाएँ सम्मिलित होती है

(अ) बचत के परिमाण में वृद्धि जिससे जो साधन उपभोग पर व्यय होते है, उनका अधिक भाग उत्पादक वस्तुओ के उत्पादन के लिए उपलब्ध हो सके।

(आ) देश मे कुशल वित्तीय एव साख-व्यवस्था जिससे समाज की बचत वास्तविक विनि योजको तक पहुँचती रहे।

(इ) विनियोजन की क्रिया जिससे साधनो का उपयोग पूंजीगत वस्तुओं के उत्पादन के लिए किया जा सके।

पूंजी-निर्माण का अर्थ

"पूंजी-निर्माण का आशय यह है कि समाज अपनी वर्तमान समस्त उत्पादक क्रियाओ का उपयोग *तुरन्त उपभोग की आवश्यकताओ एव इच्छाओ की पूर्ति के लिए नही करता बल्कि* वह इसका कुछ भाग पूंजीगत वस्तुओ, औजारो, यन्त्रो, यातायात की सुविधाओ, प्लाण्ट एव प्रसाधन के निर्माण के लिए निर्देशित करता है। ये वास्तविक पूंजी के विभिन्न स्वरूप हैं जो उत्पादक प्रयासो की अत्यधिक कुशलता बढाते है। इस प्रकार पूंजी-निर्माण इस प्रविधि का प्रमुख तत्व है। समाज मे उपलब्ध साधनो के कुछ भाग को पूंजीगत वस्तुओ के स्कन्ध मे वृद्धि करने हेतु स्थानान्तरित किया जाता है जिससे भविष्य मे उपभोग्य उत्पादन मे वृद्धि करना सम्भव हो सके।"[1] इस परिभाषा मे

1 "The meaning of capital formation is that society does not apply the whole of its current productive *activity to the needs and desires of* immediate consumption but directs a part of it to the making of capital goods, tools and instruments, machines and transport facilities, plant and equipment—all the

पूँजी-निर्माण की तीनो क्रियाओ पर प्रकाश डाला गया है अर्थात् उपभोग के लिए उपलब्ध वर्तमान साधनों के कुछ भाग को उपभोग पर क्रय न करके बचाया जाय और फिर इन साधनो को ऐसे उत्पादक साधनों की वृद्धि के लिए विनियोजित किया जाय कि भविष्य मे उपभोग के लिए अधिक वस्तुएँ एव सेवाएँ उपलब्ध हो सकें। सक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि पूँजी-निर्माण की प्रक्रिया मे अर्थ साधनों को प्राप्त करके उनका उचित उत्पादक विनियोजन करने की आवश्यकता होती है। विनियोजन का परिणाम पूँजी-निर्माण होता है, किन्तु प्रत्येक विनियोजन पूँजी का निर्माण नही करता और न प्रत्येक विनियोजन पूँजी-निर्माण कहा जा सकता है। केवल वे विनियोजन जिनकी विधि पूर्ण होने पर ऐसे पूँजीगत साधनों की वृद्धि हो जिनके द्वारा भविष्य मे भौतिक साधनो की प्राप्ति हो सके, यद्यपि इनसे वर्तमान में प्रत्यक्ष रूप से उपभोग की किन्ही इच्छाओं की पूर्ति में सहायता नही होती है, पूँजी निर्माण की श्रेणी में परिगणित किये जाते हैं। नियोजित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत अधिकतर विनियोजन पूँजी-निर्माण हेतु किये जाते है और व्यापक दृष्टिकोण से योजना के अन्तर्गत समाज-सेवाओं आदि पर किये गये व्यय को पूँजी-निर्माण-सम्बन्धी विनियोजन समझना चाहिए *क्योंकि इनके द्वारा उत्पादन के एक प्रमुख साधन श्रम की कार्य-क्षमता, योग्यताओं तथा जीवन* काल में वृद्धि हो सकती है जिनके द्वारा भौतिक वस्तुओं के उत्पादन में भविष्य में वृद्धि की जा सकती है। राष्ट्र की चालू उत्पत्ति तथा आयात के उस भाग को, जिनका उपभोग नही होना है, *पूँजी-निर्माण कहा जा सकता है। पूँजीगत साधनों में कल व यन्त्र, औजार, सड़कें, भवनादि तथा* उत्पादक क्रियाओं के अन्तर्गत निर्माण की विभिन्न अवस्थाओ में रहने वाली वस्तुएँ तथा सग्रह सम्मिलित होते है।

हॉपकिन्स विश्वविद्यालय के साइमन कुजनेट्स (Simon Kuznets) ने पूँजी-निर्माण की दो परिभाषाएँ दी है जिनमें से एक व्यापक और दूसरी सकुचित है। '*यदि प्रति व्यक्ति अथवा प्रति श्रमिक उत्पादन में दीर्घकालीन वृद्धि को आर्थिक विकास समझा जाय, तो पूँजी को इसका साधन* कहना उचित होगा तथा पूँजी-निर्माण चालू सम्पत्ति के समस्त उपयोगो को, जिनके द्वारा ये वृद्धियाँ हो, समझना चाहिए। दूसरे शब्दो मे, आन्तरिक पूँजी-निर्माण में केवल देश की निर्माण-*सामग्री तथा निर्माण-अवस्थाओं मे रहने वाली वस्तुओ* (Inventories) की वृद्धियो को ही सम्मिलित नही किया जाना चाहिए बल्कि उत्पादन के वर्तमान स्तर को बनाये रखने के लिए किये गये व्ययों को छोड़कर अन्य दूसरे व्ययों को भी सम्मिलित किया जाना चाहिए। इन बहुत सी मदो पर किये जाने वाले व्यय, जो प्राय उपभोग मे सम्मिलित किये जाते हैं (यथा—शिक्षा, मनोरजन तथा भौतिक सुविधाओ की उपलब्धि के लिए किये गये व्यय जिनके द्वारा स्वास्थ्य मे वृद्धि तथा व्यक्ति-*गत उत्पादन-क्षमता में वृद्धि होती है तथा समाज द्वारा किये गये वे समस्त व्यय जो रोजगार मे लगी हुई जनसख्या के चरित्र-निर्माण के उत्पादन के लिए किये जाते हो)* को भी पूँजी-निर्माण में सम्मिलित किया जाना चाहिए।"[1]

---

various forms of real capital that can so greatly increase the efficacy of productive effort the essence of the process, then is the diversion of a part of society's currently available resources to the purpose of increasing the stock of capital goods so as to make possible an expansion of consumable output in future " —*Nurkse.*

1 "If a long term rise in national product per capita or per worker is taken to describe *economic growth, it may be desirable to* define capital as means and capital formation as all uses of current product that contribute to such rise. In other words, domestic capital formation would include not only additions to construction, equipment and inventions with the country, but also other expenditures except those necessary to sustain output at existing levels It would include outlays on many items now comprised under consum*ption, e g*, outlay on education, recreation and material luxuries that contribute to the greater health *and productivity of individuals and all* expenditure by society that serve to raise the employed population "

संकुचित दृष्टिकोण से "दबाव द्वारा प्रेरित आर्थिक विकास तथा औद्योगीकरण की अवस्था में पूँजी-निर्माण का अर्थ उन कल व यन्त्र तथा निर्माण की अवस्थाओं में रहने वाली वस्तुओं तक सीमित रहता है जो प्रत्यक्ष रूप से औजार के रूप में उपयोग की जाती है।"[1]

साइमन कुजनेट्स की इन परिभाषाओं से ज्ञात होता है कि पूँजी-निर्माण वर्तमान उपलब्ध साधनों के उन उपयोगों को मानना चाहिए जो राष्ट्रीय एवं प्रति व्यक्ति आय की दीर्घकालीन वृद्धि में सहायक होते हैं। दूसरे शब्दों में, वर्तमान साधनों की बचत का वह भाग जो राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि करने के लिए उपयोग होता है, पूँजी-निर्माण में सम्मिलित किया जाता है। राष्ट्रीय आय की दीर्घकालीन वृद्धि पूँजी-निर्माण का परिणाम होती है और इस परिणाम को प्राप्त करने के लिए केवल भौतिक साधनों का ही उपयोग नहीं किया जाता है बल्कि मानवीय गुणों का भी इस प्रक्रिया में महत्वपूर्ण स्थान होता है। इस कारण मानवीय गुणों में सुधार करने के लिए जिन वर्तमान साधनों का उपयोग किया जाता है, उन्हें भी पूँजी का अंग मानना चाहिए। यद्यपि मानव के गुणों एवं उत्पादन-क्षमता में सुधार करने हेतु जो व्यय किया जाता है, उसका परिणाम दीर्घकाल के बाद ही ज्ञात होता है, फिर भी इस व्यय को पूँजी-निर्माण से सर्वथा पृथक् रखना न्यायोचित नहीं कहा जा सकता है। स्वास्थ्य, शिक्षा, मनोरंजन, श्रम-कल्याण, सामाजिक सुरक्षा, आदि पर किये जाने वाले व्यय मानव की उत्पादन-क्षमता में वृद्धि करते हैं, परन्तु इनके द्वारा मानव के गुणों में जो वृद्धि होती है उसका मूल्यांकन करना अत्यन्त कठिन होता है। इसी कारण सामान्यतः पूँजी-निर्माण में अभौतिक पूँजी को सम्मिलित नहीं किया जाता है। इस संकुचित दृष्टिकोण के आधार पर आन्तरिक पूँजी-निर्माण (Domestic Capital Formation) में स्थिर आन्तरिक पूँजी एवं कार्यशील पूँजी दोनों को ही सम्मिलित किया जाता है। स्थिर आन्तरिक पूँजी के अन्तर्गत समस्त निर्माण, भूमि में किये जाने वाले सुधार तथा यन्त्रों एवं उत्पादक प्रसाधनों को सम्मिलित किया जाता है और कार्यशील पूँजी में कच्चा माल एवं अर्द्ध-निर्मित वस्तुएँ सम्मिलित की जाती हैं जो भविष्य के उत्पादन के लिए उपलब्ध होने वाली होती हैं। पूँजी-स्कन्ध में वृद्धि करने के लिए किये गये समस्त व्यय को सकल पूँजी-निर्माण कहा जाता है जबकि शुद्ध पूँजी-निर्माण का माप करते समय इस सकल व्यय में से स्थायी पूँजी के ह्रास द्वारा एवं अप्रचलन से होने वाली हानि तथा आकस्मिक क्षतियों का समायोजन कर दिया जाता है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि पूँजी-निर्माण का माप करने के लिए निम्नलिखित चार प्रकार की सम्पत्तियों को सम्मिलित किया जाता है

(अ) समस्त निर्माण (Constructions) तथा भूमि में किये गये सुधार (सैनिक-निर्माणों को छोड़कर),

(ब) यन्त्र एवं अन्य प्रसाधन जो देश के अन्दर निजी एवं सरकारी उत्पादकों के अधिकार में हों (परिवारों की टिकाऊ वस्तुओं एवं युद्ध-प्रसाधनों को छोड़कर),

(स) सरकारी एवं निजी व्यवसायों के पास अर्द्धनिर्मित एवं कच्चे माल का स्कन्ध (Inventory) (युद्ध-सामग्री छोड़कर);

(द) विदेशों पर दातव्य दावों का शुद्ध आधिक्य।

(अ) और (ब) का योग आन्तरिक स्थायी पूँजी और (अ), (ब), (स), (द) का योग कुल राष्ट्रीय पूँजी कहलाता है। (अ), (ब) और (स) का योग आन्तरिक पूँजी (Domestic Capital) कहलाता है। किसी वर्ष में आन्तरिक पूँजी में जो वृद्धि होती है, उसे उस वर्ष का आन्तरिक पूँजी-निर्माण कहा जाता है। किसी वर्ष में राष्ट्रीय पूँजी-स्कन्ध में जो वृद्धि होती है, उसे सकल पूँजी-निर्माण कहते हैं और जब इस सकल पूँजी-निर्माण में से स्थायी सम्पत्तियों पर किये गये चालू व्यय घटा दिये जाते हैं तो शुद्ध पूँजी-निर्माण ज्ञात होता है।

---

1 "In a narrower sense under conditions of forced economic growth and industrialization, capital formation may be viewed as limited to plant, equipment and inventories that are directly serviceable as tools."—*Simon Kuznets*

पूंजी-निर्माण की प्रविधि

जैसा कि पूंजी-निर्माण की परिभाषा देते समय बताया गया है, पूंजी-निर्माण की प्रविधि के तीन अंग हैं—बचत, वित्तीय संस्थाएँ एवं विनियोजन। अब हम इनमें से प्रत्येक का अल्प-विकसित राष्ट्रों की परिस्थितियों के सन्दर्भ में अध्ययन करेंगे।

बचत

बचत पूंजी-निर्माण की प्रथम अवस्था होती है। बचत वर्तमान आय एवं उपभोग का अन्तर है। पूंजी निर्माण की दर में वृद्धि करने के लिए बचत की दर में भी पर्याप्त वृद्धि होना आवश्यक होता है। इस प्रकार बचत एवं देश की आर्थिक प्रगति का प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है क्योंकि बचत की दर में वृद्धि होने पर विनियोजन एवं पूंजी-निर्माण की दर में वृद्धि होती है जिसके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है। परन्तु यह आवश्यक नहीं होता कि अर्थ-व्यवस्था की आन्तरिक बचत एवं विनियोजन-दरें दोनों बराबर रहें क्योंकि अर्थ-व्यवस्था के विनियोजन में विदेशी बचत का वह भाग जो विदेशी सहायता एवं ऋण के रूप में प्राप्त होता है, सम्मिलित हो जाता है। किसी भी अर्थ-व्यवस्था की समस्त बचत तीन स्रोतों से मिलकर बनती है—सरकार द्वारा की गयी बचत, परिवारों की बचत तथा व्यापारिक क्षेत्र की बचत। सरकारी बचत उस राशि को कहते हैं जो सरकार की करादि से होने वाली चालू आय एवं सरकारी चालू व्यय का अन्तर होती है। परिवारों की बचत की राशि परिवारों की शुद्ध आय (करादि देने के बाद बची हुई आय) एवं उपभोग-व्यय का अन्तर होती है। इसी प्रकार व्यापारिक क्षेत्र की बचत राशि व्यापारों के लाभ में करादि एवं लाभांश देने के पश्चात् ज्ञात होती है। सरकार की बचत को सार्वजनिक बचत (Public Savings) और परिवारों एवं व्यापारों की बचत को निजी बचत कहते हैं। प्रायः निजी बचत अर्थ-व्यवस्था की कुल बचत का बहुत बड़ा भाग होती है। भारत में निजी बचत सम्पूर्ण बचत की लगभग 80% होती है।

अल्प-विकसित राष्ट्रों में विकसित राष्ट्रों की तुलना में आन्तरिक बचत का स्तर कम रहता है। विश्व बैंक के सन् 1977 के वार्षिक प्रतिवेदन से उपलब्ध आँकड़ों से ज्ञात होता है कि सन् 1975 में औद्योगिक राष्ट्रों में बचत इनके सकल राष्ट्रीय उत्पादन की औसतन 21% थी जबकि दूसरी ओर विकासशील राष्ट्रों में बचत का औसत प्रतिशत केवल 22.3 था। इन नवीनतम आँकड़ों का विस्तृत विवरण 'अल्प विकसित राष्ट्रों का परिचय' नामक अध्याय में दिया गया है। अफ्रीका एवं एशियाई राष्ट्रों में बचत का सकल राष्ट्रीय उत्पादन से औसत प्रतिशत 21 के लगभग है। इस तुलना से यह बात स्पष्ट है कि विकसित राष्ट्रों के द्रुत गति से विकसित होने का एक महत्वपूर्ण कारण वहाँ की ऊँची बचत की दर है। जापान में बचत की दर लगभग 28% है जिसका प्रमुख कारण वहाँ के लोगों का अधिक बचत करने का स्वभाव है। दूसरी ओर, पश्चिमी यूरोपीय राष्ट्रों में बचत की ऊँची दर का प्रमुख कारण व्यापारिक संस्थाओं का अविभाज्य लाभ का पुनर्विनियोजन है। अल्प-विकसित राष्ट्रों में निजी एवं व्यापारिक बचत दोनों की मात्रा अत्यधिक कम होती है। यदि यह अनुमान लगायें कि अल्प-विकसित राष्ट्रों में विकसित राष्ट्रों की तुलना में प्रति व्यक्ति बचत किस निम्न स्तर पर होती है तो हमारे नतीजे अत्यन्त शोचनीय होंगे, क्योंकि अल्प विकसित राष्ट्रों में जनसंख्या अधिक और राष्ट्रीय उत्पादन कम है और जब इस राष्ट्रीय उत्पादन का अत्यन्त न्यून प्रतिशत ही बचाया जाता है तो प्रति व्यक्ति बचत स्वभावतः अत्यन्त कम ही रहेगी। संयुक्त राष्ट्र संघ की एक समिति के अनुसार एशिया में प्रति व्यक्ति वार्षिक बचत औसतन दो डॉलर के लगभग (सन् 1948-51) थी।

बचत के सम्बन्ध में अल्प-विकसित राष्ट्रों में एक और विशेषता पायी जाती है कि बचत में आय के अनुपात में पिछले कुछ वर्षों में कोई विशेष वृद्धि नहीं हो रही है। सन् 1950-52 से 1957-59 के काल में अल्प-विकसित राष्ट्रों में बचत के स्तर में सकल राष्ट्रीय उत्पादन के प्रतिशत के रूप में इस प्रकार कमी (—) अथवा वृद्धि (+) हुई—अर्जेंटीना 10%, बर्मा 7%,

भारत 5%, पनामा 4%, ग्रीस 4%, चिली 4%, फिलीपाइन्स 2%, कोलम्बिया 1%, पुर्तगाल 1%, श्रीलका 2%, कागो 10%, तथा मोरक्को 14%। लगभग इन सभी राष्ट्रो मे पारिवारिक बचत मे इस काल मे कमी हुई है। इसका प्रमुख कारण प्रति व्यक्ति आय का न्यून स्तर तथा आय का वितरण मजदूरी पाने वाले वर्ग के पक्ष मे होना है। इसी प्रकार, इन राष्ट्रो की सावजनिक बचत मे कमी होती रही है क्योकि जनसख्या मे वृद्धि के कारण आर्थिक एव सामाजिक लागत बढ गयी है तथा कर से प्राप्त होने वाली आय मे कमी हो गयी है। परन्तु इन राष्ट्रो को विदेशी ऋण एव अनुदान बडी मात्रा मे मिलने के कारण इनकी विदेशी बचत मे इस काल मे पर्याप्त वृद्धि हुई है जिसने आन्तरिक बचत की पूर्ति की है।

तालिका 9—विभिन्न राष्ट्रो के राष्ट्रीय उत्पादन मे बचत एव विनियोग का प्रतिशत[1]

राष्ट्र	बचत		विनियोग	
	1961 65	1966 72	1961 65	1966-72
1 विकासशील राष्ट्र	17 4	18 5	19 3	20 3
2 अफ्रीका (सहारा के दक्षिण मे)	11 3	12 8	16 0	17 2
3 पूर्वी एशिया एव प्रशान्त	11 2	14 6	15 0	20 1
4 लेटिन अमेरिका तथा केरीबियन	18 8	18 1	19 5	19 9
5 उत्तरी अफ्रीका और मध्य-पूर्व	22 0	26 0	17 6	20 2
6 दक्षिणी एशिया	14 1	14 5	17 1	17 0
7 अधिक विकसित भूमध्य-सागरीय राष्ट्र	20 6	19 8	25 1	24 2
8 औद्योगिक राष्ट्र	22 9	23 6	22 8	23 4

बचत एव विनियोजन की इस तालिका के अध्ययन से ज्ञात होता है कि एशिया एव अफ्रीका राष्ट्रो मे राष्ट्रीय आय का बचत एव विनियोजन का प्रतिशत विकसित राष्ट्रो की तुलना मे कम तो है ही, साथ ही इस प्रतिशत मे वृद्धि की गति भी कम है। जहाँ विकसित एव औद्योगिक राष्ट्रों मे राष्ट्रीय आय का 20 से 23% भाग बचत होती है वही विकासशील राष्ट्रो मे यह प्रतिशत (मध्य पूर्व को छोडकर) 11 से 14% तक है। औद्योगिक राष्ट्रो की बचत का प्रतिशत विनियोजन के प्रतिशत से अधिक है, जबकि अल्प-विकसित राष्ट्रो मे समस्त विनियोजन के बराबर आन्तरिक बचत नही हो पाती है।

अल्प विकसित राष्ट्रो मे बचत के सम्बन्ध मे एक विशेषता यह भी है कि जो भी बचत उपलब्ध होती है, उसका उपयोग उत्पादन क्रियाओ के लिए नही किया जाता है। राष्ट्रीय आय का बडा भाग पाने वाला वर्ग अपनी बचत का उपयोग भूमिगत सम्पत्तियो, निवास निर्माणो, मूल्यवान धातुओ एव जेवरो आदि के लिए करता है। निजी व्यक्तियो द्वारा की जाने वाली बचत का ही उपयोग इन अनुत्पादक क्रियाओ के लिए नही किया जाता वरन् इन राष्ट्रो की सरकारें भी आलीशान भवनो का निर्माण, विदेशो मे दूतावासो की स्थापना, सोना एव विदेशी प्रतिभूतियो के सचय, विदेशो से विलासिता एव प्रदर्शन की वस्तुओ के आयात आदि पर बचत का बडा भाग व्यय कर देती हैं। इन राष्ट्रो म मूल्यवान धातुओ, हीरे, जवाहरात एव जेवरो आदि का सग्रह भी बडी मात्रा मे किया जाता है जो बचत एव पूंजी को निष्क्रिय कर देते है।

1 *World Bank Report*, 1977

अल्प-विकसित राष्ट्रों में बचत-सम्बन्धी समस्याएँ—बचत की मात्रा में वृद्धि करना अल्प-विकसित राष्ट्रों में आर्थिक विकास का आवश्यक तत्व है और बचत की मात्रा में वृद्धि करने हेतु केवल अधिक बचत का उदय होना ही पर्याप्त नहीं होता बल्कि उदित बचत का उपलब्ध करना तथा उसका उत्पादक विनियोजन किया जाना भी आवश्यक होता है। इस प्रकार बचत के सम्बन्ध में तीन समस्याएँ उठती हैं—अधिक बचत का निर्माण, बचत के अधिकतम भाग को प्राप्त करना, तथा बचत को उत्पादक विनियोजन की ओर प्रवाहित करना। दूसरे शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि पूंजी-निर्माण की विभिन्न अवस्थाएँ प्रत्यक्ष रूप से बचत से ही सम्बद्ध होती हैं।

अल्प-विकसित राष्ट्रों की अत्यन्त गम्भीर समस्या आन्तरिक बचत के निर्माण में वृद्धि करना होती है और इसके निवारण के लिए बचत करने की सीमाओं को विस्तृत करने की आवश्यकता होती है। बचत करने की अधिकतम सीमा उपभोग में की जाने वाली सम्भावित अधिकतम कमी तथा उत्पादन की वृद्धि की सम्भावना पर निर्भर रहती है। किसी भी समाज की उपभोग-आवश्यकताएँ उस समाज के रीति रिवाजों, जनसंख्या का परिमाण एवं संरचना तथा नागरिकों के जीवन-स्तर के द्वारा निर्धारित होती हैं। अल्प-विकसित राष्ट्रों में व्यापक निर्धनता के कारण उपभोग का स्तर न्यूनतम होता है जो शारीरिक निर्वाह के लिए अनिवार्य होता है। दूसरी ओर, उत्पादन में अल्पकाल में अधिक वृद्धि करना सम्भव नहीं होता है क्योंकि इन देशों में उत्पादन-तान्त्रिकताएँ संगठन, श्रम की कुशलता, पूंजीगत प्रसाधन आदि हीन स्थिति में होते हैं।

दूसरी ओर बचत की न्यूनतम मात्रा बचत का वह स्तर है जो अर्थ-व्यवस्था के पूंजीगत प्रसाधनों के निर्वाह के लिए आवश्यक हो जिससे उत्पादन का वर्तमान स्तर बना रहे। यदि बचत इस न्यूनतम स्तर से कम हो जाय तो अर्थ-व्यवस्था में पूंजी का उपभोग होने लगेगा और वर्तमान उत्पादन कम होने लगेगा।

अल्प विकसित अर्थ-व्यवस्था में बचत के अधिकतम एवं न्यूनतम स्तर में विशेष अन्तर नहीं होता है क्योंकि उपभोग का वर्तमान स्तर न्यूनतम होता है तथा इसे और कम करना सम्भव नहीं होता तथा उत्पादन में भी तान्त्रिकताओं में मूलभूत परिवर्तन किये बिना अधिक वृद्धि नहीं की जा सकती है जो एक दीर्घकालीन व्यवस्था में सम्भव हो सकती है। जब अर्थ-व्यवस्था में आर्थिक प्रगति का शुभारम्भ होता है तो एक ओर उत्पादक विनियोजन बढ़ने के फलस्वरूप उत्पादन में वृद्धि होती है और दूसरी ओर जनसाधारण की आय एवं क्रय शक्ति बढ़ने से उपभोग की आवश्यकताओं में वृद्धि होती है। ऐसी परिस्थिति में बचत की सीमाओं के बढ़ाने के लिए उपभोग को अधिक नहीं बढ़ने दिया जाता है और उत्पादन में उपभोग की आवश्यकताओं से अधिक वृद्धि करने का प्रयत्न किया जाता है।

बचत की सीमाओं की वृद्धि करने के लिए उत्पादक विनियोजन इस प्रकार होना चाहिए कि पूंजीपति-वर्ग अथवा लाभ पाने वाले वर्ग का विस्तार हो, क्योंकि यह वर्ग अपनी आय का अधिकतम भाग बचाकर उत्पादक क्रियाओं में विनियोजित करने के लिए तत्पर रहता है। अर्थ व्यवस्था के दूसरे वर्ग—किराया पाने वाला, मजदूरी पाने वाला तथा वेतन पाने वाला वर्ग—अपनी आय में वृद्धि होने पर उसका बड़ा भाग उपभोग कर लेता है और विनियोजन के लिए बचत करने में अधिक रुचि नहीं रखता है। इसके विपरीत भूपति-वर्ग प्रदर्शनकारी एवं विलासितापूर्ण उपभोग पर अपनी बचत को व्यय कर देता है। इस प्रकार समाज में बचत एवं विनियोजन बढ़ाने के लिए यह आवश्यक होता है कि विकास के द्वारा उदित आय का अधिक भाग लाभ प्राप्त करने वाले वर्ग को मिले और इस वर्ग को विनियोजन-क्रियाएँ संचालन करने में सरकारी प्रतिबन्धों का सामना न करना पड़े। परन्तु एक समाजवादी अथवा कल्याणकारी राज्य में अतिरिक्त आय के बड़े भाग का लाभ पाने वाले वर्ग को नहीं दिया जा सकता है क्योंकि इससे समाज में आर्थिक विषमताएँ बढ़ती हैं और आर्थिक सत्ताओं का केन्द्रीकरण होता है। अल्प विकसित राष्ट्रों में निर्धन-वर्ग का जीवन-स्तर सुधारने के लिए राजकोषीय एवं अन्य नीतियों द्वारा राज्य ऐसी कार्यवाहियों को महत्व देता

है जिससे दलित-वर्गों की आय को बढ़ाया जा सके और लाभ पाने वाला अथवा धनी-वर्ग अधिक धन सचय न कर सके। ये सामाजिक एव आर्थिक न्याय सम्बन्धी कार्यवाहियाँ अर्थ-व्यवस्था की बचत को बढाने मे बाधक होती हैं। ऐसी परिस्थिति मे सरकार को सार्वजनिक बचत बढाने के लिए आवश्यक कार्यवाहियाँ करनी होती हैं जिनमे अधिक करारोपण, सार्वजनिक व्यवसायो से अधिक लाभ तथा हीनार्थ-प्रबन्धन सम्मिलित है।

ग्रामीण बचत—अल्प-विकसित राष्ट्रों मे कृषि एव ग्रामीण क्षेत्र की बचत का स्तर औद्योगिक क्षेत्र की तुलना मे लगभग सभी राष्ट्रो में कम होता है। कृषि क्षेत्र मे आय की विषमता, आकस्मिक लाभ-हानि की सम्भावना, परिकाल्पनिक (Speculating) लाभो की सम्भावना आदि सभी औद्योगिक क्षेत्र की तुलना में कम होता है जिसके परिणामस्वरूप कृषको मे साहस की भावना का स्तर अत्यन्त न्यून रहता है। इसके अतिरिक्त ग्रामीण क्षेत्रो मे सयुक्त परिवार पद्धति अत्यन्त सुदृढ होती है जिसके परिणामस्वरूप ग्रामीण नागरिकों मे बीमारी बेकारी, वृद्धावस्था आदि के लिए बचत करने की आवश्यकता महसूस नही होती है। ग्रामीण नागरिकों में भाग्यपरायणता भी अधिक होती है जिससे इनमे अधिक धन एव बचत अर्जित करने के लिए उत्साह नहीं होता है। इसके अतिरिक्त विकास के प्रारम्भ के साथ जब यातायात एव सचार के साधनो मे सुधार एव विस्तार होना है तो ग्रामीण नागरिको का सम्पर्क नगरो से घनिष्ठ हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप ग्रामवासियो के उपयोग के प्रकार एव परिमाण मे परिवर्तन हो जाता है और इनकी बचत करने की इच्छा को कम कर देता है। ऐसी परिस्थितियो में ग्रामीण बचत को बढाने के लिए एक ओर कृषि-व्यवसाय मे नवीन तान्त्रिकताओं के उपयोग से उत्पादन मे वृद्धि की जानी चाहिए और दूसरी ओर ग्रामवासियो मे अपनी बचत का उत्पादक उपयोग करने के लिए उत्साह जाग्रत किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त राज्य को उचित कर-नीति द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों मे होने वाले अनावश्यक एव अनुत्पादक विनियोजनो को रोकना चाहिए।

राज्य की कर-नीति का भी बचत पर अत्यधिक प्रभाव पडता है। कर द्वारा उत्पादन से वृद्धि करने के लिए तो प्रोत्साहन दिया जा सकता है परन्तु व्यवसायो के लाभों के पुनर्विनियोजन को भी प्रोत्साहित किया जा सकता है। विकास के प्रारम्भ में जनसाधारण की आय मे जो वृद्धि होती है, उसको बचत के रूप मे प्राप्त करने के लिए कर का उपयोग करना आवश्यक होता है। सरकारी दबाव द्वारा एक बार इस प्रकार जब बचत विकास-विनियोजन मे बढ़ाकर उपयोग कर ली जाती है तो बाद में विनियोजन एव बचत का प्रवाह बनाये रखने मे अधिक कठिनाई नहीं होती है क्योंकि विकास के बढने के साथ आय मे वृद्धि की मात्रा बढ जाती है और जनसाधारण को अपना वर्तमान जीवन-स्तर कम किये बिना ही बचत करना सम्भव होता है।

बचत के सम्बन्ध मे अन्य विस्तृत अध्ययन "राजकोषीय नीति एव आर्थिक प्रगति" के अध्याय मे किया गया है।

बचत की गतिशीलता (Mobilisation of Savings)

पूंजी-निर्माण की दूसरी अवस्था निर्मित बचत को प्राप्त करना होती है। अल्प-विकसित राष्ट्रों मे यह समस्या और भी गम्भीर होती है क्योकि इनमें निर्मित बचत कम होने के कारण इसका सम्पूर्ण भाग प्राप्त करके विकास-विनियोजन मे लगाना आवश्यक हो सकता है परन्तु कुशल वित्तीय सस्थाओं की अपर्याप्तता के कारण बचत को उपलब्ध करना कठिन होता है। बचत उपलब्ध करने की उचित व्यवस्था द्वारा बचत के अनुत्पादक उपयोग को रोका जा सकता है तथा जनसाधारण को अधिक बचत करने के लिए प्रोत्साहित किया जा सकता है। जनसाधारण से बचत उपलब्ध करने के लिए विनियोजन की सुरक्षा, आकर्षक ब्याज की दर, तरलता, सरलता, विभाज्यता, हस्तान्तरणीयता, प्रमापीकरण, गोपनीयता एव व्यक्तिगत सम्बन्ध की उचित व्यवस्था होनी चाहिए। प्रत्येक बचत करने वाला चाहता है कि उसकी बचत का इस प्रकार उपयोग हो कि पूंजी सुरक्षित रहे, ब्याज उचित दर पर मिले, विनियोजन करने के लिए कोई विशेष कार्यवाहियाँ न करनी पडे,

विनियोजन को सरलता से रुपये मे बदला जा सके तथा बचत की मात्रा गोपनीय रहे। इन समस्त सुविधाओ की व्यवस्था वित्तीय सस्थाओ के विस्तार द्वारा की जा सकती है। ग्रामीण क्षेत्र मे बैंको, सहकारी सस्थाओ, बीमा-कम्पनियो के कार्यालयो आदि की उचित व्यवस्था करके बचत विनियोजन हेतु उपलब्ध की जा सकती है। बचत को सुरक्षा प्रदान करने हेतु सरकारी बौण्डो का विस्तार किया जाना चाहिए क्योंकि इन पर लोगो का अधिक विश्वास होता है। सरकारी साख-सस्थाओ के कुशल सचालन द्वारा अल्पाय वाले वर्ग की लघु बचत को प्राप्त किया जा सकता है। जनसाधारण मे बीमे की आवश्यकता एव प्रतिष्ठा का प्रसारण करके भी बचत के स्तर मे वृद्धि की जा सकती है।

विभिन्न साधनो से जो बचत एकत्रित की जाती है, उसे विनियोजन तक प्रवाहित करने के लिए देश मे ऐसी सस्थाएँ होनी चाहिए कि वे इस बीच के मध्यस्थ कार्य को कर सकें। व्यापारी एव उद्योगपति अपनी बचत का विनियोजन सुविधापूर्वक कर सकते है क्योंकि उन्हे वित्तीय विषयो का ज्ञान होता है तथा विपणि की सूचना भी यथासम्भव प्राप्त होती रहती है, परन्तु बचत की क्रिया जनसमुदाय के विभिन्न वर्गों द्वारा की जाती है, अन्तर केवल मात्रा का होता है। धनी-वर्ग की बचत की राशि व्यक्तिगत एव सम्पूर्ण दोनो रूपो से निर्धन-वर्ग की अपेक्षा अधिक होती है। निर्धन-वर्ग की व्यक्तिगत बचत यद्यपि अत्यन्त न्यून होती है, तथापि इस वर्ग के जनसख्या आधिक्य के कारण सम्पूर्ण रूप मे बचत महत्त्वपूर्ण होती है। इस प्रकार उन लोगो द्वारा भी बडी मात्रा मे बचत की जाती है जिनको वित्तीय विषयो का ज्ञान नही के बराबर होता है, किन्तु यह बचत प्रभावशाली वित्तीय विधान सस्थाओ, साधनो तथा सुविधाओ के अभाव मे विनियोजन के द्वार तक पहुँचने मे असमर्थ रहती है और इस प्रकार बचत करने वालो और विनियोजन के पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित न हो सकने के कारण बचत-राशि का उपयोग पूँजी निर्माण हेतु नही हो पाता। विकसित राष्ट्रो मे वित्तीय सस्थाओ की क्रियाशीलता अत्यधिक होती है तथा विभिन्न वित्तीय सस्थाओ, जैसे अधिकोष-व्यवस्था जीवन-बीमा, विनियोजन ट्रस्ट आदि द्वारा बचत करने वालो तथा व्यवसाय और उद्योगों के मध्य सम्पर्क स्थापित कर दिया जाता है। ये वित्तीय सस्थाएँ विनियोजन सम्बन्धी सूचनाओ का प्रसार एव विज्ञापन करती है तथा मध्यस्थ के रूप मे महत्त्वपूर्ण शृखला का कार्य करती है, विनियोजन की सरलता मे वृद्धि करती है, जोखिमपूर्ण विनियोजन को (जो उद्योगपतियो द्वारा बचत करने वालो के सम्मुख प्रस्तुत किये जाते है) बचत करने वालो की सुविधा एव सुरक्षानुसार सुरक्षित सम्पत्ति का रूप प्रदान करती है। कार्यशील तथा विस्तृत वित्तीय व्यवस्था से व्यापार तथा उद्योगों के अर्थ-प्रबन्धन की लागत भी कम पडती है। साथ ही, राष्ट्रीय बचत को औद्योगिक तथा भौगोलिक दृष्टि से अधिकतम गतिशीलता प्राप्त होती है। बचत की गतिशीलता से तात्पर्य है—न्यूनातिन्यून जोखिम तथा व्यय पर विनियोजन का एक उद्योग अथवा व्यवसाय से दूसरे उद्योग अथवा व्यवसाय मे अथवा एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र मे हस्तान्तरण सम्भव होना। नियोजित अर्थ व्यवस्था मे राज्य भी एक महत्त्वपूर्ण वित्तीय सस्था का कार्य सम्पादित करता है। उदाहरणार्थ, भारत मे डाक विभाग, शासकीय कोषालय, जीवन बीमा निगम, अधिकोष आदि विनियोजन सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान करते हैं।

बचत का विनियोजन

विनियोजन पूँजी निर्माण की तीसरी अवस्था होती है। अर्थ-व्यवस्था की वित्तीय सस्थाओ का कार्य अतिरिक्त व्यय करने वाले वर्गों से साधनो को सग्रहीत करके इन्हे न्यून व्यय करने वाले वर्गों तक पहुँचाना होता है। समाज मे अतिरिक्त व्यय करने वाला वर्ग किराया, मजदूरी, वेतन आदि पाने वाला वर्ग होता है जो अपनी चालू आय का बडा भाग बचत कर सकता है। दूसरी ओर, न्यून व्यय करने वाला वर्ग व्यापारिक सस्थाओ का होता है जो सदैव पूँजी एव साधनो की खोज मे रहता है और जो कुछ भी धन उसे प्राप्त होता है वह उसका विनियोजन करने के लिए तत्पर रहता है। वित्तीय सस्थाएँ बचत करने वाले वर्ग से साधनो को प्राप्त करके विनियोजन करने वाले वर्ग को पहुँचाती है। मुक्त-व्यवसाय अर्थ-व्यवस्था मे इन वित्तीय सस्थाओ मे से प्रमुख बैंक,

दलाल, विनियोजन-गृह, बीमा-कम्पनियाँ, सहकारी संस्थाएँ, स्कन्ध विनिमय-बाजार आदि होती हे। विकास के गतिशील होने पर वित्तीय संस्थाओ का विस्तार होने लगता है जो बचत को एक समुदाय से दूसरे समुदाय को हस्तान्तरित करती हैं। विकास के अन्तर्गत अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों का विस्तार होता है और औद्योगीकरण को विशेष प्रोत्साहन मिलता है। आर्थिक गतिविधि बढने से राष्ट्रीय *आय मे वृद्धि होती है और वित्तीय व्यवहारो में तीव्र गति से वृद्धि होती है।* औद्योगिक विकास के फलस्वरूप बचत करने वाले वर्ग मे विनियोजन के प्रति विश्वास जागृत होता है और यह वर्ग अपनी बचत को प्रत्यक्ष रूप से अथवा मध्यस्थ द्वारा विनियोजन करने के लिए तत्पर होता है। दूसरी ओर, विनियोजकों मे विस्तृत होने वाली अर्थ-व्यवस्था मे अधिक विनियोजन करने के लिए अधिक आकर्षण उदय होता है क्योकि विनियोजन पर मिलने वाले लाभ की दर बढ जाती है। विनियोजको की ओर से ऐसी वित्तीय संस्थाओ के विस्तार की *माँग की जाती है* जो अर्थ-व्यवस्था मे वित्तीय तरलता बढाने में सहायक हो। ऐसी परिस्थिति में वित्तीय संस्थाओ का विस्तार होता है, सीमित दायित्व वाली कम्पनियो की स्थापना की जाती है और प्रतिभूति-बाजार (Security Market) का विस्तार होता है। व्यापारिक बैंकों का विस्तार भी इन परिस्थितियों मे स्वाभाविक होता है। व्यापारिक बैंको की साख-नीति को विकास-कार्यक्रमो के अनुकूल रखने के लिए केन्द्रीय बैंक के कार्य-क्षेत्र मे विस्तार किया जाता है। जिन देशो मे व्यापारिक बैंक उदार शर्तों पर विकास-कार्यक्रमो को साख प्रदान करने मे असमर्थ रहते है, वहाँ विकास-बैंको की स्थापना की जाती है। सरकार द्वारा भी विकास के लिए ऋण एवं अनुदान प्रदान करने हेतु विभिन्न वित्तीय संस्थाओं की स्थापना की जाती है। वित्तीय एवं विकास-निगमो की स्थापना करके विकास-परियोजनाओं को दीर्घकालीन साख की व्यवस्था की जाती है। इन समस्त वित्तीय संस्थाओ से आर्थिक विकास में पर्याप्त योगदान तभी प्राप्त हो सकता है जब इनका संचालन कुशलता के साथ किया जाय, ये संस्थाएँ प्राथमिकता-प्राप्त विकास-योजनाओ को कम लागत पर साख प्रदान करें तथा इनके द्वारा आवश्यकतानुसार पर्याप्त पूंजी प्रदान की जाय। इन संस्थाओ को वित्तीय सहायता प्रदान करने हेतु मुद्राप्रसार-विधियो (Inflationary Methods) का उपयोग भी नही करना चाहिए।

विनियोजन-गुणमान अथवा विनियोजन निकष

जब विनियोजन की सामान्य आवश्यकता का आयोजन करने के पश्चात उसके विभिन्न क्षेत्रों में उपयोग करने का प्रश्न आता है तो विनियोजन का वितरण करने हेतु कुछ सिद्धान्तों का पालन करना आवश्यक होता है जिनके आधार पर विभिन्न उत्पादक क्षेत्रों को पूँजी का आवटन किया जाता है। विनियोजन के आवटन सम्बन्धी सिद्धान्तो को ही विनियोजन-गुणमान (Investment Criteria) का नाम दिया जाता है। *अल्प-विकसित राष्ट्रों मे विनियोजन के लिए उपलब्ध* साधन अत्यन्त सीमित होने एवं विनियोजन की बढती हुई आवश्यकता के सन्दर्भ में विनियोजन के आवटन की समस्या अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है। विनियोजन का आवटन करते समय उद्योग तथा कृषि, निजी तथा सरकारी क्षेत्र, पूंजीगत एवं उपभोक्ता उद्योगों, देश के विभिन्न क्षेत्रों के मध्य चयन करने की आवश्यकता पडती है। विनियोजन के वितरण के सम्बन्ध मे निर्णय करते समय उसके फलस्वरूप प्राप्त होने वाले विकास के स्तर को दृष्टिगत रखना आवश्यक होता है। इस बात का प्रयास किया जाता है कि *विनियोजन के साधनो का आवटन इस प्रकार किया जाय कि यथासम्भव* अधिकतम विकास हो सके। किसी एक प्रकार से किये गये आवटन से अर्थ-व्यवस्था की वर्तमान आय मे वृद्धि हो सकती है जबकि यह आवटन किसी अन्य विशिष्ट प्रकार से किया जाय तो राष्ट्रीय उत्पादन की वृद्धि का दीर्घकाल तक आश्वासन हो सकता है। विनियोजन-आवटन-विधि केवल राष्ट्रीय उत्पादन को ही प्रभावित नही करती है बल्कि अर्थ-व्यवस्था की श्रम-व्यवस्था अर्थात् श्रम की पूर्ति एवं वितरण, सामाजिक एवं *सांस्कृतिक परिस्थितियो, जनसंख्या की वृद्धि एवं गुणो,* जनसाधारण की रुचि एवं फैशन तथा तान्त्रिक प्रगति को भी प्रभावित करती है।

पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था मे विनियोजन के साधनो का विभिन्न उत्पादक क्रियाओ मे आवटन

माँग पूर्ति एवं मूल्य के आधार पर किया जाता है। परन्तु माँग, पूर्ति एवं मूल्य अपना सन्तुलित प्रभाव तभी उत्पन्न कर सकते हैं जब अर्थ-व्यवस्था में मुक्त पूर्ण-प्रतिस्पर्द्धा हो। पूर्ण-प्रतिस्पर्द्धा अब केवल सैद्धान्तिक विचारधारा मानी जाती है क्योंकि यह किसी भी अर्थ-व्यवस्था में वर्तमान काल में विद्यमान नहीं रह सकती है। यही कारण है कि अर्थ-व्यवस्था में विपणि-शक्तियों के अन्तर्गत विनियोजन के अनुकूलतम आवटन को अब मान्यता नहीं दी जा रही है। दूसरी ओर, व्यक्तिगत साहसी को विनियोजन सम्बन्धी निर्णय करने की छूट एक ऐसे राष्ट्र में नहीं दी जा सकती जिसमें विनियोजन-साधनों की न्यूनता हो और विकास-परियोजनाओं के लिए विनियोजन की आवश्यकता अधिक हो क्योंकि व्यक्तिगत साहसी अपने निजी लाभ के आधार पर ही विनियोजन सम्बन्धी निर्णय करता है चाहे उसके निर्णय द्वारा समाज के कुल उत्पादन, भविष्य के उत्पादन आय के वितरण तथा सामाजिक कल्याण एवं न्याय पर प्रतिकूल प्रभाव क्यों न पड़ता हो।

अल्प-विकसित राष्ट्रों में विनियोजन-गुणमान की समस्या अत्यन्त जटिल होती है। इन राष्ट्रों में उत्पादन के साधनों में पारस्परिक असन्तुलन होता है और अर्थ-व्यवस्था की आन्तरिक स्थिति इस प्रकार की होती है कि उत्पादन के एक साधन का उत्पादन के दूसरे साधनों से प्रतिस्थापन करना सम्भव नहीं होता है। इन राष्ट्रों में पूँजी की कमी एवं श्रम-शक्ति का बाहुल्य होता है। पूँजी के उपलब्ध साधनों को इस प्रकार उपयोग करना होता है कि एक ओर राष्ट्रीय उत्पादन में तीव्र गति से वृद्धि हो और दूसरी ओर सामाजिक न्याय एवं आर्थिक सुदृढ़ता को कोई आघात न पहुँचे। अल्प-विकसित राष्ट्रों में विनियोजन-गुणमान की निम्नलिखित विधियों का उपयोग किया जाता है

विनियोजन निकष अथवा विनियोजन-गुणमान की विधियाँ

(1) **उत्पादन-घटकों की व्यवस्था की स्थिति का विश्लेषण**—इस विधि में अल्प-विकसित राष्ट्रों में वर्तमान में उपलब्ध उत्पादन के विभिन्न साधनों के परिमाण एवं कुशलता के आधार पर विनियोजन सम्बन्धी निर्णय लिये जाते हैं। अल्प-विकसित राष्ट्रों में श्रम की उपलब्धि अत्यधिक और पूँजी की कमी होती है। ऐसी परिस्थिति में ऐसी परियोजनाओं में विनियोजन करने का निर्णय किया जा सकता है जिनमें उपलब्ध श्रम का अधिकतम भाग उपयोग किया जा सके और पूँजी की अधिक आवश्यकता न पड़े। इस प्रकार पूँजी को बहुत बड़ी श्रम-शक्ति पर फैला दिया जाता है जिसके परिणामस्वरूप प्रति श्रमिक पूँजी का उपयोग कम होता है। ऐसी परिस्थिति में श्रम की उत्पादकता कम रहती है और भारी उत्पादक सम्पत्तियों एवं प्रसाधनों का निर्माण सम्भव नहीं हो सकता है। साथ ही देश में नवीन तान्त्रिकताओं का प्रवाह एवं आर्थिक व सामाजिक संरचना में विकास के अनुरूप परिवर्तन नहीं हो पाते हैं। अर्थ-व्यवस्था का वर्तमान उत्पादन तो बढ़ जाता है परन्तु दीर्घकालीन उत्पादकता में वृद्धि नहीं होती है। इस प्रकार विद्यमान उत्पादन-घटकों के आधार पर विनियोजन सम्बन्धी निर्णय भविष्य में आर्थिक प्रगति में बाधाएँ उपस्थित कर सकते हैं। वास्तव में अल्प-विकसित राष्ट्रों में विकास को गतिशील करने के लिए उत्पादक सम्पत्तियों एवं प्रसाधनों में वृद्धि करना अनिवार्य होता है जिसके लिए पूँजी-प्रधान तान्त्रिकताओं की आवश्यकता होती है। ऐसी परिस्थितियों में केवल वर्तमान उत्पादन-घटकों की उपलब्धि के आधार पर विनियोजन सम्बन्धी निर्णय नहीं लिये जा सकते हैं। परन्तु इस तथ्य को छोड़ा भी नहीं जा सकता है अन्यथा अर्थ-व्यवस्था में वर्तमान में असन्तुलन उदय हो सकता है और श्रम-शक्ति का बहुत बड़ा भाग बेरोजगार रहने से सामाजिक दोष उदय हो सकते हैं। प्राकृतिक साधनों का पूर्णरूपेण कुशल उपयोग न होने के कारण अल्प-विकसित राष्ट्रों में विकास गतिशील नहीं हो पाता है। प्राकृतिक साधनों का विदोहन करने के लिए पूँजी-प्रधान तान्त्रिकताओं की आवश्यकता होती है।

(2) **आर्थिक प्रगति की गतिशीलता का विश्लेषण**—कुछ अर्थशास्त्रियों (जिनमें प्रमुख हार्वे लेबेन्स्टाइन हैं) का विचार है कि विनियोजन-गुणमान का आधार पुनर्विनियोजन हेतु उपलब्ध होने

वाले साधन होना चाहिए क्योंकि पूंजी की उपलब्धि मे निरन्तर वृद्धि होने से प्रति श्रमिक पूंजी मे वृद्धि हो जाती है और श्रम-शक्ति की उत्पादकता में वृद्धि होती है जो आर्थिक विकास का मूलाधार होती है। पुनर्विनियोजन के लिए उपलब्ध होने वाले साधन एक ओर वर्तमान पूंजी-स्कन्ध से उत्पादित की गयी वस्तुओ एव सेवाओ और दूसरी ओर जनसख्या द्वारा उपभोग की गयी वस्तुओ एव सेवाओ तथा पूंजी-स्कन्ध की टूट-फूट एव प्रतिस्थापन-लागत के अन्तर के बराबर होते है। जब राष्ट्रीय उत्पादन का अधिक भाग अर्थ-व्यवस्था मे लाभ पाने वाले वर्ग को प्राप्त होता है तो पुनर्विनियोजन हेतु अधिक साधन उपलब्ध होते है क्योकि लाभ पाने वाला वर्ग अर्थात् साहसी, व्यापारी एव उद्योगपति अपने अतिरिक्त लाभ को बचाकर पुनर्विनियोजन कर देता है। दूसरी ओर मजदूरी एव वेतन वाला वर्ग अपनी आय-वृद्धि का बडा भाग उपभोग पर व्यय करने के लिए उद्यत रहता है। इस प्रकार राष्ट्रीय आय का जितना अधिक भाग लाभ के रूप में उदय होता है, उतना ही अधिक पुनर्विनियोजन हेतु साधन उपलब्ध होते है और आर्थिक विकास गतिशील होता है। राष्ट्रीय आय मे लाभ का अधिक परिमाण तभी उदय हो सकता है जब पूंजी-प्रधान तान्त्रिकताओं का उपयोग किया जाय और आय का वितरण बडे पूंजीपतियो के अनुकूल हो। पूंजी-प्रधान तान्त्रिकताओ के अन्तर्गत जिन पूंजी-सम्पत्तियो का निर्माण किया जाता है, उनका जीवन-काल लम्बा होता है और इनके सम्बन्ध मे ह्रास एव प्रतिस्थापन-लागत कम होती है जिसके परिणामस्वरूप इनके द्वारा दीर्घकाल तक अधिक आयोपार्जन किया जा सकता है जो पुनर्विनियोजन हेतु अधिक साधन उपलब्ध कराने में सहायक होता है। अल्प विकसित राष्ट्रो की अध सरचना (Infra-structure) को विकास के अनुरूप विकसित एव विस्तृत करने के लिए भी पूंजी-प्रधान तान्त्रिकताओ का उपयोग करना आवश्यक होता है। पुनर्विनियोजन गुणमान सिद्धान्त मे सबसे बडा दोष यह है कि इसके आधार पर विनियोजन सम्बन्धी निर्णय करने से समाज-कल्याण एव आर्थिक व सामाजिक न्याय के उद्देश्यो को आघात पहुँचता है। पूंजी-प्रधान तान्त्रिकताओं के उपयोग से अर्थ व्यवस्था मे श्रम-शक्ति का बडा भाग बेरोजगार रहता है और आय का केन्द्रीकरण कुछ ही पूंजीपतियो के हाथ मे हो जाता है जो समाज के निर्बल-वर्गो का शोषण करने लगते है। यह दोष होते हुए भी पुनर्विनियोजन सिद्धान्त अर्थ-व्यवस्था मे आर्थिक प्रगति को गतिशील करने वाली शक्तियो को उत्पन्न करने मे सहायक होता है।

(3) **विशिष्ट समस्याओ के निवारण का विश्लेषण**—अल्प-विकसित राष्ट्रों मे आर्थिक प्रगति के गतिशील होने के साथ-साथ अर्थ व्यवस्था मे कुछ गम्भीर समस्याएं उदय होती है जिन्हे नियन्त्रित करने हेतु विनियोजन के प्रकार एव प्रविधि को समायोजित कर दिया जाता है। ये समस्याएँ मुद्रा-स्फीति, प्रतिकूल भुगतान-शेष, बेरोजगार एव आर्थिक विषमताएँ होती है। इन समस्याओं द्वारा गम्भीर रूप ग्रहण करने के पूर्व ही इन्हें नियन्त्रित करना आवश्यक होता है। मुद्रा-स्फीति को रोकने के लिए विनियोजन को इस प्रकार आवटित किया जाता है कि अर्थ-व्यवस्था मे आय-वृद्धि के साथ-साथ उपभोक्ता-वस्तुओ की पूर्ति में भी वृद्धि सम्भव हो सके। प्रतिकूल भुगतान-शेष की समस्या के निवारण के लिए आयात-प्रतिस्थापन एव निर्यात-सवर्द्धन सम्बन्धी उत्पादक क्रियाओ मे विनियोजन किया जाता है। बेरोजगारी की समस्या की गम्भीरता को रोकने के लिए अर्थ-व्यवस्था के कुछ क्षेत्रो मे श्रम-प्रधान तान्त्रिकताओ का विस्तार किया जाता है तथा आर्थिक विषमताओ को कम करने हेतु सार्वजनिक क्षेत्र मे अधिक विनियोजन किया जाता है।

(4) **समय घटक विश्लेषण**—विकास विनियोजन सम्बन्धी निर्णय करते समय इस बात पर भी ध्यान देना होता है कि जिन परियोजनाओ मे विनियोजन किया जाता है, उनकी सम्पूर्ति मे कितना समय लगता है। यदि अर्थ-व्यवस्था मे उत्पादन मे तुरन्त वृद्धि करना आवश्यक हो तो श्रम-प्रधान तान्त्रिकताओं का उपयोग किया जाता है क्योंकि इनकी सम्पूर्ति मे कम समय लगता है और इनके द्वारा वास्तविक उत्पादन जल्दी प्रारम्भ हो जाता है। यद्यपि श्रम-प्रधान तान्त्रिकताएँ अपने प्रारम्भिक काल मे उत्पादन शीघ्र करने लगती हैं, परन्तु दीर्घ-

काल मे पूँजी-प्रधान तान्त्रिकताओ द्वारा अधिक उत्पादन प्रदान किया जाता है। यदि पूँजी-प्रधान तान्त्रिकताओ मे बड़े पैमाने पर विनियोजन किया जाता है तो उस मध्य-काल मे जो इनकी सम्पूर्ति मे लगता है, जनसाधारण की आय मे तो वृद्धि हो जाती है, परन्तु वास्तविक उत्पादन-वृद्धि नही हो पाती है जिसके परिणामस्वरूप अर्थ-व्यवस्था मे मुद्रा-स्फीति उदय होती है और बहुत-सी आर्थिक एव वित्तीय कठिनाइयो को जन्म मिलता है।

(5) **विनियोजन-संगति विश्लेषण** (Investment Consistency Criteria)—आर्थिक विकास की प्रक्रिया मे विनियोजन-सगति अत्यन्त आवश्यक होती है। एक उत्पादन-इकाई का उत्पादन दूसरी उत्पादन-इकाई का कच्चा माल बनता है। विभिन्न उत्पादन-क्रियाओ मे यह पारस्परिक सगति बनाये रखकर उत्पादन मे पड़ने वाले अवरोधो एव कुछ क्षेत्रो मे अति एव कुछ मे न्यून उत्पादन के दोषो को रोका जा सकता है। विनियोजन सम्बन्धी निर्णय करने के लिए इसीलिए आदाय-प्रदाय-विश्लेषण की आवश्यकता होती है। वास्तव मे आधुनिक युग मे नियोजित विकास के अन्तर्गत आदाय-प्रदाय-विश्लेषण द्वारा विनियोजन-सगति बनाये रखना विनियोजन-नीति का मूलाधार होता है। अन्य सभी गुणमानो के आधार पर लिये गये निर्णयो को अन्तिम रूप आदाय-प्रदाय-विश्लेषण के आधार पर दिया जाता है।

(6) **सीमान्त सामाजिक उत्पादकता विश्लेषण**—नियोजित अर्थ-व्यवस्था का अन्तिम लक्ष्य उत्पादन-वृद्धि नही होता है। उत्पादन-वृद्धि तो नियोजित विकास के अन्तिम लक्ष्य जन-कल्याण का माध्यम मात्र होता है। ऐसी परिस्थिति मे नियोजन के अन्तर्गत साधनो का आवटन इस प्रकार किया जाता है कि एक ओर राष्ट्रीय आय मे पर्याप्त वृद्धि हो और दूसरी ओर सामाजिक कल्याण की व्यवस्था की जा सके। सामाजिक कल्याण के अन्तर्गत प्रति व्यक्ति उपयोग-स्तर मे वृद्धि, बेरोजगारी का निवारण, विषमताओ की कमी, सामाजिक शोषण की समाप्ति तथा आर्थिक शक्तियो के केन्द्रीकरण पर रोक लगाने की कार्यवाहियाँ की जाती है। इस प्रकार साधनो का आवटन द्विमार्गीय होता है—*आय-वृद्धि एव जन-कल्याण। साधनो के इस द्विमार्गीय प्रवाह मे* उत्पन्न होने वाले विरोधाभासो एव अवरोधो को दूर करके सामजस्य स्थापित करने की आवश्यकता होती है। यही कारण है कि साधनो का आवटन पूँजी-उत्पाद-अनुपात विश्लेषण पर नही किया जाता है और इसके स्थान पर सामाजिक सीमान्त उत्पादकता (Social Marginal Productivity) का उपयोग साधनो के आवटन के लिए अधिक उपयुक्त समझा जाता है। साधनो के विनियोजन से जो लाभ प्राप्त होता है उसी पर ध्यान नही दिया जाता है वरन् उस विनियोजन से उदय होने वाली सामाजिक हानियो एव लाभो को भी ध्यान मे रखा जाता है। सामाजिक लागत के अन्तर्गत किसी विशेष विनियोजन से उपलब्ध होने वाले प्रत्यक्ष उत्पादन को छोड़कर उत्पन्न होने वाले अन्य आर्थिक एव सामाजिक प्रभावो को *सम्मिलित किया जाता है। अन्य प्रभावो मे देश की राष्ट्रीय उत्पादन-वृद्धि* के लिए मिलने वाला अप्रत्यक्ष योगदान, आय-वितरण पर पड़ने वाले प्रभाव, जन-स्वास्थ्य एव कल्याण पर पड़ने वाले प्रभाव आदि तत्व सम्मिलित किये जाते हैं। सामाजिक सीमान्त उत्पादकता का अनुपात निम्नलिखित सूत्र से ज्ञात किया जा सकता है :

$$\text{सीमान्त सामाजिक उत्पादकता } (S\ M.\ P) = \frac{V - C}{K}$$

[V = उस विनियोजन से उपलब्ध होने वाला उत्पादन, C = सामाजिक लागत, तथा K = विनियोजित की गयी पूँजी]

सामाजिक लागत का निर्धारण करने के लिए अवसर-लागत को आधार माना जाता है। अवसर-लागत का तात्पर्य उस हानि से है जो अर्थ-व्यवस्था को किसी उत्पादन के साधन के उपयोग न होने से होती है। अल्प-विकसित राष्ट्रो मे श्रम की बाहुल्यता के कारण श्रम की अवसर-लागत लगभग शून्य के बराबर होती है। निजी साहसी द्वारा जब कोई विनियोजन किया जाता है तो वह केवल

सीमान्त उत्पादकता को ही ध्यान मे रखता है क्योकि उसे सामाजिक लाभो मे कोई व्यक्तिगत रुचि नही होती है। यदि निजी विनियोजक को किसी साधन की अवसर-लागत की तुलना मे अधिक मूल्य देना पडता है तो निजी सीमान्त उत्पादकता की तुलना मे सीमान्त सामाजिक उत्पादकता अधिक होगी। सिद्धान्त रूप से श्रम-बाहुल्य वाले राष्ट्रो मे श्रम की अवसर-लागत शून्य होती है परन्तु वास्तव मे श्रम की लागत परम्पराओ, विपणि मे मजदूरी का सामान्य स्तर आदि के कारण उसकी अवसर-लागत से बहुत अधिक होती है जिससे निजी सीमान्त उत्पादकता (पूँजी-उत्पाद-अनुपात) और सीमान्त सामाजिक उत्पादकता मे अन्तर रहता है। यदि श्रम की अवसर-लागत शून्य मान ली जाय तो भी पूँजी के उत्पादक उपयोग से निजी विनियोजन को प्राप्त होने वाले लाभ समाज को प्राप्त होने वाले लाभो से भिन्न रहते हैं क्योकि समाज को उत्पादक विनियोजन से बहुत से पूरक लाभ एव हानि प्राप्त होते है।

राज्य द्वारा जब विनियोजन-कार्यक्रम निर्धारित किये जाते है तो राज्य विनियोजन के प्रत्यक्ष लाभ के अतिरिक्त सामाजिक लाभो को भी ध्यान मे रखता है। यही कारण है कि नियोजित विकास के कार्यक्रम में उपरिव्यय-सुविधाओ—यातायात सचार, शिक्षा, स्वास्थ्य एव कल्याण आदि—से सम्बन्धित कार्यक्रमो को अधिक महत्व दिया जाता है।

इस प्रकार सीमान्त सामाजिक उत्पादकता विश्लेषण के अन्तर्गत साधनो का वितरण करते समय प्रत्येक विनियोजन द्वारा समाज पर पडने वाले समस्त प्रभावो को ध्यान मे रखा जाता है। परन्तु उत्पादन के साधनो की अवसर-लागत एव विनियोजन से उपलब्ध सामाजिक लाभो और हानियो की गणना करना अत्यन्त कठिन होता है।

(7) **सीमान्त प्रति व्यक्ति पुनर्वियोजन हेतु सीमान्त साधनो की उपलब्धि का विश्लेषण**—हार्बे, लिबिन्स्टन और गेलेंसन के अनुसार साधनो का आवटन करते समय भविष्य के उत्पादन एव उपभोग को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाना चाहिए। साधनो से इस आवटन को सर्वश्रेष्ठ समझना चाहिए जिसके द्वारा भविष्य मे पुनर्विनियोजन हेतु सर्वाधिक साधन उपलब्ध होते हो। यह विश्लेषण इस मान्यता पर आधारित किया गया है कि अर्थ-व्यवस्था मे उदय होने वाला लाभ पूर्णरूपेण पुनर्विनियोजन हेतु उपलब्ध होता है और मजदूरी की सम्पूर्ण राशि उपभोग पर व्यय होती है। इस नियम के अनुसार उस परियोजना को प्राथमिकता दी जानी चाहिए जो भविष्य मे पूंजी-निर्माण की दर को अधिकतम गति से बढाती हो। पूँजी-प्रधान उत्पादन तान्त्रिकताओ से सीमान्त पुन-र्विनियोजन साधनो की उपलब्धि श्रम-प्रधान उत्पादन तान्त्रिकताओ की तुलना में अधिक होती है, क्योकि पूँजी-प्रधान तान्त्रिकताओं मे लाभ की मात्रा मे अधिक वृद्धि होती है। परन्तु यह विश्लेषण इस बात को स्पष्ट नही करता कि लाभ की अधिक मात्रा पुनर्विनियोजन के लिए क्यो उपलब्ध होगी। केवल भविष्य को ही ध्यान मे रखकर साधनो के आवटन के सम्बन्ध मे निर्णय करना वाछ-नीय नही हो सकता है।

(8) **डाब-सेन का समय-विश्लेषण**—इस विश्लेषण के अनुसार साधनो का आवटन करने हेतु समय-घटक को सर्वाधिक महत्व दिया जाना चाहिए। साधनों का आवटन ऐसी परियोजनाओ मे किया जाना चाहिए जिनमे विनियोजन करने के कारण वर्तमान मे हुई उपभोग की क्षति की पूर्ति निश्चित अवधि मे उस विनियोजन के फलस्वरूप की जा सके। इस समय-घटक के आधार पर ही उत्पादन-तकनीक का निर्धारण किया जाना चाहिए। श्रम-प्रधान उत्पादन-तान्त्रिक-ताएँ प्रारम्भ मे अल्पकाल मे पूँजी-प्रधान तान्त्रिकताओ की तुलना मे अधिक उत्पादन देती है और दीर्घकाल मे यह परिस्थिति उल्टी हो जाती है। ऐसी दशा मे हमे अपने विनियोजन एव तकनीक सम्बन्धी निर्णय करते समय उस समय को आधार मानना चाहिए जिस समय-अवधि मे हम विनि-योजन से उत्पादन प्राप्त करना चाहते हैं। यह समय-अवधि अर्थ-व्यवस्था की वर्तमान स्थिति पर निर्भर रखी जा सकती है। परन्तु प्रत्येक परियोजना के सम्बन्ध मे इस समय-अवधि का ठीक-ठीक निर्धारण करना कठिन होता है।

(9) **पूंजी-उत्पाद-अनुपात विश्लेषण**—अल्प-विकसित राष्ट्रो मे न्यूनतम पूंजी-विनियोजन पर अधिकतम उत्पादन प्राप्त करके विकास-प्रक्रिया को तीव्र गति प्रदान की जा सकती है। इन राष्ट्रो मे पूंजी की अन्य साधनो की तुलना मे कमी होती है जिससे पूँजी के गहन उपयोग करने को अधिक महत्व दिया जाता है। परन्तु कम पूंजी-उत्पाद-अनुपात वाले विनियोजन कार्यक्रम प्रारम्भिक काल म अधिक उत्पादन देते है परन्तु उनके सम्पूर्ण जीवनकाल का उत्पादन अधिक पूंजी-उत्पाद-अनुपात वाली परियोजनाओ की तुलना मे कम ही होना है। दीर्घकाल मे वर्तमान की कम पूंजी-उत्पाद-अनुपात वाली परियोजनाएँ उच्च पूंजी-उत्पाद-अनुपात वाली परियोजनाएँ सिद्ध होती है क्योकि कम पूंजी उत्पाद अनुपात वाली परियोजनाओ के पूरक एव सहायक लाभ कम होते है और इनसे पुनर्विनियोजन हेतु साधन भी कम उपलब्ध होते है। इन परियोजनाओ के लाभ का वितरण मजदूरी पाने वाले वर्ग के पक्ष मे होता है जो अपनी आय का अधिकतर भाग उपभोग पर व्यय कर लेता है। दूसरी ओर, उच्च पूंजी उत्पाद-अनुपात वाली परियोजनाओं के लाभ का वितरण साहसी वर्ग के पक्ष मे होता है जो अपने लाभ का अधिकतर भाग पुनर्विनियोजन हेतु उपयोग करता है। इस प्रकार विकास की दर को ऊँची रखने के लिए उच्च पूंजी-उत्पाद-अनुपात वाली परियोजनाओ पर साधनो का आवटन किया जाना चाहिए परन्तु जन-कल्याण के दृष्टिकोण से यह आवटन उपयुक्त नही समझा जा सकता है क्योकि अल्प विकसित राष्ट्रो म श्रम का बाहुल्य एव पूंजी की कमी विद्यमान रहती है।

(10) **श्रम-पूंजी-अनुपात विश्लेषण**—जिन राष्ट्रो मे व्यापक बेरोजगारी विद्यमान हो और जनसख्या की वृद्धि की दर तेज हो उनमे साधनो का आवटन करते समय ऐसी परियोजनाओ को प्राथमिकता दी जानी चाहिए जिनमे पूंजी का प्रतिस्थापन वृहद मात्रा म उपलब्ध श्रम से किया जा सके। वे परियोजनाएँ अधिक उपयुक्त समझी जाती है जिनमे प्रति पूँजी की इकाई के लिए अधिकतम श्रम का उपयोग किया जाय। यह विश्लेषण उत्पादन वृद्धि के स्थान पर श्रम के उपयोग को अधिक महत्व देता है। इस विश्लेषण का उपयोग तभी किया जाना चाहिए जबकि रोजगार मे वृद्धि को अन्य सभी तथ्यों की तुलना मे सर्वाधिक महत्व प्रदान किया जाता हो।

(11) **भुगतान-सन्तुलन विश्लेषण**—अल्प-विकसित राष्ट्रो मे प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन की समस्या विकास प्रक्रिया को अवरुद्ध करती है और इस समस्या का निवारण विकास-कार्यक्रमो का मुख्य अग होता है। साधनो का आवटन करते समय ऐसी परियोजनाओ को प्राथमिकता दी जाती है जिनके द्वारा आयात-प्रतिस्थापन एव निर्यात सवर्द्धन सम्भव हो सकें। सीमान्त सामाजिक उत्पादकता का अध्ययन करते समय परियोजना के भुगतान-सन्तुलन पर पडने वाले प्रभावो का समायोजन किया जाता है। विनियोजन कार्यक्रमो मे निर्यात-सवर्द्धन सम्बन्धी परियोजनाओ को आयात प्रतिस्थापन सम्बन्धी परियोजनाओ की तुलना मे अधिक महत्व दिया जाना है क्योकि दीर्घ काल मे आयात प्रतिस्थापन सम्बन्धी परियोजनाएँ विदेशी विनिमय की बचत करने मे सहायक नहीं होती है। इन परियोजनाओ मे उत्पादन लागत इतनी अधिक होती है कि इनका आयात करना ही उपयुक्त होता है बशर्ते निर्यात द्वारा इस आयात का भुगतान करना सम्भव हो सके।

(12) **आय-सन्तुलन विश्लेषण**—अल्प विकसित राष्ट्रो मे जनसख्या का बहुत बडा भाग अत्यन्त गरीब होता है और यह गरीब वर्ग प्राय ग्रामो मे केन्द्रित रहता है। आय के विषम वितरण को कम करने तथा विकास के लाभो का गरीब-वर्ग के पक्ष मे वितरण करने हेतु साधनो का आवटन ऐसी परियोजनाओ के लिए किया जाता है जिनमे ग्रामीण-विकास गतिमान होता हो, यद्यपि इन परियोजनाओ से राष्ट्रीय उत्पादन म वृद्धि की गति मन्द ही रहती है। आय-सन्तुलन सम्बन्धी परियोजनाएँ आय का प्रवाह ऐसे वर्ग के पक्ष मे करती है जो अपनी बढी हुई आय को पुनर्विनियोजन हेतु उपभोग नही करते और आय का सम्पूर्ण भाग उपभोग पर व्यय कर देते है। ऐसी परिस्थिति मे उपभोक्ता-वस्तु क्षेत्र पर माँग का भार अत्यधिक बढ जाता है और पूर्ति मे उसके अनुरूप वृद्धि न होने पर मुद्रा स्फीति का दूषित चक्र गतिमान हो जाता है। इस प्रकार विनियोजन-

कार्यक्रम निर्धारित करते समय उत्पादन-वृद्धि एव आय-सन्तुलन सम्बन्धी परियोजनाओ मे सामजस्य स्थापित करना आवश्यक होता है।

(13) **क्षेत्रीय सन्तुलन विश्लेषण**—साधनो का आवटन करते समय एक ऐसे राष्ट्र मे जिसमे विभिन्न क्षेत्रो मे समान जीवन-स्तर एव आर्थिक क्रियाएँ विद्यमान नही रहती हैं, ऐसी परियोजनाओं को प्राथमिकता दी जाती है जिनके द्वारा पिछडे क्षेत्रो मे आर्थिक क्रियाएँ गतिमान हो सकें और ये क्षेत्र भी देश के अन्य क्षेत्रो के समान जीवन स्तर प्राप्त कर सकें। पिछडे क्षेत्रो मे विकास को गतिमान करने के लिए इन क्षेत्रो मे उपरिव्यय-सुविधाओ (यातायात, सचार, शिक्षा, स्वास्थ्य, अधिकोषण, बीमा आदि) मे वृद्धि की जाती है। इन क्षेत्रों मे मूल सुविधाओ के अभाव के कारण परियोजनाओ की निर्माण-लागत अधिक आती है और सेवाओ एव वस्तुओं के उत्पादन में बहुत से अवरोध उत्पन्न होते हैं जिनके परिणामस्वरूप इन क्षेत्रो की विकास-परियोजनाओं मे किये गये विनियोजन मे तुरन्त मे कम उत्पादन उपलब्ध होता है जो विकास की गति को मन्द करता है। परन्तु क्षेत्रीय असन्तुलन को समाजवाद के अन्तर्गत बनाये रखना सैद्धान्तिक रूप से वाछनीय न होने के कारण पिछडे क्षेत्रो के लिए विनियोजन का आवटन किया जाता है।

(14) **आर्थिक एव सामाजिक सरचना का विश्लेषण**—नियोजित विकास के अन्तर्गत यह करना आवश्यक होता है कि विकास के माध्यम से देश मे किस प्रकार की आर्थिक एव सामाजिक सरचना की स्थापना की जायेगी। भारत मे द्वितीय योजना का प्रारम्भ करते समय देश में समाजवादी प्रकार के समाज की स्थापना करने का निर्णय किया गया और उसके अनुरूप साधनो के आवटन की व्यवस्था की गयी। नियोजित विकास के अन्तर्गत देश मे प्राय समाजवादी समाज की स्थापना करने का लक्ष्य रखा जाता है जिसकी उपलब्धि के लिए सार्वजनिक क्षेत्र का तीव्र गति से विस्तार किया जाता है। ऐसी परियोजनाओ को प्राथमिकता प्रदान की जाती है जो सार्वजनिक क्षेत्र मे सचालित हों अथवा जिन पर राज्य का प्रभावशाली नियन्त्रण स्थापित किया जा सके। निजी क्षेत्र पर पर्याप्त नियन्त्रण सचालित करने के लिए आधारभूत कच्चे माल, आधारभूत उद्योगों एव अव-सरचना की सुविधाओ के लिए सार्वजनिक क्षेत्र मे साधनो का आवटन किया जाता है।

उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि साधनो के आवटन की समस्या अत्यन्त गम्भीर होती है और उसके निवारण के लिए अर्थ-व्यवस्था से सम्बन्धित तथ्यों का विस्तृत अध्ययन करना आवश्यक होता है। साधनो का आवटन करते समय उत्पादकता, सामाजिक लाभ, तान्त्रिकताओ का चयन भौगोलिक स्थानीयकरण का चयन, क्षेत्र (Sector) का चयन, आय-वितरण एव क्षेत्रीय सन्तुलन पर प्रभाव तथा विदेशी विनिमय के साधनो पर पडने वाले प्रभावो आदि का अध्ययन करने की आवश्यकता होती है। इन सभी लक्ष्यो की पूर्ति करने मे कोई भी विनियोजन करने मे समर्थ नही होता है। ऐसी परिस्थिति मे योजना के मुख्य उद्देश्यों के आधार पर साधनो का विभिन्न परियोजनाओ के लिए आवटन किया जाता है। उपलब्ध साधनो का आवटन अलग-अलग लक्ष्यो के आधार पर इस प्रकार करने का प्रयत्न किया जाता है कि एक ओर राष्ट्रीय उत्पादन मे तीव्र गति से वृद्धि की जा सके और दूसरी ओर अर्थ व्यवस्था मे आय एव अवसर के असन्तुलनों को कम किया जा सके। साधनो का आवटन केवल आर्थिक विचारधाराओ पर ही नही होता, राजनीतिक दवाव एव मान्यताएँ भी साधनो के आवटन को प्रभावित करती है। साधनो का आवटन करते समय अन्य समस्त विश्लेषणों के साथ साथ विभिन्न विनियोजनों की सगतिता (Investment Consistency) पर विशेष ध्यान दिया जाता है। विभिन्न परियोजनाओ द्वारा अर्थ-व्यवस्था मे से जो आदाय (Inputs) लिये जाते है एव जो प्रदाय (Ouputs) प्रदान किये जाते है उनमे सगतिता स्थापित करना अर्थ-व्यवस्था के सन्तुलन के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है। विकासशील राष्ट्रो मे नियोजित विकास की गति मन्द रहने का सबसे बडा कारण विनियोजन मे पर्याप्त सगतिता की कमी होती है जिससे उत्पादन-कार्यक्रमो मे समय-समय पर गतिरोध उत्पन्न होता है। साधनो के विनियोजन की सगतिता स्थापित करने हेतु विस्तृत आदाय-प्रदाय विश्लेषण करने की तकनीक

अपनायी जाती है और विनियोजन परियोजनाओं के आदाय-प्रदाय सम्बन्धी मैट्रिक्स (Matrix) तैयार किये जाते हैं।

पूँजी-निर्माण का माप

आर्थिक प्रगति का सूक्ष्म अध्ययन करने के लिए आवश्यक है कि अर्थ-व्यवस्था में किसी विशिष्ट समय पर उपलब्ध पूँजी के साधनों को मापा जाय। राष्ट्रीय आय के सूक्ष्म माप के लिए भी उपलब्ध पूँजी को मापना आवश्यक होता है क्योंकि वर्तमान राष्ट्रीय स्तर को बनाये रखने हेतु वर्तमान पूँजी-स्कन्ध को बनाये रखना आवश्यक होता है और राष्ट्रीय आय में वृद्धि करने हेतु वर्तमान पूँजी-स्कन्ध में वृद्धि करने की आवश्यकता होती है। अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं के नियोजित विकास के लिए पूँजी निर्माण का सूक्ष्म माप अत्यन्त आवश्यक होता है क्योंकि विकास की गति की दर का लक्ष्य पूँजी की उपलब्धि के आधार पर निर्धारित होता है। पूँजी निर्माण का माप करने के लिए प्राय निम्नलिखित चार विधियों का उपयोग किया जाता है

(1) **कोषों के सचय की अनुमान विधि (Accumulation of Funds Method)**—इस विधि के अन्तर्गत किसी निश्चित अवधि में बचतों का अनुमान लगाया जाता है। ये बचतें *अर्थ-व्यवस्था के उत्पादन एवं उपभोग के अन्तर से अनुमानित की जाती हैं और इस अन्तर को* विनियोजन मान लिया जाता है। यह विधि कीन्स के सिद्धान्त पर आधारित है कि बचत विनियोग के बराबर होती है। इस विधि में कोषों के प्रवाह के आधार पर पूँजी निर्माण को मापा जाता है और उत्पादक एवं गैर उत्पादक विनियोजन में भेद नहीं किया जाता। अल्प-विकसित राष्ट्रों में यह विधि व्यावहारिक नहीं होती क्योंकि इन राष्ट्रों में उत्पादन एवं उपभोग के पर्याप्त एवं विश्वसनीय आँकड़े उपलब्ध नहीं होते हैं। इन अर्थ-व्यवस्थाओं में गैर मौद्रिक क्षेत्र में बहुत से व्यवहार होने के कारण उपभोग एवं उत्पादन का अनुमान लगाना कठिन होता है।

(2) ***उपक्रमों द्वारा किये गये व्यय की अनुमान-विधि***—*इस विधि में किसी विशेष अवधि* में विभिन्न उपक्रमों (Enterprises) द्वारा जो पूँजीगत व्यय किये जाते हैं, उनकी गणना की जाती है और इस व्यय के योग को इस अवधि का पूँजी-निर्माण माना जाता है। पूँजीगत व्ययों में यन्त्रों, प्रसाधनों (Equipments) भवनों एवं अन्य निर्माणों पर उपक्रमों द्वारा जो व्यय विशिष्ट अवधि में किये जाते हैं सम्मिलित रहते है। इन स्थायी सम्पत्तियों के क्रय मूल्य के अतिरिक्त इनके यातायात, सफाई, वैधानिक एवं अप्रत्यक्ष सम्बन्धित व्यय भी पूँजीगत व्यय में सम्मिलित कर लिये जाते हैं। यह विधि भी दोषरहित नहीं है क्योंकि व्यय की परिभाषा समान नहीं होती है।

(3) ***पूँजी-स्कन्ध की मूल्यांकन-विधि***—*इस विधि में वर्ष के प्रारम्भ एवं अन्त में अर्थ-*व्यवस्था में उपलब्ध पूँजी-स्कन्ध का मूल्यांकन कर लिया जाता है और इन दोनों मूल्यांकनों के अन्तर में ह्रास एवं अप्रचलन की क्षतियों को घटाकर वर्ष के पूँजी निर्माण का माप किया जाता है। पूँजी-स्कन्ध का मूल्यांकन करते समय दोनों समयों के मूल्य-स्तर के अन्तर से समायोजन भी कर दिया जाता है। अल्प-विकसित राष्ट्रों में इस विधि के उपयोग में भी कठिनाई होती है क्योंकि विपणियों के विकसित न होने के कारण पूँजी स्कन्ध का उचित मूल्यांकन करना सम्भव नहीं होता है।

(4) **वस्तु प्रवाह विधि (Commodity Flow Method)**—इस विधि के अन्तर्गत किसी *अर्थ-व्यवस्था में पूँजी निर्माण का माप करने के लिए अर्थ-व्यवस्था में किसी विशिष्ट अवधि की* उत्पादित पूँजीगत वस्तुओं एवं आयातित पूँजीगत वस्तुओं का मूल्यांकन किया जाता है और इस मूल्यांकन में से परिवार को बेची गयी (निवास-गृहों को छोड़कर) एवं निर्यात की गयी पूँजीगत वस्तुओं का मूल्यांकन घटा दिया जाता है। इस प्रकार किसी विशिष्ट अवधि में अर्थ-व्यवस्था में प्रवेश करने वाले पूँजी स्कन्ध का मूल्य ज्ञात हो जाता है। यह विधि ऐसे अल्प-विकसित राष्ट्रों के लिए अधिक उपयुक्त है जो पूँजीगत प्रसाधनों के लिए आयात पर निर्भर रहते है। इस विधि के द्वारा पूँजी निर्माण का उचित अनुमान तभी लगाया जा सकता है जब उत्पादकों एवं वितरकों के पास रहने वाले वर्ष के प्रारम्भ एवं अन्त के स्कन्ध का समायोजन भी कर दिया जाय।

पूंजी-निर्माण का उचित माप करने मे सबसे बडी कठिनाई यह होती है कि पूँजी मे सम्मिलित होने वाली सम्पत्तियो मे अत्यधिक विभिन्नता होती है और एक प्रकार की सम्पत्ति मे गुणात्मक भेद भी बहुत होते हैं जिसके परिणामस्वरूप सम्पत्तियो का मूल्याकन करने मे कठिनाई होती है।

आर्थिक प्रगति में पूंजी-निर्माण का महत्व

पूंजी-निर्माण का आर्थिक प्रगति की प्रक्रिया मे अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान होता है क्योंकि पूंजी-निर्माण के परिमाण पर राष्ट्रीय उत्पादन एव आय की वृद्धि की दर निर्भर रहती है। उत्पादन के विभिन्न घटको—प्राकृतिक साधन, भूमि एव श्रम—मे मनुष्य द्वारा असीमित मात्रा मे वृद्धि नहीं की जाती है। पूंजी के मनुष्यकृत उत्पादन-घटक होने के कारण उसे मानव के प्रयासो से असीमित मात्रा तक विस्तृत किया जा सकता है। भूमि एव प्राकृतिक साधनो का परिमाण प्राय स्थिर होता है और इनमे आवश्यकतानुसार वृद्धि करना सम्भव नही होता है। इसी प्रकार श्रम की मात्रा अथवा पूर्ति भी समाज की जनसख्या की सरचना एव वातावरण पर निर्भर रहती है। किसी भी निश्चित समय मे किसी राष्ट्र मे जब उत्पादन के ये तीनो घटक—भूमि, प्राकृतिक साधन एव श्रम—सीमित रहते हैं तो आर्थिक प्रगति के लिए पूंजी ही ऐसा साधन बचता है जिसमे वृद्धि करके राष्ट्रीय उत्पादन मे वृद्धि की जा सकती है। इस प्रकार किसी भी अर्थ-व्यवस्था की उत्पादन-क्षमता मे वृद्धि उसकी पूंजी-निर्माण मे वृद्धि करने की क्षमता पर निर्भर रहती है। दूसरे शब्दो मे यह भी कह सकते है कि उत्पादन-क्षमता की वृद्धि अर्थ-व्यवस्था की चालू आय के उस अनुपात पर निर्भर रहती है जिसका पूंजी-निर्माण के लिए उपयोग होता है। पूंजी-स्कन्ध का गुणात्मक तत्व भी अर्थ-व्यवस्था की उत्पादन-क्षमता को प्रभावित करता है। पूंजी-निर्माण उत्पादन-क्षमता को बढाने मे निम्नवत् योगदान प्रदान करता है

(अ) पूंजी-निर्माण द्वारा उत्पादन की जटिल विधियो का उपयोग करना सम्भव होता है। प्रत्येक उत्पादन की समस्त प्रक्रिया एक ही केन्द्र पर न होकर विभिन्न केन्द्रो पर की जाती है और प्रत्येक केन्द्र किसी वस्तु के केवल कुछ अशो का ही उत्पादन करता है। इस प्रकार उत्पादन मे विशिष्टीकरण का प्रादुर्भाव होता है और बडे पैमाने का उत्पादन सम्भव होता है। ऐसी परिस्थिति मे उत्पादन की प्रविधि घुमाव-फिरावदार होती है। इस घुमाव-फिरावदार उत्पादन-विधि मे प्रत्येक व्यवसाय की उत्पादन-क्षमता का विस्तार होना सम्भव होता है।

(आ) पूंजी-सचय मे वृद्धि हो जाने से पूंजी का एक ओर गहन उपयोग होता है और दूसरी ओर पूंजी का विस्तार भी होता है। उपलब्ध पूंजी का अधिक लाभप्रद उपयोग करने के लिए जटिल यन्त्रो एव विधियो का उपयोग करना आवश्यक होता है जो पूंजी का बडी मात्रा मे उपयोग करके ही सम्भव हो सकता है क्योकि जटिल यन्त्रो आदि की मूल लागत एव सचालन-लागत दोनो ही अधिक होती है। इसके साथ ही पूंजी की उपलब्धि मे वृद्धि होने पर पूंजी का उपयोग विभिन्न प्रकार के उत्पादनो पर किया जाना सम्भव होता है। इस प्रकार पूंजी-निर्माण द्वारा समस्त अर्थ-व्यवस्था की गतिविधियो मे तीव्रता आती है और उत्पादन-क्षमता मे वृद्धि होती है।

(इ) विनियोजन की वृद्धि से विकास का चक्र गतिशील होता है और राष्ट्रीय उत्पादन की वृद्धि का क्रम प्रारम्भ हो जाता है। जब विनियोजन-दर मे पर्याप्त वृद्धि हो जाती है तो इसके परिणामस्वरूप एक ओर उत्पादक एव पूंजीगत वस्तुओ मे वृद्धि होती है और दूसरी ओर जनसाधारण की क्रय-शक्ति मे वृद्धि होती है। उत्पादक वस्तुओ की पूर्ति मे वृद्धि होने से नवीन कारखानो की स्थापना होती है और राष्ट्रीय उत्पादन मे वृद्धि होती है। दूसरी ओर, जनसाधारण की क्रय-शक्ति बढने पर उपभोक्ता वस्तुओ की माँग मे वृद्धि होती है जिसके अनुरूप उत्पादन की क्रियाओ का विस्तार होता है और राष्ट्रीय आय मे वृद्धि होती है। इस प्रकार विनियोजन की वृद्धि द्वारा विनियोजन-गुणक क्रियान्वित होने लगता है और अर्थ-व्यवस्था आर्थिक प्रगति के पथ पर अग्रसर हो जाती है।

(ई) तान्त्रिक प्रगति का लाभ उठाने के लिए अधिक पूंजी की आवश्यकता होती है। नवीन तान्त्रिकताओं के लिए अधिक लागत वाले यन्त्रों एवं प्रसाधनों की आवश्यकता तो होती ही है, साथ ही इन तान्त्रिकताओं के लिए जिन उपरिव्यय-सुविधाओं (Overhead Facilities) की आवश्यकता होती है उनके लिए अधिक पूंजी विनियोजन आवश्यक होता है। पूंजी-स्कन्ध में वृद्धि होने से नवीन तान्त्रिकताओं का वृहद् स्तर पर उत्पादन हेतु उपयोग किया जाता है और फिर उपरिव्यय पूंजी को भी बढ़ाया जाता है। इस प्रकार विकास की प्रक्रिया गतिशील हो जाती है।

(उ) पूंजी-स्कन्ध की उपलब्धि होने पर नवीन नगरों का विकास एवं विस्तार होता है। इन नगरों में उपरिव्यय-सुविधाओं का विस्तार किया जाता है। नवीन औद्योगिक श्रमिक वर्ग का विस्तार होता है जो जीवन की सभी सुविधाओं की माँग करता है। इस प्रकार उत्पादन के नवीन व्यवसायों के विस्तार व अवसरों में वृद्धि होती है जो आर्थिक प्रगति की गति को बढ़ाते हैं।

(ऊ) पूंजी-स्कन्ध में वृद्धि होने से मानवीय गुणों में सुधार होता है। मानव के प्रशिक्षण, शिक्षा, स्वास्थ्य, सामाजिक सुरक्षा एवं कल्याण की विस्तृत व्यवस्था की जाती है जिससे मानव उत्पादन का अधिक कार्यकुशल घटक बनता है, उसका जीवन-स्तर में सुधार होता है और वह अधिक उपभोग्य वस्तुओं की माँग करने लगता है जो और अधिक उत्पादन-वृद्धि का कारण बन जाती है।

यद्यपि आर्थिक प्रगति में पूंजी महत्त्वपूर्ण योगदान देती है परन्तु इसके कार्य में अन्य घटकों का सहयोग प्राप्त होने पर ही उत्पादन-क्षमता एवं उत्पादन-वृद्धि हो सकती है। विकास की प्रारम्भिक अवस्था में नवीन अभिनवों का व्यापारिक उपयोग करने हेतु अधिक पूंजी की आवश्यकता होती है परन्तु एक बार पूंजीगत प्रसाधनों की व्यवस्था करने के पश्चात् कम पूंजी का उपयोग करके अधिक उत्पादन प्राप्त हो सकता है। यही कारण है कि अल्प विकसित एवं विकसित राष्ट्रों में पूंजी निर्माण की दर में अधिक अन्तर न होते हुए भी विकसित राष्ट्रों में राष्ट्रीय उत्पादन की वृद्धि-दर अधिक रहती है। पूंजी की उत्पादकता देश में उपलब्ध प्रशिक्षित श्रमिक-वर्ग पर भी निर्भर रहती है। जिस समाज में मानव में पूंजी-विनियोजन बड़ी मात्रा में किया जाता है, वहाँ पूंजी के मूर्त विनियोजन (Tangible Investment) में उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि होती है। इस दृष्टिकोण से भी विकसित राष्ट्रों में पूंजी की उत्पादकता अधिक रहती है क्योंकि यहाँ के नागरिकों का तान्त्रिक स्तर एवं ज्ञान ऊँचा रहता है।

अल्प-विकसित राष्ट्रों में पूंजी-निर्माण

अल्प विकसित राष्ट्रों में पूंजी की अधिक आवश्यकता

आर्थिक विकास द्वारा अल्प विकसित राष्ट्र जनसमुदाय के जीवन-स्तर में इतना सुधार करना चाहते हैं कि कुछ काल के अन्दर वे अन्य विकसित राष्ट्रों के जीवन-स्तर के समान हो सकें। जीवन-स्तर की वृद्धि हेतु राष्ट्रीय एवं प्रति व्यक्ति आय में पर्याप्त वृद्धि होनी चाहिए और इस वृद्धि के लिए पर्याप्त पूंजी का विनियोजन आवश्यक होता है, अल्प विकसित राष्ट्रों में राष्ट्रीय आय में वृद्धि करने हेतु प्रायः अधिक पूंजी की आवश्यकता होती है क्योंकि इन राष्ट्रों में पूंजी एवं इसके द्वारा उत्पन्न होने वाली आय का अनुपात अधिक होता है, जिसके निम्नलिखित मूल कारण हैं

(1) अल्प विकसित राष्ट्र उपभोक्ता-वस्तुओं का उत्पादन अधिक कार्यकुशलता से कर सकते हैं क्योंकि उनमें श्रम का बाहुल्य तथा तान्त्रिक कुशलताओं की कमी होती है। छोटे-छोटे यन्त्रों की सहायता से उपभोक्ता-वस्तुओं का उत्पादन मितव्ययता से करना सम्भव होता है, परन्तु पूंजीगत वस्तुओं के उत्पादन के लिए न तो कुशल श्रम एवं विशेषज्ञ और न आवश्यक मशीन एवं यन्त्र इनके पास उपलब्ध होते हैं जिससे फलस्वरूप पूंजीगत परियोजनाओं की लागत अधिक और उनके द्वारा उपार्जित आय कम होती है।

(2) अल्प विकसित राष्ट्रों में पूंजी का अपव्यय भी अधिक होता है। कुशल श्रम की न्यूनता होने के कारण जटिल यन्त्रों आदि को संचालित करने का कार्य अर्द्ध-कुशल श्रमिकों द्वारा कराया जाता है जिसके फलस्वरूप टूट-फूट होती है। दूसरे, अनुभवहीनता के फलस्वरूप बहुत से साधन

प्रयोगो पर व्यय हो जाते हैं तथा उपलब्ध उत्पादन क्षमता का पूर्णतम उपयोग नही किया जाता है। भूमिग्रस्त साधनो, जैसे भूमि के उपजाऊपन तथा खनिज एव अन्य प्रकृतिदत्त सुविधाओ का पूर्णतम उपयोग नही किया जाता है। इसके साथ ही, विनियोजन के कार्यक्रम निर्धारित करते समय बहुत सी गम्भीर त्रुटियाँ भी होती हैं जिनमे विनियोजन का कुछ भाग आयोपार्जन किये बिना ही नष्ट हो जाता है। अधिकतर साधनो का उपयोग परम्परागत उद्योगो एव आर्थिक क्रियाओ मे किया जाता है जिसके फलस्वरूप कुछ क्षेत्रो मे पूँजी की इतनी अधिकता हो जाती है कि उपव्यय होता है और अन्य क्षेत्रो मे पूंजी की कमी के कारण उपलब्ध सुविधाओं का पूरा उपयोग नही हो पाता है। इन सभी कारणो के फलस्वरूप पिछडे हुए राष्ट्रो मे राष्ट्रीय आय की वृद्धि के लिए अधिक पूंजी की आवश्यकता होती है।

(3) अल्प विकसित राष्ट्रो मे पूंजी इसलिए कम उत्पादक होती है क्योंकि इन राष्ट्रो मे तान्त्रिकताओ एव ज्ञान का विकास धीमी गति से होता है जबकि पूंजी की उत्पादकता तान्त्रिकताओ के निरन्तर सुधार पर निर्भर रहती है। यदि पूँजी की नवीन तान्त्रिकताओ मे विनियोजन के साथ-साथ उचित शिक्षा एव प्रशिक्षण के लिए भी विनियोजन किया जाय तो अल्प विकसित राष्ट्रो मे विकास की गति विकसित राष्ट्रो की तुलना मे अधिक तीव्र हो सकती है, परन्तु शिक्षा एव प्रशिक्षण की व्यवस्था अल्पकाल मे उचित फल प्रदान नही कर सकती है और जब तक अल्प-विकसित राष्ट्रो मे तान्त्रिकताओ के कुछ सुधार हो पाते हैं तब तक विकसित राष्ट्रो की तान्त्रिकताओ मे और भी सुधार हो जाते है। विकसित राष्ट्रो मे पूंजी के विनियोजन मे वृद्धि किये बिना ही तान्त्रिकताओ के सुधार से वर्तमान पूंजी पर होने वाला उत्पादन बढाना सम्भव होता है। ऐसी परिस्थिति मे अल्प-विकसित राष्ट्रो मे पूंजी द्वारा आय मे वृद्धि कम ही रहती है।

(4) पूंजी एव आय का अनुपात अर्थ व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रो मे अलग-अलग होता है। जनोपयोगी व्यवस्थाओ (Public Utility Undertakings) मे पूंजी एव आय का अनुपात कम होता है जबकि निर्माण सम्बन्धी क्रियाओ मे यह अनुपात अधिक होता है। इसके अतिरिक्त आर्थिक विकास के प्रारम्भिक काल मे पूंजी एव आय का अनुपात कम रहता है क्योंकि नवीन पूंजीगत परियोजनाओ से प्राप्त होने वाले लाभ तुरन्त उपलब्ध न होकर दीर्घकाल मे प्राप्त होते है। जनोपयोगी सेवाओ के व्यवसायों द्वारा भी दीर्घकाल मे इन्ही व्यवसायो की उत्पादकता नही बढती, परन्तु इनके सेवित जनसमुदाय की कार्य क्षमता मे भी वृद्धि होती है। कृषि के क्षेत्र मे अल्प-विकसित राष्ट्रो मे यन्त्रीकरण की अनुपस्थिति मे पूंजी एव आय का अनुपात उद्योगो की तुलना मे अधिक होता है। अल्प-विकसित राष्ट्रो मे नियोजित व्यवस्था के द्वारा विकास प्रारम्भ किया जाता है और कृषि विकास, जनउपयोगी सेवाओ, पूंजी-प्रधान परियोजनाओ तथा नवीन उद्योगो की स्थापना को विशेष महत्व प्रदान किया जाता है। इन सभी क्षेत्रो मे पूंजी एव आय का अनुपात अधिक होता है जिसके फलस्वरूप वाछनीय प्रगति की दर बनाये रखने के लिए अधिक अर्थ-साधनो को जुटाना पडता है।

(5) अल्प-विकसित राष्ट्रो मे अर्थ-साधनो की कमी और श्रम-शक्ति का बाहुल्य होता है। ऐसी परिस्थिति मे पूंजी प्रधान विधियो के स्थान पर श्रम प्रधान तान्त्रिकताओ को प्राथमिकता दी जाती है। जिन परियोजनाओ मे श्रम-प्रधान विधियाँ उपयुक्त नही होती है उनमे ऐसी परियोजनाओ को अधिक महत्व दिया जाता है जिनमे पूंजी का उपयोग कम हो। इनको सचालित करने म चालू व्यय अधिक होता है और ह्रास अधिक होता है तथा इनका जीवनकाल भी कम होता है। इन परियोजनाओं का सचालन इसलिए किया जाता है क्योकि इनमे प्रारम्भिक विनियोजन कम होता है और राष्ट्र में न्यून पूंजी के अपने साधनो के विकास का प्रारम्भ किया जाता है। परन्तु इन प्रारम्भिक कम विनियोजन वाली परियोजनाओ मे चालू व्यय एव ह्रास अधिक होने के कारण इनसे प्राप्त होने वाली शुद्ध आय कम होती है। इस प्रकार पूंजी एव आय का अनुपात अधिक रहता है।

उत्पादक क्रियाओ मे विनियोजन कम होने के कारण

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि अल्प-विकसित राष्ट्रो मे नियोजित विकास के लिए अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है और विकसित राष्ट्रो के समान विकसित होने के लिए इन्हे अधिक पूँजी का विनियोजन करना चाहिए परन्तु अल्प-विकसित राष्ट्रो मे उत्पादक क्रियाओं मे विनियोजन कम किया जाता है जिसके प्रमुख कारण निम्नवत होते है

(अ) स्वभाव—जनसमुदाय नवीन तथा अपरिचित आर्थिक क्रियाओ के महत्व एव तीव्रता की तुलना मे परिचित एव प्राचीन काल से चली आ रही आर्थिक क्रियाओ को प्राथमिकता देते है। स्वभाव का निर्माण अनेक कारणो का परिणाम है। स्वभाव का परिवर्तन इन अवस्थाओ मे परिवर्तन के पश्चात ही सम्भव है। रूढिवादी तथा पुराने रीति रिवाजो द्वारा नियन्त्रित अर्थव्यवस्था मे ही लोग अपना कल्याण समझते है तथा शिक्षा का अभाव, पैतृक रुझान, प्रोत्साहन की अनुपस्थिति आदि कारण विद्यमान रहते है।

(आ) सीमित माँग—जनसमुदाय की आय अत्यन्त अल्प होने के कारण उनकी क्रय शक्ति भी अत्यन्त न्यून होती है। साथ ही, कृपक तथा ग्रामीण श्रमिक आत्म निर्भरता पर विश्वास करते है। अपनी आवश्यकताओ को स्थानीय अपर्याप्त उत्पादन द्वारा ही सन्तुष्ट कर लेने के कारण प्रचलित अवस्थाओ मे आत्म सन्तुष्टि की भावना की प्रबलता भी उनम पायी जाती है। निधनता के कारण न्यून आवश्यकताएँ पूर्ण जीवन उनका ध्येय हो जाता है। इस प्रकार वस्तुओ की नवीन पूर्ति को आवश्यक माँग प्राप्त होना कठिन होता है तथा निजी साहसी माँग उत्पन्न करने की जोखिम नही उठाना चाहता।

(इ) श्रम की उत्पादन-क्षमता का अभाव—अशिक्षा अज्ञानता, निवास का अस्वास्थ्यकर वातावरण गतिशीलता का अभाव निम्न जीवन-स्तर, अपर्याप्त अपोषक भोजन एव अन्य अनिवार्यताएँ श्रमिक की कार्य क्षमता मे ह्रास उत्पन्न करती है। परिणाम होता है श्रम की सस्ती एव सुगम उपलब्धि होने पर भी उत्पत्ति लागत का अधिक होना।

(ई) आधारभूत सुविधाओ की कमी—यातायात सचार जल की वितरण व्यवस्था, विद्युत शक्ति प्रदाय अधिकोषण अथवा साख सुविधाएँ आदि आधारभूत सुविधाओ की अनुपस्थिति के कारण साहसी का सम्भावित लाभ कम ही रहता है। लाभ की न्यूनता किसी उद्योग की ओर पूँजी के आकर्षण को नही अपितु उनकी उदासीनता (Indifference) को जाग्रत करती है।

(उ) योग्य साहसियों की कमी—अल्प विकसित राष्ट्रो म साहसी का कार्य अत्यन्त जोखिम पूर्ण होता है क्योकि वह तथ्यो एव आँकडो मे सवथा अनभिज्ञ रहता है। केवल अनुमान मात्र पर आधारित किसी भी उद्यम का कल युग मे असफल होना अवश्यम्भावी है। अनुभव की अनुपस्थिति नये साहसी की ओर आकर्षण उत्पन्न नही करती यद्यपि अल्प-विकसित राष्ट्रो मे साहसी को विकसित राष्ट्रो के अनुभवो का लाभ उपलब्ध है परन्तु आधुनिक युग मे साहसी को विभिन्न योग्यताओ तथा अनुभवो की आवश्यकता होती है।

(ऊ) पूँजीगत वस्तुओ की अनुपलब्धि—नवीन उद्योग की स्थापना के लिए यन्त्रादि पूँजीगत वस्तुओं की आवश्यकता होती है, जो देश मे उपलब्ध नही होती और लगभग सभी वस्तुएँ विदेशो मे आयात करनी पडती है। इन वस्तुओ का मूल्य अधिक देना पडता है तथा बीमा एव यातायात-व्यय भी अत्यधिक होता है। साथ ही इन मशीनो को चलाने के लिए निपुण श्रमिक देश मे नही मिलते उनके हेतु भी विदेशो का मुँह जोहना होता है। यह मुँहजोही अत्यधिक महँगी सिद्ध होती है। इन कारणोवश साहसी की लागत तथा जोखिम बढ जाती है। कभी-कभी तो कच्चे माल के लिए आयात पर ही निर्भर रहना पडता है।

(ए) श्रम की उपलब्धि तथा गतिशीलता—यद्यपि जनसख्या का घनत्व अधिक होने के कारण श्रम की उपलब्धि पर्याप्त सुगम एव सस्ती होती है किन्तु यह श्रम उद्योगो मे कार्य करना पसन्द नही करता क्योकि इसे कारखानो के अस्वास्थ्यकर, सघन एव दूषित वातावरण मे नियमबद्ध एव

अनुशासित परतन्त्र की भांति कार्य करना होता है तथा उसे अपने परम्परागत एवं स्वच्छन्द निवास-स्थानों का परित्याग रुचिकर नहीं होता। श्रमिक-वर्ग अधिक आय के प्रलोभन पर भी अपने परिवार, ग्रामीण समाज तथा अपने पैतृक एवं परम्परागत व्यवसायों से दूर नहीं होना चाहता। यदि परिस्थितियोंवश उसे उद्योगों में कार्य करने के लिए विवश होना पड़ा, तब वह अपने स्वभाव के परिवर्तन हेतु समय-समय पर अपने पुराने व्यवसाय तथा समाज में जाता है और इस प्रकार अल्प-विकसित राष्ट्रों में औद्योगिक श्रम की महत्वपूर्ण समस्या अनुपस्थित होती है, जिसके कारण श्रम की कार्य क्षमता तथा उत्पादन-शक्ति कम रहती है। साहसी श्रम सम्बन्धी कठिनाइयों के कारण भी विनियोजन की ओर आकर्षित नहीं होता है।

अल्प-विकसित राष्ट्रों में पूंजी-निर्माण की दर

विकसित राष्ट्रों में अल्प-विकसित राष्ट्रों की तुलना में पूंजी निर्माण की दर अधिक रहती है। इसका प्रमुख कारण अल्प-विकसित राष्ट्रों में उत्पादकता एवं बचत का न्यून स्तर है। बचत की मात्रा उपभोग को स्थापित करके बढ़ती है और उपभोग को स्थापित करने की इच्छा संचित बचत पर उपलब्ध होने वाली आय अथवा ब्याज-दर पर निर्भर रहती है। दूसरी ओर विनियोजन का स्तर ब्याज की दरों पर निर्भर रहता है। पूंजी की सीमान्त उत्पादकता एवं वृद्धि-दर में जितना अधिक अन्तर रहता है, उतना ही अधिक विनियोजन करने के लिए प्रोत्साहन होता है। विकसित राष्ट्रों में बचत की मात्रा अधिक होने तथा कुशल वित्तीय संस्थाओं द्वारा बचत को विनियोजन तक प्रभावित होने के कारण ब्याज की दर कम रहती है तथा तान्त्रिक सुधारों, श्रम की कुशलता, नवीन कच्चे मालों की खोज, विस्तृत बाजारों की उपलब्धि के कारण विनियोजन की सीमान्त उत्पादकता अधिक रहती है जिसके फलस्वरूप विनियोजन की दर ऊँची रहती है। दूसरी ओर, अल्प-विकसित राष्ट्रों में व्यापक निर्धनता के कारण बचत कम होती है और उपलब्ध बचत को विनियोजन तक प्रवाहित करने के लिए कुशल वित्तीय संस्थाएँ कम होने के कारण ब्याज की दर अधिक रहती है। इसके अतिरिक्त इन राष्ट्रों में प्रभावशाली मांग कम होने, उत्पादन के घटकों के गतिशील न होने, अकुशल उत्पादन-विधियों एवं अकुशल श्रमिक-शक्ति आदि के कारण विनियोजन की सीमान्त उत्पादकता कम होती है। ये दोनों परिस्थितियाँ अल्प-विकसित राष्ट्रों में विनियोजन की दर को कम रखने में सहायक होती हैं।

अल्प-विकसित राष्ट्रों में इस प्रकार पूंजी-निर्माण का स्तर दो मूलभूत घटकों पर निर्भर रहता है—(अ) बचत का परिमाण एवं उपयुक्त वित्तीय संस्थाओं की उपस्थिति जो बचत प्राप्त करके विनियोजन तक प्रवाहित कर सकें, (आ) विस्तृत होने वाले बाजार की उपस्थिति। इन राष्ट्रों में उपभोग करने की इच्छा अधिक होती है परन्तु यह इच्छा जीवन की अनिवार्यताओं तक सीमित रहती है जिसके परिणामस्वरूप जनसंख्या का अधिकतर भाग अनिवार्यताओं की वस्तुओं के उत्पादन में लगा रहता है। इन वस्तुओं के उत्पादन में पूंजी विनियोजन कम मात्रा में आवश्यक होता है और श्रम की उत्पादकता कम रहती है जिसके फलस्वरूप जनसाधारण के बहुत बड़े भाग को कम आय प्राप्त होती है जो बचत का कम मात्रा में निर्माण होने के कारण होती है। कम आय एवं कम बचत मांग के विस्तार को प्रतिबन्धित करती हैं और विभिन्न प्रकार की वस्तुओं की मांग कम रहने के कारण अधिक विनियोजन के लिए प्रोत्साहन नहीं रहता है। आज के कुछ विकसित राष्ट्र भी इस परिस्थिति से होकर गुजर चुके हैं परन्तु उन्हें विस्तृत विदेशी बाजारों (अपने उपनिवेशों आदि में) का लाभ उपलब्ध था जिससे वे अपनी आर्थिक प्रगति का निर्वाह कर सके परन्तु वर्तमान परिस्थितियों में अल्प-विकसित राष्ट्रों को अपने निर्यात में विस्तार करना सम्भव नहीं है क्योंकि विकसित राष्ट्रों के साथ उन्हें कठोर प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड़ता है।

उपयुक्त वित्तीय संस्थाओं की कमी के कारण अल्प-विकसित राष्ट्रों की उपलब्ध न्यून बचत का भी उचित विनियोजन नहीं हो पाता है। देश के विभिन्न क्षेत्रों में ब्याज की दरों में विभिन्नता पायी जाती है। ऐसे साहसी-वर्ग की भी कमी होती है जो नवीन व्यवसायों एवं उत्पादक क्रियाओं

मे विनियोजन कर सके । यही कारण है कि इन राष्ट्रो मे बचत का अधिकतर भाग भूमि, भूमिगत जायदाद, सट्टा, टिकाऊ उपभोक्ता-वस्तुओ, विदेशी विनिमय, विशाल भवनो, विलासिता की वस्तुओ, विदेशी भ्रमण एव प्रदर्शनात्मक क्रियाओ मे विनियोजित किया जाता है जिससे राष्ट्रीय आय की निरन्तर वृद्धि सम्भव नही होती है । निम्नाकित तालिका मे विकसित एव अल्प-विकसित राष्ट्रो की पूँजी-निर्माण की दर प्रदर्शित की गयी है

तालिका 10—विभिन्न राष्ट्रो मे सकल पूँजी-निर्माण[1]

क्षेत्र	सकल पूँजी-निर्माण का सकल राष्ट्रीय उत्पादन से प्रतिशत 1972	1973	1974
1 विकासशील देश	21 2	21 4	21 9
2 अफ्रीकी देश (सहारा के दक्षिण मे)	19 1	19 6	18 7
3 लेटिन अमेरिका और कैरेबियन देश	21 4	21 6	23 5
4 पूर्व-एशिया और प्रशान्त	22 2	23 5	27 0
5 मध्य-पूर्व और उत्तरी अफ्रीका	20 6	20 3	18 4
6 दक्षिण एशिया	17 8	16 3	15 6
7 भूमध्यसागरीय अधिक विकसित राष्ट्र	23 6	24 4	24 2
8 औद्योगिक राष्ट्र	23 4	24 4	22 3

उपर्युक्त तालिका स यह स्पष्ट है कि अल्प विकसित राष्ट्रो मे पूँजी-निर्माण की दर विकसित राष्ट्रो की तुलना मे लगभग कम है । पूँजी निर्माण की दर औद्योगिक राष्ट्रो (जिनमे कनाडा, सयुक्त राज्य अमेरिका, पश्चिमी यूरोप के राष्ट्र, आस्ट्रेलिया, जापान न्यूजीलैण्ड एव दक्षिण अफ्रीका सम्मिलित है) मे विकासशील राष्ट्रो (जिनमे अल्जीरिया, घाना, केन्या, नाइजीरिया, दक्षिण रोडेशिया, सूडान, तजानिया आदि सम्मिलित है) की तुलना मे 3% से 4% अधिक है । दक्षिण यूरोप के राष्ट्रो—साइप्रस, ग्रीस पुर्तगाल, टर्की, यूगोस्लाविया, स्पेन आदि—मे पूँजी-निर्माण की दर अन्य सभी राष्ट्रो की तुलना मे सर्वाधिक है । दूसरी ओर, दक्षिणी एशिया मे जिसमे बगला देश, बर्मा, भारत, पाकिस्तान और श्रीलका सम्मिलित है पूँजी-निर्माण की दर अन्य सभी राष्ट्रो की तुलना मे कम है ।

अल्प-विकसित राष्ट्रों मे पूंजी-निर्माण में वृद्धि करने के उपाय

अल्प-विकसित राष्ट्रो मे जनसख्या-वृद्धि की दर ऊँची होने के कारण प्रति व्यक्ति आय मे सुदृढ प्रगति करने के लिए विनियोजन की दर मे पर्याप्त वृद्धि करना आवश्यक होता है क्योंकि बढती हुई जनसख्या उत्पादन की सामान्य वृद्धि का उपभोग कर डालती है और विनियोजन मे विशेष वृद्धि करने हेतु साधन उपलब्ध नही हो पाते है । पूँजी-निर्माण मे असाधारण वृद्धि करके ही उत्पादन मे अधिक वृद्धि होती है जिससे प्रति व्यक्ति आय मे पर्याप्त वृद्धि हो जाती है । जनसाधारण की आय मे पर्याप्त वृद्धि होने पर ही बचत को बढाना सम्भव हो सकता है और विनियोजन-वृद्धि को निरन्तरता प्रदान हो सकती है । बचत की मात्रा मे वृद्धि उत्पादन-वृद्धि के अतिरिक्त उपभोग के स्तर को कम करके भी की जा सकती है । विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे विनियोजन की दर को बढाने के लिए अर्थ-व्यवस्था मे उपलब्ध साधन पर्याप्त न होने के कारण विदेशी पूँजी का उपयोग किया जाता है । अल्प-विकसित राष्ट्रो मे उपभोग के वर्तमान स्तर को और कम करना सम्भव नही होता क्योंकि यह स्तर पहले से ही अत्यन्त न्यून होता है और देश की सरकार द्वारा राजनीतिक एव कल्याण सम्बन्धी विचारधाराओ के कारण इसे और कम नही किया जा सकता है । दूसरी ओर, पूँजी निर्माण की दर मे वृद्धि करने के लिए विदेशी पूँजी का उपयोग अपरिमित मात्रा मे नही हो सकता है क्योंकि विदेशी पूँजी प्राय ऋणो के रूप मे मिलती है जिसकी ब्याज आदि की लागत अधिक

[1] *World Bank Annual Report*, 1976

होती है और ब्याज एवं मूलधन का शोधन करने के लिए विदेशी विनिमय की आवश्यकता होती है जिसका पर्याप्त अर्जन करना अल्प-विकसित राष्ट्रो को अत्यन्त कठिन होता है। इसके अतिरिक्त विदेशी पूंजी की उपलब्धि निश्चित नही रहती और उसके साथ राजनीतिक एवं आर्थिक शर्ते लगी रहती हैं। ऐसी परिस्थितियो मे अल्प-विकसित राष्ट्रो को अपने आर्थिक पुनरुत्थान के लिए अपने ही साधनो पर प्राय निर्भर रहना पडता है। इन राष्ट्रो मे पूंजी-निर्माण की वृद्धि के लिए निम्नलिखित कार्यवाहियाँ की जा सकती है

(1) **विद्यमान उत्पादन-क्षमता का सम्पूर्ण उपयोग**—अर्थ-व्यवस्था मे विद्यमान क्षमता का पूर्णतम उपयोग करने के लिए आवश्यक सुविधाओ की व्यवस्था की जानी चाहिए। अल्प-विकास का सबसे प्रमुख कारण अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ मे उत्पादन के विभिन्न घटको का त्रुटिपूर्ण सम्मिश्रण होता है। वर्तमान पूंजी-स्कन्ध का पूर्णतया उपयोग इसलिए नही हो पाता है कि इन देशो मे कुशल श्रम एवं प्रबन्ध की पर्याप्त उपलब्धि नही होती है। इसके अतिरिक्त विपणि-अपूर्णताओ (*Market Imperfections*) के कारण उत्पादन के उपलब्ध घटको का पूर्णतम उपयोग करना सम्भव नही होता है। अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ की एक बडी विशेषता यह है कि इनमे पूंजी की हीनता और उपलब्ध पूंजी-स्कन्ध का आशिक उपयोग दोनो एक साथ पाये जाते है। पूंजी उत्पादन का एक घटक होती है और उसका उत्पादक उपयोग करने के लिए उत्पादन के अन्य सहायक घटको का पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध होना आवश्यक होता है। यह बात उत्पादन मे अन्य घटको पर भी लागू होती है। ऐसी परिस्थिति मे उत्पादन के घटको के वर्तमान सम्मिश्रण मे पर्याप्त समायोजन करके उत्पादन मे वृद्धि करना सम्भव हो सकता है और इसके लिए विनियोजन मे विशेष वृद्धि करने की आवश्यकता नही होती है।

(2) **कुशल तान्त्रिकताओ का उपयोग**—अर्थ-व्यवस्था मे सुधरी हुई तान्त्रिकताओ का विस्तृत उपयोग करके श्रम की उत्पादकता बढायी जा सकती है और देश की अर्थ-व्यवस्था के वास्तविक साधनो का कम उपयोग करके अधिक उत्पादन प्राप्त किया जा सकता है। नवीन तान्त्रिकताओ का उपयोग करने के लिए इन तान्त्रिकताओ को विदेशो से लेना आवश्यक हो सकता है और इनके उपयोग के लिए विदेशी पूंजीगत प्रसाधनो एवं तान्त्रिक ज्ञान की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त इन तान्त्रिकताओ के अनुकूल आर्थिक एवं सामाजिक संस्थाओ का निर्माण भी आवश्यक होता है। इस सब कार्य मे विदेशी पूंजी की आवश्यकता होती है।

(3) **श्रम-शक्ति का अधिकतम उपयोग**—अल्प-विकसित एवं विकसित राष्ट्रो के श्रम की उत्पादकता के अन्तर के प्रमुख कारण विकसित राष्ट्रो के कुशल पूंजीगत प्रसाधन एवं तान्त्रिकता हैं। परन्तु अल्प-विकसित राष्ट्रो में श्रम का सीमित ज्ञान एवं शिक्षा तथा अधिक परिश्रम से कार्य न करने की इच्छा भी उत्पादकता को प्रभावित करती है। श्रम की उत्पादकता बढाने के लिए अल्प-विकसित राष्ट्रो मे समाज-सेवाओ, जन-स्वास्थ्य, शिक्षा एवं वैज्ञानिक तथा तान्त्रिक अनुसन्धान मे बडी मात्रा मे विनियोजन करने की आवश्यकता है। परन्तु कृषि, लघु उद्योगो, निर्माण आदि मे श्रम की उत्पादकता मे पर्याप्त वृद्धि हो सकती है यदि श्रमिक अपने कर्तव्यो के प्रति अधिक जागरूक हो और अपना कार्य अधिक परिश्रम एवं ईमानदारी से करने के लिए उद्यत हो।

(4) **साहसिक क्रियाओ का विस्तार**—पूंजी-निर्माण की वृद्धि मे साहसिक क्रियाओ का महत्वपूर्ण स्थान होता है क्योकि साहसी ही वह शक्ति होती है जो उत्पादन के विभिन्न घटको को एकत्रित करके उत्पादन-क्रियाओ का विस्तार करता है। साहसिक क्रियाओ का विस्तार करने के लिए कुशल वित्तीय संस्थाओ की स्थापना तथा साहसियो के प्रोत्साहन के अनुकूल आर्थिक नीति का संचालन आवश्यक होता है।

(5) **विदेशी सहायता एवं विदेशी व्यापार**—आधुनिक युग मे पूंजी-निर्माण की प्रविधि मे विदेशी सहायता एवं विदेशी व्यापार का अत्यधिक महत्व है। कोई भी देश पूंजी-प्रसाधनो को विदेशो से आयात किये बिना अपने उत्पादन एवं उत्पादन-क्षमता मे पर्याप्त वृद्धि नही कर सकता

है। विदेशी आयात के लिए विदेशी विनिमय की आवश्यकता होती है जिसका अर्जन अल्पकाल मे विदेशी महायता मे और अन्तिम रूप मे विदेशी व्यापार द्वारा ही सम्भव हो सकता है। ऐसी वस्तुओ का निर्यात बढाकर, जिनका निर्यात न होने पर देश मे उपभोग हो जाने की सम्भावना हो, जबकि विदेशी विनिमय का अर्जन किया जाता है तो यह आन्तरिक बचत की वृद्धि का साधन हो जाता है और इसके द्वारा पूंजीगत प्रसाधन एव तान्त्रिक ज्ञान आयात करके उत्पादन-क्षमता मे वृद्धि हो सकती है जिससे पूंजी-निर्माण की प्रक्रिया को गतिशील किया जा सकता है।

(6) **आन्तरिक बचत मे वृद्धि**—इस सम्बन्ध मे कोई मतभेद नही हो सकता है कि पूंजी-निर्माण मे वृद्धि करने का सर्वश्रेष्ठ साधन आन्तरिक बचत होता है। आन्तरिक बचत में वृद्धि करने के लिए जो कार्यवाहियाँ की जा सकती है, उनका विवरण बचत के सन्दर्भ मे दिया जा चुका है। परन्तु व्यक्तिगत बचत को बढाने के लिए विशेष कार्यवाहियाँ की जा सकती हैं। व्यक्तिगत बचत को बढाने हेतु समाज मे व्यावसायिक गतिशीलता बढाने की सुविधाओं का विस्तार होना चाहिए जिससे जनसाधारण नवीन व्यवसायो को प्रारम्भ करने हेतु बचत द्वारा आवश्यक साधन एकत्रित करने को उद्यत रहे। बचत करने की इच्छा समाज के विभिन्न वर्गों के तुलनात्मक आय-स्तर पर भी निर्भर रहती है। मनुष्य के उपभोग पर प्रदर्शन-प्रवृत्ति का विशेष प्रभाव पडता है अर्थात् वह अपने आसपास के उपभोग का जो स्तर देखता है, उसके अनुकूल उपभोग स्वय भी करना चाहता है। ऐसी परिस्थिति मे बचत की इच्छा बढाने के लिए अधिक आय पाने वाले वर्गों के उपभोग को प्रतिबन्धित करना आवश्यक होता है। इसी प्रकार तरल सम्पत्तियो के सचय से उपभोग की इच्छा बढती है। यदि नागरिको मे वित्तीय सस्थाओ के प्रति विश्वास हो तो वे अपनी बचत को तरल रखने के लिए कम इच्छुक होते हैं। बचत करने की इच्छा देश की राजनीतिक सुदृढता एव मूल्य-स्तर पर भी निर्भर रहती है।

(7) **वित्तीय सस्थाओ का विस्तार**—पूंजी-निर्माण-प्रक्रिया मे वित्तीय सस्थाओ का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान होता है। बचत एव विनियोजन दोनो ही प्रक्रियाएँ वित्तीय सस्थाओ द्वारा सचालित की जाती है। वित्तीय सस्थाओ का कुशल सचालन एव उनका विस्तार आर्थिक गतिविधि मे गति-शीलता लाता है। जनसाधारण का जितना अधिक विश्वास वित्तीय सस्थाओ मे होता है उतना ही बचत एव विनियोजन मे वृद्धि होती है। व्यापारिक बैंक, औद्योगिक बैंक, विनियोजन-प्रन्यास, बीमा कम्पनियाँ, साख सहकारी सस्थाएँ आदि वित्तीय सस्थाएँ पूंजी-निर्माण का मूलाधार होती है। जापान एव पश्चिम जर्मनी के आर्थिक विकास के इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इन देशो की आर्थिक प्रगति मे विकसित एव व्यापक वित्तीय सस्थाओ का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

(8) **अदृश्य बेरोजगारी एव पूंजी-निर्माण**—नर्क्से ने इस विचार को प्रतिपादित किया कि अल्प-विकसित राष्ट्रो की अदृश्य बेरोजगार-प्राप्त श्रम-शक्ति पूंजी-निर्माण का सम्भावित साधन होती है। उनके अनुसार अदृश्य बेरोजगार-प्राप्त श्रम मे निम्नलिखित लक्षण होते है

(अ) इस श्रम की सीमान्त उत्पादकता शून्य होती है अर्थात् इनको यदि इनके व्यवसायो से हटा लिया जाय तो व्यवसाय के उत्पादन मे कोई कमी नही होती है।

(आ) अदृश्य बेरोजगार श्रम मे प्राय परिवार के सदस्य सम्मिलित होते हैं और मजदूरी पाने वाला श्रमिक-वर्ग इसमे नही आता है।

(इ) इस श्रम की कोई व्यक्तिगत पहचान नही हो सकती है क्योंकि इसका उल्लेख बेरोज-गार श्रम मे नही किया जाता है।

(ई) यह श्रम मौसमी बेरोजगार श्रम से भिन्न होता है। मौसमी बेरोजगार श्रम जलवायु के परिवर्तन के कारण वर्ष के किसी विशेष काल मे ही उदित होता है।

(उ) अदृश्य बेरोजगार उद्योग-प्रधान राष्ट्रो के औद्योगिक बेरोजगार से भिन्न होता है। विकसित राष्ट्रो मे औद्योगिक बेरोजगार श्रम अस्थायी रूप मे अपने बेरोजगारी के काल मे अन्य छोटे छोटे कार्य करता है और जैसे ही औद्योगिक वस्तुओ की माँग मे वृद्धि होती है, यह अपने पुराने

उद्योगो को चला जाता है। दूसरी ओर, अल्प-विकसित राष्ट्र मे अदृश्य बेरोजगार, श्रम-शक्ति की बाहुल्यता के कारण, स्थायी रूप से अपने पारिवारिक व्यवसायो, विशेषकर कृषि मे लगा रहता है।

अल्प-विकसित राष्ट्रो मे समस्त श्रम-शक्ति का लगभग 25% भाग अदृश्य बेरोजगार होता है। नर्क्से के अनुमानानुसार दक्षिण-पूर्व यूरोप मे अदृश्य बेरोजगारो का परिमाण 15% से 20% और दक्षिण-पूर्व एशिया मे यह परिमाण लगभग 30% है। नर्क्से के अनुसार ग्रामीण क्षेत्रो का अतिरिक्त श्रम बचत का अदृश्य सम्भावित साधन होता है। इस मान्यता को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। मान लिया कि किसी ग्रामीण समाज मे 100 श्रमिको को रोजगार प्राप्त है, जिनमे से 25 श्रमिक आवश्यकता से अधिक हैं अर्थात् 100 श्रमिको द्वारा जितनी मात्रा उत्पादित की जाती है, उतनी ही 75 श्रमिको द्वारा की जा सकती है। स्पष्टीकरण को सरल करने के लिए यह भी मान लेते हैं कि 100 श्रमिक जो उत्पादन करते, वह समस्त उत्पादन ये 100 श्रमिक उपभोग कर लेते है। अब यदि 25 श्रमिको को हटाकर किन्ही पूंजी-परियोजनाओ मे लगा दिया जाय और बचे हुए 75 श्रमिको का उपभोग-स्तर पहले के समान ही रहे तो हटे हुए श्रमिको द्वारा उपभोग होने वाले उत्पादन का हस्तान्तरण नवीन व्यवसायो मे किया जा सकता है और हटे हुए श्रमिक इसका उपभोग नवीन व्यवसायो मे कार्य करते हुए कर सकते हैं। इस प्रकार इन हटे हुए श्रमिको द्वारा जो पूंजी-प्रसाधन उत्पादित किये जायेंगे, उनके द्वारा अर्थ-व्यवस्था की पूंजी मे शुद्ध वृद्धि होगी। इस परिस्थिति मे ग्रामीण क्षेत्र के कुल उपभोग मे कमी होगी परन्तु प्रति व्यक्ति उपभोग स्तर यथावत् रहेगा और विनियोजन-स्तर मे उपभोग-स्तर को कम किये बिना ही वृद्धि हो सकेगी।

अतिरिक्त श्रम के पूंजी-अनुदान की मात्रा ग्रामीण क्षेत्र के उपभोग-स्तर की स्थिरता पर निर्भर रहेगी। यदि ग्रामीण क्षेत्र मे रह जाने वाले श्रमिक-वर्ग का उपभोग-स्तर बढ जाता है और हस्तान्तरित हुए श्रमिको का भी उपभोग-स्तर बढ जाय तो बचत एव विनियोजन की सम्भावित वृद्धि मे कमी हो जायेगी। दूसरी ओर, हस्तान्तरित श्रमिको को पूंजी-परियोजनाओ मे कार्य देने के लिए यदि कुछ लागत पूंजीगत प्रसाधनो के ऊपर व्यय करनी पडे तो इस लागत से भी बचत एव विनियोजन की सम्भावित वृद्धि कम हो जायेगी। इस प्रकार अदृश्य बेरोजगार श्रम द्वारा पूंजी-निर्माण हेतु अधिकतम अनुदान प्राप्त करने के लिए ग्रामीण क्षेत्रो के उपभोग-स्तर को कृषको पर प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष कर लगाकर तथा कठोर भूमि-कर द्वारा बढने से रोकना आवश्यक होगा। हस्तान्तरित श्रमिको को आवश्यक औजार एव उत्पादन के साधन प्रदान करने हेतु पर्याप्त वित्तीय साधन प्राप्त करने की आवश्यकता होगी।

नर्क्से के अनुसार श्रम को पूंजी-निर्माण के साधन के रूप मे उपयोग करने की मान्यता सिद्धान्त रूप मे उचित प्रतीत होती है परन्तु इसमे निम्नलिखित व्यावहारिक परिसीमाएँ है :

(अ) राज्य के पास श्रम एव खाद्यान्नो के यातायात तथा अतिरिक्त श्रम को कार्य प्रदान करने हेतु किये जाने वाले पूंजी-विनियोजन के लिए पर्याप्त वित्तीय साधन होने चाहिए। यदि अतिरिक्त श्रम को कार्य देने वाली परियोजनाओ को ग्रामीण क्षेत्रो के समीप ही स्थापित किया जाय तो यातायात की लागत कम हो सकती है परन्तु इनकी सचालन-लागत उत्पादन के अनुपात मे अधिक हो जायेगी। इसके अतिरिक्त श्रमिको को उनके परम्परागत व्यवसायो एव निवास-स्थानो से हटाना भी कठिन होगा जब तक कि उन्हे आकर्षक मजदूरी-दर एव अन्य सुविधाएँ प्रदान न की जायें। इन आयोजनो की व्यवस्था से नवीन विनियोजन की कुल लागत मे वृद्धि हो जायेगी और उत्पादन अनार्थिक हो सकता है।

(आ) अल्प विकसित राष्ट्रो मे नवीन परियोजनाओ के निर्माण हेतु एव उपभोग-स्तर को बढने से रोकने के लिए करारोपण करना अत्यन्त कठिन होता है क्योकि इन राष्ट्रो का कर-प्रशासन अकुशल होता है और ग्रामीण समाज पर कर-भार बढने से राजनीतिक समस्याएँ उदय होती

हैं। राज्य द्वारा अतिरिक्त श्रम को ग्रामीण क्षेत्रों से हटाने के प्रयासों का भी ग्रामीण समाज द्वारा सामाजिक एवं परम्परागत विचारों के आधार पर विरोध किया जाता है।

(द) *अतिरिक्त श्रम अपने जन्म-स्थानों में अपनी भावात्मक विचारधाराओं के कारण बँधा* रहता है और उसके कुछ भी भाग को वित्तीय एवं अन्य प्रोत्साहनों द्वारा नवीन व्यवसायों में लाना सम्भव नहीं होता है। यह भी सम्भावना है कि हस्तान्तरित होने वाले श्रम में वे लोग हों सम्मिलित हों जो अत्यन्त निर्धन हों और जिनका उपभोग-स्तर अत्यन्त न्यून हो। इस प्रकार हस्तान्तरित श्रम से ग्रामीण क्षेत्र में उपभोग की बचत न्यून मात्रा में होगी और सम्भावित बचत इसके अनुरूप होने के कारण अत्यन्त कम होगी। अतिरिक्त श्रम के हस्तान्तरण से उत्पादन में कमी होना भी सम्भव हो सकता है क्योंकि जब तक ग्रामीण जनसमूह के उपभोग-स्तर में वृद्धि नहीं की जाती है, वह उत्पादन के वर्तमान स्तर को बनाये रखने में असमर्थ हो सकता है।

(ई) जब अतिरिक्त श्रम को ग्रामीण क्षेत्रों से नगरों में हस्तान्तरित किया जाता है तो नागरिक जीवन का प्रभाव उस पर पड़ना अवश्यम्भावी होता है और यह मान लेना उचित प्रतीत नहीं होता कि हस्तान्तरित श्रम अपने पुराने उपभोग-स्तर को ही बनाये रखेगा। इस श्रम की उपभोग करने की इच्छा अधिक होगी जो आय-वृद्धि के साथ-साथ बढ़ती जायेगी और सम्भावित बचत को कम कर देगी।

(उ) ग्रामीण क्षेत्रों से हस्तान्तरित होने वाले श्रमिक-वर्ग में उत्पादकता के गुणों का अभाव होता है। इन्हें नवीन व्यवसायों में लगाने के फलस्वरूप गहन प्रशिक्षण एवं निरीक्षण की आवश्यकता होगी और इनके द्वारा उत्पादन भी कम मात्रा में किया जायेगा। हस्तान्तरित होने वाले श्रम में प्रायः ऐसे लोग सम्मिलित होंगे जिनकी उत्पादन-योग्यता औसत से कम होगी और इनके द्वारा अधिक उत्पादकता की सम्भावना करना उचित नहीं होगा। इन श्रमिकों को जटिल पूँजी-प्रधानता के उत्पादन के लिए उपयोग करना सम्भव नहीं होगा और यदि उनकी योग्यता एवं क्षमता के अनुसार व्यवसायों में रोजगार प्रदान किया जाय तो अर्थ-व्यवस्था को जिन पूँजीगत प्रसाधनों की आवश्यकता होगी, उनका उत्पादन सम्भव नहीं हो सकेगा और आर्थिक प्रगति की गति को तीव्रता प्रदान करना सम्भव नहीं होगा।

अदृश्य बेरोजगारी का उपयोग पूँजी-निर्माण हेतु करने में उपर्युक्त व्यावहारिक परिसीमाएँ होते हुए भी इस श्रम का सर्वश्रेष्ठ उपयोग करना अत्यन्त आवश्यक होता है। विकास के प्रारम्भिक काल में अर्थ-व्यवस्था के विद्यमान साधनों का ही पूर्णतम उपयोग करने की आवश्यकता होती है और अदृश्य बेरोजगार भी उत्पादन का एक घटक होता है जिसका पूर्णतम उपयोग करके विकास के लिए योगदान प्राप्त किया जा सकता है।

भारत में पूँजी-निर्माण

भारत में अन्य अल्प-विकसित राष्ट्रों के समान विनियोजन में पर्याप्त वृद्धि जारी नहीं रही है। नियोजन-काल के पूर्व के तीन वर्षों में (अर्थात् 1948-49, 1949-50 तथा 1950-51 में) सम्पूर्ण विनियोजन राष्ट्रीय आय का लगभग 5 5% था। प्रथम तीन योजनाओं में शुद्ध आन्तरिक बचत एवं शुद्ध आन्तरिक पूँजी निर्माण में निरन्तर वृद्धि होती रही। द्वितीय तथा तृतीय योजना के दस वर्षों में 1960-61 के मूल्यों पर कुल विनियोजन में 12 6% की साधारण वार्षिक वृद्धि हुई। 1966 67 वर्ष में विनियोजन का राष्ट्रीय आय से अनुपात चालू एवं बाजार दोनों ही मूल्यों पर सर्वाधिक रहा। परन्तु 1967 68 के बाद के पाँच वर्षों में वास्तविक शुद्ध विनियोजन की राशि 1966-67 वर्ष से भी कम रही। इन पाँच वर्षों में (1967-68 से 1971-72) वास्तविक विनियोजन की वार्षिक वृद्धि-दर 3 1% रही, जबकि इससे पूर्व के दशक में यह वृद्धि-दर 12 6% थी। 1966-67 में शुद्ध आन्तरिक बचत एवं पूँजी-निर्माण शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन का क्रमशः 11 96% एवं 15 5% था। 1966-67 के पश्चात 1970-71 तक शुद्ध आन्तरिक बचत एवं पूँजी निर्माण की दर न या तो कम होती रही अथवा 1966-67 के स्तर पर ही बनी रही।

1971-72 के पश्चात विनियोजन एव बचत की दर मे सामान्य वृद्धि होती रही है और विनियोजन का राष्ट्रीय उत्पादन से प्रतिशत 12 से 15% तक और शुद्ध आन्तरिक बचत का राष्ट्रीय उत्पादन से प्रतिशत 12 से 14% तक बना रहा। 1955-56 से 1966-67 के 11 वर्षों मे पूँजी-निर्माण के अन्तर्गत स्थायी सम्पत्तियो मे प्रति वर्ष 12% की वृद्धि हुई, जबकि 1966-67 के बाद के दस वर्षों मे स्थायी सम्पत्तियो मे 2% प्रति वर्ष की ही वृद्धि हुई। 1966-67 के बाद के दशक मे पूँजी निर्माण मे स्थायी सम्पत्तियो की तुलना मे कच्चे माल एव अर्द्ध-निर्मित वस्तुओ के स्कन्ध मे अधिक वृद्धि हुई। पूँजी-निर्माण के तत्वो मे यह परिवर्तन नियोजन को व्यूह-रचना (Strategy) मे कोई मूलभूत परिवर्तन के कारण उदय नही हुआ बल्कि गत दशक मे भौतिक एवं वित्तीय साधनो का विस्तृत विश्लेषण करके समन्वित योजना का निर्माण न होने के कारण पूँजी-निर्माण के तत्वों मे परिवर्तन आया। 1974-75 से 1978-79 की पाँचवी योजना की प्रस्तावित रूपरेखा जो 1973 मे पहली बार प्रकाशित की गयी, भारत की सभी योजनाओं की तुलना मे सर्वाधिक व्यवस्थित योजना थी, परन्तु इसका क्रियान्वयन नही किया जा सका और पाँचवी योजना की लगभग आधी अवधि समाप्त होने के बाद पाँचवी योजना की अन्तिम रूपरेखा तैयार हो सकी। इस अन्तिम रूपरेखा मे वास्तविक विनियोजन मे लगभग 16% की कमी कर दी गयी और सार्वजनिक क्षेत्र के वास्तविक विनियोजन मे 27% की कमी कर दी गयी। गत दशक मे पूँजी-निर्माण मे स्थायी सम्पत्तियो का अश कम होने का प्रमुख कारण इस प्रकार योजना का व्यवस्थित एवं समन्वित निर्माण एव क्रियान्वयन न करना रहा है। यद्यपि तृतीय योजना के अन्त तक औद्योगिक क्षेत्र मे उत्पादन-क्षमता मे तेजी से वृद्धि हुई परन्तु इस उत्पादन-क्षमता का पूर्णतया उपयोग इसलिए भी नही किया जा सका कि अर्थ-व्यवस्था मे चौथी और पाँचवी योजना मे इस उत्पादन-क्षमता का निर्वाह करने के लिए पर्याप्त विनियोजन नही किया गया। पूँजी-निर्माण मे स्थायी सम्पत्तियो का अश कम होने का कारण कृषि-क्षेत्र मे अधिक विनियोजन करना भी नही रहा है। कृषि-क्षेत्र के विनियोजन वृद्धि की पूर्ति अध-सरचना के विनियोजन मे कुछ कमी करके की गयी और निर्माण-क्षेत्र मे विनियोजन मे कोई कमी नही की गयी। दूसरी ओर, पूँजी-निर्माण मे स्थायी सम्पत्तियों का अश कम होने का कारण निर्माणी क्षेत्र मे श्रम-सघन तकनीक का उपयोग एव उपभोक्ता उद्योगों को अधिक प्राथमिकता देना भी नही रहा है। सार्वजनिक क्षेत्र मे उपभोक्ता-वस्तुओ का उत्पादन बडे पैमाने पर नही किया जा रहा है और दूसरी ओर निजी क्षेत्र मे विनियोजन भी अधिकतर उत्पादक वस्तुओ के उद्योगो मे ही किया गया है। गत दशक मे निर्माणी-क्षेत्र के विनियोजन का बहुत बडा अश पूँजी-सघन उद्योगो मे उपयोग किया गया जिसके परिणामस्वरूप औद्योगिक क्षेत्र मे रोजगार के अवसरों मे पर्याप्त वृद्धि नही हो सकी। इन तथ्यो से यह स्पष्ट है कि गत दशक मे पूँजी-निर्माण मे स्थायी सम्पत्तियो का अश कम होने का प्रमुख कारण विनियोजन प्राथमिकताओ मे मूल परिवर्तन करना नही रहा है वरन् नियोजन का दोषपूर्ण निर्माण एव क्रियान्वयन रहा है।

विदेशी सहायता का पूँजी-निर्माण मे योगदान

प्रथम योजनाकाल मे विदेशी सहायता का पूँजी-निर्माण मे कोई विशेष योगदान नही रहा परन्तु द्वितीय योजनाकाल मे विदेशी साधनो का अन्तर्प्रवाह राष्ट्रीय उत्पादन का 1 8% से 4 1% तक रहा। इस काल मे शुद्ध पूँजी-निर्माण 6,293 करोड रुपये हुआ और शुद्ध पूँजी-अन्तर्प्रवाह 1,920 करोड रुपये हुआ अर्थात् विदेशी सहायता शुद्ध पूँजी-निर्माण की 30% थी। द्वितीय योजना के बाद की योजनाओ मे विदेशी सहायता का पूँजी-निर्माण मे योगदान कम होता गया। तीसरी योजना मे कुल शुद्ध पूँजी-निर्माण 11,759 करोड रुपया और पूँजी का अन्तर्प्रवाह 2,424 करोड रुपया हुआ। तीसरी योजना मे पूँजी-निर्माण का केवल 21% भाग विदेशी साधनों से उपलब्ध हुआ। तृतीय योजना के बाद के तीन वर्षो मे विदेशी सहायता का पूँजी-निर्माण मे प्रतिशत घटकर 19% ही रह गया। चौथी योजनाकाल मे विदेशी सहायता का योगदान और अधिक घट गया। इस काल मे कुल पूँजी-निर्माण 27,071 करोड रुपया हुआ और विदेशी साधनो का प्रवाह

तालिका 11—भारत मे पूंजी निर्माण एव बचत की दरो की प्रवृत्ति

वर्ष	शुद्ध पूंजी-निर्माण (करोड रु)	शुद्ध आन्तरिक बचत	शुद्ध पूंजी-अन्तप्रंवाह	चालू मूल्यो पर: शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन चालू बाजार मूल्य पर (करोड रु)	विनियोजन का राष्ट्रीय उत्पादन से प्रतिशत (2 का 5 से)	बचत का राष्ट्रीय उत्पादन से प्रतिशत (3 का 5 से)	विदेशी साधनो के अन्तप्रंवाह का राष्ट्रीय उत्पादन से प्रतिशत	1960-61 के मूल्यो पर: शुद्ध आन्तरिक पूंजी-निर्माण (करोड रु)	शुद्ध आन्तरिक उत्पादन बाजार मूल्यो पर (करोड रु)	पूंजी-निर्माण का शुद्ध आन्तरिक उत्पादन से प्रतिशत
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)	(7)	(8)	(9)	(10)	(11)
1950-51	585	606	—21	9,169	6 38	6 61	—0 23	885		
1951-52	770	588	182	9,661	7 97	6 09	1 88	856		
1952-53	312	346	—34	9,500	3 28	3 64	—0 36	553		
1953-54	388	401	—13	10,000	3 88	4 01	—0 13	623		
1954-55	716	693	23	9,375	7 61	7 39	0 25	761		
1955-56	924	872	52	9,875	9 36	8 83	0 53	1,187		
1956-57	1,348	989	359	11,279	11 95	8 77	3 18	1,484		
1957-58	1,210	735	475	11,524	10 50	6 38	4 12	1,229		
1958-59	1,038	664	374	12,824	8 09	5 18	2 92	1,160		
1959-60	891	660	231	13,163	6 77	5 01	1 75	1,281		
1960-61	1,808	1,327	481	14 210	12 72	9 34	3 38	1,808	14,282	12 66
1961-62	1,626	1,281	345	15 067	10 79	8 50	2 29	1,565	14,898	10 50

1962-63	1,984	1,544	440	16,059	12 35	9 61	2 74	1,845	15,341	12 03
1963-64	2,265	1,825	440	18,543	12 21	9 84	2 37	2,000	16,353	12 23
1964 65	2,623	2,023	600	21,785	12 04	9 29	2 75	2,221	17,617	12 61
1965-66	3,161	2,562	599	22,719	13 91	11 28	2 64	2,506	16,989	14 75
1966-67	4,035	3,112	923	26,030	15 50	11 96	3 55	2,827	16,870	16 76
1967-68	3,776	2,929	837	30,478	12 39	9 64	2 75	2,494	18,232	13 68
1968-69	3,427	3,011	416	31,388	10 92	9 59	1 33	2,233	18,886	11 82
1969-70	4,370	4,129	214	34,665	12 61	11 91	0 70	2,722	20,104	13 54
1970-71	4,893	4,499	394	37,985	12 88	11 84	1 04	2,838	21,365	13 28
1971-72	5,825	4,546	479	40,404	12 44	11 25	1 19	2,799	21,804	12 84
1972-73	5,627	5 530	297	44,242	13 17	12 50	0 67	3,044	21,690	14 03
1973-74	7,156	6,764	392	54,555	13 12	12 40	0 72	3,278	22,541	14 54
1974-75	9,576	8,500	1,076	64,695	14 80	13 14	1 66	3,398	22,576	15 05
1975-76	11,058	10,013	1,045	67,807	16 31	14 77	1 54	3,618	24,645	14 68

[*Source* Structural Retrogression in Indian Economy by S L Shetty, *Economic and Political Weekly*, Annual Number, 1978]

1 776 करोड रुपया हुआ जो कुल पूंजी-निर्माण का केवल 7% था। पाँचवी योजना मे भी विदेशी साधनो के प्रवाह की यही स्थिति बनी रही। विदेशी साधनो का प्रवाह कम करना इसलिए सम्भव हो सका क्योकि आधारभूत एव पूंजीगत वस्तुओ के उद्योगो की उत्पादन क्षमता का पर्याप्त निर्माण कर लिया गया। भविष्य के विनियोजन मे इसीलिए आयातित प्रसाधनो का अश काफी कम हो गया है। निर्वाह सम्बन्धी आयात की पूर्ति, उपलब्ध विदेशी सहायता एव अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से आहरण करने के अधिकार से की जा सकी। परन्तु 1974-75 एव 1975 76 मे विदेशी सहायता की राशि एव अनुपात म फिर से वृद्धि हो गयी है। इन वर्षों मे विदेशी पूंजी का अन्तर्प्रवाह शुद्ध पूंजी निर्माण का क्रमश 11 3%, एव 9 4% हो गया। 1973-74 वर्ष मे आन्तरिक बचत का शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन से अनुपात लगभग स्थिर स्थिति मे बना रहा और 8 से 12% के बीच उच्चावचान होते रहे। 1974 75 एव 1975-76 मे बचत का राष्ट्रीय उत्पादन से प्रतिशत बढना प्रारम्भ हुआ परन्तु यह वृद्धि प्रत्यक्ष विनियोजन के लिए उपयोग नही की गयी बल्कि स्कन्ध के सग्रह मे वृद्धि करने मे इसका उपयोग हुआ। 1976-77 मे भी यही स्थिति जारी रही और इस वर्ष आन्तरिक बचत राष्ट्रीय उत्पादन की 15 7% थी।

सार्वजनिक क्षेत्र का पूंजी निर्माण मे योगदान

सार्वजनिक क्षेत्र का पूंजी निर्माण मे योगदान पर्याप्त नही रहा है यद्यपि सार्वजनिक क्षेत्र का राष्ट्रीय उत्पादन मे अश निरन्तर बढता रहा है। 1965 66 मे सार्वजनिक क्षेत्र का उत्पादन राष्ट्रीय उत्पादन का 13 2% था, जो 1972 73 मे बढकर 15 7% एव 1973-74 मे 13 2% हो गया। परन्तु आन्तरिक बचत मे सार्वजनिक क्षेत्र की बचत का अशदान 1964 65 मे 30 2% तथा 1965 66 मे 23 1% था जो इसके बाद के आठ वर्षों तक 12 से 17% तक ही बना रहा। 1974 75 एव 1975 76 मे सार्वजनिक क्षेत्र की बचत मे कुछ सुधार हुआ और इन वर्षों मे सार्वजनिक क्षेत्र की बचत कुल आन्तरिक बचत की क्रमश 23 4% एव 21 7% थी। परन्तु बचत की इस वृद्धि का लगभग सम्पूर्ण भाग खाद्य खाद्यान्नों एव अन्य वस्तुओ की वृद्धि के लिए ही उपयोग किया गया और सार्वजनिक क्षेत्र की बचत का भी पर्याप्त उपयोग प्रत्यक्ष विनियोजन के लिए नही किया गया।

केन्द्रीय बजट के साधनो मे पूंजी निर्माण व्यय का अश तृतीय योजना के पश्चात निरन्तर घटता जा रहा है। केन्द्रीय बजट ने कुल साधनो का 1950 51 मे 25 6% पूंजी निर्माण के लिए आवटित किया गया है, जो प्रथम योजना मे 42 8% द्वितीय योजना मे 49 9% और तृतीय योजना मे 47 0% हो गया। परन्तु तीन वार्षिक योजनाओ मे केन्द्रीय बजट के साधनो मे पूंजी निर्माण व्यय का अश घटकर 38% रह गया और चौथी योजना मे यह अब और घटकर 33% ही रह गया। पाँचवी योजना के प्रथम तीन वर्षों (1974-75 से 1976-77) मे इस प्रतिशत मे कुछ सुधार हुआ और केन्द्रीय बजट के साधनो मे से 38 2% अश पूंजी निर्माण के लिए उपयोग किया गया। इस प्रकार सार्वजनिक व्यय मे पूंजी निर्माण व्यय का अश बढने के स्थान पर घटता रहा है। सार्वजनिक व्यय मे गैर-विकास के अश मे अधिक वृद्धि होती रही है और केन्द्रीय सरकार बजट के साधनो का एव बडा भाग अनुदानो प्राकृतिक विपत्तियो के निवारण हेतु सहायता तथा राज्यो द्वारा रिजर्व बैंक से लिये गये अनाधिकृत अधिविकर्षों के शोधन हेतु केन्द्र द्वारा सहायता देने पर व्यय किया गया जिसमे विकास-व्यय के अश म कमी होती रही है।

निजी क्षेत्र मे विनियोजन

तृतीय योजना के अन्त तक सार्वजनिक क्षेत्र का अर्थ व्यवस्था मे प्रभुत्व स्थापित हो गया है और इस क्षेत्र द्वारा कुल विनियोजन का लगभग आधा भाग अर्थ व्यवस्था म विनियोजित किया गया। यही कारण है कि तृतीय योजना के पश्चात सार्वजनिक क्षेत्र के विनियोजन का समस्त पूंजी निर्माण पर पर्याप्त प्रभाव पडने लगा और सार्वजनिक क्षेत्र मे साठ के दशक के मध्य मे विनियाजन

सार्वजनिक क्षेत्र मे कम होने के कारण निजी क्षेत्र के आधारभूत एव पूँजीगत वस्तुओं के उद्योगो के उत्पादन मे कमी आ गयी ।

निजी क्षेत्र के औद्योगिक क्षेत्र मे शुद्ध पूंजी-निर्माण 1955-56 मे 10 9%, 1956-57 मे 20 2% और 1960-61 मे 9 0% था । परन्तु इसके पश्चात के वर्षो मे शुद्ध पूंजी-निर्माण की दर 9 से 10 5% तक ही रही । 1965-66 मे शुद्ध पूँजी-निर्माण की दर 13 5% तक पहुँच गयी परन्तु इसके वाद के वर्षो मे निजी क्षेत्र मे पूंजी-निर्माण की दर मे कमी होनी रही और 1968-69 मे पूंजी-निर्माण की दर घटकर 3 8% ही रह गयी । 1973-74 मे पूंजी-निर्माण की दर मे वृद्धि प्रारम्भ हुई और इस वर्ष मे 11 1% की दर से पूंजी-निर्माण हुआ जो 1974-75 मे बढकर 20 1% हो गयी । परन्तु 1975-76 मे निजी क्षेत्र मे औद्योगिक क्षेत्र के शुद्ध पूंजी-निर्माण की दर 7 3% ही रही । निजी क्षेत्र के पूंजी निर्माण, उत्पादन एव रोजगार पर सार्वजनिक क्षेत्र के घटते हुए विनियोजन का प्रतिकूल प्रभाव पडता रहा है । निजी क्षेत्र के विनियोजन का बहुत बडा अश सार्वजनिक वित्तीय सस्थाओ द्वारा ऋण आदि के रूप मे प्रदान किया गया । यह वित्तीय सहायता निजी क्षेत्र के औद्योगिक विकास की आवश्यकता से कही अधिक थी । इस वित्तीय सहायता का अधिकतर उपयोग पूंजी-मघन उद्योगो मे किया गया जिससे रोजगार के अवसरो मे वृद्धि करना सम्भव नही हो सका ।

पूंजी-उत्पाद-अनुपात

आर्थिक प्रगति से सम्बन्धित अध्ययन मे पूंजी-निर्माण एव आय-वृद्धि के आनुपातिक सम्बन्ध को अत्यन्त महत्वपूर्ण समझा जाने लगा है क्योकि इसके अध्ययन के आधार पर ही अर्थ व्यवस्था की प्रगति का ठीक-ठीक अनुमान लगाना सम्भव हो सकता है। जॉर्ज रोजेन ने अपनी पुस्तक '*Industrial Change in India*' मे पूंजी-उत्पाद-अनुपात को परिभाषित करते हुए कहा है कि 'यह किसी अर्थ-व्यवस्था अथवा उद्योग का किसी निश्चित काल के विनियोजन एव उसी अर्थ-व्यवस्था अथवा उद्योग के उसी काल के उत्पादन का सम्बन्ध होता है। आर्थिक प्रगति के सन्दर्भ मे पूंजी-उत्पाद-अनुपात किसी निश्चित पूंजी-वृद्धि एव उसी निश्चित काल की उत्पादन-वृद्धि के अनुपात को कहते है। पूंजी-उत्पाद-अनुपात का यह तात्पर्य कदापि नही है कि किसी विशिष्ट समय मे केवल पूंजी से उदय होने वाले उत्पादन का ही अनुपात पूंजी से ज्ञात किया जाता है। पूंजी-उत्पाद-अनुपात वास्तव मे उत्पादन मे लगाये गये समस्त घटको से उदय होने वाले उत्पादन का अनुपात होता है। यदि श्रम एव भूमि की उत्पादकता शून्य हो तो समस्त उत्पादन पूंजी से ही उदय हुआ माना जा सकता है और ऐसी परिस्थिति मे पूंजी की सीमान्त उत्पादकता एव पूंजी-उत्पाद-अनुपात समान ही होंगे। परन्तु श्रम, भूमि आदि का उत्पादन मे योगदान लिये बिना उत्पादन सम्भव नही हो सकता है और इसी कारण पूंजी की सीमान्त उत्पादकता पूंजी-उत्पाद-अनुपात से कम रहती है। पूंजी की सीमान्त उत्पादकता मे केवल पूंजी-घटक से उदय होने वाले उत्पादन का पूंजी से अनुपात ज्ञात किया जाता है। पूंजी-उत्पाद-अनुपात का अध्ययन दो प्रकार से किया जाता है

(अ) औसत पूंजी-उत्पाद-अनुपात—औसत पूंजी-उत्पाद अनुपात मे तात्पर्य किसी विशेष काल मे उपलब्ध पूंजी-स्कन्ध एव उसी काल के उत्पाद के अनुपात से होता है। औसत पूंजी-उत्पाद-अनुपात की गणना निम्नलिखित सूत्र द्वारा की जाती है

$$\text{औसत पूंजी-उत्पाद-अनुपात} = \frac{\text{अर्थ-व्यवस्था के कुल पूंजी-स्कन्ध का मूल्य}}{\text{अर्थ-व्यवस्था का कुल उत्पादन}}$$

(ब) वृद्धिगत पूंजी-उत्पाद-अनुपात—किसी निश्चित काल के शुद्ध पूंजी-निर्माण तथा उस काल की उत्पादन-वृद्धि के अनुपात को वृद्धिगत पूंजी-उत्पाद-अनुपात कहते है। इसकी गणना अग्रवत् की जाती है

$$\text{वृद्धिगत पूंजी-उत्पाद-अनुपात} = \frac{\text{किसी काल में शुद्ध पूंजी-निर्माण}}{\text{उसी काल में शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि}}$$

(स) सीमान्त पूंजी-उत्पाद-अनुपात—अर्थ-व्यवस्था में अतिरिक्त पूंजी लगाने से जो अतिरिक्त उत्पादन प्राप्त हो सकता है, उसे सीमान्त पूंजी-उत्पाद-अनुपात कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि केवल पूंजी-घटक की वृद्धि के परिणामस्वरूप जो उत्पादन-वृद्धि होती है, इसे सीमान्त पूंजी-उत्पाद-अनुपात कहते हैं। इसकी गणना निम्नवत् की जाती है

$$\text{सीमान्त पूंजी-उत्पाद-अनुपात} = \frac{\text{पूंजी-स्कन्ध में वृद्धि}}{\text{पूंजी स्कन्ध की वृद्धि के फलस्वरूप उत्पादन में वृद्धि}}$$

यद्यपि विनियोजन का उत्पादन-वृद्धि पर प्रभाव उसी काल में नहीं पड़ता जिसमें विनियोजन किया गया है परन्तु गणना की सुविधा के लिए किसी काल की पूंजी-स्कन्ध-वृद्धि एवं उत्पादन-वृद्धि के अनुपात को ही वृद्धिगत पूंजी-उत्पाद-अनुपात माना जाता है।

पूंजी उत्पाद-अनुपात निम्नलिखित घटकों से प्रभावित होता है

(अ) पूंजी-उत्पाद-अनुपात प्रत्यक्ष रूप में वर्तमान पूंजी-स्कन्ध के उपयोग के परिमाण पर निर्भर रहता है। यही कारण है कि मन्दीकाल में प्रभावशाली माँग की कमी के कारण पूंजी का पूर्णतम उपयोग न होने से पूंजी-उत्पाद-अनुपात अधिक रहता है। मशीनों के रूप में पूंजी उपलब्ध होती है उनको कई पालियों में उपयोग करके उत्पादन को बढ़ाया जा सकता है और पूंजी का उत्पादन से अनुपात कम हो सकता है।

(आ) समस्त अर्थ व्यवस्था का पूंजी-उत्पाद-अनुपात अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों के पूंजी-उत्पाद-अनुपात पर निर्भर रहता है। जब अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों के महत्व एवं आकार में परिवर्तन होता है अथवा किन्हीं व्यवसायों में पूंजी बचाने वाली अथवा पूंजी-प्रधान तान्त्रिकताओं का उपयोग प्रारम्भ किया जाता है तो अर्थ-व्यवस्था का पूंजी-उत्पाद-अनुपात प्रभावित होता है। विकासशील राष्ट्रों में जब कृषि एवं हल्के उद्योगों (Light Industries) के स्थान पर पूंजीगत वस्तुओं एवं भारी उद्योगों को महत्व दिया जाता है तो पूंजी-उत्पाद-अनुपात में वृद्धि होती है।

(इ) अर्थ-व्यवस्था में किये जाने वाले विनियोजन के परिपक्व होने में जो समय लगता है, उस पर भी पूंजी-उत्पाद-अनुपात निर्भर रहता है। यदि विनियोजन ऐसी परियोजनाओं में किया जाता है जिनकी पूर्ति दीर्घकाल में होती है तो उस काल में पूंजी-उत्पाद-अनुपात अधिक रहता है क्योंकि नवीन पूंजी-विनियोजन द्वारा उत्पादन में अल्पकाल में वृद्धि नहीं होती है।

(ई) देश के विकास-स्तर पर पूंजी-उत्पाद-अनुपात निर्भर रहता है। विकसित राष्ट्रों में प्रायः पूंजी-उत्पाद-अनुपात कम रहता है क्योंकि ऐसी परियोजनाओं में जिनमें प्रारम्भिक विनियोजन बड़ी मात्रा में किया जाता है, की पूर्ति विकास के प्रारम्भिक काल में हो जाती है और बाद के वर्षों में इन परियोजनाओं पर केवल संचालन एवं निर्वाह सम्बन्धी विनियोजन किये जाते हैं जबकि इनके द्वारा उत्पादन इनकी पूर्ण क्षमता के अनुसार प्राप्त हो जाता है। दूसरी ओर, अल्प-विकसित राष्ट्रों में प्रारम्भिक विकासकाल में परियोजनाओं में अधिक विनियोजन करना होता है और इनसे उत्पादन नहीं के बराबर होता है। ऐसी परिस्थिति में इन राष्ट्रों में पूंजी-उत्पाद-अनुपात अधिक रहता है।

(उ) मूल्य-स्तर में परिवर्तन होने पर भी पूंजी-उत्पाद-अनुपात प्रभावित होता है। मूल्य-स्तर में वृद्धि होने पर उत्पादन में सम्मिलित होने वाले घटकों (Inputs) की लागत बढ़ जाती है भृति-दर एवं वृत्ति-दर बढ़ जाती है पूंजीगत प्रसाधनों का मूल्य बढ़ जाता है और इन सब के परिणामस्वरूप पूंजी-उत्पाद-अनुपात में वृद्धि होती है।

(ऊ) बाह्य मितव्ययताओं की उत्पत्ति एवं उत्पादकों के उपयोग से पूंजी-उत्पाद-अनुपात कम होता है। सामाजिक उपरिव्यय-पूंजी एवं जनोपयोगी सेवाओं में वृद्धि होने पर इनसे लाभान्वित होने वाले क्षेत्र में पूंजी-उत्पाद-अनुपात कम हो जाता है। कभी-कभी किसी एक उद्योग के विस्तार

से कुछ अन्य उद्योगों को कच्चा माल एवं पूंजीगत प्रसाधन कम लागत पर उपलब्ध हो जाते हैं और इस प्रकार लाभान्वित होने वाले उद्योगों में पूंजी-उत्पाद-अनुपात कम हो जाता है।

(ए) अर्थ-व्यवस्था के कुछ क्षेत्रों में अत्यधिक उच्चावचान होने पर भी समस्त अर्थ-व्यवस्था का पूंजी-उत्पाद-अनुपात स्थिर रह सकता है क्योंकि अन्य क्षेत्रों में होने वाले परिवर्तनों की प्रतिक्रिया उन उच्चावचानों के प्रभाव को नष्ट कर देती है। यही कारण है कि विकसित राष्ट्रों में ब्याज-दर में वृद्धि होने तथा क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम संचालित होने पर भी पूंजी-उत्पाद-अनुपात स्थिर होता है क्योंकि तान्त्रिक प्रगति से श्रमिक की कुशलता में सुधार तथा बाहरी सुविधाओं में विस्तार होने से उत्पत्ति ह्रास नियम आदि का प्रभाव नष्ट हो जाता है।

(ऐ) वास्तव में समस्त अर्थ-व्यवस्था का पूंजी-उत्पाद-अनुपात देश के उद्योगों के सम्मिश्रण पर निर्भर रहता है। अल्प-विकसित राष्ट्रों में उत्पादन के घटकों की पूर्ति इस प्रकार की होती है कि प्रति पूंजी की इकाई के लिए अधिक श्रम उपलब्ध होता है परन्तु श्रम की उत्पादकता कम होने के कारण पूंजी-उत्पाद-अनुपात फिर भी अधिक रहता है। यदि अर्थ-व्यवस्था में कम पूंजी उपयोग करने वाले उद्योगों की प्रधानता होती है (अर्थात् हल्के एवं उपभोक्ता-उद्योग अधिक होते हैं) तो पूंजी-उत्पाद-अनुपात कम होता है। अल्प-विकसित राष्ट्रों में जहां श्रम-प्रधान उद्योगों का बाहुल्य होता है, वहीं विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में पूंजी-प्रधान उद्योगों का अर्थ-व्यवस्था में अधिक महत्व होता है जिसके परिणामस्वरूप विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में पूंजी-उत्पाद-अनुपात अधिक हो सकता है, जब तक कि इस परिस्थिति को अधिक कुशल उत्पादन द्वारा बदल न दिया जाय।

पूंजी-उत्पाद-अनुपात का राष्ट्रीय आय की प्रगति-दर से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। यह अनुपात अल्प-विकसित राष्ट्रों में समान नहीं पाया जाता है। इन राष्ट्रों में विकास के प्रारम्भिक काल में उपरिव्यय-सुविधाओं पर अत्यधिक विनियोजन करना पड़ता है जिसका लाभ दीर्घकाल में अर्थ-व्यवस्था को प्राप्त होता है। इन राष्ट्रों के औद्योगिक विकास के लिए यातायात एवं संचार, शक्ति, वित्तीय एवं अधिकोषण आदि सुविधाओं का आयोजन करने के लिए प्रारम्भिक काल में बहुत अधिक विनियोजन करना होता है। ऐसी परिस्थिति में विकास के प्रारम्भिक काल में अल्प-विकसित राष्ट्रों में पूंजी-उत्पाद-अनुपात ऊँचा रहता है। इसके अतिरिक्त अल्प-विकसित राष्ट्रों में पूंजीगत प्रसाधनों का गहन उपयोग भी सम्भव नहीं होता है क्योंकि इन राष्ट्रों द्वारा अधिकतर पूंजी-प्रसाधन विदेशों से आयात करने होते हैं जिनकी तान्त्रिकता इतनी जटिल रहती है कि इन देशों में उपलब्ध श्रम एवं प्रबन्ध आयातित पूंजी-प्रसाधनों का कुशल एवं गहन उपयोग करने में असमर्थ रहते हैं। इस कारण भी अल्प-विकसित राष्ट्रों में पूंजी-उत्पाद-अनुपात ऊँचा रहता है।

विभिन्न अल्प-विकसित राष्ट्रों के आर्थिक विकास के इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इन राष्ट्रों में पूंजी-उत्पाद-अनुपात प्रारम्भिक विकासकाल में ऊँचा रहकर कुछ वर्षों में कम हो जाता है क्योंकि उपरिव्यय-सुविधाओं में विनियोजित पूंजी का लाभ अर्थ-व्यवस्था को मिलने लगता है और पूंजीगत प्रसाधनों का भी गहन उपयोग होने लगता है। जैसे-जैसे देश में तान्त्रिक ज्ञान का प्रवाह बढ़ता जाता है, उत्पादन में तान्त्रिकताओं का कुशल उपयोग होने लगता है और पूंजी-उत्पाद-अनुपात घट जाता है।

विकास की गति तीव्र होने पर पूंजी-उत्पाद-अनुपात पुनः बढ़ने लगता है, विशेषकर ऐसे राष्ट्रों में जहां औद्योगीकरण को अधिक महत्व दिया जाता है। सामान्यतः उद्योगों में पूंजी-उत्पाद-अनुपात कृषि की तुलना में अधिक होता है। औद्योगीकरण जब एक चरण से दूसरे चरण में प्रविष्ट होता है तो श्रम बचाने वाली अत्यधिक जटिल तान्त्रिकताओं का उपयोग किया जाता है जिनमें पूंजी का विनियोजन अधिक होता है। इसके अतिरिक्त औद्योगीकरण का विस्तार नवीन नगरों की स्थापना को प्रोत्साहित करता है जिनमें उपरिव्यय-सुविधाएं प्रदान करने के लिए भारी विनियोग करना पड़ता है। इन्हीं कारणों से विकास के बढ़ने पर पूंजी-उत्पाद-अनुपात में वृद्धि होती है जो कुछ वर्षों के बाद फिर घट जाता है।

27

राजकोषीय नीति एवं आर्थिक प्रगति
[FISCAL POLICY AND ECONOMIC GROWTH]

आर्थिक प्रगति के कार्यक्रमो का सचालन करने के लिए अर्थ-साधनो की आवश्यकता होती है—ऐसे अर्थ-साधन जो देश के उपभोग की आवश्यकताओ के अतिरिक्त विकास-कार्यक्रमो को उपलब्ध हो सकें। वास्तव मे देश के राष्ट्रीय उत्पादन का बहुत बड़ा भाग उपभोग पर व्यय होता है और एक अत्यन्त न्यून प्रतिशत विकास के लिए उपलब्ध होता है। विकास-कार्यक्रमो—कृषि-विकास-कार्यक्रम, सिचाई एव शक्ति की परियोजनाएँ, नवीन उद्योगो की स्थापना तथा वर्तमान उद्योगो का विस्तार, यातायात के साधनो मे वृद्धि एव सुधार, रोजगार के अवसरो मे वृद्धि आदि—के लिए अर्थ-साधनो की आवश्यकता होती है जो आन्तरिक एव विदेशी साधनो से प्राप्त किये जाते है। प्राय आन्तरिक साधनो को अधिक महत्त्व दिया जाता है और इसी कारण वर्तमान राष्ट्रीय आय के अधिक प्रतिशत को बचत एव विनियोजन की ओर आकर्षित किया जाता है। विकास-कार्यक्रमो के परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आय मे जो वृद्धि होती है, उस वृद्धि के बड़े अश को विनियोजन के लिए प्राप्त करने के प्रयत्न किये जाते है यद्यपि जनसमुदाय इस आय की वृद्धि के अधिक से अधिक भाग को उपभोग पर व्यय करना चाहता है। राज्य को इस प्रकार आन्तरिक साधनो को एकत्रित करने के लिए बहुत-सी प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष तान्त्रिकताओ का उपभोग करना होता है जो राजकोषीय नीति का अग बनती है।

यद्यपि अर्थ-साधनो को आन्तरिक तथा विदेशी दोनो साधनो से प्राप्त किया जा सकता है, परन्तु अर्थशास्त्रियो का सामान्य मत है कि विदेशी सहायता से सुदृढ आर्थिक विकास सीमित मात्रा तक हो सकता है। विदेशी अर्थ द्वारा दोहरी अर्थ-व्यवस्था मे सन्तुलन उत्पन्न नही हो पाता है और विदेशी सहायता का प्रवाह रुक जाने पर विकास की गति धीमी ही नही अवरुद्ध-सी हो जाती है। विदेशी सहायता द्वारा दीर्घकाल तक स्वदेशी अर्थ-साधनो की न्यूनता का प्रतिस्थापन नही किया जा सकता।

अल्प-विकसित राष्ट्रो को विकास की गति तीव्र रखने के लिए अधिक अर्थ की आवश्यकता होती है जबकि निजी साहसी उत्पादक क्रियाओ मे अधिक विनियोजन करने के लिए तैयार नही होता है। ऐसी परिस्थिति मे आर्थिक प्रगति के लिए राज्य को बचत एव विनियोजन को नियन्त्रित करना चाहिए जिससे वांछित गति से आर्थिक विकास सम्भव हो सके। राज्य की इस क्रिया को राजकोषीय कार्यवाहियाँ कहते है।

राजकोषीय नीति का विकास एवं अर्थ

राजकोषीय नीति का सक्षेप मे अर्थ 'राजकीय वित्तीय नीति' से समझा जा सकता है। सन् 1930 की व्यापक मन्दी के पूर्व राजकोषीय नीति का अर्थ सरकार की कर-व्यवस्था से लिया जाता है जिसके अन्तर्गत सरकार द्वारा सरकारी व्ययो की पूर्ति करने हेतु करारोपण इस प्रकार किया जाता है कि वह न्यायपूर्ण हो, उन्हे जन-स्वीकृति प्राप्त हो तथा उनका प्रशासन सरलता मे किया जा सकता हो। इस काल मे करारोपण का उद्देश्य सरकारी व्ययो के लिए अर्थ-साधन एकत्रित करना होता था और करारोपण को अर्थ-व्यवस्था के आय-प्रवाह एव व्यय की सरचना (Expendi-

ture Pattern) मे सम्बद्ध नही किया जाता है। शान्तिकाल के सरकारी बजट मे आय एव व्यय को अधिक से अधिक सन्तुलित रखा जाता है। इस प्रकार करारोपण की प्रक्रिया इस काल मे एक तटस्थ प्रक्रिया होनी थी जिसके माध्यम से अर्थ व्यवस्था की वित्तीय सरचना पर कोई प्रभाव डालने का प्रयास नही किया जाता था। सिद्धान्त रूप मे उपर्युक्त मान्यता होते हुए भी सरक्षात्मक शुल्क, विलासिता के प्रसाधनो पर अप्रत्यक्ष कर आदि की व्यवस्था केवल सरकार की आय बढाने के लिए नही की जाती थी।

सन् 1930 मे और उसके बाद के काल मे विकसित तान्त्रिक ज्ञान, कारखानो के श्रेष्ठीकरण, कच्चे माल का बाहुल्य आदि के होते हुए भी व्यापक बेरोजगारी एव निर्धनता के उदित होने पर अर्थशास्त्रियो को आधारभूत वित्तीय एव आर्थिक नीतियो के सम्बन्ध मे पुनर्विचार करने के लिए विवश होना पडा। सन् 1930 मे ब्रिटिश अर्थशास्त्री कीन्स के लेखो द्वारा यह सिद्ध किया गया कि अर्थ-व्यवस्था मे रोजगार के निम्न एव उच्च दोनो ही स्तरो मे सन्तुलन स्थापित हो सकता है। कीन्स के विचारो के अनुसार यह स्वीकार किया जाने लगा कि सरकार द्वारा अपने व्यय मे वृद्धि करके विनियोजन को बढाने से रोजगार मे वृद्धि करना सम्भव हो सकता है। इस प्रकार सरकारी व्यय-वृद्धि के माध्यम से अवसाद (मन्दी) को नियन्त्रित करना सम्भव हो सकता है। सन 1940 मे इस एकपक्षीय नीति को द्विपक्षीय आधार प्रदान किया गया जिसके अन्तर्गत यह स्वीकार किया जाने लगा कि सरकारी वित्तीय हीनता (Government Fiscal Deficits) से अवसाद को नियन्त्रित किया जा सकता है और सरकारी वित्तीय अतिरेक से मुद्रा स्फीति को नियन्त्रित करना सम्भव हो सकता है। राजकोषीय नीति का यह द्विपक्षीय उपयोग भी व्यापक नही हो पाया था कि सन 1939 मे द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हो गया और अधिकतर राष्ट्रो द्वारा युद्ध के लिए सरकारी व्यय मे तीव्र गति से वृद्धि की गयी। अधिक करारोपण के स्थान पर जन-ऋण एव हीनार्थ-प्रबन्धन द्वारा सरकारी व्यय के अर्थ-साधन जुटाये गये। युद्ध की वित्तीय व्यवस्था का पिछडी हुई अर्थ-व्यवस्थाओ पर व्यापक प्रदर्शन प्रभाव हुआ और जन-ऋण की सहायता से सरकारी व्यय बढाने हेतु नियोजित कार्यक्रम सचालित किये जाने लगे। इस प्रकार आधुनिक युग मे राजकोषीय नीति उस नीति को कहते हैं जिसके अन्तर्गत 'सरकारी प्राप्तियाँ एव व्यय सचित रूप से (विशेषत इनकी यौगिक राशियाँ) आयोजित किये जाते है कि सम्पूर्ण आय-स्तर, मूल्यो एव रोजगार मे हितकारी परिवर्तन होते है।'[1]

राजकोषीय नीति का उपयोग

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि राजकोषीय नीति का वर्तमान स्वरूप औद्योगिक राष्ट्रो मे विकसित हुआ। परन्तु इसका वर्तमान उपयोग विकासशील राष्ट्रो मे किया जा सका क्योकि औद्योगिक राष्ट्रो मे अर्थ-व्यवस्था के राष्ट्रीय आय उत्पादन का बहुत सा भाग सरकारी व्यय होना है। राजकोपीय नीति द्वारा विनियोजन, बचत, आय प्रवाह, मूल्य एव रोजगार तभी अधिक प्रभावित हो सकते हैं जबकि सरकारी व्यय का अनुपात निजी व्यय से अधिक हो। सयुक्त राज्य अमरिका जब एक विकासशील देश था, उसका सरकारी व्यय का सकल राष्ट्रीय उत्पादन मे अनुपात अत्यन्त कम था। इसी प्रकार कितनी भी साहसिक राजकोषीय नीति क्यो न अपनायी जाती, उसके द्वारा रोजगार एव मुद्रा-स्फीति पर नियन्त्रण पाना सम्भव नही हो सकता था। यही कारण है कि आधुनिक युग के विकसित राष्ट्रो की विकास-प्रक्रिया मे राजकोषीय नीति का अधिक योगदान नही रहा है। बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे विकसित राष्ट्रो मे सरकारी व्यय का सकल राष्ट्रीय उत्पादन से अनुपात बढ़ता जा रहा है और इन राष्ट्रो मे राजकोषीय नीति द्वारा आर्थिक सुदृढता स्थापित करने का प्रयत्न किया जाता है।

1 "The policy that government receipts and expenditures should be consciously planned particularly in their aggregate amounts, so as to effect beneficial changes in the over-all level of incomes, price and employment"—Henry C Murphy, *Finance and Development*, June 1970

आधुनिक युग के विकासशील राष्ट्रों में सरकारी व्यय के सम्बन्ध में स्थिति कुछ भिन्न है। अधिकतर विकासशील राष्ट्रों में नियोजित विकास को महत्व प्रदान किया गया है जिसके अन्तर्गत सरकार आर्थिक क्रियाओं को अपने स्वामित्व एवं नियन्त्रण में ले लेती है। इस प्रकार सरकारी व्यय सकल राष्ट्रीय उत्पादन का एक बड़ा भाग होता है। नियोजित विकास के अन्तर्गत सरकार द्वारा सचेत रूप से विकास-व्यय में वृद्धि की जाती है और इस बढ़े हुए व्यय की पूर्ति के लिए राजकोषीय नीति को इस प्रकार निर्धारित किया जाता है कि आय-प्रवाह, मूल्यों एवं रोजगार में विकास के लक्ष्यों एवं उद्देश्यों के अनुरूप परिवर्तन किये जा सकें। इस प्रकार राजकोषीय नीति एक अस्त्र है जिसके माध्यम से एक ओर विकास के लिए अर्थ-साधन प्राप्त किये जाते हैं तथा दूसरी ओर अर्थ-व्यवस्था में विकास के अनुरूप विभिन्न क्षेत्रों में सन्तुलन स्थापित किया जाता है।

राजकोषीय एवं मौद्रिक नीति में सम्बन्ध

राजकोषीय नीति सरकारी आय के अतिरेक एवं हीनता के उस आयोजन को कहते हैं जिससे मूल्यों, आय एवं रोजगार के स्तरों में वांछित परिवर्तन किये जा सकें। दूसरी ओर, मौद्रिक नीति द्वारा व्यापारिक क्षेत्र को उपलब्ध होने वाले अर्थ-साधनों की लागत में वृद्धि अथवा कमी करके सामान्य मूल्यों, आय एवं रोजगार के स्तरों पर वांछित प्रभाव डाला जाता है। राजकोषीय एवं मौद्रिक नीति एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध रहती हैं और एक-दूसरे के पूरक एवं सहायक के के रूप में संचालित की जा सकती हैं। जब राजकोषीय अतिरेक के द्वारा सरकार बचत करती है तो अर्थ-व्यवस्था में संकुचन का वातावरण उदय होता है क्योंकि सरकार द्वारा अधिक करारोपण द्वारा निजी क्षेत्र में अधिक अर्थ साधन ले लिये जाते हैं और सरकारी व्यय में वृद्धि न करके निजी क्षेत्र के आय के साधन नहीं बढ़ पाते हैं। इस प्रकार साख की उपलब्धि में कमी आती है और ब्याज की दरें बढ़ जाती हैं। साख पर पड़ने वाला यह प्रभाव मौद्रिक नीति का अंग होता है। दूसरी ओर, जब सरकार द्वारा अपनी आय से अधिक व्यय करके राजकोषीय हीनता उत्पन्न की जाती है तो अर्थ-व्यवस्था का विस्तार होता है और साख की उपलब्धि में वृद्धि तथा ब्याज-दर में कमी आती है। साख पर पड़ने वाला यह प्रभाव मौद्रिक नीति का अंग है। इस प्रकार राजकोषीय नीति का मौद्रिक प्रभाव उसका एक अनिवार्य अंग होता है। इसीलिए इन दोनों नीतियों का उचित सम्मिश्रण विकास के लिए आवश्यक होता है।

राजकोषीय एवं मौद्रिक नीति का विभिन्न तत्वों पर प्रभाव

(1) उपभोक्ता व्यय एवं विनियोजन—राजकोषीय नीति का प्रत्यक्ष प्रभाव उपभोक्ताओं की आय पर पड़ता है जिससे उपभोक्ता-माँग में वृद्धि होती है। उपभोक्ता-माँग की वृद्धि को आच्छादित करने के लिए पूर्ति में वृद्धि की जाती है जिससे विनियोजन-मूल्य एवं रोजगार सभी प्रभावित होते हैं। दूसरी ओर, मौद्रिक नीति का प्रत्यक्ष प्रभाव विनियोजन पर पड़ता है जो अन्ततः उपभोक्ता-माँग को भी प्रभावित करता है। इस प्रकार माँग एवं विनियोजन दोनों को विकास के अनुसार समन्वित करने के लिए दोनों नीतियों का मिश्रित उपयोग आवश्यक होता है।

(2) आय, मूल्य एवं रोजगार—राजकोषीय नीति प्रत्यक्ष रूप से आय, मूल्य एवं रोजगार पर प्रभाव डालती है और तीनों तथ्यों के माध्यम से देश के भुगतान-शेष को प्रभावित करती है। दूसरी ओर, मौद्रिक नीति भुगतान-शेष पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालती है क्योंकि विदेशी पूँजी का प्रवाह देश में विद्यमान ब्याज-दर पर निर्भर रहता है। भुगतान-शेष अप्रत्यक्ष रूप से मूल्य, आय एवं रोजगार को प्रभावित करता है।

(3) अर्थ-व्यवस्था का संकुचन एवं विस्तार—राजकोषीय नीति के माध्यम से अर्थ-व्यवस्था का विस्तार करना सरल होता है क्योंकि इससे आय में प्रत्यक्ष वृद्धि होती है। आय-वृद्धि के चक्र को गतिशील करने हेतु इसे निजी साहसियों के विनियोजन सम्बन्धी निर्णयों पर नहीं छोड़ना पड़ता है। दूसरी ओर, मौद्रिक नीति अवसाद की स्थिति से देश को निकालने में प्रभावशाली नहीं होती है,

क्योकि कम ब्याज पर उपलब्ध साख का उपयोग साहसी तब तक नही करता जब तक कि उसे लाभोपार्जन का आश्वासन नही हो जाता है। परन्तु मौद्रिक नीति आर्थिक सकुचन अथवा मुद्रा-स्फीति को नियन्त्रित करने मे अधिक प्रभावशाली होती है क्योकि साख की उपलब्धि कम हो जाने से साहसी अपनी क्रियाओ मे विस्तार नही कर पाता है। यही कारण है कि जब राजकोषीय नीति के परिणामस्वरूप अर्थ-व्यवस्था मे मुद्रा-स्फीति उदय हो जाती है तो मौद्रिक नीति का व्यापक उपयोग किया जाता है। हमारे देश मे भी वर्तमान काल मे ब्याज की दरो मे वृद्धि करके तथा साख-नियन्त्रण द्वारा मुद्रा-स्फीति को नियन्त्रित करने के प्रयत्न किये जा रहे है।

राजकोषीय नीति के विभिन्न अंग

राजकोषीय नीति के माध्यम से विकास हेतु अर्थ-साधन विभिन्न विधियो से एकत्रित किये जाते है। इन विधियो का उपयोग करते समय इनसे उपलब्ध होने वाले साधनो के साथ-साथ इनसे आय-प्रवाह, मूल्यो एव रोजगार पर पडने वाले प्रभावो का भी अध्ययन किया जाता है। राजकोषीय नीति के विभिन्न अग निम्नवत् है

(अ) ऐच्छिक आन्तरिक बचत (Voluntary Domestic Savings),
(आ) राजकीय बचत (Governmental Savings),
(इ) मुद्रा-प्रसार द्वारा प्राप्त बचत (Inflationary Savings),
(ई) विदेशी बचत (Foreign Savings)।

(अ) ऐच्छिक आन्तरिक बचत

अल्प-विकसित राष्ट्र मे विकास हेतु आन्तरिक बचत की सदैव न्यूनता रहती है क्योकि आय तथा अवसर की समानता के लिए सदैव प्रयत्नशील रहा जाता है तथा धनिक-वर्ग निर्धन वर्ग की अपेक्षा अधिक बचत करने के योग्य होता है। यही कारण है कि उन राष्ट्रो मे, जहाँ राष्ट्रीय आय का वितरण अधिक असमान होता है, सामान्यत आन्तरिक बचत की मात्रा भी अधिक होती है परन्तु अल्प-विकसित राष्ट्रो मे अधिक आय वाला वर्ग प्रतिष्ठा-सम्बन्धी उपभोग को अधिक महत्व देता है तथा विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ के नागरिको के समान उपभोग का स्तर प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहता है। इसके अतिरिक्त यह वर्ग अपनी बचत का उपभोक्ताओं, व्यापारियो तथा कृषको को अल्पकालीन ऋण प्रदान करने एव वस्तुओ का सग्रह करके परिकाल्पनिक (Speculative) लाभ प्राप्त करने के लिए उपयोग करता है क्योकि उसके द्वारा लाभोपार्जन सम्भव होता है। इस प्रकार अर्थ-व्यवस्था मे आर्थिक विषमताओ के रहते हुए विकास-सम्बन्धी विनियोजन के लिए बचत पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध नही होती है। आर्थर ल्यूस (Arthur Lewis) के अनुसार ऐच्छिक बचत विकास सम्बन्धी विनियोजन के लिए आय के विषम वितरण वाली उन्ही अर्थ व्यवस्थाओ मे उपलब्ध होती है जिनमे राष्ट्रीय आय मे साहसियो के लाभ का अश अधिक होता है। ऐसी अर्थ-व्यवस्थाओ मे, जहाँ राष्ट्रीय आय का बडा भाग जमीदारो तथा व्यापारियो को प्राप्त होता है, विकास-सम्बन्धी विनियोजन के लिए ऐच्छिक बचत प्राप्त होने की सम्भावना कम होती है। इन्ही कारणो मे अल्प-विकसित राष्ट्रो मे ऐच्छिक बचत एव निजी विनियोजन आर्थिक प्रगति हेतु वित्त प्रदान करने मे अधिक सहायक नही होते है, परन्तु आर्थिक प्रगति की प्रारम्भिक अवस्था मे ऐच्छिक बचत के द्वारा उपभोग को प्रतिबन्धित करने मे सहायता मिलती है जिसके फलस्वरूप मुद्रा-स्फीति के दबाव को कम करना सम्भव होता है। यदि बचत किया हुआ धन सग्रहीत (Hoard) कर लिया जाय अथवा देश मे उपलब्ध मूल्यवान धातुओ आदि मे विनियोजित कर दिया जाय तो इसका वही प्रभाव होगा, जो बचत को वित्तीय सस्थाओ मे जमा करने से होगा। जब नियोजन-अधिकारी को यह आश्वासन हो जाय कि निर्गमित मुद्रा का निश्चित भाग सग्रहीत कर लिया जायगा और उपभोग पर व्यय नही किया जायेगा तब वह सग्रहीत राशि के बराबर विकास-कार्यक्रमो के लिए वित्त प्रदान करने हेतु साख (Credit) मे विस्तार कर सकता है परन्तु प्राय यह सग्रहीत बचत अचानक ही उपभोग पर व्यय कर दी जाती है जिसके फलस्वरूप

मुद्रा-स्फीति का दवाव बढ जाता है। संग्रहीत बचत के अचानक व्यय करने का नियन्त्रण करने हेतु यह आवश्यक समझा जाता है कि बचत को साख संस्थाओ मे जमा करने के लिए प्रोत्साहित किया जाय। यही कारण है कि विकास की ओर अग्रसर राष्ट्रो मे साख-संस्थाओ का विस्तार किया जाता है। ये संस्थाएँ जनसमुदाय मे बचत करने के स्वभाव का निर्माण करती है, परन्तु यथासम्भव इन संस्थाओ को एक केन्द्रीय अधिकारी अथवा बैंक के अधीन होना चाहिए जिससे इनकी प्राप्त बचत का समन्वित विनियोजन विकास-सम्बन्धी कार्यो मे किया जा सके।

इसके अतिरिक्त इन साख-संस्थाओ—बैंक, डाक-विभाग, सहकारी संस्थाओ, जीवन बीमा आदि—के कर्मचारियो मे ईमानदारी, तत्परता तथा सहायता करने की भावनाओ के स्तर मे वृद्धि होना भी आवश्यक है। इन संस्थाओ की कार्य करने की विधि इतनी सरल तथा प्रणाली इतनी सुगम होनी चाहिए कि बचत जमा करने तथा निकालने मे समय का अपव्यय, कष्ट एव असुविधा नही होनी चाहिए। इसके साथ ही ग्रामीण विकास की योजनाओ के अन्तर्गत कृषक तथा श्रमिक-वर्ग को धन के व्यय तथा अपव्यय सम्बन्धी शिक्षा प्रदान की जाय। यह कार्य अत्यन्त कठिन तथापि आवश्यक है क्योकि ग्रामीणो के रूढिवादी, अन्धविश्वासी एव अशिक्षित चिर-स्वभाव को परिवर्तित करना सरल नही है। अल्प-विकसित राष्ट्रो मे आर्थिक विकास के साथ मुद्रा-प्रसार भी एक आवश्यक लक्षण होता है। जनता-जनार्दन को यह विश्वास प्रदान करना भी आवश्यक है कि मुद्रा-प्रसार अत्यधिक नही होगा तथा इस प्रकार उनके विनियोजन तथा ब्याज की राशि की क्रय-शक्ति अथवा वास्तविक मूल्य मे कोई विशेष कमी नही होगी।

राज्य ऐच्छिक बचत को जनसमुदाय से ऋण के रूप मे प्राप्त करता है। राज्य को योजना के अन्तर्गत होने वाले चालू अथवा आवर्तक व्ययो (Recurring Expenses) के लिए ऋण नही लेना चाहिए। केवल ऐसे अनावर्तक (अथवा पूँजीगत) व्ययो के लिए जन-ऋण लिये जाने चाहिए जिनके द्वारा उत्पादित अतिरिक्त आय से यथासम्भव ऋण का भुगतान अवधि मे ऋण का ब्याज तथा मूलधन का शोधन किया जा सके। जन-ऋण द्वारा राज्य अपनी भविष्य की चालू आय को कम कर लेता है क्योकि भविष्य की आय मे से ऋण के ब्याज एव मूलधन का भुगतान करना होता है। इस प्रकार जन-ऋण द्वारा एक ओर तो जनसमुदाय के उपभोग के लिए उपलब्ध होने वाली वर्तमान आय को कम कर दिया जाता है और दूसरी ओर जनसमुदाय की भविष्य की आय बढाने का निश्चय हो जाता है। भविष्य मे जनसमुदाय ब्याज आदि की अतिरिक्त आय के अधिक भाग को उपभोग पर व्यय कर सकता है और इसलिए भविष्य मे अर्थ-व्यवस्था मे अधिक उपभोग की वस्तुएँ उपलब्ध होनी चाहिए। जन-ऋण द्वारा अर्थ-व्यवस्था मे वर्तमान उपभोग कम करने मे सहायता मिलती है, परन्तु भविष्य मे या तो इन ऋणो को अन्य ऋणो मे परिवर्तित किया जाय या फिर इनके विनियोजन के लिए अन्य स्रोतो का आयोजन किया जाय। जन-ऋण नियोजित अर्थ-व्यवस्था का वित्त प्राप्त करने का एक महत्वपूर्ण साधन है और जो धन कर के द्वारा प्राप्त न किया जा सकता हो, उसे ऋण लेकर प्राप्त किया जाता है। यद्यपि विकास कार्यक्रमो के लिए धन प्राप्त करने वाले साधनो मे कर को सर्वश्रेष्ठ माना जाता है, परन्तु कर द्वारा एक ओर तो जनसमुदाय को अत्यधिक कठिनाई होती है और दूसरी ओर जनता मे योजना के प्रति सहानुभूति नही रहती है। इसके साथ ही, अधिक कर अधिक आय-उपार्जन को निजी क्षेत्र मे हतोत्साहित करते है।

ऋण द्वारा प्राप्त राशि का उचित उपयोग होना चाहिए। यदि इसका उपयोग सावधानी के साथ नही किया जाय और आय-उपार्जन-समता मे कोई वृद्धि न हुई तो ये ऋण भविष्य के विकास के लिए बहुत बडे वित्तीय बाधक बन जाते है। जन-ऋण का महत्व प्रजातान्त्रिक एव समाजवादी नियोजन मे अधिक होता है क्योकि इन अर्थ-व्यवस्थाओ मे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता कुछ सीमा तक बनी रहती है। आकस्मिक बाधा उत्पन्न होने पर ऐच्छिक जन-ऋण को अनिवार्य ऋण का रूप दिया जा सकता है, जैसे भारत मे अनिवार्य बचत योजना सन् 1974-75 मे लागू की गयी जिसके अन्तर्गत कर्मचारियो के बढे हुए महँगाई-भत्ते का आधा भाग और वेतन-वृद्धि का सम्पूर्ण भाग

अनिवार्य रूप से जमा करने की व्यवस्था की गयी। इसके अतिरिक्त 15,000 रु से अधिक वार्षिक *आय वालो द्वारा अपनी आय का निश्चित प्रतिशत अनिवार्य रूप से जमा करने का आयोजन किया* गया है। साम्यवादी अर्थ-व्यवस्था मे जन-ऋण का कोई महत्व नही होता क्योकि वहाँ व्यक्तिगत पूंजी का कोई अस्तित्व नही है। अधिनायकवादी नियोजन मे जन-ऋण अनिवार्य ऋण के रूप मे लिया जाता है।

जन-ऋण प्राप्त करने का सबसे उपयुक्त साधन सरकारी प्रतिभूतियो का निर्गमन समझा जाता है। इन प्रतिभूतियो की ब्याज-दरें तथा शोधन-विधि ऐसी होनी चाहिए कि वर्तमान बचत इनकी ओर आकर्षित हो। सरकारी प्रतिभूतियो के शोधन की सुविधा केन्द्रीय बैंक द्वारा बिना किसी विलम्ब के उपलब्ध करानी चाहिए। ये प्रतिभूतियाँ केन्द्रीय बैंक एव उसकी शाखाओ के पास *विक्रय के लिए उपलब्ध होनी चाहिए। प्रतिभूतियो का शोधन शीघ्र न मांगने* हेतु उन पर उपार्जित होने वाला ब्याज समय के बढने के साथ बढता रहना चाहिए। ग्रामीण कृषको एव व्यापारियो के लिए ऐसी प्रतिभूतियाँ निर्गमित की जा सकती है जिनको निक्षेप रूप मे रखकर कृषि एव व्यापार के लिए ऋण प्राप्त किया जा सके। *इनसे अल्पकालीन बचत विनियोजन हेतु उपलब्ध हो सकेगी। प्रतिभूतियो को आकर्षक विनियोजन बनाये रखने के लिए सरकार को सदैव प्रयत्नशील रहना* चाहिए कि मुद्रा-स्फीति का दबाव अर्थ-व्यवस्था पर अधिक न हो क्योकि मुद्रा-स्फीति के फलस्वरूप इन प्रतिभूतियो का वास्तविक मूल्य कम हो जाता है और विनियोजक ऐसी प्रतिभूतियो मे विनियोजन करना पसन्द नही करते हैं।

(आ) राजकीय बचत

राज्य को विभिन्न साधनो मे आय प्राप्त होती है जिसमे से कर, शुल्क, राजकीय उपक्रमों का लाभ, अर्थ, दण्ड तथा हीनार्थ-प्रबन्धन प्रमुख आय के साधन हैं। राजकीय बचत के साधनो मे कर एक श्रेष्ठ साधन माना जाता है। *कर के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से भविष्य की अर्थ-व्यवस्था पर कोई* भार नही पडता क्योकि कर द्वारा प्राप्त राशि का शोधन करने का कोई भी प्रश्न नही उठता, परन्तु कर जनसमुदाय के आयोपार्जन करने के प्रोत्साहन से प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध होते है। दूसरी ओर, कर द्वारा अर्थ-व्यवस्था मे आर्थिक समानता उत्पन्न करना सम्भव होता है।

1) प्रत्यक्ष कर—*प्रत्यक्ष कर द्वारा पूंजी के साधनो को प्राप्त करने हेतु सरकार को धनी-वर्गों* की अधिक करारोपण-क्षमता पर निर्भर रहना पडता है। धनी-वर्ग के उन साधनो को जो निष्क्रिय पडे हो अथवा जिनका राष्ट्र की दृष्टि से लाभप्रद उपयोग न होता हो, कर के रूप मे प्राप्त करना आवश्यक होता है। इसके लिए अधिक आय, सम्पत्ति तथा विलासिताओ पर कर लगाये जा सकते हैं। ऐसे करारोपण की आवश्यकता होती है कि आय, सम्पत्ति तथा विलासिताओ की वृद्धि के साथ कर की दर मे वृद्धि होती रहे। इसके लिए आय-कर को सबसे अधिक महत्व दिया जाता है। जापान, मिस्र तथा भारत मे आय-कर सरकारी आय का एक प्रमुख एव महत्वपूर्ण साधन है, परन्तु *अन्य दक्षिण-पूर्वी, सुदूर-पूर्वी तथा अफ्रीकी राष्ट्रो मे अब भी आय-कर को कोई विशेष स्थान नहीं* दिया जाता है। यद्यपि आय-कर आधुनिक समाजवाद की विचारधाराओ के सर्वथा अनुकूल साधन है, परन्तु अल्प-विकसित राष्ट्रो मे प्रबन्ध-सम्बन्धी आर्थिक तथा राजनीतिक कारणो से इस कर को पूर्ण महत्व नही दिया जाता है।

आय-कर का एकत्र करना एक जटिल कार्य होता है। इसको प्रभावशाली बनाने के लिए ऐसे सगठन की आवश्यकता होती है जिसमे अधिकारी ईमानदार तथा कर एकत्रीकरण के तौर-तरीको मे निपुण हो। अल्प विकसित राष्ट्रो मे ऐसे सगठन की उपलब्धि लगभग असम्भव है, *क्योकि धनिक-वर्ग कर से बचाने की कला मे अधिक निपुण होता है और कर को कपटपूर्ण रीतियों* द्वारा बचा लेता है जिससे इस कर की प्रभावशीलता समाप्त हो जाती है। धनी-वर्ग राजकीय नीतियो पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप मे नियन्त्रण रखता है तथा अधिकाश राजनीतिक दल जमींदार, उद्योगपति अथवा बडे-बडे व्यापारियो द्वारा प्रदत्त दानो के कारण ही प्रगति करते है। इस

कारण अल्प-विकसित राज्यों की सरकारें आर्थिक विकास हेतु धनिक-वर्ग पर अधिक करारोपण नहीं कर पाती।

2. अप्रत्यक्ष कर—दूसरी ओर, अप्रत्यक्ष कर वस्तुओं के क्रय-विक्रय, उत्पादन, आयात-निर्यात, लाभ-कर तथा सामाजिक बीमा आदि के रूप मे लगाये जाते है। पूँजीवादी राष्ट्रों मे अप्रत्यक्ष करों को अधिक महत्व दिया जाता है क्योंकि इसके कारण धनिक-वर्ग के पास बचत के साधन उपलब्ध रहते हैं और उनको अपनी पूँजी के विनियोजन के परिणामस्वरूप अधिक लाभ प्राप्त हो सकता है। नियोजित व्यवस्था और विशेषकर साम्यवादी अर्थ-व्यवस्था मे राजकीय बचत को अधिक महत्व दिया जाता है, अतएव कर-भार भी अधिक रहता है। साम्यवादी व्यवस्था मे भी अप्रत्यक्ष कर को महत्व दिया जाता है, परन्तु इनका उद्देश्य व्यक्तिगत बचत को उचित अवसर प्रदान करना नहीं होता है, प्रत्युत इसके कारण श्रम, योग्यता तथा उत्तरदायित्व को उचित प्रतिफल प्रदान किया जा सकता है। अप्रत्यक्ष करों द्वारा अनिवार्य बचत को प्रोत्साहन मिलता है और कर-राशि के समतुल्य उपभोग मे कटौती हो जाती है। जो भी अप्रत्यक्ष कर वस्तुओं पर लगाया जाता है, वह वस्तुओं के विक्रय-मूल्य मे जुड जाता है और उपभोग की वस्तुओं के मूल्य मे वृद्धि हो जाती है।

3. अन्य कर—कृषक-वर्ग की बढ़ती हुई आय में से कर-भाग लेना आवश्यक होता है। इस हेतु भूमि तथा अन्य प्रकार की सम्पत्तियों पर करारोपण किया जा सकता है। इस कर मे भी क्रमागत वृद्धि होनी चाहिए और इसके द्वारा ग्रामीण क्षेत्र की बचत (जो अधिकांश अनुत्पादक मदों पर व्यय की जाती है) राष्ट्र-निर्माण मे सहायता हो सकती है, परन्तु ग्रामीण क्षेत्र मे कर इस प्रकार लगाये जायें कि ग्रामीण जीवन-स्तर पर किसी प्रकार का प्रभाव न पड़े, उनकी आय के परिवर्तन के साथ कर मे आवश्यक समायोजन किये जा सके तथा जमींदार आदि कर को किसी अन्य वर्ग को हस्तान्तरित न कर सकें।

सम्पत्ति-कर, सम्पन्नता-कर (Betterment Levy) पूँजीलाभ-कर (Capital Profit Tax) तथा उपयोग्य किन्तु सुधार न की गयी भूमि पर कर आदि ऐसे कर हैं, जिन्हें लोक-हितार्थ लगाया जाता है। इसके साथ भूमि-लगान मे वृद्धि भी की जा सकती है, जो अधिक समय पूर्व निश्चित किये गये होते है, परन्तु कृषक-वर्ग पर जिनमे राष्ट्र की अधिकांश जनसंख्या सम्मिलित या सम्बद्ध है, करारोपण करते समय आर्थिक विचारधाराओं को ही ध्यान मे न रखा जाय, प्रत्युत राजनीतिक कठिनाइयों को भी विचाराधीन करना होगा। जब तक शासन के हाथ इतने सुदृढ़ न हो कि वह जनसाधारण के विरोध का सामना कर सके और उनसे नियोजन के प्रति मान्यता प्राप्त कर सके, तब तक इस प्रकार के कर अकार्यशील एवं अप्रभावशील रहेंगे।

ऐसे राष्ट्र मे, जो समाजवाद के प्रति अग्रसर हो, प्रत्यक्ष कर को अधिक महत्व दिया जाता है क्योंकि यह केवल अर्थ-प्राप्ति के ही साधन नहीं होते, अपितु आर्थिक विषमता को कम करने मे भी सहायक होते है। वांछित वर्गों पर प्रत्यक्ष कर लगाना सम्भव होता है और इसका प्रशासन मितव्ययतापूर्ण होता है। इसके सम्बन्ध मे ठीक-ठीक अनुमान लगाये जा सकते है और इसमे कमी या वृद्धि करना सम्भव होता है। प्रत्यक्ष करों को करदाता किसी अन्य व्यक्ति पर चालित (Shift) नहीं कर सकता। इसके साथ ही, करदाता को देश और योजना के प्रति अपने योगदान का आभास रहता है और वह सरकार की नीतियों का आलोचनात्मक अध्ययन करता है। दूसरी ओर, अप्रत्यक्ष कर के द्वारा सरकार प्रत्येक व्यक्ति से कर वसूल करती है और इसलिए इनका प्रशासन-व्यय अधिक होता है। करदाता को कर का भार ज्ञात नहीं होता, परन्तु ऐसे कर का चालित करना सम्भव होता है और इसका अन्तिम भार उपभोक्ता को ही उठाना पड़ता है।

आर्थिक विकास के कार्यक्रमों के लिए करों द्वारा अधिक से अधिक साधन प्राप्त किये जाने चाहिए, परन्तु करारोपण की कुछ सीमाएँ भी हैं जिनमे से जनसाधारण की आय एवं जीवन-स्तर के अनुसार करदेय-क्षमता, सरकार की राजनीतिक सुदृढ़ता तथा प्रशासनिक व्यवस्था की कुशलता

प्रमुख है। करों द्वारा वर्तमान उपभोग को कम करके भविष्य के उपभोग को बढ़ाने के साधन जुटाये जाते है।

शुल्क (Fees)—सरकार द्वारा साधारणत एसे कार्यक्रमो का संचालन किया जाता है जिनसे समस्त जनसमुदायों को लाभ हो परन्तु सरकार के कुछ कार्य ऐसे भी हैं जिनसे कुछ विशेष व्यक्तियों को भी लाभ होता है और इस विशेष सुविधा का उपयोग करने के लिए उनसे शुल्क (Fees) लिया जाता है।

शासकीय उद्योगो के लाभ—शासकीय उद्योगो के लाभ को प्राय वस्तुओ और सेवाओं के गुणों में वृद्धि करने तथा उनके मूल्य को घटाने मे उपयोग किया जाता है परन्तु नियोजित अर्थ व्यवस्था मे इन लाभों को आर्थिक विकास के कार्यक्रमो मे विनियोजित किया जा सकता है। अल्प विकसित राष्ट्रों मे शासकीय क्षेत्र अत्यन्त सीमित होता है तथा इसके द्वारा केवल आवश्यक सेवाओं अथवा वस्तुओं का उत्पादन तथा नियन्त्रण किया जाता है। शासकीय उद्योगो के लाभ मे जन कल्याण वृद्धि करने के लिए आवश्यक सेवाओं तथा वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि करना भी आवश्यक होता है। इस प्रकार की वृद्धि से उपभोग मे अनिवार्य रूप से कटौती होती है। प्रजातान्त्रिक अल्प विकसित समाज मे इस प्रकार की कार्यवाही करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है क्योंकि जनसाधारण जिसका जीवन स्तर पूर्व से ही निम्नतम एव न्यूनतम है उपभोग की और अधिक कटौती को सहने के योग्य नहीं होता है। फलस्वरूप उत्कट विरोधी भावनाएं जाग्रत होती हैं जो दीर्घकाल मे तो हानिप्रद होती ही है।

कर तथा बचत की तुलनात्मक श्रेष्ठता—ऐच्छिक बचत एव कर मे से किसको विकास के लिए वित्त प्राप्त करने का श्रेष्ठ साधन माना जाय इस प्रश्न के उत्तर मे यही कहा जा सकता है कि इन साधनों मे से जिससे भी बिना मुद्रा प्रसार के विनियोजन वृद्धि की जा सकती हो उसे ही श्रेष्ठ वित्त साधन माना जाना चाहिए। करारोपण द्वारा या तो जनसमुदाय की बचत को कम कर लिया जाता है या फिर उनके वर्तमान उपभोग मे कमी आती है। यदि बचत की जाने वाली राशि मे से कर दिए जाय तो विकास वित्त मे कर के द्वारा कोई वृद्धि नहीं होती है बल्कि बचत का रूप कर मे परिवर्तित हो जाता है और जनसमुदाय अपने आपको अधिक निर्धन समझने लगता है। दूसरी ओर बचत से जनसमुदाय की तरल सम्पत्तियो मे वृद्धि होती है और सम्पन्नता की भावना जाग्रत होती है। वास्तव मे कर एक विवशतापूर्ण बचत का रूप ग्रहण करता है जिसके फलस्वरूप जनसमुदाय की व्यय करने की क्षमता मे कमी होती है। दूसरी ओर बचत ऐच्छिक होने के कारण व्यय करने की क्षमता को इतना ही कम करती है कि जनसमुदाय के जीवन स्तर पर बुरा प्रभाव न पडे। साधारणत उच्च आय वाला वर्ग बचत करता है और निम्न आय वाला वर्ग अपनी आय का सम्पूर्ण भाग व्यय कर देता है। इस प्रकार यदि मुद्रा स्फीति के बिना ही विकास के लिए वित्त प्राप्त करना हो तो निम्न आय वाले वर्ग से बचत एव कर प्राप्त करने की आवश्यकता होती है क्योंकि जितना भाग इनकी आय से कर एव बचत के रूप मे ले लिया जाता है उस सीमा तक उपभोग की वस्तुओ की माँग कम रहती है और मूल्यो में वृद्धि नहीं हो पाती है।

करारोपण एव मुद्रा स्फीति का दबाव—विकास वित्त प्राप्त करने हेतु जो करारोपण किया जाता है उसके सम्बन्ध मे निम्न बातो पर विशेष रूप से विचार किया जाता है—(1) करारोपण द्वारा मुद्रा प्रसार के दबाव पर क्या प्रभाव पडता है? (2) करारोपण अधिक उत्पादन एव आयोपार्जन के प्रयासो को प्रोत्साहित करता है या नहीं तथा (3) करारोपण से आय के समान वितरण पर क्या प्रभाव पड़ता है? कर की मात्रा मे वृद्धि द्वारा उत्पन्न कर संग्रह करने की क्रिया से मुद्रा स्फीति का दबाव नहीं बढ़ता है। कर संग्रह की क्रिया एव उसके द्वारा प्राप्त वित्त के व्यय करने की विधियों से अर्थ व्यवस्था के मूल्य स्तर पर प्रभाव पडता है। कर से प्राप्त होने वाली आय सरकार द्वारा विभिन्न आर्थिक कार्यक्रमो पर व्यय की जाती है जिसके फलस्वरूप जनसमुदाय के निम्न आय वाले वर्ग की आय मे वृद्धि होती [redacted] और यह आय की वृद्धि उपभोग पर ही व्यय

की जाती है क्योंकि इस वर्ग मे उपभोग-क्षमता (Propensity to Consume) अधिक होती है। दूसरी ओर, कर मे वृद्धि करने से उत्पादक भी अपनी वस्तुओं एवं सेवाओ का मूल्य बढ़ा देते है जिसके फलस्वरूप प्रारम्भिक अवस्था मे वस्तुओ की मॉग कम हो जाने के कारण उत्पादन भी कम हो जाता है। इस प्रकार एक ओर व्यय करने वाले वर्ग के हाथ मे अधिक मौद्रिक आय होती है और दूसरी ओर उत्पादन मे पर्याप्त वृद्धि नही की जाती है। ये दोनो घटक अर्थ-व्यवस्था मे मूल्य-स्तर ऊँचा रखने मे सहायक होते है।

विकास-सम्बन्धी वित्त के लिए जो अतिरिक्त करारोपण किया जाता है, वह प्राय उस समुदाय से प्राप्त किया जाता है जो अधिक आय वाला वर्ग है और जो धन की बचत करता है। दूसरी ओर सरकार अतिरिक्त कर से प्राप्त धन को या तो निर्धन वर्ग को आवश्यक सेवाएँ उपलब्ध कराने या फिर ऐसी आर्थिक क्रियाओ पर व्यय करती है जिनके द्वारा रोजगार के अवसरो मे वृद्धि होती है और निर्धन वर्ग के लोगो को भृत्ति एवं वेतन के रूप मे अधिक आय प्राप्त होती है। इस प्रकार अतिरिक्त करारोपण बचत करने वाले समुदाय से व्यय करने वाले समुदाय को आय का स्थानान्तरण करता है जिसके फलस्वरूप मुद्रा-स्फीति का दबाव बढ जाता है। यदि कर से प्राप्त वित्त का व्यय इस प्रकार किया जाय कि आय का पुनर्वितरण न हो तो साधारणत अतिरिक्त करारोपण मुद्रा स्फीति के दबाव को कम करने मे सहायक हो सकता है। अतिरिक्त करारोपण के फलस्वरूप अर्थ व्यवस्था मे मुद्रा के प्रवाह मे कमी होती है और अल्पकाल मे वस्तुओ एवं सेवाओ की पूर्ति मे तदनुसार कमी करना सम्भव नही होता है। ऐसी परिस्थिति मे अर्थ-व्यवस्था मुद्रा के प्रभाव की कमी की पूर्ति बैंक साख द्वारा करने का प्रयत्न करती है और यदि मौद्रिक नियन्त्रणो द्वारा साख के विस्तार को बढने से रोक दिया जाय तो मूल्यों मे वृद्धि नही हो पाती है। इस विवेचन से यह सिद्ध होता है कि अतिरिक्त करारोपण के द्वारा मुद्रा-स्फीति के दबाव को रोकने हेतु मौद्रिक नियन्त्रणों का उचित उपयोग करना चाहिए परन्तु जब अतिरिक्त करारोपण द्वारा उत्पादन क्रियाएँ एवं जोखिम लेने के प्रयास हतोत्साहित होते है तो मुद्रा के प्रवाह की कमी से कही अधिक वस्तुओ एवं सेवाओ की पूर्ति मे कमी हो जाती है। यदि पूर्ति की कमी के फलस्वरूप बेरोजगार मे वृद्धि नही होती है तो उपर्युक्त परिस्थितियो के अन्तर्गत अतिरिक्त करारोपण मुद्रा स्फीति के दबाव को बढाने मे सहायक होता है परन्तु पूर्ति मे कमी होने से प्राय बेरोजगार मे वृद्धि हो जाती है जिसके फलस्वरूप अर्थ व्यवस्था मे पूर्ति के अनुसार माँग मे भी कमी हो जाती है और मुद्रा स्फीति का दबाव बढने नहीं पाता है।

अतिरिक्त करारोपण का निजी विनियोजन पर प्रभाव—जब लाभ पर अतिरिक्त करारोपण किया जाता है तो स्थिर अर्थ-व्यवस्था मे साहसियों द्वारा पूँजी विनियोजन करने का प्रोत्साहन कम हो जाता है और अन्तत उत्पादन भी कम होने लगता है और उपभोग के लिए उपलब्ध वस्तुओ एवं सेवाओं मे इतनी अधिक कमी हो जाती है कि कर द्वारा उत्पन्न की गयी मुद्रा के प्रवाह की कमी का कोई प्रभाव नही रह जाता है और स्थिर अर्थ व्यवस्था मे मूल्य स्तर बढने लगता है, परन्तु एक विकासशील अर्थ-व्यवस्था मे परिस्थितियाँ कुछ भिन्न होती है। विकासशील अर्थ व्यवस्था मे अतिरिक्त कर से प्राप्त वित्त को सरकार विनियोजित करती है, जिसके फलस्वरूप पूँजीगत एवं उत्पादक वस्तुओ के उत्पादन मे दीर्घकाल मे वृद्धि होती है। इस प्रकार लाभ पर अतिरिक्त करारोपण द्वारा विनियोजन निजी क्षेत्र से हटकर सरकारी क्षेत्र मे चला जाता है और उपभोक्ता वस्तुओ के उद्योगो के स्थान पर पूँजीगत वस्तुओं के उत्पादन करने हेतु विनियोजन किया जाता है। इस प्रकार के सरकारी विनियोजन के उस भाग को, जो श्रमिको को भृत्ति एवं वेतन के रूप मे दिया जाता है, आच्छादित (Covered) करने के लिए उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन मे पर्याप्त वृद्धि नही होती है और इस प्रकार मूल्यो की वृद्धि को योगदान मिलता है, परन्तु कर से प्राप्त वित्त का यदि कुछ ही भाग इस प्रकार भृत्ति एवं वेतन के रूप मे दिया जाय
कर द्वारा उत्पन्न मुद्रा के प्रवाह की कमी के फलस्वरूप हुई

शान्तिकाल की अर्थ-व्यवस्था को सुरक्षा-सम्बन्धी अर्थ-व्यवस्था मे परिवर्तित करने के लिए भी उपयोग की जाती है। दूसरी ओर, विनियोजन का समय नियन्त्रित करने हेतु समामेलित सस्थाओ एव सहकारी सस्थाओं को अपने लाभ मे कुछ भाग के विशेष सचिति के रूप मे रखने पर उतने भाग पर कर से छूट दी जा सकती है। इन सचितियों के विनियोजन के प्रकार एवं समय को सरकार नियन्त्रित करती है। इस प्रकार की छूट द्वारा विनियोजन के समय एव प्रकार को नियन्त्रित किया जा सकता है।

(4) ऐसा करारोपण जिससे बचने के लिए जनसमुदाय को वांछित कार्य करना पड़े—इस प्रकार के कर प्रायः दण्ड का रूप ग्रहण करते है। उदाहरणार्थ, धन एव वस्तुओ के निश्चित भाग से अधिक सग्रह करने पर करारोपण किया जा सकता है। इसी प्रकार सम्पत्तियो पर उनकी तरलता एव जोखिम के आधार पर करारोपण किया जा सकता है। रोकड शेष, कच्चे माल एव उपयोग न किये जाने वाली भूमि पर कर की दर ऊँची रखी जा सकती है जबकि उत्पादक सम्पत्तियो पर कर की दरें अत्यन्त कम रखी जा सकती है। इस प्रकार बचत को उत्पादक विनियोजन की ओर आकर्षित किया जा सकता है।

(5) प्रोत्साहन-कर जिनके द्वारा करदाता को उत्पादन बढ़ाने के लिए विवश किया जाता है—यह कर प्राय प्रति व्यक्ति अथवा एकमुश्त राशि कर (Lump sum Tax) के रूप मे लगाये जाते है और इनमें उत्पादन के घटने अथवा बढ़ने पर कोई परिवर्तन नही किया जाता है। कृषि-क्षेत्र मे यह कर प्राय प्रति एकड भूमि पर लगाया जाता है। करों के भार को वहन करने हेतु करदाता को अपने उत्पादन में वृद्धि करनी पड़ती है।

अल्प-विकसित राष्ट्रो मे अप्रत्यक्ष करों पर अधिक निर्भर रहा जाता है जबकि विकसित राष्ट्र प्रत्यक्ष करो को अधिक महत्व देते है। इसका प्रमुख कारण यह है कि कर से प्राप्त होने वाली आय मे, प्रत्यक्ष करो की दर मे वृद्धि द्वारा, पर्याप्त वृद्धि करना सम्भव नही होता है क्योंकि अधिक आय एव सम्पत्ति वाला वर्ग बहुत ही छोटा होता है।

(इ) मुद्रा-प्रसार द्वारा प्राप्त बचत (घाटे का अर्थ-प्रबन्धन)

कर तथा बचत द्वारा पर्याप्त साधन प्राप्त न होने की दशा मे अल्प विकसित राष्ट्रो की सरकारें "घाटे की अर्थ-व्यवस्था" (Deficit Financing) द्वारा पूंजी-साधनो मे वृद्धि कर सकती हैं। प्राय घाटे की अर्थ-व्यवस्था का उपयोग युद्ध के लिए आर्थिक साधन जुटाने तथा मन्दीकाल (Depression) मे शासकीय व्यय मे वृद्धि करके रोजगार के अवसर बढाने के लिए किया जाता था। आधुनिक युग मे इस व्यवस्था का उपयोग राष्ट्रों के आर्थिक विकास हेतु भी किया जाने लगा है। जैसा पहले सकेत किया गया है, अल्प-विकसित राष्ट्रो मे ऐच्छिक बचत में पर्याप्त वृद्धि करना सम्भव नही होता क्योकि जनसाधारण की प्रति व्यक्ति आय अत्यन्त कम होती है तथा स्वभाव रूढ़िवादी होते हैं। दूसरी ओर, पूंजी की कमी को विदेशी सहायता द्वारा पूर्ण किया जा सकता है, किन्तु विदेशी पूंजी के साथ अनेक राजनीतिक तथा सामाजिक प्रतिबन्ध होते हैं, जिनके कारण उसका उपयोग अधिक समय तक नही किया जा सकता। ऐसी परिस्थिति मे राज्य मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि करके खुले बाजार के साधनो को क्रय करता है और पूंजी-निर्माण मे उपयोग करता है। घाटे के अर्थ-प्रबन्धन का विस्तृत विवरण अगले अध्याय मे दिया गया है।

बजट के साधनो की पारस्परिक तुलना—कर-शुल्क, जन ऋण और व्यापक दृष्टिकोण से घाटे का अर्थ-प्रबन्धन बजट के साधन समझे जाते हैं। इन साधनो की पारस्परिक तुलना करने पर ज्ञात होता है कि कर एव शुल्क को अर्थ-प्रबन्धन के साधनो मे सर्वश्रेष्ठ मानना चाहिए, परन्तु निर्धन राष्ट्रो मे जनसाधारण की निर्धनता के कारण कुछ सीमा तक ही कर बढाये जाते हैं। करारोपण से एक ओर अर्थ-साधन उपलब्ध होते है और दूसरी ओर आर्थिक विषमताओ को कम करने मे सहायता मिलती है। ये दोनों कार्य अन्य किसी अर्थ-प्रबन्धन की व्यवस्था से प्रभावशीलता के साथ सम्पन्न नही किये जाते। जन-ऋण द्वारा केवल वर्तमान मे ही जनसमुदाय की बचत को विकास के

लिए उपयोग किया जा सकता है, परन्तु जन-ऋण की राशि पर अन्तिम रूप से अधिकार विनियोजकों का ही रहता है और इस प्रकार आर्थिक विषमताओं को कम करने मे प्रत्यक्ष रूप से कोई सहायता नही मिलती। घाटे के अर्थ-प्रबन्धन द्वारा मुद्रा की पूर्ति मे वृद्धि होने के कारण मूल्यो मे वृद्धि होती है, जिसके परिणामस्वरूप समस्त जनसमुदाय को अपनी आय के प्रतिरूप मे कम वस्तुएँ प्राप्त होती हैं, *अर्थात् मूल्यों की वृद्धि की सीमा तक उन्हे अनिवार्य रूप से अदृश्य कर देना होता है*। इस प्रकार घाटे का अर्थ-प्रबन्धन अप्रत्यक्ष कर का रूप धारण कर लेता है और इसका भार निर्धन व धनी दोनों ही वर्गों पर पडता है, परन्तु निर्धन-वर्ग एव निश्चित आय वाले वर्ग को अधिक कठिनाई होती है। इस प्रकार घाटे के अर्थ-प्रबन्धन से अर्थ-साधन तो उपलब्ध हो जाते है परन्तु आर्थिक विषमता कम नही होती और मुद्रा-स्फीति का भय बना रहता है। जन-ऋण के अन्तर्गत सरकार निजी उपभोग व्यय का प्रतिस्थापन सरकारी व्यय से करती है जबकि घाटे के अर्थ-प्रबन्धन मे भी इसी विधि का अनुसरण होता है, परन्तु मुद्रा-स्फीति के भय के कारण घाटे के अर्थ-प्रबन्धन का उपयोग सीमित मात्रा मे अन्य साधनो से पर्याप्त अर्थ न प्राप्त होने पर ही किया जाना चाहिए।

(ई) विदेशी बचत

अल्प-विकसित राष्ट्रो के विकास के लिए पूँजीगत वस्तुओ का आयात सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता है। पूँजीगत तथा उत्पादक वस्तुओ के अभाव मे, जिनको अल्प-विकसित राष्ट्रो मे निर्मित नही किया जाता, आर्थिक विकास के किसी भी कार्यक्रम का सफल सचालन सम्भव नही। जब तक लोहा एव इस्पात इंजीनियरिंग, यन्त्र एव कल, भारी रसायन आदि उद्योगो की प्रगति नही की जाती, औद्योगीकरण किया जाना असम्भव है। इन सभी प्रमुख आधारभूत उद्योगो के लिए आवश्यक पूँजीगत वस्तुओ के आयात का प्रबन्ध विदेशो से किया जाना अनिवार्य है। अल्प-विकसित राष्ट्रो मे प्राय कच्चे माल तथा कृषि-उत्पादन का निर्यात तथा निर्मित उपभोक्ता तथा अन्य वस्तुओ का आयात किया जाता है। यही अल्प-विकसित राष्ट्रो की सबसे बडी आर्थिक दुर्बलता होती है जिसका साम्राज्यवादी राष्ट्र निरन्तर लाभ उठाते है तथा अल्प-विकसित राष्ट्रो के विकास-कार्यों को विफल करने हेतु सतत् प्रयत्नशील रहते है। यदि विदेशी व्यापार मे अनुकूल परिस्थितियाँ हो तो प्राथमिक वस्तुओं (Primary Goods) के निर्यात-आधिक्य द्वारा पूँजी-निर्माण सम्भव है क्योंकि इससे विदेशी पूँजी की प्राप्ति होती है। यदि सरकार अपनी तटकर-नीति (Fiscal Policy) द्वारा आवश्यक नियन्त्रण रखे तो यह आधिक्य उपभोक्ता-वस्तुओ के आयात पर व्यय नही किया जायेगा, परन्तु इस प्रकार के *आधिक्य मे पूँजी-निर्माण अत्यन्त अनिश्चित रहता है* क्योंकि यदि प्राथमिक वस्तुओ का निर्यात लाभप्रद होता है तो लोग अपने साधनो को गौण व्यवसायो (Secondary Industries) अर्थात् उद्योगो मे विनियोजित नही करते और अनुकूल विदेशी व्यापार की दशा मे *भी देश का औद्योगीकरण सम्भव नहीं होता।*

विदेशी मुद्रा की प्राप्ति की विधियाँ—विकास के लिए आवश्यक विदेशी मुद्रा निम्नलिखित पाँच विधियो से प्राप्त की जा सकती है

(1) विदेशी वस्तुओ एव सेवाओ के आयात पर नियन्त्रण,
(2) निर्यात मे वृद्धि,
(3) विदेशी निजी विनियोजन,
(4) विदेशी ऋण एव सहायता,
(5) विदेशी व्यवसायो का अपहरण (Confiscation of Foreign Enterprises)।

(1) **विदेशी वस्तुओ एव सेवाओ के आयात पर नियन्त्रण**—प्रत्येक परिस्थिति मे यह आवश्यक होता है कि अल्प-विकसित राष्ट्र की सरकार को तटकर-नीति द्वारा विदेशी व्यापार से अर्जित विदेशी मुद्रा का नियोजित अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकतानुसार उपयोग प्रतिबन्धित करना चाहिए। नियोजित अर्थ-व्यवस्था मे विदेशी व्यापार पर नियन्त्रण करना सरकार के लिए आवश्यक है। आयात के नियन्त्रण के लिए प्रशुल्क (Tariffs), कोटा निश्चित करना, अनुमति-पत्र (Licences) निर्गमित

(Issue) करना, विदेशी मुद्रा पर नियन्त्रण रखना, मुद्रा प्रबन्धन करना, राज्य द्वारा आयात पर एकाधिकार (Monopoly) प्राप्त करना आदि शस्त्र उपयोगी सिद्ध हो सकते है। प्रशुल्क अशत राजकीय आय मे वृद्धि हेतु तथा अशत किन्ही विशेष वस्तुओ के आयात अवरोध हेतु लगाये जाते है। प्रशुल्क-दर प्राय उन वस्तुओ पर ऊँची होती है जिनका उत्पादन राष्ट्र मे हो सकता है तथा प्रारम्भिक अवस्था मे विदेशी स्पर्द्धा हानिकारक होती है, परन्तु प्रशुल्क का प्रभाव बडी सीमा तक नष्ट हो जाता है, यदि राष्ट्रीय उत्पादक अधिक मूल्य पर आयातित वस्तुओ का विक्रय करते है अथवा निर्माण पर उत्पादन कर (Excise Duty) आरोपित किया जाता है। कोटा निश्चित करने के दो उद्देश्य होते हैं—प्रथम, किसी विशेष वस्तु की समस्त आयात की मात्रा को सीमित करना, तथा द्वितीय, इस आयात की मात्रा को विभिन्न निर्यातक राष्ट्रो मे वितरित करना। अनुमति-पत्र निर्गमन मे शासन अपने किसी अधिकारी को आयात करने की आवश्यकताओ की छानबीन करने तथा निश्चित सीमाओ के अन्दर अनुमति पत्र निर्गमित करने हेतु नियुक्त कर देता है। इस विधि द्वारा विदेशी मुद्रा की राशनिंग योजना भी कार्यान्वित की जाती है। विदेशी मुद्रा के उपयोग पर नियन्त्रण रखने के लिए प्राय केन्द्रीय बैंक को अधिकार दिया जाता है कि समस्त विदेशी व्यवहारो का शोधन (Payment) इसके द्वारा होना चाहिए। यदाकदा और प्राय साम्यवादी राष्ट्रो, जैसे रूस मे एक शासकीय अधिकारी अथवा सस्था की नियुक्ति की जाती है, जो समस्त विदेशी व्यापार का शोधन देश की आवश्यकतानुसार करने के लिए उत्तरदायी होता है। यह अधिकारी एक पूर्ण विभाग अथवा सहकारी सस्था भी हो सकती है। इस अधिकारी के अधिकार विदेशी व्यापार के साथ-साथ स्वदेशी उत्पादन के क्रय-विक्रय के नियन्त्रण तक विस्तृत होने चाहिए जिससे वह राष्ट्रीय उत्पादन तथा माँग की मात्रा के आधार पर आयात की मात्रा का निर्धारण कर सके।

राजकीय आयात-नीतियाँ एव विदेशी अर्थ साधन—उपर्युक्त आयात-नियन्त्रण की विधियाँ पूँजी निर्माण मे निम्नांकित रूप से सहायक होती हैं

(अ) प्रशुल्क तथा अनुज्ञापत्र-निर्गमन द्वारा सरकार को अधिक आय प्राप्त होती है जिसका पूँजीगत वस्तुओ के लिए उपयोग किया जा सकता है।

(आ) आयात नीति द्वारा दो प्रकार के उद्योगो का विकास सम्भव किया जाता है—(1) नवीन उद्योग, और (2) रक्षा-सम्बन्धी तथा आधारभूत उद्योग। इन उद्योगो को सरक्षण प्राप्त होने पर इनमे विनियोजित पूँजी कम जोखिमपूर्ण होती है। सुरक्षा के कारण विनियोजक को प्रोत्साहन मिलता है और वह उद्योगो की ओर आकर्षित होता है। इसके साथ ही, सरक्षित उद्योगो द्वारा उत्पादित वस्तुओ का मूल्य, प्रशुल्क लगाये जाने के कारण अथवा न्यून पूर्ति के कारण, अधिक होता है तथा प्रारम्भिक अवस्था मे स्वदेशी उत्पादक भी समुचित विदेशी प्रतिस्पर्द्धा के अभाव से अपनी वस्तुओ का विक्रय अधिक मूल्य पर करते हैं। इस प्रकार इन वस्तुओं का अधिक मूल्य होने के कारण इनका उपभोग कम होता है और लोग अपने साधनो को अन्य कामों मे लाते है अथवा बचत के रूप मे रखते है। दूसरी ओर, सरक्षित उद्योगो के विकास से रोजगार के अवसरो मे वृद्धि होती है और श्रमिकों एव साहसी की आय मे वृद्धि होती है। यह आय-वृद्धि अधिक उपभोग अथवा अधिक बचत का रूप ग्रहण करती है। अधिक उपभोग भी दीर्घकाल मे अधिक विनियोजन का कारण बन जाता है।

(इ) जब पूँजीगत वस्तुओ के उद्योगो को सरक्षण प्रदान किया जाता है तो थोडे ही समय मे पूँजीगत वस्तुएँ अधिक मात्रा मे कम मूल्य पर उपलब्ध होती हैं। परिणामस्वरूप, औद्योगिक इकाइयो मे वृद्धि तथा नवीन उद्योगो की स्थापना होती है। इस प्रकार जिस सचित पूँजी का विनियोजन पूँजीगत वस्तुओ की अनुपस्थिति मे अभी तक सम्भव नही होता था, वह भी क्रियाशील होकर पूँजी-निर्माण का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अग बन जाता है।

(ई) आयात की मात्रा सीमित करने से विदेशी व्यापार का अनुकूल शेष (Favourable Balance of Trade) हो जाता है। इस प्रकार अर्जित विदेशी मुद्रा का उपयोग पूँजीगत वस्तुओ के आयात हेतु किया जा सकता है।

(उ) आयात-नियन्त्रण द्वारा अनावश्यक विलासिता तथा उपभोग की वस्तुओ के आयात को सीमित किया जाता है। इनके स्थान पर पूँजीगत वस्तुओ तथा ऐसे कच्चे माल के आयात मे वृद्धि की जाती है जिनका उत्पादन देश मे नहीं होता। इस प्रकार आयात के प्रकार मे परिवर्तन से पूँजी निर्माण मे सहायता प्राप्त होती है।

(ऊ) विलासिता की वस्तुओ के आयात को सीमित अथवा सर्वथा अवरुद्ध कर दिया जाता है और इस प्रकार धनिक-वर्ग के हाथो की उस क्रय-शक्ति को, जो विलासिता की वस्तुओ पर निरर्थक अपव्यय होती है, पूंजी निर्माण की ओर आकर्षित किया जा सकता है।

(2) *निर्यात मे वृद्धि*—अब हम तटकर-नीति मे निर्यात की ओर विचार कर सकते हैं। आधुनिक युग का प्रत्येक देश आयात को कम करने तथा निर्यात की वृद्धि करने को प्रयत्नशील रहता है। निर्यात-नियन्त्रणार्थ निर्यात-कर, निर्यात-अनुज्ञापन, कोटा निश्चयीकरण आदि विधियो का उपयोग किया जाता है। ऐसे उद्योगो को आर्थिक सहायता प्रदान की जाती है, जो निर्यात योग्य पदार्थो का निर्माण करते है। निर्यात-कर राजकीय आय बढाने तथा विभिन्न प्रकार की निर्यात-वस्तुओ के निर्यात मे भेद भाव करने के लिए लगाया जाता है। औद्योगिक कच्चे माल, जिनका उपयोग राष्ट्रीय उद्योगो मे होता है तथा जिनका प्रदाय (Supply) अपर्याप्त हो, उनके निर्यात को प्रतिबन्धित करने हेतु भी निर्यात-कर लगाये जाते है तथा कोटा निश्चित कर दिया जाता है। ऐसी वस्तुओ का निर्यात पूर्ण निषिद्ध घोषित किया जा सकता है, जो आर्थिक विकास के दृष्टिकोण से राष्ट्रीय आवश्यकता की हो। वस्तुओं के निर्यात के साथ-साथ पूंजी-निर्यात पर भी प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक है अन्यथा पूँजीपति आर्थिक समानता के प्रयत्नो से बचने के लिए पूँजी का विनियोग विदेशो मे कर देते है, जबकि देश मे ही पूँजी की अत्यधिक आवश्यकता होती है। अधिक निर्यात द्वारा उद्योगो का विकास सम्भव होता है तथा पूँजीगत वस्तुओ को भी विदेशो से प्राप्त किया जा सकता है। उद्योगों के विकास से जनसमुदाय की आय मे वृद्धि होती है। तब वह अन्तत बचत तथा उपभोग-वृद्धि का कारण बन जाती है। इस प्रकार अधिक निर्यात पूंजी-निर्माण का मूल अग है।

(3) **विदेशी निजी विनियोजन**—अर्द्ध-विकसित राष्ट्रो मे अतिरिक्त पूँजी की आवश्यकताओ की पूर्ति विदेशी निजी विनियोजको, विदेशी सरकारो तथा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओ के द्वारा की जाती है। विदेशी निजी पूँजी को अल्प विकसित राष्ट्रो के लिए आकर्षित करना अत्यन्त कठिन होता है। साम्राज्यवाद के अन्तर्गत विदेशी विनियोजको द्वारा जिस सरलता के साथ अपने उपनिवेशो मे पूँजी का विनियोजन किया जाता है, वह सरलता इन उपनिवेशो के स्वतन्त्र हो जाने पर कठिनाई मे परिवर्तित हो जाती है। स्वतन्त्र राष्ट्रो मे विदेशी विनियोजन को इस देश के सम्मेलन, कर, मौद्रिक, विदेशी विनिमय-नियन्त्रण आदि सम्बन्धी अधिनियमो के अधीन रहना होता है। विदेशी विनियोजको के राष्ट्रीयकरण का भी भय होता है। एशिया एव सुदूर-पूर्व सम्बन्धी सयुक्त राष्ट्र सघ आर्थिक सहयोग (ECAFE) के अनुसार अल्प विकसित राष्ट्रो मे विदेशी निजी पूँजी को आकर्षित करने के लिए निम्नलिखित सुविधाओं का आयोजन किया जाना चाहिए

(i) **राजनीतिक स्थिरता एव विदेशी आक्रमण से मुक्ति**—इस सम्बन्ध मे किसी भी अल्प-विकसित राष्ट्र की सरकार आश्वासन नही दे सकती है। अधिक अल्प विकसित राष्ट्रो मे राजनीतिक अस्थिरता पायी जाती है तथा सीमावर्ती झगडे विदेशी आक्रमण का रूप ग्रहण कर सकते है।

(ii) **जीवन एवं सम्पत्ति की सुरक्षा**—इस सम्बन्ध मे सरकारें अल्प-विकसित राष्ट्रो के बीमे का पर्याप्त आयोजन कर सकती है। वह सरकारी बीमा सगठन स्थापित कर सकती है अथवा विदेशी संस्थाओं के साथ प्रसविदा करके जीवन एव सम्पत्ति की सुरक्षा के बीमा-आयोजन कर सकती हैं।

(iii) **लाभोपार्जन हेतु अवसरो की उपलब्धि**—इस सम्बन्ध मे सरकार विदेशी विनियोजको को आवश्यक सूचनाएँ प्रदान कर सकती है तथा जनोपयोगी सेवाओ, सामुदायिक सेवाओं आदि वाह्य मितव्ययताओ (External Economies) का आयोजन कर सकती है।

(iv) **विदेशी व्यवसायों को अनिवार्य रूप से अधिकार में लेने पर उचित क्षतिपूर्ति शीघ्र ही भुगतान की जानी चाहिए**—इस सम्बन्ध में अल्प-विकसित राष्ट्रों की सरकारें आश्वासन दे सकती हैं कि जब तक प्रारम्भिक एवं पूरक विनियोजन की पूर्ति न हो जाय तथा उस पर यथोचित दर से लाभोपार्जन न कर लिया गया हो तब तक विदेशी व्यवसायों का राष्ट्रीयकरण नहीं किया जायेगा। इसके अतिरिक्त विदेशी विनियोजक यह भी चाहते हैं कि इन व्यवसायों का राष्ट्रीयकरण करने से पूर्व उनसे विचार-विमर्श किया जाय तथा क्षतिपूर्ति की राशि किसी स्वतन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय संस्था द्वारा निश्चित की जानी चाहिए। इस प्रकार का आश्वासन कोई सरकार देना पसन्द नहीं करती है।

(v) **लाभ, लाभांश तथा ब्याज आदि को विदेशों को भेजने की सुविधा**—विदेशी विनियोजन पर उपार्जित होने वाली आय को (कर लगाने के पश्चात) विदेशों में भुगतान करने की सुविधा का आयोजन करने के साथ साथ अल्प-विकसित राष्ट्रों की सरकारों को यह आश्वासन देना चाहिए कि इस विनियोजन के अधिकार के हस्तान्तरण पर प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए।

(vi) **विदेशी तान्त्रिक एवं प्रशासन सम्बन्धी विशेषज्ञों को रोजगार में रखने की सुविधा**—विदेशी विनियोजक अपने प्रबन्धक एवं तान्त्रिक विशेषज्ञों को उनके द्वारा वित्त-प्राप्त व्यवसायों में रखना चाहते हैं, जिससे एक ओर इनका कुशल संचालन किया जा सके तथा दूसरी ओर उनके हितों की रक्षा होती रहे। इन विशेषज्ञों के Immigration के लिए पर्याप्त सुविधाओं का आयोजन किया जाना चाहिए तथा इनको वे सभी सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिए जो संयुक्त राष्ट्र एवं अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के विशेषज्ञों को प्रदान की जाती है।

(vii) **इस प्रकार की कर-प्रणाली का उपयोग जिसके फलस्वरूप निजी व्यवसायों पर अधिक दबाव न पड़े**—कर-प्रणाली में इस बात का आयोजन हो कि विदेशी विनियोजकों तथा कर्मचारियों के साथ भेद-भाव नहीं किया जायेगा। कर के सम्बन्ध में कुछ छूटें भी विदेशी विनियोजकों को दी जा सकती हैं। विदेशी कर्मचारियों को आय-कर सम्बन्धी छूटें प्रदान की जानी चाहिए। विदेशी विनियोजकों को प्रोत्साहन-कर की सुविधाएँ भी प्रदान की जा सकती है।

(viii) **दोहरे करारोपण से मुक्ति प्रदान की जानी चाहिए**—अल्प विकसित राष्ट्रों को विदेशी सरकारों के साथ दोहरे करारोपण के सम्बन्ध में समझौते कर लेने चाहिए जिससे विनियोजकों को इन राष्ट्रों से उपार्जित आय पर इन राष्ट्रों तथा अपने देश, दोनों स्थानों में से एक ही स्थान पर कर देना पड़े।

(ix) **आर्थिक नियन्त्रणों में यथासम्भव कमी**—अल्प-विकसित राष्ट्रों में व्यापार, उद्योग, अधिकोषण, बीमा, विदेशी विनिमय, यातायात, जायदाद के क्रय-विक्रय, खनिज निकालने, पूँजी-निगमन, प्रतिभूतियों के विक्रय, लाभांश के भुगतान आदि के सम्बन्ध में सरकार विभिन्न नियन्त्रण लगाती है जिसके फलस्वरूप व्यवसायों के स्वतन्त्र संचालन में बाधा आती है और विदेशी विनियोजक अपने व्यवसायों को इच्छित सुदृढ़ता प्रदान करने तथा लाभोपार्जन करने में असमर्थ रहते है। प्राय एक बार लगाये गये नियन्त्रण दीर्घकाल तक, उनकी औचित्यता पर गम्भीर विचार किये बिना, लगाये रखे जाते है। अल्प-विकसित राष्ट्रों में विदेशी पूंजी आकर्षित करने हेतु इन आर्थिक नियन्त्रणों में कमी करनी चाहिए तथा परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ साथ इनमें भी परिवर्तन करते रहना चाहिए। आर्थिक नियन्त्रणों को सर्वथा छोड़ा नहीं जा सकता अन्यथा राष्ट्र की आर्थिक व्यवस्था वांछित क्षेत्रों में विकास नहीं कर सकती है और नियन्त्रणों की अनुपस्थिति में पूँजीपतियों (देशी व विदेशी) का अर्थ व्यवस्था में इतना अधिक प्रभुत्व हो सकता है कि आर्थिक योजनाओं के सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति करना असम्भव हो सकता है। परन्तु इस सम्बन्ध में अल्प-विकसित राष्ट्र आश्वासन दे सकते हैं—अनावश्यक आर्थिक एवं प्रशासनिक नियन्त्रणों को हटाने अथवा न लगाने तथा नियन्त्रणों के सम्बन्ध में देशी एवं विदेशी दोनों प्रकार के विनियोजकों को समान व्यवहार प्रदान करने के लिए आश्वासन दिया जा सकता है।

(x) **निजी व्यवसायों के साथ राजकीय व्यवसायों के प्रतिस्पर्धा न करने का आश्वासन**—इस

प्रकार के आश्वासन से विदेशी व्यवसायो को एकाधिकारपूर्ण शोषण करने की सुविधा प्राप्त हो सकती है। इस कारण अल्प-विकसित राष्ट्र इस प्रकार का आश्वासन देते समय एकाधिकार पर पर्याप्त नियन्त्रण रखने के अधिकार के उपयोग के सम्बन्ध मे स्वतन्त्र रहना पसन्द करते हैं।

(ञ) विदेशी विनियोजको के प्रति मित्रता की सामान्य भावना—सद्भावना का आश्वासन सरकार द्वारा दिये जाने पर भी कभी-कभी राजनीतिक क्षेत्र मे ऐसी परिस्थितियाँ आ सकती हैं कि जनसाधारण मे विदेशी व्यवसायो के प्रति सद्भावना का लोप हो सकता है। उदाहरणार्थ, भारत से पाकिस्तान के युद्ध (सन् 1965) मे ब्रिटेन द्वारा पाकिस्तान का पक्ष लेने के कारण जन-साधारण मे ब्रिटेन के भारत मे स्थित हितो के प्रति मित्रतापूर्ण भावना का प्राय लोप हो चुका था।

उपर्युक्त आश्वासनो का आयोजन कोई भी सरकार पूर्णत नही कर सकती है। यदि इन सब बातो का आश्वासन दे भी दिया जाय, तब भी विदेशी विनियोजको को अपने विनियोजन के मूल्य मे मुद्रा के अवमूल्यन होने तथा राष्ट्रीयकरण के फलस्वरूप होने वाली हानियो के सम्बन्ध मे भय बना रहता है। मुद्रा के अवमूल्यन से होने वाली हानि के लिए बीमे का आयोजन किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त विदेशी विनियोजको को श्रमिक एव औद्योगिक कलह का भय रहता है, जिसके लिए सरकार द्वारा दिये गये आश्वासन एव श्रम-नीति मे किये गये सुधार कदापि पर्याप्त नही हो सकते है। नियोजित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत विदेशी विनियोजको को पूँजी का विनियोजन करने के लिए आकर्षित करने हेतु एक उच्च विशेष अधिकार-प्राप्त सगठन की स्थापना की जानी चाहिए जो एक ओर विदेशी विनियोजनो को आकर्षित करे और दूसरी ओर इस विनियोजन द्वारा राष्ट्रीय हितो को आघात न पहुँचने दे। भारत मे सन् 1961 मे एक भारतीय विनियोग केन्द्र (Indian Investment Centre) की स्थापना की गयी जिसका प्रमुख कार्य विदेशी विनियोजको को भारत की आर्थिक परिस्थितियो, अधिनियमो तथा विदेशी विनियोजको को उपलब्ध विनियोजन के अवसरो की जानकारी देना है। यह विभिन्न उद्योगो के सम्बन्ध मे माँग, पूर्ति, लाभोपार्जन-क्षमता एव प्रगति की सम्भावनाओ से सम्बन्धित सूचनाएँ तैयार करता है। यह सस्था भारतीय एव विदेशी सस्थाओं मे सम्पर्क स्थापित करती है और सयुक्त साहस को प्रोत्साहित करती है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि विदेशी निजी विनियोजन (Foreign Private Investment) प्राप्त करने हेतु अल्प-विकसित राष्ट्रो को अपनी नीतियो को राष्ट्रीय हितो के अनुकूल रखना सम्भव नही होता है और कोई भी अल्प विकसित राष्ट्र वे सभी आश्वासन एव सुविधाएँ प्रदान नही कर सकता है जिनके द्वारा विदेशी विनियोजन आकर्षित किये जा सकें। इसके साथ ही, जब विदेशी विनियोजको को देशी विनियोजको की तुलना मे अधिक सुविधाएँ एव आश्वासन प्रदान किये जाते है तो देशी विनियोजको के अधिक विनियोजन करने की भावना को ठेस पहुँचती है। इन सब कारणो को ध्यान मे रखते हुए अल्प-विकसित राष्ट्र सरकारी स्तर पर विदेशी सहायता एव अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओं से विदेशी सहायता लेने को अधिक महत्व देते है।

आधुनिक युग मे निजी रूप से विदेशो मे ऋण प्राप्त करने की विधि अत्यन्त कम उपयोग की जाती है। विदेशो की पूंजी-विपणियो (Capital Markets) मे पूंजी प्राप्त करने वाले देशो द्वारा बॉण्ड निर्गमित करके पूँजी प्राप्त करने की विधि भी अब प्राचीन समझी जाती है एव कम प्रयोग होती है। पूंजीदाता-देश की सरकारें ऐसी वित्तीय सस्थाओ का सचालन करती है जो अल्प-विकसित राष्ट्रो की सरकारो को पूंजी उपलब्ध करती हैं। इसका सर्वोत्तम उदाहरण अमेरिका का आयात-निर्यात अधिकोष (Import-Export Bank of U. S. A) है। यह सस्था सदैव अपने हितो को दृष्टिगत कर पूंजी प्रदान करती है और ऐसी योजनाओ को पूंजी देना हितकर समझती है जिनमे आयोपार्जन शीघ्र सम्भव होता है तथा विनियोजित पूंजी का शोधन उन योजनाओ से सुगमतापूर्वक किया जा सकता है, परन्तु अल्प-विकसित राष्ट्रो मे आर्थिक विकास हेतु सर्वाधिक प्राथमिकता आधारभूत प्रारम्भिक सेवाओ, जैसे स्वास्थ्य, शिक्षा, गृह, व्यवस्था आदि को प्रदान की जाती है। इन आधारभूत सेवाओ के विकास मे प्रत्यक्ष रूप से अल्पकाल मे आय अर्जन नही होती है।

कुछ समय से अल्प-विकसित राष्ट्रों की कम्पनियों के साधारण अंशो में भी विदेशी पूँजी-विनियोजन करने को अधिक महत्व प्राप्त हुआ है। इस प्रकार की विदेशी पूँजी के अनेक लाभ है। विदेशी पूँजी-विनियोजन द्वारा अल्प-विकसित राष्ट्रों में विदेशी व्यावसायिक तथा औद्योगिक इकाइयों की स्थापना होती है जिसमे तान्त्रिक ज्ञान का भी हस्तान्तरण पिछड़े देशों को हो जाता है। साधारण अंशो पर वास्तव मे लाभ उपार्जित हो जाने के उपरान्त ही दिया जाता है। इस प्रकार पूंजी दिये जाने वाले लाभ का भार अर्थ-व्यवस्था पर नहीं पड़ता। साथ ही, इस प्रकार कर के विनियोजन के परिणामस्वरूप मुद्रा तथा वस्तुओं का आयात होने के कारण मुद्रा-स्फीति के दबाव में भी कमी हो जाती है।

परन्तु इसके विपरीत समता-अंश-विनियोग (Equity Shares) प्राप्त करने से देश का अनवरत उत्तरदायित्व (Recurring Liability) बढ़ जाता है क्योंकि प्रत्येक वर्ष लाभांश के शोधनार्थ विदेशी मुद्रा की आवश्यकता होती है जो निर्यात-आधिक्य द्वारा ही उपलब्ध हो सकती है। इस प्रकार निर्यात-आधिक्य का अधिकांश लाभांश-शोधन में प्रयोग कर लिया जाता है और देश की अपनी पूँजी-सचय करने की शक्ति को क्षति पहुँचती है। फिर भी, आधुनिक युग में लगभग सभी अल्प-विकसित राष्ट्र विदेशी पंजी-विनियोग को आवश्यक सुविधाएँ प्रदान करते हैं क्योंकि राजनीतिक भय कुछ सीमा तक कम हो गया है।

कम्पनियों की अंश-पूंजी में विनियोजन प्राय. बहुराष्ट्रीय निगमों (Multinational Corporation—MNC) द्वारा किया जाता है। यह बहुराष्ट्रीय निगम दिन-प्रतिदिन शक्तिशाली होते जा रहे है और यह अनुमान लगाया गया है कि 1985 तक ससार के 300 बड़े बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा ससार के कुल उत्पादन के आधे भाग का उत्पादन किया जायेगा। यह निगम विदेशो मे शाखाएँ अथवा सहायक कम्पनियाँ स्थापित करते है। सहायक कम्पनियो में इन निगमों की 50% से अधिक अंश-पूँजी रहती है। 31 मार्च, 1977 को भारत में इन निगमों की 482 शाखाएँ और 171 सहायक कम्पनियाँ थी। बहुराष्ट्रीय निगम अन्तर्राष्ट्रीय बाजारो मे लगभग एकाधिकारिक स्थिति से सम्पन्न रहते है और यह नवीनतम तकनीक, विशेषज्ञ, ज्ञान और भारी विज्ञापन-व्यवस्था में लैस रहते हैं। यही कारण है कि यह निगम अल्प-विकसित राष्ट्रो की आर्थिक नीतियो का प्रभावित करने मे समर्थ रहते हैं।

(4) विदेशी ऋण एवं सहायता— आधुनिक युग में एक देश की सरकार द्वारा दूसरे देश की सरकार को ऋण तथा अनुदान देने की प्रथा अधिक महत्वपूर्ण है। अमेरिकी चतुर्मुखी कार्यक्रम (American Four Point Programme) के अन्तर्गत अल्प-विकसित राष्ट्रों को अमेरिका द्वारा सराहनीय आर्थिक सहायता प्रदान की गयी है। इसी प्रकार साम्राज्यवादी राष्ट्रों—विशेषकर ब्रिटेन—द्वारा भी पिछड़े हुए राष्ट्रों के आर्थिक विकास के लिए आर्थिक सहायता दी जाती है। कोलम्बो-योजना के अन्तर्गत कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड आदि ने भी दक्षिण तथा दक्षिण-पूर्वी राष्ट्रों के आर्थिक विकास हेतु आर्थिक सहायता प्रदान की है।

सोवियत रूस एवं चीन द्वारा भी विभिन्न तटस्थ एवं साम्यवादी राष्ट्रों को ऋण एवं अनुदान दिये जाते हैं। उन्नत राष्ट्र, जिनमे अमेरिका, ब्रिटेन, पश्चिम जर्मनी, फ्रान्स, इटली, नीदरलैण्ड्स, बेल्जियम, जापान, स्वीडन और कनाडा प्रमुख है, विकासोन्मुख राष्ट्रों को जो सरकारी अनुदान, सरकारी दीर्घकालीन तथा निजी दीर्घकालीन पूँजी प्रदान करते हैं, वह इन उन्नत राष्ट्रों की राष्ट्रीय आय को 1% से भी कम है।

बड़े राष्ट्रों द्वारा प्रदान की जाने वाली सहायता

विदेशी सहायता प्रदान करने वाली सस्थाएँ अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (International Monetary Fund), अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास अधिकोषण (International Bank for Reconstruction and Development), अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (International Finance Corporation), अन्तर्राष्ट्रीय विकास परिषद् (International Development Association), कोलम्बो-

योजना आदि प्रमुख हैं। ये संस्थाएँ विदेशी सहायता प्राय ऋण के रूप में विशिष्ट परियोजनाओं (Projects) की पूर्ति हेतु प्रदान करती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के तत्वावधान में विभिन्न राष्ट्रों की आर्थिक योजनाओं को विदेशी सहायता प्रदान करने हेतु सदस्य-राष्ट्रों की परिषदों (Consortiums) की स्थापना की गयी है जो समय-समय पर सम्बन्धित राष्ट्र की वित्तीय आवश्यकता की जाँच करती है और सदस्य राष्ट्र सहायता हेतु अपना अंशदान निर्धारित करते हैं।

कोमल (Soft) अथवा कठोर (Hard) ऋण—विकासोन्मुख अल्प-विकसित राष्ट्र कोमल ऋणों को अधिक उपयुक्त समझते हैं क्योंकि इनका शोधन स्थानीय मुद्रा में करना होता है। दूसरी ओर कठोर ऋणों का शोधन विदेशी मुद्रा में करने के कारण इन ऋणों के शोधन में कठिनाई होती है क्योंकि अल्प विकसित राष्ट्र ऋण के द्वारा स्थापित परियोजनाओं के द्वारा अपने निर्यात व्यापार में इतनी वृद्धि नहीं कर पाते हैं कि कठोर ऋणों का शोधन हो सके। यदि कठोर ऋण एक के बाद दूसरे क्रम से प्राप्त होते रहें तो पुराने ऋण का शोधन नवीन ऋण से कर दिया जाता है और इस प्रकार विकासोन्मुख राष्ट्र को अपना निर्यात बढ़ाने के लिए पर्याप्त समय मिल जाता है। दूसरी ओर, कोमल ऋणों के शोधनार्थ सरकार केन्द्रीय बैंक से स्थानीय मुद्रा प्राप्त कर सकती है। स्थानीय मुद्रा में विदेशी ऋणों का शोधन करने की अर्थ-व्यवस्था में मुद्रा-प्रसार का दबाव अधिक नहीं बढ़ेगा, यदि ऋणदाता देयशोधन में प्राप्त मुद्रा का उपयोग उन उद्देश्यों की पूर्ति हेतु करता है जिनके लिए उसे स्थानीय मुद्रा व्यय करनी पड़ती है जैसे मिशनों (Foreign Missions) पर किये जाने वाले व्यय। यदि ऋणदाता देयशोधन में प्राप्त स्थानीय मुद्रा का प्रयोग अतिरिक्त विकास-परियोजनाओं को स्थानीय वित्त प्रदान करने के लिए करता है तो मुद्रा-प्रसार का दबाव बढ़ जायेगा, परन्तु जब स्थानीय सरकार शोधन के लिए स्थानीय करों (Taxes) द्वारा धन प्राप्त करती है तो मुद्रा प्रसार के दबाव के बढ़ने का भय नहीं होता है और अन्तत कोमल ऋण अनुदान का ही रूप ग्रहण कर लेते हैं।

(5) **विदेशी व्यवसायों का अपहरण**—विदेशी व्यवसायों के अपहरण को अधिकतर उचित नहीं माना जाता है क्योंकि इसके फलस्वरूप विकासोन्मुख राष्ट्र में विदेशी पूँजी का प्रवाह अस्थायी रूप में बन्द हो जाता है। फिर भी, इस विधि का उपयोग मैक्सिको, ईरान, मिस्र तथा इण्डोनेशिया में कुछ सीमा तक किया गया है। मैक्सिको में इस विधि के उपयोग से आर्थिक प्रगति को बढ़ावा मिला है। विदेशी व्यवसायों का अपहरण कोई भी राष्ट्र अपने मनमाने ढंग से कर सकता है अथवा किसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के साथ समझौता करके उचित क्षतिपूर्ति देकर किया जाता है। दूसरी विधि द्वारा विदेशी विनियोजकों को अधिक हानि नहीं उठानी पड़ती है। विदेशी व्यवसायों के अपहरण में इनके लाभ एवं ह्रास की वह राशि जो विदेशी विनियोजकों को हस्तान्तरित की जाती है, अपहरण करने वाले राष्ट्र के लिए उपलब्ध होती है और इस राशि की सीमा तक विदेशी विनिमय भी विकास के लिए उपलब्ध हो जाता है, परन्तु इस प्रकार का अपहरण तभी उपयुक्त हो सकता है जबकि राष्ट्र की अर्थ-व्यवस्था में विदेशी व्यवसायों का बड़ा भाग हो और इनके अपहरण से देश को इतने साधन उपलब्ध हो सकते हों कि भविष्य में विदेशी सहायता न मिलने पर विकास की गति को बनाये रखा जा सकता हो। इन व्यवसायों के अपहरण से तान्त्रिक एवं प्रबन्ध-सम्बन्धी विशेषज्ञों एवं कर्मचारियों की उपलब्धि में कठिनाई होती है क्योंकि विकासोन्मुख राष्ट्रों में प्रशिक्षित कर्मचारी पर्याप्त संख्या में नहीं मिलते हैं। इन दोनों बातों को ध्यान में रखते हुए अपहरण वित्त प्राप्त करने की असाधारण विधि है, जिसका उपयोग अन्य विधियों के असफल होने पर ही किया जाना चाहिए।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि विकासोन्मुख राष्ट्रों में विदेशी सहायता आर्थिक प्रगति हेतु अत्यन्त आवश्यक होती है और ये राष्ट्र सभी विधियों द्वारा विदेशी सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु अर्थ-व्यवस्था का संचालन इस प्रकार किया जाना चाहिए कि वह विदेशी सहायता की निर्भरता से शीघ्रातिशीघ्र मुक्त हो जाय क्योंकि विदेशी सहायता केवल आर्थिक विचार-धाराओं से ही नियन्त्रित नहीं होती है और कोई भी छोटी-सी राजनीतिक घटना विदेशी सहायता के प्रवाह को रोकने में सफल हो सकती है। इसका ज्वलन्त उदाहरण भारत पाक झगड़े के कारण भारत की चौथी योजना को विदेशी सहायता मिलने की कठिनाइयाँ हैं।

28

घाटे का अर्थ-प्रबन्धन एवं विकास

[DEFICIT FINANCING AND DEVELOPMENT]

घाटे के अर्थ-प्रबन्धन को समय-समय पर अलग-अलग अर्थ मे समझा जाता रहा है। कुछ समय पूर्व तक बजट को घाटे का बजट आगम खाते के घाटे के आधार पर समझा जाता था, अर्थात् जिस बजट मे आगम प्राप्तियाँ आगम व्ययों से कम होती थी तो उसे घाटे का बजट समझते थे। जन-ऋण को इस प्रकार बजट की प्राप्तियों मे सम्मिलित नही किया जाता था परन्तु जब जन-ऋण द्वारा बजट के घाटे की पूर्ति करने का आयोजन किया जाता था तो इस व्यवस्था को घाटे का अर्थ-प्रबन्धन कहते थे। आधुनिक काल मे इस व्यवस्था मे परिवर्तन हो गया है। अब जन-ऋण को सरकार के पूँजी-खाते की प्राप्ति मे सम्मिलित किया जाता है और फिर आगम एव पूँजी दोनो खातो की प्राप्तियाँ बजट मे आयोजित व्यय से कम होती हैं तो इस अन्तर को बजट का घाटा कहते हैं और इसकी पूर्ति के लिए जो साधन प्राप्त करने के लिए कार्यवाहियाँ की जाती हैं, उन्हे घाटे का अर्थ-प्रबन्धन कहते हैं। इस प्रकार घाटे के अर्थ-प्रबन्धन का अर्थ उन तरीकों से है जिनके द्वारा बजट के अन्तर की पूर्ति के लिए वित्त प्राप्त किये जाते हैं।

घाटे के अर्थ-प्रबन्धन की तान्त्रिकता

घाटे के अर्थ-प्रबन्धन की व्यवस्था को कीन्स द्वारा प्रसिद्ध किया गया। सन् 1930 की बड़ी मन्दी के साथ कीन्सियन अर्थशास्त्र (Keynesian Economics) का प्रादुर्भाव हुआ और कीन्स ने जानबूझकर बजट मे घाटा रखने की व्यवस्था को मन्दीकाल मे रोजगार एव उत्पादन बढाने का महत्वपूर्ण एव उचित साधन बताया। कीन्स के विचारो के फलस्वरूप घाटे का अर्थ-प्रबन्धन पुन प्राप्ति (Recovery) का महत्वपूर्ण साधन समझा जाने लगा। कीन्स का यह विचार निम्न-लिखित मान्यताओ पर आधारित था

(1) एक विकसित औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था पूर्ण रोजगार की स्थिति मे भी सन्तुलित नही हो सकती है। किसी भी समय समाज मे विद्यमान आय के वितरण तथा उपभोग के अन्तर्गत निजी क्षेत्र का विनियोजन उच्चस्तरीय आय एव रोजगार का निर्वाह करने के लिए अपर्याप्त हो सकता है।

(2) मन्दी को दूर करने की परम्परागत विधियाँ, मजदूरी एव ब्याज की दरो मे कमी आदि पूर्णरूपेण प्रभावशाली नही होती है। मजदूरी एक ओर लागत का तत्व होती है और दूसरी ओर मजदूरों की प्रभावशाली माँग का निर्धारण करती है क्योंकि मजदूरी द्वारा उनकी क्रय एव उपभोग-शक्ति घटती एव बढती है। मजदूरी की दरो मे कमी कर देने से यदि लागत कम की जाती है तो भी प्रभावशाली माँग मे पर्याप्त वृद्धि नही हो सकती है क्योंकि मजदूरी की दरें कम करने मे मजदूरो की क्रय एव उपभोग-शक्ति कम हो जाती है। इसी प्रकार, ब्याज की दरो के परिवर्तनो के अनुरूप विनियोजन मे भी परिवर्तन नहीं होता है।

(3) उपर्युक्त परिस्थितियों मे यदि सरकार घाटे के अर्थ-प्रबन्धन द्वारा अर्थ व्यवस्था मे निश्चित मात्रा मे विनियोजन करती है तो आय मे वृद्धि होगी जो प्रारम्भिक विनियोजन के गुणक का कार्य करेगी, अर्थात् विनियोजन की प्रारम्भिक वृद्धि के फलस्वरूप उपभोग मे वृद्धि होगी और

विनियोजन एव उपभोग की यह क्रमानुसार (Successive) वृद्धि राष्ट्रीय आय मे विनियोजन-वृद्धि की तुलना मे कही अधिक वृद्धि कर सकेगी। साधारण शब्दो मे इस विचार को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है कि जब सरकार द्वारा निश्चित मात्रा मे विनियोजन किया जाता है तो इस विनियोजन के फलस्वरूप उत्पादन, रोजगार एव आय सभी मे वृद्धि होती है। जिन लोगो की आय मे वृद्धि होती है, वे उस वृद्धि का कुछ भाग विनियोजन पर और कुछ अतिरिक्त उपभोग पर व्यय कर देते है जिससे अर्थ व्यवस्था मे उपभोग मे वृद्धि होती है। उपभोग मे वृद्धि होने के फलस्वरूप उन उत्पादको की आय मे वृद्धि होती है जिनकी वस्तुओ की माँग बढी है और फिर उत्पादको का दूसरा वर्ग अपनी अतिरिक्त आय को उपभोग एव विनियोजन पर व्यय कर देता है जिससे अर्थ व्यवस्था के कुछ अन्य उत्पादको (जिनकी वस्तुओ की माँग आय वृद्धि के कारण बढ गयी है) की आय मे वृद्धि होती है। इस प्रकार जब यह विधि क्रमानुसार चलती रहती है तो अन्तत: इसका नतीजा यह होता है कि प्रारम्भ मे सरकार द्वारा जितना विनियोजन घाटे के अर्थ-प्रबन्धन से किया गया था उसकी तुलना मे कही अधिक राष्ट्रीय आय मे वृद्धि होती है। इस समस्त प्रक्रिया को गुणक-प्रभाव (Multiplier Effect) कहा जाता है।

गुणक प्रभाव की यह विचारधारा ही घाटे के अर्थ प्रबन्धन का मूलाधार है क्योकि इसके सचालन के फलस्वरूप घाटे के अर्थ प्रबन्धन द्वारा अर्थ-व्यवस्था का विस्तार करना सम्भव हो सकता है परन्तु गुणक-प्रभाव की निम्नलिखित सीमाएँ है

(1) सरकार द्वारा किय गय नवीन विनियोजन का क्रम चलते रहना चाहिए अन्यथा एक बार किये गये विनियोजन का गुणक-प्रभाव जब समाप्त हो जायेगा तो राष्ट्रीय आय कम होने लगेगी।

(2) आय की प्राप्ति एव उसके व्यय करने मे कुछ समय का अन्तर रहता है। इसी प्रकार, व्यय की गयी राशि आय के रूप मे उदय होने मे भी कुछ समय लगता है। इस समय के अन्तर मे अर्थ-व्यवस्था की स्थिति यथावत बनी रहेगी अथवा और खराब भी हो सकता है।

(3) प्राप्त अतिरिक्त आय का सम्पूर्ण भाग व्यय नही किया जा सकता है। लोग कुछ भाग अपने पास बचत के रूप मे रख सकते है और कुछ पुराने ऋणो के शोधनार्थ उपयोग हो सकता है। यह उपयोग अतिरिक्त आय के गुणक-प्रभाव को शिथिल कर सकता है।

(4) सीमान्त उपभोग-क्षमता (Marginal Propensity to Consume) मे चक्रीय परिवर्तन हो सकते हैं जिससे गुणक प्रभाव मे अस्थिरता आ सकती है।

इन सब परिसीमाओ के होने हुए भी यह मान्यता पुष्ट हो गयी है कि घाटे के अर्थ-प्रबन्धन द्वारा वित्त उपलब्ध करके जो व्यय किये जाते हैं, उनसे अर्थ-व्यवस्था का अधिक विस्तार होता है, अपेक्षाकृत उन कार्यक्रमो के जिनके लिए करारोपण द्वारा वित्त एकत्रित किया जाता है। इसी कारण आधुनिक काल मे घाटे के अर्थ-प्रबन्धन की व्यवस्था को बजट-सम्बन्धी सुदृढ नीति समझा जाता है।

घाटे के अर्थ-प्रबन्धन की परिभाषा

घाटे के अर्थ-प्रबन्धन का अर्थ विभिन्न राष्ट्रो मे अलग-अलग समझा जाता है, इसलिए इसकी सर्वमान्य परिभाषा देना सम्भव नही है। पश्चिमी राष्ट्रो मे जब पूर्व विचार द्वारा सरकारी व्यय को सरकारी आय से अधिक रखा जाता है और इस प्रकार उदय हुई आय की हीनता की पूर्ति किसी ऐसे ऋण द्वारा की जाती है जिसके फलस्वरूप राष्ट्रीय व्यय मे वृद्धि होती हो तो इस व्यवस्था को घाटे का अर्थ-प्रबन्धन कहते है। विकसित राष्ट्रो मे आय की हीनता को पूर्ति बैंको द्वारा अधिक साख निर्माण करके कर दी जाती है। बैंको से सरकार द्वारा इस प्रकार जो साख प्राप्त की जाती है, उसके फलस्वरूप या तो बैंको मे जमा धन, जिसका बैंक उपयोग न कर रहे हो, गतिशील हो जाता है अथवा सरकारी प्रतिभूतियो का क्रय करने वाली बैंक जनता से अधिक जमा प्राप्त करती है। इन दोनो ही परिस्थितियो मे राष्ट्र के कुल व्यय मे वृद्धि हो जाती है।

अल्प-विकसित राष्ट्रो मे, जहाँ जनसाधारण द्वारा अधिकोषण-सुविधाओ को स्वभावत विस्तृत रूप से स्वीकार एव उपयोग नही किया जाता है और जहाँ अधिकतर व्यवहार मुद्रा द्वारा किये जाते है, घाटे के अर्थ-प्रबन्धन के लिए प्राय सरकार को केन्द्रीय बैंक से ऋण लेना होता है। सरकार यह ऋण लेने के लिए केन्द्रीय बैंक को अपनी प्रतिभूतियाँ दे देती है जिनको सचिति मे रखकर केन्द्रीय बैंक नयी कागजी मुद्रा निर्गमित करके सरकार को देती है। सरकार इस मुद्रा का उपयोग करके अपने व्ययो का भुगतान करती है और बजट की हीनता की पूर्ति कर लेती है। इस प्रकार अल्प-विकसित राष्ट्रो मे घाटे के अर्थ-प्रबन्धन द्वारा देश की मुद्रा की पूर्ति मे विस्तार होता है।

भारत मे घाटे के अर्थ-प्रबन्धन का अर्थ मुद्रा-प्रसार से लिया जाता है। सरकारी व्यय का वह भाग, जो सरकार द्वारा जनता एव बैंको से ऋण लेकर पूरा किया जाता है, घाटे के अर्थ-प्रबन्धन मे सम्मिलित नही किया जाता है। हमारे देश मे इस प्रकार घाटे के अर्थ-प्रबन्धन मे निम्नलिखित तीन कार्यवाहियो को सम्मिलित किया जाता है

(अ) केन्द्रीय बैंक अर्थात् रिजर्व बैंक से सरकार द्वारा ऋण लेना,

(आ) सरकार द्वारा रिजर्व बैंक मे जमा-नकद राशि को आहृत करना, तथा

(इ) सरकार द्वारा रिजर्व बैंक के अतिरिक्त नवीन कागजी-मुद्रा को जारी करना।

पहली और दूसरी कार्यवाहियो मे केन्द्रीय बैंक सरकारी प्रतिभूति के विरुद्ध नवीन कागजी मुद्रा जारी करती है और तीसरी क्रिया मे सरकार जन-विश्वास के आधार पर नवीन कागजी मुद्रा जारी करती है, जैसे भारत मे एक रुपये का नोट सरकार द्वारा जारी किया जाता है।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर हम घाटे के अर्थ-प्रबन्धन मे सम्मिलित होने वाले तथ्यो का विश्लेषण निम्नवत् कर सकते है

(1) सरकारी व्यय (आगम एव पूंजीगत दोनो) को सरकारी आय से जानबूझ कर अधिक रखना और घाटे का बजट बनाना।

(2) बजट में आय की व्यय पर जो हीनता हो, उसकी सरकार द्वारा बैंको से ऋण लेकर, केन्द्रीय बैंक से ऋण लेकर, जमा-नकद को आहृत करके तथा नवीन मुद्रा जारी करके पूर्ति करना।

(3) केन्द्रीय बैंक को सरकारी प्रतिभूतियो के विरुद्ध नवीन मुद्रा निर्गमित करने का अधिकार देना।

(4) समस्त राष्ट्रीय व्यय मे वृद्धि करके अर्थ व्यवस्था का विस्तार करना।

(5) साख एव/अथवा मुद्रा का प्रसार होना।

इन तथ्यो को आधार मानते हुए हम घाटे के अर्थ-प्रबन्धन को इस प्रकार पारिभाषित कर सकते हैं—"घाटे का अर्थ-प्रबन्धन उस व्यवस्था को कहते हैं जिसके अन्तर्गत पूर्व विचार द्वारा सरकारी व्यय को सरकारी आय से अधिक रखा जाता है और इस प्रकार उदय हुई आय की हीनता की पूर्ति सरकार व्यापारिक बैंको से ऋण लेकर, केन्द्रीय बैंक से ऋण लेकर, केन्द्रीय बैंक मे अपने जमा-नकद का आहृण तथा नवीन मुद्रा जारी करके करती है।"

घाटे के अर्थ-प्रबन्धन का उपयोग

घाटे के अर्थ-प्रबन्धन का उपयोग विभिन्न राष्ट्रो मे विभिन्न कठिन परिस्थितियों का निवारण करने हेतु किया गया है। सामान्यत इस व्यवस्था का उपयोग मन्दीकाल, युद्ध तथा आर्थिक विकास की प्रक्रियाओ मे किया जाता है। मन्दीकाल मे जब मौद्रिक नीति द्वारा सुधार नही हो पाता है अर्थात् जब ब्याज की दर मे कमी कर देने पर भी व्यक्तिगत विनियोजको को आर्थिक क्रियाओ मे अतिरिक्त विनियोजन करने के लिए पर्याप्त प्रोत्साहन प्रदान करने मे सफलता नही होती तो सरकारी व्यय-कार्यक्रम द्वारा अर्थ-व्यवस्था के कुल व्यय मे वृद्धि की जाती है जिससे राष्ट्रीय आय का स्तर बनाये रखने एव उपभोग तथा विनियोजन का निर्वाह करने मे सहायता मिलती है क्योकि कुल व्यय में वृद्धि होने से प्रभावशाली मांग मे वृद्धि होती है जो समस्त उत्पादक क्रियाओ की सक्रियता का मूलाधार होती है।

युद्धकाल मे सरकार के व्यय मे अत्यधिक वृद्धि होती है क्योकि सरकार को युद्ध के लिए अधिक वस्तुओ एव सेवाओ की आवश्यकता होती है। प्रारम्भिक अवस्था मे सरकार बजट के अन्य साधनो— कर शुल्क एव ऋण— मे वित्त प्राप्त करने का प्रयत्न करती है परन्तु जब इन साधनो से पर्याप्त साधन उपलब्ध नहीं होते है तो घाटे के अर्थ प्रबन्धन द्वारा वित्तीय साधन प्राप्त किये जाते है। युद्धकाल मे साधनो को उपभोग-वस्तुओ से हटाकर युद्ध-वस्तुओं की ओर ले जाना अनिवार्य होता है, जिसके फलस्वरूप विवशतापूर्ण बचत अथवा मुद्रा-स्फीति का उदय होना स्वाभाविक होता है। युद्ध के प्रारम्भिक काल मे सरकार की वस्तुओ एव सेवाओ की बढती हुई माँग की पूर्ति उपयोग न किये गये साधनो का उपयोग करके तथा निजी विनियोजन के लिए उपलब्ध साधनो मे कटौती करके की जाती है परन्तु जब इन साधनो का पूर्णतम उपयोग हो जाता है और फिर भी घाटे के अर्थ-प्रबन्धन द्वारा अतिरिक्त साधन प्राप्त किये जाते हैं तो मुद्रा की पूर्ति एव तदनुसार लोगो की मौद्रिक आय मे वृद्धि होती है जिसके फलस्वरूप मूल्य स्तर मे निरन्तर वृद्धि होती जाती है और सरकार को युद्ध के अतिरिक्त मुद्रा-स्फीति को नियन्त्रित रखने की कठिन समस्या का भी सामना करना पडता है।

घाटे का अर्थ-प्रबन्धन एव आर्थिक विकास

अल्प विकसित राष्ट्रो मे जनसाधारण की आय अत्यन्त कम होती है जिसके फलस्वरूप व अपनी अनिवार्यताओ की पूर्ति नही कर पाते है। ऐसे समाज मे जब लोगो की आय मे वृद्धि होती है तो इस वृद्धि का अधिकतर भाग और कभी-कभी सम्पूर्ण भाग उपभोग पर व्यय कर दिया जाता है। इस स्थिति को अथशास्त्र मे अधिक उपभोग-क्षमता (High Propensity to Consume) कहते है। इस प्रकार अल्प-विकसित राष्ट्रो मे राष्ट्रीय आवश्यकताओ की तुलना मे ऐच्छिक बचत बहुत कम रहती है। ऐच्छिक बचत कम होने के कारण उत्पादन, आय, बचत एव अन्तत विनियोजन सभी का स्तर कम रहता है। निर्धन राष्ट्रो के इस दूषित चक्र को तोडने के लिए सरकार को आर्थिक विकास की प्रक्रिया का प्रारम्भ पर्याप्त मात्रा मे सरकारी विनियोजन करके करना पडता है। बडे पैमाने पर सरकारी विनियोजन सरकार के सामान्य वित्तीय साधनो से नही किया जा सकता है। इसलिए घाटे के अर्थ-प्रबन्धन की व्यवस्था का उपयोग करने की आवश्यकता होती है।

अल्प विकसित राष्ट्रो मे घाटे के अर्थ-प्रबन्धन का स्वरूप व्यापारिक बैंको तथा जनता से ऋण का नही होता क्योकि ये दोनो मदें विपणि-ऋण के अन्तर्गत सम्मिलित कर ली जाती है और इन्हे पूँजीगत प्राप्ति मानकर बजट के साधनो मे सम्मिलित कर दिया जाता है। अत अल्प-विकसित राष्ट्रो मे घाटे के अर्थ-प्रबन्धन मे नवीन मुद्रा का निर्गमन अवश्यम्भावी रहता है चाहे वह केन्द्रीय बैंक द्वारा सरकारी प्रतिभूतियो के विरुद्ध किया जाय और चाहे सरकार द्वारा स्वय किया जाय। *इस व्यवस्था द्वारा जो साधन उपलब्ध होते हैं, उन्हे सरकार द्वारा अर्थ-व्यवस्था* मे विनियोजित किया जाता है और विनियोजन एव उपभोक्ता-वस्तुओ के वास्तविक उत्पादन मे समय का बडा अन्तर रहता है अर्थात विनियोजन प्राय उत्पादक वस्तुओ के उद्योगो मे होता है और इससे सम्बन्धित परियोजनाओ का निर्माण-अवस्था तक लाने मे कुछ वर्षो का समय लग जाता है। जब य परियोजनाएँ उत्पादक वस्तुओ का उत्पादन करना प्रारम्भ कर देती है तब इनकी सहायता मे उपभोक्ता वस्तुओं के उद्योगो का विस्तार किया जाता है। इस प्रक्रिया मे भी कुछ वर्षो का समय लगता है। इस प्रकार विनियोजन करने के समय एव इसके द्वारा उपभोक्ता-वस्तुओ के वास्तविक उत्पादन के समय मे कुछ वर्षों का अन्तर रहता है। इस मध्यकाल मे उपभोक्ता-वस्तुओ की माँग एव पूर्ति म असन्तुलन बढ जाता है क्योकि नवीन विनियोजन द्वारा जनसाधारण की आय मे वृद्धि होती है जिसके फलस्वरूप उपभोक्ता वस्तुओ की माँग मे वृद्धि हो जाती है। दूसरी ओर, इस मध्य-काल मे उपभोक्ता-वस्तुओं की पूर्ति मे वृद्धि नहीं होती है। माँग एव पूर्ति के इस असन्तुलन को यदि सरकारी नियन्त्रणो एव प्रतिबन्धो द्वारा समायोजित नही किया जाता है तो घाटे के अर्थ प्रबन्धन द्वारा मुद्रा स्फीति के फैलाव का भय उत्पन्न हो जाता है।

घाटे का अर्थ-प्रबन्धन एवं मुद्रा-स्फीति

अल्प-विकसित राष्ट्रों में घाटे के अर्थ-प्रबन्धन का गुणक-प्रभाव निर्बल होता है क्योंकि इन राष्ट्रों के बेकार पड़े साधनों के उपयोग द्वारा वास्तविक उत्पादन बढ़ाना कठिन होता है। अल्प विकसित अर्थ-व्यवस्थाएँ प्राय लचीली नहीं होतीं और नवीन उत्पादन-क्रियाओं को स्वीकार करने में अधिक समय लेती हैं। घाटे के अर्थ-प्रबन्धन द्वारा जो मौद्रिक आय में वृद्धि होती है, उसके अनुरूप उत्पादन में वृद्धि नहीं हो पाती है क्योंकि अर्थ-व्यवस्था में उत्पादन-घटकों—पूँजीगत साधन, साहस, तान्त्रिक ज्ञान, आर्थिक संगठन, विपणि, संचार-व्यवस्था, आर्थिक एवं सामाजिक सुविधाओं आदि—की कमी होती है। इस प्रकार प्रभावशाली माँग के अनुरूप प्रभावशाली पूर्ति उदय नहीं हो पाती है। पूर्ति में लोच कम रहती है और प्रभावशाली माँग के बढ़ते रहने पर भी जब पूर्ति तदनुसार नहीं बढ़ती है तो मूल्यों में वृद्धि होना स्वाभाविक होता है।

अल्प-विकसित राष्ट्रों में पूर्ति की लोच अर्थ-व्यवस्था के सभी क्षेत्रों में समान नहीं होती है। कृषि-क्षेत्र में, जो राष्ट्रीय आय का 50% से भी अधिक भाग जुटाता है, पूर्ति की लोच उद्योगों की तुलना में बहुत कम रहती है। यद्यपि पूर्ति की लोच अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में पृथक् पृथक् होती है, फिर भी राष्ट्रीय कुल व्यय में वृद्धि हो जाने पर केवल उन्हीं क्षेत्रों के मूल्यों पर ही प्रभाव नहीं पड़ता जिनमें पूर्ति की लोच कम रहती है अर्थात् राष्ट्रीय कुल व्यय में घाटे के अर्थ-प्रबन्धन द्वारा जो वृद्धि होती है, उसके प्रभाव में अर्थ-व्यवस्था के सामान्य मूल्य-स्तर में वृद्धि हो जाती है। सामान्य मूल्य स्तर में वृद्धि के निम्नलिखित प्रमुख कारण होते हैं

घाटे के प्रबन्धन का मूल्य-स्तर पर प्रभाव

(1) घाटे के अर्थ-प्रबन्धन द्वारा कुल व्यय में जो वृद्धि होती है, उस वृद्धि का अधिकतर भाग उन क्षेत्रों में केन्द्रित हो जाता है जिनमें पूर्ति की लोच कम होती है, जिसके फलस्वरूप पूर्ति की कम लोच रखने वाले क्षेत्रों में आय का स्तर ऊँचा हो जाता है और आय के वितरण का वर्तमान स्वरूप बदल जाता है। ऐसी परिस्थिति में अर्थ-व्यवस्था के अन्य क्षेत्र भी, जिनमें पूर्ति लोचदार होती है, मूल्य-स्तर को स्थिर नहीं रहने देते हैं क्योंकि उन्हें भी बेलोचदार क्षेत्रों में वस्तुएँ एवं सेवाएँ प्राप्त करनी होती हैं। इस प्रकार अर्थ-व्यवस्था के सामान्य मूल्य-स्तर में वृद्धि होती है।

(2) अल्प विकसित राष्ट्रों में उपभोग-क्षमता अधिक होने के कारण आय की वृद्धि के साथ-साथ खाद्य पदार्थों की माँग में अधिक वृद्धि हो जाती है परन्तु कृषि-क्षेत्र की पूर्ति अल्पकाल में बेलोचदार होती है। इस परिस्थिति में खाद्य-पदार्थों के मूल्यों में तीव्र गति से वृद्धि हो जाती है और वह वृद्धि कृषि-क्षेत्र में लगी जनसंख्या की आय एवं खाद्य-पदार्थों के उपभोग में वृद्धि कर देती है। इस प्रकार गैरकृषि-क्षेत्रों में खाद्य-पदार्थों की पूर्ति में कमी हो जाती है। कृषक की आय बढ़ने के कारण वह गैरकृषि उत्पादों का उपभोग भी अधिक मात्रा में करने लगता है। इस स्थिति में एक ओर गैरकृषि-क्षेत्र को खाद्य पदार्थों के लिए अधिक मूल्य देना पड़ता है और दूसरी ओर गैरकृषि-उत्पादों की पूर्ति का कम भाग उपलब्ध होता है। अन्ततः गैरकृषि-क्षेत्रों को इस परिस्थिति का सामना करने के लिए अपने मूल्य-स्तर में वृद्धि करना अनिवार्य हो जाता है।

(3) अल्प-विकसित राष्ट्रों में आयात में वृद्धि करने की सीमान्त-क्षमता भी अधिक होती है और आय की वृद्धि के साथ साथ आयात में भी वृद्धि हो जाती है। आयात की वृद्धि की गति इतनी तीव्र रहती है कि निर्यात-वृद्धि तदनुरूप होना सम्भव नहीं होता है। इस प्रकार भुगतान शेष प्रतिकूल होने लगता है। जब आयात पर प्रतिबन्ध लगा दिये जाते हैं तो बढ़ी हुई आय का दबाव आन्तरिक उपभोग-वस्तुओं की पूर्ति पर पड़ता है जिसके फलस्वरूप सामान्य मूल्य-स्तर में वृद्धि हो जाती है। दूसरी ओर, अर्थ-व्यवस्था में मूल्य-स्तर ऊँचा होने के कारण उत्पादकों को वस्तुएँ निर्यात करने के लिए प्रोत्साहन नहीं रहता है और वे वस्तुएँ एवं सेवाएँ आन्तरिक बाजारों में बेचकर पर्याप्त लाभ अर्जित कर लेते हैं। ऐसी परिस्थिति में सरकार निर्यात-संवर्द्धन हेतु वित्तीय सहायता एवं अनुदान

निर्यातकों को देनी है। इस प्रकार जब निर्यात में वृद्धि की जाती है तो वस्तुओं एवं सेवाओं की आन्तरिक पूर्ति में कमी हो जाती है और सामान्य मूल्य-स्तर में वृद्धि होने लगती है।

(4) अल्प-विकसित राष्ट्रों का आर्थिक विकास का स्वरूप भी मुद्रा-स्फीति की प्रवृत्तियों को पुष्टि प्रदान करता है। इन राष्ट्रों में विकास के प्रारम्भिक काल में अधिक विनियोजन पूंजीगत वस्तुओं के उद्योगों तथा सामाजिक एवं आर्थिक सुविधाओं की वृद्धि के लिए किया जाता है। इन विकास-कार्यक्रमों द्वारा जनता की क्रय-शक्ति में तो वृद्धि हो जाती है परन्तु उपभोक्ता-वस्तुओं की पूर्ति तदनुसार नहीं बढ़ पाती है। इसके साथ ही, निर्धन राष्ट्रों की सीमान्त उपभोग-क्षमता अधिक होने के कारण विकास विनियोजन द्वारा सामान्य मूल्य-स्तर में वृद्धि अनिवार्य हो जाती है।

(5) अल्प-विकसित राष्ट्रों में आधारभूत जनोपयोगी सेवाओं की अत्यन्त कमी होती है। आर्थिक विकास के कार्यक्रमों में इसीलिए समाज कल्याण को प्राथमिकता दी जाती है। समाज-कल्याण के लिए सरकारी व्यय में तो एक और वृद्धि हो जाती है परन्तु इस व्यय द्वारा तुरन्त उत्पादन में कोई वृद्धि नहीं होती है। इस सरकारी व्यय से उदय हुई अतिरिक्त आय को आच्छादित करने के लिए उस प्रकार उपभोक्ता-वस्तुएँ उपलब्ध नहीं होती हैं जिसके फलस्वरूप मूल्य-स्तर में वृद्धि होती है।

(6) अल्प-विकसित राष्ट्रों में उत्पादन के साधनों में गतिशीलता बहुत कम होती है जिसके फलस्वरूप साधनों को एक क्षेत्र से हटाकर दूसरे क्षेत्र में ले जाना सरल नहीं होता है। साधनों की न्यून गतिशीलता पूर्ति की लोच को कम करती है क्योंकि एक क्षेत्र में लगे हुए साधनों को किसी दूसरे ऐसे क्षेत्र में ले जाना सम्भव नहीं होता जिस क्षेत्र की वस्तुओं की माँग वहाँ अधिक हो। इस प्रकार किसी भी इच्छित क्षेत्र में तुरन्त साधनों को बढ़ाकर उत्पादन में वृद्धि नहीं की जा सकती है। अल्प-विकसित राष्ट्रों में न तो पूंजी के नवीन साधन ही इतने होते हैं कि इनको वांछित क्षेत्रों में विनियोजित करके इन क्षेत्रों के उत्पादन की पूर्ति को माँग के अनुसार बढ़ाया जा सके और न इन राष्ट्रों में इतनी अधिक पूंजी विनियोजित है जिसका ह्रास होने के कारण नया विनियोजन वांछित क्षेत्रों में किया जा सके। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि उत्पादन के साधनों की गतिशीलता आय बढ़ाने के साधनों की मात्रा पर निर्भर रहती है। जिन राष्ट्रों में पूंजीगत उत्पादन-साधन अधिक हैं, उनमें साधनों की गतिशीलता भी अधिक होती है और माँग के परिवर्तनों के अनुसार साधनों को एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में ले जाना सम्भव होता है। गतिशीलता कम होने पर बढ़े हुए क्षेत्र में पूर्ति में माँग के अनुरूप शीघ्र वृद्धि नहीं होती है जिससे उस क्षेत्र के उत्पादों का मूल्य बढ़ जाता है। एक क्षेत्र की मूल्य-वृद्धि दूसरे क्षेत्रों की मूल्य-वृद्धि को प्रोत्साहित करती है। इस प्रकार अल्प-विकसित राष्ट्रों में घाटे के अर्थ प्रबन्धन से मुद्रा-स्फीति उदय होने की प्रवृत्ति होती है।

(7) घाटे के अर्थ प्रबन्धन पर आन्तरिक बचत का प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है क्योंकि मुद्रा का वास्तविक मूल्य घटता जाता है और बचत की गयी मुद्रा का मूल्य घटने का भय रहता है। लोग अपनी आय का बड़ा भाग वस्तुओं के संग्रह पर व्यय करते हैं क्योंकि वस्तुओं के मूल्यों में निरन्तर वृद्धि होती है।

घाटे के अर्थ-प्रबन्धन की सीमाएँ

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि अल्प-विकसित राष्ट्रों में घाटे के अर्थ प्रबन्धन द्वारा मुद्रा-स्फीति अधिक होने की सम्भावना रहती है और पूर्ण रोजगार की स्थिति में पहुँचकर अथवा रोजगार में महत्त्वपूर्ण वृद्धि होने के पूर्व ही मुद्रा-स्फीति का परिणाम भयानक रूप ग्रहण कर सकता है। अल्प-विकसित राष्ट्रों में इसीलिए नियोजित विकास हेतु घाटे के प्रबन्धन का सीमित उपयोग करना चाहिए और ये सीमाएँ निम्नलिखित तत्त्वों पर आधारित की जा सकती हैं :

(1) घाटे के अर्थ-प्रबन्धन का प्रभाव इस बात पर निर्भर रहता है कि अतिरिक्त क्रय शक्ति प्राप्त करने वाले लोगों में इसकी क्या प्रतिक्रिया होती है। वे लोग अतिरिक्त क्रय शक्ति को तरल साधनों अर्थात् मुद्रा आदि के रूप में संग्रहीत कर अपने पास रखने के इच्छुक हो सकते हैं। ऐसी

परिस्थिति मे मुद्रा-स्फीति होने का भय उस सीमा तक नही होता जितनी मुद्रा संग्रहीत कर रखी जाती है। यदि वे लोग अतिरिक्त क्रय-शक्ति को आधारभूत उपभोक्ता-वस्तुओ पर व्यय करेंगे तो घाटे का अर्थ-प्रबन्धन मुद्रा-स्फीति का कारण बन जायेगा। अतिरिक्त क्रय-शक्ति प्राप्त करने वालो मे यदि विनियोजन करने की प्रवृत्ति होगी तो मुद्रा-स्फीति का दबाव कम रहेगा। इन लोगो की इन प्रवृत्तियो मे सरकार राजकोषीय एव मौद्रिक नीतियो द्वारा कुछ हेर-फेर अवश्य कर सकती है।

(2) जब अर्थ व्यवस्था मे सरकारी क्षेत्र का महत्व अधिक हो तो बढते हुए उत्पादन को स्थिर मूल्यो पर रखने के लिए यह आवश्यक होगा कि मुद्रा की पूर्ति मे वृद्धि की जाय अन्यथा वस्तुओ के मूल्यों मे पूर्ति बढने के कारण कमी आ सकती है।

(3) आर्थिक प्रगति के साथ साथ आय, रोजगार, उत्पादन एव अन्य सभी आर्थिक क्रियाओ में तीव्र गति से वृद्धि होती है और समाज को अपने दिन-प्रतिदिन के व्यवहारों में अधिक राशि अपने पास नकद रखनी पड़ती है। मुद्रा की इस बढ़ी हुई माँग की पूर्ति घाटे के अर्थ-प्रबन्धन द्वारा की जा सकती है।

(4) जब अर्थ-व्यवस्था मे उपयोग न हुए उत्पादन के साधन बडी मात्रा मे उपलब्ध हो तो घाटे के अर्थ-प्रबन्धन द्वारा क्रय-शक्ति में जो वृद्धि होगी, उससे इन साधनो का उपयोग उत्पादक क्रियाओं मे होने लगेगा और बढी हुई मुद्रा को यह बढा हुआ उत्पादन आच्छादित कर लेगा जिसमे मूल्यो मे वृद्धि नही होगी परन्तु यह परिस्थिति दो बातो पर निर्भर रहेगी—प्रथम, अर्थ व्यवस्था मे उत्पादन के सभी साधन—पूंजी, तान्त्रिक ज्ञान, पुंजीगत एव उत्पादक वस्तुएँ आदि—उपलब्ध होने चाहिए, और द्वितीय, उपयोग हुए साधनो का पर्याप्त मात्रा मे वस्तुओ के उत्पादन के लिए उपयोग किया जाना चाहिए।

(5) घाटे के अर्थ-प्रबन्धन द्वारा मुद्रा-स्फीति उदय नही होती है, यदि इसकी राशि के बराबर ही देश का प्रतिकूल भुगतान-शेष हो, क्योकि बढी हुई क्रय शक्ति को आच्छादित करने के लिए आयात की गयी वस्तुएँ उपलब्ध हो जाती है। प्रतिकूल भुगतान-शेष की पूर्ति विदेशी सहायता द्वारा अथवा देश के पास विदेशी मुद्रा एव स्वर्ण के संचय से की जा सकती है।

(6) यदि मुद्रा-प्रसार द्वारा प्राप्त साधनो का विनियोजन ऐसी परियोजनाओ मे किया जाता है जिनकी पूर्ति मे अधिक समय लगता हो और जिनके द्वारा पुंजीगत एव उत्पादक वस्तुओ तथा सेवाओ का उत्पादन किया जाना हो तो मूल्यो में अधिक वृद्धि होने की सम्भावना होती है और नियोजन अधिकारी को कठोर राजकोषीय (Fiscal) एव मौद्रिक (Monetary) नीतियो का सचालन करना आवश्यक होगा। विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे नियोजन-अधिकारियों को इसीलिए योजनाओ मे अल्पकाल मे पूर्ण होने वाली परियोजनाओ को पर्याप्त स्थान देना चाहिए।

(7) विकास-व्यय द्वारा आय मे होने वाली वृद्धि की मात्रा का यह अनुमान लगाना चाहिए कि वह अतिरिक्त आय किस वर्ग के पास जायेगी तथा वह वर्ग उस अतिरिक्त आय का किस प्रकार उपयोग करेगा। यदि योजना मे कृषि-विकास को प्राथमिकता दी गयी हो तो ग्रामीण क्षेत्र मे अतिरिक्त आय का अधिकांश कृषक एव कृषि-श्रमिक के हाथ मे जायेगा। इसके साथ ही यह अनुमान लगाना आवश्यक है कि अतिरिक्त आय पाने वाले वर्ग से अतिरिक्त आय का कितना भाग सरकार द्वारा कर तथा ऋण के रूप मे वापस लिया जा सकेगा तथा उसका कितना भाग उपभोक्ता-वस्तुओ पर व्यय किये जाने की सम्भावना है तथा किस प्रकार की उपभोक्ता वस्तुओ की माँग मे वृद्धि होगी और इन वस्तुओ की पूर्ति किस सीमा तक वर्तमान एव सम्भावित उत्पादन व वितरण द्वारा सम्भव है। इस प्रकार माँग तथा मूल्यो मे वृद्धि का आयात-निर्यात के प्रकार तथा मात्रा पर क्या प्रभाव पड़ेगा, इसका भी अनुमान लगाया जाना चाहिए। इन सभी अनुमानो के आधार पर अनुमान लगाया जा सकेगा कि उपभोक्ता-वस्तुओ के मूल्यो मे कितनी वृद्धि होगी तथा उस वृद्धि से किस वर्ग को अधिक कठिनाई उठानी पड़ेगी। राज्य इन कठिनाइयो के निवारण का आयोजन कर सकता है।

(8) विकास के कार्यक्रमों पर किये गये विनियोजन की प्रभावशीलता की सीमा का अध्ययन भी आवश्यक है। प्रजातान्त्रिक नियोजन में अत्यन्त कठोर कार्यवाहियों को स्थान नहीं होता और इस कारणवश साधन का महत्वपूर्ण भाग अपव्यय हो जाता है। विनियोजन का प्रकार तथा उसके द्वारा उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि की सीमा तथा अवधि द्वारा यह निर्धारित किया जा सकता है कि मूल्यों का सामान्य स्तर के ग्रहण करने में कितना समय लगेगा तथा क्या-क्या कार्य करना आवश्यक होगा।

(9) राज्य द्वारा मूल्यों की वृद्धि पर नियन्त्रण रखने तथा आवश्यक वस्तुओं की वितरण सम्बन्धी कार्यवाहियाँ किस सीमा तक की जा सकती हैं तथा कहाँ तक सफल हो सकेंगी इसका भी अनुमान लगाना आवश्यक है। इसके आर्थिक तत्वों के अतिरिक्त सामाजिक तथा राजनीतिक तत्वों को दृष्टिगत करना अनिवार्य होगा। जनसमुदाय के सामान्य चरित्र तथा राज्य के कर्मचारियों की कार्यशीलता प्रबन्ध शक्ति एवं ईमानदारी पर राज्य की मूल्य नियन्त्रण तथा वितरण की कार्यवाहियों की सफलता निर्भर रहती है। सरकारी पक्ष को जनता का कितना सहयोग प्राप्त है तथा उपभोग में कटौती होने पर जनता में किस सीमा तक विरोध होगा इस पर ध्यान देना भी आवश्यक है। यदि सरकार की नीतियाँ प्रभावशील नहीं हुई तो विकास सम्बन्धी मुद्रा प्रसार द्वारा मुद्रा स्फीति भयानक रूप धारण कर सकती है।

(10) राजकीय तथा निजी क्षेत्रों में कर्मचारियों तथा श्रमिकों के पारिश्रमिक को मुद्रा में निश्चित करने के ढंग तथा पारिश्रमिक को सीमित रखने की सम्भावना का भी अनुमान लगाना आवश्यक होता है। यदि पारिश्रमिक दर उपभोक्ता वस्तुओं के मूल्यों पर आधारित होती है तब यह नियन्त्रण रखना कठिन होगा। दूसरी ओर यदि पारिश्रमिक को मूल्यों के अनुसार नहीं बढ़ाया जायगा तो श्रमिक की कार्यशीलता तथा उत्पादन क्षमता को क्षति पहुँचेगी। इन दोनों सीमाओं के मध्य में पारिश्रमिक निर्धारित किया जाना चाहिए। पारिश्रमिक दर राष्ट्र की श्रमिक संस्थाओं के संगठन तथा उनकी प्रवृत्तियों और सरकार द्वारा उनकी कार्यवाहियों पर नियन्त्रण रखने की क्षमता से भी प्रभावित होगी।

(11) वर्तमान मूल्य स्तर तथा प्रचलित मुद्रा की मात्रा के आधार पर भी यह निश्चित किया जा सकता है कि घाटे के अर्थ प्रबन्धन का किस सीमा तक उपयोग सम्भाव्य है। यदि अन्त-राष्ट्रीय मूल्य स्तर की तुलना में राष्ट्रीय मूल्य स्तर कम हो तब मूल्य में सामान्य वृद्धि से मुद्रा स्फीति का कोई भय नहीं होगा और मुद्रा का अर्थ व्यवस्था की आवश्यकताओं के अनुसार प्रसार किया जा सकेगा। विकास-व्यय द्वारा अर्थ व्यवस्था में वस्तुओं के उत्पादन तथा पूर्ति में वृद्धि के साथ साथ मुद्रा का प्रसार होना भी आवश्यक होगा।

उपर्युक्त घटकों की आधारशिला पर ही विकास-सम्बन्धी मुद्रा प्रसार की सीमाओं का निर्माण होना चाहिए। उपर्युक्त घटकों के प्रतिकूल होने की दशा में मुद्रा प्रसार मुद्रा स्फीति का रूप धारण कर सकता है, इसलिए मुद्रा का प्रसार केवल उसी सीमा तक करना चाहिए जहाँ तक मुद्रा-स्फीति का भय उपस्थित न हो। वस्तुओं के मूल्यों में कुछ सीमा तक वृद्धि कोई भयसूचक नहीं बल्कि मुद्रा स्फीति की व्यवस्था उसी समय कही जानी चाहिए जब मूल्यों में वृद्धि और अधिक मूल्य वृद्धि कारक हो। ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होने पर पूँजी निर्माण के स्थान पर पूँजी का उपभोग होना प्रारम्भ हो जाता है तथा किसी भी प्रकार से आर्थिक विकास सम्भव नहीं होता। "जब घाटे का अर्थ प्रबन्धन मुद्रा स्फीति की अवस्था का रूप ग्रहण कर ले, उस समय इसके द्वारा न तो पूँजी का निर्माण होता है और न आर्थिक विकास ही होता है। घाटे का अर्थ प्रबन्धन अपने आप में न अच्छा है और न बुरा और न ही घाटे के अर्थ प्रबन्धन में मुद्रा स्फीति स्वभावतः निहित है।"[1]

1 When deficit financing degenerates inflationary finance it ceases to promote either capital formation or economic development By itself deficit financing is neither good nor bad nor ■ inflation inherent in deficit finance —Dr V K R V Rao *Eastern Economist Pamphlet Deficit Financing Capital Formation and Price Behaviour in an Under developed Economy*, p 16

साधारण शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि विकास-व्यय, जो घाटे के अर्थ-प्रबन्धन द्वारा किया जाता है, अस्थायी रूप से उस अवधि मे जो अतिरिक्त आय को पुष्टि करने के लिए उपभोक्ता-वस्तुओ के उत्पादन मे वृद्धि करने मे लगता है, मूल्यो मे वृद्धि का कारण होता है। यदि विकास-व्यय के अधिकतर भाग के लिए सरकार उत्तरदायी हो तथा वह विकास-कार्यक्रमो को बजट के साधनो को दृष्टिगत न करते हुए प्रभावशील एव कार्यशील युक्तियो एव विधियो से सचालित करती है, यदि वह निजी विनियोजन को नियन्त्रित करके निजी पूँजी को अविवेकपूर्ण उत्पादन से रोक कर राष्ट्रीय विकास कार्यो मे विनियोग करती है, यदि वह मूल्यो की उच्चतम सीमा निश्चित करती है; यदि वह आवश्यक वस्तुओ आदि के वितरण का प्रबन्ध करके मूल्य-वृद्धि को रोकती है, यदि वह आयात की मात्रा तथा प्रकार पर नियन्त्रण कर सकती है, यदि उसके द्वारा विकास-कार्य को युद्ध की आपातकालीन परिस्थितियो के समान सचालित किया जाता है, तभी घाटे के अर्थ-प्रबन्धन का उपयोग आर्थिक विकास मे सराहनीय, वाछनीय एव सहायक सिद्ध होगा। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि घाटे का अर्थ-प्रबन्धन अनुभवी एव निपुण तथा कार्यकुशल हाथो मे विकास-पथ पर अग्रसर राष्ट्र हेतु वरदान सिद्ध होगा अन्यथा विकास की चरम सीमा पर पहुँचे राष्ट्र की अर्थ-व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर सकने की क्षमता वाला अभिशाप भी हो सकता है।

मुद्रा-स्फीति एवं आर्थिक प्रगति

अब हमारे सामने प्रश्न आता है कि क्या घाटे के अर्थ-प्रबन्धन की व्यवस्था का उपयोग अल्प-विकसित राष्ट्रो मे उचित है ? यह तो अब तक के विस्तृत विवरण से स्पष्ट हो गया कि घाटे के अर्थ प्रबन्धन द्वारा मुद्रा-स्फीति का उदय होता ही है। यदि हम मुद्रा-स्फीति को आर्थिक विकास के लिए उचित मान लें तो घाटे के अर्थ-प्रबन्धन का औचित्य स्वय सिद्ध हो जायेगा। मुद्रा-स्फीति का आर्थिक विकास पर क्या प्रभाव पडता है इस सम्बन्ध मे विचार एव अनुभवो मे बहुत मतभेद है। जब अन्य साधनो से अर्थ साधन विकास हेतु पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध न हो सकते हो तो अल्प-विकसित राष्ट्र के सम्मुख दो ही रास्ते रह जाते हैं—विकास की गति को मन्द रखना अथवा घाटे के अर्थ-प्रबन्धन द्वारा अर्थ-साधनो मे वृद्धि करना और मुद्रा-स्फीति का सामना करना। प्राय दूसरी विधि का ही उपयोग किया जाता है अर्थात् मुद्रा-प्रसार द्वारा पूंजी-निर्माण एव विकास की गति को तीव्र किया जाता है। इसीलिए सामान्य विधियो से साधन उपलब्ध न होने के कारण अल्प-विकसित राष्ट्रो के विकास के लिए मुद्रा स्फीति आवश्यक समझी जाती है। मुद्रा-स्फीति द्वारा मूल्यो मे वृद्धि होती है जिससे साधनो के बचत न करने वालो से बचत करने वालो को हस्तान्तरित होने मे सुविधा होती है और कुल पूंजी-सचय मे वृद्धि होती है। यदि सरकार विनियोजक हो तो मुद्रा-स्फीति सम्भावित साधनो (Potential Resources) के उपयोग मे सहायक होती है और आर्थिक विकास की गति को बढाती है। यदि पूंजीगत साधनो की किसी प्रकार व्यवस्था करके बेरोजगारो को उपभोक्ता-वस्तुओ के उद्योगो के रोजगार मे लगा दिया जाय और उनके पारिश्रमिक का शोधन करने के लिए नवीन मुद्रा निर्गमित की जाय तो वह श्रमिक अपनी आय मे जो बचत करेंगे, उसका उपयोग श्रमिको के उस वर्ग को पारिश्रमिक के रूप मे हो सकता है जो पूंजीगत वस्तुओ का उत्पादन करने के लिए रोजगार मे लगाया जाय। इस परिस्थिति मे घाटे का अर्थ-प्रबन्धन मुद्रा-स्फीति के उदय एव विनाश दोनो का ही कारण बन सकता है और मुद्रा-स्फीति केवल एक अल्प-कालीन घटना बनकर रह सकती है। जब मुद्रा स्फीति का उपयोग उत्पादक पूंजी को बढाने के लिए किया जाता है और इस बढी हुई पूंजी का कुशलता एव विवेक के साथ उपयोग होता है तो अन्तत वस्तुओ एव सेवाओ की पूर्ति मे मुद्रा की वृद्धि के अनुरूप वृद्धि हो जाती है।

विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था मे मुद्रा की आवश्यकता एव माँग बढ जाती है क्योकि आर्थिक विकास के साथ-साथ व्यवहारो की मात्रा एव आकार मे वृद्धि और अर्थ-व्यवस्था के अमौद्रिक क्षेत्र भी मुद्रा के माध्यम से व्यवहार करना प्रारम्भ करने लगते है। मुद्रा की इस बढी हुई माँग की पूर्ति करना विकास की पुष्टि करने के लिए आवश्यक होता है और इस सीमा तक किया गया

मुद्रा प्रसार सर्वथा वाछनीय होता है। इसके अतिरिक्त मूल्य-वृद्धि द्वारा विपणि मे न आने वाले साधनो को विपणि में लाने को प्रोत्साहन मिलता है जिससे उत्पादन मे वृद्धि होती है और विकास की गति तीव्र होती है।

उपर्युक्त विवरण से यह ज्ञात होता है कि मुद्रा स्फीति गतिहीन (Stagnant) अर्थ-व्यवस्थाओ के आर्थिक विकास मे सहायक होती है परन्तु वह योगदान दो बातो पर निर्भर होता है

(1) मुद्रा-स्फीति द्वारा हस्तान्तरित होने वाले साधनो का परिमाण—यह बात सन्देहजनक है कि मुद्रा-स्फीति द्वारा वास्तविक बचत मे पर्याप्त वृद्धि हो सकती है। प्राय अर्थ-व्यवस्था मे श्रमिक-वर्ग बचत नही करने वाला और लाभ (Profit) प्राप्त करने वाला अर्थात् साहसी-वर्ग बचत करने वाला होता है। जब श्रमिक-वर्ग का साहसी-वर्ग की तुलना मे राष्ट्रीय आय का अधिक भाग प्राप्त होता है तो बचत की दर मे निश्चित वृद्धि करने हेतु कम मूल्य-वृद्धि की आवश्यकता होती है क्योंकि साधनो का हस्तान्तरण श्रमिको के बडे समुदाय से होता है। थोडी-सी मूल्य-वृद्धि का प्रभाव समाज मे बडे भाग पर पडने के कारण साहसी-वर्ग को उसका लाभ पर्याप्त मात्रा में मिलता है और इस प्रकार बचत एव विनियोजन मे वृद्धि होती है परन्तु अल्प-विकसित राष्ट्रो मे मजदूरी का राष्ट्रीय आय मे भाग लाभ की तुलना मे कम होता है जिसके कारण बचत की दर मे वृद्धि करने के लिए मुद्रा-प्रसार द्वारा अधिक मूल्य-वृद्धि की आवश्यकता होती है। मूल्यो मे वृद्धि होने पर मूल्य-वृद्धि का दूषित चक्र गतिशील हो जाता है जो समाज मे बहुत सी विषमताओ को जन्म देता है और अन्तत विकास की प्रक्रिया मे गतिरोध उत्पन्न करता है। इस प्रकार अल्प-विकसित राष्ट्रो मे मुद्रा-स्फीति द्वारा विनियोजन-वृद्धि समाज के लिए अधिक हानिकारक हो सकती है।

मुद्रा-स्फीति द्वारा ऐच्छिक बचत करने की प्रवृत्ति को भी आघात पहुँचता है क्योंकि मुद्रा के रूप में बचत करना लाभदायक नही होता है। मुद्रा-स्फीति के फलस्वरूप मुद्रा के वास्तविक मूल्य में निरन्तर कमी हो जाती है और यही कारण है कि जनसाधारण अपनी बचत को मुद्रा के रूप मे रखकर टिकाऊ एव मूल्यवान वस्तुओ मे रखने लगते हैं। मुद्रा के मूल्य मे कमी होते रहने के कारण लोगो मे लापरवाही के साथ व्यय करने की प्रवृत्ति प्रबल होने लगती है। मुद्रा का मूल्य कम होने से निश्चित आय प्राप्त करने वालो की वास्तविक आय भी कम हो जाती है जिसके फलस्वरूप उनकी ऐच्छिक बचत करने की क्षमता भी कम हो जाती है। इस प्रकार एक ओर मुद्रा स्फीति द्वारा ऐच्छिक बचत मे कमी और दूसरी ओर साहसी-वर्ग की बचत मे कुछ वृद्धि होती है जिसका शुद्ध परिणाम राष्ट्र की कुल बचत मे कोई विशेष वृद्धि नही होती है। मुद्रा-स्फीति इस प्रकार केवल विनियोजन की मितव्ययिता को सामान्य जनता से साहसी-वर्ग को हस्तान्तरित कर देती है जिससे धन और आय का केन्द्रीकरण और अधिक हो जाता है।

कुछ अल्प-विकसित राष्ट्रो के अनुभवो से यह ज्ञात होता है कि मुद्रा-स्फीति द्वारा साहसी-वर्ग की आय मे वृद्धि के अनुपात मे उसके विनियोजन मे वृद्धि नहीं होती है क्योंकि यह साहसी-वर्ग अतिरिक्त आय का कुछ भाग उपभोग पर व्यय कर लेता है तथा कुछ भाग अपने पास मूल्यवान वस्तुओ आदि का संग्रह करने पर व्यय कर लेता है। इस प्रकार बढी हुई आय का केवल थोडा सा भाग ही विनियोजन के लिए उपलब्ध होता है। ऐसी परिस्थिति मे मुद्रा स्फीति सामाजिक शोषण का कारण बन जाती है क्योंकि निश्चित आय वाले वर्ग को अपनी वास्तविक आय कम हो जाने के कारण बचत एव उपभोग कम कर देना पडता है। दूसरी ओर, साधनो का हस्तान्तरण साहसी-वर्ग को होने लगता है, जो पहले से ही सम्पन्न होता है और इस बढी हुई सम्पन्नता का उपभोग विलासपूर्ण जीवन के लिए हो जाता है परन्तु जिन अर्थ-व्यवस्थाओ मे सरकारी क्षेत्र का आकार बडा हो, वहाँ मुद्रा स्फीति द्वारा साधनो का हस्तान्तरण सरकारी क्षेत्र को होता है जो इन अतिरिक्त साधनो का उपयोग विनियोजन बढाने हेतु कर सकता है।

मुद्रा-स्फीति का निरन्तर उपयोग पूँजी को विदेशो मे हस्तान्तरित करने को प्रोत्साहित करता है क्योंकि मुद्रा का आन्तरिक वास्तविक मूल्य सरकारी विनिमय-दरो (Official Exchange Rates)

के आधार पर उसके विदेशी वास्तविक मूल्य से कम होता जाता है। इस प्रकार मुद्रा-स्फीति का उपयोग बहुत सावधानी एव सीमित मात्रा मे करने से ही विकास मे अधिक सहायता मिल सकती है।

(2) मुद्रा-स्फीति का विनियोजन पर प्रभाव—यह बात भी विवादास्पद है कि मुद्रा स्फीति द्वारा उत्पादक विनियोजन को प्रोत्साहन मिलता है। मुद्रा स्फीति द्वारा उपलब्ध साधनो का उपयोग सरकार तो अपने पूर्व-निर्धारित कार्यक्रमो पर कर सकती है परन्तु निजी क्षेत्र के विनियोजन पर इसका बुरा प्रभाव पडता है। मुद्रा-स्फीति के फलस्वरूप साधनो के उपयोग करने की तुलना मे साधनो को सग्रहीत रखने मे अधिक लाभ प्राप्त होता है, क्योकि मूल्य स्तर मे निरन्तर वृद्धि होती जाती है और सग्रहीत साधनो का बिना उपयोग किये ही मूल्य बढ जाता है। इसी कारण लोग अपने साधनो को नगरो मे निर्माण करने, जायदाद खरीदने, मूल्यवान धातुओ को रखने तथा विदेशी सम्पत्तियो को खरीदने मे उपयोग करते हैं। जिन राष्ट्रो मे साहसी-वर्ग छोटा होता है वहाँ सट्टे की प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है और वास्तविक उत्पादन-क्रियाओ को आघात पहुँचता है।

दूसरी ओर, मुद्रा स्फीति द्वारा आन्तरिक बाजारो मे उपभोग-वस्तुओ के मूल्य निरन्तर बढते रहते है जिससे साहसियो को आन्तरिक बाजारो मे आसानी से लाभ प्राप्त हो जाता है। इसके दो कुप्रभाव होते है—प्रथम, निर्यात के लिए उत्पादन नही किया जाता है और निर्यात मे आयात की वृद्धि के अनुरूप वृद्धि नही होती है जिसके फलस्वरूप प्रतिकूल व्यापार शेष बढता जाता है। दूसरा कुप्रभाव व्यापारिक ईमानदारी पर पड़ता है। निम्न स्तर की वस्तुओ का उत्पादन किया जाता है, मध्यस्थो की सख्या बढ जाती है, कार्य-कुशलता कम हो जाती है और सट्टे की प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है। साहसी वर्ग जोखिमपूर्ण उत्पादन-क्रियाओ को सचालित नही करता और विपणि मे हेर-फेर का लाभोपार्जन करना चाहता है। इस प्रकार उत्पादक क्रियाओ को आघात पहुँचता है। इस प्रकार मुद्रा स्फीति का पूँजी निर्माण के लिए उपयोग बहुत सावधानी से करने की आवश्यकता होती है। सरकार का अर्थ-व्यवस्था पर कितना नियन्त्रण एव अधिकार है या हो सकता है, मुद्रा-स्फीति द्वारा विकास-वित्त प्राप्त करने की परिसीमाएँ निर्धारित करता है।

भारत मे घाटे का अर्थ-प्रबन्धन

प्रथम योजना—भारत मे घाटे के अर्थ प्रबन्धन का उपयोग नियोजित अर्थ-व्यवस्था के प्रारम्भ से ही किया गया है। इस योजना मे 290 करोड रुपये के घाटे के अर्थ-प्रबन्धन की व्यवस्था की गयी परन्तु वास्तविक राशि 330 करोड रुपये हुई जो योजना के सरकारी व्यय की लगभग 17% थी। इस योजना मे यद्यपि आयोजन से अधिक राशि का घाटे का अर्थ-प्रबन्धन किया गया, फिर भी इस व्यवस्था द्वारा मुद्रा-स्फीति का दबाव उत्पन्न नही हुआ। इसका प्रमुख कारण आशा से अधिक मानसून की अनुकूलता थी जिसके फलस्वरूप कृषि उत्पादन में अनुमान से अधिक वृद्धि हुई। इस योजनाकाल मे कृषि उत्पादन मे 22% और औद्योगिक उत्पादन मे 38% की वृद्धि हुई। प्रथम योजना मे घाटे के अर्थ-प्रबन्धन से सम्बन्ध रखने वाले अन्य तत्व इस प्रकार हैं

तालिका 12—प्रथम योजना मे घाटे का अर्थ-प्रबन्धन

वर्ष	घाटे का अर्थ-प्रबन्धन (करोड रुपयो मे)	जनता के पास मुद्रा की पूर्ति (करोड रुपयो मे)	मुद्रा-पूर्ति मे घाटे के अर्थ-प्रबन्धन का प्रतिशत	रहन-सहन का निर्देशाक (1949=100)	खाद्यान्नों का मूल्य निर्देशाक (1952-53 =100)	थोक मल्यो का निर्देशाक (1952-53 =100)
1951-52	2 0	1,848	0 11	105	111 4	118 0
1952-53	45 0	1,785	2 52	104	100 0	100 0
1953-54	36 0	1,852	1 94	106	100 1	104 6
1954-55	93 0	1,881	4 69	99	94 6	97 4
1955-56	157 0	2,217	7 08	96	86 6	92 5

उक्त तालिका (12) से ज्ञात होता है कि प्रथम योजना मे वर्ष प्रति वर्ष घाटे के अर्थ-प्रबन्धन की राशि बढती गयी और योजना के अन्तिम दो वर्षों मे इसकी राशि मे अत्यधिक वृद्धि हो गयी परन्तु असाधारण बात यह है कि घाटे का अर्थ-प्रबन्धन बढ़ते हुए भी मूल्यो मे वृद्धि होने के स्थान पर कमी हुई और थोक मूल्य-निर्देशांक 118 0 से घटकर सन् 1955-56 मे 92 5 हो गया। सन 1954-55 मे योजनाकाल के कुल घाटे के अर्थ-प्रबन्धन के लगभग आधे भाग का उपयोग किया गया परन्तु इस वर्ष के मूल्यो मे पाँच वर्षों की तुलना मे सबसे अधिक कमी रही। खाद्यान्नो के मूल्यो मे 22 30% और रहन सहन के स्तर की लागत मे 8 6% की कमी हुई। सन् 1952-53 व सन 1953-54 मे घाटे के अर्थ प्रबन्धन के बढने के साथ मूल्यो मे भी वृद्धि हुई परन्तु इसके बाद के वर्षों मे मूल्य गिरते रहे। कृषि क्षेत्र मे अत्यधिक सफल होने के अलावा प्रथम योजना मे संचित पौण्ड पावना (Sterling Reserves) का उपयोग करके वस्तुओ एव सेवाओ का आयात ब्रिटेन से किया गया। उससे मूल्य-स्तर मे वृद्धि नही हो सकी।

द्वितीय योजना—प्रथम योजना की अनुकूल परिस्थिति को देखते हुए नियोजकों ने द्वितीय योजना अधिक अभिलाषी बनायी और सरकारी क्षेत्र का व्यय दुगुना कर दिया गया। इस योजना मे भारी उद्योगो के विस्तार की व्यवस्था की गयी और घाटे के अर्थ-प्रबन्धन को अर्थ साधन प्राप्त कराने की एक प्रमुख प्रविधि मान लिया गया। इस योजना मे 1 200 करोड़ रुपये के घाटे के अर्थ-प्रबन्धन की व्यवस्था की गयी जो सरकारी क्षेत्र के कुल आयोजित व्यय की 25% थी परन्तु घाटे के अर्थ-प्रबन्धन की वास्तविक राशि 954 करोड रुपये हुई जो योजना के सरकारी क्षेत्र के व्यय का 20 4% थी। यह प्रतिशत प्रथम योजना मे केवल 17 था। द्वितीय योजना मे नगरीय क्षेत्र मे भारी उद्योगो की स्थापना का आयोजन किया गया जिसके फलस्वरूप बैंको के पास जमा के रूप मे अतिरिक्त आय आयी और बैंक साख मे तदनुसार वृद्धि हुई। घाटे के अर्थ-प्रबन्धन के कारण मुद्रा की पूर्ति माँग से अधिक हो गयी और मूल्य-स्तर निरन्तर बढता गया। प्रथम योजना मे मुद्रा-प्रसार के उपयोग न किये गये आच्छादित साधनो का उपयोग कर उत्पादन मे वृद्धि करना सम्भव हुआ परन्तु द्वितीय योजना मे उत्पादन के नवीन साधन एकत्रित एव निर्माण करने की आवश्यकता हुई जिसका मूल्यो पर प्रभाव पडा। द्वितीय योजनाकाल मे मुद्रा-पूर्ति एव मूल्यो की वृद्धि निम्नवत् रही है

तालिका 13—द्वितीय योजना मे घाटे का अर्थ-प्रबन्धन

वर्ष	घाटे का अर्थ प्रबन्धन (करोड रुपयो मे)	जनता के पास मुद्रा की पूर्ति	घाटे के अर्थ-प्रबन्धन का मुद्रा पूर्ति से प्रतिशत	रहन-सहन की लागत का निर्देशांक (1949=100)	खाद्य-पदार्थों का मूल्य-निर्देशांक (1952-53=100)	थोक मूल्यों का निर्देशांक (1952 53=100)
1956-57	253 0	2 342	10 8	107	102 3	105 3
1957-58	497 0	2 413	20 6	112	106 4	108 4
1958-59	140 0	2,526	5 5	118	115 2	112 9
1959-60	120 0	2,720	5 1	123	119 0	117 1
1960-61	—49 0	2 869	—	124	120 0	124 9

द्वितीय योजनाकाल के प्रारम्भ मे घाटे का अर्थ-प्रबन्धन बडी मात्रा मे किया गया और सन् 1957 58 मे घाटे के अर्थ-प्रबन्धन की राशि कुल मुद्रा पूर्ति की 20 6% हो गयी। भारतीय नियोजित अर्थ व्यवस्था के इतिहास मे सन् 1957-58 वर्ष मे घाटे का अर्थ-प्रबन्धन सबसे अधिक किया गया। इसका नतीजा मूल्यो मे वृद्धि के रूप मे सामने आने लगा और मूल्यों की निरन्तर वृद्धि एव बढती हुई बेरोजगारी को देखकर नियोजको द्वारा योजना के सरकारी क्षेत्र के व्यय को कम किया गया और घाटे के अर्थ प्रबन्धन को भी कम किया गया। मूल्य-स्तर फिर बढते रहने के कारण सन् 1960 61 मे घाटे के अर्थ प्रबन्धन की राशि ऋणात्मक हो गयी। द्वितीय

योजनाकाल में रहन-सहन की लागत के निर्देशांक में 29 2% और थोक मूल्य-निर्देशांक में 35% की वृद्धि हुई। मुद्रा-प्रसार के दबाव के बढ़ने के कारण कृषि एवं औद्योगिक उत्पादन में सम्भावना से कम वृद्धि होना, उचित मूल्य-नीति का न होना, गैर-विकास-व्यय में अधिक वृद्धि होना तथा प्रतिकूल जलवायु थे।

तृतीय योजना—द्वितीय योजना की मूल्य-वृद्धि को देखते हुए तृतीय योजना में घाटे के अर्थ-प्रबन्धन के सीमित उपयोग का प्रस्ताव किया गया। इसी कारण इस योजनाकाल में केवल 550 करोड़ रुपये के घाटे के अर्थ-प्रबन्धन का आयोजन किया गया परन्तु वास्तविक राशि 975 करोड़ रु हुई अर्थात् घाटे के अर्थ-प्रबन्धन की आयोजित राशि की लगभग दुगुनी राशि से घाटे का अर्थ-प्रबन्धन तृतीय योजना में किया गया। इतनी अधिक राशि से घाटे का अर्थ-प्रबन्धन करने के कारण मुद्रा-स्फीति का दबाव अर्थ-व्यवस्था पर और अधिक बढ़ गया, जैसा निम्न आंकड़ों से ज्ञात होता है

तालिका 14—तृतीय योजना में घाटे का अर्थ-प्रबन्धन

वर्ष	घाटे का अर्थ-प्रबन्धन (करोड़ रुपयों में)	जनता के पास मुद्रा की पूर्ति (करोड़ रु में)	रहन सहन की लागत का निर्देशांक (1949=100)	खाद्य-पदार्थों का मूल्य-निर्देशांक (1952-53=100)	थोक मूल्य-निर्देशांक (1952-53=100)	मुद्रा-पूर्ति से घाटे के अर्थ-प्रबन्धन का प्रतिशत
1961-62	194 0	3,046	127	120 1	125 1	6 3
1962 63	91 0	3,310	131	126 1	127 9	2 7
1963-64	202 0	3,752	137	136 8	135 3	5 4
1964-65	136 0	4,080	157	159 9	152 7	3 3
1965-66	352 0	4,530	769	168 8	165 1	7 7

तृतीय योजनाकाल में घाटे का अर्थ-प्रबन्धन तथा बढ़ती हुई इकाइयों का कम उपयोग सन् 1962 के चीन एवं सन् 1965 के पाकिस्तान-आक्रमण के दौरान किया गया और इस साधन से प्राप्त वित्तीय साधनों का उपयोग युद्ध के व्यय की पूर्ति के लिए किया गया जिससे मुद्रा-स्फीति का दबाव निरन्तर बढ़ता गया। रहन-सहन की लागत के निर्देशांक में 36 3% की वृद्धि हुई और खाद्य पदार्थों का मूल्य-निर्देशांक 40 7% से बढ़ गया। योजनाकाल के पाँच वर्षों में थोक मूल्य-निर्देशांक में 32% की वृद्धि हुई।

वार्षिक योजनाएँ—सन् 1966-67 में केन्द्र एवं राज्य सरकारों के बजटों में कुल घाटा 177 करोड़ रुपये था जिसके फलस्वरूप खाद्य-पदार्थों एवं थोक मूल्यों के निर्देशांकों में सन् 1965-66 की तुलना में क्रमशः 19% एवं 16% की वृद्धि हुई। सन् 1967-68 वर्ष में 280 करोड़ रुपये का बजट का घाटा था जिससे मूल्यों में और वृद्धि हुई। इस वर्ष के थोक मूल्यों के निर्देशांक में 11% की वृद्धि हुई और खाद्य-पदार्थों के मूल्य-निर्देशांक में 18% की वृद्धि हुई। इस प्रकार तृतीय योजना के पाँच वर्षों तथा उसके बाद की दो वार्षिक योजनाओं में मूल्य स्तर में निरन्तर वृद्धि होती रही।

सन् 1968-69 वर्ष में 382 करोड़ रुपये का कुल बजट का घाटा था। इस वर्ष में थोक मूल्यों के निर्देशांक में 1 1% की कमी हुई जिसका प्रमुख कारण खाद्य-पदार्थों के मूल्य निर्देशांक में 4 5% की कमी था। सन् 1967-68 एवं 1968-69 में कृषि-क्षेत्र में विशेष प्रगति होने के कारण खाद्य-पदार्थों की पूर्ति में वृद्धि हुई जिसके फलस्वरूप मूल्यों में कमी होना प्रारम्भ हुई। 1966 69 की तीन वार्षिक योजनाओं के अर्थ-साधनों में कुल 839 करोड़ रुपये के हीनार्थ-प्रबन्धन का उपयोग किया गया।

चतुर्थ योजना—चतुर्थ योजना में 850 करोड़ रुपये के घाटे के अर्थ-प्रबन्धन का आयोजन

किया गया जो योजना के सरकारी क्षेत्र के व्यय का 6% से भी कम है यद्यपि कृषि क्षेत्र के उत्पादन की प्रगति योजनाकाल मे बनी रहने पर तथा मानसून प्रतिकूल नही होने पर इस राशि के घाटे के अर्थ प्रबन्धन से मूल्यो मे विशेष वृद्धि न होने का अनुमान था। खाद्यान्नो एव अन्य कच्चे मालो का जो बफर स्टाक केन्द्रीय सरकार द्वारा स्थापित किया गया उससे भी मूल्यो की वृद्धि को नियन्त्रित रखना सम्भव था।

तालिका 15—सन 1966-67 से सन 1973-74 तक घाटे का अर्थ प्रबन्धन

वर्ष	राज्य एव केन्द्र सरकार के बजटो का कुल घाटा (करोड रुपया)	जनता के पास मुद्रा की पूर्ति (करोड रुपया)	थोक मूल्य-निर्देशाक (1961 62 =100)	मुद्रा-पूर्ति से घाटे के अर्थ प्रबन्धन का प्रतिशत
1966 67	177	4 930	149 9	3 6
1967 68	280	5 350	167 3	4 3
1968 69	382	5 779	165 4	6 6
1969 70	—13	6 387	171 6	—
1970 71	426	7 140	181 1	6 0
1971 72	808	8 138	188 4	9 9
1972 73	876	9 413	207 1	9 3
1973 74	554	10 836	254 4	5 0

उपर्युक्त तालिका (15) के आंकडो से ज्ञात होता है कि चौथी योजनाकाल के पाच वर्षों मे केन्द्र एव राज्य सरकारो के बजटो का कुल घाटा लगभग 2 651 करोड रुपये था। यह राशि योजना के सरकारी क्षेत्र के व्यय की लगभग 17% थी। मुद्रा पूर्ति मे निरन्तर वृद्धि होने के कारण मूल्यो मे वृद्धि होना स्वाभाविक था विशेषकर ऐसी परिस्थिति मे जबकि मुद्रा की पूर्ति म राष्ट्रीय आय की वृद्धि की तुलना मे अधिक वृद्धि होती है।

पाचवी योजना मे मूल्यों को स्थिर रखने के लिए विशेष महत्व दिया गया और घाटे के अर्थ प्रबन्धन को योजना के अर्थ साधनो म सीमित स्थान दिया गया। योजना की प्रस्तावित रूप रेखा मे हीनार्थ प्रबन्धन की राशि 1 000 करोड रुपये तक सीमित रखने का लक्ष्य रखा गया था परन्तु योजना की अन्तिम रूपरेखा मे हीनार्थ प्रबन्धन की आयोजित राशि 1 354 करोड रुपये रखी गयी जो योजना के आयोजित व्यय की लगभग 4% थी। योजना के प्रथम वर्ष 1974 75 मे मुद्रा की पूर्ति बढकर 11 659 करोड रुपये हो गयी और बजट का कुल घाटा 752 करोड रुपये हुआ जो मुद्रा पूर्ति का 6 5% था। 1975 76 मे मुद्रा की पूर्ति 12 632 करोड रुपये थी और बजट का घाटा 291 करोड रुपये था अर्थात मुद्रा पूर्ति का बजट का घाटा केवल 2 3% था। 1976 77 मे मुद्रा की पूर्ति बढकर 15 844 करोड रुपये हो गयी और बजट का कुल घाटा 506 करोड रुपये (सशोधित अनुमान) था। 1977 78 वर्ष म बजट के घाटे की राशि मे अत्यधिक वृद्धि होने का अनुमान है (लगभग 975 करोड रुपये) जबकि इस वर्ष मे मुद्रा पूर्ति मे 14 से 15 वृद्धि होने की सम्भावना है।

मुद्रा पूर्ति मूल्य वृद्धि एव आर्थिक प्रगति मे घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। मुद्रा पूर्ति की वृद्धि का एक महत्वपूर्ण कारण हीनार्थ प्रबन्धन होता है। मुद्रा पूर्ति के अन्य साधनो मे सरकार द्वारा रिजर्व बैंक म अपने विदेशी विनिमय के सचय के विरुद्ध मुद्रा का आहरण होता है। 1977-78 वर्ष मे 800 करोड रुपये को मुद्रा रिजर्व बैंक से आहरण करने की व्यवस्था की गयी। राष्ट्रीय आय वृद्धि, मुद्रा पूर्ति वृद्धि एव मूल्य स्तर की वृद्धि का तुलनात्मक अध्ययन अग्रांकित तालिका (16) मे किया जा सकता है

29

मौद्रिक नीति एवं आर्थिक प्रगति

[MONETARY POLICY AND ECONOMIC DEVELOPMENT]

मौद्रिक नीति द्वारा मुद्रा-साख एव मुद्रा के अन्य प्रतिस्थापनो के प्रवाह को नियन्त्रित किया जाता है जिससे किसी अर्थ-व्यवस्था की इन तरल सम्पत्तियों की समस्त माँग एव पूर्ति को प्रभावित किया जा सके। मुद्रा की यान्त्रिकता पर सचालित अर्थ-व्यवस्था मे मुद्रा की पूर्ति के नियन्त्रण से साधनों के विभिन्न क्रियाओ पर होने वाले आवटन पर गम्भीर प्रभाव पडता है। किसी भी अर्थ-व्यवस्था के विनियोजन की गतिविधि एव प्रकार को मुद्रा एव साख-नियन्त्रण द्वारा प्रभावित किया जा सकता है। अर्थ-व्यवस्था के वास्तविक साधनो का उपयोग तीन प्रकार से किया जाता है—निजी उपभोग, सरकारी चालू व्यय, तथा निजी एव सरकारी विनियोजन। मौद्रिक नीति द्वारा देश के साधनो के इन तीनो स्रोतो मे होने वाले प्रवाह को नियन्त्रित किया जाता है। विकासोन्मुख राष्ट्रो मे मौद्रिक नीति निजी उपभोग को कम करके साधनो को विनियोजन मे प्रवाहित करने के लिए उपभोग की जाती है। मौद्रिक नीति के अन्तर्गत ब्याज-दर मे हेर-फेर, साख का सकुचन अथवा विस्तार करके स्तर मे वृद्धि अथवा कमी करके निजी अथवा सरकारी उपभोग को कम या अधिक किया जाता है जिससे साधनो को विनियोजन एव पूँजी-निर्माण हेतु अधिक अथवा कम परिमाण मे उपलब्ध कराया जा सके। पूँजी-निर्माण आर्थिक प्रगति का प्रमुख अग होती है और आर्थिक प्रगति की दर पूँजी-निर्माण की दर से प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध होती है और पूँजी-निर्माण की दर विनियोजन के लिए उपलब्ध साधनो पर निर्भर रहती है। विनियोजन हेतु अधिक साधन उपलब्ध कराने के लिए उपभोग-व्यय को नियन्त्रित करना आवश्यक होता है जो मौद्रिक नीति द्वारा सम्भव होता है। विनियोजन-परिमाण के अतिरिक्त मौद्रिक नीति द्वारा विनियोजन के प्रकार को भी नियन्त्रित किया जाता है। आर्थिक प्रगति की तीव्र गति एव स्थायित्व के लिए वाछित क्षेत्रो मे विनियोजन बढाने के लिए मौद्रिक नीति के अन्तर्गत इन क्षेत्रो को साख आदि की सुविधाएँ प्रदान की जाती है। इस प्रकार मौद्रिक नीति द्वारा यद्यपि अर्थ-व्यवस्था के विद्यमान साधनो मे किसी समय वृद्धि करना सम्भव तो नही होता परन्तु उपलब्ध साधनो का वांछित उपयोग करना सम्भव हो सकता है। यही कारण है कि मौद्रिक नीति नियोजित आर्थिक प्रगति का आधारभूत यन्त्र मानी जाती है।

मौद्रिक नीति के उद्देश्य

नियोजित अर्थ-व्यवस्था मे उपभोग एव विनियोजन पर नियन्त्रण राजकोषीय नीति द्वारा प्राप्त किया जाता है क्योकि राजकोषीय नीति द्वारा जनसाधारण को क्रय-शक्ति एव वित्तीय साधनो पर नियन्त्रण प्राप्त किया जा सकता है। एक ओर कर एव शुल्क साधारणतया समाज के विभिन्न वर्गों की क्रय-शक्ति को नियन्त्रित करते है और दूसरी ओर विनियोजन के साधन उपलब्ध कराते है, परन्तु राजकोषीय नीति की प्रभावशीलता मौद्रिक नीति पर निर्भर रहती है। अर्थ-व्यवस्था मे आर्थिक क्रियाओ की वृद्धि के साथ मौद्रिक अधिकारी को साख के परिमाण मे पर्याप्त वृद्धि करनी होती है जिससे बढते हुए व्यवहारो के लिए मुद्रा की कमी न महसूस हो। साख-पत्र द्वारा मुद्रा-स्फीति की प्रवृत्तियों को भी रोका अथवा नियन्त्रित किया जाता है। मौद्रिक नीति के विभिन्न उद्देश्यो को अग्रवत् वर्गीकृत किया जा सकता है :

(1) **मूल्य-स्तर मे स्थिरता**—प्राचीन अर्थशास्त्रियो के विचारो के अनुसार केन्द्रीय बैंक का प्रमुख काय मुद्रा-बाजार को नियन्त्रित करना था और इस नियन्त्रण के लिए ब्याज-दर का उपयोग किया जाता था। केन्द्रीय बैंक उद्योग एव कृषि को प्रत्यक्ष रूप से ऋण प्रदान नही करता था। वह मुद्रा की लागत (ब्याज) एव पूर्ति को नियन्त्रित करता था जिसके परिणामस्वरूप उत्पादन की लागत एव मूल्य नियन्त्रित होते थे। इस प्रकार मौद्रिक नीति का मुख्य उद्देश्य मूल्यो को स्थिर रखना होता था।

(2) **मुद्रा के अर्घ की निरन्तरता**—आधुनिक अर्थशास्त्रियो द्वारा आर्थिक प्रगति की प्रक्रिया को गतिशील रखने के लिए बढता हुआ मूल्य-स्तर आवश्यक समझा जाता है परन्तु मूल्य-स्तर मे अत्यधिक वृद्धि आर्थिक प्रगति के लिए उपयुक्त नही समझी जाती है क्योकि इससे मुद्रा मे स्थगित भुगतान के प्रभाव के रूप मे विश्वास घटने लगता है। ऐसी अर्थ व्यवस्था मे, जहाँ निजी साहसी वर्ग बहुत बडा हो, मुद्रा के अर्घ का स्थायित्व आवश्यक होता है जिसमे मूल्यो की प्रारम्भिक कमी अथवा वृद्धि विनियोजन की गतिविधि पर प्रतिकूल प्रभाव न डाल सके। मौद्रिक नीति द्वारा मुद्रा के अर्घ को कुछ सीमा तक स्थिरता प्रदान की जा सकती है।

(3) **विनिमय-स्थिरता**—जब किसी देश का विदेशी व्यापार अधिक होता है, तो आन्तरिक *मूल्य स्तर पर देश के अन्दर की परिस्थितियो का ही प्रभाव नही पड़ता है वरन् अन्तर्राष्ट्रीय* बाजारो के मूल्य स्तर एव लागत की स्थिति का प्रभाव भी मूल्य स्तर पर पडता है। ऐसी परिस्थिति मे आन्तरिक मूल्य-स्तर के उच्चावचानो को नियन्त्रित करने के लिए विनिमय-स्थिरता *की आवश्यकता होती है जो मौद्रिक नीति के अन्तर्गत की गयी कार्यवाहियो से प्रभावित की* जाती है।

(4) **आर्थिक स्थिरता**—कीन्सियन अर्थशास्त्र के प्रभाव के कारण मौद्रिक नीति को *आर्थिक उच्चावचानो को नियन्त्रित करने का साधन माना जाने लगा है। मन्दीकाल (Depression)* मे मुद्रा की पूर्ति मे वृद्धि एव सस्ती मुद्रा-नीति द्वारा अर्थ-व्यवस्था के मौद्रिक व्यय एव प्रभावशाली माग मे वृद्धि करना सम्भव हो सकता है जिसके परिणामस्वरूप मन्दी की प्रवृत्तियो को कम किया जा सकता है और बेरोजगार, कम विनियोजन, मूल्यो की गिरावट आदि प्रतिकूल परिस्थितियो से अर्थ-व्यवस्था को बचाया जा सकता है। इस प्रकार मौद्रिक नीति व्यापार-चक्रो के दबाव को कम करने मे सहायक होती है।

(5) **मौद्रिक नीति राजकोषीय नीति को प्रभावशाली बनाने मे सहायक**—*मौद्रिक नीति* एव राजकोषीय नीति एक ही गाडी के दो पहियो के समान है। मौद्रिक नीति के अन्तर्गत साख की लागत का निर्धारण होता है और बचत पर ब्याज की दर निर्धारित होती है। इस प्रकार मौद्रिक *नीति बचत एव साख की मात्रा के निर्धारण मे सहायक होती है। दूसरी ओर, राजकोषीय नीति* के अन्तर्गत जन-ऋण के माध्यम से बचत का सग्रह करने का प्रयत्न किया जाता है। मौद्रिक नीति के अन्तर्गत निर्धारित ब्याज-दर के आधार पर जन ऋण की लागत निर्भर करती है। इसी प्रकार *कर एव बचत मे भी घनिष्ट सम्बन्ध होता है। कर का निर्धारण राजकोषीय नीति के अन्तर्गत* होता है जबकि बचत ब्याज-दर पर निर्भर रहती है, जो मौद्रिक नीति पर निर्भर रहती है। जब कर भार अधिक हो जाता है तो बचत ऊँची ब्याज-दर होने पर भी कम मात्रा मे उपलब्ध होती है। *विकासोन्मुख अर्थ व्यवस्था मे जहाँ विकास विनियोजन वृद्धि के लिए हीनार्थ-प्रबन्धन* का उपयोग किया जाता है, मौद्रिक नीति हीनार्थ प्रबन्धन के दोषो को रोकने मे समर्थ हो सकती है। वास्तव मे, हीनार्थ प्रबन्धन के कारण बढी हुई आय का पर्याप्त अश बचत हेतु आकर्षित करने का कार्य मौद्रिक नीति का ही होता है।

(6) **मौद्रिक नीति साधनो का प्रवाह वाछित क्षेत्रो मे करने मे सहायक होती है**—मौद्रिक नीति के माध्यम से साख का प्रवाह प्राथमिकता-प्राप्त एव वाछित क्षेत्रो मे किया जा सकता है। प्राथमिकता-प्राप्त क्षेत्रो के लिए कम ब्याज की दरो पर साख एव ऋण प्रदान करने की व्यवस्था को

जाती है और गैर-प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रो के लिए ब्याज की दर ऊँची रखने के साथ-साथ साख की मात्रा को सीमित कर दिया जाता है। इस प्रकार साख के साधनो का प्रवाह वांछित क्षेत्रों मे किया जा सकता है।

(7) **विदेशी व्यापार पर वांछित प्रभाव**—मौद्रिक नीति द्वारा देश के आयात एवं निर्यात पर वांछित प्रभाव डालने का प्रयास किया जाता है। जब आयात को बढाने की आवश्यकता होती है तो मुद्रा की विदेशी विनिमय-दर ऊँची निर्धारित कर दी जाती है जिससे देश को सस्ते मूल्य पर आयात उपलब्ध हो जाते हैं। यह तभी सम्भव हो सकता है जबकि अन्य राष्ट्रो को उक्त देश के निर्यातों को क्रय करना आवश्यक होता है और इनके भुगतान के लिए उन देशों को अपने निर्यात देना अनिवार्य हो जाता है। अल्प-विकसित राष्ट्रो मे प्राय इसके विपरीत स्थिति रहती है। इन राष्ट्रो को विकसित राष्ट्रो से कुछ अनिवार्य आयात तो करने होते है परन्तु अपने निर्यात बढाने के लिए अपनी विदेशी विनिमय-दर नीची रखनी पडती है। अल्प-विकसित राष्ट्रो मे सस्ते मूल्य पर आयात प्राप्त करने के स्थान पर निर्यात-संवर्द्धन को अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता है और इसीलिए ये देश अपनी विनिमय-दर को समय समय पर कम करके अपने निर्यातो को सस्ते मूल्य पर अन्तर्राष्ट्रीय बाजारो मे भेज पाते है, यद्यपि विनिमय-दर कम होने पर इन देशो को आयातों का अधिक मूल्य भुगतान करना पडता है। इस प्रकार मौद्रिक नीति के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को सन्तुलित किया जाता है।

(8) **आर्थिक प्रगति**—मुद्रा की पूर्ति मे उपयुक्त वृद्धि होने पर आर्थिक क्रियाओ मे नियमित एव व्यवस्थित विस्तार सम्भव हो सकता है। इसके विपरीत, मुद्रा की पूर्ति मे आवश्यकता से कम वृद्धि होने पर आर्थिक प्रगति की गति मन्द रह सकती है।

दूसरी ओर, कुछ अर्थशास्त्रियो का यह विचार है कि मुद्रा एक निष्क्रिय साधन होता है और उसकी पूर्ति मे परिवर्तन करने से आय एव व्यय के परिवर्तन करना सम्भव नही हो सकता है क्योंकि अर्थ व्यवस्था के वास्तविक साधनो का परिमाण मुद्रा की पूर्ति के परिवर्तनो से प्रभावित नही होता और न ही प्रभावशाली माँग मे परिवर्तन होता है। वास्तव मे, अन्तिम वस्तुओ एव सेवाओ पर होने वाला व्यय मुद्रा की पूर्ति को निर्धारित करता है अर्थात् जब कुल प्रभावशाली माँग मे परिवर्तन होने पर उत्पादन, मजदूरी तथा मूल्यो मे परिवर्तन होता है तो इन परिवर्तनो के कारण मुद्रा के परिमाण मे परिवर्तन होता है।

उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि आर्थिक प्रगति के निर्वाह के लिए मुद्रा एव साख का उपयुक्त प्रसार आवश्यक होता है परन्तु मौद्रिक कार्यवाहियो से आर्थिक प्रगति एव विस्तार की प्रक्रिया को प्रारम्भ एव गतिशील किया जा सकता है। इस बात के सम्बन्ध मे अर्थशास्त्रियो मे मतभेद है। वास्तव मे मुद्रा एव साख की पूर्ति मे परिवर्तन करके आर्थिक विस्तार तभी सम्भव हो सकता है जबकि अर्थ-व्यवस्था मे ऐसे वास्तविक साधन विद्यमान हो, जिनका अभी उपयोग न किया जा रहा हो अर्थात् मुद्रा एव साख का विस्तार उपयोग न हुए इन साधनो को उत्पादक उपयोग मे लाने का एक साधन हो सकता है। इतना ही नही, मुद्रा एव साख नियन्त्रणो द्वारा देश के विभिन्न क्षेत्रो मे उपयोग होने वाले वास्तविक साधनो को अवांछित क्षेत्रो से हटाकर वांछित क्षेत्रो की ओर प्रवाहित किया जा सकता है। अल्प विकसित राष्ट्रो मे विकास का प्रारम्भ करने के लिए पहले उत्पादक साधनो का विकास करना होता है और जब उत्पादक साधनो की उपलब्धि मे वृद्धि हो जाती है तो साख-नियन्त्रण द्वारा इन साधनो को विकास के लिए वांछित क्षेत्रो की ओर प्रवाहित किया जा सकता है। इस प्रकार विकास की प्रक्रिया मे वास्तविक भौतिक साधनो का स्थान प्रथम होता है और इन साधनो के उपयुक्त उपयोग के लिए साख-योजना की आवश्यकता होती है।

अल्प-विकसित राष्ट्रो मे विकास की प्रक्रिया के अन्तर्गत मुद्रा-स्फीति का उदित होना अत्यन्त स्वाभाविक होता है। जब मुद्रा एव साख-प्रसार द्वारा विनियोजन को बढाया जाता है तो विनियोजन की यह वृद्धि एक ओर निजी आय एव उपभोग मे वृद्धि कर देती है और दूसरी ओर

तात्रिकता की अकुशलता पूंजी की कमी एवं पूंजीगत वस्तुओं के उत्पादन को नवीन विनियोजन में अधिक महत्व देने के कारण उपभोक्ता व वस्तुओं की पूर्ति में माँग के अनुरूप वृद्धि नहीं होती है जिसके परिणामस्वरूप मुद्रा स्फीति का दूषित चक्र प्रारम्भ हो सकता है परन्तु इस दूषित चक्र को नियन्त्रित किया जा सकता है यदि मौद्रिक नीति का उपयोग केवल विकास की गति बढाने के लिए ही न किया जाय बल्कि विकास उद्देश्य के साथ मौद्रिक नीति द्वारा आर्थिक स्थिरता को भी बनाये रखने के प्रयत्न जारी रखे जाय। विनियोजन में वृद्धि करने के लिए मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि करना आवश्यक होता है परन्तु मुद्रा की वृद्धि का कुछ भाग साख के विस्तार के लिए उपयोग हो जाता है क्योंकि जब इस बढी हुई मुद्रा एवं विनियोजन के फलस्वरूप उदय हुई अतिरिक्त आय का कुछ भाग बैंकों में जमा कर दिया जाता है तो इस जमा द्वारा बैंक साख का विस्तार कर देते है। इस प्रकार मुद्रा की वृद्धि के साथ साथ साख का भी विस्तार होता है जो मुद्रा स्फीति के दबाव के बढने का मूल कारण हो जाता है। यदि बैंक साख को नियन्त्रित कर दिया जाय तो मुद्रा-स्फीति के दबाव को बढने से रोका जा सकता है। बैंक साख को नियन्त्रित करने का तात्पर्य यह नहीं है कि बैंकों के साख विस्तार के अधिकार को ही समाप्त कर दिया जाय। विनियोजन की वृद्धि की गति का निर्वाह करने के लिए बैंक साख का विस्तार भी आवश्यक होता है। ऐसी परिस्थिति में बैंक द्वारा साख नियन्त्रण का प्रमुख उद्देश्य साख का ऐसे विनियोजकों के लिए उपयोग करना होता है जिससे दीर्घकालीन विकास सम्भव हो सके। इस कार्य के लिए केन्द्रीय बैंक की सेवाओं का उपयोग किया जाता है जो समय समय पर बैंकों को साख वितरण के सम्बन्ध में निर्देश जारी कर यह निर्धारित करता है कि किन किन क्षेत्रों को साख अतिरिक्त सुविधाओं अथवा कठोर शर्तों पर प्रदान की जाय। उपयुक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि मौद्रिक नीति के विकास सम्बन्धी उद्देश्यों के दो अंग है—प्रथम आर्थिक प्रगति की गति को बढाना तथा द्वितीय आर्थिक स्थिरता का प्रवर्तन करना। प्रथम उद्देश्य की पूर्ति के लिए मुद्रा एवं साख का प्रसार किया जाता है और द्वितीय उद्देश्य के लिए साख के प्रसार एवं उपयोग को नियन्त्रित किया जाता है। दूसरे शब्दों में यह भी कह सकते है कि आर्थिक प्रगति हेतु मौद्रिक नीति द्वारा साख एवं मुद्रा का नियन्त्रित विस्तार किया जाता है। आर्थिक प्रगति का प्रवर्तन करने हेतु मौद्रिक अधिकारी को निम्नलिखित कार्यवाहियाँ करनी चाहिए

आर्थिक प्रगति हेतु म[illegible]।

(1) मौद्रिक अधिकारी को आर्थिक प्र[illegible] मान के अनुरूप मुद्रा की पूर्ति में पर्याप्त वृद्धि करनी चाहिए। प्रगति के साथ साथ मुद्रा की माँग में वृद्धि होना स्वाभाविक होता है। अल्प [illegible] में जब विकास का प्रारम्भ किया जाता है तो ऐसे क्षेत्रों में जहाँ अभी तक मुद्रा का उपयोग नहीं होता था (विशेषकर ग्रामीण इकाइयों में) जब मुद्रा का उपयोग होने लगता है जिससे मुद्रा की माँग में वृद्धि हो जाती है। प्रगति की प्रक्रिया के गतिशील होने पर राष्ट्रीय एवं प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि होती है जिससे अर्थ व्यवस्था में सामान्य व्यवहारों के लिए अधिक मुद्रा की आवश्यकता होती है। जैसे जैसे विकास आगे बढता है और माँग की विविधता का विस्तार होता है मुद्रा की माँग में और वृद्धि होती जाती है। आर्थिक प्रगति के अन्तर्गत अर्थ व्यवस्था में वित्तीय संस्थाओं का भी विस्तार होता है क्योंकि बचत करने वालों से विनियोजन करने वालों तक साधनों को प्रवाहित करने की क्रिया में तीव्र गति से वृद्धि हो जाती है। इन संस्थाओं की तरल साधनों की आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए मौद्रिक अधिकारी को मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि करना आवश्यक होता है।

(2) आर्थिक प्रगति की प्रक्रिया को गतिशील करने के लिए मौद्रिक अधिकारी साधनों के गुणात्मक एवं परिमाणात्मक उपयोग को निर्देशित करता है। साख को उन समूहों की ओर प्रवाहित करना होता है जिनके आक्रामक व्यय से देश के वास्तविक उत्पादन में वृद्धि सम्भव हो सकती है तथा वित्तीय सम्पत्तियों को उन समूहों की ओर प्रवाहित करना होता है जिनका आक्रामक व्यय अधिक वास्तविक साधनों की उत्पादकता बढाने हेतु आवश्यक होता है अर्थात मौद्रिक क्रियाओं द्वारा

उपभोक्ता-वर्ग से तरल साधनों को वित्तीय सम्पत्तियों (अंश, बॉण्ड, ऋणपत्र आदि) के विरुद्ध प्राप्त किया जाता है और इन तरल साधनों को अर्थ-व्यवस्था के विनियोजक-वर्ग को उपलब्ध कराया जाता है जिससे उत्पादक क्रिया में वृद्धि सम्भव हो सके।

(3) आन्तरिक बचत बढ़ाने हेतु मौद्रिक अधिकारी को ऐसी संस्थाओं की स्थापना करनी होती है जो जनसाधारण से आय का अतिरेक प्राप्त करें तथा उसे उत्पादक क्रियाओं को संचालित करने वाले समूहों की ओर प्रवाहित कर सकें। मौद्रिक अधिकारी को बचत जमा करने की सुविधाओं में भी वृद्धि करनी होती है।

(4) मौद्रिक अधिकारी मुद्रा-बाजार की अपूर्णताओं को दूर करता है तथा मुद्रा बाजार का नियमन करता है। मुद्रा बाजार में कुशल मौद्रिक एवं साख-संस्थाओं की स्थापना एवं विस्तार किया जाता है।

(5) कृषि-क्षेत्र की उत्पादकता बढ़ाने हेतु कृषि-साख व्यवस्था में मौद्रिक अधिकारी को सुधार करना चाहिए।

(6) मौद्रिक अधिकारी को उद्योगों के लिए दीर्घकालीन साख की व्यवस्था करनी चाहिए। इसके लिए औद्योगिक वित्त संस्थाओं की स्थापना एवं विस्तार होना चाहिए। केन्द्रीय बैंक औद्योगिक वित्त हेतु एक पृथक् विभाग संचालित करके औद्योगिक वित्त का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले सकता है।

मौद्रिक नीति एवं मुद्रा-स्फीति पर नियन्त्रण

अल्प-विकसित राष्ट्रों में विनियोजन के परिमाण में वृद्धि करने हेतु मौद्रिक नीति के अन्तर्गत मुद्रा का प्रसार किया जाता है। विकास के अभिलाषी-कार्यक्रमों के अन्तर्गत जब साधनों की वास्तविक उपलब्धि से अधिक विनियोजन किया जाता है (अर्थात् उपभोग के क्षेत्र में उपयोग में आने वाले साधनों के कुछ भाग को विनियोजन के क्षेत्र में लिया जाता है) तो मूल्य-स्तर में प्रारम्भिक वृद्धि होती है। मूल्यों की इस प्रारम्भिक वृद्धि का दूसरा कारण अर्थ-व्यवस्था में कृषि एवं औद्योगिक क्षेत्र का असन्तुलित विकास भी होता है। यह मुद्रा-स्फीति की प्रथम अवस्था होती है जो अपने आप में अधिक दोषयुक्त नहीं होती परन्तु जब मूल्य-वृद्धि की यह प्रवृत्ति जारी रहती है और मुद्रा एवं साख की वृद्धि द्वारा इसे पुष्टि मिलती रहती है तो उसे मुद्रा-स्फीति की द्वितीय अवस्था कहते हैं। इस अवस्था में एक मूल्य-वृद्धि दूसरी मूल्य-वृद्धि को प्रोत्साहित करती है और मूल्य-वृद्धि का दूषित चक्र प्रारम्भ हो जाता है। द्वितीय अवस्था के प्रारम्भ होने पर मौद्रिक नीति का प्रारम्भ होता है और मुद्रा-स्फीति को नियन्त्रित करने के लिए बहुत सी मौद्रिक कार्यवाहियाँ की जाती हैं। मौद्रिक नीति के द्वारा बैंकों के साख-विस्तार की क्षमता को नियन्त्रित किया जाता है जिससे अर्थ-व्यवस्था में स्थिरता का तत्व उदय होता है। मुद्रा-स्फीति की इस द्वितीय अवस्था का मूल कारण साख-विस्तार होता है और क्योंकि मौद्रिक कार्यवाहियों द्वारा साख को नियन्त्रित करना सम्भव होता है, मौद्रिक नीति को मुद्रा-स्फीति के नियन्त्रण का महत्वपूर्ण तन्त्र माना जाता है।

अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में मुद्रा की पूर्ति एवं मूल्य-स्तर में अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध होता है क्योंकि इन अर्थ-व्यवस्थाओं में देश की मुद्रा पर लोगों का विश्वास कम होता है और वह अपनी बचत मुद्रा के रूप में रखना पसन्द नहीं करते हैं। अल्प-विकसित राष्ट्रों में लोगों का जीवन स्तर निम्न श्रेणी का होता है और उनकी उपभोग-इच्छा अति तीव्र होती है। ऐसी परिस्थिति में मुद्रा की पूर्ति की वृद्धि का अधिकतर भाग बाजार के व्यवहार के लिए उपलब्ध होता है जिसके परिणामस्वरूप मूल्यों की वृद्धि को प्रोत्साहन मिलता है। इन राष्ट्रों में विकास के साथ लोगों की क्रय शक्ति में वृद्धि होने से माँग में वृद्धि होती है। परन्तु वस्तुओं एवं सेवाओं में शीघ्र वृद्धि करना सम्भव नहीं होता क्योंकि उत्पादन के क्षेत्र में बहुत सी रुकावटें होती हैं। इस प्रकार कम आय वाले देशों में मुद्रा एवं साख के विस्तार की प्रतिक्रिया मूल्य-स्तर पर प्रत्यक्ष होती है। इन परिस्थितियों को ध्यान

में रखकर हम कह सकते हैं कि अल्प-विकसित राष्ट्रों में साख-नियन्त्रण द्वारा मुद्रा-स्फीति के दबाव का नियन्त्रित करना सम्भव हो सकता है।

जब सरकार द्वारा विनियोजन में वृद्धि करने हेतु केन्द्रीय बैंक से ऋण लिया जाता है तो इसका प्रभाव साख एवं मूल्य स्तर दोनों पर पड़ता है। जब सरकार इस ऋण को व्यय करती है तो बाजार में माँग बढ़ने के कारण मूल्य-स्तर में वृद्धि हो जाती है। दूसरी ओर, सरकारी विनियोजन-वृद्धि से निजी क्षेत्र में भी अधिक विनियोजन करने के लिए प्रोत्साहन मिलता है और निजी क्षेत्र अपनी विनियोजन-वृद्धि के लिए व्यापारिक बैंकों से साख प्राप्त करता है। इस प्रकार सरकारी क्षेत्र एवं निजी क्षेत्र दोनों के द्वारा विनियोजन हेतु वास्तविक साधनों को पर्याप्त परिमाण में प्राप्त करने हेतु प्रतिस्पर्द्धा होती है जिसके परिणामस्वरूप मूल्य स्तर में वृद्धि होती है। सरकारी व्यय में वृद्धि होने से उदय हुई अतिरिक्त व्यक्तिगत आय का कुछ भाग बैंकों को जमा के रूप में प्राप्त होता है जिससे बैंक साख में विस्तार करते हैं। जब तक निजी क्षेत्र को बैंकों से साख प्राप्त होती रहती है, *निजी क्षेत्र विनियोजन-वृद्धि करता रहता है और मूल्य-वृद्धि का चक्र जारी रहता है।* केन्द्रीय बैंक द्वारा सरकार को जितनी अधिक साख प्रदान की जाती है उसका उतना अधिक प्रभाव मूल्य वृद्धि पर पड़ता है और इस मूल्य-वृद्धि को रोकने के लिए मौद्रिक अधिकारी को निजी क्षेत्र को दिये जाने वाली बैंकों की साख को उतना ही अधिक नियन्त्रित करने की आवश्यकता होती है।

मौद्रिक नीति की इस प्रकार की प्रमुख क्रिया साख-नियन्त्रण होती है। साख-नियन्त्रण हेतु निम्नलिखित कार्यवाहियाँ की जाती हैं

साख-नियन्त्रण की विधियाँ

(1) **बैंक-दर में हेर-फेर**—केन्द्रीय बैंक बैंक दर में हेर-फेर कर साख की लागत को *घटा बढ़ा सकता है। साख का संकुचन करने हेतु बैंक दर को बढ़ा दिया जाता है जिसके परिणाम* स्वरूप बैंक भी अपनी ब्याज-दर बढ़ा देते हैं और अर्थ-व्यवस्था में साख महँगी हो जाती है परन्तु अल्प विकसित राष्ट्रों में बैंक-दर द्वारा साख-नियन्त्रण अधिक प्रभावशाली नहीं होता है। इन राष्ट्रों में बैंक अपने अतिरिक्त तरल साधनों का अल्पकालीन सरकारी प्रतिभूतियों में विनियोजित कर देते हैं *और बैंक-दर बढ़ने पर केन्द्रीय बैंक से तरल साधन प्राप्त करने के स्थान पर* इन सरकारी प्रतिभूतियों का बेच देते हैं और तरल साधन प्राप्त कर साख का स्तर बनाये रखते हैं। इसके अतिरिक्त अल्प विकसित राष्ट्रों में बैंकों द्वारा उपभोग हेतु साख प्रदान नहीं की जाती है। बैंक-दर में वृद्धि होने पर साख की उपलब्धि कम हो जाने से उपभोग-व्यय पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। *उपभोग के लिए प्राय असंगठित मुद्रा-बाजार से साख ली जाती है जिसकी ब्याज दरों पर* बैंक दर का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। अल्प-विकसित राष्ट्रों में बैंकों के पास आवश्यकता से अधिक तरल साधन रहते हैं और बैंक-दर के परिवर्तनों से इनकी तरलता पर तुरन्त कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। इस प्रकार बैंक-दर अल्पकालीन साख पर कोई प्रभाव नहीं डाल पाती है। इन्हीं कारणों से बैंक-दर को *साख-नियन्त्रण की प्रभावशाली विधि नहीं मानते हैं।*

(2) **खुले बाजार की क्रियाएँ**—खुले बाजार की क्रियाओं के अन्तर्गत साख नियन्त्रण हेतु केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियों का क्रय एवं विक्रय करता है। प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय तभी प्रभावशाली हो सकता है जबकि *अर्थ-व्यवस्था में विस्तृत एवं सुसंगठित प्रतिभूति बाजार हो।* इसके अतिरिक्त खुले बाजार की क्रियाओं की सफलता के लिए व्यापारिक बैंकों को निश्चित नकद-संचय रखना आवश्यक हो तथा बैंक तरल साधनों व बिलों आदि को केन्द्रीय बैंक में पुन भुनाकर प्राप्त न करते हों। *अल्प-विकसित राष्ट्रों में प्राय* संगठित प्रतिभूति-बाजार नहीं होते हैं। दूसरी ओर, *व्यापारिक बैंक भी स्थिर नकद संचित अनुपात नहीं रखते हैं।* व्यापारिक बैंक प्राय अपने पास अतिरिक्त नकद, सोना एवं विदेशी विनिमय के रूप में तरल साधन रखते हैं जिसके परिणामस्वरूप केन्द्रीय बैंक खुले बाजार की क्रियाओं से इनके तरल साधनों एवं साख-निर्माण की शक्ति को *नियन्त्रित करने में असमर्थ रहता है।*

(3) **अधिक अनिवार्य संचिति**—व्यापारिक बैंकों द्वारा अपनी जमा-राशि के निश्चित अनुपात मे अनिवार्य रूप से सचिति रखने का आयोजन किया जाता है। साख पर नियन्त्रण करने हेतु इस सचय का अनुपात बढा दिया जाता है जिसके परिणामस्वरूप व्यापारिक बैंकों के अतिरिक्त तरल साधनो मे कमी हो जाती है और साख-निर्माण की क्षमता भी सकुचित होती है परन्तु अल्प-विकसित राष्ट्रो मे व्यापारिक बैंको के पास अतिरिक्त तरल साधनो का परिमाण अत्यधिक होता है और अनिवार्य तरल सचिति बनाने के बाद भी उनके पास साख-निर्माण के लिए पर्याप्त साधन उपलब्ध रहते है। यदि अनिवार्य सचिति का अनुपात बहुत ऊँचा कर दिया जाता है तो व्यापारिक बैंक अल्प-कालीन सरकारी प्रतिभूतियो का विक्रय कर साख-निर्माण हेतु तरल साधन प्राप्त कर लेते है, विशेष-कर ऐसी परिस्थितियों मे जब केन्द्रीय बैंक अनिवार्य नकद-सचिति के उपयोग की प्रतिभूतियो के मूल्यो को स्थिर रखने के लिए अनुमति प्रदान कर देता है। इन सब कमियो के होते हुए भी अनिवार्य सचिति-पद्धति साख नियन्त्रण के लिए अधिक प्रभावशाली होती है।

(4) **चयनात्मक साख-नियन्त्रण**—साख-नियन्त्रण की उपर्युक्त विधियो की कठिनाइयो को ध्यान मे रखते हुए चयनात्मक साख-नियन्त्रण को विकासोन्मुख राष्ट्रो मे अधिक महत्व दिया जाता है। इन राष्ट्रो मे सबसे बडी आवश्यकता होती है—अर्थ-व्यवस्था के उत्पादक क्षेत्रों का विस्तार और इन क्षेत्रो के विस्तार के लिए पर्याप्त साख उपलब्ध होना आवश्यक होता है परन्तु इन राष्ट्रो मे उपलब्ध साख का उपयोग परिकाल्पनिक व्यवहारो (Speculative Transactions), आवश्यक वस्तुओं के अधिग्रह (Hoarding) भवन-निर्माण क्रियाओ तथा व्यापार करने हेतु करने की प्रवृत्ति पायी जाती है जिसके परिणामस्वरूप एक ओर वास्तविक उत्पादन-क्रियाओ के लिए पर्याप्त साख उपलब्ध नही होती है और दूसरी ओर अर्थ-व्यवस्था मे मूल्य-स्तर मे वृद्धि हो जाती है। ऐसी परिस्थिति मे चयनात्मक साख-नियन्त्रण द्वारा उत्पादक क्रियाओं एव परिकाल्पनिक क्रियाओं को साख प्रदान करने के सम्बन्ध मे भेद कर दिया जाता है और उचित अथवा सुविधाजनक शर्तों पर वांछित उत्पादक क्षेत्रो को साख प्रदान की जाती है। केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंको को निर्देश देता है कि किन उत्पादक क्षेत्रों को सुविधाजनक शर्तों (कम ब्याज-दर, भुगतान की सहूलियत आदि) पर साख प्रदान की जाय तथा किन क्षेत्रो को साख अधिक ब्याज पर अथवा दण्डात्मक ब्याज पर और किनको साख बिलकुल प्रदान न की जाय। जब बैंक प्रतिबन्धित क्षेत्रो को साख प्रदान करते है तो उन्हे केन्द्रीय बैंक को दण्ड के रूप मे ब्याज का कुछ प्रतिशत भुगतान-स्वरूप देना पड़ता है। चयनात्मक साख-नियन्त्रण के अन्तर्गत बैंको द्वारा जन-उपभोग की वस्तुओं के सग्रह के विरुद्ध पेशगी देने पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाता है क्योंकि अल्प-विकसित राष्ट्रो मे इन वस्तुओं के मूल्यो द्वारा अर्थ-व्यवस्था का सामान्य मूल्य स्तर निर्धारित होता है।

भारत में मौद्रिक नीति

भारत मे मौद्रिक नीति की विभिन्न विधियों का उपयोग विकास एव आर्थिक स्थिरता—दोनों ही उद्देश्यो की पूर्ति मे योगदान देने के लिए किया गया है। भारत मे नियोजित विकास की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह रही है कि मुद्रा-प्रसार प्रेरित वित्तीय व्यवस्था (Inflationary financing) पर अधिक निर्भरता रखी गयी है। प्रत्येक अगली योजना मे हीनार्थ-प्रबन्धन को अर्थ-साधनो के स्रोत के रूप मे अधिक महत्व प्रदान किया जाता रहा है। प्रथम योजना मे मौद्रिक नीति द्वारा परिकाल्पनिक (Speculative) विनियोजन को रोकना और विपणि मे अधिक आय प्रवाहित करने के उद्देश्यो की प्राप्ति का प्रयत्न किया गया। द्वितीय योजना मे मुद्रा-साख-प्रसार द्वारा अधिक विनियोजन करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया। तृतीय योजना मे भी मुद्रा-प्रसार के तत्व सम्मि-लित रखे गये। चौथी योजना मे सुदृढता के साथ विकास का आयोजन किया गया और साख-सस्थाओ का पुनर्निर्माण (बैंक राष्ट्रीयकरण द्वारा) किया गया। हमारे देश मे मौद्रिक नीति के परम्परागत तत्वो का उपयोग किया गया है। हमारी मौद्रिक नीति के उद्देश्य अग्रवत् रहे हैं :

(1) मूल्य-स्तर में स्थिरता।

(2) मुद्रा की नियन्त्रित पूर्ति जिसमे मुद्रा-पूर्ति द्वारा वास्तविक आय-वृद्धि बनी रहे।

(3) मुद्रा पूर्ति के विस्तार को प्रतिबन्धित करना।

(4) अर्थ-साधनो को प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रो मे प्रवाहित करना।

(5) संग्रहण (Hoarding) एव परिकाल्पनिक क्रियाओ के लिए बैंक-साख की उपलब्धि पर रोक।

(6) लघु उद्योगपतियो एव उत्पादको को उचित शर्तो पर साख प्रदान करना।

(7) साख का न्यायोचित भौगोलिक वितरण।

(8) ब्याज-दर की उपयुक्त सरचना स्थापित करना।

(9) निजी क्षेत्र के विनियोजन को नियमित करना।

मौद्रिक नीति के अंग

(1) **परिवर्तनीय नकद-सचिति-अनुपात**—सन् 1960-61 मे इस विधि को अधिक प्रभावशाली माना गया। सितम्बर, 1962 मे रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम एव बैंकिंग कम्पनी अधिनियम मे सशोधन करके अनिवार्य नकद-सचिति एव तरलता-सचिति के पृथक् पृथक अनुपात निर्धारित कर दिये गये जिससे बैंक अधिक नकद-सचिति के प्रभाव को अपने तरल साधनो से नष्ट न कर सके। अब बैंको को अपने समस्त दायित्वों का 6% नकद-सचिति (माँग एव सावधिक दायित्वो का भेद समाप्त कर दिया गया) रखने का आयोजन किया गया। इसके अतिरिक्त बैंको को अपने समस्त दायित्वो का 33% के बराबर तरल साधन—नकद, सोना, सरकारी प्रतिभूतियाँ आदि—के रूप में रखना अनिवार्य कर दिया गया। इस प्रकार बैंको को अब अपने कुल दायित्वो का कम से कम 39% के बराबर तरल साधन रखना अनिवार्य कर दिया गया। इसके अतिरिक्त 14 जनवरी 1977 के बाद जो माँग एव सावधिक दायित्व उदय हुए है उन पर 10% अतिरिक्त नकद-सचिति रखने की व्यवस्था कर दी गयी है। इस प्रकार बैंको को 14 जनवरी, 1977 तक की निक्षेप की राशियो का 61% भाग और 14 जनवरी 1977 के बाद के निक्षेपो का 51% भाग ही उपयोग करने का अधिकार दिया गया है।

(2) **खुले बाजार की क्रियाएँ**—खुले बाजार की क्रियाओ द्वारा साख पर नियन्त्रण तभी सम्भव हो सकता है जबकि देश मे सरकारी प्रतिभूतियो के लिए विस्तृत एव सक्रिय बाजार हो। ऊँचा तरलता अनुपात निर्धारित करने से बैंको द्वारा सरकारी प्रतिभूतियो के व्यवहार सीमित मात्रा मे किये जा सकते थे। दूसरी ओर जीवन बीमा निगम द्वारा जीवन बीमा फण्ड के साधनो का उपयोग प्रतिभूतियो के क्रय के लिए किया जाता है जिसके कारण सरकारी प्रतिभूतियो का निरन्तर क्रय-विक्रय सम्भव नही होता। इन्ही कारणो से देश मे सक्रिय प्रतिभूति-बाजार विद्यमान नही हैं और खुले बाजार की क्रियाएँ अधिक प्रभावशाली नही हो सकी है।

(3) **चयनात्मक साख-नियन्त्रण**—भारत मे इस विधि का उपयोग लगभग एक दशक से प्राय कृषि पदार्थो के विरुद्ध प्रदान किये जाने वाले साख को नियन्त्रित करने के लिए किया जा रहा है। रिजर्व बैंक समय-समय पर बैंको को निर्देश जारी करता है जिनमे पेशगियो के विरुद्ध जमानत की सीमा को घटाया-बढाया जाता है अथवा विभिन्न वस्तुओ के विरुद्ध अधिकतम पेशगी की सीमा (Margin) निर्धारित की जाती है। जमानत की सीमा बढाने का तात्पर्य यह है कि जिस सग्रह के विरुद्ध बैंक पेशगी देता है, उसके मूल्य का कितना प्रतिशत जमानत के रूप मे कम कर शेष पेशगी दी जा सकती है। दूसरी ओर, पेशगी की अधिकतम सीमा उन्ही महीनो मे पिछले वर्षो मे किसी वस्तु के सग्रह के विरुद्ध बैंक द्वारा दी गयी पेशगी की राशि के प्रतिशत के रूप मे निर्धारित की जाती है। इन दोनो नियन्त्रणो का उपयोग कपास, जूट, तिलहन वनस्पति तेल, खाद्यान्न, चावल, धान आदि के विरुद्ध दी जाने वाली पेशगियो के लिए किया गया है। इन पेशगियो की ब्याज दर 13% कर दी गयी है।

(4) बैंक-दर—भारतवर्ष मे साख-नियन्त्रण के लिए बैंक-दर का सर्वाधिक उपयोग किया गया है। मई, 1957 से चली आ रही 4% बैंक-दर को फरवरी, 1965 मे बढाकर 6% किया गया जो मई, 1968 तक जारी रही। मई, 1968 मे बैंक-दर को घटाकर 5% कर दिया गया परन्तु अक्टूबर, 1960 से सितम्बर, 1964 तक रिजर्व बैंक द्वारा प्रत्येक सदस्य-बैंक को उसके द्वारा रखे जाने वाली अनिवार्य नकद-सचिति के आधार पर कोटा निर्धारित किया गया। निर्धारित कोटा की राशि के बराबर व्यापारिक बैंक रिजर्व बैंक से बैंक-दर पर ऋण ले सकती थी परन्तु इस कोटा से अधिक राशि के लिए व्यापारिक बैंक को बैंक-दर के अतिरिक्त दण्डात्मक ब्याज देना पड़ता था। इस दण्डात्मक ब्याज की दरें विभिन्न स्लैबो (Slabs) के आधार पर निर्धारित की गयी थी। फरवरी, 1965 मे बैंक-दर बढाकर 6% कर दी गयी जो मार्च, 1968 मे फिर घटकर 5% रखी गयी। जून, 1971 मे बैंक-दर को फिर 7% कर दिया गया। मई, 1973 मे बैंक-दर बढाकर 7% और मूल्यो की वृद्धि को ध्यान मे रखते हुए साख-सकुचन हेतु बैंक-दर जुलाई, 1974 मे 9% कर दी गयी। देश के आर्थिक इतिहास मे इस समय बैंक-दर सर्वाधिक है।

(5) शुद्ध तरलता-अनुपात (Net Liquidity Ratio)—सितम्बर, 1964 मे कोटा एव स्लैब-पद्धति को समाप्त कर दिया गया और इसके स्थान पर विभेदात्मक ब्याज-दर पद्धति को प्रारम्भ किया गया जिसके अन्तर्गत ब्याज की दर मे सदस्य-बैंक की शुद्ध तरलता की स्थिति के अनुसार परिवर्तन होता था। बैंक की समस्त नकद-जमा, रिजर्व बैंक एव अन्य बैंको मे चालू खाते तथा स्वीकृत प्रतिभूतियो मे बैंक के कुल विनियोजन की राशि मे से बैंक द्वारा रिजर्व बैंक स्टेट बैंक एव औद्योगिक विकास बैंक से लिये गये ऋणो को घटाकर जो राशि बनती थी उसे शुद्ध तरलता अनुपात का नाम दिया गया। साख-नियन्त्रण के लिए न्यूनतम तरलता-अनुपात को माँग एव सावधिक दायित्वो का 39% कर दिया गया है। जब किसी बैंक का तरलता-अनुपात उसके दायित्वो के 39% के बराबर आता था तो उस बैंक की बैंक-दर पर रिजर्व बैंक ऋण प्रदान करता था। शुद्ध तरलता-अनुपात मे न्यूनतम प्रतिशत मे कमी होने पर ऋण पर ब्याज की दण्डात्मक दर 12% तक निर्धारित कर दी गयी। सन् 1975-76 वर्ष मे पुनर्वित्त-सुविधाओं को प्रदान करने हेतु शुद्ध तरलता-अनुपात-पद्धति के स्थान पर अब आधारभूत पुनर्वित्त की सीमा माँग एव समय-दायित्वो (जो सितम्बर, 1975 के अन्तिम शुक्रवार को थी) के 1% के बराबर 10% ब्याज की स्थिर दर पर निर्धारित की जाती है। खाद्यान्नो के वन-सग्रहण की क्रिया के लिए पुनर्वित्त प्रदान करने का सूत्र भी समायोजित किया गया है। अन्य सभी प्रकार की पुनर्वित्त की सुविधाओ का निर्णय रिजर्व बैंक के अधिकार मे दे दिया गया है।

सन् 1976 के वार्षिक औसत से जितना अधिक निर्यात-साख प्रदान किया जायेगा उसके लिए रिजर्व-बैंक द्वारा पुर्नवित्त 10 5% की दर पर दिया जाता है। खाद्यान्न को सग्रहण-साख के लिए अभी तक 1,000 करोड़ रुपये से अधिक जितनी भी साख दी जाती थी उसके 50% भाग के लिए रिजर्व बैंक पुर्नवित्त देता था परन्तु जून, 1977 से 1,500 करोड़ रुपये से जितनी अधिक साख दी जायेगी उसके 50% के लिए पुर्नवित्त 10% ब्याज-दर पर दिया जायेगा। इस प्रकार रिजर्व बैंक की पुर्नवित्त की सुविधा को कम कर दिया गया है और पुर्नवित्त की लागत को बढा दिया गया है।

दूसरी ओर, जून 1977 से बिलो के विरुद्ध जो वित्त रिजर्व बैंक द्वारा 9% दर पर बिलो की पोर्टफोलियो राशि के 10% तक प्रदान किया जाता था उसको रिजर्व बैंक ने बन्द कर दिया है और अब यह वित्त रिजर्व बैंक द्वारा निर्धारित शर्तो एव लागतो पर प्रदान किया जायेगा।

(6) बैंको की शुद्ध तरलता अनुपात के आधार पर प्राप्त रियायती पुर्नवित्त के अधिकारो को समाप्त कर दिया गया है।

(7) रिजर्व बैंक की ऋण प्रदान करने की अधिकतम दर 15% कर दी गयी है।

(8) व्यापारिक बैंको द्वारा ग्राहको को दी जाने वाली पेशगियो की न्यूनतम ब्याज-दर

11% कर दी गयी है। तीन वर्ष की अवधि से अधिक समय के ऋणों पर ब्याज-दर 14% से घटाकर 12.5% कर दी गयी है। सावधिक जमा (Fixed Deposit) पर ब्याज की दरों को कम कर दिया गया है जिससे बैंक की साख की लागत कम हो जाय और पूँजी-विनियोजन हेतु साख सस्ती दर पर प्रदान की जा सके।

पाँचवीं योजना का प्रारम्भ अत्यन्त कठिन वित्तीय परिस्थितियों में हुआ। दौड़ता हुआ मुद्रा-प्रसार (Runaway Inflation) खनिज तेल के बढ़े हुए मूल्यों के कारण विदेशी विनिमय के साधनों पर अत्यधिक भार देश में विद्यमान आर्थिक अनुशासनहीनता आदि ऐसी परिस्थितियाँ थीं जिनसे योजना के प्रारूप में मूलभूत परिवर्तन करके ही उसके मूल उद्देश्यों—गरीबी-उन्मूलन एवं आत्म-निर्भरता—की पूर्ति करना सम्भव हो सकता था। वित्तीय कठिनाइयों के लिए कठोर मौद्रिक एवं राजकोषीय अनुशासन की आवश्यकता थी। जून, 1975 में आपातकाल की घोषणा के पश्चात देश में मौद्रिक अनुशासन में आश्चर्यजनक रूप से सुधार हुआ। सभी सरकारी विभागों द्वारा अपने व्यय में मितव्ययता करने के कठोर कदम उठाये गये। मुद्रा-पूर्ति की वृद्धि की दर में सन् 1974-75 में एवं सन् 1975-76 एवं 1976-77 में क्रमश: 6·9%, 11·3% एवं 17·1% की वृद्धि हुई जबकि सन् 1973-74 में मुद्रा-पूर्ति में 15·4% की वृद्धि हुई थी। बैंक-साख का विस्तार भी इस काल में सीमित रहा। साख में चयनात्मक नीति का उपयोग निरन्तर जारी रहा और कृषि, जन-उपयोग की वस्तुओं, निर्यात, सार्वजनिक क्षेत्र की इकाइयों, निजी क्षेत्र में केन्द्रित क्षेत्र (Core Sector) की इकाइयों तथा लघु इकाइयों आदि की साख-आवश्यकताओं की पूर्ति को प्राथमिकता प्रदान की गयी।

जून 1977 में केन्द्र सरकार द्वारा मौद्रिक नीति में मूलभूत परिवर्तन किये गये। साख-नियन्त्रणों को कठोर कर दिया गया और निक्षेपों की ब्याज-दरों को कम कर दिया गया। 1976-77 में मुद्रा-पूर्ति में विदेशी विनिमय की पश्चिमी एशिया से अधिक प्राप्ति के कारण अधिक वृद्धि हुई और स्फीति-दर 2% ही रही है। इस परिस्थिति को ध्यान में रखकर विनियोजन एवं उत्पादन में वृद्धि करने, निर्यात को बढ़ाने एवं उपभोक्ता-वस्तुओं तथा औद्योगिक कच्चे मालों के आयात को वित्त प्रदान करने के लिए मौद्रिक नियन्त्रणों को और कठोर कर दिया गया तथा विनियोजन हेतु अधिक साधन कम लागत पर प्रदान करने की व्यवस्था की गयी। तेलों के मूल्यों में अधिक वृद्धि होने के कारण तेलों के संग्रह के विरुद्ध मार्जिन (Security Margin) में 10% की वृद्धि कर दी गयी।

भारत की मौद्रिक नीति में बैंक की दर को थोड़ा ऊँचा रखकर एवं निर्धारित सीमाओं से अधिक ऋण पर कठोर दर निर्धारित कर साख को नियन्त्रित करने के प्रयत्न किये गये हैं। ब्याज-दर का उपयोग चयनात्मक ढंग से किया गया है जिससे वांछित क्षेत्रों को उचित लागत पर ऋण प्राप्त हो सके तथा ब्याज की कठोर दरों से समस्त अर्थ-व्यवस्था प्रभावित न हो। बैंक-दर तथा कोटा एवं स्लैब (Quota-cum-Slab) पद्धति का उपयोग रिजर्व बैंक द्वारा मुद्रा-स्फीति को नियन्त्रित करने के लिए किया गया है। महँगी मुद्रा (Dear Money) की नीति से मूल्य-स्तर को नियन्त्रित करने में कुछ सीमा तक सफलता भी प्राप्त हुई है परन्तु महँगी मुद्रा की नीति एवं कठोर साख-नियन्त्रण के फलस्वरूप साख की माँग में पर्याप्त वृद्धि सम्भव नहीं हो सकी है। रिजर्व बैंक द्वारा प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रों को ही ऋण प्रदान करने के निर्देशों के फलस्वरूप व्यापारिक बैंकों के पास साधन उपलब्ध होते हुए भी गैर-प्राथमिकता-प्राप्त क्षेत्रों, जैसे शक्कर एवं वस्त्र-उद्योग में साख की कमी महसूस की गयी। भारतीय मौद्रिक नीति ने अर्थ-व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने में केवल सीमान्त सहायता ही प्रदान की है। मौद्रिक नीति की सफलता राजकोषीय नीति की प्रभावशीलता पर निर्भर रहती है। भारत में राजकोषीय नीति उत्पादन-प्रधान (Production-Oriented) न होने के कारण मौद्रिक नीति को भी अधिक सफलता प्राप्त नहीं हुई।

व्यापारिक बैंकों पर सामाजिक नियन्त्रण

व्यापारिक बैंको की साख-व्यवस्था पर रिजर्व बैंक का कठोर नियन्त्रण होते हुए भी निरन्तर यह महसूस किया जाता रहा कि बैंक-साख का अधिक लाभ केवल बडे-बडे व्यवसायो को ही मिलता है जिससे देश मे एकाधिकारिक मनोवृत्तियाँ सुदृढ होती जा रही है। जाँच द्वारा यह भी ज्ञात हुआ कि बैंक-साख वांछित क्षेत्रो मे प्रवाहित नही हो पाती है। इन्ही कारणो से बैंको पर और अधिक नियन्त्रण करने हेतु बैंकिंग अधिनियम, सन् 1949 मे सशोधन करने हेतु 23 दिसम्बर, 1967 को एक बिल लोकसभा मे पेश किया गया। इसके अन्तर्गत यह व्यवस्था की गयी कि बैंको के सचालक-मण्डल मे कम से कम 51% सदस्य ऐसे व्यक्ति रखे जाये जिन्हे कृषि, ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था, लघु उद्योग, उद्योग, सहकारिता, बैंकिंग, अर्थशास्त्र, वित्त व विधिलेखा-प्रणाली आदि का विशेष ज्ञान या व्यावहारिक अनुभव हो। सचालक-मण्डल मे बहुमत ऐसे सचालको का नही होना था जो बडे या मध्यम श्रेणी के औद्योगिक उपक्रमो मे विशेष हित या सम्बन्ध रखते हों। प्रत्येक भारतीय बैंक का अध्यक्ष एक पेशेवर बैंकर होना था जिसकी नियुक्ति एव बर्खास्तगी रिजर्व बैंक की अनुमति से होनी थी। इस बिल द्वारा बैंकों को अपने सचालको अथवा उन सस्थाओ को जिनमे उनकी रुचि हो, सुरक्षित अथवा अरक्षित नवीन ऋण या पेशगी देने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। अकेक्षकों की नियुक्ति भी रिजर्व बैंक की अनुमति से करने का आयोजन कर दिया गया। बैंक-साख से सम्बन्धित नीति का निर्धारण करने के लिए एक राष्ट्रीय साख परिषद की स्थापना की गयी जिसका अध्यक्ष वित्तमन्त्री को रखा गया।

बैंको के सामाजिक नियन्त्रण की कार्यविधि के लगभग $1\frac{1}{2}$ वर्ष के अनुभव से ज्ञात हुआ कि सामाजिक नियन्त्रण द्वारा वांछित उद्देश्यो की पूर्ति सम्भव नही हो सकी। साख-नियन्त्रण हेतु जो निर्देश रिजर्व बैंक द्वारा समय-समय पर जारी किये गये उनकी वास्तविक भावनाओं का पालन नही किया गया। कृषि-क्षेत्र को भी व्यापारिक बैंको ने निर्धारित ऋण प्रदान नही किया और कृषि-ऋण के लिए निर्धारित राशि की पूर्ति राज्य सरकारो एव अन्य सस्थाओ को रासायनिक खाद के लिए ऋण देकर कर दी गयी। कृषको और विशेषकर छोटे कृषको को बैंक-साख का लाभ प्राप्त नही हो सका। प्राथमिकता-प्राप्त क्षेत्रो को निर्धारित साख की पूर्ति भी इसी प्रकार की गयी और सम्बन्धित नये निर्देशो की उचित भावना मे पूर्ति नही की गयी। रिजर्व बैंको द्वारा सचालको को हटाने का अधिकार भी विशिष्ट परिस्थितियो मे ही उपयोग किया जा सकता था। यद्यपि सचालक-मण्डलो मे उद्योगपति अल्पमत मे थे परन्तु गैर-उद्योगपति सचालक-उद्योगपतियो के प्रभाव मे न रहे, इस बात का कोई ठोस आश्वासन नही था। सामाजिक नियन्त्रण की इन दुर्बलताओं को ध्यान मे रखकर राष्ट्रपति द्वारा 19 जुलाई 1969 को 14 बड़े बैंको के राष्ट्रीयकरण के लिए अध्यादेश जारी कर दिया गया जो 9 अगस्त, 1969 को अधिनियम बन गया और 19 जुलाई 1969 मे लागू कर दिया गया।

भारतीय बैंको का राष्ट्रीयकरण

भारत जैसे विकासोन्मुख राष्ट्र मे आर्थिक प्रगति हेतु आर्थिक, सामाजिक एव राजनीतिक क्षेत्रो की सस्थनीय सरचना मे परिवर्तन होना आवश्यक होता है। बैंको का भारत मे राष्ट्रीयकरण इसी प्रकार का एक सस्थनीय परिवर्तन है जो देश के केवल आर्थिक जीवन को ही प्रभावित नही करेगा अपितु इसके द्वारा नवीन सामाजिक एव राजनीतिक शक्तियो के उदय होने की भी सम्भावना है जो देश के आर्थिक विकास को नवीन मोड दे सकेंगे। भारत मे बैंक-राष्ट्रीयकरण वास्तव मे एक ऐसी आर्थिक क्रिया है जिसके द्वारा देश के कार्यक्रमो हेतु सामाजिक एव राजनीतिक सरचना मे आवश्यक परिवर्तन करना सम्भव हो सकेगा। बैंको का राष्ट्रीयकरण इस प्रकार की विभिन्न क्रियाओं की शृंखला की एक कडी है और ऐसी ही अन्य क्रियाओ की सम्भावना भविष्य मे की जा सकती है।

विकासोन्मुख राष्ट्रो मे बैंको का आर्थिक प्रगति की प्रक्रिया मे महत्वपूर्ण योगदान होता है, क्योकि यह एक ओर राष्ट्र की बचत को एकत्रित करते है और दूसरी ओर साख का आवटन

करते है। बचत का एकत्रित करना एव साख का आवटन दोनो ही ऐसी क्रियाएँ है जिनका यदि उपयुक्त सचालन न किया जाय तो आर्थिक प्रगति की गति मन्द हो सकती है और अर्थ व्यवस्था मे असन्तुलित विकास हो सकता है। इतना ही नही, बैंक-साख का राष्ट्रीय उद्देश्यो एव हितो के अनुकूल आवटन न किया जाय तो देश मे सामाजिक एव आर्थिक विषमता बढ सकती है और देश की राजनीति पर पूँजीपति-वर्ग का दवाव गहन हो सकता है। किसी भी अर्थ-व्यवस्था मे एकाधिकारो की *स्थापना का प्रमुख कारण बैंक-साख होती है। ऐसी परिस्थिति मे बैंक-साख को नियन्त्रित करना* आवश्यक होता है। भारत मे बैंक-राष्ट्रीयकरण के प्रमुख उद्देश्य राष्ट्रीय बचत मे वृद्धि, सार्वजनिक क्षेत्र के लिए बैंको से पर्याप्त साधन उपलब्ध करना साधनो को वाछित क्षेत्रो मे प्रवाहित करना, कृषि लघु उद्योग एव अन्य उपेक्षित क्षेत्रो मे बैंक साख की सुविधा का विस्तार करना, सार्वजनिक आय वृद्धि करना आर्थिक विषमताओ को कम करना, चोरबाजारी एव अन्य जनविरोधी कार्यवाहियो द्वारा एकत्रित धन को ज्ञात करना, कर की चोरी को कम करना आदि हैं। राष्ट्रीयकरण का प्रमुख उद्देश्य साख पर नियन्त्रण करना है जिससे साख-नीति विकास-कार्यक्रमो के अनुरूप सचालित की जा सके। सक्षेप मे यह भी कह सकते है कि बैंक-राष्ट्रीयकरण द्वारा सरकार विकासोन्मुख साख नीति का सचालन प्रभावशाली ढग से कर सकेगी।

बैंको के $4\frac{1}{2}$ वर्ष के राष्ट्रीयकरण के काल (जून, 1969 से सितम्बर, 1976) मे बैंको का सर्वांगीण विकास हुआ है। इस काल मे बैंक-शाखाएँ 9,011 से बढकर 23,655 हो गयी। इस प्रकार प्रति दस लाख जनसख्या पर बैंक-शाखाओ की सख्या 1969 मे 17 से 1975 मे 34 5 हो गयी। ग्रामीण क्षेत्रो की बैंक-शाखाओ का प्रतिशत 22 4% से बढकर अप्रैल, 1977 मे 36 1% हो गया। प्राथमिकता-प्राप्त क्षेत्रो—कृषि, लघु उद्योग एव व्यापार—को प्रदान की जाने वाली साख का कुल राष्ट्रीयकृत बैंक-साख का प्रतिशत 14 9% से बढकर 23% (जून, 1976) हो गया। बैंक-राष्ट्रीयकरण के सात वर्षो मे बैंक-शाखाओ का विस्तार ऐसे राज्यो मे अधिक किया गया है जिनमे बैंकिग-सुविधा अन्य राज्यो की तुलना मे कभी कम थी, जैसे बिहार, असम, जम्मू-कश्मीर, मध्य प्रदेश नागालैण्ड उडीसा तथा उत्तर प्रदेश। बैंक-निक्षेप 1969 मे राष्ट्रीय सकल उत्पादन का 13 1% था, जो 1977 (मार्च का अन्तिम शुक्रवार) मे 24% हो गया। 1969 मे बैंक-साख 3,396 करोड रुपये थी जो 1977 (मार्च) मे बढकर 13,145 करोड रुपये हो गयी। इन तथ्यो से यह स्पष्ट है कि राष्ट्रीयकरण के पश्चात देश मे बैंकिग एव साख-सरचना मे पर्याप्त सुधार हुआ है।

30

आर्थिक प्रगति में विदेशी सहायता का योगदान

[CONTRIBUTION OF FOREIGN AID IN ECONOMIC GROWTH]

आर्थिक विकास एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत विनियोजन एव उपभोग दोनों ही प्रकार के साधनों में वृद्धि करने की आवश्यकता होती है। अधिक विनियोजन करने के लिए पूंजीगत साधनों एव कच्चे माल की उपलब्धि को बढाने की आवश्यकता होती है और अधिक विनियोजन के परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आय मे वृद्धि होती है और जनसाधारण की क्रय-शक्ति बढ जाती है जिसके परिणामस्वरूप उपभोग-वस्तुओ की माँग की पूर्ति प्राय आन्तरिक साधनो से की जाती है परन्तु विकास के प्रारम्भिक काल मे निर्धन राष्ट्रो मे अधिक साधन आन्तरिक स्रोतो से प्राप्त करना सम्भव नही होता है और इसलिए विकास का प्रारम्भ करने के लिए विदेशी पूंजी की आवश्यकता होती है।

विदेशी पूंजी द्वारा एक ओर आन्तरिक बचत एव साधनो की कमी की पूर्ति की जाती है अर्थात् जब अर्थ-व्यवस्था मे बचत से अधिक विनियोजन करने का आयोजन किया जाता है तो इस विनियोजन एव बचत के अन्तर की पूर्ति विदेशी पूंजी द्वारा की जाती है। दूसरी ओर, विदेशी पूंजी द्वारा आयात एव निर्यात के अन्तर की पूर्ति की जाती है। जब अर्थ व्यवस्था मे विनियोजन आन्तरिक बचत से अधिक होता है तो पूंजीगत प्रसाधनो एव सेवाओ का बडी मात्रा मे आयात विदेशो मे करने की आवश्यकता होती है। विकास विनियोजन बढने के साथ आयात मे निरन्तर वृद्धि होती है परन्तु निर्यात मे मन्द गति से प्रगति होती है। ऐसी परिस्थिति मे प्रत्येक विकासोन्मुख राष्ट्र को विकास के प्रारम्भिक काल मे प्रतिकूल व्यापार एव भुगतान-शेष का सामना करना पडता है जिसकी पूर्ति विदेशी पूंजी द्वारा ही सम्भव हो सकती है।

विदेशी पूंजी और आर्थिक प्रगति

विश्व का आर्थिक इतिहास इस बात का द्योतक है कि विदेशी सहायता ने वर्तमान मे विकसित कहलाने वाले राष्ट्रो के विकास मे महत्वपूर्ण योगदान दिया है। विदेशी सहायता न केवल सहायता पाने वाले राष्ट्र के विकास मे ही सहायक हुई अपितु सहायता प्रदान करने वाले राष्ट्र के विकास को सुदृढ बनाने मे भी सहायक सिद्ध हुई। सत्रहवीं एव अठारहवीं शताब्दियों मे ब्रिटेन ने हॉलैण्ड से पूंजी का आयात करके आर्थिक प्रगति की उच्च श्रेणी प्राप्त की। उन्नीसवी शताब्दी मे सयुक्त राज्य अमेरिका की विकास-प्रक्रिया मे विदेशी पूंजी का विशेष योगदान रहा है। कनाडा मे बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ के तीन दशको मे विदेशी पूंजी द्वारा देश का औद्योगीकरण किया गया। स्वीडन, डेनमार्क आस्ट्रेलिया एव न्यूजीलैण्ड मे भी विकास-प्रक्रिया मे विदेशी सहायता का योगदान महत्वपूर्ण रहा है। इस ऐतिहासिक अवलोकन से यह स्पष्ट है कि आर्थिक विकास को गतिशील बनाने में विदेशी पूंजी विशेष स्थान रखती है। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात से विभिन्न अल्प विकसित राष्ट्रों में विकास का प्रारम्भ विदेशी सहायता के माध्यम से हो सका है। जैसा कि हमे ज्ञान है, अल्प-विकसित राष्ट्र निर्धनता के दूषित चक्र (Vicious Circle of Poverty) के गतिशील होने के कारण ही आर्थिक विपन्नता से पीडित हैं। इस दूषित चक्र को तोडने के लिए विदेशी साधनों

की आवश्यकता स्वाभाविक होती है जो विदेशी सहायता के माध्यम से उपलब्ध होते हैं। विदेशी पूंजी आर्थिक प्रगति में निम्नवत् योगदान प्रदान करती है

(1) **विदेशी विनिमय के साधनों की पूर्ति**—अल्प-विकसित राष्ट्रों की विकास-प्रक्रिया में पूंजीगत सम्पत्तियों एवं प्रमाधनों की अत्यधिक आवश्यकता होती है। पूंजीगत सम्पत्तियों एवं प्रमाधनों की प्राप्ति विदेशों से की जा सकती है जिसके लिए विदेशी विनिमय की आवश्यकता होती है जो निर्यात-अतिरेक अथवा विदेशी सहायता से ही पूरी की जा सकती है। अल्प-विकसित राष्ट्रों में निर्यात अतिरेक में वृद्धि करना सम्भव नहीं होता, क्योंकि निर्यात होने वाली वस्तुओं के उत्पादन में तेजी से वृद्धि करने के लिए इनके पास साधनों की कमी होती है। निर्यात-संवर्द्धन हेतु उत्पादन-क्षमता बढ़ाने की आवश्यकता होती है जिसे विदेशों से उत्पादक सम्पत्तियों, प्रमाधनों एवं तान्त्रिक ज्ञान का आयात करके ही बढ़ाया जा सकता है। इस प्रकार विकास के प्रारम्भिक काल में विदेशी विनिमय के क्षेत्र में प्रतिकूल भुगतान-शेष में निरन्तर वृद्धि होती है जिसकी पूर्ति में विदेशी सहायता की आवश्यकता होती है। विदेशी सहायता द्वारा निर्यात-संवर्द्धन एवं आयात-प्रतिस्थापन सम्बन्धी उत्पादन क्रियाओं का संचालन सम्भव हो सकता है जिससे अर्थ-व्यवस्था को दीर्घकाल में आत्म-निर्भरता प्राप्त होती है। विकास के लिए प्राथमिकता-प्राप्त परियोजनाओं के विदेशी विनिमय तत्व की पूर्ति किये बिना इन परियोजनाओं की स्थापना एवं संचालन करना सम्भव नहीं हो सकता है और विकास को गतिशील नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार विदेशी सहायता द्वारा ही विकास के लिए आधारभूत परियोजनाएँ संचालित करना सम्भव होता है। उत्पादक सम्पत्तियों की निर्माण-सम्बन्धी परियोजनाओं को पूरा करने में लम्बा समय लगता है और लम्बे समय में निरन्तर विदेशी विनिमय की आवश्यकता बनी रहती है। विदेशी सहायता द्वारा दीर्घकालीन विदेशी ऋण उपलब्ध होते हैं जिनका शोधन सम्बन्धित परियोजना के पूरे हो जाने के बाद प्रारम्भ होता है। इस प्रकार विदेशी सहायता का शोधन उससे स्थापित परियोजना से उत्पन्न हुए साधनों से करना सम्भव हो सकता है।

(2) **आन्तरिक बचत की न्यून उपलब्धि की पूर्ति**—अल्प-विकसित राष्ट्रों में व्यापक निर्धनता एवं वित्तीय संस्थाओं की कमी के कारण आन्तरिक बचत पर्याप्त परिमाण में उपलब्ध नहीं हो पाती है। विकास को गतिशील करने के लिए वृहद स्तर पर विनियोजन करने की आवश्यकता होती है। विनियोजन की पूर्ति आन्तरिक बचत से जब सम्भव नहीं होती है तो विदेशी सहायता का उपयोग करके विकास-विनियोजन का निर्वाह किया जाता है। जैसे-जैसे अर्थ-व्यवस्था में उत्पादन में वृद्धि होती है और वित्तीय संस्थाओं द्वारा आन्तरिक बचत प्रभावशाली ढंग से एकत्रित होने लगती है आन्तरिक बचत विनियोजन के अनुरूप होने लगती है और विदेशी सहायता की आवश्यकता कम हो जाती है। इस प्रकार विकास के प्रारम्भिक काल में विदेशी सहायता विकास विनियोजन का अनिवार्य अंग होती है।

(3) **पूंजी-निर्माण में सहायक**—*पूंजी-निर्माण की कमी अल्प-विकसित राष्ट्रों में विकास का* सबसे अधिक अवरोधक तत्व होता है। विदेशी सहायता द्वारा पूंजी-निर्माण की प्रक्रिया गतिशील होती है और पूंजी-निर्माण की दर में निम्नवत् वृद्धि होती है

(अ) विदेशी सहायता की उपलब्धि के फलस्वरूप बहुत सी ऐसी उत्पादक परियोजनाओं का निर्माण एवं संचालन सम्भव होता है जिनमें विदेशी एवं आन्तरिक दोनों ही प्रकार की पूंजी का विनियोजन किया जाता है। विदेशी पूंजी की उपलब्धि का आश्वासन मिल जाने पर साहसियों द्वारा आन्तरिक साधन एकत्रित कर लिये जाते हैं। यदि विदेशी पूंजी उपलब्ध न हो तो इन परियोजनाओं में उपयोग होने वाले आन्तरिक साधन भी उत्पादक क्रियाओं में नहीं लगाये जा सकेंगे। इस प्रकार जब विदेशी साधनों की उपलब्धि के फलस्वरूप परियोजनाओं के लिए आवश्यक उत्पादन, प्रमाधन, तान्त्रिक ज्ञान एवं कच्चा माल उपलब्ध हो जाता है, तो आन्तरिक साधनों का अधिक उत्पादक एवं

लाभप्रद उपयोग सम्भव होने के कारण आन्तरिक पूँजी गतिशील होती है जो पूँजी-निर्माण की दर में वृद्धि करती है।

(ब) विदेशी पूँजी के अन्तर्गत तान्त्रिक ज्ञान उपलब्ध होता है। तान्त्रिक ज्ञान एवं विशेषज्ञों की सहायता से अधिक उत्पादक तान्त्रिकताओं का उपयोग होता है। उत्पादन तान्त्रिकताओं में सुधार होने के कारण उत्पादन के परिमाण एवं लाभोपार्जन क्षमता में वृद्धि होती है जो अतिरिक्त पूँजी-निर्माण में सहायक होती है।

(स) विदेशी सहायता द्वारा नवीन परियोजनाओं का संचालन प्रारम्भ किया जाता है जिनमें बेरोजगार एवं अंशतः बेरोजगार श्रम को रोजगार के अवसर उपलब्ध होते हैं। रोजगार वृद्धि से एक ओर श्रम की आय एवं बचत में वृद्धि होती है और दूसरी ओर प्रभावशाली माँग भी अर्थ-व्यवस्था में बढ़ जाती है। ये दोनों ही घटक अधिक विनियोजन को प्रोत्साहित करते हैं।

(द) विदेशी सहायता विदेशी मुद्राओं में प्राप्त होती है जिसे बैंकों में जमा करके घरेलू मुद्रा में परिवर्तित कर लिया जाता है। इस प्रकार बैंकों की निक्षेप-स्थिति में सुधार होना है जिनसे वे अधिक साख का निर्माण करते हैं, जो उत्पादक क्रियाओं को गतिशील करती है और विकास-विनियोजन में वृद्धि होती है।

(य) विदेशी पूँजी की सहायता से विदेशी पेटेण्ट एवं व्यापार-चिह्नों का उपयोग करके उत्पादन किया जाता है जिससे ख्याति-प्राप्त पेटेण्ट एवं व्यापार चिह्नों की वस्तुओं को अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में बेचने में सुविधा होती है। इस प्रकार निर्यात-संवर्द्धन में सहायता मिलती है और विदेशी मुद्रा की अधिक उपलब्धि का उपयोग विकास-विनियोजन हेतु करना सम्भव होता है।

(4) अव-संरचना का विकास—विदेशी पूँजी के द्वारा देश में अव-संरचना (Infra-Structure) का व्यापक विस्तार विकास प्रक्रिया के अनुरूप करना सम्भव होता है। अव-संरचना के विस्तार द्वारा आर्थिक क्रियाएँ स्वतः गतिशील होती हैं और स्वचालित विकास की ओर देश अग्रसर होता है।

(5) विकास विनियोजन हेतु कम त्याग—विकास-विनियोजन में वृद्धि करने हेतु आन्तरिक उपभोग को प्रतिबन्धित करके बचत को बढ़ाने की आवश्यकता होती है। अल्प-विकसित राष्ट्रों में व्यापक निर्धनता के कारण पहले से ही जनसाधारण का उपभोग-स्तर अत्यन्त निम्न होता है और उसे अत्यधिक कम करने से जनसाधारण के शारीरिक एवं मानसिक विकास को आघात पहुँचता है जो श्रम-शक्ति की उत्पादकता पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है। विदेशी सहायता के उपलब्ध होने पर बचत की तुलना में जितना अधिक विकास विनियोजन करने की आवश्यकता होती है उसे उपभोग-स्तर को कम करने की बजाय विदेशी सहायता से पूरा कर लिया जाता है। इस प्रकार विकास के लिए वर्तमान पर त्याग का भार अत्यधिक नहीं पड़ता है।

(6) तान्त्रिक एवं प्रबन्धकीय योग्यताओं की पूर्ति—विदेशी सहायता द्वारा विकास-कार्यक्रमों के लिए विदेशी विशेषज्ञों की सेवाएँ प्राप्त करने के साथ अपने देश के नागरिकों को विदेशों एवं अपने देश में उच्च तकनीकी एवं प्रबन्धकीय प्रशिक्षण उपलब्ध कराया जा सकता है जिससे तकनीकी एवं प्रबन्धकीय क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले अवरोधों को रोकना सम्भव होता है और विकास की प्रक्रिया सुचारु रूप से संचालित होती है।

(7) मुद्रा स्फीति रहित विकास—विदेशी सहायता विकास-प्रक्रिया को मौद्रिक सन्तुलन के साथ संचालित करने के अवसर प्रदान करती है। आन्तरिक सुदृढ़ता एवं व्यापक सन्तुलन बनाये रखने के लिए यह आवश्यक होता है कि आन्तरिक विनियोजन + निर्यात = आन्तरिक बचत + आयात। जब किसी अर्थ-व्यवस्था में विनियोजन आन्तरिक बचत से अधिक होता है तो यह आवश्यक होता है कि इन दोनों का अन्तर आयात एवं निर्यात के अन्तर के बराबर हो अर्थात् आयात में पर्याप्त मात्रा में वृद्धि की जानी चाहिए। आयात में वृद्धि करने के लिए विदेशी सहायता की आवश्यकता होती है। अर्थ-व्यवस्था के कुल उत्पादन में से विनियोजन एवं निर्यात किया जाने वाला

भाग उपभोग के लिए उपलब्ध नहीं होता है। दूसरी ओर कुल उत्पादन कुल आय के बराबर होता है और आय को उपभोग के लिए उपलब्ध उत्पादन के बराबर रखने के लिए यह आवश्यक होता है कि आय में विनियोजन एवं निर्यात के बराबर बचत की जाय और यदि बचत इतनी न बढ़ायी जा सकती हो तो बचत एवं आयात मिलकर विनियोजन एवं निर्यात के बराबर हो जाने चाहिए। यह सन्तुलन बने रहने पर अर्थव्यवस्था में मूल्य स्तर सुदृढ़ रहता है। परन्तु कुछ लोगों का यह विचार है कि विदेशी पूंजी सरकार अथवा फर्मों द्वारा प्राप्त होती है जिसे बैंक निक्षेप का रूप मिलता है। बैंक निक्षेप से साख का प्रसार होता है जो अर्थव्यवस्था में मुद्रा स्फीति को बढ़ावा देती है। यह बात कुछ सीमा तक ही सही मानी जा सकती है क्योंकि विदेशी पूंजी का शीघ्र ही उत्पादक क्रियाओं में उपयोग हो जाता है और बैंक निक्षेप में केवल अल्पकालीन वृद्धि होती है।

(८) **व्यापार की शर्तों का अनुकूल हो जाना**—विदेशी सहायता से उपलब्ध विदेशी विनिमय का उपयोग विदेशी व्यापार के प्रतिकूल भुगतान शेष को पूरा करने के लिए किया जा सकता है और देश को अपनी वस्तुओं एवं सेवाओं को विदेशी विनिमय की उपलब्धि के लिए प्रतिकूल शर्तों पर निर्यात करने के लिए बाध्य नहीं होना पड़ता है। सहायता प्राप्त देश अपनी निर्यात वस्तुओं को अनुकूल शर्तों के मिलने तक रोक कर रख सकता है। परन्तु व्यापार शर्तों सम्बन्धी यह लाभ विदेशी सहायता के केवल प्रारम्भिक काल में ही उपलब्ध होता है क्योंकि आगे चलकर विदेशी ऋण का ब्याज एवं ऋण की किश्तों का शोधन करने के लिए अधिक विदेशी विनिमय अर्जन करना आवश्यक होता है और उस समय सहायता प्राप्त देश को प्रतिकूल शर्तों पर भी निर्यात करना पड़ सकता है। यह स्थिति तभी उदय नहीं होगी जबकि विदेशी सहायता से अर्थव्यवस्था में आयात प्रतिस्थापन एवं निर्यात संवर्द्धन का सुदृढ़ आधार निर्माण कर लिया गया हो।

(९) **सरकारी क्षेत्र एवं नियन्त्रण का विस्तार**—विदेशी सहायता प्रायः सरकार को अथवा सरकार की प्रतिभूति पर फर्मों को प्रदान की जाती है। सरकार को मिलने वाली सहायता से सरकारी क्षेत्र में विकासमूलक एवं आधारभूत परियोजनाओं की स्थापना एवं संचालन किया जाता है जिससे सरकारी क्षेत्र का विस्तार होता है और सरकार की आय में वृद्धि होती है। सरकारी प्रतिभूति पर जो विदेशी सहायता निजी क्षेत्र को दी जाती है उस सहायता के उपभोग पर सरकारी नियन्त्रण रहता है। इस प्रकार विदेशी सहायता के माध्यम से सरकार आर्थिक क्रियाओं पर अपना नियन्त्रण बढ़ाकर नियोजित विकास को प्रभावशाली बना सकती है और विकास विनियोजन का प्राथमिकताओं के अनुसार उपयोग करा सकती है।

(10) **उत्पादन में विभिन्नता एवं सक्रीय उत्पादन**—विदेशी सहायता के द्वारा जो आधारभूत उद्योग एवं व्यवसाय स्थापित किये जाते हैं उनमें नवीनतम तान्त्रिकताओं का उपयोग होता है और उनका आकार बड़ा ही होता है। इन उद्योगों को विभिन्न प्रकार की सामग्री प्रसाधन एवं छोटे औजार आदि प्रदान करने हेतु सहायक उद्योगों (Ancilliary Industries) की स्थापना होती है। दूसरी ओर आधारभूत उद्योगों के उत्पादों (मशीनें इस्पात रसायन आदि) की देश में उपलब्धि होने के परिणामस्वरूप अन्य नवीन कारखाने स्थापित होने लगते हैं और इस द्वितीय स्तर पर स्थापित होने वाले कारखानों द्वारा तृतीय स्तर पर कारखाने स्थापित होते हैं। अर्थव्यवस्था में नव विभिन्न प्रकार के प्रसाधन यन्त्र एवं सामग्रियाँ निर्मित होना प्रारम्भ हो जाती है तो उनके विभिन्न सम्मिश्रणों से विभिन्न प्रकार की उत्पादन क्रियाओं का उदय होना स्वाभाविक होता है जो विकास को गतिशील करती है।

(11) **प्रदर्शन प्रभाव**—विदेशी सहायता के अन्तर्गत जो परियोजनाएँ संचालित होती हैं उनमें विदेशी विशेषज्ञ काम पर लगाये जाते हैं और इनका सम्पर्क जब सहायता प्राप्त देश के विशेषज्ञों से होता है तो इन विशेषज्ञों में भी अनुसन्धान करने की भावना जाग्रत होती है और यह नवीन तान्त्रिकताओं को अपनाने में प्रयत्नशील हो जाते हैं। जब कोई एक विशेष कारखाना सम्पूर्ण विदेशी सहायता से स्थापित होता है तो कुछ ही समय पश्चात उसी प्रकार के कारखाने स्वदेशी

साधनो एव तकनीक से भी स्थापित होने लगते है। प्रदर्शन-प्रभाव के फलस्वरूप स्वदेशी पूँजी, तान्त्रिक ज्ञान एव अच्छे जीवन-स्तर की इच्छा के सम्बन्ध मे जागरूकता उत्पन्न होती है।

आर्थिक प्रगति में विदेशी सहायता अवरोधक

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि विदेशी सहायता अल्प-विकसित राष्ट्रो को आर्थिक प्रगति मे महत्वपूर्ण योगदान प्रदान करती है, फिर भी विदेशी सहायता के *आकार, प्रकार एव शर्तों* के कारण कुछ ऐसी कठिनाइयाँ उदय होती है जो विकास मे अवरोध उत्पन्न करती हैं। विदेशी सहायता निम्नवत् आर्थिक प्रगति मे अवरोध उत्पन्न करती है

(1) **शर्तयुक्त सहायता**—विकसित राष्ट्रो द्वारा जो विदेशी सहायता प्रदान की जाती है, वह शर्तयुक्त होती है। यह सहायता विशिष्ट परियोजनाओ के लिए प्रदान की जाती है। इन परियोजनाओ के लिए सहायता प्रदान करने वाले देश से ही आवश्यक यन्त्र, प्रसाधन एव सामग्री लेने की शर्त होती है। विकास-प्रक्रिया मे जिन परियोजनाओ को प्राथमिकता दी जाती है, उनके अतिरिक्त जब अन्य परियोजनाओ के लिए सहायता मिलती है तो वह अधिक उपयोगी सिद्ध नही होती है। प्राय सहायता उपलब्ध होने के कारण गैर-प्राथमिकता-प्राप्त परियोजनाओ को स्वीकार कर लिया जाता है जिससे अर्थ-व्यवस्था मे असन्तुलन का उदय होता है और विकास की प्रक्रिया वाछित अवस्थाओ से होकर नही गुजरती है। दूसरी ओर, परियोजना-सहायता के अन्तर्गत जो यन्त्र, प्रसाधन, सामग्री, ज्ञान आदि प्रदान किये जाते है, वे अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धीय मूल्यो से कही ऊँचे पर प्रदान किये जाते है जिसके परिणामस्वरूप परियोजनाओं की लागत अत्यधिक आती है। सहायता प्राप्त करने वाले देश को यह स्वतन्त्रता नही होती कि वे अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों से प्रतिस्पर्द्धीय मूल्यो पर आवश्यक प्रसाधन क्रय कर सके। इसके साथ ही सहायता से स्थापित व्यवसायो पर उत्पादो के निर्यात पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया जाता है। परियोजना-सहायता के सम्बन्ध मे यह शर्त भी लगा दी जाती है कि उस परियोजना के लिए पुर्जे, औजार एव अन्य प्रसाधन तथा तान्त्रिक विशेषज्ञ सहायता प्रदान करने वाले देश से ही लेने होगे। इस प्रकार देश मे उपलब्ध साधनो एव तकनीक का उपयोग सहायता से स्थापित व्यवसायो मे करना सम्भव नही होता है। इसके साथ ही निर्वाह-सम्बन्धी आयात निरन्तर बढता जाता है जिससे अर्थ-व्यवस्था मे भुगतान शेष प्रतिकूल बना रहता है जो विकास के लिए घातक होता है।

(2) **ऋण-सेवा**—विदेशी सहायता मे प्राप्त ऋणो का शोधन एव इन ऋणो के ब्याज के शोधन का दायित्व धीरे-धीरे इतना बढ जाता है कि यह देश के विदेशी विनिमय के साधनो पर बहुत बडा भार बन जाता है। विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे ऋणो के सेवा व्यय का शोधन नवीन ऋणो से होता रहता है जिससे यह सेवा-व्यय निरन्तर बढता रहता है। जब विदेशी ऋणो की प्राप्ति मे कमी आती है अथवा जब देश आत्म-निर्भर बनने के लिए विदेशी ऋणो को प्राप्त करना बन्द करना चाहता है, उस समय विदेशी ऋणो के सेवा-व्यय का भार अधिक होने के कारण सहायता प्राप्त करने वाले राष्ट्र की मुद्रा का विदेशी मुद्राओ की तुलना मे बाजार-मूल्य घटने लगता है जिससे मौद्रिक सकट उदय होता है, जो विकास के लिए बाधक सिद्ध होता है और कभी-कभी मुद्रा का अनिवार्य अवमूल्यन करना पडता है, जिससे विदेशी ऋणो की राशि घरेलू मुद्रा मे बढ जाती है और ऋणसेवा-व्यय के लिए और अधिक निर्यात बढाने की आवश्यकता होती है। साधारणत विदेशी ऋणो पर ब्याज-दर सरकार द्वारा लिये गये आन्तरिक ऋणो की ब्याज से कम रहती है। परन्तु यदि विदेशी विनिमय की वास्तविक विनिमय-दर (ब्याज-दर) को ध्यान मे रखकर हम ऋणसेवा-व्यय की लागत निकालें तो विदेशी ऋणो की ब्याज-दर कही अधिक रहती है। इस प्रकार विदेशी सहायता अल्प-विकसित राष्ट्रो को प्रतिकूल भुगतान शेष के दूषित चक्र मे डालकर विकास मे अवरोध उत्पन्न कर सकती है।

(3) **मुद्रा-स्फीति**—विदेशी सहायता अल्पकाल मे मुद्रा-स्फीति को प्रोत्साहित कर सकती

है। प्राय विदेशी सहायता का उपयोग ऐसी परियोजनाओ पर किया जाता है जिसके द्वारा पूँजीगत वस्तुओ एव सम्पत्तियो का निर्माण होता है। इन परियोजनाओ का निर्माणकाल भी लम्बा होता ह। इनके निर्माणकाल एव इनके द्वारा उत्पादित पूँजीगत वस्तुओ एव सम्पत्तियो का उपभोक्ता-वस्तुओ के उत्पादन के लिए उपयोग करने तक के काल मे अर्थ-व्यवस्था मे उपभोक्ता-वस्तुओ की पूर्ति आय वृद्धि की तुलना मे कम रहती है क्योकि इस काल मे श्रम-शक्ति एव पूर्तिकर्ताओ को इन परियोजनाओ के अन्तर्गत मजदूरी आदि के रूप मे बडे पैमाने पर आय प्रदान की जाती है। आय के बढने मे अल्प-विकसित राष्ट्रों मे कृषि-पदार्थो एव ऐसी वस्तुओ की, जो कृषि-उत्पादो से निर्मित होती हैं (जैसे कपडा), माँग मे तीव्र वृद्धि होती है जबकि कृषि-क्षेत्र के उत्पादन मे लचीलापन कम रहता है। इस कारण कृषि-पदार्थो के मूल्यो मे वृद्धि होती है जिसकी सहानुभूति मे अन्य वस्तुओं के मूल्यो मे भी वृद्धि हो जाती है और मुद्रा-स्फीति का चक्र प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार विदेशी सहायता मुद्रा स्फीति के दूषित चक्र को गतिशील करने मे सहायक होती है। यदि उपभोक्ता-वस्तुओं विशेषकर कृषि-पदार्थों के उत्पादन मे वृद्धि करने के कार्यक्रमो के साथ-साथ विदेशी सहायता का उपयोग उत्पादक वस्तुओ के उत्पादन मे किया जा सके तो मुद्रा-स्फीति को रोका जा सकता है। परन्तु यह सम्भव नही हो सकता क्योकि कृषि-क्षेत्र मे उत्पादन बढाने के लिए भी कृषि के आदायों (Inputs) मे वृद्धि करने की आवश्यकता होती है जिसके लिए दीर्घकाल मे पूरी होने वाली परियोजनाओं की स्थापना आवश्यक होती है, जैसे सिंचाई की परियोजनाएँ, रासायनिक उर्वरक के कारखाने आदि।

(4) **विदेशी सहायता का पर्याप्त मात्रा मे निरन्तर उपलब्ध न होना**—आर्थिक विकास के प्रारम्भिक काल मे बहुत सी परियोजनाओं को प्रारम्भ करने के लिए विकसित राष्ट्रो द्वारा बडी मात्रा मे सहायता प्रदान की जाती है और जब ये परियोजनाएँ परिपक्वता के समीप पहुँच जाती है तो सहायता की शर्तों मे कठोरता एव राजनीतिक बन्धन लगा दिये जाते है। ऐसी परिस्थिति मे अल्प-विकसित राष्ट्र असामजस्य की स्थिति मे पड जाते है और कभी-कभी कुछ परियोजनाओ को या तो छोड देना पडता है अथवा उनकी रूपरेखा मे आमूल परिवर्तन करना पडता है जिससे विकास के निर्धारित क्रम मे बाधाएँ उपस्थित होती है।

(5) **मुद्रा का अनिवार्य अवमूल्यन**—निरन्तर विदेशी सहायता पर विकास को निर्भर करते रहने पर मुद्रा-स्फीति का दबाव बढता जाता है जिससे आन्तरिक मूल्य-स्तर अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य-स्तर से अधिक ऊँचा रहता है। इस परिस्थिति मे विदेशी सहायता प्रदान करने वाले राष्ट्र सहायता पाने वाले राष्ट्र की मुद्रा के अवमूल्यन के लिए दबाव डालते हैं। विकास के इस सन्क्रान्ति-काल मे अल्प-विकसित राष्ट्रो को अपनी परियोजनाओ को पूरा करने के लिए विदेशी सहायता लेने की मजबूरी होती है और उन्हे अपनी मुद्रा का अवमूल्यन करना पडता है। मुद्रा के अवमूल्यन के कारण पुराने ऋणो एव ब्याज की राशि मे स्थानीय मुद्रा के सन्दर्भ मे वृद्धि हो जाती है जिससे अल्प-विकसित राष्ट्रों मे वित्तीय भार बढ जाता है और मुद्रा मे कमजोरी आती जाती है।

(6) **अप्रत्यक्ष साम्राज्यवाद का उदय**—विदेशी सहायता प्रायः ऐसी परियोजनाओ के रूप मे प्रदान की जाती है जिसके अन्तर्गत विदेशी तान्त्रिक ज्ञान, विदेशी प्रसाधन एव विदेशी विशेषज्ञों की सहायता से किसी विदेशी सस्था अथवा सरकार द्वारा अल्प-विकसित राष्ट्र मे कारखाना आदि स्थापित किया जाता है। इस प्रकार स्थानीय श्रम, भूमि एव कच्चे माल का उपयोग एव नियन्त्रण विदेशियो के हाथों मे चला जाता है जिसका सहायता देने वाले देश के हित मे अधिक और सहायता पाने वाले देश के हित मे कम उपयोग किया जाता है। विदेशी सहायता एव पूँजी प्रदान करने वाले देशो को सहायता देने मे दो प्रमुख उद्देश्य होते है—प्रथम, एकाधिकार प्राप्त करना, और द्वितीय, अल्प विकसित राष्ट्रों के बाजारो पर एकाधिपत्य प्राप्त करना।

(7) **नवीनतम तान्त्रिक ज्ञान एव प्रसाधन उपलब्ध नहीं कराना**—विदेशी सहायता के माध्यम से विकसित राष्ट्र उन तान्त्रिकताओ एव प्रसाधनो को अल्प-विकसित राष्ट्रो मे हस्तान्तरित

करते हैं जो विकसित राष्ट्रो मे अप्रचलित अथवा अनुपयोगी हो गयी है। इस प्रकार विकसित एव अल्प-विकसित राष्ट्रो के तान्त्रिक स्तर मे निरन्तर अन्तर बढता जाता है। दूसरी ओर, विकसित राष्ट्र जैसे-जैसे जटिल तान्त्रिकताओ के क्षेत्र मे आगे बढते जाते हैं वे सरल तान्त्रिकताओ को अल्प-विकसित राष्ट्रो को हस्तान्तरित करते जाते हैं जिससे सरल तान्त्रिकताओ मे जो उत्पादन किये जाते हैं उसे वे अपनी शर्तो पर अल्प-विकसित राष्ट्रो से आयात करते रहे और अपने साधनो को उच्चतम तान्त्रिकताओ मे उपयोग करते रहे। इस गतिविधि से अल्प-विकसित राष्ट्र विकसित राष्ट्रो से सदैव पीछे ही बने रहेगे।

(8) *अनावश्यक परियोजनाओं का सहायता मे उपलब्ध होना*—अल्प-विकसित राष्ट्रो को विदेशी सहायता उनके क्रमिक विकास के अनुरूप प्रदान नही की जाती है। कभी-कभी सहायता के रूप मे ऐसी परियोजनाएँ प्रदान की जाती हैं जिनका विकास के वर्तमान स्तर पर कोई विशेष उपयोग नही होता है। ये परियोजनाएँ इसलिए स्वीकार कर ली जाती है क्योकि इन्हे आसान शर्तो पर प्रदान किया जाता है यद्यपि ये विकास मे बाधाएँ उपस्थित करती हैं।

अल्प-विकसित राष्ट्रों मे विदेशी सहायता की अवशोषण-क्षमता

अल्प-विकसित राष्ट्रो मे विदेशी सहायता का गहन उपयोग प्राय सम्भव नही होता है जिनके परिणामस्वरूप विदेशी सहायता के सेवा व्यय का भार अर्थ-व्यवस्था पर उस लाभ से कही अधिक होता है जो उस देश को सहायता से प्राप्त होता है। *वास्तव मे विदेशी सहायता का गहनतम उपयोग तभी हो सकता है जबकि सहायता के साथ-साथ अन्य आवश्यक परिस्थितियाँ भी देश मे विद्यमान हो।* अल्प-विकसित राष्ट्रो मे विदेशी सहायता की अवशोषण-क्षमता (Absorption Capacity) निम्नलिखित घटको पर निर्भर रहती है

(1) *आन्तरिक साधनो की उपलब्धि*—विदेशी सहायता की अवशोषण-क्षमता आन्तरिक साधनों की उपलब्धि पर निर्भर रहती है। विदेशी सहायता का उपयोग जिन परियोजनाओ पर किया जाता है, उनमे कुछ सीमा तक आन्तरिक साधनो का भी अश रहता है। आन्तरिक बचत जब विदेशी सहायता के अनुरूप होती है तो विभिन्न परियोजनाएँ विकसित होती हैं। विदेशी सहायता के उपयोग से जो आय मे वृद्धि होती है, उसका यदि अधिक अश बचत के रूप मे उपलब्ध होता हो तो विकास की गति तीव्र रखी जा सकती है। विदेशी सहायता के अन्तर्गत वृहदाकार व्यवसायो की स्थापना होती है जिनमे अधिक जोखिम एव कुशल प्रशासन निहित रहता है। इन व्यवसायो की स्थापना एव सचालन के लिए देश मे साहसी-वर्ग एव कुशल प्रबन्धकों की उपलब्धि आवश्यक होती है क्योंकि इनकी अनुपस्थिति मे अथवा कमी होने पर विदेशी सहायता मे उपलब्ध साधनो का अपव्यय होता है। विदेशी सहायता के गहन उपयोग के लिए तान्त्रिक ज्ञान एव कुशल श्रम की भी आवश्यकता होती है। अल्प-विकसित राष्ट्रो मे आन्तरिक बचत की दर कम उपयोग क्षमता (Propensity to Consume) लगभग इकाई (Unity) के बराबर, कुशल साहसियो एव प्रबन्धकों की कमी तथा कुशल श्रम एव तकनीकी विशेषज्ञों की कमी विद्यमान रहती है जिसके परिणामस्वरूप विदेशी सहायता का गहन उपयोग नही हो पाता है।

(2) *तान्त्रिक ज्ञान की उपलब्धि*—विदेशी सहायता के अन्तर्गत जिन परियोजनाओं की स्थापना एव निर्माण किया जाता है, उनमे आधुनिक तान्त्रिकताओं का उपयोग होता है जिनकी तकनीक की जानकारी अल्प-विकसित राष्ट्रों मे उपलब्ध नही होती है और जिसके प्रशिक्षण एव ग्रहण करने मे काफी समय लगता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न देशो से सहायता उपलब्ध होती है और प्रत्येक देश से प्राप्त सहायता के उपयोग से जिन परियोजनाओं की स्थापना की जाती है, वह अन्य देशो की सहायता से स्थापित परियोजनाओ की तकनीक से भिन्न रहती है। इस प्रकार विदेशी सहायता के अन्तर्गत पूँजी की सहायता के साथ तान्त्रिक ज्ञान भी उपलब्ध होते रहना आवश्यक होता है अन्यथा विदेशी सहायता से स्थापित परियोजनाओ मे टूट-फूट आदि अधिक होने के कारण

साधनो का अपव्यय होता है। विदेशी सहायता के अन्तर्गत यदि आधुनिकतम तान्त्रिक ज्ञान प्रदान नही किया जाता है तो अल्प-विकसित राष्ट्र कुशलतम उत्पादकता की तकनीक से वचित रहते हैं और विकसित राष्ट्रो के समकक्ष कभी भी नही हो सकते हैं। कुशलतम एव आधुनिकतम तकनीक उपलब्ध न होने पर विदेशी सहायता का गहनतम उपयोग सम्भव नही हो पाता है। अल्प-विकसित राष्ट्रो मे सामान्य तकनीकी ज्ञान का स्तर अत्यन्त न्यून होता है। जनसाधारण की शिक्षा एव प्रशिक्षण का स्तर इतना नीचा रहता है कि वह आधुनिक जटिल तकनीक को शीघ्र ग्रहण नही कर पाता है जिसके परिणामस्वरूप विदेशी सहायता से उपलब्ध पूँजीगत प्रसाधनो का कुशलतम उपयोग सम्भव नही हो पाता है।

(3) **विदेशी सहायता की उपलब्धि मे निरन्तरता**—विदेशी सहायता की निरन्तर उपलब्धि पर भी इसका गहनतम उपयोग निर्भर करता है क्योंकि विदेशी सहायता मे स्थापित परियोजनाओ मे विदेशी प्रसाधनो, कच्चे माल एव तकनीकी ज्ञान की आवश्यकता लम्बे काल तक बनी रहती है। इन परियोजनाओ मे आयातित तत्व इतने महत्त्वपूर्ण होते है कि इनकी कम उपलब्धि होने पर परियोजनाओ की सम्पूर्ण उत्पादन-क्षमता का उपयोग सम्भव नही हो पाता है। इन परियोजनाओ के आदायों (Inputs) की व्यवस्था देश में ही करने के लिए भी विदेशी सहायता की आवश्यकता होती है। विदेशी सहायता प्रदान करने वाले राष्ट्र प्राय ऐसी ही परियोजनाओ के लिए सहायता प्रदान करते है जिनसे उनके निर्यात की आवश्यकता सहायता प्राप्त करने वाले राष्ट्रो मे दीर्घकाल तक बनी रहे। इस प्रकार पूर्व मे प्राप्त सहायता से स्थापित परियोजनाओ को चालू रखने के लिए विदेशी सहायता दीर्घकाल तक उपलब्ध होती रहनी चाहिए जब तक कि सहायता प्राप्त करने वाला राष्ट्र अपने ही निर्यात अतिरेक से आवश्यक आदाय आयात करने मे समर्थ न हो जाय। राजनीतिक एव अन्य किन्हीं कारणों से जब विदेशी सहायता का क्रम टूट जाता है तो सहायता का गहनतम उपयोग सम्भव नही हो पाता है।

(4) **वित्तीय सस्थाओ की व्यापकता**—विदेशी सहायता का गहनतम उपयोग देश मे विद्यमान वित्तीय सरचना पर भी निर्भर रहता है। जब देश मे कुशल वित्तीय सस्थाओं का व्यापक विस्तार होता है तो विदेशी सहायता के उपयोग से आय मे जो वृद्धि होती है, उस आय-वृद्धि को बचत के रूप मे ये सस्थाएँ प्राप्त कर सकती है और इस प्रकार साख का जो निर्माण होता है, उसे साहसियो को जोखिमपूर्ण परियोजनाओ मे विनियोजन करने हेतु प्रदान कर सकती है। वास्तव मे विनियोजन का गुणक-प्रभाव वित्तीय सस्थाओ की कुशलता एव व्यापकता पर निर्भर रहता है। विदेशी विनियोजन का गुणक-प्रभाव भी हो सकता है जबकि देश मे सस्थाएँ कुशलता से सचालित होती हो।

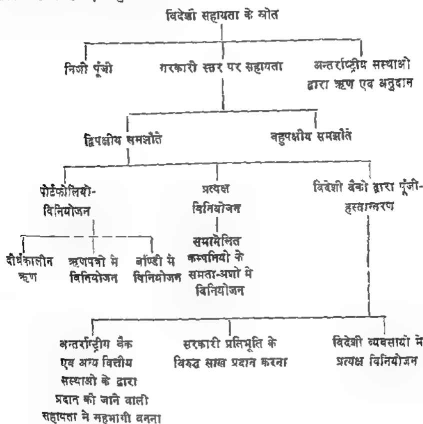
(5) **देश में विद्यमान अव-सरचना**—पूँजी की कमी की पूर्ति विदेशी सहायता से की जाती है परन्तु विकास की गति एव काल विदेशी पूँजी के उपयोग के प्रकार पर निर्भर रहता है। यदि देश म अव सरचना (Infra structure) सुदृढ होती है तो विदेशी पूँजी का उपयोग प्रत्यक्ष रूप से उत्पादन करने वाली परियोजनाओ मे किया जा सकता है जिससे उत्पादन मे शीघ्र ही वृद्धि हो सकती है और विदेशी सहायता का शीघ्र ही गहन उपयोग होने लगता है परन्तु जिन राष्ट्रो मे अव सरचना अपर्याप्त एव कमजोर होती है (जो अधिकतर अल्प विकसित राष्ट्रो मे पायी जाती है) उनमे विदेशी सहायता का बहुत बडा भाग अव-सरचना के निर्माण पर व्यय हो जाता है और वास्तविक उत्पादन वृद्धि दीर्घकाल के बाद प्रारम्भ होती है। इन राष्ट्रो मे विदेशी सहायता द्वारा राष्ट्रीय उत्पादन में शीघ्र वृद्धि नही होती है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि विदेशी सहायता विकास मे किस सीमा तक सहायक हो सकती है। यह मूल रूप मे दो बातो पर निर्भर रहता है—सहायता प्राप्त करने वाले राष्ट्र की विदेशी पूँजी की अवशोषण-क्षमता तथा विदेशी सहायता मे सम्बद्ध शर्तें। अधिकतर अल्प-विकसित राष्ट्रो म ये दोनो ही तत्व प्रतिकूल परिस्थिति मे रहते है जिसके परिणामस्वरूप विदेशी

सहायता विकास को स्वचालित बनाने में असमर्थ रहती है। परन्तु विकास का प्रारम्भ इन राष्ट्रों में विदेशी सहायता की अनुपस्थिति में सम्भव नहीं हो सकता है। यही कारण है कि आधुनिक युग में विदेशी सहायता विकास-प्रक्रिया का अभिन्न अंग मानी जाती है।

विदेशी पूंजी के स्रोत

विदेशी पूंजी की उपलब्धि निम्नलिखित स्रोतों से होती है (1) निजी विदेशी पूंजी, (2) सरकार द्वारा विदेशों को प्रदान किये गये ऋण एवं अनुदान तथा (3) अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं द्वारा ऋण एवं अनुदान।



1 निजी विदेशी पूंजी

निजी विदेशी पूंजी पोर्टफोलियो विनियोजन (Portfolio Investment), प्रत्यक्ष विनियोजन (Direct Investment) अथवा व्यापारिक बैंकों द्वारा एक देश से दूसरे देश में पूंजी हस्तान्तरण द्वारा प्राप्त होती है। पोर्टफोलियो विनियोजन के अन्तर्गत विनियोजन करने वाली विदेशी संस्था अथवा पूंजीपति ऋण लेने वाले देश की किसी फर्म अथवा कम्पनी के बॉण्डों अथवा प्रतिभूतियों को खरीद लेते हैं। दूसरी ओर, प्रत्यक्ष विनियोजन के अन्तर्गत विदेशी साहसियों द्वारा दूसरे देश में स्थापित सहायक कम्पनी के समता-अंशों में विनियोजन किया जाता है। विदेशी निजी पूंजी के प्रत्यक्ष विनियोजन को आजकल अधिक महत्व दिया जाता है। विभिन्न देशों में व्यापार सम्बन्धी प्रतिबन्ध एवं शुल्क लगने के कारण प्रत्यक्ष विनियोजन की आवश्यकता महसूस की जाती है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत बड़ी बड़ी विदेशी कम्पनियाँ अपनी सहायक कम्पनियों को पूंजी के प्रत्यक्ष हस्तान्तरण के अतिरिक्त यन्त्रों एवं प्रसाधनों को भी सहायक कम्पनी को साख पर प्रदान करने की व्यवस्था करती है। इसके अतिरिक्त सहायक कम्पनी द्वारा अर्जित लाभ को इसी कम्पनी के विस्तार

पर विनियोजित कर दिया जाता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष विनियोजन की राशि में निरन्तर वृद्धि हो सकती है।

पोर्टफोलियो विनियोजन के अन्तर्गत ब्याज की प्रतिस्पर्धी दरों पर साधन प्राप्त करना सम्भव होता है और इस प्रकार ऋण लेने वाला देश प्राप्त साधनों का अधिक स्वतन्त्रता के साथ उपयोग कर सकता है। इसके अन्तर्गत विदेशी पूँजीपति सहायता प्राप्त करने वाले देशों में स्थापित कम्पनियों के ऋणपत्रों अथवा बॉण्डों को खरीद लेते हैं। इस प्रकार के विनियोजन पर ऋण लेने वाले देश का अधिक नियन्त्रण रहता है और विदेशी विनियोजक को शोषण करने के अवसर प्राप्त नहीं होते हैं।

दूसरी ओर प्रत्यक्ष विनियोजन के अन्तर्गत विनियोजन पर विदेशी विनियोजकों का प्रत्यक्ष नियन्त्रण रहता है। इन पर लाभोपार्जन के आधार पर लाभांश दिया जाता है जबकि पोर्टफोलियो-विनियोजन में निश्चित दर से ब्याज देना पड़ता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष विनियोजन के अन्तर्गत लाभांश का भार भुगतान शेष कर कम पड़ता है। प्रत्यक्ष विदेशी विनियोजन से आन्तरिक विनियोजन को भी प्रोत्साहन प्राप्त होता है। देश का साहसी-वर्ग विदेशियों के साथ सहयोग कर विनियोजन करता है और उस सहयोग द्वारा स्थापित उद्योगों के सहायक उद्योगों की स्थापना देश के साहसियों द्वारा की जाती है।

व्यापारिक बैंकों द्वारा पूँजी हस्तान्तरण—निजी पूँजी विदेशों में व्यापारिक बैंकों तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं द्वारा भी प्रवाहित होती है। यह पूँजी हस्तान्तरण निम्नवत् होता है

(अ) व्यापारिक बैंकों का अन्तर्राष्ट्रीय बैंक एवं संयुक्त राज्य अमेरिका के निर्यात-आयात बैंक के ऋणों में भागीदार होना,

(आ) सरकारी प्रतिभूतियों के अन्तर्गत विदेशी क्रेताओं को निर्यात साख व्यापारिक बैंकों द्वारा प्रदान किया जाना

(इ) विदेशी व्यवसायों में व्यापारिक बैंकों द्वारा प्रत्यक्ष विनियोजन किया जाना।

विश्व बैंक एवं संयुक्त राज्य अमेरिका के निर्यात आयात बैंक विदेशों को ऋण व्यापारिक बैंकों के सहयोग से प्रदान करते हैं। इन संस्थाओं द्वारा विदेशों को जो ऋण प्रदान किये जाते हैं उनका कुछ प्रतिशत भाग व्यापारिक बैंकों द्वारा जुटाया जाता है। विदेशी निर्माणकर्ताओं द्वारा कम आय वाले देशों को इनकी वस्तुएँ आयात करने पर व्यापारिक बैंकों के माध्यम से निर्यात-साख प्रदान की जाती है। इस प्रकार की निर्यात-साख ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी एवं इटली द्वारा विकासोन्मुख राष्ट्रों को प्रदान की गयी है। निर्यातकर्ताओं को अपना निर्यात बढ़ाने में यह व्यवस्था सहायक होती है और आयात करने वाले विकासोन्मुख राष्ट्रों को अपनी विकास परियोजनाओं के लिए पूँजीगत प्रसाधन प्राप्त करना सम्भव होता है परन्तु यह साख अल्पकालीन होती है और इसकी अवधि अधिक से अधिक 5 वर्ष होती है। व्यापारिक बैंक विदेशी व्यवसायों में स्वयं अथवा राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के साथ मिलकर प्रत्यक्ष विनियोजन करते हैं। फ्रांस के व्यापारिक बैंकों ने लैटिन-अमेरिका, ब्रिटेन के बैंकों ने अर्जेण्टाइना, भारत और टर्की तथा संयुक्त राज्य अमेरिका, बेल्जियम, जर्मनी, नीदरलैण्ड तथा स्विटजरलैण्ड के व्यापारिक बैंकों ने अन्य देशों में इस प्रकार प्रत्यक्ष विनियोजन किया है।

2 सरकार द्वारा विदेशों को प्रदान किये गये ऋण एवं अनुदान

सरकार द्वारा विदेशों को ऋण एवं अनुदान, तान्त्रिक सहायता एवं खाद्यान्नों के निर्यात द्वारा आर्थिक सहायता प्रदान की जाती है। ऋण एवं अनुदान प्रायः विकसित राष्ट्रों द्वारा ही प्रदान किये जाते हैं क्योंकि इनकी अर्थ-व्यवस्थाओं की बचत विनियोजन से अधिक होती है। विकसित राष्ट्रों द्वारा अनुदान प्रायः संचार व्यवस्था के सुधार एवं स्वास्थ्य तथा शिक्षा की सुविधाओं में विस्तार करने हेतु प्रदान किये जाते हैं। तान्त्रिक सहायता के अन्तर्गत विकासोन्मुख राष्ट्रों को तान्त्रिक विशेषज्ञों, इंजीनियरों तथा अन्य विशेषज्ञों की सेवाएँ एवं पिछड़े राष्ट्रों के नागरिकों को

प्रशिक्षण सुविधाएँ प्रदान की जाती है। तान्त्रिक सहायता लगभग सभी विकसित राष्ट्रो द्वारा प्रदान की जाती है परन्तु इनमे प्रमुख ब्रिटेन, सयुक्त राज्य अमेरिका तथा रूस है। कुछ गैर सरकारी एव अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाएँ भी तान्त्रिक सहायता प्रदान करती हैं। गैर सरकारी सस्थाएँ प्राय सयुक्त राज्य अमेरिका मे स्थापित की गयी है जो विदेशो को तान्त्रिक सहायता प्रदान करती है। अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ मे सयुक्त राष्ट्र सघ का तान्त्रिक सहयोग कायक्रम, कोलम्बो-योजना आदि प्रमुख है। खाद्यान्नो के अतिरेक का निर्यात अल्प विकसित राष्ट्रो को मुख्यत सयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा PL-480 के अन्तर्गत किया जाता है। विभिन्न विश्व-सगठनो द्वारा इस बात पर दबाव डाला जा रहा है कि विकसित राष्ट्रो को अपने सकल राष्ट्रीय उत्पादन का लगभग 1% भाग विकासशील राष्ट्रो को आर्थिक सहायता के रूप मे देना चाहिए। परन्तु सयुक्त राज्य अमेरिका एव विकसित राष्ट्रो द्वारा अपनी राष्ट्रीय आय का जो अश सहायतार्थ प्रदान किया जा रहा है उसमे निरन्तर कमी होती जा रही है।

तालिका 17—विकास सहायता समिति के सदस्य देशों द्वारा प्रदत्त सरकारी सहायता का प्रवाह उनके सकल राष्ट्रीय उत्पादन के प्रतिशत के रूप मे

देश	वर्ष			
	1960	1970	1975	1976
आस्ट्रेलिया	38	59	61	42
आस्ट्रिया	—	07	17	10
बेल्जियम	88	46	59	51
कनाडा	19	38	58	48
डेनमार्क	09	38	58	58
फिनलैण्ड	—	07	18	18
फ्रास	1 38	66	62	62
जर्मनी	31	32	40	31
इटली	22	16	11	16
जापान	24	23	24	20
नीदरलैण्ड	31	61	75	82
न्यूजीलैण्ड	—	23	52	42
नार्वे	11	32	66	71
स्वीडन	05	38	82	82
स्विटजरलैण्ड	04	15	18	19
यूनाइटेड किंगडम	56	37	37	38
सयुक्त राज्य अमेरिका	53	31	26	26

[Source *World Bank Pamphlet*]

उक्त तालिका (17) के अध्ययन से ज्ञात होता है कि बड़े विकसित राष्ट्रो द्वारा प्रदान की जाने वाली सहायता का उनके राष्ट्रीय उत्पादन से प्रतिशत घटता जा रहा है। फ्रास नीदरलैण्ड और स्वीडन ही ऐसे राष्ट्र है जो अपने सकल राष्ट्रीय उत्पादन के प्रतिशत के रूप मे सहायता मे वृद्धि कर रहे है, जबकि अन्य सभी राष्ट्रो मे इस प्रतिशत मे कमी होती जा रही है। सयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन जापान, जर्मनी आदि अधिक सम्पन्न राष्ट्र अपने सकल राष्ट्रीय उत्पादन का आधा प्रतिशत भाग भी अल्प विकसित राष्ट्रो को सहायतार्थ प्रदान नही करते है।

सरकारी विदेशी सहायता द्विपक्षीय अथवा बहुपक्षीय समझौतो के अन्तर्गत प्रदान की जाती

है। बहुपक्षीय समझौतो को आजकल अधिक उपयुक्त समझा जाता है। इन समझौतो के अन्तर्गत विभिन्न देश पारस्परिक रूप से एक दूसरे को प्रसाधन सयन्त्र कच्चा माल तान्त्रिक ज्ञान प्रदान करने का समझौता करते है।

अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ द्वारा ऋण एव अनुदान

अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ मे विश्व बैंक अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम अन्तर्राष्ट्रीय विकास परिषद अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्रशासन (International Cooperation Administration) आदि के द्वारा अल्प विकसित राष्ट्रो को विकास-कार्यक्रमो के सचालन हेतु ऋण प्रदान किये जाते हैं। 30 जून 1977 तक विश्व बैंक द्वारा 38 610 5 मिलियन डालर तथा अन्तर्राष्ट्रीय विकास परिषद द्वारा 11 397 6 मिलियन डालर का ऋण विकास कार्यक्रमो के लिए विभिन्न राष्ट्रो को प्रदान किया गया।

इन सस्थाओ द्वारा प्राय ऐसी परियोजनाओ के लिए सहायता प्रदान की जाती है जो सहायता प्राप्त करने वाले देश की अव सरचना (Infra structure) को सुदृढ बनाने के लिए होती हैं अथवा जनोपयोगी सेवाओ से सम्बन्धित होती है। इन सस्थाओ द्वारा 30 जून 1977 तक विभिन्न महाद्वीपो मे विभिन्न राष्ट्रो को सम्मुख पृष्ठ पर दी गयी तालिका (18) के अनुसार सहायता ऋण के रूप मे प्रदान की गयी है।

इस तालिका से ज्ञात होता है कि इन दो अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ द्वारा जो सहायता प्रदान की गयी है उसका 14 2% पूर्वी और पश्चिमी अफ्रीकी राष्ट्रो 36 1% एशिया एव प्रशान्त 24 8 यूरोप मध्य पूर्व एव उत्तर अफ्रीकी राष्ट्रो तथा 24 9% लैटिन अमेरिकी एव कैरीबियन राष्ट्रो को उपलब्ध हुआ है। कुल सहायता का लगभग 42 6% भाग शक्ति यातायात एव सचार के लिए प्रदान किया गया है। कृषि क्षेत्र मे कृषि-यन्त्रीकरण सिचाई एव बाढ नियन्त्रण पशु पालन म सुधार कृषि उद्योगो आदि के लिए 20 9% सहायता प्रदान की गयी है। उद्योगो के क्षेत्र मे लोहा इस्पात रासायनिक खाद रसायन एव खनिज आदि के लिए 8 3% सहायता प्रदान की गयी है। इन दो सस्थाओ के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम द्वारा विभिन्न राष्ट्रो को ऋण एव समता-अश खरीद के रूप मे सहायता दी गयी है।

विदेशी पूजी द्वारा विकास को मिलने वाला योगदान इस बात पर निर्भर करता है कि इसके द्वारा आन्तरिक साधनो की उपलब्धि मे कोई ढील पडती है अथवा नही। यदि विदेशी सहायता से उपलब्ध साधनो द्वारा आतरिक बचत का केवल प्रतिस्थापन मात्र होता हो तो देश के उपयोग मे वृद्धि हो जायेगी परन्तु पूजी निर्माण मे वृद्धि नही होगी। इस प्रकार विदेशी सहायता के साधन आन्तरिक साधनो से अधिकतम धन प्राप्त करने के पश्चात अतिरिक्त साधन के रूप मे उपयोग होने चाहिए तभी विनियोजन पूजी निर्माण एव आर्थिक प्रगति-दर मे पर्याप्त वृद्धि सम्भव हो सकती है। आधुनिक युग म लगभग सभी विकासोन्मुख राष्ट्र विदेशी सहायता द्वारा आर्थिक प्रगति की ओर अग्रसर है। आर्थिक विकास के लिए विदेशी सहायता का पूर्ण लाभ प्राप्त करने के लिए सहायता प्राप्त करने वाले देश को ऐसी नीतियों को अपनाना चाहिए कि विकास के साथ साथ आन्तरिक साधनो मे भी वृद्धि होती जाय जिससे विदेशी सहायता पर निर्भरता गम्भीर रूप न ग्रहण कर सके। भारत मे विदेशी सहायता द्वारा देश के उत्पादन के घटको को विकास के अनुकूल अनुपात स्थापित करने के लिए उपयोग किया गया है। भारत मे श्रम एव प्राकृतिक साधनो का बाहुल्य है परन्तु पूजी एव तान्त्रिक ज्ञान की कमी के कारण उपलब्ध साधनो का उत्पादक उपयोग करना सम्भव नही हो पाया। विदेशी सहायता द्वारा पूजी एव तान्त्रिक ज्ञान को उपलब्ध किया गया है और उत्पादन के घटको मे सामजस्य स्थापित किया गया है। दूसरी ओर विदेशी सहायता द्वारा देश मे आर्थिक एव सामाजिक उपरिव्यय सुविधाओ (यातायात सचार शिक्षा स्वास्थ्य आदि) का इस प्रकार विस्तार किया जा रहा है कि आर्थिक प्रगति के उपयुक्त आधार का निर्माण किया जा सके। इसके अतिरिक्त भारत मे विदेशी सहायता का उपयोग उपभोक्ता वस्तुओ विशेषकर खाद्यान्न की कमी की पूर्ति की गयी।

तालिका 18—विश्व बैंक एवं अन्तर्राष्ट्रीय विकास परिषद् द्वारा प्रदान की गयी सहायता (ऋण)
30 जून, 1977 तक (सचयी)

(अमेरिकी मिलियन डॉलर मे)

	उद्देश्य	पूर्वी अफ्रीका	दक्षिणी अफ्रीका	यूरोप, मध्य-पूर्व एव उत्तरी अफ्रीका	लैटिन अमेरिका एव कैरेबियन देश	पूर्वी एशिया एव प्रशान्त	दक्षिणी एशिया	योग
1	कृषि एव ग्रामीण विकास	948 0	829 3	2,171 4	2 260 0	2,002 0	2,213 5	10,424 0
2	विकास वित्त कम्पनियाँ	191 5	61 8	1,623 0	757 2	851 0	829 7	4,314 2
3	शिक्षा	331 8	235 3	483 2	326 5	421 6	73 0	1,871 4
4	विद्युत शक्ति	716 8	354 1	1,975 1	3 821 3	1,543 0	993 7	9,404 0
5	उद्योग	184 0	191 6	1 228 9	1,012 3	509 9	1,021 2	4,147 9
6	गैर परियोजना	175 0	80 0	1,388 1	90 5	175 0	1,956 6	3,865 2
7	जनसख्या	12 0	—	31 1	49 0	103 7	76 0	195 8
8	तान्त्रिक सहायता	11 5	12 4	4 3	13 3	28 0	16 5	86 0
9	टेली सचार	139 0	68 4	243 8	315 7	154 1	483 2	1,404 2
10	भ्रमण	17 0	27 3	112 6	85 0	41 2	40 2	287·1
11	यातायात	1 319 6	981 1	2 476 7	3,125 8	2,228 9	1,707 0	11,839 1
12	नगरीय विकास	47 5	52 0	62 3	83 2	166 5	84 0	495 5
13	जल पूर्ति एव सफाई	105 2	37 4	613 5	509 5	205 5	202 4	1 673 5
	योग	4 198 9	2,930 7	12,414 0	13 436 1	8,407 2	10,621 2	50,008 1

[Source *World Bank Annual Report*, 1977]

भारतीय योजनाओ में विदेशी सहायता

भारत के नियोजित आर्थिक विकास मे विदेशी सहायता का विशेष योगदान रहा है। प्रथम योजना के पश्चात भारत को विदेशी सहायता बडे पैमाने पर उपलब्ध होने लगी। प्रथम योजना तथा द्वितीय योजना के प्रारम्भ के दो वर्षो मे भारत के पौण्ड-पावने (Sterling Balances) का सचय (जो द्वितीय महायुद्ध म ब्रिटेन पर दानव्य हो गया था) लगभग समाप्त हो गया और द्वितीय योजना के विकास-कार्यक्रमो के लिए विदेशी विनिमय की अत्यन्त कमी महसूस की गयी। इस कठिनाई को ध्यान मे रखकर विश्व बैंक ने अगस्त, 1958 मे कुछ बडे राष्ट्रो—कनाडा, पश्चिम जर्मनी जापान, ब्रिटेन एव सयुक्त राज्य अमेरिका की सभा भारत की विदेशी सहायता की आवश्यकताओ की पूर्ति हेतु बुलायी। इन पाँच देशो की सभा प्रति वर्ष होने लगी और इस सभा को India Aid Consortium का नाम दिया गया। यह Consortium भारत की विदेशी सहायता की आवश्यकता का निर्णय करके उसकी व्यवस्था का आयोजन करता है।

India Aid Consortium मे सम्मिलित देशो की सख्या मे समय समय पर वृद्धि होती रही है। इस समय Consortium मे 15 सदस्य हैं जिनमे विश्व बैंक एव अन्तर्राष्ट्रीय विकास एजेन्सी भी सम्मिलित है। सन 1958-59 से सन् 1967-68 तक भारत को बडे पैमाने पर विदेशी सहायता उपलब्ध हुई। सन् 1958-59 मे भारत को सकल विदेशी सहायता की राशि 720 मिलियन डॉलर थी जो सन् 1963 64 मे 1,250 मिलियन डॉलर और सन् 1967-68 मे 1,600 मिलियन डॉलर हो गयी। सन 1968-69 वर्ष से भारत की सकल विदेशी सहायता एव शुद्ध विदेशी सहायता (सकल सहायता मे से ऋणसेवा-व्यय घटाकर) दोनो मे गिरावट आनी प्रारम्भ हो गयी। यह प्रवृत्ति अभी तक निरन्तर जारी है। विदेशी सहायता मे विश्व बैंक एव अन्तर्राष्ट्रीय विकास एजेन्सी का बहुत बडा योगदान रहा है। 30 जून 1977 तक भारत को विश्व बैंक एव अन्तर्राष्ट्रीय विकास एजेन्सी से 6,622 3 मिलियन डॉलर की सहायता मिली जो अन्य किसी भी देश को इन सस्थाओं से मिली हुई सहायता की तुलना मे सर्वाधिक थी। भारत को इन सस्थाओ से मिली हुई सहायता इनके द्वारा सभी राष्ट्रो को प्रदान की गयी सहायता की 13 2% थी। भारत को सयुक्त राज्य अमेरिका, रूस, पश्चिम जर्मनी, ब्रिटेन, जापान कनाडा, फ्रान्स, इटली आदि देशो से सहायता का बडा भाग प्राप्त हुआ है। गत 25 वर्षो मे भारत को विभिन्न योजनाओ के अन्तर्गत विदेशी सहायता निम्नलिखित तालिका के अनुसार प्राप्त हुई

तालिका 19—भारत को प्राप्त विदेशी सहायता (सन् 1951-52 से 1976-77)

(करोड रुपयो मे)

योजना	अनुदान	ऋण: शर्तरहित	ऋण: शर्तयुक्त	विदेशी सहायता का योग
प्रथम योजना के अन्त तक	110 6	53 2	153 9	317 7
द्वितीय योजना मे	253 0	516 0	1,483 6	2,252 6
तृतीय योजना मे	167 0	603 3	3,760 7	4,531 0
1966-67	97 1	183 6	851 2	1,131 4
1967-68	60 7	253 0	881·9	1,195 [illegible]
1968-69	65 2	156 5	680 9	902 6
1969-70	26 1	196 3	633 9	856 3
1970 71	43 5	160 6	587 3	791 4
1971-72	50 5	177 9	605 7	834·1
1972-73	12 0	277 6	376 6	666 2
1973-74	20 7	451 1	563 9	1,035 7
1974 75	93 9	647 9	572 5	1,314·3
1975 76	283 3	854 8	702 4	1,840 5
1976-77	245 8	886 2	466 9	1,598 9
योग	1,529 4	5,417 5	12,321 4	19,268 3

विदेशी सहायता से सम्बन्धित उक्त तालिका (19) के आँकड़ों से ज्ञात होता है कि विदेशी सहायता की उपलब्धि एक योजना के बाद दूसरी योजना में बढ़ती गयी है। प्रथम योजना में विदेशी सहायता का वार्षिक औसत 63.5 करोड़ रुपये था जो द्वितीय योजना में 450.5 करोड़ रुपये तृतीय योजना में 906.2 करोड़ रुपये, तीन वार्षिक योजनाओं में 1,076.5 करोड़ रुपये हो गया परन्तु चौथी योजना में विदेशी सहायता का वार्षिक औसत घटकर 836.7 करोड़ रुपये रहा। चौथी योजना में विदेशी सहायता के औसत के कम होने का प्रमुख कारण भारत-पाक युद्ध के कारण अमेरिका से विदेशी सहायता में कमी हो जाना है। भारत को 26 वर्षों में कुल प्राप्त सहायता 19,268.3 करोड़ रुपये का 64% भाग प्रतिबन्धित सहायता के रूप में प्राप्त हुआ अर्थात् इस भाग को सहायता देने वाले राष्ट्र द्वारा निर्धारित परियोजना पर ही व्यय किया जा सका है। यही कारण है कि भारत की अर्थ-व्यवस्था का विकास सन्तुलित नहीं हो पाया है। दूसरी ओर, अनुदान की राशि कुल सहायता की केवल 7·9% है।

भारत में विदेशी सहायता के सम्बन्ध में यह बात भी स्मरणीय है कि मित्र-राष्ट्रों एवं अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं द्वारा स्वीकृत सहायता का पूर्णतम उपयोग करने में भारत असमर्थ रहा है जिसके परिणामस्वरूप विदेशी विनिमय का संकट सदैव बना रहा है और आर्थिक प्रगति की दर भी अनुमान से कम रही है। विदेशी सहायता का उपयोग कम करने के प्रमुख कारण विकास-परियोजनाओं के क्रियान्वयन की लालफीताशाही के कारण मन्द गति, विदेशी सहायता में अधिकतर सहायता का विशिष्ट परियोजनाओं के लिए ही उपलब्ध होना, जो विकास-प्राथमिकताओं के अनुसार क्रम में नीचे स्थान रखती है, परियोजना के आवश्यक प्रसाधन खरीदने के लिए सहायता का उपयोग सहायता प्रदान करने वाले देश में ही करने के बन्धन, सहायता के साथ विदेशी तकनीकी विशेषज्ञों को परियोजनाओं में लगाये रखने की शर्त, सहायता-प्राप्त परियोजनाओं द्वारा उत्पादित वस्तुओं के निर्यात पर प्रतिबन्ध, उपयुक्त प्रसाधनों का ठीक समय एवं उचित मूल्य पर उपलब्ध न होना आदि हैं।

तृतीय योजना तक उपलब्ध विदेशी सहायता का केवल 78% भाग उपयोग किया गया परन्तु तृतीय योजना में और उसके पश्चात अधिकृत विदेशी सहायता का पर्याप्त उपयोग किया जा सका क्योंकि विकास की विभिन्न परियोजनाएँ ऐसी अवस्था में पहुँच गयी, जहाँ उनके विदेशी विनिमय-तत्व को पूरा करना अनिवार्य था अन्यथा या तो वह पूर्ण नहीं हो सकती थी अथवा उनका निर्वाह सम्भव नहीं हो सकता था। सहायता प्रदान करने वाले राष्ट्रों में सबसे अधिक सहायता संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा प्रदान की गयी है। 31 मार्च, 1977 तक कुल अधिकृत सहायता का 89% भाग उपयोग किया गया। संयुक्त राज्य अमेरिका ने कुल उपयोगित सहायता का लगभग 58% भाग प्रदान किया है। भारतीय अर्थ-व्यवस्था में सन् 1951 से 1976 तक के कुल विनियोजन का लगभग 21% भाग विदेशी पूँजी द्वारा प्रदान किया गया है। [देखिए तालिका 20]

विभिन्न राष्ट्रों एवं अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से प्रचुर मात्रा में सहायता अधिकृत होने के कारण हमारी नियोजित अर्थ व्यवस्था विदेशी सहायता पर निर्भर होने लगी थी और यह सम्भावना हो गयी थी कि विदेशों से यह सहायता भविष्य में एक या दो पंचवर्षीय योजनाओं तक इसी प्रकार जारी रहेगी और तब तक हमारी अर्थ-व्यवस्था ऐसी स्थिति में पहुँच जायेगी कि हम अपने विदेशी भुगतान के दायित्वों की पूर्ति अपने अतिरिक्त निर्यात द्वारा कर सकेंगे परन्तु पाकिस्तान द्वारा भारत पर आक्रमण करने के बाद भारत को सहायता देने वाले कुछ प्रमुख राष्ट्र विदेशी सहायता का राजनीतिक सौदेबाजी से जोड़ने का प्रयत्न करने लगे। विदेशी सहायता के साथ इस प्रकार राजनीतिक बन्धन लग जाने के कारण भारत को अब विदेशी सहायता पर अपनी निर्भरता को कम करना आवश्यक हो गया है। यही कारण है कि पाँचवी योजना में भारतीय अर्थ-व्यवस्था की विदेशी सहायता पर निर्भरता को समाप्त करने का आयोजन किया गया है। विदेशी सहायता पर देश की

तालिका 20—भारत को अधिकृत एवं उपयोगित विदेशी सहायता

वर्ष	ऋण		अनुदान		PL-480/665 के अन्तर्गत सहायता		कुल सहायता	
	अधिकृत	उपयोगित	अधिकृत	उपयोगित	अधिकृत	उपयोगित	अधिकृत	उपयोगित
तृतीय योजना के अनन्तर	3,808.8	2,768.7	392.0	336.9	1,510.8	1,403.2	5,711.6	4,508.8
1966-67	1,034.1	674.7	79.7	97.1	392.7	359.6	1,506.5	1,131.4
1967-68	398.5	793.2	16.8	60.7	303.5	341.7	718.8	1,195.6
1968-69	753.1	679.8	68.4	65.2	125.3	157.7	946.8	902.6
1969-70	421.8	660.7	26.0	26.1	186.5	169.5	634.3	856.3
1970-71	705.4	658.9	56.5	43.5	—	89.0	761.9	791.4
1971-72	774.5	671.7	36.0	50.5	118.7	111.9	929.2	834.1
1972-73	639.6	649.9	36.6	12.0	—	4.3	676.2	666.2
1973-74	1,129.5	1,015.0	41.1	20.7	—	—	1,170.6	1,035.7
1974-75	1,481.4	1,220.4	189.8	93.9	—	—	1,671.2	1,314.3
1975-76	2,292.8	1,464.9	440.7	283.3	20.2	92.3	2,653.5	1,840.5
1976-77	806.7	1,285.3	386.1	245.8	93.6	67.8	1,286.4	1,598.9
31 मार्च, 1977 तक योग	1,4146.1	1,2543.2	1,769.7	1,335.7	2,751.1	2,796.9	18,667.0	16,675.8

निर्भरता मे निरन्तर कमी होती जा रही है। सन् 1967-68 मे देश के आयात का 43% भाग विदेशी सहायता द्वारा प्राप्त किया गया जबकि सन 1975-76 मे यह प्रतिशत केवल 35 रह गया। इसी प्रकार शुद्ध विदेशी सहायता का कुल विनियोजन मे अनुपात सन् 1967-68 मे 27% तक हो गया था जो चौथी योजना मे घटकर 8% हो जाने का अनुमान है। भारत की विदेशी सहायता की कमी का सबसे बडा कारण PL-480 के अन्तर्गत मिलने वाली सहायता का बन्द हो जाना है। सन् 1972-73 वर्ष से PL-480 की सहायता बिलकुल बन्द हो गयी है। सन् 1973-74 से विदेशी सहायता मे कुछ वृद्धि हुई है। 1975-76 मे अधिकृत सहायता की राशि सर्वाधिक रही और इस वर्ष मे उपयोगित सहायता की राशि भी सबसे अधिक है। इस राशि मे से 760 7 करोड रुपया ऋणसेवा-व्यय हुआ।

विदेशी ऋणसेवा-व्यय

विदेशो से प्राप्त ऋणों का शोधन प्रत्येक वर्ष किश्तो मे किया जाता है। इन ऋणो के ब्याज का शोधन भी प्रत्येक वर्ष किया जाता है। ये दोनो शोधन विदेशी विनिमय मे किये जाते है और इनका भुगतान करने हेतु हमे या तो सोना देना चाहिए या फिर अन्य विदेशी सहायता से भुगतान करना चाहिए। भारत सरकार को प्राप्त 5% से अधिक ऋणो पर 5% या इससे भी अधिक दर मे ब्याज देना पडता है। विकास ऋणो की यह दर काफी ऊँची है और इनके फलस्वरूप प्रत्येक वर्ष शोधन की जाने वाली ब्याज की राशि काफी हो जाती है।

तालिका 21—भारत के विदेशी ऋणसेवा-व्यय

(करोड रुपयो मे)

योजना/वर्ष	ऋण की किश्त	ब्याज	कुल ऋण-सेवा व्यय	ऋणसेवा-व्यय का विदेशी ऋण-सहायता से प्रतिशत
प्रथम योजना	10 5	13 3	23 [illegible]	11 5
द्वितीय योजना	55 2	64 2	119 4	6 0
तृतीय योजना	305 6	237 0	542 6	12 4
1966-67	159 7	114 8	274 5	29 0
1967-68	210 7	122 3	333 0	29 4
1968-69	236 2	138 8	375 9	41 5
1969 70	268 5	144 0	412 4	48 2
1970-71	289 5	160 5	450 0	56 5
1971-72	299 3	180 0	479 3	57 4
1972-73	327 0	180 4	507 4	76 2
1973-74	399 4	195 9	595 8	59 6
1974-75	411 0	215 0	626 0	50 0
1975-76	460 7	224 2	686 3	44 1
1976-77	507 4	247 3	754 7	56 0
1977-78	593 7	248 0	841 7	—

विदेशी ऋणो के शोधन एव ब्याज की राशि सकल सहायता की राशि की 1972-73 मे 77% से भी अधिक हो गयी। रुपये के अवमूल्यन से ऋणसेवा-व्यय के प्रतिशत मे वृद्धि हो गयी। सन् 1967-68 के बाद से सहायता की राशि मे सन 1972 73 तक कमी होती गयी जबकि पुराने ऋणो के ब्याज एव शोधन का दायित्व निरन्तर बढता गया जिसके परिणामस्वरूप सेवा व्यय का सकल सहायता से प्रतिशत बढकर सन् 1972-73 मे 76 2 हो गया। विदेशी सहायता मे खाद्यान्नो की सहायता का भाग अब घटता जा रहा है। ऋणसेवा व्यय मे अगले वर्षो सन् 1973-74, 1974-75 एव 1975-76 मे सकल सहायता का प्रतिशत क्रमश 59 6, 50 0 तथा 44 1 रहा।

अभी तक भारत ने जो ऋण प्राप्त किये है, उनका ऋणसेवा-व्यय 841·7 करोड रुपये प्रति वर्ष हो गया है अर्थात् अगले पाँच वर्षों मे जो भी विदेशी सहायता प्राप्त होगी, उसमे से लगभग 842 करोड रुपया ऋणसेवा-व्यय पर खर्च करना होगा। इन वर्षों मे मिलने वाली सहायता का ऋणसेवा-व्यय और जुडने पर ऋणसेवा-व्यय की राशि और भी अधिक हो जायेगी। ऋणसेवा-व्यय हमारी निर्यात-आय का लगभग 18% से 20% भाग के बराबर होता है। ऐसी परिस्थिति मे हम विदेशी सहायता से उस समय तक मुक्त नही हो सकेंगे जब तक कि हमारा विदेशी व्यापार का भुगतान-शेष इतना अनुकूल न हो जाय कि ऋणसेवा-व्यय का उससे शोधन किया जा सके। ऋणसेवा-व्यय हमारे विदेशी विनिमय के उन साधनो पर भार होता है जो हम ऐसी वस्तुओ के आयात पर व्यय कर सकते है जो सहायता के रूप मे हमे उपलब्ध नही होती है। ऋणसेवा-व्यय के उस भाग का और अधिक भार, जो शर्तरहित विदेशी विनिमय के रूप मे किया जाता है, हमारे विदेशी विनिमय के साधनो एव समस्त अर्थ-व्यवस्था पर पड़ता है, क्योकि इस भुगतान द्वारा जो क्रय-शक्ति विदेशो को प्राप्त होती है, वह शर्तयुक्त सहायता (जिसके बदले मे शोधन किया जाता है) की क्रय-शक्ति से कही अधिक रहती है। शर्तयुक्त विदेशी सहायता का ऋण-सेवा-व्यय मुक्त विदेशी विनिमय म करने से अर्थ-व्यवस्था की विकास की गति को आघात पहुँचता है।

परियोजना-ऋण

भारत को जो विदेशी सहायता प्राप्त होती है, उसका अधिक अनुपात या तो किसी विशिष्ट परियोजना के लिए होता है या फिर किसी विशिष्ट देश मे ही उपयोग किया जा सकता है। इसका अर्थ यह होता है कि उपलब्ध सहायता का उपयोग किसी विशिष्ट परियोजना, जो सहायता देते समय निर्धारित कर दी जाती है, पर व्यय किया जा सकता है अथवा सहायता की राशि का उपयोग किसी विशिष्ट देश या देशों से सामग्री अथवा प्रसाधन क्रय करने के लिए उपयोग किया जा सकता है। जब सहायता किसी परियोजना से सम्बद्ध रहती है तो उसे प्राप्त करने के लिए सहायता देने वाले देश की इच्छानुसार परियोजनाओं का चयन करना पडता है जिससे अर्थ-व्यवस्था का समन्वित विकास प्राथमिकताओ के अनुरूप नही हो पाता ह। किसी देश मे सम्बद्ध सहायता होने पर विकास-प्रसाधनो को अन्तर्राष्ट्रीय बाजार के अनुकूल मूल्यो पर क्रय नही किया जा सकता है और सम्बद्ध राष्ट्र को वे प्रसाधन देने वाले राष्ट्र द्वारा निर्धारित लागत पर क्रय करने पडते है। इस प्रकार शर्तयुक्त सहायता के परिणामस्वरूप देश को विकास-प्रसाधनों के लिए 30% या इससे भी अधिक मूल्य देना पडता है। प्राय यह देखा जाता है कि कोई फर्म अन्तर्राष्ट्रीय बाजार मे कच्चे माल एव पूँजीगत प्रसाधन, जो मूल्य रखते है, उससे कही अधिक मूल्य वह तब निर्धारित करती ह, जब वही प्रसाधन आदि साख पर सहायता के विरुद्ध लिये जाते है। हमारे देश के लिए उपलब्ध सहायता का 60% से 70% भाग शर्तयुक्त रहा है जिसके कारण हम इस सहायता का पूर्णतम लाभ उठाने मे समर्थ नही हो सके है। शर्तयुक्त उपलब्ध परियोजना-सहायता का हमे केवल 70% लाभ ही मिलता है क्योकि उसका 30% भाग अधिक मूल्य के लिए उपयोग हो जाता है।

विदेशी विनियोजको को लाभाश, बोनस आदि

उपर्युक्त भुगतानों के अतिरिक्त विदेशी विनियोजको द्वारा भारत मे लगायी गयी पूँजी पर लाभाश, बोनस आदि का शोधन भी विदेशी विनिमय मे किया जाता है। इस प्रकार विकास-कार्यक्रमों हेतु अधिक आयात, खाद्यान्नों के आयात, रक्षा के सामान का आयात, ऋणो एव उसके ब्याज का शोधन तथा विदेशी विनियोजन के लाभाश आदि के शोधन के फलस्वरूप भारत को प्रतिकूल विदेशी शोधन-शेष का सामना करना पडता है जिसकी पूर्ति अभी तक विदेशी सहायता द्वारा की जाती रही है, परन्तु वर्तमान परिस्थितियो मे विदेशी सहायता की अनिश्चितता के कारण अब इस प्रतिकूल शोधन-शेष की पूर्ति विदेशी सहायता द्वारा किया जाना सम्भव नहीं हो सकता।

इस परिस्थिति में पाँचवी योजना में आत्म-निर्भरता का लक्ष्य रखना न्यायसंगत है। पाँचवी योजना के अन्त तक शुद्ध विदेशी सहायता को शून्य करने का लक्ष्य रखा गया है।

ऋणशोधन में कठिनाई—विकसित राष्ट्रों द्वारा विकासोन्मुख राष्ट्रों को जो सहायता प्रदान की जाती है, उनका प्रमुख उद्देश्य अपने पूँजीगत उत्पादन हेतु पर्याप्त विपणन-सुविधा का आयोजन करना है। ये देश इसीलिए शर्तयुक्त सहायता प्रदान करते हैं जिसके अन्तर्गत सहायता प्राप्त करने वाले राष्ट्र को पूँजीगत प्रसाधन एवं कच्चा माल सहायता प्रदान करने वाले राष्ट्र से ही क्रय करना पड़ता है। दूसरी ओर, विकसित राष्ट्र विकासोन्मुख राष्ट्रों में उपभोक्ता एवं प्रविधिकृत (Processed) वस्तुएँ आयात करने को तैयार नहीं होते हैं जब तक कि इन वस्तुओं को न्यूनतम मूल्य पर न दिया जाय। इन परिस्थितियों के कारण विकासोन्मुख राष्ट्र अपने ऋणों का शोधन करने में असमर्थ रहते हैं और प्राय पुराने ऋणों का शोधन नये ऋणों द्वारा कर दिया जाता है जिसके परिणामस्वरूप विकासोन्मुख राष्ट्रों का प्रतिकूल भुगतान-शेष एवं विदेशी ऋण-दायित्व बढ़ता जाता है। विकासोन्मुख राष्ट्र अपने निर्यात अल्प-विकसित राष्ट्रों को भी बढ़ाने में समर्थ नहीं होते हैं क्योंकि अल्प-विकसित राष्ट्रों में विकसित राष्ट्रों की वस्तुओं के साथ प्रतिस्पर्द्धा करना सम्भव नहीं होता है और दूसरी ओर विकासोन्मुख राष्ट्र विकसित राष्ट्रों के समान साख पर निर्यात प्रदान करने में समर्थ नहीं होते हैं। इसी समस्या को ध्यान में रखकर चतुर्थ योजना के दिशा-निर्देश में योजना आयोग ने इस व्यवस्था की ओर सकेत किया था कि इस योजना में अल्प-विकसित राष्ट्रों को साख पर निर्यात देने के लिए अर्थ साधनों का आयोजन किया जाना आवश्यक है।

PL 480 के अन्तर्गत प्राप्त विदेशी सहायता

सन् 1954 में संयुक्त राज्य अमेरिका ने अपने कृषि साधनों की बहुतायत एवं संसार के विभिन्न राष्ट्रों की कृषि-उत्पादन की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए एक विधेयक पारित किया, जिसे Agricultural Trade Development and Assistance Act अथवा Public Law 480 नाम दिया गया। इस अधिनियम का उद्देश्य एक ओर अमेरिकी किसानों के अतिरिक्त उत्पादन की विक्रय की व्यवस्था करना था, जिससे इसके संग्रह करने की लागत को कम किया जा सके, और दूसरी ओर, अल्प-विकसित राष्ट्रों के जनसमुदाय को उचित भोजन प्रदान करना था।

आरम्भ में PL-480 के कार्यक्रम में केवल तीन प्रकार के समझौते थे, परन्तु सन् 1959 में इसमें एक और प्रकार का समझौता जोड़ दिया गया। ये चार प्रकार के समझौते निम्नवत् हैं

Title No I—इसके अन्तर्गत विदेशी सरकारें अमेरिका के अतिरिक्त कृषि-उत्पादन को अपने देश की मुद्रा में क्रय कर सकती हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में इस प्रकार प्राप्त विदेशी मुद्रा का लगभग 80% भाग क्रय करने वाले देशों को ऋण के रूप में दे दिया जाता है, जिसका उपयोग आर्थिक विकास, पारस्परिक सुरक्षा तथा अन्य इसी प्रकार के उद्देश्यों के लिए किया जा सकता है। बची हुई 20% विदेशी मुद्रा का उपयोग संयुक्त राज्य अमेरिका अपने कृषि-उत्पादों के व्यापारिक बाजारों के विकास, अमेरिकी व्यापारियों को ऋण देने तथा इनके विदेशी सहयोगियों को ऋण देने (Fullbright Fellowship) जैसे कार्यक्रमों को सहायता देने, विदेशी पत्रिकाओं (Journals) का अनुवाद करने, संयुक्त राज्य अमेरिका की सूचना-सेवा (USIS) तथा अमेरिकी दूतावासों आदि के व्यय के लिए करता है।

Title No II—इसके अन्तर्गत आकस्मिक परिस्थितियों एवं कठिनाइयों में विदेशों को खाद्यान्न अनुदान के रूप में दिये जाते हैं।

Title No III—इसके अन्तर्गत मजदूरी के आंशिक भुगतान तथा स्कूलों में दोपहर का खाना देने के लिए खाद्यान्न प्रदान किया जाता है। इस Title के अन्तर्गत निजी एवं ऐच्छिक संस्थाएँ (Private and Voluntary Agencies) विदेशों में खाद्यान्न वितरण कर सकती हैं।

Title IV—इसके अनुसार दीर्घकालीन कम ब्याज-दर वाले ऋण पर खाद्यान्न विदेशों को बेचे जाते हैं।

PL-480 के अन्तर्गत सहायता प्राप्त करन वाले देशो मे भारत को सबसे अधिक सहायता प्राप्त हुई है। इसके अन्तर्गत गेहूँ सर्वाधिक महत्व का अनाज है परन्तु गेहूँ के अतिरिक्त चावल, मक्का, मिलो, कपास, सोयाबीन का तेल तथा शुष्क दूध आदि की सहायता प्रदान की जाती है। आरम्भ मे भारत का PL-480 के अन्तर्गत अनाज की सहायता अधिसग्रह (Buffer Stock) का निर्माण करने के इरादे से की गयी परन्तु वास्तव मे सहायतार्थ प्राप्त समस्त अनाज तुरन्त के उपयोग के लिए उपयोग किया गया। PL-480 के अन्तर्गत देश को जो सहायता मिलती आ रही है, उसने हमारी अर्थ-व्यवस्था को दो प्रकार से प्रभावित किया है—अनाज की उपलब्धि पर प्रभाव तथा भारतीय मौद्रिक व्यवस्था पर प्रभाव।

PL-480 की सहायता के शोधन हेतु समझौता—सन् 1956 से 1972 के मध्य भारत सरकार द्वारा PL-480 के अन्तर्गत सयुक्त राज्य अमेरिका मे 609 लाख टन कृषि-उत्पाद, जिसमे *मुख्य रूप से गेहूँ, मोटे अनाज, चावल, कपास एव वनस्पति तेल सम्मिलित थे, आयात किये गये।* इन आयातो का मूल्य 3,600 करोड रुपये था। इन आयातो का रुपया-मूल्य सयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार के खाते मे रिजर्व बैंक, नई दिल्ली मे जमा कर दिया जाता था। अमेरिकी सरकार ने *इस जमा-राशि को भारत सरकार की गैर-विनिमयसाध्य प्रतिभूतियो मे विनियोजित कर दिया* जिनको माँग पर शोधन करना था और जिन पर $1\frac{1}{2}\%$ प्रति वर्ष ब्याज दिया जाना था। सयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा अधिकतर जमा-राशि (80 6%) को भारत सरकार को ऋण एव अनुदान के रूप मे प्रदान किया गया। इसके अतिरिक्त जमा-राशि का 13% भाग अमेरिकी सरकार द्वारा भारत मे अपने उपयोगो एव 6 4% भाग भारत-अमेरिकी सयुक्त उपक्रमो को ऋण (जिन्हे कूली ऋण कहा गया) प्रदान करने हेतु रोक लिया गया।

PL-480 के अन्तर्गत भारत सरकार को इस प्रकार जो ऋण प्राप्त हुआ, उसका शोधन 30 से 40 वर्ष के काल मे 5% ब्याज पर करना था। 1 अप्रैल, 1971 के बाद PL-480 के अन्तगत कोई समझौता कृषि-पदार्थों के आयात हेतु नही किया गया। PL-480 के अन्तर्गत होने वाले आयातो के लिए सन् 1956 से 31 मार्च, 1973 तक 2,243 08 करोड रुपये जमा हुए। इस राशि पर 341 90 करोड रुपये ब्याज उपार्जित हुआ और इस प्रकार PL-480 के अन्तर्गत कुल दातव्य राशि 31 मार्च, 1973 को 2,584 98 करोड रुपये हुई। इस राशि मे से अमेरिकी सरकार द्वारा भारत को 1,422 87 करोड रुपये का ऋण और 383·05 करोड रुपये का अनुदान दिया गया। भारत-अमेरिकी उपक्रमो को 121 84 करोड रुपये ऋण के रूप मे भुगतान किये गये। इसके अतिरिक्त 631 56 करोड रुपया अमेरिकी सरकार द्वारा भारत मे उपयोग हेतु रोका गया जिसमे से 468 48 करोड रुपया व्यय कर दिया गया। 31 मार्च, 1973 को अमेरिकी सरकार की भारत मे रुपये मे जमा-राशि 698·74 करोड रुपये थी, जिसमे से 623 75 करोड रुपये रिजर्व बैंक की विशेष प्रतिभूतियो मे और 71 60 करोड रुपये भारत मे अमेरिकी बैंक मे सावधिक जमा मे लगे थे और शेष राशि 3 39 करोड रुपये रोक एव चालू खातो मे जमा के रूप मे थी।

PL-480 के ऋणो के सम्बन्ध मे 13 दिसम्बर, 1973 को भारत सरकार एव अमेरिकी सरकार के मध्य एक समझौता किया गया है जिसके अन्तर्गत भारत सरकार PL-480 के अन्तर्गत प्राप्त 1,514 करोड रुपये के ऋण-दायित्व का भुगतान अमेरिकी सरकार को कर देगी। अमेरिकी दूतावास दूसरी ओर रिजर्व बैंक की प्रतिभूति मे जमा-राशि मे 187 करोड रुपये (जो भारत सरकार द्वारा PL-480 के अन्तर्गत शोधन करने से उदय हुई है) का नकदीकरण कर लेगा। इस प्रकार अमेरिकी सरकार के पास कुल रोक-राशि 1,701 करोड रुपये होगी, जिसमे से 1,664 करोड रुपये भारत सरकार को अनुदान के रूप मे प्रदान किया जायेगा जिसका व्यय पाँचवी योजना के अन्तर्गत समझौते द्वारा स्वीकृत परियोजनाओ पर व्यय किया जायेगा।

गैर-PL-480 ऋण

भारत सरकार एव निजी साहसियो को सन् 1954 से 1961 के काल मे अमेरिका से

USAID तथा उसकी पूर्वाधिकारी (Predecessor) संस्था DIF (Development Loan Fund) के अन्तर्गत विकास-कार्यक्रमों के लिए डॉलर-ऋण प्राप्त हुए जिनका भुगतान रुपये में किया जाना था। यह गैर-PL-480 ऋण 209 करोड़ रुपये था। वर्तमान समझौते के अन्तर्गत भारत सरकार इस ऋण का शोधन करेगी और अमेरिकी दूतावास गैर-PL-480 ऋण का शोधन करने के फलस्वरूप जमा 472 करोड़ रुपये की रिजर्व बैंक की प्रतिभूतियों का नकदीकरण कर लेगा। इस प्रकार अमेरिकी सरकार के पास कुल नकद राशि 681 करोड़ रुपया होगी। इसके अतिरिक्त अमेरिकी सरकार 115 करोड़ रुपये को भी अपने अधिकार में रोकेगी, जो भारत में अमेरिकी व्यापार एवं निजी सम्पत्तियों को दिये गये ऋणों का प्रतिनिधित्व करता है। PL-480 के अन्तर्गत ऋणशोधन के पश्चात बची हुई राशि (1,701—1,664) को भी अमेरिकी सरकार रोकेगी। इस प्रकार अमेरिकी सरकार के पास 833 करोड़ रुपये (681+115+37) की राशि रहेगी जो भारत सरकार के सार्वजनिक लेखे में ब्याज-रहित जमा के रूप में रहेगी। इस राशि में से 50 करोड़ रुपया आगे के दस वर्षों में डॉलर में बदला जायेगा जिसके द्वारा अमेरिकी सरकार के कार्यक्रमों हेतु वित्तीय साधन प्रदान किये जायेंगे, 19 5 करोड़ रुपया नेपाल को तीन वर्षों में सहायतार्थ दिया जायेगा, 19 45 करोड़ रुपये का उपयोग अगले पाँच वर्षों में अमेरिका द्वारा भारत में वस्तुओं एवं सेवाओं के लिए तथा 77 8 करोड़ रुपये के व्यापारिक व्यवहारों का 25% भाग भुगतान करने हेतु उपयोग किया जायेगा। अमेरिकी दूतावास शेष रोकी गयी राशि का उपयोग दूतावास के व्ययों, वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक आदान-प्रदान तथा भाड़ा एवं बन्दरगाह-व्यय, जो अमेरिकी संस्थाओं द्वारा पदार्थों के यातायात पर दान के रूप में दिये जाते हैं, के लिए उपयोग करेगा। इस समझौते के अन्तर्गत अमेरिकी सरकार भारत से सामान्य आयात के अतिरिक्त 77 8 करोड़ रुपये के मूल्य का विशेष आयात पाँच वर्ष में करेगी जिसके 25% भाग (19 45 करोड़ रुपये) का भुगतान अमेरिकी सरकार की रुपये में रोकी गयी राशि में से और शेष 58 35 करोड़ रुपया भारत को विदेशी विनिमय (डॉलर) के रूप में प्राप्त होगा। इस प्रकार भारत विदेशी विनिमय अधिक अर्जित कर सकेगा।

इस समझौते के फलस्वरूप भारत सरकार भविष्य में दातव्य होने वाले ब्याज की राशि (60 करोड़ रुपया प्रति वर्ष) से मुक्त हो गयी है। समझौता न होने पर PL-480 के अन्तिम ऋण का भुगतान सन् 2012 तक हो पाता और जब तक अमेरिकी सरकार की रुपये में जमा-राशि 3,000 करोड़ रुपये तक पहुँच जाती जिसका उपयोग अमेरिकी सरकार सामान्य परिस्थिति में दीर्घकाल में भी नहीं कर पाती क्योंकि अमेरिकी सरकार का भारत में व्यय भविष्य में केवल ब्याज की राशि से पूरा हो जाता और ऋण की मूल राशि का दीर्घकाल तक भुगतान नहीं हो पाता। अमेरिकी सरकार द्वारा 1,644 करोड़ रुपये को अनुदान में परिवर्तित करने से भारत सरकार बहुत बड़े वित्तीय दायित्व से मुक्त हो गयी है। समझौते में 389 करोड़ रुपये के अमेरिकी तरल साधनों को 10 वर्ष तक वर्तमान विनिमय-दर पर बनाये रखा जायेगा और इसमें प्रति वर्ष 18% राशि पर यह आयोजन लागू नहीं होगा। इस प्रकार अमेरिकी सरकार को 389 करोड़ रुपये (500 मिलियन डॉलर) का मूल्य वर्तमान विनिमय-दर पर बनाये रखने का आश्वासन हो गया है। यदि इस वर्ष के अन्दर रुपये की विनिमय-दर में अधिमूल्यन होता है तो नयी विनिमय-दर उक्त राशि पर लागू नहीं होगी। इस राशि में प्रति वर्ष 10% कम करके शेष पर वर्तमान विनिमय-दर लागू रहेगी।

समझौते के अन्तर्गत भारत सरकार को समस्त ऋण की राशि का भुगतान करना है और फिर उसमें से 1,664 करोड़ रुपये का अनुदान भारत सरकार को पाँचवीं योजना की विकास-योजनाओं हेतु प्रदान किया जाना है। इसका अर्थ यह होगा कि भारत सरकार को पहले ऋणों के भुगतान एवं प्रतिभूतियों के भुगतान हेतु मुद्रा की पूर्ति बढ़ानी होगी (नयी मुद्रा छाप कर) और यही मुद्रा विकास-परियोजनाओं हेतु अनुदान के रूप में प्राप्त होती है। इस प्रकार तीसरे पक्ष के माध्यम से 1,664 करोड़ रुपये का हीनार्थ-प्रबन्धन होगा जो मुद्रा-स्फीति एवं मूल्य-स्तर की वर्तमान स्थिति

विशेषज्ञो को तान्त्रिकताओ के सम्बन्ध में सम्पूर्ण ज्ञान प्रदान नही करते हैं जिसके परिणामस्वरूप तान्त्रिक सहयोग समाप्त होने पर कारखानो मे तोड-फोड अधिक होती है। इसके अतिरिक्त विदेशी तान्त्रिक विशेषज्ञो को भारतीय तान्त्रिक विशेषज्ञो की तुलना मे सात से चौदह गुना अधिक पारिश्रमिक दिया जाता है जिससे भारतीय विशेषज्ञो मे असन्तोष उत्पन्न होता है। कभी-कभी विदेशी विशेषज्ञो को समझौतो के अन्तर्गत बुलाना आवश्यक हो जाता है जबकि उनके द्वारा किये गये कार्यो को भारतीय विशेषज्ञ सम्पन्न कर सकते है।

विदेशी सहयोग के द्वारा देश मे एकाधिकारो की स्थापना एव आर्थिक शक्ति के केन्द्रीकरण को भी योगदान मिलता है। भारतीय पूँजीपति को विदेशी सहयोग प्राप्त करने पर सरकार से कच्चे माल, आयात, साख-विपणन आदि के सम्बन्ध मे सभी सुविधाएँ प्राप्त हो जाती हैं। इन सुविधाओ का लाभ उठाकर भारतीय पूँजीपति एकाधिकार प्राप्त करने मे समर्थ हो जाता है।

विदेशी सहयोग के उपर्युक्त दोषों को ध्यान मे रखकर यह अस्वीकार नही किया जा सकता कि इनके द्वारा देश के औद्योगिक एव तान्त्रिक विकास में योगदान नही प्राप्त हुआ है। इन सहयोगो ने भारतीय अर्थ-व्यवस्था को सुदृढ औद्योगिक आधार प्रदान करने मे पर्याप्त सहायता प्रदान की है।

भारत मे बहुराष्ट्रीय निगम

बहुराष्ट्रीय निगम (Multi National Corporation) उन उपक्रमों को कहते है जो दो या दो से अधिक राष्ट्रो मे कारखाने, खदाने, विक्रय-कार्यालय एव इसी प्रकार की सम्पत्तियो पर नियन्त्रण रखते है। बहुराष्ट्रीय निगम 750 बिलियन डॉलर से भी अधिक वार्षिक उत्पादन करते है और इनका प्रत्यक्ष विनियोजन 300 बिलियन डॉलर है। भारत मे बहुराष्ट्रीय निगम दो प्रकार से अपने व्यापार का सचालन करते है—(अ) भारत में शाखाएँ स्थापित करके, (ब) विदेशी कम्पनियो की भारतीय सहायक कम्पनियाँ स्थापित करके।

1973-74 वर्ष मे बहुराष्ट्रीय निगमो द्वारा भारत में 540 शाखाएँ सचालित थी। ये शाखाएँ 34 विदेशो मे स्थापित बहुराष्ट्रीय निगमो द्वारा स्थापित की गयी थी। 31 मार्च, 1977 को बहुराष्ट्रीय निगमो की भारत मे 482 शाखाएँ थी। इनमे से 319 शाखाएँ ब्रिटेन मे स्थापित निगमों की थी। 1973-74 के अन्त मे इन सभी शाखाओ की कुल सम्पत्तियाँ 1,790 करोड रुपये की थी। इन शाखाओ मे से 163 वाणिज्य, 115 कृषि एव सहायक क्षेत्र, 87 व्यापारिक सेवाओ तथा 82 प्रविधिकरण एव निर्माणो से सम्बन्धित थी।

1973-74 मे भारत मे विदेशी कम्पनियो की सहायक कम्पनियो की सख्या 188 थी जो 31 मार्च, 1976 को घटकर 171 हो गयी। इनमे से 131 कम्पनियाँ ब्रिटेन की कम्पनियो की सहायक कम्पनियाँ थी। 1973-74 के अन्त मे इन सहायक कम्पनियो की कुल सम्पत्तियाँ 1,363 7 करोड रुपये थी। इन सहायक कम्पनियो मे से 137 कम्पनियाँ प्रविधिकरण एव निर्माणी क्षेत्र मे थी और इनकी कुल सम्पत्तियाँ 1,255 करोड रुपये थी। 170 सहायक कम्पनियो का 1973-74 मे लाभ 195 करोड रुपया था जो इनकी सम्पत्तियो एव विक्रय का क्रमश 14 3% एव 9 3% था। इन कम्पनियो द्वारा औसतन अपने विक्रय का लगभग 5% भाग निर्यात किया गया। इन कम्पनियों पर निर्यात अनिवार्यता स्कीम लागू होती है परन्तु इन्होंने अपने निर्यात-दायित्व को पूरा नही किया है। भारत सरकार द्वारा ऐसी व्यापारिक इकाइयो के आयात मे कटौती कर दी गयी है जो अपने उत्पादन का 5% से कम भाग निर्यात करती हैं।

विदेशी विनिमय नियमन अधिनियम के अन्तर्गत विदेशी कम्पनियो की समस्त शाखाओ एव ऐसी समस्त भारतीय कम्पनियो को, जिनमें विदेशी हित 40% या इससे अधिक है, भारत मे जारी रखने के लिए रिजर्व बैंक से स्वीकृति लेना आवश्यक है। 1 जनवरी, 1974 को रिजर्व बैंक ने निर्देश दिया कि विदेशी कम्पनियो की शाखाओ को भारतीय कम्पनियो मे बदलना होगा। ऐसी विदेशी शाखाएँ एव सहायक कम्पनियाँ जो जटिल निर्माणी कार्य (जिनके तकनीकी ज्ञान का विकास भारत मे नही हुआ है) मे लगी हैं, उनमे भारतीय सहभागिता समता पूँजी 26% मे कम

नहीं होगी। जो कम्पनियाँ व्यापार एवं निर्माणी कार्य में लगी हैं उनमें विदेशी सहभागिता 40% तक कम करनी होगी।

देश की नयी औद्योगिक नीति में उपर्युक्त निर्देशों में कोई परिवर्तन नहीं किया गया है। जिन क्षेत्रों में विदेशी तकनीकी ज्ञान की आवश्यकता नहीं है उनमें वर्तमान विदेशी सहयोग का नवीनीकरण नहीं किया जायगा। सरकार द्वारा ऐसी सूची का निर्गमन किया जायेगा जिसमें उन उद्योगों के उदाहरण दिये जायेंगे जिनमें विदेशी सहयोग की आवश्यकता नहीं समझी जा रही है। केवल शत-प्रतिशत निर्यात-जन्य कम्पनियों को ही पूर्णरूपेण विदेशी स्वामित्व की कम्पनियों की स्थापना करने दी जायेगी।

पाँचवी योजना में विदेशी सहायता

पाँचवी पंचवर्षीय योजना में सन् 1978-79 तक देश को आत्म-निर्भर बनाने का लक्ष्य रखा गया है। सन् 1978-79 तक विदेशी सहायता की आवश्यकता को ऋणसेवा-व्यय की राशि तक घटाने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। इसका अर्थ यह है कि सन् 1978-79 के अन्त तक देश को इस योग्य बन जाना है कि वह अपने निर्वाह सम्बन्धी आयात (Maintenance Imports) का शोधन निर्यात से करने में सफल हो सके। हमारे कुल आयात का लगभग 80% भाग निर्वाह-सम्बन्धी आयात होता है। निर्वाह सम्बन्धी आयात में कमी करने के लिए लोहा एवं इस्पात, अलौह धातुओं रासायनिक खाद, अशोधित खनिज तेल, खनिज तेल के उत्पाद, इंजीनियरिंग वस्तुओं एवं आधारभूत रसायनों के उद्योगों की उत्पादन-क्षमता का पूर्णतम उपयोग करने तथा उत्पादन-क्षमता में वृद्धि करने की आवश्यकता थी। इसके साथ ही खाद्यान्न में आत्म-निर्भरता प्राप्त करने तथा कपास एवं तिलहन के उत्पादन में वृद्धि करने की भी आवश्यकता थी।

पाँचवी योजनाकाल में 9,052 करोड़ रुपये की विदेशी सहायता (सकल) प्राप्त होने का अनुमान लगाया गया जबकि योजना की प्रस्तावित रूपरेखा में 4,008 करोड़ रुपयों की विदेशी सहायता अनुमानित थी। 9,052 करोड़ रुपये के अतिरिक्त 115 करोड़ रुपया अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और 45 करोड़ रुपया बैंकों की पूंजी के रूप में प्राप्त होने का अनुमान लगाया गया। इन राशियों के साथ ही 21,722 करोड़ रुपये का विदेशी विनिमय निर्यात से प्राप्त होने का अनुमान लगाया गया। इस प्रकार पाँचवी योजना में 33,742 करोड़ रुपये के विदेशी विनिमय का अर्थ-व्यवस्था में आगमन होने का अनुमान लगाया गया। दूसरी ओर, 28,524 करोड़ रुपये आयात पर 1,180 करोड़ रुपये विदेशी ऋण पर ब्याज, 2,465 करोड़ रुपये विदेशी ऋणों की वापसी हेतु, 257 करोड़ रुपये विनियोजन पर 210 करोड़ रुपये निजी पूंजी, 174 करोड़ रुपये सरकारी पूंजी, 494 करोड़ रुपये विदेशों को सहायता, 134 करोड़ रुपये मागस्य भुगतान के कारण विदेशी विनिमय का अर्थ-व्यवस्था के बाहर प्रवाह होने का अनुमान लगाया गया।

पाँचवी योजना के प्रथम तीन वर्षों में अर्थात् 1974-75, 1975-76 एवं 1976-77 में क्रमशः 1,314 3, 1 840 5 तथा 1 598 9 करोड़ रुपये की विदेशी सहायता प्राप्त हुई जो चौथी योजनाकाल के विदेशी सहायता के वार्षिक औसत के दुगुने से भी अधिक था। 1974-75, 1975 76 एवं 1976-77 का ऋणसेवा व्यय क्रमशः 626 0, 686 9, तथा 754 7 करोड़ रुपया था जो उपलब्ध विदेशी सहायता का 50% से कम था। इस प्रकार पाँचवी योजना के अन्त तक विदेशी सहायता का ऋणसेवा व्यय के बराबर तक घटाने के लक्ष्य की पूर्ति होने की कम सम्भावना है। परन्तु 1976-77 वर्ष में हमारा विदेशी व्यापार का शेष 68 करोड़ रुपये अनुकूल हो गया और इस वर्ष हमारे भुगतान शेष की अनुकूल राशि में आशा से अधिक वृद्धि हुई है। इस परिस्थिति के जारी रहने पर हमारी विदेशी सहायता की आवश्यकता में कमी होने की पूरी सम्भावना है।

छठी योजना में 5 100 करोड़ रुपये के विदेशी ससाधनों के प्राप्त होने का अनुमान लगाया गया है जिसमें 1,200 करोड़ रुपये के विदेशी मुद्रा-भण्डार का उपयोग भी सम्मिलित रहेगा।

31

जनसंख्या एवं मानव-शक्ति नियोजन तथा आर्थिक प्रगति

[POPULATION AND MAN-POWER AND ECONOMIC GROWTH]

श्रम उत्पादन का एक ऐसा घटक है जिसका उपयोग न करने पर भी उसकी निर्वाह-लागत में कोई विशेष अन्तर नहीं आता है। दूसरे शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि श्रम का, उपयोग एवं उत्पादन दोनों का घटक होने के कारण उत्पादक उपयोग न होने पर भी उपयोग का घटक बना रहता है। श्रम उपभोग का एक स्थायी घटक होता है जबकि वह उत्पादन में तभी उपयोगी होता है जब उसको उत्पादक रोजगार में लगाया जाये। श्रम को उत्पादक रोजगार में लगाकर उत्पादन को बढाना तभी सम्भव हो सकता है, जब श्रम का उत्पादक उपयोग करने के लिए उत्पादन के अन्य सहायक घटक—पूँजी, तान्त्रिक ज्ञान प्राकृतिक साधन आदि—उपलब्ध हों तथा श्रम का व्यवस्थित एवं संगठित रूप में उपयोग किया जाय।

किसी देश की आर्थिक प्रगति पर श्रम-शक्ति का महत्वपूर्ण प्रभाव पडता है। श्रम-शक्ति का परिमाण देश की जनसंख्या में होने वाले परिवर्तनों पर निर्भर रहता है। जनसंख्या के परिमाण में होने वाले परिवर्तनों में अर्थ-व्यवस्था पर दो प्रमुख प्रभाव पडते हैं—एक ओर, बढी हुई जनसंख्या के उपयोग की आवश्यकताओं की वृद्धि, और दूसरी ओर, जनसंख्या-वृद्धि द्वारा उपलब्ध अतिरिक्त श्रम द्वारा उत्पादन में होने वाली वृद्धि। यदि उत्पादन की अतिरिक्त वृद्धि अतिरिक्त उपयोग से अधिक होती है तो अर्थ व्यवस्था में विकास-पूँजी का निर्माण होता है और इसकी विपरीत स्थिति में समाज को अपनी संचित पूँजी का उपयोग बढी हुई जनसंख्या के निर्वाह के लिए करना पडता है। इस प्रकार अतिरिक्त जनसंख्या द्वारा अतिरिक्त उपभोग किया जाना निश्चित होता है परन्तु इस प्रकार अतिरिक्त जनसंख्या द्वारा अतिरिक्त उत्पादन पर्याप्त मात्रा में करना सन्देहजनक हो सकता है। जब किसी राष्ट्र में उत्पादन के अन्य घटकों की तुलना में श्रम का बाहुल्य होता है तो जनसंख्या-वृद्धि द्वारा अतिरिक्त उत्पादन तो नहीं हो पाता परन्तु उपभोग की आवश्यकताओं में वृद्धि हो जाती है जिससे देश की आन्तरिक बचत, विनियोजन, पूँजी-निर्माण एवं आर्थिक प्रगति सभी का स्तर कम हो जाता है।

अल्प-विकसित राष्ट्रों की जनसंख्या

अल्प-विकसित राष्ट्रों में जनसंख्या की वृद्धि आर्थिक प्रगति में बाधाएँ उपस्थित करती है क्योंकि एक ओर संसार की जनसंख्या का वितरण अल्प-विकसित राष्ट्रों के प्रतिकूल है और दूसरी ओर बढती हुई जनसंख्या का उत्पादक उपयोग करने के लिए इन राष्ट्रों में उत्पादन के सहायक घटक उपलब्ध नहीं होते हैं।

उत्पादन के अन्य घटकों में भूमि एवं प्राकृतिक साधन प्रायः सभी राष्ट्रों में स्थिर होते हैं और इनके उपयोग एवं शोषण में ही हेर-फेर करना सम्भव होता है। इन साधनों की पूर्ति में वृद्धि करना सम्भव नहीं होता है। उत्पादन का एक और अन्य महत्वपूर्ण घटक पूँजी होता है जिसकी पूर्ति में कमी या वृद्धि करना सम्भव होता है क्योंकि यह मनुष्यकृत साधन होता है। यदि पूँजी के परिमाण में वृद्धि करना सम्भव हो सके तो बढती हुई श्रम-शक्ति का उत्पादक उपयोग किया जा सकता है और प्राकृतिक साधनों एवं भूमि द्वारा जो विकास-सीमाएँ बाँध दी जाती हैं, उनका विस्तार किया जा सकता है। इसी प्रकार जनसंख्या की वृद्धि के साथ यदि पूँजी-निर्माण में वृद्धि की जा सके तो बढती हुई जनसंख्या आर्थिक विकास के लिए वरदान सिद्ध हो सकती है परन्तु अल्प-विकसित राष्ट्रों में जनसंख्या की वृद्धि में पूँजी-निर्माण में बाधाएँ उपस्थित होती है।

जनसंख्या-वितरण अल्प-विकसित राष्ट्रों के लिए प्रतिकूल

संसार की जनसंख्या का वितरण अग्रवत् अल्प-विकसित राष्ट्रों के प्रतिकूल है :

(अ) संसार की जनसंख्या का अधिकतर भाग विकासोन्मुख क्षेत्रों में केन्द्रित है। विश्व बैंक द्वारा सग्रहीत आँकड़ों के अनुसार सन् 1975 वर्ष के मध्य में संसार की कुल जनसंख्या 389 2 करोड़ थी जिसमें लगभग 70 करोड़ जनसंख्या विकसित राष्ट्रों में थी और शेष विकासोन्मुख राष्ट्रों की निवासी थी। इस प्रकार संसार की कुल जनसंख्या का लगभग 81% भाग विकासोन्मुख राष्ट्रों में केन्द्रित था। विकासोन्मुख राष्ट्रों में प्रति व्यक्ति उच्च आय (500 डॉलर से अधिक) वाले राष्ट्रों में 117 करोड़, मध्यम प्रति व्यक्ति आय (200 डॉलर से 500 डॉलर) राष्ट्रों में 118 करोड़, निम्न आय (200 डॉलर से कम) वाले राष्ट्रों में 113 करोड़ लोग रहते थे। 200 डॉलर से कम प्रति व्यक्ति आय वाले राष्ट्रों में संसार की कुल जनसंख्या के लगभग 29% लोग निवास करते हैं। यह लोग निर्धनतम वर्ग कह जा सकते हैं। अल्प-विकसित राष्ट्रों में जनसंख्या का घनत्व भी अधिक है। सन् 1956 में संसार की जनसंख्या का औसत घनत्व 198 प्रति वर्ग किलोमीटर था। अल्प-विकसित राष्ट्रों में यह औसत 300 से अधिक था। जापान, स्विटजरलैण्ड एवं इटली ऐसे विकसित राष्ट्र हैं जिनमें जनसंख्या का घनत्व अधिक है। संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा एवं रूस जैसे विकसित राष्ट्रों में जनसंख्या का घनत्व कम है। ब्राजील, गोल्ड कोस्ट और बर्मा को छोड़कर सभी अल्प विकसित राष्ट्र घनी जनसंख्या वाले हैं। अल्प विकसित राष्ट्रों में भूमि-श्रम का अनुपात कम एवं पूंजी की न्यूनता के कारण जनसंख्या का दबाव अधिक है।

(आ) अल्प-विकसित राष्ट्रों की जनसंख्या की संरचना इस प्रकार की है कि जनसंख्या का बड़ा अनुपात उत्पादन वृद्धि में सहायक नहीं होता है। इन राष्ट्रों में 15 से 60 वर्ष की आयु-वर्ग का कुल जनसंख्या से अनुपात कम होता है। इस आयु-वर्ग द्वारा उत्पादन में सर्वाधिक योगदान दिया जाता है। इसके अतिरिक्त, जो दो आयु-वर्ग होते हैं अर्थात् 15 वर्ष से कम और 60 वर्ष से अधिक, उपभोग तो सामान्य परिमाण में करते हैं परन्तु उत्पादन करने में असमर्थ होते हैं। दूसरी ओर विकसित राष्ट्रों में उत्पादक आयु-वर्ग का अनुपात अधिक होता है जिससे इस वर्ग पर आश्रितों का भार कम होता है और परिवारों की बचत अधिक रहती है।

निम्नांकित तालिका में संसार के प्रमुख क्षेत्रों की जनसंख्या की आयु संरचना की जानकारी प्राप्त होती है

तालिका 22—संसार के प्रमुख क्षेत्रों में जनसंख्या की आयु-संरचना[1]

क्षेत्र	15 वर्ष से कम आयु-वर्ग का कुल जनसंख्या से प्रतिशत	15 वर्ष से 64 वर्ष के आयु-वर्ग का कुल जनसंख्या से प्रतिशत	64 वर्ष से अधिक आयु-वर्ग का कुल जनसंख्या से प्रतिशत
दक्षिणी एशिया	40	57	3
लैटिन अमेरिका	41	56	3
अफ्रीका	42	54	4
उत्तरी अमेरिका	31	63	6
यूरोप	26	63	11
रूस	31	64	5

उक्त तालिका (22) से यह स्पष्ट हो जाता है कि यूरोप महाद्वीप में, जहाँ विकसित राष्ट्रों की संख्या सर्वाधिक है, अनुत्पादक आयु-वर्ग (15 वर्ष से कम) का प्रतिशत केवल 26 है जबकि रूस और उत्तरी अमेरिका में यह प्रतिशत 31 है। इन विकसित देशों में उत्पादक आयु वर्ग अल्प-विकसित क्षेत्रों की तुलना में 6% से 10% तक अधिक है। विकसित राष्ट्रों में जनसाधारण का स्वास्थ्य सामान्यतः अच्छा रहने के कारण 65 वर्ष के पश्चात भी लोग उत्पादन में योगदान देते रहते हैं। दूसरी ओर अल्प-विकसित राष्ट्रों में लगभग आधी जनसंख्या उत्पादक जनसंख्या पर आश्रित रहती है जिसके परिणामस्वरूप उत्पादक जनसंख्या की बचत का स्तर न्यून रहता है जो पूंजी-निर्माण में बाधक होता है।

भविष्य के 30 वर्षों में विभिन्न दशा में संसार के पिछड़े राष्ट्रों की जनसंख्या में अधिक वृद्धि होने का अनुमान है और इस बढ़ी हुई जनसंख्या में 15 वर्ष से कम आयु वाले शिशुओं का आधिक्य रहेगा। सन् 1973 वर्ष में सन्तानोत्पत्ति वाली आयु की स्त्रियों की संख्या 59 2 करोड़ थी जिनमें

1 *Finance and Development*, I M. F Publication, Dec. 1969

म 51% एशिया, 13% अफ्रीका और 11% लैटिन अमेरिका मे थी। सन्तानोत्पत्ति-उर्वरकता मे तेजी से कमी होने पर भी इन स्त्रियो का प्रतिशत उपर्युक्त तीनो प्रदेशो मे 75% (सन् 1973 मे) से बढकर सन् 2000 मे 84% हो जायेगा जबकि यूरोप तथा उत्तरी अमेरिका मे इन स्त्रियो का प्रतिशत सन् 2000 तक घटने का अनुमान है। इस प्रकार एशिया, अफ्रीका एव लैटिन अमेरिकी राष्ट्रो मे जनसख्या की सरचना विकसित राष्ट्रो की तुलना म दीर्घकाल तक प्रतिकूल बन रहने का अनुमान है। सन्तानोत्पत्ति-उर्वरकता मे तीव्र गति स कमी होने पर भी सन् 2000 तक सन् 1970 की तुलना मे 6 से 11 वर्ष के बच्चो की सख्या मे एशिया मे 62 4% अफ्रीका मे 92 3% और दक्षिण अमेरिका मे 69% की वृद्धि होने का अनुमान है, जबकि यूरोप मे यह वृद्धि शून्य और उत्तरी अमेरिका मे 7 4% कम हो जाने का अनुमान है। इसी प्रकार 12 से 14 वर्ष की आयु के बच्चो की सख्या मे सन 1970 की तुलना मे सन् 2000 मे एशिया मे 65 5%, अफ्रीका मे 113 6% और दक्षिण अमेरिका मे 88 8% की वृद्धि हो जायेगी जबकि यूरोप मे यह वृद्धि 6 3% और उत्तरी अमेरिका मे 7 2% की कमी होने का अनुमान है। यह तथ्य विश्व बैंक के 118 सदस्य-देशो पर आधारित है। इन तथ्यो से यह स्पष्ट है कि अल्प-विकसित राष्ट्रो म अनुत्पादक जनसख्या मे तेजी से वृद्धि होने के कारण विकास की गति मन्द ही रहेगी।

तालिका 23—जनसख्या की औसत वार्षिक वृद्धि-दर (सन् 1960-70)[1]

देश	वार्षिक औसत वृद्धि-दर (प्रतिशत)
चीन (मेनलैण्ड)	2 0
भारत	2 3
रूस	1 2
सयुक्त राज्य अमेरिका	1 2
पाकिस्तान	2 7
इण्डोनेशिया	2 0
जापान	1 0
ब्राजील	2 9
पश्चिम जर्मनी	1 0
ब्रिटेन	0 6
फ्रान्स	1 0
मैक्सिको	3 5
टर्की	2 5
स्पेन	1 1
पोलैण्ड	1 0
सयुक्त अरब गणराज्य	2 5
ईरान	3 0
बर्मा	2 1
कनाडा	1 8
यूगोस्लाविया	1 1
दक्षिण अफ्रीका	3 0
आस्ट्रेलिया	2 0
श्रीलका	2 4
मलयेशिया	3 1
हगरी	0 3
वेल्जियम	0 6
ईराक	3 5
स्वीडन	0 7
आस्ट्रिया	0 5
स्विटजरलैण्ड	1 5

1 *Finance and Development*, I M F. Publication, March 1973.

उक्त तालिका (23) मे स्पष्ट है कि अल्प विकसित एव विकासशील राष्ट्रो म जनसख्या की वृद्धि की दर विकसित राष्ट्रो की तुलना मे दुगुनी से भी अधिक है।

(इ) ससार की जनसख्या म तीव्र गति से वृद्धि हो रही है परन्तु इस वृद्धि का बडा भाग अल्प विकसित राष्ट्रो म केन्द्रित रहता है। यह सम्भावना की जाती है कि निकट भविष्य म यह प्रवृत्ति जारी रहेगी और जनसख्या के घनत्व मे विकसित एव अल्प-विकसित राष्ट्रो मे अन्तर बढता जायेगा। *विश्व बैंक द्वारा प्रकाशित सूचनाओ के अनुसार विभिन्न देशो मे जनसख्या की वृद्धि की* दर तालिका (23) मे दर्शायी गयी है।

(ई) अल्प विकसित राष्ट्रो की जनसख्या मे उत्पादन-सम्बन्धी गुणो की न्यूनता पायी जाती है। इन राष्ट्रो की श्रम शक्ति का बहुत बडा भाग अकुशल श्रम के वर्ग मे आता है जिसकी उत्पादकता कम होने के कारण श्रम का राष्ट्रीय आय म योगदान कम रहता है जो आर्थिक प्रगति की दर म वृद्धि करने मे बाधक होता है। नीचे दी गयी तालिका मे ससार के प्रमुख राष्ट्रो की श्रम-शक्ति का व्यावसायिक वितरण दिया गया है

तालिका 24—श्रम-शक्ति का व्यावसायिक वितरण[1]

(प्रतिशत मे)

	अकुशल	अर्द्ध-कुशल	कुशल	सफेद-पोश श्रम	उच्च-स्तरीय कुशलता
कनाडा	11 7	28 4	28 8	12 8	18 3
सयुक्त राज्य अमेरिका	6 1	30 8	31 4	13 0	18 7
ब्रिटन	3 3	30 8	39 3	13 7	12 7
जर्मनी	13 5	25 4	38 5	11 9	10 7
चेकोस्लोवेकिया	21 3	24 4	32 0	6 6	15 7
इटली	27 9	23 3	35 4	7 0	6 4
जापान	24 2	24 9	29 7	12 8	8 4
दक्षिण अफ्रीका	30 2	28 9	30 6	5 5	4 8
आस्ट्रेलिया	9 7	24 7	35 3	14 7	15 6
भारत	72 9	8 2	14 5	1 7	2 7
ब्राजील	59 9	21 9	14 6	3 9	7 4

उक्त तालिका के अध्ययन से विदित होता है कि विकसित राष्ट्रो मे कुशल एव उच्च स्तरीय कुशलता प्राप्त श्रम-शक्ति का प्रतिशत अधिक है। विकसित राष्ट्रो मे अकुशल श्रमिको (जिनमे कृपक एव मछुए सम्मिलित है) का प्रतिशत 10 से भी कम है। भारत मे अकुशल श्रमिको का कुल श्रम-शक्ति मे प्रतिशत सर्वाधिक है। यही स्थिति अन्य अल्प विकसित राष्ट्रा की भी है। अर्द्ध-कुशल श्रम (जिसमे विक्रय, सेवा एव अन्य कई वर्गों के श्रमिक सम्मिलित है) कुल श्रम शक्ति का लगभग 25% सभी देशो मे है। भारत मे अर्द्ध कुशल श्रमिको की सख्या अन्य देशो की तुलना मे अत्यन्त कम है। सफेदपोश श्रम मे लिपिक-वर्ग एव स्कूल-अध्यापको को सम्मिलित किया गया है। इनका प्रतिशत लगभग सभी विकसित राष्ट्रो मे ऊँचा है। भारत मे इस श्रमिक-वर्ग का प्रतिशत केवल 1 7 होते हुए शिक्षित बेरोजगारी की समस्या इतनी गम्भीर है। इस बेरोजगारी का प्रमुख कारण यही प्रतीत होता है कि भारत मे औद्योगिक विकास के लिए उपरिव्यय सुविधाओ का पर्याप्त विस्तार नही किया गया है।

1 *Year Book of Labour Statistics* 1968, I L O

उन सभी राष्ट्रो को, जो एक-तिहाई से अधिक श्रम-शक्ति को कृषि पर लगाये हुए है, अल्प-विकसित समझा जा सकता है। जिन अल्प विकसित राष्ट्रो मे विकास का प्रारम्भ हो गया है, कृषि-क्षेत्र से जनसख्या औद्योगिक एव अन्य क्षेत्रो के लिए स्थानान्तरित होती जा रही है। इस स्थानान्तरण मे नवीन जनशक्ति का ही अधिक भाग सम्मिलित रहता है क्योकि नवीन श्रम-शक्ति का अब कम भाग कृषि-क्षेत्र मे जाता है। प्राय श्रम की उत्पादकता औद्योगिक एव सेवा क्षेत्र से कृषि-क्षेत्र मे कम होती है। यही कारण है कि जिन देशों मे श्रम-शक्ति का अधिक भाग कृषि-क्षेत्र मे लगा है, राष्ट्रीय आय की वृद्धि की दर कम रहती है।

जनसंख्या-वृद्धि एवं आर्थिक प्रगति

जनसख्या की वृद्धि आर्थिक प्रगति मे उसी समय सहायक हो सकती है जब इस अतिरिक्त जनसख्या द्वारा जो अतिरिक्त उत्पादन किया जाता है, वह इसके द्वारा किये गये अतिरिक्त उपभोग से अधिक हो। इस प्रकार अतिरिक्त जनसख्या के उत्पादक उपयोग द्वारा ही आर्थिक प्रगति में सहायता प्राप्त हो सकती है। अतिरिक्त जनसख्या का उत्पादक उपयोग देश मे उपलब्ध प्रति श्रमिक उत्पादक प्रसाधनो, तान्त्रिकताओ की कुशलता, जनसख्या की गुणात्मक सरचना तथा श्रमिक-वर्ग के परिमाण पर निर्भर रहता है। अल्प-विकसित राष्ट्रो मे प्रति व्यक्ति पूँजीगत प्रसाधनो की न्यूनतम उपलब्धि श्रम की कम उत्पादकता का कारण एव प्रभाव दोनो होती है। पुन. उत्पादित साधनो की अपर्याप्तता के कारण श्रम की उत्पादकता एव प्रति व्यक्ति आयोपार्जन पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है। प्रति श्रमिक कम आयोपार्जन होने पर बचत एव विनियोजन के लिए कम साधन उपलब्ध होते है जिससे श्रमिको को पर्याप्त परिमाण मे पूँजीगत प्रसाधन उपलब्ध नही होते हैं। पूँजीगत प्रसाधनो की कमी तथा शिक्षा एव प्रशिक्षण का निम्न स्तर होने के कारण तान्त्रिकताओ का विस्तार एव विकास धीमी गति से होता है। दूसरी ओर, व्यापक निर्धनता के परिणामस्वरूप श्रमिको मे स्वास्थ्य का निम्न स्तर, गतिशीलता की कमी तथा तान्त्रिक कुशलता की हीनता रहती है जिसका श्रमिको की कुशलता एव उत्पादकता पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है।

(1) **सक्रिय श्रम-शक्ति**—श्रम-शक्ति का परिमाण जनसख्या की सरचना एव रीति-रिवाजो पर निर्भर रहता है। 15 से 64 वर्ष की आयु-वर्ग का अनुपात जनसख्या में जितना अधिक होता है, उतने ही अधिक परिमाण मे श्रम की उपलब्धि होती है क्योकि इस आयु-वर्ग के लोग ही उत्पादन-कार्य के योग्य रहते है, परन्तु समाज के रीति-रिवाजो का प्रभाव भी श्रम-शक्ति की पूर्ति पर पडता है। जिन समाजो मे स्त्रियो को श्रम-शक्ति मे सम्मिलित होने की पूर्ण स्वतन्त्रता नही होती है, उनमें 15 से 64 वर्ष के आयु वर्ग का कुछ भाग उत्पादक क्रियाओ मे भाग नही ले पाता है, जैसे भारत मे सन् 1971 मे 15 से 64 वर्ष की जनसख्या कुल जनसख्या की 58 6% थी जबकि कुल उपलब्ध श्रम-शक्ति कुल जनसख्या का केवल 32·9% थी। इस प्रकार 25 7% जनसख्या केवल रीति-रिवाजो के कारण उत्पादक क्रियाओ मे अपना योगदान देने मे असमर्थ थी।

जिन देशो मे जनसख्या की वृद्धि-दर, मृत्यु एव जन्म-दर ऊँची रहने के कारण, स्थिर रहती है, उनमें सक्रिय जन-शक्ति का कुल जनसख्या से अनुपात उन राष्ट्रो की तुलना मे कम होता है, जहाँ जन्म एव मृत्यु-दर कम होने के कारण जनसख्या की वृद्धि की दर स्थिर होती है। अल्प-विकसित राष्ट्रों मे जन्म एव मृत्यु-दर प्राय ऊँची रहती है और जब इनमे विकास का प्रारम्भ होता है, मृत्यु-दर घटना प्रारम्भ हो जाती है और जन्म-दर मे शीघ्र कोई परिवर्तन नही होता है। ऐसी परिस्थिति मे जनसख्या की वृद्धि-दर बढ जाती है परन्तु इस वृद्धि के फलस्वरूप सक्रिय जन-शक्ति का अनुपात कम ही रहता है क्योकि मृत्यु-दर कम होने का सबसे अधिक प्रभाव शिशु-जन्म दर पर पडता जो बहुत कम हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप जनसख्या मे 15 वर्ष से कम आयु-वर्ग मे अधिक वृद्धि होती है। जिस देश मे सक्रिय जन-शक्ति अधिक होती है, उसमे उत्पादकों का उपभोक्ता के अनुकूल अनुपात होता है। अल्प-विकसित राष्ट्रो मे यह अनुपात प्रतिकूल होने के कारण उत्पादक जन शक्ति के छोटे समूह पर आश्रितों का भार अधिक होता है और उत्पादक-वर्ग को अपनी

आय मे विनियोजन हेतु बचत करना मम्भव नही होता है। इस प्रकार दो राष्ट्रो की कुल जन-सख्या एव श्रम-उत्पादकता समान होते हुए भी वह राष्ट्र अपनी आय का अधिक प्रतिशत भाग बचत करने मे समर्थ होगा जिमकी जनसख्या मे सक्रिय जन-शक्ति का अनुपात अधिक होगा।

(2) **जनसख्या की संरचना**—अल्प-विकसित राष्ट्रो की जनसख्या मे कम आयु-वर्ग का अनुपात अधिक होता है क्योकि इन राष्ट्रो मे जीवित रहने की सम्भावना (Life Expectancy) कम होती है एव नवयुवक-वर्ग मे मृत्यु-दर अधिक रहती है और, दूसरी ओर, जन्म-दर ऊँची होने के कारण कम आयु-वर्ग मे वृद्धि होती रहती है। जिस देश मे कम आयु वर्ग का अनुपात अधिक होता है उम राष्ट्र मे जनसख्या की वृद्धि के साथ खाद्यान्नो का उपभोग बढता जाता है और उम राष्ट्र को अपनी आय का बडा भाग खाद्य-पदार्थो पर व्यय करना पडता है। ऐसे राष्ट्रो मे विकास का प्रारम्भ होते ही खाद्यान्न की समस्या गम्भीर रूप ग्रहण कर लेती है। भारत भी इमी स्थिति से होकर गुजर रहा है। दूसरी ओर, विकसित राष्ट्रो मे जन्म-दर कम एव जीवन-सम्भावना अधिक होने के कारण अधिक आयु वर्ग का अनुपात अधिक होता है जिसके परिणामस्वरूप ऐसे देश अपनी आय का कम भाग खाद्यान्नो पर व्यय करते है। कम आयु-वर्ग का अधिक अनुपात रखने वाले राष्ट्रो मे इसलिए जनसख्या का अधिक भाग कृषि-व्यवसाय मे लगा रहता है और कृषि-व्यवसाय मे आय-उपार्जन क्षमता कम होने के कारण इस राष्ट्र को अपनी बढती हुई जनसख्या का निर्वाह करना सम्भव नही होता है। दूसरी ओर अधिक आयु वर्ग का अधिक अनुपात रखने वाले राष्ट्रो मे कृषि एव खाद्यान्नो के उत्पादन मे अधिक जनसख्या के खपाने की आवश्यकता नही होती है और निर्माण-उद्योगो का विस्तार सम्भव होता है जिनके द्वारा अधिक आयोपार्जन करके बढती हुई जनसख्या का निर्वाह किया जा सकता है।

अल्प विकसित राष्ट्रो को अपनी बढती हुई जनसख्या के कल्याण एव जीवन-निर्वाह के लिए सामाजिक उपरिव्यय-पूँजी—गृह-निर्माण, जनस्वास्थ्य, शिक्षा, कल्याण आदि—का आयोजन करने के लिए विनियोजन-योग्य साधनो का बडा भाग व्यय करना पडता है। कम आयु-वर्ग की सख्या प्रति वर्ष बढते रहने पर इन सुविधाओ की व्यवस्था करने का व्यय भी बढता जाता है। इस प्रकार इन राष्ट्रो को प्रत्यक्ष उत्पादक क्रियाओ के सचालन के लिए पर्याप्त विनियोजन साधन उपलब्ध नही हो पाते है।

विकासशील राष्ट्रो मे विकास के प्रारम्भ के साथ मृत्यु दर तेजी से घटती है परन्तु जन्म-दर मे महत्वपूर्ण कमी नही होती है। इसका परिणाम यह होता है कि जो भाग पहले अल्पायु मे ही मृत्यु का शिकार हो जाता था, अब जीवित रहता है और 15 वर्ष वाला आयु-वर्ग, जो अनुत्पादक आयु-वर्ग का होता है, मे वृद्धि हो जाती है। दूसरी ओर, जन्म-दर मे कमी न होने के कारण भी 15 वर्ष की आयु-वर्ग मे ही प्रारम्भ मे वृद्धि होती है। इस प्रकार विकास के प्रारम्भ मे ही जनसख्या-वृद्धि गम्भीर रूप से बाधक होने लगती है। जन्म की व्यावहारिक अधिकतम दर 45 प्रति हजार मानी जाती है और मृत्यु-दर अधिक से अधिक 10 प्रति हजार तक घटायी जा सकती है। इस प्रकार जनसख्या-वृद्धि विकासशील राष्ट्रो मे 35 प्रति हजार तक हो मकती है। इस वृद्धि को कम करने का एकमात्र उपाय जन्म-दर मे कमी करना है। भारत की सन् 1961-71 की जनगणना के अनुसार यह प्रारम्भिक अनुमान लगाया गया कि सन् 1961 की तुलना मे सन् 1971 की जन-सख्या 24 57% अधिक थी और इस काल मे जन्म-दर 41·6 प्रति हजार थी (जबकि सन् 1951-61 मे यह दर 41·7 प्रति हजार थी)। इसी प्रकार मृत्यु दर सन् 1961-71 काल मे 18 1 प्रति हजार रही जबकि सन् 1951-61 के दशक मे यह दर 22 8 थी। इन तथ्यो से यह स्पष्ट है कि सन् 1961-71 काल मे मृत्यु-दर मे पर्याप्त कमी हुई परन्तु जन्म-दर लगभग यथावत् रही। यह परिस्थिति लगभग सभी विकासशील राष्ट्रो मे विद्यमान है। यही कारण है कि विकासशील राष्ट्रो मे जनसख्या-नीति का निर्धारण करते समय, जन्म-दर की कमी एव आर्थिक विकास की द्रुत गति, दोनो को सम्मिलित करना आवश्यक है। यद्यपि पिछडेपन एव निर्धनता का प्रमुख कारण ऊंची जन्म-

दर है परन्तु इसके द्वारा ऐसा दूषित चक्र उदय होता है कि ऊँची जन्म-दर निर्धनता का कारण एवं प्रभाव दोनों बनी रहती है। यह दूषित चक्र तभी तोड़ा जा सकता है जब दोनों ही कारणों (ऊँची जन्म-दर एवं निर्धनता) पर एक साथ प्रहार किया जाय। निर्धनता जन्म-दर को बढ़ाने में और ऊँची जन्म-दर निर्धनता बढ़ाने में सहायक होती है। ऊँची जन्म-दर को कम करने के लिए भौतिक एवं मानसिक दोनों ही परिस्थितियों में परिवर्तन लाना आवश्यक होता है। लोगों की मनोवृत्ति को बदलना अत्यन्त आवश्यक होता है जिससे वे बड़े परिवार को अहितकर मानने लगें।

(3) **बढ़ती हुई जनसंख्या एवं बेरोजगारी तथा अदृश्य बेरोजगारी**—अल्प-विकसित राष्ट्रों में बढ़ती हुई जनसंख्या बेरोजगारी एवं अदृश्य बेरोजगारी की समस्याओं को जन्म देती है। विकसित राष्ट्रों में बेरोजगारी की समस्या प्रभावशाली माँग की न्यूनता के कारण उदय होती है जबकि अल्प-विकसित राष्ट्रों में बेरोजगारी का कारण श्रम के लिए आवश्यक सहायक एवं पूरक उत्पादन के साधनों की न्यून पूर्ति होता है। अल्प-विकसित राष्ट्रों में प्रभावशाली माँग अधिक होते हुए भी श्रम का उत्पादक उपयोग पूँजी एवं अन्य उत्पादन के घटकों की कमी के कारण नहीं हो पाता है। इन राष्ट्रों में विकास का प्रारम्भ होते ही बड़े बेरोजगार-जनसमुदाय की समस्या सामने आती है। विकास का प्रारम्भ करने से पहले से आये बेरोजगारों में कुछ को रोजगार मिल जाता है परन्तु जनसंख्या में तीव्र गति से वृद्धि होने के कारण अतिरिक्त रोजगार के अवसरों की तुलना में कहीं अधिक नये बेरोजगार उदय हो जाते हैं। इस प्रकार विनियोजन की दर में वृद्धि होने के साथ बेरोजगारी भी बढ़ती जाती है। ऐसी परिस्थिति में श्रम के अनुपात में पूँजी की कमी बनी रहती है। जब तक विदेशों से पूँजी प्राप्त की जाय, इस समस्या का निवारण सम्भव नहीं होता है।

विकसित राष्ट्रों में जनसंख्या बढ़ने के कारण जब भूमि श्रम-अनुपात कम हो जाता है तो अतिरिक्त श्रम अन्य उत्पादक क्रियाओं को हस्तान्तरित हो जाता है। इस प्रकार पूँजी द्वारा भूमि की कमी की पूर्ति कराकर बढ़ती हुई जनसंख्या को उत्पादक क्रियाओं में लगाना सम्भव होता है। दूसरी ओर, अल्प-विकसित राष्ट्रों में जनसंख्या की वृद्धि के फलस्वरूप कृषि-क्षेत्र में उदय होने वाली अतिरिक्त श्रम-शक्ति को अन्य व्यवसायों में पूँजी की न्यूनता के कारण रोजगार प्रदान करना सम्भव नहीं होता है। इस प्रकार इन राष्ट्रों में विकास-प्रयासों को बेरोजगारी की गम्भीर समस्या का सामना करना पड़ता है।

(4) **जनसंख्या एवं उत्पादन के साधन**—जनसंख्या का विकास पर द्विमार्गीय प्रभाव पड़ता है। एक ओर, जनसंख्या उपभोक्ता के रूप में माँग-पक्ष को बढ़ाती है, और दूसरी ओर, उत्पादन के घटक के रूप में उत्पादन-वृद्धि में योगदान देती है। इस प्रकार जनसंख्या देश के साधनों का उपभोग एवं उत्पादन दोनों ही करती है। उपभोग करने की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप जनसंख्या वृद्धि के साथ-साथ उपभोक्ता-वस्तुओं की माँग में तेजी से वृद्धि होती है जिसका लाभ उठाने के लिए साहसी अधिक विनियोजन करने के लिए प्रोत्साहित होते हैं। परन्तु अधिक उपभोग एवं अधिक विनियोजन दोनों ही जनसंख्या की प्रति व्यक्ति आय पर निर्भर रहते हैं। जब किसी देश में प्रति व्यक्ति आय बहुत कम होगी तो जनसंख्या-वृद्धि के फलस्वरूप उपभोक्ता-वस्तुओं की माँग में पर्याप्त वृद्धि निर्धनता के कारण नहीं हो सकेगी, और दूसरी ओर, अधिक विनियोजन हेतु देश में पर्याप्त बचत भी उपलब्ध नहीं हो सकेगी। इस प्रकार जनसंख्या-वृद्धि विकास में सहायक नहीं हो सकेगी और निर्धनता की व्यापकता का कारण बन जायेगी।

इस परिस्थिति के विपरीत जनसंख्या-वृद्धि विकास में सहायक भी हो सकती है, बशर्ते इसके फलस्वरूप उत्पादन के साधनों एवं अवशोषण में वृद्धि हो सकती हो। जनसंख्या घटक का उत्पादन के विभिन्न साधनों पर निम्नवत् प्रभाव पड़ता है

(5) **जनसंख्या एवं श्रम शक्ति**—जनसंख्या-वृद्धि का श्रम शक्ति की उपलब्धि पर जो प्रभाव पड़ता है, वह इस बात पर निर्भर करता है कि जनसंख्या-वृद्धि जन्म-दर स्थिर रहने तथा मृत्यु-दर

तेजी से घटने अथवा जन्म-दर बढने और मृत्यु-दर घटने के कारण हो रही है। यदि जन्म-दर बढने एव मृत्यु दर घटने के कारण जनसख्या-वृद्धि होती है तो देश मे कम आयु वाले वर्ग मे तेजी से वृद्धि होगी जो उत्पादक श्रम शक्ति मे सम्मिलित नही होती है परन्तु उपभोक्ता-वर्ग मे सम्मिलित हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप जनसख्या-वृद्धि उत्पादन-वृद्धि मे कम योगदान देती है जबकि उपभोग-वृद्धि तेजी से होती है।

जनसख्या-वृद्धि के फलस्वरूप श्रम-शक्ति की उत्पादकता भी प्रभावित होती है। जनसख्या का दबाव अधिक होने पर बच्चो को पर्याप्त समय तक उचित शिक्षा एव प्रशिक्षण प्रदान करने की सुविधाएँ उपलब्ध नहीं हो पाती है और श्रम-शक्ति उत्पादन-क्षमता की कौशलता ग्रहण नहीं कर पाती है। अधिकतर नवीन श्रम-शक्ति अकुशल श्रम का रूप ग्रहण करती है। यह अकुशल श्रम ऐसे व्यवसायो मे प्रविष्ट होता है जिनमे विशेष तकनीकी ज्ञान की आवश्यकता नही होती है तथा जिनमे प्रविष्ट होने के लिए कोई योग्यता एव शैक्षणिक प्रतिबन्ध नहीं होता है। कृषि, व्यापार आदि ऐसे व्यवसाय है जिनमे अकुशल श्रम प्रविष्ट होता है जिसके परिणामस्वरूप अदृश्य बेरोजगार उदय होता है। इस प्रकार बढी हुई श्रम-शक्ति का सीमान्त उत्पादन बहुत कम या शून्य रहता है जिससे विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है।

बढी हुई श्रम-शक्ति के कम कुशलता वाले व्यवसायो म प्रविष्ट होने से ग्रामीण जनसख्या मे वृद्धि होती है। ग्रामीण समाज म परिवर्तन स्वीकार करने की प्रवृत्ति का अभाव होता है जिससे उत्पादन-तकनीक को आधुनिक बनाने मे कठिनाई पडती है और उत्पादन एव उत्पादकता मे वृद्धि नही हो पाती है यद्यपि जनसख्या-वृद्धि के कारण उपभोक्ता-वस्तुओ एव सेवाओ की माँग बढती है परन्तु परम्परागत वातावरण के कारण नवीन खोजो एव आविष्कारो को प्रोत्साहन नही मिलता है। परम्परागत समाज मे साहसिक क्रियाओ का भी विस्तार नही हो पाता है क्योकि साहसियो को समाज मे नेतृत्व करने का अवसर नही दिया जाता है।

(6) **जनसख्या एव पूँजी-निर्माण**—पूँजी उत्पादन का एक ऐसा घटक है जो उत्पादन के अन्य घटको—भूमि, श्रम आदि—का प्रतिस्थापन कर सकती है। जब किसी देश की जनसख्या मे वृद्धि होती है तो श्रम-भूमि-अनुपात अथवा श्रम-प्राकृतिक साधन-अनुपात घट जाता है जिसके परिणामस्वरूप प्रति श्रमिक उत्पादन मे भी कमी आने लगती है। ऐसी परिस्थिति मे पूँजी-वृद्धि के माध्यम से भूमि की कमी को पूरा करके उत्पादन की वृद्धि जारी रखी जा सकती है अर्थात् भूमि एव अन्य प्राकृतिक साधनो का अधिक गहन उपयोग करके उत्पादन की वृद्धि बनाये रखी जा सकती है। विकसित राष्ट्रो मे अधिक पूँजी निर्माण करके प्रति व्यक्ति उत्पादन की दर मे निरन्तर वृद्धि होती *रही है और बढती हुई जनसख्या के जीवन-स्तर मे सुधार होता रहा है। दूसरी ओर, अल्प विकसित* राष्ट्रो मे जनसख्या-वृद्धि के साथ-साथ पूँजी-निर्माण म पर्याप्त वृद्धि नही की गयी जिससे इन अर्थ-व्यवस्थाओ मे बढती हुई जनसख्या का जीवन-स्तर गिरता रहा है।

अल्प-विकसित राष्ट्रो मे विकास को तीव्र गति देने के लिए पूँजी-साधनो की बहुत अधिक आवश्यकता होती है क्योकि इन्हे एक ओर बढती हुई जनसख्या को स्थिर जीवन-स्तर प्रदान करने के लिए पूँजी साधन चाहिए और दूसरी ओर राष्ट्रीय आय मे जनसख्या-वृद्धि की दर से कही अधिक दर से वृद्धि करने एव जीवन स्तर मे सुधार लाने के लिए पूँजी साधनो की आवश्यकता होती है। अल्प-विकसित राष्ट्रो मे प्रति व्यक्ति आय कम होने के कारण बचत की दर कम होती है और यह बचत अधिक से अधिक उतनी ही पूँजी उपलब्ध करा सकती है जितनी बढती हुई जनसख्या को स्थिर जीवन-स्तर प्रदान करने के लिए आवश्यक हो। सयुक्त राष्ट्र सघ के अनुमानो के अनुसार प्रति वर्ष 1% से बढने वाली जनसख्या को वर्तमान प्रति व्यक्ति आय के स्तर पर स्थिर जीवन-स्तर प्रदान करने के लिए राष्ट्रीय आय की 2% से 5% तक बचत आवश्यक होती है। अल्प-विकसित राष्ट्रो मे जनसख्या-वृद्धि-दर लगभग 2 5% प्रति वर्ष है जिसका जीवन-स्तर बनाये रखने के लिए राष्ट्रीय

आय का 5% से 12 5% तक बचत करना आवश्यक होता है। यदि ये देश जीवन-स्तर मे वृद्धि करना चाहते हैं तो इनकी पूँजी एव बचत की आवश्यकता बहुत अधिक होगी।

(7) **श्रम-शक्ति की उत्पादकता**—पैतृक एव ग्रहण किये हुए गुण विकसित राष्ट्रो की श्रम-शक्ति के उत्पादक गुणो से निम्न स्तर के होते है क्योकि अल्प-विकसित राष्ट्रो में सामान्य स्वास्थ्य का स्तर निम्न होता है, शिक्षा एव प्रशिक्षण की पर्याप्त सुविधाएँ नही होती हैं, सामाजिक एव सास्कृतिक वातावरण मे नवीन कुशलताओ को ग्रहण करने की क्षमता कम रहती है, गतिशीलता की कमी होती है, परिवर्तन स्वीकार करने की स्वाभाविक इच्छा नही रहती है तथा परम्परागत जीवन को प्राथमिकता दी जाती है। श्रम-शक्ति की यह गुणात्मक हीनता जब प्रति श्रमिक पूंजी-प्रसाधन की कमी से सम्मिश्रित हो जाती है तो श्रमिकों की उत्पादकता और कम हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप प्रति व्यक्ति आय कम उपार्जित होती है और बचत की दर कम रहती है। बचत-दर कम रहने के कारण पूंजी-निर्माण में भी कमी रहती है। अल्प-विकसित राष्ट्रों में गैर-उत्पादक जनसख्या का कुल *जनसख्या में अनुपात अधिक होता है। गैर-उत्पादक जनसख्या* मे 14 वर्ष तक के बच्चे, 60 वर्ष से अधिक आयु के लोग तथा वे स्त्रियाँ जो सर्वथ सामाजिक रीति-रिवाजो के कारण उत्पादन मे योगदान नहीं देती हैं, सम्मिलित रहते हैं। *गैर-उत्पादक जनसख्या* उत्पादक जनसख्या पर निर्भर रहती है जिसका उत्पादक श्रम-शक्ति को अपनी न्यून आय मे से भरण-पोषण करना होता है जिससे बचत की दर कम रहती है। गैर-उत्पादक जनसख्या की अधिक वृद्धि के कारण सामाजिक मदो एव जनोपयोगी सेवाओं पर अधिक व्यय करना पडता है, जैसे जन्म, मृत्यु एव विवाह, उत्सव, निवास-गृहो का निर्माण, स्वास्थ्य-सेवाओं का विस्तार, शिक्षा की सुविधाओ का विस्तार आदि। इन मदों पर किये जाने वाले व्यय से तुरन्त ही उत्पादक सम्पत्तियो मे वृद्धि नही होती है और पूंजी-सचय की गति मे भी वृद्धि नही हो पाती है।

(8) **जनसंख्या एवं प्राकृतिक साधन**—प्रगति को प्रभावित करने वाले घटको मे जनसख्या, प्राकृतिक साधन, पूँजी सचय एव प्राविधिक स्तर को प्रमुख स्थान प्राप्त है। प्राकृतिक साधनो मे विद्यमान एव सम्भावित साधन दोनो को ही सम्मिलित किया जाता है। जैसे-जैसे किसी देश की जनसख्या मे वृद्धि होती है, प्राकृतिक साधनों का अधिक व्यापक एव गहन उपयोग करने की आवश्यकता होती है। परन्तु प्राकृतिक साधनो का गहन उपयोग करने के लिए पूँजी सचय, प्राविधिक प्रगति, प्रशिक्षित कुशल श्रम-शक्ति एव उपयुक्त सामाजिक वातावरण की आवश्यकता होती है। प्राकृतिक साधन यद्यपि प्रकृतिदत्त होते है जबकि उनका अवशोषण करने हेतु मनुष्यकृत साधनो की आवश्यकता होती है। जनसख्या की आय-सरचना, व्यावसायिक वितरण, सामाजिक परम्पराएँ, उत्पादन-कुशलता आदि पर प्राकृतिक साधनो का विकास निर्भर रहता है। ऐसे देश जिनमे कम आयु वाली जनसख्या (14 वर्ष से कम) का अनुपात अधिक होता है, बचत की दर कम रहती है और अधिकतर बचत का उपयोग बढती हुई जनसख्या के निर्वाह पर व्यय हो जाता है जिससे प्राकृतिक साधनो के गहन विदोहन के लिए पर्याप्त पूंजी-निर्माण नही हो पाता है। अल्प-विकसित राष्ट्रो मे अधिकतर श्रम-शक्ति कृषि एव व्यापार मे लगी रहती है और बढती हुई श्रम-शक्ति भी इन्ही व्यवसायो मे प्रविष्ट होती रहती है। कृषि-समाज मे परम्परागत मान्यताओ को कठोरता से अपनाने की प्रवृत्ति पायी जाती है जिसके परिणामस्वरूप प्राविधिक परिवर्तन स्वभावत स्वीकार नही किये जाते हैं। ऐसी परिस्थिति मे प्राकृतिक साधनो का उपयुक्त विकास सम्भव नही होता है। अल्प-विकसित राष्ट्रो मे जन-स्वास्थ्य का स्तर निम्न होता है और शैक्षणिक योग्यता ग्रहण करने की प्रवृत्ति दुर्बल रहती है जिससे श्रम-शक्ति मे उच्च-स्तरीय कुशलताओ को सीखने की योग्यता एव इच्छा कम पायी जाती है जिसके फलस्वरूप प्राकृतिक साधनो के विकास मे अवरोध उत्पन्न होते हैं। सामाजिक वातावरण भी अल्प-विकसित राष्ट्रो मे प्राकृतिक साधनो के विकास के अनुकूल नही होता है। परम्परागत जीवन के अन्तर्गत सरलतम जीवन मे सन्तुष्ट रहने की प्रवृत्ति को श्रेष्ठ माना जाता है जिससे प्राकृतिक साधनो के विदोहन को प्रोत्साहन नहीं मिलता है। इस प्रकार

जनसख्या वृद्धि के कारण एक ओर प्राकृतिक साधनो का विकास करने की आवश्यकता उदय होती है परन्तु दूसरी ओर जनसख्या वृद्धि उन घटको के विकास एव विस्तार मे बाधक होती है जिनके द्वारा प्राकृतिक साधनो का विकास किया जा सकता है। वास्तव मे प्राकृतिक साधनो के विकास के लिए एक ऐसे असन्तुष्ट समाज एव बेचैन नागरिको के समूह की आवश्यकता होती है जो अपनी वर्तमान जीवन सुविधाओं से असन्तुष्ट होने के कारण अपने चारो ओर के वातावरण को अपने अनुकूल बनाने के लिए नवीन कुशलताएँ एव नवीन तान्त्रिक ज्ञान ग्रहण करता है और सामाजिक परिवर्तन स्वभावत स्वीकार करता है।

(9) **जनसख्या-वृद्धि एव निर्धनता का दुश्चक्र**—अल्प-विकसित राष्ट्रो मे जनसख्या-वृद्धि निर्धनता के दुश्चक्र को गतिमान रखने में सहायक होती है। जनसख्या-वृद्धि के कारण समाज को अपने साधनो का बहुत बडा भाग बच्चो के पालन-पोषण पर व्यय करना पडता है जिससे बचत एव पूँजी-निर्माण की दर कम रहती है। पूँजी की कमी के कारण उत्पादन की तकनीक मे सुधार सम्भव नही होते और प्रति श्रमिक उत्पादन का परिमाण निम्न स्तर पर बना रहता है। इस प्रकार जनसख्या-वृद्धि के अनुपात म उत्पादन मे पर्याप्त वृद्धि न होने के कारण लोगो के रहन-सहन के स्तर मे और गिरावट आती है। बढती हुई श्रम-शक्ति को पूँजी की कमी के कारण गैर-कृषि क्षेत्रो मे रोजगार उपलब्ध करना सम्भव नही होता जिससे कृषि-क्षेत्र पर जनसख्या का दबाव बढता जाता है और अर्द्ध एव अदृश्य बेरोजगारी बढती जाती है। बढी हुई श्रम-शक्ति को कृषि मे लगाये रखने के लिए कृषि-तकनीक मे तीव्र गति से सुधार नही किये जाते और पूँजी के स्थान पर श्रम का ही अधिक उपयोग किया जाता है। इस व्यवस्था के फलस्वरूप उत्पादन के लगभग स्थिर स्तर को बनाये रखने के लिए अधिक श्रम उपयोग होता रहता है और कृषि-जनसख्या का परम्परागत रहन-सहन बना रहता है और निर्धनता का दुश्चक्र निरन्तर गतिमान रहता है। निर्धनता के दुश्चक्र को तोडने के लिए अधिक पूँजी-निर्माण एव शीघ्र औद्योगीकरण आवश्यक होता है और इन दोनो की व्यवस्था प्रारम्भिक काल मे कृषि-क्षेत्र मे व्यापक सुधार करके उत्पादकता बढाकर की जा सकती है और कृषि-क्षेत्र की उत्पादकता बढाने के लिए कृषि मे पूँजी-निवेश बढाने की आवश्यकता होती है। यह पूँजी निवेश तभी बढ सकता है जबकि कृषि-जनसख्या मे वृद्धि की दर को कम किया जाय।

(10) **जनसख्या एवं खाद्य-समस्या**—जनसख्या वृद्धि की तीव्र गति के कारण अल्प-विकसित राष्ट्रो मे खाद्य-समस्या स्वाभाविक रूप मे उदय हो जाती है। इन देशो मे खाद्यान्न-उत्पादन मे जनसख्या-वृद्धि की तुलना में कम अनुपात मे वृद्धि होती है जिससे प्रति व्यक्ति खाद्यान्न की उपलब्धि कम हो जाती है। कृषि तकनीक मे मन्द गति से सुधार होने के कारण कृषि-उत्पादन की प्रगति दर मन्द रहती है। कृषि व्यवसाय की प्रगति-दर मे उच्चावचान भी बहुत अधिक होते है क्योकि जलवायु घटक मे निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। विभिन्न राष्ट्रो मे प्रति व्यक्ति खाद्यान्न-उत्पादन निम्नाकित तालिका मे दर्शाया गया है

तालिका 25—ससार मे खाद्यान्न-उत्पादन[1]

	देश	1961-65	1974
		(प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष किलोग्राम में)	
1	निम्न आय वाले देश (200 डॉलर मे कम प्रति व्यक्ति आय)	145	136
2	मध्य आय वाले देश (200 डॉलर मे अधिक प्रति व्यक्ति आय)	134	163
3	समस्त विकासशील देश	143	147
4	विकसित राष्ट्र (2,000 डॉलर प्रति व्यक्ति आय)	510	590

1 *Finance and Development*, June 1977, p 16

विकासशील एव विकसित राष्ट्रो मे खाद्यान्नो के उत्पादन का अनुपात 1 4 है। हरित-क्रान्ति तकनीक के फलस्वरूप सन् 1966 68 के काल मे खाद्यान्न-उत्पादन मे 10 5% प्रति वर्ष की वृद्धि विकासशील राष्ट्रो मे हुई परन्तु सन् 1969 से 1974 के काल मे यह वृद्धि-दर घटकर 0 9% प्रति वर्ष हो गयी। उत्पादन-वृद्धि की दर मे कमी का मुख्य कारण प्रतिकूल मौसमी परिस्थितियाँ थी। निम्न आय वाले देशो मे एक ओर जनसख्या की वृद्धि की दर अधिक है और दूसरी ओर खाद्यान्न उत्पादन की वृद्धि दर अन्य देशो की तुलना मे कम है। इसी कारण इन देशो मे खाद्यान्न की समस्या की गम्भीरता बढती जा रही है। खाद्यान्नो के उत्पादन का सर्वाधिक अतिरेक उत्तरी अमेरिका मे है जहाँ से सन् 1976 मे 940 लाख टन अनाज का निर्यात किया गया जिसमे मे 470 लाख टन अनाज एशिया, 270 लाख टन पूर्वी यूरोप और रूस, 170 लाख टन पश्चिमी यूरोप और 100 लाख टन अफ्रीका को निर्यात किया गया। इस प्रकार कम आय वाले राष्ट्र अपने खाद्यान्नो की आवश्यकताओ की पूर्ति उत्पादन-वृद्धि एव आयात से कर रहे है। खाद्यान्नो के आयात के कारण कम आय वाले देशो मे विदेशी विनिमय एव पूँजी का बहुत बडा भाग विकास कार्यक्रमो के लिए उपलब्ध नही होता है। इन राष्ट्रो की खाद्य समस्या का निवारण करने के लिए एक ओर जनसख्या-वृद्धि की दर को कम करना और दूसरी ओर कृषि-क्षेत्र मे तकनीकी सुधार विदेशी रियायती सहायता से करने की आवश्यकता है।

(11) **नगरीकरण एव सामाजिक उपरिव्यय सुविधाएँ**—जनसख्या-वृद्धि के कारण बढी हुई *जनसख्या का अवशोषण कृषि-क्षेत्र मे एक सीमा तक ही हो सकता है।* अल्प विकसित राष्ट्रो मे इसी कारण बेरोजगारो का प्रवाह ग्रामो से नगरो की ओर होता जा रहा है जिसमे नगरो मे निवासगृह यातायात स्वास्थ्य-सेवाएँ जलपूर्ति शिक्षा-सुविधाएँ, पुलिस व्यवस्था आदि सभी सामाजिक उपरिव्यय सुविधाओ का विस्तार करने की समस्या उदय होती है। इन उपरिव्यय सुविधाओ पर उपलब्ध पूँजी का बडा भाग विनियोजित हो जाता है और उत्पादन मे तुरन्त वृद्धि करने वाली एव आधारभूत वस्तुएँ उत्पादन करने वाली परियोजनाओ के लिए साधनो की कमी रहती है और विकास की गति को तीव्र करना कठिन होता है। नगरीय जनसख्या का ग्रामीण जनसख्या से सम्पर्क बढने एव सामाजिक न्याय की बढती हुई माँग के कारण ग्रामीण क्षेत्रो मे भी उपरिव्यय-सुविधाओ मे वृद्धि करने के लिए अधिक पूँजी-विनियोजन की आवश्यकता होती है जिससे अल्प-विकसित राष्ट्रो के पूँजी के सीमित साधनो पर दबाव बढ जाता है और विकास की गति मे अवरोध उपस्थित होते है।

ससार की जनसख्या की वर्तमान स्थिति

विकसित राष्ट्रो के इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि प्राग औद्योगिक समाजो (Pre-industrial Societies) मे जनसख्या धीमी गति से बढी और इनकी जन्म एव मृत्यु दर दोनो ही इतनी ऊँची रही कि इनमे सन्तुलन बना रहा। औद्योगीकरण के प्रारम्भ के साथ साथ पौष्टिक आहार एव जन स्वास्थ्य सुविधाओ मे वृद्धि होने के कारण मृत्यु दर मे तेज गति से कमी हुई और जनसख्या मे तीव्र गति से वृद्धि होने लगी। इसके पश्चात जन्म दर मे कमी होने लगी और उर्वरकता-दर लगभग प्रतिस्थापन दर के बराबर हो गयी। सन् 1975 मे विकसित राष्ट्रो मे सामूहिक रूप से उर्वरकता-दर 2-1 थी। विकसित राष्ट्रो मे इस समय प्रति स्त्री बच्चो की सख्या 2 से 3 तक है। दूसरी ओर, विकासशील राष्ट्रो मे प्रति स्त्री बच्चो की औसत सख्या 5-3 है। जहाँ विकसित राष्ट्रो मे अशोधित जन्म-दर 14 प्रति हजार है, वही विकासशील राष्ट्रो मे यह 37 प्रति हजार है। *विकासशील राष्ट्रो की जनसख्या प्रत्येक 30 वर्षो मे दुगुनी हो जाती है।* इन राष्ट्रो मे उर्वरकता दर 2-6 एव अशोधित जन्म-दर 20 प्रति हजार होने तथा वर्तमान मृत्यु-दर जारी रहने पर प्रतिस्थापन उर्वरकता स्तर स्थापित किया जा सकता है।

वर्तमान काल मे अधिकतर विकासशील देश जनसख्या सक्रान्ति सिद्धान्त की दूसरी अवस्था से गुजर रहे है। इन देशो की जन्म-दर 30 और 50 प्रति हजार के बीच है और मृत्यु-दर 10

और 25 प्रति हजार के बीच है। इन दरों के जारी रहने पर विकासशील राष्ट्रों की जनसंख्या तीस वर्षों में दुगुनी हो जायगी। परन्तु सन् 1969-75 के 6 वर्षों में विकासशील राष्ट्रों में जन्म-दर में 3 9 बिन्दुओं की कमी हुई है, जैसा निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है :

तालिका 26—विकसित एवं विकासशील राष्ट्रों में जन्म एवं मृत्यु-दर (1969 एवं 1975)[1]

वर्ष	विकासशील राष्ट्र			विकसित राष्ट्र			कुल संसार		
	अशोधित जन्म-दर	अशोधित मृत्यु दर	प्राकृतिक वृद्धि-दर	अशोधित जन्म दर	अशोधित मृत्यु-दर	प्राकृतिक वृद्धि-दर	अशोधित जन्म-दर	अशोधित मृत्यु-दर	प्राकृतिक वृद्धि-दर
1969	42 9	17 0	2 6	18 0	9 1	0 9	32 0	13 3	1 9
1975	39 0	15 1	2 4	17 3	9 3	0 8	30 0	12 3	1 8

[*Source* U N S lected World Demographic Indication by Countries, 1950-2000, May 1975]

विकासशील राष्ट्रों में 6 वर्षों (1969 से 1975) के काल में जन्म-दर में मृत्यु-दर की तुलना में अधिक गिरावट आयी है जिसके परिणामस्वरूप प्राकृतिक वृद्धि-दर 2 6 से 2 4 हो गयी है। *यदि हम गत बीस वर्षों में विकासशील राष्ट्रों की जन्म-दर का अध्ययन करें तो ज्ञात होता है* कि 1955 से 1974 के बीस वर्ष के काल में 5 6 बिन्दुओं की अर्थात् लगभग 13% की कमी हुई है। एशिया में जन्म-दर में 6 5 बिन्दु, लैटिन अमेरिका में 5 4 बिन्दु और अफ्रीका में 2 3 बिन्दु की कमी इस काल में हुई, यद्यपि जन्म-दर की यह कमी जन्म-दर की कमी के लक्ष्य एक बिन्दु प्रति वर्ष से बहुत कम है। सन् 1969 से 1975 के छः वर्ष के काल में जन्म-दर में 3 9 *बिन्दुओं की कमी हुई जो लक्ष्य से लगभग आधी है। यदि विकासशील देशों में एक दशक में* जन्म-दर में 6 बिन्दुओं की कमी होती है तो संसार में सन् *2020 तक शुद्ध पुन-उत्पादन-दर* (*Net* Production Rate) 1 0 हो जायेगा जो प्रतिस्थापन दर मानी जा रही है। ऐसी परिस्थिति में 70 वर्ष बाद अर्थात् सन् 2090 तक संसार की जनसंख्या 1,100 करोड़ पर स्थिर होगी।

यदि प्रतिस्थापन शुद्ध पुन उत्पादन दर (अर्थात् 1·0) सन् 2020 के स्थान पर सन् 2000 तक प्राप्त कर ली जाय तो संसार की जनसंख्या 300 करोड़ कम पर अर्थात् 800 करोड़ स्तर पर स्थिर की जा सकती है। सन् 2000 तक शुद्ध पुन उत्पादन दर 1 0 हो जाये तो भारत की जनसंख्या 140 करोड़, ब्राजील की 27 5 करोड़, बंगलादेश की 24 5 करोड़, नाइजीरिया की 20 0 करोड़ और मैक्सिको की 17 5 करोड़ पर स्थिर हो पायगी। दूसरी ओर, यदि शुद्ध पुन-उत्पादन-दर प्रतिस्थापन-दर अर्थात् 1 0 तक सन् 2020 तक घटती है तो भारत की जनसंख्या *200 करोड़, ब्राजील की 39 करोड़, बंगलादेश की 40 करोड़,* नाइजीरिया की 32 करोड़ और मैक्सिको की 27 करोड़ पर स्थिर हो पायगी। इन तत्वों से यह स्पष्ट होता है कि विकासशील राष्ट्रों में जन्म-दर में तीव्र गति से कमी करना आवश्यक है। जन्म-दर में एक बिन्दु प्रति वर्ष कमी करने पर ही यह सम्भावना की जा सकती है कि सन् 2000 तक शुद्ध पुन-उत्पादन दर 1 0 हो सकेगी। विकासशील राष्ट्रों का जन्म-दर को कम करने का अथक प्रयत्न करना वर्तमान परिस्थितियों में एक अनिवार्यता है। *परन्तु विभिन्न विकासशील राष्ट्रों में जन्म-दर में कमी समान रूप* से नहीं हो रही है। सन् 1955 से 1974 के 20 वर्ष के काल में भारत की अशोधित जन्म-दर में *17% की कमी हुई, जबकि इण्डोनेशिया में यह कमी 13%, मैक्सिको में 11%, ब्राजील में 7%,* पाकिस्तान में 5% और बंगलादेश एवं नाइजीरिया में 0% रही। दूसरी ओर, कम जनसंख्या वाले विकासशील राष्ट्रों में जन्म-दर में इस काल में अधिक कमी हुई। दक्षिणी कोरिया में जन्म-दर में 30%, थाईलैण्ड में 25%, टर्की में 25%, कोलम्बिया में 25%, मिस्र में 25%, मॉरीशस में 37%, कोस्टारिका में 42%, चिली में 33%, सिंगापुर में 55% की कमी हुई है। जन्म-दर में

कमी की प्रवृत्ति भविष्य मे जारी रहने की अत्यधिक सम्भावना है क्योंकि ऐतिहासिक अनुभवो से ज्ञात होता है कि जन्म-दर की कमी की प्रवृत्ति एक बार प्रारम्भ होने पर प्राय जारी रहती है। जन्म-दर की कमी की इस प्रवृत्ति के बहुत से कारण है। पृथक्-पृथक् राष्ट्रो मे विभिन्न कारणो का सम्मिश्रण अलग-अलग अनुपात मे हुआ है। समान प्रति व्यक्ति आय वाले राष्ट्रो मे जन्म-दर एव जन्म-दर की कमी की प्रवृत्ति दोनो मे ही अन्तर पाया जाता है जिससे इस बात की पुष्टि होती है कि केवल आर्थिक परिस्थितियाँ ही जन्म-दर को प्रभावित नही करती है वरन् सामाजिक, सास्कृतिक, धार्मिक आदि कारक भी जन्म-दर को प्रभावित करते हैं। स्वास्थ्य-सुविधाओ का विस्तार, स्त्री एव पुरुष दोनो को शिक्षा की सुविधाओं मे वृद्धि, आर्थिक प्रगति का समाज के कम आय वाले वर्गो तक फैलाव, नगरीकरण का विस्तार तथा स्त्रियों की समाज मे, राजनीति मे, व्यवसायो मे एवं आर्थिक अवसरो मे अधिक योगदान देने से जन्म-दर की कमी की प्रवृत्ति को सुदृढ एव विस्तरित किया जा सकता है।

जनसंख्या विस्फोट

मानव-जीवन पृथ्वी पर लगभग दस लाख वर्षों से विद्यमान है। प्रारम्भिक काल मे कृषि-यान्त्रिकता, उपयुक्त औजारो की अनुपस्थिति एव कठोर वातावरण के कारण मानव की जन्म-दर उसकी मृत्यु-दर के लगभग बराबर थी। लगभग 8000 B C तक जबकि कृषि का प्रारम्भ हुआ दस हजार शताब्दियो मे ससार की जनसख्या लगभग 80 लाख हो गयी। इसके पश्चात के 8000 वर्षों मे ससार की जनसख्या बढकर 30 करोड हो गयी अर्थात् इस काल मे जनसख्या-वृद्धि की दर ·046% रही। कृषि की उन्नति के साथ जनसख्या-वृद्धि की दर मे वृद्धि होती गयी और सन् 1750 मे ससार की जनसख्या 80 करोड हो गयी अर्थात् 1750 वर्षो के काल मे जनसख्या-वृद्धि की वार्षिक दर 06% हो गयी। इसके पश्चात ससार के विभिन्न राष्ट्रो मे औद्योगिक क्रान्ति का अभ्युदय हुआ जिसने जनसख्या की वृद्धि-दर को तीव्र गति प्रदान की और सन् 1900 मे ससार की जनसख्या बढकर 165 करोड हो गयी अर्थात् 150 वर्षों मे ससार की जनसख्या दुगुनी हो गयी और जनसख्या की वार्षिक वृद्धि-दर 48% हो गयी। 1964 मे ससार की जनसख्या पुन दुगुनी हो गयी अर्थात् 320 करोड। इस प्रकार इस बार ससार की जनसख्या को दुगुना होने मे केवल 64 वर्ष ही लगे। सन् 1975 मे ससार की जनसख्या बढकर 390 करोड हो गयी और 1900 से 1975 के काल मे जनसख्या-वृद्धि की वार्षिक वृद्धि-दर 1% से कुछ अधिक रही। वर्तमान अनुमानानुसार सन् 2000 तक ससार की जनसख्या 630 करोड हो जायेगी और इसे 1964 से 2000 तक दुगुना होने मे लगभग 35 वर्ष लगेंगे। ससार मे मानव की प्रथम 1000 करोड की जनसख्या 10 लाख से भी अधिक वर्षो मे उदय हुई। इसमे दूसरी 100 करोड 120 वर्ष म जुडी। तीसरी 100 करोड जुडने मे 32 वर्ष लगे और चौथी 100 करोड जनसख्या केवल 15 वर्ष मे बढ गयी है। यदि जनसख्या-वृद्धि की वर्तमान वार्षिक वृद्धि-दर 2% रहती है तो पाँचवी 100 करोड जनसख्या केवल 11 वर्ष मे बढ जायेगी।

सन् 1750 से 1850 के काल मे विकसित एव विकासशील देशो की जनसख्या की वार्षिक वृद्धि-दर क्रमश ·6% तथा 4% थी। सन् 1850 से 1950 के शतक मे जनसख्या की वार्षिक वृद्धि-दर विकसित राष्ट्रो मे 9% तथा विकासशील राष्ट्रो मे 6% रही। परन्तु सन् 1950 से 1975 तक के 25 वर्षो मे जनसख्या-वृद्धि की दरो मे आश्चर्यजनक परिवर्तन हुए और विकसित एव विकासशील राष्ट्रो मे यह दर क्रमश 1·1% तथा 2 2% रही। सन् 1950 से 1975 के काल मे विकसित राष्ट्रो मे प्रति वर्ष औसतन 110 लाख और विकासशील राष्ट्रो मे प्रति वर्ष 480 लाख लोगो की वृद्धि हुई। इस प्रकार प्रत्येक वर्ष विकासशील राष्ट्रो मे विकसित राष्ट्रो की तुलना मे पर गुनी जनसख्या-वृद्धि हो रही है।

जनसंख्या संक्रान्ति सिद्धान्त

ये अवस्थाएँ जनसख्या सक्रान्ति सिद्धान्त (Theory of Demographic Transition) के अन्तर्गत निर्धारित की गयी है। ये अवस्थाएँ निम्नवत् है

प्रथम अवस्था—जब किसी अल्प-विकसित राष्ट्र मे विकास का प्रारम्भ किया जाता है तो उस समय उस राष्ट्र मे जन्म एव मृत्यु दर ऊँची होती है और जनसख्या-वृद्धि की दर बहुत ऊँची नही होती है। इस अवस्था मे अर्थ-व्यवस्था कृषि-प्रधान होती है। समाज मे चिकित्सा एव स्वास्थ्य की सुविधाएँ कम होती है और सामाजिक परम्पराओ द्वारा अधिक बच्चो वाले परिवारो को प्रतिष्ठा दी जाती है। जनसाधारण अधिक बच्चो को अपनी वृद्धावस्था का बीमा मानता है। बच्चो मे मृत्यु-दर अधिक होती है।

द्वितीय अवस्था—जब अर्थ-व्यवस्था मे विकास का प्रवेश होता है तो स्वास्थ्य, चिकित्सा, शिक्षा, सामाजिक सुरक्षा आदि की सुविधाओ मे तेजी से वृद्धि होती है। लोगो के जीवन-स्तर एव पौष्टिक भोजन म सुधार होता है। इन समस्त सुविधाओ के फलस्वरूप मृत्यु-दर कम होने लगती है परन्तु जन्म-दर स्थिर रहती है तथा सम्भावित जीवनकाल बढ जाता है। इस अवस्था को जनसख्या-विस्फोटकाल (Population Explosion Period) कहते है। इस अवस्था मे मृत्यु-दर कम होने, जन्म-दर स्थिर रहने और औसत जीवनकाल बढ जाने से जनसख्या मे तीव्र गति के वृद्धि होती है। राष्ट्रीय आय मे वृद्धि होते हुए भी प्रति व्यक्ति आय मे वृद्धि नही होती है। ऐसी परिस्थिति मे सामाजिक मान्यताओं एव विचारधाराओ मे परिवर्तन होता है। परिवार-नियोजन के कार्यक्रमो का सचालन होता है, परन्तु इन सब का जनसख्या-वृद्धि पर अल्पकाल मे कोई विशेष प्रभाव नही पडता है।

तृतीय अवस्था—विकासोन्मुख अवस्था के सक्रान्ति-काल की समाप्ति पर जब राष्ट्र विकसित हो जाता है तो जन्म-दर मे कमी होने लगती है और घटते-घटते मृत्यु-दर के बराबर हो जाती है। ये दोनो दरे न्यूनतम स्तर पर स्थिर हो जाती है और यह स्थिति कुछ समय तक बनी रहती है। जन्म-दर मे कमी होने का कारण सामाजिक मान्यताओ म परिवर्तन, व्यक्तिवादी आर्थिक जीवन का विस्तार, परिवार-नियोजन की सफलता, आर्थिक समानता आदि हाते हैं।

ससार की जनसख्या के विस्फोट का प्रमुख कारण इस प्रकार अल्प-विकसित राष्ट्रो का सक्रान्ति-काल है और यदि ऐसे अधिकतर राष्ट्र तीसरी अवस्था मे प्रविष्ट हो जाते है तो जनसख्या की वृद्धि की गति मे कमी आना स्वाभाविक होगा।

जनसख्या-नीति एव मानव-शक्ति नियोजन

अल्प-विकसित राष्ट्रो मे जनसख्या की समस्या अपने परिमाणात्मक एव गुणात्मक दोनो ही स्वरूपो मे विद्यमान है। इस अध्याय मे दिये गये विभिन्न तथ्यो मे यह स्वयसिद्ध है कि अल्प-विकसित राष्ट्रो मे जनसख्या का परिमाण अधिक है तथा इन देशो की जनसख्या मे उत्पादक श्रम-शक्ति का अनुपात विकसित राष्ट्रो की तुलना मे कम है। इसके साथ इन राष्ट्रो की श्रम-शक्ति कुशलता, योग्यता एव अनुभव मे भी पिछडी हुई होने के कारण, उत्पादक क्रियाओ मे पर्याप्त योगदान नही दे पाती है। यह कहना अतिशयोक्ति नही होगा कि अल्प-विकसित राष्ट्र अपनी अल्प-विकसित जनसख्या सम्बन्धी दोषो के कारण ही पिछडे हुए है। यदि जनसख्या सम्बन्धी दोषो को प्रभावशाली जनसख्या-नीति एव नियोजन द्वारा दूर किया जा सके तो ये राष्ट्र भी अपना स्थान विकसित राष्ट्रो मे बना सकने मे समर्थ हो सकते हैं।

अति-जनसंख्या

यह विचार प्राय विवादास्पद है कि अल्प-विकसित राष्ट्र अति-जनसख्या (Over population) से पीडित हैं या नही। वास्तव मे अल्प-विकसित राष्ट्रो मे अधिक जनसख्या एव न्यून जनसख्या दोनो ही प्रकार के राष्ट्र हैं, अर्थात् अल्प-विकसित राष्ट्रो मे बहुत से ऐसे राष्ट्र सम्मिलित हैं जिनमे जनसख्या का घनत्व अत्यधिक है और कुछ ऐसे है जिनमे जनसख्या का घनत्व विकसि

राष्ट्रों की तुलना में भी कम है। ऐसी परिस्थिति में यह सामान्य लक्षण कि अल्प-विकसित राष्ट्रों में जनसंख्या का आधिक्य है, निर्धारित करना उचित नहीं है। वास्तव में किसी राष्ट्र में जनसंख्या का आधिक्य हम इस बात पर निर्धारित करते हैं कि उस देश की उत्पादक क्रियाओं के अनुपात में जनसंख्या अधिक है या नहीं। इसी कारण राष्ट्रीय प्रति व्यक्ति आय के आधार पर किसी भी राष्ट्र का विकसित अथवा अल्प-विकसित रहना निर्भर होता है। ऐसी परिस्थिति में *अति-जनसंख्या* (Over-Population) का अर्थ समाज की ऐसी स्थिति से है जिसमें वर्तमान भूमि, पूँजी एवं तान्त्रिक ज्ञान के आधार पर जनसंख्या के जिस परिमाण को उच्चतम जीवन-स्तर प्रदान किया जा सकता हो, उससे कहीं अधिक जनसंख्या विद्यमान हो। यदि किसी अर्थ-व्यवस्था में भूमि, पूँजी एवं तान्त्रिक ज्ञान में सुधार एवं विस्तार करके आर्थिक कुशलता में सुधार कर लिया जाता है तो भूतकाल में जन-संख्या का जो *परिमाण उस अर्थ-व्यवस्था में अति-जनसंख्या माना गया हो, अब अनुकूल जनसंख्या* समझा जा सकता है। यदि किसी देश में प्राकृतिक साधनों का व्यापक एवं कुशल उपयोग करके एवं उत्पादन-तान्त्रिकताओं में आमूल परिवर्तन करके उत्पादन एवं उत्पादन-क्षमता में वृद्धि करना सम्भव हो सकता है तो उस देश को अति-जनसंख्या वाला देश वर्तमान परिस्थितियों के आधार पर ही कहा जा सकता है और भविष्य में वही देश अनुकूल जनसंख्या का देश बन सकता है। वर्तमान युग में *उत्पादन-तान्त्रिकताओं में क्रान्तिकारी सुधार होते रहने के कारण कोई भी देश केवल थोड़े* समय के लिए अति जनसंख्या का देश रह सकता है। परन्तु अल्प-विकसित राष्ट्रों में आर्थिक कुश-लता में सुधार होने के साथ-साथ जनसंख्या में भी तेजी से वृद्धि हो रही है जिसके परिणामस्वरूप अति-जनसंख्या की स्थिति स्थायी एवं गम्भीर स्वरूप ग्रहण कर सकती है और आर्थिक प्रगति के समस्त प्रयास सामान्य नागरिक के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने में असमर्थ रह सकते हैं। ऐसी परि-स्थिति में *आर्थिक प्रगति को सफल बनाने हेतु यह अत्यन्त आवश्यक होता है कि अर्थ-व्यवस्था में* प्रभावशाली जनसंख्या-नीति का संचालन किया जाय।

जनशक्ति नियोजन एवं जनसंख्या-नीति

जनसंख्या-नियोजन एवं जनसंख्या-नीति से हमारा तात्पर्य उन समस्त कार्यवाहियों से है जो जनसंख्या के बढ़ते हुए परिमाण को कम करने एवं विद्यमान जनसंख्या के उत्पादक गुणों में वृद्धि करने के लिए की जाती हैं। *अधिकतर अल्प-विकसित राष्ट्रों में आधुनिक युग में नियोजित विकास* का संचालन किया जा रहा है जिसके अन्तर्गत राज्य विकास-सम्बन्धी प्रक्रिया के समस्त पक्षों का निर्देशन करता है। राज्य द्वारा जनसंख्या की वृद्धि को रोकने एवं उसके उत्पादक गुणों में वृद्धि करने के लिए जो नीति अपनायी जाती है, उसे जनसंख्या-नीति कहते हैं।

मानव-शक्ति नियोजन एवं जनसंख्या-नीति के अंग

(1) **सामाजिक वातावरण में परिवर्तन**—*जनसंख्या सम्बन्धी समस्याएँ मूल रूप से सामाजिक* समस्याएँ हैं। समाज में संयुक्त परिवार-पद्धति, परिवार में पुत्र का होना आवश्यक समझा जाना, निःसन्तान होने को सामाजिक हीनता माना जाना, बड़े परिवार को सामाजिक प्रतिष्ठा प्रदान किया जाना आदि ऐसी सामाजिक परम्पराएँ हैं जो जनसंख्या की वृद्धि को प्रोत्साहित करती हैं। इन परम्पराओं में आमूल परिवर्तन करने के लिए शिक्षा एवं प्रशिक्षण के विस्तार के साथ व्यक्तिवादी अर्थ-जीवन को सरक्षण व श्रम की गतिशीलता को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए जिससे जनसंख्या-वृद्धि को रोकना सम्भव हो सकता है। समाज में उर्वरकता कम करने के प्रति जागरूकता उत्पन्न करने के लिए स्थानीय जनसंख्या को स्थानीय जनसंख्या-वृद्धि की स्थानीय सामाजिक लागत पर पड़ने वाले प्रभावों से अवगत कराना आवश्यक होता है। स्थानीय स्कूलों, जन-सेवाओं आदि की लागत में योगदान स्थानीय लोगों को भी देना पड़ता है तो जनसंख्या-वृद्धि को कम करने और लोगों में उत्तरदायित्व की भावना उदय होती है।

(2) **परिवार-नियोजन का विस्तार**—परिवार-नियोजन की सरल विधियों का इस प्रकार व्यापक विस्तार किया जाना चाहिए कि इसके परिणामस्वरूप *अन्य सामाजिक दोष उत्पन्न न हों।*

वास्तव म परिवार-नियोजन की विधियों का व्यापक उपयोग सामाजिक वातावरण पर निर्भर रहता है। निम्न आय वाले वर्गों, विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों मे तथा धार्मिक कट्टर-पन्थियो के समाज मे परिवार नियोजन का फैलाव अत्यन्त कठिन होता है। परिवार-नियोजन द्वारा जन्म-दर को कम किया जा सकता है। परिवार-नियोजन के सफल सचालन हेतु वैकल्पिक गर्भ-निरोधक विधियाँ उपलब्ध करायी जानी चाहिए जिससे लोग अपनी मान्यताओ सामाजिक स्थिति एव रुचि के अनुसार इन विधियो मे से चयन कर सकें। गर्भ निरोधक सामग्री का वितरण इतना सरल एव स्वाभाविक होना चाहिए कि किसी को भी इनको प्राप्त करने म कोई कठिनाई न हो। इसके साथ परिवार नियोजन की विधियो के सम्बन्ध मे निरन्तर शोधकार्य सचालित करने चाहिए जिससे सरलतम विधियो का आविष्कार किया जा सके। गर्भ-निरोध एव गर्भपात की ऐसी विधियाँ ही अधिक स्वीकार्य होती हैं जिनमे चिकित्सक की अधिक सहायता एव शल्य चिकित्सा की आवश्यकता नही होती है।

कम आय वाले राष्ट्रो मे परिवार-नियोजन के कार्यक्रमो का सचालन इस प्रकार किया जाना चाहिए कि इसके अन्तर्गत उन माता पिताओ को सुविधाएँ प्रदान की जा सकें जो इनको अपनाने के इच्छुक हे अन्य माता-पिताओ को परिवार नियोजन की सुविधाओ का उपयोग करने के लिए प्रोत्साहन प्रदान किया जा सके और स्थानीय जनसख्या मे बढती हुई जनसख्या के दोषो के प्रति जागरूकता उत्पन्न हो सके। इसके साथ ही स्थानीय समाज के और विशेषकर माताओ एव बच्चो के स्वास्थ्य मे सुधार करने को पर्याप्त मान्यता दी जानी चाहिए। परिवार-नियोजन मे सुविधाओ की माँग म वृद्धि होने के साथ ही इन सुविधाओं का पर्याप्त विस्तार होना चाहिए।

परिवार-नियोजन के कार्यक्रमो की प्रभावशीलता एव सफलता देश के आर्थिक एव सामाजिक जीवन पर बडी सीमा तक निर्भर करती है। सामाजिक एव आर्थिक विकास के फलस्वरूप लोगो मे अपने चारो ओर के वातावरण के प्रति जागरूकता होती है और लोग अपने और अपने परिवार के जीवन स्तर म सुधार करने के लिए विचारशील होते है जिससे परिवार-नियोजन की सुविधाओ की स्वीकृति मे व्यापकता आती है। परन्तु यह मान लेना कदापि उचित नही होगा कि सामाजिक एव आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप उवरकता-दर स्वत ही कम हो जायेगी। विकासशील राष्ट्रो मे प्रति व्यक्ति आय मे मन्द गति से वृद्धि होने के कारण विकास प्रक्रिया के माध्यम से उर्वरकता दर मे स्वभावत कमी अत्यधिक दीर्घकाल मे उदय होगी और इस दीर्घकाल मे जनसख्या बढकर ऐसे स्तर तक पहुँच जायेगी कि विकास की गति को ऋणात्मक कर देगी। इस परिस्थिति मे विकास एव परिवार-नियोजन का समन्वित रूप मे सचालित करने पर उर्वरकता दर को यथासमय कम किया जा सकता है।

(3) **स्वास्थ्य, शिक्षा, चिकित्सा एव पौष्टिक भोजन की व्यवस्था**—समाज मे स्वास्थ्य एव शिक्षा की व्यापक व्यवस्था करके जनसाधारण को अपने स्वास्थ्य एव कल्याण के प्रति जागरूक बनाया जा सकता है। चिकित्सा एव पौष्टिक भोजन द्वारा वर्तमान श्रम-शक्ति के स्वास्थ्य मे सुधार के साथ शिशुकाल म मृत्यु दर का कम किया जा सकता है जिसके फलस्वरूप श्रम-शक्ति के उत्पादक आयुकाल (15 वर्ष से 64 वर्ष तक का वर्ग) मे वृद्धि की जा सकती है जो देश के उत्पादन मे अधिक समय तक योगदान दे सकती है। चिकित्सा एव पौष्टिक भोजन की उचित व्यवस्था द्वारा सम्भावित जीवनकाल भी बढ जाता है जिससे प्रत्येक नागरिक अपने जीवनकाल मे जितना उपभोग करता है, उससे कही अधिक उत्पादन करने मे समर्थ हो सकता है।

(4) **व्यावसायिक सरचना मे परिवर्तन**—अल्प विकसित राष्ट्रो मे जनसख्या का 60 से 70 तक भाग प्राथमिक व्यवसायो (कृषि, वन, मछली पकडना आदि) मे सलग्न रहता है। यह वर्ग अधिक परम्परावादी एव परिवर्तनो के प्रति सुषुप्त रहता है। इस वर्ग मे से श्रम शक्ति के अतिरेक को यदि औद्योगिक एव वाणिज्यिक क्षेत्र मे हस्तान्तरित कर दिया जाय तो व्यक्तिवादी अर्थ-जीवन को प्रोत्साहन मिलता है और छोटे परिवार की विचारधारा के प्रति व्यापक जागरूकता उत्पन्न होती है।

(5) **जनसंख्या का सन्तुलित क्षेत्रीय वितरण**—जनसंख्या-नीति के अन्तर्गत जनसंख्या के क्षेत्रीय असन्तुलन को कम करने का प्रयत्न किया जाता है क्योंकि जिन क्षेत्रों मे जनसंख्या का घनत्व अधिक होता है वहाँ श्रम-शक्ति का बहुत बड़ा भाग या तो बेरोजगार रहता है या फिर अंशत बेरोजगार रहता है। यदि इस अतिरिक्त श्रम को घनी आबादी वाले क्षेत्रों में स्थानान्तरित कर दिया जाय तो यही श्रम अर्थ-व्यवस्था के लिए अधिक उत्पादन कर सकता है और कम घनत्व वाले क्षेत्रों के प्राकृतिक साधनों का अधिक गहन शोषण हो सकता है। राज्य द्वारा कम घनत्व वाले क्षेत्रों मे आकर्षक सुविधाएँ प्रदान करके जनसंख्या के क्षेत्रीय असन्तुलन को दूर किया जाता है।

(6) **देशान्तर-गमन को प्रोत्साहन**—जिन व्यवसायों मे श्रम का अतिरेक हो, उनमें से श्रम-शक्ति को दूसरे देशों में जा बसने को राज्य द्वारा प्रोत्साहित किया जाता है, बशर्ते दूसरे देश इस श्रम-शक्ति को अपने यहाँ बसाने के लिए सम्मानपूर्ण सुविधाएँ प्रदान करते हो। परन्तु देशान्तर-गमन की खुली छूट देना किसी भी प्रकार उचित नही होता है क्योंकि ऐसे विशिष्ट व्यवसायों (जिनमे प्रशिक्षित श्रम शक्ति की कमी है) से श्रमिकों के देशान्तर गमन की अनुमति देना देश के लिए हानिकारक होता है।

(7) **शिक्षा एवं प्रशिक्षण का विस्तार**—शिक्षा एवं प्रशिक्षण की सुविधाओं का विस्तार करके श्रम शक्ति की उत्पादन-क्षमता बढ़ाने के साथ साथ जन्म-दर कम करने के प्रति जागरूकता उत्पन्न की जा सकती है। शिक्षा एवं प्रशिक्षण की सुविधाओं का विस्तार करते समय श्रम-शक्ति का बजट प्रभावशाली ढंग से बनाया जाना चाहिए जिससे अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकतानुसार विभिन्न आर्थिक क्रियाओं हेतु श्रम उपलब्ध हो सके और किसी भी आर्थिक क्रिया मे श्रम की न्यूनता होने के कारण उत्पादन में गतिरोध उत्पन्न न हो अथवा अतिरेक होने के कारण श्रम-शक्ति की उत्पादन-क्षमता का उपयोग न होने से राष्ट्रीय उत्पादन मे कमी आ सके। शिक्षा एवं प्रशिक्षण की व्यवस्था से जनसंख्या के गुणात्मक लक्षणों मे वृद्धि करना सम्भव हो सकता है जो देश की उत्पादन-वृद्धि मे सहायक होते हैं परन्तु गुणात्मक लक्षणों मे पर्याप्त वृद्धि तभी हो सकती है जब श्रम-शक्ति के बजट के आधार पर उच्च शिक्षा एवं व्यावसायिक प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाय। यद्यपि औपचारिक, सैद्धान्तिक एवं महँगी शिक्षा की अधिक आवश्यकता नही होती है परन्तु विकास से सम्बद्ध व्यावहारिक एवं व्यावसायिक शिक्षा—परिवार-नियोजन, स्वास्थ्य, शिशुपालन, पौष्टिक आहार, स्वच्छता नागरिकता आदि—सम्बन्ध में सभी स्त्री एवं पुरुषों को आधारभूत शिक्षा एवं ज्ञान प्राप्त करने का आयोजन प्रत्येक सरकार को करना चाहिए। इस प्रकार की शिक्षा के विस्तार से उर्वरकता-दर को कम करना सम्भव हो सकता है।

यद्यपि शिक्षा एवं उर्वरकता का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है फिर भी लड़कियों को शिक्षा प्रदान करने मे उनके विवाह को कुछ वर्षों के लिए टाला जा सकता है जिससे उनके शिशु उत्पन्न करने के वर्षों मे कुछ कमी हो जाती है। शिक्षा के विस्तार से लोगों मे परिवार-नियोजन की सूचनाएँ ग्रहण करने की योग्यता मे वृद्धि होती है। लड़कियाँ जब शिक्षा ग्रहण करने के पश्चात अपने घर से बाहर नौकरी आदि करने लगती है तो बड़े परिवार की इच्छा एवं सम्भावनाओं मे कमी हो जाती है। स्कूल मे पढ़ने वाले बच्चे परिवार की आय मे तुरन्त मे कोई वृद्धि नही करते परन्तु भविष्य मे अधिक आय-उपार्जन की क्षमता ग्रहण कर लेते हैं। तुरन्त मे आय न प्रदान करने के कारण माता-पिता को बड़े परिवार के लिए आकर्षण नही होता है। ऐसे देशो मे जिनमे 15 वर्ष से कम आयु के बच्चे आय-उपार्जन करने लगते हैं, उर्वरकता-दर अधिक रहती है। पढ़े-लिखे माता-पिता अपने बच्चों को उच्च एवं अच्छी शिक्षा देना चाहते है जो छोटे परिवार मे ही सम्भव होती है। यही कारण है कि पढ़े-लिखे माता पिता बड़े परिवार की ओर आकर्षित नहीं होते है। पढ़े-लिखे माता-पिता के बच्चों मे शिशु-मृत्यु दर भी कम होती है क्योंकि बच्चों के स्वास्थ्य, आहार आदि पर पर्याप्त ध्यान दिया जाता है। बच्चों के जीवित रहने का आश्वासन होने से अधिक बच्चे उत्पन्न

करने की आवश्यकता महसूस नहीं होती है। परम्परागत लोग अधिक बच्चे इसलिए भी चाहते हैं कि इनमें से कुछ के मर जाने पर कुछ तो जीवित रह ही जायेंगे, ऐसा उनका विश्वास होता है।

(8) **स्त्री समाज के कल्याण की व्यवस्था**—जनसंख्या नीति को सफल बनाने में स्त्री-समाज का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान होता है। जन्म दर को कम करने में स्त्रियों की जागरूकता, उनके सामाजिक स्तर में उन्नति तथा उनमें आर्थिक स्वतन्त्रता के प्रति आकर्षण आदि विशेष रूप से सहायक होते हैं। स्त्रियों को पुरुष के समान आर्थिक एवं सामाजिक अधिकार प्रदान करने के लिए वैधानिक व्यवस्थाओं के साथ-साथ उनके प्रशिक्षण एवं शिक्षा की उपयुक्त व्यवस्था एवं रोजगार में प्राथमिकता का आयोजन किया जाना चाहिए। स्त्री समाज व्यक्तिवादी अर्थ-जीवन के प्रति जितना अधिक जागरूक होता जायगा, जनसंख्या की समस्या का निर्धारण उतना ही सरल होता जायेगा।

संसार में स्त्रियों की शिक्षा की उचित व्यवस्था बहुत से राष्ट्रों में पर्याप्त परिमाण में उपलब्ध नहीं है जिससे अशिक्षित स्त्रियों की संख्या में अशिक्षित पुरुषों की संख्या की तुलना में अधिक तीव्र गति से वृद्धि हो रही है। संसार के 80 करोड़ अशिक्षित लोगों में से 2/3 स्त्रियाँ हैं। समाज में स्त्रियों को आर्थिक योगदान न मानकर उनको माताओं के रूप में समाज का महत्वपूर्ण अंग माना जाता है। स्त्रियाँ यद्यपि बहुत से विकासशील राष्ट्रों में आर्थिक गतिविधियों (विशेषकर कृषि व्यवसाय) में पुरुषों के समान ही कार्य करती हैं, फिर भी उनके आर्थिक कार्यों को उचित मान्यता नहीं प्रदान की जाती है। निर्धन परिवारों में यद्यपि स्त्रियाँ पुरुषों के समान ही आयोपार्जन करती हैं परन्तु उन्हें परिवार को उपलब्ध होने वाली सुख सुविधाओं में सबसे अन्तिम स्थान दिया जाता है। भोजन एवं कपड़ा जैसी अनिवार्यताओं के सम्बन्ध में परिवार में पहला स्थान पुरुष को, दूसरा बच्चों का और अन्त में बचे हुए भोजन आदि माताओं को मिलते हैं। इस व्यवस्था का प्रभाव स्त्रियों की भावनाओं एवं स्वास्थ्य दोनों पर पड़ता है। दुर्बल माताएँ कमजोर एवं बीमार बच्चों को जन्म देती हैं जिनके पालन पोषण में कठिनाई होती है और वे प्रायः शिशुकाल में ही मृत्यु का शिकार हो जाते हैं। इसके परिणामस्वरूप गर्भ धारण बार-बार होता है और स्त्रियों पर गर्भ धारण एवं शिशुओं के पालन का कार्य इतना अधिक रहता है कि वे घर से बाहर रहकर आर्थिक कार्य नहीं कर पाती हैं। इस परिस्थिति में स्त्रियों का व्यावसायिक एवं आर्थिक महत्व कम हो जाता है और परिवार एवं समाज में पुरुष का महत्व बढ़ता जाता है। यही कारण है कि परिवार में बेटों का जन्म अधिक इच्छित माना जाता है और जिन परिवारों में बेटियों की संख्या अधिक होती है उनमें बेटे के जन्म के लिए एक के बाद एक गर्भ धारण होते रहते हैं जिससे परिवार तो बड़ा होता ही है, माता की शारीरिक शक्ति क्षीण होती जाती है और वह घरेलू स्त्री मात्र बनकर रह जाती है।

यदि स्त्री एवं पुरुष दोनों ही आयोपार्जन का कार्य करें तो एक ओर उर्वरकता घटती है तथा छोटे परिवारों का उदय होता है और दूसरी ओर सक्रिय श्रम शक्ति में स्त्रियों के सम्मिलित हो जाने से आर्थिक प्रगति की गति तेज होती है जो रोजगार के अवसर बढ़ाने में सहायक होती है। यह विचार कि स्त्रियों को आर्थिक कार्य में लगाने से अल्प-विकसित राष्ट्रों में बेरोजगारी की समस्या और गम्भीर हो सकती है, उचित नहीं है क्योंकि दीर्घकाल में छोटा परिवार एवं एक के स्थान पर दो (स्त्री एवं पुरुष) उत्पादक श्रमिकों के योगदान से अधिक कर एवं बचत के रूप में विकास में सहायता मिलती है।

स्त्रियों को शिक्षा एवं आर्थिक क्रियाओं के लिए अधिक अवसर प्रदान करके उर्वरकता में पर्याप्त कमी करना सम्भव हो सकता है। तीव्र गति से बढ़ती हुई जनसंख्या वाले जिन समाजों में लड़कों को शिक्षा एवं प्रशिक्षण पर ही अधिक व्यय किया जाता है इनमें लड़कियों की उर्वरकता का स्तर ऊँचा बना रहेगा और ये समाज अन्ततः विकास के पथ पर आगे नहीं बढ़ सकते हैं।

(9) **शिशु-मृत्यु-दर में कमी**—विकासशील राष्ट्रों में शिशु मृत्यु दर विकसित राष्ट्रों की तुलना में 20 गुनी अधिक है क्योंकि विकासशील राष्ट्रों में पौष्टिक आहार का न्यून स्तर, शारीरिक सुरक्षा की निम्न स्तरीय परिस्थितियाँ तथा अपर्याप्त स्वास्थ्य-सेवाएँ विद्यमान हैं। अधिकतर

विकासशील राष्ट्रों में स्वास्थ्य-सेवाओं पर होने वाले व्यय का बहुत बड़ा भाग नगरों के छोटे से सम्पन्न वर्गों के लिए उपयोग हो जाता है और 90% लोग स्वास्थ्य सेवाओं से वंचित रहते हैं। स्वास्थ्य-सेवाओं को निर्धन-वर्गों को उपलब्ध कराकर शिशु-मृत्यु-दर को कम किया जा सकता है जिससे सम्भावित जीवन को बढ़ाया जा सकता है। जब माता-पिता को जन्म पाने वाले बच्चों के लम्बे समय तक जीवित रहने के आश्वासन मिल जाते हैं तो अधिक बच्चे उत्पन्न करने के लिए आकर्षण नहीं रहता है और उर्वरकता-दर में कमी आती है।

(10) छोटे कृषकों की उत्पादकता में वृद्धि तथा नगरों में आयोपार्जन के अवसरों को बढ़ाना—विकासशील राष्ट्रों में लघु कृषक एवं भूमिहीन श्रमिक निर्धनतम-वर्ग होता है और इस वर्ग में उर्वरकता-दर अधिकतम होती है। इस वर्ग का कुछ भाग नगरों में रोजगार पाने के लिए चला जाता है और शेष भाग भूमि के छोटे से टुकड़े पर अपने परिवार का निर्धनतम वातावरण में भरण-पोषण करता है। भूमि-सुधार, साख-सुविधाओं की व्यवस्था, सिंचाई-सुविधाओं में वृद्धि, अन्य कृषि-विस्तार सेवाओं में वृद्धि आदि से इस वर्ग की आय एवं जीवन-स्तर में वृद्धि की जा सकती है। ग्रामीण विकास के समन्वित कार्यक्रमों का संचालन करने के लिए ऐसी विशिष्ट संस्थाओं की स्थापना की जा सकती है जो सरकार द्वारा प्रदान की गयी सुविधाओं को इस निर्धन-वर्ग तक पहुँचा कर इनकी आय एवं जीवन-स्तर में सुधार कर सकें जिसका स्वाभाविक परिणाम उर्वरकता में कमी होता है। विश्व बैंक द्वारा इस प्रकार की ग्रामीण विकास की परियोजनाओं को विशेष सहायता प्रदान की जाती है।

ग्रामीण क्षेत्रों से नगरों में आयी हुई श्रम-शक्ति को उत्पादक कार्यों में पर्याप्त योगदान देने के लिए आर्थिक अवसरों में वृद्धि करना आवश्यक होता है। परम्परागत एवं आधुनिक दोनों ही क्षेत्रों में आर्थिक अवसरों में वृद्धि की जानी चाहिए। जनोपयोगी सुविधाओं, यातायात, शिक्षा, स्वास्थ्य-सेवाओं एवं निवासगृहों के निर्माण आदि के विस्तार-कार्यक्रमों में नये अवसर उपलब्ध कराये जा सकते हैं। ग्रामों से आयी हुई श्रम-शक्ति धीरे-धीरे नगरीय वातावरण एवं सुविधाओं की अभ्यस्त हो जाती है और अपनी ग्रामीण परम्पराओं—कम आयु में विवाह, शिक्षा ग्रहण न करना, बड़ा परिवार आदि—को त्याग देती है जिससे उर्वरकता-दर में कमी आती है।

(11) आर्थिक प्रगति का अधिक समान वितरण—अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों में आर्थिक विकास के लाभों का अत्यन्त विषम वितरण होता है। इन राष्ट्रों में 40% जनसंख्या को कुल आय का 75% भाग प्राप्त होता है और 40% निर्धन जनसंख्या को राष्ट्रीय आय का 10 से 15% भाग ही प्राप्त होता है। विकास-कार्यक्रमों का लाभ अधिकतर उच्च आय वाली 40% जनसंख्या में केन्द्रित हो जाता है और निर्धन वर्ग न तो विकास-कार्यक्रमों में योगदान ही देता है और न विकास के लाभ ही इस वर्ग तक पहुँच पाते हैं। विकासशील राष्ट्रों की विकास-दर राष्ट्रीय आय अथवा प्रति व्यक्ति आय के आधार पर ज्ञात की जाती है जो विकास के वितरण के सम्बन्ध में कुछ भी इंगित नहीं करती है। यही कारण है कि बहुत से राष्ट्रों में राष्ट्रीय एवं प्रति व्यक्ति आय में तेजी से वृद्धि होने पर भी निर्धन-वर्ग निर्धन ही बना रहता है और यह निर्धन-वर्ग जीवन की सुख-सुविधाओं से वंचित रहता है। निर्धन-वर्ग में उर्वरकता-दर स्वभावतः अधिक होती है। यदि विकास का लाभ निर्धन-वर्ग को भी वितरित किया जाय और इस वर्ग के जीवन-स्तर में सुधार किया जाय तो उर्वरकता-दर में कमी की जा सकती है। विश्व बैंक द्वारा 64 विकसित एवं विकासशील राष्ट्रों का अध्ययन करने पर यह तथ्य सामने आया कि समाज में आय का अधिक वितरण सामाजिक सुविधाओं के अधिक व्यापक वितरण में सहायक होता है जिससे उर्वरकता-दर कम होती है। यह विश्लेषण किया गया है कि निर्धन 40% जनसंख्या की कुल आय में 1% की वृद्धि होने पर उर्वरकता-दर में 3% की कमी हो जाती है। आर्थिक विकास की प्रक्रिया जनसंख्या की वृद्धि में अवरोधक सिद्ध न हो इसके लिए आय का वितरण निर्धन 40% जनसंख्या के पक्ष में करने की आवश्यकता है जिससे इस वर्ग की उर्वरकता-दर (जो सर्वाधिक है) को कम किया जा सके।

(12) **जन-सूचना कार्यक्रम**—छोटे परिवार के लाभो का पर्याप्त प्रचार करने की अत्यधिक आवश्यकता होती है। इस प्रचार द्वारा लोगो को छोटे परिवार के लाभो के सम्बन्ध मे सूचित करना, शिक्षित करना एव लोगो को उकसाना सम्भव हो सकता है। छोटे परिवार के सम्बन्ध मे परम्पराओ, धर्मावलम्बन विश्वासो एव सामाजिक भयो के आधार पर अत्यधिक विरोध किया जाता है। इन विरोधो को कानूनी दबाव द्वारा भी समाप्त नही किया जाता है और एक प्रजातान्त्रिक समाज मे कानूनी दबाव जन क्रान्ति का रूप ग्रहण कर सकता है। ऐसी परिस्थिति मे प्रभावशाली सूचना कार्यक्रम द्वारा लोगो को यह समझाने की आवश्यकता है कि 'क्या उचित है और क्या उचित नही है'। प्रत्येक समाज मे परिवार के आकार के सम्बन्ध मे कुछ प्रमाणो को सामान्य स्वीकृति रहती है और सामान्य प्रमाणो (Normal Standards) मे परिवर्तन करने के लिए जनसाधारण मे व्यक्तिगत आधार पर छोटे परिवार के लिए उकसाने की आवश्यकता होती है। जो कारण उर्वरकता कम करने हेतु नियोजको एव अधिकारियो द्वारा अत्यन्त महत्वपूर्ण होते है उन कारणो की ओर ग्रामीण माता पिता कुछ भी ध्यान देने को तैयार नही होते है। अल्प-विकसित राष्ट्रो मे ऐसी प्रचार-विधियो का उपयोग होना चाहिए जिनको समझने के लिए शिक्षित होना आवश्यक न हो। इस दृष्टिकोण से रेडियो टेलीविजन एव फिल्म प्रचार के श्रेष्ठ माध्यम माने जाते है। इसके अतिरिक्त समाचार पत्रो साइनबोर्ड पत्र-पत्रिकाएँ, ग्रामीण पोस्टर्स, गीत और एकाकी आदि का भी सृजनात्मक उपयोग किया जा सकता है। परन्तु इन प्रचार माध्यमो की तुलना मे 'व्यक्ति से व्यक्ति को सवहन' (Person to Person Communication) को परिवार-नियोजन कार्यक्रमो के प्रचार हेतु सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है। ग्रामीण क्षेत्रो मे मनोरजनयुक्त प्रचार-माध्यमो का व्यापक रूप से उपयोग करना चाहिए। स्कूल एव कॉलिज स्तर पर जनसख्या सम्बन्धी शिक्षा को पाठ्यक्रम मे सम्मिलित कर लेना चाहिए।

(13) **उर्वरकता कम करने के लिए प्रोत्साहन**—अल्प विकसित राष्ट्रो की सरकारे उर्वरकता निरोधक कार्यक्रमो को अपनाने पर विभिन्न प्रकार के प्रोत्साहन प्रदान करती है, जैसे—निवासगृह एव रोजगार के अवसर प्रसूति-लाभ, कर कटौतियाँ, आश्रितता भत्ता, पेंशन का आयोजन स्कूलो मे प्रवेश आदि द्वारा माता-पिताओ को छोटे परिवार रखने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। प्रोत्साहन परिवार नियोजन स्वीकार करने वाले माता-पिताओ को तुरन्त नकद भुगतान अथवा शिशु उत्पन्न करने की अवस्था समाप्त होने के पश्चात किया जा सकता है। कुछ देशो मे हतोत्साहन सम्बन्धी कार्यवाहियो का भी उपयोग किया जाता है। दो बड़े परिवारो की विभिन्न जन-सेवाओ के लाभ मे कमी कर दी जाती है। परन्तु हतोत्साहन कार्यक्रमो का प्रभाव उन बच्चो के पालन पोषण पर बुरा पडता है जो परिवार के निर्धारित आकार के बाद जन्म लेते है। इन बच्चो का कोई दोष न होते हुए भी इन्हे इस प्रकार दण्डित होना पडता है। यही कारण है कि परिवार-नियोजन के स्वीकृत क्षेत्र को बढाने के लिए हतोत्साहन के स्थान पर प्रोत्साहन कार्यक्रमो को अधिक महत्व दिया जाता है। प्रोत्साहन विधियो का उपयोग केवल व्यक्तिगत एव परिवार स्तर पर ही नही किया जाना चाहिए। ग्रामीण एव स्थानीय समुदाय का सामूहिक रूप से अच्छे उर्वरकता निरोधक कार्य के लिए सामुदायिक विकास हेतु अधिक अर्थ-साधन आवटित करके पुरस्कृत किया जा सकता है। इस व्यवस्था से उर्वरकता-निरोध के प्रति सामाजिक जागरूकता उदय होती है। इसी प्रकार विभिन्न समुदायो, धर्मावलम्बियो एव क्षेत्रो को उनकी जनसख्या के आधार पर जो राजनैतिक एव अर्थ आवटन (Financial allocation) के अधिकार प्राप्त होते हैं उनकी जनसख्या से सम्बद्धता समाप्त कर देनी चाहिए। प्रोत्साहन एव हतोत्साहन सम्बन्धी इन सभी कार्यवाहियो का व्यापक प्रचार किया जाना चाहिए। परिवार-नियोजन के कार्यक्रमो को अधिक स्वीकृति उपलब्ध कराने के लिए सभी स्तरो—सामाजिक, शासकीय, व्यक्तिगत एव परिवारी—पर समन्वित रूप से प्रयास किये जाने चाहिए। इन सब मे सामाजिक मान्यताओ को परिवार-नियोजन के अनुकूल स्थापित करना इस कार्यक्रम की सफलता के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता है।

(14) *गरीबी-उन्मूलन*—*जनसख्या-वृद्धि मे गरीबी योगदान प्रदान करती है* क्योकि गरीब-वर्ग मनोरजन के अन्य साधनो से विमुख रहता है और अज्ञान से आच्छादित रहता है। गरीब परिवार को अपनी अनिवार्यताओ की पूर्ति के लिए परिवार के सभी छोटे एव बडे सदस्यो से कार्य कराना होता है। इन परिवारो के पास उत्पादक सम्पत्तियो का अभाव होता है और वे अपने बच्चो को ही अपने जीविकोपार्जन के लिए विभिन्न कार्यों मे लगाकर जीवन व्यतीत करते हैं। वृद्धावस्था एव अस्वस्थता मे इनके बच्चे ही जीवन-निर्वाह के साधन जुटाते हैं। इन्ही सब कारणो से गरीब परिवार छोटे परिवार की विचारधारा से सहमत नही होते हैं। यदि आय, धन एव सम्पत्ति के विषम वितरण को कम करके गरीबी के स्तर एव व्यापकता को कम कर दिया जाय तो जनसख्या सम्बन्धी समस्याओ का सरलता से निवारण सम्भव हो सकता है। सामाजिक बीमा की व्यवस्था करके बड़े परिवार की आवश्यकता को कम किया जा सकता है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि जनसख्या की समस्या का निवारण कृत्रिम परिवार-नियोजन के साधनो से ही सम्भव नही हो सकता है। जनसख्या की समस्या मूल रूप से एक सामाजिक समस्या होती है और जब तक सामाजिक स्तर पर सरचनात्मक परिवर्तन नही किये जाते, जनसख्या की समस्या का निवारण सम्भव नही हो सकता है। धार्मिक विचारधाराओ एव परम्पराओ का सामाजिक जीवन मे महत्वपूर्ण स्थान होता है और धार्मिक विचारधाराएँ अत्यन्त कठोर एव स्थिर होती हैं। इनमे परिवर्तन करने के लिए धर्म के सामूहिक स्वरूप को बदलकर व्यक्तिवादी मान्यता प्रदान की जानी चाहिए और यह तभी सम्भव हो सकता है जब विभिन्न धर्मों मे एक-दूसरे के प्रति सहिष्णुता उत्पन्न की जाय। राज्य इस सम्बन्ध मे धर्म के आधार पर किये जाने वाले भेदभाव को वैधानिक रूप से प्रतिबन्धित कर सकता है और समाज मे ऐसे तत्वो को सरक्षण प्रदान कर सकता है जो इन परिवर्तनो को स्वीकार करके प्रोत्साहित करते हो। इस प्रकार जनसख्या सम्बन्धी समस्याएँ बहुपक्षीय होती है जिनके निवारण के लिए ऐसी नीतियो का अनुसरण आवश्यक होता है जो देश के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एव सास्कृतिक जीवन मे अनुकूल परिवर्तन कर सके।

भारत मे जनसंख्या-वृद्धि एवं आर्थिक प्रगति

भारत की जनसख्या मे सन् 1941-51 के दशक मे 1 26% प्रति वर्ष की वृद्धि हुई। यह प्रतिशत सन् 1951-61 के दशक मे बढकर 1 97% प्रति वर्ष हो गया। सन 1961-71 वर्षों के काल मे जनसख्या की वृद्धि की दर बढकर 2 5% प्रति वर्ष हो गयी। यह अनुमान लगाया गया है कि जनसख्या-वृद्धि की वार्षिक वृद्धि-दर चौथी योजना के अन्त मे (सन 1974 तक) 2·5% के आसपास ही रहेगी। सन् 1974 के बाद जनसख्या-वृद्धि की दर मे कमी होने का अनुमान लगाया गया है और यह सन् 1980-81 तक 1 7% प्रति वर्ष हो जायेगी। जनसख्या-वृद्धि का प्रतिशत कम होने के अनुमान मे यह मान लिया गया है कि सन् 1980-81 तक जन्म-दर 39 प्रति हजार (सन् 1968) से घटकर 26 प्रति हजार रह जायेगी और मृत्यु दर 14 प्रति हजार मे घटकर 9 प्रति हजार रह जायेगी और जन्म-दर की कमी के लिए परिवार-नियोजन के कार्यक्रमो का निरन्तर विस्तार किया जायेगा। यदि जनसख्या की वृद्धि की दर को सन् 1980-81 के पश्चात के 20 वर्षों मे 1 2% तक कम किया जा सका तो भारत की जनसख्या सन् 2000 तक 87 करोड हो जायेगी। जन्म-दर को कम न करने पर सन् 2000 तक भारत की जनसख्या 120 करोड तक हो सकती है।

यदि प्रगति का माप प्रति व्यक्ति आय-वृद्धि के आधार पर किया जाय तो हम ज्ञात होगा कि भारत अभी तक योजनाओ के अन्तर्गत अधिक प्रगति नही कर सका है। सन् 1950-51 से सन् 1973-74 वर्ष के काल मे प्रति व्यक्ति आय मे लगभग 33 6% की वृद्धि हुई है, जबकि हमारी राष्ट्रीय आय मे इस काल मे लगभग 114% की वृद्धि हुई है। जनसख्या की तीव्र गति से वृद्धि होने के कारण हमारी राष्ट्रीय आय मे पर्याप्त वृद्धि होते हुए भी प्रति व्यक्ति आय मे विशेष

वृद्धि नही हुई है। 23 वर्षो के नियोजित विकास के फलस्वरूप प्रति व्यक्ति आय मे 1·4% की साधारण वार्षिक वृद्धि हुई है। राष्ट्रीय आय की वृद्धि का 50 से 60% भाग बढी हुई जनसख्या द्वारा उपयोग हो जाता है।

ससार के लगभग सभी विकसित राष्ट्रो को संक्रान्ति-काल मे जनसख्या की वृद्धि का सामना करना पडता है। पश्चिमी यूरोप, सयुक्त राष्ट्र अमेरिका, जापान व आस्ट्रेलिया मे आर्थिक विकास के फलस्वरूप प्रारम्भिक अवस्थाओ मे जनसख्या मे वृद्धि हुई परन्तु ये देश प्रति व्यक्ति आय के कम स्तर तथा जन्म एव मृत्यु-दर की ऊँची स्थिति से निकलकर प्रति व्यक्ति ऊँची आय तथा कम जन्म एव मृत्यु-दर के सन्तुलन की स्थिति तक पहुँचने मे सफल हुए है। इन देशो ने नवीन तान्त्रिकताओं एव अधिक पूंजी-निर्माण का उपयोग करके उत्पादन को निरन्तर बढाया और कम जन्म एव मृत्यु-दर पर अधिक प्रति व्यक्ति आय का सन्तुलन स्थापित किया है। भारत भी इसी ओर प्रयत्नशील है तथा परिवार-नियोजन के विस्तार और चिकित्सा एव स्वास्थ्य की सुविधाओ को बढाकर जन्म एव मृत्यु-दर को कम करने का प्रयास जारी है। वर्तमान मे भारत उस स्थिति से गुजर रहा है अर्थात् देश मे मृत्यु-दर तो कम हो गयी है और जन्म-दर मे अभी विशेष कमी नही हुई है। अन्य अल्प-विकसित राष्ट्रो के समान भारत की जनसख्या की सरचना विकास के लिए अनुकूल नही है क्योकि उत्पादक-उपभोक्ता का अनुपात अनुकूल नही है और उत्पादक-वर्ग पर आश्रितों का भार अत्यधिक है। जैसे-जैसे जन्म-दर मे कमी होती जायेगी, इस स्थिति मे सुधार होता जायेगा। यह सुधार सन् 1980-81 के पश्चात से स्पष्ट दीखने लगेगा यदि जन्म एव मृत्यु-दर मे अनुमानो के अनुसार कमी होती है।

अन्य विकासशील राष्ट्रो के समान भारत मे भी समस्त जनसख्या का 33 54% भाग (सन् 1971 की जनगणना के अनुसार) श्रम-शक्ति था जबकि सन् 1961 मे श्रम-शक्ति समस्त जनसख्या की 42 98% थी। इन तथ्यो से यह ज्ञात होता है कि जनसख्या की तीव्र गति से वृद्धि होने के कारण भारत मे आश्रितो की सख्या मे अधिक वृद्धि हुई है और उत्पादक श्रम का प्रतिशत घट गया है। पुरुष जनसख्या का 27 18% भाग श्रम-शक्ति मे सम्मिलित था जबकि स्त्री-जनसख्या का केवल 6 36% भाग ही श्रम-शक्ति मे सम्मिलित था। इस प्रकार स्त्री-जनसख्या का बहुत बडा भाग रीति-रिवाजो एव परम्पराओं के कारण उत्पादक क्रियाओ के लिए उपलब्ध नही था। देश मे उपलब्ध समस्त श्रम-शक्ति का 68 63% भाग कृषि-क्षेत्र मे लगा हुआ था जिसमे से 42 87% कृषक थे और 25 76% कृषि-मजदूर थे। सन् 1971 की जनगणना के अनुसार देश मे कुल श्रम-शक्ति 18 36 करोड थी जिसमे से लगभग 5 करोड कृषि-मजदूर थे जिनकी आर्थिक स्थिति अत्यन्त दयनीय है। हमारे देश मे 14 वर्ष से कम आयु वाला वर्ग कुल जनसख्या का 45% है जो उत्पादक जनसख्या के आर्थिक साधनो पर बहुत बडा भार है और जो उत्पादक विनियोजन-वृद्धि मे गतिरोध उत्पन्न करता है।

जनसख्या-वृद्धि विकास मे अवरोधक

हमारे देश मे जनसख्या की वृद्धि की दर अधिक होने के कारण ऐसी सामाजिक एव आर्थिक परिस्थितियाँ उदय हुई है जो देश की आर्थिक प्रगति मे अवरोधक सिद्ध हो रही है। ये परिस्थितियाँ निम्नवत् है

(1) **आश्रित-अनुपात**—जनसख्या-वृद्धि के कारण हमारी अर्थ-व्यवस्था मे आश्रित-अनुपात (Dependency Ratio) बढता जा रहा है। हमारी कुल जनसख्या का केवल 33 54% भाग ही उत्पादक श्रम है और शेष 66 46% भाग आश्रित है जिसमे 14 वर्ष के कम आयु के बच्चे, 60 वर्ष के ऊपर के वृद्ध व स्त्रियाँ सम्मिलित है, जो उत्पादक कार्य सामाजिक परम्पराओ के कारण नही करते है। अधिक आश्रित होने के कारण उत्पादक श्रम विकास हेतु अधिक बचत करने मे असमर्थ रहता है और समाज की आय का बहुत बडा भाग अनिवार्य सुविधाओं—स्वास्थ्य, शिक्षा, जल-पूर्ति आदि—पर व्यय हो जाता है।

(2) **दोहरी सामाजिक व्यवस्था**—जनसंख्या-वृद्धि के परिणामस्वरूप देश में दोहरी सामाजिक व्यवस्था का प्रादुर्भाव हो गया है। नगरीय क्षेत्रों की जनसंख्या का बहुत थोड़ा-सा अंश सामाजिक एवं आर्थिक विकास का अधिकतम लाभ प्राप्त कर रहा है जबकि जनसंख्या का बहुत बड़ा अनुपात माल्थस के नियमानुसार निर्धन जीवन व्यतीत कर रहा है। ग्रामीण क्षेत्रों में सन् 1970-72 के तीन वर्षों में औसतन जन्म-दर 38 5 प्रति हजार थी जबकि नगरीय क्षेत्र में यह दर 29 6 प्रति हजार थी। ग्रामीण क्षेत्र में इस प्रकार जन्म-दर नगरीय क्षेत्र से 30% अधिक थी। दूसरी ओर, ग्रामीण क्षेत्रों में मृत्यु-दर निकट भविष्य में नगरीय क्षेत्र के बराबर हो जायेगी। ग्रामीण क्षेत्र में जन्म-दर में अधिक कमी होना सम्भव नहीं है क्योंकि ग्रामीण समाज अब भी परम्परावादी एवं भाग्यवादी है। इस प्रकार ग्रामीण जनसंख्या में तेजी से वृद्धि होती रहेगी। यह प्रवृत्ति विकास पर ऋणात्मक प्रभाव डालती है और अर्थ-व्यवस्था में विषमताओं को बढ़ाने में सहायक होती है।

(3) **अशिक्षित जनसंख्या**—ग्रामीण क्षेत्रों की जनसंख्या में तीव्र गति से वृद्धि होने के कारण अशिक्षित जनसंख्या का अनुपात बढ़ता है। अभी तक हमारे देश में शिक्षित जनसंख्या का प्रतिशत 30 तक ही नहीं पहुँच पाया है। 4 वर्ष तक की आयु के बच्चों की संख्या को घटाकर भारत में अशिक्षित जनसंख्या सन् 1971 में 30 9 करोड़ थी। ग्रामीण क्षेत्रों में 85% और पुरुषों में 61% अशिक्षित थे। अशिक्षित जनसंख्या में वृद्धि होने के कारण देश में दोहरी सामाजिक व्यवस्था को निरन्तरता प्राप्त होती है और सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक विकास अवरुद्ध होता है।

(4) **योग्यता का नगरों की ओर प्रवाह**—ग्रामीण एवं नगरीय क्षेत्रों के सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक स्तर में व्यापक अन्तर होने के कारण ग्रामीण क्षेत्रों के योग्य अभिलाषी एवं साहसिक नवयुवक नगरों की ओर आकर्षित होते हैं जिसके परिणामस्वरूप निर्धनता-प्रधान ग्रामीणीकरण एवं अधिक उपयोग-व्यय-प्रधान नगरीकरण का दूषित चक्र उदय होता है। यह दूषित चक्र आर्थिक एवं सामाजिक सुदृढ़ता उत्पन्न करने में तो समर्थ होता ही है, साथ ही जनसंख्या-वृद्धि को रोकने में भी विफल रहता है। दूसरी ओर, नगरीकरण में वृद्धि होने के कारण भी सामाजिक एवं आर्थिक विकास अवरुद्ध होता है। नगरीकरण की प्रवृत्ति के कारण साधनों का विनियोजन ग्रामीण जनसंख्या के हितों के विपरीत नगरीय जनसंख्या को आधारभूत सुविधाएँ प्रदान करने के लिए किया जाता है जिसके फलस्वरूप राष्ट्रीय विनियोजन हेतु कम बचत उपलब्ध होती है और साधनों का उपयोग परम्परागत एवं विलासिता की वस्तुओं के उत्पादन पर होने लगता है।

उपर्युक्त परिस्थितियों में हमारे देश में गत दो दशकों में जनसंख्या-वृद्धि के अनुरूप आर्थिक एवं सामाजिक विकास नहीं हो सकता है और यह ऋणात्मक सम्बन्ध निरन्तर जारी है। इस ऋणात्मक सम्बन्ध को दूर करने के लिए देश में आर्थिक विषमताओं को समाप्त करना आवश्यक है। ग्रामीण जीवन को स्वस्थ, रुचिकर एवं सुरक्षित बनाकर नगरीकरण की प्रवृत्ति को रोकना चाहिए। छोटे नगरों की स्थापना एवं शिक्षा द्वारा उत्पादक कुशलताओं में वृद्धि करने की आवश्यकता है।

32

आर्थिक विकास एवं बेरोजगार

[ECONOMIC DEVELOPMENT AND UNEMPLOYMENT]

बेरोजगार ऐसी अवस्था को कहा जा सकता है जिसमें लोग अपनी इच्छा के विरुद्ध बेकार रहते हों। पूर्ण रोजगार उस व्यवस्था को कहना चाहिए जिसमें बेरोजगार न हों, अर्थात् जिसमें समस्त कार्य करने योग्य (शारीरिक व मानसिक दृष्टिकोण से) एवं कार्य करने के लिए इच्छा रखने वाले व्यक्तियों को कार्य मिलता हो। इसका तात्पर्य यह हुआ कि बेरोजगार विवशतापूर्ण बेकारी (Involuntary Idleness) का दूसरा नाम है। यह विवशतापूर्ण बेकारी अल्प-विकसित राष्ट्रों में एक सामाजिक एवं आर्थिक समस्या का रूप ग्रहण कर लेती है। बेरोजगार लोगों के पास क्रय-शक्ति की कमी होती है जिससे वह कृषि एवं औद्योगिक उत्पादन के लिए प्रभावशील माँग उत्पन्न नहीं करते हैं। दूसरी ओर श्रम उत्पादन का एक महत्वपूर्ण घटक होता है और जब श्रम का कोई भी भाग उपयोग नहीं होता, उत्पादन अधिकतम नहीं हो सकता और आर्थिक ढाँचे को सुव्यवस्थित, सन्तुलित एवं सुदृढ़ नहीं कहा जा सकता है। सामाजिक दृष्टिकोण से बेरोजगार लोग समाज के विकास में एक रुकावट होते हैं। यह राष्ट्रीय उत्पादन में अपना अनुदान नहीं दे सकते और रोजगार-प्राप्त लोगों पर एक भार होते हैं। इस प्रकार समस्त समाज का जीवन-स्तर सन्तोषजनक नहीं होता। लम्बे समय तक बेरोजगार रहने पर इनका नैतिक पतन हो जाता है। बेरोजगार यह व्यक्त करता है कि अर्थ-व्यवस्था के बहुत से खण्डों में अकुशल संगठन, अकुशल प्रसाधन, अपर्याप्त प्रशिक्षण, अपर्याप्त माँग तथा पौष्टिक भोजन की कमी के कारण उत्पादकता कम है। निर्धन-वर्ग को अपनी योग्यता एवं स्थिति में सुधार करने के लिए बेरोजगार हतोत्साहित ही करता है। विभिन्न अध्ययनों से यह ज्ञात होता है कि बेरोजगारी एवं निर्धनता एक ही प्रवृत्ति के दो पक्ष होते हैं। निर्धनता एवं बेरोजगार एक-दूसरे के कारण एवं प्रभाव होते हैं और इन दोनों पर विकास-कार्यक्रमों के अन्तर्गत समन्वित आक्रमण किया जाना आवश्यक होता है। विकासशील राष्ट्र विकास की गति को तीव्र करने के लिए पूँजी प्रधान उद्योगों की ओर आकर्षित होते हैं परन्तु पूँजी-प्रधान तान्त्रिकताओं के उपयोग से बेरोजगार की समस्या बढ़ती जाती है। विकास-कार्यक्रमों के अन्तर्गत जो राजकोषीय नीति अपनायी जाती है वह नगरीय श्रम-शक्ति के अधिक अनुकूल होती है और ऐसे क्षेत्र, जिनमें जनसंख्या की शिक्षा एवं प्रशिक्षण का स्तर निम्न है, जबकि जहाँ जनसंख्या का घनत्व अधिक है, दूर ग्रामीण क्षेत्रों में जनसंख्या सरकारी विकास कार्यक्रमों से अछूती रह जाती है। यही कारण है कि विकास के गतिशील होने के साथ श्रम-शक्ति ग्रामों से नगरों को हस्तान्तरित होने लगती है और प्रत्यक्ष बेरोजगारी की संख्या नगरों में बढ़ी हुई दिखायी देती है।

बेरोजगार की समस्या सभी राष्ट्रों में विद्यमान रहती है, चाहे वह विकसित, विकासशील अथवा अल्प-विकसित हो। विकसित राष्ट्रों में विद्यमान बेरोजगार का स्वरूप विकासशील राष्ट्रों के बेरोजगार से भिन्न रहता है। विभिन्न राष्ट्रों के विकास की प्रक्रिया के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि बेरोजगार अल्प-विकास का द्योतक नहीं होता है और विकास के बढ़ने पर यह स्वतः ही समाप्त नहीं हो जाता है। विकास सम्बन्धी वर्तमान अनुभवों से यह स्पष्ट हो गया है कि ऐसे देश, जिनका द्रुत गति से विकास हो रहा है बढ़ती हुई बेरोजगारी की समस्या से पीड़ित हैं। आर्थिक प्रगति

के अन्तर्गत पूर्ण रोजगार उदय होना आवश्यक नही होता है। उदाहरणार्थ, वेनेजुएला में सन् 1950-60 के दशक मे 8% प्रति वर्ष की प्रगति हुई परन्तु दशक के प्रारम्भ की तुलना मे इस दशक के अन्त मे अधिक बेरोजगार विद्यमान थे। यही कारण है कि विकास मे सम्मिलित होने वाले आवश्यक तत्वो मे उत्पादन-वृद्धि के साथ रोजगार-अवसरों एव अन्य सामाजिक सुविधाओ की वृद्धि को भी सम्मिलित किया जाने लगा है।

1. विकसित राष्ट्रो मे बेरोजगार

औद्योगिक राष्ट्रो मे विद्यमान बेरोजगार को तीन वर्गो मे विभक्त किया जा सकता है। प्रथम, श्रम-शक्ति मे सम्मिलित होने वाले नवीन आगन्तुको को उपयुक्त रोजगार तलाश करने मे कुछ समय लगता है और वह इस मध्यकाल मे बेरोजगार रहते है। यह अस्थायी बेरोजगारी होती है और विकसित राष्ट्रो मे पूँजी एव उत्पादन मे जनसख्या-वृद्धि की तुलना मे अधिक तीव्रता से विस्तार होने के परिणामस्वरूप इन नवीन आगन्तुकों को कुछ ही समय मे रोजगार प्राप्त हो जाता है। विकसित राष्ट्रो मे दूसरे प्रकार का बेरोजगार प्रतिघर्षी बेरोजगार (Frictional Unemployment) होता है। प्रतिघर्षी बेरोजगार कुछ क्षेत्रों मे प्रशिक्षित श्रम मे अतिरेक और कुछ मे न्यूनता होने के कारण उदय होता है। इसका स्वरूप भी अस्थायी होता है। यह तान्त्रिक सुधारो के कारण उदय होता है। श्रमिको के प्रशिक्षण मे तान्त्रिक परिवर्तनो के अनुरूप समायोजन करते रहने पर प्रतिघर्षी बेरोजगार को रोका जा सकता है परन्तु प्रशिक्षण म समायोजन करने मे कुछ समय लग जाता है और इस मध्यकाल मे प्रतिघर्षी बेरोजार अस्थायी रूप से उदय होता है। विकसित राष्ट्रो मे तीसरे प्रकार का बेरोजगार आर्थिक क्रियाओ की गति मन्द होने के कारण उदय होता है। मुक्त साहस वाली अर्थ-व्यवस्थाओ मे आर्थिक उच्चावचनो का उदय होना अत्यन्त स्वाभाविक होता है क्योकि इनमे स्वत समायोजन करने वाली शक्तियाँ उदय नही हो पाती है और राज्य को सन्तुलन स्थापित करने हेतु आवश्यक कार्यवाहियाँ करनी होती है। राज्य अवसाद (Recession) की स्थिति को गम्भीर स्वरूप ग्रहण करने से रोकने मे समर्थ रहते है जिसके परिणामस्वरूप अवसाद से उत्पन्न होने वाला बेरोजगार भी अस्थायी ही रहता है। श्रम-शक्ति का 5 या 6% भाग बेरोजगार रहने पर समस्या को गम्भीर नही माना जाता है। जब बेरोजगार लोगो की सख्या श्रम-शक्ति की लगभग 10% हो जाती है तो उसे दूर करने के लिए राज्य द्वारा तुरन्त उपाय किय जाते हैं। विकसित राष्ट्रो मे बेरोजगार सामाजिक दोष शीघ्र उत्पन्न नही कर पाता है क्योकि बेरोजगार श्रम को बेरोजगार-बीमा एव सामाजिक सुरक्षा की योजनाएँ उपलब्ध रहती हैं।

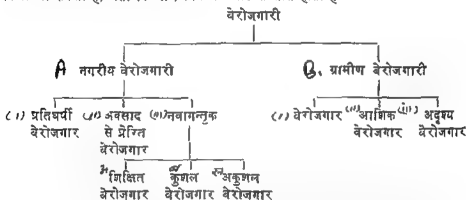
2. विकासशील राष्ट्रो में बेरोजगार

विकासशील राष्ट्रो मे बेरोजगार की प्रकृति, स्वरूप, समस्याएँ एव उसके निवारण के उपाय सभी कुछ विकसित राष्ट्रो से भिन्न होते हैं। विकसित राष्ट्रो मे कोई भी व्यक्ति तभी बेरोजगार माना जाता है जब वह श्रम-शक्ति मे सम्मिलित रहता है। बेरोजगार-बीमा एव सामाजिक सुरक्षा की योजनाओ को लागू करने के लिए विकसित राष्ट्रो मे श्रम शक्ति का विस्तृत ब्योरा रखा जाता है और श्रम शक्ति को विभिन्न वर्गो मे विभक्त कर लिया जाता है। विकासशील राष्ट्रो मे श्रम-शक्ति के सम्बन्ध मे इस प्रकार का विवरण उपलब्ध नही होता है। प्राय यह पता लगाना सम्भव नही होता है कि समाज मे कौन लोग बेरोजगार हैं क्योकि बेरोजगार लोगो को दूसरे लोगो द्वारा निर्वाह-सहायता प्रदान की जाती रहती है। नगरो मे इन लोगो मे अधिकतर ऐसे नवयुवक होते है जो या तो स्कूल मे नही पढते है या फिर पढे-लिखे होते है और अपनी योग्यतानुसार विशिष्ट प्रकार की नौकरियो की तलाश मे रहते हैं। इनके अतिरिक्त जो बेरोजगार लोग होते है, वे कम-उत्पादक कार्यो को करते है और थोडा बहुत आयोपार्जन कर लेते है। इन लोगो को स्वय रोजगार करने वाले वर्ग मे रखा जाता है। ये लोग सप्ताह मे कुछ दिन कोई भी कार्य नही कर पाते हैं। यदि ये लोग विकसित देश मे होते तो इन्हे बेरोजगारो मे सम्मिलित कर दिया गया होता क्योकि ये इतनी कम आय वाले कार्य न करके बेरोजगारो का भत्ता सरकार से प्राप्त करते होते। विकासशील राष्ट्रो

मे ऐसे स्वय रोजगार-प्राप्त लोगों को बेरोजगारो मे सम्मिलित नही किया जाता है। ग्रामीण क्षेत्रो मे भी ऐसे बहुत से स्त्री एव पुरुष होते है जो अपनी कार्यक्षमता के अनुरूप वर्ष भर कार्य प्राप्त नही कर पाते है। स्त्रियाँ प्राय श्रम-शक्ति मे सम्मिलित नहीं की जाती है, यद्यपि उनके द्वारा जो घरेलू कार्य किया जाता है, वह पूर्ण समय का कार्य नही होता है। इस प्रकार विकासशील राष्ट्रो मे बेरोजगारी की समस्या का माप एव आकार ज्ञात करना सम्भव नही होता है। इन राष्ट्रो के बेरोजगारो मे कुछ पूर्णरूपेण बेरोजगार, कुछ आशिक बेरोजगार, कुछ मौसमी बेरोजगार तथा कुछ अदृश्य बेरोजगार होते है। प्रत्येक वर्ग को सूक्ष्मता के साथ पारिभाषित करना भी सम्भव नहीं होता है और न ही प्रत्येक वर्ग के आकार को मापा ही जा सकता है। कुछ लोगो का विचार है कि विकासशील राष्ट्रो म श्रम-शक्ति की उत्पादन-क्षमता का 25 से 30% भाग उपयोग नही हो पाता है और श्रम-शक्ति का यह अपव्यय निरन्तर बढता जा रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सगठन द्वारा किये गये अध्ययनो से ज्ञात होता है कि सन् 1970-80 तक के दशक मे लगभग 22·5 करोड नवागन्तुक श्रम-शक्ति विकासशील राष्ट्रो मे रोजगार प्राप्त करने के लिए उदय होगी।

विकासशील राष्ट्रो मे बेरोजगारी के प्रकार

विकासशील राष्ट्रो मे गुण एव स्वरूप के आधार पर बेरोजगारी को विभिन्न वर्गों मे विभक्त किया जा सकता है, जैसा कि नीचे दिये गये चार्ट से ज्ञात होता है



विकासशील राष्ट्रो मे ग्रामीण क्षेत्र असगठित है और इसमे विद्यमान बेरोजगार का ठीक-ठीक अनुमान लगाना सम्भव नही है क्योकि इस क्षेत्र मे आशिक एव अदृश्य बेरोजगारी व्यापक रूप से विद्यमान है। दूसरी ओर, नगरीय क्षेत्र कुछ सीमा तक सगठित है और इस क्षेत्र की बेरोजगारी की प्रकृति औद्योगिक राष्ट्रो के समान है।

A. **नगरीय क्षेत्र मे बेरोजगार**—विकासशील राष्ट्रो के नगरीय क्षेत्रो मे प्रतिघर्षी बेरोजगार उत्पादन-तान्त्रिकताओं मे परिवर्तन करने के कारण उदय होता है। औद्योगिक क्षेत्र का आधुनीकरण, विवेकीकरण एव स्वचालीकरण करके जब श्रम की उत्पादकता बढाने के प्रयत्न किये जाते है तो प्रतिघर्षी बेरोजगार उदय होता है, चाहे उद्योगपतियो द्वारा वर्तमान श्रम-शक्ति को कार्य पर लगाये रखने का आश्वासन ही क्यो न दे दिया गया हो। तान्त्रिक सुधार करने के कारण उत्पादन बढने के साथ श्रम की आवश्यकता मे तदनुसार वृद्धि नही होती है और उत्पादन बढते रहने पर भी नवागन्तुकों को रोजगार के अवसर उपलब्ध नही होते हैं। नगरीय क्षेत्र का यह प्रतिघर्षी बेरोजगार विकसित राष्ट्रो के समान अस्थायी नही होता है क्योकि विकासशील राष्ट्रो मे पूँजी एव उत्पादन का विस्तार जनसख्या-वृद्धि की दर से कम रहता है। इन राष्ट्रो के नवागन्तुको मे भी बेरोजगार अस्थायी नही होता है क्योकि नवागन्तुको की सख्या पूँजी एव उत्पादन-वृद्धि के फलस्वरूप उदय हुई अतिरिक्त श्रम की माँग से बहुत अधिक होती है। नगरीय क्षेत्र के नवागन्तुको (New Entrants) मे तीन प्रकार के लोग रहते हैं—शिक्षित, कुशल एव अकुशल। शिक्षित नवागन्तुको की सख्या मे तीव्रता मे वृद्धि इसलिए होती है क्योकि विकास के प्रारम्भ से ही शिक्षा के

विस्तार पर अधिक पूँजी-विनियोजन होता है। ग्रामीण क्षेत्र के वे नवयुवक जो शिक्षा प्राप्त कर लेते है, नगरो मे रोजगार पाने के इच्छुक रहते है। यह शिक्षित बेरोजगार सफेदपोश नौकरियाँ (White Collar Jobs) पाने के लिए इच्छुक रहते है जिनमे अधिक वृद्धि नही की जा सकती है क्योकि उत्पादक क्रियाओ के सचालन के लिए कार्यालय-बाबुओ की, उत्पादन मे प्रत्यक्ष योगदान देने वाले कर्मचारियो की तुलना मे, कम अनुपात मे आवश्यकता होती है। शिक्षित बेरोजगारी की समस्या इस प्रकार विकास के बढने के साथ बढती जाती है और इतना गम्भीर रूप ग्रहण कर लेती है कि देश की सामाजिक एव आर्थिक व्यवस्था को आघात पहुँचाने लगती हैं।

नगरीय क्षेत्र मे कुशल बेरोजगारो मे वे लोग सम्मिलित होते हैं जो व्यावसायिक प्रशिक्षण प्राप्त करने के पश्चात भी बेरोजगार रहते हैं। इनमे इजीनियर, टेकनीशियन, डॉक्टर आदि सम्मिलित रहते हैं जो विशिष्ट प्रकार के कार्य करने की कुशलता प्राप्त किये रहते हैं। नगरीय क्षेत्र मे तीसरे प्रकार के नवागन्तुक अकुशल एव अशिक्षित होते है। यह लोग प्राय ग्रामीण क्षेत्र से अधिक आयोपार्जन एव अच्छे जीवन-स्तर की सम्भावना से नगरो मे आ जाते हैं। इन्हे रोजगार मिलने मे काफी समय इसलिए लग जाता है क्योकि इनको कुछ कुशलता ग्रहण करनी पड़ती है जिसमे कुछ समय लगता है परन्तु जब इनका ग्रामीण क्षेत्र से प्रवाह आवश्यकता से अधिक होने लगता है तो यह कम उत्पादकता वाले रोजगार करने लगते हैं और आशिक रूप से बेरोजगार रहने है।

B **ग्रामीण क्षेत्रो मे बेरोजगार**—ग्रामीण क्षेत्रो मे बेरोजगारी व्यापक होते हुए भी स्पष्ट दिखायी नहीं देती है क्योकि अधिकतर श्रम-शक्ति थोडा बहुत कार्य निष्पादित कर लेती है। ग्रामीण उद्योगो मे बेरोजगार एव आशिक-रोजगार देश मे औद्योगिक विकास होने के साथ बढ़ता जाता हैं क्योकि ग्रामीण उद्योगो द्वारा उपयोग की जाने वाली तान्त्रिकताएँ अकुशल होती है जिनके द्वारा अधिक लागत पर कम गुण वाली वस्तुओ का उत्पादन होता है जिन्हें बेचना अत्यन्त कठिन होता है। ग्रामीण क्षेत्रो के उद्योगपतियो को या तो अन्य कम उत्पादक कार्य (प्राय कृषि-श्रमिक के रूप मे) करने पडते है अथवा वे अपने उद्योग की आधी से भी कम उत्पादन-क्षमता का उपयोग करते रहते है। ग्रामीण क्षेत्र मे अधिकतर लोग अपने खेतो अथवा दूसरे लोगो के खेतो पर कार्य करते है। इन लोगो को वर्ष भर इनकी कार्यक्षमता के अनुरूप कार्य नही मिलता है और इनमे से अधिकतर को आशिक-रोजगार प्राप्त होते है। ग्रामीण क्षेत्र मे बेरोजगार उत्पादन-क्षमता का अनुमान प्रति व्यक्ति की सामान्य आयोपार्जन-क्षमता के आधार पर ही लगाया जा सकता है। जब यह आशिक-बेरोजगार नगरो मे प्रवाहित होते हैं तब ये पूर्णत बेरोजगार कहलाने लगते हैं। इसी कारण इन्हे अदृश्य बेरोजगार भी कहते हैं। अदृश्य बेरोजगारो की यह विशेषता होती है कि उन्हे उनके वर्तमान व्यवसाय से हटा लेने पर भी उस वर्तमान व्यवसाय के उत्पादन मे कमी नही होती है। दूसरे शब्दो मे यह भी कहा जा सकता है कि श्रम के इस अदृश्य अतिरेक की सीमान्त उत्पादकता शून्य रहती है। विकास की प्रगति के साथ-साथ ये अदृश्य बेरोजगार खुले बाजारो के रूप मे उभर आते है क्योकि ये भी अधिक आयोपार्जन-क्षमता वाले रोजगार के लिए उत्सुक रहते है। जब ये अदृश्य बेरोजगार नगरो मे लोगो को अधिक आयोपार्जन वाले व्यवसाय करते देखते हैं तो ये भी नगरो की ओर आकर्षित होने है और जनसख्या-वृद्धि के परिणामस्वरूप नवागन्तुको के साथ बेरोजगारो मे सम्मिलित हो जाते हैं। यही कारण है कि विकासशील राष्ट्रो मे विकास के साथ बेरोजगारी की समस्या का भी विस्तार हो जाता है।

अदृश्य बेरोजगार एवं पूँजी-निर्माण—नर्क्स ने अदृश्य बेरोजगारो के सम्बन्ध म यह विचार व्यक्त किया है कि यह पूंजी-निर्माण के सम्भावित साधन होने है क्योकि जब इनको कृषि-क्षेत्र से हटा लिया जाता है और उत्पादक रोजगार मे लगा दिया जाता है तो इनके द्वारा जो आय उपार्जित होगी, वह बचत मे सम्मिलित हो जायेगी क्योकि ये लोग अपना जीवन-निर्वाह पूर्ववत् अपने परिवार के अन्य लोगो के उत्पादन मे ही करते रहेगे। बचत मे वृद्धि होने पर पूंजी-निर्माण मे वृद्धि होगी जो आर्थिक प्रगति को बढावा देगी। नर्क्स की यह विचारधारा विकासशील राष्ट्रो म ठीक नहीं

सिद्ध हुई है क्योकि अदृश्य बेरोजगारो को अधिक आयोपार्जन वाले रोजगार मिल जाने पर उनके उपभोग मे वृद्धि होना एव पुराने व्यवसायो मे रहने वाले लोगो के उपभोग मे वृद्धि होना स्वाभाविक होगा और इस प्रकार अदृश्य बेरोजगारो की नवीन आय को बचत के रूप मे प्राप्त करना सम्भव नही हो सकेगा। इसके साथ अदृश्य बेरोजगार अपने परिवार के पूर्ववत् साधनो से जीवन-निर्वाह तभी कर सकते है जब उन्हे उत्पादक रोजगार उसी स्थान पर प्रदान किया जाय, जहाँ वह पहले से रहते आये है। परन्तु ग्रामीण क्षेत्रो मे उत्पादक रोजगारो मे इतनी अधिक वृद्धि करना सम्भव नही हो सकता है। यदि अदृश्य बेरोजगारो को नगरो मे रोजगार प्रदान किया जाता है तो इनकी उपरिव्यय सुविधाओ का आयोजन करने के लिए पूंजी की आवश्यकता होती है और साथ ही इन अदृश्य बेरोजगारो को आवश्यक प्रशिक्षण की व्यवस्था भी करना आवश्यक होगा। इस प्रकार अदृश्य बेरोजगारो को उत्पादक रोजगार मे लगाने पर पूँजी-निर्माण मे तुरन्त कोई वृद्धि सम्भव नही हो सकती है और यदि कुछ समय पश्चात यह बचत वृद्धि मे सहायक होती है तो इनकी स्थिति पूर्ण-रोजगारो को उत्पादक रोजगार मे लगाने के समान ही हो जाती है। इसके अतिरिक्त यह विचारधारा कि अदृश्य बेरोजगारो की सीमान्त उत्पादकता शून्य होती है, उचित नही है क्योकि इन अदृश्य बेरोजगारो मे बहुत से ऐसे लोग भी सम्मिलित होते है जिन्हे कृषि-क्षेत्र मे मौसमी रोजगार प्राप्त होना है। कृषि मे बोने एव काटने के समय अत्यधिक श्रम की आवश्यकता होती है और यदि मौसमी रोजगार-प्राप्त श्रमिको को कृषि-क्षेत्र से हटा लिया जाय तो कृषि-क्षेत्र मे बोने एव काटने के समय श्रमिको की कमी हो जायेगी जिसके परिणामस्वरूप कृषि-उत्पादन मे कमी होना स्वाभाविक होगा। इस प्रकार यह विचार कि अदृश्य बेरोजगारो को कृषि से हटाने पर कृषि-उत्पादन कम नही होगा उचित सिद्ध नही होता है।

विकास-प्रक्रिया एवं बेरोजगार

विकासशील राष्ट्रो की सबसे बडी विडम्बना यह है कि इन राष्ट्रो मे विकास-विनियोजन, राष्ट्रीय आय एव प्रति व्यक्ति आय मे वृद्धि होने के साथ बेरोजगारी भी बढती जाती है। इन राष्ट्रो म विकास एव रोजगार के सम्बन्ध मे दो समस्याएँ सामने आती है। प्रथम समस्या यह होती है कि रोजगार मे वृद्धि, आय के समान वितरण एव अन्य सामाजिक समस्याओ को जब अधिक प्राथमिकता प्राप्त हो जाती है तो प्रगति की दर अर्थात उत्पादन-वृद्धि की गति मन्द होने का भय होता है। परन्तु यह भय निराधार होता है क्योकि मानवीय साधनो का अधिक कुशल एव पूर्णतम उपयोग जब समाज के सभी क्षेत्रो मे किया जायेगा तो उत्पादन-वृद्धि की गति मन्द नही रह सकती, विशेषकर उन राष्ट्रो की तुलना मे जिनमे 30% नगरीय श्रम शक्ति बेरोजगार रहती है और ग्रामीण क्षेत्रो मे श्रम शक्ति का बडा भाग अशत रोजगार-प्राप्त रहता है। वास्तव मे अर्थ-व्यवस्थाओ के विकास का माप राष्ट्रीय उत्पादन की वृद्धि से करना उचित नही है क्योकि विकास का अन्तिम उद्देश्य उत्पादन-वृद्धि न होकर जन-कल्याण होता है। दीर्घकाल मे विकास का केन्द्रबिन्दु वस्तु-उत्पादन के स्थान पर मानवीय कल्याण होने पर उत्पादन-वृद्धि की गति भी तीव्र ही होती है क्योकि मानव ही उत्पादन-प्रक्रिया का मर्यात्मक होता है और उसके उत्पादक गुणो मे वृद्धि यद्यपि दीर्घकाल मे होती है, फिर भी वह उत्पादन मे योगदान अधिक तीव्र गति से करने मे समर्थ हो सकता है।

दूसरी समस्या पूँजी प्रधान तान्त्रिकताओ के उपयोग से सम्बद्ध होती है। आधुनिक युग मे किसी भी विकास-प्रक्रिया मे कृषि, उद्योग एव अन्य क्षेत्रो को आधुनिक पूँजी-प्रधान तान्त्रिकताओ से अछूता नही रखा जा सकता है। विकास नीति के रूप मे यह निर्णय वास्तव मे दुर्भाग्यपूर्ण है कि अर्थ-व्यवस्था मे श्रम-प्रधान एव मध्यम श्रेणी की तान्त्रिकताओ का ही उपयोग किया जाय। वास्तव मे तान्त्रिकताओ का चयन प्रत्येक परियोजना के प्रकार, आकार, सम्पूर्ति की अवधि, लक्ष्य, सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था मे स्थान एव अन्य क्षेत्रो मे सम्बन्ध आदि पर निर्भर रहता है। फिर भी उत्पादन के ऐसे क्षेत्रो मे जिनमे श्रम-प्रधान तान्त्रिकताओ का उपयोग उत्पादन एव विकास पर प्रतिकूल प्रभाव न डालता हो, श्रम-प्रधान तान्त्रिकताओ का उपयोग किया जाना चाहिए। कृषि-क्षेत्र मे श्रम का

अधिक उपयोग करने वाली तान्त्रिकताओ का उपयोग किया जा सकता है परन्तु इन तान्त्रिकताओ के सम्बन्ध मे क्षेत्रीय एव स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार अनुसन्धान किये जाने चाहिए जिससे तान्त्रिकताओ की कुशलता मे वृद्धि के साथ-साथ उन्हे आधुनिक तान्त्रिकताओ मे विकसित करना सम्भव हो सके। विकास-कार्यक्रमो के अन्तर्गत परियोजनाओ का सम्मिश्रण इस प्रकार किया जा सकता है कि विकास के साथ-साथ रोजगार के अवसरो मे पर्याप्त वृद्धि हो सके। वास्तव मे असन्तुलित विकास, आय एव धन का विषम वितरण, एकाधिकार एव सरकारी नौकरियो मे भेदभाव बेरोजगारी की समस्या को और अधिक गम्भीर बनाते है। श्रम एक ओर उत्पादन का घटक होता है और दूसरी ओर उपभोक्ता के रूप मे माँग-पक्ष को बढाता है। यदि श्रम का सन्तुलित एव पूर्णतम उपयोग किया जा सके तो रोजगार एव उत्पादन दोनो मे समान्तर वृद्धि हो सकती है। परन्तु विकासशील राष्ट्रो मे श्रम का कुछ व्यवसायो मे अभाव और कुछ मे अतिरेक भी पाया जाता है। यदि श्रम-शक्ति को उचित शिक्षा एव प्रशिक्षण श्रम-शक्ति के बजट के आधार पर प्रदान किया जाय तो बेरोजगारी की समस्या का निवारण सम्भव हो सकता है। विकासशील राष्ट्रो मे इस प्रकार बेरोजगारी की समस्या का प्रमुख कारण श्रम-बजट को उत्पादन के अन्य घटको के बजट के समान महत्व नही दिया जाना है। श्रम-बजट के निर्माण हेतु अर्थ-व्यवस्था की सगठित क्षेत्रो मे सरचना करना आवश्यक होता है। श्रम-बजट का उचित निर्माण एव सचालन निर्देशित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत ही हो सकता है, जहाँ उत्पादन के समस्त साधन राज्य के अधिकार मे होते है। इस विवेचना से यह स्पष्ट है कि विकास-प्रक्रिया की नीतियाँ, सरचना, स्वरूप एव आकार जब दोषपूर्ण होते है तभी विकास के साथ बेरोजगार बढता है। यदि विकास-प्रक्रिया के अन्तर्गत रोजगारमूलक मौद्रिक एव राजकोषीय नीतियाँ अपनायी जाये तो यह समस्या गम्भीर रूप ग्रहण नही कर सकती है।

रोजगार-नीतियाँ

श्रम उत्पादन का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटक होता है। वह स्वय उत्पादन करता है और उत्पादित वस्तुओ का उपभोक्ता भी होता है। श्रम इस प्रकार आर्थिक गतिविधियो से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध रहता है और *विकास का कोई भी सिद्धान्त एव कार्यक्रम श्रम-शक्ति को ध्यान मे रखे बिना* निर्धारित नही किया जा सकता है। श्रम की बाहुल्यता एव न्यूनता दोनो ही विकास-प्रक्रिया को अवरुद्ध करते है। श्रम की न्यूनता होने पर पूँजी को श्रम के स्थान पर उपयोग करके विकास-प्रक्रिया सचालित की जा सकती है और अर्थ-व्यवस्था मे सन्तुलन स्थापित किया जा सकता है। बढती हुई जनसख्या वाले राष्ट्रो मे *श्रम के बाहुल्य का उत्पादक उपयोग करने के लिए भी अधिक पूँजी की* आवश्यकता है। इस प्रकार श्रम को विकास-प्रक्रिया मे सहायक एवं पूरक का स्थान देने हेतु पूँजी की आवश्यकता होती है। पूँजी की पूर्ति बचत एव विनियोजन का परिणाम होती है और इन दोनो घटकों पर भी श्रम की लागत, उपभोग एव कार्य-कुशलता प्रभाव डालते है। इस प्रकार विकास के विभिन्न कारको—पूँजी, *श्रम, तान्त्रिकता, प्राकृतिक साधन, सामाजिक एव आर्थिक* व्यवस्था—का उपयुक्त सम्मिश्रण करके अर्थ-व्यवस्था को विभिन्न प्रगति-दरो पर सन्तुलित किया जा सकता है। श्रम के उत्पादक उपयोग के सम्बन्ध मे आर्थिक विकास के विभिन्न मॉडलो मे श्रम-घटक को अलग-अलग प्रकार से स्थान दिया गया है। एक ओर, प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री यह मानते है कि मजदूरी एव ब्याज-दरो के हेर-फेर के माध्यम से पूर्ण-रोजगार अवस्था पर दीर्घकाल मे स्वाभाविक रूप से अर्थ-व्यवस्था सन्तुलित हो जाती है। दूसरी ओर, कीन्स एव उसके अनुयायी यह मानते है कि रोजगार का स्तर प्रभावशाली माँग पर निर्भर रहता है और यह प्रभावशाली माँग *विनियोजन मे वृद्धि करके बढायी जा सकती है। विनियोजन का परिमाण* इतना ऊँचा रहना चाहिए कि वह आय एव उपभोग-व्यय के अन्तर को पूरा करता रहे। आय बढने के साथ साथ यदि यह अन्तर बढता है तो विनियोजन मे भी पर्याप्त वृद्धि होती रहनी चाहिए। कीन्स का विश्लेषण सम्पन्न औद्योगिक राष्ट्रों के लिए अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। इन देशो मे वास्तविक विकास-दर का पूर्ण-

रोजगार के बराबर होना तान्त्रिक प्रगति, बचत की क्षमता, गतिवर्द्धक (Accelerator) के आकार तथा व्याज-दर के परिवर्तनों के अनुरूप विनियोजन में होने वाले परिवर्तनों पर निर्भर रहता है।

दूसरी ओर, कृषि-प्रधान राष्ट्रों में बढ़ती हुई श्रम-शक्ति का प्रथम चरण में उपयोग परिवार के कृषि व्यवसाय में ही भूमि एवं अन्य पूंजीगत वस्तुओं का अधिक गहन उपयोग करने के लिए किया जाता है। प्रारम्भ में इस व्यवस्था से परिवार की आय में तो वृद्धि होती है परन्तु प्रति व्यक्ति उपार्जित आय घट जाती है। धीरे-धीरे अतिरिक्त श्रम-शक्ति का सीमान्त उत्पादन लगभग शून्य हो जाता है परन्तु अतिरिक्त श्रम का परिवार की आय में से निरन्तर अंश पाने का अधिकार बना रहता है। जब तक परिवार से प्राप्त होने वाला अंश अन्य व्यवसायों में विशेषकर नगरीय क्षेत्रों में मिलने वाली मजदूरी अथवा आय से अधिक रहता है तब तक यह अतिरिक्त श्रम अन्य व्यवसायों की ओर आकर्षित नहीं होता है। इस प्रकार ग्रामीण आंशिक बेरोजगार नगरीय क्षेत्र में मजदूरी की दरों को कम करने का कारण नहीं बनता और ग्रामीण आंशिक बेरोजगार के रहते हुए भी उद्योगों में सन्तुलित मजदूरी-दरें विद्यमान रहती हैं। इसके साथ-साथ जमींदार, बड़े कृषक एवं व्यापारी बढ़ी हुई श्रम-शक्ति के कुछ भाग को घरेलू नौकरों, कलाकारों, पुजारियों आदि के रूप में रोजगार प्रदान करते हैं। यह नौकर प्रतिष्ठा के द्योतक माने जाते हैं। व्यापारों में भी प्रतिष्ठा के दृष्टिकोण से बहुत से चपरासी बाबू आदि रखे जाते हैं यद्यपि इनका व्यवसाय की आय पर भार पड़ता है।

जनसंख्या की वृद्धि के साथ-साथ इन अनुत्पादक क्रियाओं में रोजगार के अवसर पर्याप्त नहीं रहते हैं और बढ़ी हुई श्रम-शक्ति छोटे-छोटे व्यापारियों, ठेले वालों एवं छोटे-छोटे अकुशल पेशों को अपनाने लगती है। यद्यपि अधिकतर श्रम-शक्ति रोजगार प्राप्त करती है तथापि इनमें अधिकतर लोग अदृश्य बेरोजगार रहते हैं। इस प्रकार कृषि प्रधान अल्प-विकसित राष्ट्रों में भूमिहीन श्रमिकों, लघु कृषकों, परम्परागत दस्तकारों एवं ग्रामीण क्षेत्र से नगरों में आये अकुशल श्रमिकों में आंशिक एवं अदृश्य बेरोजगार केन्द्रित रहता है। बेरोजगारी की इस समस्या के निवारण हेतु निम्नलिखित वैकल्पिक रोजगार-नीतियाँ अपनायी जाती हैं :

(1) **पूंजी प्रधान तान्त्रिकताओं में अधिक विनियोजन नीति**—अधिकतर विकासशील राष्ट्रों में बेरोजगारी की समस्या के निवारण को विनियोजन-वृद्धि की सहायक निधि माना जाता है। आन्तरिक एवं विदेशी पूंजी के साधनों का भारी एवं आधारभूत उद्योगों में विनियोजन करके अर्थ-व्यवस्था को विकास का सुदृढ़ आधार प्रदान करने का प्रयत्न किया जाता है जिससे कृषि-क्षेत्र के अतिरिक्त श्रम को औद्योगिक क्षेत्र में रोजगार के अवसर प्रदान किये जा सकें और प्रगति की ऊँची दर को स्थायित्व प्रदान किया जा सके। इस अवस्था में देश के आर्थिक क्षेत्र में दोहरी व्यवस्था उदय होती है। एक ओर तान्त्रिक संस्थागत दृष्टिकोण से पिछड़ा हुआ कृषि-क्षेत्र और दूसरी ओर विकसित तान्त्रिकताओं से लैस संगठित औद्योगिक क्षेत्र अर्थ-व्यवस्था में विद्यमान रहते हैं। इस दोहरी व्यवस्था के परिणामस्वरूप अर्थ-व्यवस्था में आय का विषम वितरण एवं बेरोजगारी का उदय होता है। कुजनेटस के अनुसार विकास की प्रक्रिया के अन्तर्गत विषमताएँ यू (U) का आकार बनाती है अर्थात् विकास की प्रारम्भिक अवस्था में विषमताओं में वृद्धि होती है परन्तु जैसे-जैसे विनियोजन में उत्पादन में वृद्धि होती जाती है, विषमताएँ एवं बेरोजगारी कम होती जाती हैं। परन्तु इस सक्रान्ति-काल में बेरोजगारी एवं विषमताओं की जड़ें इतनी मजबूत हो सकती हैं कि विकास के दूसरे चरणों में इन्हें दूर करना कठिन हो सकता है। ऐसी परिस्थिति में विनियोजन के कार्यक्रम निर्धारित करते समय कृषि एवं औद्योगिक दोनों ही क्षेत्रों के समन्वित विकास का आयोजन किया जाना चाहिए।

(2) **श्रम-सघन तान्त्रिकताओं में विनियोजन नीति**—बेरोजगारी की समस्या को ध्यान में रखते हुए पूंजी-विनियोजन का बड़ा भाग श्रम-प्रधान तान्त्रिकताओं में किया जाना चाहिए। अल्प-विकसित राष्ट्रों में पूंजी-प्रधान प्रसाधनों का उपयोग आयात-प्रतिस्थापन नीति एवं विदेशी सहायता

एव पूंजी मे पूंजी-प्रधान प्रसाधनो की ही उपलब्धि के कारण किया जाता है। यद्यपि इन पूंजी-प्रधान प्रसाधनो को प्राप्त करने मे कम ब्याज देना पडता है और आयात बजट मे कटौती हो जाती है परन्तु इनकी सामाजिक लागत अत्यधिक होती है। केवल आर्थिक आधार पर पूंजी-प्रधान प्रसाधनो के उपयोग का निर्णय समाज मे बहुत से दोष उत्पन्न करने मे सफल रहता है और इन सामाजिक दोषो मे सर्वाधिक हानिकारक विषमताएँ एव बेरोजगारी होते हैं। दूसरी ओर, *श्रम-प्रधान तान्त्रिकताओ* का सर्वव्यापक उपयोग करके आर्थिक विकास की प्रक्रिया को सुदृढ आधार प्रदान नही किया जा सकता है क्योकि औद्योगीकरण—कृषि-उद्योग, सेवाओ आदि सभी क्षेत्रो मे—विकास की गति को तीव्र करने मे सहायक होता है। ऐसी परिस्थिति मे पूंजी के साधनो का समुचित वितरण कृषि एवं उद्योग दोनो ही क्षेत्रो को किया जाना चाहिए। ग्रामीण आशिक बेरोजगारी के निवारण हेतु सिंचाई-सुविधाओ मे वृद्धि, साख-सुविधाओ का विस्तार *अच्छे बीजो की व्यवस्था, भूमि सुधार, सग्रहण*-सुविधाओ का विकास, विस्तार-सेवाओ का आयोजन आदि कार्यक्रमो द्वारा कृषि-व्यवसाय को अधिक लाभप्रद एव रोजगारमूलक बनाया जा सकता है। कृषि-क्षेत्र के विकास के साथ-साथ औद्योगिक क्षेत्र मे भी माध्यमिक तान्त्रिकताओ का यथासम्भव उपयोग किया जाना चाहिए। माध्यमिक तान्त्रिकताओ का उपयोग उपभोक्ता वस्तुओं एव सेवाओं के क्षेत्र में व्यापक रूप से किया जा सकता है। *वास्तव मे अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ को अपनी बढती हुई श्रम शक्ति के उत्पादक उपयोग को* आधार मानकर अपने अनुकूल उत्पादन तकनीको का विकास करना अत्यन्त आवश्यक है। कम जनसंख्या वाले विकसित राष्ट्रो मे उपयोगिता तकनीको का अन्धानुकरण उपयुक्त नहीं है।

(3) मुद्रा-स्फीति द्वारा प्रेरित विनियोजन-वृद्धि नीति—अल्प-विकसित राष्ट्रो मे विनियोजन के वृहदाकार कार्यक्रमो द्वारा ही विकास-प्रक्रिया को गतिमान किया जा सकता है और *निर्धनता के दुश्चक्र को तोडा जा सकता है। एक स्थिर अर्थ-व्यवस्था को गतिमान करने हेतु* प्रारम्भिक अवस्था मे भारी विनियोजन अत्यन्त आवश्यक होता है। यदि विनियोजन हेतु घरेलू बचत एव विदेशी सहायता के माध्यम से पर्याप्त साधन नही होते हैं तो मुद्रा-प्रसार द्वारा विनियोजन के परिमाण मे वृद्धि की जाती है। हीनार्थ-प्रबन्धन के माध्यम से अर्थ-व्यवस्था की जडता को समाप्त करना सम्भव हो सकता है और मूल्य-स्तर मे वृद्धि हो जाने से साहसियो मे आशावादी वातावरण उत्पन्न किया जा सकता है। मूल्य स्तर की वृद्धि द्वारा उत्पादन के साधनो का पुन आवटन करना भी सम्भव होता है और श्रम की गतिशीलता मे भी वृद्धि होती है। दूसरी ओर, हीनार्थ-प्रबन्धन के माध्यम से जो मूल्य वृद्धि होती है उससे साधनो का हस्तान्तरण लाभ पाने वाले वर्ग के पक्ष म होता है जिससे विनियोजन की प्रक्रिया को गति प्राप्त होती है और रोजगार के अवसरो मे वृद्धि होती है। मुद्रा-प्रसार द्वारा प्रेरित विनियोजन के फलस्वरूप मन्दी के कारण उदय हुई बेरोजगारी का भी निवारण किया जा सकता है। मुद्रा-प्रसार के कारण प्रभावशाली माँग मे वृद्धि होती है जो पूर्ति पक्ष को प्रभावित करती है और अतिरिक्त उत्पादन के लिए रोजगार के नवीन अवसर उदय होते है। यह व्यवस्था मौसमी एव प्रतिघर्षी बेरोजगारी के निवारण के लिए अधिक उपयुक्त होती है। *अल्प-विकसित राष्ट्रों की अनैच्छिक बेरोजगारी के निवारण* हेतु मुद्रा-प्रसार द्वारा प्रेरित विनियोजन का उपयोग केवल विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे ही उपयुक्त होता है। जब मुद्रा-प्रसार का किसी अर्थ-व्यवस्था मे निरन्तर उपयोग होता है तो विषमताएँ एव बेरोजगारी घटने के स्थान पर बढने लगती हैं। यदि हीनार्थ-प्रबन्धन के साथ-साथ राजकोषीय एव मौद्रिक नियन्त्रणो का व्यापक उपयोग किया जाय और साधनो का केन्द्रीकरण पूंजी-प्रधान तान्त्रिकताओ के स्थान पर श्रम-प्रधान तान्त्रिकताओ मे किया जाय तो *हीनार्थ-प्रबन्धन बेरोजगारी के निवारण का साधन* सिद्ध हो सकता है।

(4) खण्डीय रोजगार अवशोषण नीति—भारत की द्वितीय पचवर्षीय योजना मे महालनौबिस विकास मॉडल के अन्तर्गत इस नीति का अनुसरण किया गया था। इसके अन्तर्गत अर्थ व्यवस्था को विभिन्न खण्डो मे विभक्त करके प्रत्येक खण्ड के लिए उत्पाद-पूंजी-अनुपात एव पूंजी-श्रम-अनुपात

निर्धारित किया जाता है। विनियोजन हेतु उपलब्ध राशि को विभिन्न खण्डो मे उनकी श्रम-अवशोषण क्षमता (Labour Absorption Capacity) एव उत्पादन-क्षमता के समन्वित आधार पर आवटित किया जाता है। निश्चित अवधि मे अतिरिक्त श्रम की उपलब्धि के आधार पर यह निर्धारित किया जाता है कि इस समय मे रोजगार के कितने अवसरो मे वृद्धि करनी है और फिर रोजगार के इन अवसरो को श्रम-पूंजी-अनुपात के आधार पर विभिन्न आर्थिक खण्डो पर फैला दिया जाता है। परन्तु इस रोजगार-नीति का उचित उपयोग ऐसे देशो मे ही हो सकता है जहाँ उत्पादन सगठित क्षेत्र मे होता हो और उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रो से सम्बन्धित विश्वसनीय आंकडे उपलब्ध हो। श्रम की गतिशीलता भी इस नीति के सफल सचालन के लिए आवश्यक है। कृषि-प्रधान राष्ट्रो मे पूंजी-उत्पाद एव पूंजी-श्रम अनुपात की ठीक-ठीक गणना करना सम्भव नही होता है।

(5) रोजगारमूलक राजकोषीय एव मौद्रिक नीति—देश की सरकार द्वारा राजकोषीय एव मौद्रिक नीति को रोजगारमूलक बनाया जा सकता है। इन नीतियो द्वारा विनियोजन के साधनो मे वृद्धि इन साधनो की श्रम-प्रधान तान्त्रिकताओं के पक्ष मे आवटन, बेरोजगारी के केन्द्रो मे उपरिव्यय-सुविधाओं के विस्तार की व्यवस्था, स्वत रोजगार प्राप्त करने वालो को प्रोत्साहन प्रदान करना, छोटे आकार के व्यवसायो एव उद्योगो के विकास एव विस्तार को प्रोत्साहित करना आदि कार्यवाहियाँ सचालित की जा सकती हैं। ग्रामीण क्षेत्र की आशिक बेरोजगारी ग्रामीण एव लघु उद्योगो के विकास एव विस्तार द्वारा दूर की जा सकती है। इन उद्योगो को आवश्यक उपरिव्यय सुविधाओं—साख, कच्चा माल, यातायात, विद्युत-शक्ति आदि—का आयोजन सरकार के द्वारा किया जाना चाहिए। इस कार्य के लिए राजकोषीय एव मौद्रिक नीतियो का व्यापक उपयोग किया जा सकता है।

(6) रोजगारमूलक सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार—सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार करके बेरोजगारी की समस्या का निवारण करना सम्भव हो सकता है। सार्वजनिक क्षेत्र मे बडे पैमाने पर विनियोजन करके एक ओर प्रत्यक्ष रूप से रोजगार के अवसर बढ जाते हैं और दूसरी ओर सार्वजनिक क्षेत्र द्वारा उत्पादित वस्तुओ, कच्चे माल एव सेवाओ का वितरण अधिक रोजगार प्रदान करने वाले क्षेत्रो को करके रोजगार के अवसरो मे पर्याप्त वृद्धि की जा सकती है। सार्वजनिक क्षेत्र स्वत रोजगार प्राप्त लोगो के लिए नवीन व्यवसायो एव उद्योगो की स्थापना एव सचालन के लिए योगदान दे सकता है। सार्वजनिक क्षेत्र निजी क्षेत्र के समान छोटे व्यवसायों एव उद्योगो को शोषण करने की बजाय उनका सहायक एव सलाहकार बन सकता है।

(7) आय के विषम वितरण को कम करके रोजगार के अवसरो मे वृद्धि—निर्धनता एव बेरोजगारी मे कारण एव प्रभाव का सम्बन्ध होता है। विकास-विनियोजन की समस्त नीतियाँ एव कार्यक्रम जिनसे आय एव अवसर की विषमता मे कमी नही आती है, बेरोजगारी की समस्या के निवारण के लिए उपयुक्त नही होते। अवसर एव आय की विषमता को कम करने के लिए भूमि एव अन्य सम्पत्तियों के उत्तराधिकार के नियमो मे परिवर्तन करके इनका पुनर्वितरण करने की आवश्यकता होती है। दूसरी ओर, अवसरो की विषमता को कम करने के लिए शिक्षा एव प्रशिक्षण की सुविधाओं को ग्रामीण एव निर्धन जनसख्या को सुलभता से प्रदान करना अत्यन्त आवश्यक होता है। आय एव धन के विषम वितरण को कम करने के फलस्वरूप विनियोजन-स्तर पर प्रतिकूल प्रभाव पडने के भय से बचने हेतु राजकोषीय नीतियों का उपयुक्त उपयोग करना चाहिए जिससे उपभोग पर अधिक व्यय को रोका जा सके और विनियोजन हेतु पर्याप्त आन्तरिक बचत उपलब्ध हो सके।

(8) श्रम बजट नीति—वित्तीय एव भौतिक साधनो के समान श्रम-शक्ति का भी विस्तृत बजट बनाकर बेरोजगारी की समस्या का निवारण हो सकता है। अल्प-विकसित राष्ट्रो मे श्रम शक्ति की सरचना मे अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकतानुसार परिवर्तन नही होते है जिससे कुछ व्यवसायो मे श्रम का बाहुल्य रहता है जबकि अन्य कुछ व्यवसायो मे श्रम की कमी रहती है। श्रम-बजट के माध्यम

से विकास की विभिन्न अनुमानित दरों के लिए अर्थ-व्यवस्था मे विभिन्न व्यवसायो को किस किस योग्यता की कितनी श्रम शक्ति की आवश्यकता होगी, इसके अनुमान के आधार पर श्रम-शक्ति के प्रशिक्षण एवं शिक्षण की व्यवस्था की जाती है। श्रम-बजट की तैयारी के लिए उत्पादन मे संगठित क्षेत्र ही उपयुक्त होते है। कृषि जैसे असंगठित क्षेत्र के लिए श्रम बजट का निर्माण करना कठिन होता है। ऐसी संगठित अर्थ-व्यवस्थाओ मे जहाँ अधिकतर आर्थिक क्रियाएँ सार्वजनिक क्षेत्र में संचालित होती है श्रम-बजट नीति का उपयोग सफलता के साथ किया जा सकता है।

रोजगार सम्बन्धी उपर्युक्त नीतियो मे से किसी भी एक नीति के संचालन में अर्थ व्यवस्था मे सन्तुलन स्थापित नही किया जा सकता है। आधुनिक अर्थ-व्यवस्थाएँ इतनी जटिल है कि आवश्यकतानुसार विभिन्न रोजगार नीतियो का सम्मिश्रित उपयोग किया जाता है। अल्प विकसित राष्ट्रों मे प्रायः बेरोजगारी की समस्या को द्वितीयक महत्व दिया जाता है और अर्थ-व्यवस्था की यौगिक प्रगति (Aggregate Growth) को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया जाता है जिसके परिणामस्वरूप बढती हुई श्रम-शक्ति देश की प्रगति के लिए अभिशाप सिद्ध होती है।

विकासशील राष्ट्रो मे बेरोजगारी का निवारण

विकासशील राष्ट्रो में बेरोजगारी की समस्या के निवारणार्थ सबसे बड़ी आवश्यकता होनी है विकास एवं रोजगार मे सामंजस्य स्थापित करने की। यदि विकास एवं रोजगार में घर्षण होता हो तो विकास की गति एवं प्रविधि इस प्रकार निर्धारित की जानी चाहिए कि रोजगार के अवसरो मे शीघ्रता से वृद्धि हो सके, चाहे विकास की गति कुछ मन्द ही क्यो न करनी पड़े। रोजगार के अवसरो की वृद्धि दीर्घकाल में विकास की गति को तीव्रता प्रदान कर सकती है क्योकि इसके द्वारा समस्त आय (Aggregate Income) में वृद्धि होती है, आय का पुनर्वितरण निर्धन-वर्ग के पक्ष मे होता है तथा जनसाधारण में विकास के भागीदार होने की भावना जागृत होती है जो आगे के विकास के लिए महत्वपूर्ण घटक होते है।

विकासशील राष्ट्रो मे बेरोजगार का निवारण करने के लिए निम्नलिखित उपाय किये जा सकते है

(1) ग्रामीण क्षेत्रो मे बेरोजगारी का प्रमुख कारण भूमि का उपयुक्त एवं गहन उपयोग न किया जाना होता है। भूमि पर अधिकार किसका रहता है, यह इतना महत्वपूर्ण नही होता, जितना भूमि का उपयोग किस प्रकार किया जाता है। विकासशील राष्ट्रों मे भूमि को इस प्रकार उपयोग किया जाय कि श्रम का भूमि पर अधिक उपयोग किया जा सके। कृषि का यन्त्रीकरण करने हेतु बड़े फार्मों की स्थापना से कृषि में श्रम की आवश्यकता कम हो जाती है। ऐसी परिस्थिति मे कृषि मे ऐसी उत्पादन विधियों का उपयोग होना चाहिए जो छोटे खेतो पर गहन खेती के लिए उपयोगी हो। कृषि-भूमि का पुनर्वितरण करके ऐसे भूमिहीन लोगों को भूमि प्रदान की जानी चाहिए जो भूमि का गहन उपयोग कर सकें।

(2) ग्रामीण क्षेत्र मे रोजगार के अवसरो मे पर्याप्त वृद्धि एवं जीवन-स्तर के साधन उपलब्ध कराकर ग्रामीण क्षेत्र से रोजगार की श्रम-शक्ति को नगरीय क्षेत्र मे प्रवाहित होने से रोकना चाहिए। सरकार द्वारा इस सम्बन्ध मे आवश्यक कार्यवाहियाँ करनी चाहिए। यदि ग्रामीण जीवन में पर्याप्त सुधार नही किया जाता है तो नगरीय बेरोजगारी की समस्या गम्भीर रूप ग्रहण कर लेती है।

(3) श्रम शक्ति की योजना अन्य भौतिक मदो के समान ही बनानी चाहिए। प्रतिघर्षी बेरोजगारी का प्रमुख कारण श्रम योजना का ठीक से बनाना होता है। श्रम-योजना मे विभिन्न वर्गों में श्रम की आवश्यकता का अनुमान लगाया जाना चाहिए और इन अनुमानो के अनुरूप ही शिक्षा एवं प्रशिक्षण की व्यवस्था की जानी चाहिए। श्रम-योजना बनाने के लिए विकास-कार्यक्रमों मे रोजगार-तत्व को अनुमानित करना आवश्यक होगा और तत्पश्चात अनुमानित रोजगार के अवसरो का वर्गीकरण करके शिक्षा एवं प्रशिक्षण के कार्यक्रम निर्धारित किये जाने चाहिए।

(4) विकासशील राष्ट्रों में रोजगार की समस्या के निवारण के लिए नगरीय क्षेत्र में मजदूरी अर्जन करने वाले क्षेत्रों का विस्तार किया जाना चाहिए परन्तु ये राष्ट्र प्राय पूंजी-प्रधान क्षेत्र का विस्तार अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने, विदेशी सहायता का उपयोग करने आदि के लिए करते है। इन राष्ट्रों में ऐसे विकसित राष्ट्रों की उत्पादन-तान्त्रिकताओं का अनुसरण किया जाता है जिनमें श्रम की पूर्ति कम होती है। ये तान्त्रिकताएँ पूंजी-प्रधान होती हैं और इनके द्वारा उत्पादन में वृद्धि तो होती है परन्तु रोजगार के अवसरों में पर्याप्त वृद्धि नहीं होती है। ऐसी परिस्थिति में विकासशील राष्ट्रों में अनुसन्धान द्वारा ऐसी तान्त्रिकताओं का आविष्कार किया जाना चाहिए जो उत्पादन-वृद्धि के साथ-साथ रोजगार-वृद्धि भी करती हों।

(5) विकासशील राष्ट्रों में सेवावर्गी प्रबन्ध की कुशलता की कमी रहती है जिसके परिणामस्वरूप उद्योगपति श्रमिकों से पर्याप्त उत्पादन प्राप्त करने में समर्थ नहीं होते है। इसी कारण वे श्रम बचाने वाली तान्त्रिकताओं को अधिक अच्छा मानते हैं। श्रम-प्रधान तान्त्रिकताओं का उपयोग करने के लिए इन राष्ट्रों में सेवावर्गी प्रबन्ध की नवीन तकनीकियों का विस्तार किया जाना चाहिए।

(6) राजकोषीय नीति द्वारा नवीन औद्योगिक व्यवसायों को नवीन मशीनों के क्रय एवं उपयोग पर कर एवं अनुदान सम्बन्धी सुविधाएँ दी जाती है जिनके परिणामस्वरूप पूंजी-प्रधान तान्त्रिकताओं की लागत कम प्रतीत होती है जबकि श्रम का अधिक उपयोग करने पर इस प्रकार की सुविधाएँ उपलब्ध नहीं होती है। अधिकतर रोजगार प्रदान करने वाली विधियों का उपयोग करने वाली औद्योगिक इकाइयों को कर आदि की सुविधाएँ प्रदान करके श्रम प्रधान तान्त्रिकताओं का उपयोग करने के लिए प्रोत्साहन प्रदान करना चाहिए।

(7) अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं द्वारा विकासशील राष्ट्रों को विकास-परियोजनाओं के लिए जो सहायता प्रदान की जाती है, उसमें ऐसे कार्यक्रमों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए जिनके द्वारा उत्पादक रोजगार में पर्याप्त वृद्धि होती है। ग्रामीण एवं कृषि विकास तथा सुदृढ़ लघु उद्योगों के विस्तार के लिए अधिक सहायता प्रदान की जानी चाहिए। सहायता प्रदान करते समय विनियोजन के स्तर को रोजगार-वृद्धि की आवश्यकता के सन्दर्भ में आंका जाना चाहिए और विदेशी पूँजी की सहायता भी इसी के आधार पर प्रदान की जानी चाहिए।

(8) विभिन्न राष्ट्रों की विदेशी व्यापार-नीति भी विकासशील राष्ट्रों की रोजगार-अवस्था को प्रभावित करती है। यह औद्योगिक राष्ट्र विकासशील राष्ट्रों के उन उत्पादों के निर्यात को स्वीकार करने लगें जो श्रम-प्रधान तान्त्रिकताओं द्वारा उत्पादित होते है और जिनकी लागत भी कम होती है तो विकासशील राष्ट्रों को अपनी रोजगार स्थिति सुधारने में सहायता मिलती है। विकसित राष्ट्रों को चाहिए कि विदेशी व्यापार सम्बन्धी प्रतिबन्धों को ढीला करके विकासशील राष्ट्रों को अपनी बेरोजगारी की समस्या को हल करने में सहायता प्रदान करें।

(9) प्रबन्ध-प्रशिक्षण एवं उत्पादकता सुधारने सम्बन्धी तान्त्रिक सहायता के कार्यक्रमों के अन्तर्गत विकासशील राष्ट्रों को पूंजी बचाने वाली तान्त्रिकताओं का ज्ञान प्रदान किया जाना चाहिए।

(10) ऐसी तान्त्रिकताओं की खोज की जाय जो श्रम की बाहुल्यता एवं पूंजी की कमी वाले राष्ट्रों के लिए उपयोगी हो। यह कार्य विभिन्न विकासशील राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं एवं विकसित राष्ट्रों के सहयोग से सम्पादित कर सकते हैं।

(11) विदेशी तान्त्रिक सहायता के कार्यक्रमों के अन्तर्गत ऐसे कार्यों के प्रशिक्षण की व्यवस्था की जानी चाहिए जो उत्पादक व्यवसायों में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं और जिनके लिए उपयुक्त कर्मचारी न मिलने से उत्पादन कार्यक्रम का विस्तार करना सम्भव नहीं हो सकता हो। पर्यवेक्षकों (Supervisors), कुशल श्रमिकों एवं टेक्नीशियनों की कमी होने पर अकुशल श्रमिकों को रोजगार प्रदान नहीं किया जा सकता है।

(12) रोजगार की समस्या के निवारण हेतु जनसख्या-वृद्धि को रोकना अथवा कम करना आवश्यक होता है और इसके लिए परिवार-नियोजन के कार्यक्रमो को सचालित करना आवश्यक होता है। विकासशील राष्ट्रो को परिवार-नियोजन के कार्यक्रमो के सचालनार्थ पर्याप्त सहायता, पूंजी एव ज्ञान के रूप मे, विकसित देशो एव अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ द्वारा प्रदान की जानी चाहिए।

विकासशील राष्ट्रो मे पूँजी-प्रधान तान्त्रिकताओ के उपयोग का सबसे बडा कारण *अन्तर्राष्ट्रीय सहायता की प्रकृति है। इन देशो को अन्तर्राष्ट्रीय सहायता द्वारा पूँजी-प्रधान तान्त्रिकताओ* से इस प्रकार बाँध दिया गया है कि ये अपनी रोजगार-समस्या का निवारण करने मे अपने आपको असमर्थ पाते है। अन्तर्राष्ट्रीय सहायता के अन्तर्गत विभिन्न देश जो सहायता प्रदान करते है, उसमे यह शर्त रहती है कि आवश्यक यन्त्र एव प्रसाधन सहायता प्रदान करने वाले राष्ट्र से ही क्रय करने होगे और ये देश श्रम बचाने वाली मशीनें, प्रसाधन एव ज्ञान प्रदान करते है। इस प्रकार रोजगार की समस्या के निवारणार्थ राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कार्यवाहियाँ किया जाना आवश्यक है।

अन्य विकासशील राष्ट्रों के समान भारत भी बेरोजगारी की समस्या से पीडित है और यह समस्या एक के बाद दूसरी योजना मे अधिक गम्भीर होती जा रही है। पूँजी-विनियोजन एव राष्ट्रीय उत्पादन मे निरन्तर वृद्धि होते रहने पर भी बेरोजगारी बढती जा रही है। इस अवस्था से निपटने के लिए अभी तक की योजना मे जो कार्यवाहियाँ की गयी हैं, उनमें कोई विशेष सफलता प्राप्त नही हुई है। यद्यपि नियोजित विनियोजन द्वारा अर्थ-व्यवस्था मे रोजगार अवसरो मे निरन्तर वृद्धि होती रही है परन्तु यह वृद्धि जनसख्या-वृद्धि के परिणामस्वरूप उदय हुई नवीन श्रम-शक्ति मे बहुत कम रही है। इसी कारण प्रत्येक योजना के अन्त में बेरोजगारी का परिमाण अधिक होता जा रहा है।

भारतीय नियोजित विकास एवं बेरोजगार

भारतीय नियोजित विकास के अन्तर्गत भी बेरोजगारी की समस्या निरन्तर बढती गयी है। यद्यपि नियोजित विकास के अन्तर्गत रोजगार के अवसरो मे वृद्धि हुई है परन्तु यह रोजगार-वृद्धि श्रम शक्ति की वृद्धि (जो जनसख्या मे तीव्र गति से वृद्धि होने के कारण उदय हुई है) के अनुपात मे बहुत कम रही है। यही कारण है कि योजना प्रति योजना बेरोजगारो की सख्या में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है।

अग्रांकित तालिका (27) के अध्ययन से ज्ञात होता है कि सगठित क्षेत्र मे रोजगार के अवसरो मे द्वितीय योजनकाल मे 4 85% की दर से वार्षिक वृद्धि हुई जो तृतीय योजनाकाल मे बढकर 6 03% हो गयी। परन्तु इस काल मे रोजगार-वृद्धि की दर सार्वजनिक क्षेत्र की तुलना मे निजी क्षेत्र मे अधिक थी। तृतीय योजना के बाद के दस वर्षों मे रोजगार-वृद्धि की दर कम होती रही और 1966-67 से 1976-77 के दशक मे सगठित क्षेत्र मे रोजगार-वृद्धि की चक्रवृद्धि वार्षिक दर 2 29% ही रह गयी। इस दशक मे निजी क्षेत्र रोजगार के अवसरो को बढाने मे कम सफल रहा है। निजी क्षेत्र मे 1966-67 से 1976-77 के दशक मे रोजगार के अवसरो मे 04% की ही वृद्धि हुई, जबकि सार्वजनिक क्षेत्र मे रोजगार-वृद्धि की वार्षिक चक्रवृद्धि दर इस दशक मे 3 65% थी। रोजगार-वृद्धि के दृष्टिकोण से इस प्रकार सार्वजनिक एव निजी दोनो ही क्षेत्रो मे तृतीय योजना मे अधिक सफलता प्राप्त हुई और इस योजना मे सगठित क्षेत्र मे 41 02 लाख रोजगार के अवसर उदय हुए, जबकि 1966-67 से 1976-77 के दशक मे 42·10 लाख रोजगार के अवसरो मे वृद्धि हुई। *तीन वार्षिक योजनाओ एव चौथी योजना मे* रोजगार के अवसरो मे पर्याप्त वृद्धि नही हुई है। निर्माणी-क्षेत्र मे रोजगार के अवसरो मे वृद्धि के दृष्टिकोण से भी तृतीय योजना अधिक सफल रही क्योंकि इस योजना मे निर्माणी क्षेत्र मे 5 99% की वार्षिक चक्रवृद्धि दर से वृद्धि हुई जबकि 1966-67 से 1976-77 तक के दशक मे रोजगार के अवसरो की वृद्धि दर 1 56% ही रही। 1966-67 वर्ष के पश्चात निर्माणी क्षेत्र मे रोजगार के अवसरो मे वृद्धि की दर

तालिका 27— भारत में संगठित क्षेत्रों में रोजगार में प्रगति

(लाख संख्या में)

वर्ष	सार्वजनिक क्षेत्र		निजी क्षेत्र		सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र का योग		निर्माणी-क्षेत्र में रोजगार का गत वर्ष की तुलना में वृद्धि का प्रतिशत
	संख्या	गत वर्ष से वृद्धि का प्रतिशत	संख्या	गत वर्ष से वृद्धि का प्रतिशत	संख्या	गत वर्ष की तुलना में वृद्धि का प्रतिशत	
1960 61	70 50	—	50 40	—	120 90	—	
1965 66	93 79	—	68 13	—	161 92	—	
1960 61 से 1965 66 तक की चक्रवृद्धि वार्षिक दर		5 88		6 28	—	6 03	5 99
1966 67	9 634	2 72	66 80	—1 95	163 14	0 75	—1 83
1967-68	98 02	2 08	65 30	—2 25	163 32	0 11	—0 09
1968-69	100 95	2 99	65 30	—	166 25	1 79	1 94
1969-70	103 74	2 76	66 85	2 37	170 59	2 61	3 38
1970-71	107 31	3 44	67 42	0 85	174 73	2 43	1 73
1971-72	113 05	5 35	67 69	0 10	180 74	3 44	2 23
1972-73	119 75	5 93	68 49	1 18	188 24	4 44	4 09
1973-74	124 86	4 27	67 94	—0 80	192 80	2 42	2 76
1974-75	128 68	3 06	68 04	0 15	196 72	2 03	—1 50
1975-76	133 63	3 85	68 44	0 59	202 07	2 72	2 79
1976-77	136 18	3 74	67 84	—0 13	204 02	2 42	1 55
(अप्रैल से सितम्बर) 1965 66 से 1975-76 की वार्षिक चक्रवृद्धि दर	—	3 65	—	0 04	—	2 29	1 56

मे कमी होती रही। 1966-67 से 1975-76 के दशक मे यद्यपि योजनाओ के अन्तर्गत निर्माणी-क्षेत्र मे पर्याप्त विनियोजन किया गया परन्तु यह क्षेत्र रोजगार के अवसरो मे पर्याप्त वृद्धि करने मे सफल नही रहा। दिसम्बर, 1976 के अन्त मे सगठित क्षेत्र मे विभिन्न व्यवसायो मे श्रम-शक्ति का वितरण निम्नवत् था

तालिका 28—भारत मे सगठित क्षत्र मे रोजगार का उद्योगवार वितरण

(लाख मे)

	उद्योग	मार्च, 1966 के अन्त मे	दिसम्बर, 1976 के अन्त मे	मार्च, 1966 से दिसम्बर, 1976 मे अन्तर
1	कृषि एव शिकार आदि	11 30	11 97	+ 67
2	खदान एव खनिज	6 67	8 77	+2 10
3	निर्माणी	45 28	53 06	+7 78
4	विद्युत, गैस एव जल आदि	3 45	5 87	+2 42
5	निर्माण	10 20	10 77	57
6	व्यापार एव वाणिज्य	4 85	10 56	+5 71
7	यातायात, सग्रहण एव सचार	22 17	25 02	+2 85
8	सामुदायिक, व्यक्तिगत एव सामाजिक सेवाएँ	58 00	78 00	+20 0
9	कुल रोजगार	161 92	204 02	+42 10

इस तालिका से ज्ञात होता है कि गत दस वर्षों मे सभी व्यवसायो मे सगठित क्षेत्र मे रोजगार के अवसरो मे वृद्धि हुई है परन्तु निर्माणी (Manufacturing) एव सेवाओ सम्बन्धी व्यवसायो मे रोजगार मे अधिक वृद्धि हुई है। परन्तु कृषि क्षेत्र अधिकतर असगठित है और उससे सम्बन्धित रोजगार के आँकड़े कृषि व्यवसाय की सही स्थिति प्रस्तुत नही करते है। 1966 से 1976 के दस वर्षों मे सगठित क्षेत्र मे रोजगार के अवसरो मे 42 1 लाख की वृद्धि हुई जिसमे से लगभग 50% सेवाओ के क्षेत्र से सम्बन्धित थे।

नियोजन के प्रारम्भ मे नियोजको का विचार था कि विकास-विनियोजन मे वृद्धि होने के फलस्वरूप बेरोजगारी स्वय ही समाप्त हो जायेगी परन्तु प्रथम योजना के मध्य मे यह महसूस किया गया कि बेरोजगारो की सख्या बढ रही है। इसलिए लगभग 500 करोड रुपये का विनियोजन करके इसे रोजगारमूलक बनाने का प्रयत्न किया गया। योजना के अन्त मे अर्थात् सन् 1956 मे योजना-आयोग ने अनुमान लगाया कि देश मे लगभग 53 लाख लोग बेरोजगार थे। द्वितीय योजना मे बेरोजगारी की समस्या पर विशेष ध्यान दिया गया और योजना के विकास-मॉडल मे श्रम-शक्ति के अधिकतम उपयोग का आयोजन किया गया। इस योजना मे लगभग 1 करोड रोजगार के अवसर बढाने का आयोजन किया गया था जिनके बढने के बाद भी योजना के अन्त मे बेरोजगारो की सख्या 71 लाख अनुमानित थी क्योकि योजनाकाल मे लगभग 118 लाख नवागन्तुक श्रम शक्ति मे सम्मिलित हो गये। इस योजना मे रोजगार के अवसरो मे तेजी से वृद्धि करने के लिए लघु एव ग्रामीण उद्योगो के विकास एव विस्तार का विशेष आयोजन किया गया।

तृतीय योजना इस प्रकार लगभग 71 लाख बेरोजगारो से प्रारम्भ हुई। इस योजनाकाल मे लगभग 170 लाख नवागन्तुको का श्रम शक्ति मे सम्मिलित होने का अनुमान था। योजनाकाल मे लगभग 145 लाख रोजगार के अवसरो का निर्माण किया गया जिसके परिणामस्वरूप योजना के अन्त मे बेरोजगारो की सख्या बढकर 96 लाख हो गयी। इस योजना मे रोजगार के अवसर बढाने हेतु ग्रामीण विद्युतीकरण, ग्रामीण औद्योगिक सस्थाओ की स्थापना, ग्रामीण कार्यशालाओ (Rural

Works) को सगठित करना, जिला-स्तर पर बेरोजगारी की समस्या का निवारण, बेरोजगार से गहन रूप से पीडित क्षेत्रो मे विशेष कार्यक्रमो को चलाने आदि की व्यवस्था की गयी। तृतीय योजना के बाद की तीन वार्षिक योजनाओ के अन्तर्गत लगभग 76 लाख रोजगार के अवसर उत्पन्न हुए जबकि इन तीन वर्षो मे श्रम-शक्ति मे लगभग 140 लाख लोगो की वृद्धि हुई। इस प्रकार सन् 1969 मे चौथी योजना लगभग 160 लाख बेरोजगारो से प्रारम्भ हुई।

चतुर्थ योजना मे लगभग चार करोड़ लोग रोजगार की माँग करने के लिए प्रस्तुत होने का अनुमान था। चतुर्थ योजना (सन् 1969-74) मे बेरोजगारी की समस्या के परिमाण का ठीक-ठीक ज्ञान न होने के कारण इस सम्बन्ध मे योजना-आयोग ने न तो यह अनुमान लगाया कि योजनाकाल मे कितने लोगो को रोजगार की आवश्यकता होगी और न ही यह बताया कि योजना के विकास-विनियोजन द्वारा कितने नये रोजगार के अवसर उदय हो सकेंगे। विश्वसनीय आँकडो की अनुपलब्धि के कारण यह पता न लगना कुछ सीमा तक उचित माना जा सकता है कि चतुर्थ योजना मे कितने लोग रोजगार मांगेंगे परन्तु विनियोजन-कार्यक्रमो के प्रकार एव परिमाण के आधार पर उनमे उपयोग होने वाले अतिरिक्त श्रम का अनुमान लगाया जाना सम्भव होना चाहिए था। रोजगार विशेषज्ञ समिति के प्रतिवेदन मे दिये गये अनुमानानुसार देश मे 1972 वर्ष मे बेरोजगारो की सख्या 187 लाख थी जिसमे से 161 लाख बेरोजगार ग्रामीण क्षेत्र मे थे।

चतुर्थ योजना के विभिन्न कार्यक्रमो मे रोजगार के अवसरो की वृद्धि का तत्व निहित था और यह आशा की जाती थी कि योजना के विकास-कार्यक्रमो के फलस्वरूप रोजगार के अवसरो मे पर्याप्त वृद्धि हो सकेगी परन्तु विभिन्न कार्यक्रमो द्वारा रोजगार के कितने अवसरो मे वृद्धि होगी, इसका अनुमान नही लगाया गया। चतुर्थ योजना के निम्नलिखित कार्यक्रम रोजगार के अवसरो की वृद्धि मे विशेष रूप से सहायक होने थे

(1) चतुर्थ योजना मे श्रम-प्रधान कार्यक्रमो पर विशेष जोर दिया गया, जैसे सड़को का निर्माण, लघु सिंचाई-परियोजनाएँ, भूमि-सुरक्षा, क्षेत्र-विकास-कार्यक्रम, सहकारिता, सिंचाई, बाढ-नियन्त्रण, ग्रामीण विद्युतीकरण, लघु एव ग्रामीण उद्योग तथा नगरो की विकास-योजनाएँ। योजना मे श्रम-प्रधान कार्यक्रमो पर अन्य योजनाओ से अधिक व्यय आयोजित किया गया। सार्वजनिक वित्तीय सस्थाओ द्वारा योजनाकाल मे प्रति वर्ष 290 करोड रुपये की ऋण-सहायता श्रम-प्रधान कार्यक्रमो को दी जानी थी।

(2) कृषि-क्षेत्र मे तीव्र गति से विकास करने की व्यवस्था के फलस्वरूप ग्रामीण क्षेत्रो मे नवीन रोजगार के अवसर उदय होने की सम्भावना थी। कृषि के विकास के फलस्वरूप कृषि-क्षेत्र मे आशिक रोजगार-प्राप्त लोगो को पूर्ण रोजगार उपलब्ध होने की भी सम्भावना थी।

(3) सगठित उद्योगो एव खनिज के बढ़ते हुए विकास, लघु एव सहायक उद्योगो के प्रोत्साहन, तथा ग्रामीण एव घरेलू उद्योगो को निरन्तर सहायता प्रदान करने, ग्रामीण विद्युतीकरण का विस्तृत आयोजन, मरम्मत एव निर्वाह-सेवाओ की दुकानो का विकास, निर्माण-क्रिया का अधिक आयोजन, यातायात, सचार, शक्ति एव प्रशिक्षण-सुविधाओ के विस्तार के परिणामस्वरूप रोजगार के अवसर एव स्वत रोजगार-अवसरो (Self-employed Opportunities) मे वृद्धि होने का अनुमान था।

(4) ग्रामीण औद्योगीकरण को महत्व देने, उद्योगो के ग्रामीण क्षेत्रो के हित मे छितराव, तथा कृषि से सम्बन्धित उद्योगो के विकास के फलस्वरूप शिक्षित लोगो की आवश्यकता बढने का अनुमान था जिसमे ग्रामीण क्षेत्र मे शिक्षित नवयुवको को रोजगार उपलब्ध हो सके।

(5) सेवा-क्षेत्र—शिक्षा, स्वास्थ्य, परिवार-नियोजन आदि—के विस्तार के कारण शिक्षको, डॉक्टरो तथा अन्य प्रशिक्षित लोगो को अधिक रोजगार के अवसर उपलब्ध हो सके।

(6) योजना मे द्रुत गति से प्रगति कर तथा उत्पादन-क्रियाओ के समस्त देश मे छितराव के फलस्वरूप रोजगार के अवसरो मे वृद्धि स्वाभाविक थी।

(7) *शिक्षित बेरोजगारो को यद्यपि विकास कार्यक्रमो के नियान्वयन से* अधिक रोजगार के अवसर उपलब्ध होने लगेगे परन्तु शिक्षा की प्रगति आर्थिक प्रगति की तुलना मे अधिक तेजी से होने के कारण इस समस्या का स्थायी निवारण शिक्षा के पाठ्यक्रमो मे परिवर्तन करने के प्रस्ताव द्वारा किया गया जिससे व्यावसायिक प्रशिक्षण प्राप्त श्रम-शक्ति मे वृद्धि हो सके और स्वत रोज-गार करने वाले लोगो को अधिक अवसर उपलब्ध हो सके ।

भारत मे विभिन्न योजनाओ के अन्तर्गत बेरोजगारी (1951-52 से 1976)

(लाख मे)

योजना	बेरोजगारी का पिछला आधिक्य	योजनाकाल मे नयी श्रमशक्ति	(2) और (3) का योग	योजनाकाल मे रोजगार की व्यवस्था			योजना के अन्त मे बेरोजगारो की सख्या	योजना के आरम्भ मे कुल श्रमशक्ति	बेरोजगारी का कुल श्रमशक्ति से प्रतिशत
				गैर-कृषि-क्षेत्र	कृषि-क्षेत्र	योग			
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)	(7)	(8)	(9)	(10)
प्रथम योजना (1951-52 से 1955-56)	33	90	123	55	15	70	53	1,852	2 9
द्वितीय योजना (1956-57 से 1960-61)	53	118	171	65	35	100	71	1,970	3 6
तृतीय योजना (1961-62 से 1965-66)	71	170	241	105	40	146	96	2,150	4 5
तीन वार्षिक योजनाएँ (1966-67 से 1968-69)	96	140	236	NA	NA	76	160	2,290	4 21
चौथी योजना (1969-70 से 1973-74)	160	230	390	NA	NA	180	210 से 220	—	7 से 8
1966 से 1976 के दशक मे	96	430	526	160	90	250	276	—	—

इस तालिका से ज्ञात होता है कि बेरोजगार श्रम-शक्ति का कुल श्रम-शक्ति से प्रतिशत कोई चिन्ताजनक नही है क्योंकि लगभग 5% श्रम-शक्ति विकसित राष्ट्रो मे भी बेरोजगार बनी रहती है । यदि हम विभिन्न योजनाओ मे किये जाने वाले *विनियोजन एव रोजगार-अवसरो की वृद्धि* के अनुपात का अध्ययन करें तो ज्ञात होता है कि योजना प्रति योजना यह अनुपात बदलता रहा है । सन् 1960-61 के मूल्यो के आधार पर प्रथम योजना मे 3,980 करोड रुपये का विनियोजन किया गया जबकि योजनाकाल मे 70 लाख रोजगार के अवसर उत्पन्न हुए । इस प्रकार प्रथम योजनाकाल मे औसतन एक व्यक्ति को रोजगार देने पर 5,686 रुपया विनियोजन किया गया । दूसरी योजना मे सन् 1960-61 के मूल्यो पर कुल विनियोजन 6,962 करोड रुपये हुआ जबकि रोजगार के अवसर 1 करोड बढे अर्थात् रोजगार एव विनियोजन का अनुपात 1 6962 रहा । तृतीय योजना मे विनियोजन 10,137 करोड रुपया हुआ और रोजगार के अवसरो मे 145 लाख की वृद्धि हुई अर्थात रोजगार एव विनियोजन का अनुपात 1 7000 रहा । तीन वार्षिक योजनाओ मे वास्तविक विनियोजन 7,554 करोड रुपया हुआ (1960-61 के मूल्यो पर) । इन तीन वर्षो मे लगभग 76 लाख रोजगार के अवसर उत्पन्न हुए । इस प्रकार इन तीन वर्षो मे रोजगार एव विनियोजन का अनुपात 1 9940 रहा ।

भारत मे बेरोजगार की वर्तमान स्थिति

वर्तमान अनुमानानुसार चौथी योजना 160 लाख बेरोजगारो मे प्रारम्भ हुई और

1969-74 के काल मे नयी श्रम-शक्ति 230 लाख उदय हुई। इस प्रकार चौथी योजना मे 390 लाख लोग रोजगार पाने के लिए बेरोजगार बाजार मे थे। योजना के अन्त मे 210 से 220 लाख लोग बेरोजगार रहने का अनुमान है। इस आधार पर यह अनुमानित किया जा सकता है कि चौथी योजना मे लगभग 180 लाख रोजगार के अवसरो मे वृद्धि हुई, जबकि चौथी योजना का कुल विनियोजन (1960-61 के मूल्यो पर) लगभग 14,681 करोड रुपया हुआ। इस प्रकार चौथी योजना मे रोजगार एव विनियोजन का अनुपात लगभग 1 8156 रहा। इन तथ्यो से यह सिद्ध होता है कि हर योजना मे रोजगार-विनियोजन का अनुपात बढता रहा है। चौथी योजना मे इस अनुपात मे कुछ कमी हुई है। इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि हमारी योजनाओ मे कम पूंजी-सघन परियाजनाओ का महत्व बढता गया है। वर्तमान अनुमान के अनुसार देश मे प्रत्येक वर्ष 50 लाख श्रम-शक्ति राजगार पाने के लिए उदय होती है। 1971 मे कुल श्रम-शक्ति 2,305 लाख थी। यदि छठी योजना मे रोजगार के अवसरो को बढाने के विशेष प्रयास नही किये जाते है तो छठी योजना के अन्त मे लगभग 640 लाख बेरोजगार होगे। सन् 1977 मे कुल बेरोजगारी 210 लाख पूणत बेरोजगार व्यक्तियो के बराबर अनुमानित है।

जनता सरकार द्वारा अगले 10 वर्षो मे बेरोजगार की समस्या की समाप्ति का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु 700 लाख रोजगार के अवसर 10 वर्ष मे बढाने होगे। छठी योजना के दो प्रमुख उद्देश्य 10 वर्षो मे पूर्ण-रोजगार की व्यवस्था तथा गरीबी के आकार एव गहनता मे पर्याप्त कमी स्वीकार किये गये हैं। इन उद्देश्यो की पूर्ति हेतु प्रगति, निर्धनता एव बेरोजगारी के पारस्परिक सम्बन्धो का गहन अध्ययन किया गया है और उपलब्ध तथ्यो के आधार पर यह धारणा उदय हुई है कि निर्धनता की व्यापकता का एकमात्र कारण बेरोजगारी ही नही है और पूण-रोजगार की व्यवस्था करके भी निर्धनता का उन्मूलन नही किया जा सकता है। दूसरी ओर, यह धारणा भी पुष्ट हो गयी है कि केवल आर्थिक प्रगति किसी देश की निर्धन जनसख्या के उपभोग-स्तर मे सुधार एव रोजगार-स्तर मे वृद्धि करने के लिए पर्याप्त नही होती है। इसी कारण भारतीय अर्थ व्यवस्था मे $3\frac{1}{2}\%$ चक्रवृद्धि वार्षिक प्रगति होते हुए भी निर्धन वर्गो के जीवन-स्तर एव रोजगार-उपलब्धि मे कोई विशेष सुधार नही हुआ है। वर्तमान अनुमान के अनुसार भारत मे निर्धनता रेखा से नीचे के लोगो का कुल जनसख्या मे भाग 42 7 से 59 5% है।

राष्ट्रीय न्यादर्श सर्वेक्षण (N S S) के 27वें चक्र के अनुसार 1972-73 मे देश मे 193 4 लाख लोग वर्ष मे प्रतिदिन कार्य के लिए उपलब्ध थे जिन्हे कार्य नही मिला था। वर्तमान गतिविधि स्तर (Current Activity Status) के अनुसार व्यक्ति-दिन श्रम-समय उपयोग के आधार पर ग्रामीण क्षेत्रो मे बेरोजगारी की दर 7 83% और नगरीय क्षेत्रो मे 8 85% अनुमानित थी। पूर्णत: बेरोजगारो की सख्या 41 लाख थी। N S S के 27वें चक्र के अध्ययन के आधार पर 1972-73 मे श्रम-शक्ति का रोजगार सम्बन्धी वितरण निम्नवत् था

तालिका 30—श्रम शक्ति का सामान्य गतिविधि के अनुसार वितरण

(लाखो मे)

वर्ग	ग्रामीण		नगरीय		योग	
	सख्या	प्रतिशत	सख्या	प्रतिशत	सख्या	प्रतिशत
स्थायी कार्य						
1 स्वत रोजगार प्राप्त	1 155	57 9	145	36 0	130	54 2
2 मजदूर-वर्ग	198	9 9	183	45 4	381	15 9
सामयिक कार्य						
1 लगभग पर्याप्त अथवा कुछ आश्वस्त कार्य	349	17 5	28	6 9	377	15 7
2 कभी कभी कार्य मिलना	273	13 7	26	6 5	299	12 5
कोई कार्य नही						
पूणत बेरोजगार	20	1 0	21	5 2	41	1 7
योग	1,995	100 0	403	100 0	2,398	100 0

उक्त तालिका (30) के अध्ययन से ज्ञात होता है कि बेरोजगारी के स्तर की तुलना मे गरीबी की गहनता कही अधिक है। दूसरे शब्दो मे यह कह सकते है कि देश मे बेरोजगारो की सख्या की तुलना मे गरीबो की सख्या कही अधिक है। ऐसी परिस्थिति मे वर्तमान मजदूरी-दर पर पूर्ण-रोजगार की व्यवस्था करने पर भी निर्धनता की गहनता को कम नही किया जा सकता है। इस स्थिति को देखते हुए बेरोजगारी की समस्या की तुलना मे निर्धनता की समस्या का निवारण अधिक महत्वपूर्ण है।

उपभोग-स्तर एव बेरोजगारी-दर के अध्ययन से भी उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि होती है। N S S के 25वे चक्र के अध्ययन के अनुसार 26 क्षेत्रो मे भूमिहीन श्रमिको का उपभोग-स्तर राष्ट्रीय औसत उपभोग-स्तर से कम था, जबकि N S S. के 27वे चक्र के अनुसार ग्रामीण क्षेत्रो मे बेरोजगारी की दर राष्ट्रीय औसत दर (7 83) से केवल 11 क्षेत्रो मे कम थी। इसी प्रकार 30 क्षेत्रो मे भूमिहीन श्रमिको का उपभोग-स्तर राष्ट्रीय उपभोग-स्तर से अधिक था परन्तु इनमे से 8 क्षेत्रो मे ही बेरोजगारी की दर राष्ट्रीय औसत दर से अधिक थी। लघु कृषको के सम्बन्ध मे 38 क्षेत्रो मे उपभोग-स्तर 30 रुपये प्रति माह प्रति व्यक्ति से कम था परन्तु इनमे से 19 क्षेत्रो मे बेरोजगारी की दर राष्ट्रीय औसत बेरोजगारी से कम थी। ऐसे 8 क्षेत्रो मे जिनमे लघु कृषको का उपभोग-स्तर 23 रुपया प्रति व्यक्ति प्रति माह से कम था, 4 क्षेत्रो मे ही बेरोजगारी की दर राष्ट्रीय बेरोजगारी दर से कम थी। इन तथ्यो से यह स्पष्ट है कि उपभोग-स्तर एव निर्धनता और बेरोजगारी मे पारस्परिक सम्बन्ध होते हुए भी यह एक-दूसरे पर पूर्णरूपेण निर्भर नही है। इस प्रकार रोजगार के अवसरो मे पर्याप्त वृद्धि करके भी निर्धनता का उन्मूलन सम्भव नही हो सकता है। ग्रामीण क्षेत्रो मे श्रम-शक्ति का सम्पन्न वर्ग द्वारा अत्यधिक शोषण किया जाता है और कठोर परिश्रम करने पर भी श्रमिको को जीवन-निर्वाह से कम पारिश्रमिक प्रदान किया जाता है। ग्रामीण क्षेत्रो मे श्रम-बाजार की अपूर्णताओ के कारण सम्पन्न एव निर्धन लोगो की सौदेबाजी की शक्ति मे बहुत अन्तर होता है। सौदेबाजी की शक्ति के इस अन्तर को दूर करने के लिए ग्रामीण क्षेत्रो से शोषण तत्व को समाप्त करने की आवश्यकता है जिसे भूमि-सुधार, भूमि-प्रबन्धन एव वैकल्पिक रोजगार के अवसरो की ग्रामीण क्षेत्रो मे वृद्धि करके ही दूर किया जा सकता है। यदि रोजगार के अवसरो का आयोजन सरकार द्वारा ग्रामीण क्षेत्र मे किया जाता है तो आवश्यकता के आधार पर मजदूरी की दरो की व्यवस्था की जा सकती है और रोजगार-वृद्धि निर्धनता के उन्मूलन मे सहायक हो सकती है।

विशेष रोजगार कार्यक्रम

चौथी योजना मे सामान्य कार्यक्रमो मे उपलब्ध होने वाले रोजगार के अवसरो के अतिरिक्त रोजगार के अवसरो को तीव्र गति से बढाने हेतु निम्नलिखित विशेष कार्यक्रम प्रारम्भ किये गये जिन्हे पाँचवी योजना मे भी जारी रखा गया है

(1) ग्रामीण रोजगार हेतु क्रैश-योजना (Crash Scheme for Rural Employment—CSRE)— इस योजना को सन् 1971-72 वर्ष मे केन्द्रीय सरकार द्वारा गैर-योजना स्कीम के रूप मे सचालित किया गया। इसके अन्तर्गत प्रत्येक जिले मे ऐसी परियोजनाओ का सचालन किया गया है कि 1000 व्यक्तियो को वर्ष मे 10 माह तक रोजगार उपलब्ध हो सके तथा स्थानीय विकास योजना के अनुरूप टिकाऊ सम्पत्तियो अथवा कार्यशालाओ का निर्माण किया जा सके। इसके अन्तगत छोटी-छोटी परियोजनाओ का सचालन किया जायेगा जिनकी लागत 5,000 रुपये प्रति परियोजना से कम तथा जिले के लिए आवटित विकास-व्यय के 1/2 भाग से अधिक न हो। इन परियोजनाओं के अन्तर्गत प्रत्येक रोजगार-प्राप्त व्यक्ति को 100 रुपये प्रति माह का न्यूनतम वेतन प्रदान करने की व्यवस्था की गयी है। इस योजना के लिए 50 करोड रुपये प्रति वर्ष की व्यवस्था की गयी। सन् 1971-72 एव सन् 1972-73 मे इसके अन्तर्गत क्रमश. 31 22 करोड रुपया एव 47 11 करोड रुपया व्यय किया गया। सन् 1971-72 एव सन् 1972-73 वर्षो मे क्रमश

8 करोड एव 13 04 करोड़ श्रमिक-दिवस रोजगार के अवसर उत्पन्न हुए। पाँचवी योजना मे यह योजना सम्मिलित नही की गयी है।

(2) लघु कृषक विकास एजेन्सी (Small Farmers' Development Agency—SFDA)—यह योजना चौथी योजना (सन् 1969-70) मे 46 जिलो मे 67·5 करोड़ रुपये की आवटित राशि मे प्रारम्भ की गयी। इसके अन्तर्गत ऐसे लघु कृषको को, जिनके पास 2 5 से 5 एकड सिंचित अथवा 7 5 एकड असिंचित भूमि है, साख एव अन्य कृषि-आदाय (Inputs) प्रदान करने की व्यवस्था की गयी जिससे ये कृषक नवीन बीज एव उर्वरक-यान्त्रिकता का उपयोग करके अपनी आय बढ़ा सकें और भूमिहीन कृषि-श्रमिको एव लघु कृषको को अधिक रोजगार के अवसर उपलब्ध हो सकें। इसके अन्तर्गत कृषको को पूंजी-विनियोजन का 25% भाग अनुदान के रूप मे दिया जाता है। इस योजना के प्रारम्भ (सन् 1969-70 से सन् 1973-74 तक) मे 6·62 करोड रुपया व्यय किया गया और 46 एजेन्सियो द्वारा 23 66 लाख लघु कृषको तथा 11·26 लाख सीमान्त कृषक एव कृषि-श्रमिको को भागीदार बनाया गया है। इनमे से 14·95 लाख की सहकारी समितियाँ सगठित की गयी। इस योजना के अन्तर्गत 17 27 लाख लोगों को लाभ प्रदान किया गया। योजना के अन्तर्गत प्रदान की गयी सहायता से लघु-सिंचाई के क्षेत्र मे सर्वाधिक कार्य किया गया।

पाँचवी योजना मे लघु कृषक विकास एजेन्सियो की सख्या को बढाकर 160 करने का लक्ष्य रखा गया जिस पर 200 करोड रुपये व्यय करने की व्यवस्था की गयी है। अतिरिक्त परियोजनाओ को ऐसे क्षेत्रो मे स्थापित किया जायेगा जहाँ लघु एव सीमान्त कृषको का केन्द्रीकरण है। 2 हेक्टेयर तक भूमि रखने वाले कृषको एव कृषि-श्रमिको को इस योजना से लाभ पाने का अधिकार रहेगा।

(3) सीमान्त कृषक एव कृषि-श्रमिक एजेन्सी (Marginal Farmers' and Agricultural Labourers' Agency—MFALA)—यह एजेन्सी सन् 1969-70 मे प्रारम्भ की गयी थी। इसके उद्देश्य SFDA के समान ही है। इसके अन्तर्गत ग्रामीण क्षेत्र की अवसरचना को लघु एव सीमान्त कृषको के अनुकूल सुदृढ बनाने की व्यवस्था की गयी। कृषको को अपने पूंजी-विनियोजन मे इस योजना के अन्तर्गत 33 33% का अनुदान दिया जाता है। इस योजना के द्वारा 2000 कृषको एव श्रमिको को प्रति वर्ष सहायता प्रदान करने की व्यवस्था की गयी। सन् 1972-73 वर्ष के अन्त तक इस योजना के अन्तर्गत 17 32 करोड रुपया व्यय किया गया। सन् 1973-74 वर्ष मे इस योजना के लिए 20 करोड रुपये का आयोजन किया गया।

(4) सूखा-पीडित क्षेत्र कार्यक्रम (Drought-Prone Areas Programme—DPAP)—इस योजना के अन्तर्गत 54 जिलो के लिए, जो प्राय. सूखा से पीडित रहते हैं, एक मास्टर योजना, जिसकी लागत 2 करोड रुपये (प्रति जिला) होगी, तैयार करने की व्यवस्था की गयी है। मास्टर योजना के अन्तर्गत लघु सिंचाई कार्यक्रम, भूमि-सरक्षण, वन लगाने की स्कीम, ग्रामीण सडक एव चरागाह विकास कार्यक्रम सम्मिलित किये गये। यह योजना सन् 1969-70 मे प्रारम्भ की गयी। सन् 1970-71, 1971-72 और 1972-73 वर्षों मे इस योजना पर क्रमश 6 77, 24 03 तथा 38 51 करोड रुपया व्यय हुआ। सन् 1972-73 वर्ष मे इस योजना के अन्तर्गत 4 करोड श्रमिक-दिवस रोजगार-अवसर उपलब्ध कराये गये। पाँचवी योजना मे इस कार्यक्रम को और सुदृढ बनाने की व्यवस्था की गयी है। सूखा-पीडित क्षेत्रो मे जो देश के कुल क्षेत्रफल का 19% है, विकास हेतु समन्वित कार्यक्रम पाँचवी योजना मे सचालित किये जाते हैं। इनमे सिंचाई के साधनो का विकास एव प्रबन्धन, भूमि एव आर्द्रता, सरक्षण तथा वन लगाना, फसलो के प्रकार की पुनर्सरचना तथा चरागाहो का विकास, आर्थिक परम्पराओ मे परिवर्तन, पशुधन-विकास एव लघु-सीमान्त कृषको एव कृषि-श्रमिको का विकास कार्यक्रमो से समन्वित सचालन किया जायेगा। इन कार्यक्रमो के सचालन से सम्बद्ध सरकारी विभागो, कृषि, सिंचाई, पशु-सरक्षण, वन

एव सहकारिता विभागो मे समन्वय स्थापित करने की कठिनाई उदय हो सकती है। इसी कारण एक ऐसी समामेलित संस्था जिला-स्तर पर स्थापित करने की व्यवस्था की गयी है जो उपर्युक्त कार्यक्रमो को समन्वित रूप मे सूखा-पीड़ित क्षेत्रो मे सचालित कर सके।

(5) शिक्षित बेरोजगारों हेतु कार्यक्रम—यह कार्यक्रम सन् 1971-72 वर्ष मे प्रारम्भ किया गया। इस वर्ष में 9 81 करोड रुपये राज्य सरकारो को प्रदान किया गया जिससे 45,000 रोजगार के अवसर मुख्यत शिक्षित लोगो को प्रदान किये गये। सन् 1972-73 वर्ष मे इस योजना के लिए 63 करोड रुपये की व्यवस्था की गयी जिसमे से 43 करोड रुपये शिक्षित बेरोजगारो को और 20 करोड रुपये इजीनियर्स, टैक्नोलोजिस्ट तथा वैज्ञानिको को रोजगार प्रदान करने हेतु आयोजित किये गये। इस वर्ष लगभग 64,000 रोजगार के अवसर शिक्षित बेरोजगारो को प्रदान किये गये। इस योजना के अन्तर्गत निम्नलिखित कार्यक्रम कार्यान्वित किये गये

(1) प्राथमिक शिक्षा का विस्तार एव गुणात्मक सुधार,
(2) लघु साहसियो को लघु उद्योग स्थापित करने हेतु वित्तीय सहायता,
(3) उपभोक्ता सहकारी भण्डारो का विस्तार,
(4) ग्रामीण इजीनियरिंग सर्वेक्षण,
(5) कृषिसेवा-केन्द्रो की स्थापना
(6) सड़क परियोजनाओ की जाँच-पड़ताल,
(7) ग्रामीण जलपूर्ति हेतु डिजाइन-इकाइयाँ,
(8) सिचाई एव बाढ़-नियन्त्रण-परियोजनाओं की जाँच-पड़ताल,
(9) भूमि, भूमिगत जल, वन-सम्पत्ति तथा खनिज सम्पत्ति जैसे प्राकृतिक साधनो का सर्वेक्षण।

(6) राज्यो के लिए विशेष रोजगार कार्यक्रम—यह कार्यक्रम सन् 1972-73 वर्ष मे प्रारम्भ किया गया और 27 करोड रुपया राज्य सरकारो को इस निर्देश के साथ दिया गया कि इतनी ही राशि वे अपने साधनो से लगाकर रोजगार के अवसरो मे वृद्धि करें। सन् 1972-73 वर्ष मे इसके अन्तर्गत 3,70,000 रोजगार के अतिरिक्त अवसर उदय हुए जिनमे 70,000 शिक्षित बेरोजगारो को उपलब्ध कराये गये। सन 1973-74 वर्ष मे भी गत वर्ष के समान ही व्यय की व्यवस्था की गयी।

(7) शिक्षित बेरोजगारो को पाँच लाख रोजगार के अवसर-कार्यक्रम (Half a Million Jobs for Educated Unemployed)—यह कार्यक्रम सन् 1973-74 वर्ष मे 100 करोड रुपये के बजट से प्रारम्भ किया गया। इसके अन्तर्गत प्रत्येक राज्य द्वारा आवटित राशि के रोजगार कार्यक्रम सचालित किये जाने थे।

(8) अपरेन्टिसशिप योजना—20-सूत्री आर्थिक कार्यक्रम के अन्तर्गत 40,000 रिक्त स्थानो पर अपरेन्टिस (प्रशिक्षार्थी) भर्ती करने की व्यवस्था की गयी। 40 व्यवसायो को नामांकित कर दिया गया, जहाँ और प्रशिक्षार्थियो की भर्ती का आयोजन किया जायेगा।

भारत में बेरोजगारी की संरचना

भारत मे बेरोजगारी की सरचना मे परिवर्तन होता रहा है। नियोजित विकास के अन्तर्गत शिक्षा एव प्रशिक्षण की सुविधाओ मे तेजी से विस्तार किया गया है। यह विस्तार श्रम-बजट एव नियोजन पर आधारित न होने के कारण प्रशिक्षण-प्राप्त बेरोजगारो की सख्या मे तेजी से वृद्धि हुई है। सन् 1960-70 के दशक मे (सचालक-रोजगार एव प्रशिक्षण द्वारा प्रकाशित आँकड़ो के अनुसार) व्यावसायिक एव तान्त्रिक प्रशिक्षण-प्राप्त बेरोजगारो का निर्देशाक 100 से बढकर 459 9 हो गया जो अन्य प्रकार के निर्देशाको की वृद्धि से दुगुने से भी अधिक था। ऐसे बेरोजगारो का निर्देशाक जो कोई व्यावसायिक प्रशिक्षण अथवा कार्यानुभव प्राप्त नही थे, सन् 1960 मे 100 से बढकर सन् 1970 मे 228 33 हो गया। यद्यपि व्यावसायिक प्रशिक्षण-प्राप्त बेरोजगारो के अनु-

पान मे इस दशक मे अधिक वृद्धि हुई परन्तु समस्त बेरोजगारो मे से दो-तिहाई से भी अधिक भाग गैर प्रशिक्षित एव अनुभवहीन लोगो का ही था। हरियाणा, जम्मू-कश्मीर एव पजाब मे गैर-प्रशिक्षण प्राप्त बेरोजगारो का कुल बेरोजगारो से प्रतिशत 50 से भी कम था। दूसरी ओर, असम, मध्य प्रदेश, मैसूर, उत्तर प्रदेश एव पश्चिम बगाल मे गैर-प्रशिक्षण-प्राप्त बेरोजगार समस्त बेरोजगारों के तीन-चौथाई से भी अधिक थी। हरियाणा और पजाब मे व्यावसायिक एव यान्त्रिक प्रशिक्षण-प्राप्त बेरोजगार समस्त बेरोजगारो के 20% से भी अधिक थे। इन तथ्यो से यह स्पष्ट हो जाता है कि बेरोजगारी की सरचना सभी राज्यो मे समान नही है और यदि श्रम-शक्ति की गतिशीलता को प्रोत्साहित किया जाय तो बेरोजगारी की समस्या का कुछ सीमा तक निवारण हो सकता है। व्यावसायिक एव तान्त्रिक प्रशिक्षण के कार्यक्रमो को श्रम-शक्ति-नियोजन के आधार पर सचालित करने से भी बेरोजगारी की समस्या की गम्भीरता को कम किया जा सकता है। बेरोजगारी की समस्या के निवारण के लिए युद्ध के समान कार्यवाहियाँ की जानी चाहिए और उत्पादक रोजगार-अवसरो की वृद्धि को विनियोजन मे सर्वाधिक महत्त्व दिया जाना चाहिए। श्रम-शक्ति का यदि विस्तृत बजट तैयार करके विकास कार्यक्रम निर्धारित किये जायें तो बेरोजगारी के विस्तार को रोका जा सकता है। श्रम-शक्ति का बजट बनाने के लिए बेरोजगारी सम्बन्धी विस्तृत आँकडो की आवश्यकता होती है। बेरोजगार सम्बन्धी विश्वसनीय आँकडे एव सूचनाएँ तभी उपलब्ध हो सकती है जब बेरोजगारो को अपना पजीयन उसी प्रकार कराना अनिवार्य कर दिया जाय जैसा जन्म एव मृत्यु की सूचना दर्ज करना अनिवार्य होता है। परन्तु इस कार्य मे बेरोजगारो की स्पष्ट परिभाषा देना आवश्यक होगा।

भारत मे बेरोजगार सम्बन्धी आँकडे न तो पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध है और न ही इन्हें विश्वसनीय माना जा सकता है। बेरोजगार सम्बन्धी आँकडे प्राय राष्ट्रीय निदर्श सर्वेक्षण (National Sample Survey) एव जनगणना के अन्तर्गत एकत्रित किये गये तथ्यो पर आधारित है। इन दोनो ही सगठनों द्वारा बेरोजगारी की जो परिभाषा अपनायी गयी, वह एक-दूसरे से भिन्न होने के साथ-साथ अनुपयुक्त भी है। रोजगार कार्यालय (Employment Exchange) एव रोजगार-विपणि-सूचना (Employment Market Information) के अन्तर्गत भी जो बेरोजगार सम्बन्धी तथ्य उपलब्ध है वे भी अपने आप मे सम्पूर्ण एव विश्वसनीय नही होते है। यही कारण है कि चौथी योजना के निर्माण के समय योजना-आयोग ने स्वीकार किया कि देश मे योजनाओं के काल मे उत्पन्न किये गये कुल रोजगार के अवसरो के अनुमान केवल एक अटकल (Guess) मात्र हैं। भारत जैसी सम्मिश्रित (Complex) अर्थ-व्यवस्था मे श्रम-शक्ति के रोजगार एव बेरोजगार के इतने विजातीय रूप है कि किसी एक परिभाषा के अन्तर्गत समस्त बेरोजगारो को सम्मिलित नही किया जा सकता है। आवश्यकता इस बात की है कि श्रम-शक्ति के विभिन्न खण्डो का अध्ययन उनके क्षेत्र, लिंग, आयु, निवास शिक्षा आदि के आधार पर किया जाय। हमारी अर्थ व्यवस्था मे स्वत रोजगार प्राप्त (Self-employed) व्यक्तियो का बहुत बडा समुदाय है जो पारिवारिक व्यवसायो मे सलग्न है। राष्ट्रीय निदर्श सर्वेक्षण के अन्तर्गत अर्द्ध-रोजगार (Under-employment) का अनुमान लगाने हेतु कार्य के घटने को आधार माना जाता है। जो लोग सप्ताह मे 28 घण्टे से कम कार्य करते है, वे गहन रूप से अर्द्ध-रोजगार-प्राप्त माने जाते हैं। जो सप्ताह मे 29 से 42 घण्टे तक कार्य करते है, उन्हे अर्द्ध-रोजगार प्राप्त माना जाता है तथा प्रति सप्ताह जो 42 घण्टे से अधिक कार्य करते है, वे रोजगार प्राप्त माने जाते हैं।

ग्रामीण क्षेत्रो मे सन् 1961 की जनगणना के अनुसार मौसमी व्यवसायो मे वे व्यक्ति रोजगार प्राप्त माने गये है जिन्हे मौसम के अधिकतर भाग मे नियमित रूप से एक घण्टा प्रतिदिन से अधिक समय के लिए कार्य उपलब्ध था। गैर-मौसमी व्यवसाय मे गैर-रोजगार-प्राप्त व्यक्ति वे माने गये जो जाँच करने मे पूर्व 15 दिन कार्य प्राप्त करते रहे हो। दूसरी ओर, राष्ट्रीय निदर्शन सर्वेक्षण के अन्तर्गत ग्रामीण क्षेत्रो मे वे व्यक्ति रोजगार-प्राप्त माने जाते है जो जाँच वाले सप्ताह

मे किसी एक या अधिक दिन रोजगार पा रहे हो। जनगणना के अन्तर्गत वे लोग ही श्रम-शक्ति मे सम्मिलित किये गये जो कार्य की तलाश मे थे जबकि राष्ट्रीय निदर्श सर्वेक्षण मे कार्य तलाश करने वाले एव कार्य के लिए उपलब्ध व्यक्तियो को श्रम-शक्ति मे सम्मिलित किया गया। परिभाषाओ मे अन्तर होने के कारण इन दोनो सगठनो द्वारा बेरोजगार सम्बन्धी जो आँकडे तैयार किये गये, वे एक-दूसरे से मेल नही खाते हैं। बेरोजगारी के आँकडो की इस स्थिति को देखते हुए ही सन् 1971 की जनगणना मे बेरोजगारी के आँकडो को एकत्रित नही किया गया तथा राष्ट्रीय निदर्श सर्वेक्षण के सत्रहवें चक्र से ग्रामीण श्रम सर्वेक्षण बन्द कर दिया गया और बेरोजगार के आँकडो से सम्बन्धित समस्या को हल करने हेतु बेरोजगार अनुमान विशेषज्ञ समिति (Committee of Experts on Unemployment Estimates) की स्थापना प्रो एम एल दन्तवाला की अध्यक्षता मे की गयी जिसने अपना प्रतिवेदन सन् 1970 मे प्रस्तुत किया। समिति ने श्रम-शक्ति के विभिन्न खण्डो का अनुमान क्षेत्र (राज्य), लिंग, आयु, ग्रामीण अथवा नगरीय, श्रमिक का वर्ग तथा शैक्षणिक योग्यता के आधार पर लगाने की सिफारिश की। इसी प्रकार समिति ने यह सुझाव भी दिया कि बेरोजगार की जाँच करते समय जाँच के सप्ताह मे व्यक्ति को प्रत्येक दिन की क्रियाओ की जाँच की जानी चाहिए। इस व्यवस्था से यह ज्ञात हो सकता है कि श्रम जितने दिन कार्य को उपलब्ध रहता है उसमे से कितने दिन उसे रोजगार नही मिलता है। समिति की इन सिफारिशो के आधार पर राष्ट्रीय निदर्श सर्वेक्षण के अन्तर्गत 25वें चक्र मे दस राज्यो मे ग्रामीण बेरोजगारो का अध्ययन किया गया। इस अध्ययन से यह ज्ञात हुआ कि ग्रामीण क्षेत्रो मे बेरोजगारी की समस्या अधिक गम्भीर नही है और प्राय अर्द्ध-बेरोजगार व्यक्ति भी ग्रामीण क्षेत्र को छोडकर अन्य स्थान पर पूर्ण रोजगार प्राप्त करने को तैयार नही हैं। ग्रामीण क्षेत्र के बेरोजगार सम्बन्धी तथ्य अब भी पर्याप्त एव विश्वसनीय नही कहे जा सकते हैं और इनकी गणना-विधि मे और सुधार करना आवश्यक है।

सरकार द्वारा सचालित रोजगार सम्बन्धी परियोजनाओ का ग्रामीण बेरोजगारी दूर करने म विशेष योगदान नही रहा है क्योकि इनके अन्तर्गत जो सहायता आदि प्रदान की जा रही है, वह उन लोगो तक नही पहुँच पाती है जिन्हे इस सहायता की वास्तव मे आवश्यकता है। प्रशासनिक तन्त्र इतना कार्यकुशल नही है कि वह ग्रामीण क्षेत्र मे कुशल सस्थनीय सरचना कर सके। ग्रामीण समाज मे पारिवारिक व्यवसाय का बोलबाला है जिसके अन्तर्गत परिवार के सभी सदस्य कार्य करते है। इन सदस्यो के कार्य से कितनी आय उत्पन्न होती है, यह उस परिवार के साधनो एव उसे बाहर से मिलने वाली सुविधाओ पर निर्भर रहती है। इन परिवारो के सदस्यो का श्रम इस प्रकार सम्बद्ध होता है कि इसे पारिवारिक व्यवसाय से पृथक् करके मजदूरी पाने वाले श्रम के रूप मे रोजगार नही दिया जा सकता है। स्वत रोजगार-प्राप्त इस सम्बद्ध श्रम को प्रभावशाली रोजगार प्रदान करने के लिए पारिवारिक व्यवसायो की आयोपार्जन-क्षमता बढाने की आवश्यकता है जो इनकी उत्पादक सम्पत्तियो एव साधनो मे वृद्धि करके ही सम्भव हो सकती है। इसका अर्थ यह हुआ कि बेरोजगारी की समस्या के निवारण के लिए धन एव सम्पत्ति के पुनर्वितरण की आवश्यकता है। दूसरी ओर ग्रामीण क्षेत्रो मे मजदूरी अर्जन करने वाले श्रमिक-परिवार भी हैं। इन्हे प्रभावशाली रोजगार प्रदान करने के लिए या तो स्वत रोजगार-प्राप्त परिवारो के व्यवसायो का विस्तार किया जाय जिनमे मजदूरी पाने वाला वर्ग रोजगार पा सके अथवा मजदूरी अर्जन करने वाले परिवारो को उत्पादक सम्पत्तियाँ प्रदान करके उन्हे स्वत रोजगार-प्राप्त परिवारो मे परिवर्तित कर दिया जाय। इन दोनो क्रियाओ के लिए उत्पादक सम्पत्तियो के पुनर्वितरण की आवश्यकता है। इस प्रकार ग्रामीण क्षेत्र मे बेरोजगारी की समस्या मूल रूप से विषय-वितरण सम्बन्धी सामाजिक समस्या है। ग्रामीण क्षेत्रो मे बेरोजगार का उपयुक्त अध्ययन भी तभी सम्भव हो सकता है जबकि कार्य के घण्टो के आधार पर बेरोजगार को मापने की बजाय रोजगार मे उदय होने वाली आय को आधार माना जाय। जिन व्यक्तियो को पूर्व-निर्धारित न्यूनतम आय से कम आय उपार्जित होती है, उन्हे अर्द्ध-रोजगार-प्राप्त अथवा बेरोजगार माना जाना चाहिए।

शिक्षित बेरोजगारी

नगरीय क्षेत्रो मे शिक्षित बेरोजगारी की गहनता मे निरन्तर वृद्धि होती जा रही है जिसका प्रमुख कारण शिक्षा एव प्रशिक्षण मे श्रम-शक्ति के उपयुक्त बजट एव नियोजन के बिना किसी आधार के व्यापक विस्तार है। सन् 1963 से 1973 के दस वर्ष के काल मे उपलब्ध आंकडो के आधार पर यह अनुमान लगाया गया है कि शिक्षित बेरोजगार 10 48 लाख से बढकर 39 02 लाख हो गये। 39 02 लाख शिक्षित बेरोजगारो मे 20 74 लाख मैट्रिक तथा 18 28 लाख स्नातक अथवा उससे अधिक शिक्षित थे। श्रम-शक्ति अनुसन्धान सस्थान (Institute of Man Power Research) द्वारा एकत्रित किये गये समको से ज्ञात होता है कि सन् 1973 के अन्त तक 2 300 इजीनियर 4 000 डाक्टर 325 2 हजार कला-स्नातक, 226 8 हजार विज्ञान और 100 1 हजार वाणिज्य विषय के स्नातक एवं अधिस्नातक बेरोजगार थे। 1975 मे शिक्षित बेरोजगारो की पजीकृत सख्या 48 लाख थी जिसमे से आठ लाख कला, वाणिज्य एव विज्ञान के स्नातक एव स्नातकोत्तर थे। कुछ क्षेत्रो मे विद्युत इजीनियर, फिटर, मोल्डर, डॉक्टर, सर्जन आदि की कमी महसूस की गयी है। शिक्षित बेरोजगारी को नियन्त्रित करने के लिए अखिल भारतीय स्तर पर शिक्षा एव व्यावसायिक प्रशिक्षण के कार्यक्रम रोजगारमूलक होने चाहिए। शिक्षा एव प्रशिक्षण को रोजगारमूलक (Employment-oriented) बनाने के लिए यह आवश्यक है कि अर्थ-व्यवस्था के विकास की गति एव प्रक्रिया के आधार पर श्रम-शक्ति सम्बन्धी व्यापक अनुमान विभिन्न खण्डो के लिए लगाये जाये। इसके साथ ही शिक्षा के क्षेत्र मे उच्च सैद्धान्तिक शिक्षा केवल प्रतिभावान विद्यार्थियो के लिए ही उपलब्ध होनी चाहिए और मध्यम एवं निम्न श्रेणी के विद्यार्थियों को अन्य व्यावसायिक शिक्षा प्रदान की जानी चाहिए। वर्तमान शिक्षित बेरोजगारो को अपने प्रशिक्षण के क्षेत्र मे व्यवसाय स्थापित करने हेतु समन्वित रूप से व्यापक सहायता का आयोजन किया जा सकता है।

हमारी योजनाओ के अन्तर्गत यद्यपि सरकारी क्षेत्र मे बडे पैमाने पर विनियोजन किया गया है परन्तु रिजर्व बैक ऑफ इण्डिया द्वारा किये गये रोजगार-प्रगति के सर्वेक्षण द्वारा ज्ञात होता है कि सरकारी क्षेत्र मे रोजगार मे पर्याप्त वृद्धि नही हुई है। मार्च 1971 मे देश की कुल श्रम-शक्ति 18 करोड अनुमानित थी, जिसमे से 7 1 करोड अर्थात 40% मजदूरी एव वेतन अर्जन करने वाला श्रम था। 7 1 करोड मे से 4 75 करोड कृषि-श्रमिक थे, 1 75 करोड गैर-कृषि सगठित एव 60 लाख असगठित क्षेत्र म वेतन एव मजदूरी अर्जन करने वाला श्रम था। 1 75 करोड सगठित क्षेत्र के श्रम मे से 1 07 करोड सरकारी क्षेत्र मे और 68 लाख श्रम निजी क्षेत्र मे लगा हुआ था। गैर-मजदूरी एव गैर वेतन अर्जन करने वाले श्रम 10 8 करोड मे से 7 8 करोड कृषक थे और 3 करोड स्वतन्त्र गैर-कृषि-उत्पादक थे। मार्च 1951 मे सरकारी क्षेत्र मे कुल सगठित क्षेत्र के श्रम के 58 3% भाग को रोजगार उपलब्ध था जो प्रतिशत सन् 1971 मे बढकर 61 1% हो गया। सरकारी क्षेत्र मे इन 10 वर्षो मे विनियोजन का बडा आकार होते हुए भी रोजगार के अवसरो मे पर्याप्त वृद्धि नही हो सकी है। कुछ अनुमानो के अनुसार यह तथ्य उपलब्ध हुआ है कि सन् 1971 की श्रम-शक्ति 18 करोड से बढकर सन् 1981 मे 26 6 करोड हो जायेगी अर्थात् दस दशक मे लगभग 8 6 करोड की वृद्धि श्रम-शक्ति मे होगी। इतनी बडी श्रम शक्ति को रोजगार प्रदान करने के लिए पाँचवी एव छठी योजना मे रोजगार बढाने के लिए विशेष प्रयास करने की आवश्यकता होगी। पाँचवी पचवर्षीय योजना मे स्वत रोजगार-प्राप्त एव मजदूरी पाने वालो के लिए रोजगार के अवसर बढाने के लिए प्रयत्न किये जाने है। अर्थ-व्यवस्था के रोजगार-प्रधान खण्डो एव अन्य खण्डो मे यथोचित सन्तुलन स्थापित करने पर विशेष जोर दिया गया है। इन दोनो खण्डो के असन्तुलित विकास के कारण हमारी अर्थ-व्यवस्था मे बेरोजगार की समस्या निरन्तर बढती जा रही है।

पांचवीं योजना में रोजगार

पांचवीं योजना का प्रमुख लक्ष्य गरीबी-उन्मूलन रखा गया है। योजना-आयोग के अनुमानानुसार लगभग 22 करोड़ लोग निर्धनता से पीड़ित थे जिन्हें उपभोग की न्यूनतम सुविधाएँ भी उपलब्ध नहीं थी। ग्रामीण क्षेत्र में निर्धनता के मुख्य कारण भूमि-सम्पत्ति का विषम वितरण तथा लाभप्रद रोजगार के अवसरों की अनुपस्थिति थे। दूसरी ओर, नगरीय क्षेत्र में वह समुदाय ही अधिक गरीब था जो ग्रामों से हटकर नगरों में अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने हेतु आ गया था। इस प्रकार गरीबी-उन्मूलन के उद्देश्य की पूर्ति रोजगार के अवसरों की पर्याप्त वृद्धि (विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में) पर निर्भर थी। ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार के अवसरों का विस्तार करने के लिए कृषि एवं गैर-कृषि दोनों ही क्षेत्रों में रोजगार के अवसर बढ़ाने की आवश्यकता थी। कृषि-क्षेत्र में रोजगार के अवसर बढ़ाने हेतु कृषि-आदायों की पूर्ति में पर्याप्त वृद्धि करने, कृषि-आदायों को निर्धन एवं सीमान्त कृषकों के हित में वितरित करने तथा कृषि-भूमि के सीमांकन के कार्यक्रम पाँचवीं योजना में सम्मिलित किये गये थे। गैरकृषि-क्षेत्र में रोजगार के अवसर बढ़ाने हेतु विकास-केन्द्रों का विस्तार करना आवश्यक था। विकास-केन्द्रों में कृषि-औजारों का विक्रय एवं सेवा तथा कृषि-उत्पादों एवं पशु-उत्पादों के विक्रय आदि की व्यवस्था की जानी थी। गैरकृषि-क्षेत्र में रोजगार बढ़ाने हेतु श्रमिक-वर्ग द्वारा उपभोग की जाने वाली वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि करना आवश्यक था। इन वस्तुओं के उद्योगों में पूंजी-उत्पाद-अनुपात कम होता है और श्रमिकों को अधिक रोजगार के अवसर उपलब्ध होते हैं। साथ ही रोजगार-प्राप्त श्रमिकों की बढ़ती हुई मांग की पूर्ति हेतु उपभोग-वस्तुएँ उपलब्ध होती हैं। पाँचवीं योजना में प्रगति-दर कुल उत्पादन-वृद्धि के साथ साथ मजदूरी के अंश को बढ़ाने का लक्ष्य भी रखा गया जिससे रोजगार में वृद्धि एवं आय की विषमता में कमी सम्भव हो सके। योजना में रोजगार के अवसरों का छितराव पिछड़े एवं कम विकसित क्षेत्रों के पक्ष में करने का लक्ष्य रखा गया। स्वतः रोजगार चलाने वालों को साख एवं अन्य सुविधाएँ प्रदान करने का आयोजन भी योजना में किया गया। पाँचवीं योजना का लक्ष्य निम्नतम आय वाली 30% जनसंख्या का उपभोग-व्यय बढ़ाने का था और इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु अतिरिक्त रोजगार के अवसरों का विस्तार किया जाना था। परन्तु योजना में यह स्पष्ट नहीं किया गया कि अतिरिक्त रोजगार के अवसर कितने, किस प्रकार और किस-किस क्षेत्र में उत्पन्न किये जायेंगे। योजना के विनियोजन का प्रकार इस लक्ष्य के अनुरूप प्रतीत नहीं होता क्योंकि श्रम प्रधान तान्त्रिकता वाले व्यवसायों के विस्तार का उपयुक्त आयोजन योजना में नहीं किया गया। रोजगार के अवसरों की वृद्धि के परिणामस्वरूप निम्न आय वाले वर्ग की आय में वृद्धि होनी थी जिसका प्रभाव उपभोक्ता-वस्तुओं की मांग पर पड़ता। निम्न आय-वर्ग के उपभोग-व्यय का लगभग 70% भाग कृषि एवं सहायक उत्पादों पर आवंटित होता है। परन्तु योजना में इस प्रकार की उपभोक्ता-वस्तुओं की उत्पादन-वृद्धि का पर्याप्त आयोजन नहीं किया गया।

छठी योजना में रोजगार सम्बन्धी दिशा निर्देश

मिशेल लिप्टन के अनुसार हमारी विकास-समर-नीति नगरीय क्षेत्रों एवं बड़े कृषकों के अनुकूल रही है। यद्यपि कृषि-क्षेत्र द्वारा हमारी राष्ट्रीय आय का 50% भाग जुटाया जाता है और देश की श्रम-शक्ति का 70% भाग कृषि-क्षेत्र में लगा हुआ है, फिर भी हमारी पाँच योजनाओं के सार्वजनिक क्षेत्र के कुल व्यय का केवल 22% भाग ही कृषि एवं सहायक क्षेत्रों पर व्यय किया गया। औद्योगिक क्षेत्र का विकास भी कुछ बड़े नगरों में ही हुआ है और लघु उद्योगों का केन्द्रीकरण भी विकसित क्षेत्र में हुआ है। इस विकास-समर-नीति से यह सम्भावना की गयी थी कि नगरीय विकास-केन्द्रों का प्रभाव आसपास के क्षेत्रों में दूर-दूर तक फैल जायेगा परन्तु इस सम्भावना की पूर्ति इस कारण से नहीं हो पायी है कि बड़े निर्माणी एवं खनिज केन्द्रों के उत्पादों को इन क्षेत्रों से बाहर ले जाया गया। इस प्रकार विकास-केन्द्रों के आसपास के क्षेत्रों को प्रायः उस मजदूरी का ही लाभ मिला जो स्थानीय श्रम-शक्ति को प्राप्त हुई। नगर-प्रधान विकास-समर-नीति के

इस दोष को जनता सरकार ने स्वीकार किया है और पुनर्गठित योजना आयोजन द्वारा छठी योजना मे ग्रामीण विकास एव अधिक रोजगार-व्यवस्था को विशेष महत्व देने की बात स्वीकार कर ली गयी है। जनता सरकार द्वारा इसीलिए पाँचवी योजना को एक वर्ष पूर्व ही 31 मार्च, 1978 को समाप्त कर दिया गया है और छठी योजना ग्राम-विकास-प्रधान समर-नीति के आधार पर 1 अप्रैल, 1978 को प्रारम्भ हो गयी है। ग्रामीण विकास एव रोजगार के अवसरो मे पर्याप्त वृद्धि करने हेतु निम्नांकित चार प्रकार के कार्यक्रमो को मान्यता दी गयी है

(1) सिंचाई का वृहदाकार कार्यक्रम,
(2) रोजगार का ब्लॉक स्तर पर क्षेत्रीय नियोजन,
(3) न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम एव सार्वजनिक वितरण व्यवस्था, और
(4) जन-उपभोग की वस्तुओ के उत्पादन मे श्रम-प्रधान तान्त्रिकताओ का उपयोग।

छठी योजना के अन्त तक लगभग पाँच करोड नये रोजगार के अवसर उत्पन्न करने पर ही बढती हुई श्रम-शक्ति का उत्पादक उपयोग करना सम्भव हो सकेगा। इस समय प्रति वर्ष 20 लाख हेक्टेयर भूमि को अतिरिक्त सिंचाई सुविधाएँ प्रदान की जाती है। छठी योजनाकाल मे सिंचाई सुविधाओं की वृद्धि की गति को दुगुना करके 1 5 से दो करोड लोगो को ग्रामीण क्षेत्रो मे रोजगार प्रदान किया जा सकता है। औद्योगिक क्षेत्र की प्रगति-दर को यदि 15% प्रति वर्ष तक बढाया जा सके तो सगठित क्षेत्र मे रोजगार के अवसरो मे पर्याप्त वृद्धि हो सकती है। लघु एव कुटीर उद्योगो के विकास से भी अर्द्ध-बेरोजगारो एव बेरोजगारो को ग्रामीण क्षेत्र में रोजगार प्रदान किया जा सकता है। ग्रामीण विद्युतीकरण, स्कूलो एव चिकित्सालयो की स्थापना तथा निवास-गृहो के निर्माण कार्यक्रमो से भी रोजगार के अवसर बढाये जा सकते हैं। सत्तारूढ जनता पार्टी की आर्थिक नीति मे कृषि-क्षेत्र मे भूमि की प्रति इकाई तथा औद्योगिक क्षेत्र मे पूँजी-विनियोजन की प्रति इकाई अधिकतम रोजगार के अवसरो का आयोजन करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है जिससे बढती हुई जनसख्या एव श्रम शक्ति का निर्वाह किया जा सके। 23 दिसम्बर, 1977 को घोषित नवीन औद्योगिक नीति मे ग्रामीण एव लघु उद्योगो के विकास को सर्वाधिक महत्व दिया गया है और इन उद्योगो को वैधानिक सरक्षण प्रदान करने की व्यवस्था की गयी है। लघु औद्योगिक क्षेत्र के अन्तर्गत अब 181 के स्थान पर 504 उद्योगो को सम्मिलित कर लिया गया है। इस प्रकार देश की आर्थिक नीति एव विकास-समर-नीति को अब रोजगारमूलक बनाया गया है।

छठी योजनाकाल के दृष्टिकोण-पत्र (Approach Paper) मे योजनाकाल मे चार करोड नये रोजगार के अवसर उत्पन्न करने का लक्ष्य रखा गया है। योजनाबद्ध विकास के इतिहास मे भारत मे यह प्रथम अवसर है जब रोजगार के अवसरो को आधार मानकर योजना के कार्यक्रम निर्धारित किये जायेंगे।

33

विदेशी व्यापार एवं आर्थिक प्रगति

[FOREIGN TRADE AND ECONOMIC GROWTH]

अर्थ-व्यवस्था मे व्यापार की प्रगति से आर्थिक प्रगति भी प्रभावित होती है। व्यापार द्वारा नवीन वस्तुओ का परिचय जनसमुदाय को होता है और वह उसकी माँग करने लगता है। व्यापार के विस्तार मे एक ओर बडे पैमाने के उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता है और दूसरी ओर उत्पादन-क्रियाओ मे विशिष्टीकरण का महत्त्व बढ जाता है। प्राचीन अर्थ-व्यवस्थाओ मे प्राय छोटी-छोटी इकाइयो की आत्म-निर्भरता पर अधिक जोर दिया जाता था और प्रत्येक परिवार, जाति अथवा ग्राम अपनी आवश्यकता की समस्त वस्तुएँ स्वय पूरी किया करते थे। इस आत्म-निर्भरता के वातावरण मे जनसमुदाय को उन्हीं वस्तुओ का उपभोग एव उत्पादन करने का अवसर मिलता था जिसे वह अपने उपलब्ध साधनो से उत्पन्न कर सकते हो। कुछ ऐसी अनिवार्य वस्तुओ का भी उत्पादन करना होता था जिनके लिए उस ग्राम या क्षेत्र मे उपयुक्त सुविधाएँ उपलब्ध नही होती थी जिसके परिणामस्वरूप साधनो का अधिक व्यय होता था। व्यापार की प्रगति के साथ इस प्रकार की आत्म-निर्भरता समाप्त हो जाती है और प्रत्येक क्षेत्र अथवा देश उन्ही वस्तुओ के उत्पादन मे विशिष्टीकरण प्राप्त करता है, जिनके लिए उसके पास सर्वोत्तम सुविधाएँ है। प्रत्येक देश इस प्रकार कुछ चुनी हुई वस्तुओ का उत्पादन बडी मात्रा मे करता है और कुशल उत्पादन के लिए श्रम-विभाजन का उपयोग किया जाता है। श्रम-विभाजन से विशिष्टीकरण होता है और विशिष्टीकरण से अधिक कुशल मशीनो का आविष्कार और इन आविष्कारो से ज्ञान एव पूँजी मे वृद्धि होती है और ये दोनो घटक इन रूपो मे आर्थिक प्रगति मे सहायक होते है। बडे पैमाने के उत्पादन एव व्यापार की उन्नति के फलस्वरूप नवीन बाजारो की खोज करने की आवश्यकता होती है और नये बाजार स्थापित किये जाते है, परन्तु व्यापार की उन्नति मे आधुनिक युग मे मानव द्वारा बहुत से प्रतिबन्ध आयात-निर्यात-कर, प्रशुल्क आदि के रूप मे लगाये गये है जिससे एक देश का दूसरे देश से तथा एक क्षेत्र का दूसरे क्षेत्र से स्वतन्त्र व्यापार नही हो सकता। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार द्वारा अल्प-विकसित राष्ट्र केवल मशीने व सामग्री ही विदेशो से प्राप्त नही करते, बल्कि तान्त्रिक ज्ञान भी विदेशो से प्राप्त किया जाता है। इस प्रकार व्यापार के विस्तार से आर्थिक प्रगति मे सहायता मिलती है।

विदेशी व्यापार एवं राष्ट्रीय आय

विदेशी व्यापार एव राष्ट्रीय आय की सरचना एव परिमाण मे घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। ये दोनो एक-दूसरे के कारण एव प्रभाव होते है अर्थात् एक मे कुछ परिवर्तन होने पर दूसरे मे भी परिवर्तन हो जाते है। जब किसी ऐसे राष्ट्र (जिसमे राष्ट्रीय आय एव विदेशी व्यापार मे सामान्य सन्तुलन अथवा अनुपात हो) के निर्यात मे वृद्धि होती है और आयात यथावत् रहता है तो इस देश की वस्तुओ की विदेशो मे माँग बढ जाती है और इस देश के विनियोजन-स्तर मे वृद्धि होने लगती है जिसके परिणामस्वरूप आर्थिक क्रियाओ का विस्तार होता है और राष्ट्रीय आय मे वृद्धि हो जाती है। विदेशी व्यापार से प्राप्त होने वाली शुद्ध अर्थ-साधन की राशि निर्यात एव आयात के मूल्य के अन्तर के बराबर होती है और जब निर्यात आयात से अधिक होता है तो आधिक्य की यह राशि

विनियोजन का अंग होती है। इस प्रकार किसी अर्थ-व्यवस्था का कुल विनियोजन किसी निश्चित काल में आन्तरिक विनियोजन में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के आधिक्य को जोड़कर ज्ञात किया जाता है। अर्थ-व्यवस्था की शोधित बचत (Realized Savings) आन्तरिक विदेशी विनियोजन के बराबर होती है। जब अर्थ-व्यवस्था में विदेशी भुगतान-शेष में अतिरेक होता है तो अतिरिक्त विनियोजन होना स्वाभाविक होता है और अर्थ-व्यवस्था का विस्तार होता है। दूसरी ओर, भुगतान-शेष की हीनता होने पर आयात का आधिक्य होता है और अर्थ-व्यवस्था में सकुचन का वातावरण विद्यमान होता है। निर्यात-आधिक्य के फलस्वरूप जब अतिरिक्त विनियोजन होता है तो यह अतिरिक्त विनियोजन जनसाधारण की आय एवं व्यय दोनों में वृद्धि कर देता है। इस आन्तरिक आय में वृद्धि होने से अधिक आयात की इच्छा सुदृढ़ होती है और निर्यात-अतिरेक से उदय होने वाले आर्थिक विस्तार के आयात-वृद्धि की सीमा तक कमी हो जाती है।

दूसरी ओर, राष्ट्रीय उत्पादन की वृद्धि विदेशी व्यापार को प्रभावित करती है। आर्थिक प्रगति द्वारा अर्थ व्यवस्था की उत्पादकता में वृद्धि होती है। इसके साथ, आर्थिक प्रगति के अन्तर्गत जो अतिरिक्त विनियोजन किया जाता है, उससे आय में वृद्धि होती है जो आयात-वृद्धि को प्रोत्साहित करती है। इस प्रकार अतिरिक्त विनियोजन द्वारा आयात एवं निर्यात में अनुकूल अथवा प्रतिकूल वृद्धि हो सकती है। ऐसे राष्ट्र, जिनमें बचत की दर अधिक हो, पूँजी की उत्पादकता का अनुपात अधिक तथा विदेशी व्यापार में शेष अनुकूल हो, उत्पादन-क्षमता में अधिक दर से वृद्धि करने में समर्थ होते हैं। दूसरी ओर, अल्प-विकसित राष्ट्रों में, जहाँ बचत-दर कम और विदेशी व्यापार का शेष प्रतिकूल होता है, विदेशी व्यापार द्वारा उत्पादन-क्षमता में सीमित वृद्धि होती है। इन राष्ट्रों में यदि नवीन विनियोजन आयात-वृद्धि के बराबर होता है और आन्तरिक विनियोजन का प्रसार ऐसा होता है कि इससे उदय होने वाली मौद्रिक आय उत्पादन-क्षमता की वृद्धि के अनुरूप होती है तो आर्थिक प्रगति का व्यापार-शेष पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता है परन्तु जब विनियोजन इस सीमा से अधिक होता है तो निर्यात में आयात के अनुरूप वृद्धि होना सम्भव नहीं होता है और व्यापार-शेष पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है क्योंकि विनियोजन से उदय होने वाली आय का उपयोग आयात के लिए होने लगता है।

विदेशी व्यापार का अल्प-विकसित राष्ट्रों के विकास से सम्बन्ध

लगभग समस्त विकसित राष्ट्रों का आर्थिक प्रगति का इतिहास इस बात का साक्षी है कि विदेशी व्यापार का विस्तार आर्थिक प्रगति में सहायक होता है। रूस को छोड़कर सभी विकसित राष्ट्रों में विदेशी व्यापार एवं राष्ट्रीय आय में एक साथ वृद्धि होती रही है। रूस की सरकारी नीति एवं साधनों की बाहुल्यता के कारण विदेशी व्यापार को अपना पूरा योगदान देने का अवसर प्रदान नहीं किया गया। अल्प-विकसित राष्ट्रों में विदेशी व्यापार पूँजी-निर्माण की दर में वृद्धि करने में सहायक होता है। इन राष्ट्रों में प्रति व्यक्ति आय एवं उपभोग न्यून स्तर पर होने के कारण पूँजी-निर्माण हेतु उपभोग-स्तर को और कम करना सम्भव नहीं होता है। ऐसी परिस्थिति में निर्धनता, न्यून उत्पादन, न्यून बचत तथा विनियोजन एवं आर्थिक पिछड़ेपन के दूषित चक्र को तोड़ने के लिए विदेशी पूँजी एवं सहायता की आवश्यकता होती है। यदि यह विदेशी पूँजी एवं सहायता पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध न हो तो निर्यात-आय में वृद्धि करना अनिवार्य होता है। निर्यात-आय में वृद्धि करके ही अल्प-विकसित राष्ट्र पूँजी-प्रसाधन एवं तान्त्रिक ज्ञान विदेशों से आयात कर सकते हैं जिनके उपयोग द्वारा ही आर्थिक प्रगति एवं आन्तरिक पूँजी-निर्माण को बढ़ावा मिल सकता है। विदेशी व्यापार के विस्तार से अल्प-विकसित राष्ट्रों के उत्पाद की प्रभावशाली माँग में वृद्धि होती है और इन राष्ट्रों को संसार के बड़े बाजारों में प्रवेश मिलता है।

अल्प-विकसित राष्ट्रों को अपने निर्यात-संवर्द्धन हेतु एक या दो विद्यमान उद्योगों का ही विस्तार करना होता है क्योंकि इन राष्ट्रों में नवीन अभिनवों का उपयोग एवं नवीन वस्तुओं का उत्पादन करना विकास की प्रारम्भिक अवस्था में सम्भव नहीं होता है। एक या दो उद्योगों के

उत्पादों का निर्यात बड़ी मात्रा में करके जो विदेशी विनिमय अर्जित किया जाता है, उसके द्वारा दूसरे उद्योगों के विकास एवं विस्तार के लिए आवश्यक पूँजीगत प्रसाधन आयात किये जा सकते हैं। इस प्रकार निर्यात-प्रधान (Export-oriented) उद्योगों के विकास एवं विस्तार से अन्य उद्योगों के विकास एवं विस्तार के लिए साधन एवं प्रोत्साहन उपलब्ध होता है और ये निर्यात-प्रधान उद्योग विकास-प्रेरक केन्द्र बन जाते हैं जिनसे समस्त अर्थ-व्यवस्था गतिमान हो जाती है। निर्यात-प्रधान उद्योगों के विस्तार के लिए उपरिव्यय-सुविधाओं (Overhead Facilities) की व्यवस्था की जाती है। उनका लाभ नवीन उद्योगों को भी प्राप्त होता है और नवीन व्यवसायों की स्थापना के लिए प्रोत्साहन प्राप्त होता है। उन्नीसवीं शताब्दी में ब्रिटेन में निर्यात-प्रधान उद्योगों का विस्तार इसलिए हो सका क्योंकि इनके उत्पादों की विदेशों में माँग बढ़ गयी और विदेशों से कच्चा माल एवं खाद्य-पदार्थों का आयात करना सम्भव हो सका। ब्रिटेन की इस विकास-प्रक्रिया का लाभ उन राष्ट्रों को भी प्राप्त हुआ, जिनके साथ ब्रिटेन के व्यापार का विस्तार हुआ। इन देशों में ब्रिटेन की वस्तुओं के प्रवेश ने आर्थिक प्रगति को प्रोत्साहित किया और ब्रिटेन द्वारा इनसे जो बड़ी मात्रा में कच्चा माल आदि आयात किया गया उसी से ब्रिटिश पूँजी इन देशों में प्रवाहित हुई और विकास की प्रक्रिया गतिमान हो सकी। इन देशों में कनाडा, अर्जेण्टाइना (यूरुग्वे), न्यूजीलैण्ड तथा आस्ट्रेलिया थे। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी में विदेशी व्यापार ने आर्थिक प्रगति का विस्तार विभिन्न राष्ट्रों में किया परन्तु दूसरी ओर भारत, चीन तथा उष्ण कटिबन्धीय अफ्रीकी राष्ट्रों एवं मध्य अमेरिकी राष्ट्रों के विकास में विदेशी व्यापार पर्याप्त योगदान न दे सका। इन देशों में एक ओर विकसित निर्यात-क्षेत्र था और उसके साथ ही परम्परागत पिछड़ा हुआ आन्तरिक उत्पादन था। विदेशी व्यापार का लाभ केवल निर्यात-क्षेत्र को ही प्राप्त हुआ क्योंकि वह प्रायः विदेशियों के हाथ में था और आन्तरिक क्षेत्र यथावत अविकसित अवस्था में बना रहा। यदि भारत, चीन, मध्य अमेरिकी एवं उष्ण कटिबन्धीय राष्ट्रों में राष्ट्रीय सरकारें होतीं और आर्थिक एवं सामाजिक वातावरण विकास के अनुकूल होता तो वहाँ की सरकारें निर्यात से उपलब्ध होने वाले साधनों का उपयोग सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था के विकास के लिए कर सकती थीं और इन देशों में विकास का प्रारम्भ लगभग 100 वर्ष पूर्व हो गया होता।

विदेशी व्यापार द्वारा अल्प-विकसित राष्ट्रों के नागरिक विकसित राष्ट्रों के नागरिकों के सम्पर्क में आते हैं जिससे अल्प-विकसित राष्ट्रों के जीवन-स्तर में सुधार, कुशल संगठन-व्यवस्था तथा शिक्षा के स्तर में वृद्धि का प्रसार होता है। इन सुधारों से सामाजिक एवं मानवीय पूँजी का निर्माण होता है जो आर्थिक प्रगति के लिए विनियोजन एवं उत्पादन-वृद्धि के समान ही महत्वपूर्ण होते हैं परन्तु यह लाभ भी देश के राजनीतिक एवं आर्थिक तथा सामाजिक वातावरण पर निर्भर रहता है। विदेशी व्यापार से मिलने वाले प्रारम्भिक लाभों के वितरण के प्रकार पर आर्थिक प्रगति का गतिमान होना निर्भर होता है। यह लाभ यदि विदेशी विनियोजकों को प्राप्त होता तो आर्थिक प्रगति में यह सहायक नहीं हो सकता है। यदि यह लाभ निर्यात-प्रधान उद्योगों में कार्य करने वाले बड़े मजदूर-वर्ग एवं देश के साहसियों को प्राप्त होता है तो विदेशी व्यापार का विस्तार आर्थिक प्रगति का आधार बन जाता है।

अल्प-विकसित राष्ट्रों में विदेशी व्यापार सम्बन्धी समस्याएँ

अभी तक के अध्ययन से यह स्पष्ट हो गया है कि विदेशी व्यापार आर्थिक प्रगति के लिए महत्वपूर्ण योगदान प्रदान करता है। आधुनिक युग में इसीलिए अल्प-विकसित राष्ट्रों में विदेशी व्यापार का विस्तार करने के लिए भरसक प्रयत्न किये जाते हैं। विदेशी व्यापार का विस्तार करने के सम्बन्ध में इन राष्ट्रों को निम्नलिखित समस्याओं को वहन करना पड़ता है: (1) निर्यात-संवर्द्धन, (2) आयात सम्बन्धी समस्याएँ, (3) व्यापार की शर्तें, (4) भुगतान-शेष।

(1) निर्यात-संवर्द्धन सम्बन्धी समस्याएँ

निर्यात-आय एवं आन्तरिक विनियोजन में घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण प्रत्येक विकासशील

राष्ट्रो को अपने निर्यात बढाना आवश्यक हो गया ह। इन राष्ट्रो मे कुल निर्यात आय का बहुत थोडा सा भाग ही पूजी निर्माण के लिए उपलब्ध होता है क्योकि चालू निर्यात आय का बडा भाग नियमित आयात (निर्वाह आयात) एव विदेशी ऋणो के मूलधन एव ब्याज के शोधनाथ उपयोग हो जाता है। ऐसी परिस्थिति म इन देशो मे पूजी निर्माण मे वृद्धि करने के लिए निर्यात मे पर्याप्त वृद्धि करना आवश्यक होता है पर तु निर्यात सवद्धन मे उपस्थित होने वाली समस्याएँ निम्नवत है

(अ) अ प विकसित राष्टो मे आय की वृद्धि के साथ मशीनो औजारो पूजीगत प्रसाधनो विलासिता की वस्तुओ एव अ य निर्मित वस्तुओ की माँग बढती जाती है और इनका आयात विकसित राष्ट्रो म बडी मात्रा म करना पडता है पर तु विकसित राष्ट्रो मे आय की वृद्धि के साथ साथ खाद्य पदाथ एव कच्चे माल की माग आय वृद्धि के अनुपात मे नही होती है। खाद्य पदाथ एव कच्चे माल अल्प विकसित राष्ट्रो को निर्यात होते है। इस प्रकार विकास के व्यापक वातावरण में अल्प विकसित राष्ट्रो के आयात म तीव्र गति से वृद्धि होती है पर तु निर्यात म उसके अनुरूप वृद्धि नही हो पाती है।

(आ) अ प विकसित राष्ट्रो के विदेशी व्यापार पर विकसित अथ व्यवस्थाओ की आय म होने वाले चक्रीय परिवतनो का अ यधिक प्रभाव पडता है क्योकि अल्प विकसित राष्ट्रो के निर्यातो का केन्द्रीकरण कुछ ही विकसित राष्ट्रो में होता है और इनके निर्यात मे प्राय प्राथमिक उत्पाद ही सम्मिलित होते है। जिस देश मे आर्थिक प्रगति का जितना ऊँचा स्तर होता है उतना ही अधिक उसके निर्यात मे विभिन्नता पायी जाती है। अल्प विकसित राष्ट्रो मे निर्यात का राष्टीय आय से अनुपात भी अधिक होता है। इन परिस्थितियो म इनका निर्यात प्राप्त करने वाले देश मे प्राथमिक वस्तुओ की माग म जब कोई चक्रीय परिवतन होते है तो उसका प्रतिकूल प्रभाव निर्यात करने वाले अल्प विकसित राष्ट्रो पर पडता है। इस प्रकार अल्प विकसित राष्ट्रो के निर्यात मे उच्चावचान होना स्वाभाविक होता है जो आर्थिक प्रगति के लिए घातक होते हैं।

(इ) विकसित एव अ प विकसित राष्ट्रो मे जो औद्योगिक उत्पादन के प्रकार मे परिवतन हो रहा है उसके द्वारा भी अल्प विकसित राष्ट्रो के निर्यात पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है। विकसित राष्ट्रो मे ह ल्के एव उपभोक्ता उद्योगो का स्थान इजीनियरिंग एव रसायन जैसे भारी उद्योगो को दिया जा रहा है जिससे इन राष्ट्रो मे प्राथमिक कच्चे माल के आयात की आवश्यकता कम होती जा रही है। दूसरी ओर विकासशील राष्ट्रो मे शीघ्र औद्योगीकरण को अ यधिक महत्व प्रदान किया जाने लगा है जिसके फलस्वरूप द्वितीयक उद्योगो (Secondary Industries) का विस्तार हुआ है। ये उद्योग उन कच्चे मालो का उपयोग करने लगे है जो निर्यात के लिए उपलब्ध होते थे। इस प्रकार इन देशो म उपभोक्ता वस्तुओ एव हल्की औद्योगिक वस्तुओ के आयात का स्वदेशी उत्पादन से प्रतिस्थापन करने का कायक्रम सर्वाधिक प्राथमिकता प्राप्त है। इसका परिणाम यह होता है कि विकासशील राष्ट्रो के पास निर्यात मे माँगी जाने वाली वस्तुओ की पर्याप्त पूर्ति नही है और निर्यात सवद्धन द्वारा अधिक विदेशी विनिमय अर्जित करना कठिन हो गया है जिसके परिणामस्वरूप आवश्यक आयात को भी कम करना पडता है जो विकास की गति को म द कर देता है।

(ई) विकासशील राष्ट्रो की प्राथमिक वस्तुओ एव कच्चे माल के निर्यात में कमी हो जाने पर अ य वस्तुओ के निर्यात को बढाने के प्रयास किये जाते है। इन वस्तुओं मे हल्की इजीनियरिंग वस्तुए टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुए एव अन्य हल्के निर्मित उत्पाद होते है। इनका निर्यात करने के लिए इन राष्ट्रो को विकसित राष्ट्रो के साथ प्रतिस्पर्द्धा करनी होती है और कम मूल्य पर इन वस्तुओ को निर्यात करने की क्षमता रखने हुए भी ये राष्ट्र इनके निर्यात मे वृद्धि करने मे असमथ रहते है इस परिस्थिति का प्रमुख कारण यह है कि ससार के निधन राष्ट्र नकद मूल्य देकर आयात करने मे समथ न होने के कारण विदेशी सहायता एव साख द्वारा अपने आयात की व्यवस्था करते है। विकसित राष्ट्र काफी मात्रा म विदेशी सहायता प्रदान करके अपनी वस्तुए निर्यात करने मे सफल होते है जबकि विकासशील राष्ट्र दीर्घकालीन साख प्रदान करने मे असमथ होने के कारण अपनी वस्तुओ के निर्यात को बढाने मे सफल नही होते है।

(उ) अल्प-विकसित राष्ट्रों की अर्थ-व्यवस्थाएँ सुसगठित न होने तथा साहसी-वर्ग के प्रबल न होने के कारण निर्यात द्वारा उपलब्ध विदेशी आय का उत्पादक विनियोजन करने मे समर्थ नही होते है। अर्जित विदेशी विनिमय का पूँजीगत उद्योगों मे विनियोजन करने के लिए विदेशों से भारी पूँजीगत प्रसाधनो एव तान्त्रिक ज्ञान के आयात की आवश्यकता होती है। इन प्रसाधनो के आयात मे राष्ट्र की आयात-नीति एव विदेशी विनिमय-नियन्त्रण की समस्याएँ बाधा उपस्थित करती है।

(ऊ) अल्प-विकसित राष्ट्रो के निर्यात पर विकसित राष्ट्रो की व्यापार-सरक्षण नीति का भी प्रतिकूल प्रभाव पडता है। हैरी जॉन्सन के अनुमानो के अनुसार विकसित राष्ट्रो की कृषि-पदार्थों से सम्बन्धित सरक्षण नीति के कारण अल्प-विकसित राष्ट्रो को लगभग 2,000 मिलियन डॉलर, सयुक्त राज्य अमेरिका के शक्कर के कोटे की नीति के कारण 357 से 525 मिलियन डॉलर तथा कॉफी, कोको और केले पर यूरोपीय देशो द्वारा लगाये गये प्रशुल्को के कारण 110 से 115 मिलियन डॉलर के निर्यात की प्रति वर्ष हानि होने का अनुमान लगाया गया है। इसी प्रकार यूरोपीय आर्थिक समुदाय (EEC) के देशो द्वारा जो सामान्य कृषि-नीति अपनायी जाती है, उसके अन्तर्गत सदस्य देश EEC के बाहर के देशो से सस्ता खाद्यान्न आयात नही कर सकते है और उन्हे सदस्य-देशो से ही खाद्यान्न गारण्टी किये गये मूल्यो पर लेना पडता है। इस नीति के परिणामस्वरूप EEC के देश अनाजो एव दुग्ध उत्पादो के उत्पादन मे अतिरेक उत्पादक क्षेत्र बनते जा रहे है। EEC के देशो के कुल आयात का 49% भाग EEC क्षेत्र के आन्तरिक व्यापार के रूप मे हुआ और विकासशील राष्ट्रो का EEC के देशो के आयात मे सन् 1960 का 22% भाग सन् 1968 मे घटकर 17% रह गया। इस प्रकार विकसित देशो की यह नीति है कि जिन उत्पादो का उत्पादन (कृषि-पदार्थ, श्रम-प्रधान उत्पाद एव कम जटिल तान्त्रिकताओ के उपयोग द्वारा बनाये गये उत्पाद) विकासशील राष्ट्र सुलभता से कर सकते है उनके आयात पर विभिन्न प्रकार के प्रतिबन्ध लगा दिये जाये जिससे विकासशील राष्ट्रो की निर्यात-क्षमता को आघात पहुँचे।

(ए) अल्प-विकसित राष्ट्रो मे निर्यात-सवर्द्धन मे एक बडी कठिनाई इन देशो के मूल्य-स्तर की होती है। विकास-विनियोजन मे तीव्र गति से वृद्धि करने के लिए घाटे के अर्थ-प्रबन्धन एव मुद्रा-प्रसार का उपयोग किया जाता है जिसके परिणामस्वरूप इन राष्ट्रों मे आन्तरिक मूल्य-स्तर अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य-स्तर से ऊँचा रहता है। साहसियो को घरेलू बाजारो मे अपनी वस्तुएँ बेचने से निर्यात की तुलना मे अधिक लाभ प्राप्त होता है। अन्तर्राष्ट्रीय बाजारो मे इस प्रकार अल्प-विकसित राष्ट्रो के उत्पादो की माँग अधिक मूल्य होने के कारण कम होने लगती है। यह परिस्थिति उन अर्थ-व्यवस्थाओं मे अधिक गम्भीर होती है जिनमे विकास-प्रक्रिया का सचालन मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत किया जाता है। मिश्रित अर्थ-व्यवस्थाओ मे मूल्य तान्त्रिकता मे नियोजित विदेशी व्यापार के अनुरूप समायोजन करना सम्भव नही होता है क्योंकि सरकार का अर्थ-व्यवस्था पर पूर्ण नियन्त्रण नही रहता है। जब तक राज्य को आन्तरिक एव विदेशी व्यापार पर एकाधिकार प्राप्त नही होता है, विदेशी व्यापार के नियोजित लक्ष्यो को प्राप्त करना सम्भव नही हो सकता है।

विकसित राष्ट्रो की विदेशी व्यापार नीति मे जब तक मूलभूत परिवर्तन नही किये जाते है, विकासशील राष्ट्र स्वय-स्फूर्त एव स्वचालित विकास नही कर सकते है, चाहे इन देशों को कितनी भी विदेशी सहायता प्रदान क्यो न की जाय। विकसित राष्ट्रो को विकासशील राष्ट्रो से आयात करने को प्राथमिकता देनी चाहिए और उन्हे विकासशील राष्ट्रो से बदले मे प्रतिबन्धरहित आयात करने की नीति अपनाने की आशा नही करनी चाहिए।

2 आयात सम्बन्धी समस्याएँ

आर्थिक प्रगति के लिए पूँजीगत एव उपभोक्ता-वस्तुओ का बडी मात्रा मे आयात करना आवश्यक होता है। पूँजीगत वस्तुओ की आवश्यकता नवीन विनियोजन कार्यक्रमो के लिए तथा उपभोक्ता-वस्तुओ की आवश्यकता आय-वृद्धि के फलस्वरूप माँग मे होने वाली वृद्धि के कारण होती है। आयात मे सम्मिलित होने वाली वस्तुएँ देश के आकार, आन्तरिक साधनो की उपलब्धि,

विकास के स्तर तथा आय वितरण के प्रकार पर निर्भर रहती है। यदि आर्थिक प्रगति के प्रारम्भ के साथ साथ श्रमिकों की मजदूरी की कुल राशि मे वृद्धि होती है और जनसंख्या भी तीव्र गति से बढ़ती है तो खाद्य-पदार्थों के आयात की आवश्यकता होती है। दूसरी ओर, यदि आर्थिक प्रगति के फलस्वरूप उच्च आय वाले वर्ग की मौद्रिक आय मे वृद्धि होती है तो अच्छी उपभोक्ता वस्तुओ का आयात अथवा उत्पादन बढाया जाता है। जब आर्थिक प्रगति के परिणामस्वरूप साहसी-वर्ग के लाभ मे वृद्धि होती है तो विनियोजन-वस्तुओ के आयात मे वृद्धि नवीन व्यवसायो की स्थापना हेतु की जाती है। अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ में विकास के प्रारम्भ होने के साथ-साथ आयात में निम्नलिखित कारणो से वृद्धि होती है

(अ) अल्प-विकसित राष्ट्रों मे विकास के प्रारम्भ के साथ-साथ आयात में वृद्धि दो प्रकार से होती है। प्रथम, विकास के अन्तर्गत स्थापित होने वाली विनियोजन-परियोजनाओ के लिए पूँजीगत प्रमाधनों, कच्चे माल एव तान्त्रिक ज्ञान के आयात को बढाने की आवश्यकता होती है। द्वितीय विनियोजन के विस्तार के फलस्वरूप समाज की मौद्रिक आय में वृद्धि होती है जिसके फलस्वरूप उपभोक्ता-वस्तुओं की अधिक माँग उदय होती है जिसकी पूर्ति करने के लिए अधिक आयात की आवश्यकता होती है। उपभोक्ता-वस्तुओं की माँग मे वृद्धि करारोपण के परिमाण पर निर्भर रहती है। नियोजित अर्थ-व्यवस्था मे उपयोग को नियन्त्रित करके उपभोक्ता-वस्तुओ की माँग को अधिक नही बढने दिया जाता है और आयात-वृद्धि केवल विनियोजन-वस्तुओं को ही की जाती है।

(आ) अल्प-विकसित राष्ट्रों में उत्पादन के कुछ घटकों का बाहुल्य (विशेषकर श्रम का) और पूंजी सदृश कुछ अन्य घटको की कमी होती है। पूँजी की मात्रा में वृद्धि करके अर्थ-व्यवस्था में उपयोग न लाये गये उत्पादन के घटकों का उपयोग करके उत्पादन मे तीव्र गति से वृद्धि की जाती है। जब तक उत्पादन मे समस्त घटको का पूर्णतम उपयोग नही हो जाता, यह विधि जारी रहती है। इस विधि को जारी रखने के लिए विनियोजन-वस्तुओं का आयात आवश्यक होता है। इसी कारण उपयोग में न लिये गये साधनों का जब तक पूर्ण उपयोग नही होने लगता, आयात में वृद्धि होती रहती है।

(इ) अल्प-विकसित राष्ट्रो मे सरकार द्वारा आर्थिक प्रगति की प्रक्रिया प्रारम्भ करने हेतु अधिक रुचि ली जाती है और वह विकास को तीव्र गति प्रदान करने के लिए मुद्रा-प्रसार मे प्रेरित विनियोजन के बडी मात्रा मे उपयोग करने को प्रोत्साहित करती है। मुद्रा-प्रसार से प्रेरित विनियोजन-वृद्धि के फलस्वरूप समाज की मौद्रिक आय मे तीव्र गति से वृद्धि होती है जिसका देश मे भुगतान शेष की स्थिति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। जब समाज की वास्तविक आय की तुलना मे मौद्रिक आय मे अधिक वृद्धि होती है तो माँग का दबाव आन्तरिक एव विदेशी साधनो पर बढ जाता है। आन्तरिक मूल्य-स्तर विदेशी बाजारों के मूल्य-स्तर मे अधिक ऊँचा होने के कारण आयात करने की इच्छा अत्यधिक हो जाती है। यदि मुद्रा-स्फीति के फलस्वरूप धनी-वर्ग की आय मे वृद्धि होती है तो वह विलासिता की वस्तुओ के आयात की माँग करता है। यदि विलासिता की वस्तुओं के आयात को प्रतिबन्धित कर दिया जाता है तो इनकी स्थानापन्न स्वदेशी वस्तुओ का उत्पादन बढाया जाता है जिससे निर्यात-वस्तुओं के उत्पादन के लिए साधनों की कमी हो जाती है।

अल्प विकसित राष्ट्रों मे जनसंख्या की वृद्धि-दर अधिक होने के कारण बेरोजगारी, उत्पादकता की कमी, प्रति व्यक्ति आय की कमी, बचत की दर मे कमी आदि कठिन परिस्थितियाँ विद्यमान होती है। बढती हुई जनसंख्या को खाद्य-पदार्थ एव अन्य आवश्यक उपभोक्ता-वस्तुएँ प्रदान करने के लिए अधिक आयात करने की आवश्यकता होती है।

3 व्यापार की शर्तें एवं आर्थिक प्रगति

किसी देश की निर्यात-आय केवल निर्यात की मात्रा के आयात की मात्रा पर आधिक्य हो, इसी पर निर्भर नहीं होती है। इस आय पर निर्यात की जाने वाली वस्तुओं का विदेशी बाजारो मे मिलने वाला मूल्य तथा आयात के मूल्यों का भी प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार व्यापार की शर्तो

पर विदेशी व्यापार से मिलने वाला आर्थिक प्रगति के लिए योगदान निर्भर रहता है। व्यापार-शर्तों के अनुकूल होने पर निर्यात से अधिक विदेशी विनिमय मिलता है और आयात के बदले कम विदेशी विनिमय का भुगतान करना पड़ता है जिसके परिणामस्वरूप देश की क्रय-शक्ति विदेशी बाजारों में बढ़ जाती है। इसके अतिरिक्त क्रय-शक्ति का उपयोग विकास-सामग्री का आयात अधिक मात्रा में करने के लिए किया जा सकता है। इसके विपरीत, जब व्यापार की शर्तें प्रतिकूल हों तो निर्यात की मात्रा में वृद्धि होते हुए भी और आयात में इस निर्यात-वृद्धि की तुलना में कम वृद्धि होते हुए भी देश को विदेशी व्यापार से बहुत कम अथवा आर्थिक प्रगति हेतु बिलकुल लाभ प्राप्त नहीं होता है। निर्यात-वस्तुओं के मूल्य अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में कम होने पर देश की क्रय-शक्ति कम हो जाती है और निर्यात-आय को पूर्ववत बनाये रखने के लिए अधिक वस्तुओं के निर्यात की आवश्यकता होती है। निर्यात मूल्यों में कमी होने के साथ यदि देश में विकास के परिणामस्वरूप उत्पादकता में वृद्धि हो जाती है तो इस प्रतिकूल व्यापार-शर्त का विकास पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ता है। निर्यात-वस्तुओं के मूल्य विदेशी बाजारों में कम हो जाने से इनके निर्यात का परिमाण कम होने लगता है, विशेषकर ऐसी परिस्थिति में जब देश में मुद्रा-स्फीति का दबाव हो और आन्तरिक मूल्य-स्तर ऊँचा हो। निर्यातकों को ऐसी परिस्थिति में अपनी वस्तुओं को आन्तरिक बाजार में बेचने में ही लाभ प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त निर्यात-वस्तुओं के मूल्य कम होने पर इनसे सम्बन्धित उद्योगों में विनियोजन-रोजगार एवं उत्पादन कम होने लगता है और आर्थिक प्रगति को ठेस पहुँचती है।

दूसरी ओर, जब प्रतिकूल व्यापारिक शर्तों के फलस्वरूप आयात के मूल्यों में वृद्धि हो जाती है तो विनियोजन-प्रसाधनों के आयात की लागत अधिक हो जाती है और आयात प्रतिस्थापन सम्बन्धी उद्योगों एवं निर्यात-वस्तुओं के विस्तार के कार्यक्रम में क्षति पहुँचती है और आर्थिक प्रगति की गति मन्द हो जाती है।

विभिन्न अल्प विकसित देशों के विदेशी व्यापार का अध्ययन विभिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा किया गया है और इन अध्ययनों से यह नतीजा निकाला गया है कि सामान्यतः दीर्घकाल में व्यापार की शर्तें अल्प-विकसित राष्ट्रों के प्रतिकूल रहती हैं। व्यापार की शर्तों को प्रभावित करने वाले विभिन्न घटक होते हैं जिनके सामूहिक प्रभाव से व्यापार की शर्तों में परिवर्तन होते रहते हैं। इन घटकों में आयात से होने वाले परिवर्तन, आयात एवं निर्यात की वस्तुओं की माँग की लोच, फसलों के उच्चावचान, श्रमिकों के बड़े-बड़े झगड़े तथा अन्य आकस्मिक परिस्थितियाँ व्यापार की शर्तों को प्रभावित करती हैं। जिस देश के आयात की माँग अधिक लोचदार होती है और उसके निर्यात की माँग कम लोचदार होती है, उस देश के लिए व्यापार की अनुकूल शर्तें उपलब्ध होती हैं क्योंकि यह देश अपने आयात में आवश्यकतानुसार कमी अथवा वृद्धि कर सकता है जबकि अन्य देशों में इस देश के निर्यातों को कम या अधिक करना सम्भव नहीं होता। यह परिस्थिति प्रायः उद्योग-प्रधान राष्ट्रों की होती है। निर्यात-वस्तुओं की माँग की लोच कम होने के साथ यदि इनकी पूर्ति कम लोचदार होती है तो माँग बढ़ने के साथ-साथ इनके मूल्य बढ़ते जाते हैं। अल्प-विकसित राष्ट्रों के निर्यात की माँग विकसित राष्ट्रों में अधिक लोचदार होती है जबकि विकसित राष्ट्रों के निर्यात की माँग अल्प विकसित राष्ट्रों में कम लोचदार होती है और यही कारण है कि अल्प-विकसित राष्ट्रों को प्रतिकूल व्यापार-शर्तों का सामना करना पड़ता है। पूँजीगत प्रसाधनों की माँग विकासशील राष्ट्रों में अधिक होती है जबकि इनकी पूर्ति विकसित राष्ट्रों में लगभग बेलोचदार होती है जिससे परिणामस्वरूप विकासशील राष्ट्रों को पूँजीगत प्रसाधनों का अत्यधिक मूल्य देना पड़ता है। व्यापार की शर्तें किसी भी देश की अपने साधनों को वैकल्पिक उपयोगों में हस्तान्तरण की क्षमता पर भी निर्भर रहती हैं। साधनों के हस्तान्तरण की सुविधा साधनों के प्रकार, साहसियों की योग्यता एवं कुशलता, श्रम की गतिशीलता आदि पर निर्भर रहती है। जो देश व्यापार की शर्तों के परिवर्तन के अनुकूल अपने उत्पादन में भी परिवर्तन करने में समर्थ होता है, वह अनुकूल व्यापार-शर्तों का

लाभ उठा सकता है। साधनों के हस्तान्तरण की क्षमता स्वभावत विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ को ही उपलब्ध होती है।

व्यापार की शर्तो के अनुकूल न होने के कारण विकासशील देश अपने निर्यातों मे पर्याप्त वृद्धि करने मे समर्थ नही रहे है। 1970 वर्ष मे ससार का कुल निर्यात 3,13,200 मिलियन अमेरिकी डॉलर था जिसमे से विकसित विपणि अर्थ-व्यवस्थाओं का निर्यात 2,24,840 मिलियन डॉलर और विकासशील अर्थ-व्यवस्थाओ का निर्यात 55,010 मिलियन डॉलर था। 1975 वर्ष मे 1970 की तुलना मे ससार के निर्यात 180% अधिक थे अर्थात् 8,78,520 मिलियन डॉलर हुए, जबकि इस काल मे विकसित एव विकासशील देशो के निर्यात मे क्रमश 158% और 284% की वृद्धि हुई। यद्यपि प्रतिशत के आधार पर इस काल मे विकासशील अर्थ-व्यवस्थाओ के निर्यात मे विकसित राष्ट्रो की तुलना मे अधिक वृद्धि हुई है परन्तु निर्यात की राशि मे विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं मे इस काल मे 3,55,610 मिलियन डॉलर की वृद्धि हुई, जबकि विकासशील अर्थ-व्यवस्थाओ के निर्यात मे इस काल मे 1,56,250 मिलियन डॉलर की ही वृद्धि हुई। ससार के निर्यात मे विकसित एव विकासशील अर्थ-व्यवस्थाओं का अश निम्नवत् था :

तालिका 31—ससार के निर्यात मे अश

(प्रतिशत मे)

वर्ष	विकसित विपणि अर्थ व्यवस्थाएं	विकासशील विपणि अर्थ-व्यवस्थाएं
1968-69 (वार्षिक औसत)	69 0	18 6
1970	70 1	17 5
1971	80 4	17·8
1972	71 8	18 0
1973	70 7	19 3
1974	64 9	26 2
1975	66 1	24 1
1970-75 (वार्षिक औसत)	68 4	21 9

[Source *World Bank Report, 1956*]

भुगतान-शेष की समस्या

अल्प-विकसित राष्ट्रो की विकास-प्रक्रिया म विदेशी भुगतान-शेष का अत्यधिक महत्व होता है। विकास की दर 5% के आसपास रखने के लिए अल्प-विकसित राष्ट्रों को अपने आयात में वृद्धि करना आवश्यक होता है। वस्तुओं एव सेवाओ के आयात का वह भाग जो निर्यात आय से पूरा नही किया जा सकता है उसकी पूर्ति विदेशी सहायता एव विदेशी पूंजी से की जाती है। परन्तु विदेशी पूंजी एव सहायता का अल्प-विकसित राष्ट्रों मे प्रवाह विकसित राष्ट्रों के विदेशी वित्तीय साधनो एव नीतियो पर निर्भर रहता है। इस प्रकार विकास की समस्या विदेशी भुगतान-शेष की समस्या का कारण एव प्रभाव दोनो ही होती है। विकासशील राष्ट्रो को अपनी विकास-दर के अनुरूप अपने निर्यात मे दीर्घकाल मे पर्याप्त वृद्धि करके भुगतान-शेष की समस्या का निवारण करना चाहिए। जब भी विकास की अभिलाषी दर विदेशी प्राप्तियो द्वारा निर्वाह हो सकने वाली विकास की दर से अधिक रखी जाती है, भुगतान शेष की समस्या उदय होती है और विकास अवरुद्ध होता रहता है जिससे साधनो का अपव्यय होता है। दूसरी ओर, यदि कोई देश वास्तविक राष्ट्रीय उत्पादन मे पर्याप्त वृद्धि किये बिना उपभोग के स्तर को बढाने हेतु आधारभूत उपभोक्ता वस्तुओं के मूल्यो को अनुदान प्रदान करता है तो भी भुगतान-शेष की समस्या उदय होगी, क्योंकि अर्थ-व्यवस्था मे उपभोग बढने से बचत कम होगी और निर्यात-योग्य वस्तुओं एव सेवाओ का अतिरेक भी कम हो जायेगा और निर्यात इतना कम हो जायेगा कि आवश्यक आयातो का भी भुगतान नहीं हो सकेगा। अल्प विकसित राष्ट्रो के निर्यातों में उच्चावचान भी अधिक होते हैं। इन

राष्ट्रों के निर्यात का बड़ा भाग कृषि-जन्य उत्पादों का होता है जिनके उत्पादन पर मौसम की अनिश्चितता का प्रभाव पड़ता है और जिनकी पूर्ति में लचीलापन भी कम होता है। यही कारण है कि औद्योगिक राष्ट्रों की तुलना में कृषि-प्रधान अर्थ-व्यवस्थाओं के निर्यात में अधिक उच्चावचन होते हैं। कृषि-जन्य उत्पादों के मूल्यों में भी अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में अधिक हेर-फेर होता है और प्राय प्राथमिक उत्पादन के मूल्य गिरावट की प्रवृत्ति रखते हैं। दूसरी ओर औद्योगिक उत्पादों के मूल्यों में वृद्धि की प्रवृत्ति पायी जाती है। इस प्रकार अल्प-विकसित राष्ट्रों को अपनी प्राथमिक वस्तुओं के निर्यात से मिलने वाली विदेशी प्राप्तियाँ अनिश्चित रहती हैं, जबकि औद्योगिक उत्पादों के आयात के लिए भुगतान की राशि गत वर्षों की तुलना में अधिक ही रहती है। इस कारण से भी अल्प-विकसित राष्ट्रों में भुगतान-शेष की समस्या विकास को अवरुद्ध करती रहती है।

अल्प-विकसित राष्ट्रों में विदेशी प्राप्तियों में सेवाओं की आय का अंश बहुत कम होता है क्योंकि इन देशों को किराये-भाड़े तथा विदेशी भ्रमण करने वालों से विदेशी विनिमय की प्राप्ति अधिक नहीं होती है, जबकि इन राष्ट्रों को आयातित वस्तुओं के जहाजी भाड़े एवं विदेशी विनियोजन की आय का भुगतान करने के लिए अधिक विदेशी विनिमय की आवश्यकता होती है। अल्प-विकसित राष्ट्रों की भुगतान शेष की समस्या का एक बहुत बड़ा कारण मुद्रा-प्रसार प्रेरित विकास विनियोजन भी होता है। जब मुद्रा-प्रसार द्वारा उपलब्ध साधनों का उपयोग आन्तरिक पूँजी-निर्माण के लिए किया जाता है जो आन्तरिक बचत तथा उपलब्ध विदेशी सहायता एवं विदेशी पूँजी के योग से अधिक होता है तो भुगतान-शेष में कमी स्वाभाविक रूप से उदय होती है। इसके साथ मुद्रा प्रसार के कारण आन्तरिक मूल्य-स्तर बढ़ जाने से निर्यात हतोत्साहित होते हैं और आयातों को प्रोत्साहन मिलता है। यह तथ्य भी भुगतान-शेष की समस्या की गहनता को बढ़ाता है और भुगतान-शेष के क्षेत्र में पूँजीगत लेखों की प्राप्तियों पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की सन् 1977 की वार्षिक रिपोर्ट के अनुसार विभिन्न वर्गों के राष्ट्रों के भुगतान-शेष की स्थिति गत चार वर्षों में निम्नवत थी

तालिका 32—भुगतान-शेष की स्थिति (1973-76)

(अमेरिकी बिलियन डालर)

देश	व्यापार-शेष	सेवाएँ एवं निजी हस्तान्तरण	चालू खाते का शेष	पूँजी खाते का शेष
(1)	(2)	(3)	(2)+(3)	4
औद्योगिक राष्ट्र				
1973	12.4	—1.3	11.1	—12.5
1974	—10.1	—1.1	—11.2	—3.6
1975	21·3	—2.5	18.6	—19.2
1976	—6.2	4.8	—1.4	—3.2
खनिज तेल के बड़े निर्यातक देश				
1973	18.6	—12.4	6.2	—2.2
1974	81·7	—14.3	67.4	—21.4
1975	52.5	—17.8	34.7	—17.3
1976	63.5	—22.5	41.0	—24.0

(1)	(2)	(3)	(2)+(3)	(4)
अधिक विकसित क्षेत्र				
1973	— 4 8	6 2	1 3	1 0
1974	—19 1	4 8	—14 3	10 0
1975	—19 0	4 2	—14 8	10 1
1976	—16 8	2 5	—14 3	11 1
कम विकसित क्षेत्र				
1973	— 6 6	—4 4	—10 [illegible]	18 5
1974	—22 8	—6 8	—29 5	30 6
1975	—29 1	—9 1	—38 2	34 9
1976	—15 5	—10 3	—25 8	34 6
एशिया				
1973	— 2 4	0 1	— 2 3	4 3
1974	— 9 1	0 5	— 8 6	9 8
1975	— 9 2	0 7	— 8 6	9 1
1976	— 2 8	0 1	— 2 7	8 4
अन्य प्राथमिक वस्तुएँ उत्पादन करने वाले देश				
1973	—11 4	1 8	— 9 6	19 5
1974	—41 8	—2 1	—43 8	40 6
1975	—48 1	—4 9	—53 0	45 0
1976	—32 1	—7 8	—40 1	45 7

खनिज तेल के मूल्यो की आश्चर्यजनक वृद्धि से ससार के विभिन्न क्षेत्रो की भुगतान शेष की सरचना मे आमूल परिवतन उदय हुए है। तेल निर्यातक देशो के पास भगतान शेष के अतिरेक का केन्द्रीकरण हुआ है। इन देशो के चालू खाते के अतिरेक मे गत तीन वर्षो मे सात गुनी वृद्धि हुई है। चालू खाते का यह अतिरेक इन देशो मे 1974 मे 67 4 बिलियन डालर तक पहुँच गया परन्तु आयात वृद्धि एव चक्रीय कारको के कारण यह अतिरेक 1975 मे 34 7 और 1976 मे 41 0 बिलियन डालर रहा। दूसरी ओर खनिज तेल की मूल्य वृद्धि के कारण औद्योगिक राष्ट्रो के भुगतान शेष पर प्रतिकूल प्रभाव पडा है और इन देशो का भुगतान अतिरेक भुगतान न्यूनता मे बदल गया है। अन्य प्राथमिक वस्तुएँ उत्पादित करने वाले देशो मे चालू खाते के प्रतिकूल शेष मे 1974 एव 1975 मे तेजी से वृद्धि हुई है परन्तु 1976 मे इस प्रतिकूल शेष मे 13 बिलियन डालर की कमी हुई है जिसका मुख्य कारण व्यापार के प्रतिकूल शेष मे कमी होना है। इसका तात्पर्य यह है कि 1976 वर्ष म यह देश अपने निर्यात मे सुधार करने म कुछ सीमा तक समथ रहे है। परन्तु इन देशो के भुगतान शेष मे उच्चावचान सर्वाधिक है और यह देश अब भी वस्तुओ एव सेवाओ के शुद्ध आयातक है और अपने आयातो का निर्वाह विदेशी पजी एव विदेशी सहायता से कर रहे है।

औद्योगिक राष्ट्रो की स्थिति म मूल अन्तर हुआ। अब ये राष्ट्र अपनी ही आन्तरिक बचत के माध्यम म प्राथमिक वस्तुएँ उत्पादित करने वाले देशो को वास्तविक साधन एव पूँजी प्रदान करने म समथ नही है। परन्तु औद्योगिक राष्ट्र तेल निर्यातक देशो के अतिरेक के साधनो को

प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्राप्त करके तेल निर्यात न करने वाले विकासशील देशो को विदेशी सहायता प्रदान कर रहे हैं। वास्तव मे, खनिज तेल के मूल्यो मे वृद्धि होने के कारण औद्योगिक राष्ट्रो की राष्ट्रीय बचत कम हो गयी है और तेल निर्यातक देशो की राष्ट्रीय आय मे तीव्र गति से वृद्धि हुई है। परन्तु साधनो का प्रवाह विकासशील राष्ट्रो मे अब भी औद्योगिक राष्ट्रो के माध्यम से होता है क्योकि औद्योगिक राष्ट्र ही विकासशील राष्ट्रो की प्रसाधन एव तान्त्रिक ज्ञान की आवश्यकताओ की पूर्ति करने मे सक्षम हैं।

भुगतान-शेष मे सुधार की विधियाँ

विकासशील राष्ट्रो के अपने भुगतान-शेष मे सुधार लगभग उन्ही विधियो से किया जा सकता है जो विकसित राष्ट्रो मे अपनायी जाती रही है। परन्तु वर्तमान विकासशील राष्ट्रों की समस्याएँ विशिष्ट प्रकार की हैं और इनके निवारण के लिए भुगतान-शेष की हीनता मे सुधार निम्नलिखित विधियो से किया जा सकता है

(1) **आयात एव विनिमय-नियन्त्रण**—आयात एव विनिमय-नियन्त्रण का व्यापक रूप से उपयोग भुगतान-शेष मे समायोजन करने के लिए किया जाता है। आयात करने के लिए गत वर्षों मे आयातित सामग्री आदि के उपयोग के आधार पर परमिट जारी किये जाते है और नवीन सस्थानो के आयात की आवश्यकताओ का आकलन विकास-कार्यक्रमो की प्राथमिकताओ के आधार पर किया जाता है। विदेशी विनिमय पर नियन्त्रण देश के केन्द्रीय बैंक द्वारा सचालित किया जाता है और विदेशी विनिमय के समस्त व्यवहार इस बैंक के माध्यम से किये जाते है। विकासशील अर्थ-व्यवस्थाओ मे आयातित प्रसाधनो एव वस्तुओं की अधिक माँग होती है और आयात पर कठोर प्रतिबन्ध लगाने से विकास विनियोजन मे बाधाएँ उपस्थित होती है और साधनो का त्रुटि-पूर्ण आबटन होता है। जिन अर्थ-व्यवस्थाओ मे मुद्रा-स्फीति का दबाव रहता है वहाँ आयात परमिट आर्थिक अपराधो का कारण बनते है। फिर भी आयात एव विनिमय-नियन्त्रण के माध्यम से अनावश्यक उपभोग सम्बन्धी आयात को सीमित किया जा सकता है और विदेशी विनिमय के साधनो का उपयोग विनियोज्य वस्तुओ के आयात हेतु सुरक्षित किया जा सकता है।

(2) **बहु-विनिमय दरें**—बहु-विनिमय दरो का उपयोग करके अधिमूल्यांकित (Over-valued) मुद्रा को सरक्षित किया जा सकता है। इस विधि के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के आयातो, निर्यातो एव अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारो पर अनुदान अथवा कर लगाकर विदेशी विनिमय के साधनों को प्राथमिकता-प्राप्त आयातो के लिए ही उपयोगित करने हेतु प्रोत्साहित किया जाता है। यह विधि अल्पकाल मे भुगतान-शेष की हीनता को समाप्त करने मे सहायक होती है। परन्तु यदि इसका उपयोग दीर्घकाल तक किया जाता है तो अर्थ-व्यवस्था मे विभिन्न प्रकार के उत्पादो के सापेक्षिक मूल्यों मे ऐसे परिवर्तन उदय होते है जिनके परिणामस्वरूप कल्याण सम्बन्धी उत्पादो एव सेवाओ के उत्पादन को आघात पहुँचता है।

(3) **मुद्रा का अवमूल्यन**—यदि भुगतान-शेष की हीनता का मुख्य कारण मुद्रा का सरकारी विनिमय मूल्य अन्तर्राष्ट्रीय बाजार मे विद्यमान विनिमय-दर से दीर्घकाल तक अधिक रहे तो भुगतान-शेष को सन्तुलित करने के लिए मुद्रा का अवमूल्यन करना चाहिए। यदि भुगतान-शेष की प्रतिकूलता निर्यात-प्राप्ति मे अस्थायी कमी आ जाने के कारण उदय होती है तो इसका समायोजन करने के लिए देश के विदेशी विनिमय के सचयो का उपयोग करना चाहिए अथवा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से अस्थायी समायोजन सहायता प्राप्त की जानी चाहिए। यदि ये कार्यवाहियाँ सम्भव न हो सकें तो अस्थायी कठोर आयात-नियन्त्रण एव आयात-अधिकार आदि का उपयोग किया जा सकता है। परन्तु यदि निर्यात मे कमी अथवा जडता अधिक स्थायी प्रतीत हो तो परिवर्तनशील विनिमय दर का उपयोग करना उचित होता है और जब तक अर्थ-व्यवस्था मे स्थायित्व उदय न हो, ये दरें जारी रखी जा सकती हैं। परिवर्तनशील दरो के आधार पर नवीन विनिमय दर का निर्धारण भी उचित रूप से किया जा सकता है।

(4) **मौद्रिक नियन्त्रण**—जब भुगतान शेष में हीनता देश में अत्यधिक साख-निर्माण के कारण उदय हुई हो तो मौद्रिक नियन्त्रणों को सन्तुलित करना आवश्यक होता है। मौद्रिक नियन्त्रणों के अन्तर्गत बैंकों के साख निर्माण के अधिकार पर विभिन्न प्रतिबन्ध लगा दिये जाते हैं और मजदूरी एवं वेतन वृद्धि को रोक दिया जाता है। मौद्रिक नियन्त्रणों के माध्यम से वस्तुओं एवं सेवाओं की माँग को सीमित किया जा सकता है जिससे आयात को कम करना सम्भव हो सकता है।

(5) **निर्यात-संवर्द्धन एवं आयात-प्रतिस्थापन**—भुगतान सन्तुलन की प्रतिकूलता का स्थायी निवारण निर्यात संवर्द्धन एवं आयात प्रतिस्थापन द्वारा ही सम्भव हो सकता है। परन्तु इन व्यवस्थाओं का प्रभाव दीर्घकाल में ही स्थायी रूप में उदय हो सकता है। निर्यात-संवर्द्धन एवं आयात-प्रतिस्थापन से भुगतान शेष में जो प्रारम्भिक सुधार होता है उसे जारी तभी रखा जा सकता है जब कि राष्ट्रीय उत्पादन वृद्धि के फलस्वरूप आयात-माँग में होने वाली वृद्धि की तुलना में भुगतान शेष में अधिक सुधार होता है। निर्यात संवर्द्धन एवं आयात-प्रतिस्थापन कार्यक्रमों को विकास योजनाओं में सर्वाधिक प्राथमिकता दी जानी चाहिए। निर्यात संवर्द्धन हेतु निर्यात में विविधता लाना अनिवार्य होता है जिससे एक या कुछ ही प्राथमिक वस्तुओं के निर्यात पर निर्भरता न रहे। निर्मित वस्तुओं के निर्यात में वृद्धि करने के लिए विशेष प्रयत्न करना चाहिए। मुद्रा-प्रसार द्वारा प्रेरित विनियोजन की परिस्थिति में निर्यात-संवर्द्धन में विशेष कठिनाई आती है क्योंकि आन्तरिक मूल्य-स्तर अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य स्तर से ऊँचा रहता है। ऐसी परिस्थिति में कठोर मौद्रिक नियन्त्रणों एवं अनुदान आदि के माध्यम से निर्यातों को प्रोत्साहित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त निर्यात-प्रोत्साहन हेतु निर्यातकों को अपनी निर्यात प्राप्ति के कुछ अंश को खुले बाजार में उपयोग करने की अनुमति दी जा सकती है। परन्तु विदेशी विनिमय के इस खुले उपयोग पर विशेष ध्यान रखने की आवश्यकता होती है जिससे इसका उपयोग पूँजी के बाह्य प्रवाह के लिए न किया जा सके।

आयातों में कमी करने हेतु ऐसे आयातों का ही उत्पादन देश में प्रारम्भ करना चाहिए जिनका प्रतिस्पर्द्धी लागत पर निर्मित किया जा सके। प्रतिस्पर्द्धी लागत के लिए कुछ आवश्यक सुविधाओं की उपलब्धि आवश्यक होती है जो एक ही देश में उपलब्ध नहीं होती है। इस परिस्थिति में आयात प्रतिस्थापन के कार्यक्रम औद्योगिक उत्पादन के क्षेत्रीय नियोजन के अन्तर्गत सचालित किये जा सकते हैं जिसमें कई देश अथवा क्षेत्र मिलकर आवश्यक सुविधाएँ जुटा सकते हैं। इस व्यवस्था में एक ओर आयात में कमी की जा सकती है और दूसरी ओर सहभागी देशों के निर्यात में वृद्धि हो सकती है। निर्यात संवर्द्धन एवं आयात-प्रतिस्थापन हेतु जो पूँजीगत प्रसाधन एवं तान्त्रिक ज्ञान आवश्यक हो उसको विदेशी पूँजी के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है। विदेशी पूँजी के प्रवाह के लिए देश में उपयुक्त वातावरण स्थापित करने की आवश्यकता होती है।

(6) **आन्तरिक बचत में वृद्धि**—भुगतान शेष की स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिए इस प्रकार की नीतियाँ संचालित करना आवश्यक होता है जिनसे आन्तरिक बचत में पर्याप्त वृद्धि हो सके। भुगतान शेष को अल्पकाल में सन्तुलित करने के लिए इस प्रकार की मौद्रिक एवं राजकोषीय नीतियों का उपयोग किया जाना चाहिए कि आन्तरिक पूँजी-निर्माण उसी सीमा तक हो जितनी कि अर्थव्यवस्था में आन्तरिक बचत हो तथा जितनी विदेशी शुद्ध सहायता एवं पूँजी उपलब्ध हो। उपयुक्त मौद्रिक नीति एवं राजकोषीय नीति के माध्यम से प्रशासनिक एवं उपभोग व्यय को नियन्त्रित किया जा सकता है और मौद्रिक एवं विनिमय दर की सुदृढ़ता बढ़ायी जा सकती है। मौद्रिक एवं विनिमय दर की सुदृढ़ता वाली अर्थव्यवस्थाएँ विदेशी पूँजी एवं सहायता आकर्षित करने में सक्षम होती हैं। मुद्रा स्फीति से पीड़ित अर्थ व्यवस्थाएँ पूँजी आकर्षित करने के स्थान पर पूँजी के बाह्य प्रवाह को प्रोत्साहित करती हैं। विदेशी पूँजी के साधन उपलब्ध होने से तुरन्त से भुगतान शेष एवं आर्थिक विकास की गति दोनों में ही सुधार होता है परन्तु विदेशी पूँजी की उपयोगिता उन शर्तों पर निर्भर रहती है जिन पर यह पूँजी अथवा सहायता प्रदान की जाती है। यदि विदेशी सहायता एवं पूँजी से भविष्य में ऋणसेवा व्यय का अर्थ व्यवस्था पर भार इतना अधिक पड़ता हो कि इस सहायता एवं

पूंजी के माध्यम से आयात-प्रतिस्थापन एवं निर्यात-संवर्द्धन से भुगतान-शेष को होने वाले लाभ से अधिक हो तो विदेशी पूंजी एवं सहायता लेना विकासशील राष्ट्र के लिए हितकर नहीं होता है।

भुगतान-शेष में सुधार करने की उपर्युक्त कार्यवाहियों का पृथक्-पृथक् उपयोग नहीं किया जाता है। आवश्यकतानुसार उपर्युक्त समस्त कार्यवाहियों का समन्वित उपयोग किया जाता है परन्तु जब तक भुगतान-शेष का अतिरेक रखने वाले राष्ट्र विकासशील राष्ट्रों की उचित शर्तों पर सहायता *नहीं करते हैं, भुगतान-शेष में सुधार नहीं किया जा सकता है। विकासशील राष्ट्र अपने भुगतान-*शेष में सुधार करने हेतु अपने पारस्परिक व्यापार को बढ़ाने का प्रयत्न करें तो दीर्घकाल में सुधार सम्भव हो सकता है। तेल-निर्यातक देशों के समान विकासशील राष्ट्र भी अपने निर्यातों के लिए अनुकूल शर्तें प्राप्त करने का सामूहिक प्रयास करके अपने भुगतान-शेष में सुधार कर सकते हैं।

भारत का विदेशी व्यापार एवं आर्थिक प्रगति

अन्य अल्प-विकसित एवं विकासशील राष्ट्रों के समान भारत में भी नियोजित विकास के गत 25 वर्षों में विदेशी व्यापार के क्षेत्र में अधिकतर प्रतिकूल-शेष बना रहा है और हमारे निर्यात में आयात के अनुरूप वृद्धि करना सम्भव नहीं हो सका है। यद्यपि इस काल में भारत के निर्यात में वृद्धि हुई है परन्तु यह वृद्धि समस्त संसार की निर्यात-वृद्धि में कहीं कम रही जिसके परिणाम-स्वरूप भारत का संसार के निर्यात में भाग सन् 1950 में 2.1% से घटकर सन् 1975 में 0.5% रह गया है। दूसरी ओर, हमारे निर्यात की संरचना में भी मूलभूत परिवर्तन हुए हैं। भारत के निर्यात में परम्परागत वस्तुओं, जैसे निर्मित जूट, चाय, सूती वस्तुएँ, चमड़ा एवं चमड़े की निर्मित वस्तुएँ, वनस्पति तेल, मसाले, कच्चा मैंगनीज, तम्बाकू आदि का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। *प्रथम योजना में परम्परागत वस्तुओं का अंश कुल निर्यात में 70% था जो द्वितीय* योजना में 62% एवं तृतीय योजना में 56% रह गया। सन् 1969-70 एवं सन् 1970-71 वर्षों में परम्परागत वस्तुओं के निर्यात का अंश और घट गया है और 50% तक पहुँच गया है। 1975-76 में यह प्रतिशत घटकर 32% हो गया है। इस काल में हमारे आयात की संरचना में भी परिवर्तन हुआ है। खनिज तेल, खाद्यान्न, रासायनिक खाद, संयन्त्रादि का हमारे आयात में प्रमुख स्थान रहा है। भारत के विदेशी व्यापार की दिशा में भी बड़े परिवर्तन हो गये हैं। ब्रिटेन का भारत के विदेशी व्यापार में अंश निरन्तर कम होता जा रहा है। खाद्यान्नों के आयात के कम हो जाने से यही स्थिति संयुक्त राज्य अमेरिका की भी है। दूसरी ओर, हमारा व्यापार जापान, जर्मनी एवं रूस से बढ़ता जा रहा है। नियोजित विकास के गत 26 वर्षों में भारत के विदेशी व्यापार की स्थिति निम्नवत् है

तालिका 33—भारत का विदेशी व्यापार (सन् 1951-52 से सन् 1974-75)

(करोड़ रुपये में)

वर्ष	आयात	निर्यात	निर्यात का आयात से प्रतिशत	व्यापार शेष
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)
प्रथम योजना				
1951-52	943	733	78	—210
1952-53	670	577	86	— 93
1953-54	572	531	93	— 41
1954-55	656	594	91	— 62
1955-56	774	609	79	—165
योजना का योग	3,625	3,044	—	—571
प्रथम योजना का वार्षिक औसत	723	609	85	—114

(1)	(2)	(3)	(4)	(5)
द्वितीय योजना				
1956 57	903	620	69	—283
1957 58	1 035	635	61	—400
1958 59	903	581	64	—322
1959 60	961	640	67	—321
1960 61	1 112	642	57	—480
योजना का योग	4 924	3 118	—	—1 806
द्वितीय योजना का वार्षिक औसत	985	628	62	—361
तृतीय योजना				
1961 62	1 092	661	61	—431
1962 63	1 131	685	61	—446
1963 64	1 223	793	65	—430
1964 65	1 349	816	70	—533
1965 66	1 409	806	57	—602
योजना का योग	6 204	3 761	—	—242
तृतीय योजना का वार्षिक औसत	1 241	752	61	—489
वार्षिक योजनाएँ				
1966 67	2 078	1 157	56	—921
1967 68	1 986	1 199	60	—787
1968 69	1 909	1 358	74	—551
चौथी योजना				
1969 70	1 582	1 413	89	—169
1970 71	1 634	1 535	94	— 99
1971 72	1 825	1 608	87	—216
1972 73	1,867	1 971	106	+104
1973 74	2 955	2 523	85	—432
चौथी योजना का योग	9 863	9 050	—	
चौथी योजना का वार्षिक औसत	1 973	1 810	92	—163
पाचवीं योजना				
1974 75	4 519	3 329	74	—1 190
1975 76	5 265	4 043	77	—1 222
1976 77 (अनिम)	5 022	5 089	101	+ 67

1951 52 से 1967 68 तक भारत के विदेशी व्यापार का प्रतिकूल शेष बढता गया और हमारे निर्यात आयात का 60 से 80% तक रहा। सन 1969 70 से हमारे निर्यात मे वृद्धि होने के साथ आयात में कमी होना प्रारम्भ हो गयी। बगला देश को किये गये निर्यात को सम्मिलित करने पर हमारे निर्यात मे 1970 71 मे 8 6% सन 1971 72 म 4 7% और सन 1972 73 मे 22% की वृद्धि हुई। इस काल म निर्यात के आकडो की व्याख्या का विधि म परिवर्तन कर दिया गया है। नवम्बर 1970 मे निर्यात के आकडो का आधार अन्तिम रूप से पास किये गये जहाजी बिलों के स्थान पर जहाजी बिलो की मौलिक प्रतिलिपि मान लिया गया है।

सन् 1973-74 एव सन् 1974-75 मे हमारे निर्यात मे क्रमश 28% एव 32% की वृद्धि हुई है। इस प्रकार हमारे निर्यात मे सन् 1972-73 से लगातार तीन वर्ष तक वृद्धि की गति तीव्र बनी रही। इस निर्यात-वृद्धि का मुख्य कारण हमारे निर्यातो—शक्कर, कपडा, चाय, काजू—के अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यो मे वृद्धि होना रहा है। दूसरी ओर, हमारे आयात मे सन् 1970-71 मे 3 3%, सन् 1971-72 मे 10 9% और सन् 1972-73 मे 2 4% की वृद्धि हुई। आयात मे अधिक वृद्धि का प्रमुख कारण कपास, तिलहन, इस्पात एव रासायनिक खाद का अधिक आयात किया जाना रहा। सन् 1972-73 के पश्चात निर्यात वृद्धि के साथ हमारे आयात मे भी तेजी से वृद्धि हुई। उर्वरक, खाद्यान्न एव खनिज तेल के मूल्यों मे आश्चर्यजनक वृद्धि होने के कारण आयात मे भी तेजी से वृद्धि इन तीन वर्षो मे हुई। सन् 1973-74 एव सन् 1974-75 मे आयात मे क्रमश. 58% एव 51% की वृद्धि हुई।

पाँचवी योजना के प्रथम तीन वर्षो मे निर्यात-वृद्धि निरन्तर बनी हुई है। 1974-75 मे निर्यात मे 31 9%, 1975-76 मे 21 4% और 1976-77 मे 25 9% की वृद्धि हुई। दूसरी ओर, हमारे आयात मे 1974-75 मे 54 5% और 1975-76 मे 16 5% की वृद्धि हुई परन्तु 1976-77 मे हमारा आयात गत वर्ष की तुलना मे 4 6% कम रहा जिसके परिणामस्वरूप हमारा व्यापार-शेष 67 करोड रुपये की राशि से अनुकूल हो गया। स्वतन्त्रता के पश्चात हमारा व्यापार-शेष दूसरी बार (एक बार 1972-73 मे अनुकूल था) अनुकूल हुआ। 1976-77 वर्ष मे हमारी निर्यात-वृद्धि मे बड़ा योगदान लोहा-इस्पात और सूती वस्त्रो का रहा है। चमडा और चमडे की बनी चीजो, खली, मछली, कॉफी एव चाय के निर्यात मे भी इस काल मे वृद्धि हुई। दूसरी ओर, 1976-77 वर्ष मे गेहूँ, उर्वरक और लोहा एव इस्पात के आयात मे कमी हुई।

यदि हम योजनावार निर्यात का अध्ययन करें तो हमें ज्ञात होता है कि प्रथम योजना मे हमारे निर्यात बढने के स्थान पर घटे थे। द्वितीय योजना मे निर्यात-सवर्द्धन की ओर ध्यान दिया गया परन्तु इस काल मे भी हमारे निर्यात मे कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई। तृतीय योजना मे हमारे निर्यात मे वृद्धि होना प्रारम्भ हुई जो अभी तक जारी है। यदि योजनाकाल के 26 वर्षो मे निर्यात की चक्रवृद्धि दर ज्ञात करें तो हमें ज्ञात होता है कि इस काल (सन् 1950-51 मे 601 करोड रुपये और सन 1976-77 मे 5,089 करोड रुपये मे लगभग 8 5% वार्षिक वृद्धि हुई, जबकि इसी काल मे हमारे आयात मे (सन् 1950-51 मे 650 करोड रुपये) 8 1% वार्षिक चक्रवृद्धि हुई। इस प्रकार निर्यात एव आयात मे वार्षिक चक्रवृद्धि मे अधिक अन्तर नहीं है। यह दर इसलिए प्राप्त हो सकी है कि गत 5 या 6 वर्षो से हमारे निर्यात म वृद्धि होती रही। निर्यात-वृद्धि की तीव्र गति सन् 1972-73 वर्ष से जारी हुई। चौथी योजना के पाँच वर्षो के काल की वार्षिक निर्यात-वृद्धि-दर 13 2% रही जो लक्षित दर 7 6% से कही अधिक है। निर्यात-वृद्धि की यह दर तृतीय योजना की निर्यात-वृद्धि की वार्षिक दर से लगभग तीन गुनी है। सन् 1972-73 मे निर्यात-वृद्धि का एक महत्वपूर्ण कारण ससार के बाजारो मे वस्तुओं के मूल्य-स्तर मे तीव्र वृद्धि होना है। देश के औद्योगीकरण के कारण हमारे निर्यात मे विविधता आयी है। पेट्रोलियम एव पेट्रोलियमजन्य पदार्थों के मूल्यो मे अति तीव्र वृद्धि होने के कारण परम्परागत प्रकार की वस्तुओ की माँग मे फिर से वृद्धि होने लगी है जिससे हमारे निर्यात मे वृद्धि हुई है। परन्तु निर्यात की हर्षवर्द्धक स्थिति हमारे भुगतान-शेष मे 1974-75 तक विशेष सुधार करने मे समर्थ नही हुई क्योंकि खनिज तेल, उर्वरक एव खाद्यान्नो के मूल्यों मे तेजी से वृद्धि हुई। खनिज तेल के मूल्य चार गुने से भी अधिक हो गये जिसके कारण भारत को खनिज तेल आयात करने पर 1,000 करोड रुपये से भी अधिक व्यय करना पडा। ससार मे खनिज तेल एव औद्योगिक कच्चे माल के मूल्यो मे तेजी से वृद्धि होने के कारण औद्योगिक राष्ट्र भी भुगतान शेष को कठिनाई से पीडित हैं। सन् 1974-75 वर्ष मे गत वर्ष की तुलना मे आयात मे 51% की वृद्धि हुई। इस वृद्धि का प्रमुख कारण खनिज तेल एव खाद्यान्नो के मूल्यो मे वृद्धि होना रहा है। आयात-वृद्धि का 70% भाग इन मदो की आयात-वृद्धि से बना है। सन् 1973-74 वर्ष मे हमारा व्यापार-शेष फिर से प्रतिकूल हो गया। 1975-76 वर्ष मे औद्योगिक देशो मे अवसाद (Recession) की स्थिति के कारण हमारे निर्यात के मूल्य ससार के बाजारो मे कम होने प्रारम्भ हो गये जिसके परिणामस्वरूप हमारे निर्यात की राशि की वृद्धि की गति मे कमी आयी। भारतीय विदेशी व्यापार सस्थान के अनुमानानुसार हमारे निर्यात के प्रति इकाई मूल्य सन् 1975-76 वर्ष मे सन् 1974-75 की तुलना मे 21·4% की वृद्धि हुई। दूसरी ओर, हमारे आयात मे 16 5% की वृद्धि हुई। इस प्रकार 1975-76 वर्ष 1,222 करोड रुपये के प्रतिकूल

व्यापार शेष स समाप्त हुआ। 1976 77 वष म हमार निर्यात म पर्याप्त वृद्धि हुई और आयात म कमी होने क कारण हमारा व्यापार शेष अनुकूल रहा।

1975 76 वष म हमार भुगतान शेष म पयाप्त सुधार हुआ है। भुगतान शेष म सुधार होन क प्रमुख कारण विदेशी सहायता की अधिक उपलब्धि अतराष्ट्रीय मुद्रा कोष से आहरण तथा पश्चिमी एशिया क देशा का देशान्तरित भारतीय श्रम द्वारा भारत का भज गय भुगतानो में वृद्धि है। 1976 77 वष म लगभग 1 700 स 1 800 करोड रुपया इस प्रकार क भुगतानो क रूप म विदेशी विनिमय के रूप म प्राप्त होन का अनुमान है। यह भुगतान एक प्रकार स शतरहित सहायता का रूप है और इसका यह स्रोत अगल चार पाच वष तक जारी रहन का अनुमान है। विदेशी विनिमय क इस सचय का उपयोग मजदूरी वस्तुओ (wage goods) नवीन तान्त्रिकताओ एव अन्य आदानो (Inputs) क आयात क लिए किया जा सकता है। इन सामयिक आदानो की सहायता स अथ व्यवस्था क सभी क्षत्रो म (कृषि सम्ति) विनियोजन म पयाप्त वृद्धि की जा सकती है। आधुनिक आदानो क आयात म वृद्धि करक भारतीय कृषि का आधुनिक तान्त्रिकताओ स युक्त किया जा सकता है। पूजीगत वस्तुओ के क्षत्र म निए तान्त्रिक आयात म वृद्धि करके उपयोग न की गयी उत्पादन क्षमता का गहन उपयोग किया जा सकता है और कुशल तान्त्रिक एव वैज्ञानिक बरोजगार श्रम शक्ति का उपयोग किया जा सकता है। इस प्रकार सम्पूण अथ व्यवस्था म विकास की गति को तीव्र किया जा सकता है। भुगतान शष की सुदृढ स्थिति के कारण भारत को व्यापार की शर्तों की अनुकूलता का लाभ भी उपलब्ध है। हमारी निर्यात वृद्धि की वार्षिक दर हमारी प्रगति दर म लगभग दुगुनी है। विदेशी व्यापार सम्बधी इन सभी अनुकूल परिस्थितियो एव अवसरो का उपयुक्त अवशोषण करक अथ व्यवस्था को विकास पथ पर सुदृढता क साथ खडा किया जा सकता है। भारत का विदेशी विनिमय का सचय 1975 76 म 1 674 करोड रुपया था जो गत वष की तुलना मे 881 करोड अधिक था। 1976 77 म हमारा विदशी विनिमय का सचय 3 050 8 करोड रुपया हो गया जो गत वष स 1 376 6 करोड रुपया अधिक था। विदशी विनिमय के सचय की वृद्धि निरन्तर चल रही है और यह सचय 23 दिसम्बर 1977 का 4 130 करोड रुपया था।

यद्यपि भारत के निर्यात म लक्ष्य के अनुसार वृद्धि हो रही है तथापि भारत ससार के निर्याता म अपन अश को बनाय रखने म समथ नही है। ससार क निर्यात म भारत का अश निरन्तर घटता जा रहा है जैसा कि निम्नाकित तालिका (34) के अध्ययन से ज्ञात होता है।

तालिका 34—भारत के निर्यात का ससार के निर्यात मे अश

वष	ससार के निर्यात से भारत के निर्यात का प्रतिशत
1950	2 1
1955	1 5
1960	1 2
1965	1 0
1966	0 9
1967	0 8
1968	0 8
1969	0 7
1970	0 7
1971	0 6
1972	0 7
1973	0 6
1974	0 5
1975	0 5

[Source *International Financ al Stat st cs* (Various Issues) I M F]

प्रथम पचवर्षीय योजना म हमारे आयात का 8 1% भाग शुद्ध विदशी सहायता द्वारा भुगतान किया गया। द्वितीय एव तृतीय योजनाकाल म यह प्रतिशत बढकर 43 7 एव 64 1 हो गया। चौथी योजना म शुद्ध विदशी सहायता का हमारे आयात से प्रतिशत घटकर 17 2% रह गया। 1974 75 म यह प्रतिशत 15 5 और 1975 76 म 22 2 रहा। इस प्रकार आयात के लिए हमारी निभरता विदशी सहायता पर कम होती जा रही है।

34

आर्थिक प्रगति में अव-संरचना का योगदान

[CONTRIBUTION OF INFRA-STRUCTURE TO ECONOMIC GROWTH]

किसी भी अर्थ-व्यवस्था में आर्थिक प्रगति के सचालन में उसकी अर्थ-व्यवस्था की अव-सरचना का महत्वपूर्ण स्थान होता है। वास्तव में अर्थ-व्यवस्था की अव-सरचना एक मच का रूप होती है जिस पर विकास का नाटक सचालित होता है। जब तक यह मच उपयुक्त आकार एव प्रकार का नही होगा तब तक नाटक का कुशल सचालन नही हो सकेगा। अव-सरचना (Infra-structure) का विरोधार्थी अति-सरचना (Super-structure) होता है परन्तु किसी व्यवस्थित सरचना के दोनो ही अग—अव-सरचना एव अति-सरचना—एक-दूसरे के पूरक होते है। इनमे पारस्परिक वैकल्पिकता नही होती है अर्थात् एक की हीनता दूसरे के अतिरेक से पूरी नही की जा सकती है। एक-दूसरे के पूरक होने के कारण इन दोनो के ही पर्याप्त मात्रा मे विद्यमान होने पर किसी विशिष्ट निर्धारित उद्देश्य की पूर्ति की जा सकती है। आर्थिक प्रगति के क्षेत्र मे अर्थ-व्यवस्था की अति-सरचना राष्ट्रीय आय एव उत्पादन में प्रत्यक्ष योगदान प्रदान करती है, जबकि अव-सरचना अपने आप से प्रत्यक्ष रूप से कोई उत्पादन नही करती अथवा बहुत कम आयोपार्जन करती है परन्तु यह अर्थ-व्यवस्था की अति-सरचना की आधारशिला होती है। अव-सरचना द्वारा प्रदान की जाने वाली सेवाओ एव सुविधाओ से अति-सरचना के विभिन्न अगो का निर्माण, सचालन एव निर्वाह होता है। अव-सरचना के अन्तर्गत हम उन सभी सुविधाओ एव क्रियाओ को सम्मिलित करते है जो प्रत्यक्ष रूप मे आयोपार्जन करने वाले क्षेत्रो को उपरिव्यय-सुविधाएँ प्रदान करती हैं। अव-सरचना के अन्तर्गत निम्नलिखित मदो को प्राय सम्मिलित किया जाता है

(1) **शक्ति**—विभिन्न प्रकार के साधनो से विद्युत-शक्ति का उत्पादन एव सचरण।

(2) *सिंचाई के विभिन्न साधन—वृहद, लघु एव स्थानीय।*

(3) **यातायात**—रेल, सडक, समुद्री एव वायु-यातायात, रेलो का निर्वाह, सडकों का निर्माण एव निर्वाह, बन्दरगाहो एव हवाई बन्दरगाहो का सचालन आदि।

(4) **संचार**—डाक, तार, टेलीफोन, आकाशवाणी-प्रसारण, टेलीविजन आदि।

(5) **शिक्षा**—प्राथमिक, माध्यमिक, विश्वविद्यालयीन शिक्षा, तकनीकी एव प्रबन्धकीय प्रशिक्षण, प्रौढ शिक्षा, कृषि एव उद्योगो को प्रदान की गयी सेवाएँ, उत्पादकता-आन्दोलन आदि।

(6) **अनुसन्धान और विकास**—भौतिक एव सामाजिक विज्ञान, तकनीक, नगर-नियोजन, भूगर्भ-सर्वेक्षण, प्राकृतिक साधन की खोज एव आर्थिक नियोजन के सम्बन्ध मे समस्त अनुसन्धान एव विकास अव-सरचना मे सम्मिलित किये जाते है।

(7) **स्वास्थ्य**—चिकित्सा की व्यवस्था के अतिरिक्त परिवार-नियोजन एव पौष्टिक भोजन की व्यवस्था, जल-पूर्ति एव सफाई भी इस शीर्षक मे सम्मिलित किये जाते हैं।

(8) **अधिकोषण-सुविधाएँ**—व्यापारिक बैंको, विकास-बैंको, सहकारी साख-संस्थाओ एव स्वदेशी बैंकरो द्वारा प्रदान की जाने वाली साख-सुविधाएँ इस शीर्षक मे सम्मिलित होती है।

(9) सामान्य एव जीवन-बीमा *तथा श्रमिको के हितो के लिए बीमा।*

(10) श्रम एव पिछडी जातियो के कल्याण हेतु चलाये जाने वाले कार्यक्रम तथा स्त्रियो एव बच्चो के हितार्थ सचालित कल्याण-कार्यक्रम ।

(11) साख्यिकीय एव सूचना-सगठन तथा सस्थाएँ ।

(12) व्यापारिक समितियाँ एव परिषदे जो विभिन्न उद्योगो एव व्यवसायो के हितो की सुरक्षा हेतु सचालित की जाती हैं ।

(13) लोक-प्रशासन एव सुरक्षा सम्बन्धी सेवा का वह आनुपातिक भाग जो देश मे उत्पादन-नियाजो के सचालनार्थ अनुशासन एव शान्ति बनाये रखने के लिए उपयोग किया जाता है ।

(14) विकास सम्बन्धी नीतियाँ निर्धारण करने हेतु विभिन्न सरकारी विभागो, समितियों एव सस्थाओ की सेवाएँ तथा अर्थ-व्यवस्था के वाछित क्षेत्रों के विकास हेतु सरकार द्वारा लगाये गये नियन्त्रण एव प्रदान किये गये प्रोत्साहन ।

अव-संरचना एवं उत्पादन-क्षमता

उपर्युक्त समस्त मदें अर्थ-व्यवस्था मे विभिन्न प्रकार की उन सेवाओ का निर्माण एव सचालन करती है जो उत्पादन-क्रियाओ का सचालन करने एव उनकी गति को तीव्र बनाने मे सहायक होती है । इन सेवाओ की कमी अथवा अनुपस्थिति उत्पादक क्रियाओ के सचालन मे प्रत्यक्ष गतिरोध उत्पन्न करती है । दूसरे शब्दो मे यह भी कहा जा सकता है कि अर्थ-व्यवस्था की अव-सरचना देश के आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, सास्कृतिक, नैतिक एव मनोवैज्ञानिक वातावरण को नियन्त्रित करती है । विकास के अनुकूल वातावरण उत्पन्न करने के लिए अर्थ-व्यवस्था की अव-सरचना मे उपयुक्त परिवर्तन करना आवश्यक होता है । अव-सरचना उत्पादन के घटको की क्रियाशीलता एव उत्पादन-क्षमता को भी नियन्त्रित करती है, जैसे शिक्षा एव प्रशिक्षण सुविधाएँ तथा स्वास्थ्य एव कल्याण-सेवाएँ, श्रम की योग्यता एव उत्पादन-क्षमता मे वृद्धि करती हैं, शक्ति-उत्पादन के लिए अधिक कुशल यन्त्रो का उपयोग करने मे सहायक होती है जिससे पूँजी की उत्पादन-क्षमता बढती है, सिचाई-सुविधाओं से कृषि-भूमि की उत्पादकता बढ जाती है । अर्थ-व्यवस्था की अव-सरचना उत्पादन के केवल वर्तमान साधनो के गहन उपभोग मे ही सहायक नही होती है बल्कि नवीन साधनो के विकास मे भी योगदान देती है, जैसे भूगर्भ-सर्वेक्षण द्वारा सम्भावित प्राकृतिक साधनो के सम्बन्ध मे जानकारी प्राप्त होती है, जिसके आधार पर प्राकृतिक साधनो का विदोहन करके उत्पादक साधनो का विस्तार होता है ।

अव-सरचना एवं मानवीय विकास

अर्थ-व्यवस्था की अव-सरचना केवल भौतिक विकास को ही नियन्त्रित नही करती बल्कि मानवीय विकास भी इससे प्रभावित होता है । शिक्षा, प्रशिक्षण, प्रसारण एव प्रदर्शन द्वारा मानव मे विकास के प्रति जागरूकता उत्पन्न होती है और उसकी शिथिल मनोवृत्तियाँ गतिशील होती है । उसमे अपने चारो ओर के वातावरण को समझने एव अन्य देशो के लोगो के जीवन-स्तर से अपने जीवन-स्तर की तुलना करने की प्रवृत्ति जाग्रत होती है । उसमे विकास करने के लिए एक प्रकार की बेचैनी जन्म लेती है जो किसी भी देश के आर्थिक विकास का मूल कारण होती है । एक ओर अव-सरचना द्वारा मानव मे विकास के प्रति जागरूकता उत्पन्न होती है और दूसरी ओर विकास करने हेतु आवश्यक भौतिक सुविधाएँ प्रदान की जाती है । इस प्रकार जब वातावरण एव भौतिक सुविधाओं का सम्मिश्रण अर्थ-व्यवस्था मे उदय होता है तो विकास स्वत ही स्वाभाविक रूप से सचालित होने लगता है । उसे किसी के द्वारा लादने की आवश्यकता नही होती है ।

अव-संरचना एवं स्वयं-स्फूर्त विकास

स्वय-स्फूर्त अवस्था तक पहुँचने के लिए प्रत्येक देश की अर्थ-व्यवस्था की अव-संरचना मे इस प्रकार परिवर्तन एव परिवर्द्धन होना आवश्यक होता है कि अर्थ-व्यवस्था का प्रत्येक अग विकास के लिए अग्रसर होने को तत्पर हो सके । स्वय-स्फूर्त विकास के लिए आयोपार्जन करने वाले उपक्रमो का विकास एव विस्तार होना आवश्यक होता है और इसके लिए अव-सरचना सम्बन्धी उपक्रमो का

विस्तार होना आवश्यक होता है क्योंकि अव-संरचना-उपक्रमों पर आयोपार्जन करने वाले उपक्रमों की उत्पादकता, कुशलता एवं लाभोपार्जन-क्षमता निर्भर रहती है। अव-संरचना-उपक्रमों में प्रायः उत्पादन एवं आयोपार्जन उदय नहीं होता है परन्तु अव-संरचना के बाहर के उपक्रमों के उत्पादन एवं आय में वृद्धि होती है। ऐसी परिस्थिति में अव-संरचना-उपक्रमों में लाभ की दर कम रहती है। रेलवे, डाक एवं तार, शिक्षा, सड़क-निर्माण आदि उपक्रमों में किसी भी देश में अधिक लाभोपार्जन नहीं होता है। इन उपक्रमों का लाभ दूसरे उपक्रमों में विद्यमान होता है। विकास सम्बन्धी प्राथमिकताएँ निर्धारित करते समय अव-संरचना सम्बन्धी उपक्रमों को अधिक महत्व दिया जाता है क्योंकि यह अर्थ-व्यवस्था की आयोपार्जन-क्षमता को प्रभावित करते हैं। अल्प-विकसित राष्ट्रों में विकास के लिए अव-संरचना अनुकूल न होने के कारण ही विकास की गति मन्द रहती है और आयोपार्जन करने के प्रयास अवरुद्ध होते रहते हैं। यह अवरोध अव-संरचना का पर्याप्त एवं सन्तुलित विस्तार तथा छितराव (Diffusion) न होने के कारण उदय होते हैं।

अव-संरचना-उपक्रम

अव-संरचना-उपक्रमों की स्थापना एवं सम्पूर्ति अल्पकाल में नहीं की जा सकती है। इनका निर्माणकाल लम्बा होता है और इनमें पूँजी का अधिक विनियोजन होता है। दूसरी ओर इनमें लाभ-दर कम होती है। इन्हीं कारणों से निजी क्षेत्र अव-संरचना-उपक्रमों की स्थापना प्रायः नहीं करता है। वास्तव में पूँजीवादी संरचना वाले अल्प-विकसित राष्ट्रों के विकसित न होने का प्रमुख कारण यही होता है कि निजी क्षेत्र अव-संरचना-उपक्रमों को इसलिए स्थापित नहीं करता कि इनका सम्पूर्ति-काल एवं विनियोजन अधिक और लाभोपार्जन-दर कम होती है तथा सरकार आर्थिक क्रियाओं के प्रति पूँजीवादी संरचना के कारण उदासीन रहती है। इस परिस्थिति के परिणामस्वरूप अव-संरचना-उपक्रमों की पर्याप्त मात्रा में स्थापना नहीं की जाती है जो विकास को अवरुद्ध करती रहती है। यही कारण है कि वही अल्प-विकसित राष्ट्र विकास की ओर अग्रसर हो सके हैं जिनमें सरकार ने नियोजित विकास-कार्यक्रमों के अन्तर्गत अव-संरचना-उपक्रमों का विस्तार किया है।

अव-संरचना एवं असन्तुलित विकास

विकास की प्रक्रिया संचालित होने पर भी प्रायः विकासशील राष्ट्रों में अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न खण्डों का समान रूप से विकास नहीं हो पाता है और कभी-कभी तीव्र गति से विकास प्रारम्भ होकर मन्द गति को प्राप्त हो जाता है। ये दोनों परिस्थितियाँ अव-संरचना का पर्याप्त विकास एवं विकास के अनुकूल विस्तार न होने के कारण उदय होती हैं। कभी-कभी ऐसी परिस्थिति उदय होती है कि अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न खण्डों में जितनी उत्पादन-क्षमता का निर्माण किया जाता है, उसका पूर्णतम उपयोग नहीं हो पाता है (जैसे भारत में औद्योगिक क्षेत्र की परिस्थिति है)। उत्पादनक्षमता का सम्पूर्ण उपयोग न होने का प्रमुख कारण अव-संरचना-उपक्रमों द्वारा प्रदान की जाने वाली सुविधाओं की अपर्याप्तता होती है। दूसरी ओर, कभी-कभी ऐसी परिस्थिति भी उदय होती है जबकि अव-संरचना में सम्मिलित होने वाले किन्हीं विशेष उपक्रमों अथवा सुविधाओं का इतना विस्तार हो जाता है कि उत्पादन करने वाले उपक्रमों द्वारा इनका पूर्णतम उपयोग नहीं हो पाता है। यह परिस्थिति सिंचाई सुविधाओं, प्रशिक्षित इंजीनियरों आदि के सम्बन्ध में भारत में विद्यमान है। किन्हीं विशेष अव-संरचना सुविधाओं का पूर्णतम उपयोग न होने के दो कारण होते हैं प्रथम, अव-संरचना-उपक्रमों एवं उत्पादनकर्ता-उपक्रमों का सन्तुलित विकास नहीं होता है, और द्वितीय, किसी एक अव-संरचना सुविधा का विस्तार तो हो जाता है परन्तु उसकी सहायक सुविधाओं का पर्याप्त विस्तार नहीं हो पाता है। इस प्रकार अव-संरचना का विस्तार एवं विकास अति-संरचना के विकास के साथ सन्तुलित रहने के साथ-साथ अव-संरचना के अन्तर्गत उत्पन्न होने वाली उपरिव्यय सुविधाएँ भी आपस में सन्तुलित रहनी चाहिए। इस सन्तुलन को बनाये रखने पर विकास की गति को बढ़ाया जा सकता है।

भारत में अव-संरचना

स्वतन्त्रता के पूर्व अव-सरचना का निर्माण ब्रिटिश साम्राज्यवाद के अन्तर्गत प्रारम्भ कर दिया गया था। उत्तर भारत की सिचाई-नहरें, रेल-यातायात का विकास एव फैलाव, सडको का निर्माण शिक्षा को आधुनिक पद्धति पर पुनर्गठित करना, आधुनिक उद्योगो के स्थापनार्थ प्रबन्ध-अभिकर्ता प्रणाली का प्रादुर्भाव स्वास्थ्य के क्षेत्र मे चिकित्सा की सुविधाओ का विस्तार आदि ब्रिटिश काल की अव-सरचना के अग है। वास्तव मे भारत के आर्थिक विकास को ब्रिटिश-काल की इस अव सरचना ने पर्याप्त योगदान प्रदान किया है और अव-सरचना-उपक्रमो एव सुविधाओ के विस्तार के लिए कम मे कम आधार तो प्रदान किया ही है। सन् 1947 से देश को स्वतन्त्रता मिलने के पश्चात इस बात मे कोई मतभेद नही था कि विकास के लिए अव-सरचना का तीव्र गति से विस्तार करना आवश्यक होगा। प्रथम योजना मे शक्ति, सिचाई एव यातायात तथा सचार पर विशेष ध्यान दिया गया। इन चारो क्षेत्रो मे निरन्तर विनियोजन किया जाता रहा है और इनके साथ मानवीय विकास के लिए भी आवश्यक पूँजी-विनियोजन किया गया है। अव-सरचना के विस्तार का दायित्व मुख्य रूप मे सरकार ने वहन किया है और इस क्षेत्र मे अधिकतर उपक्रम प्राय सार्वजनिक क्षेत्र मे स्थापित किये गये है। परन्तु इन उपक्रमो एव सुविधाओ के विस्तार मे सन्तुलन बनाये नही रखा जा सका है और विभिन्न क्षेत्रो मे या तो इनका अतिरेक अथवा न्यूनता विद्यमान है जो विकास की गति को अवरुद्ध करते रहते है।

भारत के नियोजित विकास की सबसे बडी विशेषता यह है कि सरकारी क्षेत्र के व्यय का अधिकतर भाग अव सरचना पर व्यय किया गया है। विभिन्न योजनाओ के अन्तर्गत अव-सरचना एव अति सरचना पर सरकारी क्षेत्र मे व्यय की जाने वाली राशि निम्नवत् है

तालिका 35—विभिन्न योजनाओ के अन्तर्गत अव-सरचना पर व्यय

योजना/ सार्वजनिक क्षेत्र	अव-सरचना पर व्यय (करोड रुपयो मे)	अति-सरचना पर व्यय (करोड रुपयो मे)	अव सरचना-व्यय का कुल व्यय से प्रतिशत	अति संरचना व्यय का कुल व्यय से प्रतिशत
प्रथम योजना	1,874	96	95 1	4 9
द्वितीय योजना	3,547	1,125	76 0	24 0
तृतीय योजना	6,610	1,967	77 6	23 0
तीन वार्षिक योजनाएँ	5,037	1,720	74 6	25 4
चौथी योजना	13,218	2,983	81 6	18 4
पाँचवी योजना (आयोजित)	28 286	8,964	76 0	24 0
योग	58,572	16 855	77 7	22 3

उक्त तालिका (35) से ज्ञात होता है कि भारतीय नियोजित विकास के 28 वर्षो मे 58,597 करोड रुपया सार्वजनिक क्षेत्रो मे अव-सरचना के विस्तार पर व्यय हो जायेगा जो सार्वजनिक क्षेत्र के कुल व्यय का तीन चौथाई से भी अधिक है। उद्योग खनिज एव लघु उद्योगो को छोडकर अन्य सभी मदो को अव-सरचना मे सम्मिलित कर लिया गया है क्योकि इन अन्य सभी मदो से सार्वजनिक क्षेत्र का व्यय उपरिव्यय सुविधाओ को बढाने के लिए किया गया है जिनका लाभ उत्पादन के विभिन्न उपक्रमो को अधिक प्राप्त हुआ है। उद्योग एव खनिज के क्षेत्र का कुछ व्यय उपरिव्यय सुविधाओ को बढाने और कुछ उत्पादक उपक्रमो पर किया गया है। इस प्रकार उद्योग एव खनिज पर किये जाने वाले व्यय का भी कुछ भाग अव-सरचना-व्यय मे सम्मिलित किया जा सकता है। अव-सरचना की विभिन्न मदो मे जो प्रगति हुई है, उसका विवरण विभिन्न योजनाओ के अध्याय मे दिया गया है। अव-सरचना विकास सम्बन्धी विस्तृत तथ्य 'क्षेत्रीय एव सन्तुलित विकास' के अध्याय मे दिये गये है।

भारत मे अव-सरचना का विस्तार सभी राज्यो मे समान रूप से नही हुआ । यही कारण है कि विभिन्न राज्यो की प्रति व्यक्ति आय एव विकास-दर मे बहुत अन्तर विद्यमान है । सम्पूर्ण भारत की अव-सरचना को आधार (समस्त भारत = 100) मानकर सन 1973-74 मे अव-सरचना का सर्वाधिक विकास पजाब मे हुआ और उसका अव-सरचना विकास-निर्देशाक 205 था । अव-सरचना-निर्देशाक के क्रम मे तमिलनाडु 171, केरल 163, हरियाणा 153, पश्चिम बगाल 138 का स्थान था । दूसरी ओर, कमजोर अव-सरचना वाले राज्यो का अव-सरचना-निर्देशाक मध्य प्रदेश 58, राजस्थान 70, उडीसा 76, आन्ध्र प्रदेश 92 असम 92 था । जिन राज्यो का अव सरचना-निर्देशाक ऊँचा है, उनकी प्रति व्यक्ति आय एव विकास-दर भी प्राय अन्य राज्यो की तुलना मे अधिक है । सन् 1960-61 से सन् 1967-68 के काल मे औसत वार्षिक चक्रवृद्धि प्रगति-दर पजाब एव हरियाणा मे 6 9%, तमिलनाडु मे 3 5%, पश्चिम बगाल मे 2% थी, जबकि सम्पूर्ण भारत की इस काल की प्रगति-दर 3 4% थी । इसी प्रकार, चालू मूल्य पर प्रति व्यक्ति आय का निर्देशाक (समस्त भारत = 100) 1972-73 से 1974-75 के औसत के आधार पर पजाब मे 120 9 महाराष्ट्र मे 108 7 और हरियाणा मे 104 5 था, जबकि कमजोर अव-सरचना वाले राज्यो मे प्रति व्यक्ति आय का निर्देशाक उडीसा मे 61 3, बिहार मे 61 8 केरल एव असम मे 68 4, कर्नाटक मे 70 2 और मध्य प्रदेश मे 71 2 था । पजाब, महाराष्ट्र और हरियाणा को छोडकर प्रति व्यक्ति आय का निर्देशाक अन्य सभी राज्यो मे समस्त भारत के निर्देशाक से कम था । इस प्रकार अव-सरचना का असन्तुलित विकास विभिन्न राज्यो की असमान प्रगति का एक महत्वपूर्ण कारण है ।

35

सार्वजनिक क्षेत्र एवं आर्थिक प्रगति

[PUBLIC SECTOR AND ECONOMIC GROWTH]

विकासशील राष्ट्रों में समस्याओं का सम्मिश्रण कुछ इस प्रकार का होता है कि सार्वजनिक क्षेत्र का व्यापक विस्तार एक अनिवार्य वास्तविकता समझी जाती है। व्यापक निर्धनता, जनसंख्या विस्फोट, बेरोजगारी में निरन्तर वृद्धि, अदृश्य बेरोजगारी की समस्या, अशोषित प्राकृतिक साधन, निर्बल अवसंरचना, विकास के अनुरूप सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाओं का न होना, आर्थिक एवं सामाजिक विषमता आदि बहुत सी ऐसी समस्याएं हैं जिनका निवारण सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार करके ही सम्भव हो सकता है। विकास को गतिशील करने हेतु जिस आर्थिक एवं सामाजिक वातावरण की आवश्यकता होती है, वह विकासशील राष्ट्रों में अनुपस्थित रहता है और विकास के उत्प्रेरक तत्व अत्यन्त क्षीण रहते हैं। इस समस्त वातावरण को विकास के अनुरूप परिवर्तित करने के लिए अर्थव्यवस्था की सामाजिक एवं आर्थिक संरचना को एक बड़े धक्के (Big Push) की आवश्यकता होती है और यह बड़ा धक्का सार्वजनिक क्षेत्र के माध्यम से सरकार की आर्थिक प्रक्रिया में सक्रियता द्वारा ही सम्भव हो सकता है। भारत की अर्थव्यवस्था में विकास एवं वितरण दोनों ही समस्याओं के निवारण हेतु नीतियाँ एवं कार्यक्रम संचालित किये गये हैं। हमारी योजनाओं का एक ओर लक्ष्य तीव्र गति से आर्थिक प्रगति प्राप्त करना और दूसरी ओर प्रगति के लाभों का निर्बल वर्गों के पक्ष में वितरित करना रहा है। इन दोनों ही लक्ष्यों की उपलब्धि के लिए सार्वजनिक क्षेत्र का व्यापक विस्तार किया गया है। इस प्रकार भारत में सार्वजनिक क्षेत्र का आर्थिक एवं सामाजिक महत्व होने के साथ साथ राजनीतिक महत्व भी है।

सार्वजनिक क्षेत्र का महत्व

भारत की अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक क्षेत्र का आर्थिक प्रगति एवं सामाजिक सुरक्षा दोनों दृष्टिकोणों से अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। सार्वजनिक क्षेत्र का महत्व निम्नलिखित कारणों से है

(1) **बड़ा धक्का**—दीर्घकाल से गतिहीन अर्थव्यवस्था को गतिशील करने हेतु एक साथ बहुत अधिक विनियोजन करने की आवश्यकता होती है। बड़े विनियोजन के द्वारा ही अर्थव्यवस्था को बड़ा धक्का प्रदान किया जा सकता है। हमारी अर्थव्यवस्था भी दीर्घकाल के विदेशी शासन काल में लगभग गतिहीन रही और विकास के चक्र को गतिशील करने के लिए बड़े विनियोजन वाले आधारभूत एवं पूंजीगत वस्तुओं के उद्योगों एवं उपरिव्यय सुविधाओं का विस्तार करने की आवश्यकता थी जिसका निर्वाह सार्वजनिक क्षेत्र में ही सम्भव था।

(2) **साधनों का सन्तुलित वितरण**—देश में उपलब्ध उत्पादन के साधनों का पूंजीगत वस्तु क्षेत्र, उपभोग क्षेत्र एवं मानव के कल्याण क्षेत्र में सन्तुलित वितरण हेतु सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार करना आवश्यक है। निजी क्षेत्र द्वारा उत्पादन के साधनों का लाभ हेतु उपयोग किया जाता है जिसके फलस्वरूप उपयुक्त तीनों क्षेत्रों में साधनों का असन्तुलन उदय होता है। प्रायः पूंजीगत वस्तु क्षेत्र एवं मानव कल्याण क्षेत्र में साधनों का प्रवाह कम होता है। इस असन्तुलन को सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार से दूर किया जा सकता है।

(3) **विनियोजन के साधन**—अल्प विकसित राष्ट्रों में विकास विनियोजन हेतु साधन एवं

त्रित करने मे राज्य अधिक प्रभावशाली होता है क्योकि जनसाधारण का निजी क्षेत्र की प्रतिभूतियो की तुलना मे सरकारी क्षेत्र की प्रतिभूतियों मे अधिक विश्वास होता है। यही कारण है कि बहुत मे व्यवसाय इन राष्ट्रो मे सरकारी क्षेत्र मे ही सचालित करना सम्भव होता है जबकि यही व्यवसाय विकसित राष्ट्रो मे निजी क्षेत्र मे सचालित किये जाते है। भारत मे भी सार्वजनिक क्षेत्र को यह सुविधा प्राप्त है।

(4) **आधारभूत, भारी एव उपरिव्यय-सुविधाओं सम्बन्धी उद्योगो मे सार्वजनिक क्षेत्र अधिक उपयुक्त**—विकसित राष्ट्रो मे इन महत्वपूर्ण उद्योगों का सचालन निजी क्षेत्र मे सफलतापूर्वक होता है क्योकि प्रबन्ध, वित्त एव प्रशासन सम्बन्धी कुशलताएँ निजी क्षेत्र मे उच्च स्तर पर विद्यमान रहती हैं। दूसरी ओर, भारत जैसे विकासशील राष्ट्र मे इन उद्योगो का कुशल सचालन सरकारी क्षेत्र मे ही सम्भव हो सकता है।

(5) **रोजगार एव श्रम-कल्याण**—सार्वजनिक क्षेत्र के सामाजिक लाभ आर्थिक लाभो से भी महत्वपूर्ण होते हैं। भारत मे सार्वजनिक क्षेत्र के व्यवसायो मे जहाँ एक ओर रोजगार के अवसरो मे तीव्र गति से वृद्धि हुई है, वही श्रमिको के प्रशिक्षण योग्यता एव कुशलता मे वृद्धि, अभिव्यक्तियो म सुधार तथा सामान्य कल्याण की व्यापक व्यवस्था की गयी है। केन्द्र एव राज्य सरकार तथा अर्द्ध-सरकारी एव स्थानीय सस्थाओ के व्यवसायो मे सन् 1966 के अन्त मे 95 4 लाख लोगो को रोजगार उपलब्ध था जो मार्च, 1971 मे बढकर 107 1 लाख हो गया अर्थात इन पाँच वर्षों मे रोजगार के अवसरो मे 12% की वृद्धि हुई। दूसरी ओर इसी काल मे निजी क्षेत्र के व्यवसायो मे रोजगार के अवसर लगभग 67 लाख ही रहे।

(6) **विदेशी विनिमय का अर्जन**—भारत मे सार्वजनिक क्षेत्र के व्यवसायो द्वारा विदेशी विनिमय का अर्जन भी किया गया है। गत 1965-66 वर्ष मे केन्द्रीय सरकार के सस्थानो द्वारा 4 60 करोड रुपये का विदेशी विनिमय का अर्जन किया गया जो 1967 68 वर्ष मे बढकर 46 62 करोड रुपये हो गया। इस प्रकार सार्वजनिक क्षेत्र के व्यवसाय भविष्य मे देश की विदेशी विनिमय की आवश्यकताओ की पूर्ति मे पर्याप्त योगदान दे सकते हैं। सन 1967 68 वर्ष मे एयर इण्डिया एव शिपिंग निगम द्वारा भी भाडा आदि के रूप मे 54 करोड रुपये का विदेशी विनिमय अर्जित किया गया।

(7) **औद्योगिक सरचना की सुदृढता**—भारत मे सार्वजनिक क्षेत्र के व्यवसायो द्वारा देश की औद्योगिक सरचना को सुदृढ आधार प्रदान किया गया है। सार्वजनिक क्षेत्र मे इस्पात मशीन निर्माण, इजीनियरिंग, खनिज शोधन एव विदोहन, विद्युत-उपकरण आदि के जो व्यवसाय स्थापित किये गये, उनमे नवीन उद्योगो एव व्यवसायो की स्थापना एव विकास मे सहायता व प्रोत्साहन प्राप्त हुआ है। सार्वजनिक क्षेत्र के द्वारा अव-सरचना—यातायात, सचार अधिकोषण, विद्युत-पूर्ति, बीमा—को सुदृढ एव विस्तृत करने से उद्योगो एव व्यवसायो के विस्तार एव विकास मे योगदान प्राप्त हुआ है।

(8) **क्षेत्रीय सन्तुलन**—सार्वजनिक क्षेत्र के व्यवसायो को पिछडे क्षेत्रो मे स्थापित करके उन क्षेत्रो के विकास मे योगदान प्राप्त हुआ है। पिछडे क्षेत्रो मे औद्योगिक व्यवसाय स्थापित करने म पूँजी का अधिक विनियोजन करने की आवश्यकता होती है और लाभ के रूप मे प्रतिफल भी कम प्राप्त होता है परन्तु इन क्षेत्रो मे विकास-प्रक्रिया को गतिशील करने मे सार्वजनिक क्षेत्र के व्यवसाय सहायक होते है। यातायात के साधन के विस्तार से श्रमिको मे गतिशीलता बढती है उद्योगो मे विभिन्नता आती है तथा सहायक उद्योगो का विकास होता है। देश के कई पिछडे हुए क्षेत्र, जैसे भिलाई सार्वजनिक क्षेत्र के व्यवसायो की स्थापना के कारण विकास के केन्द्र बनते जा रहे हैं। यही कारण है कि विभिन्न राज्यो मे सार्वजनिक क्षेत्र के वृहदाकार उद्योगो को अपने-अपने राज्यो मे लाने के लिए कटु प्रतिस्पर्द्धा होने लगी है।

(9) **लाभोपार्जन-क्षमता**—सार्वजनिक क्षेत्र के व्यवसायो की स्थापना केवल वाणिज्यिक विचारधाराओ के आधार पर ही नही की जाती है। इन व्यवसायो की सफलता को उनके अर्जित लाभ से आधार पर आँकना इसी कारण उचित नही होता है। सार्वजनिक क्षेत्र के व्यवसायो का

मूल उद्देश्य समाज में आय एवं अवसर की विषमताओं को कम करना है। यही कारण है कि सार्वजनिक क्षेत्र के व्यवसाय अपने-अपने क्षेत्र के एकाधिकार का लाभ नहीं उठा सकते हैं और अपनी वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य केवल लाभ के दृष्टिकोण से निर्धारित नहीं कर सकते हैं। इस्पात, इंजीनियरिंग वस्तुएँ, तेलशोधन, औषधि एवं रसायन आदि ऐसे उद्योग हैं जिनकी इकाइयाँ सरकारी एवं निजी दोनों ही क्षेत्रों में पायी जाती हैं परन्तु सरकारी क्षेत्र की इकाइयाँ निजी क्षेत्र की इकाइयों के समान लाभोपार्जन करने में समर्थ नहीं हैं। इसका मुख्य कारण निर्मित उत्पादन-क्षमता का पूर्ण उपयोग न हो पाना है। उत्पादन क्षमता का पूर्ण उपयोग अकुशल प्रबन्ध-व्यवस्था, तान्त्रिक त्रुटियाँ, प्रशासनिक अवरोध, मात्रता का त्रुटिपूर्ण आवंटन तथा अपर्याप्त एवं दोषपूर्ण उत्पादन-नियोजन है। यदि इन दोषों को दूर कर दिया जाय तो ये व्यवसाय देश की अर्थ-व्यवस्था के विकास में योगदान देने में समर्थ हो सकते हैं।

(10) **वांछित उद्योगों एवं व्यवसायों का विकास**—सार्वजनिक क्षेत्र के व्यवसायों में सरकार प्राथमिकताओं के अनुसार निर्धारित विकास कर सकती है। साथ ही, इन व्यवसायों से उपलब्ध सेवाओं एवं वस्तुओं की मूल्य एवं पूर्ति-व्यवस्था इस प्रकार नियन्त्रित की जा सकती है कि प्राथमिकता-प्राप्त उत्पादन-क्षेत्रों का लक्ष्य के अनुसार विस्तार एवं विकास हो सके। व्यापारिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण करके इस उद्देश्य की पूर्ति की जा रही है। नियोजित विकास को प्रभावशाली बनाने के लिए सार्वजनिक क्षेत्र का पर्याप्त विस्तार होना अत्यन्त आवश्यक है।

(11) **विषमताओं में कमी**—सार्वजनिक क्षेत्र के व्यवसाय आर्थिक विषमताओं को कम करने में कई प्रकार से योगदान देते हैं। पिछड़े क्षेत्रों में इनकी स्थापना से रोजगार के अवसरों में वृद्धि, पिछड़े क्षेत्रों में उपरिव्यय-सुविधाएँ प्रदान करना आदि विभिन्न क्रियाओं द्वारा आर्थिक विषमताओं में कमी की जाती है। इसके अतिरिक्त सार्वजनिक क्षेत्र के व्यवसाय निजी क्षेत्र की एकाधिकारिक प्रवृत्तियों का टीला करने और कुछ समयापरान्त तोड़ने में सहायक होते हैं। निजी क्षेत्र पर प्रभावशाली नियन्त्रण सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार करके ही सम्भव हो सकता है। निजी क्षेत्र के शोषण-तत्त्व को इस प्रकार आघात पहुँचता है और अर्थ-व्यवस्था में धीरे-धीरे निजी क्षेत्र का राष्ट्रीय आय में अंश कम होता जाता है जो आर्थिक विषमताओं की कमी का द्योतक होता है।

भारत की अर्थ-व्यवस्था में निजी एवं सार्वजनिक क्षेत्र

हमारी अर्थ-व्यवस्था में सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार नियोजित विकास के साथ प्रारम्भ हुआ और एक के बाद दूसरी योजना में सार्वजनिक क्षेत्र का निरन्तर विस्तार होता जा रहा है। सार्वजनिक क्षेत्र में समाजवादी लक्ष्यों की उपलब्धि का एक अनिवार्य अंग समझा जाने लगा है और राज्य अब व्यापार सम्बन्धी क्रियाओं को भी सार्वजनिक क्षेत्र में सम्मिलित करने के लिए उद्यत है।

भारतीय योजनाओं के विनियोजन वितरण की प्रवृत्ति तृतीय योजना तक सरकारी क्षेत्र को नवीन विनियोजन में अधिक भाग देने की रही है। परन्तु चतुर्थ योजना में निजी क्षेत्र के विस्तार के लिए विशेष अवसर प्रदान किये गये हैं। चतुर्थ योजना में निजी क्षेत्र में 8,980 करोड़ रुपये का विनियोजन होने का अनुमान है, जबकि तृतीय एवं द्वितीय योजनाओं में निजी क्षेत्र के विनियोजन की राशि क्रमशः 4,190 तथा 3 100 करोड़ रुपये थी। इस प्रकार चतुर्थ योजना में निजी क्षेत्र के विनियोजन की राशि तृतीय योजना की तुलना में 114% अधिक है। परन्तु पाँचवीं योजना में सार्वजनिक क्षेत्र को फिर से बढ़ा दिया गया है और इस योजना के कुल विनियोजन का 66% भाग सार्वजनिक क्षेत्र में विनियोजित करने का लक्ष्य रखा गया है।

अग्रांकित तालिका (36) के अध्ययन से ज्ञात होता है कि सरकारी एवं निजी क्षेत्र के विनियोजन का अनुपात चतुर्थ योजना में निजी क्षेत्र के अनुकूल है। चतुर्थ योजना में, तृतीय योजना की तुलना में, जहाँ सरकारी क्षेत्र के विनियोजन में 91% की वृद्धि हुई, वहीं निजी क्षेत्र के विनियोजन की राशि में 114% की वृद्धि कर दी गयी है। पाँचवीं योजना में सरकारी क्षेत्र का भाग कुल विनियोजन में, पिछली योजनाओं की तुलना में, सर्वाधिक रखा गया है।

तालिका 36—पांच योजनाओं के अन्तर्गत विनियोजन की प्रवृत्ति

(वृद्धि का प्रतिशत पिछली योजना की तुलना में) (वर्तमान मूल्यों पर करोड़ रुपयों में)

क्षेत्र	प्रथम योजना		द्वितीय योजना		तृतीय योजना		चतुर्थ योजना		पाँचवीं योजना	
	राशि	वृद्धि का प्रतिशत	राशि	वृद्धि का प्रतिशत	राशि	वृद्धि का प्रतिशत	राशि	वृद्धि का प्रतिशत	राशि	वृद्धि का प्रतिशत
1 सरकारी क्षेत्र में विनियोजन	1,560	—	3 671	135	7 129	94	13 655	91	31,400	130
2 निजी क्षेत्र में विनियोजन	1,800	—	3 100	72	4 190	35	8 980	114	16,161	74
3 सरकारी विनियोजन का कुल विनियोजन में प्रतिशत	46	—	54	—	63	—	60	—	66	—
4 निजी क्षेत्र के विनियोजन का कुल विनियोजन से प्रतिशत	54	—	46	—	37	—	40	—	34	—

भारत में निजी क्षेत्र का महत्व सरकारी क्षेत्र की तुलना में आकार, विनियोजन, उत्पादन एवं विनियोजित पूँजी सभी दृष्टिकोणों से अधिक है। प्रथम तीन योजनाओं के 15 वर्षों में निजी क्षेत्र में लगभग 9,000 करोड़ रुपये का विनियोजन किया गया। सम्मिलित क्षेत्र में प्रदत्त पूंजी (Paid-up Capital) सन् 1951 में 750 करोड़ रुपए से बढ़कर सन् 1964 में 1,530 करोड़ रुपए हो गयी। निजी क्षेत्र में इन पन्द्रह वर्षों (सन् 1950-64) में लगभग 6,200 करोड़ रुपये की अतिरिक्त आय उत्पादित की गयी जो इस काल की कुल अतिरिक्त आय का तीन-चौथाई के बराबर है। दूसरी ओर सरकारी व्यापारिक एवं औद्योगिक व्यवसायों में सन् 1951 में कुल विनियोजन 44 करोड़ रुपए था जो सन् 1951-66 के काल में बढ़कर 11,510 करोड़ रुपये हो गया। प्रथम योजना के प्रारम्भ (सन 1951) में निजी क्षेत्र के औद्योगिक क्षेत्र का विनियोजन लगभग 750 करोड़ रुपए था और कृषि, खनिज, अधिकोषण एवं व्यापार, जो निजी क्षेत्र में ही सचालित थे, का कुल विनियोजन लगभग 10,000 करोड़ रुपए अनुमानित था। निजी क्षेत्र का यह विनियोजन सन् 1966 के अन्त तक औद्योगिक क्षेत्र में बढ़कर 9,000 करोड़ रुपये और कृषि, खनिज, अधिकोषण एवं व्यापार में लगभग 25,000 करोड़ रुपये होने का अनुमान है। इस प्रकार हम देखते हैं कि *भारत की नियोजित अर्थ-व्यवस्था में निजी क्षेत्र का विस्तार तीव्र गति से हुआ है।*

यदि हम सरकारी क्षेत्र एवं निजी क्षेत्र के सकल उत्पादन की तुलना करें तो ज्ञात होगा कि सन 1965-66 के अन्त तक सरकारी क्षेत्र देश के कुल सकल राष्ट्रीय उत्पादन का 13.6% ही उत्पादित करता था और शेष 86.4% निजी क्षेत्र में ही उत्पादित होता था। उत्पादन के दृष्टिकोण से भी यह स्पष्ट है कि निजी क्षेत्र का भारतीय अर्थ-व्यवस्था में अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान है। सन 1965-66 में सरकारी क्षेत्र का सकल उत्पादन 3,042 करोड़ रुपये और निजी क्षेत्र का उत्पादन 19,385 करोड़ रुपए था।

हमारे देश में सरकारी क्षेत्र का विस्तार धीरे-धीरे किया जाता है। 14 बड़े व्यापारिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण से सरकारी क्षेत्र का राष्ट्रीय उत्पादन एवं विनियोजन में अंशदान और बढ़ गया है और सरकारी क्षेत्र के विस्तार में सहायता मिली है। सन् 1960-61 में सरकारी क्षेत्र द्वारा देश में सकल राष्ट्रीय उत्पादन का 11% भाग उत्पादित किया गया। यह प्रतिशत सन् 1965-66 में बढ़कर 13.6 हो गया। सरकारी क्षेत्र का विस्तार औद्योगिक व्यवसायों में विशेष रूप से किया गया है।

भारत में सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार द्वितीय योजना से ही प्रारम्भ हो गया था और इसके विस्तार की गति निरन्तर बढ़ती गयी है। गैर-विभागीय केन्द्रीय सार्वजनिक व्यवसायों का गत दो दशकों में विकास निम्नांकित तालिका (37) में दर्शाया गया है

तालिका 37—सार्वजनिक क्षेत्र के गैर-विभागीय व्यवसायों का विकास

काल	कुल विनियोजन (करोड़ रुपए में)	संस्थानों की संख्या
प्रथम योजना के प्रारम्भ में	29	5
द्वितीय योजना के प्रारम्भ में	81	21
तृतीय योजना के प्रारम्भ में	953	48
31-3-1966 को	2,415	74
31-3-1967 को	2,841	77
31-3-1968 को	3,333	83
31-3-1969 को	3,902	85
31-3-1970 को	4,301	91
31-3-1971 को	4,682	97
31-3-1972 को	5,052	101
31-3-1973 को	5,571	113
31-3-1974 को	6,237	122
31-3-1975 को	7,261	129
31-3-1976 को	8,973	129

उक्त तालिका (37) के अध्ययन से ज्ञात होता है कि सन् 1951 से 1976 के काल में केन्द्रीय सार्वजनिक व्यवसायों की संख्या 5 से बढकर 129 हो गयी और इनमें विनियोजन 29 करोड रुपये से बढकर 8,973 करोड रुपये हो गया है। यदि विभागीय व्यवसायों का भी विनियोजन इसमें सम्मिलित कर लिया जाय तो विनियोजन की राशि 15,000 करोड रुपये के लगभग हो जायेगी।

सार्वजनिक क्षेत्र में बड़े उद्योगों में देश की कुल निर्मित क्षमता का अंश निरन्तर बढता जा रहा है और कुछ आधारभूत उद्योगों में तो सार्वजनिक क्षेत्र का एकाधिकार है। यह तथ्य निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट होता है

तालिका 38—वृहद् उद्योगों की उत्पादन-क्षमता में सार्वजनिक क्षेत्र का अंशदान

(सन् 1969-70 के अन्त में)

उद्योग	सार्वजनिक क्षेत्र में देश की उत्पादन-क्षमता का प्रतिशत	निजी क्षेत्र में देश की कुल उत्पादन क्षमता का प्रतिशत
1 इस्पात	64 84	35 16
2 विशेष इस्पात	44 78	55 22
3 एल्यूमिनियम	—	100,00
4 तांबा	—	100 00
5 जस्ता	47 37	52-63
6 सीसा	100 00	—
7 कोयला (उत्पादन)	23 22	76 78
8 विद्युत उत्पादन	90 80	9 20
9 नाइट्रोजियस उर्वरक	50 89	49 11
10 फास्फेटिक उर्वरक	23 44	76 56
11. कच्चा खनिज तेल	98 34	1 66
12 शोधा हुआ खनिज तेल	54 38	45 62
13 खनिज तेल उत्पाद	53 80	46 20

सन् 1965-70 के पश्चात सार्वजनिक क्षेत्र की स्थिति में और सुधार हुआ है। एल्यूमिनियम के कारखानों की स्थापना सार्वजनिक क्षेत्र में की जा रही है तथा कोयला-उत्पादन का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया है।

इस प्रकार सार्वजनिक क्षेत्र का महत्व औद्योगिक क्षेत्र में निरन्तर बढता जा रहा है। परन्तु एशिया के अन्य राष्ट्रों की तुलना में भारत में सरकारी क्षेत्र का आकार बडा नहीं कहा जा सकता है जैसाकि निम्नांकित तालिका (39) में स्पष्ट है

तालिका 39—एशिया के विभिन्न राष्ट्रों में सरकारी क्षेत्र का अधिकार

देश	काल	सकल राष्ट्रीय उत्पादन की तुलना में सरकारी आय और व्यय	
		सरकारी घरेलू आय का सकल राष्ट्रीय उत्पादन से प्रतिशत	सरकारी व्यय का सकल राष्ट्रीय उत्पादन से प्रतिशत
बर्मा	1963	18	29
श्रीलंका	1965	10	19
चीन (ताईवान)	1964	17	22
भारत	1962 63	12	16
पाकिस्तान	1964-65	11	19
फिलीपाइन्स	1965	10	14
थाईलैण्ड	1965	—	15

सार्वजनिक क्षेत्र में लाभोपार्जन

लाभोपार्जन एवं उत्पादन के दृष्टिकोण से भारत में सार्वजनिक केन्द्रीय व्यवसायों की उपलब्धियाँ 1970-71 तक अधिक सन्तोषजनक नहीं रही हैं। सन 1970-71 वर्ष में केन्द्रीय सार्वजनिक व्यवसायों में 2.86 करोड़ रुपये की हानि हुई जो सन् 1971-72 में 22 करोड़ के लाभ में बदल गयी। 1972-73 में इन व्यवसायों में 83 करोड़ रुपये का लाभ हुआ जो सन् 1973-74 में बढ़कर 149 करोड़ रुपये हो गया। सन् 1974-75 में यह लाभ और बढ़ गया तथा 312 करोड़ रुपए हो गया। 1975-76 में लाभ 305 करोड़ रुपये हुआ। लाभ की इस राशि के आधार पर पूँजी पर लाभ की दर 6% से 7% के बीच आती है।

सन 1971-72 तक की हानि गैर-विभागीय, वाणिज्यिक एवं औद्योगिक व्यवसायों से सम्बन्धित है। यदि विभागीय एवं गैर-विभागीय सभी सार्वजनिक व्यवसायों का अध्ययन करें तो ज्ञात होता है कि सन 1971-72 में इन व्यवसायों को 15.4 करोड़ रुपये की हानि हुई जो सन् 1972-73 में 19.8 करोड़ रुपये के लाभ में परिवर्तित हो गयी। सन् 1973-74 में इन व्यवसायों की उपलब्धियाँ और भी उत्साहवर्द्धक रहीं क्योंकि इन्हें 64 करोड़ रुपये का लाभ हुआ। गत 25 वर्षों के काल में सार्वजनिक क्षेत्र के व्यवसायों में 280 करोड़ रुपए की हानि सन् 1972-73 के अन्त तक एकत्रित हो गयी थी जिसका लगभग एक-चौथाई भाग केवल सन् 1973-74 वर्ष के लाभ से अपलिखित करना सम्भव हो सका है। लाभोपार्जन की प्रवृत्ति बराबर बनी हुई है। सार्वजनिक क्षेत्र के विभागीय एवं गैर-विभागीय व्यवसायों की सम्मिलित लाभ-दर उनकी पूँजी पर 6.5% है जो जल्दी ही और अधिक बढ़ने की सम्भावना है। वर्तमान काल में इन व्यवसायों की लाभोपार्जन-क्षमता बढ़ाने में मुद्रा-स्फीति एवं मूल्यों के हेर-फेर ने योगदान दिया है। इन व्यवसायों में निर्मित उत्पादन क्षमता का पूर्णतम उपयोग न होना तथा पूँजी का अतिरेक एवं अकुशल प्रबन्ध-व्यवस्था इनकी लाभोपार्जन-क्षमता को आघात पहुँचाती है और इन दोषों को मूल्यों में हेर-फेर करके दूर नहीं किया जा सकता है। वास्तव में सार्वजनिक क्षेत्र के अकुशल संस्थानों द्वारा मूल्यों में जो हेर-फेर होता है उसका अधिक लाभ निजी क्षेत्र के कुशल संस्थानों को अधिक होता है क्योंकि वह बढ़े हुए मूल्यों पर अपने प्रतिफल में और वृद्धि कर लेते हैं।

हमारे देश में अधिकतर सरकारी औद्योगिक एवं वाणिज्यिक व्यवसाय केन्द्रीय सरकार द्वारा अथवा उसकी भागीदारी से सचालित हैं। केन्द्रीय सरकार द्वारा कुछ व्यवसाय विभागीय स्तर पर, जैसे रेलवे, डाक व तार आदि सचालित हैं, और अन्य बहुत से व्यवसाय सरकारी अथवा सार्वजनिक कम्पनियों के रूप में सचालित हैं। केन्द्रीय सरकार के व्यवसायों की प्रगति अग्राकित तालिका (40) से स्पष्ट है।

इस तालिका के अध्ययन से ज्ञात होता है कि सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों में उत्पादन में वृद्धि हो रही है। 1971-72 में विनियोग-उत्पादन-अनुपात 1 : 78 था जो 1975-76 में बढ़कर 1 : 1.3 हो गया। इस प्रकार सार्वजनिक उद्योगों में किए गए विनियोजन का बहुत उपयोग होना प्रारम्भ हो गया है परन्तु अब भी 1975-76 में 69 प्रतिष्ठानों में 75% उत्पादन-क्षमता का उपयोग होता है जबकि 1974-75 और 1973-74 में क्रमश 54 और 28 प्रतिष्ठानों में 75% उत्पादन-क्षमता का उपयोग किया गया। सार्वजनिक क्षेत्र के प्रतिष्ठानों के निर्यात में भी योगदान बढ़ता जा रहा है। 1973-74 में इन प्रतिष्ठानों ने 675 करोड़ रुपये की वस्तुओं का निर्यात किया जो देश के कुल निर्यात का 26.8% था। 1974-75 और 1975-76 में सार्वजनिक प्रतिष्ठानों का निर्यात क्रमश 1,113 करोड़ रुपया एवं 1,536 करोड़ रुपया था जो देश के कुल निर्यात का क्रमश 33.4% एवं 37.7% था। इस प्रकार देश की निर्यात-आय में सार्वजनिक प्रतिष्ठानों का योगदान निरन्तर बढ़ रहा है। सार्वजनिक प्रतिष्ठानों के कुल विनियोजन में से 82% भाग ऐसे व्यवसायों में किया गया है जो विक्रय-योग्य वस्तुओं का निर्माण करते हैं और शेष 18% सेवा सम्बन्धी व्यवसायों में विनियोजन किया गया है। 1969-70 से 1973-74 तक की अवधि में देश के

तालिका 40—केन्द्रीय सरकार के औद्योगिक एवं वाणिज्यिक संस्थानों की प्रगति
(सन् 1969-70 से 1973-74)

मद	1969-70	1970-71	1971-72	1972-73	1973-74	1974-75	1975-76
1 विनियोजन (करोड़ रुपयों में)	4,301	4,682	5,052	5,571	6,237	7,261	8,973
2. विक्रय (करोड़ रुपयों में)	2,996	3,309	3,974	5,299	6,777	10,217	11,688
3. सकल लाभ (ब्याज एवं कर घटाने के पूर्व) (करोड़ रुपयों में)	139	146	172	245	273	559	668
4. शुद्ध लाभ (कर घटाने के पूर्व) (करोड़ रुपयों में)	14	20	22	83	149	312	305
5. शुद्ध लाभ (कर घटाने के पश्चात्) (करोड़ रुपयों में)	—5	—3	—19	18	64	184	129
6. उत्पादित आन्तरिक साधन (करोड़ रुपयों में)	194	204	215	260	387	580	526
7. उपयोगित पूँजी पर प्रतिफल की दर (प्रतिशत)	4 2	3 9	3 9	5 1	5 2	8 4	7 6
8. रोजगार (लाख में)	6 13	6 60	7 01	9 32	13 1	14·00	15 05

सकल स्थायी पूँजी निर्माण का 42% भाग सार्वजनिक क्षेत्र मे हुआ और 58% भाग निजी क्षेत्र मे हुआ है। इस प्रकार देश मे भारत सरकार सबसे बडी साहसी संस्था बन गयी है जो देश के उत्पादन नियात रोजगार पूँजी निर्माण एव राष्ट्रीय आय मे पर्याप्त योगदान देती है।

नवीन औद्योगिक नीति (1977) मे सार्वजनिक क्षेत्र को सामरिक महत्व के उत्पादन का समाजीकरण करने या साधन एव निजी क्षेत्र मे बडे उपक्रमो एव बडे घरानो की प्रगति पर प्रतिसन्तुलन रखने का अस्त्र माना गया है। सार्वजनिक क्षेत्र का आधारभूत रूप से महत्वपूर्ण एव सामरिक महत्व की वस्तुओ का उत्पादन करने हेतु तथा आवश्यक उपभोक्ता वस्तुओं की पूर्ति बनाय रखने हेतु उपयोग किया जायगा। सार्वजनिक क्षेत्र को विकेन्द्रित उत्पादन के लिए प्रबन्ध एव तकनीकी विशेषज्ञता प्रदान करने का दायित्व दिया जायगा और इस क्षेत्र मे बहुत से सहायक उद्योगो (Ancillary Industries) का विकास किया जायेगा।

जनता पार्टी की आर्थिक नीति के अन्तगत आर्थिक सत्ता के केन्द्रीकरण को, चाहे वह सरकारी क्षेत्र म हो अथवा निजी क्षेत्र मे अच्छा नहीं माना गया है। उत्पादक क्रियाओ का विकेन्द्रीकरण करने को इस नीति मे सर्वाधिक महत्व दिया गया है। इस प्रक्रिया से सार्वजनिक क्षेत्र का और विस्तार अवरुद्ध हो सकता है। परन्तु इस नीति म यह स्पष्ट किया गया है कि औद्योगिक क्षेत्र मे सरकारी क्षेत्र को प्रधानता दी जायेगी और जन-सेवा सम्बन्धी प्रतिष्ठानो के क्षेत्र मे सार्वजनिक क्षेत्र का ही दायित्व रहेगा। इस नीति के फलस्वरूप सावजनिक क्षेत्र का विस्तार जन सेवा सम्बन्धी उपक्रमो मे भी होगा।

भारत मे सार्वजनिक क्षेत्र के व्यवसायो का प्रबन्ध एवं सगठन

भारत मे सार्वजनिक क्षेत्र के व्यवसायो की सगठन व्यवस्था को उनकी प्रकृति, आकार एव उद्देश्य के आधार पर कई रूप दिये गये है। सावजनिक क्षेत्र के सस्थानो का सगठन हमारे देश मे तीन प्रकार का है—(1) विभागीय सगठन, (2) सार्वजनिक कम्पनियाँ, और (3) सार्वजनिक निगम।

1 **विभागीय सगठन**—इसके अन्तगत व्यवसाय को सम्बन्धित विभाग के अधीन सचालित किया जाता है। इसको उक्त विभाग के बजट द्वारा आवटित साधनो म से वित्तीय साधन प्रदान किये जाते है तथा इसका प्रबन्ध एव प्रशासन सरकारी प्रशासनिक अधिकारियो द्वारा किया जाता है। इन व्यवसायो की आय सरकार की सामान्य आय का भाग समझी जाती है। इन व्यवसायो मे बजट-लेखाकन-पद्धति अपनायी जाती है और इनका अंकेक्षण अन्य सरकारी विभागों के समान किया जाता है। इन सस्थानो को अन्य सरकारी विभागो के समान कर एव वैधानिक छूटें उपलब्ध रहती हैं।

विभागीय सगठन के अन्तगत दो प्रकार की व्यवस्था पायी जाती है। कुछ व्यवसायो मे निर्देशन, नियन्त्रण एव सचालन का उत्तरदायित्व विभागाध्यक्ष पर छोड दिया जाता है, जबकि कुछ अन्य व्यवसायो के सम्बन्ध मे यह उत्तरदायित्व एव आयोग अथवा बोर्ड को सौप दिये जाते हैं। इस आयोग अथवा बोर्ड मे उन सभी विभागो के प्रतिनिधि रहते है जिनमे व्यवसाय का सम्बन्ध रहता है। *इस प्रकार अन्तर मन्त्रालय बोर्ड अथवा आयोग को विभागाध्यक्षो की तुलना मे अधिक अधि*कार दिये जाते हैं और यह स्वतन्त्र रूप से निर्णय ले सकते हैं। भाखडा कण्ट्रोल बोर्ड, हीराकुड कण्ट्रोल बोड तथा भारतीय रेलवे बोर्ड इसी प्रकार के बोर्ड है।

राजनीतिक हस्तक्षेप लालफीताशाही, वित्तीय एव प्रशासनिक मामलो मे लचीलेपन की कमी और सरकारी अधिकारियों की व्यवसाय प्रबन्ध मे अनुभवहीनता आदि दोषो से विभागीय सगठन पीडित रहता है जिसके परिणामस्वरूप इन व्यवसायो को राजकोषीय एव वैधानिक छूटें प्राप्त होते हुए भी व्यावसायिक दृष्टिकोण से सफलतापूवक सचालित करना सम्भव नही होता है।

2 **सार्वजनिक कम्पनियाँ**—सार्वजनिक व्यवसायो का सगठन सार्वजनिक कम्पनियो के रूप मे भारत मे सर्वाधिक उपयुक्त समझा जाता है। सावजनिक कम्पनी के प्रबन्ध एव पूँजी की व्यवस्था मे अधिक लचीलापन होना है जिसकी अनुपस्थिति अन्य प्रकार के सगठनो मे कठिनाई उत्पन्न करती

है। सार्वजनिक कम्पनी कोई नवीन संगठन नहीं है परन्तु इनका सरकारी क्षेत्र में उपयोग एक नवीन व्यवस्था अवश्य समझी जा सकती है। सरकारी सार्वजनिक कम्पनियों की स्थापना भी भारतीय कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत की जाती है। इनकी निम्नलिखित विशेषताएँ हैं

(1) इनकी स्थापना भारतीय कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत निजी अथवा सार्वजनिक (Private or Public) कम्पनी के रूप में की जाती है। इनमें सरकार के अतिरिक्त निजी साहसियों—देशी अथवा विदेशी—को भी अंशधारी बनाया जाता है। परन्तु सरकार इनमें इतने अंश धारण करती है कि वह बहुमत के आधार पर नियन्त्रण कर सके। सरकारी कम्पनी वही कम्पनी कहलाती है जिसमें केन्द्र एवं राज्य सरकारों द्वारा मिलकर 51% से अधिक अंश-पूँजी प्रदान की गयी हो।

(2) सरकारी अंश भारत के राष्ट्रपति के नाम पर आवंटित किये जाते हैं। सम्बन्धित केन्द्रीय अथवा राज्य सरकार के मन्त्रालय का प्रमुख अधिकारी राष्ट्रपति के नाम पर अंशधारी के अधिकारों का प्रयोग करता है।

(3) इनका प्रबन्ध संचालक मण्डल द्वारा किया जाता है। इसमें सरकार एवं अन्य निजी क्षेत्र के अंशधारियों के प्रतिनिधि रहते हैं।

(4) अन्य कम्पनियों के समान सरकारी कम्पनियों का वैधानिक अस्तित्व होता है जिससे यह अपने नाम से समस्त कार्य करती है।

(5) इन कम्पनियों का अंकेक्षण भारत सरकार के महाअंकेक्षक (Auditor General) के निर्देशों के अधीन किया जाता है। इनके लिए अंकेक्षक की नियुक्ति भारत सरकार द्वारा अपने महाअंकेक्षक के परामर्श से की जाती है। नियुक्त अंकेक्षक अपने प्रतिवेदन की एक प्रतिलिपि महाअंकेक्षक के पास भेजता है जो इस पर अपनी टिप्पणी दे सकता है अथवा उसमें परिवर्तन भी कर सकता है।

(6) जिन कम्पनियों में केन्द्रीय सरकार अंशधारी है, उनके वार्षिक प्रतिवेदन को अंकेक्षक के प्रतिवेदन सहित संसद के दोनों सदनों में प्रस्तुत किया जाता है। यदि राज्य सरकार भी इनकी अंशधारी है तो वार्षिक प्रतिवेदन राज्य के विधानमण्डल के दोनों सदनों में प्रस्तुत किया जाता है।

(7) केन्द्रीय सरकार सरकारी गजट में सूचना प्रकाशित करके यह निर्देश दे सकती है कि कम्पनी अधिनियम की निर्दिष्ट धाराएँ सरकारी कम्पनियों में या तो बिलकुल लागू नहीं होंगी अथवा संशोधित रूप में लागू होंगी।

सार्वजनिक क्षेत्र के लिए सरकारी कम्पनियों की उपयुक्तता—देश के औद्योगिक विकास को गतिशील करने के लिए सार्वजनिक क्षेत्र में बहुत से संस्थान स्थापित किये गये हैं। इनमें से अधिकतर संस्थान सरकारी कम्पनी के रूप में स्थापित हुए हैं। निम्नलिखित कारणों से सरकारी कम्पनियों को सार्वजनिक क्षेत्र के व्यवसायों के लिए उपयुक्त माना गया है

(1) औद्योगिक व्यवसायों के लिए जितनी पूँजी की आवश्यकता होती है, वह पूर्णरूप से सरकारी साधनों में उपलब्ध न होने के कारण निजी पूँजी को आकर्षित करना आवश्यक है। सरकारी प्रतिभूतियों द्वारा पूँजी पर्याप्त मात्रा में आकर्षित करना सम्भव न होने के कारण सरकारी कम्पनियों के अंशों के रूप में निजी पूँजी प्राप्त करना सम्भव हो सका है।

(2) विदेशी पूँजी को आकर्षित करने में सरकारी कम्पनियों का विशेष योगदान रहा है। विदेशी पूँजीपति सरकारी कम्पनियों में अंशधारी बनना अधिक अच्छा मानते हैं क्योंकि इनके अन्तर्गत स्थापित व्यवसायों को सरकारी संरक्षण प्राप्त होता है और पूँजी एवं लाभांश अधिक सुरक्षित रहता है।

(3) सरकारी कम्पनियों के माध्यम से विदेशी सहयोग (Collaboration) सम्भव हो सका है। विदेशी सहयोग के अन्तर्गत विदेशी पूँजी के अतिरिक्त विदेशी तान्त्रिक ज्ञान भी उपलब्ध

हो सका है। केन्द्र अथवा राज्य सरकार एव विदेशी साहसी को मिलाकर निजी कम्पनियो की स्थापना करना अत्यन्त सरल होता है।

(4) सरकारी कम्पनी की स्थापना मे वैज्ञानिक सुविधा रहती है। इसकी स्थापना करने के लिए विशेष अधिनियम पारित करने की आवश्यकता नही होती है और प्रशासनिक अधिकारियो के निर्णय पर इनकी स्थापना शीघ्रता मे की जा सकती है।

(5) जब सरकार किसी ऐसे क्षेत्र मे विकास को गतिशील करना चाहती है जिसमे निजी साहसी अभी तक आगे नही आयें है और इन क्षेत्रो मे सरकार स्थायी रूप से रहना नही चाहती है तो सरकारी कम्पनियो की स्थापना की जाती है। जैसे ही ये कम्पनियाँ सुदृढ हो जाती हैं, सरकार इनको निजी क्षेत्र मे हस्तान्तरित कर सकती है। स्वामित्व के इस परिवर्तन के लिए कोई वैधानिक कार्यवाही नही करनी पडती।

(6) राष्ट्रीय महत्व के व्यवसायो के प्रबन्ध एव वित्त व्यवस्था मे सुधार करने के लिए सरकार इनमे अशधारी के रूप मे प्रविष्ट हो जाती है और उनके सचालन को जन-हित के अनुरूप कर सकती है।

(7) निजी कम्पनी के सगठन मे कम से कम दो सदस्य एव अशो के अहस्तान्तरणीयता के दो ऐसे गुण होते है जिनसे सार्वजनिक व्यवसायो के लिए यह उपयुक्त समझी जाती है। न्यूनतम सदस्य-सख्या केवल दो होने के कारण सरकार को इनकी स्थापना मे कोई कठिनाई नही होती है। किसी भी एक विदेशी पूंजीपति के साथ मिलकर सरकार निजी कम्पनी की स्थापना कर सकती है। अशो के हस्तान्तरण पर प्रतिबन्ध होने के कारण कम्पनी के अस्तित्व को कोई खतरा नही होता है।

(8) सरकारी कम्पनी सार्वजनिक व्यवसायो को निजी क्षेत्र के लचीलेपन और सरकारी प्रशासन के सरक्षण तथा जनप्रतिनिधियो के प्रति उत्तरदायित्व दोनो ही गुणो का लाभ प्रदान करती है जो प्रजातान्त्रिक सरचना के अनुकूल होते है।

3 **सार्वजनिक निगम**—विकासशील राष्ट्रो मे राज्य की आर्थिक क्रियाओ का तीव्र गति मे विस्तार होने के कारण कई क्षेत्रो मे राज्य को एकाधिकार का लाभ प्राप्त नही होता है और राज्य को इन क्षेत्रो मे निजी क्षेत्र के साथ प्रतिस्पर्द्धा करने की आवश्यकता होती है। निजी क्षेत्र से प्रतिस्पर्द्धा करने की क्षमता तभी उपलब्ध हो सकती है जबकि सार्वजनिक क्षेत्र के व्यवसायो के प्रबन्ध एव सगठन मे उन गुणो का समावेश हो जो निजी क्षेत्र मे विद्यमान रहते हैं। निजी क्षेत्र मे कार्य करने की स्वतन्त्रता, शीघ्र निर्णय करने की स्वतन्त्रता, सीमित साधनो का मितव्ययतापूर्ण उपयोग, प्रारम्भिकता को प्रोत्साहन तथा लागत को कम करने एव लाभ बढाने हेतु नवीन विधियो के खोजने की तत्परता विद्यमान रहती है। विभागीय स्तर पर सचालित सरकारी व्यवसायो मे कठोर सरकारी नियमन एव नियन्त्रण होने के कारण निजी क्षेत्र के उपर्युक्त गुणो का अभाव रहता है। दूसरी ओर, सार्वजनिक सरकारी कम्पनियो मे कार्य एव निर्णय की स्वतन्त्रता के साथ उन पर ससदीय नियन्त्रण की कमी रहती है क्योकि ये किसी विशेष अधिनियम के नियमो के अधीन सचालित नही होती है और न ही इन पर विभिन्न मन्त्रालयो का प्रत्यक्ष नियन्त्रण रहता है। विभागीय सगठन एव सरकारी कम्पनी सगठन-व्यवस्था के दोषो से बचने के लिए सार्वजनिक निगमो की स्थापना की जाती है। हमारे देश मे गत 25 वर्षो मे बहुत से सार्वजनिक निगम स्थापित किये गये है। सार्वजनिक क्षेत्र के व्यवसायो को लोकसभा अथवा विधानसभा द्वारा निर्धारित नीतियो के अन्तर्गत इस प्रकार सचालित करने के लिए कि उनके दिन-प्रतिदिन के कार्य मे सरकारी हस्तक्षेप न हो, सार्वजनिक निगमो की स्थापना की जाती है। सार्वजनिक निगमो का प्रथम वैधानिक अस्तित्व होता है। यद्यपि इनका निर्माण सरकार द्वारा किया जाता है परन्तु ये सरकारी सगठन का अग नही होते हैं। वित्तीय दृष्टिकोण से यह स्वतन्त्र होते हैं और इनको अधिनियम द्वारा निर्धारित क्रियाएँ निर्धारित विधि के अनुसार करनी होती है। सार्वजनिक निगमो की मुख्य विशेषताएँ अग्रवत् है

(1) **अधिनियम द्वारा स्थापना**—सार्वजनिक निगम की स्थापना लोकसभा द्वारा पारित विशेष अधिनियम के अधीन की जाती है। प्रत्येक निगम के लिए पृथक् अधिनियम पारित किया जाता है। अधिनियम में निगम के उद्देश्य, सत्ताएँ, कार्य, प्रबन्ध का स्वरूप, वैधानिक सामान्य नियमों से छूट तथा विभिन्न विभागों एवं मन्त्रालयों से सम्बन्ध निर्धारित किये जाते हैं। निगम का वैधानिक अस्तित्व होता है और वह एक कृत्रिम व्यक्ति के रूप में कार्य करता है।

(2) **स्वायत्तता**—सार्वजनिक निगम स्वायत्त-सम्पन्न संस्था होती है। इसके आय-व्यय का अनुमान सरकारी बजट में सम्मिलित नहीं किया जाता है। अधिनियम के अन्तर्गत यह निर्धारित सत्ताओं का उपयोग स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकता है।

(3) **लोकसभा के प्रति उत्तरदायी**—सार्वजनिक निगम अपने क्रियाकलाप के सम्बन्ध में लोकसभा के प्रति उत्तरदायी अथवा लोकसभा द्वारा निर्धारित अन्य अधिकारी के प्रति उत्तरदायी होते हैं। परन्तु यह सरकारी संगठन का अंग नहीं होते हैं। सरकार को निगम के कार्य में प्रत्यक्ष रूप से हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं होता है। सरकार अधिनियम द्वारा निर्धारित मामलों में ही निगम को निर्देश दे सकती है।

(4) **कर्मचारी सरकारी कर्मचारी नहीं**—निगम के कर्मचारी एवं अधिकारी सरकारी कर्मचारी नहीं होते हैं। उनका पारिश्रमिक, वेतनमान, नियुक्ति की शर्तें आदि निगम द्वारा निर्धारित की जाती हैं।

(5) **निगम के कार्य के लिए सरकार उत्तरदायी नहीं**—निगम द्वारा किये गये कार्य के लिए सरकार उत्तरदायी नहीं होती क्योंकि निगम का सरकार से पृथक् अस्तित्व होता है। समामेलित संस्थाओं के समान यह एक वैधानिक व्यक्ति होता है जिसमें शाश्वत उत्तराधिकार का गुण विद्यमान रहता है।

(6) **वित्तीय मामलों में स्वतन्त्रता**—जिस अधिनियम के अन्तर्गत निगम की स्थापना की जाती है उसमें निगम के वित्तीय स्रोतों का भी उल्लेख किया जाता है। अधिनियम से यह निर्धारित किया जाता है कि सरकार द्वारा निगम को सम्पूर्ण अथवा आंशिक रूप से आवश्यक वित्त प्रदान किया जायेगा। सरकार निर्धारित वित्त की व्यवस्था अपने बजट में में करती है। एक सार्वजनिक निगम के वित्त के स्रोत—सरकार से ऋण, जनता से ऋण तथा वस्तुओं एवं सेवाओं के विक्रय से प्राप्त आय आदि—होते हैं। ऐसे निगमों को जो समाज-सेवा एवं कल्याण हेतु स्थापित किये जाते हैं, सरकार के द्वारा अनुदान प्रदान किया जाता है। इन निगमों को उपहार एवं दान लेने का भी अधिकार रहता है। अधिनियम के अन्तर्गत इनकी आय का कुछ भाग प्रति वर्ष सरकार को हस्तान्तरित करने का आयोजन किया जा सकता है। सार्वजनिक निगमों में सरकारी बजट के समान लेखांकन एवं अंकेक्षण की व्यवस्था नहीं होती है। परन्तु इनका अंकेक्षण महाअंकेक्षक के अधीन ही रहता है। जनकोषों (Public Funds) के व्यय के सम्बन्ध में जो सरकारी नियम एवं प्रतिबन्ध होते हैं, उनसे यह मुक्त रहते हैं जिससे यह निजी उपक्रमों के समान व्यावसायिक क्रियाएँ कर सकने में समर्थ होते हैं।

(7) **सरकार का सम्पूर्ण स्वामित्व**—सार्वजनिक निगमों का स्वामित्व सम्पूर्ण रूप से सरकार का होता है। निजी संस्थाएँ निगमों को आंशिक अथवा सम्पूर्ण पूँजी प्रदान कर सकती हैं परन्तु निजी संस्थाओं को अंशधारी के अधिकार, वोट देने का अधिकार, नियन्त्रण का अधिकार, संचालकों की नियुक्ति का अधिकार, लाभ में भाग पाने का अधिकार आदि प्राप्त नहीं होते हैं। अंशधारियों एवं स्टॉकधारियों की स्थिति केवल ऋणदाता जैसी होती है और उन्हें ब्याज पाने का अधिकार होता है। इस प्रकार निगम को या तो सरकार द्वारा सम्पूर्ण वित्त प्रदान किया जाता है या फिर अधिनियम के अन्तर्गत अंश अथवा स्टॉक उपर्युक्त शर्तों के अधीन जारी कर सकते हैं। निगमों के वित्त के सम्बन्ध में सरकार का ही उत्तरदायित्व अन्तिम होता है।

(8) **प्रबन्धकीय कुशलता**—निगमों के प्रबन्ध एवं संचालन के लिए सरकार द्वारा संचालक-

मण्डल की स्थापना की जाती है। सचालक मण्डल मे सार्वजनिक एव निजी क्षेत्र के योग्य व्यक्ति नियुक्त किये जा सकते है। सचालक मण्डल निगम के प्रवन्घ के सम्वन्ध मे अधिनियम के अधीन स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करता है।

(9) **राजनीतिक प्रभावो एव नौकरशाही से मुक्ति**—सार्वजनिक निगमो को वैधानिक स्वायत्तता होने के कारण दिन प्रतिदिन के कार्य मे राजनीतिक दबाव से मुक्त रहना सम्भव हो सकता है। दूसरी ओर, केवल सरकारी अधिकारियो के हाथ मे प्रवन्ध न होने के कारण इनमे नौकरशाही एव बुर्जुआपन का बोलवाला नही रहता है। यह अपने नियम एव उपनियम बनाने मे स्वतन्त्र होते है जिससे औपचारिक जटिलताओ से मुक्त रह सकते है।

(10) **व्यावसायिक सिद्धान्तो के आधार पर सचालन**—सार्वजनिक निगमो के माध्यम से सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमो का सचालन व्यावसायिक सिद्धान्तो के आधार पर करना सम्भव हो सकता है क्योकि निगमो को वहुत से सरकारी नियमो एव प्रतिबन्धो से मुक्ति रहती है। यह जन-कल्याण एव व्यावसायिक दोनो ही प्रकार की क्रियाओ के लिए उपयुक्त होते हैं।

हमारे देश मे बहुत से आर्थिक एव व्यावसायिक सस्थान सार्वजनिक निगम के रूप मे सचालित है। गत पच्चीस वर्षा मे निगमो की सख्या निरन्तर बढती जा रही है। यद्यपि सार्वजनिक निगम सार्वजनिक क्षेत्र एव निजी क्षेत्र दोनो के गुणो एव विशेषताओ से सम्पन्न रहते हैं परन्तु व्यवहार मे निगमो मे राजनीतिक हस्तक्षेप एव सरकारी नौकरशाही का बोलबाला रहता है। सचालक मण्डल मे सरकारी प्रतिनिधियो का प्रभाव अधिक रहता है और निजी क्षेत्र से ऐसे लोगो को ही लिया जाता है जो वास्तव मे सरकारी प्रतिनिधियो के अधीन कार्य करते है। इसके अतिरिक्त निगमो के क्रियाकलाप सम्वन्धित अधिनियम से सीमाबद्ध होने के कारण इनकी कार्यविधि मे लचीलापन नही पाया जाता है। सचालक मण्डल मे मनोनीत निजी क्षेत्र के लोग इनमे आर्थिक हित न होने के कारण अपनी योग्यता का पूर्ण लाभ निगमो को प्रदान नही करते है। इसके अतिरिक्त निगमों के सचालक मण्डल मे नियुक्तियाँ अल्पकाल के लिए की जाती है जिसके फलस्वरूप ये लोग विशेष रुचि से अपना कार्य नही करते हैं। इन्ही कारणो से हमारे देश मे निगमो का सचालन कुशलता से नही हो पा रहा है।

सार्वजनिक क्षेत्र मे मूल्य-निर्धारण

सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमो के सम्बन्ध मे अब यह विवाद लगभग समाप्त हो गया है कि इनको लाभ हानि रहित सिद्धान्त के आधार पर सचालित किया जाय क्योकि इनका उद्देश्य लाभार्जन न होकर समाज कल्याण एव सामाजिक न्याय होता है। अब यह सामान्यत स्वीकार किया जाने लगा है कि सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमो और विशेषकर व्यावसायिक उपक्रमो की कार्य-कुशलता का मूल्याकन उनके लाभ के आधार पर किया जाना चाहिए क्योकि इन उपक्रमो का लाभ जन-हित एव समाज कल्याण का एक साधन होता है। वास्तव मे सार्वजनिक उपक्रमो को निजी क्षेत्र के उपक्रमो के समान चारो परीक्षणो—कुशलता, लाभ सेवा एव तान्त्रिक प्रगति—को सन्तुष्ट करना चाहिए। परन्तु इन परीक्षणो का मूल्याकन करते समय सार्वजनिक उपक्रमो के सामाजिक लाभ एव लागत को विचाराधीन करना आवश्यक होना है। आधुनिक युग मे अर्थशास्त्र के क्षेत्र मे सामाजिक लाभ एव लागत के मूल्याकन एव परिमाणाकन की वहुत सी तकनीके विकसित की गयी है जिनकी सहायता से सार्वजनिक उपक्रमो की आर्थिक एव सामाजिक लागत एव लाभ का अनुमान लगाया जा सकता है और इन उपक्रमो की कार्य-कुशलता का मूल्याकन किया जा सकता है। ऐसी परिस्थिति मे यह मान लेना कि सार्वजनिक उपक्रम सामाजिक लाभ प्रदान करते हैं, इसलिए उनको आर्थिक लाभ न होते हुए भी उन्हे अकुशल नही समझना चाहिए, एक भ्रमात्मक दलील ही मानी जानी चाहिए। यदि सार्वजनिक व्यवसाय लाभोपार्जन नही करते है तो एक ओर विकास के लिए अर्थ साधन का यह स्रोत अवशोषित नही हो पाता है और दूसरी ओर सार्वजनिक क्षेत्र के सस्थानो को निजी क्षेत्र के कुशल सस्थानो से वचत प्राप्त करके साधन प्रदान करने

पड़ते है जिससे विकास की गति मन्द होती है। इसके साथ ही सार्वजनिक उपक्रमों के क्रियाकलाप का मूल्यांकन करने का एक सरल माध्यम (लाभ) उन लोगों को उपलब्ध नहीं होता जो सार्वजनिक क्षेत्र को साधन प्रदान करते हैं। हमारे देश में सार्वजनिक क्षेत्र के मूल्य एवं लाभ के सम्बन्ध में दो विचारधाराएँ पायी जाती हैं। एक विचारधारा के अनुसार सार्वजनिक क्षेत्र में उत्पादित वस्तुओं एवं सेवाओं का मूल्य 'आर्थिक मूल्य' होना चाहिए अर्थात् इस मूल्य द्वारा उत्पादन लागत एवं प्रतिस्थापन-विचार एवं निर्वाह-व्यय की पूर्ति होनी चाहिए और लाभ को मूल्य में कोई स्थान नहीं मिलना चाहिए। दूसरी विचारधारा के अनुसार सार्वजनिक व्यवसायों का संचालन इस प्रकार किया जाना चाहिए कि उनसे नियोजित लाभ प्राप्त हो सके अर्थात् आर्थिक लागत में लाभ का अंश जोड़ दिया जाना चाहिए। लाभ का अंश निजी क्षेत्र के समान प्रतिस्पर्द्धा के आधार पर निर्धारित नहीं किया जा सकता क्योंकि सार्वजनिक क्षेत्र के अधिकतर व्यवसायों में एकाधिकार का गुण विद्यमान रहता है। जिन सार्वजनिक व्यवसायों में एकाधिकार का गुण नहीं है, उनके मूल्यों का निर्धारण प्रतिस्पर्द्धा को ध्यान में रखकर ही करना उचित होगा। दूसरी ओर, एकाधिकार वाले व्यवसायों में मूल्य-निर्धारण करते समय लाभ का परिमाण आर्थिक एवं सामाजिक न्याय के आधार पर निर्धारित होना चाहिए। सार्वजनिक क्षेत्र के व्यवसायों में निम्नलिखित विधियों से मूल्य निर्धारित किये जाते हैं

(1) **प्रतिस्पर्द्धी मूल्य**—ऐसे व्यवसायों में, जिन्हें निजी क्षेत्र के साथ प्रतिस्पर्द्धा करनी होती है, प्रतिस्पर्द्धियों के मूल्यों के आधार पर मूल्य निर्धारण होना चाहिए। परन्तु सार्वजनिक क्षेत्र केवल लाभार्जन के दृष्टिकोण से मूल्य निर्धारित नहीं कर सकता है। उसे अपने अन्तिम लक्ष्यों को भी ध्यान में रखना होता है। यदि सार्वजनिक क्षेत्र के व्यवसायों को निजी क्षेत्र की एकाधिकारी शोषण-शक्ति को समाप्त करना हो तो लाभ-रहित अथवा न्यूनतम लाभ-सहित मूल्य निर्धारित किये जा सकते हैं जिससे वस्तुओं एवं सेवाओं को समाज के वांछित वर्ग को उचित मूल्यों पर उपलब्ध कराया जा सके।

(2) **लाभ-मूल्य**—जब सार्वजनिक व्यवसायों को अपने क्षेत्र में एकाधिकार प्राप्त हो तो वह लाभ-मूल्य निर्धारित कर सकते हैं। परन्तु लाभ-मूल्य एकाधिकारी लाभ को *अधिकतम रखने* के उद्देश्य से निर्धारित नहीं किया जा सकता है और न ही यह मूल्य व्यवसाय की अकुशलता को छिपाने के लिए ही निर्धारित किया जा सकता है। लाभ-मूल्य इसीलिए नियोजित लाभ एवं उपभोक्ता के हितों को ध्यान में रखकर निर्धारित किये जाने चाहिए। नियोजित लाभ से तात्पर्य उस लाभ से है जो विकास-कार्यक्रमों के संचालन हेतु व्यवसाय के योगदान के रूप में निर्धारित किया जाय। दूसरी ओर, *उपभोक्ता के हितों को जानने के लिए यह जानना आवश्यक होगा कि किस* वर्ग के लोग उस वस्तु एवं सेवा का किस-किस उद्देश्य के लिए उपयोग करेंगे। उपभोक्ता-वर्ग की क्रय-क्षमता एवं वस्तु-सेवा के उपयोग से प्राप्त होने वाली आय के आधार पर सार्वजनिक क्षेत्र में मूल्यों का निर्धारण होना चाहिए।

(3) **लाभ हानि रहित मूल्य**—लाभ-हानि रहित मूल्य को उत्पादन-लागत, प्रतिस्थापन-व्यय एवं निर्वाह व्ययों को सम्मिलित करके निर्धारित किया जाता है। इस आधार पर मूल्य में लाभ के अंश को स्थान नहीं दिया जाता है। यह मूल्य-नीति ऐसे व्यवसायों में अपनायी जानी चाहिए जिनका अन्तिम लक्ष्य विपन्न-वर्ग को सामाजिक एवं आर्थिक न्याय प्रदान करना हो।

(4) **अधिकतम लाभ-मूल्य**—कुछ लोगों का विचार है कि सार्वजनिक क्षेत्र के व्यवसायों का संचालन भी निजी क्षेत्र के व्यवसायों के समान किया जाना चाहिए अर्थात् प्रतिस्पर्द्धा में अपनी स्थिति के अनुसार उन्हें अपनी सेवाओं एवं वस्तुओं के *मूल्य अधिकतम लाभ* पर निर्धारित करने चाहिए। परन्तु यह विचारधारा सार्वजनिक क्षेत्र के कल्याण एवं न्याय-पक्ष को भुला देती है। वास्तव में सार्वजनिक क्षेत्र का उद्देश्य निजी क्षेत्र के समान केवल लाभोपार्जन करना नहीं हो सकता है। सार्वजनिक क्षेत्र को सामाजिक कल्याण, *सामाजिक न्याय तथा विकास को गतिशील* करने के उद्देश्यों की पूर्ति करनी होती है।

(5) **सीमान्त उत्पादन-लागत-मूल्य**—कुछ अर्थशास्त्रियो का विचार है कि सार्वजनिक क्षेत्र मे मूल्यो का निर्धारण *सीमान्त उत्पादन-लागत पर किया जाना चाहिए जिसमे उत्पादन के* समस्त साधनो का अधिकतम उपयोग किया जा सके और अधिकतम उत्पादन प्राप्त किया जा सके। परन्तु *सीमान्त उत्पादन-लागत का ठीक-ठीक निर्धारण सम्भव नही होता है क्योकि सीमान्त लागत मे* विकास की गति के साथ परिवर्तन होना स्वाभाविक होता है। जिन व्यवसायो मे विभिन्न प्रकार की वस्तुओ एव सेवाओ का निर्माण होता है, वहाँ सीमान्त लागत निर्धारित करना और भी कठिन होता है। सीमान्त लागत के स्थान पर औसत लागत का उपयोग मूल्य-निर्धारण के लिए किया जा सकता है। परन्तु मूल्य निर्धारित करते समय उत्पादन के विभिन्न आदायो का ठीक-ठीक अनुमान लगाना कठिन होता है।

(6) **विभेदात्मक मूल्य**—उत्पादित वस्तुओ एव सेवाओ को उपभोक्ता एव उत्पादन-वस्तुओ के रूप मे वर्गीकृत करके अथवा इन वस्तुओ एव सेवाओ के उपभोक्ताओ का वर्गीकरण करके विभेदात्मक मूल्य निर्धारित किये जा सकते है। वस्तुओ का मूल्य तभी कम लिया जाय, जबकि उनका उपयोग उत्पादक करते हो तथा उपभोक्ताओ द्वारा इनका उपयोग होने पर अधिक मूल्य लगाया जाय। इस प्रकार विद्युत, कोयला, जलपूर्ति आदि के उपभोक्ता एव उत्पादक दो मूल्य निर्धारित किये जा सकते है। इसके अतिरिक्त विभेदात्मक रूप से प्राथमिकता-प्राप्त क्षेत्र के लिए कम और अन्य क्षेत्रो के लिए अधिक मूल्य निर्धारित किये जा सकते है, जैसा कि हमारे देश मे इस्पात के मूल्यो के सम्बन्ध मे किया गया है। *विभेदात्मक मूल्य-नीति का सचालन अत्यन्त नियन्त्रित बाजार के* अन्तर्गत ही किया जा सकता है।

हमारे देश मे *सार्वजनिक क्षेत्र मे मूल्यो का निर्धारण वस्तु के प्रकार, प्रतिस्पर्द्धा की स्थिति तथा सामाजिक न्याय को ध्यान मे रखकर किया जाता है।* उपभोक्ता-वस्तुओ के मूल्य प्राय प्रतिस्पर्द्धा के आधार पर निर्धारित होते है। दूसरी ओर, आधारभूत उत्पादक-वस्तुओ के मूल्यो का निर्धारण साधनो के प्रवाह को ध्यान मे रखकर किया जाता है, जैसे रासायनिक खाद के मूल्यो को इस प्रकार निर्धारित किया जाना है कि कृषक उसका उपयोग करने के लिए प्रोत्साहित हो। नियोजित अर्थ-व्यवस्था मे मूल्यो का सबसे बडा कार्य साधनो का वाछित क्षेत्रो मे प्रवाहित करना होता है। यही कारण है कि मूल्यो को माँग एव पूर्ति पर निर्धारित होने को नही छोड दिया जाता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए मूल्य-निर्धारण का कार्य समन्वित रूप मे किया जाना चाहिए और इस सम्बन्ध मे अन्तिम निर्णय सरकार अथवा योजना-आयोग को लेना चाहिए। सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार के साथ *मूल्य-निर्धारण की समस्या गम्भीर होती जाती है। इस समस्या के* निवारण हेतु योजना-आयोग को विशेष अध्ययनो के आधार पर विभिन्न वस्तुओ एव सेवाओ के छाया मूल्य निर्धारित करने चाहिए और इन्ही को वास्तविक मूल्य-निर्धारण का आधार बनना चाहिए।

भारत मे सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमो का सचालन उतनी सफलता से नही किया जा सका है जितनी सम्भावना की जाती थी। सार्वजनिक क्षेत्र की औद्योगिक परियोजनाओ के सम्बन्ध मे योजनाएँ एव निर्माण का कार्यक्रम ठीक से न बनाये जाने के कारण निर्माणकाल बढ जाता है और विभिन्न परियोजनाओ मे समन्वय भी स्थापित नही हो पाता है। हमारे देश मे सार्वजनिक क्षेत्र की परियोजनाओ के आकार पर विशेष ध्यान दिया गया है और बडे से बडे आकार की परियोजनाओ को अधिक प्राथमिकता प्रदान की गयी है। बडे आकार की परियोजनाओ के सम्बन्ध मे *प्रारम्भिक सर्वेक्षण के अतिरिक्त उनकी कच्चे माल की आवश्यकताओ, सचार एव यातायात* की आवश्यकताओ, जलवायु एव वर्षा की अनुकूलता, यान्त्रिक प्रविधियो की उपलब्धि, कुशल श्रम की उपलब्धि, शक्ति एव जलपूर्ति. तैयार माल के शीघ्र विक्रय की सुविधा आदि सभी बातो पर गहन अध्ययन एव विचार करना आवश्यक होता है। इन अध्ययनो मे कमी रहने के कारण त्रुटिपूर्ण निर्णय लिये जाते है।

दूसरी ओर, हमारे देश मे नवीन उद्योगो की स्थापना हेतु कोई ऐसी स्वायत्त सस्था नही है

जो सार्वजनिक क्षेत्र के व्यवसायो के विकास एव प्रवर्तन के कार्य मे समन्वय स्थापित कर सके। यही कारण है कि उद्योगो के एक ही क्षेत्र मे विभिन्न आकार के कई सार्वजनिक सस्थान स्थापित कर दिये गये है। इस प्रकार के सस्थानो का लम्बरूप सयोग करके वृहदाकार की मितव्ययताओ का लाभ उठाया जा सकता है। समन्वय की कमी उन उपक्रमो मे और अधिक विद्यमान है जिनका सम्बन्ध कई मन्त्रालयो से है। मन्त्रालयो के स्तर पर महत्वपूर्ण नीतियो, विनियोजन के आकार एव दिशा आदि महत्वपूर्ण तत्वो के सम्बन्ध मे समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया जाता है परन्तु आदाय-प्रदाय एव विपणन आदि के सम्बन्ध मे विस्तृत समन्वय की कमी रहती है। समन्वय के दृष्टिकोण से वृहदाकार बहु-इकाई (लम्बरूप सयोग के आधार पर) निगम स्थापित किये जाने चाहिए। हमारे देश मे सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमो को पर्याप्त क्रियात्मक स्वायत्तता (Operational Autonomy) भी उपलब्ध नही है। इन्हे अपने प्रत्येक क्रियाकलाप के लिए सरकार से स्वीकृति प्राप्त करने की आवश्यकता नही होनी चाहिए। राजनीतिज्ञो एव जनप्रतिनिधियो को इन व्यवसायो के दिन-प्रतिदिन के क्रियाकलाप पर टिप्पणी करने के स्थान पर उनकी सम्पूर्ण उपलब्धि पर विचार एव निर्णय करने चाहिए। धीरे-धीरे हमारे देश मे सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमो के सचालन एव उपलब्धियो मे सुधार हो रहा है। इन व्यवसायो के लिए सरकारी विभागो से डेपूटेशन पर लिये गये अधिकारी भी उपयुक्त सिद्ध नही हुए है। यह सरकारी अधिकारी औद्योगिक एव वाणिज्यिक सस्थानो के लिए आवश्यक नवप्रवर्तन एव प्रारम्भिकता से अनभिज्ञ रहते हैं। सरकार मे अपनी मूल स्थिति को ध्यान मे रखते हुए ये व्यवसाय मे अपनापन महसूस नही कर पाते है और इनकी स्थिति लुढकते हुए पत्थर के समान रहती है। इसके साथ ही सरकारी अधिकारी सरकारी विभागो से अपने सम्बन्धो का दुरुपयोग करने मे समर्थ होते है। इन सब कारणो को देखते हुए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि सार्वजनिक व्यवसायो के लिए आवश्यक सेवा-वर्ग उपलब्ध कराने के लिए विशेष प्रशिक्षण की व्यवस्था की जानी चाहिए और अधिकारियो को डेपूटेशन पर लेने की परम्परा को धीरे धीरे समाप्त किया जाना चाहिए।

30

कृषि-नीति एवं आर्थिक प्रगति

(भारत में कृषि-विकास, कृषि-नीति एवं सामुदायिक विकास सहित)

[AGRICULTURAL POLICY AND ECONOMIC GROWTH]

अल्प-विकसित राष्ट्रों की कृषि-संरचना

अल्प-विकसित राष्ट्र के आर्थिक विकास में कृषि का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। इन राष्ट्रों की श्रम-शक्ति का 60 से 80% भाग कृषि मे कार्यरत है और राष्ट्रीय आय का 50% से भी अधिक भाग कृषि-क्षेत्र से उपार्जित होता है। कृषि का विकास विकासशील राष्ट्रों के यौगिक एवं कल्याण-जन्य दोनो प्रकार के विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है। इन राष्ट्रो मे एक ओर बढती हुई श्रम-शक्ति एवं कृषि-क्षेत्र की अदृश्य बेरोजगार एवं आंशिक बेरोजगार श्रम-शक्ति को कृषि के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों मे रोजगार प्रदान करना आवश्यक होता है तथा दूसरी ओर कृषि से संलग्न जनसंख्या की गरीबी को दूर करना विकास का अनिवार्य अंग होता है। प्रथम उद्देश्य की पूर्ति के लिए औद्योगिक क्षेत्र का विकास एवं विस्तार और दूसरे उद्देश्य के लिए कृषि एवं ग्रामीण क्षेत्र के समन्वित विकास की व्यवस्था आवश्यक होती है। कृषि एवं उद्योग दोनों ही क्षेत्रों के विकास मे पारस्परिक निर्भरता होती है और इनमें कोई भी एक क्षेत्र यदि पिछड़ा रहता है तो विकास अवरुद्ध होता रहता है। कृषि-विकास की तीव्र गति कृषि-क्षेत्र मे प्रति पूँजी एवं प्रति श्रम इकाई उत्पादन में तेजी से वृद्धि करती है जिससे कृषि-क्षेत्र मे अतिरिक्त साधन उपलब्ध होते है जिनका उपयोग औद्योगीकरण करने के लिए किया जा सकता है और रोजगार के अवसरों मे वृद्धि हो सकती है। दूसरी ओर, कृषि-विकास के लिए कृषि-क्षेत्र की तान्त्रिकताओं का आधुनिकीकरण करने की आवश्यकता होती है जिसके लिए आवश्यक आदाय (Inputs) एवं प्रसाधन औद्योगिक क्षेत्र प्रदान करता है। कृषि-क्षेत्र का आधुनिकीकरण एक ओर श्रम-शक्ति को औद्योगिक क्षेत्र की ओर प्रवाहित करता है तथा दूसरी ओर गैर कृषि-क्षेत्र के लिए आवश्यक उपभोक्ता-वस्तुओं—विशेषकर खाद्य-पदार्थ—प्रदान करता है। इसके साथ ही कृषि-क्षेत्र मे आय-वृद्धि के फलस्वरूप औद्योगिक वस्तुओं की माँग कृषि-क्षेत्र मे बढ जाती है जो औद्योगिक विकास मे सहायक होती है। कृषि-क्षेत्र द्वारा जहाँ औद्योगिक क्षेत्र को कच्चा माल प्रदान किया जाता है, वहीं प्राथमिक वस्तुओं की निर्यात-वृद्धि मे उपार्जित विदेशी विनिमय भी औद्योगिक क्षेत्र के विकास मे सहायक होता है।

यद्यपि कृषि-क्षेत्र का विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्थाओं की जनसंख्या, राष्ट्रीय आय, रोजगार आदि सभी दृष्टिकोणों से विशेष महत्व होता है, फिर भी कृषि-व्यवसाय मे प्रति व्यक्ति आय गैर-कृषि-क्षेत्र की प्रति व्यक्ति आय से कहीं कम होती है। इसका प्रमुख कारण कृषि-क्षेत्र का पिछड़ापन होता है। कृषि जनसाधारण का प्रमुख व्यवसाय होते हुए भी केवल निर्वाह के न्यूनतम स्तर को प्राप्त करने का साधन होती है। अल्प विकसित राष्ट्रों मे कृषि-क्षेत्र की संरचना मे निम्नलिखित दोष विद्यमान रहते हैं

(1) भूमि पर जनसंख्या का अत्यधिक भार जिसमे प्रति व्यक्ति कृषि-योग्य भूमि का आकार अनार्थिक हो जाता है।

(2) अधिकतर कृषकों के पास भूमि के छोटे-छोटे टुकड़े रहते हैं जिन पर कृषि की आधुनिक तान्त्रिकताओं का उपयोग नहीं किया जा सकता है।

(3) प्रति व्यक्ति तथा प्रति एकड़ उत्पादन अत्यन्त कम होता है।

(4) कृषि-क्षेत्र में निर्धनता की व्यापकता होती है।

(5) कृषि-क्षेत्र प्राकृतिक अनिश्चितताओं से घिरा रहता है।

(6) भूमि का केन्द्रीकरण कुछ ही भूमिधारियों अथवा जमींदारों के हाथ में होता है जो उसका गहन उपयोग नहीं करते हैं।

(7) भूमि-प्रबन्धन की दोषपूर्ण व्यवस्था के कारण भूमि पर कृषक को स्वामित्व का अधिकार नहीं होता अथवा स्वामित्व का यह अधिकार ऋणग्रस्तता के कारण समाप्त हो जाता है जिससे कृषि-भूमि में स्थायी सुधार नहीं किये जाते।

(8) कृषि-क्षेत्र प्रायः असंगठित क्षेत्र रहता है जिसमें सौदेबाजी की क्षमता कम रहती है जिसका लाभ मध्यस्थ व्यापारी उठाकर कृषक-वर्ग का शोषण करता है।

(9) कृषक वर्ग प्रायः अनपढ़, परम्परावादी एवं भाग्यवादी होता है जो आधुनिक तान्त्रिकताओं को स्वभावतः स्वीकार नहीं करता।

(10) कृषि-क्षेत्र में आय कम होने के कारण कृषक को अपना निर्वाह करना ही कठिन होता है जिससे वह कृषि में पूँजी विनियोजन करने में असमर्थ रहता है।

कृषि-क्षेत्र के उपयुक्त विकास के लिए ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की पुनर्संरचना करना आवश्यक होता है। ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की पुनर्संरचना हेतु ग्रामीण विकास मॉडल की स्थापना की जानी चाहिए जिससे कृषि एवं उसके सहायक क्षेत्रों का नियोजित विकास किया जा सके। अधिकतर विकासशील राष्ट्र अपनी ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की पुनर्संरचना करने में असमर्थ रहे हैं जिससे कृषि-उत्पादों में जनसंख्या-वृद्धि के अनुपात में पर्याप्त वृद्धि नहीं हो सकी है। विकासशील राष्ट्रों में कृषि-विकास की दर 3% से 4% रही है, जबकि वर्तमान अध्ययनों के आधार पर ज्ञात होता है कि कृषि-उत्पादन की प्रगति-दर और रोजगार-प्रसार में 0.5 से 0.6% का सम्बन्ध रहता है। कृषि-परिवारों में श्रम-शक्ति की वृद्धि-दर 2 से 2.5% प्रति वर्ष रहती है। इस प्रकार बढ़ी हुई श्रम-शक्ति को ही रोजगार प्रदान करने के लिए कृषि-उत्पादन में लगभग 4% वार्षिक प्रगति आवश्यक होती है। कृषि क्षेत्र की उत्पाद-प्रगति एवं रोजगार-प्रसार का यह अनुपात इस बात पर निर्भर है कि कृषि-क्षेत्र में उत्पादन में वृद्धि गहन कृषि—बहु-फसल, विपुल उपज वाले बीज आदि—के माध्यम से प्राप्त की जाती है। यदि उत्पादन-वृद्धि कृषि-क्षेत्र के यन्त्रीकरण के माध्यम से प्राप्त की जाय तो बढ़ती हुई श्रम-शक्ति को रोजगार प्रदान करने के लिए कृषि-उत्पादन की प्रगति-दर और ऊँची रखने की आवश्यकता होगी। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि विकासशील राष्ट्रों में बढ़ती हुई जनसंख्या को खाद्य-पदार्थ उपलब्ध कराने, बढ़ती हुई श्रम-शक्ति को रोजगार प्रदान करने, विदेशी विनिमय की पर्याप्त उपलब्धि एवं व्यापक निर्धनता को कम करने के लिए कृषि-क्षेत्र का पर्याप्त विकास आवश्यक होता है। कृषि-क्षेत्र की बहुत बड़ी दुर्बलता यह भी है कि विकास की गति में वर्ष प्रति वर्ष अत्यधिक उच्चावचन रहते हैं। कृषि-क्षेत्र का किसी भी देश के आर्थिक विकास में योगदान निम्नवत् उपलब्ध होता है

कृषि का आर्थिक विकास में योगदान

(1) **औद्योगीकरण के विनियोजन में विस्तार**—कृषि-क्षेत्र की प्रगति से अर्थ-व्यवस्था के अन्य उत्पादन एवं सेवा सम्बन्धी क्षेत्रों में गतिशीलता आती है। कृषि-क्षेत्र में प्रगति से कृषि जनसंख्या की आय में वृद्धि होती है जिसका उपयोग बचत एवं उपभोग-स्तर में वृद्धि करने हेतु किया जाता है। बचत बढ़ने से विनियोजन के साधनों में वृद्धि होती है जिनका उपयोग औद्योगिक क्षेत्र में किया जाता है। दूसरी ओर, उपभोग-स्तर में वृद्धि होने से औद्योगिक उत्पादों की माँग में वृद्धि हो जाती है जिससे औद्योगिक क्षेत्र में आय, बचत एवं विनियोजन में वृद्धि होती है। कृषि-क्षेत्र के

विकास के लिए भी आदाय (Inputs) औद्योगिक क्षेत्र से उपलब्ध होते है जिसके लिए औद्योगिक क्षेत्र मे विनियोजन मे वृद्धि होती है। दूसरी ओर, कृषि-क्षेत्र औद्योगिक क्षेत्र को बहुत से आदाय (कच्चे माल) प्रदान भी करता है जिससे कृषि-आधारित उद्योगो एव प्रविधिकरण उद्योगो (Processing Industries) का विस्तार होता है।

औद्योगिक क्षेत्र के विकास के लिए विदेशो से पूँजीगत प्रसाधन एव तान्त्रिक ज्ञान आयात करने की आवश्यकता होती है जिसका आयोजन कृषि-पदार्थों तथा कृषि पर आधारित उद्योगो के उत्पादो का निर्यात करके किया जा सकता है। कृषि-क्षेत्र इस प्रकार औद्योगिक विकास के लिए विदेशी विनिमय की व्यवस्था करने मे सहायक होता है। कृषि-क्षेत्र के विकास से खाद्य एव अन्य प्राथमिक वस्तुओ के आयात को कम करके विदेशी विनिमय की बचत की जा सकती है।

(2) **विकास हेतु विदेशी विनिमय का अर्जन**—विकासशील राष्ट्रो की विकास-प्रक्रिया मे तीन प्रमुख तत्व अवरोध उत्पन्न करते है—जनसख्या-वृद्धि, गरीबी की व्यापकता, एव विदेशी विनिमय की कमी। कृषि-विकास इन तीनो अवरोधो को दूर करने मे सहायक होता है। विदेशी विनिमय की समस्या के निवारण हेतु आयात-प्रतिस्थापन की कार्यवाहियो को विशेष महत्व दिया जाता है, जबकि आयात-प्रतिस्थापन हेतु जो उद्योग आदि स्थापित किये जाते हैं वे दीर्घकाल मे अर्थ-व्यवस्था पर भार बन जाते है क्योकि इनमें उत्पादन-लागत आयातित सामग्री की लागत से कही अधिक रहती है। ऐसी परिस्थिति मे कृषि-विकास द्वारा अतिरिक्त उत्पादन प्राप्त करके प्राथमिक वस्तुओ के निर्यात मे वृद्धि की जा सकती है और प्रारम्भिक विकास-प्रक्रिया की विदेशी विनिमय की समस्या का निवारण किया जा सकता है। इसके साथ ही बढती हुई जनसख्या की खाद्य-सामग्री की आवश्यकता की पूर्ति खाद्य-पदार्थों के आयात पर व्यय हुए विदेशी विनिमय की बचत से की जा सकती है।

(3) **अर्थ-व्यवस्था के अन्य क्षेत्रो के लिए सस्ती श्रम-शक्ति उपलब्ध करना**—कृषि-विकास के माध्यम से ग्रामीण क्षेत्र की आशिक एव अदृश्य बेरोजगारी कम हो जाती है। अतिरिक्त श्रम-शक्ति का कुछ भाग तो कृषि-क्षेत्र मे पूर्ण रोजगार प्राप्त कर लेता है तथा शेष भाग कृषि-विकास के फलस्वरूप विकसित होने वाले सहायक क्षेत्रो मे रोजगार प्राप्त कर लेता है। कृषि-क्षेत्र के आधुनिकीकरण से श्रम-शक्ति का एक बडा भाग औद्योगिक क्षेत्र को प्रवाहित हो जाता है और इस श्रम की उपलब्धि कम लागत पर हो जाती है। इस अतिरिक्त श्रम की कृषि-क्षेत्र मे सीमान्त आयोपार्जन शून्य होती है जिससे यह श्रम औद्योगिक क्षेत्र को सस्ती लागत पर उपलब्ध हो जाता है।

(4) **रोजगार-प्रसार का बहुत बडा साधन कृषि-क्षेत्र होता है**—विकासशील राष्ट्रो मे कृषि-क्षेत्र मे देश की जनसख्या का 70 से 80% भाग प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से रोजगार पाता है। कृषि क्षेत्र के आधुनिकीकरण करने एव आयातो का पर्याप्त उपयोग करने से रोजगार के अवसरों मे कम पूँजी पर अधिक रोजगार के अवसर बढाये जा सकते हैं। कृषि-क्षेत्र मे व्यक्तिगत साहस, पर्यवेक्षण एव निर्देशन की अत्यधिक आवश्यकता होती है जिससे श्रम का अधिक उपयोग होता है। कृषि क्षेत्र मे श्रम-सघन तकनीकों का उपयोग करने का विकल्प उपलब्ध होता है जो बेरोजगारी की समस्या के निवारण का उपयुक्त साधन हो सकता हैं। विकास के प्रारम्भिक चरणो मे कृषि मे उपलब्ध साधनो का अधिक व्यापक एव गहन उपयोग करके आशिक एव अदृश्य बेरोजगारी को दूर करना सम्भव हो सकता है। कृषि-विकास के माध्यम से सहायक क्षेत्रो का भी विकास होता है जिसमे रोजगार के अवसरो मे वृद्धि होती है। अधिकतर विकासशील राष्ट्रो मे सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था की गतिविधियाँ कृषि-उत्पादन के स्तर पर निर्भर रहती हैं। कृषि-विकास की तीव्र गति सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था मे आशावादी वातावरण जाग्रत करती है और रोजगार, आय, बचत एव विनियोजन सभी मे वृद्धि होनी है।

(5) **पूंजी-निर्माण का कृषि-क्षेत्र एक महत्वपूर्ण साधन होता है**—कृषि-क्षेत्र द्वारा राष्ट्रीय आय का लगभग 45 से 60% भाग जुटाया जाता है और जनसख्या का 60 से 80% भाग कृषि-क्षेत्र

मे लगा रहता है। कृषि-क्षेत्र को कम अवसर लागत वाले उत्पादन के घटको का अधिक उपयोग करके विकसित करना सम्भव होता है और इस प्रकार कम पूँजी विनियोजन पर कृषि-उत्पादन मे अधिक वृद्धि करना सम्भव हो सकता है। विकसित कृषि-क्षेत्र पर अधिक करारोपण एव बचत-प्रोत्साहन द्वारा पूँजी नियोजन मे वृद्धि की जा सकती है।

कृषि-विकास के माध्यम से जो अदृश्य एव आशिक बेरोजगार श्रम कृषि-क्षेत्र से हटकर अन्य क्षेत्रो मे प्रवाहित होता है वह भी पूँजी-निर्माण मे सहायक होता है। इस श्रम को निर्वाह की वस्तुएँ कृषि-क्षेत्र से यदि यथावत उपलब्ध करायी जाती रहे और इस श्रम द्वारा किये गये उत्पादन एव आय को बचत मे परिणत किया जा सके तो पूँजी-निर्माण की दर मे वृद्धि हो सकती है।

अल्प-विकसित राष्ट्रो मे कृषि-क्षेत्र की व्यापकता श्रम-शक्ति, राष्ट्रीय आय मे अशदान, क्षेत्र-फल आदि सभी दृष्टिकोण से विस्तृत होती है और इस क्षेत्र मे थोड़ा-सा सुधार करके उत्पादन मे शीघ्र ही वृद्धि करना सम्भव हो सकता है, जबकि औद्योगिक क्षेत्र की प्राय नये सिरे से स्थापना करने की आवश्यकता होती है और इसे लाभप्रद स्थिति तक लाने के लिए लम्बे समय की आवश्यकता होती है। इस प्रकार विकास के प्रारम्भिक चरणो मे कृषि-क्षेत्र विकास विनियोजन का स्रोत होता है।

(6) कृषि विकास निर्धनता-उन्मूलन एव विषमताओं को कम करने का प्रमुख साधन होता है—विकासोन्मुख राष्ट्रो मे निर्धनता का केन्द्रीकरण ग्रामीण क्षेत्रो मे होता है। ग्रामीण क्षेत्रो मे अनार्थिक कृषि-भूमि का स्वामित्व, परम्परागत उत्पादन तकनीकें एव मजदूरी की निम्न दरें विद्यमान रहती है। आशिक बेरोजगारी एव अदृश्य बेरोजगारी (जो निर्धनता का प्रमुख कारण होती है) का भी केन्द्रीकरण कृषि-क्षेत्र मे ही होता है। ऐसी परिस्थिति मे कृषि-क्षेत्र का विकास करके ग्रामीण क्षेत्र की निर्धनता की व्यापकता एव गहनता का कम किया जा सकता है। गरीबी की रेखा से नीचे के स्तर का जीवन-स्तर व्यतीत करने वाली जनसख्या का अधिकतर भाग ग्रामीण क्षेत्रो म निवास करता है। इस वर्ग के उपभोग-स्तर मे सुधार करने के लिए ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को कृषि-विकास द्वारा गतिमान किया जा सकता है। आर्थिक विषमताओ मे कमी करने के लिए सवप्रथम न्यूनतम उपभोग-स्तर वाली जनसख्या (जो ग्रामीण क्षेत्रो मे केन्द्रित रहती है) के उपभाग-स्तर म सुधार करने की आवश्यकता होती है और इसके लिए कृषि-क्षेत्र का द्रुत गति से विकास किया जाना चाहिए।

(7) नगरीय क्षेत्रो को होने वाले जनसख्या के प्रवाह को कृषि-विकास द्वारा रोका जा सकता है—आर्थिक प्रगति के गतिमान होने के साथ-साथ जनसख्या का ग्रामीण क्षेत्रो से नगरीय क्षेत्रो मे प्रवाहित होने की प्रवृत्ति पायी जाती है, क्योकि नगरीय क्षेत्रो मे रोजगार के अवसर आधुनिक सुख-सुविधाएँ एव मनोरजन के साधन उपलब्ध होते है। परन्तु इस प्रवृत्ति के कारण एक ओर ग्रामीण क्षेत्रो मे गतिशील विचारो के लोगो की कमी होने लगती है और दूसरी ओर नगरीय क्षेत्रो मे जीवन की अनिवार्य सुविधाओ—मकान, जलपूर्ति, विद्युत-पूर्ति, सचार, यातायात आदि—सभी मे वृद्धि करने के लिए अत्यधिक पूँजी का उपयोग हो जाता है। ये दोनो ही तथ्य विकास की गति को अवरुद्ध करते हैं और नगरीय एव ग्रामीण क्षेत्रो के जीवन-स्तर के अन्तर को बढ़ाते है। ग्रामीण क्षेत्रो मे कृषि-क्षेत्र को विकसित करके रोजगार एव आय के अवसरो मे वृद्धि की जा सकती है जिससे जनसख्या का प्रवाह नगरीय क्षेत्रो की ओर कम किया जा सकता है। इसके साथ कृषि-क्षेत्र मे उपार्जित आय का विनियोजन ग्रामीण क्षेत्रो मे होता रहता है जिससे धीरे-धीरे ग्रामीण एव नगरीय क्षेत्रो के जीवन-स्तर के अन्तर को कम करना सम्भव होता है।

उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट है कि कृषि-क्षेत्र का विकास सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था की प्रगति का महत्वपूर्ण साधन होता है परन्तु कृषि-क्षेत्र के विकास का अर्थ-व्यवस्था पर विस्तारक प्रभाव (Expansion Effect) अधिक मजबूत नही होता है अर्थात् कृषि-क्षेत्र अन्य क्षेत्रो को प्रगति को सुदृढ आधार प्रदान करने मे अधिक प्रबल नही होता है। दूसरी ओर, औद्योगिक क्षेत्र अर्थ-व्यवस्था

को विकास का सुदृढ आधार प्रदान करने म समर्थ होता है। औद्योगिक क्षेत्र अर्थ-व्यवस्था के सभी क्षेत्रों को आदाय (Inputs) प्रदान करने मे समर्थ होता है। कृषि-क्षेत्र के विकास के लिए भी औद्योगिक क्षेत्र से आदाय लेने की आवश्यकता होती है। इसके साथ ही कृषि क्षेत्र मे किये गये विनियोजन से उत्पादन की वृद्धि म निरन्तरता नही आती है और कृषि-क्षेत्र के उत्पादन म उच्चावचान भी अधिक होते है। इस प्रकार कृषि-क्षेत्र एक ओर अधिक लाभोपार्जन करने मे सक्षम नही होता है और दूसरी ओर कृषि-क्षेत्र के लाभ का वितरण निर्धन-वर्ग के पक्ष मे होता है जिससे विनियोजन हेतु पर्याप्त साधन उपलब्ध होने मे कठिनाई होती है। कृषि क्षेत्र मे लगी हुई जनसख्या मे परम्परागत जीवन के प्रति कटिबद्धता अत्यधिक होती है और वह परिवर्तनो को स्वभावत स्वीकार नही करती है। यह तथ्य कृषि क्षेत्र से उदय हुई आय को आधुनिक उत्पादक तकनीकी क्षेत्र मे प्रवाहित होने से रोकता है जिससे विकास की गति तीव्र नही हो पाती है। औद्योगिक क्षेत्र समाज मे बौद्धिकता, साहस नवप्रवर्तन, सगठन आदि सभी घटको को विकसित करता है जिनसे विकास को गति मिलती है। इस प्रकार किसी भी अर्थ-व्यवस्था मे विकास की गति को तीव्र करने तथा विकास को सुदृढ आधार प्रदान करने के साथ-साथ निर्धनता-उन्मूलन, रोजगार के अवसरो मे वृद्धि तथा विषमताओ को कम करने के लिए औद्योगिक एव कृषि-क्षेत्र का समन्वित विकास करना आवश्यक होता है।

विभिन्न राष्ट्रो के औद्योगिक एव कृषि विकास की प्रगति-दरो का अध्ययन करे तो हमे ज्ञात होता है कि लगभग सभी राष्ट्रो मे कृषि क्षेत्र की तुलना मे औद्योगिक उत्पादन की प्रगति दर अधिक है तथा कृषि-उत्पादन मे औद्योगिक उत्पादन की तुलना मे अधिक उच्चावचान विद्यमान रहते है। [देखिए तालिका 41]

कृषि-नीति

कृषि-क्षेत्र की जलवायु पर अत्यधिक निर्भरता एव भूमि के सीमित साधनो के कारण विकास की गति इस क्षेत्र मे कम रहती है और उच्चावचान भी अधिक होते है। परन्तु कृषि-विकास के महत्व को देखते हुए यह आवश्यक है कि कृषि विकास हेतु सुदृढ एव अनवरत कृषि-नीति का उपयोग किया जाय। कृषि नीति के निम्नलिखित चार अग होते है

(1) उत्पादन-कुशलता मे वृद्धि

(2) आय की सुरक्षा,

(3) कृषि क्षेत्र मे आर्थिक एव सामाजिक सस्थागत सुदृढता, और

(4) समाज-कल्याण की उपयुक्त व्यवस्था।

(1) *उत्पादन कुशलता मे वृद्धि*—कृषि क्षेत्र की उत्पादकता एव उत्पादन मे वृद्धि करने के लिए निम्नलिखित आयोजन करना आवश्यक होता है

(अ) कृषि का यन्त्रीकरण—कृषि-क्षेत्र मे आधुनिक तकनीकी का उपयोग करके उत्पादन एव उत्पादकता मे वृद्धि की जा सकती है। ट्रैक्टर, कृषि-यन्त्र एव औजारो का व्यापक उपयोग करने के लिए कृषकों को साख एव प्रसाधनो की उपलब्धि की सरल व्यवस्था की जानी चाहिए।

(ब) भूमि प्रबन्धन मे सुधार—कृषि क्षेत्र मे आधुनिक तकनीको का उपयोग करने के लिए भूमि-प्रबन्धन मे सुधार करना आवश्यक होता है। छोटे छोटे खेतो पर यन्त्रीकृत कृषि लाभप्रद नही हो सकती है। कृषि भूमि की चकबन्दी, वास्तव मे, खेती करने वाले को भूमि पर स्वामित्व, भूमि-प्रबन्धन मे मध्यस्थो की समाप्ति तथा कृषि भूमि के सीमाकन द्वारा कृषि क्षेत्र मे पर्याप्त सुधार किये जा सकते है और उत्पादकता मे वृद्धि की जा सकती है।

(स) विवेकीकरण—कृषि क्षेत्र मे कुशलता बढाने के लिए उत्पादन के विभिन्न स्तरो पर विज्ञान एव तकनीक का उपयोग किया जाना चाहिए। उदाहरणार्थ, भूमि मे सुधार करके उसे कृषि-योग्य बनाना, भूमि सरक्षण, पौध-सरक्षण विपुल उपज बीजो का विकास एव चयन, फसल-सरक्षण,

तालिका 41—विभिन्न राष्ट्रों मे औद्योगिक एवं कृषि-क्षेत्र की प्रगति-दर
(1961 से 1975)

(प्रतिशत प्रगति)

क्षेत्र	1961-65		1966-72		1973		1974		1975	
	कृषि उत्पादन	औद्योगिक उत्पादन	कृषि उत्पादन	औद्योगिक उत्पादन	कृषि उत्पादन	औद्योगिक उत्पादन	कृषि उत्पादन	औद्योगिक उत्पादन	कृषि उत्पादन	औद्योगिक उत्पादन
1 विकासशील राष्ट्र	3 0	8 7	2 8	8 7	2 8	11 0	3 3	7 2	4 6	1 7
2 सहारा के दक्षिण का अफ्रीका	2 9	9 3	1 8	8 8	—3 0	4 9	7 4	7 7	2 0	3 6
3 पूर्वी एशिया एवं प्रशान्त	5 1	9 1	3 1	14 5	9 0	18 9	2 8	7 8	4 2	7 6
4 लैटिन अमेरिका तथा कैरेबियन देश	3 8	6 0	2 5	7 9	1 1	9 5	5 8	6 8	1 0	0 8
5 उत्तरी अफ्रीका एवं मध्य-पूर्व	3 6	9 9	3 1	8 8	—6 1	14 9	8 4	12 1	2 3	11 9
6. दक्षिणी एशिया	0 9	9 1	2 6	3 4	8 4	3 1	—4 6	1 9	10 6	3 3
7 भूमध्यसागरीय अधिक विकसित राष्ट्र	2 9	11 7	3 6	9 7	0 6	11 8	7 6	7 5	3 8	—1 2
8. औद्योगिक राष्ट्र	1 9	6 2	2 1	5 7	1 7	9 4	0 2	—2 6	2 6	—8 8

कीटनाशक रसायनो का उपयोग तथा उन अन्य विधियो का उपयाग जिनसे प्रति एकड उत्पादन मे वृद्धि की जा सके।

(द) रसायनीकरण—रासायनिक उर्वरको का व्यापक उपयोग जिससे कृषि की उत्पादकता म वृद्धि की जा सके।

(य) सिचाई, ग्रामीण विद्युतीकरण, यातायात एवं संचार-व्यवस्था—कृषि-क्षेत्र की उत्पादकता बढाने के लिए सिंचाई का सबसे अधिक योगदान होता है। सिंचाई के साधनो मे पर्याप्त वृद्धि करके कृषि की जलवायु पर निर्भरता को कम किया जा सकता है और कृषि क्षेत्र की प्रगति के उच्चावचान कम हो सकते है। ग्रामीण विद्युतीकरण कृषि-क्षेत्र मे आधुनिक यन्त्रो के उपयोग के लिए आवश्यक होता है तथा कृषि-आधारित उद्योगो के विकास मे सहायक होता है। ग्रामीण क्षेत्रों मे यातायात एव सचार-व्यवस्था म सुधार करके आदायो की पूर्ति एव प्रदायो के उचित मूल्य प्राप्त किये जा सकते है।

(र) कृषि-अनुसन्धान—कृषि-क्षेत्र के विकास हेतु प्रत्येक देश को अलग-अलग क्षेत्रो मे विद्यमान भौतिक एव सामाजिक परिस्थितियो के अनुसार नवीन तकनीको, विधियो एव व्यवसायो की खोज करना आवश्यक होता है। जैसे-जैसे कृषि-क्षेत्र विकसित होता जाता है, अनुसन्धान का महत्व बढता जाता है।

(2) **आय की सुरक्षा**—कृषि-क्षेत्र के विकास मे कृषको की आय की सुरक्षा की व्यवस्था का महत्वपूर्ण योगदान होता है। प्राय विकासोन्मुख राष्ट्रो मे कृषि जीवन-निर्वाह का साधन माना जाता है। जब तक कृषि-क्षेत्र को एक व्यवसाय के रूप मे परिवर्तित नही किया जाता इस क्षेत्र का पर्याप्त विकास नही हो सकता है। कृषि-क्षेत्र मे प्रति श्रमिक उत्पादकता प्रति भूमि इकाई उत्पादकता एव प्रति पूंजी इकाई उत्पादकता मे वृद्धि करना आवश्यक होता है। प्रति श्रमिक उत्पादकता बढाने से जहाँ तक और कृषि-क्षेत्र मे पूंजी विनियोजन मे वृद्धि करके आधुनिक तकनीको का उपयोग आवश्यक है वही कृषि-क्षेत्र मे उस सम्पूर्ण श्रम-शक्ति को हटाना भी आवश्यक है जिसकी सीमान्त *उत्पादकता शून्य है और जो रोजगार के अन्य अवसरो की पर्याप्त उपलब्धि न होने के कारण पारि*वारिक कृषि मे कार्यरत रहती है। यदि कृषि-क्षेत्र से इस अतिरिक्त श्रम को हटा लिया जाय तो कृषि-क्षेत्र मे प्रति व्यक्ति आय मे वृद्धि होना स्वाभाविक होगा और कृषक अपनी आय-वृद्धि का कुछ भाग कृषि-विकास पर विनियोजित करने मे सक्षम हो सकेगा।

दूसरी ओर, कृषि-क्षेत्र मे प्रति व्यक्ति आय मे वृद्धि करने के लिए कृषि-पदार्थों की विपणन व्यवस्था मे सुधार करना आवश्यक होगा। कृषक को अपने उत्पाद विवश होकर कम मूल्य पर न बेचने पड़ें इसके लिए उसे अपने उत्पादो के विरुद्ध पर्याप्त साख उपलब्ध होनी चाहिए और कृषक की सौदेबाजी की शक्ति मे सुधार होना चाहिए। प्रति भूमि इकाई एव प्रति पूंजी इकाई उत्पादकता बढाने के लिए कृषि-क्षेत्र की तकनीको मे सुधार तथा भूमि-प्रबन्धन मे उपयुक्त परिवर्तन करने की आवश्यकता होती है। फसल, पशु एव उत्पादन बीमा की व्यवस्था भी आय की सुरक्षा का साधन होती है।

(3) **आर्थिक एव सामाजिक सस्थागत सुदृढता**—विकासोन्मुख राष्ट्रो मे कृषि-क्षेत्र के पिछडेपन मे सस्थागत दुर्बलताओ का विशेष योगदान रहता है। कृषि-क्षेत्र के विकास की प्रक्रिया को गतिमान करने के लिए परम्परागत सस्थाओ के स्थानापन्न समय, परिस्थिति एव तकनीकी के अनुकूल आधुनिक सस्थाओ का विस्तार एव विकास किया जाना चाहिए। सामाजिक क्षेत्र मे परिवार और आर्थिक क्षेत्र मे स्वदेशी साहूकार ग्रामीण क्षेत्रो की प्रमुख सस्थाएँ होती है। ये दोनो ही सस्थाएँ विकास की प्रक्रिया को अवरुद्ध करती है। जाति एव धर्म भी लोगो की विचारधाराओं म विकास के अनुकूल परिवर्तन नही होने देते है। सरकारी स्तर पर ग्रामीण क्षेत्र म जो प्रशासन-तन्त्र विद्यमान रहता है वह भी परम्परावादी गतिविधि मे ही सलग्न रहता है और विकास के

स्थान पर प्रशासन को अधिक महत्व देता है। कृषि क्षेत्र मे क्रान्ति लाने के लिए इस सारी सस्थागत व्यवस्था मे सुधार एव विस्तार करने की आवश्यकता होती है।

(अ) नियोजन सम्बन्धी संस्थाएँ—कृषि-क्षेत्र का समन्वित विकास करने के लिए ग्रामीण क्षेत्रो मे ऐसी सरकारी एव गैर-सरकारी सस्थाओ की स्थापना की जानी चाहिए जो स्थानीय साधनो की उपलब्धि को ध्यान मे रखकर विकास-कार्यक्रम तैयार कर सके और इनके क्रियान्वयन का निर्देशन कर सके। भारत मे सामुदायिक विकास कार्यक्रम इस प्रकार की एक सस्था कही जा सकती है जिसमे खण्ड-स्तर पर कृषि कार्यक्रम तैयार किये जाते है। ग्रामीण स्तर की सस्थाओ को जिला-स्तर पर और जिला-स्तर की सस्थाओ को राज्य एव सम्पूर्ण देश के स्तर से सम्बद्ध किया जाना चाहिए।

(ब) वित्तीय सस्थाएँ—विज्ञान एव तकनीक का कृषि क्षेत्र मे व्यापक उपयोग करने के लिए वित्त, साख एव विपणन-सुविधाओ की आवश्यकता होती है। इनमे साख एव वित्त का कृषि-विकास मे योगदान सर्वाधिक होता है। कृषि-मशीन एव औजार, बीज, उर्वरक, कीटनाशक रसायन, सिचाई की सुविधाओ का निर्माण आदि के लिए पर्याप्त साख-व्यवस्था का आयोजन सरकारी साख-सस्थाओ, ग्रामीण बैक, व्यापारिक, कृषि एव भूमि विकास बैंक आदि के माध्यम से किया जा सकता है। कृषको को अल्पकालीन, मध्यकालीन एव दीर्घकालीन ऋणों की व्यवस्था अलग-अलग सस्थाओ द्वारा की जा सकती है। कृषको को साहूकारो की शोषण की प्रवृत्ति से मुक्त करने के लिए ऐसी बैंकिंग सस्थाओ की स्थापना की जानी चाहिए जो कम औपचारिकताओ पर साख की व्यवस्था कर सकें और जिनकी व्यवस्था मे ग्रामीण प्रतिनिधियो का समावेश हो। ऐसी सस्थाओ के प्रति ग्रामीणो का अधिक विश्वास रहता है जिनकी व्यवस्था मे उनके प्रतिनिधियो का योगदान रहता है। यही कारण है कि सहकारी सस्थाओ को ग्रामीण क्षेत्रो के लिए अधिक उपयुक्त माना जाता है।

(स) विपणन सस्थाएँ—कृषि-विकास के द्वारा जब कृषि-उत्पादन मे वृद्धि होती है और नवीन नवर्तीको का कृषि मे उपयोग किया जाता है तो विपणन की उचित व्यवस्था करना आवश्यक होता है जिससे कृषक अपनी फसल का लाभप्रद मूल्य प्राप्त कर सकें और आदायो की बढती हुई लागत का पर्याप्त आयोजन लाभ मे से कर सकें। विपणन को सगठित रूप प्रदान करने के लिए सहकारी विपणन-सस्थाओ का उपयोग किया जाता है। कृषको को जहाँ निजी मध्यस्थो के शोषण से बचाने की आवश्यकता होती है वही सरकारी तन्त्र के शोषण से बचाना भी आवश्यक होता है। सरकार द्वारा जो अनाज लैवी के अन्तर्गत एकत्रित किया जाता है उसमे सरकारी तन्त्र कृषको का शोषण करता है जिससे कृषि-क्षेत्र के विकास को आघात पहुँचता है। विपणन-सुविधाओ के विस्तार हेतु ग्रामीण क्षेत्रो मे यातायात एव सचार-व्यवस्था का विस्तार करना आवश्यक होता है।

(द) शिक्षा एव प्रशिक्षण सस्थाएँ—कृषि-क्षेत्र के यन्त्रीकरण करने तथा विज्ञान एव तकनीक का व्यापक उपयोग करने हेतु कृषको, उनके परिवारीजनो तथा कृषि-कार्य मे सलग्न श्रमिको के प्रशिक्षण एव शिक्षा की उचित व्यवस्था की जानी चाहिए। इसके साथ ही मध्य-स्तरीय तकनीक का कर्मचारियो को पर्याप्त प्रशिक्षण प्रदान किया जाना चाहिए जिससे वे कृषि-सेवा सम्बन्धी सस्थानो मे कार्य कर सकें और कृषि-यन्त्रो की स्थापना, मरम्मत एव समायोजन का कार्य निष्पादित कर सकें। दूसरी ओर, विश्वविद्यालय एव स्नातकोत्तर स्तर पर कृषि-क्षेत्र की उच्च श्रेणी की तकनीको के अध्ययन तथा कृषि-क्षेत्र के प्रबन्धन एव प्रशासन के कर्तव्यो के निष्पादन का प्रशिक्षण प्रदान किया जाना चाहिए। इस प्रकार कृषि-क्षेत्र के विकास के लिए वैज्ञानिक, तकनीकी, आर्थिक, सामाजिक तथा व्यावहारिक विज्ञानो मे अल्पकालीन एव दीर्घकालीन प्रशिक्षण की व्यवस्था की आवश्यकता होती है। शिक्षा एव प्रशिक्षण की व्यवस्था इस प्रकार की जानी चाहिए कि कृषि आयोजन के अनुसार विभिन्न प्रकार एव विभिन्न स्तरो के तकनीकी कर्मचारी एव विशेषज्ञ उपलब्ध हो सकें तथा प्रशिक्षित लोगो को पर्याप्त एव उपयुक्त रोजगार उपलब्ध हो सके।

(घ) अनुसन्धान संस्थाएँ—कृषि-क्षेत्र का क्रान्तिकारी विकास करने के लिए नवीनतम एव सही जानकारियो का प्रवाह अनुसन्धान क्षेत्र से कृपको तक होते रहना चाहिए। कृषि से सम्बन्धित प्रत्येक क्षेत्र मे अनुसन्धान सस्थाओ की स्थापना की जानी चाहिए। कृषि-जीवविज्ञान, कृषि रसायन, कृषि-इजीनियरिंग, कृषि तकनीक कृषि पौध-सरक्षण आदि के सम्बन्ध मे केन्द्रीय अनुसन्धान सस्थाओ की स्थापना की जानी चाहिए। इन सस्थाओं की शाखाओ का विस्तार इस प्रकार किया जाना चाहिए कि अनुसन्धानो की जानकारी का प्रसार एव उपयोग व्यापक रूप से किया जा सके। इन सस्थाओ को समय-समय पर कृपको को सलाह भी प्रदान करनी चाहिए।

(4) समाज-कल्याण की उपयुक्त व्यवस्था—जब कृषि-क्षेत्र को कृषि-क्रान्ति के माध्यम से निर्वाह के साधन के स्थान पर एक व्यवसाय का रूप प्रदान किया जाता है तो कुछ सामाजिक समस्याएँ उदय होती है। *कृषि-क्रान्ति के कार्यक्रमो का लाभ बडे कृपको तक ही पहुँच पाता है* और सीमान्त कृषक एव भूमिहीन कृषि-श्रमिक की स्थिति मे कोई विशेष सुधार नहीं हो पाता है। बडे-बडे कृपक धीरे-धीरे इतने शक्तिशाली होने लगते हैं कि वे कृपको एव श्रमिको का शोषण करने लगते ह और इनको कृषि-व्यवसाय से बाहर करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। ग्रामीण क्षेत्र में बडे कृपको तथा पूँजीपति-वर्ग के इस प्रकार उदित होने से ग्रामीण क्षेत्र मे आर्थिक एव सामाजिक विषमताएँ बढती ह। कृषि-विकास नीति के अन्तर्गत ऐसी परिस्थिति मे यह आवश्यक होता है कि कृषि विकास हेतु मध्यस्तरीय तकनीको का विकास किया जाय और लघु कृपको तथा भूमिहीन श्रमिको को राजकीय एव सस्थागत सुविधाएँ प्रदान की जायें। इस वर्ग को ग्रामीण क्षेत्र मे ही लघु एव कुटीर उद्योगो मे वैकल्पिक रोजगार प्रदान करके इनकी आर्थिक एव सामाजिक स्थिति में सुधार किया जाना चाहिए। भूमि का पुनर्वितरण, भूमि की चकबन्दी, भूमि-सीमाकन द्वारा भूमि की अनार्थिक जोतो को समाप्त किया जा सकता है और निर्धन-वर्ग की स्थिति मे सुधार हो सकता है।

उपर्युक्त कृषि-नीति के क्रियान्वयन से कृषि-क्षेत्र मे इस प्रकार प्रति एकड उत्पादकता मे वृद्धि प्रति व्यक्ति उत्पादकता मे वृद्धि, उत्पादन-लागत में कमी, कृपको की आय मे वृद्धि, कृषि-क्षेत्र मे पूँजी विनियोजन की सम्भावनाओ का निर्माण तथा कृषि को व्यवसाय मे परिवर्तित किया जा सकता है और सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था का सुदृढता से विकास करना सम्भव हो सकता है।

भारत में कृषि की स्थिति

देश की स्वतन्त्रता के पूर्व देश की कृषि की स्थिति अति सोचनीय थी और स्वतन्त्रता के पूर्व के 25 वर्षो मे कृषि-उत्पादन की प्रगति-दर $\frac{1}{4}$% प्रति वर्ष थी। देश के विभाजन के पश्चात देश का कुछ श्रेष्ठ उपजाऊ एव सिंचित क्षेत्र पाकिस्तान को चला गया जिससे कृषि-उत्पादन को बडा आघात पहुँचा। प्रथम पचवर्षीय योजना मे कृषि एव सिंचाई को सर्वाधिक प्राथमिकता प्रदान की गयी और सामुदायिक विकास कार्यक्रम के माध्यम से विकास-प्रयासो को समस्त ग्रामीण क्षेत्र मे प्रसारित किया गया। द्वितीय योजना मे कृषि क्षेत्र के विकास को कम महत्व दिया गया जिससे कृषि-उत्पादन मे प्रगति की दर धीमी पड गयी। तीसरी योजना मे गहन कृषि जिला कार्यक्रम (IADP) तथा गहन कृषि क्षेत्रीय कार्यक्रम (IAAP) का शुभारम्भ किया गया। इन कार्यक्रमों का उद्देश्य खाद्यान्नो मे आत्मनिर्भरता प्राप्त करना तथा उद्योगो एव निर्यात की आवश्यकताओं की पूर्ति करना था। 1966-67 मे कृषि-विकास हेतु नवीन समर-नीति का प्रारम्भ किया गया जिसके अन्तर्गत विपुल उपज वाले बीजो का उपयोग तथा बहु-फसल कार्यक्रम प्रमुख रूप से सम्मिलित किये गय। चौथी योजना मे कृषि मे आधुनिक तकनीको के उपयोग को प्राथमिकता दी गयी। कृषि विकास के लिए योजना प्रति योजना सार्वजनिक क्षेत्र मे व्यय की राशि बढती गयी। प्रथम योजना के अतिरिक्त अन्य सभी योजनाओ मे कृषि-क्षेत्र के लिए सार्वजनिक क्षेत्र के व्यय का 20 से 24% भाग आवटित किया गया। 1949 50 से 1976-77 तक के 27 वर्ष के लम्बे काल मे कृषि उत्पादन म 2 5% प्रति वर्ष चक्रवृद्धि हुई। प्रथम एव द्वितीय योजनाओ मे कृषि-

उत्पादन में लगभग 4% प्रति वर्ष की प्रगति हुई। तृतीय योजना का अन्तिम वर्ष सूखा से पीडित रहा जिससे इस योजना मे कृषि-उत्पादन की प्रगति-दर ऋणात्मक रही। तीसरी योजना के बाद की तीन वार्षिक योजनाओ मे कृषि-उत्पादन मे 5 4% प्रति वर्ष की वृद्धि हुई। चौथी योजना मे कृषि-उत्पादन मे प्रगति की दर 1 7% रही। पाँचवी योजना के प्रथम (1974-75) वर्ष में कृषि-उत्पादन मे 3·5% की कमी हुई। 1975-76 मे कृषि-उत्पादन 15 6% बढा और 1976-77 मे कृषि-उत्पादन मे 5 5% की कमी हुई। 1977-78 वर्ष मे कृषि-उत्पादन मे लगभग 6% की वृद्धि होने की सम्भावना है। इस प्रकार कृषि-उत्पादन मे निरन्तर उच्चावचान होते रहे हैं।

तालिका 42—भारत मे कृषि-क्षेत्र का विकास

योजना	सार्वजनिक क्षेत्र मे व्यय		कृषि-क्षेत्र की प्रतिशत वार्षिक प्रगति-दर		
	कृषि पर व्यय (करोड रुपया)	योजना के कुल व्यय मे प्रतिशत	क्षेत्रफल	उत्पादन	उत्पादकता
1 प्रथम योजना	724	36 9	2 8	4 2	1 9
2. द्वितीय योजना	949	20 3	1 0	4 1	2 3
3. तृतीय योजना	1,754	20 5	0 4	—1 4	—2 2
4. तीन वार्षिक योजनाएँ (1965-66 से 1968-69)	1,578	23 8	0 7	6 3	5 4
5. चौथी योजना	3,674	23 3	1 2	3 0	1 7
6. पाँचवी योजना	8,084	20 6	N A	N A	N A
योग	16,763	21 8			

भारत के नियोजित विकास के प्रारम्भिक काल मे कृषि-विकास की समर-नीति परम्परागत विधियो पर आधारित थी और इस काल (1949-50 से 1964-65 तक) मे कृषि-उत्पादन एव उत्पादकता मे क्रमश 3 1% एव 1 2% की वार्षिक चक्रवृद्धि हुई। दूसरे चरण (1965-66 से 1975-76) मे कृषि-क्षेत्र मे नवीन तान्त्रिकताओ का उपयोग किया गया और इस काल मे कृषि-उत्पादन एवं उत्पादकता मे क्रमश 2 3% तथा 2 0% की वार्षिक चक्रवृद्धि हुई। प्रथम चरण मे द्वितीय चरण की तुलना मे कृषि-उत्पादन की प्रगति-दर ऊँची रही क्योकि प्रथम चरण मे कृषि-योग्य क्षेत्रफल मे अधिक तीव्र गति से वृद्धि हुई। प्रथम चरण मे कृषि-योग्य भूमि मे 1 6% प्रति वर्ष की चक्रवृद्धि हुई, जबकि द्वितीय चरण मे कृषि-योग्य भूमि की वार्षिक वृद्धि-दर 0 6% थी। दूसरे चरण मे कृषि-उत्पादन मे वृद्धि नवीन समर-नीति के फलस्वरूप रही जिसमे विपुल उपज के बीजो के उपयोग से गेहूँ के उत्पादन मे 155% की वृद्धि हुई।

भारत में कृषि-क्षेत्र का जनसख्या एव राष्ट्रीय आय दोनों ही दृष्टिकोण से अत्यधिक महत्व है। सन् 1971 की जनगणना के अनुसार भारत की कुल श्रम-शक्ति 2,305 लाख लोगो मे से 1,705 लाख लोग कृषि-क्षेत्र मे रोजगार प्राप्त करते थे। इस प्रकार देश की श्रम-शक्ति का 74% भाग कृषि-क्षेत्र से जीविकोपार्जन करता है। दूसरी ओर, कृषि-क्षेत्र देश के आन्तरिक उत्पादन का 49 1% भाग 1948-49 मे उत्पादित करता था, जो 1974-75 मे 48 5%, 1975-76 मे 44·4% और 1976-77 मे 42 6% हो गया। 1977-78 वर्ष मे कृषि-क्षेत्र द्वारा राष्ट्रीय आय का 43% भाग उत्पादित किये जाने का अनुमान है। इस प्रकार कृषि-क्षेत्र का हमारी अर्थ-व्यवस्था मे अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है।

भारत मे कृषि-नीति

भारत मे कृषि-क्षेत्र सामान्य जीवन का प्रमुख अग है और देश की सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था की गतिविधि कृषि पर निर्भर रहती है। यही कारण है कि देश के नियोजित विकास मे कृषि विकास

को अधिक महत्व प्राप्त होता है। यद्यपि कृषि-नीति का पर्याप्त लाभ ग्रामीण क्षेत्र के निर्बल वर्ग तक नही पहुँच पाया है परन्तु कृषि-उत्पादन, उत्पादकता, तकनीक आदि सभी मे गत तीस वर्षो मे प्रगति हुई है। जहाँ देश की राष्ट्रीय आय मे 1949-50 से 1976-77 के काल मे 3 8% प्रति वर्ष की चक्रवृद्धि हुई, वही कृषि-उत्पादन मे इस काल मे 2 5% की वार्षिक चक्रवृद्धि हुई है। दूसरी ओर, देश के औद्योगिक उत्पादन मे इस अवधि मे 6 3% वार्षिक की चक्रवृद्धि हुई है। ये तथ्य इस बात के द्योतक है कि हमारे देश मे कृषि-क्षेत्र का विकास उपयुक्त नही रहा है और हमारी कृषि-नीति दोष-रहित नही रही है। कृषि-क्षेत्र का पर्याप्त विकास न होने के कारण ग्रामीण क्षेत्रो मे गरीबी की रेखा से नीचे का जीवन-स्तर व्यतीत करने वाली जनसख्या का प्रतिशत 55 है। अदृश्य, आंशिक एव पूर्ण बेरोजगारी का केन्द्रीकरण ग्रामीण क्षेत्रो मे अधिक है। ग्रामीण क्षेत्रो मे कुल श्रम-शक्ति का लगभग 66 8% भाग ही पूर्णत रोजगार-प्राप्त है और शेष श्रम-शक्ति को या तो रोजगार बिलकुल ही उपलब्ध नही है अथवा इन्हे कभी-कभी कार्य उपलब्ध होता है। ग्रामीण क्षेत्रो मे व्यापक निर्धनता एव बेरोजगारी का मुख्य कारण कृषि-क्षेत्र का समन्वित सतत् विकास न होना है। हमारे देश की कृषि-नीति के प्रमुख अग निम्नवत् हैं

(1) **भूमि-सुधार**—देश की स्वतन्त्रता के पश्चात भूमि-सुधार सम्बन्धी कार्यवाहियो का प्रारम्भ निम्नलिखित उद्देश्यो की पूर्ति के लिए किया गया .

(अ) **राज्य एव भूमि पर वास्तविक जोत करने वालों के बीच के मध्यस्थों को समाप्त करना**—इन मध्यस्थो मे जमीदार, जागीरदार, इनामदार आदि सम्मिलित थे और इनको सभी राज्यो मे अधिनियमो द्वारा समाप्त कर दिया गया है। लगभग 200 लाख कृषको को राज्य के प्रत्यक्ष सम्पर्क मे ले आया गया है तथा लगभग 160 लाख एकड भूमि को कृषियोग्य बनाया गया है।

(ब) **कृषक पट्टाधारियों को उनके अधिकार की भूमि पर स्वामित्व प्रदान करना**—इस सम्बन्ध मे लगभग एक दर्जन राज्यो ने अधिनियम पारित किये है। कुछ राज्यो मे पट्टाधारी को भूमि क्रय करने का वैकल्पिक अधिकार प्रदान किया गया है। अन्य राज्यो मे भी कृषक पट्टाधारियो को भूमि पर स्वामित्व के अधिकार प्रदान करने के लिए कार्यवाहियाँ की जा रही हैं। गुजरात महाराष्ट्र, केरल, हिमाचल प्रदेश तथा जम्मू-कश्मीर मे पट्टाधारी पद्धति को पूरी तरह समाप्त कर दिया गया है। लगभग 40 लाख पट्टाधारी कृषको को 37 लाख हेक्टेयर भूमि पर भूमि-स्वामित्व अधिकार प्रदान किये गये है।

(स) **भूमि पर अधिकार सम्बन्धी प्रलेखों को ठीक प्रकार से विवेकपूर्ण रीति से रखने की व्यवस्था की गयी है।** पट्टाधारियो को भूमि से बेदखल करने पर प्रतिबन्ध लगाया गया है। बेदखली केवल लगान का भुगतान न करने और भूमि का दुरुपयोग करने पर ही की जा सकती है।

(द) **पट्टाधारी कृषकों द्वारा देय लगान की राशि को सकल उत्पादन के $\frac{1}{5}$ से $\frac{1}{4}$ तक निर्धारित करने के लिए कार्यवाहियाँ की गयी हैं।** पजाब, हरियाणा, तमिलनाडु और आन्ध्र प्रदेश को छोडकर अन्य सभी राज्यो मे भूमि के लगान की अधिकतम दरें निर्धारित कर दी गयी हैं जो सकल उत्पादन के $\frac{1}{5}$ से $\frac{1}{4}$ तक से अधिक नही है। पजाब और हरियाणा मे उचित लगान सकल उत्पाद का $33\frac{1}{3}$% और तमिलनाडु मे $33\frac{1}{3}$% से 40% तक निर्धारित किया गया है। आन्ध्र प्रदेश मे उचित लगान 25 से 30% तक है।

(य) **कृषि-भूमि की चकबन्दी**—कृषि-भूमि पर आधुनिक तकनीक का उपयोग करने के लिए खेतो को उपयुक्त आकार बनाने हेतु लगभग सभी राज्यो मे कृषि-भूमि का पुनर्वितरण इस प्रकार किया गया है कि प्रत्येक भू-स्वामी को अपनी कुल भूमि के बराबर भूमि एक या दो स्थानो पर इकट्ठी दी जा सके। अभी तक कृषि-भूमि के लगभग एक-चौथाई भाग की चकबन्दी की जा चुकी है। पजाब, हरियाणा एव पश्चिमी उत्तर प्रदेश मे चकबन्दी का कार्य पूर्ण हो चुका

है। चकवन्दी के कार्य के साथ-साथ भूमि प्रलेखों का भी विवेकीकरण किया गया है जिससे पट्टाधारी एवं फसल में भागीदार कृषकों को सुरक्षा प्रदान की जा सके।

(र) **कृषि-योग्य बनायी जा सकने वाली अनुपयोगी, रिक्त एवं अन्य प्रकार की भूमि का** *वितरण भूमिहीन श्रमिकों में किया गया है। लगभग 65 लाख हेक्टेयर भूमि का इस प्रकार वितरण किया गया है।*

(ल) **कृषि-भूमि के स्वामित्व का सीमाकन**—सन् 1960 के आसपास लगभग सभी राज्यों में भूमि-सीमाकन के लिए अधिनियम पारित किये गये परन्तु इन अधिनियमों को कुशलतापूर्वक लागू नहीं किया गया जिससे लगभग 10 लाख हेक्टेयर भूमि ही पुर्नवितरण के लिए उपलब्ध हो सकी। सन् 1972 में इस सम्बन्ध में कुछ व्यावहारिक कार्यवाहियाँ की गयीं और परिवार को इकाई मानकर अधिकतम भूमि की सीमा निर्धारित करने के लिए अधिनियमों में संशोधन किये गये हैं। लगभग 16 लाख हेक्टेयर भूमि भूमि-सीमाकन के लागू करने से उपलब्ध होने का अनुमान लगाया गया है जिसका वितरण भूमिहीन श्रमिकों में किया जा रहा है।

(2) **सिंचाई-सुविधाओं का विस्तार**—कृषि-भूमि का गहन उपयोग करने तथा कृषि की प्रकृति पर निर्भरता को कम करने के लिए सिंचाई-सुविधाओं का व्यापक विस्तार करने को विशेष महत्त्व प्रदान किया गया है। अभी तक फसल उगाने वाले क्षेत्रफल का केवल 25% भाग ही सिंचाई-सुविधाओं से लाभान्वित होता है। इसमें से आधी सिंचाई-सुविधाएँ मानसून की अनुकूलता पर निर्भर रहती हैं। स्वतन्त्रता के पश्चात सिंचित भूमि *226 लाख हेक्टेयर से बढ़कर 31 मार्च, 1976 तक 480 लाख हेक्टेयर हो गयी। यह अनुमान लगाया गया है कि 2,000 लाख हेक्टेयर* फसल उगाने वाले क्षेत्रफल में से 1,070 लाख हेक्टेयर भूमि पर सिंचाई-सुविधाओं का विस्तार किया जा सकता है। जनता पार्टी के आर्थिक नीति प्रस्ताव में सिंचाई-सुविधाओं के विस्तार को *मान्यता प्रदान की गयी और 15 वर्ष की अवधि में देश की सिंचाई की क्षमता का पूर्णतम उपयोग* करने का प्रस्ताव रखा है।

तालिका 43—सिंचाई-सुविधाओं पर व्यय एवं उनका विस्तार

अवधि	सरकारी क्षेत्र का आयोजित व्यय (करोड़ रुपया)	सिंचाई-क्षमता का निर्माण (लाख हेक्टेयर)	सचयी सिंचाई-क्षमता (लाख हेक्टेयर)
प्रथम योजना	376	25	122
द्वितीय योजना	380	21	143
तृतीय योजना	576	23	166
वार्षिक योजनाएँ (1966-69)	435	15	181
चौथी योजना	1,253	26	207
पाँचवी योजना			
1974-75	385	8	215
1975-76	502	10	225
1976-77	697	10 7	235 7
1977-78 (स्वीकृत)	950	13	248·7

गुजरात, जम्मू-कश्मीर, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र एवं त्रिपुरा में 15% से कम बोये जाने वाले क्षेत्र में सिंचाई-सुविधाएँ उपलब्ध हैं। सिंचाई-सुविधाओं के दृष्टिकोण से हरियाणा, मणिपुर, पंजाब, तमिलनाडु और पाण्डिचेरी अधिक सम्पन्न राज्य हैं। देश में 61 9% सिंचाई वृहद सिंचाई-परियोजनाओं और शेष 38·1% सिंचाई मध्यम एवं लघु सिंचाई-परियोजनाओं द्वारा की जाती है।

(3) *कृषि का यन्त्रीकरण*—कृषि-क्षेत्र का यन्त्रीकरण करके कृषि-उत्पादन मे वृद्धि करने को विशेष महत्व प्रदान किया गया। बहु-फसल परियोजना का विस्तार, कृषि-मौसम मे श्रमिको की कमी, विपुल उपज देने वाले बीजो के उपयोग मे अधिक उपज की सम्भावना, ग्रामीण क्षेत्रो मे तकनीकी ज्ञान मे सुधार अधिक उत्पादन से कृषको की विनियोजन क्षमता मे वृद्धि तथा साख-संस्थाओ द्वारा दीर्घकालीन ऋणो की उपलब्धि के फलस्वरूप कृषि-यन्त्रो, विशेषकर ट्रैक्टरो, की माँग मे वृद्धि हुई है। सन 1951 मे फसल उगाने वाले सकल क्षेत्रफल के प्रति एक लाख हेक्टेयर पर 7 ट्रैक्टरो का औसतन उपयोग किया जाता था, जो 1974 मे बढकर 133 हो गया। इसी प्रकार प्रति एक लाख बोये जाने वाले क्षेत्रफल पर ऑयल इजन एव विद्युत पम्प-सैटो का उपयोग 1951 मे क्रमश 62 एव 20 था, जो 1974 मे क्रमश बढकर 1,038 एव 1,420 हो गया। सन् 1951 म फसल वाले प्रति हेक्टेयर क्षेत्रफल मे 1 5 किलोवाट घण्टे विद्युत-शक्ति का उपयोग होता था, जो 1974 म बढकर 37 3 किलोवाट घण्टे हो गया। जनता सरकार नवीन कृषि-नीति के अन्तर्गत कृषि यन्त्रीकरण कार्यक्रम को नियमित करने की व्यवस्था की जानी है जिससे कृषि-क्षेत्र मे अधिक श्रम-शक्ति का उपयोग हो सके। ट्रैक्टरो का उपयोग भूमि को कृषि-योग्य बनाने, कठोर भूमि के क्षेत्र तथा ऐसे स्थानो के लिए ही किया जायेगा जहाँ श्रम की उपलब्धि अत्यन्त कम हो। कृषि-यन्त्रो के उपयोग को प्रोत्साहन देने के लिए बहुत से कृषि-सेवा केन्द्रो की स्थापना की गयी है।

(4) *रासायनिक उर्वरको का उपयोग*—रासायनिक उर्वरको का व्यापक उपयोग करके गहन-कृषि की योजनाओ को विशेष प्राथमिकता प्रदान की गयी है। उर्वरको का परीक्षण, प्रदर्शन एव विज्ञापन करके इनके उपभोग को बढाने मे सफलता प्राप्त हुई है। उर्वरको की माँग मे निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। 1952-53 मे फसल वाले प्रति सकल हेक्टेयर क्षेत्रफल पर औसतन 0 5 किलोग्राम न्यूट्रीऐण्ट उवरक उपयोग किया जाता था, जो 1975-76 मे बढकर 17 1 किलो ग्राम प्रति हेक्टेयर न्यूट्रीऐण्ट हो गया। उर्वरको का देश मे उत्पादन एव उपभोग विभिन्न योजनाओ के अन्तर्गत निम्न प्रकार हुआ

तालिका 44—उर्वरकों का उत्पादन एव उपभोग (1952-53 से 1974-75)

(हजार टन)

	न्यूट्रीऐण्ट्स				
	N		P_2O_5		K_2O
	उत्पादन	उपभोग	उत्पादन	उपभोग	उपभोग
प्रथम योजना के प्रारम्भ मे (1952-53)	53 1	57 8	7 4	4 6	3 3
द्वितीय योजना के प्रारम्भ म (1956-57)	78 8	123 1	17 6	15 9	14 8
तृतीय योजना के प्रारम्भ मे (1961-62)	154 3	291 5	65 4	63 9	28 0
तीन वार्षिक योजनाएँ (1966-69)	309 0	838 7	145 7	248 6	115 7
चौथी योजना के प्रारम्भ मे (1969-70)	730 6	1,360 3	223 7	419 8	209 4
पाँचवी योजना क प्रारम्भ म (1974-75)	1,186 6	1,773 8	331 2	477 6	339 2

उवरको के उत्पादन मे माग क अनुरूप पयाप्त वृद्धि नहीं हो पायी है इसलिए स्थानीय खाद के साधनो के विकास को प्रोत्साहन दिया गया है। कार्बनिक खादो के व्यापक उपयोग को

कार्यक्रम भी ग्रामीण एवं नगरीय क्षेत्रों में प्रारम्भ किया गया है। हरी खाद के उपयोग का भी विस्तार किया गया है।

(5) **विपुल उपज वाले बीजों का उपयोग**—सन 1964 में पॉल एवं विलियम पैड्डोक ने यह भविष्यवाणी की थी कि कृषि-उत्पादन की हमारी स्थिति उस भेड के समान है जिसे बूचडखाने ले जाया जा रहा हो। सन् 1964 तक हमारे कृषि-क्षेत्र के विकास की सम्भावनाएँ अत्यन्त क्षीण थी और यह समझा जाने लगा था कि हम अपनी आवश्यकतानुसार खाद्यान्न एवं कृषि-पदार्थ उत्पन्न करने में कभी भी समर्थ नहीं हो सकेंगे। वैसे तो सन् 1960 में ही देश मे वैज्ञानिक कृषि की ओर बढने के लिए कार्यवाहियाँ प्रारम्भ कर दी गयी थी परन्तु कृषि-क्षेत्र का वास्तविक विकास सन् 1964-65 से प्रारम्भ हुआ। सन् 1960 में जिला गहन कृषि कार्यक्रम (Intensive Agricultural District Programme—IADP) का प्रयोग के रूप में 15 जिलों (प्रत्येक राज्य में एक जिला) में प्रारम्भ किया गया। इन 15 जिलों में 329 विकास-खण्ड थे, जिनमें 39,635 ग्राम थे। इन ग्रामों में फसल उगाने वाला सकल क्षेत्रफल 88 53 लाख हेक्टेयर था। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत कृषि-तान्त्रिकताओं में सुधार किया गया। रासायनिक खाद, अच्छे बीज, सिंचाई, सुधरे हुए औजार, कृषकों की शिक्षा एवं प्रशिक्षण आदि की व्यवस्था की गयी। धीरे-धीरे इस कार्यक्रम का फैलाव बढता गया और सन् 1964-65 में अधिक उपज देने वाले बीजों के उपयोग से कृषि-क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तनों का प्रादुर्भाव हुआ। वास्तव में हमारी हरित क्रान्ति का मूलाधार अधिक उपज वाले बीजों के कार्यक्रम में ही निहित है। वैसे सन् 1967 में कृषि के क्षेत्र में जो नवीन नीति अपनायी गयी, उसमें (1) गहन कृषि जिला कार्यक्रम, (2) गहन कृषि क्षेत्रीय कार्यक्रम, (3) अधिक उपज वाले बीजों का कार्यक्रम, (4) बहुफसल कार्यक्रम, (5) कृषि-अनुसन्धान, (6) सार्वजनिक कृषि-संस्थाओं का प्रवर्तन, एवं (7) मूल्य-प्रोत्साहन आदि कार्यक्रम सम्मिलित किये गये।

इन समस्त कार्यक्रमों में से सर्वाधिक सफलता अधिक उपज वाले बीजों के कार्यक्रम को प्राप्त हुई और इसकी व्यापकता धीरे-धीरे बढती जा रही है। इस कार्यक्रम के फलस्वरूप हम गेहूँ के उत्पादन को पाँच फसलों (सन् 1967-72) के काल में दुगुना करने में समर्थ हुए हैं। अधिक उपज देने वाले बीजों का उपयोग चावल, गेहूँ, मक्का, ज्वार एवं बाजरा की फसलों में किया गया है परन्तु सर्वाधिक सफलता गेहूँ की फसल के सम्बन्ध में ही उपलब्ध हुई है। अधिक उपज देने वाले बीजों के अन्तर्गत क्षेत्रफल में वृद्धि होती जा रही है।

तालिका 45—अधिक उपज देने वाले बीजों का क्षेत्रफल

वर्ष	क्षेत्रफल (लाख हेक्टेयर)
1969-70	114 13
1970-71	153 83
1971-72	225 00
1973-74	250 00
1978-79 (लक्ष्य)	400 00

(6) **बहुफसल-कार्यक्रम**—अधिक उपज वाले बीजों का उपयोग वर्ष प्रति वर्ष अधिक क्षेत्रफल में होने लगा है और पाँचवीं योजना के अन्त में यह क्षेत्रफल 400 लाख हेक्टेयर करने का लक्ष्य रखा गया है। दूसरी ओर, बहुफसल-कार्यक्रम सन् 1969-70 में 20 28 लाख हेक्टेयर तथा सन् 1970-71 में 38 12 लाख हेक्टेयर लागू किया गया। सन् 1971-72 में बहुफसल-कार्यक्रम के अन्तर्गत कुल क्षेत्रफल 58 06 लाख हेक्टेयर था। अधिक उपज वाले बीज एवं बहुफसल-कार्यक्रम पंजाब, हरियाणा, गुजरात, बिहार आदि राज्यों में अधिक व्यापक है।

(7) **पौध-संरक्षण**—सन् 1968-69 में कीटाणुनाशक रसायनों के उपयोग में वृद्धि होना प्रारम्भ हो गयी थी। योजना-आयोग के द्वारा प्रकाशित आँकडों के अनुसार सन् 1968-69 में

400 लाख हेक्टेयर भूमि मे कीटाणुनाशक रसायन उपयोग किये गये। सन् 1969-70, 1970-71 एव 1971-72 मे यह क्षेत्रफल क्रमश. 346 1, 432 0 तथा 507·6 लाख हेक्टेयर हो गया। चौथी योजना के अन्त मे अर्थात् सन् 1973-74 मे 640 लाख हेक्टेयर भूमि पर कीटाणुनाशक रसायनो का उपयोग किया गया था। कीटाणुनाशक रसायनो का पर्याप्त उत्पादन देश मे न होने के कारण इसके उपभोग मे तीव्र गति से वृद्धि करना सम्भव नही हो सकता है। कीटाणुनाशक रसायनो के समस्त उपभोग का लगभग 43% भाग आयात से पूरा किया जाता है जिस पर लगभग 18 करोड रुपये का विदेशी विनिमय व्यय करना होता है। इसी कारण कीटाणुनाशक रसायनो के आयात-प्रतिस्थापन को पाँचवी योजना मे प्राथमिकता प्रदान की गयी है। सन् 1955-56 मे फसल वाले सकल प्रति हेक्टेयर क्षेत्रफल पर 15 9 ग्राम कीटाणुनाशक रसायनो का उपयोग होता था, जो 1975-76 मे बढकर 310 9 ग्राम हो गया।

(8) **भूमि-सरक्षण**—नियोजित विकास के प्रारम्भ मे ही भूमि-सरक्षण कार्यक्रमो को प्राथमिकता दी गयी है और 197 लाख हेक्टेयर भूमि का सरक्षण किया गया है, जिसमे से 181 लाख हेक्टेयर कटी हुई भूमि और 16 लाख हेक्टेयर गैर-कृषि भूमि का सरक्षण किया गया। भूमि-सरक्षण कार्यक्रम के अन्तर्गत लगभग 100 श्रमिक-दिवस रोजगार के अवसर ग्रामीण क्षेत्रो मे उत्पन्न किये गये। इसके अतिरिक्त 30 लाख हेक्टेयर भूमि को कृषि योग्य भी बनाया गया।

(9) **कृषि सेवा सस्थाओ की स्थापना**—कृषि-सेवा केन्द्रो की स्थापना निजी एव सार्वजनिक दोनो ही क्षेत्रो मे की गयी है। इन केन्द्रो मे कृषि-क्षेत्रो के उपयोग का प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है और साथ ही कृषि-यन्त्रो की उपलब्धि के सम्बन्ध मे सलाह भी प्रदान की जाती है। निजी क्षेत्र मे स्थापित कृषि-सेवा केन्द्र कृषि-यन्त्रो की मरम्मत के साथ-साथ कृषि-यन्त्रो को भाडे पर प्रदान करते है। निजी क्षेत्र मे कृषि सेवा केन्द्रो की स्थापना के लिए सरकार एव साख-सस्थाओ द्वारा ऋण की व्यवस्था की जाती है। इस व्यवस्था से कृषि-यन्त्रो का व्यापक उपयोग कृषि-क्षेत्र मे सम्भव हो सका है।

(10) **साख-सुविधाओ का विस्तार**—कृषि-क्षेत्र को अल्प, मध्य एव दीर्घकालीन साख प्रदान करने के लिए व्यापक व्यवस्थाएँ की गयी है। बैंक-साख के लिए कृषि-क्षेत्र को प्राथमिकता-प्राप्त क्षेत्र माना गया है। ग्रामीण क्षेत्रीय बैंको, सहकारी बैंको और भूमि-विकास बैंको का विस्तार किया गया है जिससे कृषको को साख पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध करायी जा सके। साख-सस्थाएँ कृषको को साख एव ऋण का उचित उपयोग करने के लिए सलाह भी प्रदान करती हैं।

(11) **मूल्य-प्रोत्साहन**—कृषि-उत्पादन मे वृद्धि होने पर मूल्यो मे प्रतिकूल उतार-चढाव से कृषको को सुरक्षा प्रदान करने के लिए सरकार द्वारा विभिन्न फसलो के सहायक (Support) मूल्य एव खरीद मूल्य निर्धारित किये जाते है। मूल्य-स्तर नीचे गिरने पर सरकार कृषि-पदार्थों का क्रय कर लेती है और मूल्य ऊँचे उठने पर अपने बफर स्टॉक मे से कृषि-पदार्थ उपभोक्ताओं को नियन्त्रित मूल्य पर प्रदान करती है। भारतीय खाद्य-निगम के माध्यम से सरकारी अनाज का क्रय-विक्रय किया जाता है।

(12) **विपणन-सुविधाओ मे सुधार**—कृषि-उत्पादन की विपणन-व्यवस्था को सुधारने हेतु मण्डियो के सगठन को वैधानिक स्वरूप लगभग सभी राज्यो मे दे दिया गया है। सहकारी विपणन सस्थाओ की स्थापना को प्रोत्साहन दिया गया है जिससे कृषको के शोषण को समाप्त किया जा सके। सहकारी विपणन सस्थाओ की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य कृषको को अपनी उपज का उचित मूल्य प्रदान करना है परन्तु सहकारी विपणन-सस्थाएँ, भारतीय खाद्य-निगम की एजेन्सियाँ एव व्यापारी अभी भी कृषक का शोषण करते है और कृषक की सौदेबाजी की कमजोरी का लाभ उठाते है। सहकारी सस्थाओ एव सरकारी एजेन्सियो मे निष्ठावान कर्मचारियो की अनुपस्थिति मे कृषि-उपज की कठिनाइयो का पूर्णत निवारण नही हो सका है।

इस प्रकार गत 30 वर्षों मे कृषि-क्षेत्र के विकास के लिए वैधानिक, वित्तीय, सस्थागत एव वितरण सम्बन्धी बहुत सी कार्यवाहियाँ की गयी है। फिर भी कृषि-क्षेत्र का वाछित विकास सम्भव

नही हो सका है और इन कार्यवाहियो का लाभ लघु कृषको एवं कृषि-मजदूरो को उपलब्ध नही हो सका है ।

(13) **सामुदायिक विकास कार्यक्रम**—सामुदायिक विकास कार्यक्रम एक ऐसा आन्दोलन है जिसके *अन्तर्गत समुदाय की सक्रिय सहभागिता एव प्रारम्भिकता के द्वारा समस्त समुदाय* के जीवन-स्तर मे सुधार करने का प्रयास किया जाता है । भारत मे सामुदायिक विकास परियोजनाओ को सचालित करने का निश्चय 'अधिक अन्न उपजाओ' जाँच-समिति की सिफारिशो के आधार पर 2 अक्टूबर, 1952 से किया गया । इस तिथि को 55 क्षेत्रो मे सामुदायिक विकास प्रारम्भ किये गये । हमारे देश मे सामुदायिक विकास के अन्तर्गत ग्रामीण क्षेत्रो मे कृषि के विकास, भूमि-सरक्षण, जल-पूर्ति का विकास, सहकारिता का प्रवर्तन, विपणन-व्यवस्था मे सुधार, पशु-पालन, वन-विकास, सार्वजनिक शिक्षा, सचार-व्यवस्था, ग्राम पचायत तथा अन्य सामाजिक सामुदायिक गतिविधियो के सम्बन्ध मे सरकार द्वारा की गयी कार्यवाहियो का समावेश रहता है । सामुदायिक विकास कार्यक्रमो के माध्यम से भारत मे ग्रामीण जन-समुदाय मे सामाजिक परिवर्तन, आर्थिक विकास एव प्रजातान्त्रिक सहभागिता को उदित करने का लक्ष्य रखा गया है । इसके अन्तर्गत देश के परम्परागत समाज मे विज्ञान एव तकनीक को जीवन के सामान्य अग के रूप मे स्वीकार करने की प्रवृत्ति जागृत करने का प्रयास किया गया है । हमारे देश के समाज मे परस्पर-विरोधी परिस्थितियो, वातावरण एव विचारधाराओ का एक ही समय एव स्थान पर सह-अस्तित्व विद्यमान है । बहुत धनी एव अत्यन्त गरीब, उच्च-शिक्षा प्राप्त एव अशिक्षित, कुशल एव अकुशल, आधुनिक एव परम्परागत आदि परस्पर-विरोधी तत्व हमारे समाज मे विद्यमान है जिसके कारण विकास-प्रक्रिया एव सामाजिक न्याय दोनो की उचित व्यवस्था करना अत्यन्त कठिन होता है । सामुदायिक विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत इन परस्पर-विरोधी तत्वो को इस प्रकार सम्मिश्रित करने का प्रयास किया गया कि सामाजिक न्याय के साथ आर्थिक विकास सचालित किया जा सके ।

सामुदायिक विकास कार्यक्रम के उद्देश्य

भारत मे सामुदायिक विकास कार्यक्रम के उद्देश्य निम्नवत् है

(1) *जनसाधारण मे इस विचारधारा को जागृत करना कि वे अपने ही प्रयासो से अच्छा जीवन-स्तर प्राप्त कर सकते है ।*

(2) जनसाधारण की प्रच्छन्न शक्तियो को विकसित करना, उनकी प्रारम्भिकता को प्रोत्साहित करना तथा उनमे नागरिक जागरूकता को बढाने के लिए उन्हे शिक्षित, निर्देशित एव उनकी सहायता करना । जनसाधारण मे स्वावलम्बन एव सामुदायिक सक्रियता की इच्छा जागृत करना भी *सामुदायिक विकास कार्यक्रम का उद्देश्य होता है ।*

(3) सामाजिक, सास्कृतिक एव आर्थिक विकास के लिए स्थानीय स्तर पर ऐसी परिस्थितियाँ उदित करना कि विकास की समन्वित विधियों का उपयोग किया जा सके ।

(4) जिन लोगो के हित के लिए कार्यक्रम सचालित किये जायें उनकी स्वावलम्बन की भावना के आधार पर सहभागिता प्राप्त करके उपलब्ध समस्त स्थानीय साधनो का उपयोग करना ।

(5) आधुनिक वैज्ञानिक एव तकनीकी ज्ञान को समुदाय के लोगो तक इस रूप मे पहुँचाना कि इस तत्व का वे अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए उपयोग कर सकें ।

(6) प्रजातान्त्रिक विधियो का उपयोग करके विकास को समुदाय द्वारा निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु इस प्रकार निर्देशित करना कि लोगो का आत्मसम्मान, स्वतन्त्रता एव मानवीय प्रतिष्ठा सुरक्षित रह सके ।

(7) ग्रामीण क्षेत्र के नागरिको को जीवित रहने का अधिकार, जीविकोपार्जन करने का अधिकार एव उपार्जित आय को प्राप्त करने का अधिकार प्रदान करना । इस प्रकार ग्रामीण क्षेत्र मे आर्थिक एव सम्पूर्ण बेरोजगारी को दूर करना सामुदायिक कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य होता है ।

(८) ग्रामीण परिवारों की साख-योग्यता बढ़ाकर सहकारिता के सिद्धान्तों का अधिकतम विस्तार करना।

(9) कृषि क्षेत्र में वैज्ञानिक ज्ञान का उपयोग करके उत्पादन में अधिकतम वृद्धि करना जिससे ग्रामीण जनसंख्या की आय एवं जीवन स्तर में वृद्धि की जा सके।

(10) ग्रामीण क्षेत्र के न्यून-अधिकार प्राप्त परिवारों को ग्रामीण समाज में उचित स्थान दिलाना और उन्हें सरकारी आन्दोलन एवं अन्य ग्रामीण विकास-कार्यक्रमों में भागीदार बनाना।

(11) सरकार की विभिन्न विकास एजेन्सियाँ एक टीम के रूप में नियोजित एवं समन्वित कार्यक्रम के आधार पर ग्रामीण जीवन में सुधार करने का निरन्तर प्रयास सामुदायिक कार्यक्रम के अन्तर्गत कर सकें।

(12) सामुदायिक विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत ग्रामीण क्षेत्र में ऐसी स्थानीय संस्थाओं— पंचायतों, युवक संघ, महिला संघ, मनोरंजन क्लब, सहकारी समितियाँ—को संचालित किया जाता है जिससे इनमें काम करने वाले स्थानीय लोगों को नेतृत्व करने का प्रशिक्षण प्रदान किया जा सके और स्थानीय स्तर पर प्रभावशाली नेतृत्व उपलब्ध हो सके।

सामुदायिक विकास कार्यक्रम का कार्यक्षेत्र

सामुदायिक विकास कार्यक्रम में अन्तर्गत ग्रामीण विकास के जन जीवन के सभी अंगों को प्रभावित करने का प्रयत्न किया जाता है। इस कार्यक्रम में प्रमुख कार्य-क्षेत्र निम्नवत् हैं

(1) कृषि एवं सहायक क्षेत्र—(i) उपभोग न की जाने वाली एवं बेकार भूमि को कृषि योग्य बनाना।

(ii) सिंचाई के लिए नहरों, ट्यूबवेलों, कुओं, तालाबों, झीलों, नदियों आदि से पानी की व्यवस्था करना।

(iii) अच्छे बीजों, सुधरी हुई कृषि-तकनीक, सुधरे हुए कृषि औजारों, विपणन एवं साख की सुविधा से पशु पालन, भूमि-अनुसन्धान एवं खाद आदि की व्यवस्था करना।

(iv) आन्तरिक मछली पकड़ना, फल एवं साग भाजी की खेती, बागवानी, वनों को लगाना आदि का विकास करना।

(v) नए ग्रामीण योजनाएँ।

(2) सहकारी समितियाँ—विद्यमान सहकारी समितियों को सुदृढ़ बनाकर एवं नयी समितियों की स्थापना करके क्षेत्र में प्रत्येक परिवार को सहकारी आन्दोलन में सम्मिलित करना।

(3) रोजगार—(i) नियोजित वितरण, व्यापार, सहायक एवं कल्याण सेवाओं में रोजगार को प्रोत्साहन देना। यथासम्भव इन कार्यवाहियों को सहकारिता के आधार पर संचालित किया जाय।

(ii) कुटीर, मध्यम एवं लघु उद्योगों का विस्तार एवं विकास।

(4) यातायात—सड़कों की व्यवस्था करना, यान्त्रिक सड़क यातायात सेवाओं का विस्तार करना तथा पशु यातायात का विकास करना।

(5) शिक्षा—प्राथमिक स्तर पर अनिवार्य एवं नि:शुल्क शिक्षा की व्यवस्था करना। माध्यमिक एवं हाईस्कूल तथा सामाजिक शिक्षा एवं पुस्तकालय सेवाओं का आयोजन करना।

(6) स्वास्थ्य सेवाएँ—स्वच्छता एवं सफाई का आयोजन, जन स्वास्थ्य कार्यवाहियाँ, बीमार लोगों को चिकित्सा की सहायता, प्रसव पूर्व एवं प्रसव पश्चात सेवाओं की व्यवस्था तथा प्रसूति-सेवाओं का आयोजन।

(7) प्रशिक्षण—(i) वर्तमान दस्तकारों की कुशलता में सुधार करने हेतु रिफ्रेशर कोर्स का आयोजन।

(ii) कृषकों, कृषि-सहायकों, पर्यवेक्षकों, दस्तकारों, प्रबन्धकीय कर्मचारियों, स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं एवं प्रबन्धकीय अधिकारियों के प्रशिक्षण की व्यवस्था।

(8) **निवास-गृह**—ग्रामीण एवं नगरीय क्षेत्रों के लिए निवास-गृहों की सुधरी हुई तकनीक एवं डिजायनों का उपयोग।

(9) **समाज-कल्याण**—(i) सामुदायिक मनोरंजन के लिए स्थानीय संस्कृति एवं योग्यताओं के उपयोग तथा श्रवण एवं दृष्टि सम्बन्धी (Audio-Visual) प्रसाधनों का मनोरंजन एवं निर्देशन के लिए उपयोग।

(ii) स्थानीय एवं अन्य खेल-कूद, मेला, सहकारिताएँ एवं स्वावलम्बी संस्थाओं को संगठित करना।

सामुदायिक विकास कार्यक्रम का संगठन

भारत में सामुदायिक विकास कार्यक्रम का प्रारम्भ 2 अक्टूबर, 1952 को हुआ जिसके अन्तर्गत 55 सामुदायिक परियोजनाओं का शुभारम्भ किया गया। यह एक पाइलट परियोजना (Pilot Scheme) के रूप में प्रारम्भ की गयी जिससे यह ज्ञात किया जा सके कि लोगों की इस स्कीम के प्रति क्या प्रतिक्रिया होती है और इसमें कौन-कौन सी कमियाँ रहती हैं। 55 परियोजनाओं के अन्तर्गत 27,388 ग्रामों को सम्मिलित किया गया, जिनकी जनसंख्या 164 लाख थी। प्रत्येक परियोजना में लगभग 300 ग्राम सम्मिलित किये गये, जिनकी जनसंख्या लगभग दो लाख एवं कृषि-योग्य क्षेत्रफल 1,50,000 एकड़ था। परियोजना क्षेत्र को तीन विकास-खण्डों में विभक्त किया गया और प्रत्येक खण्ड में लगभग 100 ग्राम रखे गये। प्रत्येक परियोजना का पूर्ति-काल तीन वर्ष निर्धारित किया गया। परियोजना का क्रियान्वयन निम्नलिखित पाँच अवस्थाओं में किया गया

(1) **अवधारणा अवस्था** (Conception Stage)—यह अवस्था तीन मास की होती है जिसमें क्षेत्र का चयन, उसका आर्थिक सर्वेक्षण तथा योजना के निर्माण का कार्य किया जाता है।

(2) **दीक्षा प्रारम्भिकता अवस्था** (Initiation Stage)—इस अवस्था का काल छः मास होता है। इसमें कर्मचारियों के निवास की व्यवस्था, संचालन क्षेत्र में संचार की व्यवस्था तथा आवश्यक सामग्री का संग्रहण किया जाता है।

(3) **संचालन अवस्था** (Operation Stage)—इस अवस्था के अठारह महीनों में समस्त स्वीकृत कार्यक्रमों का संचालन किया जाता है।

(4) **संघटन अवस्था** (Consolidation Stage)—इस अवस्था के छः माह में समस्त गतिविधियों का समापन किया जाता है।

(5) **अन्तिम अवस्था** (Finalisation Stage)—इस अवस्था के तीन मास में पूरे तीन वर्ष के कार्य को अन्तिम रूप दिया जाता है और ग्रामीणों को कार्यक्रम को आगे चलाते रहने के लिए तैयार कर दिया जाता है।

प्रारम्भ में इस पाइलट स्कीम की सफलता को देखते हुए सामुदायिक विकास कार्यक्रम के साथ एक कम गहन कार्यक्रम भी 2 अक्टूबर, 1953 को प्रारम्भ किया गया जिसका नाम 'राष्ट्रीय विस्तार सेवा कार्यक्रम' रखा गया। इस कार्यक्रम को समस्त देश में फैलाने का आयोजन किया गया और जिन खण्डों में राष्ट्रीय विस्तार-सेवा कार्यक्रम सफल रहा वहाँ तीनवर्षीय गहन कार्यक्रम 'सामुदायिक विकास कार्यक्रम' के नाम से संचालित किया गया। इस प्रकार राष्ट्रीय विस्तार-सेवा कार्यक्रम द्वारा क्षेत्रों को गहन कार्यक्रम के लिए तैयार किया गया जिससे सामुदायिक विकास कार्यक्रम संचालित किया जा सके। राष्ट्रीय विकास-सेवा कार्यक्रम एक या दो और अधिक से अधिक तीन वर्ष तक चलाने के बाद विकास-खण्ड में सामुदायिक विकास कार्यक्रम संचालित किया गया। प्रारम्भ में सामुदायिक विकास कार्यक्रम के दृष्टिकोण से देश को 5,265 विकास-खण्डों में बाँटा गया था जिन्हें बाद में पुनर्गठित करके 5,123 कर दिया गया। अब प्रत्येक विकास-खण्ड का क्षेत्रफल 620 वर्ग किलोमीटर होता है और इसके अन्तर्गत 110 ग्राम सम्मिलित किये जाते हैं जिनकी जनसंख्या लगभग 92,000 होती है।

सामुदायिक विकास का प्रशासन एवं प्रबन्ध

सामुदायिक विकास परियोजनाओं की प्रबन्ध-व्यवस्था को चार अंगों में विभक्त किया गया

है। केन्द्र-स्तर पर सामुदायिक विकास एवं सहकारिता मन्त्रालय इस सम्बन्ध मे योजना-आयोग एवं कृषि-मन्त्रालय से सलाह लेकर नीतियाँ निर्धारित करता है। राज्य-स्तर पर राज्य विकास परिषदो की सलाह पर सामुदायिक विकास के कार्यक्रम एवं नीतियाँ निर्धारित की जाती हैं। राज्य मे सामुदायिक विकास का सर्वोच्च प्रशासनिक अधिकारी विकास आयुक्त होता है। जिला-स्तर पर जिला विकास परिषदो का गठन किया जाता है। विकास-खण्ड-स्तर पर खण्ड व ब्लॉक पचायत समितियाँ और ग्रामीण स्तर पर ग्राम पचायतें इस कार्य की देखरेख करती हैं। ब्लॉक-स्तर पर प्रशासनिक अधिकारी ब्लॉक विकास अधिकारी और ग्राम-स्तर पर ग्राम-सेवक होता है। ग्राम-सेवक अपना सम्पूर्ण समय ग्राम की विभिन्न गतिविधियो की देखरेख एवं सुधार के लिए व्यय करता है। ब्लॉक-स्तर मे एक कृषि विकास अधिकारी भी नियुक्त किया जाता है जो कृषि सम्बन्धी समस्याओ का अध्ययन करता है, सलाह प्रदान करता है तथा जिला कृषि अधिकारी एवं ब्लॉक विकास अधिकारी से सम्पर्क बनाये रखता है। कृषि-क्षेत्र मे नवीन तकनीको, बीजो, खादो आदि के उपयोग की सलाह देने एवं व्यवस्था करने का कार्य भी करता है। ब्लॉक विकास अधिकारी पचायत का मुख्य अधिकारी होता है जो ग्रामो की कृषि, उद्योग, यातायात, साख, शिक्षा आदि समस्त क्रियाओ के सचालन एवं समन्वय की व्यवस्था करता है।

सामुदायिक विकास की प्रगति

2 अप्रैल, 1976 को देश मे कुल विकास-खण्डो की सख्या 5,026 थी, जिनमे 6,39,700 ग्राम सम्मिलित थे जिनकी जनसख्या 46 97 करोड थी। इस कार्यक्रम पर विभिन्न योजनाओ के अन्तर्गत लगभग 803 करोड रुपया खर्च किया गया है। सामुदायिक विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत कृषि-विकास को विशेष महत्व दिया गया। कृषि-क्षेत्र मे अच्छे बीजो एवं उर्वरको के उपयोग, सिंचाई-सुविधाओ का विस्तार, विशेषज्ञो की सेवाओ की उपलब्धि, सुधरी हुई तकनीक एवं कृषि-प्रसाधनो की उपलब्धि आदि की व्यवस्था की गयी है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत लगभग सभी राज्यो मे पचायत राज्य की स्थापना की गयी है और इन पचायतो को अनेक विकास कार्यक्रम सौंपे गये हैं। ग्रामीण क्षेत्र मे कार्य करने के लिए विभिन्न स्तर के कार्यकर्ताओ एवं अधिकारियो के प्रशिक्षण की व्यवस्था भी की गयी है। ग्राम सेवको के प्रशिक्षण के लिए 98, सहकारी विस्तार अधिकारियो के लिए 13, पचायत सचिवो के लिए 80, पचायत समितियो के अधिकारियो के प्रशिक्षण के लिए 26 प्रशिक्षण सस्थान सचालित किये जा रहे हैं।

पशुपालन कार्यक्रम मे सुधरी हुई नस्ल के पशुओ का विस्तार किया गया है और पशुओ के कृत्रिम गर्भाधान की व्यवस्था की गयी है। ग्रामीण क्षेत्रो मे ग्रामीण एवं लघु उद्योगो की स्थापना एवं विस्तार के लिए वित्तीय सहायता एवं अन्य सुविधाएँ प्रदान की गयी हैं। यातायात के क्षेत्र मे कच्ची सडको का निर्माण एवं पक्की सडको मे सुधार का कार्य किया गया है। पौष्टिक आहार कार्यक्रम के अन्तर्गत ग्रामीण क्षेत्रो मे फल, मछली, अण्डे आदि के सम्बन्ध मे जानकारी प्रदान की जाती है और निर्धन बच्चो को पौष्टिक आहार का वितरण किया जाता है। पिछडे हुए क्षेत्रो मे आदिम जाति विकास-खण्डो की भी स्थापना की गयी है जिनके द्वारा इन क्षेत्रो को अन्य क्षेत्रों के समान सुविधाएँ प्रदान करने का प्रयत्न किया गया है। पाँचवी योजना मे सम्पूर्ण विकास कार्यक्रम को भी प्रारम्भ किया गया है जिसके अन्तर्गत 38 गाँवो के सर्वांगीण विकास के लिए चकबन्दी, भूमि-विकास, सिंचाई-विकास एवं फसल-प्रारूप की पुनर्सरचना आदि कार्यक्रमो को समन्वित रूप से सचालित किया गया है। छठी योजना मे ग्रामीण एवं कृषि विकास को सर्वाधिक प्राथमिकता प्रदान की गयी है जिसके परिणामस्वरूप सामुदायिक विकास कार्यक्रम का महत्व बढने की सम्भावना है।

सामुदायिक विकास कार्यक्रम की असफलताएँ

सामुदायिक विकास कार्यक्रम का प्रमुख उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्र के नागरिको मे जागरूकता उत्पन्न करके उनमे स्वावलम्बन एवं आत्म-निर्भरता की भावना उत्पन्न करना था जिससे वे अच्छे

जीवन-स्तर हेतु इच्छा एवं प्रयत्न कर सकें। परन्तु इन लक्ष्यों की उपलब्धि अत्यन्त सीमित रही। ग्रामीण क्षेत्र के जन-जीवन में विषमताएँ सामाजिक एवं आर्थिक स्तर पर निरन्तर बढ़ती गयी है और पिछड़े हुए वर्गों, पिछड़ी जातियों एवं विपन्न वर्गों की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति में कोई विशेष सुधार नहीं हो सका है। ग्रामीण एवं नगरीय जीवन-स्तर के अन्तर को कम करना भी सम्भव नहीं हो सका है और बेरोजगारी एवं आंशिक बेरोजगारी का दबाव निरन्तर बढ़ता गया है। यद्यपि नियोजित विकास के 26 वर्षों में कृषि एवं उसके सहायक क्षेत्रों के विकास की गति सामान्य रही है परन्तु इस विकास का लाभ ग्रामीण क्षेत्र के विपन्न वर्ग को उपलब्ध नहीं हुआ है। विपन्न वर्ग विकास-कार्यक्रमों का न तो सक्रिय सहभागीदार ही बन सका है और न ही विकास के लाभों में उसे भागीदार बनाया गया है। सामुदायिक विकास कार्यक्रम इस प्रकार अपने उद्देश्यों की पूर्ति में आंशिक रूप से ही सफल हो सका है। इस कार्यक्रम की असफलता के मुख्य कारण निम्नवत् हैं

(1) **जागरूक स्वेच्छा की कमी**—सामुदायिक विकास कार्यक्रम की सबसे बड़ी मान्यता यह थी कि इस कार्यक्रम में ग्रामीण जन समाज अपनी विकास सम्बन्धी आवश्यकताओं को समझ सकेगा और अपने ही विकास-कार्यक्रमों में स्वेच्छा से भागीदार बनेगा। परन्तु जनसाधारण में जागरूकता एवं समझदारी की कमी के कारण स्वैच्छिक भागीदारी सम्भव न हो सकी।

(2) **प्राथमिकताओं का उचित निर्धारण नहीं**—कार्यक्रम प्रारम्भ करते समय यह मान लिया गया था कि जनसाधारण में अपने हितों के कार्यक्रमों की प्राथमिकताओं को निर्धारित करने की पर्याप्त योग्यता होगी और ऐसे कार्यक्रमों का चयन एवं संचालन किया जायेगा जिनसे समाज के शोषित एवं निर्धन वर्ग को पर्याप्त लाभ मिल सकेगा और यह वर्ग समाज के अन्य वर्गों में समन्वित किया जा सकेगा। परन्तु कार्यक्रमों की प्राथमिकताएँ एवं चयन इस प्रकार नहीं किया गया और सम्पन्न वर्ग कार्यक्रमों का अधिक लाभ प्राप्त करने में समर्थ रहा।

(3) **स्थानीय साधनों का उपयुक्त उपयोग नहीं**—सामुदायिक विकास कार्यक्रम की आधार-शिला स्थानीय नेतृत्व, स्थानीय प्रारम्भिकता, स्थानीय साधनों का उपयोग, स्थानीय प्रबन्धकीय व्यवस्था एवं स्थानीय विशेषज्ञता आदि का उपयोग था। परन्तु विकास-कार्यक्रम के प्रति लोगों में पर्याप्त रुचि उत्पन्न नहीं की जा सकी जिसके परिणामस्वरूप स्थानीय साधनों का पर्याप्त उपयोग नहीं किया जा सका।

(4) ***स्थानीय संकीर्ण विचारधाराओं का समावेश सार्वजनिक हित में नहीं हुआ***—स्थानीय विकास-कार्यक्रम में भागीदारी करने के पश्चात् जनसाधारण में सार्वजनिक हित के प्रति रुचि उत्पन्न होने की सम्भावना की गयी थी। यह माना गया कि विकास की प्रक्रिया में भागीदारी विभिन्न क्षेत्रीय समुदायों में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर सकेगी और सार्वजनिक हित में संकुचित विचारधाराओं का अस्तित्व समाप्त हो जायेगा। परन्तु ग्रामीण क्षेत्रों में स्थानीय संकुचित विचारधाराओं का महत्त्व निरन्तर बना रहा और यह संकीर्णता कम नहीं की जा सकी।

(5) **जीवन के समस्त क्षेत्र प्रभावित नहीं किये जा सके**—कार्यक्रम के अन्तर्गत यह माना गया था कि सामुदायिक जीवन के किसी एक पक्ष एवं क्षेत्र में परिवर्तन आने पर अन्य समस्त सम्बद्ध पक्षों एवं क्षेत्रों में भी अनुकूल परिवर्तन हो जायेगा। इस प्रकार सामुदायिक विकास कार्यक्रम जीवन के समस्त अंगों पर आच्छादित हो सकेगा और जीवन-स्तर के सुधार की प्रक्रिया सुदृढ़ हो सकेगी। परन्तु जिन क्षेत्रों एवं पक्षों में सरकारी कार्यक्रम संचालित किये गये उन्हीं में कुछ प्रगति हो सकी और उनसे सम्बद्ध ग्रामीण जीवन के अन्य पहलुओं में सुधार नहीं हो सका।

(6) **राजनीतिज्ञों का प्रभाव**—पंचायत राज की स्थापना के पश्चात् ग्रामीण क्षेत्रों में राजनीतिक चेतना में वृद्धि हो गयी और दलगत वैर-भाव गहन होने लगा जिसका प्रभाव सामुदायिक विकास कार्यक्रमों पर पड़ा और सार्वजनिक सहयोग की भावना उदय नहीं हो सकी।

(7) ***प्रशासनिक दुर्बलताएँ***—सामुदायिक विकास कार्यक्रम से संलग्न अधिकारियों एवं कर्मचारियों में पारस्परिक मतभेदों के कारण समस्त कार्यक्रम में सहयोग एवं सहकारिता का

अभाव विद्यमान रहा। सरकारी विभागो की लालफीताशाही से भी विकास कार्यक्रमो के सचालन मे कठिनाइयाँ उपस्थित होती रही।

(8) **आर्थिक प्रगति को कम महत्व**—सामुदायिक विकास कार्यक्रमो के अन्तर्गत आर्थिक प्रगति और विशेषकर उत्पादकता एव रोजगार-वृद्धि की ओर पर्याप्त ध्यान नही दिया गया। समाज-कल्याण के कार्यक्रमो पर अधिक धन व्यय किया गया जिनका उचित मूल्याकन नही किया जा सकता था। इस व्यवस्था के परिणामस्वरूप ग्रामीण क्षेत्र मे निर्धनता को कम नही किया जा सका और कार्यक्रम के प्रति लोगो का विश्वास उत्पन्न नही किया जा सका।

(9) ***आर्थिक विषमताओ मे वृद्धि***—*सामुदायिक विकास कार्यक्रम* विपन्न एव निर्बल वर्ग को ग्रामीण क्षेत्र की सामान्य धारा मे समावेशित करने मे सफल नही रहा क्योकि विभिन्न विकास-कार्यक्रमो का लाभ सम्पन्न वर्ग तक ही सीमित रहा। कृषि-विकास कार्यक्रमो का लाभ बडे कृषको को ही मिला जिससे ग्रामीण समाज मे आर्थिक विषमताओ मे वृद्धि हुई।

सामुदायिक विकास कार्यक्रम की असफलता के कारणो के अध्ययन से ज्ञात होता है कि सिद्धान्त रूप मे इस कार्यक्रम मे कोई दोष निहित नही थे अपितु यही एक ऐसा कार्यक्रम है जिसमे सरकार एव जनसाधारण मिलकर देश म प्रजातान्त्रिक विधियो मे समाजवाद की स्थापना कर सकते है। कार्यक्रम के क्रियान्वयन एव प्रशासनिक व्यवस्था मे सुधार करके इसकी कठिनाइयो को दूर करना सम्भव हो सकता है। *छठी योजना के तीन प्रमुख लक्ष्यो, बेरोजगारी उन्मूलन, कृषि* एव ग्रामीण विकास तथा विषमताओ की कमी की पूर्ति मे सामुदायिक विकास कार्यक्रम महत्वपूर्ण योगदान प्रदान कर सकता है। इस कार्यक्रम की सफलता प्रशासनिक कुशलता, राजनीतिक हस्तक्षेप म बचाव एव सक्रिय जन-सहयोग पर निर्भर है।

भारत एव अन्य विकासशील राष्ट्रो के कृषि विकास की तुलना

सन् 1952 56 के काल से सन् 1965-69 के काल तक मैक्सिको मे कृषि-विकास की चक्रवृद्धि दर 4 9% ब्राजील मे 3 9%, टर्की मे 3 6%, मिस्र मे 3 0%, श्रीलका मे 3 0% और पाकिस्तान मे 2 9% थी, जबकि भारतवर्ष मे इस काल मे कृषि-विकास की दर 2 1% ही थी। भारत मे कृषि-क्षेत्र के विकास की तीव्र गति सन् *1964-65* के बाद ही प्रारम्भ हुई है और वह भी गेहूँ मे अधिक उपज वाले बीजो की सफलता के कारण। भारत मे खाद्यान्नो के उत्पादन मे अन्य विकासशील राष्ट्रो की तुलना मे अधिक तीव्र गति मे वृद्धि नही हुई। यह तथ्य निम्नाकित तालिका से पुष्ट होता है

तालिका 46—विभिन्न विकासशील राष्ट्रों मे खाद्यान्न-उत्पादन के निर्देशाक
(सन् 1952-56=100)

देश	सन् 1955 मे निर्देशाक	सन् 1971 मे निर्देशाक	वृद्धि का प्रतिशत
चीन	105	148	41 0
लैटिन अमेरिका	102	165	61 8
निकट-पूर्व	100	165	65 0
सुदूर-पूर्व	103	165	60 2
अफ्रीका	101	147	45 6
वर्मा	101	149	47 5
श्रीलका	112	173	52 8
भारत	104	155	49 0
इण्डोनेशिया	102	148	45 1
जापान	113	163	44 2
पाकिस्तान	98	159	60 2
फिलीपाइन्स	100	193	93 0
थाइलैण्ड	104	220	111 5

भारत में कृषि-नीति की असफलताएँ

(1) **कृषि-उत्पादन में असन्तुलन**—भारत में संचालित कृषि-नीति एवं कार्यक्रमों (हरित क्रान्ति) के फलस्वरूप गेहूँ के उत्पादन में अन्य कृषि फसलों की तुलना में अधिक प्रगति हुई है। गेहूँ का उत्पादन 1966-67 में 110 लाख टन था, जो 1975-76 में बढ़कर 280 लाख हो गया। इस प्रकार गेहूँ के उत्पादन में 155% की वृद्धि हुई है। अन्य कृषि-उत्पादों में गेहूँ की तुलना में कम वृद्धि हुई है। गैर-खाद्यान्न फसलों के उत्पादन में भी गेहूँ की तुलना में प्रगति की दर बहुत कम है। 1964-65 से 1975-76 के काल में गेहूँ के उत्पादन में वार्षिक वृद्धि-दर 7.7% थी, जबकि चावल में यह दर 1·8%, गन्ना में 2·5%, मूँगफली में 1·0% और कपास में 1·3% थी।

(2) **कृषि-उत्पादनों में उच्चावचन**—कृषि-उत्पादन की जलवायु पर निर्भरता अभी बनी हुई है जिसके परिणामस्वरूप कृषि-उत्पादन में वर्ष प्रति वर्ष उच्चावचन होते रहते हैं। 1974-75 में कृषि-उत्पादन में 3.1% की कमी हुई, जबकि 1975-76 में कृषि-उत्पादन में 15.6% की वृद्धि हुई। 1976-77 में कृषि में एक बार फिर उत्पादन 3.6% से घट गया और 1977-78 के लिए कृषि-उत्पादन में 6% की वृद्धि होने की सम्भावना की जाती है। इस प्रकार कृषि-उत्पादन में निरन्तर उच्चावचन होने के कारण अर्थ-व्यवस्था की प्रगति में व्यवधान उत्पन्न होते रहते हैं।

(3) **कृषि-आदायों की पर्याप्त उपलब्धि नहीं**—यद्यपि कृषि-क्षेत्र की उत्पादन-वृद्धि में विपुल उपज वाले बीजों का विशेष योगदान है परन्तु विपुल उपज के बीजों का व्यापक उपयोग अन्य कृषि-आदायों, विशेषकर सिंचाई-सुविधाओं एवं उर्वरकों की उपलब्धि, पर निर्भर रहता है। उर्वरकों का 1975-76 में देश में उत्पादन 34 लाख न्यूट्रीऐण्ट टन था और कुल माँग का लगभग 20% भाग आयात किया गया। छठी योजना में खाद्यान्नों के उत्पादन के लक्ष्य 1,600 लाख टन और नगद-फसलों के उत्पादन में 5% प्रति वर्ष प्रगति प्राप्त करने के लिए 1983-84 तक रासायनिक उर्वरकों का उत्पादन 80 लाख टन करना होगा। सरकार द्वारा कृषि-आदायों पर उत्पादन कर समाप्त करके इनके उत्पादन-वृद्धि में प्रोत्साहन दिया जा रहा है। इसी प्रकार फसल वाले क्षेत्रफल के 50% भाग में सिंचाई-सुविधाओं का विस्तार करने का प्रयास किया जा रहा है। भविष्य में कृषि-उत्पादन में वृद्धि सिंचाई-सुविधाओं एवं रासायनिक उर्वरकों की उपलब्धि पर निर्भर रहेगी।

(4) **क्षेत्रीय असन्तुलन**—विभिन्न राज्यों में कृषि-उत्पादन की प्रगति की दर समान नहीं रही है वैसे भूमि की किस्म, प्राकृतिक दशाओं, वर्षा की मात्रा आदि पर विभिन्न राज्यों के कृषि-उत्पादन एवं उत्पादकता निर्भर रहते हैं। विभिन्न राज्यों में कृषि-नीति के फलस्वरूप भी कृषि-उत्पादन की प्रगति की दरों में बहुत अन्तर है। 1959-60 से 1975-76 के काल में खाद्यान्न-उत्पादन की चक्रवृद्धि वार्षिक दर समस्त भारत में 2.2% थी, जबकि यह दर पंजाब में 5·9%, हिमाचल प्रदेश में 8.5%, मनीपुर में 7.2%, त्रिपुरा में 6.0%, हरियाणा और कर्नाटक में 3.8%, गुजरात में 3.9% और जम्मू-कश्मीर में 3.1% थी। दूसरी ओर, खाद्यान्न-उत्पादन की चक्रवृद्धि दर इस काल में बिहार, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, उड़ीसा, राजस्थान, तमिलनाडु एवं उत्तर प्रदेश में समस्त भारत की प्रगति-दर से कम थी। विभिन्न राज्यों में कृषि-उत्पादकता में भी बहुत अधिक अन्तर विद्यमान है। केरल, त्रिपुरा, असम पंजाब, तमिलनाडु और पश्चिम बंगाल में प्रति हेक्टेयर कृषि-उत्पादन 1969-70 में 1,500 रुपये से अधिक था, जबकि बिहार, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, कर्नाटक, गुजरात, राजस्थान और उड़ीसा में कृषि-उत्पादन प्रति हेक्टेयर 1,000 रुपये से भी कम था। कृषि-उत्पादकता एवं उत्पादन की प्रगति की दर में यह क्षेत्रीय असन्तुलन कृषि-नीति के असमान संचालन के कारण भी उदय हुआ है।

तालिका 47—1975 वर्ष में विभिन्न देशों में गेहूँ एवं धान की प्रति हेक्टेयर उत्पादकता

(किलोग्राम मे)

देश	धान	देश	गेहूँ
इण्डोनेशिया	2,686	आस्ट्रेलिया	1,333
जापान	6,185	कनाडा	1,802
पाकिस्तान	2,271	चीन	1,367
फिलीपाइन्स	1,760	फ्रास	3,888
थाईलैण्ड	1,771	इटली	2,714
चीन	3,235	पाकिस्तान	1,323
मिस्र	5,326	मिस्र	2,504
सयुक्त राज्य अमेरिका	5,105	ब्रिटेन	4,382
बर्मा	1,462	सयुक्त राज्य अमेरिका	2,060
भारत	1,877	भारत	1,338

उक्त तालिका (47) मे स्पष्ट है कि हमारे देश मे उत्पादकता का स्तर अत्यन्त नीचा है जो कृषि-क्षेत्र के पिछड़ेपन का प्रमुख कारण है। 1975-76 वर्ष मे विभिन्न राज्यो मे भी कृषि-क्षेत्र की उत्पादकता में *अत्यधिक भिन्नता थी*

प्रति हेक्टेयर उत्पादकता

(किलोग्राम मे)

भारत	1,877
आन्ध्र प्रदेश	2,485
तमिलनाडु	3,255
पजाब	3,867
बिहार	1,382
उडीसा	1,488
असम	1,613
उत्तर प्रदेश	1,402
पश्चिमी बगाल	1,879

अधिकतर घने बसे राज्यो मे कृषि-उत्पादकता की दर सम्पूर्ण भारत की औसत दर से कम है।

(5) **आर्थिक एवं सामाजिक विषमताएँ**—कृषि-नीति कृषि-क्षेत्र मे असमानता बढाने मे सहायक हुई है। विभिन्न सुविधाओं का लाभ बड़े एव सम्पन्न कृषको को ही उपलब्ध हुआ है क्योंकि ये अधिक विनियोजन करने तथा विभिन्न एजेन्सियो से आवश्यक सहायता प्राप्त करने मे समर्थ रहे हैं। 1973-74 के मूल्यो के आधार पर प्रति व्यक्ति मासिक न्यूनतम उपभोग 62 टन अनुमानित किया गया है और इस आधार पर 1973-74 मे ग्रामीण जनसख्या का 61% (योजना-आयोग विशेषज्ञ समिति) भाग इस न्यूनतम उपभोग-स्तर से नीचे उपभोग-व्यय करता था। गरीबी की इस व्यापकता का मुख्य कारण कृषि की प्रगति के लाभों का असमान वितरण रहा है।

(6) **प्रति व्यक्ति खाद्यान्नों की उपलब्धि मे पर्याप्त वृद्धि नहीं**—हमारे देश मे कृषि-उत्पादन मे जनसख्या की वृद्धि के अनुपात मे पर्याप्त वृद्धि नही हुई है। 1956 मे प्रति व्यक्ति खाद्यान्नो की उपलब्धि प्रतिदिन 430 9 ग्राम थी जो 1961 मे 468 7 ग्राम, 1966 मे 408·2 ग्राम, 1969 मे 445 2 ग्राम, 1974 मे 452 5 ग्राम, 1975 मे 409 6 ग्राम और 1976 मे 456 8 ग्राम

रही। खाद्यान्नो की यह उपलब्धि अपर्याप्त है और 1956 से 1976 तक 26 वर्षो में खाद्यान्नो की प्रति व्यक्ति उपलब्धि में केवल 6% की कुल वृद्धि हुई, जो जनसाधारण के उपभोग एव जीवन-स्तर मे सुधार करने के लिए अपर्याप्त है। हमारे देश मे प्रति व्यक्ति दैनिक कैलोरी उपभोग और प्रोटीन उपभोग क्रमश 2,071 कैलोरी एव 51 ग्राम है, जबकि विकसित राष्ट्रो मे यह उपभोग क्रमश 3,150 एव 96 4 ग्राम है।

(7) **नवीन तकनीको का समन्वित रूप से उपलब्ध न होना**—भारतीय कृषक कृषि की नवीन तकनीको का उपयोग करने के लिए उसी समय इच्छुक होता है जबकि नवीन तकनीक सम्बन्धी समस्त सुविधाएँ समन्वित रूप से एक ही स्रोत से उपलब्ध हो सकें। परन्तु अभी तक इस प्रकार की समन्वित व्यवस्था का उपयुक्त आयोजन नही किया जा सका है और कृषक को विभिन्न आदायो के लिए अलग-अलग एजेन्सियो के पास जाना पडता है।

(8) **कृषि एव उसके सहायक क्षेत्रो के विकास मे समन्वय की कमी**—कृषि क्षेत्र एव उसके सहायक क्षेत्र पशु-पालन, मछली व्यवसाय, वन-उपज आदि के विकास मे समन्वय की कमी के कारण कृषक को अपने साधनो को आय के अन्य क्षेत्रो पर उपयोग करने के अवसर प्राप्त नही होते हैं और उसके बहुत से साधनो का उपयोग नहीं हो पाता है।

(9) **असिंचित क्षेत्रो के विकास पर पर्याप्त ध्यान नही**—कृषि की नवीन समर-नीति के अन्तर्गत सिंचित भूमि के गहन उपयोग पर विशेष ध्यान नही दिया जाता है जिसमे असिंचित भूमि से पर्याप्त उत्पादन प्राप्त नहीं हो सका है।

(10) **ग्रामीण स्त्रियों की योग्यता एव कार्यक्षमता बढाने का प्रयत्न नहीं**—ग्रामीण क्षेत्रो मे स्त्रियो का कृषि-कार्यो मे पुरुषो के समान ही योगदान रहता है। परन्तु अभी तक ग्रामीण स्त्रियो की योग्यता एव क्षमता मे वृद्धि करने के लिए प्रयास नही किये गये है। ग्रामीण स्त्रियो को उपयुक्त प्रशिक्षण आदि की व्यवस्था करके उनकी आयोपार्जन-क्षमता मे वृद्धि की जा सकती है जिससे कृषि-क्षेत्र के उत्पादक विनियोजन मे वृद्धि की जा सकती है।

(11) **कृषि-उत्पादो के उपभोग एव सचय करने की क्षमता मे पर्याप्त सुधार नहीं**—यद्यपि देश मे कृषि-उत्पादन में वृद्धि करने की क्षमता में सुधार हुआ है परन्तु अभी तक कृषि-उत्पादो के सुरक्षित सचय एव उपभोग करने की क्षमता मे पर्याप्त सुधार नही हुआ है। कृषि-उत्पादन मे केवल 5% की वृद्धि कठिन बाहुल्य की स्थिति उत्पन्न कर देती है और मूल्यो मे गिरावट आने लगती है। दूसरी ओर, कृषि-उत्पादन मे 5% की ही कमी गम्भीर न्यूनता की स्थिति उत्पन्न कर देती है।

(12) **ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था का मौद्रीकरण**—हरित-क्रान्ति के अन्तर्गत कृषको को कृषि-आदायो की प्राप्ति हेतु नकद रुपये की अधिक आवश्यकता होती है। भूमि से कृषि-उपज की मात्रा मे क्रान्तिकारी परिवर्तन हो जाने के कारण उसे अपनी फसल का थोडा भाग बेचकर आवश्यक नकद राशि प्राप्त हो जाती है। अब कृषक कृषि मजदूरो का फसल का निश्चित अश, पशुओ के चराने की नि शुल्क सुविधा, ईंधन की लकडी एकत्रित करने की सुविधा, कम ब्याज पर ऋण आदि की सुविधा प्रदान नही करते हैं। इन सब सुविधाओं के बदले मे कृषि-श्रमिको को मजदूरी नकद रुपये मे भुगतान करने की व्यवस्था होती जा रही है जिससे कृषि-मजदूरो की आर्थिक एव सामाजिक परिस्थिति पर प्रतिकूल प्रभाव पड रहा है और ग्रामीण क्षेत्रो मे एक बार फिर जमीदार एव किसान के आपसी पुराने सम्बन्धो का प्रादुर्भाव होने लगा है।

(13) **विपणन-व्यवस्था मे अनुकूल सुधार नहीं**—कृषि क्षेत्र के उत्पादन म वृद्धि होने के साथ-साथ देश मे कृषि-पदार्थो के यातायात व सग्रह करने हेतु उचित भण्डार-गृह एव उचित मूल्य पर क्रय-विक्रय की व्यवस्था मे पर्याप्त सुधार नही किये जा सके हैं। कृषि-पदार्थो की उत्पादन-वृद्धि का सबसे अधिक लाभ बडे कृषको एव अनाज के थोक व्यापारियो को हुआ है। बडे कृषक अपनी फसल के विक्रय को अच्छे मूल्य प्राप्त करने हेतु स्थगित करने मे समर्थ होते हैं और दूसरी ओर बडे व्यापारी फसल के समय गिरे हुए मूल्यो पर कृषि-पदार्थों का सग्रह करके बाद मे अधिक मूल्य

पर उन्हें रोजगार नाभोपार्जन करता है। इस प्रकार कृषि उत्पादों की प्रगति का लाभ न तो उत्पादक को ही मिलता है और न ही उपभोक्ता उचित मूल्य पर वस्तुएँ प्राप्त कर पाता है। सरकारी क्षेत्र में यद्यपि सिद्धान्त रूप से शोषण तत्व निहित नहीं रहता परन्तु सरकारी तन्त्र की कार्यविधि एवं सरकारी अधिकारियों का निष्ठावान न होना सरकारी क्षेत्र में भी शोषण तत्व को प्रविष्ट कर देता है जिससे उत्पादक एवं उपभोक्ता दोनों को ही शोषण का शिकार बनना पड़ता है। सरकार द्वारा लेवी पद्धति से अनाज खाद्यान्न का संग्रहण किया जाता है। सरकार निर्धारित मूल्यों पर किसानों एवं व्यापारियों से खाद्यान्न का निर्धारित अनुपात (उपज अथवा खरीद का) खरीदती है जिससे कम आय वाले वर्गों को नियन्त्रित मूल्यों पर खाद्यान्न उपलब्ध कराये जा सकें हैं। लेवी पद्धति से कृषकों में असन्तोष की भावना जाग्रत होती है क्योंकि सरकार द्वारा निर्धारित मूल्य खुले बाजार के मूल्यों से बहुत कम होते हैं। इसी मूल्य में कृषकों को जो हानि उठानी पड़ती है उसकी क्षतिपूर्ति वे खुले बाजार के मूल्यों से करना चाहते हैं जिसके निमित्त—विशेषकर बड़े किसान—अपनी उपज को थोड़ा थोड़ा करके बेचता है और मूल्य वृद्धि की प्रतीक्षा में अनाज संग्रह करके रख लेता है। इस प्रकार कृषि पदार्थों की अर्थव्यवस्था में कृत्रिम कमी का उदय होता है। दूसरी ओर कृषि मजदूरों को ग्रामीण क्षेत्रों में नियन्त्रित मूल्य पर खाद्यान्न उपलब्ध न होने के कारण उन्हें खुले बाजार के मूल्यों पर अनाज क्रय करना पड़ता है जिससे उनकी आर्थिक स्थिति और सोचनीय होती जाती है।

(14) **बेरोजगार में वृद्धि**—कृषि नीति के अन्तर्गत कृषि के यन्त्रीकरण का भी विस्तार हो रहा है जिसके परिणामस्वरूप कृषि कार्यों हेतु श्रमिक की माँग में कमी होना स्वाभाविक है विशेषकर अकुशल श्रम शक्ति की माँग कम होती जा रही है। इस परिस्थिति के परिणामस्वरूप जनसंख्या का ग्रामीण क्षेत्रों से नगरीय क्षेत्रों में प्रवाहित होना स्वाभाविक है जो अर्थव्यवस्था में अनेक समस्याएँ उत्पन्न करता है।

कृषि-विकास के भावी कार्यक्रम एवं नीति

देश में राजनीतिक परिवर्तनों के साथ साथ कृषि एवं ग्रामीण विकास सम्बन्धी नीति में भी परिवर्तन किया गया है। निर्धनता एवं बेरोजगारी उन्मूलन को सर्वाधिक प्राथमिकता प्रदान की जा रही है और इन दोनों लक्ष्यों की उपलब्धि कृषि एवं ग्रामीण विकास में निहित है। कृषि क्षेत्र में भूमि का गहन उपयोग करके रोजगार के अवसरों में पर्याप्त वृद्धि करना सम्भव हो सकेगा। भूमि का गहन उपयोग सिंचाई सुविधाओं में वृद्धि बहुफसल कार्यक्रम तथा कुशल तकनीक के उपयोग के माध्यम से सम्भव हो सकता है। इसी कारण से छठी योजना में कृषि विकास प्रधान विकास समर नीति का उपयोग किया जायेगा जिसके अन्तर्गत भूमि के पुनर्वितरण एवं भूमि की चकबन्दी के कार्यक्रमों का विस्तार किया जायेगा और कृषि यन्त्रीकरण के उपयोग को कम श्रम उपलब्ध होने वाले क्षेत्रों तक सीमित किया जायेगा। विनियोजन के साधनों के आवंटन में कृषि एवं उसके सहायक क्रियाकलापों (सिंचाई उर्वरक आदि) को सर्वाधिक प्राथमिकता दी जायेगी। साथ ही गृह एवं लघु उद्योग तथा उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन को भी प्राथमिकता दी जायेगी।

सत्तारूढ़ जनता पार्टी द्वारा अपनी नवीन आर्थिक नीति के अन्तर्गत आर्थिक विकास को 7% प्रति वर्ष करने का सुझाव रखा गया है तथा विकास कार्यक्रमों में कृषि एवं ग्रामीण विकास को सर्वाधिक प्राथमिकता प्रदान की गयी है। ग्रामीण विकास के लिए निम्नलिखित कार्यक्रमों का सञ्चालन करने की सिफारिश की गयी है

(अ) 15 वर्ष की अवधि में देश के वर्तमान सिंचाई के साधनों का पूर्णतम उपयोग।

(ब) भूमि कटाव को रोकने के उपाय तथा मिट्टी अनुसन्धान का आयोजन।

(स) खाद एवं ईंधन की बचत।

(द) ग्रामीण विकास केन्द्रों की स्थापना।

(क) कृषि-आदायों, उर्वरक, कीटनाशक रसायन आदि पर उत्पादन शुल्क समाप्त करना।

(ख) कृषकों को उपज का मूल्य उत्पादन-लागत के अनुपात में दिलाने की व्यवस्था।

(ग) भूमि सुधार अधिनियमों की कमियों को दूर करना और इन्हें तीन वर्षों में पूर्णतः लागू करना।

(घ) सरकारी जमीन (जिसका अभी उपयोग नहीं हो रहा है) का अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के भूमिहीन लोगों में वितरित करना।

(च) भूमि की चकबन्दी के साथ जोत की न्यूनतम सीमा 2 5 एकड़ निर्धारित की जाय और वसीयत एवं हस्तान्तरण सम्बन्धी अधिनियमों में परिवर्तन किये जाने चाहिए।

(छ) औद्योगिक नीति के समान कृषि-नीति की भी घोषणा की जाय और प्रत्येक राज्य में कम से कम दो जिलों को सघन ग्रामीण विकास के लिए चुना जाय।

जनता पार्टी के कृषि सम्बन्धी इन सुझावों का क्रियान्वयन करके ग्रामीण एवं कृषि-विकास को वाछनीय गति प्रदान की जा सकती है। कृषि एवं ग्रामीण विकास हेतु ऐसे समन्वित विकास-मॉडल की आवश्यकता है जिसमें श्रम-सघन कृषि, श्रम-सघन लघु विकास-कार्यक्रमों, कृषि-जन्य लघु एवं हल्के उद्योगों, कम पूँजी वाली तकनीकों तथा आत्म-निर्भरता के वातावरण का समन्वित समावेश हो। इस मॉडल के अन्तर्गत कृषि को आत्मनिर्भर बनाया जाना चाहिए जिससे आय एवं बचत की वृद्धि का उपयोग ग्रामीण क्षेत्रों में उपरिव्यय-सुविधाओं को बढ़ाने हेतु किया जा सके और स्वय-निर्वाहित (Self-sustaining) ग्रामीण विकास गतिमान हो सके। स्वय-निर्वाहित ग्रामीण विकास हेतु स्थानीय, क्षेत्रीय एवं राष्ट्रीय स्तर पर ऐसी सरकारी एजेन्सियों की स्थापना की जानी चाहिए जिनमें उन सभी विभागों एवं मन्त्रालयों के प्रतिनिधि सम्मिलित हों, जिनका ग्रामीण विकास कार्यक्रमों से सम्बन्ध हो। इन एजेन्सियों में जन-प्रतिनिधियों को भी प्रत्येक स्तर पर सम्मिलित किया जा सकता है। इन एजेन्सियों को ग्रामीण विकास के समन्वित कार्यक्रमों का निर्माण, सचालन, क्रियान्वयन एवं मूल्यांकन का कार्य सौंपा जा सकता है। कृषि-विकास से सम्बन्धित राष्ट्रीय नीति का निर्धारण एवं उसका उपयुक्त सचालन भी आवश्यक होता है। इस नीति के माध्यम से सम्पूर्ण राष्ट्र में कृषि एवं ग्रामीण विकास कार्यक्रमों में एकरूपता बनी रह सकती है और कृषि-क्षेत्र का सन्तुलित विकास सम्भव हो सकता है।

37

औद्योगीकरण और आर्थिक प्रगति

[INDUSTRIALISATION AND ECONOMIC GROWTH]

आधुनिक युग में आर्थिक क्षेत्र के अधिकतर अनुसन्धान विकास के स्रोतों की खोज से सम्बन्धित है। अर्थशास्त्री निरन्तर यह जानने के लिए प्रयत्नशील है कि पूँजी, श्रम-शक्ति, कुशलता एवं तान्त्रिक परिवर्तन का आर्थिक विकास में पृथक्-पृथक् कितना योगदान होता है। अभी तक इस प्रयास के अन्तिम एवं निश्चित नतीजे उपलब्ध नहीं हो सके हैं परन्तु सांख्यिकीय अध्ययनों के आधार पर यह ज्ञात हो गया है कि विकसित एवं कम विकसित राष्ट्रों के विकास के निर्धारक तत्वों में भिन्नता है। विकसित राष्ट्रों के विकास के दो प्रमुख तत्व समझे जाते हैं—प्रथम, पूँजी में वृद्धि, एवं द्वितीय, साधनों का अधिक उपयुक्त आवंटन तथा तान्त्रिक परिवर्तन। इन दोनों ही कारकों का विकसित राष्ट्रों के विकास में लगभग 1 2 के अनुपात में योगदान रहता है। पूँजी की वृद्धि राष्ट्रीय सकल उत्पादन की वृद्धि के एक-चौथाई भाग और तान्त्रिक परिवर्तन एवं साधनों का सुधरा हुआ आवंटन सकल राष्ट्रीय उत्पादन के आधे भाग के स्रोत होते हैं। विकास में इन तत्वों के योगदान का निर्धारण पूँजी एवं श्रम के सकल राष्ट्रीय उत्पादन में अंश के आधार पर किया जाता है। दूसरी ओर *अल्प-विकसित राष्ट्रों में श्रम-शक्ति के बाहुल्य के कारण श्रम की प्रत्येक* इकाई का राष्ट्रीय उत्पादन में योगदान उसके द्वारा राष्ट्रीय उत्पादन से लिये जाने वाले अंश से कम होता है। इस प्रकार *विकासोन्मुख राष्ट्रों के विकास में पूँजी का योगदान 40 से 50 प्रतिशत तक* होता है। पश्चिमी यूरोप एवं संयुक्त राज्य अमेरिका जहाँ विकास में तान्त्रिक परिवर्तनों का योगदान अधिक है, की विकास-प्रक्रिया का उपयोग विकासोन्मुख राष्ट्रों में नहीं किया जा सकता है। विकासोन्मुख राष्ट्रों के विकास-मॉडल में पूँजी-संचय का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान होता है। पूँजी-प्रवाह की वृद्धि के फलस्वरूप विकासोन्मुख राष्ट्रों में आयात-क्षमता में वृद्धि होती है जो विनियोजन-वृद्धि में सहायक होती है। विकासोन्मुख राष्ट्र के विकास को प्रभावित करने वाला दूसरा महत्वपूर्ण घटक विदेशी भुगतान की स्थिति होती है। विदेशी भुगतान की स्थिति को विदेशी पूँजी एवं विदेशी सहायता के माध्यम से सुधारने का प्रयत्न किया जाता है। विकासोन्मुख राष्ट्रों की प्रगति गतिमान हो जाने पर आवश्यकतानुसार समय समय पर देश की उत्पादन-संरचना में परिवर्तन करने की आवश्यकता होती है। यह अनुमान लगाया जाता है कि 300 डॉलर के लगभग प्रति व्यक्ति आय हो जाने पर उत्पादन-संरचना में परिवर्तन हो जाने चाहिए अन्यथा विकास की दर में कमी आने लगती है। उत्पादन की संरचना में परिवर्तन तकनीकी परिवर्तनों के माध्यम से किये जाते हैं और निर्यात की संरचना में भी परिवर्तन होता है। इस प्रकार विकासोन्मुख राष्ट्रों की विकास-प्रक्रिया में *निम्नलिखित कारकों का प्रमुख योगदान होता है*

(1) पूँजी के साधनों में वृद्धि
(2) विदेशी भुगतान स्थिति,
(3) उत्पादन संरचना में परिवर्तन,
(4) तान्त्रिक परिवर्तन,
(5) बढ़ती हुई श्रम-शक्ति का उपयोग।

विकास मॉडल एवं औद्योगीकरण

उपर्युक्त विकास के समस्त कारकों का औद्योगीकरण से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। कुछ राष्ट्र औद्योगीकरण को विकास के प्रथम चरणों में स्थान देते हैं जबकि कुछ अन्य राष्ट्र औद्योगीकरण को विकास के द्वितीय चरण में महत्व देते हैं।

उच्च पूँजी-प्रवाह मॉडल

जो राष्ट्र पूँजी-प्रवाह की ऊँची दर से विकास प्रारम्भ करते हैं और विनियोजन का 30% से भी अधिक भाग विदेशी सहायता एवं साधनों से पूरा करते हैं, इन देशों में औद्योगीकरण विकास के प्रथम चरण से ही प्रारम्भ हो जाता है, क्योंकि विदेशी पूँजी की सहायता से पूँजी प्रसाधनों का आयात विदेशों से होता रहता है। उद्योगों के साथ प्राथमिक क्षेत्रों का भी विकास किया जाता है और देश के निर्यात में प्राथमिक वस्तुओं के स्थान पर निर्मित वस्तुएँ सम्मिलित होने लगती हैं। औद्योगीकरण की सहायता से विदेशी सहायता पर निर्भरता को कम करना आवश्यक होता है तभी विकास की गति को तीव्र बनाये रखा जा सकता है।

प्राथमिक वस्तु-निर्यात मॉडल

जो राष्ट्र विकास का प्रारम्भ प्राथमिक वस्तुओं की निर्यात वृद्धि से करते हैं, इनकी आयात-क्षमता प्राथमिक वस्तुओं के निर्यात से उपलब्ध होने वाले विदेशी विनिमय के साधनों से बढ़ जाती है। आयात के द्वारा प्रारम्भिक अवस्था में प्राथमिक क्षेत्र के लिए आदाय की उपलब्धि बढ़ाने हेतु उद्योगों की स्थापना की जाती है और धीरे-धीरे औद्योगीकरण की गति बढ़ जाती है जिससे प्राथमिक वस्तुओं के निर्यात पर निर्भरता घट जाती है। विकास की यह प्रक्रिया ऐसे देशों में अपनायी जाती है जहाँ प्राकृतिक साधनों का बाहुल्य होता है। कुछ राष्ट्र ऐसे भी हैं जो विदेशी पूँजी एवं प्राथमिक वस्तुओं के निर्यात दोनों ही स्रोतों का विकास के लिए उपयोग करते हैं। इन दोनों स्रोतों से आयात की क्षमता में वृद्धि होती है जो द्रुत गति से औद्योगीकरण करने में सहायक होती है। औद्योगीकरण विदेशी सहायता एवं प्राथमिक वस्तुओं के निर्यात पर निर्भरता दोनों को ही कम करने में सहायक होता है।

आत्मनिर्भरता विकास-मॉडल

कुछ राष्ट्र आर्थिक विकास की प्रक्रिया का प्रारम्भ आत्मनिर्भरता के आधार पर करते हैं और देश में उपलब्ध साधनों का गहन उपयोग करके राष्ट्रीय आय में वृद्धि करते हैं। यह राष्ट्र कृषि क्षेत्र का विकास तेजी से करते हैं और श्रम-शक्ति के अतिरेक का उपयोग औद्योगिक क्षेत्र में मध्यस्तरीय तकनीकों में करते हैं। पूँजी की आवश्यकताओं की पूर्ति बचत की ऊँची दर से की जाती है। इन देशों में जापान ही एक ऐसा देश है जो विकास की इस प्रक्रिया से विकसित राष्ट्रों की श्रेणी में पहुँच गया है। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत औद्योगीकरण का प्रारम्भ लघु क्षेत्र में किया जाता है और विकास के आगे के चरणों में बृहदाकार उद्योगों की स्थापना की जाती है।

रोजगारजन्य विकास-मॉडल

विकास-प्रक्रिया में वितरण पक्ष को अछूता नहीं छोड़ा जा सकता है। विकासोन्मुख राष्ट्रों की समस्या राष्ट्रीय उत्पादन-वृद्धि तक ही सीमित नहीं होती बल्कि आय की वृद्धि का लाभ निर्धनतम वर्ग तक पहुँचाना भी आवश्यक होता है। निर्धन जनसंख्या की स्थिति में सुधार करने के लिए रोजगार के अवसरों में वृद्धि एवं रोजगार के अवसरों में गुणात्मक सुधार करने की आवश्यकता होती है। रोजगार के अवसरों में वृद्धि एवं सुधार करने के लिए कृषि एवं ग्रामीण क्षेत्र में विकास-प्रक्रिया का केन्द्रीकरण किया जाता है। परन्तु बढ़ती हुई श्रम-शक्ति का पूर्णतम उपयोग कृषि-क्षेत्र में नहीं हो पाता है और औद्योगीकरण की प्रक्रिया को भी विकास कार्यक्रमों में सम्मिलित करना आवश्यक हो जाता है। जैसे-जैसे पूँजी की उपलब्धि में वृद्धि होती है, औद्योगीकरण की गति को तीव्र करके औद्योगिक क्षेत्र में रोजगार के अवसरों में वृद्धि की जाती है। औद्योगीकरण की प्रगति की दर को ऊँचा करके रोजगार के अवसरों में वृद्धि करने का प्रयत्न किया जाता है। उद्योगों के क्षेत्र में श्रम-

सघन तकनीकों के उपयोग को विशेष सफलता नही मिलती है और विकास के बढते हुए चरणो मे औद्योगीकरण का महत्व बढ़ता जाता है। कृषि एव ग्रामीण विकास के लिए औद्योगिक क्षेत्र मे उत्पादित पदार्थो की आवश्यकता पडती है।

विकास की प्रक्रिया का कोई मॉडल क्यो न अपनाया जाय औद्योगीकरण विकास का प्रमुख अग किसी न किसी अवस्था मे बन जाता है। औद्योगीकरण को विकास-प्रक्रिया के किस चरण मे अधिक प्राथमिकता दी जाय, यह बात विकास-प्रक्रिया के मॉडल पर निर्भर रहती है। औद्योगीकरण विकास के निर्धारक तत्वो का विस्तार करने मे महत्वपूर्ण योगदान देता है।

औद्योगीकरण का आर्थिक विकास पर प्रभाव

(1) **राष्ट्रीय आय मे वृद्धि**—औद्योगिक क्षेत्र मे प्रति पूँजी इकाई एव प्रति श्रम इकाई उत्पादकता अन्य क्षेत्रो की तुलना मे अधिक होती है। औद्योगिक क्षेत्र अन्य क्षेत्रो मे तकनीकी सुधार का आधार होता है जिससे अन्य क्षेत्रो मे उत्पादकता मे वृद्धि भी औद्योगिक क्षेत्र के विकास पर निर्भर रहती है। इस प्रकार औद्योगिक क्षेत्र प्रत्यक्ष एव परोक्ष दोनो ही तरीकों से राष्ट्रीय उत्पादन मे वृद्धि करने मे सहायक होता है।

(2) **अव-सरचना मे सुधार**—औद्योगिक क्षेत्र देश की अव-सरचना मे विकास के अनुकूल सुधार करने मे सहायक होता है। यातायात, सचार, शक्ति, मशीन-औजार, सिचाई आदि सभी उपरिव्यय-सुविधाओं मे सुधार करने के लिए औद्योगिक क्षेत्र मे प्रसाधन उपलब्ध होते है।

(3) **पूंजी-निर्माण में वृद्धि**—औद्योगीकरण के द्वारा आय का वितरण बचत करने वाले वर्ग (साहसी, उद्योगपति आदि) के पक्ष मे होता है जिससे पूंजी-निर्माण की दर मे वृद्धि होती है। औद्योगिक क्षेत्र मे सरकार को भी अधिक कर एव शुल्क उपलब्ध होता है जो पूँजी-निर्माण मे सहायक होता है।

(4) **विदेशी विनिमय के साधनो की उपलब्धि**—औद्योगिक क्षेत्र की प्रगति मे कृषि की तुलना मे उच्चावचान कम होते है और औद्योगिक उत्पादन मे लोच भी अधिक होती है। औद्योगिक उत्पादन मे विभिन्नता भी अन्य क्षेत्रो की तुलना मे अधिक विद्यमान रहती है। ये समस्त घटक औद्योगिक उत्पादो की निर्यात-वृद्धि एव आयात-प्रतिस्थापन मे सहायक होते हैं जिससे देश के भुगतान-शेष मे सुधार होता है और विदेशी सहायता पर निर्भरता कम हो जाती है।

(5) **बेरोजगारी एवं निर्धनता का निवारण**—विभिन्न विकासोन्मुख राष्ट्रो की विकास-प्रक्रिया के अध्ययन से ज्ञात होता है कि जो देश प्रगति-दर ऊँची रखते हैं उनमें निर्धनतम जनसंख्या को विकास का लाभ उपलब्ध होता है। कृषि-क्षेत्र के विकास की सामान्य अधिकतम दर 6% से अधिक नही होती है। 6% प्रगति-दर पर बेरोजगारी एव निर्धनता का निवारण सम्भव नही हो सकता है। ऐसी परिस्थिति मे विकास की दर को ऊँचा करने के लिए औद्योगीकरण की आवश्यकता होती है। औद्योगीकरण मे रोजगार के अवसरो मे वृद्धि करके कृषि-क्षेत्र की अतिरिक्त श्रम-शक्ति का उत्पादक उपयोग हो सकता है। विभिन्न अध्ययनो से यह भी ज्ञात होता है कि निर्धनता का एकमात्र कारण बेरोजगारी ही नही होता है। अल्प-विकसित राष्ट्रों में ग्रामीण क्षेत्रो मे मजदूरी की दर कम होने के कारण रोजगार-प्राप्त लोग भी पर्याप्त उपभोग-व्यय करने मे असमर्थ रहते हैं। ऐसी परिस्थिति मे रोजगार के अवसरो मे गुणात्मक सुधार करने की आवश्यकता होती है जो औद्योगीकरण द्वारा ही सम्भव हो सकता है।

उत्पादन-संरचना मे परिवर्तन—औद्योगीकरण विकास के बढते चरणो के अनुरूप उत्पादन-सरचना मे परिवर्तन करने मे समर्थ होता है। औद्योगीकरण के माध्यम से तकनीकी परिवर्तन करके उत्पादन मे आवश्यकतानुसार परिवर्तन होते रहते है जिससे अर्थ-व्यवस्था के बदलते हुए उपभोग एव निर्यात की बदलती हुई माँगो की पूर्ति होती रहती है और विकास की गति बनी रहती है।

(6) **सन्तुलित विकास**—औद्योगीकरण अर्थ-व्यवस्था मे सन्तुलित विकास मे सहायक होता है। कृषि-क्षेत्र का विकास विभिन्न क्षेत्रो की विद्यमान भौगोलिक परिस्थिति पर निर्भर रहता है और इन भौगोलिक परिस्थितियों मे परिवर्तन करना सम्भव नही हो सकता है। दूसरी ओर, उद्योगो का छितराव विभिन्न क्षेत्रो मे आसानी से किया जा सकता है। इस प्रकार औद्योगीकरण विकास-प्रक्रिया को अविकसित क्षेत्रो तक पहुँचा सकता है।

(7) **आत्मनिर्भरता**—विकास की प्रक्रिया को स्वयस्फूर्त बनाने के लिए औद्योगीकरण एक अनिवार्यता है। औद्योगीकरण के माध्यम से एक ओर आयात एव विदेशी सहायता पर निर्भरता कम होती है और दूसरी ओर बचत एव विनियोजन मे वृद्धि होती है। इस प्रकार विकास-प्रक्रिया को आत्म-स्फूर्त बनाना सम्भव होता है।

(8) **उत्पादन के साधनों का अधिकतम उपयोग**—औद्योगीकरण की सहायता से देश में विद्यमान प्राकृतिक एव मानवीय साधनो का तो गहन उत्पादक उपयोग होता है, साथ ही सम्भावित (Potential) साधनो की खोज एव शोषण करना भी सम्भव होता है जिससे उत्पादन एव राष्ट्रीय आय मे वृद्धि होती है। वन, खनिज, जल, भूमि आदि प्राकृतिक साधनो का अधिकतम उपयोग औद्योगिक क्षेत्र के विकास के द्वारा ही सम्भव होता है।

(9) **सामाजिक एव आर्थिक विचारधाराओ मे विकास के अनुकूल परिवर्तन**—औद्योगीकरण समाज की परम्परा एव रूढ़िवादी विचारधाराओ का स्थानापन्न गतिशील विचारधाराओ से करता है जिससे समाज परिवर्तन को स्वभावत स्वीकार करने लगता है और आर्थिक सम्पन्नता के लिए प्रयत्नशील रहता है। ये दोनो तथ्य आर्थिक विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक होते हैं।

(10) **सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार**—औद्योगिक क्षेत्र एक सगठित क्षेत्र होता है जिसका सफल सचालन सार्वजनिक क्षेत्र मे भी किया जा सकता है। सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार एक ओर नियोजित विकास एव समाजवादी व्यवस्था की स्थापना मे सहायक होता है तथा दूसरी ओर उपरिव्यय-सुविधाओ एव औद्योगिक कृषि-आदायो (Inputs) के आवटन पर सरकारी नियन्त्रण को प्रभावशाली बनाता है जिससे विकास-प्रक्रिया का सचालन प्राथमिकताओ के अनुसार करना सम्भव होता है।

औद्योगिक नीति एवं आर्थिक विकास

अल्प-विकसित राष्ट्रो के आर्थिक विकास मे औद्योगीकरण का महत्व उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है परन्तु औद्योगीकरण से विकास-प्रक्रिया गतिमान होने के लिए निर्देशित औद्योगीकरण की आवश्यकता होती है। विपणि-यान्त्रिकता के अन्तर्गत माँग और मूल्य के आधार पर जो औद्योगीकरण उदय होता है, वह विकास के लिए अधिक सहायक नही होता है। विकास के लिए सुदृढ़ आधार प्रदान करने हेतु पूँजीगत एव उत्पादक वस्तुओ के उद्योगो का विस्तार करने तथा उनको उपभोक्ता उद्योगो से समन्वित करने की आवश्यकता होती है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए राज्य द्वारा औद्योगिक नीति का निर्धारण किया जाता है। औद्योगिक नीति के मुख्य अग निम्नवत् होते हैं

(1) कृषि एव औद्योगिक क्षेत्र मे सम्बन्ध,
(2) लघु एव ग्रामीण उद्योगो और वृहद उद्योगो का अर्थ-व्यवस्था मे स्थान,
(3) उद्योगो के छितराव के कार्यक्रम,
(4) विभिन्न क्षेत्रो (Sectors) मे उद्योगो का विभाजन,
(5) वृहद् उद्योगो का नियमन,
(6) औद्योगिक क्षेत्र मे तकनीक का चयन,
(7) उद्योगो मे विदेशी विनियोजन,
(8) औद्योगिक क्षेत्र मे आयात-निर्यात नीति,
(9) विदेशो मे सयुक्त क्षेत्र मे उद्योगो की स्थापना,

(10) औद्योगिक क्षेत्र मे मूल्य-नीति,

(11) औद्योगिक क्षेत्र की श्रम-व्यवस्था ।

(1) कृषि एवं औद्योगिक क्षेत्र मे सम्बन्ध—औद्योगिक नीति के अन्तर्गत यह निर्धारित करना आवश्यक होता है कि कृषि एव औद्योगिक क्षेत्र मे विनियोजन, उत्पादन, रोजगार, व्यापार आदि मे परस्पर क्या सम्बन्ध रहेगा । कृषि क्षेत्र को आदाय प्रदान करने सम्बन्धी उद्योगो का कृषि-विकास की आवश्यकतानुसार कितना विकास एव विस्तार किया जायेगा । दूसरी ओर, कृषि-क्षेत्र विभिन्न उद्योगो को पर्याप्त कच्चा माल प्रदान करने मे कहाँ तक समर्थ होगा तथा औद्योगिक क्षेत्र मे लगी हुई श्रम-शक्ति की खाद्यान्न आदि की पूर्ति कृषि-क्षेत्र किस सीमा तक कर सकेगा ।

(2) लघु एव ग्रामीण उद्योगों तथा वृहद उद्योगो का अर्थ-व्यवस्था मे स्थान—औद्योगिक नीति के अन्तर्गत देश मे विद्यमान निर्माणी-क्षेत्र की स्थिति के अनुसार ग्रामीण, लघु एव वृहद उद्योगो को परिभाषित किया जाता है और प्रत्येक प्रकार के उद्योग के उत्पादन-क्षेत्र भी सुरक्षित कर दिये जाते है । लघु एव ग्रामीण उद्योग-क्षेत्र के लिए उपभोक्ता वस्तुओ के उत्पादन का क्षेत्र प्राय सुरक्षित किया जाता है । यह क्षेत्र रोजगार के अवसरो की वृद्धि का एक उपयुक्त साधन समझा जाता है । वृहद एव लघु उद्योगों की पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा को समाप्त करने का प्रयत्न किया जाता है । लघु एव ग्रामीण उद्योगो को जो राजकोषीय सुविधाएँ प्रदान की जाती है उनका उल्लेख औद्योगिक नीति मे किया जाता है । वृहद उद्योगो को उत्पादन के जो क्षेत्र सुरक्षित किये जाते है उनमे पूँजीगत वस्तुओ, मशीन निर्माण उपरिव्यय-सुविधाओ को प्रसाधन प्रदान करने वाले उद्योग सम्मिलित रहते है ।

(3) उद्योगो का छितराव—उद्योगो के छितराव के सम्बन्ध मे नीति निर्धारित करने मे बहुत कठिनाई होती है क्योंकि आर्थिक दृष्टिकोण से उद्योगो का केन्द्रीकरण इन्ही क्षेत्रो मे होना चाहिए जो पहले से औद्योगिक दृष्टिकोण से सम्पन्न होते हैं । इन क्षेत्रों मे उपरिव्यय-सुविधाएँ, श्रम एव अन्य सहायक घटक विद्यमान रहते हैं परन्तु क्षेत्रीय सतुलन के दृष्टिकोण से उद्योगो की स्थापना ऐसे क्षेत्रो मे की जानी चाहिए जहाँ विकास की गति अभी तक क्षीण है । इन क्षेत्रो मे उद्योगो की स्थापना-व्यय, सचालन-व्यय एव उत्पादन-लागत अधिक आते हैं । औद्योगिक नीति के अन्तर्गत यह निर्धारित कर दिया जाता है कि वृहद औद्योगिक इकाइयो की स्थापना कितनी जनसख्या वाले नगरों के पास की जा सकेगी ।

(4) विभिन्न क्षेत्रो मे उद्योगो का विभाजन—देश मे स्थापित की जाने वाली आर्थिक एव *सामाजिक व्यवस्था के अन्तिम लक्ष्य को ध्यान मे रखकर औद्योगिक क्षेत्र मे विभिन्न क्षेत्रों*—सार्वजनिक निजी, सहकारी एव सयुक्त—का स्थान और कार्य-क्षेत्र निर्धारित कर दिया जाता है । सार्वजनिक क्षेत्र को व्यापक बनाने के लिए प्राय अधिक महत्व दिया जाता है और सार्वजनिक क्षेत्र मे प्रत्येक प्रकार की नवीन औद्योगिक इकाइयाँ स्थापित करने का अधिकार सुरक्षित रखा जाता है । निजी क्षेत्र द्वारा स्थापित औद्योगिक इकाइयो के राष्ट्रीयकरण सम्बन्धी नीति भी स्पष्ट कर दी जाती है । *सहकारी क्षेत्र मे लघु एव ग्रामीण उद्योगो का विकास एव विस्तार किया जाता है ।* उद्योगो की स्थापना एव विस्तार के सम्बन्ध मे लाइसेन्स नीति का भी निर्धारण किया जाता है और ऐसे बडे घरानो को, जिनके अधीन पहले से ही बहुत से उद्योग हैं, नवीन इकाइयो के लिए लाइसेन्स देने पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाता है ।

(5) वृहद उद्योगो का नियमन—वृहद उद्योगो के विकास एव विस्तार पर नियमन करने के लिए *नीति निर्धारित करना आवश्यक होता है । नियमन का उद्देश्य उत्पादन-क्षमता मे आवश्यकता*-नुसार वृद्धि होना, एकाधिकारिक प्रवृत्तियो को रोकना, लघु उद्योग क्षेत्र मे प्रतिस्पर्द्धा को रोकना, आयात-प्रतिस्थापन को प्रोत्साहित करना तथा निर्यात-सवर्द्धन आदि होते है । नियमन हेतु स्थापना एव विस्तार के लिए लाइसेन्स जारी करना, कच्चे माल का आवटन, आयात का लाइसेन्स, पूँजी-निर्गमन पर नियन्त्रण आदि व्यवस्थाओ का उपयोग किया जाता है ।

(6) तकनीक का चयन—*औद्योगिक क्षेत्र मे तकनीक के चयन की समस्या अल्प विकसित*

राष्ट्रों मे अत्यन्त गम्भीर होती है और इस सम्बन्ध मे कुछ अप्रिय निर्णय लेने होते है। आधारभूत एव उत्पादक वस्तुओ के उद्योगो की तकनीक के सम्बन्ध मे कोई विकल्प नही होता है क्योकि इनका सचालन पूँजी-सघन तकनीक के अन्तर्गत ही किया जा सकता है। परन्तु आधारभूत एव उत्पादक वस्तुओ के उद्योगो के विकास एव विस्तार का प्रभाव अर्थ-व्यवस्था के अन्य क्षेत्रो पर भी पडता है और बहुत सी उपभोक्ता वस्तुओ के उद्योगो मे भी पूँजी-सघन तकनीक का उपयोग होने लगता है। औद्योगिक नीति के अन्तर्गत इसीलिए श्रम-सघन तकनीको के उपयोग करने पर उत्पादको को राजकोषीय सुविधाएँ प्रदान करने की व्यवस्था की जाती है। आयात-प्रतिस्थापन कार्यक्रम एव विदेशी सहायता के माध्यम से भी पूँजी-सघन उद्योगो का विस्तार होता है। ऐसी परिस्थिति मे अर्थ-व्यवस्था मे दोहरी तकनीकी व्यवस्था—कृषि-क्षेत्र मे परम्परागत एव श्रम-सघन और औद्योगिक क्षेत्र मे पूँजी-सघन आधुनिक—उदय होती है जो आर्थिक असन्तुलन को जन्म देती है। औद्योगिक नीति के अन्तर्गत तकनीक के उपयोग के सम्बन्ध मे क्षेत्र सुरक्षित कर दिये जाते है और श्रम-सघन तकनीक का उपयोग करने वाले उद्योगपतियों को कर मे छूट एव अनुदान की व्यवस्था की जाती है।

(7) **उद्योगो मे विदेशी विनियोजन**—औद्योगिक क्षेत्र मे विदेशी विनियोजन के सम्बन्ध मे नीति निर्धारित करना आवश्यक होता है अर्थात् विदेशी विनियोजन किस रूप मे, किस प्रकार के उद्योगो मे, किन शर्तों पर तथा किस क्षेत्र मे स्वीकार किया जा सकता है, यह निर्धारित किया जाता है। विदेशी विनियोजन ऋण, अश-पूँजी अथवा अनुदान के रूप मे उपलब्ध होता है। इनमे से अश पूँजी के रूप मे विनियोजन को अधिक उपयुक्त माना जाता है क्योकि अशो पर लाभ मे से ही लाभाश देना पडता है। विकास-प्रक्रिया मे प्राथमिकता-प्राप्त उद्योगों में ही विदेशी विनियोजन लिया जाना चाहिए। विदेशी विनियोजन सार्वजनिक क्षेत्र मे लेना अधिक उपयुक्त होता है क्योकि निजी क्षेत्र मे विदेशी विनियोजन के माध्यम से बहुत से आर्थिक अपराधो के उदय होने की सम्भावना रहती है। ऐसे ही उद्योगो मे विदेशी विनियोजन उपयुक्त माना जाता है जिनमे विदेशी प्रसाधन एव तान्त्रिक ज्ञान की अधिक आवश्यकता होती है।

विदेशी विनियोजन के सम्बन्ध मे यह भी निर्णय करना आवश्यक होता है कि बहु-राष्ट्रीय निगमो (Multi-National Corporations) की पूँजी को देश के उद्योगो मे लगाया जाय अथवा नही। ये निगम ससार के विभिन्न राष्ट्रो मे कम्पनियों, खदानो, कारखानों, विक्रय-कार्यालयो आदि के स्वामी है। ये निगम अल्प-विकसित राष्ट्रो मे शाखाएँ स्थापित करके अथवा सहायक कम्पनियाँ स्थापित करके अपनी पूँजी का विनियोजन करते है। इनका उत्पादन एव व्यापार पर इतना व्यापक नियन्त्रण है कि ये किसी भी देश (जिसमे यह पूँजी लगाते है) की आर्थिक नीतियो को प्रभावित करने मे समर्थ हो सकते है। इन निगमो की पूँजी स्वीकार करने के सम्बन्ध मे उपयुक्त शर्तो का निर्धारण औद्योगिक नीति मे किया जाता है।

(8) **औद्योगिक उत्पादो का आयात एव निर्यात**—औद्योगिक नीति के अन्तर्गत यह भी निर्धारित किया जाता है कि नवीन उद्योगो की स्थापना एव विद्यमान औद्योगिक इकाइयो के विस्तार करने के लिए पूँजीगत प्रसाधनो, तकनीकी एव प्रबन्ध विशेषज्ञो तथा कच्चे माल का किस सीमा तक और किन शर्तों पर आयात करने की अनुमति दी जायेगी। इन शर्तो मे स्थापित उद्योगो द्वारा उत्पादित वस्तुओ के कुछ भाग के निर्यात करने की शर्त भी लगा दी जाती है। प्राय आयात-प्रतिस्थापन करने वाले एव निर्यातो मे वृद्धि करने वाले उद्योगो को प्राथमिकता दी जाती है। ऐसे उद्योगो को स्थापित करने की अनुमति नही दी जाती है जिनमे दीर्घकाल तक आयातित सामग्री एव प्रसाधनो की आवश्यकता होती है, परन्तु यदि ये उद्योग आधारभूत उत्पादक वस्तुएं अथवा रक्षा सम्बन्धी उद्योगो के विकास एव विस्तार मे सहायक होते हैं तो उनकी स्थापना की अनुमति प्रदान कर दी जाती है।

(9) **विदेशो मे संयुक्त क्षेत्र मे उद्योगो की स्थापना**—विकासोन्मुख राष्ट्र विदेशो मे उद्योगो की स्थापना करने के लिए उद्यत रहते हैं। यह कार्य पारस्परिक सहायता कार्यक्रम के अन्तर्गत

संचालित किया जाता है। देश के साहसियों एवं उद्योगपतियों को विदेशी उद्योगपतियों से मिलकर संयुक्त साहस में विदेशों में स्थापित करने की अनुमति दी जाती है। इन विशेष प्रकार के उद्योगों में नकद पूंजी के स्थान पर संयन्त्र, निर्माण-प्रसाधन, प्रबन्ध एवं तकनीकी ज्ञान को ही विदेशों को हस्तान्तरित करने की आवश्यकता होती है। संयुक्त साहस के अन्तर्गत पूंजी के व्यापक हस्तान्तरण की अनुमति नहीं दी जाती है क्योंकि देश में ही पूंजी के साधनों की आवश्यकता होती है।

(10) **औद्योगिक क्षेत्र की मूल्य-नीति**—औद्योगिक क्षेत्र के मूल्यों का निर्धारण कृषि उत्पादों के मूल्यों से समन्वित करने की आवश्यकता होती है और इसी कारण कृषि-क्षेत्र के समान औद्योगिक क्षेत्र के उत्पादों के सम्बन्ध में मूल्य-नीति निर्धारित की जाती है। अनिवार्य उपभोक्ता वस्तुओं के मूल्यों का नियन्त्रित किया जाना है और उत्पादक वस्तुओं के मूल्यों को विकास की आवश्यकतानुसार निर्धारित करने का अधिकार सरकार अपने हाथ में रखती है। प्राथमिकता-प्राप्त विकास कार्यक्रमों एवं क्षेत्रों के लिए औद्योगिक उत्पादों को नियन्त्रित एवं अनुमति मूल्यों पर प्रदान करने की व्यवस्था की जाती है। औद्योगिक क्षेत्र में मूल्य-स्तर को नियन्त्रित इस उद्देश्य से भी किया जाता है कि बड़े औद्योगिक घराने एकाधिकार का लाभ उठाकर जनसाधारण का शोषण न कर सकें।

(11) **औद्योगिक क्षेत्र की श्रम-व्यवस्था**—औद्योगिक क्षेत्रों की प्रबन्ध-व्यवस्था में श्रमिकों की भागीदारी, मजदूरी स्तर, बोनस आदि के सम्बन्ध में नीति निर्धारित करना आवश्यक होता है। उद्योगों के प्रबन्ध पर पैतृक प्रबन्ध-व्यवस्था को सीमांकित करके व्यावसायिक प्रबन्ध व्यवस्था को प्रोत्साहित किया जाता है।

भारत में औद्योगिक नीति

भारत में स्वतन्त्रता के पश्चात आयोजित अर्थ-व्यवस्था तथा उद्योगों के राष्ट्रीयकरण पर विचार किया गया और प्राचीन पूंजीवादी-व्यवस्था पर आवश्यक नियन्त्रण रखना आवश्यक समझा गया। राष्ट्र के सन्तुलित विकास तथा जन-कल्याण के लिए यह आवश्यक था कि सरकार औद्योगिक क्षेत्र में हस्तक्षेप करे तथा औद्योगिक विकास हेतु अधिकतम प्रयत्न करे। दिसम्बर, 1947 में औद्योगिक सम्मेलन (Industrial Conference) ने उत्पादन में वृद्धि करने के लिए अनेक सिफारिशें की और साथ ही एक केन्द्रीय सलाहकार परिषद्, थोड़ी अवधि के लिए प्राथमिकता बोर्डों तथा एक राष्ट्रीय योजना-आयोग की स्थापना का सुझाव दिया। उसी वर्ष मेरठ में हुए कांग्रेस अधिवेशन ने राष्ट्रीय सरकार की भावी औद्योगिक नीति का निर्धारण किया। इस पृष्ठभूमि में तत्कालीन उद्योग-मन्त्री स्वर्गीय डॉ० श्यामाप्रसाद मुकर्जी ने 6 अप्रैल 1948 को संसद में भारत सरकार की औद्योगिक नीति की घोषणा की जिसके अन्तर्गत श्रम पूंजी तथा जनसाधारण द्वारा देश में शीघ्र औद्योगीकरण की आशा जाग्रत हुई।

औद्योगिक नीति प्रस्ताव, सन 1948

सरकार द्वारा औद्योगिक नीति की घोषणा करना भारत के औद्योगिक नियोजन के इतिहास में एक महत्वपूर्ण चरण था। 15 अगस्त, 1947 को स्वतन्त्रता प्राप्त होने के पश्चात देश भर में एक नूतन जाग्रति का प्रादुर्भाव हुआ और जनता को सरकार से बड़ी-बड़ी आशाएं होने लगी। जन-समुदाय में नवीन भारत के निर्माण में सहयोग प्रदान करने की भावना उत्पन्न हो गयी। उद्योगपति भी यह जानने के लिए उत्सुक थे कि देश के औद्योगिक विकास में उनको क्या स्थान दिया जायेगा।

यह औद्योगिक नीति प्रस्ताव प्रतिक्रियावादी, क्रान्तिकारी, समाजवादी तथा पूंजीवादी पारस्परिक विरोधों का परिहार करते हुए एक मिश्रित अर्थ-व्यवस्था का प्रतिपादन करता था। इसके द्वारा सार्वजनिक तथा निजी साहस की सीमाओं को निर्धारित किया गया था। इसमें पूंजी तथा श्रम दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों की व्यवस्था थी। विदेशी पूंजी के विषय में राजकीय नीति का स्पष्टीकरण किया गया तथा उन उपायों की ओर संकेत किया गया, जिन्हें इन नीतियों की पूर्ति के लिए सरकार काम में ला सकती थी।

उद्योगों का राष्ट्रीयकरण—औद्योगिक नीति प्रस्ताव में बताया गया कि तत्कालीन परिस्थितियों में जबकि अधिकतर जनता का जीवन-स्तर न्यूनतम से भी कम है, यह आवश्यक है कि कृषि तथा औद्योगिक उत्पादन की वृद्धि को विशेष महत्व दिया जाय। उत्पादन में वृद्धि के प्रश्न को हल करने से पूर्व यह निश्चित करना आवश्यक समझा गया कि राज्य किस सीमा तक औद्योगिक क्षेत्र में भाग लेगा तथा निजी क्षेत्र को किन-किन नियन्त्रणों की दशा में कार्य करना होगा। तत्कालीन परिस्थितियों में राज्य के पास इतने साधन नहीं थे कि वह औद्योगिक क्षेत्र में यथोचित तथा वांछनीय सीमा तक भाग ले सके. इसलिए यह निश्चय किया गया कि राज्य राष्ट्रीय आय की पर्याप्त वृद्धि करने के लिए कुछ समय तक अपनी कार्यवाहियों को उस क्षेत्र में ही बढ़ाये, जिसमें वह अभी तक कार्य करता आ रहा है। इसके साथ ही वह नये उद्योगों की स्थापना को भी अपने कार्य-क्षेत्र में ले ले। इस प्रकार वर्तमान निजी साहस के उद्योगों के राष्ट्रीयकरण को कुछ समय के लिए स्थगित कर दिया गया, परन्तु इस अवधि में राज्य को निजी क्षेत्र पर समुचित नियन्त्रण द्वारा उसका नियमित संचालन करना था।

इन निश्चयों के आधार पर सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्रों को सीमाबद्ध करने के लिए उद्योगों को पाँच श्रेणियों में विभक्त किया गया

(1) **केन्द्रीय सरकार का अनन्य एकाधिकार-क्षेत्र**—युद्ध-सामग्री का निर्माण, अणु-शक्ति का उत्पादन तथा नियन्त्रण, रेल-यातायात का स्वामित्व एवं प्रबन्ध—ये उद्योग केवल सरकार द्वारा ही स्थापित तथा संचालित किये जाते थे।

(2) **राज्य जिसमें केन्द्रीय, प्रान्तीय तथा रियासती सरकारें तथा अन्य स्थानीय संस्थाओं, जैसे नगरपालिका, निगम आदि का क्षेत्र शामिल है**—कोयला, लोहा एवं इस्पात, वायुयान-निर्माण, जलयान-निर्माण, टेलीफोन, टेलीग्राफ तथा बेतार के तार के यन्त्रों या उपकरणों का निर्माण (रेडियो तथा टेलीविजन सैट को छोड़कर) तथा खनिज तेल के उद्योग केवल राज्य द्वारा ही खोले जाने थे, परन्तु इन उद्योगों की जो इकाइयाँ पहले से ही कार्य कर रही हैं, उनको दस वर्ष तक कार्य करने की अनुमति प्रदान की जानी थी। दस वर्ष के पश्चात सरकार इस बात का निश्चय करेगी कि उनका राष्ट्रीयकरण किया जाय अथवा नहीं।

(3) **निजी साहस का स्वामित्व परन्तु सरकार का नियमन तथा नियन्त्रण का क्षेत्र**—नमक, मोटर, ट्रैक्टर, प्राइम मूवर्स, विद्युत-इंजीनियरिंग, यन्त्र, उपकरण, भारी रसायन, खाद, फार्मेसी की औषधियाँ, विद्युत-रसायन उद्योग, अलौह-धातु, रबर-निर्माण, शक्ति तथा औद्योगिक अल्कोहल, सूती तथा ऊनी वस्त्र, सीमेण्ट, चीनी, कागज, समाचार-पत्र का कागज, वायु तथा जल-यातायात तथा वे खनिज और उद्योग जो सुरक्षा से सम्बन्धित हों। इस वर्ग के उद्योगों का राष्ट्रीयकरण तो नहीं किया जायेगा, परन्तु उन पर पर्याप्त सरकारी नियन्त्रण रहेगा।

(4) **निजी साहस के अधीन परन्तु जिसमें औद्योगिक सहकारी समितियों के संचालन को प्राथमिकता दी जानी थी**—गृह तथा लघु उद्योगों और कृषि के सहायक ग्रामीण उद्योगों पर निजी साहस का स्वामित्व रहना था, परन्तु इनको सहकारी संस्थाओं द्वारा संचालित करने को अधिक महत्व दिया जाना था।

(5) **स्वतन्त्र निजी साहस का क्षेत्र**—अन्य सभी उद्योग निजी साहस द्वारा चलाये जा सकते थे।

गृह-उद्योग—भारत के इतिहास में प्रथम बार गृह-उद्योगों को औद्योगिक नीति में सम्मिलित किया गया। यह मान लिया गया कि देश की अर्थ-व्यवस्था में गृह-उद्योगों का महत्वपूर्ण स्थान है। ये उद्योग व्यक्तिगत, ग्रामीण तथा सरकारी साहस को प्रोत्साहित करते हैं तथा स्थानीय साधनों—मानवीय एवं भौतिक—का उपयोग करने में सहायक होते हैं। इनके द्वारा स्थानीय आत्मनिर्भरता प्राप्त की जा सकती है। इनसे उपभोक्ता की आवश्यक वस्तुओं, जैसे खाद्यान्न, वस्त्र, कृषि-औजार आदि के उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि हो सकती है। इन उद्योगों के

विकास के लिए कच्चा माल, सस्ती शक्ति, तान्त्रिक सलाह, विपणि-संगठन तथा बड़े उद्योगों द्वारा प्रतिस्पर्द्धा से सुरक्षा का आयोजन किया जाना था। ये सभी कार्य प्रान्तीय सरकार द्वारा किये जाने थे, केन्द्रीय सरकार को केवल यह जानकारी प्राप्त करनी थी कि इन उद्योगों का बड़े उद्योगों के साथ किस प्रकार सामजस्य स्थापित किया जा सकता था। प्रस्ताव में यह भी कहा गया कि वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति में विदेशों में बड़े उद्योगों के लिए पूँजीगत सामान प्राप्त करना कठिन है, इसलिए लघु औद्योगिक सहकारी समितियों को बढ़ावा दिया जाय।

विदेशी पूँजी—औद्योगिक नीति प्रस्ताव, सन 1948 की घोषणा के तुरन्त बाद विदेशी विनियोजकों ने भारत सरकार की विदेशी पूंजी की वापसी, लाभों के भुगतान तथा विदेशी व्यवसायों को भारतीय व्यवसायों की तुलना में प्राप्त होने वाले व्यवहार आदि के सम्बन्ध में स्पष्ट नीति एवं स्पष्टीकरण प्राप्त करने का प्रयत्न किया। इसके फलस्वरूप प्रधानमन्त्री ने 6 अप्रैल, 1949 को विदेशी पूंजी के सम्बन्ध में राज्य-सभा में नीति की घोषणा की। इसके अन्तर्गत निम्न लिखित स्पष्टीकरण दिये गये

(1) सरकार को सम्भावना है कि औद्योगिक नीति की सामान्य आवश्यकताओं के अनुकूल विदेशी व्यवसाय कार्य करेंगे तथा भारत सरकार विदेशी पूँजी के विनियोजन का ऐसी शर्तों पर स्वागत करेगी जो पारस्परिक लाभ प्रदान करें तथा पारस्परिक समझौतों द्वारा निर्धारित की जायें।

(2) विदेशी पूँजी को लाभोपार्जन तथा उसके विदेशों में शोधन करने की सुविधा होगी, बशर्ते विदेशी विनिमय की देश को कोई विशेष कठिनाई उपस्थित नहीं होती। सरकार विदेशी विनियोजन की वापसी पर भी कोई प्रतिबन्ध नहीं लगायेगी।

(3) जब किसी विदेशी व्यवसाय को सरकार अपने अधिकार में लेगी तो उचित एवं न्यायपूर्ण मुआवजा विदेशी विनियोजकों को दिया जाय।

तटकर-नीति (Tariff Policy)—सरकार की तटकर-नीति इस आधार पर निश्चित की जानी थी जिससे अनुचित विदेशी स्पर्द्धा पर रोक लगायी जा सके तथा भारत के साधनों का उपयोग उपभोक्ता पर बिना किसी प्रकार का अनुचित भार डालते हुए हो सके।

कर-व्यवस्था—सरकार की कर व्यवस्था में आवश्यक समायोजन किये जाने थे, जिनसे बचत तथा उत्पादक विनियोजन को प्रोत्साहन मिले और किसी छोटे से वर्ग के हाथों में धन-संग्रह न हो सके।

श्रमिकों के लिए गृह व्यवस्था—श्रमिकों के लिए गृह-व्यवस्था की जानी थी। दस वर्ष में 10 लाख भवन निर्मित करने की योजना विचाराधीन थी। एक गृह निर्माण मण्डल (Housing Board) की स्थापना की जानी थी। गृह-निर्माण की लागत उचित अनुपात में सरकार, मालिक तथा श्रम को वहन करनी थी तथा श्रमिक का भाग यथोचित किराये के रूप में उससे लिया जाना था।

औद्योगिक नीति प्रस्ताव, सन 1948 के क्रियान्वित करते समय यह अनुभव किया गया कि उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध में केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों में समन्वय का अभाव रहा और राज्य सरकारों ने कुछ उद्योगों का राष्ट्रीयकरण सम्भावित समय के पूर्व ही कर दिया। राज्य सरकारों में उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के लिए विशेष उत्साह था जिसके फलस्वरूप पर्याप्त साधनों एवं क्रमबद्ध प्राथमिकताओं पर विचार किये बिना ही उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया गया। सार्वजनिक क्षेत्र की औद्योगिक इकाइयों का प्रबन्ध एवं प्रशासन सरकारी प्रशासन-अधिकारियों के हाथ में सौंपा गया जो व्यापार व प्रशासन कला से अनभिज्ञ थे। इन अधिकारियों को आवश्यकतानुसार प्रशिक्षण प्रदान करने का पर्याप्त आयोजन नहीं किया गया। औद्योगिक प्रस्ताव एवं औद्योगिक विकास एवं नियमन अधिनियम, सन् 1951 द्वारा निजी क्षेत्र की कार्यवाहियों पर इतने प्रतिबन्ध लगा दिये गये कि निजी क्षेत्र को विस्तार करने के लिए कोई प्रोत्साहन ही न रहा।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में औद्योगिक नीति—*प्रथम योजना में सन् 1948 की* औद्योगिक नीति के सिद्धान्त को आधार माना गया और औद्योगिक विकास के कार्यक्रम इस प्रकार निर्धारित किये गये जिससे सरकारी एवं निजी दोनों क्षेत्रों का विस्तार एवं विकास हो सके। योजना में 42 उद्योगों का विस्तार करने का विस्तृत कार्यक्रम बनाया गया तथा इन उद्योगों के विकास का कार्य निजी क्षेत्र को दिया गया। इन उद्योगों में यान्त्रिक इंजीनियरिंग, विद्युत इंजीनियरिंग, धातु उद्योग, रासायनिक पदार्थ उद्योग, तरल ईंधन, खाद्य उद्योग आदि सम्मिलित थे। दूसरी ओर, सरकारी क्षेत्र में ऐसे उद्योग सम्मिलित किये गये जिनसे पूंजीगत एवं आधारभूत वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाया जा सके। प्रथम योजना को औद्योगिक प्राथमिकताएँ निम्नवत् थी

(अ) उत्पादकों के लिए आवश्यक वस्तुओं के उद्योग, जैसे पटसन एवं प्लाइवुड (Plywood) तथा उपभोक्ताओं की दृष्टि से आवश्यक उद्योग, जैसे वस्त्र, शक्कर, साबुन एवं वनस्पति उद्योगों की वर्तमान उत्पादन-शक्ति का पूर्णतम उपयोग।

(आ) पूंजीगत एवं उत्पादक वस्तुओं के उद्योगों की उत्पादन-शक्ति में वृद्धि, जैसे लोहा एवं इस्पात, अल्यूमिनियम, सीमेण्ट, खाद, भारी रसायन, मशीनों के पुर्जे आदि।

(इ) जिन औद्योगिक इकाइयों पर बड़ी मात्रा में पूंजी विनियोजित हो चुकी है, उनकी पूर्ति।

(ई) *औद्योगिक विकास हेतु मूलभूत वस्तुओं के उत्पादन से सम्बन्धित उद्योगों की स्थापना,* जैसे जिप्सम से गन्धक का निर्माण, रेयन की लुग्दी आदि।

औद्योगिक (विकास तथा नियमन) अधिनियम, सन् 1951 (Industries (Development and Regulation) Act, 1951)—औद्योगिक नीति प्रस्ताव, सन् 1948 को तीन वर्ष तक कार्यान्वित करने से भारत सरकार को जो अनुभव प्राप्त हुए तथा भारतीय संविधान के अनुसार देश में धन के केन्द्रीकरण को रोकने हेतु यह आवश्यक समझा गया कि औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था पर नियन्त्रण रखा जाय और इसके लिए एक अधिनियम का निर्माण करना आवश्यक समझा गया। दूसरी ओर सन् 1951 में प्रथम पंचवर्षीय योजना प्रारम्भ होने पर अर्थ-व्यवस्था को योजना के उद्देश्यों के अनुरूप संचालित करने के लिए निजी क्षेत्र की औद्योगिक इकाइयों के नियमन की आवश्यकता महसूस की गयी। इन्हीं कारणों से *अक्टूबर, सन् 1951 में औद्योगिक (विकास एवं नियमन)* अधिनियम, सन् 1951 पारित किया गया जो 8 मई, 1952 से लागू हुआ।

प्रारम्भ में यह अधिनियम केवल 39 उद्योगों पर लागू होता था, परन्तु धीरे-धीरे इसके कार्य-क्षेत्र को विस्तृत किया गया और अब यह 162 उद्योगों पर लागू होता है। आरम्भ में यह अधिनियम केवल ऐसी औद्योगिक इकाइयों पर लागू होता था जिनमें एक लाख रुपया या इससे अधिक पूंजी विनियोजित थी। *सन् 1953 में इस अधिनियम में संशोधन किया गया और यह सभी* औद्योगिक इकाइयों पर लागू होने लगा, चाहे उनका आकार कुछ भी क्यों न हो। सन् 1956 के संशोधन द्वारा यह अधिनियम उन इकाइयों पर भी लागू किया गया जिनमें 50 व्यक्ति शक्ति की सहायता से अथवा 100 व्यक्ति बिना शक्ति की सहायता से कार्य करते थे। फरवरी, 1960 के संशोधन द्वारा *यह निर्धारित किया गया कि उन औद्योगिक इकाइयों को जिनमें 100 से कम* श्रमिक कार्य करते है और जिसकी स्थायी सम्पत्तियाँ 10 लाख रुपये से कम हैं, इस अधिनियम के अन्तर्गत लाइसेन्स लेना आवश्यक नहीं है। जनवरी, 1964 से यह 10 लाख रुपये की सीमा बढ़ाकर 25 लाख रुपये कर दी गयी है (केवल कुछ चुने हुए उद्योगों को छोड़कर) और फरवरी, 1970 में *यह सीमा बढ़ाकर एक करोड़ रुपया कर दी गयी है।* 1 अप्रैल, 1978 को यह बढ़ाकर तीन करोड़ रुपया कर दी गयी है।

इस अधिनियम का प्रमुख उद्देश्य उद्योगों के विकास एवं नियमन को देश की आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक विचारधाराओं के अनुरूप करना है। इसके द्वारा सरकार को देश में उपलब्ध साधनों का उचित उपयोग करने, लघु एवं बृहद् उद्योगों का समन्वित विकास करने

तथा उद्योगों का देश में उचित क्षेत्रीय वितरण करने के लिए कार्यवाहियाँ करने का अधिकार मिल गया है।

अधिनियम में किये गये आयोजनों को हम निम्नलिखित तीन भागों में वर्गीकृत कर सकते हैं :

(अ) निरोधात्मक आयोजन—इस वर्ग के अन्तर्गत ऐसे आयोजन सम्मिलित किये जा सकते हैं जिनके द्वारा सरकार औद्योगिक इकाइयों की राष्ट्रीय आर्थिक नीति के विरोध में की जाने वाली कार्यवाहियों को प्रतिबन्धित कर सकती है। इन आयोजनों में निम्नलिखित तीन मुख्य कार्यवाहियाँ सम्मिलित हैं

(1) औद्योगिक इकाइयों का रजिस्ट्रेशन तथा लाइसेंसिंग—अधिनियम के अन्तर्गत दी हुई अनुसूची में सम्मिलित समस्त उद्योगों की वर्तमान सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्रों की इकाइयों को अनिवार्य रूप से निश्चित अवधि के अन्दर रजिस्ट्रेशन का प्रमाण-पत्र प्राप्त करना होता है। इन उद्योगों में स्थापित होने वाली नवीन इकाइयों की स्थापना केन्द्रीय सरकार से लाइसेन्स प्राप्त करके ही की जा सकती है। केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों को नवीन औद्योगिक इकाइयाँ स्थापित करने के लिए लाइसेन्स लेने की आवश्यकता नहीं होती, परन्तु राज्य सरकारों को नवीन इकाइयों की स्थापना करने से पूर्व केन्द्रीय सरकार से स्वीकृति लेनी होती। लाइसेन्स जारी करते समय केन्द्रीय सरकार नवीन औद्योगिक इकाइयों को निर्धारित शर्तों की पूर्ति करने के लिए निर्देश दे सकती है। रजिस्टर्ड एवं लाइसेन्स-प्राप्त औद्योगिक इकाइयों को किसी नवीन वस्तु का निर्माण करने से पूर्व केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक है। औद्योगिक इकाइयों के विस्तार करने तथा स्थान परिवर्तन करने के लिए भी लाइसेन्स अथवा स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक है।

(2) अनुसूचित उद्योगों की जाँच-पड़ताल—यदि किसी लाइसेन्स-प्राप्त अथवा रजिस्टर्ड उद्योग के उत्पादन में अधिक कमी हो जाय, अथवा उसकी वस्तुओं के गुणों में गिरावट आ जाय, अथवा उसके उत्पादन के मूल्यों में असामान्य वृद्धि हो जाय, अथवा उस उद्योग का प्रबन्ध ठीक न हो, तो केन्द्रीय सरकार उन औद्योगिक इकाई की जाँच-पड़ताल करा सकती है और जाँच-पड़ताल के आधार पर उद्योग को आवश्यक निर्देश दे सकती है।

(3) रजिस्ट्रेशन अथवा लाइसेन्स को निरस्त करना—अधिनियम के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार को अधिकार प्राप्त है कि जब रजिस्ट्रेशन मिथ्या-प्रतिनिधित्व द्वारा प्राप्त किया गया हो अथवा रजिस्ट्रेशन किसी भी कारण से प्रभावशाली न रहा हो, तो ऐसे रजिस्ट्रेशन को वह निरस्त कर सकती है। इसी प्रकार लाइसेन्स जारी होने के पश्चात् किसी उद्योग की स्थापना यदि निर्धारित अवधि के अन्दर न की जाय तो केन्द्रीय सरकार ऐसे लाइसेन्स को निरस्त कर सकती है। केन्द्रीय सरकार को जारी किये हुए लाइसेन्स में सुधार करने का अधिकार भी है।

(ब) सुधारात्मक आयोजन—जब कोई औद्योगिक इकाई केन्द्रीय सरकार द्वारा जारी किये गये निर्देशों का पालन न करे अथवा उसे इस प्रकार संचालित किया जाय कि इसकी कार्यवाहियाँ *सम्बन्धित उद्योग अथवा जनता के हित में न हो तो केन्द्रीय सरकार इस इकाई का प्रबन्ध* अथवा नियन्त्रण अपने हाथ में ले सकती है। सरकार द्वारा प्रबन्ध अपने हाथ में ले लेने पर कम्पनी के अंशधारियों के अधिकारों को कम कर दिया जाता है अथवा ये अधिकार केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति के अधीन हो जाते हैं।

(स) रचनात्मक आयोजन—इस अधिनियम में औद्योगिक शान्ति एवं सहयोग की भावना उत्पन्न करने के लिए सरकार, उद्योग, श्रम एवं अन्य हितों के प्रतिनिधित्व पर आधारित कुछ संस्थाओं की स्थापना का आयोजन किया गया था। इनमें से कुछ प्रमुख संस्थाएँ निम्नवत् हैं

(1) केन्द्रीय सलाहकार परिषद् (Central Advisory Council)—इस परिषद् में 30 सदस्य हैं जिनमें केन्द्रीय उद्योग एवं वाणिज्य-मन्त्री भी सम्मिलित हैं। इसके सदस्य केन्द्रीय सरकार द्वारा नामजद किये जाते हैं। उद्योग एवं वाणिज्य मन्त्री इस परिषद् का सभापति होता है। यह

परिषद् केन्द्रीय सरकार को अनुसूचित उद्योग, विकास एवं नियमन अधिनियम के प्रशासन तथा अधिनियम के लिए नियम (Rules) बनाने के सम्बन्ध में सलाह देती है।

(2) **केन्द्रीय सलाहकार परिषद् की स्टैंडिंग समिति** (Standing Committee)—स्टैंडिंग समितियों की स्थापना समय-समय पर विभिन्न उद्योगों की पृथक्-पृथक् वर्तमान स्थिति की जाँच करने के लिए की जाती है।

(3) **विकास-परिषदें**—अधिनियम में विभिन्न अनुसूचित उद्योगों की पृथक् अथवा उनके समूहों की विकास-परिषदें स्थापित करने का आयोजन किया गया है। इन परिषदों में सम्बन्धित उद्योगों के श्रम, पूंजी, उपभोक्ता, तान्त्रिक विशेषज्ञ आदि प्रतिनिधि सम्मिलित होते हैं। प्रत्येक परिषद् एक समामेलित सस्था होती है, जो अपने अधिकार में सम्पत्ति रख सकती है तथा अन्य पक्षों पर अपने नाम से मुकद्दमा कर सकती है एवं उस पर मुकद्दमा किया जा सकता है। इन परिषदों के मुख्य कार्य निम्नवत् है

(अ) *उत्पादन के लक्ष्यों की सिफारिश करना, उत्पादन-कार्यक्रमों में समन्वय स्थापित करना* तथा समय-समय पर उद्योग की प्रगति की जाँच करना।

(आ) अपव्यय को दूर करने, अधिकतम उत्पादन प्राप्त करने, वस्तुओं के गुणों में सुधार करने तथा लागत को कम करने के लिए कुशलता के प्रमापों के सम्बन्ध में सुझाव देना।

(इ) स्थापित उत्पादन-क्षमता का पूर्णतम उपयोग प्राप्त करना।

(ई) कुशल विपणन की व्यवस्था करना।

(उ) नियन्त्रित कच्चे माल की वितरण सहायता प्रदान करना।

(ऊ) कर्मचारियों के तान्त्रिक प्रशिक्षण की व्यवस्था करना।

(ए) वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसन्धान करना।

(ऐ) *सांख्य का सग्रहण करना आदि।*

इस समय 20 परिषदें कार्य कर रही हैं। ये निम्नलिखित उद्योगों से सम्बद्ध हैं (1) अकार्बनिक रसायन, (2) शक्कर, (3) भारी बिजली का सामान, (4) औषधियाँ, (5) मनुष्यकृत कलात्मक वस्त्र, (6) मशीनों के औजार, (7) तेल, वार्निश आदि, (8) खाद्य-सामग्री, (9) कार्बनिक रसायन, (10) कागज, लुगदी एवं अन्य सहायक उद्योग, (11) मोटरगाड़ियों के सहायक उद्योग, यातायात-वाहन उद्योग, भूमि पर चलने वाले अन्य औजार, (12) सूती वस्त्र बनाने की मशीन, (13) चमड़ा एवं चमड़े की वस्तुएँ, (15) कागज, (16) ऊन, (17) अलौह धातु (18) अकार्बनिक रसायन, (20) तेल-वार्निश, (20) ट्रैक्टर्स।

(4) **औद्योगिक पैनल** (Industrial Panels)—जो उद्योग अभी पूर्णतः विकसित नहीं हैं अथवा जिनमें विकास-परिषदों की स्थापना करना सम्भव नहीं है, उन अनुसूचित उद्योगों में औद्योगिक पैनल की स्थापना की गयी है। यह पैनल सम्बन्धित उद्योगों की विभिन्न समस्याओं का अध्ययन करते हैं तथा उनके कच्चे माल एवं तान्त्रिक ज्ञान की आवश्यकताओं की जानकारी प्राप्त कर सरकार को सिफारिशें करते हैं।

केन्द्रीय सरकार को अनुसूचित उद्योगों पर कर लगाने का अधिकार है। यह कर उत्पादित वस्तुओं के नकद थोक मूल्य के 13 पैसे प्रतिशत से अधिक नहीं हो सकता है। इस कर से प्राप्त धन को विकास-परिषदें वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसन्धान, डिजाइन एवं गुण में सुधार, तान्त्रिकों के प्रशिक्षण एवं प्रशासन-व्ययों के लिए व्यय करेंगी।

औद्योगिक नीति प्रस्ताव, सन् 1956

औद्योगिक नीति प्रस्ताव, सन् 1956 में गत आठ वर्षों के अनुभवों तथा मध्यावधि के परिवर्तनों के आधार पर नीति की घोषणा करना आवश्यक समझा गया। इन 8 वर्षों में भारतीय संविधान का जन्म हुआ जिसके द्वारा राजकीय नीति-निर्देशक तत्व निश्चित किये गये हैं। लोकसभा

द्वारा सन् 1954 मे समाजवादी प्रकार के समाज की स्थापना करना राज्य की आर्थिक एवं सामाजिक नीतियो का उद्देश्य मान लिया गया। इसके साथ प्रथम पंचवर्षीय योजना भी पूर्ण हो चुकी थी तथा इसके अनुभवो के आधार पर भविष्य मे नियोजन हेतु नवीन औद्योगिक नीति की आवश्यकता थी। समाजवादी प्रकार के समाज की स्थापना के लिए लोक-साहस की स्थापना एवं असमानताओ मे कमी करने का सुझाव दिया गया। जनसमुदाय के कल्याण के लिए शीघ्र औद्योगीकरण की आवश्यकता समझी गयी और इन्हो समस्त कारणों से औद्योगिक नीति मे आवश्यक परिवर्तन किये गये।

30 अप्रैल, 1956 को औद्योगिक नीति सम्बन्धी प्रस्ताव स्वयं प्रधानमन्त्री स्व० जवाहरलाल नेहरू ने संसद के सम्मुख प्रस्तुत किया था। प्रस्ताव मे उत्पादन मे निरन्तर वृद्धि एवं समान वितरण को अधिक महत्त्व दिया गया था तथा राज्य को औद्योगिक विकास में क्रियाशील भाग लेने की सिफारिश की गयी थी। प्रस्ताव के अनुसार राज्य को शस्त्र, परमाणु-शक्ति तथा रेल-यातायात पर एकाधिकार प्राप्त करने के साथ-साथ 6 आधारभूत उद्योगों की नवीन इकाइयो की स्थापना का एकमात्र अधिकार भी दिया गया था। शेष सभी उद्योगो मे व्यक्तिगत साहस को कार्य करने का अवसर दिया गया था, परन्तु राज्य को इस क्षेत्र मे भी भाग लेने की सिफारिश की गयी थी।

औद्योगिक नीति द्वारा समस्त उद्योगो को तीन वर्गों मे विभाजित किया गया, जो निम्नवत् है

(अ) **केन्द्रीय सरकार का अनन्य एकाधिकार-क्षेत्र**—इस वर्ग मे 17 उद्योग सम्मिलित किये गये, जिन्हे प्रथम अनुसूची (Schedule 'A') मे रखा गया। इन उद्योगो की नवीन इकाइयों की स्थापना करने का उत्तरदायित्व राज्य का ही होगा, परन्तु निजी उद्योगपतियो के स्वामित्व मे इन उद्योगो की जो वर्तमान इकाइयां हैं, उनके विस्तार एवं उन्नति के लिए राज्य द्वारा समस्त सुविधाएँ प्रदान की जायेंगी और आवश्यकता पड़ने पर राज्य भी राष्ट्र के हितार्थ निजी क्षेत्र से सहयोग की याचना कर सकता है। रेलवे तथा वायु-यातायात, शस्त्र एवं परमाणु-शक्ति का विकास केन्द्रीय सरकार द्वारा ही किया जायेगा। निजी क्षेत्र का जब सहयोग प्राप्त किया जायेगा तो राज्य पूँजी का अधिक भाग देकर अथवा अन्य विधियों द्वारा ऐसी इकाइयों की नीतियों के निर्धारण एवं नियन्त्रण की शक्ति को अपने अधिकार मे रखेगा। इस वर्ग मे निम्नलिखित उद्योग सम्मिलित किये गये

(1) **सुरक्षा सम्बन्धी उद्योग**—अस्त्र-शस्त्र तथा अन्य युद्ध-सामग्री के निर्माण के उद्योग तथा अणुशक्ति-उत्पादन।

(2) **वृहद उद्योग**—लोहा एवं इस्पात, लोहा एवं इस्पात की भारी ढली हुई वस्तुएँ, लोहा एवं इस्पात के उत्पादन, खनिज तथा मशीनों के भारी औजारों का निर्माण करने के लिए भारी मशीनों के उद्योग, भारी बिजली का सामान बनाने वाले उद्योग आदि।

(3) **खनिज सम्बन्धी उद्योग**—कोयला, लिगनाइट, खनिज तेल, लौह-खनिज, जिप्सम, मैंगनीज, सल्फर, सोना, चाँदी, ताँबा, हीरा इत्यादि।

(4) **यातायात एवं संवादवाहन सम्बन्धी उद्योग**—वायुयानों का निर्माण, वायु-यातायात, जलयानों का निर्माण, टेलीफोन, टेलीग्राफ, वायरलैस, रेल-यातायात इत्यादि।

(5) **विद्युत-उत्पादन एवं वितरण।**

(ब) **राज्य तथा व्यक्तिगत मिश्रित क्षेत्र**—इस वर्ग मे व्यक्तिगत पूंजीपतियो एवं सरकार दोनों को नवीन औद्योगिक इकाइयाँ स्थापित करने का अवसर प्राप्त होगा, अर्थात् इस वर्ग के उद्योगो की नवीन इकाइयो की स्थापना का उत्तरदायित्व सामूहिक होगा, परन्तु इस वर्ग के उद्योगो को क्रमश शासकीय क्षेत्र मे ले लिया जायेगा। इस वर्ग मे कुल 12 उद्योग है जिन्हे अनुसूची 'ब' (Schedule 'B') मे रखा गया है। ये उद्योग अग्रवत् हैं :

(1) मिनरल्स कन्सेशन रूल्स, सन् 1940 की धारा 3 मे पारिभाषित लघु खनिजो के अतिरिक्त अन्य सभी खनिज,

(2) अल्यूमीनियम तथा अलौह-धातुएँ जो अनुसूची 'अ' मे सम्मिलित न हो,

(3) मशीन-औजार,

(4) लौह-मिश्रण तथा औजार-इस्पात,

(5) रासायनिक उद्योगो के उपयोग मे आने वाली आधारभूत तथा मध्यम-वर्ग की वस्तुएँ;

(6) एन्टीबायोटिक्स एव अन्य आवश्यक दवाइयाँ,

(7) खाद,

(8) कृत्रिम रबर,

(9) कोयले का कार्बन मे परिवर्तन,

(10) रासायनिक लुग्दी,

(11) सडक-यातायात,

(12) समुद्र यातायात।

(स) व्यक्तिगत उद्योग के क्षेत्र—शेष समस्त उद्योग इस तीसरे वर्ग मे सम्मिलित किये गये। इसमे लघु उद्योगो के साथ-साथ बुनाई उद्योग, कागज, सीमेण्ट, वस्त्र, शक्कर आदि सभी उद्योग सम्मिलित हैं। इन उद्योगो का भावी विकास साधारणत निजी क्षेत्र द्वारा ही किया जायेगा, परन्तु सरकार को इस क्षेत्र मे भी अपनी औद्योगिक इकाइयाँ स्थापित करने का अधिकार होगा। सरकार इन उद्योगो के विकास एव विस्तार के लिए यातायात, पूँजी, शक्ति तथा अन्य आवश्यक साधनो का आयोजन करने का प्रयास करेगी तथा सरक्षण एव उचित कर-नीति द्वारा इनके विकास को प्रोत्साहित किया जायेगा।

(1) **औद्योगिक नीति की अन्य विशेषताएँ**—समाजवादी प्रकार के समाज का निर्माण करने तथा सम्पत्ति का समान वितरण करने के लिए प्रमुख आधारभूत उद्योगो, सुरक्षा एव जनोपयोगी उद्योगो को शासकीय क्षेत्र मे रखा जायेगा। अन्य अनेक उद्योगो, जिनमे अधिक पूँजी की आवश्यकता हो तथा जिनमे अधिक जोखिम के कारण निजी साहस विनियोजन करने की तत्परता न हो, का विकास करने का उत्तरदायित्व सरकार का ही होगा। इस प्रकार सरकारी क्षेत्र को औद्योगिक विकास के अधिक से अधिक भाग पर आच्छादित होना पड़ेगा। सरकार क्रमश बड़े-बड़े उद्योगो का स्वामित्व तथा प्रबन्ध अपने हाथ मे लेती जायेगी।

(2) सरकार देश की समस्त आर्थिक क्रियाओ मे बढता हुआ भाग लेगी तथा धन, शक्ति एव आय के केन्द्रीकरण को रोकने की चेष्टा करेगी।

(3) उद्योगो के तीन वर्गो मे विभाजन का अर्थ यह नही होगा कि इन वर्गो को स्थिर मान लिया जायेगा। विशेष परिस्थितियो मे इन वर्गो मे हेर-फेर हो सकेगा तथा विनियोजित व्यवस्था के सचालन-अनुभवो के आधार पर सरकारी तथा निजी साहस के कार्य-क्षेत्र मे परिवर्तन हो सकेगा। इस प्रकार औद्योगिक नीति मे परिवर्तनशीलता को विशेष स्थान दिया गया जो नियोजित अर्थ-व्यवस्था के विकास हेतु आवश्यक होती है।

(4) सन् 1956 के औद्योगिक नीति प्रस्ताव मे राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था मे गृह तथा लघु उद्योगो के विकास को महत्वपूर्ण बताया गया है। इनसे रोजगार के अवसरो मे वृद्धि होती है, राष्ट्रीय आय का समान वितरण हो सकता है तथा निष्क्रिय पूँजी एव निपुणता के साधनो मे गतिशीलता उत्पन्न होती है। इस प्रस्ताव द्वारा लघु उत्पादक की प्रतिस्पर्द्धा सम्बन्धी क्षमता मे वृद्धि करने का प्रयत्न किया जायेगा। इसके साथ, लघु एव वृहद् उद्योगो मे समन्वय स्थापित करने के लिए सरकार आवश्यक कार्यवाही करेगी। सगठित उद्योगो की उत्पादन-सीमा निश्चित कर, विभेदात्मक नीति (Discriminating Policy) द्वारा तथा प्रत्यक्ष आर्थिक सहायता प्रदान कर, ग्राम एव कुटीर उद्योगो को सरकार सगठित करेगी।

(5) सरकार देश के विभिन्न क्षेत्रो के असन्तुलित औद्योगिक विकास को रोकने का प्रयत्न करेगी तथा इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु औद्योगिक दृष्टिकोण से पिछडे हुए क्षेत्रों मे शक्ति, जल तथा यातायात सम्बन्धी सुविधाओ का आयोजन करेगी। जिन क्षेत्रो मे बेरोजगारी अधिक मात्रा मे होगी, उनको अधिक औद्योगिक सुविधाएँ प्रदान की जायेंगी।

(6) देश का सन्तुलित औद्योगिक विकास करने के लिए तान्त्रिको एव प्रबन्धको की आवश्यकता होगी, इसीलिए सरकार आवश्यक शिक्षा एव प्रशिक्षण-सुविधाओ का प्रबन्ध करेगी।

(7) देश के भौतिक विकास मे निजी क्षेत्र को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होगा। निजी क्षेत्र को निश्चित सीमाओ मे तथा निश्चित योजनाओ के अनुसार विकास करने का अवसर प्रदान किया जायेगा।

द्वितीय योजना मे औद्योगिक नीति—प्रथम पचवर्षीय योजना को वास्तव मे प्रारम्भिक तैयारी का कार्यक्रम कहना चाहिए जो औद्योगीकरण के लिए आवश्यक होता है। वृहद् उद्योगो की स्थापना के पूर्व की विपणि, कच्चे माल व ईंधन, विधियो का चयन, उत्पादन-लागत, तान्त्रिक एव प्रबन्ध की व्यवस्था-सम्बन्धी अनेक समस्याओ का अध्ययन करना होता है। बहुत सी औद्योगिक योजनाओ के लिए विदेशी तान्त्रिक सहायता प्राप्त करना भी आवश्यक होता है। इसके साथ ही, औद्योगिक विकास को जो अर्थ चाहिए, उसका किस प्रकार प्रबन्ध किया जाय, इस पर भी विचार करना आवश्यक होता है। द्वितीय योजना के औद्योगिक कार्यक्रम निश्चित करने के पूर्व उपयुक्त समस्त समस्याओ का पूर्णरूपेण अध्ययन कर लिया गया था। योजना के कार्यक्रम औद्योगिक नीति प्रस्ताव द्वारा निर्धारित नीतियो के आधार पर ही बनाये गये तथा उन नीतियो की सीमाओ मे भी औद्योगिक प्राथमिकताएँ निम्नवत् निश्चित की गयी

(1) लोहा-इस्पात, भारी रसायन एव नाइट्रोजन, खाद के उत्पादन मे वृद्धि तथा भारी इजीनियरिंग एव मशीन-निर्माण उद्योगो का विकास।

(2) अन्य विकास सम्बन्धी एव उत्पादक वस्तुओं, जैसे अल्यूमिनियम, सीमेण्ट, रासायनिक लुग्दी रग, फास्फेट की खाद, आवश्यक औषधियो की उत्पादन-क्षमता मे वृद्धि।

(3) वर्तमान राष्ट्रीय महत्व के उद्योगो का नवीनीकरण तथा पुन मशीनें आदि लगाना, जैसे जूट, सूती वस्त्र एव शक्कर उद्योग।

(4) जिन उद्योगों की उत्पादन क्षमता एव वास्तविक उत्पादन में बहुत अन्तर है, उनकी उत्पादन-क्षमता का पूर्णतम उपयोग।

(5) उद्योगो के विकेन्द्रित क्षेत्र के उत्पादन-लक्ष्यो एव सामूहिक उत्पादन-कार्यक्रमो की आवश्यकतानुसार उपभोक्ता-वस्तुओं की उत्पादन-क्षमता मे वृद्धि।

द्वितीय योजना में ग्रामीण एव लघु उद्योगो के विकास द्वारा रोजगार के अवसरो की वृद्धि, बेरोजगारी के विस्तार को रोकना, उपभोक्ता-वस्तुओ की पूर्ति को बढाना, पूँजीगत एव आधारभूत उद्योगो के लिए अधिक अर्थ साधन उपलब्ध करना, विकेन्द्रित समाज की स्थापना करना आदि उद्देश्यो की पूर्ति का लक्ष्य रखा गया था। सन् 1956 की औद्योगिक नीति प्रस्ताव मे भी ग्रामीण एव लघु उद्योगो को सुदृढ बनाने की आवश्यकता बतायी गयी थी। इसके साथ, इन उद्योगो एव वृहद उद्योगो के क्षेत्र मे सामजस्य स्थापित करने को भी महत्व दिया। ग्रामीण क्षेत्र मे बिजली के विस्तार तथा सस्ते मूल्य पर शक्ति के प्राप्त होने से ग्रामीण उद्योगो को सुदृढ बनाने मे सहायता प्राप्त हो सकती थी और जब तक ये उद्योग पर्याप्त सुदृढता प्राप्त नही कर लेते, इन्हे सरक्षण देने के लिए वृहद् उद्योगो के क्षेत्र के उत्पादन को सीमित करना, भेदपूर्ण कर-व्यवस्था तथा लघु उद्योगो को प्रत्यक्षरूपेण सहायता देना आवश्यक था।

तृतीय योजना मे औद्योगिक नीति—तृतीय पचवर्षीय योजना मे उद्योगो का विस्तार करने हेतु अप्रैल, 1956 के औद्योगिक प्रस्ताव को ही अपनाया गया और निजी एव सरकारी क्षेत्र का एक-दूसरे के सहायक एव पूरक के रूप मे कार्य करने का आयोजन किया गया, इसीलिए नाइट्रो-

जियम खाद तथा लौह-पिण्ड के कारखाने निजी क्षेत्र मे स्थापित करने की आज्ञा प्रदान करने का आयोजन किया गया।

वृहद् उद्योग—योजना मे औद्योगिक कार्यक्रमो की प्राथमिकताएँ निर्धारित करते समय उत्पादन-क्षमता एव वास्तविक उत्पादन के अन्तर को दूर करने, वर्तमान कारखानो के विस्तार को नवीन कारखानो की स्थापना पर प्राथमिकता देने तथा ऐसे व्यवसायो को बढ़ावा देने, जिनसे निर्यात मे वृद्धि अथवा आयात मे कमी सम्भव हो सके, आदि बातों को दृष्टिगत किया गया। उपर्युक्त बातो के आधार पर तृतीय योजना मे निम्नवत् औद्योगिक प्राथमिकताएँ निर्धारित की गयी

(1) उन परियोजनाओ की पूर्ति, जो द्वितीय योजना मे सचालित की गयी अथवा जो सन् 1957-58 मे विदेशी मुद्रा की कठिनाई के कारण स्थगित कर दी गयी थी।

(2) भारी इजीनियरिंग, मशीन-निर्माण, ढालने आदि के उद्योग, औजारो की धातु तथा विशेष इस्पात, लोहा एव इस्पात तथा अलौह-धातुओ के विस्तार एव उनकी क्षमता मे परिवर्तन तथा खाद एव खनिज तेल की वस्तुओ के उत्पादन मे वृद्धि।

(3) अल्यूमिनियम, खनिज तेल, घुलने वाली लुग्दी (Dissolving Pulp), रसायन आदि जैसे आधारभूत कच्चे माल तथा उत्पादक वस्तुओ के उत्पादन मे वृद्धि।

(4) दवाइयाँ, कागज, कपडा, शक्कर, वनस्पति तेल तथा घरो का सामान आदि जैसी वस्तुओ के उत्पादन को घरेलू उद्योगो द्वारा बढाना जिससे इनकी पूर्ति की जा सके।

ग्रामीण एव लघु उद्योग विकास सम्बन्धी नीति—तृतीय योजना मे प्रथम एव द्वितीय योजना के समान ही ग्रामीण एव लघु उद्योगो के विकास द्वारा रोजगार के विस्तार, अधिक उत्पादन तथा अधिक समान वितरण के उद्देश्यो की पूर्ति की जानी थी, परन्तु इन उद्देश्यो की पूर्ति तृतीय योजना मे बडे पैमाने पर करने की आवश्यकता थी। तृतीय योजना के कार्यक्रम निम्नलिखित उद्देश्यो को दृष्टिगत करके निर्धारित किये गये

(1) कुशलता मे सुधार, तान्त्रिक सलाह की उपलब्धि, अच्छे औजार एव सामग्री, साख आदि प्रत्यक्ष सुविधाओ को अधिक महत्व देकर श्रमिक की उत्पादकता मे सुधार एव उत्पादन-लागत को कम किया जाना।

(2) धीरे-धीरे सहायता-अनुदानो (Subsidies), विक्रय-अवहार (Sales Rebate) तथा सुरक्षित बाजारो को कम करना।

(3) ग्रामीण क्षेत्रो एव नगरो मे उद्योगो का विस्तार एव विकास।

(4) वृहद उद्योगो के सहायक उद्योगो के रूप मे लघु उद्योगो का विकास।

(5) दस्तकारो को सहकारी सस्थाओ मे सगठित करना।

तृतीय योजना मे ग्रामीण एव लघु उद्योगो के तान्त्रिक एव प्रबन्धन सम्बन्धी व्यक्तियो की आवश्यकता की पूर्ति के लिए ग्रामीण क्षेत्रो मे समुदाय प्रकार (Cluster Type) की सस्थाओ की स्थापना की जाती थी, जिनके द्वारा कुछ ग्रामो मे समूहो को विभिन्न दस्तकारियों मे प्रशिक्षण प्रदान किया जा सके।

चतुर्थ योजना मे औद्योगिक नीति—चतुर्थ योजना मे औद्योगिक विकास के सम्बन्ध मे सन् 1956 की औद्योगिक नीति को ही आधार माना गया और अर्थ-व्यवस्था के अन्य क्षेत्रो के विकास के स्तर, तान्त्रिक क्षमता की उपलब्धि तथा भौतिक एव वित्तीय साधनो के सन्दर्भ मे औद्योगिक विकास के कार्यक्रम निर्धारित किये गये। औद्योगिक कार्यक्रमो मे निम्नलिखित सिद्धान्तो को आधार माना गया :

(1) द्रुत गति से अर्थ-व्यवस्था को आत्मनिर्भर (Self-reliant) बनाने के लिए अर्थ-व्यवस्था मे पूंजीगत प्रसाधनो के उद्योगो का विस्तार होना आवश्यक है। विनियोजन की वृद्धि-दर समस्त आय की वृद्धि-दर से अधिक होने के कारण अर्थ-व्यवस्था मे पूंजीगत प्रसाधनो तथा कृषि मे

उपयोग आने वाली निर्मित वस्तुओं की माँग मे तेजी से वृद्धि होने का अनुमान था। पूँजीगत प्रसाधनो मे धातु, खनिज तेल-उत्पाद तथा रासायनिक पदार्थों की माँग मे अधिक तेजी से वृद्धि होने की सम्भावना थी। इन्ही वस्तुओ के लिए देश आयात पर निर्भर रहता है। आत्मनिर्भरता के लक्ष्य की ओर बढने पर यह आवश्यक है कि इन उद्योगो का तेजी से विकास कर आन्तरिक उत्पादन म वृद्धि की जाय। इन उद्योगो के विकास मे पूँजी की बडी मात्रा मे आवश्यकता होती, जिसकी देश मे कमी थी। औद्योगिक कार्यक्रमो के निर्धारित व्यय मे से बडा भाग इन उद्योगो के लिए उपयोग करना अनिवार्य था परन्तु इन उद्योगो से सम्बन्धित विकास-कार्यक्रमो की सूक्ष्म छानबीन करने की आवश्यकता थी जिसमे इनकी पूँजी-प्रधानता मे बिना लागत, उत्पादन एव कुशलता को क्षति पहुँचाये कमी की जा सके।

(2) गैर कृषि-रोजगार मे वृद्धि करना अत्यन्त आवश्यक था क्योकि देश के सभी क्षेत्रो मे बेरोजगारी तेजी से बढ रही थी। इसी कारण चतुर्थ योजना मे उद्योगो के छितराव (Dispersal) को अधिक महत्व दिया गया। वर्तमान बडे नगरो मे और उद्योगो की स्थापना के लिए जिन उपरिव्यय सुविधाओ की आवश्यकता होगी उनकी लागत नये क्षेत्रो मे इन उपरिव्यय-सुविधाओ की लागत से कही अधिक आती है। ऐसी परिस्थिति मे उद्योग का छितराव छोटे नगरो एव ग्रामीण क्षेत्रो मे करने से औद्योगिक विकास की कुल लागत कम रखी जा सकती थी।

(3) सक्रान्ति-काल (Transitional State) मे परम्परागत उद्योगो मे पूँजी प्रधान तान्त्रिक नाओ के अनियन्त्रित विस्तार से उदय होने वाली तान्त्रिक बेरोजगारी को रोका जाना था परन्तु यह व्यवस्था केवल अस्थायी थी क्योकि अन्तत परम्परागत उद्योगो की स्थिति मे सुधार करने के लिए सुधरी हुई तान्त्रिकताओ के उपयोग द्वारा इनकी उत्पादकता बढाना आवश्यक था। परम्परागत उद्योगो को सुदृढ आधार प्रदान करने हेतु तान्त्रिक सुधार अनिवार्य थे और इनकी प्रगति एव विस्तार को तान्त्रिक बेरोजगारी के भय के कारण रोक देना बेरोजगारी की समस्या को ऐसे समय के लिए स्थगित करना होगा जबकि इसका निवारण असम्भव हो जायेगा। इस प्रकार परम्परागत उद्योगो को प्रदान की जाने वाली सहायता—अनुदान (Subsidy) आदि—केवल निश्चित काल के लिए ही स्वीकृत की जानी चाहिए। जैसे ही ये उद्योग सुदृढ होने लगे अनुदान आदि को बन्द कर दिया जाना था।

पाँचवीं योजना मे औद्योगिक नीति—पाँचवी योजना के सन्दर्भ मे 2 फरवरी, 1973 को केन्द्रीय सरकार के उद्योग-मन्त्री द्वारा औद्योगिक नीति मे कुछ आधारभूत परिवर्तन घोषित किये गये। यद्यपि पाँचवी योजना मे भी औद्योगिक नीति प्रस्ताव सन 1956 के आधारभूत सिद्धान्तो को मान्यता दी जायेगी, फिर भी पाँचवी योजना मे प्रगति की गति को बनाये रखने, सामाजिक न्याय को व्यापक करने, आत्मनिर्भरता के लक्ष्य को प्राप्त करने तथा आधारभूत न्यूनतम आवश्यकताओ की पूर्ति हेतु सरकार को औद्योगिक क्षेत्र के विकास के लिए व्यापक कार्यवाहियाँ करनी थी। सरकार द्वारा आधारभूत सामाजिक महत्व एव जनोपयोगी सेवाओ सम्बन्धी उद्योगो के अतिरिक्त ऐसे उद्योगो को, जो आवश्यक हो और जिनमे बडे पैमाने पर विनियोजन करने की आवश्यकता हो, सरकारी क्षेत्र मे सचालित किया जाना था। सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योग, जो अनुसूची 'अ' (Schedule 'A' of Industrial Resolution 1956) मे दिये गये, का विस्तार कर दिया गया। सीमेण्ट, कागज, औषधियाँ एव वस्त्र जैसी आवश्यक वस्तुओ के उद्योगो की उत्पादन-क्षमता बढाने के लिए सार्वजनिक क्षेत्र को महत्वपूर्ण योगदान देना था। दूसरी ओर, सरकारी क्षेत्र मे कृषि पर आधारित उद्योगो एव जन उपभोग की वस्तुओ के उद्योगो की उत्पादन क्षमता का विस्तार किया जाना था।

Monopolies and Restrictive Trade Practices Act, 1969 के आयोजन तथा Industrial Licensing Policy Inquiry Committee की सिफारिशो को ध्यान मे रखकर बडे औद्योगिक घरानो पर केन्द्रित (Core) भारी विनियोजन-क्षेत्रो तथा दीर्घकालीन निर्यात-सम्भावना बढाने वाले उद्योगो को छोडकर अन्य क्षेत्रो मे औद्योगिक इकाइयाँ खोलने के लिए प्रति-

बन्ध लगा दिया गया था। औद्योगिक बड़े घराने वे माने जाते थे जिनकी कुल सम्पत्तियां (अन्त-र्सम्बद्ध व्यवसायों की सम्पत्तियों सहित) 20 करोड़ रुपये से कम न हो। अभी तक औद्योगिक बड़े घराने वे माने जाते थे जिनकी सम्पत्तियाँ 35 करोड़ रुपये से अधिक होती थी। इस परिवर्तन से आर्थिक शक्तियों के केन्द्रीकरण पर प्रभावशाली नियन्त्रण हो सकता था। पाँचवीं योजना के लिए अर्थ-व्यवस्था के लिए भविष्य में महत्व रखने वाले केन्द्रित उद्योग (Core Industries), केन्द्रित उद्योगों से सम्बद्ध उद्योग तथा दीर्घकालीन निर्यात-सम्भावना वाले उद्योग अर्थ-व्यवस्था की प्रगति के लिए निर्णायक (Critical) एवं सामरिक महत्व के उद्योग माने जाते थे। बड़े औद्योगिक घराने इन उद्योगों की स्थापना करने के लिए आवेदक हो सकते थे, बशर्ते वह उद्योग सरकारी क्षेत्र अथवा लघु उद्योग क्षेत्र के लिए सुरक्षित कर दिया गया हो। बड़े औद्योगिक घरानों को अपनी उत्पादन-क्षमता को बढ़ाने की छूट देने की व्यवस्था भी योजना में की गयी, यदि ये घराने घरेलू और निर्यात की आवश्यकताएँ पूरी करें और नये उत्पादन प्रारम्भ करें। इस कार्यवाही का उद्देश्य पर्याप्त विदेशी विनिमय अर्जित करना, मुद्रा स्फीति को सीमांकित करना तथा औद्योगिक विकास की गति को तीव्र करना था। विदेशी औद्योगिक संस्थाएँ अथवा उनकी सहायक कम्पनियाँ अथवा शाखाएँ भी इन उद्योगों की स्थापना के लिए आवेदक हो सकती थीं, विशेषकर जब इनके उत्पादन के निर्यात की सम्भावना हो। लघु एवं मध्यम श्रेणी के साहसियों को इन उद्योगों की स्थापना हेतु लाइसेन्स देने में प्राथमिकता दी जाती थी। बड़े उद्योगों के सहायक उद्योगों (Ancillary Industries) की स्थापना यथासम्भव लघु एवं मध्यम क्षेत्र में की जानी थी। सहकारी संस्थाएँ एवं लघु तथा मध्यम श्रेणी के साहसियों को उपभोक्ता-वस्तुओं के उत्पादन का बड़ा अंश उत्पन्न करने के लिए प्रोत्साहित किया जाना था। सरकारी क्षेत्र को भी उपभोक्ता-वस्तुओं के उत्पादन का अधिक भाग उत्पन्न करना था। उपभोक्ता-वस्तुओं के उद्योगों में अन्य साहसियों को विनियोजन की अनुमति तभी दी जाती थी जब वृहद् आकार का उत्पादन करके मूल्यों में कटौती करना, तान्त्रिक सुधार करना निर्यात वृद्धि करना आदि सम्भव हो।

लाइसेन्स की छूट की सीमा—एक करोड़ रुपये तक की स्थायी सम्पत्ति वाले उद्योगों की स्थापना करने तथा इस आकार के उद्योगों का विस्तार करने के लाइसेन्स प्राप्त करने पर छूट जारी रखी गयी। परन्तु बड़े औद्योगिक घरानों को एक करोड़ रुपये की सीमा के अन्दर के उद्योगों की स्थापना एवं विस्तार करने के लिए भी लाइसेन्स प्राप्त करना था। विदेशी कम्पनियों, विदेशी कम्पनियों की सहायक कम्पनियों एवं शाखाओं को भी एक करोड़ रुपये की सीमा तक के उद्योगों की स्थापना एवं विस्तार के लिए लाइसेन्स प्राप्त करना आवश्यक था।

यान्त्रिकताओं का आयात—यान्त्रिकताओं का आयात तभी स्वीकृत किया जाता था जबकि इन यान्त्रिकताओं के अन्तर्गत भारतीय प्रसाधनों, डिजायन इंजीनियरिंग तथा भारतीय औद्योगिक एवं अन्य प्रमापों का पूर्णरूपेण उपयोग होता हो। विदेशी पूँजी के सहयोग की स्वीकृति तान्त्रिक कमियों को पूरा करने के लिए दी जाती थी। यान्त्रिकताओं को पूर्णरूपेण (Complete Package) आयात करने की अनुमति प्रदान नहीं की जाती थी। विदेशी पूँजी का सहयोग सामान्यतः किसी भी उपक्रम में 40% से अधिक नहीं होना था।

लघु क्षेत्र—लघु क्षेत्र में वे समस्त इकाइयाँ सम्मिलित होती थीं जिनमें मशीन एवं प्रसाधन में 7.50 लाख रुपये तक का विनियोजन हो। बड़े उद्योगों के सहायक उद्योगों के लिए विनियोजन की यह सीमा 10 लाख रुपये रहनी थी। सरकारी क्षेत्र में ऐसे उद्योगों को विशेष प्रोत्साहन दिया जाना था जिनमें कृषि-पदार्थों का प्रविधिकरण होता था, जैसे गन्ना, जूट, कपास आदि अथवा जिनके द्वारा कृषि-आदाय, जैसे रासायनिक खाद उत्पादित किये जाते थे।

संयुक्त क्षेत्र—संयुक्त क्षेत्र में केन्द्रीय सरकार एवं राज्यों द्वारा प्रत्यक्ष रूप से अथवा अपने निगमों द्वारा निजी उद्योगपतियों के साथ औद्योगिक इकाइयों में समता-अंश खरीदे जाते हैं। संयुक्त

क्षेत्र मे पाँचवी योजना के लक्ष्यो का ध्यान म रखकर ही औद्योगिक इकाइयाँ स्थापित की जानी थीं। सयुक्त क्षेत्र का उपयोग प्रवर्तन-प्रधान होना था जिसके अन्तर्गत नवीन एव मध्यम श्रेणी के साहसियों को प्राथमिकता-प्राप्त उद्योग स्थापित करने के लिए पथ-प्रदर्शन किया जाना था। सयुक्त क्षेत्र मे बडे औद्योगिक घरानो, प्रभुसत्ता-सम्पन्न औद्योगिक इकाइयो तथा विदेशी कम्पनियो को ऐसे उद्योगो म प्रविष्ट नहीं होने दिया जाना था जिनके लिए वह अन्यथा प्रतिबन्धित कर दी गयी थी।

औद्योगिक नीति, सन् 1977

देश मे जनता सरकार की स्थापना के पश्चात देश की सामाजिक एव आर्थिक व्यवस्थाओ म क्रान्तिकारी सुधार करने की आवश्यकता महसूस की गयी। विकास की प्रक्रिया का अब प्रमुख उद्देश्य बेरोजगारो को कार्य प्रदान करना निर्धारित किया गया। औद्योगिक क्षेत्र रोजगार के अवसरों मे वृद्धि का प्रमुख स्रोत है और इस क्षेत्र मे तकनीकी के चयन तथा आय के पुर्नवितरण एव सामाजिक न्याय म घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। औद्योगिक नीति के द्वारा इन दोनों कारको को प्रभावित एव निर्देशित करन का प्रयत्न किया गया है। नवीन औद्योगिक नीति के अन्तर्गत 1956 की औद्योगिक नीति के क्रियान्वयन से उदय होने वाले दोषो को दूर करने का प्रयत्न किया गया ह। गत दस वर्षो मे प्रति व्यक्ति आय मे 1 5% प्रति वर्ष की वृद्धि, बेरोजगारी मे वृद्धि, नगरीय एव ग्रामीण क्षेत्रो के जीवन स्तर मे अन्तर मे वृद्धि, वास्तविक विनियोजन मे जडता, औद्योगिक विकास की गत दस वर्षो मे औसतन दर 4% तक रहना, उद्योगो का कुशल सचालन न किया जाना, औद्योगिक गतिविधि का पर्याप्त छितराव न होना, उद्योगो का बडे नगरीय क्षेत्रो मे केन्द्रीकरण आदि ऐसे दोष है जिनके निवारण के लिए नवीन औद्योगिक नीति की आवश्यकता हुई। नवीन औद्योगिक नीति क मुख्य तत्व निम्नवत् है

(1) **रोजगार के अवसरो मे वृद्धि**—औद्योगिक एव कृषि-क्षेत्र की क्रिया-प्रतिक्रिया (Interaction) मे घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करके ग्रामीण क्षेत्र की बेरोजगार श्रम-शक्ति को रोजगार के अवसर प्रदान करने का प्रयास किया जाना है।

(2) **लघुस्तरीय उद्योग**—नवीन औद्योगिक नीति के अन्तगत कुटीर एव लघु उद्योगो का प्रभावशाली छितराव ग्रामीण क्षेत्रो एव छोटे नगरो मे किया जाना है। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु बहुत से औद्योगिक उत्पादो के लिए लघुस्तरीय क्षेत्र को सुरक्षित कर दिया गया है। 1956 की औद्योगिक नीति के अन्तर्गत 180 उत्पाद लघु क्षेत्र के लिए सुरक्षित थे परन्तु नवीन औद्योगिक नीति म इनकी सख्या बढाकर 504 कर दी गयी है। लघु क्षेत्र की सुरक्षित मदों की समय-समय पर जाँच की जायेगी जिससे यह ज्ञात होता रहे कि लघु क्षेत्र अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकता के अनुसार सुरक्षित मदों का पर्याप्त उत्पादन कर रहा है अथवा नही तथा और कौन से नये उत्पाद इस क्षेत्र के लिए सुरक्षित किये जा सकते हैं। ऐसे छोटे उद्योगो को, जिनमे सयन्त्र एव प्रसाधनो मे एक लाख रुपये से कम का विनियोजन हो, 50,000 से कम जनसख्या वाले नगरो मे सम्पादित एव विकसित करने पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। इनको मार्जिन रीति की सहायता की व्यवस्था की जायेगी। लघु उद्योगों के साथ-साथ कुटीर एव घरेलू उद्योगो को विशिष्ट वैधानिक सरक्षण प्रदान किया जायेगा।

(3) **जिला औद्योगिक केन्द्र**—प्रत्येक जिले मे एक ऐसी एजेन्सी की स्थापना की जायगी जा लघु एव ग्रामीण उद्योगो की सम्पूण आवश्यकताओ की देखभाल करेगी। इस एजेन्सी को जिला उद्योग केन्द्र का नाम दिया जायेगा। इस केन्द्र के एक ही परिसर मे लघु एव ग्रामीण उद्योगो की समस्त सेवाओ—जिले के कच्चे मालो एव अन्य साधनो का सर्वेक्षण, यन्त्रो एव प्रसाधनो की पूर्ति, कच्चे माल का आयोजन साख-सुविधाओ की व्यवस्था, विपणि की प्रभावशाली व्यवस्था, गुण नियन्त्रण का आयोजन, अनुसन्धान एव विस्तार-सेवा—की व्यवस्था की जायेगी। यह केन्द्र ग्रामीण उद्योगो के लिए पृथक् कक्ष रखेगा और विकास-खण्डो एव विशिष्ट औद्योगिक सस्थाओ मे घनिष्ठ सम्बन्ध बनाये रखेगा। इन केन्द्रो की व्यवस्था सभी जिलो मे चार वर्षों मे कर दी जायेगी।

(4) **विपणन एवं साख-व्यवस्था**—लघु, ग्रामीण एवं कुटीर उद्योगो की वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए औद्योगिक विकास बैंक के लिए पृथक् कक्ष स्थापित करेगा जो इस क्षेत्र को विभिन्न साख-संस्थाओ द्वारा प्रदान की जाने वाली वित्तीय सहायता को समन्वित, निर्देशित एवं अग्रेषित करेगा। राष्ट्रीयकृत व्यापारिक बैंको मे भी इस क्षेत्र के लिए पृथक् कक्ष स्थापित किये जायेंगे। प्रत्येक बैंक अपने कुल अग्रिम का निश्चित अनुपात लघु एवं ग्रामीण क्षेत्रो के लिए सुरक्षित करेगा। इस क्षेत्र के उत्पादो के विपणन को भी सरकार द्वारा सहायता प्रदान की जायेगी और सरकारी एवं सार्वजनिक संस्थानो की खरीद मे इस क्षेत्र के उत्पादो को प्राथमिकता दी जायेगी।

(5) **खादी एवं हथकरघा उद्योग**—खादी एवं ग्रामीण उद्योग आयोग के कार्य-क्षेत्र मे आने वाले उद्योगो की सूची मे वृद्धि की जायेगी। जूता उत्पादन एवं साबुन उद्योगो के विकास के लिए विस्तृत कार्यक्रम निर्धारित किये जायेंगे। पोलिस्टर खादी के विकास के लिए सरकार विशेष सहायता प्रदान करेगी। हथकरघा उद्योग के विकास के लिए कपड़ा मिलो को अपनी क्षमता बढाने की अनुमति नही दी जायेगी और हथकरघा उद्योग को कपडे की अधिक मदें सुरक्षित की जायेंगी।

(6) **उपयुक्त तकनीक का उपयोग**—देश की सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियो के अनुरूप उपयुक्त तकनीक का उपयोग करने पर विशेष ध्यान दिया जायेगा और ऐसी लघु एवं सरल मशीनो का विस्तार एवं विकास किया जायेगा जिनसे लघु एवं ग्रामीण उद्योगों की उत्पादकता एवं आयोपार्जन-क्षमता मे वृद्धि की जा सके।

(7) **वृहद् उद्योग**—वृहद् उद्योगो के विकास को लघु एवं ग्रामीण उद्योगो के छितराव तथा कृषि-क्षेत्र को सुदृढ बनाने के कार्यक्रम मे सम्बद्ध किया जायेगा जिसमें जनसाधारण की न्यूनतम आधारभूत आवश्यकताओ की पूर्ति की जा सके। वृहद उद्योगो का कार्य-क्षेत्र निम्न प्रकार के उद्योगो से सम्बद्ध रहेगा

(अ) ऐसे आधारभूत उद्योग जो अव-संरचना को सुदृढ बनाने एवं लघु तथा ग्रामीण उद्योगो के विकास के लिए आवश्यक हो, जैसे इस्पात, अलौह धातुएँ, सीमेण्ट तथा तेल-शोधन।

(ब) पूँजीगत वस्तु उद्योग जो आधारभूत उद्योगो एवं लघुस्तरीय उद्योगो की मशीनो की आवश्यकता की पूर्ति कर सके।

(स) उच्च तकनीकी उद्योग जो कृषि-क्षेत्र एवं लघु औद्योगिक क्षेत्र से सम्बन्धित हो, जैसे उर्वरक कीटनाशक रसायन तथा पेट्रो-रसायन उद्योग।

(द) अन्य ऐसे उद्योग जो सुरक्षित सूची के बाहर हो, जैसे मशीनी-औजार, कार्बनिक एवं अकार्बनिक रसायन।

(8) **बडे औद्योगिक घराने**—बडे औद्योगिक घरानो का विस्तार निम्नलिखित सिद्धान्तो के आधार पर निर्देशित होगा

(अ) विद्यमान संस्थानो के विस्तार तथा नवीन संस्थानो की स्थापना को Monopolies and Restrictive Trade Practices Act के आयोजनो के आधार पर निर्देशित किया जायेगा।

(ब) वर्तमान संस्थानों के विस्तार एवं नवीन इकाइयो की स्थापना के लिए बडे घराने को सरकार से विशिष्ट स्वीकृति लेनी होगी।

(स) रासायनिक उर्वरक, कागज, सीमेण्ट, जहाज-निर्माण, पेट्रो-रसायन उद्योगो को छोडकर अन्य उद्योगो मे नयी इकाइयो की स्थापना एवं वर्तमान इकाइयो के विस्तार के लिए बडे घरानो को अपने आन्तरिक वित्तीय साधनो का अधिक उपयोग करना होगा और इनमें ऋण-पूँजी-अनुपात अधिक ऊँचा नही होने दिया जायेगा।

लघु क्षेत्र को सुरक्षित उद्योगो की वर्तमान वृहद् औद्योगिक इकाइयो का विस्तार की अनुमति नही दी जायेगी और धीरे-धीरे इनकी कुल उत्पादन-क्षमता मे अंश घटाया जायेगा तथा

लघु उद्योगो का अंश बढाया जायेगा। किसी भी इकाई अथवा व्यापार-समूह को बाजार एकाधिकारिक स्थिति मे नही आने दिया जायेगा।

(9) **सार्वजनिक क्षेत्र**—सार्वजनिक क्षेत्र को बहुत से सहायक उद्योगो के विकास का दायित्व दिया जायेगा। वह लघु एव ग्रामीण क्षेत्र को अपनी तकनीकी एव प्रवन्धकीय विशेषज्ञता प्रदान करके विकेन्द्रित उत्पादन मे योगदान देगा। सार्वजनिक क्षेत्र के सस्थानो को लाभप्रद बनाने के लिए उनका सचालन कुशलता से किया जायेगा।

(10) **स्वदेशी एव विदेशी तकनीक**—देश मे उद्योगो के विकास के लिए स्वदेशी तकनीकी का ही उपयोग किया जायेगा। जिन तकनीकी क्षेत्रो मे भारतीय तकनीकी योग्यता पर्याप्त नही है उनमे सर्वोत्कृष्ट उपलब्ध तकनीक का प्रत्यक्ष क्रय विदेशो से कर लिया जायेगा और इस तकनीक का उपयुक्त उपयोग एव परिपाक (Assimilation) करने के लिए अनुसन्धान की व्यवस्था की जायेगी

(11) **विदेशी विनियोजन**—वर्तमान विदेशी कम्पनियो के विनियोजन पर विदेशी विनिमय नियमन अधिनियम को कठोरता से लागू किया जायेगा। इस अधिनियम के अन्तर्गत मिश्रण (Dilution) की प्रक्रिया पूरी होने पर ऐसी कम्पनियो को, जिनमे विदेशी विनियोजन 40% से अधिक नही है, भारतीय कम्पनियो के समान माना जायेगा। जिन औद्योगिक क्षेत्रो मे विदेशी तकनीकी ज्ञान की आवश्यकता नही होगी, वर्तमान विदेशी सहयोग समाप्त कर दिया जायेगा। ऐसे उद्योगो की सशोधित सूची प्रकाशित की जायेगी, जिनमे वित्तीय एव तकनीकी विदेशी सहयोग की आवश्यकता नही है। स्वीकृत विनियोजनो के सम्बन्ध मे लाभ, अधिकार-शुल्क लाभाश के भुगतान एव पूँजी की वापसी की स्वतन्त्रता होगी। सामान्य विदेशी विनियोजन से स्थापित उद्योगो मे स्वामित्व एव नियन्त्रण भारतीय होगा परन्तु उच्च निर्यात-जन्य एव जटिल तकनीकी क्षेत्र मे सरकार इस नियम को ढीला कर सकेगी।

(12) ***विदेशों मे सयुक्त उपक्रम***—*विदेशो मे भारतीय उद्योगपतियो द्वारा दूसरे देशो के* स्थानीय साहसियो के साथ मिलकर जो उद्योग स्थापित किये जायेगे उनमे भारतीय विनियोजन का अश यन्त्र प्रसाधन, निर्माण-प्रसाधन, तान्त्रिक ज्ञान एव प्रबन्ध विशेषज्ञता के रूप मे प्रदान किया जायेगा। नकद विनियोजन के लिए सरकार की अनुमति आवश्यक होगी।

(13) **आयात एवं निर्यात**—विदेशी विनिमय के सचय की सुदृढ स्थिति को ध्यान मे रखते हुए आयात कोटा एव परिमाण प्रतिबन्धो मे चयनात्मक ढग से ढील दी जायेगी जिससे प्राथमिकता-प्राप्त उद्योगो का विकास अवरुद्ध न हो तथा स्वदेशी उद्योग भी आयात-प्रतिबन्ध का अनुचित लाभ न उठा सकें। परन्तु भारतीय फर्मों को अपनी प्रतिस्पर्द्धी स्थिति एव तकनीकी मे सुधार करने के लिए पर्याप्त सहायता प्रदान की जायेगी।

निर्यात-जन्य निर्माण-क्षमता की वृद्धि को ऐसे क्षेत्रो मे प्रोत्साहित किया जायेगा जहाँ अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धा की जा सकेगी। पूर्णरूपेण निर्यात-जन्य क्रियाओ को उत्पादन अथवा *कस्टम शुल्क से भी मुक्त किया जा सकता है, बशर्ते इन क्रियाओ मे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से* रोजगार के अवसरो मे अधिक वृद्धि होती है। औद्योगिक क्षमता बढाने के लिए जिन उद्योगो को कच्चे माल तथा पूँजीगत वस्तुओ के आयात की सुविधा दी जायेगी उन पर निर्यात की अनिवार्यता लागू की जायेगी। जिन उद्योगो को औद्योगिक लाइसेंसिंग से निर्यात-क्षमता के आधार पर मुक्त किया जायेगा उन पर निर्यात करने का दायित्व दीर्घकाल तक लागू रहेगा।

(14) ***उद्योगो का स्थानीयकरण***—*सन् 1971 की जनगणना के अनुसार जिन बडे नगरो की* जनसख्या दस लाख से अधिक है तथा जिन नगरीय क्षेत्रो की जनसख्या पाँच लाख से अधिक है उनकी निश्चित सीमाओ के अन्तर्गत नयी औद्योगिक के इकाइयो की स्थापना के लिए लाइसेन्स नही दिये जायेंगे। जिन औद्योगिक इकाइयो को लाइसेन्स की आवश्यकता नही होती है उनकी स्थापना

इन क्षेत्रों मे करने पर राज्य सरकारो एव वित्तीय सस्थाओ को सहायता न प्रदान करने को कहा जायेगा। भारत सरकार बडे नगरो से औद्योगिक इकाइयो को स्वीकृत पिछडे क्षेत्रो मे ले जाने के लिए सहायता प्रदान करेगी।

(15) **मूल्य-नीति**—औद्योगिक उत्पादो के नियन्त्रित मूल्य इस प्रकार निर्धारित किये जायेंगे कि उत्पादको को उचित लाभ प्राप्त हो सके। साथ ही ऐसी इकाइयो को, जो अपनी उत्पादन-क्षमता का पूरा उपयोग नही करती हैं अथवा एकाधिकार की स्थिति मे है, अत्यधिक लाभ नही लेने दिया जायेगा।

(16) **श्रमिक सहभागिता**—श्रमिको को कार्यशाला स्तर से सचालक-मण्डल स्तर तक *निर्णय करते समय श्रमिको को सहभागी बनाया जायेगा।* सरकार श्रमिको को समता-अश पूँजी मे भागीदार बनाने की सम्भावनाओ पर भी विचार कर रही है।

(17) **बीमार उद्योग**—सूती वस्त्र, जूट एव शक्कर उद्योग मे बहुत सी बीमार मिलो को सरकार ने अपने हाथ मे लिया परन्तु अब भी ये मिलें लाभ पर नही चल रही हैं। भविष्य मे बीमार मिलो को चयनात्मक ढग से सरकार द्वारा हाथ मे लिया जायेगा। सरकार रिजर्व बैंक के सहयोग से ऐसी व्यवस्था करेगी कि औद्योगिक इकाइयो की बीमारी का प्रारम्भिक अवस्था मे ही पता लगा लिया जाय और आवश्यक सुधारात्मक कार्यवाहियां की जा सकें, यदि कुप्रबन्ध, वित्तीय दुर्बलता तथा तकनीकी दुर्बलता के प्रमाण उपलब्ध होते हैं।

औद्योगिक नीति की कमियाँ—नवीन औद्योगिक नीति मे औद्योगिक आधार को सुदृढ बनाने के लिए बहुत सी व्यावहारिक कार्यवाहियाँ सम्मिलित की गयी हैं, जैसे औद्योगिक क्षेत्र मे मूल्यो का निर्धारण करते समय उचित लाभ का आयोजन, आयात सम्बन्धी प्रतिबन्धो की ढील *तथा उद्योगो को सरक्षण, बीमार उद्योगो के पुनर्वास मे लागत लाभ के आधार मे निर्णय करना,* लघु एव ग्रामीण उद्योगो के समन्वित विकास हेतु जिला औद्योगिक केन्द्रो की स्थापना आदि, परन्तु निम्नलिखित समस्याओ के सम्बन्ध मे नीति मे पर्याप्त आयोजन नही किये गये हैं

(1) लघु एव वृहद् औद्योगिक क्षेत्रो के पारस्परिक सम्बन्धो एव भविष्य मे विकास की प्रक्रिया मे इन दोनो के स्थान के सम्बन्ध मे नीति मे स्पष्ट दिशा-निर्देश नही दिया गया है।

(2) लघु उद्योग क्षेत्र के विकास के सम्बन्ध मे तकनीकी परिवर्तनो के सम्बन्ध मे तो नीति निर्धारित की गयी है परन्तु लघु क्षेत्र की प्रबन्ध, सगठन एव साहस की आवश्यकताओ की ओर पर्याप्त ध्यान नही दिया गया है।

(3) लघु उद्योग क्षेत्र मे जो मदे सुरक्षित की गयी है उनमे बहुत सी वस्तुओ का उत्पादन पाँच से दस हजार रुपये की पूँजी पर किया जा सकता है और रोजगार के अधिक अवसर उपलब्ध किये जा सकते हैं। परन्तु लघु उद्योग क्षेत्र मे एक लाख रुपये तक पूँजी विनियोजन की व्यवस्था से इन वस्तुओ का उत्पादन अधिक पूँजी पर किया जा सकेगा जिससे रोजगार के अवसरो मे पर्याप्त वृद्धि नही होगी। साथ ही अत्यन्त कम पूँजी वाले उद्योगो एव एक लाख तक की पूँजी वाले उद्योगो को समान स्तर पर सुविधाएँ उपलब्ध होने से कम पूँजी वाले उद्योगो की प्रतिस्पर्द्धा मे टिक नही सकेंगे।

(4) लघु उद्योग क्षेत्र के लिए सुरक्षित मदो मे कुछ ऐसी मदे हैं जिनका उपयोग केवल बडे उद्योग करते हैं और जिनके उत्पादन के बडे औद्योगिक सस्थान अपनी सहायक सस्थाएँ चला रहे हैं। इन मदों के लिए यदि नयी लघु औद्योगिक इकाइयाँ स्थापित की जाती हैं तो वे इन सहायक सस्थाओ से प्रतिस्पर्द्धा करने मे असमर्थ होगी। कुछ औजारो, यन्त्रो एव प्राविधिक औद्योगिक कच्चे मालो के उत्पादन हेतु उच्च श्रेणी की तकनीक की आवश्यकता होगी और पूँजी-सघन तकनीक का उपयोग करना होगा। इन मदो का उपयोग बडे उद्योग करते है और वे लघु उद्योग की सुविधाओ का लाभ उठाने हेतु अपनी सस्थाओ के उत्पादन की विभिन्न प्रविधियों को अलग-अलग इकाइयो मे तोड देंगे जिससे रोजगार मे कोई विशेष वृद्धि नही होगी।

(5) औद्योगिक नीति में लघु उद्योगों को 50,000 से कम जनसंख्या वाले नगरों में ले जाने की व्यवस्था की गयी है। देश में 1971 की जनगणना के अनुसार ऐसे 2,309 नगर हैं और उनमें नगरीय जनसंख्या का 33% तथा और कुल जनसंख्या का 6.6% भाग निवास करता है। इस प्रकार उद्योगों का बिखराव फिर भी नगरीय क्षेत्रों में होगा और वास्तव में ग्रामीण क्षेत्रों को औद्योगिक विकास का लाभ नहीं पहुँच पायेगा।

(6) लघु क्षेत्र के उत्पादों के विपणन की व्यवस्था का विशेष आयोजन नीति में निर्धारित नहीं किया गया है। सरकारी विभागों के क्रय में लघु क्षेत्र के उत्पादों को प्राथमिकता का आयोजन विपणन के लिए पर्याप्त नहीं है। अभी तक यह व्यवस्था निरन्तर चलती आ रही है परन्तु इससे लघु क्षेत्र के विपणन की समस्या का निवारण नहीं हो सका है। लघु क्षेत्र को अपने उत्पादों को खुले बाजार में बेचना होगा जिसके लिए अर्थ-व्यवस्था में विभिन्न वस्तुओं की माँग का निर्धारण करके उत्पादन-क्षमताओं का निर्माण लघु एवं बृहद क्षेत्रों में होना चाहिए।

(7) लघु क्षेत्र को किए बहुत से आदानों, कच्चे मालों एवं औजारों के लिए बृहद् औद्योगिक क्षेत्र पर निर्भर रहना पड़ता है। इन आदानों आदि का उपयोग बृहद् उद्योगों में भी होता है। इस प्रकार लघु क्षेत्र को अपने आदानों की प्राप्ति के लिए बृहद् उद्योगों के साथ प्रतिस्पर्द्धा करनी होती है। लघु उद्योग इस प्रतिस्पर्द्धा में कमजोर होने के कारण पर्याप्त आदान उचित मूल्य पर प्राप्त करने में असमर्थ रहता है। इस सम्बन्ध में औद्योगिक नीति में लघु क्षेत्र की सुरक्षा का आयोजन नहीं किया गया है। लघु क्षेत्र को अपने उत्पादों का विपणन करने के लिए भी बृहद् क्षेत्र के साथ प्रतिस्पर्द्धा करनी होती है विशेषकर जब दोनों क्षेत्रों में वैकल्पिक वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है जैसे गुड़ के मूल्य पर शक्कर के मूल्य की गिरावट का प्रभाव पड़ता है।

(8) बहुत से बृहद उद्योगों का मूल्य एवं वितरण-नियन्त्रण, कृषि-आदानों का न्यूनतम मूल्य-निर्धारण, निर्यात दायित्वों आदि में ढील देने की व्यवस्था की गयी है। परन्तु इन बन्धनों का लाभ असंगठित वितरण व्यवस्था के कारण उस वर्ग तक नहीं पहुँच पाता है जिसके लिए यह सुविधा आयोजित की गयी है। जैसे कृषि आदानों की उचित मूल्य पर उपलब्धि केवल बड़े कृषकों को ही हो सकी है।

नवीन औद्योगिक नीति की आधारशिला लघु उद्योग क्षेत्र और प्रमुख लक्ष्य रोजगार-वृद्धि एवं सन्तुलित क्षेत्रीय विकास है। इन लक्ष्यों की पूर्ति के लिए लघु क्षेत्र को ग्रामीण जीवन से सम्बद्ध करना होगा क्योंकि ग्रामीण क्षेत्र की क्रय-शक्ति में पर्याप्त वृद्धि किये बिना लघु क्षेत्र के उत्पादों की माँग में वृद्धि नहीं की जा सकती है। बृहद औद्योगिक क्षेत्र पर सघन नियन्त्रणों का परिणाम यह भी हो सकता है कि पूँजीपति लघु क्षेत्र पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लें और बहुत सी जटिल तकनीकी वाली सुरक्षित वस्तुओं का उत्पादन करने के लिए उत्पादन की विभिन्न प्रविधियों की अलग-अलग इकाइयाँ लघु-स्तर पर स्थापित कर लें। परिस्थिति से बचने के लिए सरकार को कठोर कार्यवाही के लिए तैयार रहना चाहिए।

नियोजित अर्थ-व्यवस्था एवं औद्योगिक संरचना

भारत में एक के बाद दूसरी योजनाओं के सचालन के परिणामस्वरूप एक अव्यवस्थित औद्योगिक संरचना का निर्माण हुआ है जिसमें उपभोक्ता-वस्तुओं, विशेषकर अनावश्यक उपभोक्ता-वस्तुओं के उद्योगों का अधिक महत्त्व दिया जाता रहा है। औद्योगिक लाइसेन्स-नीति में जो छूटें दी गयीं, उनके द्वारा औद्योगिक विनियोजन का बड़ा भाग कम प्राथमिकता-प्राप्त क्षेत्र में उपयोग हो गया है। औद्योगिक एकाधिकारिक अधिकारों में भी कोई विशेष परिवर्तन सम्भव नहीं हो सका है। चौथी योजना में भी अन्य योजनाओं के समान औद्योगिक उत्पादन के लक्ष्य एवं प्रगति-दर उपलब्ध नहीं हो सकी है। औद्योगिक क्षेत्र की असफलताओं के अन्य कारणों के अतिरिक्त सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण देश में उपयुक्त औद्योगिक आधार की स्थापना का नहीं किया जा सकना है। प्रथम

तीन योजनाओ के अन्तर्गत कृषि एव सहायक क्षेत्रो की आय का राष्ट्रीय आय मे भाग 48·9% (सन् 1950-51) से घटकर सन् 1965-66 मे 38 7% रह गया जबकि औद्योगिक एव खनिज-क्षेत्र की आय का राष्ट्रीय आय मे भाग इस काल मे 16 7% से बढकर केवल 18% ही हुआ। इस प्रकार प्रथम तीन योजनाओ मे औद्योगिक क्षेत्र का सापेक्षिक विकास मन्द गति से हुआ। दूसरी ओर, *सेवाओ के क्षेत्र की आय का भाग* इस काल मे 34 4% से बढकर राष्ट्रीय आय का 43 3% हो गया। चौथी योजना मे कृषि-क्षेत्र की आय के प्रतिशत मे वृद्धि हुई है और यह सन् 1973-74 मे राष्ट्रीय आय का 45 74% हो गयी। दूसरी ओर, चौथी योजना मे औद्योगिक क्षेत्र द्वारा राष्ट्रीय आय का केवल 15 39% भाग ही उत्पादित किया गया है जबकि सेवाओ के क्षेत्र की आय के प्रतिशत मे और वृद्धि 38 87% हुई। तीसरी योजना के बाद से विकास की प्रक्रिया औद्योगिक क्षेत्र के अनुकूल न रहने का प्रमुख कारण देश मे उपयुक्त औद्योगिक आधार का निर्माण न होना है। *पाँचवी योजना के अन्त तक* औद्योगिक क्षेत्र की आय को राष्ट्रीय आय के 17 39% तक बढाने का लक्ष्य रखा गया, जबकि सेवाओ के क्षेत्र की आय बढकर 40 25% होने की सम्भावना थी। इस प्रकार पाँचवी योजना मे औद्योगिक क्षेत्र की आय मे सापेक्षिक दृष्टिकोण से अधिक वृद्धि करने का लक्ष्य रखा गया। पाँचवी योजना के औद्योगिक उत्पादन के लक्ष्यो की पूर्ति के लिए आधारभूत एव मशीन-निर्माण उद्योगो का भविष्य के औद्योगीकरण के कार्यक्रमो को ध्यान मे रखकर पर्याप्त विस्तार किया जाना था।

पाँचवी योजना के प्रथम तीन वर्षो अर्थात् सन् 1974-75, 1975-76 एव 1976-77 मे औद्योगिक क्षेत्र के उत्पादन का राष्ट्रीय आय मे अश क्रमश 15 2%, 15 7% एव 16 3% था। 1977-78 मे औद्योगिक क्षेत्र के उत्पादन का राष्ट्रीय आय मे अश 16% रहने की सम्भावना है। दूसरी ओर, राष्ट्रीय आय मे कृषि का अश 1974-75 मे 45 6%, 1975-76 मे 40 8% और 1976-77 मे 39 1% था और 1977-78 मे कृषि का अश 43% रहने की सम्भावना है। इस प्रकार पाँचवी योजनाकाल मे औद्योगिक उत्पादन की राष्ट्रीय आय के अश मे कोई विशेष वृद्धि नही हुई है, जबकि कृषि, उत्पादन का राष्ट्रीय आय मे अश निरन्तर घटता जा रहा है। इस काल मे सेवाओ के क्षेत्र का राष्ट्रीय आय मे अश निरन्तर बढता गया है।

सन् 1950 से सन् 1976 तक के 26 वर्षो मे औद्योगिक क्षेत्र का उत्पादन लगभग पाँच गुना हो गया और इस काल मे औद्योगिक उत्पादन की वार्षिक चक्रवृद्धि दर 6 3% रही है जो कृषि-उत्पादन की प्रगति-दर से दुगुनी से भी अधिक है। नियोजित विकास-काल मे आधारभूत भारी उद्योग तथा इजीनियरिंग उद्योगो का व्यापक विस्तार हुआ है। देश की औद्योगिक सरचना मे इस काल मे इसी कारण से व्यापक परिवर्तन हुआ है। 1959 से 1974-75 के काल मे निर्माणी-क्षेत्र की कुल उत्पादन-वृद्धि मे रासायनिक उद्योगो के उत्पादन का अश 12 23% (1959) से बढकर 17 12% हो गया, इजीनियरिंग उद्योगो के उत्पादन का अश 26 06% से बढकर 34 32% हो गया है तथा अन्य उद्योगो का अश 61 71% से घटकर 48 56% ही रह गया। भारतीय उद्योगों मे मूलभूत तकनीकी सुधार हुए हैं और उत्पादक वस्तुओ के उद्योगो के आधार को सुदृढता प्राप्त हुई है।

औद्योगिक विकास की अपूर्णताएँ

भारत मे औद्योगिक विकास मे निम्नलिखित अपूर्णताएँ विद्यमान है

(1) *औद्योगिक क्षेत्र मे रोजगार के अवसरो मे पर्याप्त वृद्धि नही हुई है।* सन् 1971 की जनगणना के अनुसार केवल 11 2% श्रम-शक्ति ही औद्योगिक क्षेत्र मे रोजगार-प्राप्त थी, जबकि औद्योगिक राष्ट्रो मे 30 से 40% तक श्रम-शक्ति रोजगार-प्राप्त रहती है।

(2) लघु एव ग्रामीण उद्योग-क्षेत्र का पर्याप्त एव समन्वित विकास नही हुआ है। इस क्षेत्र मे औद्योगिक इकाइयो की स्थापना के लिए तो सहायता उपलब्ध करायी गयी परन्तु इनके

विकास की उपयुक्त व्यवस्था नही की गयी जिसके परिणामस्वरूप इस क्षेत्र मे बीमार औद्योगिक इकाइयों की संख्या सर्वाधिक है।

(3) देश मे उद्योगों का छितराव अत्यधिक विषम रहा है। गुजरात, कर्नाटक, महाराष्ट्र, तमिलनाडु और पश्चिमी बगाल मे उद्योगों का अत्यधिक केन्द्रीकरण हुआ है। इन पाँच राज्यो मे देश के निर्माणी-उत्पादन का 60 9% भाग, निर्माणी-क्षेत्र के रोजगार का 58% भाग और कुल कारखानों का 53 8% भाग केन्द्रित है। इन पाँच राज्यों मे भी उद्योगो का छितराव पूरे राज्य मे नही हुआ है। बम्बई-पुणे, कलकत्ता-हावडा, मद्रास-कोयम्बटूर तथा अहमदाबाद-बरार क्षेत्रो मे ही उद्योगो का केन्द्रीकरण हुआ है। देश के कुल 398 जिलो मे से 275 जिले औद्योगिक दृष्टिकोण से पिछडे हुए है। इन पिछडे हुए जिलो का क्षेत्रफल देश के कुल क्षेत्रफल का 72% है और इनमे देश की कुल जनसंख्या का 61% भाग है। इस प्रकार देश के औद्योगिक विकास का लाभ देश के बहुत बडे क्षेत्र एव जनसंख्या को उपलब्ध नही हुआ है।

(4) औद्योगिक क्षेत्र मे निर्मित उत्पादन-क्षमता का पूर्णतम उपयोग नही किया जा सका है। विक्रय-योग्य इस्पात उद्योग मे उत्पादन-क्षमता का 67% भाग, वाहन उद्योग मे 60%, शक्ति-चालित ट्रान्सफॉमर्स उद्योग मे 60%, सीमेण्ट मे 77%, रेलवे वैगन मे 30%, रासायनिक उर्वरक (N_2) मे 58%, मशीनी-औजार मे 78%, ट्रैक्टर्स मे 95%, स्कूटर उद्योग मे 51%, मोटर साइकिल उद्योग मे 83% तथा इस्पात के ठेलो मे 63% क्षमता का ही उपयोग 1975 वर्ष मे किया गया। उत्पादन-क्षमता के पूर्णतम उपयोग का प्रयास करना आवश्यक है।

(5) औद्योगिक उत्पादन मे प्रगति की दर मे अत्यधिक उच्चावचान होते रहे है और प्रगति-दर रोजगार-वृद्धि की आवश्यकता के अनुरूप नही रही है। औद्योगिक उत्पादन मे निम्नवत् वृद्धि हुई है

औद्योगिक उत्पादन मे वृद्धि (प्रतिशत परिवर्तन)

1969-70	7 4
1970-71	3 0
1971-72	3 3
1972-73	4·0
1973-74	2 2
1974-75	2 6
1975-76	6·1
1976-77	10 4
1977-78	5 2 (सम्भावित)

औद्योगिक क्षेत्र के विकास मे उच्चावचानो के कारण रोजगार एव उत्पादन दोनों मे ही उच्चावचान होते रहते है और अर्थ-व्यवस्था मे असन्तुलन बना रहता है। छठी योजना मे औद्योगिक क्षेत्र की प्रगति को 15% तक बढाकर ही रोजगार के अवसरो मे पर्याप्त वृद्धि की जा सकेगी।

भारत में औद्योगिक प्रगति के प्रकार

भारत मे औद्योगिक प्रगति 1955-65 के दशक मे 7·8% प्रति वर्ष रही, जबकि 1965-75 के दशक मे वार्षिक औद्योगिक प्रगति-दर घटकर 3 5% हो गयी। 1955-65 के दशक मे आधारभूत उद्योगों, जैसे आधारभूत धातुओ, धातुओ के उत्पादो, यन्त्र, रसायन एव रासायनिक उत्पादो मे प्रगति-दर 1965-75 की तुलना मे लगभग दुगुनी थी। विद्युत-उत्पादन की प्रगति-दर भी 1955-65 के दशक मे 1965-75 के दशक की तुलना मे अधिक थी। इन दोनो ही दशको मे आधारभूत एव उत्पादक वस्तु-उद्योगो की प्रगति-दर उपभोक्ता-उद्योगो की तुलना मे अधिक थी,

जिससे 1965-75 के दशक में मूल्य-स्तर में अधिक वृद्धि हुई। विभिन्न उद्योगों में प्रगति-दर निम्न-वत रही

तालिका 48—औद्योगिक प्रगति का प्रकार
(1955-65 एवं 1965-75)

उद्योग	भार	औसत वार्षिक प्रगति दर (प्रतिशत में)	
		1955-65	1965-75
1 समस्त उद्योग	1,000	7 8	3 5
2 विद्युत	5 37	14 0	8 3
3 खनिज एवं खदान	9 72	5 9	2 9
4 निर्माण उद्योग	84 91	7 6	2 7
(i) खाद्य-पदार्थ	12 09	4 9	4 0
(ii) वस्त्र	27 06	2 0	—0 4
(iii) रसायन एवं रासायनिक उत्पाद	7 26	9 8	7 2
(iv) आधारभूत धातुएँ	7 38	13 0	2 2
(v) धातु उत्पाद	2 51	14 3	2 7
(vi) यन्त्र (विद्युत-यन्त्रों को छोड़कर)	3 05	15 6	7 3
(vii) यातायात प्रसाधन	0 43	6 4	—3 5

[*Source* Central Statistical Organization, New Delhi]

38

आर्थिक प्रगति-प्रक्रिया में मूल्य-नीति

[PRICE POLICY IN ECONOMIC GROWTH PROCESS]

विकासोन्मुख राष्ट्रों में विकास की गति के साथ-साथ मूल्यों में वृद्धि होना स्वाभाविक होता है। जब तक यह वृद्धि जनसाधारण की मौद्रिक आय की वृद्धि के अनुपात से बहुत अधिक नहीं होती है, मूल्य-नियमन सम्बन्धी कोई विशेष समस्या उपस्थित नहीं होती है, परन्तु जब मूल्यों की वृद्धि विनियोजन एवं राष्ट्रीय आय-वृद्धि की तुलना में अधिक होने लगती है तो मुद्रा-स्फीति के दोषों से बचने हेतु मूल्य-नियमन की आवश्यकता पड़ती है। वास्तव में, मूल्य का मुख्य कार्य माँग और पूर्ति में सन्तुलन स्थापित करना होता है। मूल्य-परिवर्तनों के स्वय-शोध्य (Self-liquidating) होने पर इनके द्वारा माँग-पूर्ति में सन्तुलन स्थापित किया जा सकता है। स्वय-शोध्य का अर्थ यह है कि मूल्यों में वृद्धि होने पर पूर्ति की मात्रा बढ़ जानी चाहिए जो माँग के अनुकूल हो जाय और फिर पूर्ति बढ़ते ही मूल्यों को अपने सामान्य स्तर पर आ जाना चाहिए। दूसरी ओर, मूल्य घटने पर (माँग कम होने के कारण) पूर्ति की मात्रा घट जानी चाहिए और माँग के अनुकूल हो जानी चाहिए। पूर्ति कम होने पर मूल्य फिर अपने सामान्य स्तर पर आ जाते हैं। यह मूल्यों की एक सामान्य गति है और इस गति पर बहुत से घटकों का प्रभाव पड़ता रहता है। अल्प-विकसित राष्ट्रों में माँग बढ़ने पर मूल्य तो बढ़ जाते हैं, परन्तु पूर्ति शीघ्रता के साथ नहीं बढ़ पाती है जिसके परिणामस्वरूप मूल्यों की एक वृद्धि दूसरी वृद्धि का कारण बनती रहती है और इस प्रकार मूल्य-वृद्धि का एक दूषित चक्र बन जाता है। योजना-अधिकारी को ऐसे प्रयत्न करने होते हैं कि इस दूषित चक्र का प्रादुर्भाव न हो और मूल्य सामान्य स्तर से अधिक ऊँचे न जायें।

विकासोन्मुख राष्ट्रों में मूल्य-स्तर

विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था में जब विकास-व्यय एवं विनियोजन बड़ी राशि में किया जाता है, तब जनसमूह की मौद्रिक आय में वृद्धि होना स्वाभाविक होता है। आय-वृद्धि के अधिकांश भाग का उपयोग उपभोक्ता-वस्तुओं के लिए होता है। इस परिस्थिति में विकास-व्यय एवं विनियोजन की राशि उपभोक्ता-वस्तुओं की उपलब्धि से सम्बद्ध होनी चाहिए। मौद्रिक आय की वृद्धि के फलस्वरूप माँग में होने वाली वृद्धि पर नियन्त्रण रखने के लिए जनसमूह की क्रय-शक्ति को कम किया जाना चाहिए। इसके लिए प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष कर, ऋण एवं लघु बचत की गति को तीव्र किया जाना चाहिए। इसके साथ, अधिक पारिश्रमिक की माँग को दबाना अत्यन्त आवश्यक होता है क्योंकि मजदूरी की वृद्धि से मूल्यों में वृद्धि होना स्वाभाविक होता है। साख-प्रसार भी केवल उत्पादक कार्यक्रमों की आवश्यकतानुसार होना चाहिए और सट्टेबाजी (Speculation) एवं सचय (Hoarding) हेतु साख-प्रसार पर भी अवरोध लगाना वांछनीय होता है।

वास्तव में मूल्यों की वृद्धि अपने आप में कोई दूषित स्थिति नहीं होती है। जब मूल्यों की वृद्धि के साथ उत्पादन में इसके अनुकूल वृद्धि नहीं होती है, तब सोचनीय स्थिति उत्पन्न होती है। आर्थिक विकास के साथ मूल्यों में वृद्धि होना स्वाभाविक होता है। आर्थिक विकास हेतु राष्ट्रीय आय के कुछ अधिक भाग का विनियोजन उत्पादक उद्योगों में करना आवश्यक होता है। इस विनियोजन के फलस्वरूप उत्पादक वस्तुओं की पूर्ति में वृद्धि के साथ-साथ रोजगार एवं आय में भी वृद्धि

होती है। व्यापक निर्धनता के कारण आय की वृद्धि के अधिकतम भाग को अल्प-विकसित राष्ट्रों मे उपभोक्ता वस्तुओं के क्रय के लिए व्यय किया जाता है जिससे उपभोक्ता-वस्तुओं की माँग एव मूल्यों मे वृद्धि होनी प्रारम्भ हो जाती है। मूल्यो की वृद्धि को रोकने हेतु एव ओर बढी हुई आय को बचत, कर तथा ऋण के रूप मे जनता के हाथो से वापस ले लेना चाहिए और दूसरी ओर आवश्यक उपभोक्ता-वस्तुओ के मूल्यो पर नियन्त्रण रखना चाहिए। आर्थिक विकास के अन्तर्गत अधिक विनियोजन के फलस्वरूप राष्ट्र के उत्पादन के कुछ साधनो का उपयोग उपभोक्ता-वस्तुओं के क्षेत्र से हटकर उत्पादक-वस्तुओ के क्षेत्र मे होने लगता है। इसके परिणामस्वरूप उत्पादन के साधनो की माँग एव मूल्य बढ जाते है जिससे उपभोक्ता-वस्तुओं की लागत में वृद्धि हो जाती है और उनके मूल्यो मे वृद्धि होना स्वाभाविक हो जाता है। इस परिस्थिति के प्रभाव को दूर करने के लिए मूल्य-नियन्त्रण की आवश्यकता होती है। योजना-अधिकारी को अपनी वित्तीय एव मौद्रिक नीतियो द्वारा (जिनमे मुख्यत ब्याज की नीति एव साख नियन्त्रण की नीति सम्मिलित है) साधनो के अवाछनीय क्षेत्रो मे प्रवाहित होने से रोकना चाहिए। दूसरी ओर, कर नीति द्वारा आय को कम कर देना चाहिए तथा विशेष वस्तुओ एव सेवाओ पर व्यय करने की प्रवृत्ति को नियन्त्रित कर देना चाहिए। इसके साथ ही राजकीय मौद्रिक तथा कर-सम्बन्धी नीतियो द्वारा समाज मे बचत के प्रति प्रोत्साहन उत्पन्न करना चाहिए।

इन समस्त कार्यवाहियो से एक ओर माँग उन्ही क्षेत्रो मे बढ सकेगी जिनमे योजना अधिकारी चाहता है और दूसरी ओर जनसमुदाय अपनी आय की वृद्धि का समस्त भाग उपभोक्ता पर व्यय न कर सकेगा तथा विनियोग के लिए अधिक धन एव साधन उपलब्ध हो सकेंगे। उपर्युक्त कार्यवाहियो द्वारा माँग के क्षेत्र पर नियन्त्रण किया जा सकता है। माँग पर नियन्त्रण रखने के साथ साथ पूर्ति के क्षेत्र मे उत्पादक वस्तुओ के उत्पादन मे वृद्धि के साथ साथ उपभोक्ता-वस्तुओ के उत्पादन को बढाना भी आवश्यक है जिससे उत्पादन क्षेत्र के विकास द्वारा आय वृद्धि के फलस्वरूप जो उपभोग व्यय बढ गया है, उसके लिए उपभोक्ता-वस्तुएँ उपलब्ध करायी जा सकें। मूल्य-नियमन नीति द्वारा योजना अधिकारी को एक ओर साधनो के अनावश्यक उत्पादक एव उपभोक्ता वस्तुओं के क्षेत्र मे साधनो के उपयोग को हतोत्साहित करना चाहिए और दूसरी ओर आर्थिक विकास के लिए आवश्यक उत्पादक-वस्तुओं एव आधारभूत उपभोक्ता-वस्तुओं के उत्पादन में साधनो के उपयोग को प्रोत्साहन देना चाहिए।

माँग पर नियन्त्रण करना अत्यधिक कठिन होता है तथा माँग को सीमित करने के लिए जो प्रयास किये जाते है उनका प्रभावशाली होना नैतिक चरित्र का उच्च स्तर न होने के कारण सन्देहजनक होता है। ऐसी परिस्थिति मे पूर्ति की ओर ठोस कार्यवाहियाँ करना उचित है। पूर्ति मे वृद्धि आयात एव उत्पादन-वृद्धि द्वारा करने के लिए प्रभावशाली एव गतिशील कार्यवाहियाँ करनी चाहिए तथा आधारभूत उपभोक्ता-वस्तुओं के उत्पादन मे, विशेषकर खाद्यान्न, वस्त्र आदि, जिन पर जनसमुदाय की आय का अधिक भाग व्यय होता हो, पर्याप्त वृद्धि की जानी चाहिए। भारत जैसे राष्ट्र मे, जहाँ जनसमुदाय का जीवन स्तर न्यून है तथा अधिकतर जनसख्या अपनी व्यक्तिगत आय का अधिकाश खाद्यान्नो पर व्यय करती है सुदृढ विकास की सफलता एव मूल्य नियमन नीति दोनो खाद्यान्नो की पूर्ति पर निर्भर रहते है। खाद्यान एव कृषि-उत्पादन मे कमी होने पर अल्प विकसित अर्थ-व्यवस्था छिन्न भिन्न हो जाती है और आन्तरिक एव विदेशी दोनो ही साधनो मे अनुमान की तुलना मे अत्यन्त कमी हो जाती है। कृषि-उत्पादन मे कमी होने पर एक ओर खाद्यान्न एव कच्चे माल के आयात हेतु अधिक विदेशी विनिमय की आवश्यकता होती है तथा दूसरी ओर कृषि उत्पादन के निर्यात मे कमी होने से विदेशी विनिमय का उपार्जन कम होता है। इस प्रकार उपलब्ध विदेशी साधनो द्वारा विकास के कार्यक्रमो के लिए आवश्यक पूँजीगत वस्तुएँ आयात करना असम्भव हो जाता है। इसके साथ ही खाद्यान्नो एव कच्चे माल का उत्पादन कम होने मे जनसख्या के एक बडे भाग की आय कम हो जाती है और औद्योगिक संस्थाओ

के लाभ पर भी प्रतिकूल प्रभाव पडता है जिससे विकास के लिए कर, बचत एव ऋण के रूप मे अनुमानित राशियाँ प्राप्त नही हो सकती हैं। खाद्यान्नो एव कच्चे माल के उत्पादन मे कमी होने से इनके मूल्यो मे वृद्धि हो जाती है, जिनके फलस्वरूप कृषि के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रो द्वारा उत्पादित वस्तुओ के मूल्यो मे भी वृद्धि हो जाती है और इस प्रकार अर्थ-व्यवस्था के सामान्य मूल्य-स्तर मे वृद्धि होती है। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि मूल्य-नियमन नीति का आधार खाद्यान्न एव कच्चे माल की पूर्ति मे पर्याप्त वृद्धि करना होना चाहिए। परन्तु कृषि-क्षेत्र मे पूर्ति अल्प-काल मे कम लोचदार होती है क्योकि कृषि-क्षेत्र का उत्पादन अनुकूल जलवायु पर निर्भर रहता है और कृषि-क्षेत्र मे आदायो (Inputs) को बढाना दीर्घकाल मे ही सम्भव हो सकता है। कृषि-क्षेत्र मे उत्पत्ति ह्रास नियम भी शीघ्र ही क्रियाशील होता है। कृषि-क्षेत्र के उत्पादन मे आकस्मिक वृद्धि भी सम्भव नही होती है। इन सब परिस्थितियों के परिणामस्वरूप कृषि-क्षेत्र के उत्पादन मे बढती हुई माँग के अनुरूप वृद्धि नही हो पाती है और विकास-क्रिया के अन्तर्गत मूल्य-वृद्धि की समस्या उदय होती है।

मूल्य-नीति के उद्देश्य

विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था मे मूल्य-नीति द्वारा निम्नलिखित उद्देश्यो की पूर्ति करना आवश्यक होता है

(1) मूल्य-नीति द्वारा योजना की प्राथमिकताओ एव लक्ष्यो के अनुकूल ही मूल्यो मे परिवर्तन होने का आश्वासन प्राप्त करना।

(2) उत्पादन के साधनो का प्राथमिकताओं के अनुसार आवटन करना।

(3) आय के प्रवाह को समाजवादी लक्ष्यो के अनुरूप नियन्त्रित करना।

(4) कम आय वाले लोगो द्वारा उपयोग की जाने वाली आवश्यक वस्तुओ के मूल्यो मे अधिक वृद्धि को रोकना।

(5) मुद्रा स्फीति की प्रवृत्तियो पर रोक लगाना जिससे मुद्रा-स्फीति के दोषो को बढने से रोका जा सके।

उपर्युक्त उद्देश्य एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है और मूल्य-नीति द्वारा इन उद्देश्यो की पूर्ति एक साथ होनी रहनी है।

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था मे मूल्य-नीति

अल्प-विकसित राष्ट्रो की विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था मे समन्वित मूल्य-नीति एक आवश्यक लक्षण है। मिश्रित अर्थ व्यवस्था के अन्तर्गत इसकी और भी अधिक आवश्यकता पडती है। मिश्रित अर्थ-व्यवस्था मे निजी क्षेत्र तथा स्वतन्त्र बाजार का सर्वथा समाप्त नही किया जाता है जिसके कारण बाजार के बहुत से घटक मूल्यो पर प्रभाव डालते हैं। निजी व्यवसायी सदैव बढते हुए मूल्यो का अधिक लाभ उठाना चाहता है। वह वस्तुओ की अवास्तविक कमी का वातावरण उत्पन्न करने मे सदैव तत्पर रहता है। ऐसी परिस्थिति मे सरकार को बडी तत्परता से मूल्यो पर नियन्त्रण रखना आवश्यक होता है। मूल्यो की अधिक वृद्धि मे केवल जनसाधारण को ही कठिनाई नही होती वरन् विकास-योजना के समस्त आंकडे, लक्ष्य व्यय एव आय सम्बन्धी अनुमान गडबड हो जाते हैं और योजना पूर्णरूपेण दोहरानी पडती है।

इसी कारण मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत सरकार को मूल्यो के प्रति अत्यधिक सतर्कता रखनी पडती है। मूल्य-स्तर को नियन्त्रित करने हेतु बहुत-सी मौद्रिक एव वित्तीय कार्यवाहियो का उपयोग किया जाता है, जिनके द्वारा जनसमुदाय की आय की वृद्धि को या तो उपभोग पर व्यय करने से रोक दिया जाता है या फिर उपभोक्ता-वस्तुओ की पूर्ति मे आय की वृद्धि के अनुरूप वृद्धि की जाती है। प्रथम क्रिया को हम वृहद् अर्थशास्त्रीय (Macro Economics) क्रिया तथा दूसरी क्रिया को सकुचित अर्थशास्त्रीय (Micro Economics) क्रिया कह सकते हैं।

अतिरिक्त आय के व्यय करने पर प्रतिबन्ध—वृहद अर्थशास्त्रीय क्रियाओ के अन्तर्गत मौद्रिक

नीति को इस प्रकार सचालित किया जाता है कि अवाछनीय क्षेत्रो मे किये जाने वाले व्यय तथा उससे उपार्जित होने वाली आय को प्रतिबन्धित किया जा सके। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ब्याज की दरो मे समायोजन तथा साख को चुनी हुई आर्थिक क्रियाओ एव क्षेत्रो को ही प्रदान करने का आयोजन किया जाता है। दूसरी ओर, राजकोषीय नीति (Fiscal Policy) द्वारा विकास-कार्यक्रमो मे अधिक विनियोजन से उदय हुई आन्तरिक आय को अवाछनीय क्रियाओ पर व्यय करने से रोका जाता है। इसके लिए उचित करारोपण किया जाता है। करारोपण द्वारा दुर्लभ उपभोक्ता-वस्तुओ एव सेवाओ पर किये जाने वाले व्यय को प्रतिबन्धित किया जाता है। इसके अतिरिक्त मौद्रिक एव राजकोषीय नीतियो का सचालन इस प्रकार किया जाता है कि जनसमुदाय द्वारा अधिक से अधिक आय की बचत की जाय। विनियोजित बचत एव मुद्रा का सग्रह दोनो ही मूल्य-स्तर को बढने से रोकते हैं। यदि बचत किया गया धन उत्पादन-क्रियाओ मे विनियोजित कर दिया जाता है तो एक ओर यह दीर्घकाल मे राष्ट्रीय उत्पादन की वृद्धि मे सहायक होता है और दूसरी ओर आय का वह भाग जो विनियोजित कर दिया जाता है, उपभोग पर व्यय नही किया जाता है और इस प्रकार आय की वृद्धि से उपभोक्ता-वस्तुओ की माँग एव मूल्यो मे वृद्धि नही होती है। जब अतिरिक्त आय से धन को विनियोजित न करके उसे सग्रह कर लिया जाता है तो भी उपभोक्ता-वस्तुओ की माँग मे वृद्धि नही होती और मूल्य-स्तर मे कोई विशेष परिवर्तन नही होता है परन्तु अतिरिक्त आय अधिक विनियोजन एव उत्पादन-वृद्धि के लिए उपलब्ध नही होती है।

अतिरिक्त आय के अनुरूप उत्पादन-वृद्धि—सकुचित अर्थशास्त्रीय (Micro Economics) क्रियाओ के अन्तर्गत अर्थ-व्यवस्था मे आधारभूत विनियोजन-वस्तुओ की उत्पादन-वृद्धि के साथ उपभोक्ता-वस्तुओ के उत्पादन मे इतनी वृद्धि करने के प्रयत्न किये जाते हैं कि वह अतिरिक्त विनियोजन के फलस्वरूप बढी हुई आय एव उपभोग-व्यय-वृद्धि के अनुरूप हो। इस कार्य के लिए, साधनो को आर्थिक प्रगति हेतु आवश्यक विनियोजित-वस्तुओ एव आधारभूत उपभोक्ता-वस्तुओ के उत्पादन के लिए उपयोग करने हेतु प्रोत्साहित किया जाता है और इन वस्तुओं के अतिरिक्त अन्य वस्तुओ के उत्पादन मे साधनो के उपयोग को प्रोत्साहित किया जाता है। यह प्रोत्साहन एव हतोत्साहन मूल्य-नीति द्वारा किया जा सकता है, परन्तु अनावश्यक वस्तुओ के मूल्यो मे वृद्धि करने से अनावश्यक उपभोग से बचे हुए साधन उत्पादक विनियोजन के लिए उपलब्ध करना कठिन होता है और इस दूसरी क्रिया के लिए मौद्रिक एव राजकोषीय नीति का उपयोग किया जाता है। इसी प्रकार बढते हुए मूल्यो द्वारा यदि आवश्यक वस्तुओ के उत्पादन को प्रोत्साहन दिया जाता है तो वाछनीय विनियोजित-वस्तुओ की माँग मे अवाछनीय कमी हो सकती है और उपभोक्ता-वस्तुओ की उत्पादन-लागत मे अनुचित वृद्धि होना सम्भावित हो सकता है। इस प्रकार मूल्य-वृद्धि द्वारा प्रोत्साहन एव हतोत्साहन के फलस्वरूप वाछनीय उद्देश्यों की पूर्ति नही की जा सकती है। इसलिए मूल्य-तान्त्रिकता के कार्य को सीमित करने का प्रयत्न किया जाता है।

आवश्यक वस्तुओ एव सेवाओ के उत्पादन को मूल्य-तान्त्रिकता के क्षेत्र से पृथक् करने के लिए इनका उत्पादन सरकारी क्षेत्र मे किया जाता है। सरकारी क्षेत्र मे कल्याण के लिए उत्पादन किया जाता है जिसका अन्तिम लक्ष्य लाभोपार्जन नही होता है। जिन क्षेत्रो मे सरकार इनका उत्पादन अपने हाथो मे नही ले सकती हो, वहाँ कर सम्बन्धी छूटो से आवश्यक वस्तुओ एव सेवाओ के उत्पादन को प्रोत्साहित किया जाता है। जब कर सम्बन्धी छूटो द्वारा भी इन वस्तुओ को प्रोत्साहित न किया जा सकता हो और उत्पादको को अधिक मूल्य प्रदान किया जाना आवश्यक हो, तो मूल्य-स्तर को बढने से रोकने के लिए इन क्षेत्रो को विक्रय-अनुदान (Sales Subsidies) दिया जाता है जिसके द्वारा विक्रेता का मूल्य का कुछ अश सरकार प्रदान करती है। आधारभूत उपभोक्ता-वस्तुओ के उत्पादन को प्रोत्साहित करने हेतु मूल्य-वृद्धि के स्थान पर उत्पादन-लागत के घटको के मूल्यो को सीमित रखना चाहिए। जब इस क्रिया द्वारा भी आधारभूत उपभोक्ता-वस्तुओ के मूल्य की

वृद्धि को नियन्त्रित न किया जा सकता हो तो फिर इन वस्तुओ का मूल्य-नियन्त्रण (Price Control) एव वितरण राज्य को अपने हाथ मे ले लेना चाहिए।

वितरण-व्यवस्था पर नियन्त्रण—मूल्य स्तर के बढने का एक महत्वपूर्ण कारण दोषपूर्ण वितरण-व्यवस्था भी होती है। अल्प-विकसित अर्थ व्यवस्थाएँ विपणि-अपूर्णताओं से पीडित रहती है जिनके परिणामस्वरूप स्वतन्त्र विपणि-सान्निक्ता के अन्तर्गत विपणि-क्रियाएँ स्वय समायोजित नही हो पाती है। अपूर्ण विपणि-व्यवस्था के कारण मध्यस्थो का क्रियाकलाप मूल्य-स्तर को प्रभावित करता है। प्राय ऐसे अवसर भी आते है कि पूर्ति मे पर्याप्त वृद्धि होने पर भी मूल्य-स्तर ऊँचे होते जाते है। इस परिस्थिति का मुख्य कारण मध्यस्थो एव सम्पन्न उपभोक्ताओ की सचय की भावना एव क्षमता होती है। आवश्यक वस्तुओ के सचय को रोकने के लिए मौद्रिक नीति का उपयोग किया जाता है और इन वस्तुओ के सग्रह के विरुद्ध बैंक-साख प्रदान नही की जाती है। मौद्रिक नीति प्राय अधिक प्रभावशील नही हो पाती है, क्योकि सग्रहकर्ता बैंक-साख को एक उद्देश्य से दूसरे उद्देश्य पर चोरी-छिपे हस्तान्तरित करते रहते है। ऐसी परिस्थिति मे सरकार साख-नियन्त्रण के अतिरिक्त आवश्यक वस्तुओ का मूल्य नियन्त्रित कर देती है और नियन्त्रित मूल्यो पर इन वस्तुओ को उपभोक्ताओ को प्रदान करती है। परन्तु मूल्य-नियन्त्रण के प्रादुर्भाव के साथ-साथ काला-बाजार का उदय होता है और अर्थ-व्यवस्था मे दो समान्तर बाजार—नियन्त्रित मूल्य-बाजार एव काला बाजार—विद्यमान रहते है। ऐसी परिस्थिति मे काला-बाजार मे उपार्जित लाभ एव आय का उपयोग वस्तुओ के सग्रह के लिए होने लगता है जिसके परिणामस्वरूप अर्थ-व्यवस्था म आर्थिक अपराधो मे वृद्धि होती है और काले धन का उपयोग उत्पादक क्रियाओ मे नही हो पाता है। इस प्रकार जब साख एव मूल्य-नियन्त्रण की क्रियाएँ विफल होने लगती है तो आवश्यक वस्तुओ का थोक एव फुटकर व्यापार सरकार अपने हाथ मे ले लेती है और सम्पूर्ण वितरण-क्रिया का समाजीकरण हो जाता है। वितरण-क्रिया का समाजीकरण यदि व्यापक न होकर कुछ ही वस्तुओ तक सीमित रहता है तो उत्पादक ऐसी वस्तुओ के उत्पादन की ओर आकर्षित होने लगता है जिनके वितरण पर सरकारी नियन्त्रण नही होता है जिसके परिणामस्वरूप आवश्यक वस्तुओ का उत्पादन घटने लगता है। ऐसी परिस्थिति मे सरकार का उत्पादन-क्रियाओ को भी नियन्त्रित करने की आवश्यकता होती है जो समाजवाद का सर्वोच्च चरण बनता है।

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था मे मूल्य-नीति के सिद्धान्त

(1) विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था मे विनियोजन एव निर्वाह-व्यय वर्ष प्रति वर्ष बढते रहते है जिसके फलस्वरूप जनसाधारण की आय मे वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त आय के उस सम्भावित भाग को जो आय की वृद्धि के फलस्वरूप अतिरिक्त मुद्रा-सग्रह मे उपयोग हो जाता है, छोडकर शेष के अनुरूप उपभोक्ता वस्तुओ के उत्पादन मे वृद्धि होनी चाहिए। यदि इस शेष आय का कुछ भाग बचत एव कर मे प्राप्त कर लिया जाय तो अन्तिम शेष के अनुरूप उपभोक्ता-वस्तुओ मे वृद्धि होनी चाहिए, अर्थात् उत्पादन मे वृद्धि करते समय भी यह विचार करना होगा कि कुल उत्पादन की वृद्धि मे से (क) तैयार वस्तुओ का वह भाग जो विक्रय के लिए उपलब्ध नही होता, (ख) अर्द्ध-निर्मित वस्तुएँ, तथा (ग) विनियोजित वस्तुएँ घटा देनी चाहिए क्योकि केवल शेष वस्तुएँ ही आय के शेष को आच्छादित करने के लिए उपलब्ध होती है। इस विचार को हम निम्नलिखित सूत्र से समझ सकते है

आय की वृद्धि—(धन का सग्रह+बचत+कर)=उत्पादन की वृद्धि

—(वस्तुओ का सग्रह+अर्द्ध-निर्मित वस्तुएँ+विनियोजित-वस्तुएँ)

इस प्रकार आय की वृद्धि का शेष जब उत्पादन की वृद्धि के शेष के बराबर हो तो मूल्यो मे वृद्धि नही होगी। राज्य द्वारा इसलिए यह प्रयत्न करने चाहिए कि आय की वृद्धि का शेष और उत्पादन का शेष यथासम्भव अनुरूप रहे।

(2) प्रत्येक क्षेत्र (Sector) अथवा समूह की आय की वृद्धि के अनुरूप उस क्षेत्र अथवा

समूह के उत्पादन में वृद्धि होनी चाहिए अथवा इस आय की वृद्धि को दूसरे क्षेत्रों एवं समूहों में हस्तान्तरित कर इसकी आय की वृद्धि को उत्पत्ति की वृद्धि के अनुरूप कर देना चाहिए।

(3) यथासम्भव बचत को विनियोजन की वृद्धि के समान करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

(4) आधारभूत उपभोक्ता-वस्तुओं के मूल्यों को नियन्त्रित करने का प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि इन वस्तुओं के मूल्य ही अन्य कम आवश्यक वस्तुओं को नियन्त्रित करते हैं। मूल्यों के सामान्य स्तर को नियन्त्रित करने में कोई विशेष लाभ नहीं होता है क्योंकि जब तक आधारभूत उपभोक्ता-वस्तुओं के मूल्य नियन्त्रित नहीं होते हैं, मूल्य-नीति प्रभावशाली नहीं हो सकती है। यदि आधारभूत वस्तुओं की उत्पादन-वृद्धि हेतु बढ़ते हुए मूल्यों को प्रोत्साहन देना आवश्यक हो तो मूल्यों को कुछ सीमा तक बढ़ने देना चाहिए। मूल्य-नियन्त्रण, वितरण पर नियन्त्रण एवं मूल्य-प्रोत्साहन इन तीनों विधियों का समन्वित उपयोग मूल्य-नियमन के लिए किया जाना चाहिए।

(5) जब मूल्यों एवं वितरण पर नियन्त्रण किया जाय तो जनसाधारण में नियन्त्रित सप्लाई द्वारा यह आश्वासन उत्पन्न करना चाहिए कि उन्हें उनकी आवश्यकतानुसार वस्तुएँ भविष्य में मिलती रहेंगी। उनमें न्यूनता की मनोवैज्ञानिक भावना को जाग्रत नहीं होने देना चाहिए क्योंकि इस भावना के जाग्रत होने पर वस्तुओं की पूर्ति द्वारा वस्तुओं की उचित माँग की ही पूर्ति नहीं करनी होती है, अपितु मनोवैज्ञानिक माँग की भी पूर्ति करनी होती है। न्यूनता के वातावरण में उपभोक्ता, व्यापारी एवं उत्पादक सभी में वस्तुओं को आवश्यकता से अधिक संग्रह रखने की भावना होती है जिसके फलस्वरूप कृत्रिम न्यूनता का बोलबाला हो जाता है और मूल्य निरन्तर बढ़ते रहते हैं। इस प्रकार राज्य को भरसक प्रयत्न करना चाहिए कि जनसमुदाय में न्यूनता की भावना सुदृढ़ न होने पाये और यह तभी सम्भव हो सकता है जबकि नियन्त्रित वितरण की कुशल व्यवस्था हो तथा आधारभूत वस्तुएँ नियन्त्रित मूल्य पर आवश्यकतानुसार सभी वर्गों को उपलब्ध करायी जाती रहें।

(6) अस्थायी एवं आकस्मिक मूल्य-वृद्धि को नियन्त्रित करने हेतु बफर स्टॉक (Buffer Stock) का आयोजन किया जाना चाहिए। राज्य बफर स्टॉक द्वारा पूर्ति में माँग के अनुसार अल्पकाल में वृद्धि कर सकता है और अल्पकालीन एवं स्थायी मूल्य-वृद्धि को रोक सकता है। अल्पकालीन एवं अस्थायी मूल्य-वृद्धियाँ प्रभावशाली नियन्त्रण की अनुपस्थिति में स्थायित्व ग्रहण करने लगती हैं। बफर स्टॉक द्वारा दीर्घकालीन एवं स्थायी मूल्य-वृद्धि तथा उत्पादन की कमी का निवारण नहीं किया जा सकता है।

(7) मिश्रित अर्थ-व्यवस्था में मूल्य-स्तर को बढ़ने से रोकने के लिए मुद्रा-प्रसार से प्रेरित विनियोजन (Inflationary Investment) को सीमित रखना आवश्यक होता है। घाटे के अर्थ-प्रबन्धन का जब अभिलाषी विनियोजन कार्यक्रमों की पूर्ति के लिए वृहद् स्तर पर उपयोग किया जाता है तो मुद्रा-स्फीति का दूषित चक्र गतिमान होता है और प्रभावशाली नियन्त्रण की अनुपस्थिति में विकास के लिए घातक सिद्ध होता है।

उपर्युक्त विवरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि मिश्रित अर्थ-व्यवस्था से मूल्य-प्रोत्साहन (Price Incentive) को खुली छूट नहीं दी जाती है। परन्तु मूल्य-प्रोत्साहन को चुने हुए क्षेत्रों, विशेषकर आधारभूत उपभोक्ता-वस्तुओं के क्षेत्र तथा उन क्षेत्रों में जो निजी क्षेत्र में संचालित हों और जिन पर राज्य पूर्ण नियन्त्रण न कर सकता हो, जारी रखना आवश्यक होता है।

दोहरी मूल्य-नीति

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था में विपणि-यान्त्रिकता के दोषों को नियन्त्रित करने के उद्देश्य से दोहरी मूल्य-नीति का उपयोग आधारभूत उपभोक्ता-वस्तुओं एवं दुर्लभ पूर्ति वाले कच्चे माल के लिए किया जाता है। दोहरी मूल्य-नीति के अन्तर्गत (अ) एक ही वस्तु का मूल्य विभिन्न बाजारों में पृथक्-पृथक् रहने दिया जाता है, (ब) एक वस्तु के विभिन्न ग्रेडों के मूल्य पृथक्-पृथक् निर्धारित किये

जाते हैं, तथा (ग) एक ही वस्तु का मूल्य विभिन्न प्रकार के उपभोक्ताओं के लिए अलग-अलग निर्धारित किया जाता है।

प्रथम प्रकार की व्यवस्था का उद्देश्य समाज के निर्धन एवं निर्बल वर्ग के लोगों को उचित मूल्यों पर आधारभूत उपभोक्ता-वस्तुएँ प्रदान करना होता है। आधारभूत उपभोक्ता-वस्तुएँ जैसे खाद्यान्न सरकार द्वारा निर्धारित मूल्य पर नियन्त्रित मात्रा में अल्प-आय वाले लोगों को प्रदान किया जाता है। सरकार इन वस्तुओं का उत्पादकों से निर्धारित मूल्य पर अनिवार्य लेवी अथवा ऐच्छिक रूप से एकत्रित करती है। उत्पादकों को अपने उत्पादन का एक निश्चित अंश ही सरकार को बेचना होता है जबकि शेष उत्पादन खुले बाजार में माँग-पूर्ति पर आधारित मूल्यों पर बेचा जा सकता है। प्रायः खुले बाजार के मूल्य नियन्त्रित मूल्यों से अधिक रहते हैं। भारत में खाद्यान्न एवं शक्कर जैसी वस्तुओं में यही व्यवस्था विद्यमान है।

दूसरी व्यवस्था के अन्तर्गत वस्तु के विभिन्न ग्रेड निर्धारित कर दिये जाते हैं और प्रत्येक ग्रेड का मूल्य एवं उत्पादन-कर अलग-अलग निर्धारित किये जाते हैं। जिस ग्रेड की वस्तु का उपयोग प्राथमिकता-प्राप्त क्षेत्र में होता है उस ग्रेड के मूल्य नियन्त्रित रहते हैं और इनमें उत्पादकों को मूल्य-परिवर्तन करने का अधिकार नहीं दिया जाता है। भारत में शिक्षा के क्षेत्र में उपयोग आने वाले कागज पर इसी प्रकार नियन्त्रित मूल्य लागू होता है जबकि औद्योगिक उपयोग के कागज के मूल्य में हेर-फेर की जा सकती है।

तीसरी व्यवस्था के अन्तर्गत कुछ दुर्लभ कच्चे माल के मूल्य अन्तिम उपभोक्ता की प्रवृत्ति के आधार पर निर्धारित होते हैं। प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रों के उपभोक्ताओं को ये कच्चे माल नियन्त्रित मूल्य पर प्रदान किये जाते हैं जबकि अन्य क्षेत्र के उपभोक्ताओं को माँग एवं पूर्ति के आधार पर निर्धारित मूल्यों पर ये कच्चे माल उपलब्ध होते हैं। इस व्यवस्था के उद्देश्य दुर्लभ एवं आधारभूत कच्चे माल के उपभोग को सीमित करना, उनका वांछित क्षेत्र में उपयोग होना तथा गैर-प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रों से अधिक लाभ प्राप्त करना होते हैं। भारत में इस्पात के सम्बन्ध में अक्टूबर 1973 से लगभग इसी प्रकार की नीति का अनुसरण किया जा रहा है। आधारभूत एवं सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों में उपयोग होने वाले इस्पात के मूल्यों में कोई वृद्धि नहीं की जायेगी। अन्य क्षेत्रों में उपयोग होने वाले इस्पात के मूल्यों में इस प्रकार वृद्धि की जायेगी कि इंजी. निर्मित वस्तुओं के निर्यात पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़े। सरकारी विभागों, सार्वजनिक उपक्रमों एवं कुछ आधारभूत उद्योगों को इस्पात उत्पादन-लागत में न्यूनतम लाभ जोड़कर उपलब्ध कराया जाता है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि दोहरी मूल्य-नीति के दो प्रमुख उद्देश्य होते हैं। प्रथम, समाज के निर्धन वर्ग को अनिवार्य उपभोक्ता-वस्तुओं को उचित अथवा रियायती मूल्यों पर प्रदान करना। इस व्यवस्था से समाज के सम्पन्न वर्ग पर अप्रत्यक्ष करारोपण हो जाता है क्योंकि इस वर्ग को यही अनिवार्य वस्तुएँ अधिक मूल्य पर खुले बाजार से क्रय करनी पड़ती है। इस प्रकार उत्पादक को जो मूल्य प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए, उसका भार सम्पन्न वर्ग पर पड़ता है। इस व्यवस्था से दोहरे उद्देश्यों की पूर्ति होती है। एक ओर, समाज में आर्थिक विषमता कम करने एवं निर्धन वर्ग के जीवन-स्तर को और गिरने से रोकना सम्भव होता है। दूसरी ओर, उत्पादन को पर्याप्त मात्रा में बनाये रखने के लिए उत्पादकों को प्रोत्साहन-मूल्य उपलब्ध होते हैं।

दोहरी मूल्य-नीति का दूसरा उद्देश्य उत्पादन के साधनों को समाज द्वारा निर्धारित प्राथमिकता-प्राप्त क्षेत्रों में अधिकतम सामाजिक लाभ के लिए उपयोग करना होता है। इस व्यवस्था से उत्पादन के साधनों एवं आय के प्रवाह को नियन्त्रित किया जा सकता है। इस प्रकार दोहरी मूल्य-नीति अन्तर-उपभोक्ता (Inter-consumer) एवं अन्तर-क्षेत्रीय (Inter-sectoral) अनुदान (Subsidy) प्रदान करने का माध्यम होती है।

दोहरी मूल्य-नीति की सफलता कुशल प्रशासनिक एवं वितरण सम्बन्धी व्यवस्था पर निर्भर रहती है। कुशल व्यवस्था की अनुपस्थिति में वस्तुएँ एवं दुर्लभ कच्चे माल नियन्त्रित एवं प्राथमिकता-प्राप्त क्षेत्रों में खुले बाजार एवं गैर-प्राथमिकता-प्राप्त क्षेत्रों को प्रवाहित होती है और काले-बाजार की प्रवृत्ति सुदृढ होती है। जिन उत्पादकों, उपभोक्ताओं एवं मध्यस्थों के पास अतिरिक्त क्रय-शक्ति रहती है, वे वस्तुओं एवं कच्चे माल का अधिसंग्रह निर्माण कर लेते हैं और विपणि-अतिरेक (Marketable Surplus) कम हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप खुले बाजार के मूल्य तेजी से बढ़ते हैं। दोहरी मूल्य-नीति के फलस्वरूप लघु उत्पादक मध्यम-वर्ग के उपभोक्ता एवं लघु मध्यस्थों को सर्वाधिक कठिनाई होती है क्योंकि लघु उत्पादक एवं लघु मध्यस्थ संग्रह का लाभ नहीं उठा पाते हैं। मध्यम-वर्ग के उपभोक्ता को नियन्त्रित मूल्य पर पर्याप्त उपभोक्ता-वस्तुएँ न मिलने के कारण खुले बाजार से अधिक मूल्य पर वस्तुएँ प्राप्त करनी पड़ती है जिसका उनके जीवन-स्तर पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

पाँचवी योजना में दोहरी मूल्य-नीति को विशेष स्थान दिया गया है। मुद्रा-स्फीति को सीमित करने, मूल्य-स्तर में सुदृढ़ता लाने, दुर्लभ कच्चे मालों का प्राथमिकताओं के अनुसार उपयोग करने तथा निर्यात हेतु वस्तुएँ उपलब्ध करने के लिए दोहरी मूल्य-नीति को और व्यापक बनाया जायेगा।

भारत में योजनाओं में मूल्य-नीति एवं स्तर

भारत में नियोजित अर्थ-व्यवस्था के प्रारम्भ से ही मूल्य-नियमन को विशेष महत्त्व दिया गया है। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्त में प्रारम्भ की तुलना में थोक मूल्यों के निर्देशांक 16% कम रहे थे। कोरिया का युद्ध समाप्त होने एवं मुद्रा-स्फीति कम करने वाली कार्यवाहियों के फलस्वरूप सन् 1952 में थोक मूल्य निर्देशांक में कमी हुई और अगले दो वर्षों तक मूल्यों में कुछ स्थिरता रही। सन् 1953-54 की बहुत अच्छी फसल के कारण मूल्यों में अत्यधिक कमी हुई। जुलाई, 1955 से मूल्यों में वृद्धि होना प्रारम्भ हो गया।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में खाद्य एवं अन्य सामग्री के उचित सन्तुलन बनाये रखने पर विशेष जोर दिया गया। खाद्यान्नों के उत्पादन को पर्याप्त मात्रा में बढ़ाने हेतु इनके मूल्यों को उचित स्तर पर बनाये रखना आवश्यक था जिससे अन्य फसलों की तुलना में उत्पादक को खाद्यान्नों की फसल से अधिक लाभ प्राप्त हो सके और वह अन्य फसलों की ओर अधिक आकर्षित न हो। मूल्यों के अत्यधिक उच्चावचान को रोकने हेतु खाद्यान्नों के बफर स्टॉक का निर्माण, आयात एवं निर्यात के कोटे (Quota) की मात्रा की समय के पूर्व घोषणा अग्रिम सौदों (Forward Market Operations) पर नियन्त्रण तथा अन्य वित्तीय एवं साख-नियन्त्रण कार्यवाहियों का आयोजन द्वितीय योजना में किया गया था। द्वितीय योजनाकाल में मूल्यों में निरन्तर वृद्धि होती रही। सामान्य थोक मूल्य-निर्देशांक में योजनाकाल में 33%, खाने की सामग्री के मूल्य-निर्देशांक में 48%, औद्योगिक कच्चे माल में 47% तथा निर्मित वस्तुओं में 23% से भी अधिक वृद्धि हुई। मूल्यों की निरन्तर वृद्धि के दो मुख्य कारण थे—प्रथम, जनसंख्या की वृद्धि, एवं द्वितीय, मौद्रिक आय की वृद्धि। इन दोनों ही कारणों से उपभोक्ता-वस्तुओं की माँग में वृद्धि हुई परन्तु पूर्ति से अधिक वृद्धि न हो सकी।

द्वितीय योजना के अनुभवों से यह स्पष्ट हो गया कि उद्योग, खनिज एवं यातायात में अधिक विनियोजन होने पर मूल्यों की वृद्धि को रोकने के लिए कृषि-उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि करना आवश्यक होगा, परन्तु कृषि-उत्पादन मानसून पर निर्भर रहता है जो एक अनिश्चित घटक है और जिस पर कोई नियन्त्रण सम्भव नहीं है। ऐसी परिस्थिति में देश का शीघ्र औद्योगीकरण यथोचित मूल्य-स्तर के साथ करने के लिए कृषि-उत्पादन का पर्याप्त संचय राज्य को रखना चाहिए जिससे राज्य मूल्यों के मौसमी परिवर्तनों पर नियन्त्रण रख सके।

तालिका 49—प्रथम एवं द्वितीय योजनाकाल में मूल्यों में परिवर्तन—थोक मूल्य-निर्देशांक
(आधार सन् 1952-53=100)

वस्तु	प्रथम योजना		परिवर्तन का	द्वितीय योजना		परिवर्तन का
	1951-52	1955-56	प्रतिशत	1955-56	1960-61	प्रतिशत
खाद्य-पदार्थ	111 0	86 5	—22	86 6	120 0	+48
शराब एवं तम्बाकू	121 9	81 0	— 33	81 0	109 9	+36
ईंधन, शक्ति, प्रकाश आदि	96 5	95 2	—13	95 2	120 2	+26
औद्योगिक कच्चा माल	141 5	99 0	—30	99 0	145·4	+47
निर्मित वस्तुएं	119 0	99 6	—16	99 6	122 8	+23
समस्त वस्तुएँ	110 0	92 5	—16	92·5	124 7	+33

उपर्युक्त तालिका के अध्ययन से स्पष्ट है कि द्वितीय योजनाकाल में समस्त वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि हुई और राज्य द्वारा संचालित मूल्य-नियमन नीति को विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई।

तृतीय योजना में मूल्य-नियमन नीति को और अधिक प्रभावशाली बनाने का आयोजन किया गया। योजना के अन्तर्गत कर नीति, मौद्रिक-नीति एवं व्यापारिक-नीति को इस प्रकार संचालित किया जाना था कि अतिरिक्त आय का अधिक भाग कर एवं बचत के रूप में प्राप्त हो सके, साख के नियमन द्वारा साख आवश्यक वस्तुओं के संचय हेतु उपलब्ध न होकर प्राथमिकता-प्राप्त क्षेत्रों के विकास के लिए उपलब्ध हो सके तथा अर्थ-व्यवस्था में उपभोक्ता-वस्तुओं का सन्तुलित वितरण हो सके। योजना में मध्यस्थों के लाभ को कम करने के लिए सहकारी एवं सरकारी संस्थाओं द्वारा उपभोक्ता-वस्तुओं के व्यापार को व्यापक बनाने की भी व्यवस्था की गयी। अल्पकालीन मूल्य-उच्चावचनों पर नियन्त्रण के लिए सरकार द्वारा खाद्यान्नों का अधिसंग्रह (Buffer Stock) स्थापित करने की व्यवस्था की गयी।

मूल्यों के सम्बन्ध में सरकार की सतर्कता के बावजूद भी तृतीय योजनाकाल में मूल्यों में निरन्तर वृद्धि होती रही है। मूल्यों में वृद्धि के तीन प्रमुख कारण थे—प्रथम, तृतीय योजनाकाल में कृषि-उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि नहीं हुई, द्वितीय, जनसंख्या में निरन्तर अनुमान से अधिक वृद्धि होती रही, और तृतीय, सन् 1962 में चीन के आक्रमण तथा सन् 1965 में पाकिस्तानी आक्रमण के कारण सुरक्षा-व्यय में अत्यधिक वृद्धि हुई जिसके फलस्वरूप जनसाधारण की क्रय-शक्ति में तो वृद्धि हुई परन्तु उपभोक्ता-वस्तुओं के उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि नहीं हो सकी।

मूल्य-निर्देशांक तालिका (50) से ज्ञात होता है कि तृतीय योजनाकाल में खाद्य-पदार्थों एवं औद्योगिक कच्चे माल के मूल्यों में अधिक वृद्धि हुई है। खाद्य-पदार्थों के मूल्य में योजनाकाल में 44 6% की और निर्मित वस्तुओं के मूल्यों में 18 1% तक की वृद्धि हुई। सामान्य मूल्य-निर्देशांक में भी इस काल में निरन्तर वृद्धि होती रही और मूल्य-वृद्धि का प्रतिशत (सन् 1961-62 के स्तर पर) *लगभग 31 6 अधिक हो गया। मूल्यों की निरन्तर वृद्धि का कारण कृषि-उत्पादन में पर्याप्त* वृद्धि न होना तथा सुरक्षा-व्यय में अत्यधिक वृद्धि के अतिरिक्त सरकार की नीतियों का अकुशल संचालन भी था। मूल्यों की वृद्धि को मुद्रा की पूर्ति की वृद्धि ने भी प्रोत्साहित किया है। सन 1960-61 में जनता के पास मुद्रा की पूर्ति 2,869 करोड़ रुपये थी, जो सन् 1965-66 में 4,529 करोड़ रुपये हो गयी अर्थात् मुद्रा की पूर्ति में 58% की वृद्धि हुई, जबकि राष्ट्रीय आय में इस काल में लगभग 13% वृद्धि होने का अनुमान है।

तृतीय योजना के बाद मूल्य-स्तर—तीन वार्षिक योजनाओं के अन्तर्गत पहले दो वर्षों में मूल्य-वृद्धि जारी रही परन्तु 1968-69 वर्ष में मूल्य-वृद्धि की प्रविधि में रुकावट आ गयी। 1968-69 वर्ष में सन् 1967-68 की तुलना में सामान्य थोक मूल्य-निर्देशांक में 1·1% की और खाद्य-पदार्थों के मूल्य-निर्देशांक में 5 3% की कमी हुई। पिछले *आठ वर्षों में प्रथम बार* इन मूल्य-निर्देशांकों में कमी आयी। दूसरी ओर, निर्मित वस्तुओं के मूल्य-निर्देशांक में 2 5% की वृद्धि हुई, जो सन् 1967-68 की वृद्धि के प्रतिशत से कुछ कम थी।

तालिका 50—थोक मूल्य-निर्देशाक (सन् 1961-62 से 1975 76)

वर्ष (मासिक औसत)	खाद्य-पदार्थ		औद्योगिक कच्चे माल		निर्मित वस्तुएँ		समस्त वस्तुएँ	
	निर्देशाक	गत वर्ष से प्रतिशत परिवर्तन	निर्देशाक	गत वर्ष से प्रतिशत परिवर्तन	निर्देशाक	गत वर्ष से प्रतिशत परिवर्तन	निर्देशाक	गत वर्ष से प्रतिशत परिवर्तन
1961-62	100 0	—	100 0	—	100 0	—	100 0	—
1962-63	106 5	6 5	97 8	—2 5	102 6	2 6	103 8	3 8
1963-64	115 4	8 4	100 2	2 5	104 8	2 1	110 2	6 2
1964 65	135 4	17 3	115 9	15 7	109 0	4 0	122 3	11 0
1965 66	144 6	6 8	132 8	14 6	118 1	8 3	131 6	7 6
तृतीय योजनाकाल मे मूल्य-परिवर्तन	—	44 6	—	32 8	—	18 1	—	31 6
1966 67	171 1	18 3	158 4	19 3	127 5	8 0	149 9	14 0
1967 68	207 8	21 4	156 4	—1 3	131 1	2 8	167 3	11 6
1968-69	196 9	—5 3	157 3	0 6	134 4	2 5	165 4	—1 1
तीन वार्षिक योजनाओ के काल मे मूल्य परिवर्तन	—	36 2	—	18 4	—	13 8	—	25 7
1969-70	196 8	—0 1	180 1	14 5	143 5	6 8	171 6	3 7
1970-71	203 9	3 6	197 3	9 6	154 9	7 9	181 1	5 5
1971-72	210 3	3 1	191 0	—3 2	167 1	7 9	188 4	4 0
1972-73	239 6	13 9	204 4	6 8	176 7	5 7	207 1	9 9
1973-74	295 6	23 4	299 2	46 7	205 6	16 4	254 3	22 8
चौथी योजना मे परिवर्तन (1968 69 से 1973 74 मे परिवर्तन)	—	50 0	—	90 0	—	52 8	—	53 6
1974-75	364 0	23 1	328 0	9 6	254 5	23 8	331 0	23 1
1975-76	347 7	—4 5	268 7	—18 1	252 9	—0 6	302 7	—3 3

चौथी योजना के मूल्य-स्तर—चौथी योजना मे थोक मूल्य-निर्देशाक मे निरन्तर वृद्धि होती रही। सन 1968-69 की तुलना मे सन् 1973-74 मे खाद्यान्नों के थोक मूल्यों मे 50 0%, औद्योगिक कच्चे माल के थोक मूल्यो मे 90 0% और निर्मित वस्तुओं के थोक मूल्यो मे 52 8% की वृद्धि हुई। सामान्य थोक मूल्य-निर्देशाक मे भी इस काल मे 53 6% की वृद्धि हुई। चौथी योजना के अन्तिम वर्ष मे सभी वस्तुओ के मूल्यों मे तेजी से वृद्धि हुई। योजना के प्रथम चार वर्षो मे जो मूल्य-वृद्धि हुई थी लगभग उसी के बराबर केवल सन् 1973-74 वर्ष के मूल्य मे वृद्धि हुई। भारत के आर्थिक इतिहास मे पहले कभी भी एक वर्ष मे मूल्यों मे इतनी वृद्धि नहीं हुई। मूल्यों की इस असाधारण वृद्धि का मूल कारण मुद्रा-प्रसार एव वितरण की अकुशल व्यवस्था थी। सन 1968-69 मे मुद्रा की पूर्ति 5 779 करोड़ रुपये थी जो सन् 1973-74 मे बढ़कर 10,836 करोड़ रुपये हो गयी अर्थात चौथे योजनाकाल मे मुद्रा की पूर्ति मे लगभग 80% की वृद्धि हुई, जबकि राष्ट्रीय आय मे इस काल मे केवल 15 6% की ही वृद्धि होने का अनुमान था। चौथी योजना मे मूल्य-स्तर बढ़ने के अन्य कारण औद्योगिक एव कृषि-उत्पादन मे पर्याप्त वृद्धि न होना, अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों मे वृद्धि, खनिज तेल एव उसके उत्पादन के मूल्यो मे चार गुनी वृद्धि आदि थे।

हमारी अर्थ-व्यवस्था मे 1975-76 का वर्ष मूल्यों की कमी का वर्ष रहा। 26 जून, 1975 को आपात-काल की घोषणा के बाद सरकार द्वारा जो आर्थिक एव प्रशासनिक कदम उठाये गये, उनसे मूल्य स्तर की वृद्धि रुकी ही नही अपितु मूल्यों मे कुछ गिरावट भी आयी। तस्कर व्यापार एव अनियमित एव अवैधानिक आय के विरुद्ध उठाये गये कठोर कदम तथा देश मे कृषि की बहुत अच्छी फसल ने मूल्यो को रोकने मे योगदान दिया। 1975-76 मे वस्तुओ के थोक मूल्य-निर्देशाक मे 3 3%, की कमी हुई। मूल्य-स्तर मे गिरावट मुख्य रूप से खाद्यान्न पदार्थों के मूल्यों मे कमी आने के कारण आयी। मूल्य-वृद्धि की दर मे सन् 1974-75 मे कोई कमी नही हुई और इस वर्ष मे मूल्य-वृद्धि की दर सर्वाधिक रही, परन्तु सरकार द्वारा जो कार्यवाही सन् 1974-75 मे मुद्रा-स्फीति को रोकने के लिए की गयी उसका प्रभाव 1975-76 मे उदय हुआ। 1974-75 की उल्लेखनीय बात यह भी रही कि मुद्रा की उपलब्धि मे धीमी गति से अर्थात् 6 9% की वृद्धि हुई, जबकि 1973-74 मे जनता के पास मुद्रा की उपलब्धि मे 15 5% की वृद्धि हुई।

1975-76 के मूल्यो मे जो कमी की प्रवृत्ति प्रारम्भ हुई, वह 1976-77 मे जारी नही रह सकी। कृषि-उत्पादो से मूल्यो का वर्चस्व इस वर्ष मे पुन स्थापित हो गया। इस वर्ष मे वाणिज्यिक फसलो के उत्पादन मे कमी होने के कारण इनके मूल्यो मे तेजी से वृद्धि हुई। 1 जनवरी, 1977 के अन्त मे थोक मूल्य-निर्देशाक (इस वर्ष मे नये मूल्य-निर्देशाक 1970-71 वर्ष को आधार मानकर प्रारम्भ किया) 188 3 था (1970-71=100), जो जून 1976 की तुलना मे 8 3% अधिक था। जून 1977 मे प्राथमिक वस्तुओं का थोक मूल्य निर्देशाक 187 4 था, जो जून 1976 की तुलना मे 14 8% अधिक था। इसी प्रकार इधन, प्रकाश, शक्ति और चिकनाई के पदार्थों का थोक मूल्य-निर्देशाक जून, 1977 के अन्त मे 232 4 था, जो गत वर्ष की तुलना मे 1 2% अधिक था। निर्मित वस्तुओ के उत्पादन का थोक मूल्य-निर्देशाक जून 1977 के अन्त मे 181 6 था, जो गत वर्ष की तुलना मे 4 8% अधिक था। इस प्रकार 1976-77 वर्ष मे थोक मूल्यो मे सभी क्षेत्रो मे वृद्धि हुई। 1976-77 वर्ष मे थोक मूल्य निर्देशाक मे 2 1% की वृद्धि हुई। 1977-78 वर्ष मे भी मूल्य-वृद्धि की प्रवृत्ति जारी रही और अप्रैल 1977 (थोक मूल्य-निर्देशाक 176 4) की तुलना मे 14 जनवरी, 1978 को थोक मूल्य-निर्देशाक (183 7) 4 1% अधिक था।

सन् 1976 मे थोक मूल्य-निर्देशाक सशोधन वर्किंग ग्रुप की रिपोर्ट के आधार पर थोक मूल्य-निर्देशाक का आधार-वर्ष 1961-62 के स्थान पर 1970-71 कर दिया गया है। सशोधित निर्देशाक मे 380 वस्तुएँ सम्मिलित की गयी है, जबकि 1961-62 आधार-वर्ष के निर्देशाक मे 218 वस्तुएँ सम्मिलित थी। सशोधित निर्देशाक मे 1,275 कोटेशन का उपयोग किया जाता है, जबकि पुराने निर्देशाक मे 774 कोटेशन (quotation) उपयोग किये जाते थे। सन् 1970-71 आधार वर्ष के निर्देशाक मे निर्मित वस्तुओ मे विशेषकर रसायनो एव रासायनिक उत्पादों,

आधारभूत धातुओ एव धातु उत्पादो मशीनरी एव यातायात प्रसाधनो को पहले से अधिक स्थान दिया गया है। निर्देशाक की नयी सीरीज के अनुसार थोक मूल्य निर्देशाक निम्नवत् था

वर्ष	1970 71 के आधार पर थोक मूल्य-निर्देशाक	1961-62 के आधार पर थोक मूल्य निर्देशाक को 1970 71 पर शिफ्ट करके निर्देशाक
1970 71	100	100
1971 72	105 6	104 0
1972-73	116 2	114 4
1973-74	139 7	140 7
1974 75	174 9	172 8
1975 76	173 0	167 2
1976-77	176 4	—

भारत मे मूल्य-वृद्धि के कारण

थोक मूल्य निर्देशाक की तालिका (50) के अध्ययन से ज्ञात होता है कि सन् 1961-62 से 1975-76 के 14 वर्षो मे थोक मूल्यो मे 202 1% की वृद्धि हुई है। इस काल की एक विशेषता यह भी है कि खाद्य पदार्थों का मूल्य-निर्देशाक निर्मित वस्तुओ के मूल्य-निर्देशाक की तुलना मे अधिक तीव्र गति से बढा है। मूल्य स्तर की इस निरन्तर वृद्धि के मुख्य कारण निम्नवत् हैं

(1) **मुद्रा की पूर्ति मे वृद्धि**—हमारी अर्थ-व्यवस्था मे मूल्य वृद्धि का प्रमुख कारण मुद्रा की पूर्ति मे राष्ट्रीय आय की वृद्धि की तुलना मे कही अधिक वृद्धि होना रहा है। जब किसी अर्थ-व्यवस्था को विकास की ओर अग्रसर किया जाता है तो समाज की नकद मुद्रा की आवश्यकता बढ जाती है और ऐसी परिस्थिति मे मुद्रा की पूर्ति मे वृद्धि करना आवश्यक होता है। परन्तु मुद्रा की पूर्ति मे वास्तविक आय वृद्धि की दर से दो या तीन प्रतिशत वृद्धि होने पर मुद्रा-स्फीति का दबाव गतिमान नही होता है। यदि मुद्रा पूर्ति की वृद्धि इस सीमा से अधिक होती है तो मूल्य स्तर मे वृद्धि होना स्वाभाविक होता है। गत 14 वर्षो मे वास्तविक राष्ट्रीय आय-वृद्धि, मूल्य-वृद्धि एव मुद्रा की पूर्ति मे वृद्धि निम्नांकित तालिका के अनुसार हुई

तालिका 51—मुद्रा-पूर्ति, राष्ट्रीय आय एव थोक मूल्यो के निर्देशाक (सन् 1961-62 = 100)
(सन 1961 62 मूल्यो पर)

वर्ष	राष्ट्रीय आय		मुद्रा पूर्ति		थोक मूल्य-निर्देशाक	
	निर्देशाक	गत वर्ष की तुलना मे प्रतिशत वृद्धि	निर्देशाक	गत वर्ष की तुलना मे प्रतिशत वृद्धि	निर्देशाक	गत वर्ष की तुलना मे प्रतिशत वृद्धि
1961-62	100	—	100	—	100	—
1962 63	101 9	1 9	108 7	8 7	103 8	3 8
1963-64	107 5	5 4	123 2	13 3	110 2	6 2
1964 65	115 7	7 6	133 9	8 7	122 3	11 0
1965-66	109 8	—5 1	148 7	11 0	131 6	7 6
1966 67	110 9	1 0	162 5	9 3	149 9	14 0
1967-68	120 9	9 0	175 6	8 1	167 3	11 6
1968 69	124 9	2 4	189 7	8 0	165 4	1 1
1969 70	131 7	5 3	209 6	10 5	171 6	3 7
1970 71	137 3	4 2	234 4	11 8	181 1	5 5
1971-72	139 0	1 7	267 2	14 0	188 4	4 0
1972-73	139 2	0 4	309 0	15 7	207 1	9 9
1973 74	143 6	3 9	355 7	15 1	254 3	22 8
1974 75	143 9	0 2	380 2	6 9	313 7	23 4
1975-76	159 8	11 5	429 6	11 3	302 7	—3 3

उक्त तालिका (51) से ज्ञात होता है कि हमारी अर्थ-व्यवस्था में मुद्रा-पूर्ति में वास्तविक आय-वृद्धि की तुलना में कहीं अधिक वृद्धि होती रही है। गत 14 वर्षों में हमारी अर्थ-व्यवस्था में आर्थिक प्रगति-दर में निरन्तर उच्चावचान होते रहे हैं परन्तु औसतन मुद्रा-पूर्ति में लगभग 20% की प्रति वर्ष वृद्धि होती रही है। जिन वर्षों की राष्ट्रीय आय की वृद्धि की तुलना में मुद्रा-पूर्ति की वृद्धि कम भी रही है (जैसे सन् 1967-68), उन वर्षों में भी मूल्यों में वृद्धि की गति तीव्र बनी रही है। दूसरी ओर, सन् 1971-72 में आय-वृद्धि की तुलना में मुद्रा की पूर्ति में लगभग 12% अधिक वृद्धि होने पर भी मूल्य-निर्देशांक में केवल 4% की ही वृद्धि हुई। इन तथ्यों के आधार पर यह कहना उचित होगा कि मूल्य-वृद्धि का एकमात्र कारण मुद्रा की पूर्ति की वृद्धि ही नहीं है, यद्यपि मुद्रा-पूर्ति मूल्यों को प्रभावित करने वाला एक प्रमुख तत्व अवश्य है। सन् 1972-73 में यद्यपि राष्ट्रीय आय में 0 4% की वृद्धि हुई और मुद्रा-पूर्ति में 15 7% की वृद्धि हुई, फिर भी मूल्यों में 9 9% की ही वृद्धि हुई। सन् 1973-74 में राष्ट्रीय आय-वृद्धि एवं मुद्रा-पूर्ति-वृद्धि का अन्तर केवल 11 9% था, जबकि मूल्य-स्तर में 22 8% की वृद्धि हुई। सन् 1974-75 में राष्ट्रीय आय-वृद्धि और मुद्रा-पूर्ति की वृद्धि-दर का अन्तर घटकर 6 7% रह गया, परन्तु मूल्य-स्तर में फिर भी 23 4% की वृद्धि हुई। 1975-76 में मुद्रा-पूर्ति एवं राष्ट्रीय आय-वृद्धि लगभग बराबर रही और मूल्य-स्तर में 3 3% की कमी हुई। गत 14 वर्षों में हमारी राष्ट्रीय आय में 60% की वृद्धि हुई अर्थात् औसत में प्रति वर्ष 4% की वृद्धि हुई, जबकि मुद्रा-पूर्ति में औसत से प्रति वर्ष 22% की वृद्धि हुई जिसके परिणामस्वरूप मूल्यों में 14% की वार्षिक वृद्धि हुई।

(2) **मानसून का प्रतिकूल होना**—हमारी अर्थ-व्यवस्था में मानसून का अब भी अत्यधिक महत्व है क्योंकि कृषि-क्षेत्र हमारी राष्ट्रीय आय का लगभग 50% भाग जुटाता है। कृषि-उत्पादन मानसून पर बड़ी सीमा तक निर्भर रहता है और बाढ़ एवं सूखे से कृषि-उत्पादन को क्षति पहुँचती है। सन् 1965-66 एवं 1966-67 में लगातार सूखा पड़ने के कारण कृषि-उत्पादन को क्षति पहुँची और उसके परिणामस्वरूप सन् 1966-67 एवं 1967-68 में खाद्य-पदार्थों के मूल्य-निर्देशांक में गत वर्ष की तुलना में क्रमशः 18 3% तथा 21 4% की वृद्धि हुई। सन् 1967-68 के बाद के वर्षों में मानसून अनुकूल रहने के कारण खाद्य-पदार्थों के मूल्य-निर्देशांक में विशेष वृद्धि नहीं हुई। परन्तु सन् 1972 73 वर्ष में कई क्षेत्रों में सूखा का प्रकोप हो गया और खाद्य-पदार्थों के मूल्यों में भी तेजी से वृद्धि हुई। सन् 1972-73 वर्ष में खाद्यान्नों के उत्पादन में गत वर्ष की तुलना में 100 लाख टन की कमी हुई। सन् 1973-74 वर्ष में सूखा और बाढ़ का प्रकोप बना रहा परन्तु खाद्यान्नों का उत्पादन 952 लाख टन से बढ़कर 1,036 लाख टन हो गया। परन्तु सन् 1973-74 में कृषि-पदार्थों के मूल्यों में अत्यन्त तीव्र गति से वृद्धि हुई जिसके अन्य कारण उर्वरक के मूल्यों में वृद्धि एवं खनिज तेल के मूल्यों में असाधारण वृद्धि भी रही है। कृषि-आदायों के मूल्यों में वृद्धि के कारण कृषि-उत्पादन की लागत में भी वृद्धि हो गयी है। सन् 1974-75 में खाद्यान्नों के उत्पादन में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई और उत्पादन लगभग सन् 1973-74 के स्तर पर बना रहा और खाद्य-पदार्थों के मूल्यों में भी वृद्धि जारी रही। 1975-76 वर्ष में खाद्यान्नों के उत्पादन में तो पर्याप्त वृद्धि हुई परन्तु वाणिज्यिक फसलों के उत्पादन में कमी रही और खाद्य-तेलों के मूल्य में लगभग 58% की वृद्धि हुई।

(3) **निर्मित औद्योगिक-क्षमता का पूर्णतम उपयोग नहीं**—निर्मित औद्योगिक-क्षमता का पूर्णतम उपयोग न होने के कारण औद्योगिक उत्पादन में विनियोजन के अनुरूप वृद्धि नहीं होती है। मशीन-औज़ार, डीजल इंजन, खनिज मशीनों, टाइप-राइटर, इस्पात के पाइप एवं ट्यूब तथा इस्पात की ढली हुई वस्तुओं के उद्योगों में लगभग 50% उत्पादन-क्षमता का ही उपयोग हो पाता है। उत्पादन-क्षमता का पूर्ण उपयोग न होने के प्रमुख कारण इस्पात की पर्याप्त उपलब्धि न होना, माँग का कम होना, कोयला एवं विद्युत-शक्ति का कम उपलब्ध होना तथा आयातित कच्चे माल

एव माध्यमिक वस्तुओं की पर्याप्त उपलब्धि न होना है। औद्योगिक क्षेत्र मे उत्पादन की हानि श्रम-संघर्षों से प्रेरित हडतालो के कारण भी होती है।

(4) **सरकारी व्यवसायो का लाभप्रद संचालन न होना**—31 मार्च, 1976 तक सरकारी व्यवसायो मे लगभग 8,973 करोड रुपये का विनियोजन किया जा चुका था जबकि सन् 1951 मे सरकारी व्यवसायों का विनियोजन केवल 290 करोड रुपये था। परन्तु 1971-72 से आज तक इन उद्योगो को लाभ पर चलाया जाना सम्भव नही हो सका है। इन पर लगी पूँजी पर ब्याज के बराबर भी लाभोपार्जन नही हो सका है। सरकारी उद्योगों पर होने वाली हानि का भार सरकारी आय पर पडता है जिसकी पूर्ति अधिक करारोपण से की जाती है जिसमे मूल्य-वृद्धि प्रेरित होती है। सरकारी व्यवसायो द्वारा कृषि एव औद्योगिक क्षेत्र के लिए अधिकतर आदाय (Inputs), जैसे रेल से माल ढोना, इस्पात, कोयला, बिजली आदि प्रदान किये जाते है। जब सरकारी व्यवसायो का कुशल सचालन नही होता है तो इन आदायों की लागत अधिक आती है जिससे इन आदायो का उपयोग करने वाले सभी क्षेत्रो का मूल्य-स्तर प्रभावित होता है। सन् 1971-72 वर्ष मे 84 गैर-विभागीय सरकारी वाणिज्यिक सस्थाओ मे 18 8 करोड रुपये की शुद्ध हानि हुई, जबकि इन सस्थाओ मे सन् 1970-71 मे 2 5 करोड रुपये की ही हानि हुई थी। सन् 1972-73 वर्ष मे इन सार्वजनिक व्यवसायो की हानि 18 1 करोड रुपये थी। दूसरी ओर, विभागीय व्यवसायो का सचालन लाभप्रद रहा है। सन् 1971-72 मे विभागीय एव गैर-विभागीय सार्वजनिक व्यवसायो मे 15 करोड रुपये की हानि हुई। परन्तु सन् 1972-73 मे इनमे 19 8 करोड रुपये का लाभ हुआ। सन् 1973-74 वर्ष मे विभागीय एव गैर-विभागीय व्यवसायो का लाभ बढकर 64 4 करोड रुपये हो गया। सन् 1973-74 के पश्चात सरकारी व्यवसायो की स्थिति मे सुधार हुआ है। 1974-75 मे इन व्यवसायो का लाभ बढकर 183 53 करोड हो गया। 1975-76 मे लाभ की राशि 129 1 करोड रुपये रही।

(5) **आर्थिक अपराध एवं काला धन**—मूल्य-स्तर मे निरन्तर वृद्धि का एक महत्वपूर्ण कारण काला धन एव आर्थिक अपराधो की बढती हुई प्रवृत्ति है। रिश्वत, कर की चोरी, काला बाजार एव तस्कर व्यापार से धन कमाने की प्रवृत्ति अर्थ-व्यवस्था मे निरन्तर बढती जा रही है। इन मदो से जो धनोपार्जन किया जाता है, उसका उपयोग वाछित उत्पादक-क्रियाओं मे वैधानिक रूप से न कर सकने के कारण इस धन का प्रवाह वस्तुओ के सग्रह, तस्कर व्यापार, सट्टा एव आर्थिक अपराधो के लिए किया जाता है। इन समस्त क्रियाओ से अर्थ-व्यवस्था मे मूल्य-वृद्धि को बढावा मिलता है। सरकारी नियन्त्रणों मे प्रभावशीलता की कमी के कारण अर्थ-व्यवस्था मे दो समान्तर बाजार—नियन्त्रित मूल्य-बाजार एव काला बाजार—विद्यमान है। काला बाजार मे लाभ की दर अधिक होने के कारण आर्थिक साधनो का प्रवाह इस बाजार मे अधिक हो रहा है जो मूल्य-स्तर को ऊँचा रखने मे सहायक होता है और कृत्रिम न्यूनता उत्पन्न करने मे सफल होता है। वाँचू-समिति ने अनुमान लगाया था कि सन 1968 की अर्थ-व्यवस्था मे लगभग 7,000 करोड रुपया काले धन के रूप मे उपयोग हो रहा है।

आर्थिक अपराधो पर प्रभावशाली नियन्त्रण हेतु आन्तरिक सुरक्षा कानून (MISA) एव अन्य अधिनियमो एव आपात-स्थिति का व्यापक उपयोग करने की व्यवस्था की गयी जिसके परिणामस्वरूप मूल्य-स्तर मे वृद्धि की गति मे कुछ कमी आयी। परन्तु, दूसरी ओर, सरकार की इन कार्यवाहियो से विनियोजन एव उत्पादन-वृद्धि की प्रवृत्ति को आघात पहुँचा।

(6) **मौद्रिक एवं राजकोषीय नीतियो का प्रभावशाली क्रियान्वयन न होना**—मौद्रिक नीति के अकुशल सचालन एव इसमे व्यापकता एव समन्वय की कमी के कारण साख अवाछित क्षेत्रो मे प्रवाहित हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप एक ओर, वाछित क्षेत्रो मे वास्तविक उत्पादक विनियोजन कम होता है और दूसरी ओर अवाछित क्षेत्र मे वस्तुओं के सग्रह करने को साधन उपलब्ध हो जाते हैं। ये दोनो ही तत्व मूल्य-स्तर पर प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं। सरकार को कर एव

बचत-नीति द्वारा अतिरिक्त आय को उपभोग से हटाकर विनियोजन की ओर प्रवाहित करने की आवश्यकता होती है। परन्तु कर-नीति में निरन्तर परिवर्तन होते रहने पर भी कर का भार अन्तिम रूप से उपभोक्ताओं पर हस्तान्तरित करना सम्भव हो जाता है। बहुत से बड़े-बड़े पूँजीपति एव प्रभावशाली धनी लोग अपने करो के दायित्वो का वर्षों तक भुगतान नही करते और कर से रोके हुए धन का उपयोग वस्तु-सचय करने के लिए करते रहते है। यह क्रिया मूल्य-स्तर पर निरन्तर प्रतिकूल प्रभाव डालती है।

(7) **दोषपूर्ण वितरण-व्यवस्था**—हमारी अर्थ-व्यवस्था मे मूल्य-स्तर की अस्थिरता का एक महत्वपूर्ण कारण आवश्यक उपभोग-वस्तुओ का दोषपूर्ण वितरण भी है। सरकार द्वारा बफर स्टॉक एव लेवी की सहायता से एकत्रित उपभोग-वस्तुओ का वितरण उचित मूल्य की दुकानो मे किया जाता है। भारत मे उचित एव सस्ते मूल्य पर उपभोक्ता-वस्तुओं का केवल आंशिक वितरण ही किया जाता है। आंशिक वितरण दो प्रकार से होता है—प्रथम, केवल कुछ ही वस्तुओं का वितरण इन दुकानो द्वारा किया जाता है, और द्वितीय, उपभोक्ताओ को कोई भी वस्तु पर्याप्त मात्रा मे प्रदान नही की जाती है और उपभोक्ता को अपनी उपभोग-आवश्यकता का कुछ अंश खुले बाजार से खरीद कर पूरा करना पड़ता है। इसके साथ इन दुकानों से वस्तुओ की पूर्ति मे नियन्त्रण भी नही रहता है। इस प्रकार अर्थ-व्यवस्था मे दो मूल्य स्तरों के समान्तर बाजार विद्यमान है। नियन्त्रित मूल्य पर वस्तुओ की उपलब्धि पर्याप्त मात्रा में नही होती और प्रत्येक उपभोक्ता को खुले बाजार से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करना आवश्यक हो जाता है। यह दोहरी विपणि-व्यवस्था काले बाजार को व्यापक बनाने मे सहायक हुई है और उत्पादक, व्यापारी एव उपभोक्ता सभी मे सचय की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करती है। खुले बाजार का मूल्य-स्तर ऊँचा होने के कारण वस्तुओं का प्रवाह नियन्त्रित मूल्य-बाजार से खुले बाजार में चोरी-छिपे होता रहता है और वितरण सम्बन्धी अधिकारियो मे अनियमितताएँ करने के लिए प्रलोभन का उदय होता है। दोहरी बाजार-व्यवस्था के कारण मूल्य-नियन्त्रण सम्बन्धी कार्यवाहियो की प्रभावशीलता भी कम रहती है और मध्यस्थो की इच्छानुसार वस्तुओं के मूल्यो मे उतार-चढ़ाव होता रहता है। यही कारण है कि सरकार ने गेहूँ एव चावल के थोक व्यापार को अपने हाथ मे लेने का प्रयत्न किया परन्तु इस कार्य मे प्रशासनिक अकुशलता के कारण सफलता नही मिल पायी।

(8) **सरकारी गैर-विकास-व्यय मे वृद्धि**—मूल्य-वृद्धि का एक महत्वपूर्ण कारण और कुछ सीमा तक प्रभाव यह भी है कि हमारी अर्थ-व्यवस्था मे सरकारी विकास-व्यय के साथ गैर-विकास-व्यय म भी तीव्र गति से वृद्धि हुई है। सरकारी व्यय सम्बन्धी निम्नलिखित आँकड़े इस बात के द्योतक है

तालिका 52—केन्द्रीय राज्य एव केन्द्र-प्रशासित क्षेत्रो का सरकारी व्यय

(करोड़ रुपया)

मद	1969 70	1970-71	1971-72	1972-73	1973-74	1974-75	1975-76	1976-77 संशो अनुमान	1977-78 बजट अनुमान
विकास-व्यय	4166	4716	5710	6550	6864	9506	11574	13227	14407
गैर-विकास व्यय	3209	3636	4358	4691	5380	6183	7359	8311	8939

इन आँकडो से ज्ञात होता है कि सन् 1970-71 मे सन् 1969-70 की तुलना मे विकास-व्यय 13 2% अधिक हुआ, जबकि गैर-विकास-व्यय मे इस काल मे 13 3% की वृद्धि हुई। सन् 1971-72 में गत वर्ष की तुलना मे विकास एव गैर-विकास-व्यय में क्रमश 21 8% एव 19 9% की वृद्धि हुई। सन् 1972-73 वर्ष म गत वष की तुलना मे विकास-व्यय मे 20 2% की वृद्धि

हुई, जबकि गैर-विकास-व्यय मे लगभग 7 6% की वृद्धि हुई। सन् 1973-74 के विकास-व्यय मे 4 8% की वृद्धि हुई, जबकि गैर-विकास-व्यय मे 14 5% की वृद्धि हुई। सन् 1974-75 मे विकास एव गैर-विकास-व्यय मे वृद्धि का प्रतिशत क्रमश 38 4 एव 16 8 रहा। 1975-76 वर्ष मे विकास-व्यय मे 22% की और गैर-विकास-व्यय मे केवल 18 6% की वृद्धि रही। इस वर्ष गैर-विकास-व्यय पर नियन्त्रण रखा जा सका। परन्तु 1976-77 के सशोधित अनुमानानुसार इस वर्ष मे गत वर्ष की तुलना मे विकास-व्यय मे 14 3% और गैर-विकास-व्यय मे 12 9% की वृद्धि हुई। 1977-78 के बजट अनुमानो मे विकास-व्यय मे 9% और गैर-विकास-व्यय मे 7 5% की वृद्धि का आयोजन किया गया।

गत वर्षो के अनुभवो से ज्ञात होता है कि गैर-विकास-व्यय बजट-अनुमानो से अधिक ही रहता है। गत पाँच वर्षो मे केन्द्र, राज्य एव केन्द्र शासित क्षेत्रो के गैर-विकास-व्यय मे निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। गैर-विकास-व्यय बढने से अर्थ-व्यवस्था मे व्यक्तियो एव सस्थाओ की आय मे तो वृद्धि हो जाती है परन्तु गैर-विकास-व्यय प्रत्यक्ष रूप से उत्पादन-वृद्धि मे सहायक नही होता है जिसके परिणामस्वरूप उपभोक्ता वस्तुओ की माँग मे तीव्र गति से वृद्धि होती है और मूल्य-स्तर पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है।

(9) **अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य-स्तर का प्रभाव**—हमारे देश मे मूल्य स्तर की वृद्धि पर विदेशो के बढते हुए मूल्य-स्तर का भी प्रभाव पडा है। गत 10 वर्षों (सन् 1963 से 1973) मे विभिन्न राष्ट्रो मे उपभोक्ता-वस्तुओ के मूल्यो मे तीव्र गति से वृद्धि हुई है। मूल्य-वृद्धि का आकार विकासशील राष्ट्रो मे अत्यधिक रहा है।

तालिका 53—विभिन्न राष्ट्रो मे उपभोक्ता-मूल्यो मे वृद्धि[1]

(सन् 1963 से सन् 1973 तक औसत वार्षिक वृद्धि)

देश	1963-73 के काल मे औसत वार्षिक वृद्धि	1972 मे 1971 पर वृद्धि का प्रतिशत	1973 मे 1972 पर विकास का प्रतिशत
विकसित राष्ट्र			
1 आस्ट्रेलिया	5 3	5 9	9 5
2 कनाडा	4 6	4 8	7 6
3 फ्रान्स	5 7	6 2	7 2
4 पश्चिमी जर्मनी	4 2	5 8	6 9
5 इटली	5 7	5 7	10 8
6 इजरायल	10 5	13 0	17 5
7 जापान	8 0	4 5	11 7
8 स्विटजरलैण्ड	5 6	6 7	8 8
9 ब्रिटेन	7 3	7 1	9 2
10 सयुक्त राज्य अमेरिका	4 5	3 3	6 2
11 यूगोस्लाविया	29 8	16 8	20 2
विकासशील राष्ट्र			
12 अर्जेण्टाइना	120 9	58 4	61 3
13 बगला देश	19 1	28 4	41 0
14 ब्राजील	160 9	10 8	12 9
15 चिली	568 2	78 0	352 8
16 मिस्र	6 9	2 1	3 4
17 भारत	11 9	6 3	28 2
18 इण्डोनेशिया	9,743 6	6 5	27 6
19 ईरान	3 9	6 5	9 3
20 श्रीलका	5 0	6 4	7 6
21 पाकिस्तान	7 5	8 5	12 0

1 *Economic Times*, 27th July, 1974.

उक्त तालिका (53) के अध्ययन से ज्ञात होता है कि ससार के सभी राष्ट्रो मे गत दशक मे मूल्य-स्तर मे वृद्धि होती रही है और 1972 एव सन् 1973 मे वृद्धि की गति और भी तीव्र हो गयी है। विकासशील राष्ट्रो मे मूल्य-स्तर मे वृद्धि की गति विकसित राष्ट्रो की तुलना मे अधिक रही है। अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य-वृद्धि का प्रभाव हमारे देश के मूल्य-स्तर पर भी पडा है। अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य-स्तर हमारे आयात के मूल्यो को बढाने मे सहायक होते है जिससे हमारे उत्पादन की लागत मे वृद्धि होती है और सामान्य मूल्य-स्तर प्रभावित होता है।

(10) **खनिज तेल, रासायनिक खाद एव खाद्यान्नों के अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों मे वृद्धि**—गत दो वर्षों मे खनिज तेल एव उसके उत्पादो के मूल्यो मे चार गुनी वृद्धि हो गयी है जिसके परिणाम-स्वरूप हमारे देश मे ही नही अपितु ससार के सभी राष्ट्रो मे वस्तुओ एव सेवाओ की निर्माण-लागत मे तीव्र गति मे वृद्धि हो गयी है। रासायनिक उर्वरक के मूल्यो के बढने से कृषि-पदार्थो की उत्पादन-लागत मे वृद्धि हुई है। खनिज तेल पर व्यय-वृद्धि की क्षतिपूर्ति करने के लिए विभिन्न राष्ट्रो ने अपने निर्यातो का मूल्य बढा दिया है जिसका प्रतिकूल प्रभाव विकासशील राष्ट्रो के मूल्य-स्तर पर पडा है। डॉलर एव पौण्ड की डॉवाडोल स्थिति ने अन्तर्राष्ट्रीय बाजार मे मूल्य-स्तर पर घातक प्रभाव डाला है। हमारा देश भी इस समस्या मे गम्भीर रूप से पीडित है।

(11) हमारे देश मे जनसाधारण मे तरलता-पसन्दगी अधिक है। जनसाधारण आवश्यक वस्तुओं की कम उपलब्धि के मनोविज्ञान से पीडित रहने के कारण अपने तरल साधनो को उपभोक्ता-वस्तुओं के रूप मे रखना अधिक पसन्द करता है। हमारे देश मे 38% वस्तुओं का व्यापार गैर-मौद्रिक क्षेत्र मे होता है जिससे ग्रामीण जनता नागरिक वस्तुओं के सग्रह के रूप मे अपनी बचत रखती है। इन कारणो से वस्तुओ की वास्तविक पूर्ति एव विपणि की उपलब्धि मे बहुत अन्तर रहता है।

मूल्य-वृद्धि को रोकने के लिए की गयी कार्यविधियाँ

सन् 1972-73 मे मूल्य-वृद्धि की दर की तीव्र गति हो जाने से अर्थ-व्यवस्था की समस्त गतिविधिया प्रभावित होना प्रारम्भ हो गयी। जनसाधारण की कठिनाइयो एव विकास पर पडने वाले कुप्रभावो को ध्यान मे रखते हुए सरकार द्वारा मूल्य-स्तर को रोकने हेतु निम्नलिखित कार्य-वाहियाँ की गयी है

(1) **आर्थिक अपराधो के विरुद्ध कठोर कदम**—रिश्वत, कर-चोरी एव तस्कर व्यापार से एकत्रित धन को बाहर निकालने हेतु आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम का उपयोग किया गया। अत आन्तरिक सुरक्षा नियमो के कुछ आवश्यक आयोजनो को भारतीय दण्ड विधान मे सम्मिलित किया जाता है।

(2) **साख-नियन्त्रण**—मुद्रा स्फीति पर नियन्त्रण करने हेतु सरकार ने कठोर साख-नियन्त्रण एव साख सकुचन की नीति अपनायी है। जनता सरकार बनने के पश्चात 1 जून, 1977 से नवीन साख-नीति की घोषणा की गयी जिसके द्वारा उत्पादन एव विनियोजन वृद्धि को प्रोत्साहन, निर्यात मे सहायता तथा उपभोक्ता-वस्तुओं और औद्योगिक कच्चे मालो के आयात के लिए वित्त प्रदान किया जा सके। नवीन साख-नीति के अन्तर्गत निम्नलिखित व्यवस्थाएँ की गयी

(1) 14 जनवरी, 1977 के पश्चात एकत्रित निक्षेप के 51% भाग और उक्त तिथि तक निक्षेप के 61% भाग का ही उपयोग साख प्रदान करने हेतु किया जा सकेगा।

(2) रिजर्व बैंक द्वारा पुनर्वित्त की राशि बैंको को उनके माग एव सावधिक दायित्वो के 1% के बराबर तक दी जायेगी और इसका उपयोग दिन-प्रतिदिन की तरल साधनो की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही किया जायेगा।

(3) *खाद्यान्न-सग्रहण साख के विरुद्ध पुनर्वित* 1,500 करोड रुपये के ऊपर की खाद्य-साख के 50% के बराबर निश्चित किया गया। यह पुनर्वित्त 10% पर प्रदान किया जायेगा।

(4) निर्यात साख की वृद्धिगत साख पर 50% पुर्नवित्त की व्यवस्था जारी रखी गयी। इस पर ब्याज-दर 10 5% निर्धारित की गयी।

(5) पुस्त ऋणो एव स्कन्धो के विरुद्ध दी जाने वाली समस्त पेशगियों पर मार्जिन (Margin) को 10% बढा दिया गया।

इस प्रकार रिजर्व बैंक ने पुर्नवित्त के साधनो की उपलब्धि को एक ओर कम कर दिया और दूसरी ओर पुर्नवित्त की लागत में वृद्धि कर दी। इसके साथ ही रिजर्व बैंक ने निक्षेपों पर ब्याज की दरो को घटा दिया जिससे तरल साधनो का पूँजीगत विनियोजन हेतु उपयोग करने के लिए प्रोत्साहन मिले। इस प्रकार सस्ती मुद्रा (Cheap Money) दरो के साथ कठोर साख-नियन्त्रण की नीति का उपयोग प्रारम्भ किया गया।

(3) **वेतन एव मजदूरी पर रोक**—भारत सरकार द्वारा 6 जुलाई, 1974 का अध्यादेश जारी किया गया जिसके अन्तर्गत समस्त सरकारी एव गैर-सरकारी कर्मचारियो को उक्त तिथि के बाद मिलने वाले महँगाई-भत्ते का आधा भाग दो वर्ष के लिए और अतिरिक्त वेतन अथवा मजदूरी का सम्पूर्ण भाग दो वर्ष के लिए अनिवार्य रूप से जमा करने की व्यवस्था की गयी है। इस कार्यवाही से सन् 1974-75 वर्ष मे लगभग 500 करोड रुपये की मुद्रा-पूर्ति को रोका गया। यद्यपि वेतन की अतिरिक्त राशि के जमा करने की व्यवस्था को सरकार ने वापस ले लिया परन्तु अतिरिक्त महँगाई भत्ते की 50% राशि को अनिवार्य रूप से जमा करने की व्यवस्था एक वर्ष के लिए और बढा दी गयी और मई 1977 से इस योजना को समाप्त कर दिया गया।

(4) **लाभाश पर रोक**—भारत सरकार द्वारा एक अन्य अध्यादेश द्वारा लाभाश को सीमित कर दिया गया। इसके अन्तर्गत कम्पनियो का विभाज्य लाभ उनके शुद्ध लाभ का $33\frac{1}{3}$% अथवा समता-अशो के अकित मूल्यो के 12% (जो भी कम हो) से अधिक नही हो सकेगा। यह प्रतिबन्ध भी दो वर्षों के लिए लागू किया गया। इस कार्यवाही से कम्पनियो के पास लगभग 50 करोड रुपये का लाभ विकास-विनियोजन हेतु उपलब्ध हो सका और कम्पनियो को वित्तीय सस्थाओ से कम साख लेने की आवश्यकता हुई। इस प्रकार एक ओर 50 करोड रुपये की क्रय-शक्ति अशधारियो के हाथो मे नही गयी और दूसरी ओर साख-विस्तार कम हुआ। लाभाश पर रोक के साथ-साथ बोनस-अशो के निर्गमन के लिए पहले निर्गमन और दूसरे निर्गमन की मध्यावधि को 12 महीने से बढाकर 36 महीने कर दिया गया जिससे लाभाश-रोक के आदेश का प्रभावशाली क्रियान्वयन किया जा सके। यह व्यवस्था भी समाप्त कर दी गयी है।

(5) **राज्यो को रिजर्व बैंक से उपलब्ध होने वाले अधिविकर्ष पर रोक**—रिजर्व बैंक राज्य सरकारो का बैंकर होता है और राज्य सरकारो को अल्पकालीन ऋण अधिविकर्ष के रूप मे रिजर्व बैंक द्वारा प्रदान किया जाता है जिससे वे अपने व्यय-दायित्वो का ऐसे समय मे भी भुगतान कर सकें जबकि उनकी आय कम होती है। प्रथम योजनाकाल मे राज्यो ने रिजर्व बैंक से 123 करोड रुपये का अधिविकर्ष लिया। अधिविकर्ष की राशि निरन्तर बढती गयी और सन् 1972-73 वर्ष मे राज्यों ने 421 करोड रुपये का अधिविकर्ष लिया। इन अधिविकर्ष के फलस्वरूप हीनार्थ-प्रबन्धन मे वृद्धि होती रही है। रिजर्व बैंक ने सन् 1973-74 वर्ष मे राज्यो के अधिविकर्ष का अत्यन्त सीमित कर दिया और राज्यो के चैको को अस्वीकृत करना प्रारम्भ कर दिया। इस कदम से राज्य सरकारो द्वारा अपने व्ययो को कम करने के लिए विवश कर दिया गया। इससे मुद्रा-स्फीति को कुछ सीमा तक रोका जा सकेगा।

(6) **खाद्यान्नो का संग्रहण एवं आयात**—खाद्यान्नो के मूल्यो की वृद्धि का सीमित रखने हेतु खाद्यान्नों को कृषको से सग्रह करने की क्रिया को अत्यधिक महत्त्व दिया गया। खाद्यान्नो की विपणि-पूर्ति का लगभग 25% भाग इस प्रकार लेवी (Levy) के रूप में सगृहीत किया जाता है। इस व्यवस्था से समाज के निर्बल वर्गों के अन्तर्गत को उचित मूल्य की दुकानो से खाद्यान्न प्रदान किये जाते है।

(7) **उत्पादन मे वृद्धि**—कृषि-आदायों एव उपरिव्यय-सुविधाओ की उपलब्धि मे विस्तार

करने के भरसक प्रयत्न किये जा रहे है जिससे कृषि-उत्पादन (जो मूल्य-सरचना निर्धारित करने मे सबसे महत्वपूर्ण घटक है) मे तीव्र गति से वृद्धि की जा सके। दूसरी ओर, औद्योगिक उत्पादन मे भी वृद्धि करने हेतु सरकारी नियन्त्रणो को ढीला करने पर विचार किया जा रहा है।

(8) **अनिवार्य जमा योजना**—केन्द्र सरकार द्वारा अतिरिक्त क्रय-शक्ति को कम रखने हेतु एक अनिवार्य जमा योजना को सचालित किया गया है जिसके अन्तर्गत 15,000 रुपये से अधिक आय वाले प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आय का निश्चित प्रतिशत जमा करने की व्यवस्था की गयी है। इस जमा-राशि का शोधन दो वर्ष पश्चात पांच वार्षिक किश्तो मे करने की व्यवस्था है। अब इस योजना की अवधि को दो वर्ष बढ़ा दिया गया है।

(9) **दोहरी मूल्य-नीति**—दोहरी मूल्य नीति को व्यापक बनाने का आयोजन सरकार द्वारा पाँचवी योजना मे किया जा रहा है। इसके द्वारा एक ओर मूल्य-वृद्धि को सीमित किया जा सकेगा और दूसरी ओर दुर्लभ साधनो का वाछित क्षेत्रो मे उपयोग किया जा सकेगा।

(10) **बड़े नोटो का विमुद्रीकरण**—16 जनवरी, 1978 को सरकार द्वारा 1000, 5000 और 10 000 रुपये के नोटो का विमुद्रीकरण किया गया जिसका मुख्य उद्देश्य अवैधानिक व्यवहारो, जिनमे बड़े नोटो का उपयोग किया जाता है को रोकना बताया गया। इन बड़े नोटो का चलन लगभग 180 करोड रुपये का था जिसमे से 70 करोड रुपये के नोट या तो बदलने के लिए प्रस्तुत नही किये गये अथवा इनके दावे बोगस पाये गये। बड़े नोटो का व्यापक उपयोग काले धन एव तस्कर व्यापार के लिए किया जाना रहा है। इनके विमुद्रीकरण से मूल्य-स्तर की वृद्धि की गति कुछ सीमा तक कम हो सकेगी।

(11) **उपभोक्ता वस्तुओ का आयात**—अर्थ-व्यवस्था मे मूल्य-स्तर को बढने से रोकने के लिए उपभोक्ता वस्तुओ विशेषकर खाद्य तलो के आयातो की व्यापक व्यवस्था की गयी। 30 दिसम्बर, 1977 को हमारा विदेशी विनिमय का सचय 4,083 करोड रुपये था जिसकी सहायता से उपभोक्ता वस्तुओं के आयात को बढ़ाकर आन्तरिक मूल्य-स्तर को नियन्त्रित किया जा सकता है।

उपर्युक्त कार्यवाहियो के फलस्वरूप मूल्य-स्तर की वृद्धि की गति को कम करना सम्भव हो सका है परन्तु इन कार्यवाहियो का दीर्घकालीन प्रभाव इनके कुशल सचालन पर निर्भर रहेगा। मूल्य-वृद्धि की गम्भीर समस्या को हल करने हेतु सरकार द्वारा उत्पादक विनियोजन मे तीव्र गति से वृद्धि करने को विशेष प्रोत्साहन दिया गया है। उत्पादन-विनियोजन को प्रोत्साहित करने के लिए हीनार्थ-प्रबन्धन मे वृद्धि करने पर भी विचार किया जा रहा है जिससे अवसाद की स्थिति को समाप्त किया जा सके। मूल्य-वृद्धि की समस्या पर देश के अर्थशास्त्रियो द्वारा भी विचार किया गया और प्रो डी एन वकील के निर्देशन मे मुद्रा-स्फीति से निपटने हेतु अर्थशास्त्रियो द्वारा एक योजना प्रधानमन्त्री को प्रस्तुत की गयी। इस योजना को SEMI BOMBLA[1] नाम दिया गया। इसके मुख्य आयोजन निम्नवत् है

(1) **मुद्रा-पूर्ति मे 25% से 30% की कमी**—इस कार्य के लिए 100 रुपये एव उससे अधिक मूल्य के नोटो के मूल्यों मे 30% की कमी कर दी जाय और इस प्रकार के नोटधारको को 10 वर्षीय सचयी जमा-प्रमाणपत्र जारी कर दिये जाये। 100 रुपये से कम मूल्य वाले नोटधारियो को 50 रुपये वाले सोने की पॉलिश के मैडिल देने का प्रस्ताव किया जाय जिन पर 10% ब्याज की दर रखी जाय और जो 10 वर्ष बाद शोध्य हो। सचयी जमा-प्रमाणपत्र का क्रय करना अनिवार्य रखा जाय जबकि मैडिल का क्रय ऐच्छिक रखा जाय।

(2) **बैंक-जमा पर रोक**—बैंक मे चालू खाते की जमा के 30%, बचत-खाते की जमा के 25% तथा सावधिक जमा के 30% भाग के शोधन को दो वर्ष के लिए रोक दिया जाय और इन खाताधारियो का 10 वर्षीय विशेष बचत-प्रमाणपत्र जारी किये जायें। जो बचत-प्रमाणपत्रधारी

---

1 सेमी बॉम्बला (Scheme of the Economists for Monetary Immobilisation through Bond Medallions and Blocked Assets—SEMI BOMBLA)

ब्याज का सचय करना चाहे, उन्हे 2 6 गुनी राशि के लिए सूचकाक से सम्बद्ध कूपन जारी किये जायें और जो ब्याज प्राप्त करना चाहे, उन्हे 9% की दर से प्रति छमाही मे ब्याज का भुगतान किया जाय।

(3) कूपन एव मैडिलो को मूल्य-सूचकाक से सम्बद्ध कर दिया जाय।

(4) काले धन को निकालने के लिए बचत-प्रमाणपत्र जारी किये जायें। 10,000 रुपये अथवा इससे अधिक राशि के प्रमाण-पत्र खरीदने पर कर सम्बन्धी जाँच की जानी चाहिए।

(5) मुद्रा के प्रसार की 5% अधिकतम सीमा निर्धारित कर दी जाय।

इन सुझावो को सरकार द्वारा स्वीकार नही किया गया है। परन्तु बचत को प्रोत्साहित करने एव उपभोग-व्यय को कम करने हेतु यह आवश्यक है कि बचत की जमा-राशि तथा सरकारी प्रतिभूतियो के अंकित मूल्य आदि को मूल्य सूचकाक से सम्बद्ध कर दिया जाय, जैसा कि ब्राजील मे किया गया है। इस कार्यवाही से लोगो की क्रय-शक्ति को उपभोग पर व्यय करने की प्रवृत्ति को सीमाकित किया जा सकता है।

पाँचवीं योजना मे मूल्य-नीति

पाँचवी योजना मे इस बात को स्वीकार किया गया है कि वितरण-व्यवस्था मे हेरफेर करने से मूल्यो को नियन्त्रित सीमा मे रखना सम्भव नही हो सकता है। मूल्यो की अस्थिरता को रोकने के लिए आवश्यक उपभोक्ता-वस्तुओ के उत्पादन मे तीव्र गति से वृद्धि करने का आयोजन आवश्यक है। यही कारण है कि पाँचवी योजना मे खाद्यान्नो के उत्पादन मे 22%, शक्कर के उत्पादन मे 32%, वनस्पति-तैलो मे 30%, सूती वस्त्र के उत्पादन मे 30% वृद्धि करने का आयोजन किया गया। उपभोक्ता वस्तुओ की माँग एव पूर्ति मे जो अल्पकालीन असन्तुलन उत्पन्न होता है, उसका प्रमुख कारण मानसून की अनिश्चितता होता है क्योंकि कृषि मे उपयोग होने वाले क्षेत्र के केवल एक-चौथाई भाग को ही सिंचाई की सुविधाएँ उपलब्ध है। प्रतिकूल मानसून के वर्षो मे व्यापारी-वर्ग उपभोक्ताओ एव उत्पादको का शोषण करने मे समर्थ होता है। इस शोषण-तत्व को दूर करने के लिए सरकारी क्षेत्र का व्यापार एव वितरण मे विस्तार किया जाना था। गेहूँ एव चावल तथा शक्कर मे लेवी-पद्धति जारी रखी गयी। अन्य खाद्यान्नो खाद्य-तेलो तथा प्रमाणित कपडे का प्रभावशाली वितरण भी सरकार द्वारा करने की व्यवस्था की गयी। इस्पात के मूल्यो मे अत्यधिक उच्चावचान होते हैं, उन्हे रोकने के लिए इस्पात बैंक के निर्माण की व्यवस्था पाँचवी योजना में की जानी थी। प्राकृतिक रबर एव अलौह-धातुओ का भी सरकार को बडा सग्रह बनाना था। पाँचवी योजना मे सरकारी क्षेत्र को व्यापार मे महत्व प्रदान करने की आवश्यकता को मान्यता दी गयी है।

योजना के अनुसार विपणि-मूल्य तीन तत्वो से मिलकर बनता है—(1) सामग्री-आदायो की लागत, (2) मजदूरी एव गैर-मजदूरी घटको की लागत, तथा (3) अप्रत्यक्ष कर। अप्रत्यक्ष कर के स्तर म योजनाकाल मे वृद्धि होने का अनुमान था क्योकि योजनाकाल मे 8,494 करोड रुपये के अतिरिक्त साधन कर से जुटाने का लक्ष्य रखा गया था। अप्रत्यक्ष कर-वृद्धि मूल्य-स्तर पर प्रतिकूल प्रभाव न डाले, इसके लिए योजना मे लागत कम करने के लिए कार्यवाहियाँ की जानी थी। फिर भी योजना मे मूल्य-सरचना मे निम्नलिखित उद्देश्यो हेतु सचेत समायोजन किये जाने थे

(1) पूँजी पर आयोजित लाभ प्रदान करने हेतु,

(2) अधिक उत्पादन करने के लिए प्रलोभन देने हेतु,

(3) प्राथमिकता-प्राप्त क्षेत्रों मे साधनो को प्रवाहित करने हेतु

(4) अनावश्यक एव अवाछित उपभोग को कम करने हेतु,

(5) दुर्लभ साधनो, जैसे विदेशी विनिमय की बचत करने हेतु,

(6) जिन वस्तुओ की सम्भावित पूर्ति कम है, उनकी माँग एव पूर्ति मे नया व्यवस्थित सन्तुलन स्थापित करने हेतु।

आवश्यक उपभोक्ता-वस्तुओं के संग्रहण एवं वितरण हेतु तीन-स्तरीय तन्त्र की स्थापना की जानी थी। सर्वोच्च स्तर पर एक केन्द्रीय संगठन की स्थापना, जो संग्रहण एवं स्टोर करने का कार्य करती। इस केन्द्रीय संगठन द्वारा जो वस्तुएँ सप्लाई की जानी थीं, उनके वितरण का दायित्व राज्य सरकारों पर था जो अपने सिविल सप्लाई विभाग अथवा स्वतन्त्र राज्य-संगठनों द्वारा वितरण कराती। आवश्यक वस्तुओं का खुदरा व्यापार लाइसेन्स-प्राप्त उचित मूल्य की दुकानों द्वारा किया जाना था जिनकी स्थापना एवं पर्यवेक्षण का दायित्व राज्य सरकारों पर था। इस प्रकार पाँचवीं योजना में मूल्य-स्तर को सुदृढ़ रखने के लिए उत्पादन एवं वितरण दोनों ही पक्षों को संगठित एवं सुदृढ़ बनाया जाना था।

मार्च 1977 में जनता सरकार की स्थापना के पश्चात 1977-78 वर्ष की वार्षिक योजना का निर्माण इस प्रकार किया गया कि छोटे आदमी—लघु कृषक, दस्तकार तथा तकनीशियन, जो कम पूँजी विनियोजन करके जीवकोपार्जन करता है—को अधिक लाभ दिया जा सके। विनियोजन को प्रोत्साहन देने के लिए सस्ती साख-नीति के साथ साख-नियन्त्रणों को कठोर कर दिया गया। इस के साथ ही उपभोक्ता-वस्तुओं की उत्पादन-वृद्धि को भी विशेष महत्व दिया गया। 26 मार्च, 1977 की तुलना में 31 दिसम्बर, 1977 को थोक मूल्य-निर्देशांक 1 3% अधिक था। नौ माह की इस अवधि में खाद्य-पदार्थों के मूल्य में 5% की वृद्धि हुई। खाद्य-पदार्थों में दालों के मूल्य में सर्वाधिक 43 1% की वृद्धि हुई तथा फलों और सब्जियों के मूल्यों में 10 8% की वृद्धि हुई। निर्मित वस्तुओं के क्षेत्र में खाद्य उत्पादों के मूल्यों में 5 1%, की कमी, कपड़े के मूल्यों में 6 6% की वृद्धि तथा पूँजीगत वस्तुओं के मूल्यों में 2% की वृद्धि हुई। इन तथ्यों से स्पष्ट होता है कि इस अवधि में मूल्य-वृद्धि की गति लगभग 1976-77 वर्ष के समान ही रही।

मुद्रा-स्फीति को सीमांकित करने के उपाय

हमारे देश में मुद्रा-स्फीति को सीमांकित करने के लिए वस्तुओं की पूर्ति बढ़ाने एवं माँग को सीमाओं में रखने के लिए समन्वित उपाय करना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में अर्थ-व्यवस्था में ऐसा मनोवैज्ञानिक वातावरण उत्पन्न करने की आवश्यकता है कि जनसाधारण को यह विश्वास हो जाय कि वर्ष भर वस्तुएँ उचित मूल्य मूल्यों पर पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होती रहेंगी। मुद्रा-स्फीति को सीमांकित करने हेतु निम्नलिखित उपाय किये जा सकते हैं

(1) **कृषि-उत्पादन में पर्याप्त एवं निरन्तर वृद्धि**—जनसाधारण के उपभोग-बजट में कृषि-पदार्थों अथवा उनसे प्रविधिकृत की गयी वस्तुओं पर 80% तक अंश रहता है। यही कारण है कि कृषि-पदार्थों के मूल्य समस्त मूल्य-स्तर को प्रभावित करते हैं। ऐसी परिस्थिति में कृषि-उत्पादन के सम्बन्ध में विशेष योजनाओं का निर्माण किया जाना चाहिए और कृषि-क्षेत्र को विभिन्न कृषि-आदाय (Inputs) एवं उपरिव्यय-सुविधाएं (सिंचाई, शक्ति, यातायात, साख) पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध करायी जानी चाहिए। सूखा एवं बाढ़ से प्रभावित होने वाले सामान्य क्षेत्रों में जल के वैज्ञानिक संचय एवं उपयोग की विधियों से ग्रामीण नागरिकों को अवगत कराना चाहिए। रासायनिक उर्वरक की कम पूर्ति से निपटने के लिए परम्परागत खाद के व्यापक एवं गहन उपयोग को महत्व दिया जाना चाहिए।

(2) **वितरण-व्यवस्था में सुधार**—आवश्यक उपभोक्ता-वस्तुओं एवं कृषि तथा औद्योगिक आदायों की वितरण-व्यवस्था को सुधारना अत्यन्त आवश्यक है। दोहरी मूल्य-नीति को सफल बनाने के लिए कुशल एवं ईमानदार आर्थिक प्रशासन आवश्यक है। उचित मूल्य की दुकानों से उपभोक्ता-वस्तुओं की उपलब्धि में नियमितता होनी चाहिए और लोगों को आवंटित वस्तुएँ मिलते रहने का विश्वास रहना चाहिए। उपभोक्ता-वस्तुएँ निर्धारित वजन, भाव आदि के विशेष पैकिंग में उपलब्ध करायी जानी चाहिए जिससे मध्यस्थ-एजेन्सियों एवं अधिकारियों द्वारा वस्तुओं में हेरफेर तथा मिलावट न की जा सके। इस प्रकार नियन्त्रित मूल्य की वस्तुओं का प्रवाह खुले बाजार में भी नहीं हो सकेगा।

(3) **आर्थिक अनुशासन**—तस्कर व्यापार, काला धन, रिश्वत एव कर की चोरी जैसे आर्थिक अपराधो के लिए अत्यन्त कठोर दण्ड की व्यवस्था होनी चाहिए। आर्थिक अपराधो के माध्यम से अर्जित धन की व्यापक छानबीन की जानी चाहिए और अपराधियो को किसी भी प्रकार से राजनीतिक सरक्षण नही दिया जाना चाहिए।

(4) **औद्योगिक उत्पादन मे गतिशीलता**—औद्योगिक उत्पादन मे पर्याप्त वृद्धि करने हेतु विभिन्न आदायो एव उपरिव्यय-सुविधाओ की उचित व्यवस्था की जानी चाहिए। औद्योगिक उत्पादन पर शक्ति की कमी, कोयले की कमी एव रेल वैगनो की पर्याप्त उपलब्धि न होना—इन तीन घटको ने अत्यन्त प्रतिकूल प्रभाव डाला है। यदि इन तीनो मदो को विनिर्मित क्षमता का पूर्णतम उपयोग किया जाय तथा इनके वितरण की कुशल व्यवस्था कर दी जाय तो औद्योगिक उत्पादन मे पर्याप्त वृद्धि करना सम्भव हो सकता है। ये तीनो मदें, जो औद्योगिक उत्पादन की मूलाधार है, सार्वजनिक क्षेत्र के अधीन है और यदि सार्वजनिक क्षेत्र के व्यवसायो का कुशल सचालन सम्भव हो सके तो हम उत्पादन मे पर्याप्त वृद्धि करके मुद्रा-स्फीति को सीमाकित कर सकते है। औद्योगिक क्षेत्र मे जो नियन्त्रण उत्पादन पर घातक प्रभाव डाल रहे है, उनको कुछ समय के लिए ढीला किया जा सकता है।

(5) **हडतालो एव तालाबन्दी पर रोक**—हडतालो एव तालाबन्दी के फलस्वरूप उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है। कम से कम दो वर्षो के लिए हडतालो और तालाबन्दी पर प्रतिबन्ध लगा देना चाहिए।

(6) **विपणि-अतिरेक मे वृद्धि**—मुद्रा स्फीति को रोकने के लिए केवल उत्पादन-वृद्धि ही पर्याप्त नही है बल्कि उत्पादन का पर्याप्त भाग बाजार मे विक्रय हेतु आना चाहिए। इस कार्य के लिए उत्पादको को उत्साहवर्द्धक मूल्य मिलने चाहिए और दूसरी ओर वस्तुओ के निरन्तर उपलब्ध होते रहने का आश्वासन होना चाहिए जिससे उपभोक्ता मध्यस्थ एव उत्पादक वस्तुओ का अधिक सग्रह रोककर न रखे। वर्तमान काल मे मूल्यो मे निरन्तर वृद्धि होते रहने के आश्वासन के कारण उत्पादक, उपभोक्ता एव मध्यस्थ सभी अपनी आवश्यकता से अधिक सग्रह करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। सग्रह करने की प्रवृत्ति को कम करने हेतु सग्रह-शक्ति को कम किया जा सकता है। साख-नियन्त्रण एव अतिरिक्त करारोपण द्वारा उत्पादक एव मध्यस्थ की सग्रह-शक्ति तथा बचत, प्रोत्साहन, करारोपण एव मनोवैज्ञानिक आश्वासन द्वारा उपभोक्ता की क्रय शक्ति कम की जा सकती है।

(7) **बचत को लाभप्रद बनाना**—मौद्रिक बचत को लाभप्रद बनाने के लिए जनसाधारण की जमा-राशि को मूल्य सूचकाक से सम्बद्ध करना चाहिए जिससे बचत करने वाले को अपनी जमा का वास्तविक मूल्य उपलब्ध होता रहे। मूल्य-सूचकाक मे जितने प्रतिशत वृद्धि हो, उतनी प्रतिशत बचत की जमा-राशि बढ जानी चाहिए। ब्याज इसके अतिरिक्त दिया जाना चाहिए। ब्राजील मे इस व्यवस्था द्वारा मुद्रा-स्फीति को नियन्त्रित करना सम्भव हो सका है। इस व्यवस्था से जनसाधारण मे बचत करने के लिए प्रोत्साहन रहता है और क्रय-शक्ति को पूर्णरूपेण वस्तुओ के सग्रह पर कम नही किया जाता है। जब बचत करना वस्तुओ के सग्रह करने की तुलना मे अधिक लाभप्रद हो जाता है तो सग्रह की प्रवृत्ति कम होने लगती है जो माँग-पक्ष को ढीला करती है।

(8) **मुद्रा-प्रसार से प्रेरित विनियोजन पर रोक**—कुछ समय के लिए मुद्रा-प्रसार के माध्यम से विकास-विनियोजन बढाने की प्रक्रिया को रोक देना चाहिए। केन्द्र एव राज्य सरकारो को अपने बजट को सन्तुलित करने के लिए आय के साधनो को बढाना चाहिए और गैर-विकास-व्यय को बढने से रोकना चाहिए। मौद्रिक नीति के माध्यम से निजी एव सार्वजनिक दोनो ही क्षेत्रो की साख को नियन्त्रित करना आवश्यक है।

(9) **मूल्य-लाभ-मजदूरी-रोक-नीति**—मुद्रा-स्फीति को सीमाकित करने के लिए मूल्य-लाभ-मजदूरी-रोक-नीति का सचालन किया जा सकता है। लगभग सभी यूरोपीय राष्ट्रो मे गत दो वर्षो मे इस प्रकार की नीति का उपयोग किया गया है। लाभ एव मजदूरी की वृद्धि पर रोक लगाना

तभी सम्भव हो सकता है जबकि मूल्यों की वृद्धि को रोका जा सके। भारतीय अर्थ-व्यवस्था में मूल्य-वृद्धि पर वैधानिक रोक सफलता से संचालित करना सम्भव नहीं है, क्योंकि अर्थ-व्यवस्था का असंगठित क्षेत्र एवं काला बाजार प्रत्येक नियन्त्रण की अवहेलना करने में समर्थ रहता है। ऐसी परिस्थिति में सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था को संगठित करना चाहिए जिसके लिए सहकारी संस्थाओं का विस्तार किया जा सकता है। काले धन को निकालने के लिए दीर्घकालीन बॉण्ड एवं बचत-प्रमाण-पत्र जारी किये जा सकते हैं। अर्थ-व्यवस्था के संगठित हो जाने पर काले धन का लाभप्रद उपयोग कठिन हो जायेगा और काले धन को निकालना सम्भव हो सकेगा।

मुद्रा-स्फीति को रोकने के विभिन्न उपाय समन्वित रूप से संचालित करना आवश्यक है। सरकारी प्रशासन की कुशलता एवं ईमानदारी के बिना सम्बन्धित कार्यवाहियों को वांछित सफलता मिलना सम्भव नहीं होगा।

39

आय-मजदूरी नीति एवं विषमताएँ

[INCOME-WAGE POLICY AND DISPARITIES]

आर्थिक विकास की प्रक्रिया से आय-वितरण का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। आधुनिक आर्थिक विचारधाराएँ इस बात को मानने के लिए विवश होने लगी हैं कि जो प्रक्रिया आर्थिक विकास को गति प्रदान करती है वह आर्थिक केन्द्रीकरण को भी बढ़ावा देती है। विकासोन्मुख राष्ट्रों की विकास-प्रक्रिया से यह समस्या गम्भीर रूप ग्रहण कर गयी है कि *विकास के साथ-साथ विषमताओं* का भी विस्तार हुआ है। विकास समर-नीतियाँ निर्धन वर्ग के जीवन स्तर में सुधार करने में समर्थ नहीं रही हैं और विकास के गतिमान होने से *निर्धन एवं धनी का अन्तर ही नहीं बढ़ता है अपितु* निर्धन-वर्ग की आर्थिक स्थिति एवं परिमाण में प्रतिकूल परिवर्तन होते हैं। प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि को भी यदि विकास का माप मान लिया जाय तो भी निर्धन वर्ग का वास्तविक स्वरूप यह प्रस्तुत नहीं कर सकती है क्योंकि प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि-दर कुल राष्ट्रीय आय की वृद्धि पर निर्भर रहती है और राष्ट्रीय आय की प्रत्येक वृद्धि चाहे वह धनी अथवा निर्धन किसी भी वर्ग को क्यों न प्राप्त हुई हो, प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि दर्शाती है। वास्तव में विकासशील राष्ट्रों में विकास-प्रक्रिया में वितरण समर-नीति (Distributional Strategy) का समावेश करना अत्यन्त आवश्यक है जिससे निर्धनतम लोगों की सापेक्ष एवं निरपेक्ष दोनों ही आयों में वृद्धि की जा सके। विकास की दर और आय की विषमता का कोई प्रत्यक्ष एवं स्पष्ट सम्बन्ध नहीं स्थापित किया जा सकता है। *तीव्र गति से विकास करने वाले राष्ट्रों में कुछ ऐसे हैं जिनमें आर्थिक विषमताएँ अधिक गहन हैं और* अन्य कुछ ऐसे भी हैं जिनमें आय की विषमता अधिक गहन नहीं है। यही परिस्थिति धीमी गति से प्रगति करने वाले राष्ट्रों के समूह में भी विद्यमान है। जनवादी चीन मैक्सिको आदि ऐसे विकासशील राष्ट्र हैं जिनमें विकास-प्रक्रिया में निर्धन-वर्ग के जीवन स्तर में सुधार हुआ है। दूसरी ओर, बँगला देश, ब्राजील, भारत, इण्डोनेशिया और पाकिस्तान आदि ऐसे राष्ट्र हैं जिनमें विकास-प्रक्रिया का लाभ निर्धन वर्ग को उपलब्ध नहीं हो सका है।

विकास एवं आय का पुनर्वितरण

विकास की प्रक्रिया में ऐसे राष्ट्रों में जो विकास का प्रारम्भ सम्पत्ति और आय के विषम वितरण से प्रारम्भ करते हैं, विषमता की प्रवृत्ति बनी रहती है। इसका मुख्य कारण यह माना *जा सकता है कि विकास-प्रक्रिया प्रारम्भ होने पर उन लोगों को, जिनके पास भौतिक अथवा* मानवीय पूँजी होती है, विकास का अधिक लाभ पाने के अवसर मिलते हैं। विभिन्न राष्ट्रों के आर्थिक विकास के इतिहास के अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि अर्थ-व्यवस्था की संरचना आय-वितरण की शक्तिशाली निर्धारक होती है और विकास प्रारम्भ होने के बाद आय का पुनर्वितरण करने हेतु करारोपण एवं सार्वजनिक रोजगार आदि जैसे सीमान्त उपकरण उपयुक्त एवं प्रभावशाली नहीं होते। इस विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विकासोन्मुख राष्ट्रों में 'पहले विकास और बाद में पुनर्वितरण" का सिद्धान्त उपयुक्त नहीं है। विकास का लाभ निर्धनतम-वर्ग को पहुँचाने के लिए यह आवश्यक है कि सम्पत्तियों के पुनर्वितरण के कार्य को विकास-प्रक्रिया में सर्वप्रथम प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

विकासोन्मुख राष्ट्रो मे से समाजवादी राष्ट्रो म आय के वितरण मे सर्वाधिक समानता विद्यमान है जिसका प्रमुख कारण पूँजी के स्वामित्व से उदय होने वाली आय का व्यक्तियो को उपार्जित न होना है। इन देशो मे आय की विषमता अर्थ व्यवस्था के विभिन्न खण्डो मे मजदूरी-दर मे भिन्नता और विभिन्न वर्गों की कुशलता मे अन्तर रहने के कारण विद्यमान है। समाजवादी राष्ट्रो म जनसख्या के निधनतम 40% भाग को इन देशो की कुल आय का लगभग 25% भाग उपलब्ध होता है। अन्य विकासोन्मुख राष्ट्रो मे निम्नतम आय वाली 40% जनसख्या का कुल आय मे अश 9 से 18% तक है। गैर समाजवादी विकासोन्मुख राष्ट्रो मे से लगभग आधे ऐसे देश है जिनमे निम्नतम आय वाली 40% जनसख्या को कुल आय का केवल 9% भाग ही उपलब्ध होता है। आय का विषम वितरण विकसित राष्ट्रो मे भी विद्यमान है। विकसित राष्ट्रो की निम्नतम आय वाली 10% जनसख्या का कुल आय का औसतन 16% अश प्राप्त होता है परन्तु इन राष्ट्रो की कुल आय विकासोन्मुख राष्ट्रो की तुलना मे अत्यधिक होने के कारण इन राष्ट्रो के निम्नतम आय वाले वर्ग का जीवन स्तर सन्तोषजनक है। दूसरी ओर विकासोन्मुख राष्ट्रो मे निम्नतम आय वाली जनसख्या की आय एव उपभोग व्यय इतना कम है कि ये लोग केवल जीवित ही रह पा रहे हैं। यही कारण है कि विकासोन्मुख राष्ट्रो मे आय के विषम वितरण को सुधारने के लिए आन्तरिक एव अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे नीतियाँ निर्धारित करना आवश्यक समझा जाने लगा है।

विकासोन्मुख राष्ट्रो मे आय का विषम वितरण

विभिन्न विकासोन्मुख राष्ट्रो मे आय के विषम वितरण का अध्ययन निम्नांकित तालिका से किया जा सकता है

तालिका 54—विभिन्न राष्ट्रो मे आय का विषम वितरण

देश	प्रति व्यक्ति सकल राष्ट्रीय उत्पादन (अमेरिकी डालर)	न्यूनतम आय वाली 40% जनसख्या का कुल आय मे प्रतिशत अश	मध्य आय वाली 40% जनसख्या का कुल आय मे प्रतिशत अश	उच्च आय वाली 40% जनसख्या का कुल आय मे प्रतिशत अश
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)
कीनिया (1969)	136	10 0	22 0	68 0
इराक (1968)	200	6 8	25 2	68 0
फिलीपाइन्स (1971)	*239*	*11 6*	*34 6*	*53 8*
सेनेगल (1960)	245	10 0	26 0	64 0
ट्यूनीशिया (1970)	*255*	*11 4*	*33 6*	*55 0*
ईक्वेडर (1970)	277	6 5	20 0	73 5
टर्की (1968)	*282*	*9 3*	*29 9*	*60 8*
मलेशिया (1970)	330	11 6	32 4	56 0
कोलम्बिया (1970)	358	9 0	30 0	61 0
ब्राजील (1970)	390	10 0	28 4	61 5
पेरू (1971)	480	6 5	33 5	60 0
मैक्सिको (1969)	645	10 5	25 5	64 0
दक्षिणी अफ्रीका	669	6 2	35 8	58 0
बर्मा (1958)	82	16 5	38 7	44 8
तजानिया (1967)	89	13 0	26 0	61 0
भारत (1964)	99	16 0	32 0	52 0

(1)	(2)	(3)	(4)	(5)
ईरान (1968)	332	12 5	33 0	54 5
चिली (1968)	744	13 0	30 2	56 8
अर्जेण्टाइना (1970)	1,079	16 5	36 1	47 4
नीदरलैण्ड (1967)	1,990	13 6	37 9	48 5
नार्वे (1968)	2,010	16 6	42 9	40 5
जर्मनी गणतन्त्र (1964)	2,144	15 4	31 7	52 9
डेनमार्क (1968)	2 563	13 6	38 8	47 6
न्यूजीलैण्ड (1969)	2 859	15 5	42 5	42 0
स्वीडन (1963)	2 949	14 0	42 0	44 0
श्रीलका (1969)	95	17 0	37 0	46 0
पाकिस्तान (1969)	100	17 5	37 5	45 0
युगाण्डा (1970)	126	17 1	35 8	47 1
थाईलैण्ड (1970)	180	17 0	37 5	45 5
कोरिया (1970)	235	18 0	37 0	45 0
यूगोस्लाविया (1968)	529	18 5	40 0	41 5
बल्गारिया (1962)	530	26 8	40 0	33 2
स्पेन (1965)	750	17 6	36 7	45 7
पोलैण्ड (1964)	850	23 4	40 6	36 0
जापान (1963)	950	20 7	39 3	40 0
यूनाइटेड किंगडम (1968)	2,015	18 8	42 2	39 0
हगरी (1969)	1,140	24 0	42 5	33 5
चैकोस्लोवेकिया (1964)	1,150	27 6	41 4	31 0
आस्ट्रेलिया (1968)	2,509	20 0	41 2	38 8
कनाडा (1965)	2 920	20 0	39 8	40 2
सयुक्त राज्य अमेरिका (1970)	4 850	19 7	41 5	38 8

उक्त तालिका (54) के अध्ययन से ज्ञात होता है कि आय की विषमता विकसित एव विकासोन्मुख दोनो ही प्रकार के राष्ट्रो मे विद्यमान है। प्रति व्यक्ति कम आय वाले राष्ट्रो मे भी कुछ ऐसे है जिनमे आय की विषमता कम है जबकि कुछ विकसित राष्ट्रो म आय की उच्च विषमता विद्यमान है। परन्तु आय की उच्च विषमता प्रति व्यक्ति कम आय वाले राष्ट्रो मे अधिक विद्यमान है। प्रति व्यक्ति आय मे निरन्तर वृद्धि होते हुए भी आय की विषमता मे कमी नही हो पाती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि इन देशो मे जो विकास-प्रक्रिया अपनायी जाती है उससे प्रति व्यक्ति आय मे वृद्धि तो हो जाती है परन्तु विकास का लाभ निम्नतम आय वाले वर्ग को उपलब्ध नही हो पाता है।

आय की विषमता के कारण—विकासोन्मुख राष्ट्रो मे आर्थिक विकास का लाभ उच्च आय वाली 20 से 40% जनसख्या को उपलब्ध होता है और कुछ राष्ट्रो मे तो निर्धनतम 20% जनसख्या आर्थिक विकास की प्रक्रिया की सहभागी भी नही होती है। यही कारण है कि आर्थिक विकास के मूल उद्देश्य—निर्धनता के उन्मूलन—की उपलब्धि नही हो पाती है। विकासोन्मुख राष्ट्रो में आय के विषम वितरण के निम्नलिखित मुख्य कारण है

(1) **अर्थ-व्यवस्था की दोहरी सरचना**—विकासोन्मुख राष्ट्रो मे अर्थ व्यवस्था दो क्षेत्रो म बँट जाती है। एक क्षेत्र तकनीकी एव सस्थागत दृष्टिकोण से पिछडा हुआ एव परम्परावादी रहता है। यह क्षेत्र प्राय कृषि व्यवसाय से सम्बद्ध रहता है और ग्रामीण क्षेत्र की आय पर प्रतिकूल

प्रभाव डालता है। अर्थ-व्यवस्था का दूसरा क्षेत्र सुसगठित एव विकसित तकनीकी से लैस रहता है। इस क्षेत्र मे औद्योगिक एव अव-सरचना सम्बन्धी सस्थान सम्मिलित रहते हैं और यह नगरीय क्षेत्र की आय पर अनुकूल प्रभाव डालता है। इन दोनो क्षेत्रो मे तकनीकी और सगठन सम्बन्धी अन्तर होने के कारण इनमे उदय होने वाली आय म भी अत्यधिक अन्तर पाया जाता है। विकास-प्रक्रिया म आधुनिक तकनीकी क्षेत्र एक अनिवार्यता समझा जाता है जिसके परिणामस्वरूप आय के विषम वितरण का प्रमुख कारण आर्थिक विकास प्रतीत होता है। दूसरी ओर, जिन राष्ट्रो मे आधुनिक तकनीकी क्षेत्र का धीमी गति से समस्त अर्थ-व्यवस्था पर छितराव किया जाता है, उनमे विकास की गति कम रहती है और आय का विषम वितरण भी कम रहता है।

(2) **बेरोजगार एव आशिक बेरोजगार**—विकासोन्मुख राष्ट्रो मे नगरीय क्षेत्रो मे बेरोजगार और ग्रामीण क्षेत्रो म आशिक एव अदृश्य बेरोजगार विद्यमान रहता है। विकास-प्रक्रिया क प्रारम्भिक चरणो म उपलब्ध पूंजी का अधिकतम विनियोजन विकसित तकनीकी क्षेत्र म किया जाता है जिसक परिणामस्वरूप विनियोजन के अनुपात मे रोजगार के अवसरो मे पर्याप्त वृद्धि नही होती है। ग्रामीण क्षेत्रो मे योग्यता एव कुशलता बढाने के लिए शिक्षा एव प्रशिक्षण की सुविधाएँ उपलब्ध न होने के कारण श्रम शक्ति कृषि क्षेत्र मे ही आशिक रोजगार मे लगी रहती है जिससे ग्रामीण क्षेत्रो मे श्रम शक्ति का अधिक भार रहता है और आय कम उपार्जित होती है। नगरीय क्षेत्रो मे बेरोजगारी प्राय प्रतिस्पर्धी प्रकार की होती है और ग्रामीण क्षेत्र से बेरोजगार श्रम का प्रवाह नगरीय क्षेत्र मे होता रहता है। इस प्रकार बेरोजगार एव आशिक बेरोजगार श्रम शक्ति पर्याप्त आय उपार्जित नही कर पाती है जबकि दूसरी ओर आधुनिक तकनीकी क्षेत्र मे साहसी पूंजीपति एव कुछ सीमा तक रोजगार-प्राप्त श्रम की आय मे निरन्तर वृद्धि होती रहती है।

(3) **कम आय वाली जनसख्या मे ऊँची जन्म दर**—कम आय वाली जनसख्या के पास शिक्षा प्रशिक्षण उत्पादक सम्पत्तियाँ आदि की अत्यन्त कमी होती है। वह अपने पिछडेपन और सामाजिक परम्पराओ मे बँधे रहने के कारण अपने आपको ऊँची जन्म दर से बचाने के लिए न तो समर्थ ही होता है और न इच्छुक ही जिसके परिणामस्वरूप कम आय वाले वर्गो मे अधिक आय वाले वर्गो की तुलना मे जनसख्या वृद्धि की दर ऊँची रहती है। निर्धन वर्ग अपने परिवार के सदस्यो को न तो उत्पादक सम्पत्तियाँ ही प्रदान कर पाता है और न ही उनको आय-उपार्जन की योग्यता उपलब्ध करा पाता है। इस प्रकार कम आय वाले वर्ग पर जनसख्या का अधिक भार बढता है और आय की विषमता मे वृद्धि होती है।

(4) **शिक्षा एव प्रशिक्षण की सुविधाओ का असन्तुलित वितरण**—कम आय वाली जनसख्या को शिक्षा प्रशिक्षण, स्वास्थ्य आदि की सार्वजनिक सुविधाएँ पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध नही होती हैं। इन सुविधाओ की उपलब्धि ग्रामीण क्षेत्रो मे अत्यन्त कम होती है जिससे ग्रामीण निर्धन नागरिक अपने बच्चो को सामान्य शिक्षा प्रदान करने मे भी असमर्थ होता है। दूसरी ओर, परिवार की आय कम होने के कारण परिवार के समस्त सदस्यो (जिनमें 10 से 12 वर्ष तक की आयु के बच्चे भी सम्मिलित रहते हैं) को काय करना होता है और बच्चो को शिक्षा ग्रहण करने का समय नही दिया जाता है। निर्धन वग अपने बच्चो को अधिक आयोपार्जन करने वाली योग्यताएँ भी उपलब्ध नहीं करा पाता है क्योकि इन योग्यताओ के लिए शिक्षा एव प्रशिक्षण माता पिता की आय पर निर्भर रहता है। इस प्रकार शिक्षा एव प्रशिक्षण की असन्तुलित व्यवस्था भी आय के विषम वितरण मे योगदान देती है।

(5) **राज्य की सामान्य नीतियो की सीमित पहुँच**—विकासोन्मुख राष्ट्रो मे प्रशासन तन्त्र अधिक सुदृढ एव कुशल नही होता है जिससे राज्य की राजकोषीय नीतियो का क्रियान्वयन कुशलता म नहीं हो पाता है। कर-व्यवस्था एव सरचना आय के विषम वितरण को कम करने का प्रमुख साधन होती है। परन्तु विकासोन्मुख राष्ट्रो म कर की चोरी सर्वाधिक होती है। कर-सरचना मे अप्रत्यक्ष करो को अधिक महत्व दिया जाता है जिनका अन्तत हस्तान्तरण निर्धन एव मध्यम वग

के बहुत बड़े समुदाय पर हो जाता है। प्रत्येक देश मे कर-व्यवस्था इतनी सुदृढ एव कुशल नही होती है कि कर की चोरी को रोक सके। निर्धन वर्ग की सहायतार्थ जो साख एव अनुदान की व्यवस्था राज्य द्वारा की जाती है, उसका भी लाभ ग्रामीण एव नगरीय समाज के सम्पन्न वर्ग को ही होता है। उत्पादक सम्पत्तियों पर स्वामित्व सम्पन्न वर्गों के पास होने के कारण विकास के अन्तर्गत होने वाली उत्पादन-वृद्धि का लाभ निर्धन-वर्ग को नही होता है। उत्पादन तकनीकी मे सुधार हेतु जो सुविधाएँ राजकोषीय एव मौद्रिक नीति के अन्तर्गत प्रदान की जाती है, वे भी सम्पत्तिहीन वर्ग तक नही पहुँच पाती हैं।

(6) **उत्पादक सम्पत्तियो का विषम वितरण**—विकासोन्मुख राष्ट्रो मे उत्तराधिकार अधिनियम, सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व एव विपणि-यान्त्रिकता आय के विषम वितरण को प्रोत्साहित करते हैं। उत्पादक सम्पत्तियो का जब हस्तान्तरण योग्यता के स्थान पर न होकर जन्म एव परिवार के आधार पर होता है, तो उत्पादक सम्पत्तियाँ निर्धनतम-वर्ग के लिए उपलब्ध नही हो पाती है। प्रजातान्त्रिक व्यवस्था मे व्यक्ति के सम्पत्ति पर स्वामित्व के अधिकार को वैधानिक मान्यता रहती है जो आय के वितरण को विषम बनाये रखता है। इसी प्रकार, विपणि-व्यवस्था के अन्तर्गत प्रतिस्पर्द्धा मे अधिक पूंजी एव उत्पादक सम्पत्तियो के स्वामियो को एकाधिकार का लाभ मिलता है जिससे आय की विषमता निरन्तर बनी रहती है।

(7) **विकास-विनियोजन की प्रक्रिया**—विकास के प्रारम्भिक चरणो मे आय की विषमता बढती है परन्तु जैसे-जैसे प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय उत्पादन बढता जाता है, आय की विषमता कम होती जाती है और विकास के और आगे के चरणों मे आय का विषम वितरण स्थिर हो जाता है। जिन देशो मे सकल राष्ट्रीय उत्पादन-वृद्धि की दर तीव्र होती है, उनमे आय की विषमता कम हो जाती है। इस प्रकार विकास और समानता मे पारस्परिक शत्रुता नही होती है। परन्तु जब तक विकास की दर सामान्य रहती है, आय की विषमता बढती रहती है, और जैसे-जैसे राष्ट्रीय सकल उत्पादन की वृद्धि तीव्र एव सतत होती जाती है, निर्धनतम 40% जनसख्या का कुल आय मे अश बढ जाता है। विकास-विनियोजन की प्रक्रिया भी आय की विषमता को प्रभावित करती है। जिन देशो मे विकास-विनियोजन मे वृद्धि करने हेतु हीनार्थ-प्रबन्धन एव विदेशी सहायता का अधिक व्यापक उपयोग किया जाता है उनमे आय की विषमता मे वृद्धि होती है क्योकि मूल्य-स्तर तेजी से बढता जाता है और निर्धन-वर्ग की वास्तविक आय कम हो जाती है।

आय का वितरण ग्रामीण क्षेत्रो की तुलना मे नगरीय क्षेत्रो मे अधिक विषम होता है। परन्तु ग्रामीण क्षेत्र मे विषमता की गहनता अधिक रहती है। कम आय वाली 80% ग्रामीण जनसख्या को कुल आय का 50% अश उपलब्ध होता है, जबकि शेष 20% ग्रामीण जनसख्या कुल आय का आधा भाग प्राप्त करती है। निर्धनतम समुदाय का केन्द्रीकरण ग्रामीण क्षेत्रो मे है और यह समुदाय प्राय कृषि क्षेत्र से जुडा हुआ है। इस समुदाय मे उच्च शिशु-मृत्यु-दर तथा सम्भावित जीवन-काल सामान्य से लगभग एक-तिहाई कम तथा वयस्क निरक्षरता 62% पायी जाती है। इस समुदाय की आय मे वृद्धि करने हेतु खण्डीय विकास-कार्यक्रम सफल नही होते हैं क्योकि कृषि-क्षेत्र मे सम्पन्न एव विपन्न दोनों प्रकार की जनसख्या का मिश्रण रहता है और जो भी खण्डीय (Sectoral) नीतियाँ निर्धारित एव क्रियान्वित की जाती हैं वे सम्पन्न वर्ग की आय-वृद्धि का साधन बन जाती हैं। ऐसी परिस्थिति मे विकास-प्रक्रिया मे आय वितरण की ऐसी नीति का समावेश करने की आवश्यकता होती है जिससे निर्धन समुदाय की पूँजी के साधनो, अव-सरचना की सुविधाओ, उत्पादक सम्पत्तियों के सग्रहण, शिक्षा एव प्रशिक्षण की सुविधाओ तक पहुँच हो सके, जिससे यह वर्ग अपनी उत्पादन-योग्यता मे वृद्धि करके अपनी आय बढा सके।

विकासोन्मुख राष्ट्रो मे प्रति व्यक्ति आय जितनी बढती जाती है, निर्धनता की रेखा से नीचे की जनसख्या का कुल जनसख्या से प्रतिशत कम होता जाता है। इसका तात्पर्य यह होता है कि

यदि विकास की गति तेज की जा सके तो निर्धनतम जनसंख्या के जीवन-स्तर में सुधार तो होगा परन्तु निर्धन एवं सम्पन्न वर्गों की आय के अन्तर में कमी होना आवश्यक नहीं है।

तालिका 55—गरीबी की रेखा से नीचे की जनसंख्या का अनुमान (1969)

देश	1969 में प्रति व्यक्ति सकल राष्ट्रीय उत्पादन (डालर)	50 अमेरिकी डॉलर से कम आय वाली जनसंख्या	
		लाख में	कुल जनसंख्या से प्रतिशत
इक्वेडर	264	22	37 0
कोलम्बिया	347	32	15 4
ब्राजील	347	127	14 0
जमैका	640	2	10 0
पेरू	480	25	18 9
मैक्सिको	645	38	7 8
युरुग्वे	649	1	2 5
बर्मा	72	145	53 6
श्रीलंका	95	40	33 0
भारत	100	2 390	44 5
पाकिस्तान	100	363	32 5
थाईलैण्ड	173	93	26 8
कोरिया	224	7	5 5
फिलीपाइन्स	233	48	13 0
टर्की	290	41	12 0
इराक	316	23	24 0
मलेशिया	323	12	11 0
ईरान	350	23	8·5
तंजानिया	92	74	57 9
नाइजीरिया	94	13	33·0
युगान्डा	128	18	21 3
सीअरा लियोन	165	11	43·5
ट्यूनीशिया	241	11	22 5
सेनेगल	229	9	22 3
रोडेशिया	274	9	17 4
जाम्बिया	340	3	6 3
दक्षिणी अफ्रीका	729	24	12 0

गरीबी की रेखा से नीचे की जनसंख्या का केन्द्रीकरण एशिया के विकासोन्मुख राष्ट्रों में सर्वाधिक है। एशिया में लगभग 37% जनसंख्या विकासोन्मुख राष्ट्रों में गरीबी की रेखा से नीचे का जीवन-स्तर व्यतीत करती है, जबकि लेटिन अमेरिका एवं अफ्रीका में यह प्रतिशत क्रमशः 10 8 एवं 28 4 है।

आय-मजदूरी नीति

लगभग सभी राष्ट्रों की आय के विषम वितरण के प्रश्न को लेकर गम्भीर रूप से विचार-विमर्श किया जाने लगा है और प्रत्येक देश अपनी राजनीतिक एवं संस्थागत विशेषताओं के आधार

पर आय-नीति के तत्वों एवं उद्देश्यों को निर्धारित करता है। प्राय आय-नीति का उपयोग बढ़ती हुई मौद्रिक आय को सीमांकित करने के लिए किया जाता है। इसके अन्तर्गत विपणि-शक्ति के माध्यम से व्यापार, श्रम एवं व्यवसाय समूहों द्वारा किये जाने वाले शोषण पर प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं। इस प्रकार आय-नीति मौद्रिक एवं राजकोषीय नीतियों का ही एक सहायक अंग होती है जिसके द्वारा मूल्यों एवं लागतों की वृद्धि की गति को कम रखने का प्रयत्न किया जाता है। इस प्रकार की आय-नीति की आवश्यकता ऐसी परिस्थिति में पड़ती है जबकि विकास-विनियोजन के प्रभाव से कुल माँग एवं रोजगार में वृद्धि तो होती है परन्तु यह वृद्धि इतनी अधिक नहीं होती है कि न्यूनता का वातावरण उत्पन्न हो जिसके परिणामस्वरूप मूल्य एवं मजदूरी में वृद्धि हो अथवा भुगतान-शेष की समस्या का उदय हो। परन्तु विकासोन्मुख राष्ट्रों में आय-नीति का उद्देश्य यहीं तक सीमित नहीं रहता है क्योंकि इन राष्ट्रों में आर्थिक विकास का अन्तिम उद्देश्य विषमताओं एवं निर्धनता का उन्मूलन करना होता है। इन राष्ट्रों में आय-नीति के अन्तर्गत मुद्रा-स्फीति विरोधी कार्यक्रमों के साथ-साथ ऐसे कार्यक्रम भी सम्मिलित किये जाते हैं जिनसे अर्थ-व्यवस्था में ऐसे सर-चनात्मक परिवर्तन किये जा सकें कि निर्धनतम 40% जनसंख्या विकास-कार्यक्रमों एवं विकास से उदय होने वाले लाभों में सहभागी बन सके और आय का प्रवाह निर्धनतम-वर्ग के अनुकूल हो सके। इस प्रकार आय-नीति के अन्तर्गत अल्पकाल के लिए मुद्रा-स्फीति-विरोधी कार्यक्रम और दीर्घकाल के लिए संरचनात्मक कार्यक्रम सम्मिलित किये जाते हैं। आय-नीति के प्रमुख अंग निम्नवत् होते हैं

(अ) अल्पकालीन कार्यक्रम

(1) **मूल्य एवं मजदूरी की वृद्धि पर रोक**—मजदूरी एवं मूल्यों की वृद्धि को रोकने हेतु इनकी वृद्धि पर रोक (Freeze) लगा दी जाती है अथवा इनकी वृद्धि को नियन्त्रित कर दिया जाता है। इस कार्यवाही का उद्देश्य अस्थायी रूप से मूल्य एवं मजदूरी की वृद्धि को इस सम्भावना से रोका जाता है कि इस प्रकार की वृद्धि को रोकने हेतु भविष्य में परिस्थितियाँ उदय होने की सम्भावना होती है। इस अस्थायी रोक का उद्देश्य मुद्रा-स्फीति के दूषित चक्र को गतिमान होने से रोकना भी होता है।

(2) **जन-विचारधारा को प्रभावित करना**—जन-विचारधारा को मजदूरी एवं वेतन-वृद्धि की उपयुक्त दर के सम्बन्ध में सूचित करने के लिए विशेषज्ञों के प्रतिवेदनों, सलाहकार समितियों के निष्कर्षों आदि का प्रकाशन किया जाता है। इस कार्यवाही से मुद्रा-स्फीति को रोकने के लिए समाज में उपयुक्त वातावरण उदय किया जाता है और गैर-मजदूरी प्राप्त समुदाय एवं मजदूरी पाने वाले समुदाय को कुल आय में से मिलने वाले अंश की विवेचना भी की जाती है।

(3) **मजदूरी एवं वेतन हेतु वैधानिक दिशा निर्देश**—मजदूरी एवं वेतन-वृद्धि के लिए वैधानिक अथवा ऐच्छिक दिशा-निर्देश किया जाता है और इन निर्देशों के साथ मूल्य-नियन्त्रण एवं लाभ-नियन्त्रण को भी लागू किया जाता है। वैधानिक दिशा-निर्देश के अन्तर्गत उपभोक्ता-मूल्य-सूचकांकों की वृद्धि को आधार बनाया जाता है और इसमें निर्धारित बिन्दुओं की वृद्धि होने पर ही वेतन एवं मजदूरी में वृद्धि की जाती है।

(4) **लागत-नियन्त्रण**—लागत-संरचना में सम्मिलित होने वाले प्रमुख तत्वों के मूल्यों को नियन्त्रित किया जाता है। यह कार्यवाही विशिष्ट उत्पादन के क्षेत्रों के लिए निर्धारित की जाती है, जैसे—निर्माण, आधारभूत उद्योग, जनोपयोगी सेवाएँ, मकान किराया आदि की लागत को नियन्त्रित कर दिया जाता है। मूल्य-वृद्धि के लिए राज्य में पूर्व-अनुमति लेना अनिवार्य कर दिया जाता है और राज्य द्वारा यह अनुमति लागत-संरचना का गहन अध्ययन करके प्रदान की जाती है।

(5) **मजदूरी-वेतन निर्धारण तन्त्र**—मजदूरी एवं वेतन के निर्धारण को समन्वित व्यवस्था करने के लिए राज्य द्वारा उपयुक्त तन्त्र की स्थापना की जाती है। यह तन्त्र अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न

क्षेत्रो (जिनमे कृषि-क्षेत्र भी सम्मिलित होता है) के लिए मजदूरी एव वेतन निर्धारित करता है। समन्वित मजदूरी एव वेतन के निर्धारण हेतु अर्थ-व्यवस्था की सामान्य परिस्थितियो के साथ-साथ मूल्य-स्तर, लाभ की सीमा एव लागत-सरचना का व्यापक अध्ययन किया जाता है।

(6) **वेतन-मजदूरी विवादों का निवारण**—वेतन एव मजदूरी सम्बन्धी विवादो के निवारण के लिए मध्यस्थता एव पच-फैसले के लिए आवश्यक तन्त्र की व्यवस्था की जाती है। वेतन एव मजदूरी की सरचना को सरल बनाया जाता है, श्रम-सगठन व्यवस्था को पुनर्गठित किया जाता है, श्रम-बाजारो का विकास करके श्रमिको की गतिशीलता को बढाया जाता है जिससे किन्ही विशेष क्षेत्रो मे मजदूरी मे अन्य क्षेत्रो की तुलना मे अधिक वृद्धि न हो सके।

(7) **उपभोग, मूल्य, लाभाश आदि पर नियन्त्रण**—उपभोग, मूल्य, लाभाश एव किराया-नियन्त्रण के माध्यम से भी आय के विषम वितरण को कम करने का प्रयत्न किया जाता है। उपभोग एव मूल्य-नियन्त्रण के माध्यम से निर्धन-वर्ग को नियन्त्रित मूल्यो पर आवश्यक उपभोक्ता-वस्तुएँ प्रदान की जाती हैं जिनमे उनकी वास्तविक आय मे वृद्धि होती है। लाभाश-वितरण पर नियन्त्रण करके लाभ से होने वाली आय को सीमित किया जाता है और रोके गये लाभ के विनियोजन को प्रोत्साहित किया जाता है। किराया-नियन्त्रण भी निम्न एव मध्यम आय वाले वर्ग को एक प्रकार का अनुदान होता है।

(8) **समुचित मजदूरी की व्यवस्था**—आय-नीति की सफलता समन्वित मजदूरी-नीति पर निर्भर रहती है। समन्वित मजदूरी से आशय ऐसी व्यवस्था से है जिसमे अर्थ-व्यवस्था मे किसी भी क्षेत्र मे सामान्य से अधिक मजदूरी-वृद्धि न होने दी जाय क्योकि किसी भी क्षेत्र मे मजदूरी-दर मे अधिक वृद्धि होने से अन्य क्षेत्रो मे श्रम मे असन्तोष का उदय होता है। दूसरी ओर, विभिन्न क्षेत्रो की आय को भी समन्वित करने की आवश्यकता होती है। यदि किसी क्षेत्र मे लाभ अथवा आय मे तीव्र गति से वृद्धि होती है तो मजदूरी एव वेतन मे वृद्धि करने की माँग जोर पकडती है। ऐसी परिस्थिति मे वेतनभोगी समुदाय एव स्वत रोजगार चलाने वाले समुदाय की आय मे समन्वय स्थापित करना आवश्यक होता है। इसके साथ ही आय एव मजदूरी-स्तर को सामान्य आर्थिक नीतियो के साथ समन्वित करना भी आवश्यक होता है। सामान्य आर्थिक नीतियों मे आन्तरिक बचत एव विनियोजन की वाछित प्रतिशत दर, मूल्य-स्थायित्व का उपयुक्त परिमाण, आयात एव निर्यात की वाछित प्रगति-दर आदि को सम्मिलित किया जाता है। आय-नीति को इन सभी नीतियों के साथ समन्वित करने की आवश्यकता होती है। आय-नीति का समन्वय विकास के सामाजिक लक्ष्यो के साथ भी करना होता है। आय-नीति के अन्तर्गत ऐसी मौद्रिक एव राजकोषीय नीतियो का अनुसरण किया जाता है कि जाति, लिंग एव आय के आधार पर पिछडे हुए समुदायो एव *पिछडे हुए निर्धन क्षेत्रों के निवासियों की आय मे वृद्धि करके उनकी आर्थिक एव सामाजिक स्थिति* मे सुधार किया जा सके। इस प्रकार आय-नीति का समन्वय समस्त आर्थिक एव सामाजिक नीतियो के साथ करना आवश्यक होता है।

(9) **मूल्य एव आय को सम्बद्ध करना**—आय-नीति का मूल्य-सरचना से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध होता है कि आय को मूल्य से सन्दर्भित किये बिना यदि निर्धारित किया जाता है तो अर्थ-व्यवस्था मे असन्तुलन का उदय होना स्वाभाविक होता है। ऐसी परिस्थिति मे मूल्य-आय-नीति का निर्धारण करना आवश्यक होता है। मूल्य एव आय एक-दूसरे के कारण एव प्रभाव होते हैं और उपयुक्त नीति द्वारा दोनों के ही निर्धारण एव निर्देशन की आवश्यकता होती है। ऐसी परिस्थिति मे सभी क्षेत्रो मे मूल्य-वृद्धि के लिए राज्य से पूर्व-अनुमति लेना आवश्यक बनाया जा सकता है। मूल्य-वृद्धि की अनुमति व्यापक जाँच-पडताल के बाद ही दी जानी चाहिए। इस जाँच-पडताल मे *सम्बन्धित उद्योग की आर्थिक स्थिति, गत वर्षों मे उत्पादन, भावी लाभ की सम्भावनाएँ, उद्योग* मे मूल्य मे कमी करने की सम्भावना आदि सभी बातो को सम्मिलित किया जाता है। इस जाँच-पडताल के आधार पर राज्य यह निर्देश दे सकता है कि अमुक उद्योग को अधिक मजदूरी देनी

चाहिए अथवा मूल्यो को कम करना चाहिए। तकनीकी सुधारो के माध्यम से जब उत्पादकता मे वृद्धि प्राप्त की जाय तो मजदूरी की दर मे सामान्य से अधिक वृद्धि के स्थान पर उत्पादो के मूल्यो मे लागत मे होने वाली कमी के अनुसार कमी करने को अधिक महत्व दिया जाना चाहिए। मूल्य-आय की यह नीति ऐसे देशो मे ही सचालित की जा सकती है जहाँ अर्थ-व्यवस्था सगठित हो और प्रत्येक क्षेत्र के सम्बन्ध मे लागत-सरचना ज्ञान की जा सकती हो। विकासोन्मुख राष्ट्रो मे जब पूँजी-सघन उद्योगो की स्थापना की जाती है तो आय नीति के सचालन में विशेष कठिनाई उत्पन्न होती है, क्योंकि इन उद्योगो में लाभ का परिमाण अधिक होता है और श्रम सगठित रूप से मजदूरी वृद्धि के लिए सौदेबाजी करने की क्षमता रखता है। जब इस क्षेत्र मे मजदूरी की दरो मे वृद्धि की जाती है तो कम पूँजी सघन वाले अन्य व्यवसायो में मजदूरी एव वेतन-वृद्धि की माँग जोर पकडती हैं।

(10) **विदेशी परिस्थितियाँ**—आय एव मजदूरी नीति को निर्धारित करते समय उन शक्तिशाली कारको पर ध्यान देना आवश्यक होता है जो विदेशी परिस्थितियों से उदय होते है। *आयात-प्रतिस्पर्द्धी* (Import Competing) एव निर्यात प्रतिस्पर्द्धी (Export-Competing) क्षेत्रो म जब मूल्य एव मजदूरी मे वृद्धि (जो विदेशी घटको के कारण उदय होती है) होती है तो आय-नीति को इस वृद्धि के साथ समायोजित करना आवश्यक होता है। स्थिर विदेशी विनिमय दर वाले देशो म आयात प्रतिस्पर्द्धी एव निर्यात-प्रतिस्पर्द्धी क्षेत्रो मे विदेशी मूल्यो मे तीव्र वृद्धि होने के कारण लाभ की दर मे वृद्धि होती है जिससे इस क्षेत्र मे मजदूरी की दरो मे औसत से अधिक वृद्धि हो जाती है और यह मजदूरी की वृद्धि अन्य क्षेत्रो म भी मजदूरी वृद्धि के दबाव को बढाती है जिससे लागत मे वृद्धि होने लगती है। इस प्रकार विदेशी मूल्यो के प्रभाव से देश के अन्दर की मजदूरी एव लागत की सरचना छिन्न-भिन्न होने लगती है और आय नीति के वे समस्त अग विफल हो जाते है जो आन्तरिक व्यवस्था से सम्बन्धित रहते है। विदेशी मुद्रा स्फीति के कुप्रभावो से आय-नीति को बचाने के लिए विदेशी विनिमय-दर मे समायोजन करने की व्यवस्था करनी चाहिए।

(ब) दीर्घकालीन कार्यक्रम

(1) **उत्पादक सम्पत्तियो का पुनर्वितरण**—आय के विषम वितरण को स्थायी रूप से कम करने के लिए उत्पादक सम्पत्तियो का पुनर्वितरण करना आवश्यक होता है क्योकि उत्पादक सम्पत्तियो पर स्वामित्व आय की विषमता का एक प्रमुख कारण होता है। समाजवादी राष्ट्रो मे उत्पादक सम्पत्तियो का समाजीकरण करके इस समस्या का निवारण कर लिया जाता है। परन्तु अन्य राष्ट्रो म राजकोषीय नीति के माध्यम से सम्पत्तियो का पुनर्वितरण किया जाता है। सीमित राष्ट्रीयकरण, नगरीय सम्पत्ति का सीमाकन कृषि-भूमि का सीमाकन एव पुनर्वितरण आदि के लिए वैधानिक कार्यवाहियाँ की जाती है और निम्नतम वर्गो को उत्पादक सम्पत्तियो का वितरण किया जाता है।

(2) **ग्रामीण विकास का गहन कार्यक्रम**—लगभग समस्त विकासोन्मुख राष्ट्रो मे कृषि क्षेत्र मे प्रति व्यक्ति आय राष्ट्रीय औसत आय से बहुत कम रहती है और जनसख्या का बहुत बडा अनुपात कृषि-क्षेत्र से सलग्न रहता है। ग्रामीण क्षेत्रो मे मौद्रिक आय कम होने के साथ नगरीय क्षेत्रो की तुलना मे सार्वजनिक नि शुल्क सुविधाओ—शिक्षा, जन स्वास्थ्य चिकित्सा सुविधाएँ आदि—की भी कम उपलब्धि होती है। इस प्रकार ग्रामीण क्षेत्र मे प्रति व्यक्ति वास्तविक आय नगरीय क्षेत्रो की तुलना मे बहुत कम रहती है। आय के इस विषम वितरण को कम करने के लिए ग्रामीण विकास के व्यापक कार्यक्रम सचालित करना आवश्यक होता है। विकास विनियोजन का अधिक अश ग्रामीण क्षेत्र को आवटित किया जाना चाहिए। ग्रामीण क्षेत्र का वाछित विकास तभी सम्भव हो सकेगा जबकि कृषि भूमि का पुनर्वितरण किया जाय जिससे सीमान्त कृषको एव भूमि-हीन श्रमिको को भूमि का आवटन किया जा सके। इसके साथ ही ग्रामीण क्षेत्रो मे ग्रामीण कार्य-शालाओ की स्थापना की जानी चाहिए जिनमे ग्रामीण अशत बेरोजगारो को उत्पादक रोजगार के अवसर उपलब्ध हो सके और इनकी आय मे वृद्धि हो सके। ग्रामीण क्षेत्रो मे हरित-क्रान्ति कार्यक्रम को लघु कृषको तक पहुँचाने के लिए लघु कृषको के सहायतार्थ विशिष्ट परियोजनाओ का सचालन

किया जा सकता है। ग्रामीण क्षेत्र के सामाजिक वातावरण मे परिवर्तन करना भी आवश्यक होता है जिससे परम्परावादी समाज को गतिशील समाज मे परिवर्तित किया जा सके। ग्रामीण समाज को गतिशील बनाने के लिए शिक्षा एव अन्य सामाजिक सुविधाओं का विस्तार ग्रामीण क्षेत्रो मे किया जाना चाहिए। ग्रामीण समाज मे इस प्रकार की संस्थागत व्यवस्था करना भी आवश्यक होता है कि प्रत्येक ग्राम अपने विकास के लिए स्वय साधन जुटाने को अग्रसर हो सके।

(3) **परियोजनाओ का चयन**—आय के विषम वितरण को कम करने के लिए विकास परियोजनाओ का चयन कुल सामाजिक लाभ के आधार पर नही किया जाना चाहिए। बल्कि इन परियोजनाओ के उस लाभ को आधार मानना चाहिए जो कम आय वाले वर्ग को उपलब्ध होता है। ऐसी परियोजनाओ को प्राथमिकता दी जानी चाहिए जिनका लाभ निर्धन-वर्ग को अधिक उपलब्ध होता हो। यदि तकनीकी कारणों से किसी परियोजना के लाभो को लाभ पाने वाले लोगों की आय के सन्दर्भ मे बाँटना सम्भव न हो तो निर्धन-वर्ग को इस परियोजना का लाभ प्राप्त करने के योग्य बनाने के लिए अन्य उत्पादक सुविधाओ एव उत्पादक-सम्पत्तियो का आवटन किया जाना चाहिए। औद्योगिक क्षेत्र की परियोजनाओ का चयन करने हेतु मूल्याकन करते समय लाभ की मात्रा के साथ-साथ उनमे उदय होने वाले रोजगार एव मजदूरी को भी ध्यान मे रखना चाहिए। इसके अतिरिक्त इन औद्योगिक परियोजनाओ को जो अन्य उद्योग आदाय प्रदान करते हैं, उन आदाय प्रदान करने वाले उद्योगो मे रोजगार एव मजदूरी-आय मे जो वृद्धि होती है, उसको भी ध्यान मे रखना चाहिए।

(4) **अव-संरचना का विस्तार**—उन समस्त क्षेत्रों मे जिनमे निर्धन जनसख्या का केन्द्रीकरण हो, सुदृढ अव-सरचना की स्थापना की जानी चाहिए। यातायात, सचार, अधिकोषण, सिंचाई शक्ति आदि की सुविधाओ का विस्तार करके निर्धन क्षेत्रो मे विकास की गति को तीव्र किया जा सकता है और स्थानीय जनसख्या की आय मे वृद्धि की जा सकती है। अव-सरचना का सुदृढ आधार स्थापित हो जाने पर स्थानीय साधनो एव उपलब्ध श्रम का गहन उपयोग होने लगता है जिसमे प्रति व्यक्ति आय मे वृद्धि होती है, परन्तु अव-सरचना के सुदृढ आधार का लाभ निर्धनतम-वर्ग को उपलब्ध कराने के लिए विशेष राजकोषीय एव वैधानिक आयोजन करना आवश्यक होता है।

(5) **श्रम-सघन एवं मध्य-स्तरीय तकनीकी का उपयोग**—आय के विषम वितरण का एक प्रमुख कारण उच्च-स्तरीय तकनीकी का उपयोग होता है। उच्च-स्तरीय तकनीकी पूँजी-सघन होती है और इससे उपार्जित आय का वितरण सम्पन्न वर्ग के पक्ष में होता है तथा रोजगार के अवसरो मे पर्याप्त वृद्धि भी प्रारम्भिक काल मे नही हो पाती है। आय के विषम वितरण को कम करने के लिए यथासम्भव श्रम-सघन तकनीकी का उपयोग किया जाना चाहिए जिनमे श्रम को अधिक रोजगार उपलब्ध होता है और जिनमे उपार्जित लाभ बहुत ही लघु उद्योगपतियो एव साहसियो मे वितरित होता है। विकासोन्मुख राष्ट्रो को अपनी आर्थिक एव सामाजिक परिस्थितियो के अनुकूल अधिक कुशल मध्य-स्तरीय तकनीकी का विकास एव विस्तार करना चाहिए जिनका उपयोग कम पूँजी पर लघु क्षेत्र मे करके रोजगार के अवसरो का विस्तार एव आय का वितरण कम आय वाले वर्ग के पक्ष मे किया जा सकता है।

विभिन्न विकासोन्मुख राष्ट्रो मे आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियो मे इतनी अधिक विभिन्नता होती है कि आय के विषम वितरण को दूर करने के लिए कोई प्रमाणित नीति निर्धारित नही की जा सकती है। आय की समानता का आयोजन करने के लिए वृहद् अर्थशास्त्रीय विधि का उपयोग किया जा सकता है जिसके अन्तर्गत समस्त अर्थ-व्यवस्था को प्रभावित करने वाली नीतियो का सचालन करना होता है। परन्तु वृहद् अर्थशास्त्रीय नीतियाँ अधिक सफल नही हो पाती हैं क्योंकि इनका लाभ उन वर्गो तक नही पहुँच पाता है जिन तक इनका पहुँचना वाछनीय होता है। ऐसी परिस्थिति मे वृहद् अर्थशास्त्रीय नीतियो के साथ सूक्ष्म अर्थशास्त्रीय नीतियों का उपयोग किया जाता है जिनके अन्तर्गत विभिन्न निर्धन वर्गो, क्षेत्रो एव खण्डो मे आय-वृद्धि की पृथक्-पृथक् परि-

योजनाओं का संचालन किया जाता है। आय-वितरण की संरचना देश की सामाजिक संरचना पर निर्भर रहती है और सामाजिक संरचना देश की राजनीतिक सत्ता द्वारा निर्धारित होती है। राजनीति में सम्पन्न कृषक, जमींदार एवं पूँजीपति वर्ग शक्तिशाली होता है जो आय के समान वितरण सम्बन्धी कार्यवाहियों को स्थगित रखने में समर्थ रहता है। आय के समान वितरण हेतु जो नीतियाँ भी निर्धारित की जाती है उनके क्रियान्वयन में इतनी शिथिलता रहती है कि ये नीतियाँ उपयुक्त प्रभाव उत्पन्न नहीं कर पाती हैं। यही कारण है कि विकास प्रक्रिया में आय वितरण पक्ष के स्थान पर आर्थिक प्रगति पक्ष निरन्तर अधिक प्राथमिकता पाता रहता है और आर्थिक प्रगति की गति तीव्र होते हुए भी आय का प्रवाह निर्धनतम वर्ग के पक्ष में नहीं हो पाता है।

भारत में आय की विषमता

भारत में नियोजित विकास के प्रारम्भ के साथ ही आर्थिक विषमताओं को कम करने के लिए कार्यवाहियाँ प्रारम्भ की गयी और द्वितीय योजना के निर्माण के समय नियोजित विकास का अन्तिम लक्ष्य देश में 'समाजवादी प्रकार के समाज' की स्थापना निर्धारित किया गया।

समाजवादी प्रकार का समाज

समाजवादी प्रकार के समाज' का विचार सर्वप्रथम स्व. प. जवाहरलाल नेहरू द्वारा राष्ट्रीय विकास परिषद में भाषण देते हुए नवम्बर 1954 में प्रकट किया गया। लोकसभा ने सन् 1954 के शीतकालीन अधिवेशन में एक प्रस्ताव द्वारा यह निश्चित किया कि देश की आर्थिक एवं सामाजिक नीतियों का उद्देश्य राष्ट्र में समाजवादी प्रकार के समाज का निर्माण करना होगा। जनसमुदाय के भौतिक कल्याण द्वारा ही देश को उन्नतशील नहीं बनाया जा सकता है। भौतिक सम्पन्नता तो केवल साधन मात्र है जो प्रगतिशील विद्वत्तापूर्ण एवं सांस्कृतिक जीवन के निर्माण में सहायक होती है। आर्थिक विकास द्वारा राष्ट्र की उत्पादन क्षमता में विस्तार के साथ साथ देश में ऐसे वातावरण का भी निर्माण होना चाहिए जिससे मानवीय शक्तियों एवं इच्छाओं का अनावरण करने तथा प्रयोग करने के अवसर उपलब्ध हों। इस प्रकार समाज के विकास कार्यक्रमों एवं आर्थिक क्रियाओं को प्रारम्भ से ही समाज के अन्तिम उद्देश्यों पर आधारित होना चाहिए। अल्प विकसित राष्ट्रों में वर्तमान आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था में भौतिक सम्पन्नता प्राप्त करना ही मुख्य उद्देश्य नहीं होता है अपितु समाज की व्यवस्था में संस्थागत परिवर्तन करना भी वांछनीय होता है। ये संस्थानीय परिवर्तन एक नवीन सामाजिक व्यवस्था के लिए अत्यन्त आवश्यक होते हैं।

भारत में उपर्युक्त उद्देश्यों को दृष्टिगत करते हुए राज्य के उत्तरदायित्वों को निर्धारित किया गया है। राजकीय नीति निर्धारक तत्वों (Directive Principles of State Policy) द्वारा राज्य के कर्तव्यों का विश्लेषण भी किया गया है। इन तत्वों के अनुसार राज्य को ऐसे समाज का निर्माण करना चाहिए कि सामाजिक आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय राष्ट्र के समस्त नागरिकों को उपलब्ध हों। इन्हीं आधारभूत नीति निर्धारक तत्वों को अधिक सूक्ष्म करके लोकसभा में दिसम्बर 1954 में समाजवादी प्रकार के समाज की स्थापना राजकोषीय नीतियों के अन्तिम उद्देश्यों के रूप में स्वीकार की गयी।

समाजवादी प्रकार के समाज की व्यवस्था द्वारा निम्नलिखित प्रत्यक्ष उद्देश्यों की पूर्ति करने का लक्ष्य रखा गया

(1) समाजवादी प्रकार के समाज का आधारभूत उद्देश्य देश में अवसर की समानता तथा सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय के आधार पर एक आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करना था।

(2) समाज, जाति, समुदाय, लिंग अथवा सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति पर आधारित भेदभाव को दूर किया जायगा और प्रत्येक काम करने योग्य व्यक्ति को जीविकोपार्जन करने के अवसर प्रदान किये जाने थे। दूसरे शब्दों में, समाजवादी प्रकार के समाज का उद्देश्य पूर्ण रोजगार की व्यवस्था करना था।

(3) राज्य समाज के मुख्य उत्पादन के साधनों एवं कच्चे माल के साधनों को अपने अधिकार अथवा प्रभावशाली नियन्त्रण में इसलिए रखेगा तथा इनका उपयोग अधिकतम राष्ट्रीय हित के लिए किया जा सके।

(4) समाज अर्थ-व्यवस्था का संगठन इस प्रकार करेगा कि इसके द्वारा धन एवं उत्पादन के साधनों का केन्द्रीकरण सामान्य अहित के लिए न हो सके।

(5) देश के समस्त राष्ट्रीय धन के उत्पादन में वृद्धि एवं द्रुत गति के लिए विधिवत् प्रयत्न किये जाने थे।

(6) राष्ट्रीय धन का समान वितरण करना आवश्यक होगा जिससे वर्तमान आर्थिक विषमताओं में अधिकतम कमी की जा सके।

(7) वर्तमान सामाजिक ढाँचे में आवश्यक परिवर्तन शान्तिपूर्ण एवं प्रजातान्त्रिक विधियों द्वारा किये जायेंगे।

(8) समाजवादी प्रकार के समाज की स्थापना के लिए आर्थिक एवं राजनीतिक सत्ता का विकेन्द्रीकरण करना आवश्यक होगा जिसके लिए ग्रामीण पंचायतों एवं लघु उद्योगों का बड़े पैमाने पर विस्तार किया जाना था।

भारतीय योजनाओं के अन्तर्गत विकास-कार्यक्रमों का अन्तिम लक्ष्य यद्यपि चौथी योजना के प्रारम्भ तक समाजवादी समाज की स्थापना और चौथी योजना में समाजवाद की स्थापना बना रहा परन्तु योजनाओं के कार्यक्रमों का आधार एवं प्रकार तथा क्रियान्वयन की विधि एवं संगठन तन्त्र इस प्रकार के रहे कि आर्थिक प्रगति तो गतिशील हुई परन्तु सामाजिक लक्ष्यों की उपलब्धि सम्भव नहीं हो सकी। देश में 26 वर्षों तक नियोजित विकास की प्रक्रिया संचालित होते रहने के बाद भी वास्तविक एवं मौद्रिक आय-वितरण की विषमता में वृद्धि, अति धनी एवं निर्धन वर्ग का विद्यमान रहना, सामाजिक तनाव में निरन्तर वृद्धि, व्यापक निर्धनता, बेरोजगारी, अर्द्ध-बेरोजगारी एवं अदृश्य-बेरोजगारी में वृद्धि जैसे घातक सामाजिक तत्व समाज में सुदृढ़ रहे हैं।

भारत में निर्धनता

हमारे देश के नियोजित विकास के प्रथम दस वर्षों (1950-51 से 1960-61) में राष्ट्रीय आय में 46.3% की वृद्धि हुई। 1960-61 से 1970-71 के दशक में हमारी वास्तविक राष्ट्रीय आय में 49.0% की वृद्धि हुई तथा 1970-71 से 1975-76 के काल में 15% की वृद्धि हुई। गत 26 वर्षों में हमारी अर्थ-व्यवस्था में प्रगति की दर 3.5% प्रति वर्ष रही। परन्तु इस काल में हमारी जनसंख्या में 2.3% प्रति वर्ष की वृद्धि हुई जिससे हमारी प्रति व्यक्ति आय में 1.5% प्रति वर्ष की ही वृद्धि हुई। नियोजित विकास से उदय हुई आय-वृद्धि का लाभ विभिन्न वर्गों में समान रूप से वितरित न होने के कारण लगभग 70% जनसंख्या को विकास का लाभ प्राप्त नहीं हुआ। योजना आयोग द्वारा स्थापित विशेषज्ञ समिति द्वारा 1960-61 के मूल्यों पर प्रति व्यक्ति मासिक न्यूनतम उपभोग व्यय 20 रुपये निर्धारित किया गया, जो 1973-74 के मूल्यों पर ग्रामीण क्षेत्र के लिए 53 रुपये और नगरीय क्षेत्र के लिए 62 रुपये आता है। दूसरी ओर, दाण्डेकर एवं रथ (1971) ने 1960-61 के मूल्यों पर न्यूनतम मासिक प्रति व्यक्ति उपभोग-व्यय ग्रामीण क्षेत्रों के लिए 15 रुपये और नगरीय क्षेत्र के लिए 22.5 रुपये निर्धारित किया। इन वैकल्पिक आधारों को लेकर केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन ने देश में विद्यमान निर्धनता का अनुमान निम्नवत लगाया है

भारत में निर्धनता की रेखा से नीचे की जनसंख्या का प्रतिशत

विशेषज्ञ समिति	ग्रामीण	नगरीय	योग
1970-71	64.08	57.30	62.73
1973-74	60.56	55.19	59.49
दाण्डेकर एवं रथ			
1970-71	45.56	50.50	46.54
1973-74	41.49	48.12	42.74

इन अनुमानो के आधार पर देश मे निर्धन जनसख्या (जो न्यूनतम उपभोग-व्यय से कम उपभोग प्रति माह प्रति व्यक्ति करती है) का कुल जनसख्या मे अश 42 74% से 59 49% के मध्य था अर्थात् लगभग 25 से 30 करोड लोग निर्धनता की रेखा से नीचे का जीवन-स्तर व्यतीत कर रहे है। इनमे से 22 से 26 करोड तक लोग ग्रामीण क्षेत्रो मे निवास करते है। हमारे नियोजित विकास का केन्द्रीकरण नगरीय क्षेत्रो मे होने के कारण ग्रामीण जनसख्या को जिसका कुल जनसख्या मे अश 70% है, विकास का लाभ नही मिला पाया है और निर्धनता एव बेरोजगारी का केन्द्रीकरण ग्रामीण क्षेत्रो मे विकराल रूप से विद्यमान है। भगवती समिति के अनुमानानुसार 1973 मे देश मे बेरोजगारो की सख्या 187 लाख थी जिनमे से 161 लाख अर्थात् 86% ग्रामीण क्षेत्रो मे रहते थे। दाण्डेकर एव रथ के अनुमानानुसार ग्रामीण एव नगरीय क्षेत्रो मे प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष उपभोग-व्यय 1960-61 के मूल्यो पर निम्नवत् था [1]

तालिका 56—भारत मे ग्रामीण एव नगरीय जनसख्या के विभिन्न वर्गों का प्रति व्यक्ति वार्षिक उपभोग-व्यय (1960-61 एव 1967-68 मे)

(1960 61 के मूल्यो के आधार पर)

जनसख्या का वर्ग (प्रतिशत)	ग्रामीण क्षेत्र 1960-61 (रुपये)	1967-68 (रुपये)	उपभोग-व्यय का निर्देशाक (प्रतिशत)	नगरीय क्षेत्र 1960-61 (रुपये)	1967-68 (रुपये)	उपभोग-व्यय का निर्देशाक (प्रतिशत)
0—5	75 6	74 8	98 9	96 2	78 2	81 3
5—10	100 4	102 0	101 6	129 7	112 4	86 7
10—20	124 2	126 5	101 9	156 1	145 7	93 3
20—30	150 1	153 4	102 2	191 0	183 3	96 0
30—40	174 4	179 0	102 6	223 8	220 1	98 3
40—50	198 0	205 3	103 7	256 6	295 5	101 1
50—60	227 0	236 2	104 1	295 8	304 4	102 9
60—70	258 5	269 8	104 4	342 5	358 9	104 8
70—80	308 1	316 3	104 4	421 3	441 6	104 [redacted]
80—90	382 5	399 2	104 4	553 5	580 2	104 8
90—95	493 3	514 8	104 4	753 4	789 8	104 8
95—100	870 6	908 6	104 4	1,268 8	1,330 0	104 8
सम्पूर्ण वर्ग	285 6	268 6	103 8	356 8	364 9	102 4

प्रति व्यक्ति उपभोग-व्यय सम्बन्धी इस तालिका के अध्ययन से ज्ञात होता है कि—

(1) 1960-61 से 1967-68 के काल मे निर्धनतम 5% जनसख्या का प्रति व्यक्ति उपभोग-व्यय ग्रामीण एव नगरीय दोनों ही क्षेत्रो मे कम हो गया है। परन्तु नगरीय क्षेत्र मे उपभोग-व्यय मे अधिक कमी हुई। इस वर्ग मे मुख्य रूप से भूमिहीन श्रमिक एव नगरो के आकस्मिक श्रमिक सम्मिलित हैं।

(2) 5% निधनतम जनसख्या के उपर की 35% जनसख्या के ग्रामीण क्षेत्र मे उपभोग-व्यय मे सीमान्त सुधार हुआ है परन्तु नगरीय क्षेत्रो मे इस वर्ग के उपभोग-व्यय मे कमी हुई है। यह वर्ग भी निर्धन-वर्ग मे ही सम्मिलित है।

(3) निम्न उपभोग-व्यय करने वाली 40% जनसख्या के ऊपर वाली 20% जनसख्या (जिसमे मध्यम वर्ग का नाम दिया जा सकता है) के उपभोग-व्यय मे ग्रामीण क्षेत्र की तुलना मे अधिक वृद्धि हुई।

(4) सामान्य उच्च उपभोग-व्यय वाली 20% जनसख्या के उपभोग-व्यय मे दोनो ही क्षेत्रो मे समान वृद्धि हुई।

1 Dandekar & Rath. *Poverty in India*, Indian School of Political Economy, 1971

(5) उच्चतम उपभोग-व्यय वाली 20% जनसख्या के उपभोग-व्यय मे भी लगभग समान प्रतिशत से वृद्धि हुई। परन्तु इस वर्ग मे ग्रामीण क्षेत्रो की तुलना मे नगरीय क्षेत्रो मे प्रति व्यक्ति उपभोग व्यय लगभग डेढ गुना है।

(6) समस्त वर्गों मे ग्रामीण क्षेत्र का प्रति व्यक्ति उपभोग-व्यय नगरीय क्षेत्र की तुलना मे कम है परन्तु यह अन्तर उच्च उपभोग-व्यय वाले वर्गों मे बढता जाता है।

इस अध्ययन के आधार पर 1967-68 के बाद के वर्षो के उपभोग-व्यय का ठीक अनुमान लगाना सम्भव नही है क्योकि ग्रामीण क्षेत्र मे हरित क्रान्ति के प्रादुर्भाव से 1967 के बाद ग्रामीण सम्पन्न वर्ग की आय एव उपभोग व्यय मे वृद्धि हुई है। 1964 मे हरित-क्रान्ति का प्रारम्भ होने के बाद कृषि क्षेत्र मे तकनीकी परिवर्तन तजी से हुए और कृषि-उत्पादन मे वृद्धि होने के साथ-साथ कृषि पदार्थो के मूल्यो मे निर्मित वस्तुओ की तुलना मे अधिक गति से वृद्धि हुई। इन दोनो परिस्थितियो का लाभ सम्पन्न एव बडे कृषको को मिला और यह लाभ 1967 के बाद ग्रामीण क्षेत्र के बाद के उपभोग-व्यय को प्रभावित करने लगा है। दूसरी ओर, ग्रामीण क्षेत्र मे मजदूरी का भुगतान कृषि-उत्पादो एव अन्य वस्तुओ मे करने की व्यवस्था मे धीरे धीरे परिवर्तन होने लगा और कृषि मजदूरो को भुगतान नकद राशि मे किया जाने लगा जिससे कृषि-मजदूरो को मुद्रा-स्फीति के दबाव का शिकार बनना पडा है और उनके उपभोग मे सुधार नही हो पाया है। कृषि क्षेत्र मे तकनीकी सुधार होने एव उत्पादकता बढने के कारण बहुत से भूस्वामियो ने अपनी भूमि को शिकमी कृषको से वापस ले लिया और यह शिकमी कृषक श्रमिक बनकर रह गये जिससे इनकी आय एव उपभोग-व्यय पर प्रतिकूल प्रभाव पडा है। इस प्रकार ग्रामीण क्षेत्र की निम्नतम आय वाली लगभग 20% जनसख्या के उपभोग व्यय मे कमी आने का अनुमान लगाया जाता है।

राज्यो मे उपभोग-व्यय

औसत उपभोग व्यय के आधार पर विभिन्न राज्यो की स्थिति का अध्ययन निम्नाकित तालिका से किया जा सकता है

तालिका 57—राज्यो मे प्रति व्यक्ति मासिक उपभोग-व्यय एव उपभोग-व्यय का सम्पूर्ण देश के उपभोग-व्यय के आधार पर निर्देशाक

(जुलाई 1964 से जून 1965)

(सम्पूर्ण भारत का औसत उपभोग-व्यय=100)

राज्य	ग्रामीण क्षेत्र		नगरीय क्षेत्र	
	उपभोग-व्यय	निर्देशाक	उपभोग-व्यय	निर्देशाक
1 आन्ध्र प्रदेश	26 45	100	31 78	88
2 असम	29 30	111	42 66	118
3 बिहार	26 60	101	32 41	90
4 गुजरात	26 98	102	31 19	87
5 हरियाणा	39 17	148	37 48	104
6 जम्मू-कश्मीर	28 32	107	29 80	83
7 केरल	22 30	84	30 11	84
8 मध्य प्रदेश	26 30	99	34 44	96
9 मद्रास	24 55	93	34 34	95
10 महाराष्ट्र	25 16	95	44 48	123
11 मैसूर	25 23	95	32 44	90
12 उडीसा	20 61	78	31 79	88
13 पजाब	36 22	137	36 65	102
14 राजस्थान	30 55	116	34 21	95
15 उत्तर प्रदेश	27 09	102	30 05	83
16 पश्चिमी बगाल	23 18	88	41 13	114
17 केन्द्र-शासित क्षेत्र	29 75	113	56 81	158
सम्पूर्ण भारत मे औसत उपभोग-व्यय	26 44	100	36 03	100

राज्यो मे उपभोग-व्यय की तालिका (57) के अध्ययन से ज्ञात होता है कि विभिन्न राज्यों मे उपभोग-व्यय मे बहुत अन्तर है जिससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि सन्तुलित क्षेत्रीय विकास एव क्षेत्रीय विषमताएँ हमारे समाज मे गम्भीर रूप से विद्यमान है। ग्रामीण क्षेत्र में जहाँ हरियाणा मे उपभोग-व्यय 39 17 रुपये है, वहाँ उडीसा मे उपभोग-व्यय 20 61 रुपये भी है। इसी प्रकार, नगरीय क्षेत्रो मे सबसे अधिक उपभोग-व्यय केन्द्र-शासित क्षेत्रो मे है और सबसे कम उपभोग-व्यय जम्मू-कश्मीर मे है। केरल, मध्य प्रदेश, मद्रास, महाराष्ट्र, मैसूर, उडीसा और पश्चिम बगाल मे ग्रामीण क्षेत्रो का उपभोग-व्यय सम्पूर्ण भारत के उपभोग-व्यय से कम है। दूसरी ओर, आन्ध्र प्रदेश, बिहार, गुजरात, जम्मू-कश्मीर, केरल, मध्य प्रदेश, मद्रास, मैसूर, उडीसा, राजस्थान एव उत्तर प्रदेश मे नगरीय क्षेत्रो मे उपभोग-व्यय सम्पूर्ण भारत के औसत उपभोग व्यय से कम है। असम, मद्रास, महाराष्ट्र, उडीसा, पश्चिमी बगाल एव केन्द्र-शासित क्षेत्रों मे ग्रामीण एव नगरीय क्षेत्रो के उपभोग-व्यय मे अधिक अन्तर है अर्थात् इन प्रदेशो मे ग्रामीण जीवन-स्तर नगरीय जीवन-स्तर से अधिक गिरा हुआ है। पजाब ही एक ऐसा प्रदेश है जहाँ ग्रामीण एव नगरीय क्षेत्र का उपभोग-व्यय लगभग बराबर है। दूसरी ओर, हरियाणा मे ग्रामीण क्षेत्र का उपभोग-व्यय नगरीय क्षेत्र के उपभोग-व्यय से कम है। ये समस्त तथ्य इस बात के द्योतक है कि देश के विभिन्न क्षेत्रो मे आर्थिक विषमता व्यापक रूप से विद्यमान है। यदि न्यूनतम प्रति व्यक्ति मासिक उपभोग-व्यय 55 रुपये लिया जाय तो गरीबी की रेखा से नीचे की जनसख्या का विभिन्न राज्यो मे वितरण 1973-74 मे निम्नवत् था

तालिका 58—विभिन्न राज्यों मे गरीबी की रेखा से नीचे की जनसख्या का कुल जनसख्या मे प्रतिशत

राज्य	गरीबी की रेखा से नीचे का उपयोग करने वाली जनसख्या का प्रतिशत
1 आन्ध्र प्रदेश	67 53
2 असम	63 26
3 बिहार	58 57
4 गुजरात	56 68
5 हरियाणा	42 09
6 कर्नाटक	63 62
7 केरल	63 41
8 मध्य प्रदेश	66 40
9 महाराष्ट्र	57 44
10 उडीसा	74 95
11 पजाब	36 49
12 राजस्थान	51 07
13. तमिलनाडु	68 15
14 उत्तर प्रदेश	66 12
15 पश्चिमी बगाल	64 38
सम्पूर्ण भारत	62 22

इस तालिका के अध्ययन से ज्ञात होता है कि हरियाणा और पजाब मे निर्धनता की गहनता कम है क्योकि इन राज्यो मे निर्धनता की जनसख्या का प्रतिशत 50 से कम है। बिहार, गुजरात, राजस्थान, महाराष्ट्र, पजाब और हरियाणा मे निर्धन जनसख्या का प्रतिशत सम्पूर्ण देश के प्रतिशत से कम है। सर्वाधिक निर्धन जनसख्या उडीसा मे है।

आर्थिक विषमताओं के कारण

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर हम देश मे विद्यमान व्यापक विषमताओ के कारणो का वर्गीकरण निम्नवत कर सकते है

(1) व्यापक बेरोजगार एव अशकालिक रोजगार के परिणामस्वरूप प्रति श्रम उत्पादकता कम है जिससे बहुत बडे समुदाय की आय न्यून स्तर पर रहती है।

(2) कर की चोरी एव दोषपूर्ण राजकोषीय एव मौद्रिक नीतियो के कारण आय एव आय के अवसरो का केन्द्रीकरण छोटे से वर्ग के हाथ मे हो गया है। ब्रिटिश अर्थशास्त्री कालडोर द्वारा यह अनुमान लगाया गया था कि भारत मे आय-कर की ही लगभग 300 करोड रुपये प्रति वर्ष चोरी की जाती है। कर की व्यापक चोरी के कारण राजकोषीय नीतियाँ आय के विषम वितरण को कम करने मे सफल नहीं हुई है।

(3) देश के उत्तराधिकार के अधिनियम के कारण धन, सम्पत्ति एव आय के साधनो का हस्तान्तरण परिश्रम के सन्दर्भ मे न होकर जन्म के सन्दर्भ मे होता है जिससे सम्पन्न परिवार में जन्म लेने वाले उत्पादक कार्य किये बिना ही विलासिता का जीवन व्यतीत करते है और अपने धन-सग्रह मे निरन्तर वृद्धि करने मे समर्थ होते है।

(4) आय-उपार्जन के दो प्रमुख साधन होते हैं—सम्पत्ति एव योग्यता। धन एव सम्पत्ति का पहले से ही विषम वितरण है और राजकोषीय नीतियो द्वारा इस विषमता को कम नही किया जा सका है। दूसरी ओर शिक्षा एव प्रशिक्षण द्वारा योग्यता ग्रहण की जाती है। हमारे देश मे शिक्षा एव प्रशिक्षण अभी भी माता-पिता की आय पर निर्भर रहती है जिसके परिणामस्वरूप अधिक आयोपार्जन वाली शिक्षा एव प्रशिक्षण की सुविधाओ का लाभ सम्पन्न-वर्ग को ही अधिक होता है।

(5) हमारे देश मे कर-नीति भी विषमताओ को बढाने मे सहायक होती है। प्रत्यक्ष कर आय की विषमता को कम करने मे अधिक सहायक होते है क्योकि इन्हे हस्तान्तरित नहीं किया जा सकता है। हमारे देश मे कुल कर की आय का लगभग तीन-चौथाई भाग अप्रत्यक्ष कर से प्राप्त किया जाता है जिसका अन्तत भार उपभोक्ताओ पर पडता है।

(6) औद्योगिक लाइसेंसिंग नीति द्वारा भी औद्योगिक बडे घरानो को ही अधिक लाभ मिला है। नये एव लघु साहसी औद्योगिक क्षेत्र मे प्रवेश करने मे सफल नही हो पाते हैं क्योकि उनके पास पर्याप्त पूँजी एव सम्पर्क नही रहते है।

(7) विभिन्न राज्यो का समान विकास न होने के कारण राज्यो के नागरिको के जीवन-स्तर मे अत्यधिक अन्तर पाया जाता है। एक ही राज्य मे विभिन्न क्षेत्रो का विकास भी समान रूप मे नही हुआ है जिसके परिणामस्वरूप विषमताओ मे वृद्धि हुई है।

(8) बैको एव वित्तीय सस्थाओ द्वारा बडे व्यापारियो, उद्योगपतियो एव कृषको को वित्तीय साधन अधिक मात्रा मे उपलब्ध कराये जाते है। इस प्रकार वित्तीय साधनो का केन्द्रीकरण होता है और आयोपार्जन के साधन सम्पन्न-वर्ग के हाथो मे केन्द्रित होते हैं।

(9) देश की अर्थ-व्यवस्था मे सम्पन्न एव मध्यम-वर्गो को उपभोक्ता-वस्तुओ के उत्पादन के लिए अत्यधिक विनियोजन किया गया है, जबकि निर्धन-वर्ग की उपभोक्ता-वस्तुओ की उत्पादन-वृद्धि पर विशेष ध्यान नही दिया गया है।

(10) 26 वर्षो मे नियोजित विकास के अन्तर्गत देश मे मजदूरी-लाभ-मूल्य की समन्वित नीति का विकास नही किया गया है। आवश्यकताओ पर आधारित न्यूनतम मजदूरी का निर्धारण न होने के कारण निर्धन-वर्ग के साथ न्याय नही किया जा सका है।

(11) ग्रामीण एव नगरीय सम्पत्ति का सीमाकन करने की चर्चा कई वर्षो से चल रही है परन्तु अभी तक इसको क्रियान्वित नही किया गया है। इस मध्य-काल मे सभी सम्पत्तिधारी अपनी सम्पत्ति को बचाने के लिए उचित एव अनुचित तरीके अपना रहे है और जब सीमाकन को क्रियान्वित करने का अवसर आयेगा तब बहुत कम सम्पत्ति पुनर्वितरण हेतु उपलब्ध हो सकेगी।

(12) प्रशासनिक अकुशलता एव आर्थिक अपराधो ने भी अर्थ-व्यवस्था मे विषमताओ को बढाने मे योगदान दिया है। प्रशासनिक अकुशलता के कारण आधारभूत नीतियो का उस भावना से क्रियान्वयन नही किया जाता जिसके लिए उन्हे बनाया जाता है और आर्थिक अपराधो को बढावा मिलता है। तस्कर व्यापार, कर की चोरी, रिश्वत आदि अपराधो द्वारा धन का सग्रह करना सम्भव हो सका है और आर्थिक विषमताएँ बढी है।

भारत मे नियोजित अर्थ-व्यवस्था मे उत्पादन मे पर्याप्त वृद्धि होने पर भी समाज के समस्त वर्गों को समान लाभ प्राप्त नही हुआ है। वास्तव मे, उत्पादन की वृद्धि को जितना महत्व दिया गया, उतना ही महत्व वितरण को भी देना चाहिए था। वितरण की विषमता के कई कारण रहे है। देश के आर्थिक ढाँचे मे जो सस्थनीय परिवर्तन किये गये, वे या तो पर्याप्त नही हैं या फिर उनमे प्रभावशीलता की कमी है। सरकारी क्षेत्र का विस्तार एव निजी क्षेत्र पर नियन्त्रण की प्रभावशीलता पर्याप्त नही रही है। इसके अतिरिक्त प्रशासन के विभिन्न दोषो के कारण वितरण की विषमता अभी भी बनी हुई है। राष्ट्रीय चरित्र की हीनता, कर्तव्य-परायणता की कमी व अकुशल सगठन आदि कारणो ने भी निर्बल-वर्ग को निर्बलता के जाल से मुक्त होने से रोक रखा है। वर्तमान परिस्थितियो मे यह आवश्यक हो गया है कि भविष्य की योजनाओ के कार्यक्रमो का प्रकार एव सचालन-विधि इस प्रकार निर्धारित की जानी चाहिए कि उत्पादन की वृद्धि के साथ-साथ वितरण मे समानता लायी जा सके और योजना के लाभो का बडा भाग निर्बल-वर्गों को प्राप्त हो सके।

पाँचवीं योजना एवं निर्धनता-उन्मूलन

पाँचवी योजना की व्यूह-रचना (Strategy) का निर्माण इस प्रकार किया गया कि आर्थिक विषमताओ को उत्पन्न एव प्रोत्साहित करने वाले आधारभूत तत्वो पर कठोर आक्रमण करके उनको निर्मूल किया जा सके। आर्थिक विषमताओ को कम करने के लिए आवश्यक भूमि-सुधार, मौद्रिक एव राजकोषीय नीतियो का पुनर्निर्धारण, सन्तुलित क्षेत्रीय विकास, सम्पत्ति के अधिकारो का सीमाकन, रोजगार के अवसरो मे विस्तार, उचित आय-नीति, व्यापारिक क्रियाओ मे सरकार का सक्रिय भाग आदि कार्यवाहियाँ पाँचवी योजना के अन्तर्गत निर्धारित की गयी। योजना ने उस 30% जनसख्या के, जो न्यूनतम जीवन-स्तर पर जीवन-निर्वाह कर रही है, उपभोग-व्यय मे सुधार करने को सर्वाधिक प्राथमिकता प्रदान की गयी। इस निर्धन जनसख्या का बहुत बडा भाग पिछडे हुए क्षेत्रो मे निवास करता है। इसीलिए पाँचवीं योजना मे पिछडे हुए क्षेत्रो को अन्य क्षेत्रो के विकास-स्तर तक लाने हेतु विशेष स्थान दिया गया। पाँचवी योजना मे पिछडे हुए क्षेत्रो के लिए विकास के क्षेत्रीय-कार्यक्रम (Area Programme) निर्धारित किये गये जिनके अन्तर्गत सम्बन्धित क्षेत्र का सर्वतोन्मुखी विकास करने का प्रयत्न किया गया। योजना मे पिछडे क्षेत्रो को पारिभाषित करके निर्धारित किया गया और इन क्षेत्रो के लिए एक न्यूनतम आवश्यक विकास का प्रयास सचालित किया गया। पिछडे क्षेत्रो के विकास-कार्यक्रमो मे आधारभूत आर्थिक एव सामाजिक अव-सरचना को अधिक प्राथमिकता दी गयी। अव-सरचना मे सिंचाई, सचार, साख, विपणन, शक्ति, शिक्षा स्वास्थ्य एव प्रशासनिक सुधार सम्मिलित किये गये।

पाँचवी योजना मे पिछडे वर्गों एव अनुसूचित जातियो के जीवन-स्तर मे सुधार करने को भी प्राथमिकता प्रदान की गयी। कृषि, भूमि-सुधार, लघु एव ग्रामीण उद्योग, प्रशिक्षण, रोजगार, सचार, शिक्षा आदि के विकास-कार्यक्रमो मे पिछडे वर्गों के विकास को उच्च प्राथमिकता दी गयी।

आर्थिक विषमता को कम करने हेतु एक उचित आय-नीति की आवश्यकता को मान्यता दी गयी। एकाधिकार की सत्ता एव प्रतिबन्धात्मक क्रियाओ का उपयोग करने, प्रबन्ध द्वारा भ्रष्ट कार्यवाहियाँ करने, श्रमिकों, पूर्तिकर्ताओ एव उपभोक्ताओ का शोषण करने, काला बाजार के व्यवहार करने, कोटा, परमिट एव लाइसेन्स का दुरुपयोग करने तथा कर की चोरी करने से निजी उद्योग एव व्यापार मे अत्यधिक आय उदय होती है। आय-नीति द्वारा इन सभी साधनो से उदय होने

वाली आय पर कठोर प्रतिबन्ध लगाकर आर्थिक विषमताओं को कम किया जाना था। कृषि-क्षेत्र में बड़े कृषकों द्वारा अपनी उपज का अधिक मूल्य प्राप्त होने पर अधिक आय प्राप्त होती है और ग्रामीण क्षेत्र में आर्थिक विषमताओं में वृद्धि होती है। कृषि-पदार्थों के मूल्य निर्धारित करते समय आय-नीति के सिद्धान्तों को ध्यान में रखना आवश्यक होगा और मूल्य-मजदूरी-आय का सन्तुलन बनाये रखने के लिए कृषि-पदार्थों के मूल्य इस प्रकार निर्धारित किये जाने थे कि कृषक को उचित पारिश्रमिक प्राप्त हो सके।

पाँचवी योजना में ब्याज एवं किराये की आय को सीमित करने के प्रयत्न किये जाने थे। सहकारी साख-संस्थाओं का इतना विस्तार किया जाना था कि कृषि-श्रमिक, छोटे किसान, लघु उद्योगपति, लघु व्यापारी एवं निर्धन परिवार भी इन संस्थाओं से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। शहरी सम्पत्ति के सीमांकन से नगरीय आय के केन्द्रीकरण में कमी की जानी थी। योजनाओं के अन्तर्गत सरकारी एवं निजी क्षेत्र में जो विनियोजन किया गया है, उसके परिणामस्वरूप भूमि, मकान एवं अन्य सम्पत्तियों के मूल्य में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है जिससे अनुपार्जित आय (Unearned Income) में वृद्धि हो रही है। आय-नीति के अन्तर्गत इस अनुपार्जित आय का उचित भाग समाज के लिए उपलब्ध करना आवश्यक होगा। पाँचवी योजना में उपयुक्त *मूल्य-मजदूरी एवं आय-नीति द्वारा आर्थिक विषमताओं को कम करने का प्रयत्न किया जाना था।* परन्तु इस प्रकार की नीति का निर्धारण एवं क्रियान्वयन नहीं किया गया।

पाँचवीं योजना में रोजगार के अवसरों में वृद्धि करने को प्रमुख स्थान प्रदान किया गया। मजदूरी एवं स्वतः रोजगार दोनों ही क्षेत्रों में रोजगार के अवसरों में वृद्धि की गयी। पाँचवी योजना में कृषि-क्षेत्र का तीव्र गति से विकास करने का लक्ष्य रखा गया। कृषि-विकास की दर एवं प्रकार के फलस्वरूप कृषि-क्षेत्र में रोजगार के अवसरों में तेजी से वृद्धि होने का अनुमान लगाया गया। योजना में उदय होने वाली अतिरिक्त श्रम-शक्ति का लगभग दो-तिहाई भाग कृषि-क्षेत्र में लगी जनसंख्या में उदय होना था और इसे कृषि-क्षेत्र में ही रोजगार प्रदान करने के प्रयत्न किये जाने थे।

वर्तमान आय-नीति की रूपरेखा

देश में सत्ता के परिवर्तन के साथ आय के विषम वितरण, निर्धनता एवं बेरोजगारी-उन्मूलन को सरकार की आर्थिक नीति एवं कार्यक्रमों का मुख्य अंग मान लिया गया है। छठी योजना की संरचना-विधि को अनवरत योजना का रूप देकर विकास की प्रक्रिया को नया मोड़ देने का प्रयत्न किया जाना है। छठी योजना में रोजगार के अवसरों में इतनी वृद्धि की जानी है कि *अगले 10 वर्षों में बेरोजगारी समाप्त की जा सके। निम्नतम आय वाली 40% जनसंख्या को* आधारभूत सुविधाओं को प्रदान करने के लिए आयोजन किया जाना है तथा वर्तमान आय एवं *धन की विषमताओं में पर्याप्त कमी की जानी है।* इन लक्ष्यों की पूर्ति के लिए योजना में ग्रामीण एवं कृषि-विकास को सर्वाधिक प्राथमिकता दी जायेगी जिससे अभी तक लगभग अपेक्षित ग्रामीण जनसाधारण के जीवन स्तर में सुधार किया जा सके। विषमताओं को कम करने वाले कार्यक्रमों को अधिक कुशल बनाने के लिए क्षेत्रीय नियोजन (Area Planning) को मान्यता दी गयी है जिसके अन्तर्गत विकास-कार्यक्रमों का निर्धारण विशिष्ट क्षेत्रों के आधार पर किया जायेगा जिसमें प्रत्येक विशिष्ट क्षेत्र की श्रम-शक्ति एवं साधनों का गहन उपयोग हो सकेगा और बेरोजगारी एवं निर्धनता को कम करना सम्भव होगा।

ग्रामीण क्षेत्रों में विकास की गति को तेज करके बढ़ती हुई श्रम-शक्ति को रोजगार प्रदान करना सम्भव हो सकेगा। कृषि-क्षेत्र की वर्तमान प्रगति-दर 2 से 2.5% प्रति वर्ष बढ़ती हुई श्रम-शक्ति को रोजगार प्रदान करने में समर्थ नहीं हो सकेगी। कृषि-क्षेत्र की प्रगति-दर को 4 से 6% तक प्रति वर्ष करने की आवश्यकता है और इसके लिए ग्रामीण क्षेत्रों में अव-संरचना को सुदृढ़ बनाना होगा। अव-संरचना के अन्तर्गत सिंचाई, शक्ति एवं सड़क-निर्माण का प्रमुख स्थान होता है।

इन सुविधाओं का ग्रामीण क्षेत्रों में विस्तार करके कृषि एव लघु उद्योग दोनों ही क्षेत्रों का विकास एवं विस्तार सम्भव हो सकेगा । अव-सरचना के विस्तार एव विकास का पूर्णतम उपयोग करने के लिए विकास-कार्यक्रमों का क्षेत्रीय स्तर पर निर्माण एव सचालन किया जाना आवश्यक होगा । इन समस्त कार्यक्रमो की सफलता इस बात पर निर्भर करेगी कि ग्रामीण क्षेत्र मे बढी हुई आय का कितना भाग बचत के रूप मे विकास हेतु सग्रहीत किया जा सकेगा । इस प्रकार छठी योजना मे रोजगार एव ग्रामीण विकास-प्रधान कार्यक्रमों को प्राथमिकता देकर आय के विषम वितरण को कम करने का प्रयास किया जाता है ।

जनता सरकार ने आय, वेतन और मूल्यों के बारे में नीति बनाने के लिए भूतलिंगम समिति की स्थापना की है जो सरकार को आय की विषमता को कम करने के लिए उपयुक्त नीति के सम्बन्ध में अपनी सिफारिशें देगी । सुनिश्चित आय-नीति का निर्माण विकास-विनियोजन के परिमाण, न्यायसगत मूल्य-नीति, मुद्रा-स्फीति का दबाव एव घाटे के अर्थ-प्रबन्धन आदि से सीमांकित होता है । अधिक विकास-विनियोजन हेतु साधनों को एकत्रित करने के लिए जब घाटे के अर्थ-प्रबन्धन का उपयोग एव अप्रत्यक्ष करों में वृद्धि की जाती है तो मूल्य-स्तर में वृद्धि होना अत्यन्त स्वाभाविक होता है । मूल्य-वृद्धि होने पर सगठित श्रम अधिक मजदूरी एव वेतन की माँग करता है । साहसियों एव व्यापारियों के लाभ में वृद्धि हो जाती है और असगठित श्रम, सम्पत्ति-विहीन नागरिक एव लघु स्वत रोजगार-प्राप्त श्रम की आय में मूल्य-वृद्धि के अनुपात में कम वृद्धि होती है जिसके परिणामस्वरूप आय की विषमता में वृद्धि होती है । इस प्रकार आय के विषम वितरण की प्रवृत्ति को तब तक सीमांकित नहीं किया जा सकता जब तक कि मूल्य-स्तर की वृद्धि को प्रभावित करने वाले समस्त कारकों को नियन्त्रित न कर दिया जाय । वृहदाकार विकास-विनियोजन अल्प-काल में उत्पादन-वृद्धि में सहायक नहीं होता है जबकि मूल्य-स्तर पर विकास-विनियोजन का प्रभाव जल्दी ही उदय होने लगता है जिससे धनी एव निर्धन का अन्तर बढने लगता है । 1978-79 के केन्द्र सरकार के बजट में 1,050 करोड रुपये के घाटे की व्यवस्था एव 500 करोड रुपये के अतिरिक्त करारोपण की व्यवस्था की गयी है । ये दोनों कार्यवाहियाँ मूल्य-स्तर एव आय-वितरण पर कितना प्रतिकूल प्रभाव डालेंगी, यह इस बात पर निर्भर होगा कि विकास-विनियोजन का लाभ असगठित श्रम, कृषि-श्रमिक एव सम्पत्ति-विहीन समुदाय को किस सीमा तक उपलब्ध होता है ।

40

क्षेत्रीय एवं सन्तुलित विकास

[REGIONAL AND BALANCED GROWTH]

क्षेत्रीय विकास का अर्थ

ससार के कुछ ही राष्ट्र ऐसे है जिनकी प्रति व्यक्ति वास्तविक आय अत्यधिक है तथा जो विकास की उच्चस्तरीय अवस्थाओ मे प्रविष्ट हो चुके हो। इन राष्ट्रो में सयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड तथा पश्चिमी यूरोप के देश आदि सम्मिलित किये जा सकते हैं। दूसरी ओर देशो का बहुत बडा समूह ऐसा है जिनमे प्रति व्यक्ति वास्तविक आय बहुत कम है और *जो विकास की निम्नस्तरीय अवस्थाओ को भी पार नही कर पा रहे हैं। अति-विकसित देशो* एव अल्प-विकसित देशो मे यह अन्तर निरन्तर विद्यमान ही नही है बल्कि इस अन्तर मे वृद्धि होती जा रही है। विकसित राष्ट्रो मे विकास के समस्त तत्व ऊर्ध्वमुखी रहते है और निकट अथवा सुदूर भविष्य मे इनके शिथिल होने के कोई प्रमाण नही है यद्यपि खनिज तेल की समस्या ने कुछ देशो की विकास की गति को आघात पहुँचाया है परन्तु यह आघात भी अस्थायी है क्योकि वैकल्पिक शक्ति के साधनों की खोज तेजी से चल रही हैं। खनिज-तेल की समस्या ने विकसित राष्ट्रों की विकास की गति को जिस सीमा तक आघात पहुँचाया है, उससे कही अधिक विकासशील अर्थ-व्यवस्थाओं के विकास को अवरुद्ध किया है। अल्प-विकसित राष्ट्रो मे विकास के तत्व अधोमुखी रहते हैं। इन देशो मे प्रति व्यक्ति आय बहुत कम होने के साथ-साथ पूँजी निर्माण एव विनियोजन की दर और भी कम रहती है, जबकि इन्हे विकास की दौड मे विकसित राष्ट्रों को पकड़ने हेतु पूँजी-निर्माण की दर विकसित राष्ट्रो की तुलना मे अधिक रखनी चाहिए, क्योकि इन देशों मे जनसख्या की वृद्धि की दर भी अधिक रहती है। जनसख्या की आयु-सरचना भी इन राष्ट्रो मे विकास के अनुकूल नही होती है क्योकि जनसख्या मे अनुत्पादक आयु-वर्ग (15 वर्ष से कम) का प्रतिशत विकसित राष्ट्रो की तुलना मे अधिक होता है। यही कारण है कि अल्प-विकसित राष्ट्रो मे विकास की दर कम पायी जाती *है और किसी-किसी राष्ट्र मे तो वास्तविक प्रति व्यक्ति आय बढने के स्थान पर घटती जाती है।*

अल्प-विकसित राष्ट्रो मे विकास के स्तर मे भी अत्यधिक विभिन्नता पायी जाती है। एशियाई, अफ्रीकी एव लैटिन-अमेरिकी अल्प-विकसित राष्ट्रो मे कुछ ऐसे है जिनमे विनियोजन, पूंजी-निर्माण एव उत्पादन मे *तीव्र गति से वृद्धि हो रही है परन्तु इनकी आर्थिक गति का सम्पूर्ण लाभ इन देशो* को प्राप्त नही हो पा रहा है क्योकि इन देशो की आर्थिक प्रगति का मुख्य कारण विदेशियो द्वारा इनके प्राकृतिक साधनो का अवशोषण किया जाना है। दूसरी ओर, अल्प-विकसित राष्ट्रो मे ऐसे भी राष्ट्र है जिनमे विकास की गति अत्यन्त कम अथवा ऋणात्मक है और इन देशो के नागरिको के जीवन-स्तर मे कोई सुधार नही हो रहा है। इन राष्ट्रो मे राजनीतिक एव आर्थिक अस्थिरता निरन्तर विद्यमान रहने के कारण विकास के लिए सुदृढ प्रयास नहीं किये जा सके है।

क्षेत्रीय विकास के रूप—ससार के विभिन्न देशो मे विकास का समान स्तर विद्यमान नही है, जिसके परिणामस्वरूप क्षेत्रीय आर्थिक विषमताएँ निरन्तर बनी हुई है और सन्तुलित विकास की समस्या इसीलिए अधिक गहन होती जा रही है। क्षेत्रीय विकास को निम्नवत् वर्गीकृत कर सकते हैं

(1) विभिन्न देशो का सन्तुलित विकास, तथा

(2) एक ही देश के विभिन्न क्षेत्रो का सन्तुलित विकास।

विभिन्न देशों का सन्तुलित विकास

आधुनिक युग मे विकास के स्तर मे विभिन्न राष्ट्रो मे अत्यधिक विभिन्नता विद्यमान है। विकसित राष्ट्र एव अल्प-विकसित राष्ट्र के रूप मे दो वर्ग केवल अध्ययन को सरल बनाने के लिए स्थापित कर लिये गये है परन्तु इन दोनो समूहो के राष्ट्रो मे भी विकास का स्तर समान नही पाया जाता है। वास्तव मे हमारे पास कोई ऐसे ठोस प्रमाण नही है जिनके आधार पर विभिन्न राष्ट्रो के विकास के स्तर को मापा जा सके। परन्तु वास्तविक विकास का माप औसत प्रति व्यक्ति आय मानकर विभिन्न राष्ट्रो की विकास की स्थिति का अध्ययन किया जाता है। प्रति व्यक्ति औसत आय देश के उत्पादन एव जनसख्या मे सन्निमित होती है। देश की उत्पादक सम्पत्तियो, पूंजी-निर्माण, विनियोजन, अध-सरचना, प्राकृतिक साधनो, मानवीय साधनो, सामाजिक वातावरण आदि पर उत्पादन निर्भर रहता है और जनसख्या की वृद्धि एव सरचना जन्म-मृत्यु-दरो एव औसत जीवन-काल पर निर्भर रहती है। जिन देशो मे उत्पादन एव जनसख्या की स्थिति विकास के अनुरूप रहती है, विकास की गति तेज हो जाती है और ये देश शीघ्र ही विकास के निम्न स्तरो से उठकर ऊँचे स्तरो पर पहुँच जाते है। परन्तु उत्पादन एव जनसख्या घटक जहाँ विकास को प्रभावित करते हैं, वही विकास के स्तर से प्रभावित भी होते है। अल्प-विकसित राष्ट्रो मे व्यापक निर्धनता के कारण आय, बचत एव विनियोजन कम होता है जिससे देश की उत्पादक सम्पत्तियो मे पर्याप्त वृद्धि नही हो पाती है और उत्पादन का स्तर निम्न बना रहता है। व्यापक निर्धनता के कारण जन-समुदाय का जीवनकाल छोटा रहता है और उत्पादक श्रम-शक्ति का जनसख्या मे अनुपात कम रहता है। श्रम-शक्ति मे उत्पादक गुण भी कम पाये जाते हैं क्योकि निर्धनता के कारण जनसाधारण उचित शिक्षा एव प्रशिक्षण प्राप्त नही कर पाता है। साथ ही जीवन की अनिवार्यताओ की पूर्ति न होने के कारण इनका स्वास्थ्य भी उत्पादन मे अधिक योगदान देने के लिए उपयुक्त नही होता है। इस प्रकार अल्प-विकसित राष्ट्रो मे निर्धनता का दुश्चक्र गतिशील रहने के कारण विकास की गति मन्द रहती है।

दूसरी ओर, विकसित राष्ट्रो मे उत्पादन एव जनसख्या की स्थिति विकास के अनुरूप दीर्घ-काल तक बनी रहती है। इन राष्ट्रो मे आय, बचत, विनियोजन आदि सभी घटको की दर ऊँची होती है। जनसख्या की सरचना भी विकास के अनुकूल होती है। जनसख्या मे उत्पादक श्रम का अनुपात अधिक रहता है तथा श्रम के उत्पादक गुण भी अधिक उत्तम होते हैं। यही कारण है कि इन देशो मे विकास की गति तीव्र बनी रहती है। 'अल्प-विकसित राष्ट्रो का परिचय' नामक अध्याय मे दी गयी विभिन्न राष्ट्रो की प्रति व्यक्ति आय के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि ससार के विभिन्न देशो मे प्रति व्यक्ति आय मे अत्यधिक अन्तर है और विभिन्न राष्ट्रो की विकास की दर मे भी बहुत अधिक विषमता विद्यमान है। जहाँ विकसित राष्ट्रो मे प्रति व्यक्ति आय की प्रगति-दर 4% से 5% तक है, वही अल्प विकसित राष्ट्रो मे यह दर 3% से भी कम है।

विभिन्न देशो का असन्तुलित विकास होने के कारण

(1) **निर्धनता का दुश्चक्र**—अल्प-विकसित राष्ट्रो की व्यापक निर्धनता एक ऐसा ऋणात्मक घटक है जो विभिन्न अन्य ऋणात्मक घटकों को जन्म देता है जिससे विकास की गति अवरुद्ध होती है। दूसरी ओर, विकसित राष्ट्रो मे सम्पन्नता का चक्र ऊर्ध्वमुखी होता है जिससे विकास मे सहायता पहुँचाने वाले बहुत से घटक उदय एव सुदृढ होते रहते हैं।

(2) **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की प्रतिकूल शर्ते**—अल्प-विकसित राष्ट्रो को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे अपने निर्यात का पर्याप्त मूल्य नही मिलता है और उन्हे अपने आयात के लिए अधिक मूल्य चुकाना पडता है। इनके निर्यात मे विभिन्नता की कमी, पूर्ति एव माँग मे कम लोच होना, मौद्रिक वातावरण प्रतिकूल होना आदि निर्यात के सम्बन्ध मे प्रतिकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न करते हैं। दूसरी ओर, आयात अधिकतर शर्तयुक्त सहायता के अन्तर्गत होने के कारण सहायता देने वाले देशो की शर्तों पर करने पडते हैं।

(3) **प्राकृतिक साधनो का उपयुक्त अवशोषण न किया जाना**—अल्प-विकसित राष्ट्रो मे प्राकृतिक साधनो का पर्याप्त विदोहन नही किया जा सका है और जिन साधनो का विदोहन किया भी गया है, उन पर विदेशियों का प्रभुत्व है जिससे देश की अर्थ-व्यवस्था को प्राकृतिक साधनो का लाभ उपलब्ध नहीं हो पाता है।

(4) **जनसख्या का परिमाण, सरचना एव गुण विकास के अनुकूल न होना**—अल्प-विकसित राष्ट्रो मे जनसख्या की वृद्धि की गति तेज रहती है और जनसाधारण का जीवनकाल छोटा होता है जिससे उत्पादक श्रम-शक्ति का जनसख्या मे अनुपात कम रहता है। परम्परागत जीवन, व्यापक अशिक्षा एव सामाजिक रूढिवादिता के कारण श्रम मे कुशलता ग्रहण करने की क्षमता एव गतिशीलता कम पायी जाती है जिससे उत्पादन की क्रियाएँ अवरुद्ध होती है।

(5) **राजनीतिक एव आर्थिक अस्थिरता**—विकसित राष्ट्रो की तुलना मे अल्प-विकसित राष्ट्रो मे राजनीतिक उथल-पुथल अत्यधिक होती है। सुदृढ शासन की अनुपस्थिति मे विकास के अनुकूल नीतियो का निर्धारण एव कुशल सचालन सम्भव नही हो पाता है। राजनीतिक एव आर्थिक परिपक्वता न होने के कारण बहुत से कार्यक्रम एव नीतियाँ 'परीक्षण एव त्रुटि' के आधार पर चलाने पडते है जिनसे साधनो का अपव्यय होता है और विकास की गति अवरुद्ध होती है।

(6) **विदेशी सहायता एव पूँजी तथा प्राविधिक ज्ञान की पर्याप्त उपलब्धि न होना**—अल्प-विकसित राष्ट्रो को निर्धनता का दुश्चक्र तोडने के लिए विदेशी पूँजी एव विदेशी प्राविधिक ज्ञान की आवश्यकता होती है। परन्तु विदेशी पूंजी प्राय विकसित राष्ट्रो द्वारा बहुत सी शर्तो के अन्तर्गत प्रदान की जाती है जिससे दीर्घकाल मे विकास की प्रक्रिया को आघात पहुँचता है और विकसित राष्ट्रो पर अल्प-विकसित राष्ट्रो की निर्भरता बढती जाती है। दूसरी ओर, विदेशी तकनीकी ज्ञान भी पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध नही होता है। विकसित राष्ट्रो द्वारा नवीनतम तकनीक अल्प-विकसित राष्ट्रो को प्रदान नहीं की जाती है। इसके अतिरिक्त विकसित राष्ट्रो की तकनीक अल्प-विकसित राष्ट्रो की परिस्थितियो के अनुकूल भी नही होती है।

(7) **औद्योगीकरण की मन्द गति**—असन्तुलित विकास का एक प्रमुख कारण औद्योगीकरण की गति का अन्तर भी है। अल्प विकसित राष्ट्र प्राय कृषि-प्रधान है। कृषि-व्यवसाय मे विकास की गति मन्द रहती है क्योंकि इस व्यवसाय की प्रकृति पर निर्भरता अत्यधिक होती है। दूसरी ओर, औद्योगीकरण की प्रगति की दर मानवीय प्रयासों एव मनुष्य द्वारा निर्मित उत्पादक साधनो पर निर्भर रहती है। यही कारण है कि औद्योगिक राष्ट्रो मे विकास की गति कृषि-प्रधान राष्ट्रो की तुलना में अधिक रहती है।

(8) **आय का वितरण विकास मे सहायक नहीं**—यद्यपि अल्प-विकसित राष्ट्रो मे आय का वितरण विकसित राष्ट्रो की तुलना में अधिक विषम होता है, तथापि अल्प-विकसित राष्ट्रो में आय का बहुत बडा भाग जमीदारों, साहूकारो एव व्यापारियो का प्राप्त होता है। यह वर्ग जोखिमपूर्ण उत्पादक कार्यो मे अपनी बचत का विनियोजन नही करता है। साहूकार एव व्यापारी उपयोगिताओं का निर्माण न करके उपयोगिताओं का विस्तार करते है और कम जोखिम पर अधिक लाभ कमाने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। दूसरी ओर, जमीदार-वर्ग विलासिता के प्रसाधनो, बडे-बडे भवनो एव दिखावे की वस्तुओं पर अधिक धन व्यय करता है। इस प्रकार बचत का महत्त्व एव उत्पादक उपयोग नही हो पाता है और विकास की गति मन्द रहती है। दूसरी ओर, विकसित राष्ट्रो मे आय का वितरण साहसियों के पक्ष मे होता है जिससे उत्पादक विनियोजन में निरन्तर वृद्धि होती रहती है।

(9) **सामाजिक व्यवस्था विकास को अवरुद्ध करती है**—अल्प-विकसित राष्ट्रो का सामाजिक वातावरण रूढिवादी, परम्परागत एव भाग्यवादी होता है। जनसमुदाय परिवर्तन को स्वभावत स्वीकार नही करता और 'जो कुछ प्राचीन है, वही सर्वश्रेष्ठ है' की भावना से ओतप्रोत रहता है। ऐसी परिस्थिति मे नवीन आर्थिक एव सामाजिक मान्यताओं एव सस्थाओं का प्रादुर्भाव एव विकास मन्द गति से होता है जिससे विकास की गति को आघात पहुँचता है। साहसी को समाज में ऊँचा

स्थान प्राप्त नही होता है जिससे अभिनवीकरण की प्रक्रिया सुदृढ नही हो पाती है और विकास अवरुद्ध होता है। विकसित राष्ट्रो मे सामाजिक वातावरण विकास के अनुकूल होता है और समाज द्वारा परिवर्तनो को स्वभावत स्वीकार कर लिया जाता है जिससे विकास की गति सुदृढ होती है।

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि क्षेत्रीय असन्तुलित विकास के कुछ कारण विभिन्न देशो की आन्तरिक प्रतिकूल परिस्थितियो से उदय होते है और कुछ बाह्य परिस्थितियो से प्रभावित होते हैं। वास्तव मे विकसित राष्ट्र यह नही चाहते कि अल्प-विकसित राष्ट्र मे विकास की गति इतनी तीव्र हो कि वे विकसित राष्ट्रो के आश्रय से मुक्त हो जायें। जो भी सहायता विकसित राष्ट्रो एव विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ द्वारा विकासशील राष्ट्रो को प्रदान की जाती है, उसका अन्तिम लक्ष्य विकसित राष्ट्रो पर विकासशील राष्ट्रो की निर्भरता को बनाये रखना होता है। यही कारण है कि विभिन्न राष्ट्रो मे विकास की गति मे इतना अन्तर पाया जाता है।

आय का विषम वितरण

अभी तक हमने विभिन्न देशो के असन्तुलित विकास के एक ही पक्ष का अध्ययन किया है, जिसका आधार हमने औसत प्रति व्यक्ति आय को माना। असन्तुलित विकास का दूसरा पक्ष यह है कि विभिन्न देशो मे आय का वितरण विषम है और इस विषमता की गहनता सभी राष्ट्रो मे समान नही है। अल्प-विकसित राष्ट्रो मे आय का वितरण विकसित राष्ट्रो की तुलना मे अधिक विषम है। अल्प-विकसित राष्ट्रो मे गरीबी की रेखा से नीचे के जीवन-स्तर वाली जनसख्या का प्रतिशत विकसित राष्ट्रो की तुलना मे कही अधिक है। आय के अधिक विषम वितरण के तीन प्रमुख कारण अल्प-विकसित राष्ट्रो मे गतिशील रहते हैं

(1) **दोहरी अर्थ-व्यवस्था**—अल्प-विकसित राष्ट्रो की अर्थ-व्यवस्था की सरचना के दो विपरीत खण्ड हो जाते है—तकनीक एव सस्थनीय (Institutional) दृष्टिकोण से पिछडा हुआ खण्ड, एव तकनीकी दृष्टिकोण से विकसित तथा सुसगठित आधुनिक खण्ड। इन दोनो विपरीत दिशाओ वाले खण्डो की एक ही समय मे उपस्थिति आर्थिक विषमताओ को बढाने मे सहायक होती है। विकासशील राष्ट्रो मे आधुनिक खण्ड का विकास एव विस्तार एक अनिवार्यता होती है और इसके प्रादुर्भाव के साथ-साथ जब विषमताएँ बढने लगती हैं तो सामान्यत ऐसा महसूस किया जाता है कि यह आधुनिक खण्ड ही विषमताओ को बढाने का एकमात्र कारण है। परन्तु आधुनिक खण्ड को विषमताओ की वृद्धि का एकमात्र कारण कहना उचित नही है क्योकि आर्थिक विकास का लाभ समस्त जनसमुदाय तक तभी पहुँचाया जा सकता है जबकि परम्परागत व्यवस्था का पूर्णरूपेण प्रतिस्थापन किया जा सके। इस प्रकार परम्परागत व्यवस्था का विद्यमान रहना भी विषमताओ को बढाने मे सहायक होता है क्योकि वह विकास की प्रक्रिया के विस्तार को अवरुद्ध करता है।

(2) **बेरोजगार एवं आंशिक रोजगार**—अल्प-विकसित राष्ट्रो मे जन्म-दर विकसित राष्ट्रो की तुलना मे अधिक होती है जिससे अल्प-विकसित राष्ट्रो मे बेरोजगार एव आंशिक रोजगार की समस्या निरन्तर बढती जाती है। बेरोजगार एव आंशिक रोजगार आर्थिक विषमता को बढावा देते हैं।

(3) **शिक्षा एवं प्रशिक्षण की सुविधाओं की कमी**—अल्प-विकसित राष्ट्रो मे शिक्षा एव प्रशिक्षण की सुविधा आर्थिक सम्पन्नता पर निर्भर रहती है। निर्धन-वर्ग को अपने बच्चो को अधिक आय प्रदान करने वाली शिक्षा एव प्रशिक्षण दिलाना सम्भव नही होता है जिसमे आयोपार्जन करने की क्षमता मे अन्तर उत्पन्न होता है और आर्थिक विषमताएँ बढती हैं।

कुछ अल्प-विकसित राष्ट्रो मे उत्तराधिकार का विधान एव व्यावसायिक जातीयता भी आर्थिक विषमताओ को बढाने मे सहायक होती है। सम्पन्न-वर्ग को जहाँ अपने बच्चो को अधिक आयोपार्जन वाले व्यवसायो की शिक्षा एव प्रशिक्षण दिलाने के अवसर मिलते हैं, वही इन्हे अनुपार्जित आय के साधन उत्तराधिकार मे मिल जाते है जिससे आर्थिक विषमताएँ निर्धन-वर्ग के निरन्तर प्रतिकूल बनी रहती है। विश्व के विभिन्न विकसित एव अल्प-विकसित राष्ट्रो मे आय के विषम वितरण का अध्ययन अग्राकित तालिका (59) से किया जा सकता है

तालिका 59—विभिन्न राष्ट्रो मे प्रति व्यक्ति आय एव आय का वितरण[1]

राष्ट्र	प्रति व्यक्ति सकल आय (1971) (अमेरिकी डॉलर)	निम्नतम आय वाली 40% जनसख्या का राष्ट्रीय आय मे प्रतिशत अश	मध्यम-वर्ग की आय वाली 40% जनसख्या का राष्ट्रीय आय मे प्रतिशत अश	उच्चतम आय वाली 20% जनसख्या का राष्ट्रीय आय मे प्रतिशत अश
विकसित राष्ट्र				
1 स रा अमेरिका (1970)	4 850	19 7	41 5	38 8
2 कनाडा (1965)	2 920	20 0	39 8	40 2
3 आस्ट्रेलिया (1968)	2 509	20 0	41 2	38 8
4 ब्रिटेन (1968)	2 015	18 8	42 2	39 0
5 जर्मनी (1964)	2,144	15 4	31 7	52 9
6 डेनमार्क (1968)	2,563	13 6	38 8	47 6
7 नार्वे (1968)	2 010	16 6	42 9	40 5
8 हगरी (1969)	1 140	24 0	42 5	33 5
9 जापान (1963)	950	20 7	39 3	40 0
अल्प विकसित राष्ट्र				
10 केनिया (1969)	136	10 0	22 0	68 0
11 इराक (1956)	200	6 8	25 2	68 0
12 टर्की (1968)	282	9 3	29 9	60 8
13 मलेशिया (1970)	330	11 6	32 4	56 0
14 मैक्सिको (1969)	645	10 5	25 5	64 0
15 बर्मा (1958)	82	16 5	38 7	44 8
16 भारत (1964)	99	16 0	32 0	52 0
17 ईरान (1968)	332	12 5	33 0	54 5
18 पाकिस्तान (1964)	100	17 5	37 5	45 0

उक्त तालिका के अध्ययन से ज्ञात होता है कि विकसित राष्ट्रो की तुलना मे अल्प-विकसित राष्ट्रो की निम्नतम आय वाली 40% जनसख्या का राष्ट्रीय आय मे अश कम है। विकसित राष्ट्रो मे जहाँ निम्नतम आय-वर्ग की 40% जनसख्या को 15% से 20% तक राष्ट्रीय आय का भाग प्राप्त होता है, वही अल्प-विकसित राष्ट्रो मे इस वर्ग का राष्ट्रीय आय मे अश 10% से 15% के बीच मे पाया जाता है। दूसरी ओर, उच्चतम आय वाली 20% जनसख्या का राष्ट्रीय आय मे अश अल्प विकसित राष्ट्रो मे 60% के आसपास है जबकि विकसित राष्ट्रो मे इस जनसख्या-वर्ग का राष्ट्रीय आय मे अश 40% के लगभग है। इन तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि अल्प-विकसित राष्ट्रो मे राष्ट्रीय उत्पादन कम होने के साथ इस उत्पादन का वितरण अत्यधिक विषम होता है जिससे निर्धनता की व्यापकता एव गहनता अधिक पायी जाती है।

विभिन्न अल्प विकसित राष्ट्रो मे विकास नियोजन द्वारा राष्ट्रीय एव प्रति व्यक्ति आय मे वृद्धि करने हेतु जो परियोजनाएँ एव कार्यक्रम सचालित किये जाते हैं उनसे राष्ट्रीय उत्पादन एव औसत प्रति व्यक्ति उत्पादन मे तो वृद्धि हो जाती है परन्तु आय का पुनर्वितरण करके आर्थिक एव सामाजिक समानता उदय नही हो पाती है। विकास-विनियोजन के फलस्वरूप कभी कभी आर्थिक विषमताओं मे कमी होने के स्थान पर वृद्धि हो जाती है क्योंकि उत्पादन एव आय-वृद्धि का लाभ सम्पन्न-वर्गों को अधिक प्राप्त होता है। कम आय वाला वर्ग इतना असगठित, अशिक्षित, अज्ञानी

1 *Finance and Development*, Sept , 1974

एव रूढिवादी होता है कि वह सामान्य राजकोषीय एव मौद्रिक नीतियो का लाभ उठाने मे समर्थ नही होता है।

एक ही राष्ट्र के विभिन्न क्षेत्रों का सन्तुलित विकास

अल्प-विकसित राष्ट्रो की प्रक्रिया मे अन्तर्क्षेत्रीय असन्तुलित विकास एक समस्या का रूप ग्रहण करता है। विकास-विनियोजन की वृद्धि के साथ-साथ प्राय असन्तुलित विकास की गहनता मे वृद्धि होती जाती है और निर्धन क्षेत्रो एव वर्गों को विकास का लाभ सम्पन्न क्षेत्रो एव सम्पन्न वर्गों की तुलना मे कम ही प्राप्त होता है जिससे तुलनात्मक दृष्टिकोण से सम्पन्नता एव विषमता का अन्तर और अधिक हो जाता है। सन्तुलित विकास को हम निम्नलिखित तीन अर्थों मे समझते हैं

1 क्षेत्रीय सन्तुलन (Regional Balance),
2 खण्डीय सन्तुलन (Sectoral Balance),
3 आय-वितरण सन्तुलन (Income-Distribution Balance)।

1 **क्षेत्रीय सन्तुलन**—क्षेत्रीय सन्तुलन से हमारा तात्पर्य किसी देश के विभिन्न भौगोलिक एव राजनीतिक क्षेत्रो के समान विकास मे है अर्थात् विकास-प्रक्रिया का सचालन इस प्रकार किया जाय कि विभिन्न क्षेत्रो के विकास को गतिशील रखने के साथ-साथ पिछडे हुए क्षेत्रो के विकास की गति को अधिक तीव्र रखा जाय जिससे पिछडे क्षेत्र विकसित क्षेत्रो के समान विकास का स्तर प्राप्त कर सकें। इसका तात्पर्य यह कदापि नही है कि विकास-प्रक्रिया मे विकसित क्षेत्रो के और विकास को उस समय तक गतिहीन रखा जाय जब तक कि अन्य क्षेत्र इनके समान विकास-स्तर प्राप्त न कर लें। विकसित क्षेत्रो के विकास की गति से पिछडे क्षेत्रो की विकास की गति को तीव्र रखकर इस उद्देश्य की पूर्ति की जा सकती है। वर्तमान युग मे लगभग सभी विकासशील राष्ट्र असन्तुलित क्षेत्रीय विकास के दोष से पीडित हैं और इन देशो की विकास-प्रक्रिया का सचालन इस प्रकार किया गया है कि क्षेत्रीय असन्तुलन मे कमी होने के स्थान पर वृद्धि होती जा रही है। क्षेत्रीय असन्तुलित विकास के उदय होने के निम्नलिखित प्रमुख कारण हैं

(1) **उपरिव्यय-सुविधाओ की उपलब्धि**—प्राय विकसित क्षेत्रो मे उपरिव्यय-सुविधाएँ—यातायात, सचार अधिकोषण, विद्युत आदि—पहले से ही विद्यमान रहती है जिसके परिणामस्वरूप उत्पादन मे तुरन्त वृद्धि करने हेतु इन क्षेत्रो मे कम पूंजी-विनियोजन पर अधिक उत्पादन प्राप्त करना सम्भव होता है। पिछडे क्षेत्रो मे उपरिव्यय सुविधाएँ बढाने हेतु अधिक पूंजी की आवश्यकता होती है।

(2) **विकास-प्रक्रिया की अवशोषण (Absorption)-क्षमता**—पिछडे क्षेत्रो मे विकास-प्रक्रिया के सचालन के लिए जिन सरचनात्मक परिवर्तनो की सामाजिक एव आर्थिक क्षेत्र मे आवश्यकता होती है, वे परिवर्तन जनसाधारण द्वारा स्वभावत स्वीकार नही किये जाते है। ऐसी परिस्थिति मे इन क्षेत्रो मे विकास-प्रक्रिया की गति मन्द रहती है। इसके साथ विकास-परियोजनाओ के सचालन हेतु जिन सहायक एव पूरक सुविधाओ, अभिवृत्तियो एव वातावरण की आवश्यकता होती है, वह भी पिछडे क्षेत्रो मे उपलब्ध नही होते हैं।

(3) **कृषि-क्षेत्र के विकास की गति मन्द एव सीमित**—पिछडे क्षेत्र प्राय कृषि-प्रधान होते हैं। लगभग सभी विकासशील राष्ट्रो मे ग्रामीण क्षेत्रो मे जनसाधारण की आय एव जीवन-स्तर नगरीय क्षेत्रो की तुलना मे कम होता है। कृषि-व्यवस्था मे प्रगति-दर न तो तीव्र होती है और न ही निश्चित रहती है क्योकि कृषि की तान्त्रिकताओ मे निरन्तर परिवर्तन करना और परिवर्तनो को स्वीकार करना सम्भव नही होता है। इसके साथ ही जलवायु की अनिश्चितता प्रगति की दर को कृषि-क्षेत्र मे अनिश्चित रखती है। सामान्यत कृषि-क्षेत्र मे 6% प्रति वर्ष से अधिक प्रगति प्राप्त करना सम्भव नही होता। ऐसी परिस्थिति मे पिछडे क्षेत्रो को विकसित करने के लिए उनकी आर्थिक सरचना मे परिवर्तन करना आवश्यक होता है और औद्योगिक विकास के लिए आधारभूत सुविधाएँ प्रदान करने की आवश्यकता होती है। ये सब कार्य दीर्घकाल मे ही पूरे किये जा सकते हैं जिसके परिणामस्वरूप विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओ मे क्षेत्रीय असन्तुलन बना रहता है।

(4) **राजनीतिक दबाव**—पिछडे क्षेत्रो के प्रतिनिधियो का राजनीतिक प्रभाव भी विकसित

क्षेत्रो के प्रतिनिधियों की तुलना मे प्राय कम होता है जिसके परिणामस्वरूप सरकारी विकास-कार्यक्रम एव विनियोजन प्राय विकसित क्षेत्रों मे केन्द्रित हो जाते हैं जिससे क्षेत्रीय असन्तुलन बना रहता है।

(5) **निजी क्षेत्र के अन्तर्गत विकास सम्भव नहीं**—पिछडे क्षेत्रो मे निजी क्षेत्र विकास-प्रक्रिया मे अधिक योगदान नही प्रदान करता है। निजी क्षेत्र अपनी उत्पादन एव विनियोजन-क्रियाओ को अपने लाभ के सन्दर्भ मे निर्धारित करता है और पिछडे क्षेत्रो मे आवश्यक सुविधाएँ पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध न होने के कारण विनियोजन की लाभोपार्जन-क्षमता कम होती है और जोखिम अधिक होती है। ऐसी परिस्थिति मे समस्त विकास-कार्यक्रमो को सार्वजनिक क्षेत्र मे सचालित करना आवश्यक होता है परन्तु सार्वजनिक क्षेत्र मे इतनी अधिक पूँजी विनियोजन करना अल्पकाल मे सम्भव नही होता है।

(6) **व्यापक निर्धनता**—व्यापक निर्धनता भी पिछडे हुए क्षेत्रो के विकास मे बाधाएँ उपस्थित करती है। असगठित आर्थिक व्यवस्था एव सामाजिक जडता इन क्षेत्रों मे सामान्य राजकोषीय एव मौद्रिक सुविधाओ को जनसाधारण तक नही पहुँचने देती है। निर्धनता का दूषित चक्र इन क्षेत्रो मे इतनी सुदृढता मे गतिशील रहता है कि विकास-प्रक्रिया सचालित करने हेतु विशेष नीतियो एव आयोजनों की आवश्यकता होती है।

सामान्य विपणि-व्यवस्था के अन्तर्गत क्षेत्रीय विषमताओं का उदय होना स्वाभाविक होता है क्योकि विभिन्न आर्थिक क्रियाएँ ऐसे स्थानो पर सामूहीकृत (Cluster) होती है जहाँ पहले से ही आर्थिक गतिविधि विद्यमान हैं। इन स्थानो पर आर्थिक क्रियाओ के विस्तार हेतु उपरिव्यय एव अन्य सुविधाएं पहले से ही विद्यमान रहती है। इन केन्द्रो मे नवीन आर्थिक क्रियाओ के आकर्षित होने के कारण अन्य क्षेत्रो की आर्थिक क्रियाओ पर सकुचन-प्रभाव (Backwash Effect) पडता है क्योकि उत्पादन के साधन पिछडे क्षेत्रो से विकसित क्षेत्रो की ओर प्रवाहित होते रहते है। यह सकुचन प्रभाव पिछडे क्षेत्रो की आय, बचत एव विनियोजन सभी पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है जिससे क्षेत्रीय असन्तुलन मे वृद्धि होती है। दूसरी ओर, विकसित क्षेत्रो के आर्थिक विस्तार का विस्तारक-प्रभाव (Spread Effect) भी होता है। विस्तारक-प्रभाव के अन्तर्गत विकसित क्षेत्रो के उद्योगो एव व्यवसायो को कच्चा माल औजार, प्रशिक्षित श्रम आदि प्रदान करने के लिए अन्य क्षेत्रो मे आर्थिक क्रियाओ का विस्तार और उसके साथ-साथ विभिन्न क्षेत्रो की अव-सरचना (यातायात, सचार एव अधिकोषण) भी सुदृढ होती है, जिससे अन्य क्षेत्रो मे आय मे वृद्धि होती है, उपभोग की माँग बढती है और अन्तत उत्पादक विनियोजन बढता है। इस प्रकार अपने विस्तारक प्रभाव के माध्यम से विकसित क्षेत्र अल्प-विकसित क्षेत्रों के विकास मे सहायक होते है। परन्तु विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओ मे सकुचन-प्रभाव अधिक तीव्र गति से चलता है जबकि विस्तारक-प्रभाव विकास की अच्छी अवस्थाओ मे तीव्र गति प्राप्त करता है।

इन प्रतिकूल परिस्थितियो का निवारण करने के लिए वर्तमान काल मे क्षेत्रीय नियोजन (Regional Planning) को अत्यधिक महत्व दिया जाने लगा है। क्षेत्रीय असन्तुलन को दूर करने के लिए विभिन्न देशो मे राजनीतिक एव भौगोलिक क्षेत्रों का पुन निर्धारण किया जाता है, जैसे हमारे देश मे राज्यो का पुनर्गठन किया गया है। क्षेत्रीय नियोजन के अन्तर्गत पिछडे हुए क्षेत्रो की परिस्थितियो के अनुरूप विशेष विकास-योजनाएँ सचालित की जाती हैं जिनके अन्तर्गत इन क्षेत्रो के प्राकृतिक साधनों का विकास किया जाता है विकास-स्तम्भों (Growth Poles) की स्थापना की जाती हैं तथा सिचाई, बाढ-नियन्त्रण, विद्युत-उत्पादन आदि उपरिव्यय-सुविधाओ को बढाया जाता है। विकास-स्तम्भो का तात्पर्य ऐसे प्रशासनिक, राजनैतिक अथवा आर्थिक कार्यक्रम से है जिसके माध्यम से विभिन्न विकास-क्रियाओ का नवीन स्थानो पर केन्द्रीकरण होता है, जैसे किसी नये स्थान पर राजधानी स्थापित करने से उस स्थान का स्वत ही विकास हो जाता है।

2 **खण्डीय सन्तुलन**—खण्डीय सन्तुलन के अन्तर्गत अर्थ-व्यवस्था विभिन्न खण्डो—कृषि, खनिज, उद्योग, यातायात, सचार, शिक्षा-प्रशिक्षण आदि—मे सन्तुलन स्थापित किया जाता है। विभिन्न उद्योगो एव व्यवसायो मे पारस्परिक सन्तुलन स्थापित किये बिना विकास की प्रक्रिया को

गति प्रदान नही की जा सकती है क्योंकि एक उद्योग अथवा व्यवसाय के उत्पादो अथवा सेवाओं का उपयोग अन्य उद्योगो एव व्यवसायों मे आदायो (Inputs) के रूप मे किया जाता है। इस प्रकार अर्थ-व्यवस्था के समस्त खण्ड एक-दूसरे से इतने घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध रहते है कि किसी एक की प्रगति अथवा पिछड़ापन दूसरे खण्डो को प्रभावित किये बिना नही रह सकता है। जब तक अर्थ-व्यवस्था के सभी खण्डो का विकास सन्तुलित रूप से नही किया जाता है, एक खण्ड दूसरे खण्ड के क्रियाकलाप को या तो अवरुद्ध करता है अथवा एक खण्ड की क्रियाएँ दूसरे खण्ड की क्रियाओ को दोहराती (Overlapping) हैं जिससे साधनो का अपव्यय होता है। यही कारण है कि अर्थ-व्यवस्था के विकास-कार्यक्रमो को निर्धारित करने के लिए आदाय-प्रदाय-विश्लेषण (Input-Output Analysis) आवश्यक समझा जाने लगा है। अधिकतर विकासशील राष्ट्रो मे विकास की गति तीव्र न होने का कारण खण्डीय असन्तुलन है। जब विकास-कार्यक्रमों का निर्धारण आर्थिक विचारधाराओं की तुलना मे राजनीतिक एव कल्याण सम्बन्धी विचारधाराओं को अधिक महत्व प्रदान करके किया जाता है तो खण्डीय असन्तुलन होता है। अर्थ-व्यवस्था मे पर्याप्त एव विश्वसनीय सांख्यिकी उपलब्ध नही होने पर भी खण्डीय सन्तुलन स्थापित करना कठिन होता है। मिश्रित अर्थ-व्यवस्था में भी निजी एव सार्वजनिक क्षेत्र मे समन्वय न होने के कारण खण्डीय असन्तुलन उदय होता है।

3 **आय-वितरण सन्तुलन**—विकास-नियोजन के परिणामस्वरूप राष्ट्रीय एव प्रति व्यक्ति आय मे तो वृद्धि हो जाती है परन्तु आय के पुर्नवितरण द्वारा समानता उदय नही हो पाती है। प्रति व्यक्ति आय-वृद्धि केवल औसत वृद्धि को व्यक्त करती है और इसके द्वारा आय के समान वितरण को मापा नही जा सकता है। आय एव अवसर की समानता उत्पन्न किये बिना विकास की प्रक्रिया का लाभ सम्पन्न वर्गो को ही अधिक मिलता है जिससे विषमताओ मे और अधिक वृद्धि होती है। विश्व बैंक के अध्यक्ष श्री मैकनामारा ने विकासशील राष्ट्रो को चेतावनी दी है कि यदि आय की विषमताओ को समाप्त करने के लिए पर्याप्त प्रयत्न नही किये जायेंगे तो हिंसक क्रान्ति एव सामाजिक दुर्व्यवस्था उदय हो सकती है। आय के विषम वितरण से समाज मे सम्पन्न एव विपन्न जन-समुदाय के वर्ग स्थापित होते है और सामाजिक असन्तुलन का उदय होता है। विकासशील राष्ट्रो मे आर्थिक प्रगति के साथ-साथ विषमताएँ एव सामाजिक असन्तुलन भी बढता जाता है और व्यापक निर्धनता निरन्तर बनी रहती है। आर्थिक प्रगति द्वारा उत्पादन एव आय मे जो वृद्धि होती है उसका लाभ विशेष राजकोषीय एव मौद्रिक नीतियो द्वारा निर्धन-वर्ग तक पहुँचना चाहिए। कम आय वाला वर्ग इतना असंगठित, अशिक्षित एव अज्ञानी होता है कि सामान्य राजकोषीय एव मौद्रिक नीतियों का लाभ इस वर्ग तक नही पहुँचाया जा सकता है।

प्राय समस्त विकासशील राष्ट्रो मे ग्रामीण तथा नगरीय जनसख्या की आय एव जीवन-स्तर मे काफी अन्तर पाया जाता है। ग्रामीण क्षेत्रो मे निर्धन-वर्ग का अधिक केन्द्रीकरण होता है। ग्रामीण जनसख्या का अधिकतर भाग कृषि-क्षेत्र मे कार्यरत रहता है। कृषि मे कार्यरत जनसख्या म से कृषि-मजदूर एव लघु कृषक निर्धनता मे पीडित रहते है। ऐसी परिस्थिति मे विकास कार्यक्रमो को कृषि के पक्ष मे निर्धारित करना चाहिए। परन्तु कृषि-विकास-विनियोजन को प्राथमिकता देकर ही आय-वितरण को सन्तुलित नही किया जा सकता है क्योंकि कृषि-विकास-कार्यक्रमो का लाभ प्राय बडे एव सम्पन्न कृषकों को वितरित हो जाता है। इस परिस्थिति मे निर्धन ग्रामीण जनसख्या की आय-वृद्धि के लिए विशेष नीतियो एव कार्यक्रमो को सचालित करने की आवश्यकता होती है। ग्रामीण क्षेत्रो मे आय के वितरण की विषमता को सरचनात्मक परिवर्तन करके ही कम किया जा सकता है क्योंकि ग्रामीण क्षेत्रो मे आय का वितरण भूमि-वितरण के सन्दर्भ मे होता है। जब तक भूमि का पुनर्वितरण नही किया जाता है, ग्रामीण आय की विषमता को कम करना सम्भव नहीं हो सकता है। भूमि के पुनर्वितरण के साथ-साथ गैर-कृषि-व्यवसायो का विकास भी ग्रामीण क्षेत्रो म किया जाना चाहिए। विश्व बैंक अनुसन्धान केन्द्र एव ससैक्स विश्वविद्यालय के विकास-अध्ययन के सस्थान द्वारा किये गये अध्ययनो से ज्ञात होता है कि विकासशील राष्ट्रो मे लगभग आधी जनसख्या की प्रति व्यक्ति आय 75 अमेरिकी डॉलर से कम है।

तालिका 60—विभिन्न देशों में गरीबी की रेखा के नीचे जीवन-स्तर वाली जनसंख्या का अनुमानित प्रतिशत[1]

(सन् 1969)

देश	50 अमेरिकी डॉलर से कम आय वाली जनसंख्या का प्रतिशत	72 अमेरिकी डॉलर से कम आय वाली जनसंख्या का प्रतिशत
1 कोलम्बिया	15 4	27·0
2 ब्राजील	12 7	20·0
3 मैक्सिको	7 8	17·8
4 बर्मा	53 6	71 0
5 श्रीलंका	33 0	63·5
6 भारत	44 5	66·9
7 पाकिस्तान (पूर्व एवं पश्चिम)	32 5	57 9
8 थाईलैण्ड	26 8	44 3
9 टर्की	12 0	23·7
10 इराक	24 0	33 3
11 मलेशिया	11 0	15 5
12 ईरान	8 5	15 0
13 तंजानिया	57 9	72 9
14 युगाण्डा	21 3	49 8
15 ट्यूनीशिया	22 5	32 1
16 रोडेशिया	17 4	37 4
17 जाम्बिया	6 3	7 5
18 दक्षिणी अफ्रीका	12 0	15·5

उक्त तालिका से स्पष्ट है कि एशियाई राष्ट्रों में आय की विषमता अत्यधिक है। गरीबी का केन्द्रीकरण एशिया में सर्वाधिक है क्योंकि एशिया में जनसंख्या का आधिक्य भी है और जनसंख्या का 50% से भी अधिक भाग 75 डॉलर से कम आय पाने वाला है। ग्रामीण क्षेत्रों में आय की विषमता नगरीय क्षेत्रों की तुलना में कम है। नगरीय क्षेत्रों में अधिकतम आय वाली 20% जनसंख्या को कुल नगरीय आय का 50% से 57% तक प्राप्त होता है, जबकि ग्रामीण क्षेत्र में यह वर्ग ग्रामीण आय का 43% से 55% तक प्राप्त करता है। इस प्रकार ग्रामीण क्षेत्रों में आय-वृद्धि को निर्धन-वर्ग के पक्ष में वितरित करके आय की विषमता को कम किया जा सकता है। दूसरी ओर, नगरीय क्षेत्रों में आय के साधनों एवं अवसरों का पुनर्वितरण करके ही विषमताओं को कम किया जा सकता है।

• रोजगार के अवसरों में पर्याप्त वृद्धि द्वारा मजदूरी पाने वाली श्रम-शक्ति की आय में सुधार किया जा सकता है परन्तु अल्प-विकसित राष्ट्रों में निर्धन समुदाय में बहुत बड़ा अंश ऐसे लोगों का होता है जो अपना स्वतन्त्र व्यवसाय चलाते है। इन स्वत रोजगार-प्राप्त लोगों की आय में वृद्धि करने के लिए विशेष कार्यक्रमों की आवश्यकता होती है। इनकी आयोपार्जन-क्षमता बढ़ाने हेतु इनको साख, कच्चे माल, विद्युत, विपणन-सुविधाओं आदि आदायों को प्रदान करने की व्यापक व्यवस्था करना आवश्यक होता है।

विषमताओं के कम करने हेतु विकास के गतिशील होने पर उत्पादक सम्पत्तियों, रोजगार के अवसरों तथा शिक्षा एवं प्रशिक्षण की सुविधाओं का विस्तार करने के साथ इनका पुनर्वितरण निर्धन-वर्ग के पक्ष में किया जाना चाहिए क्योंकि ये तीन घटक ही आयोपार्जन-क्षमता के निर्धारक तत्त्व होते है।

[1] *Finance and Development*, Sept., 1974

अर्थ-व्यवस्था के सन्तुलित विकास के लिए क्षेत्रीय, खण्डीय एव आय-वितरण सम्बन्धी सन्तुलन आवश्यक होते है। ये तीनो सन्तुलन एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध रहते है।

भारत मे क्षेत्रीय सन्तुलित विकास

अन्य अल्प विकसित राष्ट्रो के समान भारत मे भी विकसित क्षेत्रो एव वर्गो को विकास विनियोजन का लाभ अधिक उपलब्ध हुआ है जिसके परिणामस्वरूप क्षेत्रीय असन्तुलन मे वृद्धि हुई है। पाँचवी योजना मे क्षेत्रीय असन्तुलन को कम करने के लिए विशेष कार्यवाहियाँ की गयी हैं। बीस-सूत्री कार्यक्रम असन्तुलित विकास की समस्या के निवारण में बहुत बडा योगदान प्रदान कर रहा है।

भारत मे नियोजित विकास का लाभ सभी राज्यों को समान रूप से प्राप्त नही हुआ है जिसके परिणामस्वरूप कुछ राज्यो में अन्य राज्यों की तुलना मे लोगो के जीवन-स्तर मे अधिक सुधार हुआ है जो क्षेत्रीय असन्तुलन का द्योतक है। निम्नांकित तालिका मे विभिन्न राज्यो की प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि को दर्शाया गया है

तालिका 61—विभिन्न राज्यो मे प्रति व्यक्ति आय

(सन् 1960 61 एव सन् 1970-71)

	राज्य	1960-61 प्रति व्यक्ति आय	1970-71 प्रति व्यक्ति आय (1960 61 के मूल्यो पर)	1960-61 प्रति व्यक्ति आय का सूचकांक (समस्त भारत =100 के प्रतिशत के रूप मे)	1970-71[1] प्रति व्यक्ति आय का सूचकांक (समस्त भारत =100 के प्रतिशत के रूप मे)	1960-61 पर 1970 71 मे प्रतिशत वृद्धि	प्रति व्यक्ति आय चालू मूल्यो पर 1972-73 से 1974-75 का औसत
1	आन्ध्र प्रदेश	291	300	93 9	86 5	3 1	771
2	असम	254	285	81 9	82 1	12 2	667
3	बिहार	216	216	69 7	62 2	0 0	604
4	गुजरात	388	425	125 2	122 5	9 5	847
5	हरियाणा	327	440	105 5	126 8	34 6	1,021
6	हिमाचल प्रदेश	281	324	90 6	93 4	15 3	889
7	जम्मू-कश्मीर	287	324	92 6	93 4	13 9	628
8	केरल	263	291	84 8	83 9	10 7	668
[illegible]	मध्य प्रदेश	255	267	82 3	76 9	5 5	696
10	महाराष्ट्र	399	421	128 7	121 3	26 0	1,062
11	कर्नाटक	242	305	78 1	87 9	—1 0	686
12	उडीसा	251	249	81 0	71 8	25 0	599
13	पजाब	376	470	121 3	135 4	9 3	1,182
14	राजस्थान	247	270	79 7	77 8	13 1	726
15	तमिलनाडु	344	289	111 0	112 1	10 0	847
16	उत्तर प्रदेश	247	272	79 7	78 9	8 3	733
17	पश्चिम बगाल	313	339	101 0	97 7	11 [illegible]	925
18	भारत	310	347	100 [illegible]	100 [illegible]	—	977

विभिन्न राज्यो की प्रति व्यक्ति आय का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि राज्यो की प्रति व्यक्ति आय मे अत्यधिक विभिन्नता है। बिहार, केरल, मध्य प्रदेश, उडीसा, राजस्थान और उत्तर प्रदेश मे प्रति व्यक्ति आय 300 रुपये से भी कम है, जबकि महाराष्ट्र, पजाब, हरियाणा व गुजरात

1 सन 1970 71 के खाते मे असम, गुजरात, बिहार, हरियाणा और राजस्थान की आय सन् 1969-70 वर्ष की है।

में यह 400 रुपये से भी अधिक है। यदि सन् 1960-61 और सन् 1970-71 के काल में होने वाली प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि का अध्ययन करें तो हमें ज्ञात होता है कि कर्नाटक, पंजाब एवं हरियाणा में इस काल में प्रति व्यक्ति आय में 25% से भी अधिक वृद्धि हुई है। दूसरी ओर, आन्ध्र प्रदेश, बिहार मध्य प्रदेश एवं उड़ीसा राज्यों में सन् 1960-61 से सन् 1970-71 के दशक में प्रति व्यक्ति आय में 5% से भी कम वृद्धि हुई है। प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि के दृष्टिकोण से सबसे अधिक सोचनीय स्थिति उड़ीसा की रही है क्योंकि इस राज्य में इस दशक में प्रति व्यक्ति आय में 1% की कमी हुई है। सन् 1960-61 और सन् 1970-71 दोनों ही वर्षों में बिहार, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, राजस्थान व उत्तर प्रदेश (कर्नाटक को छोड़कर) राज्यों की निम्नतम आय वाली स्थिति बनी रही। इन सभी राज्यों की प्रति व्यक्ति आय समस्त भारत की प्रति व्यक्ति आय से कम है। इन राज्यों के अतिरिक्त आन्ध्र प्रदेश, असम, हिमाचल प्रदेश, जम्मू-कश्मीर, केरल, कर्नाटक एवं पश्चिम बंगाल में भी प्रति व्यक्ति आय समस्त भारत की प्रति व्यक्ति आय से कम है।

सन् 1972-73 से सन् 1974-75 के प्रति व्यक्ति आय के आँकड़ों से यह स्पष्ट है कि महाराष्ट्र, पंजाब, गुजरात, पश्चिम बंगाल एवं हरियाणा अन्य राज्यों की तुलना में अधिक सम्पन्न हैं। इन राज्यों की सम्पन्नता का प्रमुख कारण इनका द्रुत गति से औद्योगीकरण है। सन् 1974-75 में देश के कारखाना-उत्पादन में महाराष्ट्र का भाग 25 1%, गुजरात का 10 9%, पश्चिम बंगाल का 11 0% और पंजाब का 3 2% था। इस प्रकार यह चार राज्य देश के कुल कारखाना-उत्पादन का 50 2% भाग उत्पादित करते थे।

नियोजित विकास के अन्तर्गत देश में आधारभूत सुविधाओं का विस्तार अत्यन्त विषम रहा है जैसा सम्मुख पृष्ठ पर दी गयी तालिका 62 से स्पष्ट है।

भारत की योजनाओं के प्रमुख उद्देश्य हैं—(अ) कृषि एवं उद्योगों का विस्तार कर राष्ट्रीय आय में वृद्धि करना, तथा (आ) श्रम-शक्ति का उपयोग, रोजगार में वृद्धि-अवसरों की समानता का आयोजन, आय एवं धन की विषमताओं को कम करना तथा आर्थिक सत्ताओं का अधिक समान वितरण। इस प्रकार प्रथम उद्देश्य मुख्य रूप से आर्थिक है और द्वितीय उद्देश्य सामाजिक सुधारों से सम्बन्ध रखता है। भारत में योजनाओं का संचालन इस प्रकार किया गया है कि इन दोनों उद्देश्यों में एक दूसरे से दूरी बढ़ती जा रही है, अर्थात् आर्थिक एवं सामाजिक उद्देश्यों में पर्याप्त समन्वय स्थापित नहीं किया जा सका है। आर्थिक विकास-कार्यक्रमों का निर्धारण सामाजिक उद्देश्यों पर पूर्णतः विचार किये बिना ही किया गया है। इसी कारण सरकारी नीतियों एवं कार्यक्रमों द्वारा भी आर्थिक सत्ताओं से केन्द्रीकरण को सहायता मिली है। इसके अतिरिक्त निर्धारित योजनाओं और उनके संचालन में भी अन्तर पाया जाता है क्योंकि आर्थिक नियोजन के उद्देश्यों को अत्यन्त संकीर्ण मान लिया जाता है। हमारी योजनाओं के उद्देश्य—स्वयं स्फूर्त (Self-reliant) अर्थ-व्यवस्था की स्थापना एवं आधुनिकीकरण—के फलस्वरूप औद्योगीकरण के कुछ पक्षों को अधिक महत्त्व प्रदान किया गया है और साधनों के विकास, क्षेत्रीय विकास, श्रम शक्ति का उपयोग तथा अत्यन्त महत्वपूर्ण सामाजिक एवं कल्याण सम्बन्धी विकास-कार्यक्रमों को आवश्यकता से कम महत्व प्रदान किया गया है। ऐसी परिस्थिति में आर्थिक प्रगति द्वारा आर्थिक विषमताओं में वृद्धि होना स्वाभाविक है। प्रत्येक आर्थिक कार्यक्रम के सामाजिक तत्वों को भी उतना ही महत्व दिया जाना चाहिए जितना आर्थिक कार्यक्रम को दिया जाता है क्योंकि नियोजन के उद्देश्यों को कार्यान्वित करने की विधि से सामाजिक उद्देश्य भी प्रभावित होते हैं।

आधारभूत सुविधाओं की तालिका (62) के अध्ययन से विभिन्न राज्यों के असन्तुलित विकास का अध्ययन किया जा सकता है। असम, बिहार, उड़ीसा एवं उत्तर प्रदेश ऐसे राज्य हैं जिनमें 85% से 90% जनसंख्या अब भी ग्रामीण क्षेत्रों में रहती है जहाँ का जीवन-स्तर नगरीय क्षेत्रों की तुलना में नीचा है। गुजरात, महाराष्ट्र, पंजाब, तमिलनाडु एवं पश्चिम बंगाल में नगरीय जनसंख्या का कुल जनसंख्या से प्रतिशत सम्पूर्ण भारत की नगरीय जनसंख्या के प्रतिशत से अधिक है। शिक्षा के क्षेत्र में अन्य राज्यों की तुलना में जम्मू कश्मीर, राजस्थान, बिहार, मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश पिछड़े हुए हैं। कृषि श्रमिकों के प्रतिशत में कृषक एवं कृषि-मजदूर दोनों ही सम्मिलित हैं। बिहार,

तालिका 62—विभिन्न राज्यो मे आधारभूत एवं विकाससूचक सुविधाएं

	राज्य	नगरीय जनसंख्या का कुल जनसंख्या से प्रतिशत (1971)	कुल जनसंख्या से शिक्षित जनसंख्या का प्रतिशत (1971)	कृषि श्रमिकों का कुल श्रम-शक्ति से प्रतिशत (1971)	सिंचित क्षेत्रफल का बोये जाने वाले क्षेत्रफल से प्रतिशत (1973 74)	प्रति व्यक्ति विद्युत-उपभोग (किलोवाट घण्टे) (1974-75)	पक्की सड़कें लम्बाई (प्रति 100 वर्ग मी) (1966)	रेलवे लाइनें लम्बाई (प्रति 100वर्गमी)(1967 68)	अव सरचना विकास का निर्देशांक (1973 74)[1]	प्रति व्यक्ति केन्द्रीय विनियोजन (रुपये) (1967-68)	स्वीकृत औद्योगिक लाइसेन्स (1951 से 1968)	विकास-व्यय आगम एवं पूंजी (1973 74) (रुपये)[2]	प्रति व्यक्ति उपभोग व्यय (1968 69) (रुपये)	निर्धनता की रेखा के नीचे की जनसंख्या का प्रतिशत
1	आन्ध्र प्रदेश	19	25	70	28	108 25	10	17	92	2 50	376	90	333	26 55
2	असम	9	29	67	26	41 71	4	11	92	1 76	105	116	367	3 91
3	बिहार	10	20	82	28	186 72	8	30	102	15 47	571	73	388	23 35
4	गुजरात	28	36	66	31	229 66	8	29	115	2 56	963	122	294	17 48
5	हरियाणा	18	27	65	49	257 00	12	32	153	0 2	22	126	*	*
6	जम्मू-काश्मीर	19	19	68	44	95 41	1	बहुत कम	82	N A	6	273	N A	7 60
7	केरल	16	60	49	21	111 35	27	23	163	2 30	23	125	276	30 37
8	मध्य प्रदेश	16	22	80	9	86 29	6	12	58	17 02	395	87	246	25 32
9	महाराष्ट्र	31	39	65	8	245 17	9	17	115	3 05	3084	153	325	22 83
10	कर्नाटक	24	32	67	12	186 76	17	14	77	2 30	380	132	365	29 41
11	उड़ीसा	8	26	77	19	119 68	6	11	76	12 87	143	99	288	27 99
12	पंजाब	24	34	63	72	358'00	43	[illegible]	[illegible]	1 06	731	152	679	14 51
13	राजस्थान	18	19	74	15	81 41	15	16	70	0 57	203	119	315	22 35
14	तमिलनाडु	30	40	62	46	213 62	[illegible]	28	171	7 78	1149	110	306	20 76
15	उत्तर प्रदेश	12	22	77	42	108 23	8	29	111	4 13	748	80	308	26 67
16	पश्चिमी बंगाल	25	33	59	26	186 72	17	39	138	13 25	1854	91	311	13 31
17	भारत (सम्पूर्ण)	20	30	69	30	147 08	9	18	100	—	—	—	323	22 37

* पंजाब मे सम्मिलित है। [1] समस्त भारत = 100। [2] प्रति व्यक्ति।

मध्य प्रदेश, उडीसा, उत्तर प्रदेश और राजस्थान में अब भी श्रम-शक्ति का लगभग तीन-चौथाई भाग कृषि मे लगा हुआ है, जबकि केरल, पजाब, पश्चिम बगाल, तमिलनाडु आदि की स्थिति इस सम्बन्ध मे अच्छी है। इन राज्यो मे कृषि के अतिरिक्त अन्य व्यवसायो का विकास तीव्र गति से किया गया है।

सिचाई-सुविधाओ की उपलब्धि के दृष्टिकोण से पजाब, हरियाणा, तमिलनाडु एव उत्तर प्रदेश की स्थिति सन्तोषजनक है, जबकि गुजरात, कर्नाटक, उडीसा, राजस्थान, महाराष्ट्र एव मध्य प्रदेश मे सिचाई-सुविधाओ की बहुत कमी है जिससे कृषि-उत्पादन मे इन राज्यो मे पर्याप्त वृद्धि नही हो पायी है। विद्युत-उपभोग भी विकास का एक महत्वपूर्ण द्योतक समझा जाता है। विद्युत-उपभोग के दृष्टिकोण मे पजाब, हरियाणा, गुजरात और महाराष्ट्र अन्य राज्यो की तुलना मे ऊँचे स्तर पर है, जबकि असम, मध्य प्रदेश, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, आन्ध्र प्रदेश, जम्मू-कश्मीर एव केरल मे विद्युत-उपभोग समस्त भारत के औसत उपभोग से बहुत कम है।

यातायात के क्षेत्र मे केरल, तमिलनाडु, पजाब, पश्चिम बगाल, गुजरात और हरियाणा की स्थिति सन्तोषजनक कही जा सकती है। असम, जम्मू-कश्मीर, उडीसा, मध्य प्रदेश, कर्नाटक आदि मे रैलो की सेवा बहुत कम उपलब्ध है। यातायात एव अन्य उपरिव्यय-सुविधाओ को मिलाकर अव-सरचना (Infra-structure) का नाम दिया जाता है। अव-सरचना के दृष्टिकोण से पजाब, तमिलनाडु, हरियाणा और पश्चिम बगाल की स्थिति अन्य राज्यो की तुलना मे सुदृढ है जिसके फलस्वरूप इन राज्यो का विकास तेजी से हुआ है। केन्द्रीय विनियोजन का समान वितरण होने के कारण भी क्षेत्रीय असन्तुलित विकास हुआ है। सन् 1967-68 मे प्रति व्यक्ति केन्द्रीय विनियोजन बिहार, मध्य प्रदेश, उडीसा और पश्चिम बगाल मे अन्य राज्यो की तुलना मे अधिक हुआ है। बिहार, मध्य प्रदेश और उडीसा पिछडे हुए राज्य हैं इसीलिए इनमे केन्द्रीय विनियोजन बढ़ाकर विकास की गति को तेज करने के प्रयास किये गये हैं।

औद्योगिक विकास के दृष्टिकोण से महाराष्ट्र, पश्चिम बगाल, तमिलनाडु और गुजरात अन्य राज्यों की तुलना में आगे है। इन राज्यो मे औद्योगिक इकाइयो का विस्तार तेजी से हुआ है, जबकि जम्मू-कश्मीर, हरियाणा, केरल, असम, उडीसा और राजस्थान मे औद्योगिक विकास की गति बहुत मन्द रही है। इन राज्यो मे बडी औद्योगिक इकाइयो की स्थापना अन्य राज्यो की तुलना मे बहुत कम है।

प्रति व्यक्ति विकास-व्यय के दृष्टिकोण से जम्मू-कश्मीर, महाराष्ट्र, पजाब, कर्नाटक, हरियाणा आदि की स्थिति अच्छी है, जबकि बिहार, उत्तर प्रदेश एव पश्चिम बगाल अधिक घनी जनसख्या वाले राज्यो मे प्रति व्यक्ति विकास-व्यय कम है। प्रति व्यक्ति उपयोग-व्यय को भी विकास एव कल्याण का द्योतक समझा जाता है। इस दृष्टिकोण से पजाब एव हरियाणा की स्थिति अन्य राज्यो एव सम्पूर्ण भारत की तुलना मे बहुत अच्छी है। इन राज्यों का प्रति व्यक्ति उपभोग-व्यय सम्पूर्ण भारत के प्रति व्यक्ति औसत उपभोग के दुगुने से भी अधिक है। बिहार, असम, कर्नाटक और आन्ध्र प्रदेश का उपयोग-व्यय समस्त भारत के औसत के लगभग बराबर ही है। मध्य प्रदेश मे प्रति व्यक्ति उपभोग-व्यय अन्य सभी राज्यो की तुलना मे कम है। औसत उपभोग-व्यय की समस्त जनसख्या के जीवन-स्तर का ठीक माप नही होता है, क्योंकि औसत पर बडी सख्याओं का अधिक भार रहता है। निर्धनता की व्यापकता का अध्ययन करने हेतु निर्धनता की रेखा के नीचे वाले जीवन-स्तर की जनसख्या का कुल जनसख्या मे प्रतिशत को आधार माना जा सकता है। केरल, मध्य प्रदेश, कर्नाटक, उडीसा, आन्ध्र प्रदेश और उत्तर प्रदेश मे अधिक जनसख्या निर्धनता की रेखा से नीचे का जीवन-स्तर व्यतीत करती है। असम, जम्मू-कश्मीर, पजाब, हरियाणा एवं पश्चिम बगाल मे गरीबी का केन्द्रीकरण अन्य राज्यो की तुलना मे कम है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे देश में विकास की प्रक्रिया का सचालन इस प्रकार हुआ है कि क्षेत्रीय विकास सन्तुलित नही रहा है और विभिन्न राज्यो की प्रति व्यक्ति आय, प्रति व्यक्ति उपभोग-व्यय एव आधारभूत सुविधाओ की पूर्ति मे बहुत अन्तर विद्यमान है। पजाब, हरियाणा, महाराष्ट्र एव पश्चिम बगाल का विकास अन्य राज्यो की तुलना मे अधिक तीव्र गति से हुआ है। इन राज्यो मे विकास को प्रभावित करने वाले तत्वो का विस्तार भी तेजी मे हुआ है जिससे इनके विकास की गति भविष्य मे बनी रहने की सम्भावना है। पाँचवी योजना मे क्षेत्रीय असन्तुलित विकास की समस्या की ओर विशेष ध्यान दिया गया है और उन क्षेत्रो के विकास को विशेष महत्व दिया गया है जहाँ निर्धन जनसख्या का अधिक केन्द्रीकरण है।

प्रश्न-संग्रह

आर्थिक नियोजन के सिद्धान्त
(PRINCIPLES OF ECONOMIC PLANNING)

1 "आर्थिक नियोजन पूँजीवाद से उत्पन्न हुए दोषो, असन्तुलनो एव अनिश्चितताओं को दूर करने का एक उपाय अथवा साधन उपस्थित करता है।" इस कथन का विश्लेषण कीजिए।

"Economic Planning presents method or source for removing defects in balances and uncertainties of Capitalism" Analyse this statement

2 "द्वितीय महायुद्ध के पश्चात नियोजित अर्थ-व्यवस्था पुनर्निर्माण, आर्थिक प्रगति एव आर्थिक सुदृढता का आधार मानी जाने लगी है।" इस कथन की विवेचना करते हुए यह बताइए कि नियोजित अर्थ-व्यवस्था के महत्व को बढाने मे किन किन घटकों ने सहायता प्रदान की है?

"Planned Economy is considered to be the basis for reconstruction, economic stability and economic growth after the second world war" Explain this statement and describe the factors which helped to increase the importance of planned economy

3 "समाजवाद का आधारभूत उद्देश्य निजी सम्पत्ति को समाप्त करना नही बल्कि प्रजातन्त्र का विस्तार करना है। नियन्त्रित अर्थ-व्यवस्था मे पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था और सामूहिकवादी अर्थ व्यवस्था दोनो के ही लाभो को प्राप्त किया जा सकता है।" उपर्युक्त कथन का आलोचनात्मक अध्ययन कीजिए।

"The basic objective of socialism is not to eradicate private property but to expand the democracy Controlled economy provides benefits of both capitalistic as well as collective economy" Examine this statement critically

4 नियोजित अर्थ-व्यवस्था की विशेषताओ का उल्लेख कीजिए और इसकी तुलना अनियोजित अर्थ-व्यवस्था से कीजिए।

Describe the characteristics of Planned Economy and compare it with Unplanned Economy

5 "सामान्यत नियोजन साधनो के मूल्य एव आय-प्रवाह (Income Movement) के आधार पर होने वाले आवटन का नियोजन अधिकारी द्वारा निर्धारित उद्देश्यो के आधार पर साधनो के आवटन से प्रतिस्थापन करता है।" इस कथन को स्पष्ट कीजिए।

"Planning generally substitutes allocation according to goals determined by authority for allocation of resources in response to price and income movement" Analyse critically

6 "आर्थिक नियोजन वह विधि है जिसमे विपणि-तान्त्रिकताओ को जानबूझकर इस उद्देश्य से नियन्त्रित किया जाता है कि ऐसी व्यवस्था उत्पन्न हो जो बाजार-तान्त्रिकताओ को स्वतन्त्र छोडने पर उत्पन्न हुई व्यवस्था से भिन्न हो।" इस कथन का आलोचनात्मक अध्ययन कीजिए।

"Economic Planning is a system in which the market-mechanism is deliberately manipulated with the object of producing a pattern other than that which would have resulted with its own spontaneous activity" Explain this statement critically

7 स्वतन्त्र अर्थ-व्यवस्था के क्या मुख्य दोष हैं? क्या नियोजित अर्थ-व्यवस्था उन्हे दूर कर सकती है? (विक्रम वि०, 1975)

What are the main defects of a free-enterprise economy? Can planned economy remove them?

8 "विशुद्ध पूंजीवाद के अन्तर्गत आर्थिक नियोजन का कोई स्थान नही होता है क्योकि यह उपभोक्ता की प्रभुसत्ता, मूल्य-प्रणाली के अत्याचार तथा लाभ की खोज जैसी त्रिमूर्ति का अस्तित्व स्वीकार नही करता।" इस कथन की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

"There is no place for Economic Planning under pure capitalism because planning does not accept the existence of the trio of consumer's sovereignty, tyranny of price-mechanism and profit-motive" Critically examine this statement

9 क्या आपके विचार म प्रजातन्त्र एव आर्थिक नियोजन मे मौलिक विरोधाभास है? यदि नही, तो प्रजातन्त्र का पूंजीवाद से सामजस्य होते हुए भी पूंजीवाद का नियोजन से सामजस्य क्यो नही हो सकता?

Do you think that there is basic contrast between Democracy and Economic Planning? If not, then why there can be no coordination between capitalism and planning when there is coordination between democracy and capitalism?

10 आर्थिक नियोजन की एक उपयुक्त परिभाषा दीजिए और उन तत्वो को स्पष्ट कीजिए जिनके सम्मिश्रण से नियोजन का निर्माण होता है।

Give a suitable definition of Economic Planning and explain the elements which constitute Economic Planning

11 राजकीय हस्तक्षेप आर्थिक नियोजन का अनिवार्य अग है परन्तु प्रत्येक राजकीय हस्तक्षेप *नियोजन नही कहलाता है।" इस कथन को उदाहरण देकर समझाइए।*

'State intervention is the essential part of Economic Planning, but every state intervention is not Economic Planning" Explain with examples

12 आधुनिक युग म आर्थिक नियोजन केवल एक विचारधारा ही नही है बल्कि जनसाधारण के जीवन का तरीका है।' भारत के सन्दर्भ मे इस कथन की व्याख्या कीजिए।

"Economic Planning is not only a concept but a way of life of common people" Examine this statement with reference to Indian planning

13 ' आर्थिक नियोजन का अन्तिम उद्देश्य अधिकतम जनसख्या का अधिकतम कल्याण होता है।" इस कथन के सन्दर्भ मे भारतीय योजनाओ के उद्देश्यो का आलोचनात्मक अध्ययन कीजिए।

'*The ultimate objective of Economic Planning is maximum* welfare of the maximum population" Critically examine this statement with reference to the objectives of Indian plans

14 विकसित देशो की अपेक्षा अविकसित देशो मे नियोजन की आवश्यकता अधिक है किन्तु इसे कार्यान्वित करना कठिन है।" इस कथन की विवेचना भारत का उदाहरण देते हुए कीजिए। (सागर वि०, 1975)

"The need for planning in under-developed countries is greater than in developed countries but it is difficult to implement it" Discuss this statement by giving India's example

15 नियोजित अर्थ-व्यवस्था के कुशल सचालन के लिए राज्य को कौन-कौन से नियन्त्रणो का उपयोग करना आवश्यक होता है?

What controls should be operated by the state for the successful implementation of Economic Planning

16 नियोजित अर्थ व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति को वास्तविक स्वतन्त्रताएँ प्रदान की जाती है जबकि अनियोजित अर्थ व्यवस्था मे व्यक्ति की औपचारिक (*Formal*) स्वतन्त्रता अधिक महत्व देती है।" इस कथन की विवेचना करते हुए यह बताइए कि आर्थिक नियोजन द्वारा व्यक्ति की विभिन्न स्वतन्त्रताएँ कहाँ तक सीमाबद्ध हो जाती है?

'Real freedoms are provided under Planned Economy while provision for individual freedoms under Unplanned Economy is simply formal" Examine this statement and state the extent to which individual freedoms are circumscribed under planning

17 "मुक्त-साहस (Free Enterprise) का नियोजन के साथ सह-अस्तित्व नही हो सकता है।" इस कथन पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

"Free enterprise cannot co-exist with Economic Planning" Give your ideas on this statement

18 आर्थिक नियोजन के सिद्धान्तो एव परिसीमाओ का उल्लेख कीजिए।

Describe principles and limitations of Economic Planning

19 प्रो हेयक ने आर्थिक नियोजन के विरुद्ध जो विचार व्यक्त किये हैं, आप उनसे कहाँ तक सहमत हैं ? क्या आपके विचार मे प्रो हेयक के विचार पूर्णत निराधार हैं ?

How far do you agree with Prof Hayek's ideas against Economic Planning ? Do you think that Prof Hayek's ideas are completely baseless ?

20 आर्थिक विकास की योजनाओ मे प्राथमिकताओ के निर्धारण के मापदण्ड की विवेचना कीजिए। (विक्रम वि०, 1975)

Discuss the criteria for determination of priorities in plans for economic development

21 नियोजन की प्राथमिकताओ की समस्या का वर्णन कीजिए। पाँचवी पचवर्षीय योजना के लिए आप किस प्रकार की प्राथमिकताओ का सुझाव देंगे ?

Explain the problem of priorities under planning What type of priorities you would suggest for the Fifth Five Year Plan ?

22 क्या योजना की प्राथमिकताएँ लाभ-लागत-विश्लेषण के आधार पर निर्धारित की जा सकती है ? भारत मे प्राथमिकताएं निर्धारित करने के लिए लाभ-लागत-पद्धति का किस सीमा तक उपयोग किया गया है ?

Can plan-priorities be determined on the basis of Benefit-Cost-Analysis ? How far Benefit-Cost-Analysis has been used in India for determining priorities

23 (अ) क्रियात्मक नियोजन एव रचनात्मक नियोजन मे, तथा (ब) प्रोत्साहन द्वारा नियोजन एव निर्देशन द्वारा नियोजन में भेद स्पष्ट कीजिए और उपयुक्त उदाहरण भी दीजिए।

Distinguish between the following with suitable examples

(a) Functional Planning and Structural Planning

(b) Planning by Inducement and Planning by Direction

24 दीर्घकालीन नियोजन (Perspective Planning) की विचारधारा की विवेचना कीजिए। जनसख्या-वृद्धि से उत्पन्न होने वाली समस्याओ पर दीर्घकालीन नियोजन के अन्तर्गत किस प्रकार ध्यान रखा जा सकता है ?

Explain the concept of Perspective Planning How can problems arising from population-increase be given consideration under Perspective Planning ?

25 विकासोन्मुखी योजना के भौतिक एव आर्थिक नियन्त्रण की क्या आवश्यकता है ? अपने विचार द्वारा प्रमाणित कीजिए कि भौतिक एव आर्थिक नियन्त्रण परस्पर परिपूरक है।

What is the need for physical and economic control in a development plan ? Prove that physical and economic control are mutually complementary

26 निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए

(अ) क्षेत्रीय नियोजन, (ब) लक्ष्य नियोजन,
(स) गतिशील नियोजन, (द) अन्तर्राष्ट्रीय नियोजन
(य) ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर के नियोजन मे भेद।

Write short notes on .

(a) Regional Planning . (b) Target Planning ,
(c) Dynamic Planning , (d) International Planning ,
(e) Planning from below and Planning from above

27 निम्नलिखित का परीक्षण कीजिए
(अ) आर्थिक विकास में शिक्षा का योगदान,
(ब) विनियोजन का परिमाण बचत द्वारा सीमित नहीं होना,
(स) आर्थिक विकास में संस्थागत तत्वों का योगदान ।

Examine the following
(a) Contribution of Education to Development ,
(b) *Investment is not limited to savings* ,
(c) Contribution of Institutional Factors to Development

28 क्षेत्रीय नियोजन की संकल्पना को समझाइए एवं उसके उद्देश्य एवं लाभ दीजिए ।
Explain the concept of regional planning and give its objectives and advantages

29 भारत में आर्थिक नियोजन के इतिहास की विवेचना करते हुए उन परिस्थितियों को स्पष्ट कीजिए जिनके कारण प्रजातान्त्रिक नियोजन को अपनाया गया है ।
Describe the history of Economic Planning in India Explain the circumstances *which have helped in the operation of* Democratic Planning in the country

30 प्रजातान्त्रिक नियोजन क्या है ? उसके मुख्य लक्षणों पर प्रकाश डालिए ।
What is democratic planning ? ,Throw light on its characteristic features

31 *समाजवादी और प्रजातान्त्रिक राष्ट्रों में आर्थिक नियोजन के विशेष अन्तर क्या हैं ?* इस सन्दर्भ में विपणि प्रणाली आर्थिक विकास को कहाँ तक प्रोत्साहन देती है ?
What are the main differences in Economic Planning operated in Socialistic and Democratic countries ? How far market mechanism is inducive to Economic Planning ?

32 पूंजीवाद एवं समाजवाद के नियोजन की मूल समस्याओं की संक्षिप्त तुलना कीजिए ।
Compare the basic problems of Capitalistic and Socialistic Planning

33 सरकारी क्षेत्र योजना की अनुपस्थिति में कुछ सफलता प्राप्त कर सकता है परन्तु किसी *योजना का सरकारी क्षेत्र की अनुपस्थिति में एक कागजी योजना बने रहना सम्भव है ।*
(हैन्सन) इस कथन की विवेचना कीजिए ।
'Public Sector without a plan can achieve something , a plan without public enterprise is likely to remain on paper (*Hanson*) Examine this statement critically

34 मिश्रित अर्थ-व्यवस्था की प्रमुख समस्या इतनी अधिक आर्थिक क्रियाओं के निजी एवं *सार्वजनिक क्षेत्रों में बाँटने की नहीं है जितनी ऐसी नियन्त्रण-प्रणाली के निर्माण करने की है* जो व्यक्तिगत साहस को विश्वास के साथ फैलाने की स्वतन्त्रता दे ।' विवेचना कीजिए ।
The main problem of Mixed Economy is not to allocate economic activities between private and public sector but to evolve such a control system *which provides freedom with confidence for the expansion of private* enterprise " Examine this statement

35 भारतीय मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के लक्षणों का उल्लेख कीजिए । नियोजित विकास में मिश्रित अर्थ-व्यवस्था द्वारा क्या योगदान एवं कठिनाइयाँ प्रदान की गयी हैं ?
Describe the characteristics of Indian mixed economy What contribution and problems have come out of mixed economy for planned development ?

36 मिश्रित अर्थ व्यवस्था क्या है ? गत समय में मिश्रित अर्थ व्यवस्था के प्रति सरकार की नीति में किये जाने वाले परिवर्तनों का वर्णन कीजिए । (सागर वि० 1973)
What is mixed economy ? Explain recent developments in government's policy towards *mixed economy*

37 "निर्देशन द्वारा सम्पूर्ण नियोजन की उतनी ही अवहेलना की जाती है जितनी सम्पूर्ण मुक्त-साहस की ।" विस्तार से विवेचना कीजिए ।

"Absolute planning through direction is as much discarded as absolute free enterprise" Examine this statement in detail

38. समाजीकृत क्षेत्र मे प्रोत्साहनो की समस्या का विश्लेषण कीजिए। सोवियत नियोजन मे प्रोत्साहनो की पद्धति का वर्णन कीजिए।

Analyse the problems of incentives in socialised sector Describe incentives method in Soviet Planning

39 आर्थिक नियोजन के सफल निष्पादन हेतु क्या आवश्यक दशाएँ होती हैं ? भारत मे आर्थिक नियोजन की सीमित सफलता के कारण बताइए।

What are the essential conditions for the success of Economic Planning ? Explain reasons for limited success of Economic Planning in India

40 एक विकास योजना का निर्माण किस प्रकार किया जाता है ? भारत मे नियोजन प्रक्रिया का आलोचनात्मक अध्ययन कीजिए।

How is a *development* plan prepared ? Critically examine the planning process in India

41 केन्द्रीय एव राज्य सरकारो के योजना बनाने एव उन्हे क्रियान्वित करने स सम्बन्धित कार्यो की तुलना कीजिए। *क्या आप केन्द्र एव राज्य सरकारो के इससे सम्बन्धित सम्बन्धो से सन्तुष्ट हैं ?*

Compare the activities of Central and State Governments with regard to the preparation and implementation of economic plans Are you satisfied with the relations of Central and State Governments *in this regard* ?

42 भारत मे योजना-आयोग के गठन काय कार्य विधि एव कार्य-क्षेत्र तथा उसकी सहायक सस्थाओ पर निबन्ध लिखिए।

Write an essay on the organization, function procedure, area of operation *and subsidiary institutions of Planning Commission in India*

43 भारतीय नियोजन तन्त्र का सबसे बडा दोष यह है कि जो अधिकारी योजना के कार्यक्रमो का निर्माण एव क्रियान्वयन करते है, वही अधिकारी उसका मूल्याकन भी करते हैं।" इस कथन का आलोचनात्मक अध्ययन कीजिए।

'The greatest defect of Planning Machinery in India is that the officials who prepare and implement the plan programmes, are also vested with the power to evaluate them" Critically examine this statement

44 भारतीय नियोजन व्यवस्था का प्रमुख गुण यह है कि इसम नियोजन को राजनीतिक दात प्रदान कर दिये गये है।" (हैन्सन) इस कथन की विवेचना कीजिए।

The cardinal virtue of the Indian system of planning is that it has put political teeth into planning "—*Hanson* Examine this statement

45 उन्नत देशों की अपेक्षा कम उन्नत देशो मे नियोजन क्यो अधिक आवश्यक होता है और साथ ही साथ कठिन भी ? समझाइए।

Why Economic Planning is more essential and more difficult in under developed countries as compared to developed countries ? Explain

भारत मे नियोजित प्रगति
(PLANNED DEVELOPMENT IN INDIA)

1 भारत की प्रथम पचवर्षीय योजना आर्थिक विकास की योजना न होकर आर्थिक पुनर्निर्माण की योजना थी।" इस कथन पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

"First Five Year Plan in India was not a development plan, but was a plan for reconstruction" Explain this statement

2 भारत की योजनाओ की प्राथमिकताओ का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए। क्या प्राथमिकताओ मे प्रथम योजना से पाँचवी योजना तक कुछ मूलभूत परिवर्तन किये गये हैं ?

Give a comparative study of priorities of First to Fifth Plan of India Has there been any basic change in them ?

3 "दुर्भाग्यवश अभी तक भारत म विकास की अपेक्षा योजनाएँ अधिक बनी हैं। प्रति व्यक्ति उत्पादन वृद्धि को लें या अर्थ-व्यवस्था के सगठन का विचार करें, तो भारत के लिए 'विकासशील अर्थ-व्यवस्था' की अपेक्षा 'उन्नति-उन्मुख स्थैतिक (Static) अर्थ-व्यवस्था' का नाम देना ही ज्यादा सही है।" इस कथन को समझाइए।

"Unfortunately so far there seems to have been more planning than development in India Whether in terms of the growth of per capita output or in terms of the structure of the economy, India conforms better to the label 'static economy in progress' than to the label 'developing economy' Explain this statement

4 भारतीय योजनाओ मे रोजगार-वृद्धि के लिए कौन से विशेष उपाय किये गये है ? इनकी विवेचना कीजिए।

What specific measures have been taken to increase employment-opportunities in Indian plans ? Examine them

5 'भारतीय योजना की वित्तीय व्यवस्था मे द्वितीय योजना में जो मोड दिया गया था, वह अभी तक जारी है।" इस कथन को स्पष्ट कीजिए।

The turn given to the financial arrangement in the Second Plan still continues " Explain this statement

6 "भारतीय योजनाओ का अन्तिम लक्ष्य देश मे समाजवादी समाज की स्थापना है।" इस लक्ष्य की पूर्ति किस सीमा तक सम्भव हो सकी है ?

'The ultimate objective of Indian Plans is to establish socialistic society in the country ' How far this objective has been achieved ?

7 भारतीय योजनाओं का निर्माण जिस सतर्कता एव विस्तार से किया जाता है, उस सतर्कता से उनका क्रियान्वयन नही किया जाता है।" इस कथन पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

Indian plans are not implemented with that much of alertness with which they are prepared in detail " Give your ideas on this statement

8 "भारत म आर्थिक नियोजन का प्रशासकीय तन्त्र इतना अशक्त है कि वह समस्त नियोजन के प्रयास को कमजोर बना देता है।" इस कथन का आलोचनात्मक अध्ययन कीजिए।

'The administrative machinery of Indian Planning is so weak that it weakens the whole effort of Planning " Examine this statement critically

9 क्या भारत में नियोजन को रोजगार-प्रधान होना चाहिए ? अपने उत्तर मे एक व्यावहारिक कार्यक्रम की रूपरेखा बताइए।

"Should Planning in India be employment oriented ? Give a practicable programme in your answer

10 "भारतीय योजनाओ मे विनियोजन के प्रकार मे कोई विशेष परिवर्तन नही किया गया है।" चारो योजनाओ के सन्दर्भ मे इस कथन को समझाइए।

"There has been no basic change in the investment pattern of plans " Examine this statement with reference to first four plans

11 भारत की चौथी पचवर्षीय योजना के उद्देश्यो को स्पष्ट कीजिए और इनकी तुलना गत तीन योजनाओ के उद्देश्यों से कीजिए।

Explain the objectives of Fourth Five Year Plan and compare them with the objectives of first three plans

12 विकासशील अर्थ व्यवस्था मे मूल्यों का वृद्धि को रोकने के लिए प्रभावशाली कर-नीति क्या होनी चाहिए ? क्या भारत में इस नीति का अनुसरण हो रहा है ?

What should be the tax-policy in under-developed countries to restrain rise in prices ? Has this policy been adopted in India ?

13 चौथी एव पांचवीं योजनाओ के अर्थ-साधनो का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।

Compare the financial resources of Fourth and Fifth Five Year Plan

14 निर्यात-वृद्धि पांचवी योजना की आधारशिला है।" इस कथन की विवेचना कीजिए।

'Export-promotion is the basic foundation of Fifth Five Year Plan " Explain this statement

15 चौथी पचवर्षीय योजना की उपलब्धियो एव असफलताओ का मूल्याकन कीजिए । (सागर वि 1973)

Apprise the achievements and failures of Fourth Five Year Plan

16 "भारतीय विकास-प्रक्रिया की विशेषता यह है कि विनियोजन एव उत्पादन मे वृद्धि होने के साथ साथ बेरोजगार मे भी वृद्धि होती जा रही है।" क्या इस परिस्थिति के लिए केवल जनसख्या वृद्धि ही उत्तरदायी है ?

"The special feature of Indian Development Process is that with the increase in investment and production, unemployment is also increasing" Is only population increase responsible for this state of affairs ?

17 भारतीय योजनाओ मे कृषि के महत्व को स्पष्ट कीजिए। क्या अभी तक के कृषि विकास को उपयुक्त समझा जा सकता है ?

Explain the importance of agriculture in Indian plans Can agricultural development achieved uptil now be considered adequate ?

18 हरित-क्रान्ति को वास्तव मे क्रान्ति मानना उचित नही है क्योकि यह अत्यन्त अपूर्ण एव सीमित है।" इस कथन को स्पष्ट कीजिए।

"Green revolution should in reality be not considered as revolution because it is so incomplete and limited Explain this statement

19 हरित क्रान्ति की असफलताओ पर प्रकाश डालिए ? खाद्यान्नो के थोक व्यापार के राष्ट्रीयकरण से कृषि-विकास की गति पर क्या प्रभाव पड़ा ?

"Explain the failures of green revolution ? What were the effects of nationalization of wholesale trade in food-grains on the agricultural production ?

20 सयुक्त क्षेत्र (Joint Sector) से आप क्या समझते हैं ? भारत की औद्योगिक नीति मे इसे क्या स्थान दिया गया है ?

What do you understand by Joint Sector ? What place has been given to it in the industrial policy ?

21 'भारतीय योजनाएँ आर्थिक विषमताओ को कम करने मे असफल रही हैं।' इस कथन की विवेचना कीजिए और यह बताइए कि विषमताओ को कम करने के लिए कौन-कौन सी कार्यवाहियाँ की गयी हैं ?

'Indian Plans have failed to reduce economic inequalities Examine this statement and explain the steps taken to remove the economic inequalities

22 भारत की औद्योगिक क्षमता का निर्माण जिस तीव्र गति से हुआ है, उसके उपयोग की गति उतनी तीव्र नही है।" कारण सहित समझाइए।

"The utilization of industrial capacity has not increased with that rate with which its installation has increased" Explain with reasons

23 "भारत मे औद्योगिक लाइसेंसिंग नीति ने उद्योगो के नियोजित विकास मे सहायता की अपेक्षा बाधाएँ अधिक उपस्थित की है।" इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं ?

The Industrial Licensing Policy has created more problems than providing assistance to the planned development of industries" How far do you agree with this statement ?

24 भारत की योजनाओ को और अधिक सफल बनाने हेतु अपने सुझाव प्रस्तुत कीजिए।

Suggest measures for the success of Five Year Plans in India

25 पाँचवी योजना के उद्देश्यो एव व्यूह-रचना (Strategy) का आलोचनात्मक अध्ययन कीजिए।

Critically examine the objectives and strategy of Fifth Plan

26 पाँचवी योजना के अर्थ साधनो का अध्ययन कीजिए और अपनी आलोचनाएँ प्रस्तुत कीजिए।

Study the financial resources of Fifth Five Year Plan and give your criticism

27 पाँचवी योजना मे निर्धनता-उन्मूलन के लिए क्या-क्या उपाय सम्मिलित किये गये हैं ? इनकी व्यावहारिकताओ पर प्रकाश डालिए।

What measures have been included in the Fifth Plan to remove poverty? How far they are practicable?

28 "पाँचवी योजना मे आय-मूल्य-मजदूरी की समन्वित नीति को विशेष महत्व दिया गया है।" इस कथन का आलोचनात्मक अध्ययन कीजिए।

"Income-Price-Wage Policy has been given special importance in the Fifth Plan" Critically examine this statement

29 निर्धनता-उन्मूलन के लिए रोजगार के अवसरो की वृद्धि का महत्व बताते हुए पाँचवी योजना की रोजगार-वृद्धि के कार्यक्रमो का उल्लेख कीजिए।

Explaining the importance of increase in employment opportunities for removing poverty give programme of employment-increase of Fifth Plan

30 'भारत मे गत दो दशको मे आर्थिक प्रगति के परिणामस्वरूप आर्थिक विषमताओं मे वृद्धि ही हुई है।" इस कथन को स्पष्ट कीजिए और आर्थिक विषमता के बढ़ने के कारणों को बताइए।

"As a result of economic development, economic disparities have increased during the last two decades Explain this statement and state reasons *for increase in economic disparities*

31 सन्तुलित विकास से आप क्या समझते हैं? इसके लाभ एव सीमाएँ बताते हुए इस सम्बन्ध मे भारतीय अर्थ-व्यवस्था की स्थिति स्पष्ट कीजिए।

What do you understnd by Balanced Growth'? Discuss its advantages and *limitations and explain the position of Indian Economy in this regard*

32 भारत मे वर्तमान आर्थिक सरचना के अन्तर्गत तान्त्रिक प्रगति के सन्दर्भ मे आर्थिक शक्ति का केन्द्रीकरण अनिवार्य प्रक्रिया है।" क्या आप इस मत से सहमत हैं? अपने उत्तर मे तर्क प्रस्तुत कीजिए।

"Concentration of economic power is an inevitable process in the context of technological process in the present economic structure of India" Do you agree with this view? Give reasons four your answer

33 'भारत सदृश निर्धन राष्ट्र के लिए आर्थिक नियोजन अनिवार्य है, न कि एक विकल्प।" इस कथन की समीक्षा कीजिए।

'For a poor country like India Economic Planning is necessity, not a choice" Examine this statement

34 आर्थिक शक्ति के केन्द्रीकरण के कारणो और उसके परिणामो की व्याख्या कीजिए।

Discuss the causes and consequences of concentration of economic power

35 पाँचवी पचवर्षीय योजना के उद्देश्यो तथा व्यूह-रचना की विवेचना कीजिए।

Discuss the objectives and the strategy of the Fifth Five Year Plan

36 भारत की प्रथम और द्वितीय योजनाओ की आधारभूत व्यूह-रचना मे भेद बताइए।

Distinguish between the basic strategies of India's First and Second Five Year Plans

37 अनवरत योजना से आप क्या समझते हैं? स्थिर योजना-प्रक्रिया से यह किस प्रकार भिन्न है? अनवरत योजना की सफलता के लिए आवश्यक शर्तों का उल्लेख कीजिए।

What do you understand by Rolling Plan? How is it different from Static Planning Process? What are the conditions for the success of Rolling Plan?

38 भारत की 1978-83 की योजना की व्यूह-रचना की व्याख्या कीजिए। क्या इस योजना की व्यूह-रचना अभी तक की योजनाओ से भिन्न है?

Explain the strategy of 1978-83 Five Year Plan Has this strategy been different for the strategy of other plans in India

39. भारत की वर्तमान औद्योगिक नीति का आलोचनात्मक अध्ययन कीजिए।

Critically examine the present Industrial Policy of Government of India

आर्थिक प्रगति की समस्याएँ
(PROBLEMS OF ECONOMIC GROWTH)

1 "आधुनिक युग मे अल्प-विकसित राष्ट्रो की प्रगति इन राष्ट्रों के लिए जितनी महत्वपूर्ण है, उससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण विकसित राष्ट्रों के लिए है।" इस कथन को स्पष्ट कीजिए।

"The development of under-developed countries is more important to developed countries than to under-developed countries" Explain this statement

2. आर्थिक विकास की परिभाषा कीजिए। आर्थिक विकास के अभिसूचको को स्पष्ट कीजिए। (सागर वि., 1975)

Discuss economic development Explain the indices of economic development

3 विकासोन्मुख एव विकसित अर्थ व्यवस्थाओ का अन्तर स्पष्ट कीजिए।

Differentiate between developed and developing economies

4 अल्प-विकास की परिभाषा दीजिए। अल्प-विकसित क्षेत्रो के लक्षणो का वर्णन कीजिए।

Define under-development Give the characteristics of under-developed regions

5. आर्थिक विकास से आप क्या समझते हैं? किसी देश का आर्थिक विकास जिन तत्वो पर निर्भर होता है, उनकी विवेचना कीजिए।

What do you understand by Economic Development? Explain the factors on which economic development of a country depends

6 अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था की परिभाषा दीजिए। इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था में नियोजन की मूल समस्याएँ क्या होती हैं? इस सम्बन्ध मे किसी दक्षिण-पूर्व एशियाई देश का उदाहरण दीजिए।

Define an under-developed country What are the basic problems of Economic Planning in an under-developed economy? In this regard give an example of any south-eastern Asian country

7 'निर्धनता के दूषित चक्र' से आप क्या समझते है? इसको कैसे तोडा जा सकता है?

What do you understand by 'vicious circle of poverty'? How can it be broken?

8 पूंजी-निर्माण से आप क्या समझते है? पूँजी-निर्माण का माप किस प्रकार किया जाता है? पूँजी-निर्माण का विकास-प्रक्रिया में क्या महत्व है?

What do you understand by capital-formation? How is capital-formation measured? What is the importance of capital-formation in development process?

9 पूँजी-निर्माण की प्रक्रिया का विवरण दीजिए। इस प्रक्रिया म बचत क योगदान को स्पष्ट कीजिए।

Discuss the process of capital-formation What is the contribution of savings in the process of capital-formation?

10 अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ मे पूँजी-निर्माण की दर बढाने के लिए क्या उपाय किये जा सकते है? भारत मे इन उपायो का किस सीमा तक उपयोग किया गया है?

What steps can be taken to increase the rate of capital-formation in under-developed countries? How far these steps have been taken in India?

11 बचत की गतिशीलता से आप क्या समझते है? राजकोषीय एव मौद्रिक नीतियो द्वारा गतिशीलता किस प्रकार बढायी जा सकती है?

What do you understand by mobilisation of savings? How can this mobilisation be increased by fiscal and monetary policies?

12. विनियोजन के गुणात्मक लक्षणो (Criteria) पर एक निबन्ध लिखिए।

Write an essay on investment criteria

13 श्रम का अतिरेक पूंजी-निर्माण में अल्प-विकसित राष्ट्रो में किस प्रकार सहायक होता है? स्पष्ट कीजिए।
How surplus labour is helpful in capital-formation? Explain.

14 पूंजी-उत्पाद अनुपात से आप क्या समझते है? यह किन तत्वो पर निर्भर रहता है? भारत में पूंजी-उत्पाद-अनुपात की वर्तमान स्थिति पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।
What do you mean by capital-output-ratio? On what factors does it depend? Examine the present position of capital-output ratio in India

15 अल्प-विकसित राष्ट्रो को पूंजी-निर्धन देश क्यों कहा जाता है? वहाँ पूंजी-निर्माण की दर निम्न क्यों होती है? समझाइए। (सागर वि, 1976)
Why are under-developed countries termed as 'capital-poor countries'? Why is the rate of capital-formation low in such countries?

16 विकास-योजना के लिए अर्थ-साधन किन-किन स्रोतो से प्राप्त होते हैं? विभिन्न स्रोतो के औचित्य एव प्रभावशीलता का वर्णन कीजिए।
What are the various financial resources for economic development? Discuss the suitability and effectiveness of various sources

17 किसी देश के आर्थिक विकास की प्रक्रिया मे बचत एव विनियोजन के महत्व को स्पष्ट कीजिए। भारत मे विकास हेतु बचत बढाने के लिए कौन-से उपाय किये गये है?
Clearly indicate the importance of the process of savings and investment for the economic development of a country What steps have been taken in India to increase savings of developement?

18 "श्रम का अतिरेक, कुछ अर्थशास्त्रियो के मतानुसार, पूंजी-निर्माण का सम्भावित साधन होता है।" क्या आप स्पष्ट कर सकते है कि कई एशियाई देशो मे श्रम का अतिरेक होते हुए भी प्रगति की दर अत्यन्त कम क्यो है?
"According to some economists, surplus labour is a potential source of capital-formation Clearly explain as to why the rate of growth is low in some Asian countries in spite of surplus labour.

19 विनियोजन के लिए उपलब्ध साधनो का नियोजित अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रो मे किन सिद्धान्तो के आधार पर आवटन किया जाता है?
What are the principles on the basis of which investment-resources are allocated to various sectors of a planned economy?

20 विनियोग-परियोजना के चुनाव की समस्या का वर्णन कीजिए। इस सम्बन्ध मे लागत-लाभ विश्लेषण को समझाइए।
Discuss the selection-problem of Investment projects Explain cost-benefit-analysis in this connection

21 "किसी अल्प-विकसित राष्ट्र में मुद्रा-स्फीति करारोपण का एक स्थानापन्न-मात्र है। आर्थिक दृष्टिकोण से यह एक घटिया स्थानापन्न है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए।
"Inflation is simply a substitute for taxation in under-developed country" Explain this statement

22 घाटे के अर्थ-प्रबन्धन से आप क्या समझते हैं? भारतीय नियोजन मे इस विधि का किस सीमा तक उपयोग किया गया है और उसके क्या परिणाम हुए है?
What do you understand by deficit-financing? To what extent deficit-financing has been used in Indian Planning and what have been its results?

23 अल्प-विकसित राष्ट्रो के विकास मे विदेशी व्यापार का क्या महत्व है? स्पष्ट कीजिए।
What is the importance of foreign trade in the development of under-developed countries? Explain clearly

24 "जनसख्या का दबाव विकास के लिए बेढगा और निष्ठुर प्रोत्साहन है।" इस कथन के सन्दर्भ मे विकास की प्रक्रिया पर जनसख्या-वृद्धि के सम्भावित प्रभाव बताइए।
"Population pressure is an unsystematic and tyrannic incentive for deve-

lopment" Explain the potential effects of population increase on the process of development in reference to this statement

25 आर्थिक प्रगति मे मानवीय साधनो के विकास के महत्व को समझाइए। क्या एक विकासोन्मुख अर्थ व्यवस्था मे इसको पूंजी-सचय से अधिक प्राथमिकता देनी चाहिए ? यदि हाँ, तो क्यो ?

Explain the importance of development of human resources for economic development Should a developing economy give higher priority to human development than capital-formation ? If yes, give reasons

26 "जनसख्या की वृद्धि और आर्थिक विकास परस्पर आश्रित है।" इस कथन की विवेचना कीजिए। (सागर वि 1976)

"Population growth and economic development are interdependent" Discuss this statement

27 जनसख्या-विस्फोट से आप क्या समझते है ? यह किन परिस्थितियो म उदय होता है ? अल्प विकसित राष्ट्रो मे इसको किस प्रकार नियन्त्रित किया जा सकता है ?

What do you understand by population-explosion ? In what conditions does it arise ? How can it be controlled in under-developed countries ?

28 भारत के आर्थिक विकास की आवश्यक शर्त जनसख्या नियन्त्रण है।" स्पष्ट कीजिए।

"Population-control is an essential condition of economic development of India" Explain

29 सिद्ध कीजिए कि अल्प विकसित राष्ट्रो के विकास मे जनसख्या का परिमाणात्मक अतिरेक एव गुणात्मक हीनता दोनो ही बाधक होते है। क्या जनसख्या नियन्त्रण द्वारा इन दोषो को दूर करना सम्भव हो सकता है ?

Prove that both quantitative surplus and quantitative shortcomings of population hinder the development of under developed countries Can these defects be removed by means of population control ?

30 मूल्य-नीति क्या होती है ? अल्प विकसित राष्ट्र मे इसके क्या उद्देश्य होते हैं ? एक मिश्रित अर्थ व्यवस्था मे मूल्य-नीति के सिद्धान्त स्पष्ट कीजिए।

What is a Price Policy ? What are its objectives in an under-developed economy ? What are its basic principles in a mixed economy

31 भारत मे मूल्य-वृद्धि के प्रमुख कारण कौन से रहे है ? राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था पर इसके प्रभावो की व्याख्या कीजिए। (सागर वि 1976)

What have been the main causes of price rise in India ? Discuss its effects on the national economy

32 दोहरी मूल्य-नीति क्या होती है ? मिश्रित अर्थ-व्यवस्था मे इसका क्या महत्व है ? भारतीय अर्थ-व्यवस्था मे यह नीति मूल्य-स्थिरता मे किस सीमा तक सहायक हुई है ?

What is a double price policy ? What is its importance in a mixed economy ? To what extent it helped in stabilisation of prices in Indian economy ?

33 "भारतीय नियोजित अर्थ व्यवस्था का सबसे बडा अभिशाप मूल्य-स्तर की असाधारण वृद्धि है।" इस कथन को विस्तार मे समझाइए।

"The greatest cause of Indian planned economy is abnormal increase in price level" Explain this statement in detail

34 "भारत की नियोजित अर्थ व्यवस्था ने मुद्रा प्रसार प्रेरित विनियोजन के द्वारा दौडती हुई मुद्रा स्फीति को जन्म दिया है।" इस कथन का आलोचनात्मक अध्ययन कीजिए।

"Inflationary financing in Indian planned economy has given birth to running inflation" Examine critically

35 भारतीय अर्थ-व्यवस्था म मूल्य स्तर-वृद्धि के कारणो का विश्लेषण कीजिए। भारत सरकार द्वारा मूल्य स्तर को नियन्त्रित करने हेतु कौन-कौन सी कार्यवाहियाँ की गयी हैं ?

Analyse the reasons for rise in price-level in Indian economy What steps have been taken by Government of India to restrain price-rise ?

36 विकासोन्मुख राष्ट्रो की बेरोजगारी की समस्या का अध्ययन कीजिए। इन राष्ट्रो की विकास-प्रक्रिया मे बेरोजगारी की समस्या का क्या महत्व है ? बेरोजगारी की समस्या का किस प्रकार निवारण किया जा सकता है ?

Examine the problem of unemployment in developing countries What is its importance in the development process of these countries ? How can the problem of unemployment be tackled in these countries ?

37 देश म बेरोजगारी की समस्या का हल करन मे हमारी योजनाओं की असफलता के कारणो का उल्लेख कीजिए। (विक्रम वि 1975)

Account for the failure of our plans to solve the problem of unemployment in India

38 भारतीय नियोजित अर्थ-व्यवस्था की सबसे बडी विडम्बना यह है कि विकास-विनियोजन बढने के साथ साथ बेरोजगार म भी वृद्धि हुई है।" इस कथन का आलोचनात्मक अध्ययन कीजिए।

"The greatest anomaly of Indian planned economy is that unemployment has increased with the increase of development-investment" Critically examine this statement

39 सरकार द्वारा वतमान मे कौन-कौन सी कायवाहियाँ की गयी है जिनसे नगरीय एव ग्रामीण क्षेत्रो मे रोजगार के अवसर बढाय जा सकेंगे ?

What measures have recently been taken by the Government to increase employment opportunities in urban and rural areas ?

40 आर्थिक विकास की प्रक्रिया मे विदेशी सहायता का क्या महत्व है ? विकासोन्मुख राष्ट्रो को किन किन स्रोतो से विदेशी सहायता उपलब्ध होती है ?

What has been the importance of foreign aid in the process of economic development ? Discuss various sources of foreign aid to developing countries

41 किसी निधन राष्ट्र के विकास के अवरोधक घटको की विवेचना कीजिए। इन अवरोधक घटको को दूर करने के लिए क्या विदेशी सहायता आवश्यक है ?

Discuss the factors which inhibit growth in a poor country Is foreign assistance necessary for overcoming the inhibitory factors

42 'अल्प-विकसित राष्ट्रो की विकास प्रक्रिया मे विदेशी सहायता एक अमिश्रित वरदान नही है। इस कथन का अध्ययन कीजिए तथा स्पष्ट कीजिए कि भारत मे विदशी सहायता से किन किन आर्थिक समस्याओ का प्रादुर्भाव हुआ है ?

"Foreign aid is not an unmixed boon in the development process of underdeveloped countries" Examine this statement and explain those economic problems which have arisen as a result of foreign aid ?

43 PL 480 के अन्तगत भारत को विदेशी सहायता किस प्रकार एव किस सीमा तक उपलब्ध हुई ? इसक भुगतान हेतु जो समझौता किया गया है उस स्पष्ट रूप से समझाइए।

To what extent and in what manner India has recieved foreign assistance under PL 480 ? Explain clearly the agreement reached for its payment

44 क्या आपके विचार मे भारत पाँचवी योजना के अन्त तक विदशी सहायता की निर्भरता से मुक्त हो सकेगा ? इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु कौन सी कार्यवाहियाँ आवश्यक होगी ?

Do you think that India will become free from dependence on foreign aid by the end of Fifth Plan ? What steps are necessary to achieve this objective ?

45 सन् 1951 के पश्चात भारतीय आर्थिक विकास म विदेशी सहायता का योगदान बताइए तथा उसके आर्थिव भार का मूल्याकन कीजिए। (सागर वि 1975)

State the role of foreign assistance in India's economic development since 1951 and estimate its economic burden